दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवा-शिव जानकिराम। गौरीशंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥

[संस्करण १,५०,०००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु. ७.५०
विदेशमें १० रु०
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

इस अङ्कका मूल्य
रु० ७.५०
विदेशमें १० रु०
(१५ शिलिंग)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण

'नमो धर्माय महते'



'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'

वर्ष ४०

धर्माङ्क

संख्या १

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय ॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर ॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥
जयति शिवा-शिव जानकिराम। गौरीशंकर सीताराम ॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम ॥

[संस्करण १,५०,०००]

कोई सज्जन विज्ञापन भेजनेका कष्ट न उठावें।

'कल्याण'में बाहरके विज्ञापन नहीं छपते।

समालोचनार्थ पुस्तकें कृपया न भेजें।

'कल्याण'में समालोचनाका स्तम्भ नहीं है।

...क मूल्य
...में रु. ७.५०
...में १० रु०
...५ शिलिङ्ग)

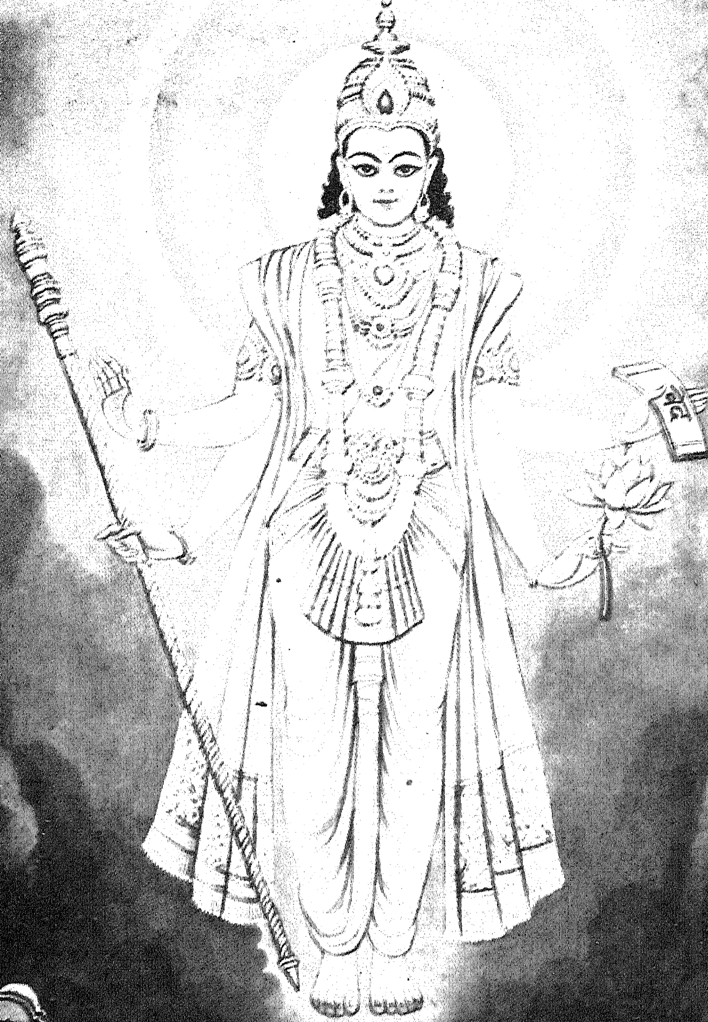
जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

इस अङ्कका मूल्य
रु० ७.५०
विदेशमें १० रु०
(१५ शिलिंग)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण

'नमो धर्माय महते'



'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'

वर्ष ४० **धर्माङ्क** संख्या १

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवा-शिव जानकिराम। गौरीशंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥

[संस्करण १,५०,०००]

वार्षिक मूल्य भारतमें रु० ७.५० विदेशमें १० रु० (१५ शिलिङ्ग)

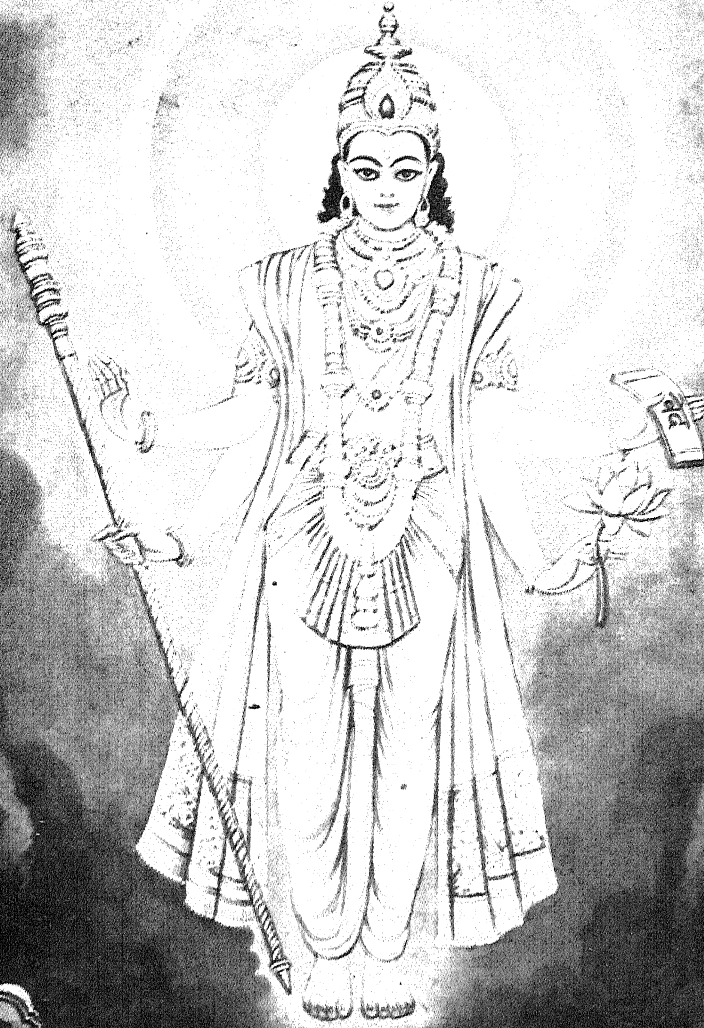
जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

इस अङ्कका मूल्य रु० ७.५० विदेशमें १० रु० (१५ शिलिंग)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण

'नमो धर्माय महते'



'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'

वर्ष ४०

धर्माङ्क

संख्या १

श्रीहरिः

श्रीलालबहादुर शास्त्रीजी !

मानव-जीवन कितना क्षणभङ्गुर है ! हम सोचते कुछ हैं, विधाताके विधानसे हो जाता है कुछ और ही । श्रीलालबहादुरजी शास्त्रीका जहाँ सफल-यात्राका स्वागत होनेवाला था, वहाँ उनकी शवयात्राका जुलूस निकला। वे सारे विश्वमें शान्ति चाहते थे । युद्धमें तो उन्हें बाध्य होकर प्रवृत्त होना पड़ा था अपनी मङ्गल इच्छाके विरुद्ध । पर भगवान्‌की कृपासे उन्हें सफलता मिली । तासकंद-यात्रामें भी उनका विश्व-शान्तिका महान् उद्देश्य सदा उनके सामने रहा और उन्होंने अन्तमें बलप्रयोग न करनेके समझौतेमें सफलता प्राप्त की । वे भारतके ही नहीं, विश्वके महान् सेवक थे । उनके अकस्मात् यों चले जानेसे अनभ्र वज्रपात हो गया । सारा संसार शोक-मग्न है आज । भारतमें वे जन-जनके प्रिय थे, इस भयानक प्रिय-वियोगसे भारतका जन-जन सभी संतप्त है । घरवालोंके, खास करके श्री-ललिता बहिनजीके दुःखकी कोई सीमा नहीं । पर उनके लिये यह गौरव-की बात है, उनके महान् आत्मा स्वामीने विश्वकी सेवामें अपना बलिदान किया है । वे परम पुण्य-जीवन थे और सच्चे अर्थमें धार्मिक थे ।

गीताप्रेस तो उनके अहैतुक उपकारोंके लिये सदासे ऋणी है । बड़ा निकटका घरका सम्बन्ध था गीताप्रेससे उनका । उनके अभावमें गीताप्रेस आज एक बहुत बड़े अभावका अनुभव कर रहा है । पर विधाताके विधान-के सामने कुछ भी वश नहीं ।

इस प्रकारकी मृत्युको देखकर सबको शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और रागद्वेषादिसे मुक्त होकर जीवनको भगवत्-सेवामें समर्पित कर देना चाहिये ।



'कल्याण'के प्रेमी पाठकों और ग्राहकोंसे नम्र निवेदन

१. वर्तमानमें प्रायः सारी दुनिया अधर्मसे नाता जोड़े हुए है। राजनीतिक क्षेत्रमें तो धर्मका बहिष्कार है ही, धार्मिक जगत्‌में भी विपरीत तामस बुद्धिके कारण धर्मके नामपर प्रायः अधर्मने ही अड्डा जमा रक्खा है। सर्वत्र ही भ्रष्टाचार, दुराचार, व्यभिचार, अनाचार, अत्याचार, असदाचार, मिथ्याचारका विस्तार हो रहा है। लोगोंकी धर्मसे चिढ़ और अधर्ममें गौरव-बुद्धि हो गयी है। यह धर्मनाश जगत्‌को अनन्त दुःखमय सर्वनाशकी ओर लिये जा रहा है। ऐसे समयमें इस 'धर्माङ्क'का प्रकाशन इसीलिये किया जा रहा है कि जिससे धर्मप्राण भारतके आत्मविस्मृत लोग पुनः धर्मका महत्त्व समझें और धर्मकी रक्षा करके सुरक्षित हों। इस 'धर्माङ्क'में मूल शाश्वतधर्मके विविध रूपों तथा अङ्गोंपर उदाहरणसहित प्रकाश डाला गया है तथा धर्मके तत्त्वोंको भलीभाँति समझानेका प्रयत्न किया गया है। धर्मपालनके महत्त्वपूर्ण चरित्रोंके साथ रंगीन तथा सादे चित्र दिये गये हैं, जिससे अङ्ककी उपादेयता और भी बढ़ गयी है। इसका जितना ही प्रचार होगा, उतना ही धर्म-ज्योतिका विस्तार होगा और मार्गभ्रष्ट अशान्त दुखी मानव पुनः सन्मार्गपर आकर सच्चे सुख-शान्तिको प्राप्त कर सकेगा।

२. जिन सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ चुके हैं, उनको अङ्क भेजे जानेके बाद शेष ग्राहकोंके नाम वी० पी० जा सकेगी। अतः जिनको ग्राहक न रहना हो, वे कृपा करके मनाहीका कार्ड तुरंत लिख दें ताकि वी० पी० भेजकर 'कल्याण'को व्यर्थ नुकसान न उठाना पड़े।

३. मनीआर्डर-कूपनमें और वी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें स्पष्टरूपसे अपना नाम, पूरा पता और ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या याद न हो तो 'पुराना ग्राहक' लिख दें। नये ग्राहक बनते हों तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें। मनीआर्डर मैनेजर 'कल्याण'के नाम भेजें। उसमें किसी व्यक्तिका नाम न लिखें।

४. ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें 'धर्माङ्क' नयी ग्राहक-संख्यासे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी० पी० भी चली जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और इधरसे वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आप कृपापूर्वक वी० पी० लौटायें नहीं, प्रयत्न करके किन्हीं सज्जनको 'नया ग्राहक' बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिख भेजनेकी कृपा करें। इस कृपापूर्ण प्रयत्नसे आप 'कल्याण'के प्रचारमें सहायक बनेंगे।

५. आपके 'विशेषाङ्क'के लिफाफेपर आपका जो ग्राहक-नंबर और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी० नंबर भी नोट कर लेना चाहिये।

६. 'धर्माङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे जायगा। हमलोग जल्दी-से-जल्दी भेजनेकी चेष्टा करेंगे, तो भी सब अङ्कोंके जानेमें लगभग दो-तीन सप्ताह तो लग ही सकते हैं। इसलिये ग्राहक महोदयोंकी सेवामें 'विशेषाङ्क' ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार जायगा। यदि कुछ देर हो जाय तो परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहकोंको हमें क्षमा करना चाहिये और धैर्य रखना चाहिये।

७. 'कल्याण'—व्यवस्था-विभाग, 'कल्याण'—सम्पादन-विभाग, 'कल्याण-कल्पतरु' (अंग्रेजी), 'साधक-सङ्घ' और 'गीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ'के नाम गीताप्रेसके पतेपर अलग-अलग पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये तथा उनपर 'गोरखपुर' न लिखकर पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)—इस प्रकार लिखना चाहिये।

८. किसी अनिवार्य कारणवश, 'कल्याण' बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही वर्षका चंदा समाप्त समझना चाहिये; क्योंकि केवल इस विशेषाङ्कका ही मूल्य रु० ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) है।

९. जिन ग्राहकोंका सजिल्द मूल्य आया हुआ है, उनको यदि वर्तमान परिस्थितिवश सजिल्द अङ्क जानेकी सम्भावना नहीं होगी तो अजिल्द विशेषाङ्क और जिल्द-चार्ज रु० १.२५ मनीआर्डरद्वारा लौटा दिया जा सकेगा। इस बार 'विशेषाङ्क'के प्रकाशनमें कई कारणोंसे कुछ विलम्ब हो गया है। इसके लिये हम क्षमाप्रार्थना करते हैं।

१०. एक सौ रुपये एक साथ देनेपर आजीवन ग्राहक बनाये जाते हैं। जिनको आजीवन ग्राहक बनना हो वे एक सौ रुपये भेजकर ग्राहक बन जायँ। जो सज्जन वर्तमान वर्षके रु० ७.५० भेज चुके हों, वे रु० ९२.५० और भेजकर आजीवन ग्राहक बन सकते हैं। जबतक वे जीवित रहेंगे और जबतक 'कल्याण' बंद नहीं होगा, तबतक 'कल्याण' उन्हें मिलता रहेगा।

श्रीहरिः

धर्माङ्क

विषय-सूची

चित्र-सूची

बहुरंगे चित्र

दोरंगा चित्र

सादा

रेखाचित्र

श्रीगीता और रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षाके लिये स्थान-स्थानपर केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इस समय गीता-रामायण दोनोंके मिलाकर ४३९ केन्द्र और लगभग १६००० परीक्षार्थी हैं। विशेष जानकारीके लिये कार्ड लिखकर नियमावली मँगानेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीता-भवन, पो० 'स्वर्गाश्रम' (देहरादून)

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—दोनों आशीर्वादात्मक प्रासादिक ग्रन्थ हैं। इनके प्रेमपूर्ण स्वाध्यायसे लोक-परलोक दोनोंमें कल्याण होता है। इन दोनों मङ्गलमय ग्रन्थोंके पारायणका तथा इनमें वर्णित आदर्श सिद्धान्त और विचारोंका अधिक-से-अधिक प्रसार हो—इसके लिये 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ' ग्यारह वर्षोंसे चलाया जा रहा है। अबतक गीता-रामायणके पाठ करनेवालोंकी संख्या ४८४१७ हो चुकी है। इन सदस्योंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता। सदस्योंको नियमितरूपसे गीता-रामचरितमानसका पठन, अध्ययन और विचार करना पड़ता है। इसके नियम और आवेदनपत्र मन्त्री—श्रीगीता-रामायण-प्रसार-संघ, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) को पत्र लिखकर मँगवा सकते हैं।

साधक-संघ

देशके नर-नारियोंका जीवनस्तर यथार्थरूपमें ऊँचा हो, इसके लिये साधक-संघकी स्थापना की गयी है। इसमें भी सदस्योंको कोई शुल्क नहीं देना पड़ता। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको २५ नये पैसेमें एक डायरी दी जाती है, जिसमें वे अपने नियमपालनका ब्यौरा लिखते हैं। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको स्वयं इसका सदस्य बनना चाहिये और अपने बन्धु-बान्धवों, इष्ट-मित्रों एवं साथी-संगियोंको भी प्रयत्न करके सदस्य बनाना चाहिये। आमन्दकी बात है कि इसके सदस्योंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है। इस समय ८६१३ सदस्य हैं। नियमावली इस पतेपर पत्र लिखकर मँगवाइये—संयोजक, 'साधक-संघ', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)।

'कल्याण'के आजीवन-ग्राहक बनिये और बनाइये

[आपके इस कार्यसे गीताप्रेसके सत्साहित्य-प्रचार-कार्यमें सहायता मिलेगी]

(१) प्रतिवर्ष 'कल्याण'का मूल्य भेजनेकी बात समयपर स्मरण न रहनेके कारण वी० पी० द्वारा 'कल्याण' मिलनेमें देर हो जाती है, जिससे ग्राहकोंको क्षोभ हो जाता है; इसलिये जो लोग भेज सकें, उन्हें एक साथ एक सौ रुपये भेजकर 'कल्याण'का आजीवन ग्राहक बन जाना चाहिये। चेक या ड्राफ्ट 'मैनेजर, गीताप्रेस'के नामसे भेजनेकी कृपा करेंगे।

(२) जो लोग प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहें उन्हें १२५.०० रुपये भेजना चाहिये।

(३) भारतवर्षके बाहर (विदेश) का आजीवन ग्राहक-मूल्य अजिल्दके लिये १२५.०० रुपये या दस पौंड और सजिल्दके लिये १५०.०० रुपये या बारह पौंड है।

(४) आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको प्रतिवर्ष 'कल्याण' मिलता रहेगा।

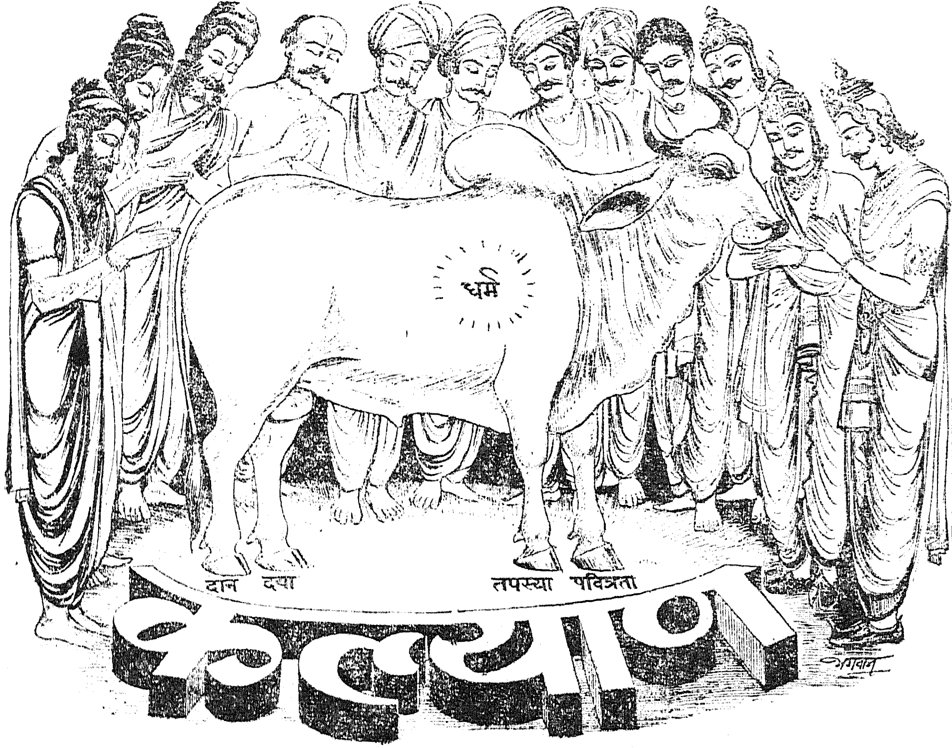
(५) मन्दिर, आश्रम, पुस्तकालय, मिल, कारखाना, उत्पादक या व्यापारी संस्था, क्लब या अन्यान्य संस्था तथा व्यापारी फर्म भी आजीवन-ग्राहक बनाये जा सकते हैं।

व्यवस्थापक—'कल्याण', गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)



धर्मरक्षक अनन्त शौर्य-वीर्य-सिन्धु भगवान् श्रीकृष्ण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



लोके यस्य पवित्रतोभयविधा दानं तपस्या दया चत्वारश्चरणाः शुभानुसरणाः कल्याणमातन्वते ।
यः कामाद्यभिवर्षणाद् वृषवपुर्ब्रह्मर्षिराजर्षिभिर्विट्शूद्रैरपि वन्द्यते स जयताद्धर्मो जगद्धारणः ॥

वर्ष ४० } गोरखपुर, सौर माघ २०२२, जनवरी १९६६ { संख्या १
पूर्ण संख्या ४७०

धर्मरक्षक धर्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी वन्दना

जय वसुदेव-देवकी-नन्दन, व्रजपति नंद-यशोदालाल ।
जय मुष्टिक-चाणूर-विमर्दक, गज कुबलया-कंसके काल ॥
जय नरकासुर-केशिनिषूदन, जरासंध-उद्धारक श्याम ।
जयति जगद्गुरु, गीता-गायक, अर्जुन-सारथि-सखा, ललाम ॥
जय अनुपम योद्धा, लीलामय, योगेश्वर, ज्ञानी, निष्काम ।
जय धर्मज्ञ, धर्म, वरदायक, शुचि सुखदायक शोभाधाम ॥
जय सर्वज्ञ, सर्वमय, शाश्वत, सर्वातीत, सर्वविश्राम ।
जयति परात्पर लोकमहेश्वर, गुणातीत चिन्मय गुणधाम ॥

धर्मस्तवनाष्टकम्

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम', साहित्याचार्य)

सत्तात्मना लसति योऽस्तितया लसत्सु यश्चेतनेषु च चिदात्मतया चकास्ति ।
आनन्दिषु स्फुरति शश्वदमन्दमोदस्तं नन्दनन्दनतनुं प्रणमामि धर्मम् ॥ १ ॥
यो रक्षितो जगति रक्षति सर्वजीवान् नीतः क्षतिं क्षपयते निहतो निहन्ति ।
संतिष्ठते क्वचन येन विना न किंचित् संधारणो विजयते भगवान् स धर्मः ॥ २ ॥
मूलं य एव पुरुषार्थचतुष्टयस्य यश्चैक एव परलोकगतस्य बन्धुः ।
यः सेवितः फलति मङ्गलमेव नित्यं धर्मं वृणे तमभिरक्षणवर्मवर्यम् ॥ ३ ॥
आश्रित्य यं सृजति सर्वमिदं विधाता विश्वं बिभर्ति किल यस्य बलेन विष्णुः ।
मृत्युं जयन् हरति यस्य हरोऽपि शक्त्या धर्मं तमिज्यचरणं शरणं प्रपद्ये ॥ ४ ॥
संस्थापनाय भुवि यस्य च रक्षणाय लोके दधाति भगवान् विविधावतारान् ।
भारान् भुवः क्षिपति दुष्टदलं विदार्य साधूंश्च रक्षति सदा जयतात्स धर्मः ॥ ५ ॥
धान्यं समेधयति साधयते धनानि कामान् समानयति चापि मनोऽभिरामान् ।
सौभिक्ष्यमीक्षयति दूरयते दुराधिं व्याधिं समं शमयते भुवि धर्म एव ॥ ६ ॥
प्राणैः प्रणेतुमनसा निजराष्ट्ररक्षामग्रे सरन् रणमुखे न पराङ्मुखः स्यात् ।
धर्मी वृणोति मरणादपि कीर्तिमेव सेव्यः समैरपि जनैरत एव धर्मः ॥ ७ ॥
उत्साहशौर्यधृतिदाक्ष्यगुणान् गरिष्ठान् सत्यं च साधयति बाधयतीह बाधाः ।
भीतिं भिनत्त्यपि रणादपलायनस्य भावं विभावयति यस्तमुपेत धर्मम् ॥ ८ ॥

संसारमें जिनका अस्तित्व है, जो अपने अस्तित्वसे सुशोभित हैं, उनमें जो सत्तारूपसे प्रकाशित होता है; चेतनोंमें चैतन्यरूपसे शोभा पाता है तथा आनन्दकी अनुभूति करनेवालोंमें अमन्द आनन्द बनकर छा रहा है, वह धर्म साक्षात् भगवान् नन्दनन्दनका रूप है। मैं उन धर्म देवताको सादर प्रणाम करता हूँ। जो अपना रक्षण या पालन किये जानेपर समस्त जीवोंकी रक्षा करता है, अपनेको क्षति पहुँचायी जानेपर उन क्षति पहुँचानेवालोंको क्षीण कर देता है तथा अपने ऊपर आघात होनेपर उन धर्मद्रोहियोंका भी सर्वनाश कर डालता है, जिसके बिना कहीं कोई भी वस्तु टिक नहीं सकती, वह धर्म साक्षात् भगवान् है। सबको धारण करनेवाले उन भगवान् धर्मकी सदा ही विजय होती है। जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंका मूल है, परलोकमें गये हुए जीवका जो एकमात्र बन्धु (सहायक) है, जो अपना सेवन किये जानेपर सेवकके लिये मङ्गलमय फल प्रदान करता है तथा जो सब ओरसे रक्षा करनेवाला अभेद्य उत्तम कवच है, उस धर्मका मैं वरण करता हूँ। जिनका आश्रय लेकर ही ब्रह्माजी इस सारे जगत्की सृष्टि करते हैं, जिनके बलसे ही विष्णुभगवान् सम्पूर्ण विश्वका भरण-पोषण करते हैं तथा महादेवजी जिनकी शक्तिसे ही मृत्युपर विजय पाकर समस्त संसारके संहारकार्यमें समर्थ होते हैं, उन पूज्यपाद धर्म देवताकी मैं शरण लेता हूँ। पृथ्वीपर जिसकी स्थापना और रक्षा करनेके लिये ही भगवान् श्रीहरि लोकमें नाना प्रकारके अवतार धारण करते, भूतलका भार उतारते तथा दुष्ट-दलका दलन करके साधुजनोंकी रक्षा करते हैं, उस धर्मकी सदा जय हो। भूतलपर धर्म ही धान्यकी वृद्धि करता, अनाजकी उपज बढ़ाता, धनकी प्राप्ति कराता, मनको प्रिय लगनेवाले अभीष्ट पदार्थोंको प्रस्तुत करता, दुर्भिक्ष मिटाकर सुभिक्ष (सुकाल) लाता, दुश्चिन्ताएँ दूर करता और समस्त रोग-व्याधियोंको शान्त कर देता है (अतः वही आश्रय लेने योग्य है)। धर्मात्मा वीर पुरुष ही प्राण देकर भी अपने राष्ट्रकी रक्षा करना चाहता है और युद्धके मुहानेपर सोत्साह आगे बढ़ता है, वह युद्धसे कभी मुँह नहीं मोड़ता और मृत्युको गले लगाकर भी कीर्तिका ही वरण करता है; अतः सब लोगोंको धर्मका ही सेवन करना चाहिये। जो उत्साह, शौर्य, धृति, दक्षता और सत्य—इन उत्तम गुणोंकी प्राप्ति कराता, समस्त बाधाओंको दूर हटाता, मृत्यु-भयका भेदन करता और युद्धसे पीछे न हटनेका भाव जगाता है, उस धर्म-की शरण लो (इसीसे सबका कल्याण है)।

धर्मकी महत्ता

धर्म करता है चित्त पवित्र। धर्म देता है उच्च चरित्र ॥
धर्म है सदा सभीका मित्र। धर्म देता है फल सुविचित्र ॥
धर्म करता विपत्तिका नाश। धर्म करता सब पाप-विनाश ॥
धर्म करता विज्ञान-प्रकाश। धर्म भरता जीवन उल्लास ॥
धर्म ही है सबका आधार। धर्म ही है जीवनका सार ॥
धर्म करता सबका उद्धार। धर्म ही है विशुद्ध आचार ॥
धर्म हरता माया-तम घोर। धर्म फैलाता द्युति सब ओर ॥
धर्म रखता नित पुण्य-विभोर। धर्म देता सुख दिव्य अछोर ॥
धर्म हर लेता कलह क्लेश। धर्म हर लेता राग-द्वेष ॥
धर्म हरता हिंसा निःशेष। धर्म उपजाता दया विशेष ॥
धर्म हर लेता सारी भ्रान्ति। धर्म हर लेता मोह-अशान्ति ॥
धर्म हर लेता सारी श्रान्ति। धर्मसे मिलती शाश्वत शान्ति ॥
धर्म करता न कभी गुमराह। धर्मसे बढ़ती सात्त्विक चाह ॥
धर्म हर दुःखोंकी परवाह। धर्म करवाता त्याग अथाह ॥
धर्मसे मिलते इच्छित काम। धर्मसे मिलते अर्थ तमाम ॥
धर्मसे मिलता पद निष्काम। धर्मसे मुक्तिलाभ सुखधाम ॥
धर्ममें सहज अहिंसा-सत्य। धर्ममें सदाचार सब नित्य ॥
धर्ममें रहते गुण संचिन्त्य। धर्ममें मिटते भाव अनित्य ॥
धर्ममें नहीं नीचतम स्वार्थ। धर्मका लक्ष्य एक परमार्थ ॥
धर्ममें सफल सभी पुरुषार्थ। धर्ममें पूर्ण ब्रह्म एकार्थ ॥
धर्ममें नहीं कुमतिको स्थान। धर्म है विमल बुद्धिकी खान ॥
धर्मसे होता नित्योत्थान। धर्मसे मिलते श्रीभगवान ॥
धर्म कर अघका सहज अभाव। धर्म उपजाता पावन भाव ॥
धर्मसे बढ़ता सेवा-चाव। धर्मसे बढ़ता भगवद्भाव ॥
धर्म कर दिव्य विवेक-विकास। धर्म करता त्रितापका नाश ॥
धर्म उपजा प्रभु-पद-विश्वास। धर्म कर देता प्रभुका दास ॥
धर्मसे मिलता अचल सुहाग। धर्म कर देता शुचि बड़भाग ॥
धर्म उपजाता विषय-विराग। धर्म देता प्रभु-पद-अनुराग ॥

श्रीजगद्गुरु आद्यशंकराचार्य तथा सनातनधर्म

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर श्रीमदभिनवसच्चिदानन्दतीर्थस्वामीजी महाराजका प्रसाद)

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'। नारायण-उपनिषद्के इस वचनानुसार धर्म ही समस्त जगत्का आधार है। धर्मरूप मूल आधारपर ही जगत् अवस्थित है और सर्व कार्य चला रहा है।

'यदा यदा हि धर्मस्य' गीतोक्त भगवान्के वचनानुसार जब-जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब-तब भगवान् स्वयं पुनः-पुनः अवतार लेकर धर्मरक्षण करते हैं। यह सर्वविदित है।

कलियुगके प्रारम्भसे ढाई हजार वर्षके बाद जब पुनः धर्मकी ग्लानि हुई, तब साक्षात् भगवान् शङ्करने ही आद्य-शंकराचार्यरूपमें अवतीर्ण होकर धर्मोद्धार किया। श्रीमदाद्य-शंकराचार्यका चरित्र कौन नहीं जानता? उन आचार्यचरणने जिस समय अवतार लिया, उस समय भारतकी स्थिति ही विचित्र थी। चार्वाक, लौकायतिक, बौद्ध, जैन आदि वेद न माननेवाले तथा कई तान्त्रिक और विचित्र मतवाले प्रबल होकर परस्पर झगड़ते थे। बौद्धोंका प्रभाव तो बहुत अधिक बढ़ गया था। सनातनधर्म लुप्तप्राय हो चला था। उस समय आचार्यचरणने बहुत थोड़ी ही आयुमें अत्यधिक परिश्रम करके विवादियोंसे शास्त्रार्थ कर सनातन वेद-धर्मकी तथा विशिष्य चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाकी पुनः प्रतिष्ठा की। गीता, उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्रके ऊपर प्रमाणसिद्ध अपूर्व भाष्यादि ग्रन्थोंकी रचना करके वैदिक अद्वैत वेदान्तका पुनरुज्जीवन तथा प्रतिपादन किया।

अद्वैतसिद्धान्तके तथा सनातनधर्मके संरक्षण और प्रचारार्थ चार दिशाओंमें द्वारका, पुरी, शृंगेरी और जोशी-मठोंमें चार धर्मपीठ स्थापित किये। मठाम्नाय-ग्रन्थद्वारा गुरु-शिष्यादिकोंका कर्तव्य-निर्देश करके धर्मका आचरण अक्षुण्णतया चलता रहे, इसकी सुव्यवस्था की।

विशेषतः विविध सम्प्रदायोंसे, मन्तव्योंसे तथा सामाजिक, राजनीतिक अव्यवस्थासे छिन्न-भिन्न होते हुए भारतको बचाया और ब्रह्मवादके द्वारा एकताकी प्रतिष्ठा की।

'भायां रतः भारतः'। जो भा—प्रतिभा—ज्ञानमें रत है, आसक्त है वही भारत है। इस उक्तिके अनुसार आपने भारतको वस्तुतः भारत बनाया।

भारतके निर्माताओंमें जगद्गुरु आद्यशंकराचार्यजीका स्थान आद्य ही है। इन चार पीठोंके आजतकके उत्तरोत्तर अनुगामी शंकराचार्यगण भी अनवरतरूपसे वेदान्त-सिद्धान्तके तथा वैदिक सनातनधर्मके प्रचार-कार्यमें नित्य रत हैं।

प्रकृत पाश्चात्त्य संस्कृतिके आक्रमण और अन्यान्य विविध कारणोंसे भारतमें जो धर्मग्लानि होती रही है, उसे दूर करनेके लिये तथा भारतीय विशुद्ध आदर्शकी रक्षाके लिये अब सभीको कटिबद्ध हो जाना चाहिये।

सर्वोपरि धर्म

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीकाञ्चीकामकोटिपीठाधिपति श्रीस्वामी चन्द्रशेखरेन्द्रसरस्वतीजी महाराजका शुभाशीर्वाद)

महाभारत, अनुशासनपर्वमें धर्मपुत्र युधिष्ठिरके द्वारा पूछे जानेपर भीष्म उन्हें अनेक धर्मोंका उपदेश करते हैं। समस्त धर्मसम्बन्धी प्रश्नोत्तरोंके बाद धर्मपुत्र उनसे पूछते हैं कि 'अच्छा, अब सब धर्मोंमें अधिकतम—श्रेष्ठतम धर्म कौन है, यह बतलाइये।'

इसके उत्तरमें भीष्मपितामह—

एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा॥*

(विष्णुसहस्रनाम ८)

—ऐसा उपदेश करते हैं।

* मेरी दृष्टिमें धर्मोंमें सबसे बड़ा धर्म यही है कि मनुष्य सदा कमलनयन भगवान्की स्तुतियोंद्वारा अर्चना किया करे।

इस श्लोकके अपने भाष्यमें परमाद्वैतसिद्धान्तके प्रतिष्ठापक भगवान् शंकराचार्य भी भगवान्‌की स्तुतिको ही प्रकृष्टतम धर्म निर्धारित करते हैं। अपने देशके सभी बालक-बालिकाओंको भगवद्भक्तिपूर्ण कोई छोटी-सी स्तुति अवश्य कण्ठ रखनी चाहिये, जिससे भविष्यमें जनतामें कुछ भक्तिका आविर्भाव हो। आज भी बहुत-से बूढ़े लोग, जिन्होंने बाल्यकालमें एक भी भक्तिस्तोत्र कण्ठ नहीं किया था, इसके लिये पश्चात्ताप करते दीखते हैं और कहते हैं कि हम तो बेकार ही बैठे रहते हैं और यों ही समय नष्ट करते हैं। इस विषयमें सभी आस्तिकोंको अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार राष्ट्रोद्धार तथा आत्मोद्धारके लिये कुछ करना चाहिये। जो कण्ठस्थ पाठ करनेमें सुलभ हों, श्रेष्ठ भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके मुखसे निकले हों, ऐसे छोटे-छोटे स्तोत्रोंको पुस्तिकारूपमें छपाना चाहिये। इन्हें देशके छोटे बालक-बालिका जिस प्रकार कण्ठस्थ कर लें, वैसा प्रयत्न करना चाहिये। कण्ठाग्र करनेवाले बालक-बालिकाओं-को एक कोई चाँदीकी भगवच्चिह्नाङ्कित मुद्रा देनी चाहिये और विशेष योग्य धर्मपरीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियोंको अगली कक्षाके योग्य पुस्तक भी दी जानी चाहिये। मुद्रणालय-अधिकारी, धनी-मानी सेठ, पुस्तकविक्रेता, विद्यालय-संचालक प्रबन्धकगण यदि इधर थोड़ा ध्यान दें तो बहुत कुछ कार्य हो सकता है। इससे वातावरणमें पर्याप्त सुधार तथा परिष्कार हो सकेगा—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

(गीता २। ४०)

इस महाकार्यमें आयोजनार्थ देश-प्रदेशकी कीर्तन-मण्डलियाँ और भजन-समाजादि भी सत्र-सभा-सम्मेलन आदि करेंगे, ऐसी नारायण-स्मृतिके साथ शुभाशा करता हूँ।

धार्मिक चेतना

(श्रीश्रृंगेरीमठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी महाराजके सदुपदेश)

धर्म ही हिंदुओंके धार्मिक जीवनका मूल स्वर है। सामाजिक एवं नैतिक आचरणमें व्यक्त आध्यात्मिक जीवनका ही नाम धर्म है। मानव-जीवनका यही आश्रय और आधार है। रामायण और महाभारत धार्मिक जीवनकी व्याख्या उपदेश और उदाहरणद्वारा करते हैं। महाभारतमें धर्मराज धर्मके एक महान् उदाहरण हैं, किंतु रामायणके श्रीराम तो साक्षात् धर्मकी मूर्ति ही हैं—**'रामो विग्रहवान् धर्मः'**।

धार्मिक जीवनका अर्थ है—'आर्जव' और 'अहिंसा'। धार्मिक व्यक्ति स्वयं तपस्वी होता है। तपस्याके अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, क्षुधाका दमन तथा शरीरमें सर्दी-गरमी एवं अन्य कष्टोंको सहनेकी शक्ति लानेवाले विभिन्न साधनोंकी भी गणना है। विवेक तथा उचित निश्चयके साथ की हुई ये तपस्याएँ भक्तको आध्यात्मिक झंकारके साथ अपने तन-मनकी तानको मिला देनेमें सहायक सिद्ध होती हैं। आत्मानुशासन-का अर्थ अपनेको यन्त्रणा देना नहीं है। तपका महत्तम उद्देश्य है—सनातन आत्मानन्दके बदले क्षणभङ्गुर इन्द्रिय-सुखोंको श्रेष्ठ माननेवाली मनुष्यकी कुबुद्धिको बदल देना।

एक महात्माने हृदयमें पैठनेवाली बात कही है कि 'जहाँ धर्म है, वहीं साथमें सुख भी है।' धार्मिक जीवन बिताइये और आप सदा सुखी रहेंगे। कोई व्यक्ति त्रिभुवनका स्वामी होकर भी दुखी रह सकता है और दरिद्रसे दरिद्र भिखमंगा भी संसारका सबसे अधिक सुखी प्राणी हो सकता है। भगवान् एक कदम और भी आगे बढ़ गये हैं। उन्होंने कहा है—**'यतो धर्मस्ततो जयः'**—'जहाँ धर्म है, वहीं जय है।'

धर्म क्या है? धर्म वह प्रणाली अथवा संस्था है, जिसकी सर्वाङ्गपूर्ण परिभाषा बन चुकी है और जिसे 'सनातन धर्म'के नामसे पुकारा जाता है। न तो किसी समयविशेषमें इसका आरम्भ हुआ तथा न किसी विशेष संस्थापकसे ही इसका श्रीगणेश हुआ। सनातन होनेके साथ ही यह सार्वभौम भी है। यह पृथ्वीगत सीमाबन्धनको नहीं मानता। जितने लोग विश्वमें पैदा हो चुके हैं और जो उत्पन्न होंगे, वे सब इसीके अन्तर्गत हैं। इसके नियमसे मनुष्य बच नहीं सकता। चीनी मीठी होती है और आग जलाती है, ये सनातन सत्य अपनी वास्तविकताके लिये इस बातपर निर्भर नहीं रहते कि हम उनको मानें। हम इन सत्योंको मान लेते हैं तो हमारे लिये शुभ और कल्याण है; हम नहीं मानते तो हमारे लिये उसी मात्रामें अशुभ तथा अमङ्गल है।

दोनों ही परिस्थितियोंमें नियम तो सार्वभौम, अविकारी और सनातन ही रहेगा। ऐसा है हमारा धर्म।

हमारा विश्वास है कि वेद स्वयं भगवान्‌की वाणी हैं। सृष्टिके पश्चात् भगवान्‌की जगह किसी अन्य उपदेशकके द्वारा बादमें चलाया हुआ कोई भी धर्म निश्चितरूपसे अपूर्ण और अनित्य होगा। वेद ही एक ऐसा मञ्च है, जिसपर समस्त हिंदू समान अधिकारसे मिल सकते हैं। प्रस्थानत्रयीमें वेद भी एक है, जिसके प्रमाण और अधिकारको अबतक सबने माना है। यह बन्धन टूटा कि हिंदू तितर-बितर हो जायँगे।

कहा गया है कि धर्मकी अवहेलना करनेवाला और शास्त्रोंके विपरीत आचरण करनेवाला नष्ट हो जायगा तथा तत्परतापूर्वक धर्मके मार्गपर चलनेवालेकी रक्षा होगी।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

धर्मका सर्वप्रथम और सर्वप्रधान सिद्धान्त है—अपने माता-पिताका आदर करना। इनमें भी उन माताका पहले और पिताका बादमें, जिनसे हमको अपने शरीरकी प्राप्ति हुई है। उनके बाद आचार्य अथवा गुरुकी पूजा करनी चाहिये—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।

सामान्य धर्मोंमेंसे नीचे कुछका नामोल्लेख किया जाता है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सभीको इनका तत्परतापूर्वक अनुसरण करना चाहिये—

(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) शौच, (५) इन्द्रिय-निग्रह।

इनके अतिरिक्त अपने भीतर श्रद्धाका भी बीज बोना चाहिये और सदा शुभकी आशा रखनी चाहिये। साथ ही सभी प्राणियोंको कुछ देनेका अभ्यास करना चाहिये। वास्तवमें दानको उन सिद्धान्तोंमें माना गया है, जिनपर हमारा धर्म आधारित है। फिर मनुष्य जो कुछ करे, अत्यन्त श्रद्धाके साथ करे। सच पूछा जाय तो श्रद्धाको सीमामें न बँधनेवाले आत्माका स्वरूप ही माना गया है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

'अहिंसा' धर्मका एक अन्यतम सिद्धान्त है। धर्मका यह सिद्धान्त सर्वथा पृथक् आधारपर खड़ा है। यह भी कहा गया है कि सत्य, प्रेम और दया—धर्मके तीन मूल सिद्धान्त हैं। अहिंसा और दया प्रायः समानार्थी हैं। अहिंसाका एक पार्श्व प्रेम है और दूसरा पार्श्व दया। दोनों मिलकर अहिंसाका सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं।

प्रेमका अर्थ है—दूसरोंको सुख पहुँचाना और उनके सुखसे प्रसन्न होना। अपने ही सुखसे हर्षित होना पशुके लिये भी सरल है। परंतु दूसरोंकी प्रसन्नताके लिये प्रयत्न करना और क्रियाशील होना ही सच्चा प्रेम है। अहिंसाका अपरार्द्ध हमें दूसरेके दुःखमें दुखी होनेकी प्रेरणा देता है और इसीका नाम दया है। दूसरोंके लिये आँसू बहाना ही पर्याप्त नहीं है। दया केवल भावमें भरकर द्रष्टा बनकर रह जानेको नहीं कहा जाता। दयासे अनुप्राणित व्यक्ति दुःखमें पड़े प्राणीकी पीड़ाको अपनी ही पीड़ा समझकर सहायता करनेके लिये दौड़ पड़ेगा। ये दोनों पहलू मिलकर अहिंसाका सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करते हैं। अहिंसाके साथ सत्यको जोड़ देनेपर बिल्कुल पूरा चित्र तैयार हो जायगा। रामका विशेष गुण 'सत्य' बताया गया है और श्रीकृष्ण हैं—'प्रेमके अवतार।' संस्कृत शब्द 'सत्य'की व्युत्पत्ति दो पदोंसे हुई है। 'सत्'—जिसका अर्थ है पृथ्वी, जल और अग्नि और 'त्य'—जिसका अर्थ है वायु और आकाश। इन पाँचों तत्त्वोंमें भगवान्‌के अतिरिक्त और क्या व्याप्त है? इसी रीतिसे भगवान्‌को पृथ्वीसे मिलाया गया है।

दूसरोंकी निःस्वार्थ सेवा ही मनुष्यका कर्तव्य है। सेवा दूसरोंका उपकार करनेकी दृष्टिसे नहीं, वरं अपना जीवन-धर्म मानकर करनी चाहिये। प्रत्येक व्यक्तिको याद रखना चाहिये कि उसकी गुह्यतम भावना भी उसके एवं दूसरोंके ऊपर प्रभाव डालती है। इसलिये मनुष्यको आत्मनिग्रहका अभ्यास करना चाहिये, जिससे दुर्विचार मनके बाहर रहें और वहाँ श्रेष्ठ एवं महान् विचारोंको स्थान मिले।

यह भी आवश्यक है कि मनुष्य मनकी भाँति अपने तनको भी निर्मल और स्वच्छ रक्खे; क्योंकि कहा है 'स्वच्छता दिव्यताकी पहली सीढ़ी है।' मनुष्य अपने विचारोंका पुतला है। वह जो सोचता है, वही बन जाता है। अतएव बुराईके प्रलोभनको कुचल डालना चाहिये। मन चञ्चल है और वायुकी भाँति कठिनतासे वशमें आता है। इसको निरन्तर अभ्यास और वैराग्यके द्वारा नियन्त्रणमें रखना चाहिये। इसका स्वभाव ही चञ्चल है। सबको अपने नित्य-

कर्म प्रतिदिन नियमपूर्वक करने चाहिये और अपने मनको मणिके समान स्वच्छ रखना चाहिये। यह भी आवश्यक है कि मनुष्यको अपने जीवनके इस उद्देश्यका स्पष्ट ज्ञान हो कि 'भगवान्‌की पूजा ही सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य है।' भगवान्‌के धर्मका पालन करते हुए उनका काम करना और प्राणिमात्रकी निःस्वार्थ सेवा करना सबसे ऊँची पूजा है।

जो कुछ भी उत्कृष्ट और उदात्त है, उसका आधार है सत्य। जो कुछ भी कहा जाय, वह सत्य और सुननेमें प्रिय हो। श्रवणकटु बात सत्य होनेपर भी नहीं कहनी चाहिये और श्रुतिप्रिय किंतु मिथ्या वचन भी नहीं बोलना चाहिये। धर्मके एक प्रमुख सिद्धान्त सत्यका यही ठीक-ठीक तात्पर्य है। यही कहा भी गया है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

सनातन-धर्मका स्वरूप

(मूल अंग्रेजी लेखक—अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीगोवर्धनमठाधीश्वर ब्रह्मलीन स्वामीजी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजीमहाराज)
[अनुवादक—श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा तर्कशिरोमणि]

× × ×

सनातनका अर्थ है 'नित्य'। वैदिक धर्मका नाम 'सनातन-धर्म' अत्यन्त उपयुक्त है। अन्य किसी भी भाषामें 'धर्म'का वाचक कोई शब्द नहीं मिलता। अंग्रेजीमें इसके लिये 'रिलीजन' शब्द है, पर धर्मका भाव 'रिलीजन'में पूरी तरहसे नहीं उतर पाता। 'रिलीजन' शब्द धर्मके उस भावको लिये हुए है, जो बहुत सीमित और संकुचित है; पर सनातन-धर्म इतना विशाल है कि इसमें हमारे इस जन्मके ही नहीं, अपितु पूर्वजन्म और भविष्य-जन्मके सभी विषयों और परिणामोंका पूर्णतया समावेश हो जाता है।

शास्त्रोंमें धर्मकी परिभाषा **'धारणात् धर्मः'** की गयी है। अर्थात् धर्म वह है, जो हमें सब तरहके विनाश और अधोगतिसे बचाकर उन्नतिकी ओर ले जाता है। अतः 'रिलीजन'की तरह 'धर्म' शब्द सीमित और संकुचित अर्थवाला नहीं है। उदाहरणार्थ—वेद केवल पारलौकिक सुख-प्राप्तिका मार्ग बताकर ही नहीं रह जाते, अपितु इस लोकमें सर्वाङ्गीण उन्नति और समृद्धिके पथका भी प्रदर्शन करते हैं।

सनातन-धर्मके अर्थ

पहला अर्थ

व्याकरणकी दृष्टिसे 'सनातन-धर्म'में षष्ठी-तत्पुरुषसमास है अर्थात् **'सनातनस्य धर्म इति सनातनधर्मः।'** सनातनका धर्म, सनातनमें लगायी गयी षष्ठी विभक्ति स्थाप्य-स्थापक-सम्बन्धकी बोधक है। दूसरे शब्दोंमें—जिस प्रकार ईसाई, मुहम्मदी, जरथुस्त तथा बौद्धधर्म अपने साथ ही ईसा, मुहम्मद, जरथुस्त तथा बुद्धके भी बोधक हैं, उसी प्रकार सनातन-धर्म भी यह बताता है कि यह धर्म उस सनातन अर्थात् नित्य तत्त्व परमात्माद्वारा ही चलाया गया है, किसी व्यक्तिके द्वारा नहीं।

सनातन-धर्मको छोड़कर और सभी धर्मोंको दो भागोंमें बाँटा जा सकता है—(१) वे धर्म जो पूर्वकालमें थे, पर अब विद्यमान नहीं हैं, (२) वे धर्म जो पूर्वकालमें नहीं थे, पर अब हैं। पर सनातनका अन्तर्भाव इन दोनोंमेंसे किसीमें भी नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह धर्म अन्य धर्मोंके जन्मसे भी पूर्व विद्यमान था और अब भी विद्यमान है।

—पर भविष्यमें? इस प्रश्नके प्रसङ्गमें हमें **'यज्जन्यं तदनित्यम्'** (जो उत्पन्न हुआ है, वह अवश्य नष्ट हो जायगा)—यह प्राकृतिक नियम ध्यानमें रखना पड़ेगा। इस नियमका कोई अपवाद न अबतक हुआ और न आगे कभी होगा ही। उदाहरणस्वरूप—सज्जनोंकी रक्षा और दुष्टोंके विनाश तथा धर्मके संस्थापनके लिये जब भगवान् मानव-शरीरके रूपमें अवतरित होते हैं और अपना कार्य पूरा कर लेते हैं, तब वे चले जाते हैं; इस प्रकार भगवान्‌का अवतरित दिव्य शरीर भी इस प्राकृतिक नियमका अपवाद नहीं है।

दूसरा अर्थ

सनातन-धर्म अनादि और अनन्त है; क्योंकि सृष्टिकी उत्पत्तिके समयसे लेकर सृष्टि-प्रलयतक यह विद्यमान रहता है। यह सनातन इसलिये नहीं है कि यह सनातन ईश्वरद्वारा

स्थापित है, अपितु यह स्वयं भी सनातन या नित्य है। यह प्रलयतक अस्तित्वमें रहेगा, प्रलयके बाद भी यह नष्ट होनेवाला नहीं है, अपितु गुप्तरूपमें तब भी यह अवस्थित रहता है। पुनः सृष्टिके साथ ही यह लोगोंकी रक्षा और उन्नति करनेके लिये प्रकट हो जाता है। व्याकरणकी दृष्टिसे इस दूसरे अर्थका बोधक कर्मधारय समास है, जिसके अनुसार 'सनातनधर्म' इस पदका विग्रह होता है—'सनातनश्चासौ धर्मश्च' अर्थात् सनातनरूपसे रहनेवाला धर्म।

इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे धर्म झूठे हैं। इसके विपरीत हमारा तो यह कथन है कि सभी धर्म किसी-न-किसी रूपमें उस अन्तिम लक्ष्यतक मनुष्यको पहुँचाते ही हैं पर वे किसी व्यक्तिविशेषके द्वारा संस्थापित होनेके कारण समयके साथ नष्ट भी हो जाते हैं; यह सनातन-धर्म ही ऐसा है, जो सृष्टिकालमें सारी रचनाको उन्नतिकी ओर प्रेरित करता है, प्रलयमें सूक्ष्मरूपसे रहता है और अगले कल्पमें पुनः प्रकट हो जाता है।

तीसरा अर्थ

इसमें भी 'सनातन-धर्म' कर्मधारय समासमें है, पर यहाँ 'सनातन' पदमें दूसरे अर्थकी अपेक्षा कुछ और विशेषता है। यहाँ उसका विग्रह होगा—

सदा भवः सनातनः, सनातनं करोति इति सनातनयति, सनातनयतीति सनातनः। सनातनश्चासौ धर्म इति सनातनधर्मः।

यह सनातन केवल इसलिये नहीं है कि यह सनातन परमात्माद्वारा संस्थापित है, यह धर्म सनातन इसलिये भी नहीं है कि यह स्वयंमें अविनश्वर है, अपितु यह सनातन इसलिये है कि इस धर्ममें विश्वास रखनेवाला तथा इस धर्मपर चलनेवाला भी सनातन हो जाता है। यह धर्म अपने अनुयायीको भी अमर बना देता है।

इसको और गहरा समझनेके लिये हमें और राज्योंकी ओर भी तुलनात्मक दृष्टिसे देखना पड़ेगा। ग्रीस, रोम, सीरिया, असीरिया, पर्शिया, बेबीलन, चाल्डियन, फीनिशिया, मिश्र, निनेवा, कार्थेडा तथा दूसरे भी साम्राज्य, जिन्होंने सारी दुनियाको हिला दिया था, आज पृथ्वीकी सतहसे सर्वथा समाप्त हो चुके हैं। उनके पास धनबल, जनबल, सैन्यबल—सभी कुछ था; पर लोगोंको सनातन या अमर बनानेकी शक्ति उन साम्राज्योंके पास नहीं थी। यही उनके सम्पूर्ण विनाशका कारण बना। पर भारतके पास यह शक्ति थी, इसीलिये वह आजतक जीवित रहा। इसमें संशय नहीं कि इसको जीवित रखनेमें सनातन-धर्म एक मुख्य कारण रहा है, जो—

(१) सनातन-तत्त्व अर्थात् परमात्माद्वारा संस्थापित है (पहला अर्थ—**सनातनस्य धर्मः**, षष्ठीतत्पुरुष समास अर्थात् सनातनका धर्म)

(२) स्वयं भी सनातन है (दूसरा अर्थ—**सनातनश्चासौ धर्मः**, कर्मधारय समास)

(३) अपने अनुयायियोंको भी सनातन, नित्य तथा अमर बना देता है (तीसरा अर्थ—**सनातनयति इति सनातनः, सनातनश्चासौ धर्मः इति सनातनधर्मः**)

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि इस धर्मके अनुयायीके अमरत्वका स्वरूप क्या है? इस प्रश्नका उत्तर हमें 'सनातन-धर्म' शब्दके चौथे अर्थमें मिलेगा।

चौथा अर्थ

इस चौथे अर्थमें भी तीसरे अर्थकी तरह 'सनातन' में कर्मधारय समास है, अर्थात् **'सनातनयति इति सनातनः'** अर्थात् वह धर्म जो हमें सनातन बनाता है सनातनधर्म है। पर यहाँ **'सनातनयति'** का अर्थ होगा—**'सनातनं परमात्मस्वरूपं प्रापयति इति'** अर्थात् जो हमें परमात्मस्वरूपको प्राप्त करवाता है, वह धर्म सनातन-धर्म है। इस धर्मके मार्गपर चलनेवाला अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त सच्चिदानन्दस्वरूपका साक्षात्कार करके परमात्माके साथ एक हो जाता है।

यह सनातन-धर्मका सच्चा स्वरूप है, जिसे अपनाकर प्राचीन भारत बहुत उन्नत था। पर आज जब उसने इस धर्मकी अवहेलना कर दी, तब वह दिनोंदिन अवनतिकी ओर ही चला जा रहा है। जो धर्मशास्त्रको छोड़कर स्वेच्छापूर्वक काम करता है, उसकी अवनति अनिवारणीय हो जाती है। ऐसे व्यक्तियोंके विषयमें ही भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(१६। २३-२४)

'जो शास्त्रविधिकी अवहेलना करके मनमाना कार्य

करता है, वह न सिद्धि प्राप्त करता है, न सुख ही प्राप्त करता है और न मोक्ष ही प्राप्त करता है। इसलिये हे अर्जुन! तेरे कार्य और अकार्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, सुतरां शास्त्रप्रतिपादित विधानको जानकर तदनुसार कार्य कर।'

मनुने कहा है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

'हनन किया हुआ धर्म प्रजाको भी मार देता है और रक्षित हुआ धर्म लोगोंकी भी रक्षा करता है।'

सनातन-धर्मका यह स्वरूप इतना उच्च और श्रेष्ठ है कि इसकी तुलनामें संसारका कोई भी धर्म नहीं आ सकता।

धर्मका स्वरूप और माहात्म्य

(पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराजका प्रसाद)

शुभाशुभ कर्म-वासना-वासित परमाणु ही धर्म है—यह विवसनों (जैनियों) का मत है। क्षणिक विज्ञान-संतति-वासना ही धर्म है—यह सौगतों (बौद्धों) को अभीष्ट है। योग-ज्ञानादिसे वृत्तियोंके निरोधद्वारा जीवन्मुक्ति धर्म है-यह सांख्ययोगवादियोंका मत है। विहित-प्रतिषिद्ध कर्मोंके आचरण तथा वर्जनद्वारा प्राप्त विशिष्ट गुण धर्म है—यह नैयायिकोंका मत है। अपूर्व ही धर्म है-यह प्रभाकरादि मीमांसकोंका कथन है। वेदाज्ञा-पालन ही धर्म है—यह जैमिनिके अनुयायी मीमांसकोंका मत है। **'बलवदनिष्टा-प्रयोजकत्वे सति श्रेयःसाधनतया वेदप्रमापितत्वमेव धर्मत्वम्'**—बलवान् अनिष्टसे रक्षक एवं श्रेयस्कर होनेसे वेदाज्ञा-प्रमाणता ही धर्म है—वस्तुतः यही सबका निष्कर्ष है, ऐसी—विद्वान् आचार्योंकी समन्वयार्थ मान्यता है।

प्रवृत्ति-निवृत्तिके भेदसे यह 'वेदोक्त धर्म' भी दो प्रकारका कहा गया है—

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तौ च सुभाषितः॥

(ब्रह्मपुराण २३७। ६ ··· महाभारत शान्तिपर्व २४१। ६)

—इन्हें ही ज्ञान (सांख्य) योग तथा कर्मयोगसे भी अभिहित किया गया है। सनक, सनन्दन, सनत्सुजात, शुकदेवादि महात्मागण निवृत्ति-धर्मके अनुयायी हैं।* अन्य धर्मात्मागण प्रवृत्तिके अनुयायी हैं। इन दोनों धर्मोंसे रिक्त धर्म-कर्म चाहे महाफलदायक—राज्यैश्वर्यादिदायक भी क्यों न हो, नहीं करना चाहिये; क्योंकि आगे उसका परिणाम शुभावह नहीं होता—

धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत्सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते॥

(महाभारत शान्तिप० २९३। ८)

ऐसा कर्म पीछे कर्ताकी समूल शाखोपशाखाओंको दग्ध करता हुआ चला जाता है—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥

मूलानि च प्रशाखाश्च दहन् समधिगच्छति।

(मनुस्मृति ४। १७२, महाभारत शान्तिपर्व ९५। १७-१८)

जो यह समझकर कि 'अरे धर्म कहाँ है?', धर्म तथा धर्मात्माओंका उपहास करता है, वह विनाशको ही प्राप्त होता है*—

न धर्मोऽस्तीति मन्वानः शुचीनवहसन्निव।
अश्रद्दधानश्च भवेद् विनाशमुपगच्छति॥

(महाभारत शान्तिपर्व ९५। १९। २०)

अधर्मात्मा पुरुष (या देश भी) कभी-कभी रावण, हिरण्यकशिपु, दुर्योधन आदिके समान बढ़ते हैं; पर अन्तमें उनका भीषण विनाश हुए बिना भी नहीं रहता—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥

(मनुस्मृति ४। १७४, महाभारत वनपर्व ९४। ४ तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृतिखण्ड १४। २६ इत्यादिका भाव)

अतः धर्मशून्य अर्थ-कामका भी सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये—

* इनके उदाहरणोंको स्पष्ट करनेके लिये महाभारत शान्तिपर्व १४३-१४९, अनुशासनपर्व, अध्याय १ आदिकी कथाएँ भी देखी जा सकती हैं।

* इस सम्बन्धमें स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्डके नन्दभद्र-सत्यव्रत-संवादकी विस्तृत कथा देखनी चाहिये।

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।

(मनुस्मृति ४ । १७६, विष्णुपुराण ३ । ११ । ७, कौटलीय अर्थशास्त्र० १ । ७ । ८)

अकेला धर्म ही सर्वत्र सहायक—रक्षक होता है—

धर्म एको मनुष्याणां सहायः परिकीर्तितः ।

(ब्रह्मपुराण १२७ । ९)

धर्मस्तमनु गच्छति ।

(मनुस्मृति ४ । २४१-४२)

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये
रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ।

(नीतिशतक ९९, पु० सि० १ । ५३)

धर्मसे ही अर्थ-काम-मोक्षादि सभी सुख मिलते हैं । धर्म ही सभी पुरुषार्थोंका मूल है । (मनु० चाणक्यसूत्र १—२०) धर्मलेशमें भी जो आन्तरविशुद्ध सात्त्विक सुख—आनन्द उपलब्ध होता है, वह अर्थ-कामादिमें कहाँ है* । अतः सदा धर्ममें ही मन लगाना चाहिये । धर्महीन प्राणीका जीवन तो अत्यन्त ही चिन्त्य है—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥

(पु० सिं० १६९, विक्रमार्क० चरि० १३ । १, गरुड़पुराण धर्मसारोद्धार, पञ्चतन्त्र० ३ । ९४)

पुलाका इव धान्येषु पूत्यण्डा इव पक्षिषु ।
मशका इव मर्त्येषु येषां धर्मो न कारणम् ॥

(महाभारत शान्तिपर्व ३२२ । ७, पञ्चतन्त्र ३ । ३ । ९७)

अतः धर्मका ही अभ्यास करना चाहिये ।

धर्मेणापिहितो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते ।
धार्मिकेण कृतो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते ॥

(महाभारत शान्तिपर्व १९३ । २८)

जो तन-धनादिसे धर्माचरणमें सर्वथा असमर्थ हो, उसे भी कम-से-कम मनसे ही सबके कल्याणकी कामना करनी चाहिये । यह मानसिक धर्म कहा गया है, जो सब धर्मोंका मूल है—

मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत् ॥

(महाभारत शान्तिपर्व १९३ । ३१)

(प्रेषक—पण्डित श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

सुख-शान्तिका एकमात्र उपाय धर्म

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

यूरोप-अमेरिकाके रंगमें रँगा और विज्ञानके चकाचौंधमें फँसा आजका भारतीय युवक भी कहने लग गया है कि ईश्वर और धर्मके प्रति हमें घृणा हो गयी है, अतएव इस विषयमें हमारे साथ चर्चा न करो । परंतु भाई ! तुम तो नींवको भूल रहे हो । जिस ईश्वरसे तुमको घृणा है, वह ईश्वर तो तुम्हारे ही शरीरमें, तुम्हारे अपने हृदयमें सर्वदा विराज रहा है । उसकी कृपासे तुम्हारी आँख देख सकती है और कान सुन सकते हैं । उसकी दयासे तुम्हारी नासिका सूँघ सकती है और जिह्वा स्वाद ले सकती है । उसीके प्रसादसे तुम्हारे हाथ लेन-देन करते हैं और पैर चल-फिर सकते हैं । उसके अनुग्रहसे तुम्हारी बुद्धि निश्चय करती है और मन मनन कर सकता है । अधिक क्या कहें, तुम्हारा जीवन ही उसकी अनुकम्पाके ऊपर आश्रित है । ऐसे ईश्वरसे घृणा होनेपर कैसे काम चलेगा ?

धर्मके विषयमें भी यही बात है । तुम जिस विश्वमें रहते हो, उस विश्वका स्वरूप जितना विशाल है, उससे अनेक-गुना विशाल है स्वरूप धर्मका; और उसके उदरके एक अंशमें तुम्हारा यह विश्व स्थित है । तब फिर ऐसे धर्मसे घृणा रखनेपर तुम्हारा पालन-पोषण कैसे चलेगा ?

धर्मका स्वरूप इतना अधिक विशाल है कि उसको किसी एक व्याख्यामें बाँधा नहीं जा सकता । इस प्रकार

* देवता ब्राह्मणाः सन्तो यक्षा मानुषचारणाः । धार्मिकान् पूजयन्तीह न धनाढ्यान् न कामिनः ।
धने सुखकला काचिद् धर्मे तु परमं सुखम् ॥ (महाभारत शान्तिपर्व २७१ । ५६)
इस विषयमें यहाँकी कुण्डधारकी कथा भी अवश्य देखने योग्य है ।

अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार विभिन्न विचारकोंने धर्मकी अनेकों व्याख्याएँ की हैं, 'धर्म' शब्दकी व्युत्पत्ति भी विभिन्न प्रकारसे की है। जहाँ हम बैठे हैं, उसी कमरेका एक छायाचित्र यदि कैमरेको ईशान कोणमें रखकर लें तथा दूसरा छाया-चित्र नैर्ऋत्य कोणमें रखकर लें तो ये दोनों छायाचित्र एक समान नहीं होंगे। एकमें जहाँ हमारा मुँह दीखेगा, वहाँ दूसरेमें हमारी पीठ दीखेगी। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ खड़े होकर जिस दृष्टिसे धर्मका अवलोकन किया गया, उसीके अनुसार उसकी व्युत्पत्ति करके लक्षण बनाया गया।

अब धर्म-शब्दकी कुछ व्युत्पत्ति देखिये। अन्तिम अर्थ तो सबका एक ही है। परंतु हमने जैसा पहले कहा है, उसके अनुसार जिस कोनेसे हम उसे देखते हैं, वैसा ही वह हमें दीखता है। (१) **धिन्वनाद् धर्मः**। धिन्वनका अर्थ है धारणा या आश्वासन देना, दुःखसे पीड़ित समाजको धीरज देकर सुखका मार्ग दिखाना। इस प्रकारके आचारका नाम धर्म है। (२) **धारणाद् धर्मः**। धारण करना, दुःखसे बचाना। श्रीकृष्णभगवान्‌ने जैसे गोवर्द्धनको धारण करके व्रजको बचाया था, उसी प्रकार जिसके आचरणसे समाज अधोगति-की ओर न जाय और अपने उच्च आसनपर स्थिर रह सके, उसका नाम धर्म है। प्रकृतिका स्वभाव ही जलके समान नीचेकी ओर जानेका है। अर्थात् यदि धर्मका अवलम्बन न किया जाय तो सहज स्वभावसे प्रजा अधोगतिकी ओर घसीटती जाती है। आज धर्मका आश्रय छूट जानेके कारण ही हम दिन-प्रतिदिन गिरते जा रहे हैं, यह प्रत्यक्ष ही है।

मनुभगवान्‌ने धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं। उनमें धर्मपालन करनेका सारा स्वरूप आ जाता है। पुराणोंने उसका विस्तार करके धर्मके तीस लक्षण बताये हैं। धर्मके एकाध अङ्गका भी यदि समझदारीके साथ पालन हो तो दूसरे अङ्गोंका पालन अपने-आप हो जाता है। जैसे खाटके एक पायेको खींचनेसे शेष तीन पाये उसके साथ अपने-आप ही खिंच जाते हैं, इसी प्रकार धर्मके पालनमें भी होता है। धर्म-पालन समझदारीके साथ होना चाहिये।

केवल अब धर्मकी एक सर्वदेशीय और सर्वमान्य व्याख्या देखिये। वास्तवमें धर्मका ज्ञान चर्चा या इस विषयके ग्रन्थों-के अवलोकनसे ठीक तौरपर नहीं होता। यह तो आचरणमें लानेकी वस्तु है। जैसे-जैसे आचरण धर्ममय होता जाता है, वैसे-वैसे ही धर्मका रहस्य समझमें आता जाता है। बाँचनेसे या चर्चा करनेसे तो केवल ऊपरी ज्ञान होता है, जिसको केवल जानकारी मात्र कह सकते हैं। धर्मकी एक व्याख्या इस प्रकार है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

जिसके आचरणसे अभ्युदय तथा निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है, उसका नाम धर्म है।

अब अभ्युदय और निःश्रेयसका अर्थ समझना चाहिये। निःश्रेयसका अर्थ स्पष्ट है, इसलिये इसको पहले समझ लीजिये। 'श्रेयस्'का अर्थ है कल्याण। जिस कल्याणसे बढ़-कर दूसरा कोई बड़ा या अधिक महत्त्वका कल्याण न हो, उस सर्वश्रेष्ठ या सर्वोपरि कल्याणको निःश्रेयस कहते हैं। सर्वश्रेष्ठ कल्याण 'मोक्ष' कहलाता है; क्योंकि उसको प्राप्त करनेके बाद और कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। इस प्रकार निःश्रेयसका अर्थ हुआ मुक्तिकी प्राप्ति या भगवत्प्राप्ति अथवा जन्म-मृत्युरूपी बन्धनसे निवृत्ति। अतएव धर्मका एक लक्षण यह हुआ कि जिसके आचरणसे मोक्षकी प्राप्ति हो।

'अभ्युदय'का अर्थ केवल यही है कि शरीरके निर्वाहके साधन सुगमतासे प्राप्त हों, विलासकी सामग्री या शरीरको लाड़ लड़ानेवाले वैभव नहीं। मनु महाराजने अत्यन्त संक्षेपमें बतलाया है कि धर्मका आचरण कैसे करना चाहिये। यथा—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतद् धर्मं समासेन चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

पहला है—अहिंसा। हिंसाका स्थूल अर्थ है शरीर और प्राणका वियोग करना; परंतु इसका सूक्ष्म अर्थ है—मनसा, वाचा, कर्मणा किसीको कष्ट देना। अपने शरीरसे किसीको पीड़ा पहुँचाना, वाणीसे मृत्युकी धमकी देना अथवा ऐसी कठोर वाणी बोलना जिससे किसीके मनपर आघात पहुँचे और मनसे किसीका विनाश या बुरा चाहना, यह भी हिंसा ही है। ऐसी किसी भी हिंसासे दूर रहनेका नाम है 'अहिंसा-का पालन'।

दूसरा तत्त्व है—सत्य। ऐसा कौन सम्प्रदाय है, जो सत्यकी आवश्यकताको स्वीकार न करता हो। भले ही कदाचित् सत्य वचनपर कोई बल न दे; परंतु असत्यका आचरण करनेके लिये तो कोई भी सम्प्रदाय नहीं कहता। अतएव सत्य अर्थात् सत्यका आचरण और असत्यका त्याग, यह सब सम्प्रदायोंके लिये सामान्य धर्म है।

तीसरा है—अस्तेय। स्तेयका अर्थ है चोरी करना। मालिककी अनुपस्थितिमें या उसकी नजर बचाकर उसकी वस्तु अपने उपयोगके लिये लेना, यह साधारणतः चोरी कहलाता है। उसकी उपस्थितिमें बलपूर्वक छीन लेना 'लूट' कहलाता है। यह चोरी और लूटका बहुत साधारण अर्थ हुआ। परंतु जो व्यापारी एक मन मालका पैसा लेता है और कम तौलता है, अथवा दस गज कपड़ेका पैसा लेकर कम नापकर देता है, बढ़िया मालका पैसा लेकर घटिया देता है या निखालिस चीजमें दूसरी चीज मिलाकर देता है। तथा जो कारीगर पूरा वेतन लेकर निश्चित कामको ईमानदारीसे नहीं करता, जो अधिकारी या नौकर घूस-रिश्वत लेता है या लेनेकी इच्छा करता है—सारांश यह है कि जो लोग अपने व्यवहारमें पूरी ईमानदारी नहीं बर्तते, जो अपनी आवश्यकतासे अधिक संग्रह करते हैं तथा जो सेवक अपने ऊपर सौंपा हुआ काम विश्वासपूर्वक नहीं करते, वे सभी चोर-डाकू या लुटेरे हैं। इस प्रकारकी किसी भी चोरीसे दूर रहनेका नाम 'अस्तेय-व्रतका पालन' कहलाता है। इस अस्तेय-सिद्धान्तके विरुद्ध कोई सम्प्रदाय हो सकता है, यह मैं नहीं मानता।

चौथा है—शौच। शौचका अर्थ है पवित्रता। इसमें एक तो है—शरीरकी पवित्रता अर्थात् शरीरको स्वच्छ रखना। इस बातको तो पशु-पक्षी भी समझते हैं; फिर मनुष्यको तो ऐसा करना ही चाहिये, इसमें क्या नयी बात है? दूसरी है मनकी पवित्रता। मनको दुष्ट संकल्पोंसे दूर रखना चाहिये। मनमें किसी भी प्रकारका बुरा विचार आने ही न पाये, उसको ऐसा पवित्र बनाना चाहिये। शौचके विषयमें भी किसी भी सम्प्रदायका कोई विरोध नहीं होता; क्योंकि तन-मनकी पवित्रताके लिये ही उसका निर्माण होता है और इसीके लिये सारे कर्मकाण्डकी योजना बनी होती है।

पाँचवाँ है—इन्द्रियनिग्रह। वास्तविक स्वतन्त्र मनुष्य कौन है?—जिसका अपनी इन्द्रियोंके ऊपर पूरा काबू है, दूसरा कोई नहीं। स्वतन्त्र देशमें रहनेसे शरीर भले ही स्वतन्त्र कहलाता हो; परंतु वह मनुष्य, जो इन्द्रियोंका गुलाम है, वे जैसे चलाती हैं, वैसे ही पशुके समान चलता है तो वह स्वतन्त्र मनुष्य नहीं है, बल्कि गुलामसे भी बदतर है। इस प्रकार इन्द्रिय-निग्रह भी प्रत्येक सम्प्रदायमें किसी-न-किसी रूपमें मान्य होना चाहिये और इस कारण कोई भी सम्प्रदाय इन्द्रिय-निग्रहकी शिक्षाका विरोध नहीं करता।

इस विवेचनसे स्पष्ट देखा जाता है कि कोई भी राज्य या संस्था, अथवा समाज या व्यक्ति बिना धर्मके रह ही नहीं सकता। राज्य असाम्प्रदायिक हो सकता है, परंतु वह धर्मनिरपेक्ष या धर्मविहीन हो ही नहीं सकता। राज्यके लिये भी उसके धर्म हैं और जहाँतक उसका पालन होता है, वहाँतक वह 'सुराज्य' कहलाता है। राज्यके धर्म रामायण तथा महाभारतमें विस्तारपूर्वक लिखे हैं, जिसको जान लेना भारती राज्यतन्त्रके प्रत्येक सभ्यके लिये आवश्यक है।

आज जो दुःखके बादल हमारे ऊपर मँडरा रहे हैं, उनको विश्वयुद्ध दूर नहीं कर सकता। ऐटम बम, हाइड्रोजन बम, कोबाल्ट बम अथवा इनसे भी भयंकर शस्त्र उनको दूर नहीं कर सकते। अनेकों प्रकारके कारखानोंकी स्थापनासे दुःख दूर नहीं होता। संतति-नियमनके साधनोंद्वारा भावी प्रजाका विनाश करनेसे भी दुःख दूर नहीं होगा। विपुल धनराशि तथा पुष्कल भोगसामग्री भी दुःखके बादलोंको छिन्न-भिन्न नहीं कर सकेगी। चन्द्र, मङ्गल या शुक्रतक पहुँचनेसे भी दुःखका अन्त न होगा। दुःखके बादलोंको दूर करके सुख-शान्तिकी स्थापना करनेका एकमात्र उपाय है—धर्म। जबतक पुनः धर्मकी संस्थापना नहीं होती, तबतक दूसरे किसी भी उपायसे इन दुःखके बादलोंको दूर करके सुख-शान्ति नहीं प्राप्त की जा सकती।

अंग्रेजोंके आनेके पूर्व हमारे यहाँ ईश्वर और धर्मके लिये पूर्ण स्थान था। उनके आनेके बाद हम उनकी आकर्षक भोगसामग्री देखकर लुब्ध हो गये और धीरे-धीरे ईश्वर और धर्मकी ओरसे उदासीन और बेपरवाह होने लगे। हम जैसे-जैसे धर्मविमुख होते गये, वैसे-वैसे ही हमारे दुःख बढ़ते गये। अब दुःखकी कोई सीमा नहीं रह गयी है। आज प्रजा दाने-दानेके लिये मर रही है और अनीति तथा दुराचारका साम्राज्य जम गया है; क्योंकि ईश्वर और धर्मके लिये हमने कोई स्थान नहीं रक्खा है। इन दोनोंकी अवहेलना करके इन दोनोंको पूर्णतः निकाल फेंका है और हम इनका आदर बिल्कुल ही नहीं करते।

हमने देखा कि धर्मकी पुनः स्थापना किये बिना इस भयंकर दुःखसे बचनेका दूसरा कोई इलाज नहीं है। अधर्म और उसके तत्त्व—अनीति, दुराचार आदि बहुत जोर पकड़ेंगे और अपनेसे जब वे काबूमें नहीं आयेंगे तब भगवान् अपने वचनके अनुसार अवतार लेकर धर्मकी स्थापना करेंगे और इस प्रकार दुष्टोंका संहार करके

धर्मकी संस्थापना करेंगे तथा स्वयं अविनाशी होनेके कारण अवतारका काम पूरा होनेपर अदृश्य हो जायँगे ।

यहाँ कुछ ज्ञानलवदुर्विदग्ध मानव प्रश्न करेंगे कि 'क्या भारतवर्ष ही ऐसा पापी है ? और क्या यहीं बहुत अधिक पाप होता है कि जिसका निवारण करनेके लिये भगवान्‌को अवतार लेना पड़ता है ? यूरोप, अमेरिका, अफ्रिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि देशोंमें भगवान्‌को क्यों नहीं अवतार लेना पड़ता ? इससे सिद्ध होता है कि पापाचरण केवल भारतवर्षमें ही होता है ।' इसके उत्तरमें इतना ही कहना है कि भगवान् अवतार धारण करते हैं—धर्मकी संस्थापना करनेके लिये ही । भारतके सिवा दूसरे देशोंमें धर्मको स्थान नहीं होता; क्योंकि वहाँ मानव-जीवनके लिये कोई सुन्दर योजना नहीं है । जहाँ धर्म होता है, वहीं जीवन योजनाके अनुसार चलता है । वह योजना है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्विध पुरुषार्थका सम्पादन करनेकी । इस योजनाको पूरी करनेके लिये दूसरे अनेक सिद्धान्त इसके साथ जुड़े हुए हैं । जैसे—(१) कर्मफलका सिद्धान्त, (२) उससे उत्पन्न पुनर्जन्मका सिद्धान्त, (३) उससे निकली हुई चातुर्वर्ण्यव्यवस्थाका सिद्धान्त, (४) और उसकी भूमिकामें ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमोंका सिद्धान्त । इससे स्पष्ट हो गया कि उन देशोंमें धर्मको स्थान नहीं है, तब फिर धर्मका ह्रास कैसे होगा ? और फिर उसकी पुनः संस्थापनाके लिये भगवान्‌को अवतार क्यों धारण करना पड़ेगा ?

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

आहार, निद्रा, भय और स्त्रीसङ्ग—ये चार बातें पशुओं और मनुष्योंमें समानरूपसे होती हैं । मनुष्यमें यदि कोई विशेषता है तो वह धर्मकी है । अतएव जिस देशमें अथवा जिस समाजमें धर्म नहीं होता, उसको शास्त्र 'पशु' कहते हैं । पशुके लिये तो ईश्वरने एक ही नियम बनाया है कि जन्म लेना और प्रारब्धके अनुसार सुख-दुःख भोगकर मर जाना । इन निकृष्ट योनियोंमें जीवकी उन्नतिके लिये कोई साधन नहीं होता, अतएव उनके लिये भगवान्‌को अवतार नहीं लेना पड़ता । उनका जीवन तो भगवान्‌के बनाये हुए नियमके अनुसार चलता ही रहता है और इस कारण भारतवर्षके सिवा दूसरी जगह कहीं भगवान्‌को अवतार धारण करना नहीं पड़ता ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

धर्म अविनाशी तत्त्व है

(एक महात्माका प्रसाद)

धर्म मानवकी खोज है, उपज नहीं । खोज सदैव अविनाशी तत्त्वकी होती है । इस दृष्टिसे धर्म अविनाशी तत्त्व है । भौतिकवादकी दृष्टिसे धर्म प्राकृतिक विधान, अध्यात्मवादकी दृष्टिसे निज विवेकका प्रकाश तथा श्रद्धापथ-की दृष्टिसे प्रभुका मङ्गलमय विधान है । धर्म धारण किया जाता है अर्थात् धर्मकी धर्मीके साथ एकता होती है । धर्मके धारण करनेसे मानवको भयरहित चिर शान्ति मिलती है । धर्म मानवको रागरहित करनेमें समर्थ है । रागरहित होते ही साधक स्वतः योगवित् तथा तत्त्ववित् एवं प्रेमवित् हो कृतकृत्य हो जाता है । इस कारण धर्म सर्वतोमुखी विकासकी भूमि है ।

धर्म सर्वप्रथम मानवको यह प्रेरणा देता है कि विवेक-विरोधी तथा सामर्थ्य-विरोधी कार्य मत करो । सामर्थ्य तथा विवेकके अनुरूप किया हुआ कार्य कर्ताको जन्म-जन्मान्तरके विद्यमान रागसे रहित कर देता है । यह धर्मका बाह्य रूप है । नवीन रागकी उत्पत्ति न हो, इसके लिये धर्म निज अधिकारके त्यागकी प्रेरणा देता है और फिर मानव रागरहित होकर अत्यन्त सुगमतापूर्वक मानव-जीवनके चरम लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है ।

रागरहित भूमिमें ही योगरूपी वृक्ष लगता है और योगरूपी वृक्षपर ही तत्त्वज्ञानरूपी फल लगता है, जो प्रेमरूपी रससे परिपूर्ण है ।

शक्ति, मुक्ति और भक्ति धर्मसे ही उपलब्ध होती हैं । धर्मात्माके जीवनमें सतत सेवा, त्याग, प्रेमकी त्रिवेणी लहराती है । सेवासे जीवन जगत्‌के लिये, त्यागसे अपने लिये और प्रेमसे सर्वसमर्थ प्रभुके लिये उपयोगी होता है । धर्मके

धारण किये बिना जीवन उपयोगी नहीं होता। अनुपयोगी जीवन किसीको अभीष्ट नहीं है और उपयोगी जीवनकी माँग सदैव सर्वत्र सभीको रहती है।

इस दृष्टिसे धर्मात्मा सभीको स्वभावसे ही प्रिय है। धर्मात्मामें जगत्‌का चिन्तन नहीं रहता, अपितु जगत् धर्मात्माकी सदैव आवश्यकता अनुभव करता है। कारण कि धर्मात्मासे सभीके अधिकार सुरक्षित रहते हैं और वह स्वयं अधिकार-लालसासे रहित हो जाता है, यह निर्विवाद सत्य है। प्रत्येक मानवमें धर्मका ज्ञान विद्यमान है; पर उसकी खोज वीतराग महापुरुष ही कर पाते हैं। रागरहित होनेकी स्वाधीनता मानवको जन्म-जात प्राप्त है। कारण कि उसे उसके रचयिताने विवेकरूपी प्रकाश तथा बुद्धिरूपी दृष्टि एवं भावशक्ति प्रदान की है। धर्म मानवको मिले हुएकी अर्थात् जो प्राप्त है, उसीके सदुपयोगकी प्रेरणा देता है। इस दृष्टिसे धर्मात्मा होनेमें मानव सर्वदा स्वाधीन है। यद्यपि धर्मको धारण करना सहज तथा स्वाभाविक है, फिर भी मानव अपनी ही भूलसे अपनेको धर्मसे च्युत कर लेता है, जो विनाशका मूल है।

अपनी भूलका ज्ञान और उसकी निवृत्ति आवश्यक हो सकती है; पर कब? जब मानव सब ओरसे विमुख होकर अपनी ओर देखे। अपनी ओर देखते ही उसे अपनी रुचि तथा आवश्यकताका बोध होगा। रुचिकी निवृत्ति और आवश्यकताकी पूर्ति अवश्य होती है—यह अविचल सत्य है। रुचिका उद्‌गम एकमात्र पराधीनताको स्वीकार करना है। पराधीन प्राणी रुचिमें आबद्ध हो जाता है। पराधीनतासे पीड़ित होनेपर जब मानव स्वाधीनताकी आवश्यकता अनुभव करता है, तब अपने-आप रुचिका नाश होने लगता है। सर्वांशमें रुचिका नाश होते ही स्वाधीनताकी माँग अपने-आप पूरी हो जाती है। स्वाधीन मानव ही धर्मके वास्तविक तत्त्वका अनुभव करता है। पराधीनताको सहन करना ही धर्मसे च्युत होना है। जिसे किसी प्रकारकी पराधीनता सहन नहीं होती, वही जगत्‌के प्रति उदार तथा प्रभुके प्रति प्रेमी होता है। स्वाधीन होनेकी स्वाधीनता मानवको अपने रचयितासे प्राप्त है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव बलका दुरुपयोग तथा विवेकका अनादर नहीं करता और अपने तथा जगत्‌के आधार तथा प्रकाशकमें अविचल श्रद्धा रखता है। सर्वाधार सर्वका प्रकाशक तथा सर्वसमर्थ है; इतना ही नहीं, वह सदैव है, सर्वत्र है और सभीका है। जो उसे स्वीकार नहीं करते, उनका भी वह उतना ही है, जितना उनका है जो उसे स्वीकार करते हैं। पर यह तभी स्पष्ट होता है, जब मानव धर्मको धारणकर रागरहित हो जाय।

निज ज्ञानका आदर मानवको बलके सदुपयोगकी तथा अलौकिक दिव्य चिन्मय अविनाशी जीवनकी प्रेरणा देता है। ज्ञानविरोधी कार्य करते हुए धर्मके तथ्यको जानना सम्भव नहीं है। राग और क्रोधने ही हमें धर्मसे विमुख किया है। दूसरोंके अधिकारकी रक्षा बिना किये रागका नाश नहीं होता और अपने अधिकारका त्याग करनेपर ही मानव क्रोधरहित होता है। 'राग' जडता, अभाव तथा नीरसतामें आबद्ध करता है और 'क्रोध' कर्तव्य, निजस्वरूप तथा प्रभुकी विस्मृतिमें हेतु है। अतएव राग तथा क्रोधका अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र धर्मके धारण करनेसे ही सम्भव है। कर्तव्यकी स्मृति और उसके पालन करनेकी सामर्थ्य क्रोधरहित होनेपर स्वतः आ जाती है। कर्तव्यनिष्ठ होते ही मानव देहातीत जीवनमें प्रवेश पाता है, जिसके पाते ही जीवन परम प्रेमसे परिपूर्ण हो जाता है। यह विकास धर्मात्माका स्वतः हो जाता है। इस दृष्टिसे धर्मका धारण करना मानवमात्रके लिये अत्यन्त आवश्यक है। धर्मात्मा प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करके सभी परिस्थितियोंसे अतीत दिव्य चिन्मय जीवनसे अभिन्न होता है। अतः प्राणोंके रहते हुए ही वर्तमानमें भूलरहित हो धर्मको धारण करनेका अथक प्रयास करना मानवमात्रके लिये परम अनिवार्य है।

की हुई भूल न दोहरानेका, वर्तमान निर्दोषताको सुरक्षित रखने एवं मानवजीवनके चरम लक्ष्यको प्राप्त करनेका दृढ़ संकल्प तथा व्रत स्वीकार करना आवश्यक है। व्रतके पालन करनेमें आयी हुई कठिनाइयोंको हर्षपूर्वक सहन करनेकी प्रेरणा धर्म देता है। कठिनाइयोंके सहन करनेसे आवश्यक शक्तिका प्रादुर्भाव होता है।

अपने लक्ष्यसे कभी निराश नहीं होना चाहिये, कारण कि लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये ही मानव-जीवन मिला है। लक्ष्यसे निराशा तभी आती है, जब मानव प्रमादसे निज विवेकका अनादर तथा बलका दुरुपयोग एवं सर्व-समर्थ प्रभुमें अश्रद्धा करता है। धर्मात्मा कभी निज विवेकका अनादर तथा बलका दुरुपयोग एवं सर्वाधारमें अश्रद्धा नहीं करता। यह सभीको मान्य है कि प्रत्येक उत्पत्तिके मूलमें उत्पत्तिरहित अनादि अविनाशी नित्य तत्त्व अवश्य है। जो अविनाशी है, वही अनन्त है। जो अनन्त है, वही अखण्ड

है । उसकी महिमाका कोई वारापार नहीं है; किंतु अपने लक्ष्यकी विस्मृतिसे मानव उसमें अविचल आस्था नहीं कर पाता । भोगकी रुचि, भोगकी माँग, तत्त्वकी जिज्ञासा तथा प्रिय-लालसा (प्रेमकी भूख) मानवको अपनेमें स्वभावसे प्रतीत होती है । भूलरहित होते ही भोगकी रुचिका नाश हो जाता है, जिसके होते ही योगकी उपलब्धि, जिज्ञासाकी पूर्ति एवं प्रेमकी प्राप्ति स्वतः होती है । योगसे शक्ति, बोधसे मुक्ति तथा प्रेमसे अनन्त रसको पाकर मानव अपने चरम लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है । अतः लक्ष्यसे निराश होनेके समान और कोई भूल नहीं है । धर्मात्मा सदैव अपनी ओर देखता है और अपने लक्ष्यको अनुभव-कर भूलरहित हो सफलता प्राप्त करता है । यह ध्रुव सत्य है ।

हमारा सच्चा साथी कौन है ? धर्म

(लेखक—परमार्थ-निकेतनके संत स्वामीजी श्रीभजनानन्दजी महाराज)

हमारा सच्चा साथी कौन है, इसपर विचार करनेपर ज्ञात होता है कि प्राणीका सच्चा साथी धर्म ही है । कहा भी है—

धनानि भूमौ पशवो हि गोष्ठे
नारी गृहद्वारि सखा श्मशाने ।
देहश्चितायां परलोकमार्गे
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः ॥

अर्थात् मनुष्यके पाञ्चभौतिक शरीर छोड़नेपर उसका धन भूमिमें या तिजौरीमें पड़ा रह जाता है । पशु पशुशालामें बँधे रह जाते हैं । परम प्यारी स्त्री शोकाग्निसे विह्वल घरके दरवाजेतक साथ देती है । मित्र तथा परिवारवर्ग श्मशानतक तथा शरीर, जिसका इतना पालन-पोषण किया, चितातक साथ देता है । परलोकमार्गमें केवल एक धर्म ही साथ जाता है ।

महाभारतके स्वर्गारोहण-पर्वमें लिखा है कि जब पाण्डव द्रौपदीके साथमें सदेह स्वर्ग जाने लगे, उस समय उनके साथ एक कुत्ता भी चल रहा था । चलते-चलते प्रथम द्रौपदी हिमालयके बर्फमें गलकर गिरने लगी, तब भीमने युधिष्ठिरसे कहा कि हमलोगोंकी चिरसङ्गिनी परम सुन्दरी द्रौपदी गिर रही है । धर्मराज युधिष्ठिरने पीछेकी ओर बिना देखे हुए ही जवाब दिया कि 'गिर जाने दो, उसका व्यवहार पक्षपातपूर्ण था; क्योंकि वह हम सबसे अधिक अर्जुनसे प्रेम करती थी ।' ऐसा कहते-कहते आगे चलते गये । पीछेको देखा भी नहीं; क्योंकि धर्मानुरागीको पीछे नहीं देखना चाहिये—जिस प्रकार मोटर ड्राइवर मोटर चलाते समय पृष्ठभागकी ओर न देखते हुए मोटर चलाता है; क्योंकि ऐसा न करनेसे दुर्घटना होनेका भय रहता है । किंचित् दूर ही चल पाये थे कि महात्मा सहदेव लड़खड़ाने लगे । भीमने कहा—'दादा, परम प्रिय सहोदर सहदेव गिरना चाहते हैं; इन्होंने तो अहंकाररहित होकर सदैव ही हमलोगोंकी सेवा की है, ये क्यों गिर रहे हैं ?' युधिष्ठिरने कहा—'भाई सहदेवको विद्वत्ताका अभिमान था, वे अपनेको संसारमें सबसे बड़ा विद्वान् समझते थे ।' ऐसा कहते हुए बिना पीछे देखे शेष भाइयोंके साथ आगे चलते रहे । इतनेमें भाई नकुलको लड़खड़ाते हुए देखकर भीमने कहा—'नकुल भी साथ छोड़ना चाहते हैं ।' धर्मराज युधिष्ठिरने कहा—'उसे अपनी सुन्दरताका अभिमान था, इसलिये इसका पतन हुआ'—ऐसा कहते हुए बिना पीछे देखे धर्मराज युधिष्ठिर आगे बढ़ते चले जा रहे थे ।

इतनेमें अर्जुनके गिरनेका समय उपस्थित हुआ । भीमने कहा कि 'दादा, गाण्डीव धनुषका धारण करनेवाला श्वेत घोड़ोंवाले रथपर भ्रमण करनेवाला अर्जुन गिर रहा है ।' युधिष्ठिरने बिना पीछे देखते हुए ही जवाब दिया—'गिर जाने दो, उसे अपनी शूरवीरताका विशेष अभिमान था ।' अन्तमें उस हिमप्रदेशमें महाबली भीम भी गिरने लगे तो उन्होंने पुकारकर कहा—'दादा, मैं भी गिरा जाता हूँ, रक्षा करो ।' युधिष्ठिरने कहा—'तू तो बड़ा पेटू था । तुझे अपने बलका अभिमान था कि संसारमें मुझसे बढ़कर कोई बली नहीं है; अतः तेरा पतन हो गया । 'संसृत मूल सूलप्रद नाना । सकल सोक दायक अभिमाना ॥' बिना पीछे देखते हुए महाराज युधिष्ठिरने अपना चलना बंद नहीं किया । उन्होंने देखा कि जो कुत्ता प्रारम्भमें हमें मिला था, वह साथ आ रहा है । उसे साथ लेते हुए आगे बढ़ रहे थे कि उन्हें एक रथके साथ महाराज इन्द्रदेवके दर्शन हुए । महाराज इन्द्रने कहा कि 'रथपर सवार होकर सदेह इन्द्रलोकको चलिये ।' महाराज युधिष्ठिरने कहा कि 'यह

कुत्ता हमारे साथ आया है; प्रथम इसे रथपर चढ़ाइये, तब मैं चढ़ूँगा।' इन्द्रने कहा—'स्वर्गमें कुत्ता नहीं जा सकता।' महाराज युधिष्ठिरने कहा—'यदि कुत्ता नहीं जा सकता तो मैं भी नहीं जाऊँगा, क्योंकि यह हमारी शरणमें आया है। सभी साथ छोड़ गये; परंतु इसने साथ नहीं छोड़ा; अतः इसे छोड़कर मैं स्वर्गमें नहीं जाना चाहता। क्योंकि—

सरनागत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥

इसके अनुसार शरणागतकी रक्षा न करनेवालेको भी स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती, ऐसा नियम है—

भीतं भक्तं नान्यदस्तीति चार्त्तं
प्राप्तं क्षीणं रक्षणे प्राणलिप्सुम्।
प्राणत्यागादप्यहं नैव मोक्तुं
यतेयं वै नित्यमेतद् व्रतं मे॥

अर्थात् भयभीत भक्त जिसे किसी अन्यका आश्रय न हो, निर्बलताके कारण शरणमें आकर अपने प्राणोंकी रक्षा चाहता है, ऐसे शरणागतकी रक्षा अपने प्राणोंका उत्सर्ग करके भी करना चाहूँगा, ऐसा मेरा परम व्रत है।

जब धर्मराज युधिष्ठिरने इस प्रकार इन्द्रसे कहा, तब जिस धर्मने कुत्तेका रूप धारण किया था, वह मूर्तरूप होकर सामने उपस्थित होकर कहने लगा—'मैं तुम-पर बहुत प्रसन्न हूँ, तुमने अनेक कठिनाइयोंको झेलते हुए भी धर्मका परित्याग नहीं किया।'

अतः धर्म ही हमारा इस लोक तथा परलोकका साथी है। एक कवि कहता है—

भगवान मेरा जीवन, सद्धर्मके लिये हो।
हो जिंदगी तो लेकिन, उपकारके लिये हो॥
सुन्दर स्वभाव मेरा दुश्मनका मन रिझा ले।
वह देखते ही कह दे, तुम प्यारके लिये हो॥
हममें बिबेक जागे, हम धर्मको न भूलें।
चाहे हमारी नैया मझधारके लिये हो॥
मन, बुद्धि और तनसे सब जातका भला हो।
चाहे हमारा यह सिर तलवारके लिये हो॥

नीतिकारने एक श्लोक बहुत सुन्दर लिखा है—

विद्या मित्रं प्रवासे च भार्या मित्रं गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च॥

अर्थात् परदेशमें मनुष्यके लिये विद्या ही मित्र है, यानी उसके पास कोई दस्तकारी आदि है तो लोग उसका आदर करेंगे। घरमें आज्ञाकारिणी स्त्री मित्र है। रोग होनेपर औषध मित्र होगी तथा मरनेवालेके लिये एकमात्र धर्म ही मित्र है। अतः धर्म ही हमारा सच्चा साथी है। 'धर्माङ्क'के श्रोतागण कहेंगे कि धर्म क्या है तो धर्मको न बताकर धर्मका सार कहते हैं—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

धर्मका सार सुनकर उसको धारण करना चाहिये। धर्मका सार है कि अपने प्रतिकूल आचरणका अन्यके लिये प्रयोग न करे। दूसरोंके साथ वही व्यवहार करो, जो स्वयं चाहते हो। यदि आप चाहते हैं कि हमारी बहिन-बेटीको कोई बुरी निगाहसे न देखे तो आपको भी चाहिये कि आप किसीकी बहिन-बेटीको बुरी निगाहसे न देखें। यदि आप दूसरेका झूठ बोलना पसंद नहीं करते तो आपको भी किसीके साथ झूठ व्यवहार नहीं करना चाहिये। यदि आपको अपनी वस्तुकी चोरी हो जानेपर कष्ट होता है तो आपको भी दूसरोंकी वस्तुको चुरानेका क्या अधिकार है? यदि बाजारसे मिलावटी वस्तुके खरीदनेसे ऐतराज है तो आप भी मिलावटी वस्तु किसीको न दें। अर्थात् जैसा व्यवहार आप दूसरोंसे चाहते हों, वैसा ही व्यवहार दूसरोंके साथ करें। जिस व्यवहारसे आपको कष्ट होता है, वैसा व्यवहार दूसरोंके साथ न करें।

खेतमें जो आप बोयेंगे, वही आपको मिलेगा। इसी प्रकार गीताजीके अध्याय १३ श्लोक १ के अनुसार सभी प्राणियोंके शरीर खेतके समान हैं। उनके साथ जैसा व्यवहार करेंगे, वैसा ही आपको प्राप्त होगा। यदि आप प्राणिमात्रको सुख देंगे तो आपको उसके बदले-में सुख मिलेगा और यदि दुःख देंगे तो दुःख मिलेगा। यही धर्मका सार है।

चार वेद छः शास्त्रमें बात मिली है दोय।
दुख दीन्हें दुख होत है, सुख दीन्हें सुख होय॥

धर्मचक्रं प्रवर्तताम्

(लेखक—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअनिरुद्धाचार्यजी वेंकटाचार्यजी महाराज)

धर्मोंका मूल

वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों एवं उपनिषदोंमें 'अग्नि'-तत्त्व एवं 'सोम'-तत्त्वकी यज्ञमयी (परस्पर अनुस्यूत) अवस्थाको 'ब्रह्म' शब्दसे अभिहित किया गया है। प्रातिशाख्य (वैदिक व्याकरण) में ब्रह्म-शब्दकी निरुक्ति भी 'बिभर्ति' धातुसे इस प्रकार की गयी है—विभिन्न कार्यमालाओंको धारण करनेके कारण ब्रह्म 'ब्रह्म' शब्दसे अभिहित है। शतपथब्राह्मणमें 'ब्रह्म'-तत्त्वको 'यजुः' तत्त्व तथा 'आकाश'-तत्त्व भी कहा गया है। यही तत्त्व विश्वगत सब द्रव्यों (धर्मियों) एवं सब गुणों (धर्मों) का मूल कारण है। 'ब्रह्म' अथवा 'यजुः' अथवा 'आकाश' तत्त्वके आग्नेय भागसे द्रव्यों (धर्मियों) तथा सौम्य भागसे गुणों (धर्मों) की उत्पत्ति होती है। अधुनातन दार्शनिक एवं तान्त्रिक परिभाषामें गुण-तत्त्व अथवा धर्म-तत्त्वको 'शक्ति'-तत्त्व कहते हैं। अतः गुण, धर्म और शक्ति—तीनों अभिन्न हैं।

धर्म सनातन हैं

तत्तत् पदार्थोंकी स्वरूपनिरूपिका (स्व-स्वरूप-निष्पादिका) सहजा शक्ति (धर्म अथवा गुण) ही तत्तत् पदार्थोंका सनातन धर्म है। यही धर्म तत्तत् पदार्थका रक्षक भी है। इस स्वरूपनिष्पादक धर्मके किसी भी कारणसे अभिभूत अथवा उच्छिन्न हो जानेपर विश्वका कोई भी पदार्थ स्व-स्वरूपमें प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। स्वरक्षक धर्मके अभावमें वह सदाके लिये विलीन हो जाता है। धर्मके इस स्वरूपका दर्शन कराते हुए आप्तजन कहते हैं—**'धर्मो हि वीर्यं ध्रियते हि धर्मो धृतो धारयते हि रूपम्'** धर्म एक शक्ति है। स्वरूप-लाभ तथा स्वरूपकी रक्षाके लिये पदार्थद्वारा धृत होनेसे वह 'धर्म' है। पदार्थोंद्वारा धृत धर्म ही पदार्थोंका रक्षण करता है, अतः वह विश्वकी प्रतिष्ठा है। **'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'** एवं **'धर्मो रक्षति रक्षितः'** आदि आप्त-वचनोंका मूल उपर्युक्त विज्ञान ही है। विश्वगत ये शक्तियाँ पदार्थोंकी सहभाविनी होनेसे नित्य हैं। अतः धर्मोंको नित्य (सनातन) कहा गया है। कदाचित् यह स्वरूपका निरूपक धर्म तिरोहित अथवा उच्छिन्न हो जाय तो पदार्थ कथमपि अपनेको प्रतिष्ठित नहीं रख सकता—'धर्म एव हतो हन्ति'।

धर्मोंका सामान्य-विशेष रूप

'निर्विशेषं न सामान्यम्, एवं निःसामान्यं न विशेषः' न्यायदर्शनके इन दो नियमोंके आधारपर यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि किसी भी सामान्य धर्मका विकास उसके विशेष रूपमें ही सदा हो सकता है। विशेष धर्मकी स्थिति भी सामान्य धर्मके आश्रय बिना अशक्य ही नहीं, असम्भव है। वृक्षमें विद्यमान वृक्षत्वरूप सामान्य धर्मकी उपलब्धि उसके विशेष रूप आम्रत्व, वटत्व, शिंशपात्व एवं निम्बत्व आदि रूपोंमें ही होगी। आम्रत्व, वटत्व एवं निम्बत्व आदि विशेष धर्मोंकी उपलब्धि भी सामान्य धर्म—वृक्षत्वसे आस्कन्दित स्थलमें ही होगी। अतः धर्मोंका सामान्य एवं विशेष उभयात्मक रूप है।

मानवताके विशेष रूप

प्रक्रान्त न्यायदर्शनके नियमोंके अवलम्बनपर विचार, विवेक, सुमति, २० प्रकारकी मर्यादाएँ, शम-दमादि गुण, स्पर्धा-असूयादि-दोषाभाव, धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, ह्री (अकार्यसे निवृत्ति), विद्या, सत्य (भूतहितकारी क्रिया), अक्रोध, अनसूया (परगुणोंसे प्रसन्न होना), माङ्गल्य (विश्वकी कल्याणकामना), अनायास (किसीको कष्ट न पहुँचाना), अकार्पण्य, अस्पृहा, दान, रक्षा, सेवा, हितवादिता, स्वाध्याय, माधुर्य, मधुरभाषण, श्रद्धा, आस्तिक्य, अदम्भ, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, विनय, एकपत्नीव्रत, पातिव्रत्य, गुरुसेवा, राष्ट्रसेवा, अभय, ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्व, पितृत्व, मातृत्व, पतित्व, पत्नीत्व, पुत्रत्व, भ्रातृत्व, सेवकत्व, सेनापतित्व, सैनिकत्व, राजत्व, उपासकत्व, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तप, ईश्वरप्रणिधान, गार्हस्थ्य एवं संन्यास आदि मानवताके विशेषरूप हैं। मानवताका जब भी दर्शन होगा, तब उसके विशेषरूप पितृत्व, मातृत्व, करुणा, मैत्री एवं मुदिता आदिके रूपोंमें ही होगा। अपने विशेष रूपोंसे अनवच्छिन्न मानवता कदापि क्वचिदपि उपलब्ध नहीं होगी। मानवताको छोड़कर उसके विशेष रूपों—दया, क्षमा, शौच एवं अनसूया आदिके दर्शन भी कहीं भी नहीं होंगे।

मानवताके विशेष रूप सनातन और विश्व-व्याप्त हैं

मानवताके विशेष रूप तुष्टि, पुष्टि, स्वस्ति, सम्पत्ति, धृति, क्षमा, रति, मुक्ति, दया, प्रतिष्ठा, कीर्ति एवं क्रिया आदि विश्वधारक प्रकृतिके अंश होनेसे सनातन एवं विश्वमें व्याप्त हैं। प्रकृतिकी कौन-सी कला किस रूपमें विश्वगत जड-चेतन पदार्थोंकी रक्षा करती है—इसका सुन्दर विवेचन ब्रह्मवैवर्तपुराणके प्रकृतिखण्डमें उपलब्ध है। पुराणका कहना है कि प्रकृतिकी 'पुष्टि'शक्ति (धर्म) विश्वके पदार्थोंकी क्षीणतासे रक्षा करती है। तुष्टि-धर्म (शक्ति) विश्वके पदार्थोंकी स्वरूप-च्युतिसे रक्षा करता है। 'सम्पत्ति'शक्ति विश्वके पदार्थोंकी दारिद्र्य (दुर्गति)से रक्षा करती है। 'धृति'-धर्म विश्वके पदार्थोंकी विकृतियोंसे रक्षा करता है। 'क्षमा'-धर्म विश्वके पदार्थोंकी रोष एवं उन्मादसे रक्षा करता है। 'रति'-कला विश्वके पदार्थोंकी उद्वेग (अरति) से रक्षा करती है। 'मुक्ति'-धर्म विश्वके पदार्थोंकी अनैश्वर्यसे रक्षा करता है। 'दया'-धर्म विश्वके पदार्थोंकी निष्ठुरतासे रक्षा करता है। 'कीर्ति'-धर्म विश्वके पदार्थोंकी संकोचसे रक्षा करता है। 'प्रतिष्ठा'-कला विश्वके पदार्थोंकी उच्छेदसे रक्षा करती है। 'मैत्री-कला' विश्वके पदार्थोंकी द्वेषसे रक्षा करती है। 'मुदिता'-कला विश्वके पदार्थोंकी स्पर्धासे रक्षा करती है। 'उपेक्षा'-कला विश्वके पदार्थोंकी कलहसे रक्षा करती है।

सनातन धर्मोंका विश्वकी रक्षामें सहयोग

सनातन-धर्मके पालनका सुफल ब्रह्मवैवर्तके आधारपर कुछ अंशोंमें उपरि-निर्दिष्ट है। अन्यान्य पुराण भी अपनी प्राञ्जल भाषामें सनातन-धर्मके नियमोंके पालनसे विश्व-रक्षामें सहयोगका वर्णन कर रहे हैं। उनका कहना है कि विश्वव्याप्त धर्मकी १३ पत्नियाँ (शक्तियाँ) हैं। मानवोंमें इनका पूर्णरूपेण विकास होनेपर विश्वमें सुख, समृद्धि एवं शान्तिकी वर्षा होती है। धर्मकी १३ पत्नियों (शक्तियों)के नाम तथा उनके मानवमें विकासका फल इस रूपमें पुराणोंमें उपलब्ध है—

> श्रद्धा मैत्री दया शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः।
> बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्तिर्धर्मस्य पत्नयः॥
> श्रद्धासूत शुभं मैत्री प्रसादमभयं दया।
> शान्तिः सुखं मुदं तुष्टिः स्मयं पुष्टिरसूयत॥
> योगं क्रियोन्नतिर्दर्पमर्थं बुद्धिरसूयत।
> मेधा स्मृतिं तितिक्षा तु क्षेमं ह्रीः प्रश्रयं सुतम्॥
> मूर्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी।

धर्मकी पत्नी (शक्ति) श्रद्धासे विश्वमें शुभ (कल्याण) का संचार होता है। कल्याणकी प्रतिष्ठासे विश्वमें विद्यमान अकल्याणका नाश होता है। धर्मकी पत्नी मैत्रीसे विश्वमें प्रसाद (प्रसन्नता)का संचार होता है। प्रसन्नताका संचार उद्वेगको नष्ट कर देता है। 'दया'शक्तिसे विश्वमें अध्यात्म और आधिदैवतमें अभयका संचार एवं भयका विनाश होता है। 'शान्ति'-शक्तिसे पिण्ड एवं ब्रह्माण्डमें सुखका संचार होता है। शान्ति और सुखके संचारसे अशान्ति और दुःख नष्ट हो जाते हैं। 'पुष्टि'शक्तिसे विश्वमें मुद् (आनन्द) का संचार होता है। 'क्रिया' शक्तिसे विश्वमें उद्योगका संचार तथा आलस्यका विनाश होता है। 'उन्नति'-शक्तिसे विश्वमें दर्प (उत्साह) का संचार तथा अनुत्साहका विनाश होता है। 'बुद्धि'-शक्तिसे विश्वमें इष्ट (सुख) की प्राप्ति तथा अनिष्टका विनाश होता है। धर्मकी पत्नी 'मेधा'से विश्वमें स्मरणका संचार तथा अपस्मारका विनाश होता है। धर्मकी पत्नी 'तितिक्षा'-शक्तिसे विश्वमें क्षेमका संचार तथा अक्षेमका विनाश होता है। धर्मकी पत्नी 'ह्री' से विश्वमें विनयका संचार तथा औद्धत्यका विनाश होता है। धर्मकी शक्ति 'मूर्ति'से विश्वमें सब गुणोंकी उत्पत्ति होती है। मूर्ति माताने ही पिण्डावच्छेदेन नर तथा ब्रह्माण्डावच्छेदेन नारायणको जन्म दिया है। जिस मानवमें 'मूर्ति'-शक्तिका विकास होगा, उसके सब दुर्गुण नष्ट हो जाते हैं।

ये सब नियम यम और नियम-भेदसे दो भागोंमें विभक्त हैं। इनमें यमोंका पालन परमावश्यक है। केवल नियमोंका पालन यमोंके पालनके बिना व्यर्थ हो जाता है।

> यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
> यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥
> (मनु० ७)

धर्म और मत

विश्वव्याप्त अशान्ति, वैमनस्य एवं परस्पर अविश्वासके अनेक कारणोंमें धर्म और मतमें अभेदग्रह भी अन्यतम कारण है। त्रिविक्रम तीर्थने पारानन्दसूत्रमें धर्म और मतके भेदका स्पष्ट निर्देश करते हुए कहा है कि "मतका विषय—'ईश्वर, प्रकृति, जीव और मोक्ष'—ये चार पदार्थ ही हैं। मतका सम्बन्ध उपासना-मार्गसे है। उपासनाका सम्बन्ध मनसे है। मनके त्रिगुणात्मक होनेसे उपासनामें भेद हो जाना स्वाभाविक है। धर्मके नियम संस्कारक होनेसे प्रकृतिके नियमोंसे सम्बन्ध

रखते हैं, जो सभी मतके उपासकोंके लिये आवश्यक हैं। मैत्री, दया, तुष्टि एवं तितिक्षा आदि सभी उपासकोंके लिये आवश्यक है। धर्म-नियमोंके अनुकूल मत ग्राह्य एवं उपकारक है। धर्मविरोधी मत अग्राह्य एवं विनाशक है।''

किसी भी मतद्वारा ईश्वरके उपासकके लिये आठ प्रकारके सामान्य धर्मोंका पालन करना भर्तृहरिने आवश्यक माना है। अहिंसा, अस्तेय, सत्य, दान, एकपत्नीव्रत, संतोष, विनय एवं दया—इनका पालन अनिवार्य है। व्यष्टि और समष्टिके सुख, शान्ति एवं समृद्धिके लिये विश्वमें धर्म-चक्रका प्रवर्तन परम आवश्यक है। विश्व-कल्याणके लिये '**धर्मचक्रं प्रवर्ततताम्**'में सहयोग देना महती सेवा है।



धर्म-अनुशीलन

(अनन्तश्री जगद्गुरु रामानुजाचार्य आचार्यपीठाधिपति स्वामीजी श्रीराघवाचार्यजी महाराज)

अनन्त अपौरुषेय वेदने '**धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा**' कहकर धर्मको विश्वकी—जगत्की प्रतिष्ठा बताया है। जगत्में ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसमें धर्म विद्यमान न हो; ऐसा कोई तत्त्व नहीं, जिसमें धर्मकी सत्ता न हो। धर्मकी यह व्यापकता स्वयं धर्म-शब्दसे प्रकट है। इसकी व्युत्पत्ति है—(१) '**धरति इति धर्मः**' अर्थात् जो धारण करता है, वह धर्म है। (२) '**ध्रियते अनेन इति धर्मः**' अर्थात् जिसके द्वारा धारण किया जाय, वह धर्म है।

धर्मका यह धारण करनेका कार्य प्रकृतिके कण-कणमें निरन्तर चलता रहता है। प्राणिमात्रकी नैसर्गिक प्रगति इसीके अधीन होती रहती है। प्रकृतिकी सर्वोत्कृष्ट कला-कृति मानवमें इसकी अभिव्यक्ति मानवताके रूपमें होती है और इसीके बलपर मानव अभ्युदयसे लेकर श्रेयतक सम्पादन करनेमें सफल होता है।

विश्वव्यापी जीवनके प्रवाहमें धर्मका अन्वेषण करनेपर दो तथ्य उपलब्ध होते हैं—(१) गति और (२) स्थिति। गतिका परिचय जड-चेतन-संयोगमें मिलता है। जगत्की गमनशीलता इसी संयोगपर निर्भर करती है। गतिके नितान्त अभावका नाम स्थिति है। जड प्रकृतिमें उसका धर्म रहता है। प्रकृतिको इसका ज्ञान नहीं होता। कारण, प्रकृति जड है। चेतन अपने धर्मभूत ज्ञानके सहारे अपने स्वरूप एवं अपने धर्मका अनुभव कर सकता है। यही अनुभूति उसकी स्वाभाविक स्थिति है। धर्म-शास्त्रकारोंने गति और स्थितिको प्रवृत्ति और निवृत्तिकी संज्ञा दी और निवृत्तिकी चरमावस्थामें वास्तविक स्थितिका अनुभव किया। इस प्रकार एक ही धर्मके दो रूप हो गये—एक प्रवृत्तिपरक और दूसरा निवृत्तिपरक।

अनन्त अपौरुषेय वेदके द्वारा ऋषियोंने धर्मके इन दोनों रूपोंका ज्ञान प्राप्त किया। वेद चार हैं—(१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद और (४) अथर्ववेद। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—इन चार विभागोंमें वेदकी अक्षरराशि विभक्त है। ऋषियोंने (१) शिक्षा, (२) व्याकरण, (३) निरुक्त, (४) छन्द, (५) ज्योतिष और (६) कल्प—इन छः अङ्गों एवं (१) धर्मशास्त्र, (२) पुराणेतिहास, (३) न्याय और (४) मीमांसा—इन चार उपाङ्गोंके द्वारा वेदवाङ्मयको अलंकृत किया है।

साङ्गोपाङ्ग वेद एवं तत्प्रतिपादित धर्मकी अविच्छिन्न परम्परा आज भी धरातलपर विद्यमान है। भारतदेशको, जो कि विश्वका हृदय है, इसे सुरक्षित रखनेका गौरव प्राप्त है। धर्मनिष्ठ समाजने वंशपरम्परा तथा गुरुपरम्परा दोनों ही प्रकारसे इसे अक्षुण्ण रक्खा है। वंशतः जहाँ हम आदि मानवसमाजके उत्तराधिकारी हैं, वहाँ गुरुपरम्परातः हमने गुरुपरम्परागत उपदेशको जीवित रक्खा है। कहना न होगा कि वेद और धर्म दोनोंका सम्बन्ध गुरुपरम्परागत उपदेशसे है। गुरुपरम्परागत उपदेशको ही सम्प्रदाय कहते हैं। वेदकी जितनी शाखाएँ हैं, वेदके उतने ही सम्प्रदाय हैं। ये सम्प्रदाय श्रौत हैं। धर्मशास्त्रोंको स्मृति कहते हैं। इनकी भी अलग-अलग परम्पराएँ हैं। पुराणों और आगमोंको भी स्मृतिकी कोटिमें गिन लिया जाता है। इनकी भी अलग-अलग परम्पराएँ हैं। उपनिषदोंमें अलग-अलग ब्रह्मविद्याएँ मिलती हैं। प्रत्येक ब्रह्मविद्याकी अपनी परम्परा है। इन समस्त परम्पराओं एवं सम्प्रदायोंकी गणना धर्मके अन्तर्गत होती है। इस युगके आरम्भ

होनेके पूर्व ही महर्षि वेदव्यासने वेदोंको व्यस्त तथा वेदान्तको सूत्रबद्ध करके धर्मके प्रवृत्तिपरक एवं निवृत्तिपरक समस्त सम्प्रदायोंका सामञ्जस्य स्थापित किया था। ऐसा करनेमें उन्होंने जिस मीमांसा-पद्धतिका आश्रय लिया था, उसमें कर्म-मीमांसा और दैवत-मीमांसाके बाद उनके सूत्रग्रन्थको ब्रह्ममीमांसाका पद मिला था। कर्ममीमांसाके सूत्रकार थे महर्षि जैमिनि, दैवत-मीमांसाके सूत्रकार थे महर्षि काशकृत्स्न। जैसा कि कहा है—

कर्मदेवता ब्रह्मगोचरा सा त्रिधोद्भवौ सूत्रकारतः।
जैमिनेर्मुनेः काशकृत्स्नतः बादरायणादित्यतः क्रमात्॥

महर्षि जैमिनिने धर्ममीमांसाके बारह अध्यायोंमें वेदविहित कर्मकी मीमांसा की। महर्षि काशकृत्स्नने दैवतमीमांसाके चार अध्यायोंमें क्रमशः देवताओंके स्वरूप, उनके भेद, उनकी उपासना तथा उनकी उपासनाके फलकी मीमांसा की। महर्षि बादरायण व्यासने चार अध्यायोंमें ब्रह्मकी मीमांसा की। कर्म साध्य-धर्म है और ब्रह्म सिद्ध-धर्म है। दैवत-मीमांसा साध्य-धर्मको सिद्ध-धर्मसे जोड़नेवाली कड़ी है। इस प्रकार बीस अध्यायके मीमांसा-शास्त्रको एक शास्त्र मानकर महर्षि बोधायन, टङ्कमुनि एवं आचार्य द्रमिडने कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्डके सामञ्जस्यका प्रतिपादन किया। जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्यने इसी परम्पराका अनुसरण किया है।

वैदिक कर्मकाण्डका सम्बन्ध है देवताओंसे। देवताओंके अन्तर्यामी हैं परब्रह्म। इस प्रकार कर्मकाण्डका पर्यवसान होता है दैवत-काण्डमें और दैवतकाण्डका पर्यवसान होता है ब्रह्माण्डमें। यह सामञ्जस्यकी एक पद्धति है। महर्षि वेदव्यासके पिता महर्षि पराशरने—

कव्यं यः पितृरूपधृग्विधिहुतं हव्यं च भुङ्क्ते विभुः।
देवत्वे भगवाननादिनिधनः स्वाहास्वधासंज्ञिते॥

—कहकर इसी पद्धतिका प्रतिपादन किया है। उनके कथनका आशय यह है कि अनादिनिधन विभु भगवान् श्रीहरि स्वधासंज्ञक कव्यको पितृरूपसे तथा स्वाहासंज्ञक हव्यको देवरूपसे ग्रहण करते हैं।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।

अर्थात् मैं समस्त यज्ञोंका भोक्ता एवं प्रभु हूँ, कहकर भगवान् श्रीकृष्णने इसका अनुमोदन किया है।

पुराणोंने विभिन्न सम्प्रदायोंके प्रतिष्ठापक आचार्योंको अवतारपुरुष बताकर एक दूसरी पद्धति प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ जैसे—

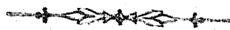
शंकरः शंकरः साक्षाच्छेषो रामानुजः स्वयम्।
मध्वाचार्यः स्वयं ब्रह्मा......................॥

अर्थात् श्रीशंकराचार्य साक्षात् शंकर थे। श्रीरामानुजाचार्य शेषके अवतार थे। पितामह ब्रह्माने मध्वाचार्यके रूपमें अवतार ग्रहण किया था।

पद्धति कोई भी क्यों न हो, अभीष्ट है धर्मके अन्तर्गत आनेवाले सम्प्रदायोंका सामञ्जस्य। साङ्गोपाङ्ग वेदके गुरुपरम्परागत उपदेशसे सम्बन्ध होनेके कारण यह सामञ्जस्य स्वतःसिद्ध है।

वास्तवमें लोकसे परलोकतक, व्यवहारसे परमार्थतक, व्यक्तिसे समाजतक ऐसा कोई लक्ष्य या उद्देश्य नहीं जो पुरुषार्थ-चतुष्टयके अन्तर्गत न आता हो। हमारे धर्मशास्त्रकारोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके रूपमें पुरुषार्थ-चतुष्टयको मानव-जीवनका लक्ष्य निर्धारित किया। अर्थ और कामको धर्म-नियन्त्रितकर उन्होंने मानवके लिये धर्ममय जीवनका विधान किया। प्रवृत्तिसे निवृत्तिकी ओर इस आधारपर उन्होंने जीवनकी व्याख्या की और मानवको परम पुरुषार्थकी ओर अभिमुख होनेकी प्रेरणा दी। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें साध्य-धर्मका अनुष्ठान और सिद्ध-धर्मका चिन्तन करता हुआ साधक अपने धर्मभूत ज्ञानको पूर्णरूपसे विकसितकर अपने स्वरूपगत धर्मको अनुभव करनेमें समर्थ होता है।

जाननेकी इच्छा आनन्दकी आकाङ्क्षा और अमरत्वकी कामनाको लेकर आरम्भ हुई। जीवन-यात्रामें धर्मभूत ज्ञान व्यक्तिको सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सर्वशेषी, सर्वात्मा भगवान्की ओर अभिमुख करता है। इस आभिमुख्यकी पूर्ति आत्मसमर्पण-यज्ञमें होती है, जिसके सम्पन्न होनेपर आनन्दसिन्धु भगवान् चेतनबिन्दुमें सदाके लिये अनन्त आनन्दानुभूतिरूप धर्मकी प्रतिष्ठा कर देते हैं।



धर्म

(लेखक—महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)

विशालविश्वस्य विधानबीजं
वरं वरेण्यं विधिविष्णुशर्वैः।
वसुंधरावारिविमानवह्नि-
वायुस्वरूपं प्रणवं विवन्दे॥

धर्म क्या है ?—'**ध्रियते येन स धर्मः**'। जिसने इस विश्व-ब्रह्माण्डको धारण किया है, वह धर्म है।

ऋग्वेदमें लिखा है—

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्॥

(ऋक्-संहिता १।२२।१८)

अर्थात् परमेश्वरने आकाशके बीचमें त्रिपाद-परिमित स्थानमें त्रिलोकका निर्माण करके उनके भीतर धर्मों (जगन्निर्वाहक कर्मसमूहों) को स्थापित किया।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

(ऋग्वेद १०।९०।१६)

'यज्ञके द्वारा यज्ञपुरुषकी देवताओंने पूजा की थी, यह प्राथमिक धर्म था।' देवलोककी प्रेरणासे मनुष्य-लोकमें यज्ञ प्रवर्तित हुआ।

ईशोपनिषद्में लिखा है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

(१५)

'ज्योतिर्मय पात्रके द्वारा सत्यका (अर्थात् आदित्य-मण्डलस्थ व्याहृत-अवयव पुरुषका) मुख (मुख्य-स्वरूप) आवृत है। हे जगत्के परितोषक सूर्यदेव! सत्यस्वरूप तुम्हारी उपासनाके फलसे सत्यस्वरूपकी मेरी उपलब्धिके लिये उस आवरणको हटा दो।'

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा
न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः।

(कठ० उ० १।१।२१)

नचिकेता आत्मज्ञानकी प्राप्तिके अधिकारी हैं या नहीं—यह परीक्षा करनेके लिये यमराज कहते हैं—

'इस तत्त्वके विषयमें सृष्टिकालमें देवगणको भी संदेह हुआ था; क्योंकि यह आत्माख्य धर्म सूक्ष्म होनेके कारण सुविज्ञेय नहीं है।' इस मन्त्रसे धर्म 'आत्मा'के नामसे कथित हुआ है।'

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः
प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।

(कठ० १।२।१३)

मनुष्य इस आत्मतत्त्वको श्रवण करके, 'मैं ही आत्मा हूँ'—इस प्रकार उसको सम्यक् ग्रहण करके, पश्चात् आत्मज्ञानरूपी श्रेष्ठ धर्मकी सहायतासे प्राप्त उस आत्माको देहादिसे पृथक् उपलब्ध करता है।

यहाँ तत्त्वज्ञानको ही धर्म कहा है।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।

(कठ० १।२।१४)

इस मन्त्रमें शास्त्रीय अनुष्ठानको धर्म कहा है।

यथोदके दुर्गे वृष्टम्।

(कठ० २।१।१४)

"दुर्गम पर्वत-शिखरपर वर्षित वृष्टिधारा जिस प्रकार निम्नतर पहाड़ी प्रदेशमें फैल जाती है, उसी प्रकार जो व्यक्ति 'धर्मान्' अर्थात् सब प्राणियोंको······।" इस मन्त्रमें उपनिषद्-माताने धर्म शब्द प्राणीके अर्थमें प्रयुक्त किया है।

सत्यं वद। धर्मं चर।

(तैत्तिरीय० २।११।१)

'सत्य बोलो। धर्म (अनुष्ठेय कर्म) का आचरण करो।' इस स्थलमें 'धर्म' शब्द अनुष्ठेय कर्मके अर्थमें है।

स च एतदेवं विद्वान्—

(छान्दोग्योपनिषद् २।१।४)

'जो कोई इस प्रकार जानकर साधुगुण-विशिष्ट रूपमें सामकी उपासना करता है, उसके पास सारे उत्तम धर्म (पुण्यसमूह) अतिशीघ्र आ जाते हैं और उसके भोग्य रूपमें अवस्थान करते हैं।' यहाँ धर्म-शब्द पुण्य अर्थमें आया है।

स नैव व्यभवत् तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्मं—

(बृहदारण्यक १।४।१४)

'वे तब भी सक्षम न हुए, उन्होंने श्रेयःस्वरूप, सबके लिये कल्याणप्रद धर्मकी सृष्टि की।' यह धर्म ही क्षत्रियका क्षत्रिय अर्थात् नियन्ता है। अतएव धर्मसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। राजाकी सहायतासे जैसे कोई दूसरेको जीत लेता है, उसी प्रकार धर्मकी सहायतासे दुर्बल मनुष्य सबको जीतनेकी कामना करता है। वह धर्म ही सत्य है। इसी कारण जब कोई सत्य बोलता है, तब ज्ञानी लोग कहते हैं कि यह धर्म कहता है और धर्म बोलनेपर कहते हैं कि यह सत्य कहता है; क्योंकि धर्म ही यह दोनों हो जाता है।

श्रुतिमाता धर्मस्वरूपा हैं। धर्म आत्मा है, धर्म तत्त्वज्ञान है, धर्म प्राणी है, धर्म शास्त्रविधिरूप है, धर्म पुण्य है, धर्म सत्य है। दृष्ट-अदृष्ट रूपमें धर्म ही कार्य उत्पादन करता है, इत्यादि बातें कही गयीं।

नचिकेताने यमसे कहा, 'आपने धर्मसे अन्य, अधर्मसे अन्य, कार्य-कारणसे पृथक् तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमानसे भी पृथक् जिस वस्तुको प्रत्यक्ष किया है, उसे मुझको कहें।' (कठोपनिषद् १। २। १४) यमने कहा—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(कठ० १। २। १५)

'जिसको सारे वेद परम वाञ्छित बतलाते हैं, निखिल तपस्या जिसकी प्राप्तिका उपाय है, मनुष्य जिसको प्राप्त करनेके हेतु ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, वह परम ईप्सिततम वस्तु पुरुषोत्तम ॐकार है।'

पर और अपर ब्रह्म इस ॐकारको जानकर जो जिस वस्तुकी इच्छा करेगा, इसके द्वारा उसे पायेगा। यह सर्वश्रेष्ठ आलम्बन है। पर और अपर ब्रह्म—दोनोंका यही आश्रय है। जो इस ॐकारकी उपासना करेगा, वह ब्रह्मलोकमें पूजित होगा। (कठोपनिषद् १। २। १६-१७)

एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः।
तस्माद् विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति॥

(प्रश्नोपनिषद् ५। २)

'हे सत्यकाम! ये जो पर और अपर ब्रह्म हैं, ये दोनों ॐकारस्वरूप हैं। इसी कारण ज्ञानवान् व्यक्ति ॐकारका अवलम्बन करके अपने अभिलषित पर या अपर ब्रह्म ॐकारको आत्मस्वरूपमें प्राप्त करता है।'

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव।

(माण्डूक्योपनिषद्)

'ॐ—यह अक्षर (वर्ण) ही जगत् तथा भूः-भुवः-स्वः-रूप त्रिभुवन—सब कुछ है। इसकी सुस्पष्ट व्याख्या यह है कि अतीत, वर्तमान तथा भविष्यत् जो कुछ है, सब ॐकार ही है। इससे अतिरिक्त जो कुछ त्रिकालातीत है, वह भी ॐकार ही है।'

ॐकारके सिवा और कुछ नहीं है। स्थावर-जङ्गम—सब कुछ ॐकार है। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज—समस्त प्राणियोंके रूपमें तथा नद-नदी, पर्वत, लौह आदि स्थावररूप बनकर वही विराजमान हो रहा है। यह ॐकार ही परमार्थके सारस्वरूप अद्वैत ब्रह्म है।

परमार्थसारभूतं यदद्वैतमशेषतः।

धर्म इस ॐकारका ही नाम है।

उक्थमुक्थकरश्लोकी ब्रह्मक्षत्रविडन्तिमः।
धर्मोऽधर्महरो धर्म्यो धर्मी धर्मपरायणः॥५४॥

(ॐकारसहस्रनाम, प्रणवकल्प)

बीस संहिताएँ तथा मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप, वसिष्ठ, प्रजापति, लघुशङ्ख, औशनस, बृहद् यम, लघु यम, अरुण, अत्रि, आङ्गिरस, उत्तराङ्गिरस, कपिल, लघ्वाश्वलायन, वृद्ध हारीत, लोहित, दाल्भ्य, कण्व, बृहत्पराशर और नारद—ये स्मृतियाँ हैं। इन सबका नाम धर्मशास्त्र है। श्रीमनुभगवान्‌ने मनुसंहिताके प्रथम अध्यायमें आत्मज्ञानको ही प्रकृष्ट धर्म बतलाया है। उसको प्राप्त करनेके लिये उपनयन आदि संस्कार आवश्यक हैं, यह बतलानेके पहले धर्मका लक्षण बतलाते हैं—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥

(मनु० २। १)

'जो धर्म राग-द्वेषविहीन साधुचरित विद्वानोंके द्वारा अनुष्ठित होता है तथा जिसको हृदय अनुमोदन करता है (जिससे हृदयमें किसी प्रकारकी विमति नहीं आती), उस धर्मको सुनो।'

धर्मका मूल अथवा प्रमाण—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

(मनु० २। ६)

'सारे वेद, वेदज्ञोंकी स्मृतियाँ, उनके शील (ब्रह्मण्यता आदि तेरह गुण), साधुजनके आचार तथा आत्मतुष्टि— ये कतिपय धर्मके मूल या प्रमाण हैं।'

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥
(मनु० २। १०)

'वेदोंका नाम है श्रुति, धर्मशास्त्रोंका नाम है स्मृति। सब विषयोंमें इन दोनों शास्त्रोंके विरुद्ध तर्कके द्वारा मीमांसा अभिप्रेत नहीं है; क्योंकि श्रुति और स्मृतिसे धर्म स्वयं प्रकाशित हुआ है।'

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
(मनु० २। १२)

'वेद, स्मृति, सदाचार तथा आत्मतुष्टि—ये चार धर्मके साक्षात् लक्षण (प्रमाण) ऋषियोंने निर्देश किये हैं।'

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥
(मनु० २। १३)

'यथार्थ धर्मका ज्ञान उनको ही होता है, जो अर्थ और काममें आसक्त नहीं होते और धर्मकी जिज्ञासा करनेवालोंके लिये वेद ही प्रकृष्ट प्रमाण है।'

सत्ययुगमें एक प्रकारका धर्म था, त्रेतायुगमें दूसरे प्रकारका, द्वापरमें अन्य प्रकारका और कलियुगमें और ही प्रकारका धर्म है। जैसे-जैसे युगका ह्रास होता जाता है, उसी प्रकार धर्मका भी ह्रास होता है। (मनु० १। ८५)

सत्ययुगमें धर्म तपस्याप्रधान होता है, त्रेतामें ज्ञान-प्रधान होता है, द्वापरमें यज्ञप्रधान होता है तथा कलियुगमें दान ही एकमात्र धर्म है। (मनु० १। ८६)

वर्णधर्म, आश्रम-धर्म, गुणधर्म, नैमित्तिक धर्म, पुरुष-धर्म, स्त्री-धर्म आदि सब धर्मोंके विषयमें भगवान् मनु आदि संहिताकारोंने लिखा है—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥
(मनु० १२। १०६)

'वेद और वेदमूलक स्मृति आदि शास्त्रोंके उपदेशका जो अविरोधी तर्कके द्वारा अनुसंधान करता है, वही धर्मके स्वरूपको जान सकता है।'

चारों आश्रमोंके साधारण धर्म—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनु० ६। ९२)

''धृति (धैर्य) अर्थात् संतोष, क्षमा अर्थात् सामर्थ्य रहते हुए भी अपकारीका अपकार न करना, दम अर्थात् विषयोंका संसर्ग होनेपर भी मनको निर्विकार रखना, अस्तेय अर्थात् काय, वचन और मनसे परद्रव्यको न चुराना, शौच अर्थात् शास्त्रानुसार मिट्टी-जल आदिके द्वारा देहशुद्धि, इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् यथेच्छ विषयभोगसे हटाकर अलौकिक विषयकी प्राप्तिके लिये शास्त्र-सम्मत मार्गसे इन्द्रियोंको ले चलना, धी अर्थात् आत्मविषयिणी बुद्धि—'मैं शरीर नहीं, आत्मा हूँ'—इस प्रकारकी बुद्धि, विद्या अर्थात् आत्मज्ञान जिससे हो उस ब्रह्मविद्याका अनुशीलन, सत्य अर्थात् यथार्थ कथन और प्राणियोंका हित-साधन, अक्रोध अर्थात् क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी क्रुद्ध न होना—इन दसोंका नाम धर्म है।'' इनमें जो सम्यक् प्रतिष्ठित है, वही धार्मिक है। उसीको परम गतिकी प्राप्ति होती है।

सर्वसाधारणके अनुष्ठेय धर्म—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतत् सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥
(मनु० १०। ६३)

'अहिंसा, सत्यवचन, परद्रव्य अपहरण न करना, शुचिता तथा इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् इन्द्रियोंका संयम—इनको सर्वसाधारण चारों वर्णोंके धर्म तथा संकीर्ण जातिके धर्मके रूपमें अनुष्ठेय बतलाते हुए भगवान् मनुने निर्देश किया है।' विष्णुसंहितामें लिखा है—

'क्षमा, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, गुरु-सेवा, तीर्थ-दर्शन, दया, ऋजुता, निर्लोभता, देव-ब्राह्मणोंकी पूजा और अनसूया—ये साधारण धर्म हैं। ये सब धर्म चारों वर्णोंके हैं।'

जैमिनिकृत मीमांसादर्शनका प्रथम सूत्र है—'अथातो धर्मजिज्ञासा।' अर्थात् धर्मकी मीमांसा ही मीमांसादर्शनका मूल है, ऐसा जान पड़ता है। धर्म क्या है? उसका क्या लक्ष्य है? किस कर्मके करनेसे धर्म होता है और किस कर्मके करनेसे धर्म नहीं होता? इसका उत्तर देनेके पहले धर्मका एक लक्षण करना आवश्यक है। धर्म-जिज्ञासाका अर्थ

है—धर्मको जाननेकी इच्छा। धर्मको जाननेकी आवश्यकता क्या है तथा धर्मके कौन-कौन-से साधन हैं? प्रसिद्ध धर्म क्या है और अप्रसिद्ध धर्म क्या है? एक आदमी धर्मका लक्षण एक प्रकारसे करता है और दूसरा दूसरे प्रकारसे करता है। इन सब बातोंकी मीमांसा करके जैमिनिने धर्मके लक्षणमें यह सूत्र लिखा है—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।

'क्रियामें प्रवर्तित करनेवाले शास्त्र-वचनका नाम 'चोदना' है। अर्थात् आचार्यसे प्रेरित होकर जो याग आदि किये जाते हैं, उसीका नाम धर्म है।' आचार्यके उपदेशके अनुसार किया जानेवाला यज्ञ आदि ही धर्म है। जो कार्य मनुष्यके कल्याणके लिये होता है, उसका नाम धर्म है। अर्थात् जिस कर्मका अनुष्ठान करनेसे मङ्गल होता है, वही धर्म है तथा जिससे भूत, भविष्यत्, वर्तमान और सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट अर्थ अवगत करनेमें समर्थ हो सकते हैं, उसका नाम धर्म है। जो कुछ श्रेयस्कर अर्थात् मङ्गलजनक है, उसका नाम धर्म है।

य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते।

(विश्वकोषमें मीमांसा १। २ सूत्रभाष्य)

धर्मका लक्षण—

पात्रे दानं मतिः कृष्णे मातापित्रोश्च पूजनम्।
श्रद्धा बलिर्गवां ग्रासः षड्विधं धर्मलक्षणम्॥

(शब्दकल्पद्रुममें पाद्मोत्तरखण्ड)

'सुपात्रको दान देना, कृष्णमें मति, माता-पिताकी पूजा, श्रद्धा, प्राणियोंके आहारके लिये द्रव्य-दान, गोग्रास प्रदान करना—ये छः प्रकार धर्मके लक्षण हैं।'

धर्मका अङ्ग—

ब्रह्मचर्येण सत्येन तपसा च प्रवर्तते।
दानेन नियमेनापि क्षमाशौचेन वल्लभ॥
अहिंसया सुशान्त्या च अस्तेयेनापि वर्तते।
एतैर्दशभिरङ्गैस्तु धर्ममेव प्रसूचयेत्॥

(पाद्म, भूमिखण्ड)

'ब्रह्मचर्य, सत्य और तपस्या, दान, नियम, क्षमा, शौच, अहिंसा, सुशान्ति तथा अस्तेयके द्वारा धर्म सूचित होता है।'

धर्मका मूल—

अद्रोहोऽप्यलोभश्च दमो भूतदया तपः।
ब्रह्मचर्यं ततः सत्यमनुक्रोशः क्षमा धृतिः॥
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद् दुरासदम्॥

(मत्स्यपुराण)

'अद्रोह, अलोभ, बाह्येन्द्रिय-निग्रह, प्राणिमात्रके प्रति दया, तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य, करुणा, क्षमा और धैर्य—ये सनातन-धर्मके दुर्लभ मूल हैं।'

देवताओंके धर्म वामनपुराणमें इस प्रकार कहे गये हैं—'सुकेशी नामक एक राक्षसने ऋषियोंसे यह प्रश्न किया था कि जगत्‌में श्रेय क्या है? ऋषियोंने बतलाया कि 'इह और परलोकमें धर्म ही श्रेय है। साधुजन इस अक्षय धर्मका आश्रय लेनेके कारण ही जगत्‌में पूज्य हैं और धर्म-मार्गपर चलनेसे सब सुखी हो सकते हैं।' सुकेशीने पूछा कि 'धर्मका लक्षण क्या है? और क्या करनेसे धर्म होता है?' ऋषियोंने कहा—'याग-यज्ञादि क्रिया, स्वाध्याय, तत्त्वज्ञान, विष्णु-पूजामें रति, विष्णुकी स्तुति देवताओंका परम धर्म है। बाहुद्वारा पराक्रम तथा संग्रामरूप सत्कार्य, नीतिशास्त्रकी निन्दा और शिवभक्ति दैत्योंका परम धर्म है। योगानुष्ठान, स्वाध्याय, ब्रह्मज्ञान, विष्णु और शंकरकी भक्ति दैत्योंका धर्म है। नृत्य-गीत आदिकी अभिज्ञता और सरस्वतीकी दृढ़ भक्ति गन्धर्वोंके धर्म हैं। पौरुषके कार्यमें अभिज्ञता, भवानी और सूर्यकी भक्ति तथा गान्धर्व विद्या—ये विद्याधरोंके धर्म हैं। समस्त मन्त्र-शास्त्र-विद्यामें निपुणता किंपुरुषोंका धर्म है। योगाभ्यासमें सदा अनुरक्ति, सब स्थानोंमें इच्छानुसार गमनागमन, नित्य ब्रह्मचर्य और जपसम्बन्धी ज्ञान पितरोंके धर्म हैं। धर्मज्ञान ऋषियोंका धर्म है। स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, दम, यजन, सरलता, क्षमा, जितेन्द्रियता, शौच, मङ्गलकार्यमें श्रद्धा, देव-भक्ति मानव-धर्म हैं। धनाधिपतित्व, भोग, स्वाध्याय, शंकरोपासना, अहंकार और मदसे रहित होना—ये गुह्यकोंके धर्म हैं। परदाराकी अभिलाषा, परकीय अर्थके लिये लोलुपता, वेदाभ्यास और शंकर-भक्ति राक्षसोंके धर्म हैं। अविवेकता, अज्ञान, अशुचि तथा आमिष-भक्षणमें रति—ये पिशाचोंके धर्म हैं।' (वामनपुराण ११ अध्याय)

मत्स्यपुराण ३। ९० के अनुसार एक देवता धर्म ब्रह्माके दक्षिण स्तनसे उत्पन्न होते हैं। श्रीमद्भागवतके अनुसार दक्ष प्रजापतिने धर्मदेवको १३ कन्याएँ दानमें दी थीं। उनसे धर्मदेवकी अनेक संतान उत्पन्न हुईं। उनमें श्रद्धाके गर्भसे सत्य, मैत्रीके गर्भसे प्रसाद, दयाके गर्भसे अभय, शान्तिके गर्भसे यम, तुष्टिके गर्भसे हर्ष, पुष्टिके

गर्भसे गर्व, क्रियाके गर्भसे योग, उन्नतिके गर्भसे दर्प, वृद्धिके गर्भसे अर्थ, मेधाके गर्भसे स्मृति, तितिक्षाके गर्भसे मङ्गल, लज्जाके गर्भसे विनय और मूर्तिके गर्भसे नर-नारायण उत्पन्न हुए।

धर्मकी उत्पत्ति—

अथोत्पत्तिं प्रवक्ष्यामि धर्मस्य महतो नृप।
माहात्म्यं च तिथिं चैव तन्निबोध नराधिप॥
सर्वं ब्रह्माव्ययः शुद्धः परादपरसंज्ञितः।
स सिसृक्षुः प्रजास्त्वादौ पालनं च व्यचिन्तयत्॥

—इत्यादि

(वराहपुराण)

"हे राजन्! अब धर्मकी उत्पत्ति और उसकी तिथि तथा माहात्म्य बतलाऊँगा, ध्यानपूर्वक श्रवण करो। प्रजाकी सृष्टि करनेकी अभिलाषासे परात्पर ब्रह्माजी अत्यन्त चिन्तनसे युक्त हुए। उनके चिन्तनसे उनके दक्षिण अङ्गसे श्वेत-कुण्डलधारी तथा श्वेत माल्य और अनुलेपन आदिसे युक्त एक पुरुष प्रकट हुआ। ब्रह्माने उसको देखकर कहा, 'तुम चतुष्पाद वृषाकृति हो, तुम ज्येष्ठ होकर प्रजा-पालन करो'—इतना कहकर वे शान्त हो गये। वही धर्म सत्ययुगमें चतुष्पाद, त्रेतामें त्रिपाद, द्वापरमें द्विपाद और कलिमें एक पादद्वारा प्रजावर्गका पालन करता है। वह ब्राह्मणोंकी पूर्णरूपसे, क्षत्रियकी त्रिपादसे, वैश्यकी द्विपादसे और शूद्रकी एक पादसे रक्षा करता है। गुण, द्रव्य, क्रिया और जाति—ये चार पाद हैं। वह वेदमें त्रिशृङ्गके नामसे अभिहित होता है। उसका आद्यन्त ॐकार है, दो सिर और सात हाथ हैं। उदात्तादि तीन स्वरोंके द्वारा बद्ध है। ब्रह्माने यह भी कहा कि 'धर्मदेव, आजसे त्रयोदशी तुम्हारी तिथि होगी; इस तिथिमें तुम्हारे उद्देश्यसे जो उपवास करेगा, वह पापसे मुक्त हो जायगा।"

वामनपुराणमें लिखा है कि धर्मके अहिंसा नामक भार्यासे चार पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें योगशास्त्रविशारद ज्येष्ठ पुत्र सनत्कुमार थे, द्वितीय पुत्र सनातन थे, तृतीय सनक और चतुर्थ सनन्दन थे। परंतु दूसरे पुराणोंमें ये लोग ब्रह्माके मानसपुत्र कहे गये हैं। श्रीमद्भागवतमें चतुष्पादकी कथा इस प्रकार वर्णित है—

तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः प्रकीर्तिताः।
अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मयसङ्गमदैस्तव॥
इदानीं धर्म पादस्ते सत्यं निर्वर्तयेद्यतः।
तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमनृतेनैधितः कलिः॥

(श्रीमद्भागवत १। १७। २४-२५)

'सत्ययुगमें तपस्या, शौच, दया और सत्यरूप तुम्हारे चार पाद थे। विस्मय, विषय-सङ्ग और गर्वके द्वारा उनमेंसे तीन पाद टूट गये हैं। अब सत्यरूप तुम्हारा एक पाद अवशिष्ट है। तुम इसीके आश्रयसे किसी प्रकार अवस्थित रह सकोगे, ऐसा सोच रहे हो; किंतु यह दुरंत कलि असत्यसे परिवर्द्धित होकर तुम्हारे उस पादको भी भग्न करनेके लिये उद्यत हो रहा है।'

धर्मका आधारस्थान—

(ब्रह्मवैवर्त-पुराण, कृष्णजन्मखण्ड, अ० ३२)

सारे वैष्णव, यति, ब्रह्मचारी, पतिव्रता नारी, प्राज्ञ व्यक्ति, वानप्रस्थी, भिक्षु, धर्मशील नृप, सद्वैद्य, द्विज-सेवा-परायण शूद्र तथा सज्जनोंके संसर्गमें रहनेवाले लोग—इन सब लोगोंमें धर्म सर्वदा सम्पूर्णरूपसे अवस्थित रहता है। तथा अश्वत्थ, वट, बिल्व, चन्दन, देवपूजाके योग्य पुष्पोंवाले वृक्ष, देवालय, तीर्थस्थान, वेद-वेदाङ्ग श्रवण करनेवाले व्यक्ति, जहाँ वेदपाठ होता हो, श्रीकृष्णके नाम-गुण जहाँ कीर्तित होते हों, व्रत-पूजा, तप तथा विधिपूर्वक यज्ञके साक्षी स्थल, दीक्षा, परीक्षा, शपथके स्थान, गोष्ठ, गोष्पद-भूमि तथा गोगृह—इन सब स्थानोंमें धर्म अवस्थित रहता है तथा इन सब स्थानोंमें धर्म निस्तेज नहीं होता।'

हेमाद्रि, व्रत-खण्डमें उद्धृत भविष्यपुराणके अनुसार 'वर्णधर्म, आश्रम-धर्म, वर्णाश्रमधर्म, गौणधर्म और नैमित्तिक धर्म—ये पाँच प्रकारके धर्म हैं। एक वर्णका आश्रय लेकर जो धर्म प्रवर्तित होता है, उसको वर्ण-धर्म कहते हैं—जैसे उपनयन आदि। आश्रमको आश्रय करके जो धर्म प्रवर्तित होता है, उसको आश्रम-धर्म कहते हैं—यथा भिक्षा तथा दण्डादि-धारण। वर्णत्व और आश्रमत्वको अधिकार करके जो धर्म प्रवर्तित होता है, उसको वर्णाश्रम-धर्म कहते हैं—जैसे मौञ्जी-मेखलादि-धारण। जो धर्म गुणके द्वारा प्रवर्तित होता है, उसे गुण-धर्म कहते हैं—जैसे नियमपूर्वक प्रजापालन आदि। किसी निमित्तको आश्रय करके जो धर्म प्रवर्तित होता है, उसको नैमित्तिक धर्म कहते हैं—जैसे प्रायश्चित्त-विधि आदि।

विश्वामित्रके द्वारा कथित धर्मका लक्षण—

यमार्याः क्रियमाणं हि शंसन्त्यागमवेदिनः।
स धर्मो यं विगर्हन्ति तमधर्मं प्रचक्षते॥

'आगमतत्त्वको जाननेवाले आर्यलोग जिस कर्मका अनुष्ठान करते हैं तथा जिसकी प्रशंसा करते हैं, उसको धर्म कहते हैं और जिन कर्मोंकी निन्दा करते हैं, उनको अधर्म कहते हैं।' प्रवृत्ति और निवृत्तिजनक दो प्रकारके वैदिक कर्मोंका ब्रह्माने सृष्टिके आदिमें निर्देश किया था। इनमें प्रवृत्तिलक्षण जो कर्म हैं, उनको धर्म कहते हैं। ये धर्म गुणभेदानुसार तीन प्रकारके हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। जिन कर्मोंमें किसी प्रकारकी फल-कामना नहीं होती, ये ही कर्म हमारे कर्तव्य-कर्म हैं, इस प्रकारकी बुद्धिसे जो कर्म अनुष्ठित होते हैं, उनको सात्त्विक कर्म कहते हैं। सात्त्विक धर्मका अनुष्ठान करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। मोक्षके निमित्त संकल्प करके जो कार्य अनुष्ठित होते हैं, उनको राजसधर्म कहते हैं। कर्ममें विधिकी अपेक्षा न करके केवल कर्म-बुद्धिसे जो कार्य अनुष्ठित होता है, उसको तामस धर्म कहते हैं।

'मनुष्यके लिये जो कर्तव्य या आचरणीय कहा गया है, वही धर्म है। स्मृतिशास्त्रसे धर्मका यह अर्थ प्राप्त होता है।'

'पुराण-शास्त्रमें धर्मका एक अर्थ नहीं देखनेमें आता, अनेक स्थलोंमें धर्म-शब्द अनेक अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है।'

'मनोवृत्तियोंको धर्म कहा गया है—जैसे दया-धर्म, सत्य-धर्म, अहिंसा परम धर्म, क्रोध अपकृष्ट धर्म इत्यादि।'

'इन्द्रियोंके कार्य भी धर्म-नामसे कथित होते हैं—जैसे चक्षुका धर्म है दर्शन, नासिकाका धर्म है आघ्राण, मनका धर्म है चिन्तन—आदि।'

'कर्तव्यका नाम भी धर्म है, जैसे पिताका धर्म, पुत्रका धर्म, पत्नीका धर्म इत्यादि।'

'गुणोंकी क्रियाको भी धर्म कहते हैं—जैसे शीतका धर्म संकोचन, तापका धर्म है सम्प्रसारण इत्यादि।'

'वृत्त्यनुकूल कार्यको भी धर्म कहते हैं—जैसे चौरधर्म, याजकका धर्म, कृषकका धर्म, व्यवसायीका धर्म इत्यादि।'

कतिपय विशिष्ट व्यापारोंकी समष्टिको भी धर्म कहा जाता है—जैसे जागतिक धर्म, लौकिक धर्म, सामाजिक धर्म, कौलिक धर्म, दैहिक धर्म और मानसिक धर्म आदि।'

अहिंसालक्षणो धर्मो हिंसा चाधर्मलक्षणा।

(महाभारत)

'धर्म अहिंसालक्षण है और अधर्म हिंसालक्षण है।' 'को धर्मः? भूतदया।' अर्थात् प्राणिवर्गके ऊपर दया करना ही धर्म है।

दानं तपस्तीर्थनिषेवणं जपो
न चास्त्यहिंसासदृशं सुपुण्यम्।
हिंसामतस्तां परिवर्जयेज्जनः
सुधर्मनिष्ठो दृढधर्मबुद्धये॥

(श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर ११२)

'दान, तपस्या, तीर्थसेवा और जप—ये अहिंसाके समान पुण्यजनक नहीं हैं। अतएव उत्तम-धर्मपरायण मुमुक्षु पुरुष सुधर्मकी दृढ़ता बढ़ानेके लिये पर-पीड़नरूप हिंसा न करे।'

जैसे वक्रगामिनी नदी सागरमें मिलती है, उसी प्रकार सारे धर्म अहिंसक पुरुषका आश्रय लेते हैं। काष्ठस्थित अग्निके समान स्थावर-जङ्गममें व्याप्त भगवान्‌की उपेक्षा करनेवाले हिंसक पुरुषका धर्म आश्रय नहीं करता। (वही, ११३)

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।

(श्रीमद्भागवत)

'वेदमें जो कुछ कहा गया है, वह धर्म है; उसके विपरीत सब कुछ अधर्म है।'

विहितक्रियया साध्यो धर्मःपुंसो गुणो मतः।
प्रतिषिद्धक्रियासाध्यः स गुणोऽधर्म उच्यते॥

(धर्मदीपिका)

'शास्त्र-विहित क्रिया-साध्य गुणका नाम धर्म है, प्रतिषिद्ध-क्रिया-साध्य गुणका नाम अधर्म है।'

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥

(हितोपदेश, मित्रलाभ)

'मनुष्यका धर्म ही एकमात्र सुहृद् है, मृत्युके पश्चात् और कोई उसका अनुगमन नहीं करता, एकमात्र धर्म ही अनुगमन करता है।'

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंमें धर्म ही प्रथम प्रधान पुरुषार्थ है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३। ३५)

'उत्तम रूपसे अनुष्ठित परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्म कुछ अङ्गहीन भी हो तो श्रेष्ठ है। स्वधर्ममें मृत्यु भी श्रेय है; क्योंकि

उससे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है। परधर्म भयानक है, क्योंकि वह नरकमें ले जाता है।'

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिकदर्शन)

'जिससे सम्यक् सांसारिक उन्नति और मोक्ष अर्थात् परमार्थकी प्राप्ति हो, वही धर्म है। धर्मशब्दका पर्याय है पुण्य, श्रेय, सुकृत, वृष (अमरकोष), न्याय, स्वभाव, आचार, उपमा, क्रतु, अहिंसा, उपनिषद्, धनु, यम, सोमप (मेदिनी कोष), सत्सङ्ग, अर्हन (हेमचन्द्र)।

धर्मके अनन्त लक्षण हैं। श्रुति-स्मृतिमें धर्मके जो लक्षण कहे गये हैं, उनको एकत्रित करना मनुष्यके वशकी बात नहीं है। स्थूलरूपमें, जिससे सांसारिक उन्नति और परमार्थकी प्राप्ति होती है, वही धर्म है।

भारतके नर-नारीके जीवनका एकमात्र लक्ष्य भगवत्साक्षात्कार है, इसका उपाय शास्त्र है। जो दृढ़तापूर्वक शास्त्रका अवलम्बन करता है, वह जीवन-संग्राममें विजयी होकर निश्चय ही श्रीभगवान्‌को प्राप्त होता है। आज कलियुग-के मोहान्धकारमें पड़कर अधिकांश लोग पथभ्रष्ट हो रहे हैं। ऐहिक सुखके सिवा और भी कुछ है, इसे वे नहीं जानते। शास्त्रानुकूल आचार-धर्मका त्याग करनेके कारण अशान्तिरूपी अनलकी ज्वाला चतुर्दिक् प्रज्वलित हो रही है। भयंकर कलिने समस्त शास्त्रीय धर्मको ग्रसित कर लिया है। शास्त्रानुकूल आचार-पालन करनेकी सामर्थ्य भी मनुष्यमें नहीं है। केवल भोग-ही-भोग है। अशास्त्रीय भोग रोगरूप होकर दारुण संताप दे रहा है। इस अधर्मके महाप्लावनसे कैसे मानवकी रक्षा होगी! आज धर्मकी उपेक्षा हो रही है, पद-पदपर धार्मिक लोग लाञ्छित हो रहे हैं, क्या होगा? क्या होगा?

भय नहीं है, भय नहीं है। श्रीभगवान् कह रहे हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ७-८)

'हे भारत! जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका प्रादुर्भाव होता है, तब-तब मैं अपनेको सृजन करता हूँ। साधु-जनकी रक्षा और दुष्कर्मी लोगोंके विनाश तथा धर्मकी स्थापनाके लिये मैं युग-युगमें (तत्तत् कालमें) अवतीर्ण होता हूँ।'

हे स्वधर्म और शास्त्रीय आचारके पालक सज्जनवृन्द! आपलोग भयभीत न हों। भगवान् हैं—वे धर्म और धार्मिक लोगोंकी रक्षाके लिये इस मृत्युलोकमें अवतीर्ण होते हैं।

काय-मन-वचनसे उनका आश्रय लेनेपर मनुष्यके सारे दुःख निवृत्त होंगे ही। उनके श्रीमुखकी वाणी है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६५-६६)

'हे पार्थ! तुम मद्गतचित्त हो जाओ, मेरे भक्त बन जाओ, मेरी प्रीतिके लिये यज्ञादिका अनुष्ठान करो तथा मुझको नमस्कार करो; इससे तुम मुझको ही प्राप्त होओगे—तुमसे मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ; क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो। तुम सारे धर्माधर्मका त्याग करके एकमात्र मेरे शरणापन्न हो जाओ। (सब प्रकारके कर्मोंका त्याग करनेसे पीछे कहीं पाप न हो, इस भयसे) तुम शोक न करना, मैं तुमको सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा।'

वे ही श्रीशुकके रूपमें श्रीमद्भागवतमें कलिकालमें संसारसे उत्तीर्ण होनेका उपाय बतला रहे हैं—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(श्रीमद्भागवत १२। ३। ५१-५२)

'दोषोंकी खानि कलियुगका एकमात्र महान् गुण यह है कि केवल हरिकीर्तनके द्वारा मानव सर्वसङ्ग-विनिर्मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त होता है। सत्ययुगमें निर्विकल्प समाधियोगसे विष्णुका ध्यान करके, त्रेतामें नाना प्रकारके यज्ञोंके द्वारा यज्ञपुरुषका यजन करके, द्वापरयुगमें काय-मन-वचनसे विष्णुकी परिचर्या करके जो फल प्राप्त होता है, वही फल कलियुगमें भगवान् श्रीहरिके नाम-संकीर्तनसे प्राप्त होता है और वह फल है श्रीभगवत्साक्षात्कार—ईश्वरदर्शन।'

विष्णुपुराणमें श्रीव्यासजी कहते हैं—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन यत्।
द्वापरे यच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवम्॥

(विष्णुपुराण ६। २। १६-१७)

'सत्ययुगमें दस वर्ष, त्रेतायुगमें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास तपस्या, ब्रह्मचर्य, जप आदि अनुष्ठान करनेसे जो फल होता है, कलियुगमें केवल एक रात-दिनके अनुष्ठानमें वही फल प्राप्त हो जाता है।'

'सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतायुगमें यज्ञ, द्वापरमें भगवान्‌की पूजा-सेवा करके जो फल मिलता है, कलियुगमें भगवान् श्रीकेशवका नाम-कीर्तन करनेसे वही फल प्राप्त होता है।'

केवल पुराणोंमें ही नहीं, कलिसंतरण-उपनिषद्‌में भी लिखा है—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस महामन्त्रका गान करके ब्राह्मण सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति-प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। साढ़े तीन करोड़ जप करनेपर सद्योमुक्त हो जाता है। योगसार-तन्त्रमें भगवान् श्रीशंकरने जगन्माता पार्वतीसे सब वर्णोंके लिये कल्याणकारी—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

—इस तारक-ब्रह्मका उपदेश किया है।

राधातन्त्रमें हमारी माँ, जगज्जननीने वासुदेव श्रीकृष्णको —

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

—इस महामन्त्रका उपदेश दिया है। श्रीमान् श्रीकृष्ण-चैतन्य महाप्रभुने अपने परिकरवृन्दसे कहा है—

आपन समारे प्रभु करे उपदेशे।
कृष्ण नाम महामन्त्र सुनह हरिषे॥
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥
प्रभु बोले कहिलाम एइ महामन्त्र।
इहा जप गिया सब करिया निर्बन्ध॥
इहा हइते सर्व सिद्धि हइबे सबार।
सर्वक्षण बल इथे नाहि विधि आर॥

अर्थात् श्रीमान् महाप्रभु उपदेश देते हैं कि आप सब लोग कृष्णनाम-महामन्त्रको आनन्दपूर्वक सुन लीजिये—हरे कृष्ण हरे कृष्ण०—इत्यादि। प्रभु बोले कि मैंने यह महामन्त्र सबको सुना दिया, अब जाकर मुक्तभावसे इसका जप करो। इसके लिये कोई दूसरी विधि नहीं है, इसका जप करनेसे सबको सर्वसिद्धि प्राप्त होगी।

इस भयावह कलिकालमें श्रीभगवान्‌का नाम-कीर्तन ही परम धर्म है। भगवान् पुकार रहे हैं—'आओ, आओ, पापी-तापी, रोग-शोकग्रस्त, अनाथ-आतुर, बाल-वृद्ध, युवक-युवती, ब्राह्मण-चाण्डाल, सारे मानव! तुम चाहे जो हो, चाहे तुम्हारे पाप कितने ही बड़े क्यों न हों, तुम भगवान्‌का नाम-स्मरण करो, नाम-स्मरण करो; तुम्हारे पाप-ताप, दुःख-दैन्य सब दूर होंगे। तुम निश्चय ही श्रीभगवान्‌का साक्षात् दर्शन प्राप्तकर कृतार्थ हो जाओगे। तुम्हारा मनुष्य-जन्म सार्थक हो जायगा।'

धर्मकी जय! धर्मकी जय!! नामकी जय!!!

वैष्णवधर्म

(लेखक—भागवताचार्य प्रभुपाद श्रीमान् प्राणकिशोर गोस्वामी महाराज, एम्० ए०, विद्याभूषण, साहित्यरत्न)

जीवकी चेतनाके साथ-साथ उसकी आनन्द-संवेदना लगी हुई है। समस्त रूप, रस, गन्धमें निरवच्छिन्न सर्वाश्रय परमात्माके आनन्दस्वरूपके अनुसरणमें विष्णुभावना समुल्लसित होती है।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्। (ऋग्वेद १। २२। २०)

इस सत्यका आश्रय लेकर वैदिक आराधनाकी प्रवृत्ति है—वही वैष्णवधर्म है। प्रागैतिहासिक युगमें—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे। (ऋग्वेद १। २२। १७)

—इस मन्त्रमें त्रिविक्रम विष्णुकी सर्वाधिक महिमामें वैष्णव-भावनाके रहस्यका अनुसंधान करना चाहिये।

ॐ तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन। आस्य जानन्तो नाम चिद् विविक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे।

(ऋग्वेद १। १५६। ३)

—ऋग्वेदके इस मन्त्रमें वैष्णव-साधनाका मूल स्रोत प्राप्त होता है। 'हे विष्णु! तुम्हारी अनन्त महिमाको हम कितना-सा जानते हैं और क्या कह सकते हैं! तुम्हारे नामकी महिमाको जानकर नाम-भजन ही हम करते हैं। इसीसे हमको सुमति प्राप्त होगी।'

संहिता, उपनिषद्, ब्राह्मण, सूत्र, पञ्चरात्र, पुराण, तन्त्र आदि सब शास्त्रोंमें विष्णु, वैष्णव और धर्मकी बातें भरी पड़ी हैं। मनु, अत्रि, विष्णु आदि स्मृतियाँ विष्णु, नारायण, अच्युतकी नाम-महिमा, वैष्णवके धर्माचार तथा सामाजिक और व्यक्तिगत जीवनचर्याकी विस्तृत प्रयोगपद्धति विश्लेषणपूर्वक प्रदर्शित करती हैं।

शाण्डिल्यविद्या और सूत्र, नारद-भक्तिसूत्र, महाभारतके नारायणीय और पाञ्चरात्रिक व्यूहविचार, गौतमीय तन्त्र तथा तापनी श्रुतिके समन्वयसे वैष्णवधर्मका जो विस्तार हुआ है और जिस वैचित्र्यका विकास हुआ है, वह एक विराट् साहित्य है।

इसको कोई पाञ्चरात्रिक कहते हैं तो कोई पौराणिक साहित्य, कोई तान्त्रिक कहते हैं तो कोई अवैदिक और कोई बौद्ध-प्रभाव बतलाते हैं। पता नहीं, क्या-क्या कहते हैं।

वैष्णव कहते हैं कि अनादि वैष्णवधर्म काल-कलन-धर्मी युगधर्मप्रवर्त्तक सार्वजनिक मानव-धर्म है। श्रीविष्णुके चरणाश्रित भक्तोंके लिये यह धर्म नित्य है। देवर्षि नारद, व्यास, वाल्मीकि, श्रीशुक आदिने साधनासे, चिन्तनसे, भावनासे, प्रेरणासे सुरसरिकी धाराके समान सर्वलोकपावन वैष्णवधर्मको मानवके हृदयाङ्गणमें अवतरित किया है। वेद-प्रतिपाद्य यह धर्म पाशुपत आदि धर्मोंके समान शून्यवादपर आश्रित मतवादसे पूर्णतः पृथक् और स्वतन्त्र है। सौर, शाक्त, शैव और गाणपत्य निगमसे नियन्त्रित साधनाका जो क्रम समस्त भारतमें फैला हुआ है, उसमें सर्वत्र विष्णु, नारायण, यज्ञेश्वरको मुख्य स्थान प्राप्त है।

स्मार्त, वैदिक, वेदान्ती, तान्त्रिक या पौराणिक—सभी विष्णुभगवान्का नामस्मरण करके पवित्र होते हैं, विष्णु-भगवान्का नामस्मरण करके आचमन करते हैं, यज्ञेश्वरकी पूजा करके अन्य किसी पूजामें लगते हैं। नित्य, नैमित्तिक, काम्य या निष्काम कर्म विष्णुको समर्पित होनेपर ही पूर्ण फल प्रदान करते हैं; अन्यथा मन्त्रतः या तन्त्रतः कोई-न-कोई छिद्र—दोष रह जानेके कारण सम्यक् रूपसे अनुष्ठित नहीं माने जाते।

जलचर, थलचर, नभचर प्राणिसमूह तथा मानव—सबमें सर्वत्र एक विष्णु ही गुहाशय-रूपमें प्रविष्ट हैं। स्थावर-जङ्गम उन्हींके ही रूप हैं—विष्णुभक्त इस रूपका दर्शन करके उन्हें प्रणाम करते हैं।

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
(श्रीमद्भागवत ११। २। ४५)

स्थावर जङ्गम देखे ना देखे ताँर मूर्ति।
जाहाँ जाहाँ दृष्टि पड़े ताहाँ इष्ट स्फूर्ति॥

परम देवताके मर्त्यलोकमें अवतरणका संदेश वैष्णव-धर्मकी ही देन है। संसारके अन्य किसी धर्मदर्शनमें इस प्रकार सुस्पष्ट भाषामें स्वयं भगवान्के अवतारकी बात नहीं है। वैष्णवलोग भगवान्की अनन्त लीला, अनन्त धाम, अनन्त प्रकाश और अनन्त महिमाके सम्बन्धमें संदेहरहित विश्वास-का परिचय देकर प्राकृत लोकोंमें उसके दर्शनार्थ उदग्रदृष्टि होते हैं। वे सहस्रभुजावाले हैं, अष्टभुज हैं, चतुर्भुज हैं तथा द्विभुज भी हैं। अनेक रूपोंमें उनकी आराधना होती है। श्री, भू, लीला आदिसे परिसेवित श्रीनारायणरूपमें, श्रीराम-जानकी युगलसरकारके रूपमें, फिर गोपालकृष्ण, गोपीजनवल्लभ, राधा-श्यामसुन्दर स्वरूपमें आराधित हैं। यह साधनाका क्रम अनादि कालसे चला आ रहा है। इसको ऐतिहासिक विचारसरणिमें लाकर जो इसे किसी देश-कालमें या किसी मानव-समाजके द्वारा सृष्ट बतलाया जाता है, उसे वैष्णवगण नहीं मानते। श्रीभगवान्का रूप नित्य है, पार्षद नित्य हैं, धाम नित्य है और उनकी लीला नित्य है। समय-समयपर उसका प्राकट्य और अप्राकट्य, आविर्भाव और तिरोभाव होता है।

प्राकृत विश्वरचनाके पूर्वाह्नमें ही परम पुरुषकी तपस्या, कामना, ईक्षणकी बात, श्रीभगवान्के आविर्भावके सम्बन्धमें कल्पान्तर-कथा तथा पुराणसंहितामें नित्य आविर्भावकी सूचना मिलती है। सृष्टिके प्राक्-कालमें मनु-शतरूपाकी तपस्यामें श्रीभगवान्का आविर्भाव, श्रीभगवान्के नाभि-कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति, प्रलयपयोधिमें श्रीकृष्णका प्रवाहित होना आदिसे अनन्त देवकी अनन्त लीलाओंके संकेत मिलते हैं। वैष्णवगण लीलाकैवल्यवादके ऊपर सृष्टि आदि व्यापार तथा जीवोंके परम पुरुषार्थकी प्राप्तिके सम्बन्धमें अपने विचारोंको प्रतिष्ठापित करते हैं। श्वेतद्वीपसे कालिन्दी-कूलके निकुञ्ज-योगपीठतक और क्षीरोदसागरसे कारण-समुद्रपर्यन्त सर्वत्र श्रीभगवान् अपने नित्य पार्षद भक्तोंके

द्वारा परिवेष्टित होकर साधक वैष्णवोंको अभीष्ट प्रदान करते हैं।

विष्णुरेव हि यस्यैष देवता वैष्णवः स्मृतः।

—लिङ्गपुराणके इस वाक्यके अनुसार श्रीविष्णुके आराधक वैष्णव हैं। और भी विशेषरूपसे कहा गया है—

गृहीतविष्णुदीक्षाको विष्णुपूजापरो नरः।
वैष्णवोऽभिहितोऽभिज्ञैरितरोऽस्मादवैष्णवः॥

वैष्णव दीक्षा लेकर श्रीविग्रहकी सेवा करे। श्रीगौराङ्ग महाप्रभुसे कुलीन ग्रामवासी पूछते हैं—'वैष्णव कौन है?' प्रभु पहले कहते हैं—

जाँर मुखे एक बार सुनि कृष्णनाम।
सेइ वैष्णव ताँर करिओ सम्मान॥

दूसरे वर्ष भी ग्रामवासियोंने वैसा ही प्रश्न फिर किया। इस बार गौराङ्गने कहा—

कृष्ण नाम निरन्तर जाँहार बदने।
सेइ वैष्णव श्रेष्ठ, भज ताँहार चरणे॥

तृतीय व ` पुनः यही प्रश्न करनेपर महाप्रभुने उनसे कहा—

जाँहार दर्शने मुखे आइसे कृष्णनाम।
ताँहारे जानिओ तुमि वैष्णव-प्रधान॥

इस प्रकारसे भागवतगणका तारतम्य शास्त्रमें वर्णित है। वैष्णव निरभिमानी होते हैं। वर्णाश्रमके कारण उच्च या नीचका कोई विरोध उनमें नहीं होता। वे लोग कुल-गौरव, विद्या या धनके गौरवको तुच्छ जानकर सब अवस्थाओंमें अपनेको सबका सेवक समझते हुए सबका सम्मान करते हैं। ब्राह्मण कुलमें जन्म लेकर भी आभिजात्यहीन वैष्णव जानते हैं कि भजनके प्रभावसे हीन कुलमें उत्पन्न व्यक्ति भी सर्वपूज्य हो जाते हैं। अन्तर्निहित गुणोंके परमोत्कर्षका आविष्कार ही वैष्णव-जीवनकी सार्थकता है। वैष्णवका देह भगवान्‌का रथ है, हृदय उसका सिंहासन है, प्रत्येक अङ्गमें हरिमन्दिर है, पदचारण परिक्रमा है, वाणीमें नाममन्त्र है, दृष्टिमें प्रेम है, व्यवहारमें पूजा है, दर्शनमें पवित्रता है और सेवामें भगवत्सांनिध्य है। सत्यनिष्ठा, शौर्य, निर्भीकता, दैन्य, कारुण्य उनके अङ्गके भूषण हैं। प्राचीन वैष्णवोंका नाम-स्मरण करके मैं उनको प्रणाम करता हूँ—

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्
पुण्यानिमान् परमभागवतान् नमामि॥

देवर्षि नारद भक्तिप्रवर्त्तक गुरु हैं और प्रह्लाद शिष्य हैं। श्लोकमें प्रह्लादका नाम सर्वप्रथम उल्लेख करना तात्पर्य-पूर्ण है। भक्तिकी प्रबलतासे गुरु-शिष्यमें शिष्यका नाम ही अधिक आदरणीय माना गया है, दैत्यकुलमें जन्म लेनेपर भी इसमें बाधा नहीं आयी। भक्तिनिष्ठा, सदाचार, विश्वास, ज्ञान, परिचर्या, प्रेम, शुश्रूषा, चारित्रिक दृढ़ता, त्याग, संयम, निर्भरशीलता, सूक्ष्मदृष्टि, शरणागति आदि सद्वृत्तियाँ भक्तोंका आश्रय लेकर नित्य समुज्ज्वल हो रही हैं।

वैष्णव-साधना सार्वजनिक, सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। सब लोग परम पुरुषोत्तमकी सेवाके अधिकारी हैं। अतएव वैष्णव भाव अनुशीलनके योग्य हैं। दूसरी साधना-ओंमें योग्य और अयोग्यका विचार होता है। जो अयोग्य माना जाता है, उसका प्रवेश निषिद्ध होता है। वैष्णवका द्वार पतित, अधम, अयोग्य—सभीके लिये खुला है। जिस दिन भगवान्‌का नाम ग्रहण किया, उसी दिनसे वैष्णव-साधना आरम्भ हो गयी। जितना जो कुछ होता है, सब जमा होता जाता है, जरा-सा भी नष्ट नहीं होता। अति अल्प साधनासे बहुत लाभ होता है। जिस दिन तनिक भी भक्त-सङ्ग हुआ, जिस दिन साधुका चरणस्पर्श प्राप्त हुआ, नामकी ध्वनि कानमें पहुँची, उसी दिनसे भक्तिका आभास पाकर भगवान् संतुष्ट हो गये। बलदेव विद्याभूषणकी भाषामें—

भक्त्याभासेनापि तोषं दधाने
धर्माध्यक्षे विश्वनिस्तारनाम्नि।
नित्यानन्दाद्वैतचैतन्यरूपे
तत्त्वे तस्मिन् नित्यमास्तां रतिर्नः॥

वैष्णव विश्वासमय जीवन यापन करते हैं। विश्वस्त भगवान् अपने भक्तको वञ्चित नहीं करते। अति अल्प-साधनसे ही उनकी प्रीति प्राप्त होती है। **'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्'**—यदि पत्र, पुष्प, फलके आहरणमें श्रम होता हो तो अनायास लब्ध जलसे भी उनकी पूजा हो जाती है। **'जलस्य चुलुकेन वा'**—एक चुल्लू जलके प्रदान करनेपर भी श्रीभगवान् भक्तके सामने ऋणी होकर आत्मविक्रय करते हैं।

कृष्णके तुलसी जल देय जेइ जन।
तार ऋण शोधिबारे कृष्ण करेन चिन्तन॥

तुळसी जलेर मत घरे नाहि धन।
अतएव आत्म बेचि करे ऋणेर शोधन॥

वैष्णवशरीरमें विष्णुभगवान्‌की गुणावली संक्रमित होती है। वैष्णव क्षमाशील, हिंसारहित, सहिष्णु, सत्यप्रिय, निर्मल, समभाव, निरुपाधि, कृपालु, अक्षुब्ध, स्थिरबुद्धि, संयतेन्द्रिय, कोमलस्वभाव, पवित्र, अकिंचन, कामनारहित, मिताहारी, शान्त, शरणागत, अप्रमत्त, गम्भीराशय, निरभिमान, सम्मानकारी, बन्धुभावापन्न, करुणस्वभाव तथा सत्यद्रष्टा होते हैं। श्रीमद्भागवतकी भाषामें (११।११।२९-३१)—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥
कामाक्षुभितधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥

हिमालयके उत्तुङ्ग गिरिशिखरपर स्थित बदरिकाश्रमकी वैष्णवीधारासे अभिपुष्ट भावप्रवाह पुराण-संहिता, ब्रह्मसूत्रको वाहन बनाकर नीचे उतर रहा है पुण्य भारतके प्राङ्गणमें। मनुने (१।१०) कहा है—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

नारायण-नामका तात्पर्य निखिल जीवका परम आश्रय है। उसी नारायणके चरणोंका आश्रय लेकर वैष्णव-भावधारा फैल गयी है—उत्तरभारतको प्लावित करके दक्षिणमें सुदूर सागर-तटतक मानवमात्रके कल्याणके लिये भक्ति-बीजका वपन करनेके लिये। उसीके फलस्वरूप अगणित आळ्वार संत, साधकचूडामणि तथा शाश्वत भावनाके प्रतीक परम आचार्योंका अभ्युदय हुआ है।

प्राचीन दार्शनिक मतवादोंकी अभिनव योजना करके वैष्णव-दर्शन समृद्ध हुआ है। परमाणुवादी वैशेषिकका 'विशेष', सांख्यदर्शनका 'तत्त्वसंख्यान', परम नैयायिकोंका युक्तियुक्त 'अनुमान', योगसाधकोंका 'योग', पूर्वमीमांसकोंका 'देवताखण्ड' और वेदान्तियोंका 'सम्बन्धाभिधेय-प्रयोजन'—ये सभी वैष्णव-जिज्ञासामें यथायोग्य मर्यादासे युक्त स्थान प्राप्त कर समन्वित हो गये हैं। विभिन्न प्रकारके मतवादोंमें परस्पर मतभेद होनेपर भी वैष्णव आचार्य एक अभिन्न परम पुरुषोत्तमके संधानमें प्रवृत्त हुए हैं।

श्रीरामानुज, निम्बार्क, मध्व, विष्णुस्वामी, वल्लभाचार्य, बलदेव विद्याभूषण आदि आचार्योंने वेदान्तसूत्रोंपर भाष्य करके दार्शनिक विचारको प्रतिष्ठित किया है। प्रधानतः उनके भाष्योंमें अनात्मा जड-जीव और जीवात्मा, परमात्मा परमेश्वर और उनके नित्य पार्षद भक्तोंको लेकर विचार किया गया है। इससे सृष्ट जगत्, स्रष्टा परमेश्वर और आराधक जीवका सम्बन्ध-निरूपण करनेमें विभिन्न प्रकारके मतवाद प्रकट हुए हैं। श्रीरामानुजका विशिष्टाद्वैत, श्रीनिम्बार्कका द्वैताद्वैत, श्रीमध्वका द्वैत, श्रीवल्लभका शुद्धाद्वैत और श्रीबलदेवका अचिन्त्यभेदाभेदवाद वैष्णवगणके लिये विचारणीय हैं। इनके विषयमें आलोचना करनेका यहाँ अवकाश नहीं है। यहाँ तो देखना है कि आचार्य रामानुज परम धर्मके सम्बन्धमें, शरणागतिके विषयमें क्या कहते हैं—

श्रीमन्नारायण अशरणशरण्य अनन्यशरणं त्वत्पदारविन्दयुगलं शरणमहं प्रपद्ये।

सर्वधर्मांश्च संत्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्।
लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो॥

'जिसका कोई नहीं, हे नारायण! एकमात्र तुम्हीं उसके हो। मेरा और कोई नहीं, और कुछ भी नहीं है। तुम्हारे पदयुगलमें मैंने शरण ले ली है।'

आचार्य निम्बार्क भी कहते हैं—

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादि वन्दितात्॥

'ब्रह्मादि देवगणके द्वारा वन्दित श्रीकृष्ण-पदारविन्दके सिवा और कहीं भी गति नहीं देखनेमें आती।'

श्रीमध्वाचार्य कहते हैं—

श्रीमन्तं तमुपास्महे सुमनसामिष्टप्रदं विठ्ठलम्।

'साधुजनके मङ्गलायतन श्रीमान् विठ्ठलदेवकी मैं उपासना करता हूँ।'

श्रीवल्लभाचार्यने 'श्रीकृष्णः शरणं मम, दासोऽहं श्रीकृष्ण तवास्मि' कहकर सम्यक् शरणागतिका उपदेश दिया है। बलदेव विद्याभूषण प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

समुद्धृत्य यो दुःखपङ्कात् स्वभक्तान्
नयत्यच्युतश्चित्सुखे धाम्नि नित्यम्।
प्रियान् गाढरागात् तिलार्धं विमोक्तुं
न चेच्छत्यसावेव सुज्ञैर्निषेव्यः॥

'जो अपने भक्तोंको दुःखपङ्कसे उद्धार करके

चिदानन्दमय निज नित्यधाममें बुला लेते हैं तथा प्रगाढ़ अनुरागवश उनको क्षणमात्रके लिये भी छोड़ना नहीं चाहते: पण्डित लोगोंको उन्हीं अच्युतकी आराधना करनी चाहिये ।'

श्रीरामानुजाचार्यके आराध्य शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज श्रीविष्णु भगवान् हैं, और सभीके आराध्य द्विभुज श्रीकृष्ण गोविन्द गोपाल हैं । श्रीरामानन्द द्विभुज श्रीरामके उपासक हैं । तुलसीदासजी भक्ति-भावसे कहते हैं—

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल ।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल ॥

सर्वाङ्गमें हरिमन्दिर-रचना, चक्रादि चिह्न नामाङ्कन-धारण, तुलसीमाला, कण्ठी, नामजप-माला आदि धारण, महाप्रसाद-भोजन, आमिषत्याग, तुलसी-सेवन, धाममें वास, श्रीगुरु और विग्रहकी सेवा, नित्य भागवत-रामायण आदि शास्त्रोंका पाठ तथा श्रवण, स्तुति-पाठ, वैष्णवाचारका पालन, नाम-संकीर्तन सभी सम्प्रदायोंमें नित्य-कर्त्तव्य माने गये हैं । भक्तिके चौसठ अङ्ग हैं, परंतु कम-से-कम नौ अङ्ग, अथवा किसी भी एक अङ्गके साधनसे भी जीव कृतार्थ हो सकता है । श्रीरामानुजाचार्यने जिस प्रकार शरणागतिको प्रधानता प्रदान की है, व्रजवासीगणने उसी प्रकार सेवा-सुखकी प्रधानता स्वीकार की है । पुष्टिमार्गका अवलम्बन करनेवाले श्रीवल्लभाचार्यके अनुयायी प्रीतिपूर्वक श्रीविग्रह और गुरुकी सेवा करते हैं । श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुकी कृपासे परिपुष्ट श्रीरूप-सनातन आदि वैष्णव-गुरुजनोंने बंगाल, श्रीक्षेत्र तथा श्रीवृन्दावनको एक अखण्ड प्रेम-सूत्रमें ग्रथितकर भारतके एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्ततक श्रीहरिनाम-संकीर्तनको ही कलियुगमें एकमात्र साधन और साध्यके सिद्धान्तके रूपमें प्रचारित किया है ।

श्रीमद्भागवत (११ । ५ । ३२)का सिद्धान्त है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥

संकीर्तन प्रवर्त्तक श्रीकृष्ण चैतन्य ।
संकीर्तन यज्ञे ताँरे भजे सेइ धन्य ॥

भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने स्वयं कीर्तन करके शिक्षा दी है—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

कलिकाले नामरूपे कृष्ण अवतार ।
नाम हैते सर्वजगत् हय त निस्तार ॥

स्वरूप दामोदरके प्रश्नके उत्तरमें गम्भीरामें अवस्थानके समय श्रीमहाप्रभुने कहा था—

शुन स्वरूप रामराय नामसंकीर्तन कलौ परम उपाय ।
संकीर्तन यज्ञे कलौ कृष्ण आराधन ।
सेइ त सुमेधा पाय कृष्णेर चरण ॥

विष्णु-मन्दिर-निर्माण, देवताप्रतिष्ठा, प्राकार-विमान आदिकी संख्या, उच्चता, विस्तार आदिके सम्बन्धमें भारतीय स्थापत्यमें विराट् साहित्य विद्यमान है । शास्त्रानुमोदित देश-काल आदिका विचार करके देवताकी प्रतिष्ठा और अर्चनाके प्रवर्त्तनमें कितने नये-नये तीर्थोंकी सृष्टि वैष्णवोंने की है, इसकी गणना कौन कर सकता है ? मन्दिरमय भारतवर्षमें विष्णुमन्दिरोंकी संख्या सर्वापेक्षा अधिक है, यह कहनेमें अत्युक्ति नहीं है । आधुनिक मन्दिरोंमें प्राचीन गोपुरोंमें अवस्थित देवी-देवताओंकी मूर्तियाँ प्रायः लुप्त हो रही हैं और उनके स्थानमें अधिकार कर लिया है मन्दिरकी दीवालोंपर साधु-संत महापुरुषोंके चित्रोंने । किसी-किसी मन्दिरकी दीवालमें गीता-भागवतके श्लोक भी उत्कीर्ण देखे जाते हैं । ये सब मन्दिर आगे साधकोंको शास्त्रानुशीलनके लिये प्रेरणा प्रदान करेंगे—यह आशा की जाती है । उत्तरमें बदरीनारायण, दक्षिणमें बिठोबा, तिरुपति, विष्णुकाञ्ची, वरदराज, पश्चिममें सुदामापुरी, बेट द्वारका, समुद्रके तटपर पुरुषोत्तम नीलाचलनाथ, मध्यभारतमें अयोध्यामें श्रीराम, मथुरा-वृन्दावनमें श्रीकृष्ण तथा उन्हींके विशेष आविर्भाव नदियामें श्रीकृष्णचैतन्य हैं । इस वैष्णव-भावधाराके उच्छ्वासमें केवल धर्म और धार्मिक ही नहीं, बल्कि कितने गुणी, ज्ञानी, शिल्पकार और कवियोंकी मानसिक शक्तिका—मनोराज्यका विकास हुआ है, इसका इतिहास कौन लिखेगा ? भारतीय साहित्यको वैष्णव कवियोंने जिस प्रकार संजीवित, सरसित और समृद्ध बनाया है, उसके प्रभावने भारतकी प्रत्येक भाषाके ऊपर अपनी छाप लगा दी है । दिल्लीके समीप सूरदास; महाराष्ट्रमें ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम; गुजरातमें नरसी मेहता, राजस्थानमें मीराँबाई, असम प्रदेशमें शंकरदेव, बङ्गालमें जयदेव-चण्डीदास, गोबिन्ददास; मिथिलामें विद्यापति, उड़ीसामें जगन्नाथदास—और भी कितने वैष्णव कवियोंके काव्य, पद, पदावली, दोहा, सोरठा, ओवी

और अभङ्गोंके द्वारा परमदेवताकी महिमाका वर्णन हुआ है, उसकी सीमा नहीं है।

वैष्णव-शास्त्र-मन्थन करके जो विभिन्न मतवादोंकी समालोचना तथा सिद्धान्तोंके प्रचारके द्वारा भक्तिमें रुचि उत्पादन करते हैं, वे मानव-समाजके परम बन्धु हैं। उनको प्रादेशिकताका विषबाष्प कभी स्पर्श नहीं करता, भाषाकी सीमामें उनकी भावधारा अवरुद्ध नहीं रहती, देशाचारका रूपान्तर उनके हृदयमें भावान्तरकी सृष्टि नहीं करता। भक्तिकी कथा—चाहे वह संस्कृत, हिंदी, मराठी, गुजराती, तमिळ, उड़िया, बंगाली, असमिया आदि किसी भी भाषामें हो—हरिकथा वैष्णवके लिये परम आदरणीय है। वैष्णव भाषाका विरोध नहीं करता। एकनाथ महाराज कहते हैं—

आतां संस्कृता किंवा प्राकृता भाषा झाली जे हरिकथा।
ते पावनचि तत्त्वता सत्य सर्वथा मानली॥

संस्कृत या जो कोई प्राकृत भाषा हो, हरिकथा उसका गौरव है। साधुगण इस प्रकार सभी भाषाओंको सम्मान प्रदान करते हैं। भाषाकी सम्पत्ति है—हरिकथा, वैष्णवोंकी सम्पत्ति है—हरिनाम-हरिभक्ति। वैष्णव-साहित्यमें भक्त-जीवनकी कल्पना, कहानी और प्रातिके आनन्दने नर-जगत्में अमृतधाम-को प्रतिष्ठित किया है। व्रजलीला संकीर्तन-मण्डलमें आस्वादनीय हो गयी है। वैष्णवगण सम्मिलित स्वरसे हरिनाम-संकीर्तन करके नित्यधामके माधुर्यके रसमें मग्न हो जाते हैं। वैष्णवधर्म इस प्रकार प्राकृत लोकमें भी चिन्मयराज्यका विस्तार करता है अनुरागीके अनुरागसे। अतएव प्रबोधानन्द सरस्वतीकी भाषामें प्रार्थना है—

दन्ते निधाय तृणकं पदयोर्निपत्य
कृत्वा च काकुशतमेतदहं ब्रवीमि।
हे साधवः सकलमेव विहाय दूराद्
गौराङ्गचन्द्रचरणे कुरुतानुरागम्॥
(श्रीचैतन्यचन्द्रामृत)

'दाँतोंमें तृण दबाकर चरणोंमें गिरकर शतवार विनयपूर्वक प्रार्थना करता हूँ—हे साधुगण! और सब कुछ दूरसे ही त्यागकर श्रीगौराङ्गचन्द्रके चरणोंमें अनुरागी हों।'

धार्मिक एकता

(लेखक—स्वामीजी श्रीरामदासजी महाराज)

संसारमें अनेक धर्म, नाना मत और अगणित सम्प्रदाय हैं। प्रत्यक्षतः उन सबका उद्देश्य एक ही है—मानव-हृदयमें परस्पर एक आध्यात्मिक सम्बन्धके बोधको—मानवमात्रके प्रति भ्रातृभावना एवं भगवान्के प्रति पितृभावना अथवा मातृ-भावनाको जगा देना। परंतु वास्तविक स्थिति क्या है? एकता, प्रेम और भ्रातृत्वका पोषक बनानेके स्थानपर वे मनोमालिन्य भड़काने तथा मानव-मानवके बीच पारस्परिक सम्बन्धोंको तोड़नेमें व्यस्त हैं और आश्चर्यकी बात है कि यह सब होता है भगवान्के नामपर।

बड़े-बड़े आचार्य, जिन्होंने भगवान्के प्रकाशको मनुष्योंके हृदयतक पहुँचाया, किसी एक धर्म, समाज, मठ या मन्दिरके होकर नहीं रहते थे। सारा संसार ही उनके लिये मन्दिर था और उनके भगवान् सभी प्राणियों तथा जीवोंके हृदयमें विराजमान रहते थे। इसीलिये उनका स्नेह मनुष्य-कृत मतों और वर्गोंपर विशेष ध्यान दिये बिना सबके ऊपर समानरूपसे बरसता था। वायुकी भाँति उन्मुक्त था उनका प्रेम, सूर्यके प्रकाशके समान विश्वव्यापिनी थी उनकी दृष्टि और मानव-जातिके प्रत्येक व्यक्तिके लिये समान थी उनकी सेवा।

पार्थिव प्रभुता और गौरव प्राप्त करनेके लिये संसारमें संघर्ष, संगर और संग्राम मच रहा है। इन उद्देश्योंके पीछे दौड़नेवाले जन वास्तवमें अपनी अधःप्रकृति अथवा अपने अधम अन्तःकरणकी प्रेरणाओंके शिकार बन रहे हैं। किंतु उनके विषयमें क्या कहा जाय, जो उपद्रव, हिंसा तथा दुःखकी सृष्टि किया करते हैं और वह भी उन भगवान्के नामपर जो पूर्ण प्रेम, करुणा और शान्तिके स्वरूप हैं!

पुनः कुल, वैभव, मर्यादा और जातिके अभिमानियोंमें जिस प्रकारकी बड़प्पनकी भावना व्याप्त रहती है, वैसी ही बात संसारके महान् आचार्योंके अनुयायियोंमें भी देखी जाती है। वे कहते हैं, 'केवल मेरे गुरु ही पूर्णावस्थाको प्राप्त हैं और आपको मुक्ति केवल उनके ही अनुसरणसे प्राप्त हो सकती है। मेरा ही धर्म सच्चा धर्म है और अन्य धर्म मिथ्या हैं,

केवल मैं ही सभ्य मानव हूँ, शेष सब अनीश्वरवादी और धर्म-विरोधी हैं ।' जबतक धर्मधुरंधर कहे जानेवालोंमें इस प्रकारकी भावना अपना अड्डा जमाये हुए है, संसारमें एकता, एकस्वरता और शान्ति लानेकी अपेक्षा वे केवल वैमनस्य और विद्रोहका ही विस्तार करते हैं ।

भगवान्की धारणा ही सार्वभौम समन्वय और शान्तिके सिद्धान्तपर आधारित है । भगवान् और मानवताका सच्चा सेवक है वह, जिसने इस सत्यको हृदयंगम कर लिया है, जो भगवत्प्रेमकी एकसूत्रमें बाँधनेवाली शक्तिको जानकर अपने साथी सभी मानव-समाजको भगवान्के एक परिवारका सदस्य मानता है । वह सबमें भगवान्के दर्शन करता है । इसी स्थितिमें उसके हृदयमें पावन प्रेमकी बाढ़ आ जाती है । इसी स्थितिमें दिव्य ज्योतिसे उसकी आँखें चमकने लगती हैं और अन्तर्यामी भगवान्के चरणोंपर उसका जीवन न्योछावर हो जाता है । सम्प्रति इसी प्रकारके आध्यात्मिक जागरणकी आवश्यकता है । मनुष्यको अपने हृदयको शुद्ध करके उसे दिव्य प्रेमसे ओत-प्रोत कर लेना चाहिये और उसकी जीवनसरिताकी आनन्दमयी धारा दुःखाक्रान्त मानवताकी सेवामें अनायास प्रवाहित होती रहनी चाहिये ।

नामकरण, नामोल्लेख, संस्था और समाजकी महत्ता गौणस्थानीय है । दैवी सत्ता जिसे चाहे भगवान्, सत्य या वास्तविकता कहें, उसके द्वारा हमारी आत्मा इस प्रकार अभिभूत हो जानी चाहिये कि हम उसकी सत्तामें विलीन हो जायँ और उसीके नाना स्वरूप बन जायँ । भगवान् श्रीकृष्ण, बुद्ध एवं अन्यान्य महापुरुषोंको महान् आदर्श मानकर केवल दूरसे उनकी पूजा कर लेना ही पर्याप्त नहीं है । हमको अपने जीवनको इस प्रकार रूपान्तरित करना होगा कि हम भी उनके समीप पहुँच जायँ, उनकी ऊँचाईतक उठ जायँ और अपने यथार्थ, दिव्य एवं अमर स्वरूपको पहचान लें ।

भीतरसे तो प्रत्येक आत्मा भगवान्के प्रकाश और आनन्दमें स्नान कर रहा है । इस महिमाको यदि हम जान लें तो हम संसारमें शान्ति और सद्भावनाको बुला सकते हैं, अन्यथा नहीं । मानव-हृदयको स्पर्श करनेवाला, ऊँचा उठानेवाला और रूपान्तरित कर देनेवाला ज्वलन्त उदाहरण बने बिना कोरे उपदेशोंसे कुछ उपकार होनेका नहीं ।

युद्धोंके कारण संसार एक भयानक यन्त्रणाके कालको पार कर रहा है । इस समय हम सबके लिये शोभाकी वस्तु यही है कि हम अपने क्षुद्र विरोधोंको जलमग्न करके एक साथ विश्वनियन्ता भगवान्की ओर अपना हृदय उठाकर संसारमें शान्ति और सद्भावनाके लिये उनसे प्रार्थना करें । भगवान् और उनकी लीलाको सम्पूर्णरूपसे जान लेना हमारे अधिकारके बाहरकी वस्तु है । उनके विषयमें जो सीमित और अपूर्ण धारणाएँ हम बनाते हैं, उन्हें लेकर हमें लड़ना नहीं चाहिये । हम इतना जानते हैं कि भगवान् सर्वशक्तिमान्, सर्वसुहृद् और सर्वकरुणाकर हैं । हमें चाहिये कि हम अपने हृदयका द्वार मुक्त कर दें, जिससे उनकी शक्ति और कृपा हमारे भीतर जाग उठे । हमें चाहिये कि हम अपनी इच्छाको उनके चरणोंमें विलीन कर दें, जिससे वे हमको अपना यन्त्र बना सकें । हमारी क्षुद्र सत्ता उनके जाज्वल्यमान स्वरूपमें समा जाय । उनके नामपर हम संसारके सब लोगोंको प्यार करें । दुःख और शोकमें पड़े हुए सब लोगोंके प्रति दया और सहानुभूतिसे हमारा हृदय द्रवित हो उठे । हम उनके ऊपर भगवान्के वरदानका आह्वान करें । उनके दिव्य गुणोंको उत्तराधिकारमें प्राप्तकर हम भगवान्की सच्ची संतान बनें ।

परमात्माका संदेश

संसार प्रसव-पीड़ासे तड़प रहा है—
एक नया जन्म देनेके लिये, एक नयी सृष्टि रचनेके लिये ।
जीर्ण परम्पराएँ, रीते आचार, शीर्ष मान्यताएँ—
सब भूसेकी ढेरियाँ हैं ।
जल रही हैं ज्वालामें महान् विप्लवके ।
कालपुरुष चल पड़ा है विनाश करनेके लिये ।
और करनेके लिये फिरसे निर्माण
अद्भुत सुविशाल प्रासाद
साथ-साथ शान्तिका—
अरे एक ऐसी मानव-जातिका, जो गुँथी होगी एकताके सूत्रोंमें, मानकर—सबका आधार है सत्ता सनातन, एक मूलस्रोत सकल प्राणिमात्रका ।
संदेश परमात्माका—सारी मानवता मुझमें समायी हुई, मुझमें गतजीवन है ।
जीवनको बाँटो मत, काटो मत—मैंने है जन्म लिया फिरसे एक नयी चेतनामें ।
इस बदले हुए हृदयको स्वीकार करो…सच्चे बनो और सार्वभौम !

हमारा धर्म

(श्रीश्रीअरविन्द)

हमारा धर्म सनातन-ध ै है । यह धर्म त्रिविध, त्रिमार्गगामी और त्रिकर्म-रत है । हमारा धर्म त्रिविध है । भगवान्ने अन्तरात्मा, मानसिक जगत् और स्थूल जगत्में—इन्हीं तीन धामोंमें प्रकृतिसृष्ट महाशक्तिचालित विश्वके रूपमें अपने-आपको प्रकट किया है । इन्हीं तीन धामोंमें उनके साथ युक्त होनेकी चेष्टा करना सनातन-धर्मका त्रिविधत्व है । हमारा धर्म त्रिमार्गगामी है । ज्ञान, भक्ति और कर्म—इन तीन स्वतन्त्र या सम्मिलित उपायोंसे उस युक्तावस्थाको मनुष्य प्राप्त कर सकता है । इन तीन उपायोंसे आत्मशुद्धि करके भगवान्के साथ युक्त होनेकी इच्छा करना ही सनातन-धर्मकी त्रिमार्गगामी गति है । हमारा धर्म त्रिकर्मरत है । मनुष्यकी सभी प्रधान वृत्तियोंमें जो तीन वृत्तियाँ ऊर्ध्वगामिनी, ब्रह्म-प्राप्ति-बलदायिनी हैं, वे हैं—सत्य, प्रेम और शक्ति । इन्हीं तीन वृत्तियोंके विकासके द्वारा मानव-जातिकी क्रमोन्नति साधित होती आ रही है । सत्य, प्रेम और शक्तिके द्वारा त्रिमार्गमें अग्रसर होना ही सनातन-धर्मका त्रिकर्म है ।

सनातन-धर्मके अंदर बहुत-से गौण-धर्म निहित हैं, सनातनका अवलम्बन करके महान् और क्षुद्र नाना प्रकारके परिवर्तनशील धर्म अपने-अपने कर्ममें प्रवृत्त होते हैं । सभी प्रकारके धर्म-कर्म स्वभावसृष्ट होते हैं । सनातन-धर्म जगत्के सनातन स्वभावपर आश्रित है और ये नाना प्रकारके धर्म नानाविध आधारगत स्वभावके फल हैं । व्यक्तिगत धर्म, जातिगत धर्म, वर्णाश्रित धर्म, युगधर्म इत्यादि नाना प्रकारके धर्म हैं । ये सब अनित्य होनेके कारण ही उपेक्षणीय या वर्जनीय नहीं हैं, बल्कि इन्हीं अनित्य परिवर्तनशील धर्मोंके द्वारा सनातन-धर्म विकसित और अनुष्ठित होता है । व्यक्ति-धर्म, जाति-धर्म, वर्णाश्रित धर्म, युग-धर्म इत्यादिका परित्याग करनेसे सनातन-धर्मकी पुष्टि नहीं होती, बल्कि अधर्मकी ही वृद्धि होती है तथा गीतामें जिसे संकर कहा गया है—सनातन प्रणालीका भङ्ग और क्रमोन्नतिकी विपरीत गति—वह वसुन्धराको पाप और अत्याचारसे दग्ध करता है । जब उस पाप और अत्याचारकी अतिरिक्त मात्रासे मनुष्यकी उन्नतिकी विरोधिनी धर्मनाशिनी आसुरिक शक्तियाँ वर्द्धित और बल-शाली होकर स्वार्थ, क्रूरता और अहंकारसे दसों दिशाओंको आच्छन्न कर देती हैं, जगत्में अनीश्वर ईश्वरका रूप ग्रहण करना आरम्भ करता है, तब भारार्त पृथिवीका दुःख कम करनेके लिये भगवान्के अवतार या विभूति मानव-शरीरमें प्रकट होकर पुनः धर्मपथको निष्कण्टक बनाते हैं ।

सनातन-धर्मका ठीक-ठीक पालन करनेके लिये व्यक्तिगत धर्म, जातिगत धर्म, वर्णाश्रित धर्म और युग-धर्मका आचरण सर्वदा रक्षणीय है । परंतु इन नानाविध धर्मोंमें क्षुद्र और महान्—दोनों प्रकारके रूप हैं । महान् धर्मके साथ क्षुद्र धर्मको मिलाकर और संशोधितकर उसका पालन करना श्रेयस्कर है । व्यक्तिगत धर्मको जाति-धर्मके क्रोड़में रखकर उसका आचरण नहीं करनेसे जाति नष्ट हो जाती है एवं जातिधर्मके लुप्त हो जानेसे व्यक्तिगत धर्मका क्षेत्र और सुयोग नष्ट हो जाता है । यह भी धर्मसंकर है—जिस धर्म-संकरके प्रभावसे जाति और संकरकारीगण दोनों अतल नरकमें निमग्न होते हैं । सबसे पहले जातिकी रक्षा करनी चाहिये; तभी व्यक्तिकी आध्यात्मिक, नैतिक और आर्थिक उन्नति निरापद बनायी जा सकती है । वर्णाश्रित धर्मको भी युग-धर्मके साँचेमें ढालकर यदि उसे गठित न किया जाय तो महान् युग-धर्मकी प्रतिकूल गतिसे वर्णाश्रित धर्म चूर्ण-विचूर्ण और नष्ट हो जाता है और उसके फलस्वरूप समाज भी चूर-चूर और नष्ट हो जाता है । क्षुद्र सदा ही महान्का अंश और सहायक होता है; इस सम्बन्धकी विपरीत अवस्थामें धर्म-सकरसम्भूत घोर अनिष्ट होता है, क्षुद्र धर्म और महान धर्मके बीच विरोध होनेपर क्षुद्र धर्मका परित्याग करके महान धर्मका आचरण करना ही मङ्गलप्रद होता है ।

हमारा उद्देश्य है—सनातन-धर्मका प्रचार करना औ सनातन-धर्माश्रित जाति-धर्म और युग-धर्मका अनुष्ठान करना हम भारतवासी आर्यजातिके वंशधर हैं, आ ै-शिक्षा और आर्य नीतिके अधिकारी हैं । यह आर्यभाव ही हमारा कुल-धर्म औ जाति-धर्म है। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्म आर्य-शिक्षा मूल तत्त्व हैं तथा ज्ञान, उदारता, प्रेम, साहस, शक्ति और विन आर्य-चरित्रके लक्षण हैं । मानवजातिको ज्ञान प्रदान करन जगत्में उन्नत उदार चरित्रका निष्कलङ्क आदर्श रखन दुर्बलकी रक्षा करना, प्रबल अत्याचारीको दण्ड देना आ जातिके जीवनका उद्देश्य है । उसी उद्देश्यको सिद्ध करने

उसके धर्मकी चरितार्थता है। हम धर्मभ्रष्ट, लक्ष्यभ्रष्ट, धर्मसंकर होकर और भ्रान्तिसंकुल तामसिक मोहमें पड़कर आर्य-शिक्षा और आर्य-नीतिसे रहित हो गये हैं। हम आर्य होकर शूद्रत्व और शूद्रधर्मरूप दासत्वको अङ्गीकारकर जगत्में हेय, प्रबल-पद-दलित और दुःख-परम्परा-प्रपीड़ित हो रहे हैं। अतएव यदि हमें जीवित रहना हो, यदि अनन्त नरकसे मुक्त होनेकी लेशमात्र भी अभिलाषा हो तो अपनी जातिकी रक्षा करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है और जाति-रक्षाका उपाय है आर्य-चरित्रको पुनः अपने अंदर गठित करना। हमारा पहला उद्देश्य है अपनी समस्त जातिको, विशेषकर युवक-सम्प्रदाय-को ऐसी उपयुक्त शिक्षा, उच्च आदर्श और आर्यभावोद्दीपक कार्य-प्रणाली देना, जिससे जननी जन्मभूमिकी भावी संतान ज्ञानी, सत्यनिष्ठ, मानव-प्रेमपूर्ण भ्रातृभावकी भावुक, साहसी, शक्तिमान् और विनीत हो। जबतक हम इस कार्यमें सफल नहीं होते, तबतक सनातन-धर्मका प्रचार करना केवल ऊसर क्षेत्रमें बीज बोनेके समान है।

जाति-धर्मका पालन करनेसे युग-धर्मकी सेवा करना सहज हो जाता है। यह युग शक्ति और प्रेमका युग है। जब कलिका आरम्भ होता है, तब ज्ञान और कर्म भक्तिके अधीन और सहायक होकर अपनी-अपनी प्रवृत्तिको चरितार्थ करते हैं, सत्य और शक्ति प्रेमका आश्रय लेकर मानव-जातिके अंदर प्रेमका विकास करनेकी चेष्टा करते हैं। बौद्ध धर्मकी मैत्री और दया; ईसाई-धर्मकी प्रेमशिक्षा, मुसलमान-धर्मका साम्य और भ्रातृभाव, पौराणिक-धर्मकी भक्ति और प्रेमभाव इसी चेष्टाके फल हैं। कलियुगमें सनातन-धर्म मैत्री, कर्म, भक्ति, प्रेम, साम्य और भ्रातृभावकी सहायता लेकर मनुष्य-जातिका कल्याण साधित करता है। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्मके द्वारा गठित आर्य-धर्ममें ये ही शक्तियाँ प्रविष्ट और विकसित होकर प्रसारित होने और अपनी प्रवृत्तिको चरितार्थ करनेका मार्ग खोज रही हैं। शक्ति-स्फुरणके लक्षण हैं—कठिन तपस्या, उच्चाकाङ्क्षा और महत्कर्म। जब यह जाति तपस्विनी, उच्चाकाङ्क्षिणी, महत्कर्मप्रयासिनी होगी, तब यह समझना होगा कि जगत्की उन्नतिके दिन आरम्भ हो गये हैं, धर्म-विरोधिनी आसुरिक शक्तियोंका ह्रास और दैवी शक्तियोंका पुनरुत्थान अवश्यम्भावी है। अतएव इस प्रकारकी शिक्षा भी वर्तमान समयके लिये आवश्यक है।

युग-धर्म और जाति-धर्मके साधित होनेपर सारे जगत्में सनातन-धर्म अबाधरूपसे प्रचारित और अनुष्ठित होगा। पूर्वकालसे विधाताने जो निर्दिष्ट किया है, जिसके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें भविष्यवाणी की गयी है, वह भी कार्यमें अनुभूत होगा। समस्त जगत् आर्यदेशसम्भूत ब्रह्मज्ञानियोंके पास ज्ञान-धर्मका शिक्षार्थी बनकर, भारत-भूमिको तीर्थ मानकर अवनत-मस्तक होकर इसका प्राधान्य स्वीकार करेगा। उसी दिनको ले आनेके लिये भारतवासियोंका जागरण हो रहा है, आर्यभावका पुनरुत्थान हो रहा है। ('धर्म' पत्रिकासे)

(प्रेषक—श्रीचन्द्रदीपनारायणजी त्रिपाठी, श्रीअरविन्दाश्रम, पाँडिचेरी)



स्वधर्म

(लेखक—श्रद्धेय संत श्रीविनोबा भावे)

स्वधर्मका स्वरूप और उसका पालन

स्वधर्म कितना ही विगुण हो, तो भी उसीमें रहकर मनुष्यको अपना विकास कर लेना चाहिये; क्योंकि उसीमें रहनेसे विकास हो सकता है। इसमें अभिमानका कोई प्रश्न नहीं है। यह तो विकासका सूत्र है। स्वधर्म ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसे बड़ा समझकर ग्रहण करें और छोटा समझकर छोड़ दें। वस्तुतः वह न बड़ा होता है न छोटा। वह हमारे ब्योंतका होता है।

× × ×

दूसरेका धर्म भले ही श्रेष्ठ मालूम हो, उसे ग्रहण करनेमें मेरा कल्याण नहीं है। सूर्यका प्रकाश मुझे प्रिय है। उस प्रकाशसे मैं बढ़ता रहता हूँ। सूर्य मुझे वन्दनीय भी है। परंतु इसलिये यदि मैं पृथ्वीपर रहना छोड़कर उनके पास जाना चाहूँगा, तो जलकर खाक हो जाऊँगा। इसके विपरीत भले ही पृथ्वीपर रहना विगुण हो, सूर्यके सामने पृथ्वी बिलकुल तुच्छ हो, वह स्व-प्रकाशी न हो; तो भी जबतक सूर्यके तेजको सहन करनेकी सामर्थ्य मुझमें न आ जायगी, तबतक सूर्यसे दूर पृथ्वीपर रहकर ही मुझे अपना विकास कर लेना होगा। मछलियोंसे यदि कोई कहे कि 'पानीसे दूध कीमती है, तुम दूधमें रहने चलो' तो क्या मछलियाँ उसे मंजूर करेंगी? मछलियाँ तो पानीमें ही जी सकती हैं, दूधमें मर जायँगी।

× × ×

यह स्वधर्म हमें निसर्गतः ही प्राप्त होता है । स्वधर्मको कहीं खोजने नहीं जाना पड़ता ।

जिन माँ-बापकी कोखसे मैं जनमा हूँ, उनकी सेवा करनेका धर्म मुझे जन्मतः ही प्राप्त हो गया है और जिस समाजमें मैंने जन्म लिया, उसकी सेवा करनेका भी धर्म मुझे क्रमसे अपने-आप ही प्राप्त हो गया है । सच तो यह है कि हमारे जन्मके साथ ही हमारा स्वधर्म भी जनमता है। बल्कि यह भी कह सकते हैं कि वह तो हमारे जन्मके पहलेसे ही हमारे लिये तैयार रहता है; क्योंकि वह हमारे जन्मका हेतु है । हमारा जन्म उसकी पूर्तिके लिये होता है ।

× × ×

स्वधर्म हमें इतना सहज प्राप्त है कि हमसे अपने-आप उसीका पालन होना चाहिये । परंतु अनेक प्रकारके मोहोंके कारण ऐसा नहीं होता, अथवा बड़ी कठिनाईसे होता है; और हुआ भी तो उसमें विष—अनेक प्रकारके दोष मिल जाते हैं । स्वधर्मके मार्गमें काँटे बिखेरनेवाले इन मोहोंके बाहरी रूपोंकी तो कोई गिनती ही नहीं है । फिर भी जब हम उनकी छानबीन करते हैं, तो उन सबकी तहमें एक ही बात दिखायी देता है—संकुचित और छिछली देह-बुद्धि ।

× × ×

गीतामें 'कर्म' शब्द 'स्वधर्म'के अर्थमें व्यवहृत हुआ है । हमारा खाना, पीना, सोना—ये कर्म ही हैं; परंतु गीताके 'कर्म' शब्दसे ये सब क्रियाएँ सूचित नहीं होतीं । कर्मसे वहाँ मतलब स्वधर्माचरणसे है । परंतु इस स्वधर्माचरणरूपी कर्मको करके निष्कामता प्राप्त करनेके लिये और भी एक वस्तुकी सहायता जरूरी है । वह है काम और क्रोधको जीतना । चित्त जबतक गङ्गाजलकी तरह निर्मल और प्रशान्त न हो जाय, तबतक निष्कामता नहीं आ सकती । इस तरह चित्त-संशोधनके लिये जो-जो क र्म किये जायँ, उन्हें गीता 'विकर्म' कहती है । 'कर्म,' 'विकर्म' और 'अकर्म'—ये तीन शब्द चौथे अध्यायमें बड़े महत्त्वके हैं । 'कर्म'का अर्थ है, स्वधर्माचरणकी बाहरी—स्थूल क्रिया । इस बाहरी क्रियामें चित्तको लगाना ही 'विकर्म' है । ऊपरसे हम किसीको नमस्कार करते हैं; परंतु सिर झुकानेकी उस ऊपरी क्रियाके साथ ही भीतरसे मन भी न झुकता हो, तो बाह्य क्रिया व्यर्थ है । अन्तर्बाह्य—भीतर और बाहर—दोनों एक होना चाहिये । बाहरसे मैं शिव-पिण्डपर सतत जल-धारा गिराते हुए अभिषेक करता हूँ । परंतु इस जल-धाराके साथ ही यदि मानसिक चिन्तनकी धारा भी अखण्ड न चलती रहती हो, तो उस अभिषेककी क्या कीमत रही ? फिर तो वह शिव-पिण्ड भी पत्थर और मैं भी पत्थर ही । पत्थरके सामने पत्थर बैठा—यही उसका अर्थ होगा । निष्काम कर्मयोग तभी सिद्ध होता है, जब हमारे बाह्य कर्मके साथ अंदरसे चित्त-शुद्धिरूपी कर्मका भी संयोग होता है ।

'निष्काम कर्म' इस शब्द-प्रयोगमें 'कर्म' पदकी अपेक्षा 'निष्काम' पदको ही अधिक महत्त्व है, जिस तरह 'अहिंसात्मक असहयोग' शब्द-प्रयोगमें 'असहयोग'की बनिस्बत 'अहिंसात्मक' विशेषणको ही अधिक महत्त्व है । अहिंसाको दूर हटाकर यदि केवल असहयोगका अवलम्बन करेंगे, तो वह एक भयंकर चीज बन सकती है । उसी तरह स्वधर्माचरणरूपी कर्म करते हुए यदि मनका विकर्म उसमें नहीं जुड़ा है, तो उसे धोखा समझना चाहिये ।

आज जो लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे स्वधर्मका ही आचरण करते हैं । जो लोग गरीब, कंगाल, दुखी और मुसीबतमें होते हैं, तब उनकी सेवा करके उन्हें सुखी बनाना प्रवाह-प्राप्त धर्म है । परंतु इससे यह अनुमान न कर लेना चाहिये कि जितने भी लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे सब कर्मयोगी हो गये हैं । लोक-सेवा करते हुए यदि मनमें शुद्ध भावना न हो, तो उस लोक-सेवाके भयानक होनेकी सम्भावना है । अपने कुटुम्बकी सेवा करते हुए जितना अहंकार, जितना द्वेष-मत्सर, जितना स्वार्थ आदि विकार हम उत्पन्न करते हैं, उतना सब लोक-सेवामें भी हम उत्पन्न करते हैं और इसका प्रत्यक्ष दर्शन हमें आज-कलकी लोक-सेवा-मण्डलियोंके जमघटमें भी हो जाता है ।

× × ×

यह स्वधर्म निश्चित कैसे किया जाय—ऐसा कोई प्रश्न करे, तो उसका सरल उत्तर है—'वह स्वाभाविक होता है ।' स्वधर्म सहज होता है । उसे खोजनेकी कल्पना ही विचित्र मालूम होती है । मनुष्यके जन्मके साथ ही स्वधर्म भी जनमा है । बच्चेको जैसे अपनी माँकी तलाश नहीं करनी पड़ती, वैसे ही स्वध र्म भी किसीको तलाशना नहीं पड़ता । वह तो पहलेसे ही प्राप्त है । हमारे जन्मके पहले भी दुनिया थी, हमारे बाद भी वह रहेगी । हमारे पीछे भी एक बड़ा प्रवाह था और आगे भी वह है ही—ऐसे प्रवाहमें हमारा जन्म हुआ है । जिन माँ-बापके यहाँ मैंने जन्म लिया है, उनकी सेवा, जिन पास-पड़ोसियोंके बीच जनमा हूँ, उनकी सेवा—

ये कर्म मुझे निसर्गतः ही मिले हैं। फिर मेरी वृत्तियाँ तो मेरे नित्य अनुभवकी ही हैं न? मुझे भूख लगती है, प्यास लगती है; अतः भूखेको भोजन देना, प्यासेको पानी पिलाना, यह धर्म मुझे स्वतः प्राप्त हो गया है। इस प्रकार यह सेवारूप, भूतदयारूप स्वधर्म हमें खोजना नहीं पड़ता। जहाँ कहीं स्वधर्मकी खोज हो रही हो, वहाँ निश्चित समझ लेना चाहिये कि कुछ-न-कुछ परधर्म अथवा अधर्म हो रहा है।

× × ×

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जो मुझे मधुर मालूम होती है, उसका कारण यही है कि उसमें स्वाभाविकता और ध ँ दोनों हैं। इस स्वधर्मको छोड़नेसे काम नहीं चल सकता। जो माँ-बाप मुझे प्राप्त हुए हैं, वे ही मेरे माँ-बाप रहेंगे। यदि मैं यह कहूँ कि वे मुझे पसंद नहीं हैं, तो कैसे चलेगा। माँ-बापका पेशा स्वभावतः ही लड़केको विरासतमें मिलता है। जो पेशा पूर्वापरसे चला आया है, वह यदि नीति-विरुद्ध न हो, तो उसको करना, उसी उद्योगको आगे चलाना चातुर्वर्ण्यकी एक बड़ी विशेषता है। यह वर्ण-व्यवस्था आज अस्त-व्यस्त हो गयी है। उसका पालन आज बहुत कठिन हो गया है। परंतु यदि वह ठीक ढंगपर लायी जा सके, तो बहुत अच्छा होगा; नहीं तो आज शुरूके पच्चीस-तीस साल तो नये धंधे सीखनेमें ही चले जाते हैं। काम सीख लेनेपर फिर मनुष्य अपने लिये सेवा-क्षेत्र, कार्य-क्षेत्र खोजता है। इस तरह शुरूके पचीस सालतक तो वह सीखता ही रहता है। इस शिक्षाका उसके जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। कहते हैं, वह भावी जीवनकी तैयारी कर रहा है। शिक्षा प्राप्त करते समय मानो वह जीता ही न हो। जीना बादमें है। कहते हैं, पहले सब सीखना और बादमें जीना। मानो जीना और सीखना, ये दोनों चीजें अलग-अलग कर दी गयी हों। जहाँ जीनेका सम्बन्ध नहीं, उसे मरना ही तो कहेंगे! हिंदुस्तानकी औसत उम्र तेईस साल है और पचीस सालतक तो वह तैयारी ही करता रहता है। इस तरह नया काम-धंधा सीखनेमें ही दिन चले जाते हैं, तब नया काम-धंधा शुरू होता है। इससे उमंग और महत्त्वके वर्ष व्यर्थ चले जाते हैं। जो उत्साह, जो उमंग जन-सेवामें खर्च करके जीवन सार्थक किया जा सकता है, वह यों ही व्यर्थ चली जाती है। जीवन कोई खेल नहीं है। पर दुःखकी बात कि जीवनका पहला अमूल्य अंश तो काम-धंधा खोजनेमें ही चला जाता है। हिंदू-धर्मने इसीलिये वर्ण-धर्मकी युक्ति निकाली है।

साधकके लिये स्वधर्मका हल

सारांश यह कि तामस और राजस कर्म तो बिलकुल छोड़ देने चाहिये और सात्त्विक कर्म करने चाहिये। इसके साथ ही यह विवेक रखना चाहिये कि जो सात्त्विक कर्म सहज और स्वाभाविक रूपसे सामने आ जायँ, वे सदोष होते हुए भी त्याज्य नहीं हैं। दोष होता है तो होने दो। उस दोषसे पीछा छुड़ाना चाहोगे, तो दूसरे दोष पल्ले आ पड़ेंगे। अपनी नकटी नाक जैसी है, वैसी ही रहने दो। उसे अगर काटकर सुन्दर बनानेकी कोशिश करोगे, तो वह और भी भयानक और भद्दी दीखेगी। वह जैसी है, वैसी ही अच्छी है। सात्त्विक कर्म सदोष होनेपर भी स्वाभाविक रूपसे प्राप्त होनेके कारण नहीं छोड़ने चाहिये। उन्हें करना है, लेकिन उनका फल छोड़ना है।

और एक बात कहनी है। जो कर्म सहज, स्वाभाविक रूपसे प्राप्त न हुए हों, उनके बारेमें तुम्हें ऐसा लगता हो कि वे अच्छी तरह किये जा सकते हैं, तो भी उन्हें मत करो। उतने ही कर्म करो, जितने सहजरूपसे प्राप्त हों। उखाड़-पछाड़ और दौड़-धूप करके दूसरे नये कर्मोंके चक्करमें मत पड़ो। जिन कर्मोंको खास तौरपर जोड़-तोड़ लगाकर करना पड़ता हो, वे कितने ही अच्छे क्यों न हों, उनसे दूर रहो। उनका मोह न करो। जो कर्म सहज प्राप्त हैं, उन्हींके फलका त्याग हो सकता है। यदि मनुष्य इस लोभसे कि यह कर्म भी अच्छा है और वह कर्म भी अच्छा है, चारों ओर दौड़ने लगे, तो फिर फल-त्याग कैसे होगा? उससे तो सारा जीवन ही एक फजीहत हो जायगी। फलकी आशासे ही वह इन पर-धर्मरूपी कर्मोंको करना चाहेगा और फल भी हाथसे खो बैठेगा। जीवनमें कहीं भी स्थिरता प्राप्त नहीं होगी। चित्त-पर उस कर्मकी आसक्ति चिपट जायगी। अगर सात्त्विक कर्मोंका भी लोभ होने लगे, तो उसे भी दूर करना चाहिये। उन नाना प्रकारके सात्त्विक कर्मोंको यदि करना चाहोगे, तो उसमें भी राजसता और तामसता आ जायगी। इसलिये तुम वही करो, जो तुम्हारा सात्त्विक, स्वाभाविक और सहज-प्राप्त स्वधर्म है।

स्वधर्ममें स्वदेशी धर्म, स्वजातीय धर्म और स्वकालीन धर्मका समावेश होता है। ये तीनों मिलकर स्वधर्म बनते हैं। मेरी वृत्तिके अनुकूल और अनुरूप क्या है और कौन-सा कर्तव्य मुझे आकर प्राप्त हुआ है, यह सब स्वधर्म निश्चित

करते समय देखना होता है। तुममें 'तुमपन'-जैसी कोई चीज है और इसलिये तुम 'तुम' हो। प्रत्येक व्यक्तिमें उसकी अपनी कुछ विशेषता होती है। बकरीका विकास बकरी बने रहनेमें ही है। बकरी रहकर ही उसे अपना विकास कर लेना चाहिये। बकरी अगर गाय बनना चाहे, तो यह उसके लिये सम्भव नहीं। वह स्वयं प्राप्त बकरीपनका त्याग नहीं कर सकती। इसके लिये उसे शरीर छोड़ना पड़ेगा। नया धर्म और नया जन्म ग्रहण करना होगा, परंतु इस जन्ममें तो उसके लिये बकरीपन ही पवित्र है। बैल और मेंढकीकी कहानी है न ? मेंढकीके बढ़नेकी एक सीमा है। वह बैल-जितनी होनेका प्रयत्न करेगी, तो मर जायगी। दूसरेके रूपकी नकल करना उचित नहीं होता। इसीलिये पर-धर्मको भयावह कहा है।

('गीता-प्रवचन'से संकलित)

मानव-धर्मका संक्षिप्त स्वरूप

(लेखक—श्रद्धेय पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर महोदय)

कोई भी मनुष्य बाजारमें जाता है और कुछ लेने लगता है तो इसका विचार करता है कि वह पदार्थ अपने सच्चे गुण-धर्मोंसे युक्त है या नहीं; और जो पदार्थ सच्चे गुणधर्मोंसे युक्त है, वह उसीको लेता है। एक साधारण मनुष्य इतनी दक्षता बरतता है। परंतु मनुष्यको पास करनेमें वह इतनी कसौटी नहीं लगाता। मनुष्यके पास इतने पदार्थ जन्मसे प्राप्त हुए हैं—

१—शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये ३ शरीर)
२—इन्द्रिय (पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय)
३—मन (विचार और मनन करनेका साधन)
४—बुद्धि (ज्ञान-संग्रह-स्थान)
५—आत्मा (संचालक नेता)
६—परमात्मा (विश्वका संचालनकर्ता)

प्रत्येक मनुष्यके पास इतने साधन और संचालनके तत्त्व हैं; प्रत्येक मनुष्य इनका योग्य उपयोग करेगा तो निस्संदेह उसका महत्त्व बढ़ेगा। परंतु मनुष्य शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको हीन कर्मोंमें प्रयुक्त करता है और फँसता रहता है। यही साधारण मनुष्यका दोष है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह अपने मन और बुद्धिको आत्मज्ञान प्राप्त करने और परमात्माका गुण-चिन्तन करनेके पवित्र कार्यमें लगाये और अपने-आपको कृतकार्य बनाये।

ऊपर कहे हुए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा—ये प्रत्येकके पास होते हैं और एकके अंदर दूसरे होते हैं। शरीरके अंदर इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियोंके अंदर उनका संचालन करनेवाला मन होता है। मनके अंदर बुद्धि—ज्ञानशक्ति होती है। बुद्धिके अंदर आत्मा (जीवात्मा) होता है और जीवात्माके अंदर परमात्मा सर्वाधाररूपसे रहता है।

प्रत्येक मनुष्यके अंदर ये होते ही हैं। इनका ऐसा अस्तित्व किसी मनुष्यके अंदर नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। मनुष्यको अपने अंदर इनको देखना चाहिये और अन्तर्यामीको यथार्थतः जाननेका यत्न करना चाहिये। विश्वमें मुख्यतः जानने योग्य यही वस्तु है।

इसीको 'आत्मा' अथवा 'जीवात्मा' कहते हैं। 'आत्मा'का अर्थ (अत=सातत्यगमने) सतत संचलन करनेवाला है। इसका अनुभव सबको प्राप्त हो सकता है। इस शरीरमें रहकर यह सतत हलचल करता है। इस हलचलपर ही इसकी उन्नति अवलम्बित रहती है।

यदि इसने अच्छे कार्य किये तो इसकी उन्नति होगी और बुरे कार्य किये तो अवनति होगी। अतः इस आत्माको सदा अच्छे कार्यमें ही दत्तचित्त रहना चाहिये। बुरे कर्मोंमें लगना कदापि उचित नहीं।

मनुष्यमें कर्मशक्ति है, अच्छे या बुरे कर्म वह सदा करता रहता है। अतः वह नियम करे कि मैं सदा अच्छे-से-अच्छे ही कार्य करूँगा, कभी बुरे कार्यमें मैं नहीं फँसूँगा।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
(श्रीमद्भगवद्गीता)

जनकादि श्रेष्ठ पुरुषोंको श्रेष्ठ कर्म करनेसे ही सिद्धि प्राप्त हुई थी।

श्रेष्ठ कर्म करना, श्रेष्ठ विचार करना, श्रेष्ठ तत्त्व (परमात्म-तत्त्व) का मनन करना, उसीका ध्यान करना, उसीमें तल्लीनता प्राप्त करना। यही मनुष्य-उन्नतिका उत्कृष्ट साधन है। यही धर्म है।

जो यह करेगा, वही सच्चा आनन्द प्राप्त करेगा।

धर्मके लक्षण

(लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीविद्यानन्दजी विदेह महोदय)

वेदोपदेश

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥ (अ० १२ । ५ । ७)

(ओजः च तेजः च सहः च बलं च वाक् च इन्द्रियं च श्रीः च धर्मः च ॥)

धर्मकी परिभाषा

ज्ञानियोंने धर्मकी विविधरूपेण परिभाषाएँ की हैं। उन सबका अनुशीलन और मनन करनेके उपरान्त मैं इस परिणामपर पहुँचा हूँ कि साररूपमें धर्मकी परिभाषाके तीन प्रमुख अङ्ग हैं—

(१) परमात्माको सर्वव्यापक और सर्वज्ञ जानकर पापसे बचना।

(२) कर्मनिष्ठा अथवा कर्तव्यपरायणता।

(३) लोकहित अथवा विश्वसेवा।

ये तीनों परिभाषाएँ वेदकी एक-एक सूक्तिमें संविष्ट हैं—'वायुमारोह धर्मणा' धर्मके द्वारा वायुपर आरोहण कर—(वायुं) वायुपर (आरोह) आरोहण कर (धर्मणा) धर्मके द्वारा।

वायुका धात्वर्थ है सुगति और सुगन्धकी कामना। सुगतिमें ही वास्तविक सुगन्धका निवास है। कुगति ही दुर्गन्ध है। सुगति (सु-गत) ही सुगन्ध है। गतिसे तात्पर्य कर्म, कृति, चेष्टा है। जिसकी प्रत्येक कृति और चेष्टा 'सु' है, उसकी यशः-सुगन्ध संसारमें व्यापती चली जाती है। परमात्माको सर्वव्यापक और सर्वज्ञ जानकर पापमुक्त अथवा निष्पाप और निर्दोष रहना, निष्ठापूर्वक कर्तव्यका पालन करना, लोकहितमें निरत रहना—इन तीनोंका समन्वय ही सुगति है और सुगति ही सुगन्धकी सम्पादिका है। इस व्याख्याके प्रकाशमें उपर्युक्त सूक्तिका स्पष्टार्थ है—'धर्मके द्वारा सुगति और सुगन्धपर आरोहण कर।' धर्म सुगति और सुगन्धपर आरोहण कराता है।

इस सूक्तिका एक और भी बड़ा गहन और सुन्दर आशय है। अतिशय हल्की वस्तु वायुपर आरोहित होकर आकाशमें ऊँची चढ़ जाती है। जिस प्रकार हल्की पतङ्ग रील (डोरे) के आश्रयसे आकाशमें ऊँची चढ़ती है, उसी प्रकार धर्मके आश्रयसे आत्मा ऊँचा चढ़ता हुआ विष्णुके परमोच्च धाममें प्रवेश करता है। धर्म मानवके जीवनको इतना हल्का कर देता है कि वह चाहे जितना ऊँचा चढ़ सकता है। अधर्म वह भारी पत्थर है कि उससे जो बँध जाता है, वह उसे डुबा देता है। लाखों-करोड़ों मन धर्म भी अतिशय हल्का करके ऊपर-ही-ऊपर चढ़ाये लिये चला जाता है। उसके विपरीत अधर्मका एक कण भी इतना भारी होता है कि वह सर्वतः, सर्वान्ततः, सर्वथा डुबा देता है। धर्म वायु (सुगति और सुगन्ध) पर आरोहित करके ऊँचा उठाता और ऊपर चढ़ाता है।

(२)

धर्मके लक्षण

(१) 'यत्र धर्मश्च तत्र ओजश्च।' जहाँ धर्म होता है वहाँ ओज होता है। ओज धर्मका पहला लक्षण है। धर्मात्मा व्यक्ति ओजस्वी हो जाता है। वह उमंग, उत्साह और जोश-खरोशसे सदैव भरपूर भरा रहता है। उत्साहहीनता, शिथिलता, प्रमाद—ये तीन दुरित अधर्मके सहचारी हैं। धर्मका ओज अदम्य और अक्षय है—जो न दबाये दबता है न छिपाये छिपता है। धर्मके ओजसे ओजित व्यक्तिमें अमित कर्मक्षमता और अपार साधना-निरतता सदैव निहित रहती है। जिसके जीवनमें ओज नहीं है, समझ लीजिये कि उसमें धर्म नहीं है, धर्माभास भले ही हो।

(२) 'यत्र धर्मश्च तत्र तेजश्च।' जहाँ धर्म होगा, वहाँ तेज होगा। धर्मका तेज वह तेज है, जिसके सामने सूर्यका तेज भी फीका पड़ जाता है। जिसके जीवनमें धर्म निहित होता है, निस्संदेह वह तेजःपुञ्ज होता है। उसके रोम-रोम और कण-कणसे तेजकी तेजोमयी किरणें फूटती रहती हैं। भगवान् शंकराचार्य और महर्षि दयानन्दके तेजके सामने बड़े-बड़े शूर-सामन्त और बड़े-बड़े राजे-महाराजे नतमस्तक क्यों हो जाते थे? आचार्य और महर्षिका वह तेज धर्मका ही तेज था। विभीषणकी धर्मवती पुत्री कलाने अपने ताऊ रावणसे पूछा, 'बंदिनी सीताके सामने आप इतने निस्तेज क्यों हो जाते हैं?' 'सीता धर्मके तेजसे इतनी तेजस्विनी है कि उसके सामने सूर्यका तेज भी शिथिल पड़ जाता है।' रावणने उत्तर दिया। 'जहाँ कृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है, वहाँ विजय है।' इस उक्तिमें धर्मके उसी तेजका संकेत है,

जिसका उल्लेख यहाँ वेदमाताने किया है। भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् धर्म थे। इसीलिये वे तेजोऽवतार थे, तेजके साक्षात् अवतार थे—उस तेजके, जिसके अभिमुख पृथिवी थर-थर काँपती थी।

(३) 'यत्र धर्मश्च तत्र सहश्च।' जहाँ धर्म है, वहाँ सह (सहनशक्ति, सहनशीलता, धैर्य) है। 'सह' और 'धैर्य' शब्द पर्यायवाची हैं। जरा धर्मात्माओंके जीवनचरित्रों-का अवलोकन तो कीजिये। आप देखेंगे कि धर्मने उन्हें कैसा सहनशील अथवा धैर्यका धनी बना दिया था। सहका अर्थ है ध्रुव—धैर्यके साथ मुकाबला करके परास्त करनेकी शक्ति। 'सह' ही है, जिससे मनुष्य धीर कहलाता है। जहाँ धर्म होगा, वहाँ सह अवश्य होगा। हो नहीं सकता कि धर्म हो और सह न हो। धर्मात्मा सहके अवलम्बसे बड़ी-बड़ी घाटियोंको पार करते हैं, बड़ी-से-बड़ी आपत्तियोंका मुकाबला करके उनका मुँह फेर देते हैं। धर्मात्माओंका सह ही है जो पञ्चविकारों और वासनाओंको परास्त करके उन्हें अपने जीवन-सदनसे निकाल बाहर करते हैं। धर्मात्माओंके सहकी महिमा अपार है।

(४) 'यत्र धर्मश्च तत्र बलं च।' जहाँ धर्म है, वहाँ बल है। धर्मका बल ही बल है, सच्चा बल है, ठोस बल है; और सारे बल झूठे बल हैं, थोथे बल हैं। धर्मका ही बल है, जो महाबली मृत्युसे खम ठोककर भिड़ जाता है। धर्मका ही बल है, जो अत्याचारों और अत्याचारियोंकी जड़ोंको खोदकर फेंक देता है। धर्मका ही बल है, जो अन्यायों और अन्यायियोंको नष्ट-विनष्ट करके ही दम लेता है। धर्मका बल वह बल है, जिससे बलवान् होकर अपर्याप्त सैनिक और अस्त्रोंसे पर्याप्त सैनिकों तथा शस्त्रोंपर विजय प्राप्त की जाती है। धर्मके बलमें ब्राह्मबल निवास करता है। इसीसे धर्मका बल अजेय है।

(५) 'यत्र धर्मश्च तत्र वाक् च।' जहाँ धर्म होता है, वहाँ वाक् (वचन) का परिपालन होता है।

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहिं बरु बचन न जाई॥

धर्म वचनसे फिरना नहीं जानता। धर्मात्माओंके मुख-से जो वचन निकलता है, वह धर्मरूप होता है। इसीलिये धर्मात्मा अपने वचनसे कभी कदापि फिरा नहीं करते। वे तो अधर्मात्मा होते हैं, जो अगर-मगर और किंतु-परंतु-की ओटमें हालात और परिस्थितियोंका बहाना बनाकर अपने मुखसे निकाली बातसे डिग जाते हैं।

(६) 'यत्र धर्मश्च तत्र इन्द्रियं च।' जहाँ धर्म होगा, वहाँ जितेन्द्रियता अवश्य होगी। महर्षि चाणक्य कहते हैं, 'जितेन्द्रियता धर्मका मूल है।' जितेन्द्रियताके अभावमें धर्म एक क्षणके लिये भी नहीं टिकता। जिस राष्ट्रके नागरिकों-में इन्द्रियसंयम, इन्द्रियनिग्रह, जितेन्द्रियता नहीं होती, उस राष्ट्रमें धर्मका नहीं, अधर्मका राज्य होता है। जितेन्द्रियता धर्मके मूलोंका सिञ्चन करती है तो धर्म जितेन्द्रियताका सम्पादन तथा संरक्षण करता है।

(७) 'यत्र धर्मश्च तत्र श्रीः च।' जहाँ धर्म होगा, वहाँ श्रीः (शोभा, सुन्दरता) अवश्य होगी। धर्मका सौन्दर्य सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य है। तभी तो लोग धर्मात्माओंका दर्शन करने आते हैं और उनके दर्शन करके कृतकृत्य हो जाते हैं। धर्मकी श्रीमें स्वयं भगवान्‌का निर्विकार सौन्दर्य निखरता है। इसीलिये तो कहा गया है, 'धर्मात्माओंके पुण्य-दर्शनमें ही निराकार भगवान्‌का निराकार सौन्दर्य साकार होता है।'

धर्मका तेजस्वी रूप

(लेखक—श्रद्धेय आचार्य श्रीतुलसी महोदय)

धर्म केवल बौद्धिक उपलब्धि ही नहीं है, वह मनुष्यकी स्वाभाविक एषणा है। आत्मा है; पर वह शरीर और कर्मके आवरणसे आवृत है, इसलिये अज्ञात है। आवरणसे चैतन्य ढका हुआ है, पर उसका अस्तित्व विस्मृत नहीं है। सूर्य बादलसे ढका हुआ है, पर वह अस्त नहीं है। दिन और रातका विभाग करनेमें वह क्षम है। यह अस्तित्वकी स्मृति ही धर्मकी स्वाभाविक एषणा है। आवरणके तारतम्यके कारण कुछ लोगोंमें धर्मकी एषणा अव्यक्त होती है और कुछ लोगोंमें व्यक्त। अपने आपको नास्तिक माननेवाले भी धर्मकी एषणासे मुक्त नहीं होते।

मनुष्य हर प्रवृत्तिके बाद विराम चाहता है। वह क्या है? अन्तरकी ओर गति। शरीर, वाणी और मनकी प्रवृत्ति मनुष्यको बाह्य जगत्‌में ले जाती है। किंतु कुछ समय बाद मन लौटकर भीतरकी ओर जाना चाहता है। वाणी मौन होना चाहती है और शरीर शिथिल। शरीरकी शिथिलता, वाणीका मौन और मनका अन्तरमें

विलीन होना ध्यान है और यही आत्माका स्वाभाविक रूप है और यही धर्म है ।

धर्म है आत्मासे आत्माको देखना, आत्मासे आत्माको जानना और आत्मासे आत्मामें स्थित होना ।

धर्मका अर्थ है द्रव्यका स्वभाव । जो आत्माका स्वभाव है, वह धर्म है । जो आत्माका स्वभाव नहीं है, वह धर्म नहीं है । धर्मका अर्थ है वस्तुका स्वरूप ।

शून्यीभवदिदं विश्वं स्वरूपेण धृतं यतः।
तस्माद् वस्तुस्वरूपं हि प्राहुर्धर्मं महर्षयः॥

यह विश्व पर्यायोंसे शून्य होता रहता है । पर्याय या अवस्थाके नष्ट हो जानेपर भी वह स्वरूपद्वारा धृत रहता है । इसलिये वस्तुका स्वरूप धर्म कहलाता है ।

आत्मा ज्ञानमय, दर्शनमय, आनन्दमय और शक्तिमय है । ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्तिके साथ जो एकरसता है, वह धर्म है । आत्माकी मोह, क्षोभ आदि आवेगोंसे रहित जो परिणति है, वह धर्म है ।

धर्मकी विभिन्न परिभाषाएँ हैं; पर उन सबका सार है—स्वरूपमें स्थित रहनेका अभ्यास । धर्मकी यह परिभाषा जितनी आन्तरिक है, उतनी ही तर्कसंगत । अपने आपको अधार्मिक माननेवाला भी धर्मकी इस परिभाषासे विरक्त नहीं है । धर्मके प्रति जो विरक्त है, वह उस धर्मके प्रति है, जिसमें आन्तरिकताका स्पर्श नहीं है । जहाँ आचारकी गौणता और उपासनाकी प्रधानता है, वहाँ सहज ही बौद्धिक द्वन्द्व होता है और वह व्यक्तिको धर्म-विमुख बना देता है ।

क्या घृणा करनेवाला व्यक्ति धार्मिक है ? एक ओर उपासना और दूसरी ओर घृणा । क्या यह योग किसी बुद्धिवादी व्यक्तिको धर्मकी ओर आकृष्ट करनेवाला है ?

क्या शोषण करनेवाला व्यक्ति धार्मिक है ? एक ओर दया और दूसरी ओर शोषण । क्या यह योग किसी विचारशील व्यक्तिको धर्मकी ओर आकृष्ट करनेवाला है ?

धार्मिक सबके साथ प्रेम करता है, इसलिये वह घृणा नहीं कर सकता । धार्मिक व्यक्ति सब जीवोंको आत्मतुल्य मानता है, इसलिये वह किसीका शोषण नहीं कर सकता । जो घृणा और शोषण करता है, वह धार्मिक नहीं हो सकता ।

धर्मकी रुचि और उसका आचरण—ये दो भिन्न पहलू हैं । जो लोग अपने आपको धार्मिक मानते हैं, उनमें अधिकांश धर्म-रुचि मिलेंगे, धार्मिक बहुत कम । जो लोग अपने आपको अधार्मिक मानते हैं, उनमें भी कुछ लोग धार्मिक मिलेंगे ।

एक विचारगोष्ठीकी सम्पन्नतापर एक दैनिकपत्रके सम्पादकने कहा—आपने धर्मकी जो व्याख्या की है, उसके अनुसार मैं भी अपने आपको धार्मिक कह सकता हूँ ।

धार्मिकता अन्तःकरणकी पवित्रता है । वह धर्मकी रुचि होनेमात्रसे प्राप्त नहीं होती, उसकी साधनासे प्राप्त होती है । साधना करनेवाले धार्मिक बहुत कम हैं । अधिकांश धार्मिक सिद्धि चाहनेवाले हैं । वे धर्मको इसलिये नहीं चाहते कि उससे जीवन पवित्र बने; किंतु वे उसे इसलिये चाहते हैं कि उससे भोग मिलें । आजका धर्म भोगसे इतना आच्छन्न है कि त्याग और भोगके बीच कोई रेखा ही नहीं जान पड़ती । धर्मका क्रान्तकारी रूप तब होता है, जब वह जन-मानसको भोग-त्यागकी ओर अग्रसर करे । आज त्याग भोगके लिये अग्रसर हो रहा है । यह वह कीटाणु है, जो धर्मके स्वरूपको विकृत बना डालता है । मैं मानता हूँ—धर्म जीवनकी अनिवार्य अपेक्षा है । जहाँ उसकी पूर्ति नहीं होती, वहाँ जीवनमें एक अभावकी पूर्ति कभी नहीं होती । वह है मानसिक संतुलनका अभाव । मानसिक संतुलनका अभाव अर्थात् शान्तिका अभाव । शान्तिका अभाव अर्थात् सुखानुभूतिका अभाव । पदार्थ सुखके हेतु हैं, उनसे सुखकी अनुभूति नहीं होती । सुखकी अनुभूति मन और मन-संयुक्त इन्द्रियोंको होती है । वह तभी होती है, जब मन संतुलित और शान्त होता है ।

वैज्ञानिक साधनोंके विकाससे पदार्थका विस्तार हुआ है; पर उससे मनुष्यके सुखका विस्तार हुआ है—यह कहना सरल नहीं है ।

पदार्थ-विस्तार और सुखानुभूति—ये दो विकल्प हैं । कभी मनुष्य पदार्थ-विस्तारको प्राथमिकता देता है, सुखानुभूतिको दूसरा स्थान । कभी मनुष्य सुखानुभूतिको प्राथमिकता देता है और पदार्थ-विस्तारको दूसरा स्थान । प्रथम विकल्पमें त्याग संग्रहसे प्रभावित होता है और दूसरे विकल्पमें संग्रह त्यागसे प्रभावित होता है । वर्तमान युग इसी समस्यासे आक्रान्त है । आज त्याग संग्रहसे प्रभावित है ।

मैं देखता हूँ जहाँ त्याग और भोगकी रेखाएँ आसपास जाती हैं, धर्म अर्थसे संयुक्त होता है, वहाँ धर्म अधर्मसे अधिक भयंकर बन जाता है । यदि हम चाहते हैं धर्म पुनः प्रतिष्ठित हो तो हम उसके विशुद्ध रूपका अध्ययन करें । हम उस युगमें धर्मकी पुनः प्रतिष्ठाकी बात कर रहे हैं, जिस युगका नाम उपलब्धिकी दृष्टिसे वैज्ञानिक, शक्तिकी दृष्टिसे आणविक और शिक्षाकी दृष्टिसे बौद्धिक है । क्या अबौद्धिक, अवैज्ञानिक और शक्तिहीन पद्धतिसे धर्मका उत्कर्ष सम्भव है ? आज ऐसे धर्मकी आवश्यकता है, जो

बुद्धिसे प्रचारित हो, विज्ञानसे प्रतिहत न हो और शक्तिसे हीन न हो।

उपासनात्मक धर्म अनावश्यक नहीं है, पर केवल उपासनात्मक धर्म पर्याप्त भी नहीं है। वह ज्ञान, दर्शन और आचारसे सम्बद्ध होकर ही युगकी चुनौतीका सामना कर सकता है।

शाश्वत सत्यके साथ सामयिक मान्यताओं और सामाजिक विविध विधानोंका योग भी धर्मतक पहुँचनेमें बाधा है।

सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक बन्धनसे मुक्त किंतु समाज, राजनीति और आर्थिक क्षेत्रको प्रभावित करनेवाला धर्म ही वास्तवमें प्रभावशाली हो सकता है। धर्मसे आत्मोदय होता है, यह उसका वैयक्तिक स्वरूप है। उसका प्रभावशाली होना उसका सामाजिक स्वरूप है। ये दोनों रूप आज अपेक्षित हैं। ये शाश्वत और परिवर्तनकी मर्यादाको समझनेसे ही प्राप्त हो सकते हैं।

धर्मकी महत्ता

(लेखक—महामहिम डा० श्रीसर्वपल्ली राधाकृष्णन् महोदय—राष्ट्रपति)

(१)

हिंदूधर्मकी आधार-शिलाएँ*

हिंदूलोग केवल एक परमात्माको मानते हैं, यद्यपि उनके नाम अनेक हैं। नाना जातियोंके होते हुए भी व्यवस्थाकी भूमिपर उनका समाज एक है। समस्त जन-समाजमें अनेक जातियाँ और उपजातियाँ हैं; किंतु सब किसी एक भावनासे परस्पर गुँथी हुई हैं। यद्यपि कई प्रकारके विवाहोंकी आज्ञा दी गयी है तथापि आदर्श लक्ष्य एक ही बनाया गया है। अगणित विभिन्नताओंके भीतर उद्देश्यकी एकता वर्तमान है।

अनवरत प्रवाहवाला संसार ही सब कुछ नहीं है। इसकी नियमाधीनता और पूर्णताकी ओर प्रवृत्ति यह सूचित करती है कि इसका आधार कोई आध्यात्मिक सत्ता है, जिसका पर्यवसान किसी एक विशेष वस्तु अथवा वस्तु-समूहमें ही नहीं हो जाता। भगवान् संसारमें हैं, यद्यपि संसारके रूपमें नहीं। विकासप्रणालीके महत्त्वपूर्ण स्थलोंतक ही उनकी सृष्टि-प्रक्रिया सीमित नहीं है। केवल जीवन अथवा चेतनताकी सृष्टि करनेके लिये ही वह हस्तक्षेप नहीं करता वरं निरन्तर क्रियाशील रहता है। प्रकृति और प्रकृत्युत्तर तत्त्वकी पृथक् सत्ता नहीं है। जीवनके प्रति हिंदू-भावनाकी यह मान्यता है कि दृश्य और क्षणभङ्गुर जगत्के असंख्य नाना रूप अदृश्य और अनन्त आत्माके द्वारा पोषित, आधारित और ओतप्रोत हैं।

बुराई, भूल और कुरूपता अन्तहीन नहीं हैं। भलाईका जितना रास्ता चलकर आना है, बुराईका वही नाप है। कुरूपता सुन्दरताके आधे रास्तेपर है। भूल सत्यके मार्गका एक पड़ाव है। इन सबको पार करना है। कोई भी मत इतना सर्वथा भूलोंसे भरा नहीं है, न कोई व्यक्ति इतना सोलह आना बुरा है कि उसका पूर्ण बहिष्कार कर दिया जाय। यदि एक भी मानव जीव अपने दिव्य गन्तव्य स्थानतक नहीं पहुँच पाता, तो उस सीमातक विश्वकी असफलता माननी चाहिये। संसारमें प्रत्येक जीव दूसरेसे भिन्न है। इसलिये सबसे अधिक दुष्टात्माके विनाशका भी अर्थ है, भगवान्‌की योजनामें एक रिक्त स्थल। नरक नामकी वस्तु नहीं है; क्योंकि इसका तो अर्थ हुआ कम-से-कम एक जगह है जहाँ भगवान् नहीं हैं और ऐसे भी पाप हैं, जो उनके प्रेमको भी चित कर देते हैं। यदि भगवान्‌का असीम प्यार कल्पनामात्र नहीं है तो सार्वभौम मुक्ति निश्चित बात है। परंतु जबतक ऐसी स्थिति नहीं आ जाती, हम लोगोंमें प्रमाद और अपूर्णता बनी रहेगी। निरन्तर विकासोन्मुख विश्वमें बुराई और भूल अवश्यम्भावी हैं, यद्यपि क्रमशः उनका ह्रास होता रहेगा।

धर्मके क्षेत्रमें हिंदूधर्म आध्यात्मिक जीवनको अपना आधार मानता है। वह कहता है कि ईश्वरसम्बन्धी धार्मिक अनुभूतियाँ कभी एक-सी नहीं हो सकतीं। ब्रह्मविद्याके इतिहासमें एकके बाद दूसरे रूपककी परम्परा अन्तमें बोल पड़ती है कि मनुष्य और संसारके जीवनमें केन्द्रिय तत्त्व भगवान् है। मेरे उद्यानके वृक्ष भगवान्‌के लगाये हुए हैं और मेरे पड़ोसीके बगीचेका निरर्थक घास शैतानका लगाया हुआ है, अतएव उसका हमको किसी भी मूल्यपर नाश कर ही देना चाहिये—हिंदू-धर्म ऐसी द्वन्द्वात्मक मनोवृत्तिको स्वीकार नहीं करता। इस सिद्धान्तपर कि सर्वश्रेष्ठ श्रेष्ठका शत्रु नहीं है, हिंदूधर्म सब प्रकारकी मान्यताओंको स्वीकार करके उनको ऊपर उठा लेता है। भूलका उपचार मारना काटना नहीं, बल-प्रयोग या दण्डविधान नहीं, वरं प्रकाशका मौन विकिरण है।

धर्मके व्यावहारिक क्षेत्रमें हिंदू-धर्म दो प्रकारके लोगोंको जानता है—एक तो वे जो भगवान्‌का साक्षात्कार करना चाहते हैं। दूसरे वे जो तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण सत्यको जाननेके

* द हिंदू व्यू आव लाइफसे संकलित।

प्रदासमें ही प्रसन्न रहते हैं। कुछको कर्ममें शान्ति मिलती है, तो कुछको अकर्ममें। एक व्यापक धर्म सबको अपने-अपने मार्गसे चलाकर एक ही मंजिलपर पहुँचा देता है; क्योंकि सभी तो अपने हाथोंमें भिन्न-भिन्न उपहार लिये हुए एक ही देवीकी उपासना कर रहे हैं। अपनी विशेषताको हमें एकमात्र और सर्वाधिक महत्त्व नहीं प्रदान करना चाहिये। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, संन्यास आदि किसी भी अवस्थामें पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। सदा एकरूप रहनेवाला दृष्टिकोण अनुचित है। एक महात्माके संतत्वका यह अर्थ नहीं है कि उसके आगे पतिव्रता पत्नीकी अचल निष्ठा अथवा अबोध शिशुकी सरलता निरर्थक है। पूर्णता, चाहे वह किसी जातिकी हो, दिव्य वस्तु है। भगवान् कहते हैं—'जो कुछ भी विभूतियुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त है, उस-उसको मेरे तेजके अंशमात्रसे उत्पन्न हुआ जानो।'*

(२)

मानव-जीवनका सारतत्त्व धर्म †

हम यदि शास्त्रके अनुसार धर्मके यथार्थ मार्गपर चलते रहें तो निश्चय ही हमारी विजय होगी। आज देश आदर्शोंकी हत्या करनेवाले संघर्षसे आच्छन्न है। इस समय हमें चाहिये कि हम विवेक तथा सद्बुद्धि प्रदान करनेवाले स्रोतोंका आश्रय लें।

जहाँ धर्म है, वहाँ विजय है। धर्म और विजयको एक दूसरेसे अलग नहीं किया जा सकता। धर्म ही सत्-असत्का निश्चय करनेवाला विवेक है और धर्म ही सद्बुद्धिरूपी प्रकाश है। जबतक हम धर्मपर अटल-स्थिर रहते हैं, तबतक हमारा कोई भी अकल्याण नहीं होता।

धर्म ही मानव-समाजको एक सूत्रमें बाँधनेवाली परम वस्तु है। वास्तवमें जिसकी सहायतासे मानव-समाज एक सूत्रमें बँधता है, वही धर्म है और जिससे मानव-समाजका विघटन होता है, वह अधर्म है। मानव-जीवनका सारतत्त्व धर्म ही है।



धर्मका संदेश

(लेखक—महामान्य श्रीलालबहादुरजी शास्त्री, प्रधान मन्त्री)

इस समय देश और कालकी पुकार है क्रियाशील होनेकी, कठोर परिश्रम करनेकी। अपनी स्वतन्त्रता-को अक्षुण्ण बनानेका जो हमारा संकल्प है, वह तभी पूरा हो सकता है।

कर्मको प्रधानता देते हुए भी हम धर्मको भूल नहीं सकते। कर्म जहाँ शरीर है, वहाँ धर्म उसकी आत्मा है। धर्म जीवनको विश्वास और दिशा प्रदान करता है। इसके सहारे हम जीते हैं। हर बड़े कामके पीछे धर्मका आधार होता है। धर्म, चाहे वह कोई भी धर्म क्यों न हो, हमारे जीवनको पूर्णता और संतोष प्रदान करता है। हमारे आध्यात्मिक अस्तित्वके लिये धर्म वैसा ही आवश्यक है, जैसा पार्थिव अस्तित्वके लिये कर्म।

धर्मका स्वरूप

(लेखक—महामहिम डा॰ श्रीसम्पूर्णानन्दजी, राज्यपाल, राजस्थान)

धर्मके विषयमें कुछ लिखनेके पहिले हमको इस शब्दकी परिभाषा निश्चित कर लेनी चाहिये। इस समय पण्डित-अपण्डित दोनों ही इसको विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त करते हैं और अब आजकल सरकारने अराजकतापर अपनी छाप लगाकर लिखने-बोलनेवालेका काम और भी कठिन कर दिया है।

पूर्वमीमांसाकार जैमिनिके अनुसार—

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' वेद जिसकी चोदना—घोषणा करे, वह धर्म है। यह वाक्य निर्णय करनेका बोझ मनुष्यसे हटाकर वेदपर डाल देता है। जिस आचरणका समर्थन वेद करे, वह धर्म है; जो वेदकी दृष्टिसे निषिद्ध हो, वह अधर्म है। अधर्मकी यह परिभाषा दी तो नहीं है, परंतु अर्थापत्तिसे यही निष्पन्न होता है।

इस परिभाषामें अव्याप्तिदोष आता है, कम-से-कम ऐसी आशङ्का होती है। पृथिवीपर करोड़ों ऐसे व्यक्ति हैं, जो वेद-को प्रमाण नहीं मानते। यदि यह परिभाषा स्वीकार कर ली जाय तो हम ऐसे लोगोंके आचरणके सम्बन्धमें कुछ कहने-के अधिकारको परित्याग कर देते हैं। उनका आचरण हमारी दृष्टिमें न धर्म होगा न अधर्म, या फिर उनके कामोंको अपनी कसौटीपर हठात् कसेंगे। वह वेदको मानते नहीं, परंतु हम उनके व्यवहारकी धर्माधर्मरूपताको वेदके अनुसार

* भगवद्गीता १०। ४१।

† पूनामें 'धर्मशास्त्रके इतिहास' के प्रकाशनपर व्यक्त विचार।

निर्णय करेंगे । इससे अर्थविक्लवता और बढ़ेगी । कलहमें वृद्धि होगी और हम करोड़ों मनुष्योंको प्रभावित करने तथा उनके आचरणमें सुधार करनेके अवसरको खो बैठेंगे । यह काम अच्छा है या बुरा ?—विवाद यहाँसे हटकर इस मञ्चपर आ जायगा कि वेदमें सार्वभौम प्रामाणिकता होनेकी क्षमता है या नहीं । इस प्रश्नका ऐसा उत्तर मिलना, जो सबके लिये संतोषजनक हो, बहुत कठिन है ।

इस प्रसङ्गमें ईश्वरका नाम लेना भी उलझनको बढ़ाता है । जो काम ईश्वरको सम्मत हो, वह धर्म है—ऐसा कहना भी विवादको कम नहीं करता । पहिले तो ईश्वरकी सत्ताको सिद्ध करना होगा । फिर, यदि ईश्वरका होना मान भी लिया जाय तो उसकी इच्छा कैसे जानी जाय ? वेद, कुरान और बाइबिल—तीनों ही अपनेको ईश्वरके अभिप्रायका अभिव्यञ्जक बताते हैं; परंतु कई विषयोंमें आपसमें मतभेद है । यह कैसे जानें कि ईश्वर किस बातको पसंद करता है ।

ऐसा लगता है कि यदि धर्मके सम्बन्धमें कुछ निश्चय करना है तो यह दायित्व हमको अपने ऊपर ही लेना होगा । इस बोझको ईश्वर या वेद या किसी अन्य ग्रन्थपर नहीं डाला जा सकता और हम इस दायित्वको तभी निबाह सकते हैं, जब इस प्रश्नको मनुष्यमात्रकी दृष्टिसे देखें । यदि किसी एक समुदायके सामने रखकर विचार किया गया तो वह एकदेशीय और अपूर्ण, सम्भवतः पक्षपातपूर्ण होगा ।

पुराने वाङ्मयमें एक ऐसी परिभाषा मिलती है, जिसमें प्रत्यक्ष या परोक्षरूपसे किसी सम्प्रदाय-विशेषका चर्चा नहीं मिलता । वैशेषिक-दर्शनमें कणादने कहा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

धर्म वह है, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि होती है ।

इस परिभाषाके अतिरिक्त मनुकी दी हुई परिभाषा भी इस दृष्टिसे निर्दोष है । उनके शब्द हैं—**धारणाद्धर्मः**—जो जगत्‌को धारण करता है, वह धर्म है ।

जिन दो परिभाषाओंको हमने अपेक्षया निर्दोष माना है, उनमें किसी सम्प्रदायविशेषकी मान्यताओंको आधार नहीं माना गया है और न किसी आध्यात्मिक या धार्मिक सिद्धान्तको पहिलेसे स्वीकार कर लेना आवश्यक ठहराया गया है; परंतु दोनोंमें ही मतभेद और वैचारिक स्तरपर घोर संघर्षके लिये पर्याप्त अवकाश है । अभ्युदयकी कसौटी क्या है ? अभ्युदय किन बातोंसे होता है ? निःश्रेयस क्या है ? जगत्‌को कौन-सी बातें धारण करती हैं ? जबतक इन बातोंपर ऐकमत्य न हो, तबतक परिभाषाके शब्दोंको निर्विवाद और सार्वभौम कहना निरर्थक है ।

विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि निःश्रेयसका विषय हमको इतने गहरे शास्त्रार्थमें डाल देगा कि मूल प्रश्नका निर्णय करना कठिन हो जायगा । इस बातको ध्यानमें रखनेसे मनुकी दी हुई परिभाषा सबसे अधिक समीचीन लगती है । वह अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषोंसे मुक्त है । अतः मैं तो यही मानकर चलता हूँ कि '**धारयतीति धर्मः । यो लोकान् धारयति, येन मानवसमाजो धृतः स धर्मः ।**'

परिभाषा तो हुई पर अभी इसके शब्दोंको अर्थ पहिनाना है । समाजका धारण कैसे, किन बातोंसे हो सकता है—यह निश्चय करना होगा । पहिले तो यह देखना चाहिये कि स्वयं मनुकी इस सम्बन्धमें क्या राय है ? **धारणाद्धर्म इत्याहुः**—कहते समय उनकी बुद्धिमें क्या था ? इस प्रश्नका उत्तर स्पष्ट शब्दोंमें मिलता है । उनका '**अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः**' इत्यादि श्लोक प्रसिद्ध है । उन्होंने अहिंसादि दस बातोंका उल्लेख करके इनको '**दशकं धर्मलक्षणम्**' बताया है और इनको सार्ववर्णिक—सब वर्णोंद्वारा पालनीय कहा है । इससे मिलती-जुलती भाषामें पद्मपुराणके भूमिखण्डमें धर्मके ये दस अङ्ग गिनाये गये हैं—ब्रह्मचर्य, सत्य, तप, दान, नियम, क्षमा, शौच, अहिंसा, शान्ति और अस्तेय । मत्स्यपुराण सनातन-धर्मके ये मूल गिनाता है—अद्रोह, अलोभ, दम, भूतदया, तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, अनुक्रोश, क्षमा और धृति ।

इसी प्रकारकी सूचियाँ दूसरे ग्रन्थोंमें भी मिलेंगी । सब सूचियाँ कुल एक दूसरेसे नहीं मिलतीं, परंतु कई बातें सबमें मिलती हैं । अतः ऐसा मानना चाहिये कि जो बातें समानरूपसे सभी सूचियोंमें विद्यमान हैं, वह सभी आचार्योंके मतमें धर्मके अङ्ग हैं । शेषके सम्बन्धमें मतभेद हो सकता है ।

जो समानांश है, उसपर दृष्टि डालनेसे भी कुछ बड़े शिक्षाप्रद और रोचक तथ्य सामने आते हैं । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य—ये चार नाम हर सूचीमें मिलते हैं । अपरिग्रह भी मिलता है, परंतु भिन्न-भिन्न नामोंसे । इसके अतिरिक्त शौच, दया, क्षमाके नाम आते हैं । हमको यह भूलना न चाहिये कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहको पतञ्जलिने योगके अङ्गोंमें प्रथम स्थान दिया है और इनके सम्बन्धमें उनका कहना है कि ये पाँचों देश-काल-समयाद्यनवच्छिन्न सार्वभौम महाव्रत हैं अर्थात् इनके पालन करनेमें कहीं किसी अपवादके लिये स्थान नहीं है । इनका हर जगह और हर समय पालन करना चाहिये, सबके साथ पालन करना चाहिये और सबको पालन करना चाहिये । इनका महत्त्व पतञ्जलिकी दृष्टिमें यहाँतक है कि उन्होंने इनको स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानकी अपेक्षा भी प्राथमिकता दी है और उनका ऐसा करना उचित भी था । यह ऐसे गुण हैं जिनको ईश्वर-

की सत्ताको स्वीकार न करनेवाले नास्तिक और आस्तिक सभी एक स्वरसे मानते हैं। प्राचीन कालसे ही सभी आर्ष ग्रन्थ इन गुणोंका, इनमें भी सर्वोपरि सत्य और अहिंसाका स्तुति-गान करते आये हैं। स्वयं वेदका कहना है—

सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्ति ऋषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्॥

—सत्यकी ही विजय होती है, अनृतकी नहीं। सत्यसे ही वह देवयानमार्ग बिछा हुआ है, जिससे आप्तकाम ऋषि-लोग उस स्थानको पहुँचते हैं, जहाँ सत्यका परम भंडार है।

मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि।

—किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिये।

फारसीमें एक महात्माने कहा है—

रास्ती मुजिबे रज़ाए खुदास्त।
कस न दीदम कि गुम शुद अज रहे रास्त॥

—सचाई ईश्वरके प्रसन्न करनेका साधन है। मैंने किसी ऐसे व्यक्तिको नहीं देखा कि जो सत्यपर चलकर पथभ्रष्ट हो गया हो। और—

मबाश दरपये आज़ार व हरचे ख्वाही कुन
कि दर तरीक़ेत मां ग़ैर अज़ीं गुनाहे नेस्त।

—किसीको सताओ मत और जो तुम्हारे जीमें आवे, करो; क्योंकि मेरे धर्ममें इसके सिवा और कोई पाप नहीं है।

अस्तु, ऐसा मानना अनुचित न होगा कि जिन बातोंकी सब लोग प्रशंसा करते हों, जो सबकी दृष्टिमें धर्मके अंश और अङ्ग या लक्षण हैं, वे धर्मके सर्वश्रेष्ठ प्रतीक हैं। और बातें अधर्म नहीं हैं, धर्मके विरुद्ध नहीं हैं; परंतु उनका स्थान गौण है। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि मनु आदि, जो धर्मके विषयमें प्रमाण हैं, किसी विशेष पूजा-पाठको सार्वभौम धर्मोंमें नहीं गिनते। एक तो यह विवादका विषय हो सकता है कि कोई भी ऐसी सत्ता है या नहीं जो उपास्य है। फिर उपासनाकी प्रक्रियामें भेद हो सकते हैं। इसलिये उपासनाको गौण स्थान देना ही चाहिये। जो लोग यह चाहते हैं कि संसारमें धर्मका पुनः प्रचार और प्रसार हो, उनको चाहिये कि अहिंसा आदि पाँचों यमोंके प्रचार और प्रसारके लिये प्रयत्न करें। यदि इनका ह्रास रहा तो कोई पूजा-पाठ धर्मका उद्धार नहीं कर सकती।

आज जगत्में अंधेर मचा है। सारे जगत्की बातको छोड़ दें। हम अपने देशको लें। पहलेसे भले ही हम कुछ भौतिकताकी ओर बढ़ गये हों, श्रद्धामें कुछ कमी आ गयी हो फिर भी पूजा-पाठपर पर्याप्त धन व्यय होता है। नये मन्दिर बनते ही जाते हैं। उनमें भोग-पूजाके लिये प्रबन्ध होता ही है। मन्दिरोंमें गाना-बजाना होता ही रहता है। कण्ठी-माला धारण किये हुए साधु-महात्मा देख ही पड़ते हैं। गृहस्थ भी किसी-न-किसी प्रकारका जप आदि कर ही लेते हैं। फिर भी भ्रष्टाचारकी शिकायत चारों ओर सुन पड़ती है। इसका बड़ा भारी कारण यह है कि हम धर्मके स्वरूपको भूल गये और 'अतस्मिंस्तत्'—जो जहाँ नहीं है, उसको वहाँ ला बैठाया है। धर्मका मूल पूजा-पाठमें नहीं है, यमोंके पालनमें है; परंतु हम उसे पूजा-पाठमें देखते हैं। यदि कोई व्यक्ति कभी मन्दिरमें पूजा करने न जाय, वहाँ जो भजन आदि या जो गाना होता है, उसमें सम्मिलित न हो, तो उसके ऊपर अँगुली उठ सकती है। परंतु यह कोई नहीं देखता कि उसके आचरणमें सत्यका क्या स्थान है और उसके व्यवहारमें हिंसा कितनी है। जो मन्दिर बनवाता है, उसकी प्रशंसा होती है; परंतु यह कोई नहीं पूछता कि मन्दिर बनवानेके लिये उसके पास धन कहाँसे आया। भगवान् व्यासकी यह उक्ति ऐसे अवसरोंपर लोग भूल जाते हैं—

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥

—दूसरेके मर्मका छेदन किये बिना, अकरणीय कामोंके किये बिना, जिस प्रकार मछुवा एक अपने पेटके लिये सैकड़ों छोटी मछलियोंका हनन करता है, उसी प्रकार दूसरोंका आघात किये बिना बहुत धन प्राप्त नहीं हो सकता।

व्यास भी विष्णुके अवतार माने जाते हैं। परंतु जब कोई विष्णुकी पत्थरकी मूर्ति और उसके लिये पत्थरका मन्दिर बनवाता है तो व्यासरूपी विष्णुकी इस उक्तिको हम हृदयसे भुला देते हैं। फिर हमको इस बातकी शिकायत करनेका कोई अधिकार नहीं है कि धर्मका ह्रास हो रहा है। धर्म जिन बातोंमें है, उनको बढ़ावा देना चाहिये। यदि कोई धर्माचरणसे च्युत होता है तो उसको इसके लिये दण्ड मिलना चाहिये। सरकार दण्ड दे या न दे, समाजको, ब्राह्मणसमुदायको, समाजके धर्मप्रिय समुदायको, उसे दण्ड देना चाहिये। कुछ नहीं तो उससे खुलकर सम्बन्ध-विच्छेद कर देना चाहिये। यदि हम धर्मसे सचमुच प्रेम रखते हैं तो उसका यही उपाय है। यमोंसे अन्यत्र धर्मको ढूँढ़ना आत्मवञ्चना है और हमको यह न भूलना चाहिये कि आत्मवञ्चना परवञ्चनाकी पहली सीढ़ी है।

एक बात और। मैंने जो पूजा-पाठके सम्बन्धमें कहा है, उससे किसीको यह न समझना चाहिये कि मैं उपासनाका विरोधी हूँ; ऐसा नहीं है। मैं मनुष्य-जीवनको सार्थक बनानेके लिये उपासनाको परमावश्यक समझता हूँ। परंतु

कौन-सी उपासना ? इस सम्बन्धमें भी मनुकी ही बातको प्रमाण मानता हूँ । उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है —

अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम् ।

—योगके द्वारा आत्मसाक्षात्कार करना सबसे बड़ा धर्म है । जो लोग धर्मका चर्चा करते हैं और साथ ही इसकी उपासनाको भी धर्मके अङ्गोंमें महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं, जैसा कि देना चाहिये, उन्हें इस परम धर्म योगकी शरणमें आना चाहिये । परम धर्मको छोड़कर क्षुद्र धर्मोंकी ओर जाना उसी प्रकारका काम होगा जिसको कि तुलसीदास-जीने यों कहा है—

गुंजा गहहिं परस मनि खोई ।

धर्मकी एक अचूक कसौटी है । वह हमारे ध्यानमें प्रायः बहुत कम आती है । भले ही इस विश्वके सभी प्राणी ब्रह्मसे अभिन्न हों, परंतु हमको इस अभेदका प्रायः अनुभव नहीं होता । अपने छोटे-छोटे 'स्व'में प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार भूला रहता है कि उसको उस महान् 'स्व'का पता नहीं लगता । वह पुरुष बहुत भाग्यवान् है, जो समाधिके द्वारा आत्मसाक्षात्कार करता है । कभी-कभी किसी उच्च कोटिके कलाकार या विचारकको भी थोड़ी देरके लिये उस परम सत्यकी झलक दीख पड़ जाती है । इसके सिवा एक और अवस्था शुद्ध धार्मिक काम करनेके समय सामने आती है । व्यवहारमें पति-पत्नी या माता और संततिमें एक प्रकारका तादात्म्य होता है । इन युगलोंमेंसे माता संततिके लिये, पत्नी पतिके लिये और पति पत्नीके लिये हँसते-हँसते प्राणको न्योछावर कर सकता है; परंतु जहाँ इस प्रकार दो प्राणियोंका तादात्म्य है, वहाँ युगपत् अन्य सारे प्राणियोंसे बिलगाव है । माताके लिये उसकी संतान सब कुछ है और उसके लिये वह सारे विश्वसे लड़ सकती है । यही दशा पति और पत्नीके बीचमें होती है । अपना प्रेमपात्र एक ओर और सारा विश्व दूसरी ओर । परंतु जब सचमुच कोई व्यक्ति किसी पूर्णतया धार्मिक कामको करता है—और यह स्मरण रखना चाहिये कि सच्चा धार्मिक काम निश्चय ही निष्काम होगा—तो उस समय उसका एकके साथ तादात्म्य तो होता है, परंतु दूसरोंके साथ बिलगाव नहीं होता । यदि कोई व्यक्ति डूब रहा हो या जलते घरमें आगसे घिर गया हो और इस दृश्यको देखकर कोई दूसरा व्यक्ति एकाएक उसको बचानेके लिये पानी या आगमें कूद पड़े तो उस समय उसको उस आपन्न व्यक्तिके साथ तादात्म्य होगा, परंतु समूचे विश्वसे बिलगाव नहीं होगा । उतनी देरके लिये इस नानात्वपूर्ण विश्वका उसके लिये अभाव हो जायगा और इस प्रकार क्षणभरके लिये उसको अभेदका दर्शन हो जायगा । उस क्षणमें विश्वका वास्तविक मूल रूप उसके सामने आ जायगा और वह भेदभावोंसे ऊपर उठ जायगा । सच्चे धार्मिक कर्मकी यह सबसे बड़ी पहचान है ।

श्रेष्ठतमसे भी श्रेष्ठ आदर्श

(लेखक—महामहिम श्रीविश्वनाथदास, राज्यपाल, उत्तरप्रदेश)

मानव-मस्तिष्क निरन्तर ऊँचे-से-ऊँचे और सर्वोत्कृष्ट आदर्शकी खोजमें है । अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त व्यक्तिकी गवेषणा उसके सामने ईसामसीहका आदर्श उपस्थित करती है, जिसको ईसाई समाजने मानव-जातिके सम्मुख प्रस्तुत किया है—क्रासपर लटके हुए ईसाका आदर्श, जब कि वे अपने हत्यारोंके लिये प्रार्थना करते हैं—'पिता ! उन्हें क्षमा कर; क्योंकि वे नहीं जानते, उन्हें क्या करना चाहिये ।' जिस क्रासपर लटके हुए ईसामसीह उनको दी हुई यन्त्रणाओंको क्षमा करते हुए अपने हत्यारोंके लिये प्रार्थना करते हैं, वह क्रास परमोदात्त भावनाओंको उत्सृष्ट करता है । वे ऐसा यह सोचकर करते हैं कि हत्यारे योजना बनानेवाले प्रधान धर्माधिकारीके केवल आदेशपालक थे । बहुत कुछ इसीके समान चित्र शरशय्यापर पड़े हुए पितामह भीष्मका मिलता है—(जिसका महाभारतमें बहुत अच्छी तरह उल्लेख हुआ है)—जहाँ वे अपनेपर बरसाये हुए भयानक प्रहारोंको भूलकर पाण्डवोंको आशीर्वाद देते हैं । इससे अधिक, वे राजधर्म और मुख्य धर्मका उपदेश भी देते हैं । फिर श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके गोपलीला-प्रसङ्गमें कालिय-दमनका चित्र सामने आता है । यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण संसारकी भलाईके लिये अपनी जान जोखिममें डालकर अपने ऊपर विपत्ति मोल लेते हैं । ये सब परम्परासे प्राप्त सर्वोच्च एवं सर्वोत्कृष्ट आदर्शोंके चित्र हैं ।

वर्तमान युगकी देन

इस क्षेत्रमें वर्तमान युगकी अपनी अलग देन है । यह है दम तोड़ते हुए महात्मा गाँधीका चित्र । गोडसेकी गोली खानेपर बिना किसी द्वेषके उनके मुखसे 'हा राम' की ध्वनि निकलती है ।

ये आदर्श निस्संदेह उदात्त, उत्तम एवं उदार हैं; परंतु ये सभी पीछे हट जाते हैं भगवान् श्रीकृष्णके लीला-संवरणके उस महिमामय चित्रके सामने, जो एक ऐसे अपूर्व आदर्श, ऐसे महान् दृष्टिकोण एवं मृत्युकी एक ऐसी विलक्षण व्याख्या उपस्थित करता है, जैसा संसारने अबतक कहीं नहीं देखा-सुना। श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धके ३०वें अध्यायमें इस चित्रका विशद चित्रण हुआ है।

भगवान् श्रीकृष्णके लीला-संवरणका चित्र

श्रीबलरामजीके परम-पदमें लीन हो जानेके बाद भगवान् श्रीकृष्ण चतुर्भुजरूप धारणकर सारी दिशाओंमें छिटकती हुई अपनी दिव्य ज्योतिसे धूमसे रहित अग्निके समान सुशोभित हुए पीपलके वृक्षकी छायामें मौन होकर धरतीपर ही बैठ गये।

उस समय उनके सजल जलधरके समान श्यामवर्ण दिव्य मङ्गल-शरीरसे तप्त सुवर्णकी-सी ज्योति निकल रही थी। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न था और वे धोती तथा चादर—दो रेशमी वस्त्र धारण किये हुए थे। उनके नील अलकावलिमण्डित मुखारविन्दपर सुन्दर मुसकान छायी थी। कमलदलके समान सुन्दर नेत्र थे और कानोंमें मकराकृति कुण्डल झिलमिला रहे थे। शरीरमें यथास्थान करधनी, यज्ञोपवीत, मुकुट, कंगन, बाजूबंद, हार, नूपुर, अँगूठियाँ और कौस्तुभमणि आदि आभूषण विराजित थे। घुटनोंतक वनमाला सुशोभित थी तथा शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म आदि आयुध मूर्तिमान् होकर सेवामें उपस्थित थे। उस समय भगवान् अपने बायें चरणारविन्दको दाहिनी जङ्घापर रक्खे विराजमान थे। उनका लाल-लाल चरणारविन्दका तलवा चमक रहा था।'

जरा नामक व्याधने भगवान्को भ्रमसे विश्राम करता हुआ हरिण मानकर बाण छोड़ा, जो आकर उनके तलवेको लगा और रक्तकी धारा छूट पड़ी। शीघ्र ही व्याधको अपनी भूलका पता चल गया। दौड़ता हुआ आकर उनके चरणोंपर इस दुर्घटनाके लिये आँसू बहाता और चीत्कार करता हुआ दण्डवत् गिर पड़ा। वह अपनेको शाप देने लगा और निकृष्टतम महापापी घोषित करने लगा। उसने कहा—'मधुसूदन! मुझसे अनजानमें यह अपराध हो गया। मैं महापापी हूँ। आप परम यशस्वी और निष्पाप हैं। कृपापूर्वक मेरा अपराध क्षमा कीजिये। हे विष्णो! हे प्रभो!! जिन आपके स्मरण-मात्रसे मनुष्योंका अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है, हाय! उन्हीं स्वयं आपका ही मैंने अनिष्ट कर दिया।'

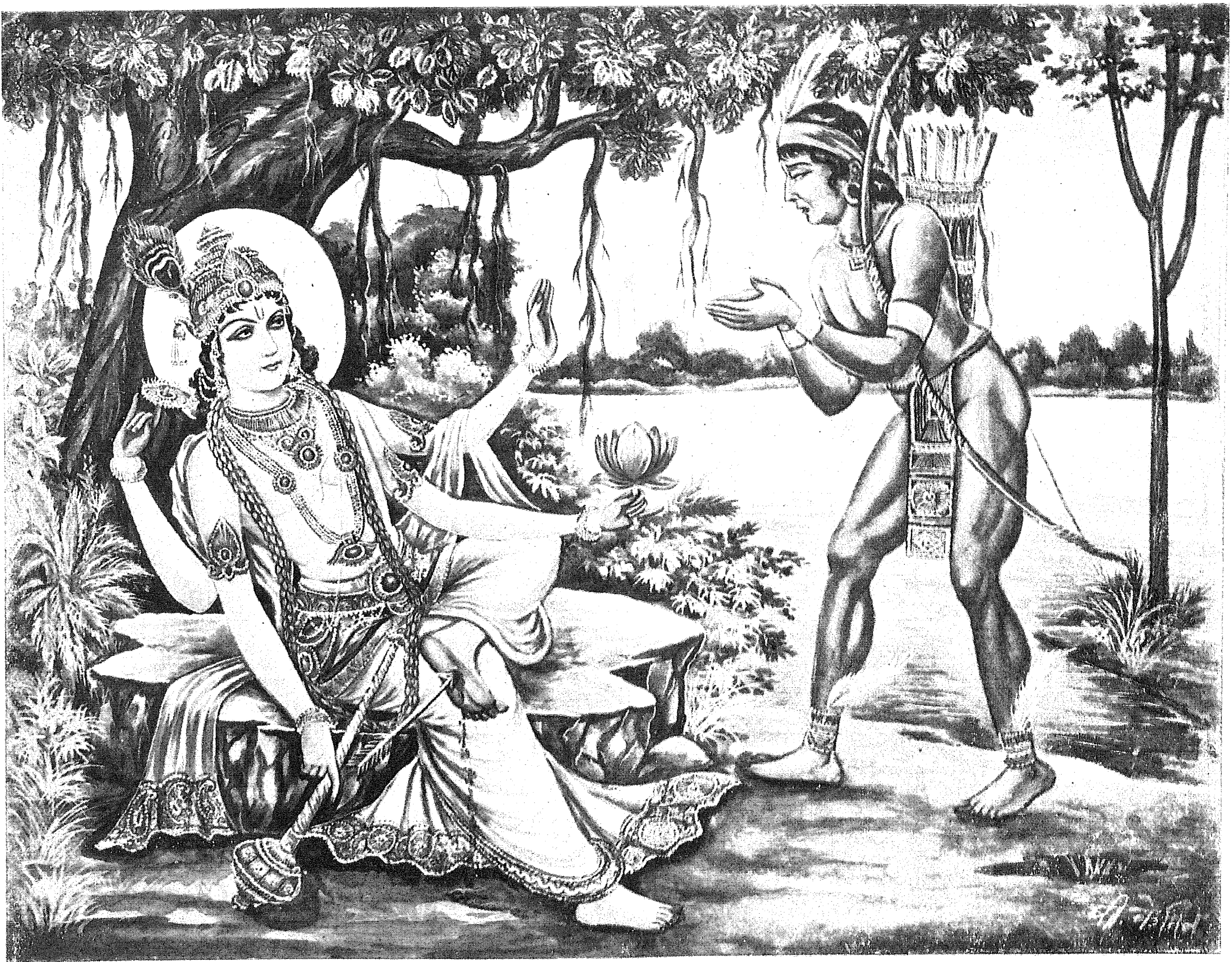
अमर्षरहित भगवान्ने तुरंत उठाकर व्याधको छातीसे लगा लिया और जैसे उसने कोई अपराध ही नहीं किया, इस रूपमें वे उसे सान्त्वना देने लगे। भगवान् बोले—

मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे।
याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम्॥
(श्रीमद्भागवत ११। ३०। ३९)

'जरे! उठ, उठ, तू डर मत। यह तो तूने मेरे मनका काम किया है—मेरी इच्छाकी पूर्ति की है। जा, मेरी आज्ञासे तू उस स्वर्गमें निवास कर, जिसकी प्राप्ति बड़े-बड़े पुण्यवानोंको होती है।'

'मेरी इच्छा' की पूर्तिका आशय यह है कि भगवान् यही चाहते थे कि उनके लौकिक शरीरका तिरोभाव उसी विधिसे हो, जिसे जरा व्याधने अपनाया था। चूँकि उसके बाणने उनकी—भगवान्की इच्छाकी पूर्ति की है, इसलिये उसे पुरस्कार मिल रहा है और उसे स्वर्गका अधिकारी बनाया जा रहा है! मृत्युकी जो व्याख्या यहाँ दी गयी है, उससे अधिक उदार, शान्तिप्रद, उदात्त, सान्त्वना-प्रदायिनी एवं महिमामयी व्याख्या दूसरी नहीं हो सकती। यहाँ एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत है, जहाँ बाणविद्ध तथा मृत्युके द्वार-पर पहुँचा हुआ व्यक्ति क्रोधके समस्त विचारोंसे मुक्त होकर अपनेपर घातक प्रहार करनेवालेको सान्त्वना ही नहीं देता, उसे प्रेमसे भुजाओंमें भरता और पुरस्कार भी देता है।

इस आदर्शसे कि भगवान्की यही इच्छा थी कि वे अपने लौकिक देहको इसी प्रकार अन्तर्धान कर देंगे, इसमें अपराधीको तथा इधर इनके परिजनोंको भी शान्ति मिलती है, क्रोध, प्रतिशोध और कलहके सारे संकल्प ढह जाते हैं, सामाजिक जीवनमें एकतारता आती है तथा समाज एवं संसारकी भी एकता और एकरागता बनी रहती है। इन सब बातोंसे यह समझमें आ जाता है कि श्रीकृष्णके लीला-संवरणका यह चित्र सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट आदर्शवादका प्रतिपादन करनेवाले अन्य सभी चित्रोंसे कहीं उत्तम है। यह श्रेष्ठतमसे भी श्रेष्ठ आदर्श है।



भगवान श्रीकृष्णकी अनुपम उदारता

धर्मका वास्तविक अर्थ

[अनाचारका निराकरण]

(लेखक—माननीय श्री श्रीप्रकाशजी)

धर्म-शब्द बड़े व्यापक अर्थमें प्रयोग होता रहा है। इस कारण यदि एक तरफ इसका बहुत बड़ा महत्त्व है तो दूसरी तरफ इसको समझना कठिन भी है। साधारण प्रकारसे इसका अर्थ अंग्रेजीमें 'रेलिजन' और फारसीमें 'मज़हब' बतलाया जाता है; पर यदि इन शब्दोंके पर्याय-स्वरूप 'सम्प्रदाय' शब्दका प्रयोग हो तो सम्भवतः अधिक उपयुक्त होगा। हमारे यहाँ सभी बातों, चीजों और परिस्थितियोंमें 'धर्म' शब्दका प्रयोग कर दिया जाता है। इसी कारण मैक्समूलरने कहा कि 'हिंदू सोने-जागने, उठने-बैठने, खाने-पीने, चलने-फिरने—सबमें ही धर्मका संनिवेश करता है।' भगवद्गीतामें कितने ही स्थानोंपर 'धर्म' शब्दका अर्थ 'कर्तव्य' प्रतीत होता है। रीति-रस्म, आचार-विचार, प्रतिदिनके साधारण-से-साधारण कार्यके सम्बन्धमें हम कहते हैं कि ऐसा करना, न करना धर्म अथवा अधर्म है।

सभी मनुष्य-समुदायोंमें धार्मिक शिक्षा आवश्यक मानी जाती है। इस शिक्षाके अन्तर्गत गृहस्थ और अध्यापक अपने संततियों और विद्यार्थियोंको बतलाते हैं कि हमारे धर्मके अनुसार संसारकी सृष्टि अमुक प्रकारसे हुई। हमारे धर्मके प्रवर्तक अमुक-अमुक हुए, जिनका हमें सम्मान करना चाहिये। हमारे धर्मके अमुक-अमुक बाह्यचिह्न हैं, जिन्हें हमें धारण करना चाहिये और हमारे धर्मके अनुसार उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय इस प्रकार माना गया है और इसीके अनुसार सबको चलना चाहिये। थोड़ेमें जिस प्रकरणको हम धर्म समझते हैं, उसके द्वारा हमें बतलाया जाता है कि संसारकी सृष्टि कैसे हुई, अपने धर्मावलम्बियोंको पहचाननेका क्या चिह्न है और हमारा नैतिक आचरण कैसा होना चाहिये। इस प्रकारकी शिक्षापर सभी जगह बहुत जोर दिया जाता है। इंग्लैंडके १९वीं शताब्दीके जो नास्तिक वैज्ञानिक थे, वे भी अपने ईसाई धर्मग्रन्थ बाइबिलसे पूर्ण-रूपसे परिचय रखते थे। चाहे वे सृष्टिके सम्बन्धकी उसकी बातोंको मानें या न मानें, चाहे धर्मके बाह्य आचार-विचारोंका पालन करें या न करें, उसकी बतलायी नैतिकताके अनुसार ही वे आचरण करते थे। सब धर्मोंका मूल उद्देश्य यही है कि हमारा नैतिक व्यवहार ठीक रहे; क्योंकि इसीके द्वारा मनुष्य-मनुष्यका—परस्परका श्रेष्ठ सम्बन्ध बना रह सकता है। मनुष्य सामाजिक जन्तु है। वह अकेला नहीं रह सकता और समाजको ठीक प्रकारसे चलाना ही धर्मोंका प्रधान लक्ष्य है और इसी कारण यह धर्म और 'रेलिजन' दोनों ही शब्दोंका आधार है। उसका अर्थ यही है कि लोगोंको वह बाँधे रहे।

हमारे यहाँ धर्मका अत्यधिक व्यापक अर्थ होनेके कारण उसका प्रभाव मनुष्यके प्रत्येक पगपर और प्रत्येक काममें पड़ता है। हम सभी स्थितियोंमें लगातार अपनेसे कहते रहते हैं—अथवा अपनेसे कहते रहना चाहिये—'यह हमारा धर्म है'—इस कारण हमें करना चाहिये। 'यह अधर्म है'—इस कारण नहीं करना चाहिये। स्वराज्यके बाद हमने अपने देशमें 'लौकिक राज्य' (सेक्युलर स्टेट) की स्थापना की। इसका कारण यही था कि एक तो धर्मके नामपर हमारे यहाँ बहुत झगड़े होते रहे, जिसके कारण देशका विभाजनतक हो गया। साथ ही, अपने देशमें धर्मके नामसे अनेक सम्प्रदाय हैं, जिन सबको ही हमको बराबर पद देना अभीष्ट था और जिन सबके ही अनुयायियों-को हम समान नागरिक मानना चाहते थे एवं जिन सबको ही हम समान कर्तव्य और अधिकारोंको प्रदान करना चाहते थे। ऐसी अवस्थामें हमने अपनेको 'धर्म-निरपेक्ष' राज्यका पद प्रदान किया और यह घोषित किया कि राज्यकी तरफसे किसी धर्म अथवा सम्प्रदायको विशिष्ट पद न दिया जायगा और न राज्यसे सहायता पानेवाली किसी संस्थामें किसी विशेष सम्प्रदायकी शिक्षा दी जायगी।

यहाँतक तो सिद्धान्तकी बात हुई, पर सिद्धान्त ही पर्याप्त नहीं होता। उसके परिणामको भी देखना होता है। मनुष्य अपनी करनीसे परखा जाता है, कथनीसे नहीं। महात्मा गांधीजी कहा करते थे कि 'प्रचार'से अधिक महत्त्व 'आचार'का है। अंग्रेजीमें कहते हैं कि 'उदाहरण' (एग्ज़ाम्पुल) 'उपदेश' (प्रिसेप्ट) से अधिक अच्छा है। इस समय देशमें हर प्रकारके अनाचार, भ्रष्टाचार, अनुचित महत्त्वाकाङ्क्षा आदिकी शिकायत हो रही है। सब लोग इससे परेशान हैं। सब लोग इसे जानते हैं, पर इसके उन्मूलनका कोई प्रकार नहीं बतला पाते। ऐसी दुर्भावना इतनी व्यापक हो गयी है कि उससे लज्जा न करके हम गर्व करने लगे हैं और यदि अनुचित कार्योंद्वारा कोई सफल हो जाता है तो वह अपनी स्थितिपर अभिमान तो रखता ही है, अन्य लोग भी उसको सम्मानका स्थान देते हैं और उसकी प्रशंसा करते हैं।

किसी दूसरे देश और कालमें यह स्थिति अशोभनीय समझी जाती या यदि किसी विदेशीको यह एकाएक बतलाया जाय तो वह विश्वास भी न करे कि ऐसा सम्भव है। पर

ऐसी स्थिति वास्तवमें है, इसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। अनुसंधान करनेपर यही प्रतीत होता है कि हमें धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती। धर्मका पद जो हमारे घरोंमें, हमारी पाठशालाओंमें, हमारे व्यवसायोंमें, हमारे समाजमें था, अब नहीं रह गया। धर्मनिरपेक्ष राज्यके नामसे हमने धर्मको ही अपने जीवनसे हटा दिया। अवश्य ही यह कहा जायगा कि भौतिक (सेक्युलर) स्टेटका यह अर्थ नहीं है कि सब लोग ईश्वरको भुला दें या अपने-अपने सम्प्रदायोंके नैतिक आदेशोंके अनुसार न चलें। पर वास्तवमें हुआ यही है कि हम (हिंदू तो) सारा सदाचार ही भूल गये हैं। मुसल्मान, ईसाई और अन्य-धर्मावलम्बी अपनी संततियोंको अपने धर्मके मूल सिद्धान्तोंको बतलाते हैं, उचित-अनुचितपर भी ध्यान दिलाते हैं। पर हिंदू-समाज इतनी अनन्त जातियों, उपजातियों, सम्प्रदायों आदिमें विभक्त हो गया है कि उसमेंसे सारी धार्मिक भावनाएँ जाती रहीं। हिंदुओंमें न आचारकी एकता है, न विचारकी एकता है। सबके ईश्वरोपासनाके प्रकार, समय आदि पृथक्-पृथक् हैं। यदि कोई इनका पालन न करे तो भी वह हिंदू ही कहा जायगा, यदि उसका जन्म हिंदू-कुलमें हुआ हो और उसने अपने धर्मको स्वयं ही छोड़ न दिया हो।

धार्मिक भावनाओंकी शिक्षा-दीक्षा न होनेके कारण धर्म-विपरीत आचरणोंका समाजकी तरफसे विरोध न होनेके कारण ही हमारी यह दुर्गति हो रही है। अनाचार, भ्रष्टाचार आदि तो तभी दूर हो सकते हैं, जब अनुचित कार्य करनेकी वासना होते हुए ही हम यह अनुभव करें और अपनेसे कहें कि 'यह अधर्म है, इसे नहीं करना चाहिये।' समाजका नैतिक स्तर भी तभी ऊँचा हो सकता है, जब अधिकतर लोग उसमें ऐसे हों, जो अनाचारी, भ्रष्टाचारीको अपनेसे अलग रखनेको उद्यत हों। हम मानते हैं कि सम्प्रदायविशेषोंमें स्रष्टा, अवतार, बाह्य चिह्न आदि जो बतलाये गये हैं, उनकी शिक्षा हम अपने सार्वजनिक संस्थाओंमें न दें; पर हमारा धर्मनिरपेक्ष राज्य भी भौतिकतापर जोर देता हुआ यह नहीं कहता और न यह कह सकता है कि हमें नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा भी न मिले। 'रेलिजन' और 'रेलिजस एजूकेशन' अर्थात् सम्प्रदाय और साम्प्रदायिक शिक्षाको हम चाहें तो दूर रक्खें, पर राज्यकी भी संस्थाओंमें हमें नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा तो मिलनी ही चाहिये, जिससे हम अच्छे और सच्चे नागरिक बन सकें। साथ ही यह भी आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके गृहस्थ अपनी संततियोंको अपने सम्प्रदायविशेषके मौलिक सिद्धान्तों-को बतलावें और समझावें एवं नैतिकता तथा आध्यात्मिकता-पर विशेष जोर दें, जिससे कि सब लोग यह मानने लगें कि सब धर्मोंके मौलिक आधार एक ही हैं, सबके लक्ष्य भी एक ही हैं और हमें परस्पर प्रेम और भ्रातृभावसे रहना चाहिये, जिससे कि हम अपने देशसे सब अनुचित आचार-विचारको दूर करें, देशको सुन्दर और उज्ज्वल बनावें और वास्तविक एकताकी स्थापना करके अपनी स्वतन्त्रताको अक्षुण्ण बनाये रक्खें।

गीता-धर्म*

(लेखक—पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥†

(गी० अ० १, श्लो० १)

छप्पय

श्रीराजा धृतराष्ट्र कहैं संजय तैं बानी।
ब्यास कृपा तैं तुमनि सकल रन-बार्ता जानी ॥
चल चित्रनि के सरिस लखौ घर बैठे सब तुम।
अब सब देहु बताइ जथारथ, जो पूछें हम ॥
धरमछेत्र कुरुछेत्र में, सजि बजि कें नृपगन गए।
सब छत्रिय रन बाँकुरे, रनहित ते बारे भए ॥

यह संसार रणाङ्गण है। इस समरभूमिमें कोई ऐसा नहीं है, जो युद्ध न कर रहा हो। कोई धर्मके साथ, कोई अधर्मके साथ, कोई धनके लिये, कोई कामके लिये और कोई मोक्षके लिये—सब लड़ रहे हैं। नरका काम ही है लड़ाई करना। युद्धक्षेत्रमें आये और लड़े नहीं, समरभूमिमें प्रवेश करे और रणसे पराङ्मुख हो, यह हो ही कैसे सकता है। कभी-कभी मोहवश, कृपावश तथा अज्ञानवश नर जूआ डाल देता है। युद्धसे विरत होनेकी चेष्टा करता है। विषण्ण-वदन होकर अस्त्र-शस्त्र डाल देता है। उस समय नरके सनातन सखा उसे युद्धके लिये प्रोत्साहित करते हैं, युद्धको आवश्यक धर्म बताते हैं और धर्मका मर्म बतलाते हुए उसे लड़नेको प्रेरित करते हैं। नर विषण्ण हो जाता है, नारायण हँसते रहते हैं। जीवका धर्म ही है चिन्ता करना—विषादमें

* गीताके प्रथम श्लोकपर विचार।

† धृतराष्ट्रजीने पूछा—हे संजय! धर्मक्षेत्र जो कुरुक्षेत्र है, उसमें युद्धकी इच्छासे एकत्रित हुए मेरे पुत्र तथा पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया?

विह्वल होना। ईश्वरका स्वभाव है प्रसन्न रहना—हँसते रहना। चिन्तामें रोना आता है, हँसीमें गीत प्रस्फुटित होता है। जीवका धर्म है रोना, ईश्वरका धर्म है हँसते हुए गीत गाना। भगवद्-धर्म होनेसे भगवान्‌के गाये गीतको भगवद्-गीता कहते हैं। उस भगवद्-गीताको जिसने समझ लिया, उसका मोह नष्ट हो जाता है। मैं नारायणका सनातन सखा हूँ, जिसकी उसे विस्मृति हो गयी थी, उसकी स्मृति पुनः जाग्रत् हो जाती है। यह सब भगवत्प्रसादसे—प्रभु-कृपासे ही सम्भव है। जीव अपने पुरुषार्थसे शिवको कैसे समझ सकता है, जिसको वे ही समझाना चाहें वही समझ सकता है; जिसे वे ही जनाना चाहें, वही जान सकता है। वही भगवत्-आज्ञाओंका पालन कर सकता है। उसे जयशील—जिसकी सदा जय ही होती रहती हो, जिसकी कभी पराजय न हो, वही कह सकता है। पूछनेवाला प्रज्ञाचक्षु होना चाहिये और जिसने बलपूर्वक राष्ट्रपर अधिकार जमा लिया हो अर्थात् जो धर्मका मर्म जानता तो हो, किंतु मोहवश उसका पालन करनेमें अपनेको असमर्थ पा रहा हो। वही पूछता है। शौनकजीके गीता-सम्बन्धी प्रश्नको सुनकर सूतजीने कहा—'मुनियो! भरत-वंशमें शंतनु नामके धर्मात्मा राजा हो चुके हैं। उनका विवाह भगवती सुरसरि गङ्गाजीसे हुआ। उनके गर्भसे आठ पुत्र—अष्टवसु उत्पन्न हुए। सातको तो जन्मते ही गङ्गादेवीने परलोक पठा दिया, आठवें शेष रहे। उनका नाम देवव्रत था। वे बड़े धर्मात्मा, शूरवीर तथा पितृभक्त थे। उनको उत्पन्न करके उनकी माँ गङ्गा अन्तर्हित हो गयीं। उनके पिता निषादकी पालिता पुत्रीपर आसक्त हो गये। निषादसे जब महाराजने विवाहका प्रस्ताव किया, तब निषादने इस शर्तपर कन्या देना स्वीकार किया कि मेरी पुत्रीसे जो पुत्र हो, वही राज्यका अधिकारी हो। इतने योग्य ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुत्रके रहते पिता इस अनुचित शर्तको कैसे स्वीकार करते, वे उदास होकर चले आये। राजकुमार देवव्रतको जब यह सब वृत्तान्त विदित हुआ, तब उन्होंने निषादके सम्मुख यह भीष्म प्रतिज्ञा की कि 'मैं विवाह न करूँगा, आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करूँगा।' इसपर निषादने अपनी कन्या राजकुमारके पिताके निमित्त दे दी। पुत्रने अपने पिताका विवाह कराया। भीष्म प्रतिज्ञा करनेसे ही देवव्रत भीष्मके नामसे विख्यात हो गये।

निषादकन्या सत्यवतीके गर्भसे दो पुत्र चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य हुए। एक तो बाल्यकालमें ही युद्धमें मारे गये। दूसरेका विवाह भीष्मने काशिराजकी दो कन्याओंके साथ कराया। वे भी राजरोगसे परलोकगामी हुए। तब सत्यवतीने अपने कानीन पुत्र भगवान् व्यासद्वारा विचित्रवीर्यकी दोनों पत्नियोंसे आपद्धर्म समझकर दो पुत्र उत्पन्न कराये। बड़ेका नाम धृतराष्ट्र था, जो जन्मान्ध थे। छोटेका नाम पाण्डु था, जो वर्णमें पीतवर्णके थे। जन्मान्ध होनेसे बड़े होनेपर भी धृतराष्ट्र सिंहासनके अनधिकारी हुए, पाण्डु ही भरतवंशके सिंहासनपर बैठे। वे बड़े मृगयाप्रेमी थे; अतः राज्यकी रेख-देख अपने बड़े अंधे भाईको सौंपकर वे वनमें चले गये। वहाँ उनके धर्म, वायु, इन्द्रके द्वारा कुन्तीमें युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन—ये तीन और माद्रीसे अश्विनी-कुमारोंद्वारा नकुल और सहदेव, ये दो—इस प्रकार पाँच पुत्र हुए, जो पाण्डव कहलाये। धृतराष्ट्रके व्यासजीकी कृपासे सौ पुत्र हुए, उनमें दुर्योधन सबसे बड़ा था। ये सब कौरव कहलाये। धृतराष्ट्रके परम बुद्धिमान् मन्त्रीका नाम संजय था, जो सूत जातिके थे। महाराज पाण्डुके परलोकगमनके अनन्तर वनवासी ऋषिगण पाँचों पाण्डवोंको और महारानी कुन्तीको हस्तिनापुरमें भीष्मके समीप पहुँचा गये। नकुल-सहदेवकी माता माद्री अपने पतिके साथ सती हो गयी, अतः पाँचों पाण्डवोंका पालन-पोषण कुन्तीने ही किया। इन पाँचों भाइयोंमें अत्यन्त स्नेह था।

दुर्योधनादि सौ भाई थे। यद्यपि महाराज पाण्डु अपने अंधे भाई धृतराष्ट्रको राज्य दे नहीं गये थे—वे तो अंधे होनेके कारण राज्यके अनधिकारी थे, फिर भी राज्यपर अधिकार धृतराष्ट्रका ही था। अंधे होनेके कारण राज-काज दुर्योधन ही करता था। अब राज्यके प्रधानाधिकारी पाण्डव आ गये थे। दुर्योधन चाहता था इन्हें मरवाकर मैं निष्कण्टक राज्य करूँ। राज्यके प्रधान मन्त्री विदुरजी थे, वे पाण्डवोंसे स्नेह करते थे। कौरवोंने षड्यन्त्र रचकर पाण्डवोंको लाक्षागृहमें भेजकर मरवा डालना चाहा। किंतु विदुरजीकी कुशलतासे तथा भगवान्‌की कृपासे पाँचों पाण्डव अपनी माता कुन्तीके सहित वहाँसे छिपकर निकल गये और ब्राह्मणवेषमें भिक्षापर निर्वाह करते हुए आपद्धर्मका पालन करने लगे। १२ वर्षतक वे वेष बदलकर घूमते रहे। दुर्योधनने समझा, ये सब मर गये। उसने झूठे आँसू बहाये और बड़ी धूम-धामसे दिखावेके लिये इनके श्राद्धादि कर्म भी कर दिये। ब्राह्मणोंको बहुत-सा दान भी दिया।

महाराज द्रुपदकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अयोनिजा कन्या द्रौपदीके स्वयंवरमें ब्राह्मणवेषधारी अर्जुनने द्रुपदके प्रतिज्ञानुसार मत्स्यवेध करके द्रौपदीको प्राप्त कर लिया। वह द्रौपदी पाँचों पाण्डवोंकी पत्नी हुई। बहुत कहा-सुनीके पश्चात् धृतराष्ट्रने आधा राज्य पाण्डवोंको दे दिया। वे इन्द्रप्रस्थमें अपनी राजधानी बनाकर बड़ी धूमधामसे राज्य करने लगे। वहीं धर्मराजने सर्वश्रेष्ठ राजसूय-यज्ञ किया। दुर्योधन

उस यज्ञमें भेंट लेनेपर नियुक्त था। पाण्डवोंके ऐसे अपार, अद्भुत अभूतपूर्व ऐश्वर्यको देखकर उसे मन-ही-मन बड़ा डाह—अत्यन्त ईर्ष्या हुई। उसने अपने मामा शकुनिकी सहायतासे द्यूतसभा बनाकर पाण्डवोंको जीत लिया। उन्हें १२ वर्षका वनवास और एक वर्षका अज्ञातवास देकर राज्यसे निकाल दिया गया। उन दिनों युद्धकी ही भाँति जूआ भी क्षत्रियोंके लिये प्रतिष्ठाकी वस्तु माना जाता था। कोई भी मनस्वी धर्मात्मा क्षत्रिय युद्धके लिये तथा द्यूतके लिये ललकारनेपर पराङ्मुख नहीं हो सकता था। प्रणके अनुसार १२ वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास भोग लेनेके पश्चात् जब पाण्डवोंने अपना राज्य माँगा; तब दुर्योधनने भाँति-भाँतिके बहाने बनाकर राज्य देनेसे इनकार कर दिया। शान्तिके लिये पाण्डवोंकी ओरसे अनेक उपाय किये गये। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण दूत बनकर कौरवोंकी सभामें गये। केवल पाँच भाइयोंके लिये पाँच ही गाँव उन्होंने माँगे। वह भी दुर्योधनके अधीन रहकर केवल निर्वाहके लिये, क्षत्रियधर्मकी रक्षाके लिये उन्होंने एक-एक ग्राम माँगा था। धर्मराजका कहना था, 'जब हम असमर्थ थे, तब आपद्धर्मके अनुसार ब्राह्मणवेषमें भिक्षापर निर्वाह करते थे। अब तो हम समर्थ हैं। प्रजापालन क्षत्रियका धर्म है, अतः हम दूसरी वृत्ति पालन करके अधर्म न करेंगे। हमें निर्वाहमात्रको भूमि दे दो, जिससे हमारे धर्मकी रक्षा हो जाय।' किंतु दुर्योधनने स्पष्ट निर्भीक होकर दो टूक बात कह दी—'मैं युद्धके बिना सुईकी नोंकसे जितनी भूमि छिद जाती है उतनी भी न दूँगा।' तब दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ होने लगीं। धृतराष्ट्र तथा पाण्डु दोनों ही धर्मतः भगवान् व्यासके पुत्र थे। अतः व्यासजीने जब देखा युद्ध होना अवश्यम्भावी है, तब वे धृतराष्ट्रके समीप गये और बोले—'बेटा! देखो, तुम्हारे दुर्बुद्धि पुत्र दुर्योधनके कारण यह युद्ध अवश्य होगा, इसे कोई टाल नहीं सकता। ये सभी नृपतिगण कालके विकराल गालमें जानेवाले हैं। मैं योगबलसे देख रहा हूँ, इन सबकी आयु समाप्त हो रही है। अतः तुम चिन्ता मत करना।'

धृतराष्ट्रने कहा—प्रभो! मेरे सम्मुख यह अनर्थ होगा, बड़े दुःखकी बात है। अंधा होनेसे मैं प्रत्यक्ष तो देख न सकूँगा। फिर भी मुझे महान् क्लेश तो होगा ही।

भगवान् व्यासजीने कहा—राजन्! यदि तुम इस युद्धको प्रत्यक्ष देखना चाहो, तो मैं अपने योगबलसे तुम्हें दृष्टि दे सकता हूँ, जिससे तुम सभी घटनाओंको यथार्थ रूपमें देख सकोगे।

धृतराष्ट्रने कहा—ब्रह्मन्! जब जीवनभर मैंने संसारको नहीं देखा, तब अपने कुलके नाशको इन फूटी आँखोंसे क्यों देखूँ। मेरी इच्छा देखनेकी तो है नहीं, किंतु मैं युद्धके सभी वृत्तान्तोंको ज्यों-के-त्यों सुनना अवश्य चाहूँगा। यदि आपका अनुग्रह हो जाय तो मेरी यह इच्छा भी पूर्ण हो सकती है।

सर्वज्ञ सर्वसमर्थ भगवान् व्यासदेवने राजा धृतराष्ट्रसे कहा—राजन्! तुम अपनी आँखोंसे देखना तो चाहते नहीं, किंतु युद्धके यथार्थ–ज्यों-के-त्यों वृत्तान्त सुनना चाहते हो, तो मैं तुम्हारे सारथि, निजी सचिव सूत संजयको दिव्य दृष्टि दिये देता हूँ। ये घर बैठे ही युद्धकी समस्त बातोंको प्रत्यक्ष देख सकेंगे। इनसे युद्धकी छोटी बात भी न छिप सकेगी। प्रत्यक्ष हो, परोक्ष हो, दिनमें हो, रात्रिमें हो—ये सब दिव्य दृष्टिसे प्रत्यक्ष देख सकेंगे। ये दूसरोंके मनोगत भावोंको भी जाननेमें समर्थ होंगे। यदि ये युद्धमें चले भी जायँ तो इनके शरीरमें शस्त्रका आघात भी न लगेगा। ये सदा-सर्वदा युद्धसे सकुशल लौट आयेंगे। तुम अपने अधर्मी पुत्रोंके लिये शोक मत करना। मैं महाभारत लिखकर इनकी कीर्तिको अमर कर दूँगा। जहाँ धर्म है, वहीं जय है; जहाँ अधर्म है, वहाँ पराजय है। आजकल बड़े-बड़े अपशकुन हो रहे हैं। इतना कहकर भगवान् व्यास अपने इष्टस्थानके लिये चले गये।

जब युद्धमें भीष्मपितामह गिर गये, तब महाराज धृतराष्ट्रको सम्पूर्ण युद्धके वृत्तान्त सुननेकी जिज्ञासा हुई। धृतराष्ट्रने अपने मन्त्री संजयसे पूछा—संजय! मेरे पुत्रोंका तथा पाण्डुके पुत्रोंका धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें जो युद्ध हो रहा है और दोनों ही ओरके रणके लिये एकत्रित राजा युद्धोत्सुक हैं, समरपिपासु हैं—वे दोनों वहाँ एकत्रित होकर क्या करते हैं? युद्धके सभी वृत्तान्त मुझे आदिसे ही सुना दो। इसपर शौनकजीने पूछा—'सूतजी! कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र क्यों कहा गया? और इस कुरुक्षेत्रमें ही युद्ध क्यों हुआ?'

इसपर सूतजी कहने लगे—मुनियो! सभी कार्योंके लिये विशेष-विशेष स्थान ही उपयुक्त होते हैं। देशका बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। कोई स्थान भक्तिप्रधान होता है, कोई ज्ञानप्रधान तथा कोई कर्मप्रधान। कहीं जाकर स्वाभाविक दया आ जाती है, कहीं पहुँचते ही वीरता आ जाती है।

ऐसी किंवदन्ती है कि एक बार अर्जुन और श्रीकृष्ण यह देखनेके लिये चले कि युद्ध किस स्थलपर हो; क्योंकि युद्ध भाई-भाइयोंमें ही है, दोनों ओर सभी अपने सगे-सम्बन्धी ही हैं। युद्धके समय मोह-ममता आ गयी तो सब गुड़ गोबर हो जायगा, किया-कराया सब चौपट हो जायगा। स्थान कोई ममताशून्य–माया-मोहसे रहित होना चाहिये। उन दिनों कुरुक्षेत्र केवल अरण्य नहीं था, वहाँ तीर्थस्थान, सरोवर, मन्दिर, वापी, कूप, तड़ाग, खेती आदि सभी थे।

भगवान्ने देखा, एक कृषककी पत्नी रोटी लायी है।

कृषक खेतोंमें पानी दे रहा था। अपनी स्त्रीसे उसने कहा—'तू तबतक मेरे पानीको देख मैं जबतक रोटी खा लूँ।' स्त्री पानीको देखने लगी। कृषक रोटी खाता रहा। स्त्रीकी गोदमें ५-७ महीनेका बच्चा था। एक स्थानसे पानी फूटने लगा। स्त्री बार-बार उसमें मिट्टी डाले वह बह जाय, तब झट उसने अपनी गोदसे बच्चेको उठाकर उस स्थानपर रख दिया। पानी रुक गया। बच्चेको मर ही जाना था। मृतक पुत्रको वैसे ही लगा छोड़कर वह चली आयी। तब भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—'पार्थ! यही स्थान उपयुक्त है।' उसी स्थानको दोनों पक्षोंने स्वीकार कर लिया।

यह स्थान सदासे युद्धस्थल रहा है। सत्ययुगमें भी यह स्थान तीर्थ रहा। विश्वामित्र-वसिष्ठने यहां तप किया, यहीं दोनोंमें युद्ध हुआ। भगवान् परशुरामने इक्कीस बार क्षत्रियोंका वध करके रक्तकी नदी बहायी थी, क्षत्रियोंके रक्तसे पाँच बड़े कुण्ड भरकर उसी रक्तसे पितरोंका तर्पण करके अपने पिताके वधका प्रतिशोध किया। वे पञ्चकुण्ड ही समन्त-पञ्चक तीर्थके नामसे प्रसिद्ध हुए। इस पावन तीर्थका माहात्म्य वेदों, उपनिषदों, शतपथ-ब्राह्मणादि ग्रन्थों तथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है। पहले यह तीर्थ ब्रह्माजीकी 'उत्तर-वेदी' के नामसे विख्यात हुआ। यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा इन्द्रादि देवोंने बड़े-बड़े यज्ञ किये। महर्षि भृगुने भी यहाँ तपस्या की थी, इसलिये बहुत दिनोंतक यह भृगुक्षेत्रके नामसे विख्यात हुआ। फिर महाराज कुरुने इस क्षेत्रको कृषियोग्य बनाया, तभीसे यह धर्म-क्षेत्र कुरुक्षेत्रके नामसे विख्यात हुआ। पुराणोंमें इसकी कथा इस प्रकार है—

भरतवंशमें महाराजा कुरु बड़े ही धार्मिक और प्रजावत्सल सम्राट् थे। प्रजामें धर्मभावना जाग्रत् हो तथा लौकिक उन्नति, धन-धान्यकी समृद्धि हो, इस हेतु उन्होंने इस ब्रह्माकी उत्तरवेदी-ऐसे परम पावन क्षेत्रको आध्यात्मिक शिक्षा तथा तप, सत्य, क्षमा, दया, शौच, दान, योग तथा ब्रह्मचर्यरूप अष्टाङ्ग-धर्मकी कृषि करनेका निश्चय किया। वे सुवर्णमण्डित रथपर बैठकर यहाँ आये। उन्होंने उसी सुवर्णका हल बनाया। अब हल तो बन गया। इसे खींचे कौन? शिवजीने इन्हें बैल दिया। यमराजके पास भैंसा ही था, उन्होंने भैंसा ही दिया। अर्थात् हल या तो बैलोंद्वारा या भैंसोंद्वारा चलाया जाता है। राजा इस धर्मक्षेत्रको धर्मपूर्वक जोत रहे थे। इसी समय देवराज इन्द्र आये और बोले—'राजन्! खेतको जोत तो रहे हो? बीज क्या बोओगे?'

राजाने कहा—'देवेन्द्र! आप घबरायें नहीं, बीज तो मेरे पास ही है।'

यह सुनकर इन्द्र चले गये। राजा धर्मक्षेत्रको जोतते ही रहे। वे सात कोस भूमिको प्रतिदिन कृषिके निमित्त जोत लेते थे। इस प्रकार ४८ कोस भूमिको वे कृषियोग्य बना सके। तब भगवान् विष्णु राजाके ऐसे परिश्रमको देखकर वहाँ पधारे और उनसे पूछने लगे—'राजन्! क्या कर रहे हो?'

राजाने कहा—'भगवन्! मैं अष्टाङ्ग-धर्मकी कृषिके लिये भूमि जोत रहा हूँ।'

भगवान्‌ने पूछा—'राजन्! भूमि तो तैयार कर रहे हो, बीज क्या बोओगे? और वह बीज है कहाँ?'

राजाने कहा—'भगवन्! बीज तो मेरे पास है।'

भगवान् विष्णुने कहा—'उसे मुझे अर्पण कर दो, मैं उसे आपके लिये बो दूँगा।'

राजाने कहा—'प्रभो! ग्रहण करें।' यह कहकर राजाने अपनी दायीं भुजा फैला दी। भगवान्‌ने सुदर्शन-चक्रसे उसे काटकर उसके टुकड़े करके बो दिया। फिर क्रमशः अपनी बायीं भुजा, दोनों पैर और अन्तमें अपना सिर भी दे दिया।

इस प्रकार राजाने अपना सम्पूर्ण शरीर अष्टाङ्ग-योगकी कृषिके लिये भगवदर्पण कर दिया अर्थात् उसे धूलिमें मिला दिया; क्योंकि बिना शरीरको धूलिमें मिलाये, बिना रक्त-पसीना एक किये, बिना कठोर श्रमके धर्मक्षेत्रकी खेती होती नहीं। इसीलिये राजाने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। जो सर्वस्व अर्पण कर देता है, ब्रह्मार्पण कर देता है, उसीसे भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। राजाके ऐसे तप, सत्य, दया, शौच, दान, योग एवं दृढ़ व्रतको देखकर भगवान् उनपर प्रसन्न हुए और राजा कुरुको जीवित करके उनसे वर माँगनेको कहा।

राजाने कहा—'भगवन्! यदि आप मुझसे प्रसन्न हैं तो मुझे चार वर दीजिये। (१) पहला वर तो यह कि जितनी भूमि मैंने जोती है अर्थात् ४८ कोसकी भूमि—यह परम पुण्यक्षेत्र धर्मक्षेत्र हो और मेरे ही नामसे विख्यात हो अर्थात् लोग इसे धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र कहा करें। (२) दूसरा वरदान यह कि भगवान् शिव समस्त देवताओंसहित यहाँ सदा-सर्वदा निवास करें। (३) तीसरा वर यह कि यहाँ व्रत, उपवास, स्नान, जप, तप तथा शुभाशुभ जो भी कर्म किये जायँ वे अक्षय हो जायँ। (४) चौथा यह कि जो भी यहाँ मृत्यु-को प्राप्त हो, वह अपने पाप-पुण्यके प्रभावसे रहित होकर स्वर्गगामी हो।

भगवान्ने 'तथास्तु' कहकर राजाको चारों वर दे दिये। तभीसे यह अति पावन क्षेत्र धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रके नामसे विख्यात हुआ।

ब्रह्माजीने सोचा—ये कलियुगी क्षत्रिय घरोंमें खाटपर पड़े-पड़े मरेंगे तो सभीको नरक होगा। ब्राह्मणको तपस्या करते-करते मरना चाहिये, क्षत्रियको सम्मुख समरमें हँसते-हँसते प्राणोंका परित्याग करना चाहिये। महाभारतका युद्ध धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें इसीलिये कराया कि यहाँ जो भी मरेगा, उसीको स्वर्गकी प्राप्ति होगी। यह धर्मकी लड़ाई थी, धर्मराज स्वयं लड़नेवाले थे, इसलिये यह धर्मक्षेत्रमें हुई। लड़नेवाले दोनों ही कुरुवंशके थे—कौरव थे, इसीलिये कुरुक्षेत्रमें लड़ाई हुई। वहाँपर ये सब तीर्थयात्रा-बुद्धिसे एकत्रित नहीं हुए थे, युद्धकी इच्छासे एकत्रित हुए थे।

महाराज धृतराष्ट्र धर्मात्मा थे, ज्ञानी थे; फिर सगे-सम्बन्धियोंमें कुछ-न-कुछ ममत्व रहता ही है। इस ममत्वका त्याग करना बड़े-बड़े मुनियोंके लिये भी बहुत कठिन है। इसीलिये धृतराष्ट्र दुर्योधनादिको 'मामकाः'—मेरे पुत्र कहते हैं। पाण्डवोंको पाण्डुका ही पुत्र कहकर जिज्ञासा करते हैं—वे लोग क्या करने लगे।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अंधे धृतराष्ट्र संजयसे पूछ रहे हैं—'संजय! धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे एकत्रित हुए मेरे और पाण्डुके पुत्र क्या करने लगे?' इस प्रश्नका उत्तर संजय जो धृतराष्ट्रको देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा; आप सब समाहित चित्तसे सुननेकी कृपा करें।

छप्पय

मेरे सौ सब पुत्र युद्ध हित उत्सुक डोलैं।
पर पच्छनि तैं कुपित होहिं कटु बानी बोलैं॥
पांडुपुत्र हैं पाँच धरमरत सत ब्रतधारी।
तिन की रच्छा करैं नंदनंदन गिरिधारी॥
समरभूमिमें समरहित, सबही संबंधी-सगे।
सकल सुसज्जित शस्त्र लै, संजय का करिबे लगे॥*

धर्म और उसका प्रचार

(लेखक—ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

यह तो पता नहीं कि विशुद्ध धर्म-प्रचारका उद्देश्य कहाँतक है और राजनीतिक स्वार्थ कितना है; पर देखा जाता है इस समय विभिन्न-धर्मावलम्बी लोग न्यूनाधिक रूपसे अपने-अपने धर्म-प्रचारके लिये अपनी-अपनी पद्धतिके अनुसार प्रयत्न अवश्य कर रहे हैं। क्रिश्चियन मतका प्रचार करनेके लिये ईसाई-जगत् अपार धनराशिको पानीकी तरह बहा रहा है। अमेरिकातकसे करोड़ों रुपये इस कार्यके लिये भारतवर्ष तथा विभिन्न देशोंमें प्रतिवर्ष भेजे जाते हैं। लाखों ईसाई स्त्री-पुरुष सुदूर देशोंमें जा-जाकर भाँति-भाँतिसे लोकसेवा करके तथा लोगोंको अनेक तरहसे लोभ-लालच देकर, फुसलाकर और उन्हें उल्टी-सीधी बात समझाकर ईसाई बना रहे हैं।

कुछ मजहबी मतवाले लोग पर-धन तथा परस्त्री-अपहरण करने, धर्मके नामपर हिंसा करने और परधर्मीकी हत्या करनेको ही धर्म मान बैठे हैं और उसीका प्रचार-प्रसार करते हैं। इसीसे आज चारों ओर अशान्ति और दुःखका विस्तार हो रहा है। अपनी बुद्धिसे लोक-कल्याणके लिये जिस धर्मको अधिक उपयोगी समझा जाय, उसके प्रचारके लिये प्रयत्न करना मनुष्यका कर्तव्य है। इस न्यायसे कोई भाई यदि वास्तवमें ऐसे ही शुद्ध भावसे प्रेरित होकर केवल लोक-कल्याणके लिये अपने धर्मका प्रचार करना चाहते हैं तो उनका यह कार्य अनुचित नहीं है; परंतु उन लोगोंके उपर्युक्त कार्योंको देखकर हमलोगोंको क्या करना चाहिये, यह विषय विचारणीय है। मेरी समझसे एक हिंदू-धर्म ही सब प्रकारसे पूर्ण धर्म है, जिसका चरम लक्ष्य मनुष्यको संसारके त्रितापानलसे मुक्त कर उसे अनन्त सुखकी शान्त-शीतल शेष सीमातक पहुँचाकर सदाके लिये आनन्दमय बना देना है। इसी धर्मका पवित्र संदेश प्राप्त कर समय-समयपर जगत्के दुःखदग्ध अशान्त प्राणी परम शान्तिको प्राप्त हो चुके हैं और आज भी जगत्के बड़े-बड़े भावुक पुरुष अत्यन्त उत्सुकताके साथ इसी संदेशकी प्राप्तिके लिये लालायित हैं। जिस धर्मकी इतनी अपार महिमा है, उसी अनादिकालसे प्रचलित पवित्र और गम्भीर आशयवाले धर्मको माननेवाली जाति मोहवश जगत्के अन्यान्य अपूर्ण मतोंका आश्रय ग्रहणकर अज्ञान-सरिताके प्रवाहमें बहना चाहती है, यह बड़े ही दुःखकी बात है!

यदि भारतने अपने चिरकालीन धर्मके पावन आदर्शको भूलकर ऐहिक सुखोंकी व्यर्थ कल्पनाओंके पीछे उन्मत्त हो केवल काल्पनिक भौतिक, अधिक-से-अधिक स्वर्गादि सुखोंको ही धर्मका ध्येय माननेवाले मतोंका अनुसरण आरम्भ कर दिया तो बड़े ही अनर्थकी सम्भावना है। इस अनर्थका

* श्रीब्रह्मचारीजीकी 'भागवती कथा' के ६८ भाग प्रकाशित हो चुके हैं, कई कारणोंसे बहुत दिनोंसे आगे खण्ड नहीं छप रहे थे। अब फिरसे प्रकाशन आरम्भ हो गया है, यह ६९वें अप्रकाशित खण्डका प्रथम अध्याय है। प्रत्येक खण्डकी संवर्धित दक्षिणा २.२५ रुपये है।

सूत्रपात भी हो चला है । समय-समयपर इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं । लोग प्रायः परमानन्द-प्राप्तिके ध्येयसे च्युत होकर केवल विविध प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिके प्रयत्नको ही अपना कर्तव्य समझने लगे हैं । धर्मक्षयका यह प्रारम्भिक दुष्परिणाम देखकर भी धर्मप्रेमी बन्धु धर्मनाशसे उत्पन्न होनेवाली भयानक विपत्तियोंसे जातिको बचानेकी संतोषजनक रूपसे चेष्टा नहीं कर रहे हैं, यह बड़े ही परितापका विषय है ।

इस समय हमारे देशमें अधिकांश लोग तो केवल धन, पद, नाम और कीर्ति कमानेमें ही अपने दुर्लभ और अमूल्य जीवनको बिता रहे हैं । कुछ सज्जन समाज-सुधार या समाज-कल्याणके कार्योंमें लगे हैं, परंतु सत्य-धर्मके प्रचारक तो कोई विरले ही महात्माजन हैं । यद्यपि मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाकी कामना एवं स्वार्थपरताका परित्याग करके समाज-कल्याणके लिये प्रयत्न करनेसे भी सच्चे सुखकी प्राप्तिमें कुछ लाभ पहुँचता है, परंतु भौतिक सुखोंकी चेष्टा वास्तवमें परम ध्येयको भुला ही देती है । सच्चे सुखकी प्राप्तिमें पूरी सहायता तो उस शान्तिप्रद सत्य-धर्मके प्रचारसे ही मिल सकती है ।

यद्यपि मुझे संसारके मत-मतान्तरोंका बहुत ही कम ज्ञान है, फिर भी साधारणरूपसे मेरा यह विश्वास है कि सबसे उत्तम सार्वभौम धर्म वह हो सकता है, जिसका लक्ष्य महान्-से-महान्, नित्य और निर्बाध परम आनन्दकी प्राप्ति हो और जिसमें सबका अधिकार हो । केवल ऐहिक सुख या स्वर्गसुख बतलानेवाला धर्म भी वास्तवमें बुद्धिमान्के लिये त्याज्य ही है । अतएव सर्वोत्तम धर्म वह है, जो परम कल्याणकी प्राप्ति करानेवाला है । ऐसा धर्म मेरी समझसे वह वैदिक सनातन धर्म ही है, जिसका स्वरूप निम्नलिखित-रूपसे शास्त्रोंमें कहा गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

(गीता १६ । १—३)

'सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवत्पूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण, वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन, शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय-भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दा आदि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रके विरुद्ध आचरणमें लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच अर्थात् बाहर और भीतरकी शुद्धि, किसीमें भी शत्रुभावका न होना, अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—हे अर्जुन ! दैवीसम्पदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण (ये) हैं ।'

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

(मनु० ६ । ९२)

'धैर्य, क्षमा, मनका निग्रह, चोरी न करना, बाहर-भीतरकी शुद्धि, इन्द्रियोंका संयम, सात्त्विक बुद्धि, अध्यात्म-विद्या, यथार्थ भाषण और क्रोध न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं ।'

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

(योग० २ । ३०)

'अहिंसा, सत्यभाषण, चोरी न करना, ब्रह्मचर्यका पालन और भोग-सामग्रियोंका संग्रह न करना—ये पाँच प्रकारके यम हैं ।'

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

(योग० २ । ३२)

'बाहर-भीतरकी पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करना—ये पाँच प्रकारके नियम हैं ।' सबका निष्कामभावसे पालन करना ही सच्चा धर्माचरण है ।

ये ही सार्वभौम धर्मके सर्वोत्तम लक्षण हैं, इन्हींसे परमपदकी प्राप्ति होती है । अतएव जो सच्चे हृदयसे मनुष्यमात्रकी सेवा करना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि वे उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त धर्मको ही उन्नतिका परम साधन समझकर स्वयं उसका आचरण करें और अपने दृष्टान्त तथा युक्तियोंके द्वारा इस धर्मका महत्त्व बतलाकर मनुष्यमात्रके हृदयमें इसके आचरणकी तीव्र अभिलाषा उत्पन्न कर दें । वास्तवमें यही सच्चा धर्म-प्रचार है और इसीसे लौकिक अभ्युदयके साथ-ही-साथ देश-कालकी अवधिसे अतीत मुक्तिरूप परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है । इस स्थितिको प्राप्त करके पुरुष दुःखरूप संसारसागरमें लौटकर नहीं आता । ऐसे ही पुरुषोंके लिये श्रुति पुकारती है—

न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ।

(छान्दोग्य० ८ । १५ । १)

इस परम आनन्दका नित्य और मधुर आस्वाद मनुष्यमात्रको चखानेके लिये वैदिक सनातन धर्मका प्रचार करनेकी चेष्टा मनुष्यमात्रको विशेषरूपसे करनी चाहिये ।

कुछ सज्जनोंका मत है कि अधिकार और विपुल धनराशिके अभावसे धर्मप्रचार नहीं हो सकता; परंतु मेरी समझसे उनका यह मत सर्वथा ठीक नहीं है। अधिकारोंकी प्राप्तिसे धर्म-प्रचारमें सहायता मिलती है; परंतु यह बात नहीं कि अधिकारोंके अभावमें धर्मका प्रचार हो ही नहीं सकता। धर्मपालनसे बड़े-से-बड़ा आत्मिक अधिकार मिल सकता है; तब इस साधारण अधिकारकी तो बात ही कौन-सी है। वह तो अनायास ही प्राप्त हो सकता है।

धनकी भी धर्मके प्रचारमें आवश्यकता नहीं; सम्भव है कि इससे आंशिकरूपमें कुछ सहायता मिल जाय। इसमें प्रधान आवश्यकता तो है स्वयं धर्मका आचरण करनेवाले सच्चे त्यागी और धर्मज्ञ प्रचारकोंकी। ऐसे पुरुष मान, बड़ाई, प्रसिद्धि और स्वार्थको त्यागकर प्राणपणसे धर्म-प्रचारके लिये कटिबद्ध हो जायँ तो उन्हें द्रव्यादि वस्तुओंकी तो कोई त्रुटि रह ही नहीं सकती, अपितु वे अपने प्रतिपक्षियोंपर भी प्रेमसे विजय प्राप्तकर उन्हें अपना मित्र बना ले सकते हैं। केवल संख्यावृद्धिके लिये ही लोभ-लालच देकर या फुसला-धमकाकर किसीका धर्म-परिवर्तन करना वास्तवमें उसके विशेष हितका हेतु नहीं हो सकता और न ऐसे स्वार्थयुक्त धर्म-प्रचारसे प्रचारकोंको ही विशेष लाभ होता है। जब मनुष्य धर्मके महत्त्वको स्वयं भलीभाँति समझकर उसका पालन करता है, तभी उसे यथार्थ आनन्द और शान्ति मिलती है और इस प्रकार अपूर्व आनन्द और परम शान्तिका अनुभव करके ही मनुष्य संसृतिमें फँसे हुए अशान्त, दुःखी जीवोंकी दयनीय स्थितिको देखकर करुणार्द्र-चित्तसे उन्हें शान्त और सुखी बनानेके लिये प्रयत्न करते हैं; यही सच्चा धर्म-प्रचार है।

बड़े खेदकी बात है कि इस अपार आनन्दके प्रत्यक्ष सागरके होते हुए भी लोग दुःखरूप संसारसागरमें मग्न हुए भीषण संतापको प्राप्त हो रहे हैं। मृगतृष्णासे परिश्रान्त और व्याकुल मृग-समूह जैसे गङ्गाके तीरपर भी गङ्गाकी ओर न ताककर तप्त वालुका-राशिमें ही प्यासके मारे छटपटाकर मर जाते हैं, वही दशा इस समय हमारे इन भाइयोंकी हो रही है।

सत्य-धर्मके पालनसे होनेवाली अपार आनन्दकी स्थिति-को न समझनेके कारण ही मनुष्योंकी यह दशा हो रही है। अतएव ऐसे लोगोंको दयनीय समझकर उन्हें वैदिक सनातन-धर्मका तत्त्व समझानेकी चेष्टा करनेमें ही उनका उपकार और सच्चा सुधार है। इस धर्मको बतलानेवाले हमारे यहाँ अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं, जिन सबका मनन और अनुशीलन करना कोई सहज बात नहीं। अतएव किसी एक ऐसे ग्रन्थका अवलम्बन करना उत्तम है, जो सरलताके साथ मनुष्यको इस पावन पथपर ला सकता हो। मेरी समझसे ऐसा पावन ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। बहुत थोड़े-से सरल शब्दोंमें कठिन-से-कठिन सिद्धान्तोंको समझानेवाला, सब प्रकारके अधिकारियों-को उनके अधिकारानुसार उपयोगी मार्ग बतलानेवाला, सच्चे धर्मका पथप्रदर्शक, पक्षपात और स्वार्थसे रहित उपदेशोंके अपूर्व संग्रहका यह एक ही सार्वभौम महान् ग्रन्थ है। जगत्के अधिकांश महानुभावोंने मुक्तकण्ठसे इस बातको स्वीकार किया है। गीतामें सैकड़ों ऐसे श्लोक हैं, जिनमेंसे एकको भी पूर्णतया धारण करनेसे मनुष्य मुक्त हो जाता है, फिर सम्पूर्ण गीताकी तो बात ही क्या है।

अतः जिन पुरुषोंको धर्मके विस्तृत ग्रन्थोंको देखनेका पूरा समय नहीं मिलता, उनको चाहिये कि वे गीताका अर्थसहित अध्ययन अवश्य ही करें और उसके उपदेशोंको पालन करनेमें तत्पर हो जायँ। मुक्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है और गीता मुक्ति-मार्ग बतलानेवाला एक प्रधान ग्रन्थ है; इसलिये परमेश्वरमें भक्ति और श्रद्धा रखनेवाले सभी आस्तिक मनुष्योंका इसमें अधिकार है। गीताप्रचारके लिये भगवान्ने किसी देश, काल, जाति और व्यक्ति-विशेषके लिये रुकावट नहीं की है, वरं अपने भक्तोंमें गीताका प्रचार करनेवालेको सबसे बढ़कर अपना प्रेमी बतलाया है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
(१८।६८)

'जो पुरुष मेरेमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, अर्थात् निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक मेरे भक्तोंको पढ़ायेगा या अर्थकी व्याख्याद्वारा इसका प्रचार करेगा, वह निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥
(१८।६९)

'और न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रियकार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्यारा पृथिवीमें दूसरा कोई होगा।'

अतएव सभी देशोंकी सभी जातियोंमें गीता-शास्त्रका प्रचार बड़े जोरके साथ करना चाहिये। केवल एक गीताके प्रचारसे ही पृथ्वीके मनुष्यमात्रका उद्धार हो सकता है। इसलिये इसी गीताधर्मके प्रचारमें सबको यत्नवान् होना चाहिये। इससे सबको आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है। यही एक सरल, सहज और मुख्य उपाय है!

भारतीय समाज-मर्यादाके आदर्श श्रीराम

(लेखक—श्रीश्रीरामनाथजी 'सुमन')

भगवान् श्रीराम भारतीय समाज-मर्यादाके आदर्श हैं। वे भारतीय संस्कृतिकी सामाजिक विशिष्टताओंके प्रतीक हैं। उनके जीवनमें हमारी सामाजिक मर्यादाएँ एवं आदर्श अभिव्यक्त हुए हैं।

समस्त भारतीय संस्कृति त्यागमयी है। उसमें प्रत्येक वर्गके लिये, अपने स्तर एवं स्थितिके अनुसार, भोगको क्रमशः छोड़ते हुए त्यागकी वृत्ति ग्रहण करनेपर बल दिया है। जहाँ भोग है भी, वहाँ वह त्यागके लिये एक सीढ़ीके रूपमें है। इसीलिये भारतीय जीवन आत्मार्पणकी भावनापर गठित हुआ है। इस भावनाके कारण सामाजिक पक्षमें अधिकारके स्थानपर कर्तव्यकी प्रधानता स्थापित हुई। राम-का समस्त जीवन त्याग-प्रधान एवं उदात्त कर्तव्य-भावनासे पूर्ण है। उनका जीवन कहीं भी अपने लिये नहीं है। वह एक आदर्शसे प्रेरित, एक आदर्शके लिये समर्पित और उस आदर्शको आचरणमें व्यक्त करनेके लिये निरन्तर प्रयत्नशील जीवन है। वह व्यक्तिगत सुख एवं भोगपर कर्तव्योन्मुख लोकहितकी प्रधानताका जीवन है।

वंश-मर्यादा

जिस वंशमें उन्होंने जन्म लिया था उसमें भारतीय संस्कृतिके आदर्शको प्रकाशित करनेवाले एक-से-एक महापुरुष हुए हैं। हरिश्चन्द्र, दिलीप, भरत, रघु—एक-से-एक राजा इस वंशमें हुए। इस वंशका वर्णन करते हुए कालिदासने लिखा है—

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्॥
त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः॥
(रघुवंश १। ५—९)

अर्थात् मैं उन प्रतापी रघुवंशियोंका वर्णन करने बैठा हूँ जिनके चरित्र जन्मसे लेकर अन्ततक शुद्ध और पवित्र रहे, जो किसी कामको उठाकर उसे पूरा करके ही छोड़ते थे, जिनका राज्य समुद्रके ओर-छोरतक फैला हुआ था, जिनके रथ पृथ्वीसे सीधे स्वर्गतक जाया-आया करते थे, जो शास्त्रों-के नियमके अनुसार ही यज्ञ करते थे, जो माँगनेवालोंको मनचाहा दान देते थे, जो अपराधियोंको अपराधके अनुसार ही दण्ड देते थे, जो अवसर देखकर ही काम करते थे, जो दान करनेके लिये ही धन बटोरते थे, जो सत्यकी रक्षाके लिये बहुत कम बोलते थे कि जो कहें उसे करके भी दिखा दें, जो दूसरोंका राज हड़पने या लूटमारके लिये नहीं वरं अपना यश बढ़ानेके लिये ही दूसरे देशोंको जीतते थे, जो भोग-विलासके लिये नहीं वरं संतान उत्पन्न करनेके लिये ही विवाह करते थे, जो बालपनमें विद्याभ्यास करते थे, तरुणा-वस्थामें संसारके भोगोंका आनन्द लेते थे, बुढ़ापेमें मुनियोंके समान जंगलोंमें रहकर तप करते थे और अन्तमें परमात्मा-का ध्यान करते हुए अपना शरीर छोड़ते थे।

ऐसे वंशमें उनका जन्म हुआ था; सहज ही श्रेष्ठ संस्कार उन्हें मिले थे। रघुवंशियोंके लिये तुलसीदासजी-ने भी कहा है—

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाय बरु बचनु न जाई॥

शुभ संस्कारयुक्त जीवन

वे सत्यसंध महाराज दशरथ और चारुशीला महारानी कौशल्याकी प्रिय संतान थे। इसलिये उनमें शुभ संस्कार बचपनसे थे। यों तो वे साक्षात् परमेश्वर, ब्रह्मावतार ही थे; किंतु मानवीय दृष्टिसे देखा जाय तो भी वे मर्यादा-पुरुषोत्तम थे। शरीर-सम्पत्ति एवं प्रतिमाके आलोकसे उनका शैशव आलोकित है; बचपनसे ही वे शीलके समुद्र हैं; विद्योपार्जन-में केवल सैद्धान्तिक ज्ञान नहीं वरं जीवन, उसके श्रेष्ठ कर्तव्य और आदर्शोंकी विकासमान अनुभूतियाँ उनमें विद्यमान हैं—छोटोंपर ममता एवं स्नेह तथा गुरुजनोंके प्रति सम्मान एवं भक्तिसे उनका हृदय पूर्ण है। माता-पिता दोनोंकी अक्षय स्नेहधारासे स्निग्ध एवं मृदुल हृदय उनको मिला है; परंतु

कहीं भी उनमें अनावश्यक चञ्चलता नहीं है; सर्वत्र वे अपने शील एवं चरित्रकी गम्भीरताके साथ हैं।

श्रेष्ठ वंश-विभूति, माता-पिताका गम्भीर वात्सल्य, एक महान् राज्यका भावी अधिकार, अनुगत बन्धु, गुरुजनोंका आशीर्वाद, असीम पौरुष एवं बल—सब मिलकर कहीं उनमें अहंकारकी सृष्टि नहीं कर पाते हैं, न ये विभूतियाँ उन्हें अपने कर्तव्यसे शिथिल कर पाती हैं। माताके आँसू और पिताका प्राण-त्याग उनके कर्तव्यमार्ग, धर्ममार्गके कुछ पदचिह्न हैं। प्राणप्रिय पत्नीका त्याग उनकी कठोर कर्तव्य-भूमिका स्मारक है।

महर्षि वाल्मीकि उनके सम्बन्धमें लिखते हैं—

स हि रूपोपपन्नश्च वीर्यवाननसूयकः।
भूमावनुपमः सूनुर्गुणैर्दशरथोपमः॥
स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते॥
कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥
शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः।
कथयन्नास्त वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि॥
बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः।
वीर्यवान्न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः॥
न चानृतकथो विद्वान् वृद्धानां प्रतिपूजकः।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते॥
सानुक्रोशो जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः।
दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवाञ्छुचिः॥
कुलोचितमतिः क्षात्रं स्वधर्मं बहु मन्यते।
मन्यते परया प्रीत्या महत् स्वर्गफलं ततः॥
नाश्रेयसि रतो यश्च न विरुद्धकथारुचिः।
उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा॥
अरोगस्तरुणो वाग्मी वपुष्मान् देशकालवित्।
लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः॥

(वाल्मीकीय रामायण २। १। ९—१८)

'वे बड़े रूपवान् एवं पराक्रमशील थे। किसीका दोष नहीं देखते थे। संसारमें अनुपम थे; दशरथके समान ही योग्य पुत्र थे। प्रशान्तात्मा और मृदुभाषी थे। यदि कोई उन्हें कठोर बात भी कह देता तो उसका उत्तर नहीं देते थे। कोई कभी एक भी उपकार कर देता तो सदैव उसे याद रखते और उससे संतुष्ट रहते थे और कोई सैकड़ों अपराध करता तो उन्हें भूल जाते थे। अस्त्राभ्यास-कालमें भी समय निकालकर शील, ज्ञान एवं आयुमें श्रेष्ठजनोंका संग कर उनसे शिक्षा लेते थे। वे बुद्धिमान् तथा मृदुभाषी थे; मिलनेवालोंसे पहले स्वयं प्रिय वचन बोलते थे। बल एवं पराक्रममें बढ़े-चढ़े होनेपर भी उन्हें कभी गर्व नहीं होता था। कभी कोई झूठी बात तो उनके मुखसे निकलती ही न थी। विद्वान् होते हुए भी बड़े-बूढ़ोंकी भक्ति करते थे। उनका प्रजाके प्रति और प्रजाका उनके प्रति बड़ा अनुराग था। वे दयालु, क्रोधको जीतनेवाले, ब्राह्मणोंके पूजक, दीनदयालु, धर्मके ज्ञाता, इन्द्रियोंको सदा वशमें रखनेवाले और भीतर-बाहरसे पवित्र थे। कुलोचित आचारके पालनकर्ता एवं स्वधर्म—क्षात्रधर्मको बहुत महत्त्व देनेवाले थे और उसके द्वारा ही महान् स्वर्गफल पानेके प्रति विश्वासी थे। किसी अश्रेयकार्यमें उनकी कभी प्रवृत्ति नहीं होती थी, न शास्त्रविरोधी बातें सुननेमें कभी रुचि होती थी। वे अपनी बातोंके समर्थनमें साक्षात् बृहस्पतिके समान एकसे एक युक्ति देते थे। वे नीरोग एवं तरुण थे। वे अच्छे वक्ता, कान्तवपु तथा देशकालवित् थे। जैसे विधाताने संसारके समस्त पुरुषोंके सारतत्त्वको समझनेवाले साधुपुरुषके रूपमें श्रीरामको प्रकट किया हो।'

आगे वाल्मीकिने पुनः कहा है—'**दृढभक्तिः स्थिरप्रज्ञो नासद्ग्राही न दुर्वचः**' अर्थात् गुरुजनोंके प्रति दृढ़ भक्ति रखनेवाले और स्थितप्रज्ञ थे; असत् वस्तुओंको कभी ग्रहण नहीं करते थे; कभी दुर्वचन नहीं बोलते थे।

तुलसीदास तो उनके शीलका वर्णन करते हुए अघाते नहीं। रामायण उनके श्रद्धावाक्योंसे भरी पड़ी है; अन्य रचनाओंमें वे बार-बार श्रीरामकी दयाशीलता एवं अनुकम्पाका द्रवितहृदयसे वर्णन करते हैं। सबका सारांश इस पदमें है—

ऐसो को उदार जग माहीं ?
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं॥

वे दुःख-सुखसे परे, स्थितप्रज्ञ थे। '**प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः**' राज्य-प्राप्तिसे प्रसन्न नहीं, वनवाससे दुखी नहीं। राज्य भी कर्तव्य-पालनके लिये, धर्म-पालनके लिये था और वनवास भी कर्तव्यपूर्तिके लिये था। समस्त जीवन-मार्ग उनके लिये कर्तव्य-धर्मपूर्ण है।

पारिवारिक जीवन

पारिवारिक जीवनकी दृष्टिसे देखिये तो श्रीराम एक आदर्श

पुत्र, आदर्श भाई एवं आदर्श पति हैं। माता-पिता एवं गुरुजनके प्रति उनमें असीम सम्मानका भाव है। भाइयोंके प्रति उनका हृदय प्रेमसे इतना द्रवित है कि राज्याभिषेककी बात उन्हें अद्‌भुत लगती है। सोचते हैं—'एक साथ जन्मे, एक साथ पालन-पोषण हुआ, खाये, खेले, पढ़े; यह क्या रीति है कि एक भाईको गद्दी मिले?' पहले भाइयोंके सुख-सुविधाकी बात सोचते हैं, तब अपनी। पत्नी उनकी परम अनुगता है और वे भी उसके प्रति सहज प्रेमसे पूर्ण हैं। किंतु यह मातृ-पितृभक्ति, यह भ्रातृप्रेम, यह दाम्पत्य-प्रणय इतने उच्च स्तरपर है, वे इतने श्रेष्ठ संस्कारोंसे पूर्ण हैं कि वे उनके जीवनादर्शोंमें सहायक और साधक हैं। मोहाविष्ट प्राणियोंकी तरह वे उनके लिये बन्धनकारी नहीं हैं, श्रेयसाधक हैं। प्रेम यहाँ मुक्तिदाता है, मोहक एवं मूर्च्छाकारक नहीं।

जगत्‌के सम्पूर्ण स्नेह-सम्बन्ध आत्मरूपको लेकर ही हैं। श्रुति भी यही कहती है। इसलिये धर्मको प्रकाशित करनेमें ही उनकी महत्ता है। जब ऐसा नहीं होता तो वही प्रेम मोहरूप हो जाता है और सामाजिक पराभवका भी कारण होता है। श्रीरामके जीवनमें यही सत्य प्रकट हुआ है। उनके पारिवारिक जीवनमें हमें स्नेहकी कोमलताके साथ इसी कर्तव्यनिष्ठ दृढ़ताके दर्शन होते हैं।

श्रेयपथमें

पिताके सत्य एवं धर्मकी रक्षाके लिये, युवराज-पदपर अभिषेकके दिन वे समस्त राजसिक सुविधाओंका त्याग कर जीवनके कण्टक-वनकी ओर अग्रसर होते हैं। पिताकी मूर्छा और मृत्यु, भाइयोंकी हृदय-व्यथा, पत्नीके कष्ट, स्वजनोंका आर्तनाद और प्रजावर्गका गम्भीर शोक भी उन्हें कर्तव्य-मार्गसे विरत नहीं कर पाते। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उनके इस त्यागमें कहीं आवेश नहीं है, अनुचित वेग नहीं है। वह सब उनके लिये सहज है। वह शान्त, आवेगहीन, मर्यादाओंसे पूर्ण है। जब उनके ससुर जनक तथा भाई भरत आदि माताओंसहित उन्हें मनाने जाते हैं, तब स्नेहके भार एवं शील-संकोचसे सिर झुकाये हुए वे केवल अपनी स्थिति स्पष्ट कर देते हैं और कर्तव्यके निर्णय एवं आदेशका भार उन्हें ही सौंप देते हैं। अपने धर्ममें दृढ़ रहते हुए भी कहीं गुरुजनोंसे तर्क-वितर्क नहीं करते; सदा अपनी समाज-मर्यादाका ध्यान करके ही विनयपूर्वक उत्तर देते हैं।

सामाजिक एवं राष्ट्रीय आदर्शोंकी दृष्टिसे विचार कीजिये तो हम उन्हें सदैव अन्याय एवं अधर्मकी शक्तियोंसे युद्ध करते देखते हैं। उनका समस्त जीवन अनैतिकता एवं अधर्मके विरुद्ध एक निरन्तर संघर्षका जीवन है। सामाजिक दृष्टिसे अपने जीवनमें उन्होंने निषादराज, शबरी इत्यादि निम्नजनोंको अपनाया; अहल्याका उद्धार करके मानो बताया कि महात्मागण पतितसे घृणा नहीं करते, उनमें अपनी शक्तिका, पावनताका अधिष्ठान कर उन्हें ऊपर उठा देते हैं। छोटे वानर-वनचरोंको अपने संसर्ग एवं संस्कारसे उन्होंने शक्ति एवं महत्त्वकी सीमापर पहुँचा दिया। आर्यावर्त-का जातीय जीवन उस समय विजड़ित एवं विशृङ्खल हो रहा था। विद्या एवं शक्तिसे मदान्ध रावणके आतंकसे समस्त दक्षिणापथ एवं मध्यभारत काँपता था। भोगोन्मुखी आसुरी सभ्यताने धर्म एवं श्रेष्ठ संस्कारोंका आर्य-जीवन असम्भव कर दिया था। ऋषियों एवं तपस्वियोंके कार्यमें बड़ी बाधाएँ उपस्थित होती थीं। रावणने अपनी विद्या-बुद्धिसे अनेक प्राकृतिक शक्तियोंको वशीभूत कर लिया था। वायु एवं अग्निपर नियन्त्रण स्थापित कर उनसे मनमाना काम लेता था। मानव-जीवनको आत्मिक विकासके मार्गपर प्रेरित करनेवाली और तपःपूत संस्कृतिको महत्त्व देनेवाली आर्य सभ्यताके लिये संकट उपस्थित था।

श्रीरामने अपने कौशल, पराक्रम, संघटनशक्ति और अक्षय आत्मविश्वाससे रावण एवं उसकी अज्ञानमूला पद्धति-का विनाश किया और बन्धनोंमें बँधे देशको पुनः मुक्त स्वस्थ वातावरणमें साँस लेने और जीनेका अवसर प्रदान किया। शत्रुके साथ युद्धमें भी हम देखते हैं कि श्रीरामके पास भौतिक साधन शत्रुकी अपेक्षा नगण्य थे। परंतु आत्मिक शक्तियों एवं उदात्त गुणोंके समुचित संघटनद्वारा उन्होंने भयंकर शत्रुपर विजय पायी।

असत्य एवं अन्धकारसे सत्य एवं प्रकाशका युद्ध ही श्रीरामके जीवनमें प्रबलताके साथ व्यक्त हुआ है। मानवमात्रके जीवनमें यह युद्ध न्यूनाधिक मात्रामें चलता रहता है, चल रहा है। असत्य एवं अधर्मके प्रति युद्ध करते हुए उसके निवारण-निराकरणमें हम जिस सीमातक लगते हैं उसी सीमा-तक मानो श्रीरामको अपने जीवनमें उतारते हैं। जिस सीमातक हम श्रीराममय बनते हैं, उसी सीमातक हम धर्मरूप होते हैं, क्योंकि श्रीराम ही आर्य-संस्कृतिकी सामाजिक मर्यादाके आदर्श हैं। वही धर्म हैं, वही जीवन हैं, वही आत्मा हैं, वही परमात्मा हैं। उनके चरित्रका श्रवण, मनन, अनुकरण कर, उनसे अपने हृदयकी गाँठ बाँधकर हम पावन एवं धन्य हो सकते हैं।

सदाचार-धर्मपरायण भगवान् श्रीरामका आदर्श चरित्र

(लेखक—पं० श्रीशिवकुमारजी शास्त्री, व्याकरणाचार्य, दर्शनालङ्कार)

भारतीय वैदिक-संस्कृतिका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण विश्व है। उसके बाह्य-आभ्यन्तर स्वरूप परस्पर इतने मिले हुए हैं कि उनमें भेददृष्टि की नहीं जा सकती। वैदिक-संस्कृतिको किसी भी रूपमें परखिये, उसमें एक देश, एक काल, एक समाज, एक व्यक्तिको लेकर कोई विचार सम्भव नहीं, **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' 'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः'** का तात्पर्य विश्वकल्याण, सर्वसमाज-कल्याण है। उसकी प्रार्थनाएँ भी **'जीवेम शरदः शतꣳशृणुयाम शरदः शतम्प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्' 'स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया' 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः'** 'हम सब सौ वर्षतक जीवित रहें, सुनते रहें, बोलते रहें और दीनतासे रहित हों। संसारका कल्याण हो, दुष्ट भी प्रसन्न हों, जीव परस्पर एक दूसरेका कल्याण-चिन्तन करे।' 'सभी सुखी और नीरोग हों।' कल्याण-कामना सम्पूर्ण संसारके लिये है। संसारके सुचारु संचालनके लिये धर्मको परम आवश्यक माना गया है। **'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'** 'धर्म सारे संसारकी स्थिति है।' उस धर्ममें भी **'आचारः प्रथमो धर्मः'** कहकर धर्मशास्त्रने आचार-पालनपर विशेष बल दिया है। वस्तुतः बात ऐसी ही है। मनुष्यका जैसा आचरण होता है, वैसे ही उसके सहज विचार भी होते हैं। विचारोंकी शुद्धिके लिये शुद्ध सत् आचारोंका होना आवश्यक है। इसीसे आचार-विचारमें आचारका प्रथम स्थान है।

प्राचीन कालमें सारी शिक्षा आचारपर ही आधारित थी। कार्यशुद्धि, वाक्शुद्धि, मनःशुद्धिपर अधिक ध्यान देना, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदिका पालन, शिक्षार्थियोंके ज्ञानोपार्जनके आवश्यक अङ्ग थे।

भगवान् श्रीराम आचारधर्मके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। भगवान् श्रीरामका सारा जीवन सदाचारकी प्रतिबिम्ब मूर्ति है। 'रामराज्य' शब्द आज सभी वर्गके लोगोंका कण्ठहार-सा बन गया है। 'योगवासिष्ठ'में श्रीरामके विचारों एवं महर्षि वसिष्ठके उपदेशोंको पढ़कर हृदय पुलकित हो उठता है। वाल्मीकीय रामायण अथवा रामचरितमानस पढ़नेवाले पुरुषको यह समझते विलम्ब न होगा कि श्रीरामके विचार और आचारमें कितना समन्वय था। श्रीरामको वनसे लौटानेके उद्देश्यसे नास्तिक मतका अवलम्बन कर समझानेवाले श्रीजाबालिको उत्तर देते हुए श्रीराम कहते हैं कि 'मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे आपने जो बातें कही हैं, वे कर्तव्यके समान दीखनेपर भी कर्तव्य नहीं हैं, पथ्य प्रतीत होनेपर भी पथ्य नहीं हैं। जो पुरुष धर्म अथवा वेदकी मर्यादा तोड़ देता है, वह पापकर्ममें प्रवृत्त हो जाता है। उसके आचार-विचार दोनों भ्रष्ट हो जाते हैं। इससे वह सत्पुरुषोंमें कभी सम्मान नहीं पाता। आचार ही यह बताता है कि कौन पुरुष उत्तम या नीच कुलमें उत्पन्न है, कौन वीर है या वृथा अभिमानी है, कौन पवित्र और कौन अपवित्र है। आपका उपदेश पहने तो धर्मका चोला है, किंतु है वह अधर्म। इससे संसारमें वर्णसंकरताका प्रचार होगा। यदि मैं वेदोक्त शुभकर्मोंको त्यागकर विधिहीन कर्मोंमें लग जाऊँ तो कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान रखनेवाला कौन समझदार मनुष्य मुझे अच्छा मानकर आदर देगा? इस दशामें मैं जगत्में दुराचारी, लोकको कलङ्कित करनेवाला माना जाऊँगा। आपके इस उपदेशको मानकर चलनेसे मेरे साथ सारा लोक स्वेच्छाचारी हो जायगा। सत्य-सदाचारका पालन ही शासकोंका दया-प्रधान धर्म है। सत्यमें ही सब लोग प्रतिष्ठित हैं। सदाचारी पुरुष ही अक्षय पद पाता है, संसारमें सत्य-सदाचार ही धर्मकी मर्यादा है और वही सबका मूल है। दान, यज्ञ, होम, तप और वेद—इन सबका मूल सत्य ही है। सत्य ही ईश्वर है। अतः मनुष्यको सदाचारी होना चाहिये। पहले सत्य-पालनकी प्रतिज्ञा कर अब लोभ-मोहवश अज्ञानसे विवेकशून्य होकर मैं पिताकी मर्यादा भङ्ग नहीं करूँगा।'

जिस रामराज्यकी स्थापनापर आज जोर दिया जा रहा है वह केवल सदाचारपर ही प्रतिष्ठित था। यदि रामराज्य मान्य है तो भगवान् श्रीरामके आदर्श आचार-विचार भी मान्य होने चाहिये और भगवान् श्रीरामके पावन चरित्रके प्रकाशमें शास्त्रशुद्ध लोककल्याणकारी आचार-विचार ग्रहणकर **'मृत्योर्मा अमृतं गमय'**की ऋषिवाणीको सार्थक करना चाहिये।

वास्तवमें भारतीय-संस्कृतिमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके परमपावन परम आदर्श भव्य चरित्रसे बढ़कर मानव-



धर्मस्वरूप अनन्त शौर्य-वीर्य-सिन्धु भगवान् श्रीराम

जीवनको सर्वाङ्गसुन्दर बनानेवाला सम्पूर्ण शिक्षाप्रद चरित्र अद्यावधि कहीं भी उपलब्ध नहीं है। यदि भारतीय साहित्यसे श्रीरामका आदर्श चरित्र निकाल दिया जाय, तो यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि साहित्यमें आचार-शिक्षणका एक क्रियात्मक सर्वथा अभाव उपस्थित हो जायगा। आदर्श आचार-शिक्षाको लेकर ही आज भी 'रामराज्य' शब्द आबाल-वृद्ध जनका कण्ठहार बना हुआ है। भारतीय-संस्कृति इसीसे सर्वोत्तम कही जाती है; क्योंकि उसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंके विवेचनके साथ आचारका भी पूर्ण समन्वय है। यदि विचारोंके बिना आचार पङ्गु है तो आचारके बिना भी विचार सर्वथा अन्ध है। इस प्रकार गतिशील पदार्थ भी दर्शन-शक्तिसे रहित होकर गर्तमें गिर सकता है। **'आचारः प्रथमो धर्मः' 'आचार प्रभवो धर्मः' 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'**—इन वचनोंसे आचारको सर्वश्रेष्ठ धर्म बताया गया है। भगवान् श्रीरामका चरित्र चाहे जिस दृष्टिको लेकर परखा जाय वह सर्वथा आदर्श, शुभ तथा सदाचार-सम्पन्न है।

रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम।
धर्मात्मनो भगवतो लोके रामस्य धीमतः॥

....

न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति॥
कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम्।

(वा० रा० बाल० २। ३२, ३५-३६)

भगवान् ब्रह्माकी इस प्रेरणासे महर्षि वाल्मीकिके द्वारा रचित यह रामचरित्र प्रमाणित है। श्रीरामका यह चरित्र युग-युगान्तरोंसे असंख्य जनताका सन्मार्गदर्शक रहा है—रहेगा।

'एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः।' आदर्श मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामका दिव्य चरित्र पुत्रके रूपमें, भ्राताके रूपमें, पति और शिष्यके रूपमें, पिता तथा राजाके रूपमें—चाहे जिस प्रकार परखा जाय, सर्वतः सर्वथा सर्वदा निर्मल निष्कलङ्क चन्द्रके समान वन्दनीय और आचरणीय है। ब्रह्मण्य श्रीरामका यह वचन उनके ही अनुरूप है। 'सीते! मैं अपना जीवन छोड़ सकता हूँ, लक्ष्मणको और तुम्हें भी छोड़ सकता हूँ, पर ब्राह्मण और धर्मकी रक्षाके लिये की गयी प्रतिज्ञाका त्याग कैसे सम्भव है?'—

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
न हि प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥

महात्मा श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥

—यह है श्रीरामका आदर्श। मायासे परे, लक्ष्मीके पति, सबके आदिकारण, जगत्के उत्पत्ति-स्थान, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे अगम्य, मोहका नाश करनेवाले, मुनिजनोंके वन्दनीय, योगियोंके द्वारा ध्यानयोग्य, योगमार्गके प्रवर्तक, सर्वत्र परिपूर्ण, सम्पूर्ण संसारको आनन्द देनेवाले दिव्यगुणगणसम्पन्न उन परम सुन्दर भगवान् श्रीरामको प्रणाम ही करता हूँ।

मायातीतं माधवमाद्यं जगदादिं
मानातीतं मोहविनाशं मुनिवन्द्यम्।
योगिध्येयं योगविधानं परिपूर्णं
वन्दे रामं रञ्जितलोकं रमणीयम्॥

(अध्यात्मरामायण)

—मैं श्रीब्रह्माजीके इन स्तुति-वचनोंको दोहराता हूँ।

श्रीरामके पदपद्मोंमें नमस्कार

शौर्य-वीर्य-ऐश्वर्य अतुल माधुर्य दिव्य सौन्दर्य-निधान।
नित्य सच्चिदानन्द दिव्य शुचितम गुणगण-सागर भगवान॥
धैर्य परम, गाम्भीर्य सरस, सौशील्य सहज, औदार्य महान्।
शरणागत-वात्सल्य, साम्य, कारुण्य, स्थैर्य, चातुर्य अमान॥
सत्य, अहिंसा, मृदुता, आर्जव, ज्ञान, तेज, बल, बुद्धि ललाम।
नमस्कार पद-पद्मोंमें जो गुणनिधि अतुल राम-से राम॥

धर्मके परम आदर्शस्वरूप भगवान् श्रीराम और उनकी दिनचर्या

(लेखक—श्रीकमलाप्रसादजी श्रीवास्तव, बी० काम०, सम्पादक 'उद्योग-भारती')

भगवान् श्रीराम अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड-नायक परम पिता परमेश्वरके अवतार थे और धर्मकी मर्यादा रखनेके लिये भारतभूमि अयोध्यामें राजा दशरथके यहाँ पुत्ररूपमें अवतरित हुए थे। उस समय राक्षसोंका नग्न बीभत्स रूप इतना प्रचण्ड हो गया कि ऋषि-मुनियों, गौ एवं ब्राह्मणोंका जीवन खतरेमें पड़ गया था। जहाँ-जहाँ कोई शास्त्र-विहित यज्ञ-कर्म आदि किये जाते थे, राक्षसगण उन्हें विध्वंस करनेके लिये सदा तत्पर रहते थे। राक्षसोंका राजा रावण भारत-भूमिपर अपना एकच्छत्र राज्य स्थापित करनेके लिये चारों ओर जाल फैला रहा था। देवताओंके आग्रह एवं अनुनय-विनयके फलस्वरूप भगवान् स्वयं अपने अंशोंसहित राम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्नके रूपमें अवतरित हुए।

भगवान् श्रीरामके आदर्श चरित्रका विवरण हम भिन्न-भिन्न रामायणोंमें पाते हैं जिनमें वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्मरामायण तथा परम भक्त गोस्वामी तुलसीदासरचित रामचरितमानस प्रमुख हैं। इस निबन्धका आधार जिसमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामकी दिनचर्याका दिग्दर्शन कराया गया है, गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानस है।

साधारण बालकोंकी तरह बालकपनमें अपने छोटे भाइयों एवं बाल-सखाओंके साथ भगवान् श्रीराम सरयूके तटपर कन्दुकक्रीडा एवं अन्य खेलोंमें ऐसे मस्त हो जाते थे कि उन्हें अपने खाने-पीनेकी भी सुध नहीं रहती थी।

भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा॥
कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई॥
(रा० च० मा० बाल २०२ । ३-४)

अपने भाइयोंके साथ वेद-पुराणकी चर्चा करना, माता-पिता, गुरुके आज्ञानुसार प्रतिदिन दैनिक कार्यमें लग जाना उनका नित्यका कार्यक्रम था—

जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥
बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्हि समुझाई॥
प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥
(रा० च० मा० बाल २०४ । ३-४)

विश्वामित्र मुनिके यज्ञकी रक्षा भगवान् श्रीरामने किस तत्परतासे की तथा राक्षसोंके भयसे उन्हें कैसे निर्भय किया जब हम उसकी झाँकी रामचरितमानसमें पाते हैं तो उनकी वीरता, धीरता एवं कार्य-तत्परताकी ओर हमारा ध्यान बरबस आकर्षित हो जाता है और उन्हें हम धर्मके परम आदर्शके रूपमें पाते हैं।

प्रात कहा मुनि सन रघुराई। निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई॥
होम करन लागे मुनि झारी। आपु रहे मख कीं रखवारी॥
सुनि मारीच निसाचर क्रोही। लै सहाय धावा मुनि द्रोही॥
बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥
पावक सर सुबाहु पुनि मारा। अनुज निसाचर कटकु सँघारा॥
मारि असुर द्विज निर्भयकारी। अस्तुति करहिं देव मुनि झारी॥
तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया॥
भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥
(रा० च० मा० बाल० २०९ । १—४)

विश्वामित्र मुनिके यज्ञकी पूर्णाहुतिके पश्चात् भगवान श्रीराम और लक्ष्मणजी दोनों भाई मुनिके साथ धनुषयज्ञ देखनेके लिये जनकपुर जाते हैं। रास्तेमें गौतमऋषिकी पत्नी अहल्याका, जो शापवश पत्थर हो गयी थी, उद्धार प्रभुने अपने चरणकमलकी धूलिके स्पर्शसे किया। भगवान् श्रीराम आखिर पतितपावन ही तो थे।

जनकपुरमें गुरुकी सेवा करना भगवान् श्रीराम और लक्ष्मणजीका दैनिक कार्यक्रम था। उनकी दिनचर्यामें भक्त-वत्सलता, नम्रता एवं संकोचको भी स्थान रहता था। नगर-दर्शनके लिये जब लक्ष्मणजीके हृदयमें विशेष लालसा जाग्रत् हो गयी तब भगवान् श्रीराम गुरुजी विश्वामित्र मुनिसे किस संकोच एवं विनयके साथ आज्ञा माँगते हैं, देखिये—

लखन हृदय लालसा बिसेषी। जाइ जनकपुर आइअ देखी॥
प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं। प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं॥
राम अनुज मन की गति जानी। भगत बछलता हियँ हुलसानी॥
परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुर अनुसासन पाई॥
नाथ लखनु पुरु देखन चहहीं। प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं॥
जौ राउर आयसु मैं पावौं। नगर देखाइ तुरत लै आवौं॥

सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती। कस न राम तुम्ह राखहु नीती॥
धरम सेतु पालक तुम्ह ताता। प्रेम बिबस सेवक सुख दाता॥
(रा० च० मा० बाल० २१७। १—४)

नगर तथा धनुषयज्ञशाला देखते-देखते जब देर हो गयी तो भगवान् श्रीरामके मनमें भय हो गया कि उधर गुरुजी कहीं अप्रसन्न न हो जायँ। दोनों भाई शीघ्र ही गुरुजीके पास वापस आ गये।

संध्याके समय संध्यावन्दन और वेद, पुराण, इतिहासकी चर्चा उनका दैनिक कार्यक्रम था। किस श्रद्धा, निष्ठा एवं भक्तिसे वे गुरुजीकी सेवा करते थे, उसकी झाँकी गोस्वामीजीके ही शब्दोंमें—

मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई॥
जिन्ह के चरन सरोरुह लागी। करत बिबिध जप जोग बिरागी॥
तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥
बार बार मुनि अग्या दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥
(रा० च० मा० बाल० २२५। २-३)

प्रातःकाल गुरुजीके जागनेके पहले ही भगवान् श्रीराम जाग जाते थे तथा गुरुजीकी सेवामें लग जाते थे।

सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए॥
समय जानि गुर आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥
(रा० च० मा० बाल० २२६। १)

भगवान् श्रीराम धर्मके परम आदर्शस्वरूप थे और उनके मनमें एक सुन्दर प्रेमपूर्ण पछतावा तब हुआ जब कि उन्हें पता चला कि उनके राज्याभिषेककी तैयारी हो रही है। विश्व-इतिहासमें यह एक बेजोड़ उदाहरण है। उन्होंने अपने हृदयका उद्गार प्रकट किया—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥
(रा० च० मा० अयोध्या० ९। ३—४)

पर जब दूसरे दिन वनवासकी सूचना मिली तब उनको तनिक भी ग्लानि न हुई; बल्कि परम प्रसन्नता हुई कि पिताके वचनकी रक्षाके लिये वे चौदह वर्षके लिये वन जा रहे हैं। कालिदासने रघुवंशमें यहाँतक लिखा है कि वनवासकी सूचना पानेपर जब लोगोंने देखा कि भगवान् श्रीरामके चेहरेपर किसी भी तरहकी शिकन न आयी तो वे लोग आश्चर्यचकित हो उनका दिव्य सुन्दर मुखमण्डल देखते ही रह गये।

भगवान् श्रीरामने अपनेको बड़ा ही भाग्यशाली समझा और उस अवसरपर कहा—

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
(रा० च० मा० अयोध्या० ४०। ४)

चित्रकूटमें वासके समय भगवान् श्रीरामकी दिनचर्यामें ऋषि-मुनियोंके साथ धर्म-चर्चा एवं सत्संगका कार्यक्रम रहता था। पत्नी और भ्राताको भी सुखी रखनेकी चेष्टा करते रहते थे।

सीय लखन जेहि बिधि सुखु लहहीं। सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं॥
कहहिं पुरातन कथा कहानी। सुनहिं लखनु सिय अति सुखु मानी॥
(रा० च० मा० अयोध्या० १४०। १)

वनवासकालमें ऋषि-मुनियोंसे मिलना-जुलना तथा राक्षसोंका संहार प्रभु श्रीरामकी दिनचर्याका प्रधान अङ्ग था। पृथ्वीको राक्षसोंसे रहित करनेके लिये उन्होंने मुनियोंके समक्ष प्रतिज्ञा की और उसका पालन अन्ततक किया—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥
(रा० च० मा० अरण्य० ९)

भगवान् श्रीरामके वन-गमनकालमें अनेक प्रसंग—जैसे वाल्मीकिजीसे भेंट, अत्रिसे मिलन, शरभङ्ग तथा सुतीक्ष्णजीसे मुलाकात, अगस्त्यजीके आश्रममें प्रभुका पदार्पण, जटायुका उद्धार, शबरीजीसे नवधा भक्तिका वर्णन, सुग्रीवसे मित्रता, बालिवध, लक्ष्मणजीके साथ सत्संग तथा नारद-राम-संवाद आदि आते हैं जिनके माध्यमसे हमें भगवान् श्रीरामकी दिनचर्या-सम्बन्धी अनेक बातें मालूम होती हैं और वे हमारे जीवनको धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भगवद्भक्तिकी ओर अग्रसर करती हैं।

सीताहरणके पश्चात् प्रभु श्रीरामने किष्किन्धामें पर्वतके शिखरपर वास किया और वहाँ उनकी दिनचर्याकी प्रधानता रही लक्ष्मणजीके साथ सत्संग।

फटिक सिला अति सुभ्र सुहाई। सुख आसीन तहाँ द्वौ भाई॥
कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नृप नीति बिबेका॥
(रा० च० मा० किष्किन्धा० १२। १)

रावणका वध कर सीतासहित प्रभु लंकासे अयोध्या लौटते हैं। अयोध्यामें उनकी दिनचर्याकी झाँकी गोस्वामीजी-के शब्दोंमें—

प्रातकाल सरऊ करि मज्जन। बैठहिं सभाँ संग द्विज सज्जन ॥
बेद पुरान बसिष्ट बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं ॥
अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं। देखि सकल जननीं सुख भरहीं ॥
(रा० च० मा० उत्तर० २५। १-२)

प्रजापालनके लिये भगवान् विशेष सचेष्ट एवं सतर्क रहते हैं। राजसभामें सनकादि तथा नारद आदि ऋषि प्रतिदिन आते हैं और उनसे वेद-पुराण और इतिहासकी चर्चा होती है। भगवान् श्रीरामकी दिनचर्याकी अन्तिम झाँकी हम अयोध्याकी अमराईमें पाते हैं—

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अवँराई ॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई ॥
मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४९। ३-४)

धर्मके परम आदर्शस्वरूप भगवान् श्रीरामकी दिनचर्यासे हमें प्रेरणा मिलती है जो जीवनको श्रद्धा, भक्ति एवं पवित्र प्रेमकी भावनासे ओतप्रोत कर देती है।

(२)

(लेखक—श्रीविन्देश्वरीप्रसादसिंहजी एम्० ए०)

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

धर्म वह है जिससे इहलौहिक तथा पारलौकिक कल्याण-की सिद्धि हो। अस्तु, जब इन दोनों क्षेत्रोंमें कल्याणकी हानि होती हो तब अधर्मकी वृद्धि तथा धर्मका ह्रास मानना होगा। आज हमारी दयनीय स्थिति है। न हमारा पेट भर पाता है, न हमें परलोककी सिद्धि हो पाती है। हम संशयात्मा बन गये हैं। फलतः न हमारा यहाँ कल्याण होता है न हमारा परलोक बन पाता है। ऐसे समय हमें 'रामराज्य'की याद आती है। उस राज्यमें दैहिक, दैविक तथा भौतिक ताप किसीको नहीं होता था। सभी प्राणी अपनी-अपनी मर्यादामें रहकर सुखी एवं सम्पन्न थे। और यह सब था मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके कारण ही।

भगवान् श्रीराम धर्मके परम आदर्श स्वरूप थे। उनका अवतार ही धर्मकी हानि होनेपर हुआ था। उनके अवतारका उद्देश्य ही धर्मका अभ्युत्थान था। इसीसे हमें उनकी दिनचर्यामें धर्मके गूढ़ सिद्धान्त सहज ही मिल जाते हैं। भगवान् श्रीरामके अवतारके सहस्रों वर्षोंके बाद भी धर्मका मापदण्ड उनका आदर्श चरित्र रहा है। 'रामायण'का प्रचार एवं प्रसार तथा उसका प्रचुर समादर इसका साक्षी है। भगवान् श्रीरामने अवतार लेकर अधम, अभिमानी असुरोंका नाश किया तथा अपने आदर्श चरित्र-द्वारा धर्मका विकास किया। जबतक हम उनके बताये मार्गपर चलते रहेंगे, तबतक धर्मकी स्थिति रहेगी।

भगवान् श्रीरामके चरित्रमें धर्मके विभिन्न पहलुओंपर भलीभाँति प्रकाश पड़ता है। माता-पिता, गुरु, बन्धु-बान्धव, सखा-मित्र, स्त्री-पुत्र, देश-समाजके प्रति हमारे धर्मका जो आदर्श रूप है, उसका सहज रूपसे पालन भगवान् श्रीरामने अपने जीवनमें किया था। बचपनसे ही उनके धार्मिक जीवनका श्रीगणेश होता है। सबेरे शय्याका त्याग करके वे माता-पिता तथा गुरुजनोंको प्रणाम करते थे तथा सरयूतटपर जाकर नित्यक्रिया सम्पन्न करते थे। वे भोजन अनुज और सखाके साथ करते थे। माता और पिताकी आज्ञाका ही अनुसरण करते थे। दिनका अधिकांश समय बालकोंका साथियोंके साथ कटता है; पर भगवान् श्रीराम अपने इस समयको वेद-पुराणके सुननेमें तथा साथियोंके साथ उसकी ही सम्यक् चर्चामें बिताते थे। पितासे आदेश प्राप्त करके पुरके विभिन्न कार्योंका सम्पादन करते थे। उनका कार्य लोकहितकर होता था। वह इसीसे स्पष्ट होता है कि कोसलपुरवासी नर-नारी बूढ़े अथवा बच्चे किसीको उनके प्रति कोई शिकायत नहीं थी। सबोंको भगवान् श्रीराम प्राणसे बढ़कर प्रिय लगते थे। आजका नवयुवक समाज इससे शिक्षा ग्रहण कर सकता है।

इस तरह भगवान् श्रीरामके बालचरित्रमें ही हमें उनके आदर्शों एवं संस्कारोंकी झलक मिलती है। इस अवस्थामें भगवान् श्रीराम विद्या, विनय तथा गुण एवं शीलमें आदर्श स्वरूप हो गये थे। गुरुके घर जाकर अल्पकालमें ही सभी विद्याएँ उन्होंने प्राप्त कर ली थीं।

बालक श्रीराम अब किशोरावस्थाकी ओर बढ़े। उनकी विद्या तथा शक्तिकी प्रशंसा दूर-दूरतक फैल चुकी थी। विश्वामित्र मुनिको पापी निशाचरोंके वधकी आवश्यकता आ पड़ी। वे स्वयं उनके लिये दशरथजीके दरबारमें आ उपस्थित हुए। राजाने कुछ ननु-नचके बाद दोनों भाइयोंको

ऋषिके हाथ सौंप दिया। किशोर श्रीराम उनके साथ सहर्ष चले। सहर्ष कर्तव्यपालनके लिये चल पड़ना किशोरोंका आदर्श धर्म है। ऋषिके प्रति भगवान् श्रीरामने जो धर्मपालन किया है, वह किसी भी शिष्यके धर्म-निर्देशनके लिये पर्याप्त है। मुनिने इस अद्भुत अवधेशकुमारको आज्ञा दी कि ताड़काको मारो। गुरुके आदेशका तुरंत पालन हुआ। फिर गुरुने प्रसन्न होकर सभी गूढ़-से-गूढ़ विद्याएँ उन्हें दीं, अस्त्र-शस्त्र दिये तथा ऐसे भेद दिये जिनसे भूख-प्यास नहीं लगे तथा अतुलित बल और तेज शरीरमें बना रहे। यह रही भगवान् श्रीरामकी उच्च शिक्षा। भगवान् श्रीरामने यज्ञकी रक्षा जिस खूबीके साथ की, वह इस बातका परिचय देता है कि मुनिने योग्यतमको उच्चतम विद्या दी थी। मारीच और सुबाहु ससैन्य पराजित हुए। यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ। गुरुसमाज प्रसन्न हुआ।

भगवान् श्रीराम तथा लक्ष्मणकी दिनचर्या वहाँ अनुकरणीय थी। राजभवनसे जंगलके बीच मुनिके आश्रममें तथा राज्यसुखसे दूर आश्रमके कष्टपूर्ण जीवनयापनमें भगवान् श्रीरामको कोई शिकायत नहीं थी। जैसे पुरवासियोंको प्रसन्न रक्खा था, उसी तरह अपने तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधानसे मुनिसमाजको भी संतुष्ट कर सके। नित्य गुरुकी सेवा, उनके उठनेसे पहले शय्यात्याग, गुरुकी पदवन्दना, संध्यादि कृत्य तथा उन्हें सुलाकर ही सोना उनकी नित्यकी चर्या थी। राजकुमार मानो ऋषिकुमार हो गये। घरकी सुधि जाती रही। ऋषिके कहनेपर धनुषयज्ञ देखनेके लिये उनके पीछे हो लिये। पाँव-पैदल, सवारी-की चिन्ता ही नहीं हुई। मानो मानापमान, हर्षामर्ष सभी गुरुको सौंप दिये थे।

उच्चतम शिक्षा तथा प्रयोगशालाकी सिद्धिके बाद भी व्यावहारिक परीक्षामें गुरु उन्हें उत्तीर्ण देखना चाहते थे। जनकपुरकी यात्रामें वह परीक्षा पूर्ण हुई। अहल्योद्धार-जैसा कार्य हुआ, पर अभिमानके बदले भगवान् श्रीरामको इससे ग्लानि ही हुई। भगवान् श्रीरामके संयमपूर्ण जीवनकी अजीब झाँकी जनकपुरमें मिलती है। गुरुकी परम सेवा, एक भी कार्य उनके स्पष्ट आदेशके बिना नहीं करना तथा अपने नित्यकर्मके साथ अपने कुलकी मर्यादाका बराबर ध्यान रखना उनके आदर्श युवक-धर्मका परिचय देते हैं। एक ही उदाहरणसे सब स्पष्ट है। लक्ष्मणजीको नगर देखनेकी लालसा है। वे भगवान्‌की ओर लालसाभरे नेत्रसे देखते हैं। भगवान् उनके मनकी गति जानकर गुरुकी ओर देखते हैं। गुरु उनके मनकी गति जानकर बोलनेका आदेश देते हैं। तब संकोचसे परम विनीत हो फिर भी मुस्कुराकर लक्ष्मणजी-की लालसा शिष्टभाषामें प्रकट करते हैं और आज्ञा पानेपर ही पुरी-भ्रमण करते हैं।

जनकपुरमें संध्या-वन्दनादि नित्य-क्रियाके साथ-साथ गुरुके लिये पुष्प-चयनादि भी करते हैं तथा उनकी प्रसन्नता-के लिये कोई काम उनका आदेश लिये बिना नहीं करते और कोई गूढ़-से-गूढ़ बात उनसे छिपाते भी नहीं हैं। श्रीजानकीजी-जैसी परम सुन्दरीके प्रति मनमें जो सात्त्विक क्षोभ हुआ, उसे भी गुरुजीसे निवेदन करते हैं। आत्म-विश्वास उनमें भरा था। तभी तो कहते हैं कि जिसने स्वप्न-तकमें परनारी नहीं देखी, उसके मनमें यह क्षोभ ? विधाता ही इसका कारण जान सकते हैं। ब्रह्मचर्य-व्रतके पालनकी पराकाष्ठा यहाँ है। पर ऐसी मनचाही परम सुन्दरीको पानेके लिये भी उतावलापन देखनेको नहीं मिलता।

धनुष-भङ्गके क्रममें जहाँ जनक-समान धीर अधीर हो उठे, स्वयं लक्ष्मण भी उबल पड़े, वहाँ मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम गुरुका आदेश पानेपर भी उन्हें प्रणाम करके बिना हर्ष-विषाद किये धनुषभङ्ग करने चले। धनुषभङ्ग हुआ। महि, पाताल, स्वर्गमें यश व्याप्त हो गया।

अब गार्हस्थ्य-जीवनके बीच भगवान् श्रीरामके धर्ममय जीवनकी कुछ झाँकियाँ देखिये। भगवान् श्रीरामके रूप, गुण, शील एवं स्वभावसे पुरवासीलोग तथा स्वयं दशरथजी प्रमुदित थे। उन्हें यौवराज्य देनेकी तैयारी की गयी। अयोध्यामें आनन्दोत्साह छा गया, पर भगवान् श्रीरामको विमल वंशके एक इस अनौचित्यपर पछतावा हुआ कि और भाई तो इसमें साथ नहीं हुए। फिर राज्यभङ्गके अवसरपर जिस धीरता, मातृ-पितृ-भक्ति, सत्यप्रियता आदि उच्चतम धर्मका दर्शन मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। पिताने मुखसे कभी भी वन-गमनका आदेश नहीं दिया; पर उनका वचन निभानेके लिये, कैकेयीकी रुचि रखनेके लिये तथा भाई भरतको राजा बनानेके लिये एवं मुनिसंगके लिये जिस तत्परतासे भगवान् श्रीराम श्रीजानकी तथा लक्ष्मणसहित वनगमन करते हैं, वह बताता है कि जीवन भोगके लिये नहीं, त्यागके लिये है। राज्य बन्धन है। बाहरी राज्य राज्य नहीं, आत्माका राज्य ही सुराज्य तथा स्वराज है। वनगमनके प्रसंगमें

परिवारके जटिल प्रसंगोंके बीच एक गृहस्थके आदर्श धर्मका निर्वाह भगवान् श्रीरामके जीवनमें जितना हुआ है, वही पर्याप्त है। आज संयुक्त परिवार टूटकर किष्किन्धाकाण्डका दर्शन कराता है। भगवान् श्रीरामके पथपर चलकर हम उसे टूटनेसे बचा सकते हैं। आदर्श पुत्र, आदर्श सत्यवादी, आदर्श अनुज, आदर्श माता, आदर्श सौत आदि सभी आदर्शोंका समूह यहाँ एक साथ मिल गया है—जो इतने बड़े दर्दनाक काण्डपर पर्दा डालकर धर्मपर पूरा प्रकाश डालता है। स्वार्थके लिये आजके समाजमें सत्यको उलट-पलटकर देखने तथा एक-एक पैसेके लिये घोर अपराध कर्म करनेवालेके लिये भगवान्के 'राम-वन-गमन'से बड़ा प्रकाश मिलता है। चित्रकूटमें जो शिष्ट-सम्मेलन हुआ है, वह बड़ा ही भव्य है। दो राजवंश सपरिवार मिले हैं। उनकी प्रजा हैं। साथ उनके गुरु एवं पुरोहित हैं तथा आस-पास ऋषि-मुनि-समाज है। सबका उद्देश्य भगवान् श्रीरामको बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय अयोध्या वापस चलनेपर राजी करना है। उस समय जो वार्तालाप हुआ है, वह कितना धर्मसंगत है तथा परिणाममें कितना हितकर है। इस शिष्टसम्मेलनसे यही आशय निकलता है कि धर्म ही समाजका प्राण है। उनका परित्याग किसी भी रूपसे नहीं करना है। सत्य सब धर्मोंका प्रधान-से-प्रधान अङ्ग है। सत्यको अपना लेनेसे शेष सभी लक्षण, जो धर्मके हैं, वे अपने-आप आ जुटते हैं।

भरत राम संबादु सुनि सकल सुमंगल मूल।
सुर स्वारथी सराहि कुल बरषत सुरतरु फूल॥

भरत चले गये। आगत समूह भी गये। सुरपतिसुत जयन्तने भगवती सीताके प्रति कदाचार किया। उसे भगवान् श्रीरामके अद्भुत बलका परिचय मिला। क्षमाशीलताकी हद हो गयी। शरणमें आनेपर वध लायक होनेपर भी उसे छोड़ दिया गया। क्षमा भी आदर्श धर्म-सूचक है। इसी तरह श्रीजानकीके प्रति अनुसूयाजीका पातिव्रत्यकथन आदर्श नारीके धर्मका परिचायक है। भगवान् श्रीराम अरण्यमें बसते थे। फिर भी वहाँ उनका जीवन धर्मका आदर्श था। जब-तब वे लक्ष्मणजी तथा सीताजीको सदुपदेश करते थे। इस क्रममें ईश्वर, जीव, माया, धर्म आदिके बारेमें आदर्श बातें हुई हैं। धर्मकी कसौटी भगवान् श्रीरामने वैराग्य बताया है। धर्मात्माको धर्मपालन करते विमल वैराग्यकी प्राप्ति होती है। वह नश्वर तथा अविनाशीके भेदको जान जाता है। पर भक्ति, जिससे भगवान् तुरंत द्रवित होते हैं, सर्वोपरि धर्म है।

श्रीसीताहरण-प्रसंगमें आदर्श पतिके रूपमें धर्मपरायण भगवान् श्रीरामकी झाँकी मिलती है। उनकी रुचि रखनेके लिये भगवान् कनक-मृगके पीछे दौड़ते हैं तथा उनके वियोगमें विविध विलाप करते हैं। भीलनी शबरीके सच्चे प्रेमका भी तिरस्कार नहीं करते। उसके घर निधड़क चले जाते हैं। उसका दिया हुआ फल प्रेमसे खाते हैं तथा जहाँ-तहाँ उस प्रेमपूर्ण भोजनका बखान करते हैं। इसी प्रसंगमें गीधराजके प्रति उनकी उदारता भी धर्मके गूढ़ रहस्यका प्रतिपादन करती है।

किष्किन्धाके प्रसंगमें सुग्रीवसे मिताईके आदर्शका वर्णन हुआ है। कलका रंक सुग्रीव किष्किन्धाका राजा बनता है। सेवकके प्रति, चाहे वह नर हो या वानर,—स्वामीका धर्म आदर्शरूपमें भगवान् श्रीरामके जीवनमें चरितार्थ देखते हैं। सभी वानरोंपर भगवान्का पिता-सुलभ प्रेम रहता था।

रावणके साथ युद्ध करते समय विभीषणसे भगवान् श्रीरामने जिस धर्मरथका वर्णन किया है वह कोई साम्प्रदायिक धर्म नहीं है। उसमें विश्वके सभी धर्मोंके प्रधान लक्षण भरे हैं। गोस्वामी तुलसीदासके शब्दोंमें ही देखें—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥
(लं० दो० ८०)

यथा राजा तथा प्रजा। आदर्शचरित्र भगवान् श्रीराम गद्दीपर बैठे। त्रिलोकका भाग्य खुल गया। रामराज्य आदर्श रहा।

राम राज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥
(रा० उ० दो० २०)

और यह सब क्यों ? इसीलिये कि धर्मात्मा भगवान् श्रीरामके राज्यमें धर्मके चारों चरण ठीक थे। स्वप्नमें भी पापका नाम नहीं था। अकालमृत्यु तथा विभिन्न रोगोंका पतातक नहीं था। कोई दरिद्र, दुखी तथा दीन नहीं था। सभी उदार तथा परोपकारी थे। विप्रोंके प्रति सबका श्रद्धा-भाव था। सभी एकनारीव्रती थे। नारियाँ भी पतिव्रता होती थीं। इस तरह रामराज्यमें प्रजामें वे सभी गुण आ गये थे जो राज-परिवारमें स्वभावसे ही मौजूद थे।

सिंहासनपर बैठकर भी भगवान् श्रीरामने अनेक यज्ञ किये, वे धर्मपर सदा अचल रहे। महारानी सीता भी पतिके परम अनुकूल चलती थीं। अपने हाथों भगवान्‌की सेवा करती थीं। अपनी सासकी सेवा भी स्वयं करती थीं।

भगवान् श्रीरामकी सीखके अनुसार 'भक्ति' ही धर्मकी यथार्थ गति है। भगवद्भक्ति ही धर्मतरुका सुन्दर फल है। भक्त भगवान् ही हैं और भगवान् भक्त ही हैं। अस्तु, परम धर्मात्मा श्रीराम ही भगवान् हैं। उनकी भक्ति ही इष्ट है।

धर्मके परम आदर्श धर्ममूर्ति भगवान् श्रीराम और उनकी दिनचर्या

(लेखक—श्रीगोविन्दप्रसादजी चतुर्वेदी शास्त्री, बी० ए०, विद्याभूषण)

महर्षि मनुने अपनी स्मृतिमें—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

—के अनुसार धर्मके दस लक्षण लिखे हैं तथा विष्णुशर्माने हितोपदेशमें—

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥

—के अनुसार धर्मके आठ मार्ग बतलाये हैं।

दोनोंके मतमें धैर्य, क्षमा, सत्य, अध्ययन, अलोभ-विषयोंमें साम्य है। मनुजी विषयोंसे विरक्ति, शुचिता, इन्द्रिय-निग्रह तथा विवेकशीलताको एवं विष्णुशर्मा यज्ञ करना, दान करना, तप करना—धर्मके लक्षण मानते हैं। दोनोंका मत एक साथ ही माननेवालोंको धर्मके उपर्युक्त बारह लक्षणोंसे युक्त होना चाहिये।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीमें उपर्युक्त सभी लक्षण हैं।

महर्षि वाल्मीकिके अनुसार वे धैर्यमें हिमालयके समान **'धैर्येण हिमवानिव'** तथा क्षमामें पृथ्वीके समान **'क्षमया पृथिवीसमः'** हैं। सत्यभाषणमें तो उनका वंश प्रसिद्ध ही है—

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहिं बरु बचन न जाई॥

और इस वंशमें श्रीरामजी तो दो बार भी नहीं बोलते; मुँहसे एक बार ही जो कह दिया, उसे ही पूर्ण करते हैं। **'रामो द्विर्नाभिभाषते'** वाक्य हमारे लिये आदर्श है। अध्ययन-में वह—

'सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान्'

—के अनुसार सारे शास्त्रोंके अर्थके तत्त्वके ज्ञाता हैं। अलोभके लिये उन्होंने विमाताकी इच्छापूर्तिके हेतु राज्यतक-का त्याग कर आदर्श प्रस्तुत किया। वे नियतात्मा हैं, शुचिर्वश्य हैं तथा **'बुद्धिमान्नीतिमान्वाग्मी'**के अनुसार वे विवेकशील हैं। वे यज्ञोंके रक्षक हैं और स्वयं यज्ञकर्त्ता भी हैं। उन्होंने विश्वामित्रजीके यज्ञ-रक्षणार्थ राक्षसोंसे संघर्ष किया। अरण्यवासी ऋषियोंके यज्ञोंकी उन्होंने रक्षा की।

वे बड़े तपस्वी हैं; उनका शत्रु रावण भी उनको तापस कहकर अंगद-रावण-संवादमें—

गर्भ न गयहु ब्यर्थ तुम्ह जायहु। निज मुख तापस दूत कहायहु॥

—सम्बोधित करता है। अतः यह स्पष्ट है कि भगवान् श्रीरामने धर्मके सभी लक्षणोंका पालन कर हमारे समक्ष आदर्श प्रस्तुत किया है। महर्षि वाल्मीकि तो सत्यपालनमें **'सत्ये धर्म इवापरः'** कहकर उनको द्वितीय धर्मराजके समान मानते हैं।

भगवान् श्रीराम धर्मावतार हैं। उनके पावन चरितसे शिक्षा ग्रहण कर हमको तदनुरूप व्यवहार करना चाहिये। अच्छा हो यदि हम उनकी दिनचर्यानुकूल अपनी दिनचर्या बनावें।

भगवान् श्रीरामजीकी दिनचर्याका आनन्दरामायणके राज्यकाण्डके १९वें सर्गमें बड़े विस्तारसे वर्णन है। श्रीरामदासके द्वारा महर्षि वाल्मीकिजी अपने शिष्यको उपदेश करते हैं—

शृणु शिष्य वदाम्यद्य रामराज्ञः शुभावहा।
दिनचर्या राज्यकाले कृता लोकान् हि शिक्षितुम्॥

प्रभाते गायकैर्गीतैर्बोधितो रघुनन्दनः ।
नववाद्यनिनादांश्च सुखं शुश्राव सीतया ॥
ततो ध्यात्वा शिवं देवीं गुरुं दशरथं सुरान् ।
पुण्यतीर्थानि मातॄश्च देवतायतनानि च ॥
(आ० रा० राज्यकाण्ड १९ । २-३)

भगवान् श्रीरामजी नित्य प्रातःकाल चार घड़ी रात्रि शेष रहते मङ्गलगीत आदिको श्रवणकर जागते थे । फिर शिव, देवी, गुरु, देवता, पिता, तीर्थ, माता, देव-मन्दिर तथा पुण्यक्षेत्रों एवं नदियोंका स्मरण करते थे; फिर शौचादिके पश्चात् दन्त-शुद्धि करते थे । इसके अनन्तर कभी घरपर और कभी सरयूमें जाकर स्नान करते थे ।

स्नात्वा यथाविधानेन ब्रह्मघोषपुरःसरम् ॥
प्रातःसंध्यां ततः कृत्वा ब्रह्मयज्ञं विधाय च ।
(आ० रा० राज्यकाण्ड १९ । १०-११)

ब्राह्मणोंके वेदघोषके साथ विधिवत् स्नान करते थे । तदनन्तर प्रातःसंध्या तथा ब्रह्मयज्ञ करके ब्राह्मणोंको दान देकर महलमें आकर हवन करके शिवपूजन करते थे और इसके बाद कौसल्या आदि तीनों माताओंका पूजन करते थे । फिर गौ, तुलसी, पीपल आदि एवं सूर्यनारायणका पूजन करते थे । इसके पश्चात् सद्ग्रन्थों तथा गुरुदेवका पूजन करके उनके मुखसे पुराण-कथा श्रवण करते थे और तब भ्राता एवं ब्राह्मणोंके साथ कामधेनु-प्रदत्त अग्निपर बना हुआ उपहार ग्रहण करते थे ।

तदनन्तर वस्त्रादि तथा अस्त्र-शस्त्र धारणकर वैद्य तथा ज्योतिषियोंका स्वागत कर वैद्यको नाड़ी-परीक्षण कराते तथा ज्योतिषियोंसे नित्य पञ्चाङ्ग श्रवण करते थे; क्योंकि—

'लक्ष्मीः स्यादचला तिथिश्रवणतो वारात्तथाऽयुश्चिरम्'···

—के अनुसार तिथिके श्रवणसे लक्ष्मी, वारसे आयुवृद्धि, नक्षत्रसे पापनाश, योगसे प्रियजन-वियोगनाश तथा करण-श्रवणसे सब प्रकारकी मनःकामना पूर्ण होती है ।

पञ्चाङ्ग-श्रवणके अनन्तर श्रीरामजी पुष्पमाला धारणकर तथा दर्पण देखकर महलसे बाहर आकर अपनी प्रजाके लोगोंसे, मित्रोंसे तथा आगन्तुकोंसे भेंट करते थे ।

इसके अनन्तर उद्यानमेंसे निकलकर सेनाका निरीक्षण करते थे; फिर राजसभामें जाकर राज्य-कार्योंपर अपने भाइयों, पुत्रों तथा अधिकारियोंसे विचार करके आवश्यक व्यवस्था करते थे । तब मध्याह्न-कृत्योंके लिये श्रीरामजी पुनः महलमें पधारते थे ।

यहाँ आकर मध्याह्नमें स्नान करके पितरोंका तर्पण, देवताओंको नैवेद्य तथा बलिवैश्वदेव, काक-बलि आदि देकर भूत-बलि देते थे । फिर अतिथियोंको भोजन कराकर ब्राह्मणों तथा यतियोंके भोजन कर लेनेके पश्चात् स्वयं भोजन करते थे । भोजनके अनन्तर ताम्बूल खाते तथा ब्राह्मणोंको दक्षिणा देकर सौ पद चलकर विश्राम करते थे ।

विश्रामके पश्चात् क्षणिक मनोरंजन करके पिंजरोंमें पाले गये महलके पक्षियोंका निरीक्षण करके महलकी छतपर चढ़कर अयोध्या नगरीका निरीक्षण करते । फिर गोशालामें जाकर गायोंकी देख-रेख करते । इसके पश्चात् अश्वशाला, गजशाला, उष्ट्रशाला तथा अस्त्रशाला आदिका निरीक्षण करते थे ।

इन सब कार्योंके बाद वे दूतावास एवं तृण-काष्ठागारोंका निरीक्षण करते हुए दुर्गके रक्षार्थ बनी खाईकी देख-भाल करते और रथारूढ़ हो अवधपुरीके राजमार्गसे दुर्गके द्वारों तथा द्वाररक्षकोंका निरीक्षण करते थे । फिर बन्धुओंके साथ सरयूके तटपर भ्रमण कर सैनिक शिविरोंका निरीक्षण कर महलोंमें लौटकर राज्य-कार्यकी व्यवस्था करके सायंकालके समय सायंसंध्या तथा पूजनादिके पश्चात् भोजन करते थे । फिर देव-मन्दिरोंमें जाकर देवदर्शन तथा कीर्तन-श्रवण करके महलमें लौट आते थे ।

यहाँ बन्धुओंसे पारिवारिक विषयोंपर चर्चा करके भगवान् (**सार्धयामां निशां नीत्वा**) डेढ़ पहर रात्रि व्यतीत हो जानेपर शयनकक्षमें प्रवेश करके विश्राम करते थे ।

भगवान्की यह नियमित दिनचर्या हम सभीके लिये एक आदर्श दिनचर्या है । यदि हम इसके अनुरूप व्यवहार करें तो हमारा इहलोक तथा परलोक दोनोंमें ही कल्याण हो सकता है । यह दिनचर्या जहाँ एक सद्-नागरिकके लिये आदर्श दिनचर्या है, वहाँ यह शासकोंको भी कुशल प्रशासक बनानेवाली है ।



सत्यधर्म और उसके आदर्श श्रीराम

(लेखक—श्रीरामप्यारे मिश्र एम्० ए० (संस्कृत तथा हिंदी), व्या० शा०, आचार्य, साहित्यरत्न)

अभ्युदय तथा निःश्रेयसका साधन धर्म चार पुरुषार्थोंमें प्रधान माना जाता है। धर्म मोक्षका प्रधान साधन है। अर्थ एवं कामकी भी वास्तविक सिद्धि धर्मसे ही होती है। इस धर्मकी भारतीय शास्त्रोंमें अनेकविध परिभाषाएँ दी गयी हैं, जिनमें त्रिवर्गसागर धर्मको जीवका प्रेरक माना गया है। सभी उसे श्रेय-प्रेयका आधार और सुखका मूल स्वीकार करते हैं। लोकरक्षक, प्रेरक, आचार-शिक्षक तथा ऐहिक-आमुष्मिक सुखका प्रधान साधन धर्म है। सत्य इस धर्मका प्रधान अङ्ग है और इतना महत्त्वपूर्ण है कि कहीं-कहीं तो वह धर्मसे भी व्यापक या धर्मका पर्याय हो गया है। प्राचीन कालमें जब गुरुकुलके शास्त्र-पारंगतोंको आचार्य आचार-शिक्षा देते थे तो **'सत्यं वद'** 'धर्मं चर'में उन्हें धर्मसे पहले सत्यके पालनपर दृष्टि रखनी पड़ती थी। सत्य न केवल धर्मका एक प्रधान अङ्ग या उससे महत्त्वपूर्ण है अपितु वह ब्रह्मस्थानीय भी है। **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'**में जहाँ एक दार्शनिक परिभाषा है, वहीं सत्य तथा मिथ्याका वास्तविक रूप भी वर्णित है। वाल्मीकि महर्षिने रामायणमें सत्यका महत्त्व इस प्रकार बतलाया है—

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनावाप्यते परम्॥

(वा० रा० अयोध्या० १४। ७)

वस्तुतः प्रणव, वेद या सत्यसे चित्तशुद्धि होती है। चित्तशुद्धि होनेपर सत्यब्रह्म परंपदकी प्राप्ति सरल हो जाती है। लोकमें भी अर्थ और कामकी अपेक्षा धर्मका ही महत्त्व अधिक रक्खा गया है। धर्म अर्थ तथा कामका प्रभव तो है ही, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और जीवलोकके सर्वश्रेयों-का एकमात्र कारण है। स्वयं भगवान् मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामने धर्मके सम्बन्धमें कहा है—

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा॥
यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा
धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥

(वा० रा० अयोध्या० २१। ५७-५८)

श्रीरामचन्द्रजीके वन जानेपर जब श्रीभरतजी अयोध्याके प्रमुख लोगोंको लेकर उन्हें पुनः अयोध्या लानेके लिये चित्रकूट गये थे उस समय ऋषि जाबालिने श्रीरामचन्द्रजीको अयोध्या लौटानेकी दृष्टिसे कहा था **'प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु'**। जाबालिकी दृष्टिमें प्रत्यक्ष मात्र ही सत्य था, परोक्ष अनुमान, शब्द आदि प्रमाण सत्य न थे; किंतु सत्यपराक्रम श्रीरामचन्द्रने वेद-शास्त्र-स्मृति-विहित कुलीनाचारको ही धर्म माना था। जिसका परिणाम सुख हो, फल शुभ हो, उसी स्वर्गप्रद पितृपूजित पथ सत्यको श्रीरामने राज्य तथा जीवनका मुख्य आधार मानकर कहा था—'राजाओंको विशेषतः सत्यका पालन करना चाहिये; क्योंकि जैसा आचरण राजा (लोकनायक) का होगा, उसी प्रकार प्रजा (जनता-) का भी होगा' **'यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः'**। भगवान् श्रीरामकी दृष्टिमें कामवृत्त यथेच्छाचारी जीवन सर्व-लोक-विनाशक है। संसारमें सत्य ही सर्वसमर्थ तथा धर्मका आश्रय है। जगत्‌का सर्वस्व सत्यपर आधारित है। सत्यसे भिन्न परम पद नहीं है। इससे श्रीरामचन्द्रजीने सत्यकी जिस शाश्वत महिमाका उद्घोष किया है, उसीको आधार मानकर चलनेमें जगत्‌का हित सम्भव है। झूठे पुरुष श्री-रामचन्द्रजीके शब्दोंमें **'द्विजिह्व'** तथा लोकपीड़ाकारक मात्र होते हैं।

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।
तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः॥
ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम्॥
उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः।
धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते॥
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥

(वा० रा० अयोध्या० १०९। १०—१३)

इसी क्रममें भगवान् श्रीरामने स्वयं कहा था कि 'दान, यज्ञ, हवन, तप तथा वेद सभी श्रेयस्कर हैं। वेदोपदिष्ट

होनेके कारण फलप्रद हैं; किंतु स्वतः प्रमाणभूत होनेके कारण सत्य तथा ईश्वरमें वाच्य-वाचकत्वके कारण अभेद है। सत्यके प्रतिपालनके लिये ही कैकेयीके कहनेमात्रसे विना पिताके कहे भी श्रीरामचन्द्रजीने वनसे लौटना अधर्म तथा अनुचित माना था। इसीलिये सन्मार्गगामी पुरुषोंमें श्रीराम अग्रगण्य माने जाते हैं। **'नहि रामात् परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः'**। भारत-जैसे धर्मप्राण देशमें जो सत्य नहीं बोलता, वह सत्पात्र ब्राह्मण या उत्तम मनुष्य ही नहीं माना जाता।

जिस प्रकार नारीमात्रके लिये लज्जा आभूषण मानी जाती थी, उसी प्रकार वाणीकी शोभा मित तथा सत्यभाषणमें ही थी। त्रिविध तपमें वाक्-तप सत्य-भाषण ही माना जाता था। सभाके प्रत्येक सभ्यके लिये छलरहित सत्यका बोलना अनिवार्य था। धर्मके चार चरणोंमें सत्यका स्थान सर्वोच्च माना गया था। भारतीय जीवनका प्राण सत्य था। स्वप्नके सत्यको भी जीवनमें उतारनेवाले सत्यव्रत हरिश्चन्द्रकी कथा विश्वमें सत्यके लिये राज्य, ऐश्वर्य, प्रेममयी पत्नी, स्नेहमय पुत्रके त्यागकी कथाके रूपमें प्रख्यात है। उशीनर-नरेश शिबि कपोतकी रक्षाके लिये स्वशरीर-मांस देनेके वचनके प्रतिपालन मात्रके लिये स्वयं अपने शरीरके मांसको पुनः-पुनः काटकर तुलापर रखते गये। वह एक अद्भुत कहानी है। तेजस्वी अलर्कने वेदपारंगत किसी ब्राह्मणकी याचनापर अपने नेत्र भी दे दिये थे। अच्छे गुणोंकी एक शुभ परम्परा होती है। एक सत्यमात्रके अवलम्बनसे दया, दान, त्याग, तपस्या आदि जैसे अनेक गुण स्वतः उद्भूत हो जाते हैं। इसलिये मानवमात्रके लिये निष्ठापूर्वक सत्यव्रतका आकर्षण आदिकालसे रहा है। इन सत्यवादियोंकी परम्परामें भगवान् श्रीरामकी सत्यनिष्ठा अप्रतिम थी। उनकी धारणा थी कि लोभ, मोह, अज्ञान किसी भी प्रतिवन्धसे सत्यको नहीं छोड़ना चाहिये। देवता तथा पितर भी असत्यवादीका हव्य नहीं ग्रहण करते। वनवासके असह्य दुःख जटा-चीरको मात्र सत्यपालन धर्म-रक्षाके लिये ही उन्होंने धारण किया था। कायिक, वाचिक, मानसिक पापोंसे रक्षा सत्यपालनसे होती है—जो भाव मनमें उत्पन्न होता है, उसीको वाणीसे कहते तथा शरीरसे करते हैं। पृथ्वी, स्वदेश या परदेशव्यापिनी कीर्ति या यश तथा लक्ष्मी सभी सत्यका अनुसरण करती हैं। इसलिये भी सत्यका पालन सबको करना चाहिये। भारतीय धर्म ईश्वर, वेद तथा परलोकको आस्थापूर्वक स्वीकार करता है, इसीलिये परलोक-विरोधी जाबालिके विचारोंको भी श्रीरामने सत्य-पालनके समक्ष अग्राह्य माना था। धर्ममय सत्य, पराक्रम, प्राणियोंपर दया, प्रियवादिता, द्विजाति-देव-अतिथिपूजन—इन स्वर्गप्रद साधनोंमें सत्यको उन्होंने प्रथम साधन माना था। श्रीरामने स्वयं कहा था—**'रामो द्विर्नाभिभाषते'**। इस सत्यनिष्ठाको उन्होंने जीवन-पर्यन्त निभाया। उनकी प्रिया पत्नी सीताने दण्डकारण्यमें शस्त्र न ग्रहण करनेका परामर्श देते हुए कहा था कि मिथ्यावाक्य-की अपेक्षा परदाराभिगमन तथा मृगया, बिना वैर रौद्रतामें विशेष पाप होता है। शस्त्र-सेवनसे कायरता उत्पन्न होती है। क्षत्रियको आर्त-परिरक्षणमात्रके लिये शस्त्र धारण करना चाहिये। उन्होंने यह भी कहा था कि आप पुनः अयोध्या लौट चलनेपर ही क्षात्रधर्मका आचरण करें। किंतु श्रीरामचन्द्रजीने इसका समाधान करते हुए स्पष्ट कर दिया था कि मैंने ऋषियोंसे दण्डकारण्यके राक्षसों (आततायियों) के नियमनकी बात कह दी है। अतः उस सत्यकी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है।

> **ऋषीणां दण्डकारण्ये संश्रुतं जनकात्मजे।**
> **संश्रुत्य च न शक्ष्यामि जीवमानः प्रतिश्रवम्॥**
> **मुनीनामन्यथा कर्तुं सत्यमिष्टं हि मे सदा।**
> **अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्॥**
> **न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।**
> (वा० रा० अरण्य० १०। १७—१९)

सत्य-रक्षाके लिये ही श्रीरामचन्द्रजीने अपने अन्तिम क्षणोंमें कालको वचन देनेके कारण अपने बहिश्चर प्राण लक्ष्मणको भी त्याग दिया था। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीका जीवन सत्यके लिये ही अर्पित था।

लोक तथा परलोक-सहायक सत्यकी महिमा भारतीय शास्त्रों, काव्यों तथा आख्यानोंमें बहुधा प्रतिपादित है। **'सत्यान्नास्ति परो धर्मः'** के साथ ही **'नानृतात्पातकं परम्'** का भी निर्देश है। मिथ्याभाषणको रोग, विष यथा भयंकर शत्रु माना जाता है। असत्यवादीसे कोई मित्रता नहीं करता। उसका पुण्य, यश, श्रेय सब नष्ट हो जाता है। असत्यको पुण्यात्मा पुरुष अविश्वासका मूल कारण, कुवासनाओंका निवासस्थान, विपत्तिका कारण,

अपराध तथा वञ्चनाका आधार मानकर त्याग देते हैं। जिस प्रकार अग्नि वनको जला देता है, उसी प्रकार असत्यसे यश नष्ट हो जाता है। जल-सेचनसे जैसे वृक्षोंका विकास होता है, उसी प्रकार असत्यसे दुःख बढ़ते हैं। बुद्धिमान् पुरुष संयम, तपके विरोधी असत्यसे सदा दूर रहते हैं। सत्यभाषणका पुण्य सहस्रों अश्वमेधोंके पुण्यसे अधिक होता है। यह उक्ति कितनी तथ्यपूर्ण है कि गो, विप्र, वेद, सती, सत्यवादी, निर्लोभ तथा शूर—ये सात पृथ्वीके आधार हैं। इनके अभावमें पृथ्वीका अस्तित्व ही सम्भव नहीं। सत्यसे विश्वास उत्पन्न होता है, विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, अपराधी अपराध छोड़ देते हैं। व्याघ्र तथा सर्प स्वाभाविक हिंसा छोड़कर सरल हो जाते हैं। सत्य सभी प्रकारसे हितकारी, समृद्धिदायक तथा सौभाग्यका संजीवन है। भारतीय जीवनके लिये उपदेश है—**'सत्यपूतां वदेद् वाणीम्'।**

प्रातःकाल विविध देवोंकी उपासनाके क्रममें नित्य सत्यकी स्तुति की जाती है—

सत्यरूपं सत्यसंधं सत्यनारायणं हरिम्।
यत्सत्यत्वेन जगतस्तत् सत्यं त्वां नमाम्यहम्॥

भारतके घर-घरमें भगवान् सत्यनारायणकी कथा आज भी होती है, जिसमें मिथ्यावादियोंके धन-धान्य-विनाशकी कथाएँ उनके दुःख, पीड़ा, परिवार-विनाशको रोकनेके लिये अशरणशरण सत्यनारायण भगवान्‌के शरणमें जानेका संदेश देती हैं।

सत्यधर्मके पालनसे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्वहित-साधनमें बड़ी सहायता प्राप्त हो सकती है। मनुष्य सत्यका पालन कर अपने विकासकी चरम सीमापर पहुँच सकता है। भगवान् श्रीराम इस परमधर्म—सत्यके स्वरूप ही थे।

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम तथा महात्मा तुलसी

(लेखक—श्रीअभिमन्युजी शर्मा)

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निष्काम॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके समान मर्यादारक्षक आजतक कोई दूसरा नहीं हुआ। श्रीराम साक्षात् परमात्मा थे। धर्मकी रक्षा और लोकोंके उद्धारके लिये उन्होंने अवतार धारण किया था। उनके आदर्श लीला-चरित्रको पढ़ने, सुनने और स्मरण करनेसे हृदयमें महान् पवित्र भावोंकी लहरें उठने लगती हैं और मन मुग्ध हो जाता है। उनका प्रत्येक कार्य परम पवित्र, मनोमुग्धकारी और अनुकरण करने योग्य है। श्रीराम मर्यादाके साकार-रूप सर्वगुणाधार थे। सत्य, सुहृदयता, गम्भीरता, क्षमा, दया, मृदुता, शूरता, वीरता, धीरता, निर्भयता, विनय, शान्ति, तितिक्षा, तेज, प्रेम, मर्यादासंरक्षणता, एकपत्नीव्रत, मातृ-पितृ-भक्ति, गुरुभक्ति, भ्रातृप्रेम, सरलता, व्यवहार-कुशलता, प्रतिज्ञा-तत्परता, शरणागतवत्सलता, त्याग, साधु-संरक्षण, दुष्ट-विनाश, लोकप्रियता आदि सभी सद्‌गुणोंका श्रीराममें विलक्षण विकास हुआ था। इतने गुणोंका एकत्र विकास जगत्‌में कहीं नहीं मिलता है। श्रीराम-जैसी लोक-प्रियता तो आजतक कहीं देखनेमें नहीं आयी है।

श्रीरामकी मातृ-भक्ति आदर्श है। स्वमाता और अन्य माताओंकी तो बात ही क्या, कठोर-से-कठोर व्यवहार करनेवाली माँ कैकेयीके प्रति भी श्रीरामने भक्ति और सम्मानपूर्ण व्यवहार किया है। जिस समय कैकेयीने वन जानेकी आज्ञा दी, उस समय श्रीराम उनके प्रति सम्मान प्रकट करते हुए बोले—माता! इसमें तो सभी तरह मेरा कल्याण है।

मुनिगन मिलन बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥

एक बार लक्ष्मण जंगलमें माता कैकेयीकी शिकायत करने लगे, इसपर मातृभक्त मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने जो कुछ कहा, सदा मनन करने योग्य है—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥
(वा० रा० अरण्य० १६। ३७)

'हे भाई! मझली माता (कैकेयी) की निन्दा कभी मत किया करो। बातें करनी हो तो इक्ष्वाकुनाथ भरतके सम्बन्धमें करनी चाहिये। (क्योंकि भरतकी चर्चा मुझे बहुत प्रिय है।)'

इसी प्रकार उनकी पितृ-भक्ति भी अद्भुत है। पिताके वचनको पूरा करनेके लिये उन्होंने अयोध्याका सारा सुख-वैभव त्यागकर चौदह वर्षतक जंगलोंकी खाक छानी।

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः ।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके ॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ।
(वा० रा० अयोध्या० १८ । २८-२९)

'अहो मुझे धिक्कार है । हे देवि ! तुमको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये । मैं पिताकी आज्ञासे आगमें कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष खा सकता हूँ, समुद्रमें कूद सकता हूँ ।'

लक्ष्मणने जब यह कहा कि ऐसे कामासक्त पिताकी आज्ञा मानना अधर्म है, तब श्रीरामने सगर-पुत्र और परशुराम आदिका उदाहरण देते हुए कहा कि 'पिता प्रत्यक्ष देवता हैं । उन्होंने किसी भी कारणसे वचन दिया हो, मुझे उसका विचार नहीं करना है । मैं विचारक नहीं हूँ । मैं तो निश्चय ही पिताके वचनोंका पालन करूँगा ।'

विलाप करती हुई जननी कौसल्यासे श्रीरामने स्पष्ट ही कह दिया था कि—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥
(वा० रा० अयोध्या० २१ । ३०)

'मैं चरणोंमें सिर टेककर प्रणाम करता हूँ, मुझे वन जानेके लिये आज्ञा दो । माता ! पिताजीके वचनोंको टालनेकी शक्ति मुझमें नहीं है ।'

श्रीरामका एकपत्नीव्रत आदर्श है । पत्नी सीताके प्रति कितना अगाध प्रेम था, इसका दिग्दर्शन सीता-हरणके बाद श्रीरामकी दशामें मिलता है । महान् धीर, वीर योद्धा श्रीराम विरहोन्मत्त होकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे विलाप और प्रलाप करते पागलकी भाँति मूर्छित हो पड़ते हैं और 'हा सीते ! हा सीते !' पुकार उठते हैं ।

श्रीरामका सख्य-प्रेम भी आदर्श एवं अनुकरणीय है । सुग्रीवके साथ मित्रता होनेपर उन्होंने कहा—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें । सब बिधि घटब काज मैं तोरें ॥

इसी प्रकार श्रीरामका भ्रातृ-प्रेम भी अतुलनीय है । यहाँ हमें जिस भ्रातृ-प्रेमकी शिक्षा मिलती है, भ्रातृ-प्रेमका जैसा आदर्श प्राप्त होता है, वैसा जगत्के इतिहासमें और कहीं नहीं मिलता । यहाँतक कि खेल-कूदमें अपनी जीतको हार मानकर भाइयोंको दुलराते थे ।

खेलत संग अनुज बालक निज जोगवत अनत उपाऊ ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाऊ ॥

श्रीरामको अकेले राज्य स्वीकार करनेमें बड़ा अनौचित्य प्रतीत हुआ—

जनमे एक संग सब भाई । भोजन सयन केलि लरिकाई ॥
करनबेध उपबीत बिआहा । संग संग सब भए उछाहा ॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू । बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥

भरत-शत्रुघ्न तो उस समय मौजूद नहीं थे, इसलिये लक्ष्मणजीसे कहा—

सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च ।
जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये ॥
(वा० रा० अयोध्या० ४ । ४४)

'भाई लक्ष्मण ! तुमलोग वाञ्छित भोग और राज्यफलका भोग करो । मेरा यह जीवन और राज्य तुम्हारे ही लिये है ।'

धन्य है यह त्याग ! आदिसे अन्ततक कहीं भी राज्य-लिप्साका नाम नहीं और भाइयोंके लिये सर्वदा सर्वस्व त्याग करनेको तैयार ।

ऐसे श्रीरामके प्रति ही तो तुलसीकी कामना है—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निर्बान ।
जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन ॥

उन्हें इसके सिवा कुछ नहीं चाहिये । सुगति नहीं चाहिये, सुमति नहीं चाहिये, सम्पत्ति नहीं, ऋद्धि-सिद्धि, बड़ाई कुछ भी नहीं चाहिये । बस, चाह है तो केवल यही कि राम-पदमें दिन-दिन अनुराग बढ़ता जाय—

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई ।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ु अनुदिन अधिकाई ॥

इसलिये आइये हम सब भक्तिपूर्वक गोस्वामी तुलसीदासजीके स्वरमें स्वर मिलाकर भगवान् श्रीरामसे यह याचना और प्रार्थना करें—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥

अहिंसा-धर्मकी साधना

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

प्रेम न बाड़ी नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय ।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देय लै जाय ॥

अहिंसा माने क्या ?

अहिंसा माने प्रेम ! अहिंसा माने किसीको न सताना । किसीको न मारना । किसीको दुःख न देना । किसीको कष्ट न पहुँचाना । किसीका जी न दुखाना । किसीका अहित न करना ।

और इस 'किसी'में—सब कुछ आ जाता है । सारी मनुष्यजाति आ जाती है । सारे पशु-पक्षी आ जाते हैं । सारे कीड़े-मकोड़े आ जाते हैं । सारे प्राणी आ जाते हैं । सारी सृष्टि आ जाती है—स्थावर-जंगम सब । पेड़की एक-एक पत्ती, पौधेका एक-एक फूलतक उसमें आता है । उसे भी न तोड़ना चाहिये ।

× × ×

किसीको भी न सताना अहिंसा है ।

सताना होता है तीन तरहसे—मनसे, वचनसे, कर्मसे ।

हम शरीरसे तो किसीको मारें-पीटें या किसी भी तरहसे सतायें ही नहीं; वाणीसे भी किसीको कष्ट न दें । कड़ुवा न बोलें, तीखा न बोलें, व्यंग न करें, झूठ न बोलें । लगती बात न कहें । ऐसी कोई बात मुँहसे न निकालें जिससे किसीका बुरा हो, किसीका अहित हो, किसीका नुकसान हो । पर इतना ही नहीं, हम मनसे भी किसीका बुरा न चेतें । हम अपने मनमें भी न सोचें कि किसीकी हानि हो जाय ।—इसका नाम है अहिंसा ।

× × ×

हिंसाके दो भेद कर सकते हैं—स्थूल और सूक्ष्म ।

स्थूल हिंसा है—किसीको जानसे मार देना, घायल कर देना, हाथ-पैर तोड़ देना, अङ्ग-भङ्ग कर देना, पीट देना, काट लेना आदि ।

स्थूल हिंसा है—किसीको अपमानित कर देना, किसीकी रोजी छीन लेना, किसीका शोषण करना, किसीका अहित करना, किसीसे उसकी मर्जीके खिलाफ काम लेना । स्थूल हिंसा है—गाली-गलौज, व्यंग, ताना, मुक्का-मुक्की, लाठी-डंडा, तोप, बन्दूक, बम आदि हिंसक शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग ।

सूक्ष्म हिंसा है—मनमें किसीके प्रति दुर्भाव रखना, घृणाका भाव रखना, राग-द्वेषका भाव रखना और उस भावको व्यावहारिक रूप देनेके लिये योजनाएँ बनाना । ऐसे मौकोंकी तलाश करना जब विरोधी व्यक्ति या प्राणीको सताकर अपना वैर भँजा लिया जाय ।

मनमें सूक्ष्म हिंसा भरी रहती है तो जरा-सी चिनगारी देखते ही बारूदकी तरह भभक उठती है ।

× × ×

हिंसामें एक ही भाव भरा रहता है—'मैं'और 'मेरी' मर्जी !

'मैं जो चाहूँ सो हो । मेरी मर्जी ही कानून है । मेरी ही बात चलनी चाहिये । मेरा ही विचार चलना चाहिये । मुझे हर तरहका सुख मिले । सारी दुनिया, सारी सृष्टि—मेरी इच्छाके अनुकूल चले । जो कोई मेरी मर्जीके खिलाफ चलेगा, बोलेगा, उसे मैं कुचल दूँगा, बर्बाद कर दूँगा, मिट्टीमें मिला दूँगा ।'

× × ×

यह 'मैं' हर जगह टकराता है ।

घर-परिवारमें, दफ्तरमें, कारखानेमें, सड़कपर, यात्रामें, समाजमें, सभामें, संसद्‌में जहाँ देखिये 'मैं' का बोलबाला है ! एक 'मैं' दूसरे 'मैं'से टकराता है । नतीजा आँखोंके सामने है । जहाँ देखिये संघर्ष है, लड़ाई है, झगड़ा है, विरोध है । घरकी कलह दफ्तरमें जाती है, दफ्तरकी कलह घरमें आती है, समाजमें आती है, राष्ट्रमें आती है, संसारमें आती है । इस कलहके चलते घर बर्बाद होते हैं, जीवन बर्बाद होते हैं, समाज बर्बाद होते हैं, राष्ट्र बर्बाद होते हैं । चारों ओर हिंसाका दावानल सुलगता है । जो भी उसकी लपेटमें आता है, भस्म हुए बिना नहीं रहता ।

यह सर्वतोमुखी हिंसा आज हमें खाये जा रही है । वह हमारे जीवनमें अशान्ति और असंतोष भर रही है । हम उसकी लपटोंमें बुरी तरह झुलस रहे हैं ।

इस स्थितिसे त्राण पानेका एक ही उपाय है—अहिंसा !

× × ×

पर अहिंसाकी साधना कोई आसान बात है ?

दाल-भातका कौर है अहिंसा ?

अहिंसा सरल नहीं है, पर यदि हम अपनेको बचाना चाहते हैं, अपनी अशान्तिसे छुटकारा पाना चाहते हैं—तो अहिंसाकी शरणमें गये बिना गति ही नहीं।

× × ×

योगकी पहली सीढ़ीका पहला कदम है—अहिंसा।

योगकी आठ सीढ़ियाँ हैं; जिनमें पहली सीढ़ी है यम और यमका पहला कदम है—अहिंसा।

अहिंसाकी मंजिल पूरी किये बिना योगमें गति हो ही नहीं सकती। और अहिंसाकी साधना करते ही सारा वैर, सारा द्वेष, सारा क्रोध, सारा क्षोभ, सारी घृणा, सारी अशान्ति, सारी बेचैनी समाप्त हो जाती है। इतना ही नहीं, अहिंसाके साधकके निकट भी जो आ जाता है, वहाँतक वह अपना वैर-भाव भूल जाता है। शेर और बकरी एक घाटपर पानी पीने लगते हैं। कारण,

'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।'

× × ×

इस अहिंसाकी प्रतिष्ठा कैसे की जाय ? साधना कैसे की जाय ? माना कि 'अहिंसा परमो धर्मः' है। अहिंसा परम धर्म है। सभी धर्मोंने, सभी पंथोंने, सभी सम्प्रदायोंने, सभी संतों-महात्माओंने, ऋषियों-मुनियोंने अहिंसापर जोर दिया है। सभी शास्त्र, सभी धर्मग्रन्थ, सभी धर्माचार्य अहिंसाके पालनको सबसे अधिक महत्त्वशाली मानते रहे हैं। समाज-शास्त्री भी, राजनीतिज्ञ भी।

पर······।

कहाँ है अहिंसा हमारे जीवनमें ?

कहाँ है अहिंसा हमारे सामाजिक जीवनमें ?

कहाँ है अहिंसा हमारे राष्ट्रीय जीवनमें ?

यों कहनेके लिये विश्वके सभी सिरमौर अहिंसापर जोर देते हैं। सुख, शान्ति और आनन्दकी त्रिवेणी प्रवाहित करनेके लिये अहिंसाको अनिवार्य मानते हैं, पर स्थिति कुछ और ही है।

उसकी बातोंसे समझ रखा है तुमने उसे खिज्र,
उसके पाँवोंको तो देखो कि किधर जाते हैं।

रूस हो या अमेरिका, इंग्लैंड हो या फ्रांस—विश्वका कोई भी शक्तिशाली राष्ट्र वकालत शान्तिकी करता है, तैयारी युद्धकी। दिन-दिन एकसे एक भयंकर शस्त्रास्त्र तैयार किये जा रहे हैं, बमोंके कारखाने खड़े हो रहे हैं, 'गन कैरिज' फैक्टरियाँ खुल रही हैं, हिंसाके साधन जुटाये जा रहे हैं।

कौन पूछता है बेचारी अहिंसाको।

× × ×

पर कोई पूछे या न पूछे, अहिंसा जीवनकी अनिवार्य शर्त है। हिंसाके चलते न तो मानव-जीवन सुखी हो सकता है, न किसी समाज, राष्ट्र या देशका कल्याण हो सकता है। विश्वशान्तिके लिये, विश्वकल्याणके लिये, विश्व-मैत्रीके लिये अहिंसा आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

राग-द्वेष, मनोमालिन्य, घृणा-तिरस्कार, क्रोध-क्षोभ आदि हिंसाके भिन्न-भिन्न प्रकार जबतक मनमें बसे हुए हैं, तबतक शान्ति कहाँ ? सुख कहाँ ? आनन्द कहाँ ? व्यक्तिगत जीवन हो, सामाजिक जीवन हो, राष्ट्रीय जीवन हो—सबपर यही बात लागू होती है। हम यदि सुख, शान्ति और आनन्द चाहते हैं तो हमें सभी क्षेत्रोंसे हिंसाका निवारण करना पड़ेगा।

× × ×

प्रश्न है कि यह हो कैसे ?

उपाय उसका भी है, बशर्ते कि हम उसे करना चाहें।

अहिंसाके मार्गमें सबसे बड़ी बाधा यही है कि हम सच्चे हृदयसे अहिंसाकी साधना करना ही नहीं चाहते।

उसकी शुरुआत—उसका श्रीगणेश किया जा सकता है व्यक्तिगत जीवनसे, हम अपने निजी जीवनसे हिंसा निकाल दें; मन, वचन और कर्मसे अहिंसाके पालनपर कमर कस लें तो अहिंसाका दरवाजा खुल जाता है।

× × ×

हम परिवारमें रहते हैं। समाजमें रहते हैं। व्यक्तिगत जीवनमें, पारिवारिक जीवनमें, सामाजिक जीवनमें सैकड़ों व्यक्तियोंसे हमारा सम्बन्ध आता है। चाहे, न चाहे फिर भी हमें असंख्य लोगोंसे मिलना पड़ता है, व्यवहार करना पड़ता है। अहिंसाकी साधनाका श्रीगणेश यहींसे किया जा सकता है।

घरमें, परिवारमें, मुहल्लेमें, समाजमें—जहाँ भी जिस किसी भी व्यक्तिसे हमारा सम्पर्क आये, हमें चाहिये कि हम प्रेमसे मिलें, प्रेमका व्यवहार करें। हमारा आचरण

प्रेममय हो। हमारा व्यवहार प्रेममय हो। हमारी बातचीत प्रेममय हो।

अहिंसाका व्यावहारिक रूप है—प्रेम।

और यह तो सच है कि प्रेमका रास्ता बहुत टेढ़ा होता है। उसमें त्याग करना पड़ता है। उसमें बलिदान करना पड़ता है। उसमें निजी स्वार्थ छोड़ना पड़ता है। उसमें सहनशीलता, क्षमा, उदारता, दया, करुणा, नम्रता—सभी सद्गुणोंका विकास करना पड़ता है।

कारण,

यह तो घर है प्रेमका, खालाका घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठै यहि माहिं॥

× × ×

प्रेमको जीवनमें उतारना ही अहिंसाका पदार्थपाठ है।

हमारे हृदयमें प्रेम भर जाय, फिर तो हिंसा अपने आप चली जायगी। किसीको मारनेकी, किसीको सतानेकी, किसीको कष्ट पहुँचानेकी भावना केवल तभी आती है, तभी बढ़ती-पनपती है, जब हम उसे 'गैर' समझते हैं, 'पराया' समझते हैं।

अपनोंको भी कोई सताता है?

अपनोंको भी कोई कष्ट पहुँचाता है?

सबको हम 'अपना' मान लें—बस, अहिंसाकी साधना सफल।

फिर तो और कुछ करना ही नहीं पड़ेगा।

कहा है उर्दूके एक कविने—

डूबनेका ख़ौफ़ हमको हो तो फिर क्या खाक हो,
हम तेरे, किश्ती तेरी, साहिल तेरा, दरिया तेरा!!

× × ×

भारतीय विचारधारामें सबको अपना माननेकी, अपना बनानेकी भावना आरम्भसे ही पनपती आयी है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।

सब कुछ ईश्वरसे आच्छादित है—

ईशका आवास यह सारा जगत्।

सारी स्थावर और जंगम प्रकृतिमें, सृष्टिके कण-कणमें ईश्वर भरा हुआ है। जिधर देखिये उस परम प्रभुकी ही झाँकी दिखायी पड़ती है।

एकै पवन एक ही पानी, एक ज्योति संसारा।
एकहि खाक गढ़े सब भाँडे, एकहि सिरजनहारा॥

जब मनुष्य सारी सृष्टिमें सर्वत्र उस ईश्वरकी झाँकी करने लगता है, तो सारे राग-द्वेष, सारे क्षोभ, सारे विकार अपने आप दूर हो जाते हैं। स्वतः ही उसका चरित उदार हो जाता है—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

फिर तो सारी दुनिया अपने कुटुम्बका रूप धारण कर लेती है। मनुष्य विश्वपरिवारका सदस्य बन जाता है। यह 'मेरा', वह 'तेरा'—यह भाव ही जाता रहता है। तब तो सारा मानवसमाज अपना ही समाज लगता है। सब लोग अपने ही परिवारवाले जान पड़ते हैं। किसीसे झगड़ा नहीं, किसीसे विरोध नहीं, किसीसे घृणा नहीं। सारे भेद-भाव अपने-आप झड़ जाते हैं। ब्राह्मण और शूद्र, हिंदू और मुसल्मान, बौद्ध और ईसाई—सब-के-सब अपने हो जाते हैं। और अपनोंकी हिंसाका, अपनोंको सतानेका प्रश्न ही कहाँ उठता है?

सारे भेदभाव दूर खड़े रहते हैं—वर्ण और रंग, जाति और सम्प्रदाय, देश और काल, भाषा और लिंग, वर्ग और विचार—किसीकी दाल नहीं गलती!

'हम सब मनुष्य हैं। हम सब एक हैं। हम सब एक पिताके बालक हैं।'—यह भाव हम अपने जीवनमें विकसित कर लें, सबको अपना मान लें, फिर तो अहिंसाकी साधना अपने-आप होने लगेगी। उसके लिये कुछ भी करना न पड़ेगा। हमारे जीवनसे, हमारी वाणीसे, हमारे व्यवहारसे अहिंसा-धर्म स्वतः मुखरित होने लगेगा। कठिन है, फिर भी यह साधना करने जैसी है। आइये, हम सच्चे हृदयसे इस धर्मके पालनका व्रत लें।

प्रेमके इस मार्गपर थोड़ा-सा आगे बढ़ते ही हमारा रोम-रोम पुकार उठेगा।

करूँ मैं दुश्मनी किससे अगर दुश्मन भी हो अपना।
मुहब्बतने नहीं दिलमें जगह छोड़ी अदावतकी॥

× × ×

'अब मैं का सौं बैर करूँ।
कहत पुकारत प्रभु निज मुख तें घट-घट हौं बिहरूँ॥

अहिंसा-धर्मका स्वरूप

(लेखक—ब्र० श्रीस्वामीजी श्रीमानन्दतीर्थजी)

अहिंसा—शरीर, वाणी अथवा मनसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदिकी मनोवृत्तियोंके साथ किसी प्राणीको शारीरिक, मानसिक पीड़ा अथवा हानि पहुँचाना या पहुँचवाना या उसकी अनुमति देना या स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूपसे उसका कारण बनना हिंसा है। इससे बचना अहिंसा है। गौ, अश्व आदि पशुओंका उचित रीतिसे पालन-पोषण करके प्राण-हरण न करते हुए उनसे नियमित रूपसे दूध आदि सामग्री प्राप्त करना तथा सेवा लेना हिंसा नहीं है; पर यही जब उनकी रक्षाका ध्यान न रखते हुए दूध, सेवा आदि क्रूरताके साथ लिया जाय तो हिंसा हो जाती है।

शिक्षार्थ ताड़ना देना, रोग-निवारणार्थ ओषधि देना अथवा ऑपरेशन करना, सुधारार्थ या प्रायश्चित्तके लिये दण्ड देना हिंसा नहीं है; यदि ये बिना द्वेष आदिके केवल प्रेमसे उनके कल्याणार्थ किये जायँ। पर यही जब द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह और भय आदिकी मनोवृत्तियोंसे मिश्रित हों तो हिंसा हो जाते हैं। प्राणोंका शरीरसे वियोग करना सबसे बड़ी हिंसा है। श्रीव्यासजी महाराजने अहिंसाकी व्याख्या इस प्रकार की है कि 'सर्वकालमें सर्वप्रकारसे सब प्राणियोंका चित्तमें भी द्रोह न करना अहिंसा है।' अहिंसा ही सब यम-नियमोंका मूल है। उसीके साधन तथा सिद्धिके लिये अन्य यम और नियम हैं और उसी अहिंसाको निर्मल रूप बनानेके लिये ग्रहण किये जाते हैं।

× × ×

जिस प्रकार सारे क्लेशोंका मूल अविद्या है, उसी प्रकार सारे यमोंका मूल अहिंसा है। हिंसा तीन प्रकारकी है—(१) शारीरिक—किसी प्राणीका प्राण-हरण करना अथवा अन्य प्रकारसे शारीरिक पीड़ा पहुँचाना, (२) मानसिक—मनको क्लेश देना या मनसे किसीका अहित—बुरा चाहना, (३) आध्यात्मिक—अन्तःकरणको मलिन करना। यह राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भयादि तमोगुण वृत्तिसे मिश्रित होती है। किसी प्राणीकी किसी प्रकारकी हिंसा करनेके साथ-साथ हिंसक अपनी आत्मिक हिंसा करता है, अर्थात् अपने अन्तःकरणको हिंसाके क्लिष्ट संस्कारोंके मलसे दूषित करता है। इन तीनों प्रकारकी हिंसाओंमें सबसे बड़ी हिंसा आध्यात्मिक हिंसा है, जैसा कि ईशोपनिषद्में बतलाया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

'जो कोई आत्मघाती लोग हैं (अर्थात् अन्तःकरणको मलिन करनेवाले हैं,) वे मरकर उन लोकोंमें (योनियोंमें) जाते हैं, जो असुरोंके लोक कहलाते हैं और घने अँधेरेसे ढके हुए हैं अर्थात् ज्ञानरहित मूढ़ नीच योनियोंमें जाते हैं।'

शरीर तथा मनकी अपेक्षा आत्मा श्रेष्ठतम है; क्योंकि शरीर और मन तो आत्माके करण (साधन) हैं, जो मनुष्यको उसके कल्याणार्थ दिये गये हैं। इसलिये हिंसक अधिक दयाका पात्र है। उसके प्रति भी द्वेष अथवा बदला लेनेकी भावना रखना हिंसा है। इसलिये जिसपर हिंसा की जाती है, उसके तथा हिंसक दोनोंके कल्याणार्थ हिंसा-पापको हटाना तथा अहिंसा-धर्मको ग्रहण करना चाहिये। योगीमें अहिंसा-व्रतकी सिद्धिसे आत्मिक तेज इतना बढ़ जाता है कि उसकी सन्निधिसे ही हिंसक हिंसाकी भावनाको त्याग देता है। मानसिक शक्तिवाले मानसिक बलसे हिंसाको हटा दें, वाचिक तथा शारीरिक शक्तिवाले जहाँतक उनका अधिकार है, उस सीमातक इन शक्तियोंको हिंसाके रोकनेमें प्रयोग करें। शासकों तथा न्यायाधीशोंका परम कर्तव्य संसारमें अहिंसा-व्रतको स्थापन करना है। जिस प्रकार कोई मनुष्य मदोन्मत्त अथवा पागल होकर किसी घातक शस्त्रसे, जो उसके पास शरीर-रक्षाके लिये है, अपने ही शरीरपर आघात पहुँचाने लगे, तो उसके शुभचिन्तकोंका यह कर्तव्य होता है कि उसके हितार्थ उसके हाथोंसे वह शस्त्र हरण कर लें। इसी प्रकार यदि कोई हिंसक शरीररूपी शस्त्रसे, जो उसको उसकी आत्माके कल्याणार्थ दिया गया है, दूसरोंको तथा अपनी ही आत्माको हिंसारूपी आघात पहुँचा रहा है और अन्य किसी प्रकारसे उसका सुधार असम्भव हो गया है तो अहिंसा तथा उसके सहायक अन्य सब यमोंकी सुव्यवस्था रखनेवाले शासकोंका परम कर्तव्य होता है कि उसके शरीरका उससे वियोग कर दें। यह कार्य अहिंसा-व्रतमें बाधक नहीं है, वरं अहिंसा-व्रतका रक्षक और पोषक है।

पर यदि यह कार्य द्वेषादि तमोगुणी वृत्तियों अथवा बदला लेनेकी भावनासे मिश्रित है तो हिंसाकी सीमामें आ

जाता है। अहिंसाके स्वरूपको इस प्रकार विवेकपूर्वक समझना चाहिये कि सत्त्वरूपी धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य (श्रेष्ठ भावनाओं) के प्रकाशमें अहिंसा तथा उसके अन्य सब सहायक यमोंमें और तमरूपी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य (नीच भावनाओं) के अन्धकारमें हिंसा तथा उसके सहायक अन्य चारों वितर्कोंमें प्रवृत्ति होती है। धर्म-स्थापनके लिये युद्ध करना क्षत्रियोंका कर्तव्य है, उससे बचना हिंसारूपी अधर्ममें सहायक होना है। श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
(गीता २। ३१)

'स्वधर्मको समझकर भी तुझे हिचकिचाना उचित नहीं है; क्योंकि धर्मयुद्धकी अपेक्षा क्षत्रियके लिये और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता।'

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
(गीता २। ३२)

'हे पार्थ! यों अपने-आप प्राप्त हुआ और मानो स्वर्गका द्वार ही खुल गया हो, ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियोंको ही मिलता है।'

वेदमें भी ऐसा बतलाया गया है। यथा—

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥
(अथर्ववेद १८। २। १७)

'जो संग्रामोंमें लड़नेवाले हैं, जो शूरवीरतासे शरीरको त्यागनेवाले हैं और जिन्होंने सहस्रों दक्षिणाएँ दी हैं, तू उनको (अर्थात् उनकी गतिको) भी प्राप्त हो।'

अपनी दुर्बलताके कारण भयभीत होकर अत्याचारियोंके अत्याचार सहन करना, अपनी धन-सम्पत्तिको चोर-डाकुओं से हरण करवाना, अपने समक्ष अपने परिवार, देश, समाज अथवा धर्मको दुर्जनोंद्वारा अपमानित देखना अहिंसा नहीं है, बल्कि हिंसाका पोषक कायरतारूपी महापाप है। इतना बतला देना और आवश्यक है कि क्षात्रधर्मानुसार तेजस्वी वीर ही अहिंसा-व्रतका यथार्थरूपसे पालन कर सकता है। दुर्बल, डरपोक, कायर, नपुंसक हिंसकोंकी हिंसा बढ़ानेमें भागी होता है।

× × ×

सर्वसाधारणके लिये अहिंसारूप व्रतके पालन करनेमें सबसे सरल कसौटी यह है "Do to others as you want others do to you." अर्थात् दूसरोंके साथ व्यवहार करनेमें पहले यह भली प्रकार जाँच लो कि यदि तुम इनके स्थानपर होते और वे तुम्हारे स्थानपर तो तुम उनसे किस प्रकारका व्यवहार कराना चाहते। बस, वैसा ही तुम उनके साथ व्यवहार करो। यही सिद्धान्त सत्य और अस्तेय आदि यमोंमें भी घट सकता है।

हर समय इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि हमारा जीवन प्राणिमात्रके लिये सुखदायी और कल्याणकारी हो। कोई कार्य ऐसा न होने पाये, जिससे किसीको किसी प्रकारका दुःख पहुँचे।

× × ×

अहिंसानिष्ठ योगीके निरन्तर ऐसी भावना और यत्न करनेसे कि उसके निकट किसी प्रकारकी हिंसा न होने पावे, उसके अन्तःकरणसे अहिंसाकी सात्त्विक धारा इतने तीव्र और प्रबल वेगसे बहने लगती है कि उसके निकटवर्ती तामसी हिंसक अन्तःकरण भी उससे प्रभावित होकर तामसी हिंसक-वृत्तिको त्याग देते हैं।*

हिंसाका अनुमोदक भी हिंसक है

अखादन्ननुमोदंश्च भावदोषेण मानवः।
योऽनुमोदति हन्यन्तं सोऽपि दोषेण लिप्यते॥
(महाभारत अनुशासन ११५। ३९)

जो स्वयं मांस नहीं खाता, पर खानेवालेका अनुमोदन करता है, वह मनुष्य भी भावदोषके कारण मांसभक्षणके पापका भागी होता है। इसी प्रकार जो मारनेवालेका अनुमोदन करता है, वह भी हिंसाके दोषसे लिप्त होता है।

*श्रीस्वामीजी महाराजद्वारा लिखित 'पातञ्जलयोगप्रदीप' नामक पुस्तकसे। यह पुस्तक गीताप्रेस गोरखपुरसे ६ रुपयेमें मिलती है।

अहिंसा परमो धर्मः

(१)

(लेखक—श्रीहरिप्रसादजी शर्मा साहित्यशास्त्री, काव्यतीर्थ)

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥
(महाभारत)

'मन, वचन और कर्मके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ अद्रोह अर्थात् मित्रता करना और प्राणिमात्रके ऊपर अनुग्रह करके उन्हें सुख पहुँचाना आदि सनातन धर्म ही परम धर्म है।'

जो मनुष्य किसी दूसरेको वचनके द्वारा कष्ट देता है—किसीकी निन्दा करता है या कठोर वचन बोलता है, वह वचनके द्वारा हिंसा करता है, इसे 'वाचिक हिंसा' कहते हैं। जो मनसे किसीका भी तनिक भी अकल्याण चाहता है, वह मनके द्वारा हिंसा करता है, इसे 'मानसिक हिंसा' कहते हैं। जो व्यक्ति किसीका वध करता है या चोट पहुँचाता है वह कर्मके द्वारा हिंसा करता है, इसे 'शारीरिक हिंसा' कहते हैं।

उपर्युक्त तीनों प्रकारकी हिंसा ही सर्वथा त्याज्य है। हिंसासे मनुष्यमें क्रूरता आती है और क्रूरतासे हिंसा होती है। ये अन्योन्याश्रित हैं। एक दूसरेको बढ़ाते रहते हैं। हिंसासे मनकी सद्भावना भी नष्ट होती है। साथ ही पापकी वृद्धि होती है। हिंसकको इहलोक तथा परलोकमें कभी शान्ति नहीं मिलती। इसके विपरीत जो पुरुष प्राणिमात्रको **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'**की भावनासे आत्मवत् देखता है और कभी भी किसीको तन-मन-वचनसे दुःख नहीं पहुँचाता, वही सुखी रहता है। महाभारतमें कहा है—

अधृष्यः सर्वभूतानामायुष्मान्नीरुजः सुखी।
भवत्यभक्षयन्मांसं दयावान् प्राणिनामिह॥
(महाभारत अनुशासन ११५। ४०)

'जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करता है और कभी भी मांस नहीं खाता, वह मनुष्य न तो स्वयं किसी भी प्राणी-से डरता है और न दूसरोंको डराता ही है। वह दीर्घायु होता है, आरोग्यपूर्वक रहता है और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है।' मनु महाराज लिखते हैं—

यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते॥

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन॥
(मनुस्मृति ५। ४६-४७)

'जो मनुष्य किसी भी प्राणीका बन्धन या वध नहीं करता, किसी भी प्रकारसे किसीको कष्ट नहीं पहुँचाता, वह सबका हितचिन्तक मनुष्य अपार सुख प्राप्त करता है।' इस प्रकार कर्म करनेवाला मनुष्य कुछ भी क्यों न करता हो, वह जिस कार्यमें धीरतापूर्वक लग जाता है, उसीमें उसे बिना ही प्रयत्न किये सफलता मिलती है; क्योंकि वह किसी भी प्राणीको कभी भी दुःख नहीं पहुँचाना चाहता, तब उसे दुःख कैसे होगा? जो प्राणिमात्रपर प्रेमभाव रखता है, उसके प्रति सभी प्राणी प्रेम करते हैं और सब प्राणियोंके अधिष्ठाता ईश्वर भी उस व्यक्तिपर परम प्रसन्न रहते हैं।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ६। ३०)

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं कि 'जो मनुष्य सब भूतोंमें आत्मरूप मुझको देखता है और सम्पूर्ण प्राणियोंको मेरे अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं हूँ और वह व्यक्ति मेरे लिये अदृश्य नहीं होता; क्योंकि वह मुझमें एकीभावसे रहता है।' अतः हमें चाहिये कि प्राणिमात्रकी आत्माको एक ही समझकर कभी किसी प्रकार भी हिंसा न करें। **'अहिंसा परमो धर्मः'**का ही पूर्णरूपसे पालन करें। मनु महाराज कहते हैं—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते॥
(मनुस्मृति ५। ४५)

'जो मनुष्य होकर भी अहिंसक अर्थात् निरपराधी प्राणियोंको अपने सुखके लिये दुःख देता है—उनकी हिंसा करता है वह न तो इस जन्ममें सुखी रहता है, न मरनेके बाद स्वर्गसुख ही प्राप्त कर सकता है।'

अतः मानवमात्रका यह एक पुनीत कर्तव्य है कि मन, वचन और कर्मके द्वारा किसीको भी दुःख न दें। पूर्णरूपसे सदा-सर्वदा केवल अहिंसा-धर्मका ही पालन करें।

(२)

(लेखक—श्रीगुलाबचन्दजी वात्सल्य)

वास्तवमें विश्वमें यदि कभी सुख-शान्ति आ सकती है तो वह केवल अहिंसा-धर्मसे ही। अहिंसाका तात्पर्य है, किसी भी प्राणीको मन, वचन और कर्मसे कभी दुःख न पहुँचाना। इस सृष्टिमें प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है और जीनेके साथ-साथ वह सुख और शान्ति चाहता है। यह स्वाभाविक है कि प्राणी दुःखसे छूटकर सुखी होना चाहता है। परंतु हममें एक स्वाभाविक दुर्बलता है कि हम अपना ही स्वार्थ देखते हैं; क्योंकि हमारी अहंता-ममता-मूलक वृत्तियाँ हमें अपने क्षुद्र स्वार्थतक ही सीमित रखती हैं, जिसके कारण हम केवल अपनी ही रक्षा तथा उन्नति चाहते हैं, दूसरे प्राणी चाहे मर जायँ हमें इससे प्रयोजन नहीं रहता। इसी अपनी नीच स्वार्थभावनाको लेकर हम दूसरोंके प्राणोंको तुच्छ समझकर उन्हें कष्ट देते हैं, उनका अहित करते हैं एवं उन्हें मारते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि जो एक तत्त्व हममें उपस्थित है, जिससे हमने जीवन धारण किया है, वही तत्त्व सर्वत्र व्यापक है और समस्त जीवधारियोंके भीतर उपस्थित है। प्रकृतिने प्रत्येक प्राणीको चाहे वह छोटा हो या बड़ा, कीट-पतंगसे लेकर मनुष्यतक सबको समान अधिकार दिये हैं। प्रकृतिकी दृष्टिमें सभी समान हैं, परंतु यह मनुष्य है जो बुद्धि और चित्तका सर्वोत्तम रूप पाकर अपनेको सबका राजा समझता है और अपनी स्वार्थपरताके लिये अन्य प्राणियोंको कष्ट पहुँचाता है।

अहिंसा एक ऐसा पावन गुण या पवित्र कर्तव्य है जो सृष्टिपर एक ऐसी व्यवस्था करता है, जिससे मानव सुख-शान्तिसे जीवित रह सकता है और जिससे सर्वत्र समत्वबुद्धिका प्रकाश फैलता है। इसीसे भारतके आर्यमनीषियोंने अहिंसाको सबसे बड़ा धर्म कहा। हमारे सम्पूर्ण धार्मिक ग्रन्थ, हमारे ही क्या विश्वके समस्त धार्मिक ग्रन्थ अहिंसाका गुणगान करते हैं और मनुष्योंको बार-बार पद-पदपर अहिंसामय जीवन व्यतीत करनेको कहते हैं। अहिंसा-धर्म अनेकों गुणोंका समुच्चय है। दया, क्षमा, करुणा आदि इसमें मुख्यतासे आते हैं। अब देखना है इस अहिंसा-धर्मके विषयमें कहाँ-कहाँ उपदेशात्मक चर्चा है तथा इसका आदर्श क्या है?

सबसे प्रथम महाभारतके जो कि हिंदुओंका सर्वोपरि धर्ममय ऐतिहासिक गौरव-ग्रन्थ है, अनुशासनपर्वमें अहिंसाकी विशद व्याख्या करते हुए इसकी महत्ता बतलायी गयी है—

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥
अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥
सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वाऽऽप्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत् तुल्यमहिंसया॥

(११५। २३; ११६। २८—३०)

अर्थात् अहिंसा परम धर्म है, परम तप है, परम सत्य है, इसीसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है। अहिंसा परम संयम है, परम दान है, परम यज्ञ है, परम फल है, परम मित्र है और परम सुख है। सब यज्ञोंमें दान किया जाय, सब तीर्थोंमें स्नान किया जाय, सब प्रकारके स्नान-दानका फल प्राप्त हो तो भी उसकी अहिंसा-धर्मके साथ तुलना नहीं हो सकती।

हमारे प्राचीन वेद भी इसी बातको बताते हैं। देखिये यजुर्वेद (३०) में। 'मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः।' अर्थात् अपनी देहसे किसी भी प्राणीको कष्ट मत दो। भावार्थ यह कि सर्वथा अहिंसाका पालन करो। श्रीमहेश्वर कहते हैं—

न हि प्राणैः प्रियतमं लोके किंचन विद्यते।
तस्मात् प्राणिदया कार्या यथाऽऽत्मनि तथा परे॥

(महाभारत अनुशासन १४५)

संसारमें प्राणोंके समान प्रियतम दूसरी कोई वस्तु नहीं है। अतः सब प्राणियोंपर दया करनी चाहिये। जैसे अपने लिये दया अभीष्ट है, वैसे ही दूसरोंके लिये भी होनी चाहिये।

देवर्षि नारद भगवान्‌की पूजाके लिये गुण-पुष्पोंकी चर्चा करते हुए अहिंसा-धर्मका ही सर्वप्रथम नाम लेते हैं—

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः।
तृतीयकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च॥

अर्थात् अहिंसा प्रथम पुष्प है, दूसरा पुष्प इन्द्रियनिग्रह है, तीसरा पुष्प जीवदया है और चौथा क्षमा है।

स्वामी रामानन्दाचार्य अहिंसाकी महत्ता दर्शाते हुए कहते हैं—

दानं तपस्तीर्थनिषेवणं जपो
न चास्त्यहिंसासदृशं सुपुण्यम्।
हिंसामतस्तां परिवर्जयेज्जनः
सुधर्मनिष्ठो दृढधर्मवृद्धये॥

अर्थात् दान, तप, तीर्थ-सेवन एवं मन्त्र-जप—इनमेंसे कोई भी अहिंसाके समान पुण्यदायक नहीं है। अतः सर्वश्रेष्ठ वैष्णवधर्मका पालन करनेवालेको चाहिये कि वह अपने सुदृढ़ धर्मकी वृद्धिके लिये सब प्रकारकी हिंसाका परित्याग कर दे।

तात्पर्य यह कि भारतके बड़े-बड़े महान् पुरुष सब इसी बातको लेकर चलते हैं कि मनुष्यका परम धर्म और आदर्श अहिंसा ही है। भारत ही क्या विश्वका प्रत्येक मत अहिंसाको मान्यता देता है।

ईसाई-धर्म भी अहिंसाको स्वीकार करता है। देखिये, ईसामसीह कहते हैं—

'Thou shalt not kill and ye shall be holy man unto me neither shall ye eat any flesh that is torn of beasts in the field.'

अर्थात् तू किसीको मत मार। तू मेरे पास पवित्र मनुष्य होकर रह, जंगलोंके प्राणियोंका वध करके उनका मांस मत खा।

बौद्धधर्म भी अहिंसाको अपना सर्वोत्तम धर्म स्वीकार करता है। उसके मूल सिद्धान्त अहिंसापर ही आधारित हैं। देखिये मज्झिमनिकाय—

पाणातिपातो अकुसलं पाणातिपात बेरमणी कुसलं॥

अर्थात् प्राणघात अहितकारी है, प्राणघातसे विरक्त होना हितकारी है।

पाणं न हाने न च घातयेय्य न चानुजंय्या हनतं परेस।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दंडं ये थावरा ये चतसंसि लोके॥

अर्थात् सब प्राणियोंपर दया रखकर जो लोकमें स्थावर जीव हों या जंगम जीव हों, उनमेंसे किसीके प्राण न लेना चाहिये, न उनका घात करना चाहिये और न घात होनेका अनुमोदन ही करना चाहिये।

बौद्धोंका एक ग्रन्थ सुत्तनिपात, जिसका अंग्रेजी अनुवाद कवि Fanshold ने किया है, एक स्थानपर लिखा है—As I am so are these, as these are so am I, identifying with others, let him not kill, nor cause (anyone) to kill.

अर्थात् जैसा मैं हूँ वैसा वे हैं, जैसा वे हैं वैसा मैं हूँ। अपने समान दूसरोंको जानकर न तो किसीकी हिंसा करनी चाहिये और न हिंसा करानी चाहिये।

जैनधर्म तो अहिंसा-प्रधान धर्म ही है। जितना अहिंसाको जैनधर्म महत्त्व देता है, उतना शायद इतर धर्म नहीं देते। जैन साधु तो हिंसाके भावतकका मनमें आना पाप समझते हैं और उसे बन्धनका कारण कहते हैं। कई जैन मुनि तो यहाँतक मानते हैं कि जहाँ आत्माके शुद्ध भावोंकी हिंसा हो, वहाँ हिंसा होती है। परंतु इतने सूक्ष्ममें गमन करनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें तो जन-साधारणके लिये जो सुलभ हो, वही कहना है। भगवान् महावीर कहते हैं—'ज्ञानी होनेका यही सार है कि वह किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे।' इतना ही अहिंसाके सिद्धान्तका ज्ञान यथेष्ट है। यही अहिंसाका विज्ञान है।

अहिंसा मानो पूर्ण निर्दोषता ही है। पूर्ण अहिंसाका अर्थ है प्राणिमात्रके प्रति दुर्भावका सर्वथा अभाव तथा प्राणिमात्रके प्रति सहज प्रेम। सत्यके दर्शन बिना अहिंसा हो ही नहीं सकती। इसलिये कहा है—'अहिंसा परमो धर्मः।'

अतः हमें यह जानना चाहिये कि यथार्थमें अहिंसा-धर्म मानव-जीवनका सबसे बड़ा पुरुषार्थ है और इसे सर्वोत्तम कर्तव्य मानकर मन, वचन और कर्मसे पालन करनेका निश्चय करना चाहिये। 'अहिंसाका पालन करके मानव अपनी मुक्तिका द्वार अपने-आप खोल लेता है।' 'जो मन, वचन और कर्मसे पूर्ण अहिंसक है उसके समीप सभी प्राणी वैर-भावको त्यागकर उसके मित्र बन जाते हैं' और वह प्राणी सबसे अभय होकर पृथ्वीपर विचरण करता है। वही तत्त्वयोगी, वही कर्मयोगी और वही सम्यग्दर्शी है जिसने अहिंसा-जैसे पावन धर्मको अपने जीवनमें उतार लिया है। अहिंसा-धर्मके आदर्श हैं—दया, क्षमा, करुणा, समदृष्टि, सहनशीलता, अक्रोध, ब्रह्मचर्य आदि। सभी प्राणियोंमें एक ही चैतन्य परमात्माका अनुभव करके सभीको समानभावसे देखना, किसीसे राग-द्वेष न करना, किसीसे घृणा न करना, किसीको कष्ट न देना, सबको सुख पहुँचाना, सभीका हित करना और सभीसे प्रेम करना।

(२)

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

[अहिंसा-प्रश्नोत्तरी]

अहिंसा सबसे बड़ा धर्म है, अन्य सब धर्म इसी धर्ममें समा जाते हैं। जो अहिंसक है उससे कोई पाप नहीं हो

सकता। हिंसाके त्यागसे सब पापोंका त्याग हो जाता है। अतएव कहा है—'**अहिंसा परमो धर्मः।**'

—'**अहिंसा परमो धर्मः।**' बड़ा सुन्दर मन्त्र है। परंतु अहिंसाका क्या स्वरूप है? इसे समझाइये।

—'**अहिंसा परमो धर्मः।**' किसीको पीड़ा न देना, मनसे, वचनसे अथवा कायासे—किसी भी प्रकार किसीको न तो स्वयं पीड़ा देना, न दूसरेसे दिलवाना और न किसी हिंसक कर्मका अनुमोदन करना। इस प्रकार २७ प्रकारकी हिंसासे बचना ही सच्ची अहिंसा है।

'अठारह पुराणोंमें व्यासने दो ही बातें कही हैं, दूसरोंका उपकार करना पुण्य है और पीड़ा देना पाप है। केवल व्यास ही नहीं, वेद, उपनिषद्, श्रुति, स्मृति—सभीने अहिंसाको ही परम धर्म बतलाया है। भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध, ईसामसीह, हमारे अपने समयमें पूज्य महात्मा गाँधीने अहिंसा-धर्मको सर्वोच्च स्थान दिया है।'

'अच्छा तो, अब यह बताइये कि किस प्रकार हम अपनी हिंसक मनोवृत्तिको वशमें करके अहिंसा-धर्मका पालन करनेमें समर्थ हो सकते हैं?'

—'वत्स! तुम्हारा प्रश्न बहुत ही सुन्दर है। मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। हिंसा होती है अतृत कामनाके कारण। जब कोई हमारी कामना-पूर्तिमें बाधा डालता है तो हम उसे हटा देना चाहते हैं। समझा-बुझाकर, नहीं तो बलात्। बस, यही हिंसा है। जिन्होंने हमारी कामनाओंमें बाधा डाली है या जिनसे हमें ऐसी आशङ्का है, उन्हें प्रतिशोधरूपमें हम पीड़ा देना चाहते हैं। फिर तो, कुछ लोगोंका स्वभाव ही परपीड़क हो जाता है। उन्हें दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेमें बड़ा आनन्द आता है।'

—'तब सिद्ध हुआ कामना ही हिंसाकी जड़ है। जबतक कामना है तबतक कोई-न-कोई उसकी पूर्तिमें बाधा पहुँचाता ही रहेगा। अतएव हमारी हिंसक वृत्ति जाग्रत् होती ही रहेगी। अहिंसा-धर्मका पूर्णरूपेण पालन करनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य समस्त कामनाओंका त्याग करके भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध आदिकी तरह संन्यास ले ले। क्यों यही बात है न?'

—'वत्स! महाव्रती महात्मा गाँधीने गृहस्थ-जीवनमें ही अहिंसाके पालनको सफल करके दिखलाया है।'

—'पूज्य गाँधीजी राज्य-व्यवस्थाके समर्थक थे। प्रत्येक राज्य-व्यवस्था आंशिक रूपसे हिंसाको स्वीकार करती है। अपराधियोंको दण्ड देना राज्यका परम कर्तव्य है और दण्डसे सभीको घोर पीड़ा होती है, हर्ष नहीं होता।'

—'गाँधीजीने अहिंसाको कुछ आगे बढ़ाया है, उसके क्षेत्रको कुछ और विस्तृत किया है। यदि वे सम्पूर्ण क्षेत्रमें अहिंसाको नहीं ला सके तो इस कारण हमें, जितना वे अहिंसाको व्यापक बना सके हैं उतनेको भी, उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देखना चाहिये। सम्भव है भविष्यमें कोई महात्मा राज्य-व्यवस्थाको भी अहिंसापर आश्रित करके दिखला दे।'

—'वह दिन भविष्यके लिये अवश्य ही शुभ होगा। आज तो अहिंसाका अर्थ है राजाको प्रजाके विरुद्ध हिंसाकी खुली छूट है। परंतु प्रजा राज्यके विरुद्ध हिंसक न बने। देशके छोटे-मोटे आन्तरिक उपद्रव हिंसाद्वारा दबा दिये जायँ, परंतु अन्ताराष्ट्रीय क्षेत्रमें युद्धका प्रसंग नहीं आना चाहिये।'

—'राज्यके विरुद्ध तो प्रजाको कभी हिंसापर उतरना ही नहीं चाहिये यह तो तुम भी मानते आये हो।'

—'यदि प्रजाका राज्य-व्यवस्थामें ही विश्वास न रहे तो ऐसी व्यवस्थाको उखाड़ फेंकनेमें हिंसाका प्रयोग प्रजाकी ओरसे भी हो सकता है। नृसिंह अवतारने हिरण्यकशिपुकी और भगवान् श्रीकृष्णने कंसकी व्यवस्थाको हिंसाद्वारा ही पलटा था।'

—'महात्मा गाँधीने अहिंसाके द्वारा ही एक अत्याचारी शासनको पलटकर दिखला दिया है। 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्।' अब भी क्या तुम अहिंसाकी शक्ति अस्वीकार करते रहोगे?'

—'पहले भी अस्वीकार की है और अब भी करूँगा। सारा जड जगत् अहिंसक है, हिंसा तो केवल चैतन्यमें ही है। तो क्या इस कारण चैतन्यसे जड श्रेष्ठ हो जायगा? शक्ति अहिंसामें नहीं है, अन्यायके प्रतिकारमें है। गाँधीजीने अहिंसाकी शक्ति नहीं दिखलायी। उन्होंने केवल यह दिखलाया है कि अन्यायका प्रतिकार अहिंसाके द्वारा भी हो सकता है।'

—'यही मैं भी चाहता हूँ कि तुम मान जाओ कि अन्यायका प्रतिकार अहिंसाके द्वारा हो सकता है।'

—'मानता हूँ, परंतु सदैव नहीं। अहिंसाके द्वारा

अन्यायका प्रतिकार हो सके, इसके लिये तीन बातें आवश्यक हैं—१—अन्याय तात्कालिक न होकर दीर्घकालिक हो। अहिंसाके द्वारा आप बलात्कार, नारी-अपहरण, हत्या, आग लगाने इत्यादिको नहीं रोक सकते। ये पाप बल-प्रयोगके द्वारा ही रोके जा सकते हैं। २—अन्यायी पीड़ितको नष्ट न करके केवल उसके श्रम और साधनोंका इच्छानुसार उपयोग करना चाहता हो। जहाँ किसी देशकी सम्पूर्ण जनताको नष्ट करके वहाँ स्वयं बस जानेका लक्ष्य हो, जैसा कि आस्ट्रेलिया इत्यादिमें किया गया, वहाँ अहिंसा कुछ नहीं कर पाती। ३—अन्यायी स्वयं थोड़ा-बहुत धर्म और मानवताको माननेवाला हो और पर-पीड़ाका अनुभव करता हो।'

—'तो यह तो मानोगे कि गाँधीजीने अहिंसाका क्षेत्र कुछ विस्तृत करके विश्वका बहुत बड़ा उपकार किया है?'

—'मानता हूँ, परंतु यह नहीं मानता कि प्रत्येक क्षेत्रमें अन्यायका प्रतिकार करनेके लिये केवल अहिंसाका ही एकमात्र मार्ग है। अन्ताराष्ट्रीय युद्ध न हों, यही उत्तम है। परंतु वे भारतद्वारा अणुबम न बनाये जानेसे नहीं रुक सकते। अहिंसाके द्वारा युद्ध तभी रुक सकते हैं, जब सभी राष्ट्र अहिंसक हों। यदि एक भी राष्ट्र अहिंसक बनना अस्वीकार करके हिंसापर उतर आता है तो सारे अहिंसक राष्ट्रोंपर उसका आधिपत्य पलक मारते ही स्थापित हो जायगा और अहिंसाप्रेमी राष्ट्रोंको घोर कष्ट भोगना होगा।'

—'तो फिर युद्ध रोकनेका तुम्हारे पास कौन-सा मार्ग है?'

—'जो मार्ग व्यक्तिगत जीवनसे हिंसा हटानेका है, वही अन्ताराष्ट्रीय क्षेत्रसे हिंसा हटानेमें सफल हो सकता है।'

—'मेरा मत है कि संसारमें हिंसाका मूल कामना है और इस प्रकार अहिंसाका साम्राज्य स्थापित करनेके दो ही मार्ग हैं। एक तो सर्वकामनाओंका त्याग, जिसे संन्यास कहते हैं। दूसरी ऐसी व्यवस्था जिसमें कोई भी एक दूसरेकी कामनामें बाधक न हो। पर यह व्यावहारिक नहीं है; क्योंकि कामनाएँ अनन्त और कभी न पूरी होनेवाली हैं इसलिये यदि उन्हें अनियन्त्रित छोड़ दिया जायगा तो अवश्य ही एक दूसरेकी कामनाएँ आपसमें टकरायँगी; अतएव इस टकरावको रोकनेके लिये उन्हें नियन्त्रणमें लाना होगा। वह नियन्त्रण जितना ही स्वाभाविक और न्यायपूर्ण होगा, उतनी ही समाजमें सुख, शान्ति और सुव्यवस्था होगी तथा राग-द्वेष और ईर्ष्याका अभाव होगा।'

—'बहुत सुन्दर। अतः प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि इस प्रकारके स्वाभाविक और न्यायपूर्ण नियन्त्रणको अधिक-से-अधिक बल प्रदान करे और उसे भङ्ग करनेवालेके प्रति कठोर बने।'

—'दुराचार, पाप और अन्यायके प्रति आक्रोशकी भावना प्रत्येक मनुष्यमें जन्मजात होती है और इसी भावनाके बलपर नियन्त्रण दृढ़ बना रहता है तथा जनता सुख, सुरक्षा और शान्तिका अनुभव करती रहती है। यदि कोई हमारी भूमि छीनेगा, हमारी बहू-बेटियोंपर कुदृष्टि डालेगा, हमारे धर्ममें हस्तक्षेप करेगा, हमारा अकारण अपमान करेगा तो जनता उसे सहन नहीं करेगी। इसी विश्वासके बलपर लोग घरमें छुरी, बन्दूक रखना अनावश्यक समझते हैं। जहाँ आततायियोंके प्रति दुर्बल भावना दिखलायी पड़ने लगती है, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी रक्षाके लिये गुटबंदी और अस्त्रोंके संग्रहमें लग जाता है। जो बात व्यक्तिगत क्षेत्रमें है, वही अन्ताराष्ट्रीय क्षेत्रमें है। अहिंसा-अहिंसा चिल्लानेसे अथवा निःशस्त्रीकरणसे युद्धका भय नहीं जायगा। युद्धका भय जायगा कामनाओंके नियन्त्रणसे, धर्मसे, विश्वास और सुरक्षासे, न्यायसे, अन्यायके प्रति जो स्वाभाविक आक्रोश है उसे प्रबल करनेसे।

'अहिंसा परमो धर्मः' अहिंसा परम धर्म है, परंतु अन्यायका प्रतिकार उससे भी बड़ा धर्म है। यदि दोनों धर्मोंमें विरोध आ जाय तो अहिंसाको छोड़कर अन्यायका प्रतिकार करना होगा। अहिंसा निस्संदेह परम धर्म है, परंतु जहाँ अपनी कायरता छिपाने अथवा दुराचार एवं पापके प्रति उठनेवाली स्वाभाविक आक्रोशकी भावनाको कुण्ठित करनेके लिये अहिंसाका राग अलापा जाता है, वहाँ अहिंसा धर्म नहीं रहता है। दुराचार, अनाचार, अन्याय और अधर्मके प्रतिकारकी भावना मानवसमाजकी अमूल्य निधि है। इस भावनासे रहित समाज समाज नहीं है, जाति जाति नहीं है, राष्ट्र राष्ट्र नहीं है। अहिंसाके चक्करमें हम कहीं इस भावनासे हाथ न धो बैठें। महात्मा गाँधीने अहिंसाके साथ-साथ इस भावनाको भी दृढ़ करनेका प्रयत्न किया था। उन्होंने सत्यपर आग्रह करना सिखलाया था, सत्यको छोड़ देना नहीं। अहिंसा वहींतक धर्म है जहाँतक उससे अन्यायी और आततायीको प्रोत्साहन नहीं मिलता।'

अहिंसाके गुण और मांस-भक्षणके दोष

अहिंसा परमो धर्मो ह्यहिंसा परमं सुखम्।
अहिंसा धर्मशास्त्रेषु सर्वेषु परमं पदम्॥
देवतातिथिशुश्रूषा सततं धर्मशीलता।
वेदाध्ययनयज्ञाश्च तपो दानं दमस्तथा॥
आचार्यगुरुशुश्रूषा तीर्थाभिगमनं तथा।
अहिंसाया वरारोहे कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
(महाभारत अनुशासन० १४५)

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम सुख है। समस्त धर्मशास्त्रोंमें अहिंसाको 'परमपद' बतलाया गया है।

देवताओं और अतिथियोंकी सेवा, सतत धर्मशीलता, वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, दान, दम, गुरु और आचार्यकी सेवा तथा तीर्थयात्रा—ये सब अहिंसा-धर्मकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हैं।

अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा।
अहिंस्रः सर्वभूतानां यथा माता यथा पिता॥
एतत् फलमहिंसाया भूयश्च कुरुपुङ्गव।
नहि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि॥
आत्मार्थं यः परप्राणान् हिंस्यात् स्वादु फलेप्सया।
व्याघ्रगृध्रश्रृगालैश्च राक्षसैश्च समस्तु सः॥
संछेदनं स्वमांसस्य यथा संजनयेद् रुजम्।
तथैव परमांसेऽपि वेदितव्यं विजानता॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
उद्विग्नवासं लभते यत्र यत्रोपजायते॥
(महाभारत अनुशासन० १४५)

जो हिंसा नहीं करता, उसकी तपस्या अक्षय होती है। वह सदा यज्ञ करनेका फल पाता है। हिंसा न करनेवाला पुरुष सम्पूर्ण प्राणियोंके माता-पिताके समान है।

कुरुश्रेष्ठ! यही अहिंसाका फल है, इतनी ही बात नहीं है; अहिंसाका तो इससे कहीं अधिक फल है। अहिंसासे होनेवाले लाभोंका सौ वर्षोंमें भी वर्णन नहीं किया जा सकता।

जो स्वादकी इच्छासे अपने लिये दूसरोंके प्राणोंकी हिंसा करता है, वह बाघ, गीध, सियार और राक्षसोंके समान है।

जैसे अपना मांस काटना अपने लिये पीड़ाजनक होता है, उसी तरह दूसरेका मांस काटनेपर उसे भी पीड़ा होती है। यह प्रत्येक विज्ञ पुरुषको समझना चाहिये।

जो पराये मांससे अपने मांसको बढ़ाना चाहता है, वह जहाँ कहीं भी जन्म लेता है वहीं उद्वेगमें पड़ा रहता है।

ये भक्षयन्ति मांसानि भूतानां जीवितैषिणाम्।
भक्ष्यन्ते तेऽपि भूतैस्तैरिति मे नास्ति संशयः॥
मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वमनुबुद्ध्यस्व भारत॥
घातको बध्यते नित्यं तथा बध्यति भक्षितः।
जाताश्चाप्यवशास्तत्र छिद्यमानाः पुनः पुनः।
पाच्यमानाश्च दृश्यन्ते विवशा मांसगृद्धिनः॥
कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागताः।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च भ्राम्यन्ते वै पुनः पुनः॥
नात्मनोऽस्ति प्रियतरः पृथिवीमनुसृत्य ह।
तस्मात् प्राणिषु सर्वेषु दयावानात्मवान् भवेत्॥
(महाभारत अनुशासन० १४५)

जो जीवित रहनेकी इच्छावाले प्राणियोंके मांसको खाते हैं, वे दूसरे जन्ममें उन्हीं प्राणियोंके द्वारा भक्षण किये जाते हैं। इस विषयमें मुझे संशय नहीं है।

भरतनन्दन! (जिसका वध किया जाता है, वह प्राणी कहता है—) **मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।** अर्थात् 'आज मुझे वह खाता है—तो कभी मैं भी उसे खाऊँगा।' यही मांसका मांसत्व है—इसे ही 'मांस' शब्दका तात्पर्य समझो।

राजन्! इस जन्ममें जिस जीवकी हिंसा होती है, वह दूसरे जन्ममें सदा ही अपने घातकका वध करता है। फिर भक्षण करनेवालेको भी मार डालता है।

मांसलोलुप जीव जन्म लेनेपर भी परवश होते हैं। वे बार-बार शस्त्रोंसे काटे और पकाये जाते हैं। उनकी यह विवशता प्रत्यक्ष देखी जाती है।

वे अपने पापोंके कारण कुम्भीपाक नरकमें राँधे जाते और भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेकर गला घोंट-घोंटकर मारे जाते हैं। इस प्रकार उन्हें बारंबार संसार-चक्रमें भटकना पड़ता है।

इस भूमण्डलपर आत्मासे बढ़कर कोई प्रिय वस्तु नहीं है। इसलिये सब प्राणियोंपर दया करे और सबको अपनी आत्मा ही समझे।

अहिंसा-धर्मके आदर्श उदाहरण

(१)

अहिंसाके आदर्श महर्षि वशिष्ठ

कुशिक-वंशमें उत्पन्न राजा विश्वामित्र सेनाके साथ आखेट करने निकले थे। अपने राज्यसे दूर महर्षि वशिष्ठके आश्रमके समीप वे पहुँच गये। वशिष्ठजीने एक ब्रह्मचारीके द्वारा समाचार भेजा—'आप आश्रमके समीप आ गये हैं, अतः मेरा आतिथ्य स्वीकार करें।'

अरण्यवासी तपस्वीके लिये राजा असुविधा न उत्पन्न करे, यह नियम है। लेकिन विश्वामित्रने महर्षि वशिष्ठकी प्रशंसा सुनी थी। उनके तपः-प्रभावपर विश्वास था। अतः आतिथ्यका आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। उन्हें आश्चर्य तब हुआ जब सेनाके साथ उनको राजोचित सामग्री प्रचुरमात्रामें भोजनको दी गयी और वह भी तपः-शक्तिसे नहीं, वशिष्ठकी होमधेनु नन्दिनीके प्रभावसे।

'आप यह गौ मुझे दे दें। बदलेमें जो चाहें मुझसे माँग लें।' विश्वामित्र उस गौके लिये लालायित हो गये थे। चलते समय उन्होंने अपनी इच्छा प्रकट की।

'ब्राह्मण गौ-विक्रय नहीं करता। मैं इस गौको नहीं दे सकता।' ऋषिने अस्वीकार कर दिया। उग्र-स्वभाव विश्वामित्र उत्तेजित हो गये। उन्होंने बल-पूर्वक गौको ले चलनेकी आज्ञा सैनिकोंको दी। लेकिन नन्दिनी साधारण गौ तो नहीं थी। उसकी हुंकारसे शत-शत योद्धा उत्पन्न हुए। उन्होंने विश्वामित्रके सैनिकोंको मार भगाया।

विश्वामित्रने वशिष्ठपर आक्रमण किया। कुशका ब्रह्मदण्ड हाथमें लिये वशिष्ठ स्थिर, शान्त बैठे रहे। विश्वामित्रके साधारण तथा दिव्य अस्त्र सब उस ब्रह्मदण्डसे टकराकर नष्ट हो गये। कठोर तप करके विश्वामित्रने और दिव्यास्त्र पाये; किंतु वशिष्ठके ब्रह्मदण्डसे लगकर वे भी नष्ट हो गये।

'ब्रह्मबल ही श्रेष्ठ है। क्षत्रियकी शक्ति तपस्वी ब्राह्मणका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। अतः मैं इसी जन्ममें ब्राह्मणत्व प्राप्त करूँगा।' विश्वामित्रने यह निश्चय किया। अत्यन्त कठोर तपमें वे लग गये।

सैकड़ों वर्षके कठिन तपके पश्चात् प्रसन्न होकर ब्रह्माजी प्रकट हुए। उन्होंने वरदान दिया—'वशिष्ठ-के स्वीकार करते ही तुम ब्रह्मर्षि हो जाओगे।'

विश्वामित्रके लिये महर्षि वशिष्ठसे प्रार्थना करना बहुत अपमानजनक था। संयोगवश जब वशिष्ठ मिलते थे तो इन्हें 'राजर्षि' कहते थे। अतः विश्वामित्र वशिष्ठके घोर शत्रु हो गये। एक राक्षस-को प्रेरित करके उन्होंने वशिष्ठके सौ पुत्र मरवा दिये। स्वयं वशिष्ठको अपमानित करने, नीचा दिखानेका अवसर ढूँढ़ते रहने लगे। उनका हृदय वैर तथा हिंसाकी प्रबल भावनासे पूर्ण था।

विश्वामित्रने अपनी ओरसे कुछ उठा नहीं रक्खा। बड़ा दृढ़ निश्चय, प्रबल संकल्प था उनका। दूसरी सृष्टितक करनेमें लग गये। अनेक प्राणी, अन्नादि बना डाले। ब्रह्माने ही रोका उन्हें। अन्तमें स्वयं शस्त्र-सज्ज होकर रात्रिमें छिपकर वशिष्ठको मारने निकले। दिनमें प्रत्यक्ष आक्रमण करके तो अनेक बार पराजित हो चुके थे।

चाँदनी रात्रि थी। कुटियाके बाहर वेदीपर एकान्तमें पत्नीके साथ महर्षि बैठे थे। अरुन्धतीजीने कहा—'कैसी निर्मल ज्योत्स्ना है?'

वशिष्ठजी बोले—'ऐसा ही निर्मल तेज आजकल विश्वामित्रके तपका है।' वशिष्ठका निर्मल मन अहिंसा तथा क्षमासे पूर्ण था।

विश्वामित्र छिपे खड़े थे। उन्होंने सुना और उनका हृदय उन्हें धिक्कार उठा—'एकान्तमें पत्नीके साथ बैठा जो अपने सौ पुत्रोंके हत्यारेकी प्रशंसा करता है, उस महापुरुषको मारने आया है तू?'

शस्त्र नीचे फेंके विश्वामित्रने । दौड़कर महर्षिके चरणोंपर गिर पड़े ।



'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ।'

विश्वामित्रके ब्राह्मण होनेमें उनका दर्प, उनका द्वेष, उनकी असहिष्णुता ही तो बाधक थी । वह आज दूर हुई । महर्षि वशिष्ठने उन्हें झुककर उठाते हुए कहा—'उठिये ब्रह्मर्षि ।' —सु०

(२)

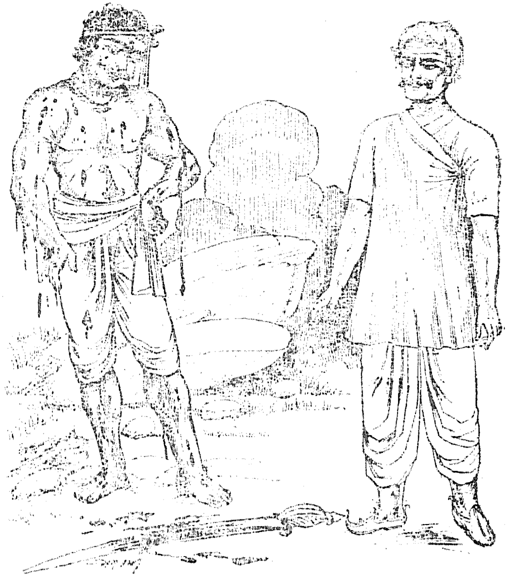
अहिंसा-धर्मके आदर्श सेठ सुदर्शन

अर्जुन माली यक्षोपासक था। उसके घरमें छः डाकू घुस आये । मालीको बाँधकर घर तो लूटा ही, उसकी पत्नीसे दुर्व्यवहार करने लगे । इसी समय अर्जुनमें यक्षका आवेश हो गया । उसने बन्धन तोड़ डाले। पास रक्खा लोहेका मुद्गर उठाकर उसने डाकुओंको तथा पत्नीको भी मार दिया ।

यक्षावेशमें उन्मत्त अर्जुन माली लौहमुद्गर लिये घरसे निकल पड़ा । जो सामने आया, मारा गया । राजगृह-नगरमें हाहाकार मच गया । अर्जुन माली उस आवेशमें प्रतिदिन सात मनुष्योंको मारकर ही शान्त होता था । लोगोंका घरोंसे निकलना बंद हो गया ।

सेठ सुदर्शनको समाचार मिला था कि श्रमण महावीर राजगृहके समीप उद्यानमें पधारे हैं । तीर्थंकरकी पवित्र वाणी सुननेका निश्चय वे किसी भयके कारण त्याग नहीं सकते थे । घरके लोगोंने बहुत समझाया, किंतु वे रुके नहीं ।

उस दिन अर्जुन छः मनुष्य मार चुका था । रक्तसे लथपथ मुद्गर लिये वह सातवें व्यक्तिको ढूँढ़ता राजपथपर घूम रहा था । सेठ सुदर्शनको देखते ही दौड़ा; किंतु चोट करनेके लिये उठानेपर मुद्गर हाथसे छूटकर गिर पड़ा । उसके शरीरमें आविष्ट यक्ष अहिंसक सुदर्शनका तेज न सह पानेके कारण भाग चुका था ।



'अर्जुन ! इस प्रकार क्या देखते हो ? चलो तीर्थंकरकी पवित्र वाणी सुनें !' चकित, भीत खड़े अर्जुन मालीका हाथ पकड़ा सेठ सुदर्शनने और उसे श्रमण महावीरके समीप ले गये । उसी दिन अर्जुनने दीक्षा ग्रहण कर ली । लोग उसपर दण्ड-प्रहार करते, पत्थर फेंकते; क्योंकि उसके द्वारा स्वजनोंके मारे जानेसे लोग बहुत क्रुद्ध थे; किंतु अब तो अर्जुन माली शान्त, अहिंसक मुनि हो चुका था । —सु०

(३)

प्रह्लादकी विलक्षण अहिंसा, परदुःखकातरता और क्षमाशीलता

संतोंका जीवन बड़ा ही विचित्र होता है। स्वयं तो वे दुःख-सुखसे परे होते हैं, पर दूसरोंके दुःख-सुखसे दुखी-सुखी हुआ करते हैं। पर-दुःख-कातरता, क्षमाशीलता, अहिंसा आदि उनके सहज स्वाभाविक गुण हैं। किसीका अमङ्गल न हो, किसीको दुःख न हो; सब संकट-मुक्त हों, सदा सबका मङ्गल हो, सब सुखी हों, सब नित्य निरामय हों—यह उनकी स्वाभाविक कामना रहती है। उनकी कोई कितनी ही हानि करे, कितना ही अपमान करे, कितना ही कष्ट-क्लेश पहुँचावे, कितनी ही भीषण हिंसा करे—वे कभी भूलकर भी उसका अमङ्गल नहीं चाहते, नहीं देख सकते, वरं अपनी ओरसे प्रयत्न करके उसे सुखी बना देते हैं। प्रह्लाद ऐसे ही एक परम उदार भक्त थे।

वे आरम्भसे ही प्रभुभक्त थे। यद्यपि उन्होंने जन्म असुर-कुलमें दुर्धर्ष दैत्य हिरण्यकशिपुके यहाँ लिया था। पर आसुरी भाव उनको छू तक नहीं गया था। उनका तो एक ही चरम लक्ष्य था—भगवत्प्रीति और एक ही काम था भगवद्भजन। वे इसी पाठशालामें पढ़ते थे।

जगत्‌के नियमके अनुसार पिताने समयपर उनको बालोचित पाठ पढ़नेके लिये गुरु-गृहमें भेजा। बालक धीरे-धीरे शिक्षा पाने लगा। एक दिन पिताने बुलाकर बड़े स्नेहसे पूछा—'वत्स! आजतक गुरुसेवामें तत्पर रहकर तुमने जो कुछ सीखा-पढ़ा है, उसका सारभूत अङ्ग हमें सुनाओ!' बालक प्रह्लाद तो सब बातोंकी सार बात और सब सारोंका एकमात्र सार श्रीहरिको ही जानते थे। उन्होंने कहा—'जो आदि, मध्य और अन्तसे रहित अजन्मा, वृद्धिक्षयशून्य और अच्युत हैं, उन श्रीहरिके श्रीचरणोंमें मेरा प्रणाम। मैंने तो यही सीखा है कि उन भगवान्‌के गुणोंका श्रवण, कीर्तन, उन्हींका स्मरण, उन्हींका पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा उन्हींके प्रति आत्मनिवेदन किया जाय।'

इतना सुनते ही दैत्यराज कुपित हो उठा, लाल-लाल आँखें करके गुरु शुक्राचार्यके पुत्र षण्डामर्क आदिसे बोला—'अरे दुर्बुद्धि ब्राह्मणाधमो! तुमलोगोंने मेरी आज्ञाकी अवज्ञा करके इसे मेरे विपक्षीकी स्तुतिसे युक्त असार शिक्षा क्यों दी? जाओ, ले जाओ इसे और भली प्रकार शासित करो!' प्रह्लाद फिर गुरुजीके संरक्षणमें विद्याध्ययन करने लगे। कुछ दिन बाद असुरराजने उन्हें फिर बुलाया और कहा—'बेटा! आज कोई गाथा सुनाओ।' प्रह्लादकी तो—एकहि धर्म एक ब्रत नेमा··· वाली स्थिति थी। उन्होंने कहा—'जिससे सारा सचराचर उत्पन्न हुआ, वे जगन्नियन्ता भगवान् विष्णु हमपर प्रसन्न हों।' क्रोधित होकर हिरण्यकशिपु बोला—'अरे! यह बड़ा ही दुरात्मा है। इस पापीको तुरंत मार डालो। यह तो विपक्षीका ही पक्ष लेनेवाला कुलाङ्गार पैदा हो गया है। इसके जीवनका क्या प्रयोजन?' इतना सुनते ही हजारों दैत्य प्रह्लादको मारनेके लिये विविध प्रयोग करने लगे।

उनके भोजनमें हालाहल विष मिला दिया गया। वे भगवन्नामका उच्चारण करते हुए उसे पी गये और विष पच गया। दारुण दैत्योंने उनपर नाना प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे प्रहार

किया; पर उन्हें तनिक-सी वेदना भी नहीं हुई, सारे शस्त्रास्त्र नष्ट हो गये। अति क्रूर विषधर सर्पोंके द्वारा भयानक रूपसे अङ्ग-अङ्ग कटवाये गये, सर्पोंकी दाढ़ें टूट गयीं, सिरकी मणियाँ चटक गयीं, फणोंमें पीड़ा होने लगी, साँपोंका हृदय काँप गया; पर भगवान् श्रीकृष्णमें आसक्त-चित्त हो भगवत्स्मरणके परमानन्दमें डूबे हुए प्रह्लादकी जरा-सी भी त्वचा नहीं कटी और न विषका ही कोई असर हुआ। पर्वताकार दिग्गजोंके द्वारा पृथ्वीपर पटककर भीषण दाँतोंसे रौंदवाया गया; पर भगवान्का स्मरण करते रहनेके कारण हाथियोंके हजारों दाँत इनके वक्षःस्थलसे टकराकर टूट गये; पर इनका बाल भी बाँका नहीं हुआ। पहाड़के ऊपरकी चोटीसे गिरवाया गया; परंतु भगवान्की कृपासे इन्हें पृथ्वीपर गिरते ही कोमल पुष्पका-सा सुखद स्पर्श प्राप्त हुआ। समुद्रमें डालकर ऊपरसे पहाड़ गिराये गये, परंतु इनको जरा भी कष्ट नहीं हुआ। ये जलमें बड़े आरामसे अपने गोविन्दकी स्मृतिमें विश्राम करते रहे। आगमें जलाया गया, पर अग्नि शान्त हो गयी। सब तरहसे हताश होकर आखिर दैत्यराज हिरण्यकशिपुने पुरोहितोंसे कहा—

त्वर्यतां त्वर्यतां हे हे सद्यो दैत्यपुरोहिताः।
कृत्यां तस्य विनाशाय उत्पादयत मा चिरम्॥
(विष्णुपुराण १।१८।९)

'अरे अरे पुरोहितो! जल्दी करो, जल्दी करो; इसको नष्ट करनेके लिये कृत्या उत्पन्न करो। अब देरी न करो।'

तब प्रह्लादजीके पास जाकर पुरोहितोंने उनको भाँति-भाँतिसे समझाया और प्रह्लादके न माननेपर वे धमकाकर बोले—

यदास्मद्वचनान्मोहग्राहं न त्यक्ष्यते भवान्।
ततः कृत्यां विनाशाय तव सृक्ष्याम दुर्मते॥
(विष्णुपुराण १।१८।३०)

'अरे दुर्बुद्धि! यदि तू हमारे समझानेपर भी इस मोहमय आग्रहको नहीं छोड़ेगा तो तुझे मार डालनेके लिये हम कृत्या उत्पन्न करेंगे।'

प्रह्लादजीने कहा—'कौन जीव किससे मारा जाता है और कौन किससे रक्षित होता है?' प्रह्लादकी बात सुनकर पुरोहितोंने क्रोधित होकर आगकी भयानक लपटोंके समान प्रज्वलित शरीरवाली कृत्याको उत्पन्न किया। उस भयानक कृत्याने अपने पैरकी धमकसे धरतीको कँपाते हुए बड़े क्रोधसे प्रह्लादकी छातीमें त्रिशूलका प्रहार किया। पर आश्चर्य! उस बालकके वक्षःस्थलसे टकराते ही वह तेजोमय त्रिशूल सैकड़ों टुकड़े होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। 'जिस हृदयमें निरन्तर भगवान् सर्वेश्वर श्रीहरि निवास करते हैं, उसमें लगकर वज्र भी टुकड़े-टुकड़े हो जाता है—फिर इस त्रिशूलकी तो बात ही क्या है।'

यत्रानपायी भगवान् हृद्यास्ते हरिरीश्वरः।
भङ्गो भवति वज्रस्य तत्र शूलस्य का कथा॥
(विष्णुपुराण १।१८।३६)

पापी पुरोहितोंने पापरहित प्रह्लादपर कृत्याका प्रयोग किया था, अतएव कृत्याने लौटकर उन्हींका नाश कर दिया और फिर स्वयं भी नष्ट हो गयी। अपने गुरुओंको कृत्याके द्वारा जलाये जाते देखकर महामति प्रह्लाद—'हे कृष्ण! हे अनन्त! रक्षा करो, रक्षा करो'—कहते हुए उनकी ओर दौड़े।

प्रह्लादजीके हृदयमें न राग था, न द्वेष; हिंसाकी तो वहाँ कल्पना ही नहीं थी। अतएव उन सर्वत्र भगवान्का दर्शन करनेवाले सर्वथा अहिंसापूर्ण-हृदय क्षमाशील प्रह्लादने अपनेको निश्चितरूपसे मारनेकी घोर व्यवस्था करनेवाले गुरुपुत्रोंको बचानेके

लिये भगवान्‌से विनीत प्रार्थना की । प्रह्लादजीने कहा—

'हे सर्वव्यापी, विश्वरूप, विश्वस्रष्टा जनार्दन ! इन ब्राह्मणोंकी इस मन्त्राग्निरूप दुःसह दुःखसे रक्षा कीजिये । सर्वव्यापी जगद्गुरु भगवान् विष्णु सर्वत्र सभी प्राणियोंमें व्याप्त हैं—मेरे इस अनुभूत सत्यके प्रभावसे ये पुरोहित जीवित हो जायँ । यदि मुझे अपने विपक्षियोंमें भी सर्वव्यापक और अविनाशी भगवान् विष्णु ही दीखते हैं, तो ये पुरोहितगण जीवित हो जायँ । जो लोग मुझे मारनेको आये, जिन्होंने मुझे विष दिया, जिन्होंने अग्निमें जलाया, जिन्होंने दिग्गज हाथियोंसे कुचलवाया और जिन्होंने विषधर सर्पोंसे कटवाया, उन सबके प्रति भी मैं यदि समान (सर्वथा हिंसारहित) मित्रभावसे रहा हूँ और मेरे मनमें कभी पाप-(द्वेष या हिंसा) बुद्धि न हुई हो तो उस सत्यके प्रभावसे ये असुर-पुरोहित जीवित हो जायँ ।'

प्रह्लादने इस प्रकार भगवान्‌का स्तवन करके उन पुरोहितोंको स्पर्श किया और स्पर्श पाते ही वे स्वस्थ होकर उठ बैठे एवं विनयपूर्वक सामने खड़े हुए बालकसे गद्गद होकर कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे आशीर्वाद देते हुए बोले—

दीर्घायुरप्रतिहतो बलवीर्यसमन्वितः ।
पुत्रपौत्रधनैश्वर्यैर्युक्तो वत्स भवोत्तमः ॥

(विष्णुपुराण १ । १८ । ४५)

'वत्स ! तू परम श्रेष्ठ है । तू दीर्घायु हो, अप्रतिहत हो, बलवीर्यसे तथा पुत्र-पौत्र एवं धन-ऐश्वर्यादिसे सम्पन्न हो ।'

यह है अहिंसावृत्ति, रागद्वेषशून्यता, क्षमाशीलता, परदुःखकातरता और सर्वत्र भगवद्दर्शनका ज्वलन्त उदाहरण !

—राधा भालोटिया

तुम्हारा बुरा करनेवालेको क्षमा करो

काम-लोभ-बस कोप करि, करत जो तुअ अपकार ।
निज अनिष्ट नित करत सो, निश्चै मूढ गँवार ॥
ताकौं नित कीजै छिमा, दया पात्र तेहि जानि ।
जो निज हाथ हि तें करत, अपनी अतिसै हानि ॥

नमो धर्माय महते

(लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, डी० लिट्०)

भारतीय साहित्यमें सबसे पहले ऋग्वेदमें 'धर्म' शब्द मिलता है। वहाँ और उसके बादके वैदिक साहित्यमें धर्म शब्दका अर्थ ऊँचे धरातलपर है। वह प्रकृतिके या ईश्वरके नियमोंके लिये प्रयुक्त होता है। ऋग्वेदका धर्म शब्द छोटे बालककी तरह अस्तित्वमें आनेके लिये अपने हाथ-पैर फैलाता हुआ जान पड़ता है। ऋग्वेदका असली शब्द तो 'ऋत' है जो सृष्टिके अखण्ड देश-कालव्यापी नियमोंके लिये प्रस्तुत होता है। वे नियम सबसे ऊपर हैं और ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी है, ऋतके अधीन है। ब्रह्माण्डकी यह अखण्ड एकता आज विज्ञानसे प्रत्यक्ष है। प्रकाश और रश्मियोंके जो नियम पृथ्वीपर हैं, वे ही सूर्यमें हैं और उन्हींके अनुशासनमें वे दूर-दूरके लोक हैं, जहाँसे प्रकाशको पृथ्वीतक पहुँचनेमें ही पाँच अरब वर्ष लग जाते हैं। इस विस्तृत ब्रह्माण्डको बाँधकर चलानेवाले जो नियम हैं, उनका वेदमें नाम ऋत था। अंगरेजीमें उसीके लिये Right शब्द है। लेकिन शब्दोंका भी युग बदलता है। शीघ्र ही 'धर्म' शब्दकी महिमा बढ़ने लगी। धर्म शब्द संस्कृतकी 'धृ' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है धारण करना या सँभालना। जो धारण करे, जो टेक बनकर किसी दूसरी वस्तुको रोके, वह धर्म हुआ। धर्म शब्दका यह अर्थ आसानीसे समझमें आता है। साधारण समझके आदमीको भी यह अर्थ धर्म शब्दमें सरलतासे पिरोया हुआ दिखायी पड़ता है। अतएव ऋत शब्दकी जगह सृष्टिके अखण्ड नियमोंके लिये धर्म शब्दका प्रयोग बढ़ा।

अथर्ववेदमें पृथ्वीसूक्तके नामसे एक सुन्दर सूक्त है। उसमें मातृभूमिकी अनेक प्रकारसे व्याख्या की गयी है और यह भी बतलाया गया है कि किन-किन नियमोंके द्वारा मातृभूमिकी रक्षा और वृद्धि होती है। उसमें पृथ्वीको 'धर्मणा धृता' अर्थात् धर्मसे धारण की हुई कहा गया है। अवश्य ही धर्म शब्दका यहाँ वही ऊँचा अर्थ लिया गया है, जिसका सम्बन्ध 'धृ' धातुसे है। लेकिन उसी युगमें धार्मिक विश्वासों और मान्यताओंके लिये भी धर्म शब्द प्रयोगमें आने लग गया था। पृथ्वीपर रहनेवाले अनेक भाँतिके जनका वर्णन करते हुए इसी सूक्तमें यह भी कहा है कि वे नाना धर्मोंके माननेवाले हैं, जो कि हमारे देशकी एक पुरानी सचाई है। वस्तुतः साम्प्रदायिक मतके लिये धर्म शब्दका प्रयोग यहींसे आरम्भ होता है। गृह्यसूत्रोंमें धर्म शब्दका रीति-रिवाजोंके लिये भी व्यवहार किया गया है। इस तरहसे रीति-रिवाज सामयाचारिक धर्म अर्थात् पुराने समयसे आये हुए सामाजिक आचार या शिष्टाचार कहे गये हैं। इस तरहके रीति-नियम समाज और राज्य दोनोंके लिये मानने लायक होते हैं और वे ही पंचायतों या अदालतोंमें कानूनका रूप ग्रहण कर लेते हैं। धर्मसूत्रोंमें इस तरहके सामाजिक नियमोंका संग्रह धर्म शब्दके अन्तर्गत किया गया है। इस दृष्टिसे आईन या कानूनके लिये भारतवर्षका पुराना शब्द धर्म है और इस अर्थमें धर्म-जैसे छोटे और सुन्दर शब्दका प्रयोग बहुत दिनोंतक इस देशमें चालू रहा। अदालतके लिये 'धर्मासन' और न्याय करनेवाले अधिकारीके लिये 'धर्मस्थ' शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त होते थे।

इस तरहके रीति-रिवाज, जो सामाजिक या राजकीय कानूनकी हैसियत रखते हैं, बहुत तरहके हो सकते हैं, जिन्हें देश-धर्म, कुल-धर्म कहा गया है। पेशेवर लोगोंके संगठनको उस समय श्रेणी और पूग भी कहते थे और उनके व्यवहार 'श्रेणी-धर्म' या 'पूगधर्म' कहलाते थे। मनु और याज्ञवल्क्यके धर्मशास्त्रोंमें एवं कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें राजाको हिदायत दी गयी है कि वह इस तरहके अलग-अलग धर्मों या रिवाजमें आनेवाले अमल दस्तूरोंको मान्यता दे। धर्म शब्दका यह अर्थ लगभग कानून-जैसा ही है। मनु आदिका शास्त्र भी इसीलिये धर्मशास्त्र कहलाता है। उसमें एक तरहसे समाजमें प्रचलित व्यावहारिक और धार्मिक नियमोंका संग्रह था। इस तरहके संग्रहके लिये अंग्रेजीका उपयुक्त शब्द 'कोड' है। दूसरे देशोंकी पुरानी सभ्यताओंमें भी इस तरहके कुछ व्यक्तिगत आचार और कुछ कानूनी नियमोंके संग्रह पाये जाते हैं। इस तरहका संग्रह, जो 'जुस्टोनियन कोड' के नामसे मशहूर है, इसी तरहका है। भारतवर्षमें मनुका धर्मशास्त्र वैसा ही ग्रन्थ है, जिसमें धर्म शब्द कई तरहके नियमोंके लिये लागू हुआ है।

लेकिन इन अर्थोंसे ऊपर धर्म शब्दका वह ऊँचा अर्थ

है जिसके अनुसार धर्म शब्द व्यक्तिगत जीवनके लिये, सामाजिक जीवन धारण करनेवाले नियमोंके लिये और सारे संसारके नियमोंको धारण करनेवाले नियमोंके लिये प्रयुक्त हुआ। वस्तुतः लोगोंको साफ दिखायी पड़ता था कि मनुष्य, समाज और सृष्टि तीनोंकी नींव या जड़में एक ही सत्य पिरोया हुआ है, जिसे उन्होंने धर्म कहा। जीवनके जो नीति-सम्बन्धी नैतिक नियम हैं, वे इसी धर्म शब्दके अन्तर्गत आते हैं। मनुने इसी दृष्टिकोणको सामने रखकर सत्य, संयम, अक्रोध आदि गुणोंको धर्मके दस लक्षणोंमें माना है। धर्म शब्दके इस नीतिमूलक उच्च अर्थकी दो परम्पराएँ साफ तौरसे दिखायी पड़ती हैं। एक तो भगवान् बुद्धने धर्म शब्दका यह ऊँचा अर्थ प्रचलित किया। अपने जागे हुए चोखे मनकी शक्तिसे सारे जीवनका विश्लेषण करते हुए भगवान् बुद्धने यही निश्चय किया कि धम्म या धर्म ही अन्तिम बुनियाद है, जिसपर सृष्टि और मानव-जीवनका ठाट रुका हुआ है। नीति-सम्बन्धी गुण भी बुद्धके धर्म शब्दके अन्तर्गत ग्राह्य थे। 'धम्मं सरणं गच्छामि'—इस तरहकी दीक्षाका समाजमें जब प्रचार हुआ, तब धम्म शब्दका वही ऊँचा अर्थ इष्ट था। किसी छोटे सम्प्रदाय या मतके लिये धर्म शब्दका प्रयोग बुद्ध या उनके विचारशील शिष्योंको मान्य नहीं था। धर्म शब्दके अर्थकी यह धारा थी, जिसने कितनी शताब्दियोंतक लोगोंको उच्च भावोंसे प्रेरित किया। यह ठीक है कि बौद्धधर्मके दायरेमें भी हठवादी या कट्टरपन्थी लोग रहे होंगे, जिन्होंने अपने छोटे-से मतको ही सच्चा समझा और उसके लिये आपसमें झगड़ा किया; पर ऐसे लोगोंकी दवा लुकमानके पास भी नहीं होती। क्षुद्र-हृदयके लोग सब जगह रसमें विष घोल सकते हैं। उनके लड़ाई-झगड़ेने अशोकको भी तंग कर दिया था।

धर्म शब्दकी ऊँचे धारणात्मक अर्थवाली दूसरी धारा वाल्मीकि और विशेषकर वेदव्यासके ग्रन्थोंमें मिलती है। वेदव्यासने धर्म शब्दकी जो व्याख्या की है, वह सोनेके अक्षरोंमें लिखने योग्य है।

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।
यत् स्याद् धारणायुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः॥

अर्थात् उस महान् धर्मको प्रणाम है, जो सब मनुष्योंको धारण करता है। सबको धारण करनेवाले जो नियम हैं, वे धर्म हैं।

व्यासने अपनी महाभारत-संहिताको बड़ी विलक्षणतासे धर्मशास्त्रका रूप दे डाला है। व्यासजीके मनमें धर्मका जो ऊँचा स्थान था, उसके अनुसार न केवल अर्थ, बल्कि काम भी धर्मपर आश्रित है और राज्य या स्टेट भी धर्ममूलक है।

त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलं नरेन्द्र
राज्यं चेदं धर्ममूलं वदन्ति।

एक तरफ व्यासजी कहते हैं कि राज्यकी जड़ धर्मपर है और दूसरी तरफ उन्होंने कहा है कि लोगोंका सारा जीवन राज्यके आश्रित है। **'सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः'** (शान्तिपर्व ६३। २३)। राज्य धर्मपर और धर्म राज्यपर आश्रित है। देखनेमें ये दोनों बातें एक दूसरेको काटती हैं, पर सच्चाई यह है कि राज्य और धर्म दोनोंका मेल ही अपने नये राष्ट्रीय दृष्टिकोणमें हमको मान्य है। एक तरफ धर्म सत्य और नीतिके रूपमें राज्यको धारण करता है। सत्य नहीं तो राज्य कुछ नहीं। भारतवर्ष सत्य या धर्म-मूलक राज्यका निर्माण कर रहा है। आज संसारमें भारतकी वाणीकी जो शान है, वह इसी कारण कि उसने धारणात्मक धर्म या सत्यकी बुनियादपर राज्यका ठाट खड़ा किया है; लेकिन इस धर्ममें सम्प्रदायवाले धर्मको या मत-मतान्तरोंके दृष्टिकोणोंको स्थान नहीं है। व्यासने धर्मका विशद और टिकाऊ दृष्टिकोण बहुत प्रकारसे समझाया है। धर्मकी इसी बुद्धिमूलक व्याख्याके कारण व्यासका महाभारत आज भी देशकी राष्ट्रीय संहिता कहा जा सकता है। उसका मतवादसे कोई पचड़ा नहीं है। जीवनके मूल आधार सत्य या दूसरे शब्दोंमें धर्मका आग्रह ही व्यासकी चमकीली आँखोंमें भरा हुआ अर्थ है। यह हमारी मूर्खता होगी, अगर हम अपने कट्टरपंथी पोंगापनके कारण व्यासके इस चमकते हुए हीरेके मूल्यको न आँक सकें। महाभारतके अन्तमें व्यासजीने भुजा उठाकर कहा था कि धर्म नित्य है, धर्मसे ही अर्थ और काम मिलते हैं। व्यासजीकी भुजा उसी तरह उठी हुई है; पर आजके दिन लोगोंने 'धन' और 'काम'के पीछे 'धर्म' या 'सत्य'को छोड़ दिया है!

धर्मके सम्बन्धमें व्यासका जो दृष्टिकोण था, वही दृष्टिकोण वाल्मीकिका भी था। चरित्रको ही वाल्मीकि धर्म मानते हैं। चरित्रवान् आदर्श व्यक्तिका उदाहरण वाल्मीकिके श्रीराम हैं। वाल्मीकिके लिये चरित्र और धर्म पर्यायवाची हैं। वे कहते हैं कि धर्मको साक्षात् देखना चाहो, तो रामको देखो। राम शरीरधारी धर्म हैं। **'रामो विग्रहवान्**

धर्मः' । राम धर्मवृक्षके बीज हैं । दूसरे आदमी उस वृक्षके फूल और फल हैं । इस एक वाक्यमें हमारी धर्ममूलक राष्ट्रीयताकी कितनी सुन्दर व्याख्या मिलती है । गाँधीजी धर्म या सत्यवृक्षके बीज हैं और सब नेता एवं कार्यकर्त्ता उस वृक्षके पत्ते, फूल और फल हैं । गाँधीजीके धर्म-वृक्षसे जबतक हमारा सम्बन्ध जुड़ा है, तभीतक हमारे जीवनमें रस और तेज है । नहीं तो, हमें मुरझाये हुए समझो । सत्यके वृक्षका रस सारी प्रजाओंमें फैलता है और अपने वितानसे राष्ट्रको छा लेता है । गाँधीजीके धर्मवृक्षकी छायामें आज हम सब बैठे हैं । पर इस महान् धर्मवृक्षकी छायामें मत-मतान्तरके भेद नहीं हैं । गाँधीजीकी यही बड़ी देन थी कि उन्होंने राष्ट्रीयताका सम्बन्ध सत्य और धर्मसे जोड़ दिया । गीताके शब्दोंमें गाँधीजी द्वारा सत्यकी स्थापना धर्म-संस्थापन कहा जा सकता है । धर्मका यही वास्तविक अर्थ देशके लंबे इतिहासके भीतरसे हमें प्राप्त होता है । यह आवश्यक है कि वह राष्ट्रके नये जीवनके लिये स्वीकार करना चाहिये । मत-मतान्तर व्यक्तियोंके लिये हैं, लेकिन धर्म राष्ट्रके लिये है । धर्म या सत्यसे ही भूमि और आकाश टिके हैं । देशके इस अनुभवपर हमारी नयी राष्ट्रीयताको फिरसे छाप लगानेकी आवश्यकता है ।

आज संस्कृतिका जो अर्थ है, वही व्यापक अर्थ धर्म शब्दका था । हम संस्कृति शब्दका तो बहुधा प्रयोग करते हैं किंतु धर्मका प्रयोग करते हुए हिचकिचाते हैं । यह भारतकी प्राचीन राष्ट्रीय परम्पराके विरुद्ध है । यदि यह प्रश्न किया जाय कि सहस्रों वर्ष प्राचीन भारतीय संस्कृतिकी उपलब्धि क्या है एवं यहाँके जनसमूहने किस जीवनदर्शनका अनुभव किया था तो उसका एकमात्र उत्तर यही है कि भारतीय साहित्य, कला, जीवन, संस्कृति और दर्शन—इन सबकी उपलब्धि धर्म है । भारतीय जीवनरूपी मानसरोवरमें तैरता हुआ सुनहला हंस धर्म है । उसीके ऊपर हमारी संस्कृतिके निर्माता प्रजापति ब्रह्मा जीवनके सब क्षेत्रों या लोकोंमें विचरते हैं । यदि धर्म शब्दका हम निराकरण कर दें तो अपनी समस्त संस्कृतिको छोड़ना पड़ेगा । राष्ट्रीय जीवनके विकासमें इससे बड़ी भूल नहीं हो सकती कि हम धर्म शब्दमें संचित अपनी दीर्घकालीन उपलब्धिकी उपेक्षा करें ।

वर्तमान समयमें राष्ट्रीय चिन्तनमें एक बड़ी भूल हो गयी । वह यह कि हमने धर्म और सम्प्रदायको समानार्थक जान लिया । धर्म शब्दका एक अर्थ सम्प्रदाय या मत-मतान्तर भी है; किंतु उसका घेरा बहुत तंग है और वह धर्मकी उस महान् महिमाको विलग नहीं कर सकता जिसे वेद, मनु, वाल्मीकि और व्यासने स्वीकृत किया था । और जो आजतक भारतके उच्चकोटि जनोंके हृदयमें सुप्रतिष्ठित है । ग्रामवासिनी भारतमातामें जितने स्त्री-पुरुष निवास करते हैं उसमें कोई ऐसा न होगा जिसने धर्म शब्द न सुना हो और जो उसके ऊँचे आदर्श प्राण अर्थको न मानता हो; ऐसा सटीक शब्द हमारी राष्ट्रीय, नैतिक जीवननिधिका कवच है । इसे छोड़ना बुद्धिमत्ता नहीं । अपने राष्ट्रको धर्ममूलक और धर्मसापेक्ष कहना बुद्धिमत्ता है । हाँ, सम्प्रदायमूलक राष्ट्रका आग्रह कोई भी नहीं कर सकता । उचित तो यह है कि धर्म शब्दके ऊँचे इन्द्रासनकी रक्षा करनी चाहिये । राष्ट्रीय संविधानमें धर्म और सम्प्रदायके भेदको अलभ्य समझाकर धर्म शब्दकी सम्मान और प्रतिष्ठाकी रक्षा करनी चाहिये । धर्म शब्दमें भारतीय जीवनके लिये एक अमृतका कलश रक्खा हुआ है, उसका स्वाद सबको अच्छा लगता है । संघमें और सभाओंमें, समाजमें और घरमें उस अर्थका प्रचार करनेसे सबका हृदय प्रफुल्लित होता है । ऋग्वेदके नारायण ऋषिने जब 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' यह घोषणा की थी तो उसका आशय सृष्टिके आधारपर उन महान् समष्टि और व्यष्टि नियमोंसे था जिन्हें आज हम समाज और जीवनके वैज्ञानिक और नैतिक नियम कहते हैं । जब यह कहा गया कि तीन लोकोंके तीन चरणोंसे परिच्छिन्न करके भगवान् विष्णुने उन्हें धर्मसे धारण कर दिया तो उसका आशय कभी भी सम्प्रदाय नहीं हो सकता । किंतु वे ब्रह्माण्डव्यापी नियम हैं जो देश और कालमें अमर हैं और ब्रह्मकी सत्ताके रससे सबके हृदयोंको सींचते हैं (त्रीणिपदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः, अतो धर्माणि धारयन्, ऋ० वे० १ । २२ । १८) । ज्ञान-विज्ञानकी दृढ़ नींव धर्मपर है । मातृभूमिको 'धर्मणा धृताम्' कहनेका आशय यही था कि राष्ट्रीयताका आधार धर्म है । जो राष्ट्रीयता धर्मसे पराङ्मुख हो जाती है वह सकुशल नहीं रहती । जीवनमें सत्कर्म करनेकी प्रेरणा और स्फूर्ति जीवनको धर्ममय बनानेसे आती है । धर्म, संस्कृति, सत्य आदि महान् गुणोंका हमें आवाहन करना चाहिये, यही भारतीय राष्ट्रीयताके लिये कल्याणका मार्ग है । व्यासका यह वाक्य सुवर्णाक्षरी है—

'नमो धर्माय महते धर्मो धारयते प्रजाः'

प्रजाओंको या समाजको धारण करनेवाले जितने बहुमुखी नियम हैं, उन सबकी समुदित संज्ञा धर्म है। **'रामो धर्मभृतां वरः'**; अथवा **'रामो विग्रहवान् धर्मः'** वाल्मीकिकी इस परिभाषाको क्या हम छोड़ सकते हैं! **'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे'** श्रीकृष्णकी यह वाणी आज भी जनतामें गूँजती है। धर्म शब्दके ऊँचे अर्थको हमने अपने ज्ञान और कर्मकी शान्तिसे पाला-पोसा है। उस अक्षय निधिकी रक्षा और संवर्द्धन करना उचित है। छात्रोंका धर्म शिक्षा और ब्रह्मचर्य है, नेताओंका धर्म जनसेवा है, जनताका धर्म राष्ट्रीयता है। इन अनेक प्रकारके अर्थोंको प्रकट करनेके लिये धर्म शब्द अमूल्य हीरा है, उसे खोना नहीं, उसका उचित मूल्याङ्कन करना है।

मानव-धर्म

(१)

(लेखक—श्रीश्रीरामनाथजी 'सुमन')

१

मनुष्यका समस्त जीवन विश्वासका आश्रय लेकर चलता है। कोई स्वीकार करे या न करे और कोई चाहे कैसा ही तार्किक हो, उसके अन्तस्तलमें कुछ अस्पष्ट विश्वास अवश्य होते हैं। जर्मन विद्वान् थेटेने लिखा है—'संसार एवं मानवेतिहासका एक और केवल एक ही वास्तविक तथा गहन वर्ण्य विषय है—और सब वर्ण्य विषय उसके अधीन हैं—विश्वास एवं अविश्वासके बीचका संघर्ष।'

इन विश्वासोंसे संसारमें विविध धर्मों या मतोंका विकास हुआ है। जलवायु, इतिहास, भौगोलिक परिस्थितिने प्रत्येकको एक विशेष प्रकारकी आचरण-मालिका प्रदान की है। विश्वके सभी प्रधान धर्म ईश्वरीय वाणीसे अपना उद्‌गम मानते हैं। यह ईश्वरीय वाणी उनकी किसी प्रधान धर्म-पुस्तकमें संचित है। सब अपनेको एकमात्र सत्य मानते हैं—दूसरे धर्मोंके प्रति उनकी हीन दृष्टि है।

इसी हीन दृष्टि या अपने विशिष्ट धार्मिक अहंकारके कारण प्रत्येक युगमें धर्मोंको लेकर खींचतान होती रही है; वे आपसमें टकराते रहे हैं। उनको लेकर भयानक रक्तपात हुआ है। परंतु यह सब दुःखद काण्ड इसीलिये होते रहे हैं कि मानव-समाजकी विभिन्न जातियाँ धर्मके केन्द्रीय सत्यके स्रोतको भूलकर उसके कर्मकाण्डमें, उसके बाह्याडम्बरमें उलझ गयी हैं; धर्मकी आत्मा दृष्टिसे ओझल हो गयी है और शरीरमात्र रह गया है।

प्रत्येक देशमें सत्यान्वेषी तत्त्वज्ञानियोंने इस स्थितिसे ऊपर उठनेकी चेष्टा की है। अपने अन्वेषणमें उन्हें उस प्रकाशकी अनुभूति हुई जिसे ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर, पुरुष, गॉड, अल्लाह इत्यादि विविध नामोंसे पुकारा गया है। जिनमें यह अनुभूति जितनी ही घनीभूत हुई, उनमें क्षुद्रता, संकुचितता, विभक्तीकरण, परद्वेष उतना ही कम होता गया और जीवमात्रके एकत्वकी भावना बढ़ती गयी। संस्कृत विवेकने इस भावनाको पुष्ट किया। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि धर्मोंमें जो पार्थक्य है, भेद-दृष्टि है, विद्वेष-भावना है, वह उन धर्मोंके पौरोहित्य तथा उससे उद्‌भूत ग्रन्थों, विश्वासों, आचारों एवं आदेशोंतक ही सीमित है। तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें ऐसा विभेद बहुत कम है। श्रुतिमें यह भेद नहीं है, अथवा नगण्य है; स्मृतिमें, कर्मकाण्डमें अधिक है।

इसलिये जब हम धर्मोंका तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो यह देखकर आश्चर्य होता है कि अधिकांश धर्मोंके तत्त्वज्ञानमूलक सत्यों एवं सिद्धान्तोंमें बहुत कम अन्तर है। इस तथ्यकी अनुभूतिसे ही एक सामान्य मानव-धर्मकी कल्पनाका उदय हुआ है।

२

ज्यों-ज्यों मानवमें यह अनुभूति जोर पकड़ती गयी कि सब धर्मोंका लक्ष्य एक ही उद्‌गमको पाना है और ज्यों-ज्यों उसमें समझ आयी कि सब मानव एक ही परमात्माकी संतति हैं त्यों-त्यों भेद-बुद्धिपर मानवकी मूलभूत एकताका भाव प्रबल होता गया। इससे विश्वबन्धुताकी, सर्वमानव-भ्रातृत्वकी भावनाका विकास हुआ। सब मानवोंमें एक ही ईश्वरकी कलाका प्रकाश है, यह ज्ञान दृढ़ हुआ।

३

यों तो सभी धर्मोंके तत्त्वज्ञानियों एवं संतोंमें इस तत्त्वकी

उपलब्धि दिखायी पड़ती है; किंतु भारतीय आर्य-धर्ममें वह सबसे प्रबल, सबकी अपेक्षा सुस्पष्ट है। प्राचीन कालमें हमारे यहाँ मजहब, मत या सम्प्रदायके संकुचित अर्थसे धर्म बहुत दूर रहा है। वेदके ऋषियोंने बहुत पहले इसे अनुभव किया था कि जिसे धर्माडम्बर कहा जाता है, वह मूल सत्यसे भटका देनेवाला है। उस समय भी मूल सत्योंको भूलकर संकुचित मानव-वर्ग अज्ञान-तिमिरमें भटक रहे थे। इसीलिये श्रुति कहती है—

न तं विदाथ य इमा जजान, अन्यद् युष्माकं अन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चाऽसुतृप उक्थ शासश्चरन्ति॥
(ऋ० १०।८२।७, यजु० १७।३१)

अर्थात् 'हे मनुष्यो! तुम उसे नहीं जानते जिसने कि इस सबको बनाया है। तुम अन्य प्रकारके हो गये हो और तुममें उससे बहुत अन्तर हो गया है। अज्ञानकी नीहारिका तथा अमृत और निरर्थक शब्दजालसे ढके हुए मनुष्य प्राणतृप्तिके कार्योंमें लगकर या आडम्बरयुक्त और बहुभाषी होकर भटकते हैं।'

श्रुतिने बार-बार स्मरण दिलाया—'जैसे सब नदियाँ नाम-रूपसे रहित होकर समुद्रमें मिल जाती हैं वैसे ही सब धर्म एक ही ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं।' अथवा **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'** एक ही सत्यको विद्वान् अनेक प्रकारसे कहते हैं।

शास्त्र, पुराण, स्मृतिमें धर्मके अनेक लक्षण और गुण बताये गये हैं। अपने-अपने स्तरपर सब ठीक हैं। उनकी अपनी अलग-अलग कक्षा है, दृष्टि है। किंतु वास्तविक धर्मका मूल गुण एक ही है अर्थात् वह हृदयोंको विभक्त नहीं करता, जोड़ता है। जो हृदयोंको जोड़ता है वही धर्म है। धर्म कभी अलग नहीं करता; क्योंकि जो देख सकता है वह देखता है कि समस्त विश्व ही प्रभुका विग्रह है और विश्वकी सेवा ही, प्रकारान्तरसे, प्रभुकी सेवा है। इसीलिये हमारी संस्कृतिमें दूसरोंको खिलाकर खाने, दूसरोंको जिलानेके लिये प्राणत्याग करने, मतलब उत्सर्गको धर्म माना गया है। हमारा तत्त्वज्ञान अपनी रोटीकी फिक्र नहीं करता, अपने सुखमें समाहित होकर नहीं रह जाता, सबका सुख चाहता है, सबका श्रेय चाहता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

यह सर्वमङ्गल ही वास्तविक मानव-धर्म है और लोकप्रिय स्तरपर पुराणकारने भी इसी सत्यका उद्घोष इन शब्दोंमें किया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

पहलेमें जहाँ तत्त्वज्ञान एवं शाश्वत कामना है वहाँ उपर्युक्त श्लोकमें उसे आचरणके स्तरपर उतार दिया गया है—

'सुनो, समस्त धर्मका तत्त्व इतना ही है कि जो अपनेको प्रतिकूल लगे, अच्छा न लगे—उसका दूसरोंके प्रति भी आचरण न करो।'

भगवान् व्यासने कहा है—'मनुष्यसे श्रेष्ठ कुछ नहीं है।' यहाँ मनुष्यका मतलब उस जागरित मनुष्यसे है जो आत्मरूप है; जिसमें ईश्वरत्वकी अनुभूति और उदय है। यहाँ देह और आत्माके ऐक्यका विभाजन नहीं है; क्योंकि आत्यन्तिक दृष्टिमें देह और आत्मा एक हैं। देह भी उसीकी है, आत्मा भी उसीकी है।

मानव-चेतनाके कई स्तर हैं। पौराणिक शब्दावलीमें ये स्तर दो खण्डोंमें बाँट दिये गये हैं—१. आसुरी, २. दैवी। कहीं-कहीं इन्हें आसुरी, मानवी एवं दैवी—तीन खण्डोंमें विभाजित किया गया है। तत्त्वज्ञानकी भाषामें उसके तीन रूप, तीन स्तर, तीन प्रवृत्तियाँ हैं।—१. तामसी, २. राजसी, ३. सात्त्विकी। आध्यात्मिक विकासकी दृष्टिसे इन्हें ही तीन अवस्थाएँ कह सकते हैं।

१. विकृति
२. प्रकृति
३. संस्कृति

विकृति	=तामसी	=आसुरी
प्रकृति	=राजसी	=मानवी
संस्कृति	=सात्त्विकी	=दैवी

जो वृत्तियाँ मानवको विकृतिसे प्रकृति एवं प्रकृतिसे संस्कृतिकी ओर ले जाती हैं वे ही यथार्थ धर्म हैं। जो मानवको ईश्वरसे जोड़ती हैं, उनका समवाय धर्म है। सुकरातसे किसी भारतीय तत्त्वचिन्तकने कहा था—'यदि हम ईश्वरके विषयमें नहीं जानते तो मनुष्यके विषयमें भी कुछ नहीं जान सकते।' वस्तुतः ईश्वर एवं मानवका मिलन जिन गुणों, नियमों, आचारों एवं प्रवृत्तियोंसे होता है, वही मानव-धर्म है।

इसीलिये आज मानव-धर्ममें धर्मके उन संकुचित रूपोंकी अस्वीकृति है जो मनुष्यमनुष्यके बीच दीवारें खड़ी करते हैं। खण्डित जीवनसे परिपूर्ण जीवन, ईश्वर-वियुक्त जीवनसे ईश्वरयुक्त जीवनकी ओर ले जानेवाला धर्म ही मानव-धर्म है। वहाँ ईश्वर किसी सम्प्रदायविशेषका आराध्य नहीं है, वह मानवमात्रका गन्तव्य, मानवके मन-प्राणकी समस्त चेतनाका उत्स है।

मानव-धर्म वही है जो पशु-मानवको ईश्वरीय-मानवमें बदल देता है।

(२)

(लेखक—श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

आजकल अँगरेजी 'रेलिजन' शब्दके अर्थमें धर्म शब्दका प्रयोग किया जाता है; परंतु यह धर्मका वास्तविक अर्थ नहीं है। हिंदू-मतानुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थ कहाते हैं। इस दृष्टिसे जब हम धर्मपर विचार करते हैं तो अँगरेजी 'रेलिजन' उसका पर्यायवाची नहीं ठहरता। उसका अँगरेजी अर्थ 'राइट कन्डक्ट' (सदाचार) से ही व्यक्त हो सकता है। इसलिये धर्मका आचरण करनेकी शिक्षाको अभ्यास वा साधनाकी आवश्यकता होती है।

कहा गया है कि 'मैं धर्म जानता हूँ, पर मेरी उसमें प्रवृत्ति नहीं है और अधर्म जानता हूँ, पर मेरी उससे निवृत्ति नहीं है। हे हृषीकेश! तुम मेरे हृदयमें बैठे हो, जैसा मुझे नियुक्त करते हो वैसा मैं करता हूँ।' जिसकी परमेश्वरपर इतनी आस्था हो और जो वास्तवमें अपने अनुचित कार्योंके फलसे बचनेके लिये बहाने न ढूँढ़ता हो, उसके मुँहसे तो यह उक्ति अशोभनीय नहीं है; परंतु जो बात-बातमें अपनी बड़ाई बघारता हो, उसकी तो यह भण्डभक्ति ही समझी जायगी। फिर भी इस उक्तिके भीतर एक बड़े मार्केका तत्त्व निहित है और वह यह है कि धर्ममें प्रवृत्ति और अधर्मसे निवृत्ति धर्म वा अधर्म जाननेसे ही नहीं होती, उसका क्रियात्मक अभ्यास और साधना करनेसे होती है।

यह साधना कैसे की जा सकती है, यह जाननेके पहले हमें यह जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है; क्योंकि महाभारतमें व्यासजी भुजा उठाकर कह चुके हैं कि धर्मसे ही अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है। इसलिये काम, भय वा लोभसे प्राण बचानेके लिये कभी धर्म नहीं छोड़ना चाहिये। धर्म तो भाव है और इसलिये लक्षणोंसे ही यह दिखाया जाता है। जिन बातोंसे मनुष्यको अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति हो, वे धर्म मानी गयी हैं और जिनसे इनके विपरीत फल हो, उनकी गिनती अधर्ममें होती है।

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि अभ्युदय आत्यन्तिक श्रेयके साथ इसीलिये बाँधा गया है कि वह अनुचित उपायोंसे भी हो सकता है, यद्यपि उसे यथार्थ अभ्युदय नहीं कहा जा सकता। लूटपाट, डाके, चोरी इत्यादिसे भी मनुष्यकी लौकिक उन्नति हो सकती है; पर ये उपाय वाञ्छनीय नहीं हैं; क्योंकि धर्मके विरुद्ध हैं। धर्मसे अविरुद्ध उपायोंसे जो उन्नति होती है, वही वाञ्छनीय है। इसलिये निःश्रेयस उसीको प्राप्त हो सकता है जो सदाचारी हो। 'मनुस्मृति' में धर्मके जो दस लक्षण बताये गये हैं, उनसे धर्मके अनुसार चलनेमें सहायता मिल सकती है। वे हैं—धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना); शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध। इनमें कुछका सम्बन्ध अपने साथ और कुछका दूसरोंके साथ है। अर्थात्—मनुष्यको सदाचारका उपदेश इन दस लक्षणोंद्वारा दिया गया है। धैर्य, दम और शौचका सम्बन्ध अपने ही साथ है; पर क्षमा, चोरी न करने, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोधका अपने और दूसरोंके साथ भी है। एक मनुष्यको समाजमें रहकर इन गुणोंकी बड़ी आवश्यकता होती है।

एक स्थानपर गार्हस्थ्य-धर्म बताया गया है। वहाँ कहा गया है—अहिंसा, सत्य वचन, सब प्राणियोंपर दया, क्षमा और यथाशक्ति दान गार्हस्थ्य-धर्म है। इसके अनुसार गृहस्थके लिये ये ही कर्त्तव्य हैं। परंतु हमें 'मनुस्मृति' के दस लक्षणोंके साथ इनको मिला देना चाहिये, जिसमें इनमें पूर्णता आ जाय। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, क्षमा, दया, धैर्य, शौच, दम, चोरी न करना, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या और अक्रोध—ये १२ गुण हो जाते हैं। इनके साथ ही जिन दोषोंके कारण इनमें कई गुणोंका विकास नहीं हो पाता या ह्रास होता है, उनपर भी विचार करना कर्त्तव्य है। शास्त्रमें ये षड्वर्ग अथवा षड्रिपु नामसे वर्णित हुए हैं। ये हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान और मत्सर।

इस प्रसंगमें पहला प्रश्न यही उठेगा कि काम तो

चतुर्विध पुरुषार्थका एक अङ्ग है, वह शत्रु कैसे हो सकता है ? प्रश्न ठीक है; क्योंकि सब काम शत्रु नहीं है और न हो ही सकता है। परंतु जहाँ इस कामसे क्रोध, लोभ, मत्सर आदि दुर्गुण उत्पन्न होकर मनुष्यको अहिंसा, सत्य, शौच, दम, चोरी न करना, इन्द्रियनिग्रह आदिमें बाधा डालते हैं, वहीं काम शत्रु है, अन्यत्र नहीं। इसलिये कामके नाशका नहीं, उसके नियन्त्रणका प्रयोजन है।

क्रोध और अक्रोधमें दिन और रात अथवा प्रकाश और अन्धकारका अन्तर है। जब अक्रोध धर्मका लक्षण बताया गया है, तब क्रोध अधर्मका लक्षण आप-ही-आप बन जाता है। पर यहाँ भी वही बात है। अन्याय-अत्याचार-पर क्रोध होना प्राकृत मानवका लक्षण है; अन्यायको दया एवं प्रेमसे जीतना महात्माका लक्षण है।

जहाँ हम दूसरेकी वस्तुको इस दृष्टिसे देखते हैं कि वह हमें मिल जाय और नहीं मिलती दिखती है तो हम उसे चुरानेको तैयार हो जाते हैं, वहाँ तो लोभ निन्दनीय है ही; पर इसके सिवा वहाँ भी लोभ बुरा है जहाँ किसीको कुछ देना उचित है, वहाँ लोभके कारण सामर्थ्य रहते भी हम देना नहीं चाहते। धनकी तीन गतियाँ विद्वानोंने बतायी हैं—दान, भोग और नाश। जो न किसीको देता है और न आप धनका भोग करता है, उसके धनकी तीसरी ही गति होती है—अर्थात् वह नष्ट हो जाता है। ठीक ही कहा जाता है—''जोड़-जोड़ धर जायँगे, माल जवाँई खायँगे।'' हम बहुत-से लोभियोंका धन इसी प्रकार नष्ट होते देखते हैं। आप तो भूखे रहकर धन एकत्र करते हैं और मरनेके बाद यार लोग उसे उड़ाते हैं।

अज्ञान, नासमझी, भूल और घबराहटका नाम मोह है। विद्या, बुद्धि और धीरजसे मोह जीता जाता है। यह सचमुच शत्रु है, जिसके पक्षमें कोई बात नहीं कही जा सकती। इससे पिण्ड छुड़ाये बिना कोई मनुष्य अपने कर्त्तव्योंका पालन नहीं कर सकता। परंतु मान वा अभिमान अच्छा और बुरा यथास्थान हो सकता है। मनुष्यको सद्गुणोंका अभिमान* होना तो अच्छा है, परंतु दूसरोंसे विद्या, धन, सम्पत्ति अथवा कुलीनता और विशाल कुटुम्बका अभिमान निन्दनीय है। इसी प्रकार मत्सर वा ईर्ष्या दूसरोंके सद्गुणोंकी और उनके-से अच्छे बननेकी तो अच्छी है, और सर्वत्र त्याज्य है।

शत्रु-षड्वर्गका जीतना उनको अपने वशमें रखना है। जिस प्रकार कभी-कभी विष भी अमृतका काम करता है, उसी प्रकार इन षड्रिपुओंके वशमें रहनेपर बहुत काम होते हैं। इन्द्रियनिग्रहका अर्थ भी इन्द्रियोंको वशमें रखना है। इन्द्रियोंके दो भेद हैं—अन्तःकरण और बहिःकरण। मन, बुद्धि अहंकार और चित्त—इनकी संज्ञा अन्तःकरण है और दस इन्द्रियोंकी संज्ञा बहिःकरण है। अन्तःकरणकी चारों इन्द्रियोंकी कल्पना भर हम कर सकते हैं, उन्हें देख नहीं सकते; परंतु बहिःकरणकी इन्द्रियोंको हम देख भी सकते हैं।

अन्तःकरणकी इन्द्रियोंमें मन सोचता-विचारता है और बुद्धि उसका निर्णय करती है, उसपर अपना आखिरी फैसला देती है। कहते हैं 'जैसा मनमें आता है, करता है।' मन संशयात्मक ही रहता है, पर बुद्धि उस संशयको दूर कर देती है। चित्त या दिल अनुभव करता है या समझता है। अहंकारको लोग साधारण रूपसे अभिमान समझते हैं, पर शास्त्र उसे स्वार्थपरक इन्द्रिय बताता है।

बहिःकरणकी इन्द्रियोंके दो भाग हैं—एक ज्ञानेन्द्रिय और दूसरा कर्मेन्द्रिय। आँख, कान, नाक, जीभ और खालको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं; क्योंकि आँखसे रंग और रूप, कानोंसे शब्द, नाकसे सुगन्ध और दुर्गन्ध, जीभसे रस वा स्वाद और खालसे ठंढे और गर्मका ज्ञान होता है। रूप, रस, शब्द, गन्ध और स्पर्श ज्ञानेन्द्रियोंके गुण हैं। वाणी, हाथ, पैर, जननेन्द्रिय और गुदा—ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। इनके गुण मूर्ख-से-मूर्ख मनुष्य जानता है; इसलिये बतानेका प्रयोजन नहीं है।

इन चौदह इन्द्रियोंको जो अपने वशमें रखता है, वह जितेन्द्रिय कहाता है; परंतु यह काम बड़ा कठिन है। फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि कठिन समझकर इसे छोड़ ही दिया जाय। आज-के-आज कोई जितेन्द्रिय नहीं हो सकता। इसके लिये उसे अभ्यास वा साधनाका प्रयोजन होता है। इन्द्रियाँ जंगली जानवर वा नये बैल वा घोड़ेकी तरह बन्धन तुड़ाकर भागना चाहती हैं। जरा-सी लगाम ढीली हुई कि नये घोड़ेकी तरह इन्द्रियाँ मनुष्यको लेकर कहाँ गिरा देंगी इसका कोई ठिकाना नहीं है। इसलिये लगाम बराबर कड़ी

* सद्गुणोंका अभिमान भी कोई धर्मप्रवृत्ति, ईश्वरोन्मुखी प्रवृत्ति नहीं। इससे सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। किसी प्रकारका भी अभिमान उतने अंशमें भगवान्‌से वियोग ही है।—सम्पादक

रखनी चाहिये। यही इन्द्रिय-निग्रह है। सच तो यह है कि जो इन्द्रिय-निग्रह कर लेता है, वह कभी हारता नहीं; क्योंकि मनुष्यको दुर्बल करनेवाली इन्द्रियोंके फेरमें वह नहीं पड़ सकता।

सबसे जबरदस्त काम जो आदमीको करना चाहिये, वह इन्द्रिय-निग्रह ही है। यही मुख्य धर्म है। इसके बाद तो आगेका काम सहज हो जाता है। यह काम कठिन है; पर तो भी छोड़ा नहीं जा सकता।

सम्पत्ति और धनके कारण भाई-भाई और बाप-बेटेमें भी लड़ाई हो जाती है और एक दूसरेकी जानका गाहक हो जाता है। महाभारत और रामायणकी घटनाओंका सम्बन्ध सम्पत्तिके सिवा स्त्रीसे भी है। द्रौपदी और सीताके कारण भी अनेक घटनाएँ हुई हैं। जो हो, मनुष्यमें लोभ बहुत होता है। वह अपनी वस्तु तो किसीको देना नहीं चाहता, पर दूसरेकी लेनेकी बराबर इच्छा करता है। इसलिये लोभ बड़े अनर्थकी जड़ है। मनुष्य दूसरेकी स्त्रीको कुदृष्टिसे भी देखनेमें आगा-पीछा नहीं करता; पर यदि उसकी पत्नीपर कोई कुदृष्टि डालता है, तो वह नहीं सह सकता। इसलिये विवाह-प्रथा चलायी गयी, जिसमें कोई दूसरेकी पत्नीकी ओर आकर्षित न हो। फिर भी मनुष्य नहीं मानता।

इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल होती हैं और मनुष्यको अन्धा कर देती हैं; इसीलिये 'मनुस्मृति'में कहा है कि मनुष्यको जवान माँ, बहिन वा लड़कीसे भी एकान्तमें बातचीत न करनी चाहिये। कुछ लोग कहेंगे कि लेखकका मन कलुषित था और वह अपनी ही नाईं सबको समझता था, इसलिये उसने ऐसा लिखा है; पर यह उनका भ्रम है। मनुष्य-हृदय कितना दुर्बल होता है, यह बृहस्पति, विश्वामित्र और पराशर-जैसे ऋषि-मुनियोंके आख्यानोंसे स्पष्ट होता है।

हमारी समझसे सदाचारकी जड़ इन्द्रिय-निग्रह ही है। इस एक ही साधनासे मनुष्य सदाचारी रह सकता है।

नीतिमें कहा है कि दूसरेकी स्त्रीको माता मानो, पर हम कहते हैं कि आप माता, बहिन या लड़की कुछ भी न मानें, पर इतना तो अवश्य मानें कि अपनी पत्नी नहीं है, परायी है और इसलिये हमें उसे परायी पत्नीके रूपमें ही देखना चाहिये। बस, स्त्रियोंके विषयमें हमारे अंदर यही भाव आना और इसीको लानेके लिये हम सबको यत्न करना चाहिये। हमको यह बराबर याद रखना चाहिये कि जिस वस्तुके देखनेसे लोभ बढ़ता हो, उसे देखते रहनेसे बढ़कर कोई पाप नहीं है।

अन्तमें बुद्ध भगवान्‌का यह उपदेश भी अप्रासङ्गिक न होगा। बुद्धका कहना है—'हम अप्रसन्न हैं; क्योंकि हमारी इच्छाएँ मूर्खतापूर्ण हैं। यदि हम सुखमय जीवन चाहते हैं तो वह अनायास आ जानेवाला नहीं है, वरं सुविचारों, सुशब्दों और सुकर्मोंसे वह बनाया जा सकता है। शिक्षा और साधनासे हम अपने हृदयको पवित्र कर और नैतिक नियमोंका पालन कर अपने स्वभाव बदल सकते हैं। यदि हम दुःखोंसे छूटना चाहते हैं, तो हमें अपनी इच्छाशक्ति प्रबल करनी चाहिये; क्योंकि मनुष्यके स्वभावमें विचार वा अनुभूतिकी अपेक्षा इच्छाका स्थान बड़ा है।'

विदेशमें धर्मके नामपर बहुत मार-काट और युद्ध हुए हैं, पर वास्तवमें वे सब अज्ञानजन्य हैं। जो परलोक और परमेश्वरको नहीं मानते, वे भी सच्चरित्रता और नैतिकताको मानते हैं और इसलिये नैतिकताको ही मानव-धर्म कहा जाय, तो अनुचित न होगा।

जो लोग मानते हैं कि परमात्मा सबमें व्याप्त है और इस प्रकार सब एक हैं, उन्हें तो अनुभव करना चाहिये कि हम यदि अन्य मनुष्य या मनुष्योंका कोई उपकार करते हैं, तो प्रकारान्तरसे वह अपना ही उपकार है; क्योंकि जो हम हैं, वही वे हैं; हममें और उनमें कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रकार जब सब परमात्माके अंश वा रूप हैं, तो हम यदि सबका हितचिन्तन वा सबकी सहायता करते हैं, तो यह परमात्माका ही पूजन और उसीकी आराधना है।

इस ढंगसे सार्वजनिक कामोंमें प्रीति रखना सर्वभूतहित-रत होना है और जो अत्यन्त सर्वहित है, वही उच्चकोटिका धर्म है। परमेश्वरको दीनोंका परिपालक और जनार्दन कहा गया है। इस दृष्टिसे यदि हम दीनोंका परिपालन करते हैं और लोगोंके कष्टोंका निवारण करते हैं, तो परमेश्वरका ही कार्य करते हैं, जो सच्चे भगवद्भक्तका लक्षण है।

(३)

(लेखक—पं० श्रीकुशेश्वरजी झा काव्यतीर्थ, व्याकरणाचार्य)

यह चराचर जगत् धर्मसे व्याप्त है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसका निजी धर्म न हो। इस धर्ममय जगत्‌में चौरासी लाख योनिके अन्तर्गत मानव सर्वश्रेष्ठ जीव है; क्योंकि यह ज्ञानी जीव है। अतः शुभाशुभ कर्मका विशेष उत्तरदायित्व

मानवपर ही है, अन्य देहधारी जीवोंपर नहीं। पुराणोंमें भी अशुभ कर्मोंके दण्डका भागी मानव ही माना गया है, अन्य तनधारी जीव नहीं; क्योंकि मनुष्य ही कर्मानुयोनि है। मनुष्येतर योनि भोगानुयोनि है। अतएव मानव जन्मसे मरण-पर्यन्त धर्मके बन्धनसे युक्त है। धर्म सृष्टिके साथ ही प्रादुर्भूत हुआ है। जैसे पटरीसे उतरनेपर रेल, सड़कसे उतरनेपर मोटरकी गति भ्रष्ट हो जाती है, ठीक उसी तरहसे धर्मच्युत मानवकी गति होती है। धर्म तो मानवजीवनका एक उत्तम कोटिका पथ है, जिससे चल करके मानव अपने लक्षित स्थानमें पहुँचता है। अतः धर्मप्रवर्त्तक महर्षियोंने देश, काल, पात्रानुसार इसमें ह्रास और वृद्धिकी बात कही है। मानवोचित कर्तव्यकी कायिक, वाचिक, मानसिक प्रतिज्ञा करके उसका यथावत् पालन करना ही धर्म है। व्याकरणमें धर्म शब्दकी व्युत्पत्ति इस रूपमें है कि 'धृञ्' धातुसे मक् प्रत्यय करनेपर धर्म शब्द बनता है। 'धृञ्' धातुका अर्थ ही है **'धृञ् धारणपोषणयोः'** अर्थात् किसी भी शास्त्रीय नियमोंका धारण करना एवं उनका यथोचितरूपेण पालन करना।

देश, काल, जातिके अनुसार धर्मके अनेक भेद माने गये हैं। जैसे देश-धर्म, काल-धर्म एवं जाति-धर्म आदि। किंतु सनातन धर्म ही ऐसा धर्म है जो सर्वत्र है, सर्वदा है। प्राचीन कालसे परम्परागत आया हुआ धर्म ही सनातन धर्म है, जिसके अन्तर्गत देश-धर्म, जाति-धर्म आदि सभी प्रकारके धर्मोंका अन्तर्भाव हो जाता है। धर्म-पालनके सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णका स्वयं वाक्य है कि—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

भलीभाँति आचरण किये हुए पर-धर्मसे गुणरहित स्वधर्म ही अच्छा है। इसमें स्वधर्मसे मानवत्व (मानव-धर्म) और परधर्मसे दानवत्व-पशुत्व (दानव एवं पशु-धर्म) को समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि मानवको कभी भी मानवत्व नहीं खोना चाहिये। सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार, अस्तेयादि धर्मके अनेक लक्षण या गुण माने जाते हैं, जिनमें परोपकारको श्रेष्ठ माना गया है। इस सम्बन्धमें किसी संस्कृत कविने कहा है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अर्थात् अष्टादश पुराणोंमें व्यासजीने दो ही सारांश-पूर्ण वचन बतलाये हैं कि परोपकार ही पुण्य है और परपीड़न ही पाप है। इस सम्बन्धमें संत तुलसीदासजीका भी कथन है कि—

परहित सरिस धरम नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

वस्तुतः धर्म ही मानव-जीवनका सार पदार्थ है। यद्यपि इसे निभानेमें मानवोंके समक्ष विविध कठिनाइयाँ अवश्य आती हैं, तथापि जो धर्मके सच्चे अनुरागी होते हैं, उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। उदाहरणके लिये हम शिवि, दधीचि, रन्तिदेव, हरिश्चन्द्र प्रभृति महामानवों-को ले सकते हैं जो जीवनकी अन्तिम घड़ीतक स्वधर्मसे कथमपि नहीं डिगे और धर्म भी अन्ततोगत्वा उनका साथ देता रहा। अतः किसी महानुभावने कहा है—

जो धर्मकी टेक रखता है धर्म उसको बचाता है।
धर्मको जो मिटाता है वह खुद भी मिट ही जाता है॥

यह संसार क्षणभङ्गुर है। इसके अन्तर्गत सभी वस्तुएँ नाशवान् एवं अनित्य हैं, केवल एकमात्र धर्म ही शाश्वत है। अतः इस सम्बन्धमें किसी कविने कहा है—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंचयः॥

इतना ही नहीं, जिस मानवने मानव-जैसे अमूल्य तनको प्राप्त करके इसे स्वधर्मपालनद्वारा सार्थक नहीं किया, वही सोचने योग्य है।

अध्रुवेण शरीरेण प्रतिक्षणविनाशिना।
ध्रुवं यो नार्जयेद्धर्मं स शोच्यो मूढचेतनः॥

विद्वानोंने इस संसारको चलायमान माना है, इस नाशवान् संसारमें केवल धर्म ही अचल है और मानवका सच्चा साथी है।

क्योंकि—

चलं चित्तं चलं वित्तं चले जीवनयौवने।
चलाचले हि संसारे धर्म एको हि निश्चलः॥

अतएव इस दुर्दान्त कलिकालमें मानवको सदैव धर्मपर स्थिर रहना चाहिये, तभी मानव मानव कहलानेका अधिकारी हो सकता है।

(४)

(ज्योतिर्विद्भूषण काव्यधुरीण रत्नाचार्य पं० श्रीस्वरूपचन्द्रजी शास्त्री)

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥

वस्तुतः मानवताके चरम विकासका अजस्र स्रोत केवल मात्र धर्म ही है । अर्थात् श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित मार्गका अनुसरण, सत् आचरण, प्राणिमात्रके साथ सदाशयता एवं कायिक, वाचिक, मानसिक शुद्धि ही धर्मका मूल बताया गया है । अतः **'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'** अर्थात् स्वयंके विपरीत पड़नेवाला कोई भी कार्य दूसरोंके लिये मत करो, ऐसा जो कहा गया है वह इसी दृष्टिसे कहा गया है । धर्मकी परिभाषामें श्रुति इस प्रकारसे कहती है—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा धर्मिष्ठं वै प्रजा उपसर्पन्ति ।
धर्मेण पापमपनुदिता तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति ॥

आजके इस भौतिक युगमें यदि मानव, मानवके साथ सद्व्यवहार करना नहीं सीखेगा, तो अनतिदूर कालमें वह एक दूसरेको खाने दौड़ने लगेगा । यही कारण है कि वर्तमानमें धार्मिकतासे रहित यह आजकी शिक्षा मानवको मानवताकी ओर नहीं ले जाकर दानवताकी ओर ले जा रही है । आप देख रहे हैं जहाँ एक ओर धर्मविहीन मानव आणवास्त्रोंका निर्माण कर मानव-धर्मको समाप्त करनेमें कटिबद्ध हो रहा है, वहाँ दूसरी ओर उद्जन बमोंका निर्माण कर अपने दानव-धर्मका प्रदर्शन करनेको उद्यत है । ऐसी स्थितिमें आप सोचिये वह **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** वाला हमारा स्नेहमय मूल मन्त्र कहाँ गया ? संसारके सभी व्यक्ति जब एक ही परमात्माकी संतति हैं और इसी कारण यह सम्पूर्ण विशाल विश्व एक विशाल परिवारके समान है तो पुनः परस्परमें संघर्ष क्यों ? अतः यह विचार केवल आजका नहीं है जिसे आप नया मान बैठे हैं । समय-समयपर संसारमें प्रवर्तित अनेक प्रमुख धर्मोंमें इस व्यापक तथा परमोदार बिचारकणका सामञ्जस्य पुञ्जीभूत है ।

मानवता वास्तवमें मनुष्यका धर्म है । सभी मनुष्योंसे स्नेह करनेका मूल पाठ मानव-धर्म सिखाता है । जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, धर्म, देश आदिके विभिन्न रूपात्मक भेदभावके लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है । मानव-धर्मका आदर्श एवं इसकी मनोभूमि अत्यन्त ऊँची है तथा इसके पालनमें मानव-जीवनकी वास्तविकता निहित है । मानव-धर्म सभ्यता एवं संस्कृतिकी एक प्रकारकी रीढ़की हड्डी है । इसके बिना सभ्यता एवं संस्कृतिका विकास कल्पनामात्र ही है ।

मानव-धर्मकी वास्तविकता एवं उपादेयता इसीमें है कि मनुष्यत्वके विकासके साथ-ही-साथ संसारभरके लोग सुख, शान्ति और प्रेमके साथ रहें । प्राणीमात्रमें रहनेवाली आत्मा उसी परम पिता परमेश्वरका अंश है । प्रत्येकमें एक ही जगन्नियन्ता प्रभुका प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, यह समझकर मानवकी ओर आदरभावना बनाये रक्खे, तब ही अन्ताराष्ट्रिय भावनाओंका, चाहे वे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक हों, सर्वाङ्गीण विकास सम्भव है ।

मानव-धर्मका आध्यात्मिकता तथा नैतिकतासे महत्त्वपूर्ण सत्सम्बन्ध है । यदि कोई मानव सदाचरणशील नहीं है, चारित्रिक अथवा नैतिक आदर्शोंमें उसकी भावना श्रद्धालु नहीं है, ईश्वरीय सत्तामें यदि उसका लेशमात्र भी विश्वास नहीं है, इसके अतिरिक्त सौजन्य, सहृदयता, सात्त्विकता, सरलता, परोपकारिता आदि सद्गुण उसमें नहीं हैं तो आप यह मानकर चलिये कि अभी उसने मानव-धर्मका स्वर-व्यञ्जन भी नहीं सीखा है । सर्वोदयके उद्गाता श्रीविनोबाने अपने गीता-प्रवचनमें एक स्थानपर लिखा है कि 'मानव-धर्मके विनाशहेतु मानवने अपने चारों ओर एक स्वार्थका संकीर्ण घेरा बना रक्खा है जिसके बाहर वह निकल नहीं पाता और तोड़े बिना, उससे बाहर निकले बिना कोई भी मानव मानवतावादी नहीं बन सकता । अतः अपने हृदयको परमोदार तथा सरल बनानेकी नितान्त आवश्यकता है । प्रेमपयोधिमें स्नान करना परमापेक्षित है । जो व्यक्ति परहित-साधनमें लगा रहता है वही मानवताको अपना धर्म बना सकता है । मानव-धर्मकी प्राप्तिमें परम सहायक नैतिकता तथा आध्यात्मिकताका संबल परमावश्यक है ।

मानव-जीवनका केवलमात्र उच्चतम आदर्श जैसा भगवान् व्यासने कहा है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

—होना चाहिये । यही कारण है कि प्राचीन एवं आधुनिक संत-महात्माओंने इस भूपर मानव-धर्मकी रक्षा करने एवं इसको प्रगति देनेहेतु सदा चेष्टा की और उन्होंने कोटि कोटि मानवोंके उद्धारहेतु एकमात्र मानव-धर्मका प्रचार किया । लोककल्याण तथा लोकसंग्रहका एक ही मार

श्रेयस्कर प्रतीत होता है और वह है मानव-धर्मका पूर्ण विकास एवं इसकी परिपालना। इसी दृष्टिसे स्वामी रामकृष्ण परमहंस, पूज्यपाद विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि महापुरुषोंने मानव-धर्मके प्रचारहेतु अपनेको इसकी सेवामें ही लगाकर सर्वत्र घूम-घूमकर अधिकाधिक लोगोंको इस कल्याणमार्गपर चलनेका पूर्ण आग्रह किया। उन्होंने एकमात्र यही उपदेश किया कि परम पिता परमात्माके दरबारमें मानवमात्र समान हैं, सब भगवत्-कृपा एवं भगवद्भक्तिके पात्र हैं। सबको छल, छद्म, कपट, पाखण्ड छोड़कर प्रेमसे रहना चाहिये। किसीके साथ भेदभाव नहीं रखना चाहिये।

मानव-धर्मके विषयमें ऋग्वेद (६।५२।५) में कहा है—

'विश्वदानीं सुमनसः स्याम'

अर्थात् हम सर्वदा प्रसन्न रहें; क्योंकि मनःप्रसादसे समस्त आपदाएँ शान्त हो जाती हैं। दूसरे शब्दोंमें लोक-हितैषणामें लगे रहना ही तो मनःप्रसादका हेतु है जो कि सच्चा मानव-धर्म है। इसी प्रकारसे ऋग्वेदका यह वाक्य भी तो **'पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः'** अर्थात् मानव, मानवकी रक्षा करे मानव-धर्मका मूल मन्त्र है। इसी प्रकारसे प्राचीन ग्रन्थोंमें एक नहीं, अनेक सूक्तियाँ मानव-धर्मकी ओर प्रेरित करती हैं। यथा—

यावानात्मनि वेदात्मा तावानात्मा परात्मनि।
य एवं सततं वेद सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

यह है मानव-धर्मका स्वरूप अर्थात् जिस प्रकार स्वयंके शरीरमें ज्ञान-स्वरूप आत्मा है, वैसे ही दूसरोंके शरीरमें भी है—ऐसी विचारणा जिस व्यक्तिकी बन जाती है वह सुधा-तत्त्वको सुलभतासे प्राप्त कर सकता है।

वर्तमानमें देख रहे हैं कि मानव सर्वथा दुःखावस्थाका अनुभव ही नहीं कर रहा है अपितु इससे इतना ग्रसित हो गया है कि उसके समक्ष केवलमात्र दुःखार्णव ही दिखायी दे रहा है; क्योंकि वर्तमानका मनुष्य जहाँ उसे स्वयंमें निम्नाङ्कित सद्गुणोंका समावेश करना चाहिये, वहाँ वह असद्गुणोंके प्राप्त करनेमें प्रगतिशील बना हुआ है। यदि हम मानव-धर्मप्रेरक सद्गुणों एवं उनकी विरोधी प्रवृत्तियोंको व्यक्त करना चाहें तो संक्षेपमें निम्नलिखित तालिका बनती है—

मानव-धर्मकी ओर ले जानेवाले सद्गुण—	मानव-धर्मके विपरीत असद्गुण
१ परमात्मामें विश्वास	प्रकृतिमें विश्वास
२ परोपकार	स्वार्थ
३ अहिंसा	हिंसा
४ सत्य	असत्य
५ ब्रह्मचर्य	व्यभिचार
६ अपरिग्रह	संग्रह
७ सात्त्विकता	विलासिता
८ सेवाभाव	अधिकार
९ विनय	मद
१० क्रियादक्षता	मूर्खता
११ समता	द्वेष
१२ त्याग	युद्ध
१३ प्रेम	शत्रुता
१४ शान्ति	अशान्त जीवन
१५ सदाशयता	संकीर्णता
१६ सद्विचार	असद्विचार
१७ क्षमा	वैर

अन्तमें मैं यही निवेदन करूँगा कि मानव-धर्मकी ओर प्रवृत्त करनेवाले उपर्युक्त सद्गुणोंको ग्रहण करनेमें ही सबका कल्याण है।

(५)

(लेखक—श्रीयुक्त **विष्णुदत्तजी** पुरोहित)

शिष्यके प्रणिपात करनेपर आचार्यका यही आशीर्वाद होता है—'वत्स, तुम्हें धर्म-लाभ हो।' इस एक शब्द 'धर्म-लाभ'के साथ ही भगवान् आचार्यने मानो शिष्यको कृतार्थ कर दिया। वास्तवमें कृतार्थता धर्मका रूप है। जीवनमें दिव्यता, विशालता, उदारता तथा सबके प्रति निर्मल प्रेम-धर्मकी सहज अभिव्यक्ति है। सर्वसमर्थ परब्रह्म परमेश्वरमें नित्य स्थिति ही वास्तविक रूपमें धार्मिक जीवनकी कसौटी है। दिव्यता, विशालता, प्रेम आदि जब कभी दूषित वातावरणके अधिक प्रभावसे तिरोहित होने लगते हैं, तभी उनकी स्थिति सुदृढ़ करनेके लिये परमेश्वर प्रकट होते हैं; क्योंकि समस्त लोक धर्मसे धारण किये जाते हैं और धर्मका ह्रास सम्पूर्ण अस्तित्वके ह्रासका द्योतक है। इसलिये धर्म प्राणीका आधार है एवं धर्म प्राणीका जीवन है।

परमेश्वरकी कृपासे मानव-जातिमें समय-समयपर ऐसे

महापुरुष प्रकट होते आये हैं, जिन्होंने अपने सम्पूर्ण सुखोंको त्यागकर धर्म-लाभके लिये समस्त जीवन अर्पण कर दिया। सत्य-जीवनको अपनाकर परमेश्वरसे सम्पर्क स्थापित किया और उनके चैतन्यमें ही स्थित रहे। ऐसे भगवत्परायण महापुरुष अब भी शरीर-धारणावधितक एवं उसके उपरान्त भी सृष्टिमें भागवत-सत्ताके प्राकट्यका प्रयत्न करते हैं। यद्यपि कहीं-कहीं अनुयायियोंने नाना मतोंका रूप देकर वास्तविकताको बदल दिया है; किंतु मूलतः समग्ररूपसे समस्त सत्पुरुष केवल एक धर्म—परमेश्वरके प्राकट्यके साधन हैं। ये सभी महापुरुष मानव-जातिके लिये वन्दनीय हैं एवं उनके सदुपदेश ग्राह्य हैं।

आज संसारमें जो नाना मत-मतान्तर दिखायी देते हैं उनमें भी अन्तर केवल इतना ही है कि एक पक्ष किसी एक पहलूको विशेष महत्त्व देता है तो अन्य पक्ष किसी दूसरेको। वास्तवमें अपने सम्पूर्ण जीवनको, अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंको भगवदुन्मुखी करना धर्म-लाभकी प्रमुख प्रक्रिया है। जिसके जीवनका प्रवाह केवलमात्र परमेश्वरकी ओर होता है, उससे स्वार्थ, संकीर्णता, द्वेष, भय, क्रूरता आदि सहज ही दूर हो जाते हैं और उसे स्पर्शतक करनेका साहस नहीं करते। व्यक्तिमें परमेश्वरका शुद्ध-बुद्ध प्राकट्य ही उसे सच्चा धार्मिक पुरुष बनाता है।

इसी दिव्य-जीवनकी प्राप्तिके प्रयत्न विविध धार्मिक प्रक्रियाएँ हैं। उसके प्राकट्यके सहायक तत्त्वोंको प्रोत्साहन दिया जाता है तथा उसके विरोधी तत्त्वोंसे उदासीन रहनेका प्रयत्न किया जाता है। यद्यपि मूल रूपमें दिव्यताके प्रतिपक्षी भाव भी उस अनन्त सत्ता परब्रह्म परमेश्वरके ही हैं, तथापि भगवान्के साक्षात् प्रकट होनेमें अवरोध उत्पन्न करनेवाले स्वभावके होनेके कारण उनसे उदासीन रहना उचित बताया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्'का शुद्धतम रूप है और उसे प्राप्त करनेके लिये उसके मूल निवास सच्चिदानन्द परमेश्वरकी ओर जीवनकी वृत्तियोंको प्रवाहित करना मानवका मुख्य कर्तव्य है। अनादिकालसे भगवत्-प्राप्त महापुरुष यही कहते आये हैं कि अपना जीवन भगवान्के समर्पण होना चाहिये। दिव्यताविरोधी भावोंको त्यागकर सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म सार्वभौम मूलसत्ता परमेश्वरको अर्पण करना, सब कुछ उनका मानकर सम्पूर्ण जीवनको उनका चेतन-यन्त्र बनाकर व्यतीत करना भगवत्-समर्पणका मौलिक रूप है। सर्वात्मा परमेश्वरसे प्रेम, उनसे प्रार्थना, उनका नाम-स्मरण-कीर्तन, उनका ध्यान आदि भगवत्समर्पित जीवनके द्योतक हैं; क्योंकि जिसने अनन्तको प्रणिधान किया, उसमें उपर्युक्त भाव सहज ही प्रकट होते हैं एवं क्रमशः उसका जीवन ऊर्ध्वगामी तथा दूसरे शब्दोंमें धार्मिक बनता जाता है।

यही मानव-धर्मका यथार्थ रूप है। तमोगुण, रजोगुण और यहाँतक कि सत्त्वगुणसे भी अतीत स्वयंरूप सच्चिदानन्दकी अभिव्यक्ति ही धर्म है। इसीसे प्राणी कृतार्थ होता है। जिस भाग्यवान् भगवत्कृपा-प्राप्त महापुरुषमें धर्मका प्राकट्य होता है, उस निर्भीक, नित्य भगवत्-चैतन्यमें स्थित महापुरुषकी इस पृथ्वीपर उपस्थिति मात्र ही प्राणियोंके लिये परम कल्याणकी हेतु है। जिस धरतीपर वह रहता है वह कृतार्थ होती है; जिस वायुसे वह श्वास लेता है वह वायु कृतार्थ होती है और समस्त सृष्टि परम भागवत दिव्यताका स्पर्श पाकर अत्यन्त कृतार्थ हो जाती है।

ऐसा धर्मलब्ध महापुरुष देह रहते भी भगवान्के दिव्य विग्रहमें लीन रहता है और देह-त्यागके पश्चात् भी भगवान्में ही विलीन हो जाता है। इस प्रकार मानव ही क्या प्राणीमात्रका धर्म भगवत्स्वरूपमें स्थिति है।

(६)

(लेखक—श्रीचन्द्रशेखरदेवजी काव्यतीर्थ, साहित्यविशारद)

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः॥

(मनुस्मृति ८। १५)

'धर्म' शब्दका व्यापक अर्थ है। प्रत्येक पदार्थमें धर्मका अस्तित्व ज्ञात होता है; क्योंकि धर्मरहित वस्तु है ही नहीं। आजकलके कई लोग धर्म शब्द सुनते ही अनादरकी भावना व्यक्त करते देखे जाते हैं। इसका कारण यही है कि उन्होंने धर्मके व्यापक अर्थको संकुचितरूपसे ग्रहण किया है। अतः धर्मके व्यापक अर्थको जानना अत्यावश्यक है।

वेद, आगम, स्मृति, पुराण तथा महात्माओंकी अनुभवपूर्ण उक्तियोंसे यही सिद्ध होता है कि अनन्तविचित्र रचनारूप जगत्का एकमात्र आलम्बन धर्म है। यद्यपि धर्म सबमें उपस्थित है तो भी वह सबको मालूम नहीं पड़ता है। यदि मानव-धर्मको छोड़कर कोई मनमाना आचरण करे तो वह मनुष्यत्वको खो बैठता है; साथ ही पशु बन जाता है।

आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये सब पशुओं तथा मनुष्योंमें प्रायः समान ही हैं, केवल धर्म ही मनुष्यमें अधिक है। धर्म न रहे तो मनुष्य पशु ही है।

धर्म क्या है ?

'धर्म' शब्द 'धृ' धातुसे बना है। धृ धातु धारण, पोषण और अवस्थान आदि दस अर्थोंमें युक्त होता है। इसी धृ धातुसे ही 'धर्म' निष्पन्न हुआ है। यह मानी हुई बात है कि कारणके गुण कार्यमें प्रविष्ट होते हैं; अतएव धृ धातुका व्यापक अर्थ भी धर्म पदमें पाया जाता है। धर्म शब्दकी परिभाषा इस प्रकार है—**'ध्रियत इति धर्मः' 'धार्यत इति धर्मः', 'पतितं पतन्तं पतिष्यन्तं धरतीति धर्मः'**—सारा प्रपञ्च जिसके द्वारा धारित होता है, जो प्रपञ्चका आश्रय-स्वरूप है, जो अपनेमें गिरे हुए, गिरते हुए और गिरनेवाले मनुष्योंको अवनतिके मार्गसे बचाकर उन्नतिकी ओर ले जानेकी शक्ति धारण करता है; वही धर्म कहलाता है। एवं जो व्यक्तिसे लेकर समाज तकको व्यवस्था रखनेका सुखमय मार्ग दिखानेका सामर्थ्य रखता हो, जिसमें व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्रके कल्याणके लिये नियम, नीति, न्याय, सत्य, सद्गुण, सदाचार, सुस्वभाव, स्वार्थत्याग, कर्तव्य-कर्म और ईश्वरभक्ति आदि उत्तम गुण विद्यमान हों तथा जो लौकिक और अलौकिक श्रेयका साधन हो, वही वास्तविक धर्म कहलाता है, वही परिपूर्ण धर्म है।

धर्मकी आवश्यकता

पुरुषार्थकी प्राप्ति ही पुरुषका परम लक्ष्य है। पुरुषार्थका अर्थ पुरुष-प्रयोजन होता है। पुरुष-प्रयोजन अनन्त होते हुए भी भारतीय तत्त्ववेत्ताओंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार ही माने हैं। इन चार पुरुषार्थोंमें धर्म पहिला पुरुषार्थ है। अन्तिम सोपानतक पहुँचनेके लिये प्रथम सोपानपर चढ़ना ही पड़ेगा, इसलिये मोक्षरूपी परम और तुरीय पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिये धर्मरूपी प्रथम पुरुषार्थकी सिद्धि अत्यावश्यक है।

मोक्ष साध्य है जो धर्मादि तीन साधनोंके द्वारा सिद्ध होता है। अतः हमें धर्मात्मा बनना चाहिये। बिना धर्मके कुछ भी सिद्ध नहीं होगा; अधार्मिकका जीवन सुखमय नहीं बनेगा, धर्मरहित देश घोर अरण्य बन जायगा; धर्मशून्य साम्राज्य स्थिर नहीं हो सकेगा। जैसे जड़रहित पेड़में शाखाएँ, पत्ते, फूल तथा फल उत्पन्न नहीं हो सकते, वैसे ही धर्मरहित जीवन देश और साम्राज्यमें अर्थ, काम और मोक्षरूपी पुरुषार्थ प्राप्त नहीं हो सकते। और भारतीय संस्कृतिकी यह महान् देन है कि धर्मको प्राणोंसे भी अधिक समझना एवं उसका आचरण करना अत्यावश्यक है।

धर्मका मूल स्रोत

वेद और आगम धर्मके मूल ग्रन्थ हैं। मन्वादि स्मृति और धर्मसूत्र आदि ग्रन्थ भी धर्मका विवेचन करते हैं, जिन्होंने वेद और आगमोंका अनुसरण किया है। इनमें मनुस्मृति अनमोल धार्मिक ग्रन्थ है, जिसमें सारे मानव-समाजके कल्याणोंका प्रतिपादन किया गया है। उसमें सामान्य तथा विशेष धर्मोंका विवरण मिलता है। मानवता ही सामान्य धर्म है, उसीका ज्ञान होना सबके लिये मुख्य विषय है।

मत-मतान्तर

इस दुनियामें सब मानव एक ही तरहके होते हुए भी कई कारणोंसे मानवोंमें अनेक मत-मतान्तर बन गये हैं। कितने ही मत-मतान्तर बनें, लेकिन मानवतारूप धर्म एक ही है; क्योंकि कोई भी मत हो उसमें मानवताकी नितान्त आवश्यकता है। मानवता ही मानवको बचाती है। केवल तत्तत् मतोंके नियम और आचरण आदिमें भिन्नता मिलती है।

मत या धर्म आचार-विचार तथा उपासना-पद्धतिरूप उपाधिसे भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं। जैसे भिन्न-भिन्न नामकी नदियाँ भिन्न-भिन्न मार्गसे अलग-अलग दिशाओंमें बहती हुई अन्तमें प्राप्तव्य स्थान समुद्रमें लीन हो जाती हैं, वैसे ही चिरसुख, चिरशान्ति, मोक्ष या सत्यान्वेषणकी सिद्धि पाना ही सब मतोंका चरम लक्ष्य है। सब मतोंकी उपासना आदि पद्धतियाँ नदीके बहावके-जैसे उपाधिमात्र हैं। ये उपाधियाँ किसीको नापसंद होती हैं और किसीको अभीष्ट बनती हैं; पर हर एक आदमीका कर्तव्य यह है कि अपने-अपने मनके मूल उद्देश्यको जानना और तदनुसार आचरण करना, वहीं सद्गति एवं सार्थकता निहित है। तभी सर्व-धर्मका समन्वय पूर्ण हो जाता है।

प्रधान धर्मका स्वरूप

एकताकी सिद्धिके लिये प्रधान या सामान्य धर्मको ठीक-ठीक समझे और अनुष्ठान करे। इसीसे सम्पूर्ण विश्वमें अखण्ड सुख मिलता है। राजर्षि मनुने इस मानव (प्रधान) धर्मके स्वरूपको नीचेके श्लोकमें उल्लेख किया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनुस्मृति ६। ९२)

धैर्य, सामर्थ्य रहनेपर भी क्षमा करना, मनोनिग्रह करना, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह करना, धर्मविषयक बुद्धि, विद्या, सत्यभाषण करना और क्रोध न करना—ये दस गुण मानवताकी समानताको कायम रखते हैं। ये ही परधर्म-सहिष्णुतामें कारण हैं और विश्व-मानव-धर्मके सोपान हैं। इन मानव-धर्मके सोपानपर चढ़नेके बाद ही मानव-जन्मकी सफलता एवं सार्थकता प्राप्त होती है। अतः इन्हीं दस गुणोंको समझना और ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है।

इन महागुणोंको जाननेके लिये सरल उपाय यह है कि धार्मिक महापुरुषोंके चरित्र और उपदेशोंको सुनना और समझ करके तदनुसार आचरण करना। मानव-धर्म जब-जब ह्रास होने लगता है, तब-तब सत्पुरुष जन्म लेकर महाधर्म या मानव-धर्मका उपदेश देते हैं। भगवान्से प्रार्थना है कि सबको धर्माचरणकी बुद्धि दें।

धर्मं चर। सर्वे जनाः सुखिनो भवन्तु। सत्यं शिवं सुन्दरम्।

(७)

(लेखक—स्व० श्रीकंदुकूरि वीरेशलिंगम् पंतुलु)

[अनुवादक—श्रीपब्बिशेट्टि वेंकटेश्वर्लु, 'साहित्यरत्न']

आजकल संसारमें ज्ञानकी अत्यन्त वृद्धि अवश्य हुई है, परंतु मनुष्यने बाह्य-प्रपञ्चके बारेमें जितना ज्ञान प्राप्त किया, उतना आत्माके बारेमें नहीं। 'आत्मा है'—इसे कहनेवाले बहुत हैं, किंतु उस आत्माको जाननेवाले बहुत ही कम पाये जाते हैं।

मानव और पशु-पक्षीके निर्माणमें अन्तर

'मानव'के दो शरीर होते हैं—(१) पशु-पक्षी, जन्तु आदिकी तरह स्थूल-देह और (२) आध्यात्मिक ज्ञान-देह।

स्थूल-देहका निर्माण समस्त प्राणियोंके देह-निर्माणसे भिन्न नहीं है। इसलिये मनुष्यके स्थूल-देहके धर्म, अन्यान्य प्राणियोंके देह-धर्मोंके समान ही होते हैं।

मानव और पशु-पक्षीमें अन्तर एवं मानवकी विशेषता

परंतु मनुष्यकी एक दूसरी देह होती है, जो आध्यात्मिक ज्ञान-देह है। सभी प्राणियोंमें केवल मनुष्यको ही यह ज्ञान-देह प्राप्त हुई है।

'मानव' शब्दका निर्वचन

महात्मा श्रीविद्याप्रकाशानानन्द स्वामीजीने 'मानव' शब्दका निर्वचन इस प्रकार किया है। 'मानव' शब्दमें 'मा' का अर्थ 'अज्ञान' या 'अविद्या' है और 'न' अक्षरका अर्थ है 'बिना' एवं 'व' अक्षरका अर्थ है 'वर्तन करो या वर्ताव करो।' मानव शब्दका भाव यह हुआ कि अज्ञान या अविद्यारूपी मायाको हटाकर आत्म-साक्षात्कारके द्वारा परमेश्वरका सामीप्य प्राप्त करनेवाला ही 'मानव' कहलाने योग्य है।

नीति (सदाचार) से युक्त रहना ही मानवात्माका स्वाभाविक गुण है। नीतिबाह्य होना अस्वाभाविक है। मधुर रससे युक्त रहना आमका स्वाभाविक धर्म है। रस-विहीन होना अस्वाभाविक है। शरीरका स्वस्थ रहना स्वाभाविक धर्म है, रोगोंसे दुर्बल बन जाना अस्वाभाविक है। इसी प्रकार नीति, ज्ञान आदिसे आनन्दका अनुभव करना आत्माका स्वाभाविक गुण है। पाप एवं अज्ञान आदिसे आनन्दित न होकर पीड़ाका अनुभव करना अस्वाभाविक है।

मानवका धर्म

जैसे हर-एक मनुष्यका सर्वप्रथम धर्म अपने शरीरको स्वस्थ रखना है। वैसे ही अपनी आत्माको रोग-पापोंसे सर्वथा दूर रखना भी उसका प्रधान कर्तव्य है। रोगग्रस्त होनेपर औषधोंके सेवनसे अपने शरीरको स्वस्थ रखना जैसे मनुष्यका धर्म है, वैसे ही आत्माके पाप और अज्ञान आदि दुर्गुणोंके आश्रित होकर दुखी होनेपर उसे 'अनुताप'रूपी औषधसे पाप-विमुक्त बनाकर फिरसे सुख और आनन्द प्राप्त करानेका प्रयत्न करना भी उसका मुख्य धर्म है।

'नीति' (सदाचार) ही मनुष्यका लक्षण है। सदाचार ही मनुष्यका परम धर्म है और सदाचार ही मनुष्यको परमेश्वरके स्नेहसे बाँधनेवाला सूत्र है। अतः सदाचारवर्तनके द्वारा ईश्वर-सामीप्य पाकर नित्यानन्द प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवनका परम प्रयोजन है। अतः हर-एक मनुष्यको नीति—

सदाचार-मार्गके द्वारा परमेश्वरसे मिलकर अद्वितीय—अलौकिक आनन्द पानेके लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

मुक्ति-मार्ग

पापोंसे विमुक्त होकर, अच्छे बर्तावसे ईश्वर-सामीप्य पाकर अलौकिक आनन्दका अनुभव करना ही 'मुक्ति' है। अर्थात् पापोंसे और पशुत्वसे छूटकर शाश्वतानन्द प्राप्त करना ही 'मुक्ति' है। आत्माके गुणोंकी वृद्धि करके उसके अनुकूल बनाना ही 'मुक्ति-मार्ग' है। सभी शक्तियोंकी उन्नति समान रूपसे होना ही 'वृद्धि' है, एककी वृद्धि करके दूसरेकी अवनति करना नहीं। उदाहरणके लिये हमारे शरीरकी उन्नति देखिये। शरीरके सभी अङ्गोंकी उन्नति समान रूपसे करने तथा सबके सुदृढ़ होनेको 'वृद्धि' कहते हैं, न कि किसी एक पेट, सिर या पैर आदि किसी एक अङ्गकी उन्नतिको। केवल किसी एक अङ्गकी वृद्धि होना तो रोगका लक्षण है। आत्माके विषयमें भी इसी तरह ज्ञान, नीति (सदाचार), प्रेम और ईश्वरके प्रति भक्तिमें समान रूपसे वृद्धि होनी चाहिये। ऐसी वृद्धि प्राप्त करके और पापोंसे परिहार पाकर नित्यानन्दके लिये प्रयत्न करना हर एक मनुष्यका सहज गुण है। हमें चाहे जितने भी कष्ट सहने पड़ें, परंतु नीति-मार्ग (सदाचार) नहीं छोड़ना चाहिये। ईश्वरकी आज्ञा मानकर नीतिमार्गका अनुसरण करना ही हमारा कर्तव्य है।

आत्माभिवृद्धिसे जीव ईश्वरके साथ बन्धुत्वको दृढ़ बनाकर, उसका सामीप्य प्राप्तकर, नित्य-सेवा-भावसे ईश्वर-सङ्ग-सुखका अनुभवकर, पाप-विमुख होकर नित्यानन्द प्राप्त कर सकता है। ईश्वर तो समस्त कल्याण-गुणोंका सागर है। जीवात्मा 'नीतिरस'के प्रवाह हैं। जैसे नदियाँ समुद्रमें मिलने जाती हैं, उसी प्रकार हमारी आत्माओंको भी परमेश्वरसे मिलनेके लिये ईश्वराभिमुखी होकर निरन्तर यात्रा करते रहना चाहिये। हमारी आत्माका धर्म है 'नीति'—सदाचार। इस नीतिकी वृद्धि करते-करते हमारी आत्माएँ परमेश्वरके समीप पहुँचती हैं। 'नीति'की वृद्धि करना ही देवत्वकी ओर जाना है। अतः मानुष-नामधारी हर एक प्राणीको प्रतिदिन, प्रतिक्षण परिशुद्ध और निर्मल बनते हुए हृदयके अंदर विराजमान देवांशकी वृद्धि करनेकी कोशिश करनी चाहिये। कोई भी काम या पेशा करना पड़े, परंतु मानवको 'नीति-मार्ग' नहीं छोड़ना चाहिये।

नीतिकी महत्ता

नीति ही मनुष्यका लक्षण है। नीतिका अभाव ही पशुका लक्षण है। यह विषय जानकर हमें नीतिबद्ध होकर जीवन व्यतीत करना चाहिये। विश्वके समस्त मानव-कोटिको आपसमें मिलानेवाला प्रत्येक आचार—प्रत्येक साधन 'नीति' ही है। यह साधन 'नीति' अत्यन्त पवित्र एवं समस्त गुणोंके बाँधनेमें दृढ़तर है। नीति-पाशसे ही सभी लोग आपसमें भाई बन जाते हैं। पर यदि ये नीति-सूत्र टूट गये तो 'एकता'का भङ्ग होकर सब लोग आपसमें शत्रु बन जायँगे। उपर्युक्त छोटे-से शब्द 'नीति'में महान् एवं गहरे भाव छिपे हुए हैं। इसके अन्तर्गत सत्य, करुणा, क्षमा तथा परोपकार आदि सभी गुण विद्यमान हैं।

हवाके वेगसे जैसे रूई उड़ जाती है, वैसे ही नीति-बलके सामने दुनियाके समस्त अनावश्यक गुण मिट जाते हैं। नीतिमान् पुरुष सभी दृष्टियोंसे सर्वोत्कृष्ट है। अतः नीति-बलकी दृष्टिसे अधम जातिके लोग भी पूजनीय बन जाते हैं। ईश्वरके अनुग्रहसे प्राप्त सर्वश्रेय सभी विषयोंमें नीति-रत ही महोन्नत है।

(१) धर्ममें रति, (२) युक्तायुक्त-ज्ञानको जानकर उसके अनुसार युक्त आचरण करनेवाला निर्मल मन और (३) अन्तरात्माके शुद्ध उपदेशोंको भगवदाज्ञा समझकर आचरण करनेकी शक्ति आदि मनुष्यके लिये 'गुण-रत्न' हैं। सारे विश्वमें भी इनसे बढ़कर कोई महोन्नत गुण नहीं है। देवताओंमें भी इनसे बढ़कर कुछ भी महत्तर नहीं है। ये सद्गुण ही नीति हैं—सदाचार हैं। इन समस्त गुणोंके सम्पूर्ण रूपसे होनेपर मनुष्य-देवतामें कोई भी अन्तर नहीं होता। तब हमारा भूतल ही स्वर्ग बन जाता है।

हमारे हृदय-गगनपर जो युक्तायुक्त विवेचना-ज्ञान शोभायमान हो रहा है, वही परमेश्वरके अनुग्रहसे हमें प्राप्त हुआ 'सत्य-वेद' है। इस सत्य-वेदके अनुसरणसे ही अन्य वेदोंकी आवश्यकतानुसार रचना हुई है। हृदय-फलकपर अङ्कित यह नीति ही परमेश्वरके साथ हमारा बन्धुत्व स्थापितकर हमें नित्यानन्द-साम्राज्य प्राप्त करनेके लिये प्रेरित करती है। यही ज्ञानोदय हमको ईश्वर-गुण-सम्बद्ध बनायेगा। इस ज्ञानके प्रकाशसे जिसके हृदयमें 'धर्म-रति' स्थापित होगी, वह उसी दिनसे ईश्वरके साथ अलग न होनेवाली बन्धुताको प्राप्तकर, अपने हृदय-फलकपर सुवर्ण-अक्षरोंमें अंकित की गयी परमेश्वरकी आज्ञाके वश होकर, अन्तरात्मासे शासित नियमोंके अनुसरणको शाश्वतानन्दकी प्राप्तिका मूल (जड) मानकर, दुनियाके विषयोंकी परवा न करके, अपनी अन्तरात्माको प्रसन्न करनेके लिये प्रयत्न करता है।

अन्तरात्माका उपदेश ही शाश्वतानन्दका बीज है

अन्तरात्माके उपदेश ही 'शाश्वतानन्द'रूपी महावृक्षके लिये बीज हैं। यदि हम इन उपदेशोंका अनुसरण करें तो कृतार्थ होकर उत्तरोत्तर सत्य-पदको प्राप्त करेंगे। पर यदि आत्माकी घोषणाको अनसुनी करके, उसके उपदेशोंका तिरस्कार करेंगे तो हमें दुःख-भाजन बनकर, परमेश्वरके अनुग्रहसे वञ्चित हो जाना पड़ेगा। अन्तरात्माके उपदेशोंके अनुसार न्याय-वर्तन प्राप्त करनेवाले सभी आपसमें भाई बन जायँगे। इस बिरादरीके लिये लौकिक-अधिकार, धन-सम्पत्ति और ऊँचे खानदानकी आवश्यकता नहीं। और इनके रहनेपर भी सच्ची बिरादरी प्राप्त नहीं होती। इस बिरादरीके लिये एक 'नीति-रति'की ही आवश्यकता है। अनेक लौकिक सम्पत्तियाँ पानेपर भी यदि मनुष्य नीति-बाह्य बन जाय तो वह धर्मकी दृष्टिसे पशु-प्राय बनकर ईश्वर-प्राप्तिके लिये अयोग्य बन जायगा।

पापोंसे संग्राम करनेवाला, कष्ट-नष्ट तथा बाधाओंसे विचलित न होकर अचञ्चल रहनेवाला और नीति-मार्गपर ही अटल रहनेवाला मनुष्य महामानव समझा जायगा। कष्टोंके समय भी धर्म-मार्गसे न हटनेवाला ही सच्चा मानव है। जब पातकरूपी भयंकर भूत-पिशाचोंका नाश हो जायगा, तभी आत्माको अनिर्वाच्य तथा अनुभवैकवेद्य आनन्द प्राप्त होगा।

सत्कार्यके आचरणमें कुछ मनोधर्मोंकी आवश्यकता है। इनमें प्रथम है (१) मनकी दृढ़ता और (२) आत्म-गौरव। मनकी दृढ़ता प्राप्त करनेके लिये 'आत्मगौरव' की बड़ी आवश्यकता है। अपनी शक्तिमें विश्वास रखना ही 'आत्म-गौरव' है।

दूसरोंके मत हमारे मतसे भिन्न रहनेपर भी, उनका अनादर न करके, उचित गौरव देना हमारा धर्म है; परंतु दूसरोंके मतसे हमारे मत अच्छे एवं ठीक होनेका विश्वास रहनेपर भी दूसरोंके भयसे अपनी टेक नहीं छोड़नी चाहिये। जिसके पास दृढ़ निश्चय करनेकी शक्ति नहीं होगी, वह पराधीन बन जायगा।

कार्य-शूरको 'दृढ़-निश्चय' शक्तिकी आवश्यकता है। ग्रहण-शक्ति एवं साधन-सम्पत्ति पर्याप्त मात्रामें रहनेपर भी कई मनुष्योंमें वाक्-शूरताके सिवा कार्य-शूरता दिखायी नहीं पड़ती। कार्य-भीरुता पुरुषोंका लक्षण नहीं है। जो सत्कार्योंका आचरण करना चाहते हैं, उनको दृढ़-उत्साह और साहससे, दूसरोंसे भय छोड़कर, अपने आदर्शोंका अनुकरण करना चाहिये। कहनेकी अपेक्षा करना श्रेष्ठ है। अतः काम करके दिखाना चाहिये।

उपदेश देनेके पहले यह सोचना चाहिये कि अपने उपदेशोंसे दूसरोंको लाभ होगा या नुकसान। यदि लाभ मिलनेकी सम्भावना हो तो उपदेश देना चाहिये, नहीं तो चुप रहना अच्छा है। आजकल भारतमें उपदेशकोंकी संख्या बहुत अधिक हो गयी है, परंतु उसके अनुसार स्वयं आचरण करनेवालोंकी संख्या बहुत कम है। महापुरुषोंकी जीवनियाँ पढ़ते समय या भाषण सुनते समय लोगोंके हृदयोंमें महान् कार्य करनेकी अभिलाषा उत्पन्न होती है, परंतु ये अभिलाषाएँ सदा नहीं रहतीं। उन भाषणोंकी बातोंको आचरणमें उतारना होगा। सत्कार्योंका अनुष्ठान ही मानव-धर्म है।

परोपकार-परायणता

दूसरोंका उपकार करना मानव-धर्म है। निःस्वार्थ-बुद्धिसे सबकी सेवा करनी चाहिये। किसीको भी अपने कामका बदला पाने, नाम कमाने अथवा नाम या फलकी कामना नहीं रखनी चाहिये।

अच्छे काम करते समय, सम्भव है कुछ लोग परिहास करें, भाँति-भाँतिसे डरावें, बन्धुलोग मीठी-मीठी बातें कहकर हमें सत्कार्योंसे हटाकर असत्कार्योंकी ओर लगानेका प्रयत्न करें, पर किसीकी बातमें आकर सत्कार्यका त्याग कभी नहीं करना चाहिये।

मानव-जीवनमें चरित्र या शील-स्वभावका प्रधान स्थान है। विनय, उदारता, लालचमें न पड़ना, धैर्य, सत्य-भाषण, वचनका प्रतिपालन करना, कर्तव्य-परायणता आदि महान् गुण हर-एक मनुष्यमें रहने चाहिये। इन सब गुणोंका सम्पादन ही मानव-धर्म है।

उपर्युक्त सभी गुणोंका अर्जन करना और उनका अनुसरण करना एवं 'नीति'-सिद्धान्तपर सुदृढ़तासे प्रतिष्ठित रहना 'मानव-धर्म' है। जो इस प्रकार अपने कर्तव्योंका पालन कर सद्गुणोंको अपनाता है, वही 'मानव' है। सद्गुणोंको अपनानेमें ही 'मानव-कल्याण' निहित है। जब सभी मानव अपने कर्मोंका ठीक-ठीक सम्पादन करने लगेंगे तभी देश तथा समाजकी यथार्थ उन्नति और मानव-जातिकी वृद्धि होगी और इसीके साथ-साथ मानवके 'सृजन' करनेका भगवान्का महान् उद्देश्य भी पूरा हो जायगा।

मानव और मानव-धर्म

(लेखक—श्रीरुक्मांगदजी झवाली व्याकरणाचार्य)

प्रकृतिकी निर्माणकलाका परिचायक सबसे उत्तम प्राणी मानव ही है। वह समाजके बिना रह नहीं सकता, रहे बिना उसका कार्य भी नहीं चलता। अकेले बैठकर सोच-विचार करते समय भी इन्द्रियसमूहसे अलग नहीं हो सकता। मानव और अन्य प्राणियोंमें अत्यधिक अन्तर है। पशु-पक्षी अन्तःप्रेरणासे एक सीमित क्षेत्रमें ही काम करते हैं। उनमें जो परिवर्तन होता है, वह प्रकृतिके द्वारा, विचार-बुद्धिके द्वारा नहीं।

मानवको बुद्धिबलके अतिरिक्त शारीरिक बनावट भी अनुकूल मिली है। इसीसे वह सीधा होकर ऊँचा सिर करके घूम-फिर सकता है। बौद्धिक विकास और बुद्धिबलद्वारा ऐहिक एवं पारलौकिक अनन्त सुख उपार्जन करनेकी क्षमता एकमात्र मानवमें ही निहित है। वह एक ऐसा प्राणी है, जो अपना सुख-दुःख-अभिप्राय दूसरेको अभिव्यक्त कर सकता और अपनेमें किसी प्रकारकी कमीका अनुभव हो तो दूसरेसे उसकी पूर्तिके लिये सहयोग ले भी सकता है, दे भी सकता है। इसी मानव-प्रयत्नसे अनेक प्रकारके भौतिक विज्ञान निकलते हैं, जिनके द्वारा मानव-जीवन समृद्धिशाली होता है।

स्वाभाविक इच्छाकी अपूर्ति ही उसको उन्नतिकी ओर प्रेरणा करती है। मानवमें हर वस्तुकी जिज्ञासा निरन्तर बनी रहती है। उसकी आत्मा सुख एवं आनन्दरूप होनेसे वह सतत सुखलिप्सु और सौन्दर्यप्रेमी है। अपने सुख-लाभके लिये वह प्राणीमात्रसे अपनेको हर तरह स्वाधीन कर लेता है, दूसरे प्राणियोंके ऊपर अपना अधिकार स्थापित करता है। मानवेतर प्राणी मनुष्यके ऊपर किसी प्रकारका अधिकार नहीं चला सकता। यह सब होनेपर भी मानव विषयजन्य क्षणिक सुखको ही सच्चा सुख माननेके कारण अपने लक्ष्यतक नहीं पहुँच सका है।

प्रकृतिके रहस्यपूर्ण अन्वेषणमें वह कभी भी आलस्य नहीं करता। अभाव और शारीरिक वासनाकी पूर्तिके लिये प्रकृतिने मानवको विशेष शक्ति दी है। उसकी अनुभूति चेतन है। सभी जड-चेतनकी सृष्टिमें मनुष्य ही तर्क-वितर्क करने और अपनी कार्य-सिद्धिके लिये उद्योगकार्यमें एवं विवेकमें सर्वोत्कृष्ट है। उसकी विचारधारा बदलती रहती है। विषयाकारिता, स्वरूपस्थिति, मूढता—मुख्यतः तीन अवस्थाएँ हैं; जाग्रत्‌के अन्तर्गत ये आ सकती हैं। किंतु लक्ष्य सत्य एवं उच्च होना चाहिये। कर्त्तव्याकर्त्तव्यको विचारकर अपने जीवनका सदुपयोग करनेका अवसर एक मानवको ही प्राप्त है।

मानवकी विशेषता है—**'आत्मवत्सर्वभूतेषु' 'वसुधैव कुटुम्बकम्'**। स्वयं जीकर दूसरेको भी जीने दो। प्राणीमात्रमें आत्मभावना करना, दया करना ही धर्म है। मानव-धर्मका स्रोत मनुसे आरम्भ होता है। सनातन धर्म ही मानव-धर्म है।

मानवके सामान्य धर्म दस हैं—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिरोध, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध—ये दस प्रकारके धर्म जो पालन करता है वह पूर्णतया मानव बन सकता है। इसके विपरीत चलनेवाला दानव-जैसा होता है। धर्मपरायण मानवके आगे अष्टसिद्धियाँ तुच्छ होती हैं। उसके साथ किसीका किसी प्रकार वैर चल नहीं सकता। ऋषि-मुनियोंके आश्रममें सिंह, हरिण आदि जानवर एक ही साथ एक ही घाटमें पानी पीते थे। यह सब मानवसुलभ गुणोंके पालनका फल है। धर्म भेददृष्टिको मिटाता है।

'धारणाद्धर्ममित्याहुः' जिसके द्वारा धारण हो सके, वही धर्म है। **'धर्मो धारयति प्रजाः'**—धर्म ही प्रजाको धारण करता है। धर्म ही भगवत्स्वरूप है या भगवत्स्वरूप ही धर्म है; क्योंकि धर्मके स्वामी अच्युत हैं। **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'**—जिससे अभ्युदय हो और मोक्ष-लाभ हो, वही धर्म है। मानवके साथ धर्मका वही सम्बन्ध है, जो शरीरके साथ प्राणका। लोकोपकारक धर्मको ही मानव-धर्म कहा जा सकता है। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—'परहित सरिस धर्म नहिं भाई।' धर्मके आश्रयमें काम-क्रोधादि एवं राग-द्वेषादि नहीं रहते; क्योंकि धर्मसे चित्त परिमार्जित हो जाता है। शुद्ध चित्तमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता। अन्तर्मुखता ही धर्मकी कसौटी है। वृत्ति अन्तर्मुख होनेसे दूसरेका अपकार कैसे सम्भव

होगा ? धर्म ही सबसे प्रेम करना सिखाता है। विश्वके विविध धर्मोंका एक ही लक्ष्य है। इसके बिना शान्ति-सुव्यवस्था कायम नहीं रह सकती।

'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः'—जो नर धर्मसे रहित एवं विमुख है, वह पशुके तुल्य है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि और वीरता, धीरता, पवित्रता, परोपकारिता, सच्चरित्रता आदि मानवगुण हैं। इन गुणोंका मानव अपने जीवनमें यथार्थ प्रयोग कर सके तो वह अजर-अमर बन सकता है, उसे ऐहिक-पारलौकिक लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकती है।

आजके मानवमें शान्ति, क्षान्ति और आत्मसंतोष, उपकृति नहीं हैं। विज्ञानका चमत्कार सभीको चमत्कृत कर रहा है। मानव चन्द्रलोककी यात्रा करके उसीमें रहना और उसपर अधिकार जमाना चाहता है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षिक—हर कार्यमें विज्ञानका अधिकार जम गया है। इस वैज्ञानिक युगमें विश्वसंहारक विविध क्षेप्यास्त्र मानव बना चुका है। इतना होनेपर भी मानवको तृप्ति नहीं हुई है, उसकी पूर्णता भी नहीं हुई है। मानव धन, मान, प्रतिष्ठाका भूखा है। स्वार्थपूर्तिके लिये नीचसे भी नीच काम बिना हिचकिचाहट कर सकता है। किसी समस्याका हल करते समय भी वह किसी पक्षका ही आश्रय लेता है। जहाँ पक्षपात होता है, वहाँ भाई-भाईमें फूट हो जाती है। मानव धर्मको समझकर कुकृत्यसे अपनेको बचा लेता है। यदि धर्मको भूल जाय तो मानव न जाने किस गड्ढेमें गिर जाय ?

देशका पूर्ण विकास करने एवं आत्मसंतोषके लिये सर्वप्रथम मानव-धर्मका विकास होना नितान्त आवश्यक है। बाह्य और अन्तरङ्ग शुद्धिके बिना धर्मवृद्धि होना असम्भव है। इसीके विकासपर बौद्धिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक विकास निर्भर करता है; क्योंकि सनातनधर्म विशाल है। धर्मकी गति सूक्ष्म है। धर्मके गूढ रहस्यको समझनेवाले लोग विरले ही होते हैं। धर्मकी महिमाको जाननेवाले इतने उदार बन जाते हैं कि अपने शरीरतक भी परार्थके लिये सहर्ष दे सकते हैं—जैसे दधीचिने देवराज इन्द्रको अपना शरीर दे दिया, राजा शिबिने कपोतके लिये अपने शरीरका मांस दे डाला। **'परोपकाराय सतां विभूतयः'**—यह वाक्य संतोंके जीवनमें पूर्णरूपेण चरितार्थ होता है।

मानव-धर्मके पुजारी महामानव इस विश्ववल्लरीमें कितने हुए और कितने हो रहे हैं। इन्हीं महामानवोंके सत्प्रयाससे विश्वका तनाव यथासम्भव रुक रहा है। अर्धसुप्त मानवको मानव-धर्मने स्वप्न न दिखाया होता तो शायद मानव अविकसित ही रह जाता। मानवमें ही मानवताके गुण समय पाकर प्रस्फुटित होते हैं। धर्ममार्ग ही राजमार्ग है।

मानवकी भावना शुद्ध और लक्ष्य ऊँचा होना चाहिये। सत्यताके आधारपर मानव हर कार्यक्षेत्रमें सफल हो सकता है। मानव-जीवनका चरम लक्ष्य केवल भौतिक उन्नतिकी पराकाष्ठातक पहुँचना मात्र नहीं है। इतने मात्रसे यहाँ सुख-शान्ति एवं परमानन्द नहीं मिल सकते। इसके लिये शास्त्र एवं गुरुवाक्यमें विश्वास रखना चाहिये। चित्तको अन्तर्मुख बनानेके लिये शास्त्रमें धर्मका अनुष्ठान बताया गया है। मानवकी सभी वृत्तियाँ दुःखसे छूटकर सुख पानेके लिये हैं। परंतु भावशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, क्रियाशुद्धिके बिना किये हुए कार्यसे सच्चा सुख नहीं मिलता। मानवद्वारा स्वान्तःसुखाय विहित कर्म भी यदि उसमें धर्मका प्राचुर्य हो तो परार्थके लिये हो जाता है। वस्तुतः अपने शुद्ध चैतन्य-स्वरूपमें रहना ही परम धर्म है। मानव-जन्मका फल भी यही है। धर्म चाहता है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥
अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अधर्मसे अन्तमें सर्वनाश

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥

(मनु० ४। १७४)

अधर्मसे पहले उन्नति होती (दीखती) है, फिर सब प्रकारके वैभव दिखायी देते हैं, शत्रुओंपर (एक बार) विजय प्राप्त होती है पर (कुछ समयके बाद ही) सब जडमूलसे नाश हो जाता है।

मानव-धर्म या सार्ववर्णिक धर्म

(लेखक—प्राध्यापक श्रीचन्दूलाल व० ठकर एम्० ए०, काव्यतीर्थ)

प्रजापतिकी इस सृष्टिमें चेतन तत्त्वका प्रकटीकरण विशेषतया दो वर्गों—मानव एवं पशुमें होता है। महाकवि भर्तृहरिने इन दोनोंके विषयमें बताया है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

अर्थात् खाना-पीना, नींद, मृत्यु आदिका भय और संतानोत्पत्ति—ये क्रियाएँ मनुष्य और पशुओंमें समान ही होती हैं। मनुष्यमें केवल एक धर्म ही विशेष रहता है। जो मनुष्य धर्महीन होता है, वह पशु ही है।

यह धर्म क्या है? भगवान् मनुने अपने ग्रन्थ मनुस्मृतिमें धर्मका लक्षण इस प्रकार दिया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(६।९२)

अर्थात् धैर्य, सहनशीलता, काम एवं लोभपर संयम, चोरी न करना, कायिक, वाचिक एवं मानसिक पवित्रता, इन्द्रियोंपर अधिकार, ज्ञान, अध्ययनशीलता, सत्यका आचरण और क्रोधका अभाव—ये दस धर्मके लक्षण हैं।

छोटा-सा दिखनेवाला यह श्लोक अर्थमें कितना गम्भीर है, इसका अनुमान हम प्रत्येकके लक्षणके सम्बन्धमें किये गये निर्देशोंसे लगायेंगे। इन दस लक्षणोंमेंसे प्रथम लक्षण है—'**धृतिः**।' इसके विषयमें अन्य शास्त्रोंके उद्गार स्मरणीय हैं। भगवान् श्रीकृष्णने धृतिकी गणना अपनी विभूतियोंमें की है। श्रीमद्भागवतमें इसका लक्षण बतलाया है—**जिह्वोपस्थजयो धृतिः**। अर्थात् जीभ एवं जननेन्द्रियपर जो संयम है, वही धृति कहलाता है। धृतिको धारण करनेवाला धीर कहलाता है। इस धीर पुरुषके विषयमें महाकवि कालिदासने अपने महाकाव्य कुमार-सम्भवमें कहा है—**विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः**। अर्थात् मनमें विकार उत्पन्न होनेके कारण मौजूद होनेपर भी जिसका मन या चित्त विकृत नहीं होता, वही 'धीर' है। इस धैर्य या धृतिकी साधना कठिन है, पर प्रयत्नसाध्य अवश्य है।

क्षमा

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार यह भी भगवान् श्रीकृष्णकी एक विभूति है। इस अलौकिक गुणके बारेमें कभी-कभी भ्रान्त धारणा हो जाया करती है। निर्बल या कायर लोग तथाकथित क्षमाका अवलम्बन करके अन्यायोंको सहन कर लेते हैं और गर्व करते हैं कि वे क्षमावान् हैं। किंतु सही बात तो यही है—**क्षमा वीरस्य भूषणम्**।

अर्थात् क्षमा वीरके लिये अलंकाररूप है। शक्ति होनेपर भी जो मनुष्य अपने दिमागपर प्रभुत्व जमाये रहते हैं, वे ही यथार्थ रीतिसे क्षमावान् हैं। इसका भी अतिरेक न होने पाये, इसीलिये महाभारतमें कहा गया है—

न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपवादिता॥

अर्थात् 'निरन्तर उग्रता भी श्रेयस्कर नहीं है और नित्य क्षमा भी श्रेयरूप नहीं है। अतः हे तात! पण्डित-गण नित्यकी क्षमाका निषेध करते हैं।' किंतु क्षमा श्रमसाध्य होती है। अतः जो मनुष्य क्षमावान् है, वह धन्य है; क्योंकि क्षमावृत्तिको प्राप्त किये बिना मनुष्य आत्मौपम्यका अनुभव कर ही नहीं सकता। मनुष्य अपने आपको बहुधा क्षमा कर देता है। तो फिर इस वृत्तिका विस्तार क्यों न किया जाय? मनुष्य दोषोंका बड़ा भारी संग्रहस्थान है। अतः कहा गया है—

स्खलितः स्खलितो वध्य इति चेन्निश्चितं भवेत्।
द्वित्रा यद्येव शिष्येरन् बहुदोषा हि मानवाः॥

अर्थात् जो-जो मनुष्य स्खलन या अपराध करता है, उस-उसका वध कर देना चाहिये—यदि ऐसा निर्णय कर दिया जाय तो केवल दो-चार मनुष्य ही शेष रह जायँगे; क्योंकि मनुष्योंमें दोष अनेक होते हैं। इस संसारमें मानवोंके आदर्श, आग्रह आदिमें भेद रहेंगे ही; अतः सामाजिक जीवनको शक्य बनानेके लिये इन सबको साधारणतया सहन कर लेनेकी शक्तिका विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। वास्तवमें राग-द्वेषयुक्त मनुष्य किसीको दण्ड देनेका अधिकारी

नहीं है। यह अधिकार तो केवल सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, समदृष्टि परमात्माके ही हाथोंमें होना चाहिये।

दम

इन्द्रियाणां जयो लोके दम इत्यभिधीयते।
नादान्तस्य क्रियाः काश्चिद् भवन्तीह द्विजोत्तमाः॥

अर्थात् इस लोकमें इन्द्रियोंके ऊपर प्राप्त की हुई विजयको 'दम' कहते हैं। हे उत्तम ब्राह्मणो! जो मनुष्य दमयुक्त नहीं है, उसकी कोई क्रिया सफल नहीं होती। इन्द्रियाँ और उनके विषयोंके बीच जो सम्बन्ध है वह अविभेद्य है। किंतु इसीलिये इन्द्रियाँ यथेच्छ आचार करने लगें, यह परिस्थिति तो कभी क्षम्य नहीं मानी जा सकती। मनुस्मृतिमें बताया गया है—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छति मानवः।
संनियम्य तु तान्येव सिद्धिं समधिगच्छति॥

(२।९३)

अर्थात् इन्द्रियोंके विशेष सङ्गसे मनुष्य दोषको प्राप्त होता है, परंतु इन्द्रियोंको काबूमें रखनेसे वही मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है। यह किस तरह हो सकता है? इसके उत्तरमें मनुने ही कहा है—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥

अर्थात् जो मनुष्य सुनकर, स्पर्शकर, देखकर, खाकर एवं सूँघकर हर्ष या ग्लानिका अनुभव नहीं करता, वही 'जितेन्द्रिय' कहलाता है। किंतु यहाँ एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि बलात् इन्द्रियोंको रोक देनेसे ही लाभ नहीं होता। आवश्यक तो है मनके द्वारा इन्द्रियोंका निग्रह करना। जो मानव अपनी कर्मेन्द्रियोंको रोककर मन-ही-मन विषयोंका स्मरण करता है, उसको गीता 'मिथ्याचार' कहती है। यहाँ हम एक बात स्मरणमें रक्खें। इस संसारमें हमारे देहगत जीवनकी अपेक्षा हमारा समाजगत जीवन ही व्यापक, दीर्घकालीन एवं अर्थपूर्ण होता है। अतएव हम अपनी देहगत वासनाओंको रोककर अपने सामाजिक जीवनको शुद्ध एवं निष्पाप बनायें। यही आवश्यकता है। ऐसा करनेपर हमारा पारस्परिक व्यवहार स्वयं ही शान्तिपूर्ण एवं व्यवस्थित बना रहेगा।

अस्तेय

नारदस्मृतिने इसका लक्षण दिया है—

उपायैर्विविधैरेषां छलयित्वापकर्षणम्।
सुप्तमत्तप्रमत्तेभ्यः स्तेयमाहुर्मनीषिणः॥

सुप्त, पागल और असतर्क मनुष्यसे विविध उपायोंद्वारा छल करके किसी भी चीजको ले लेना चोरी है। अतएव वेदकालसे हमारे ऋषि-मुनियोंने उपदेश दिया है—

मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। (ईशावास्य०)

अर्थात् किसीके द्रव्यकी लालसा मत रक्खो। यदि इस वृत्तिको हम अपने जीवनमें उतार लें तो हम अपने दैनन्दिन व्यवहारोंमें भी श्रेष्ठ बन सकेंगे। जो इस वृत्तिकी उपासना करते हैं, उनके लिये महर्षि पतञ्जलि गारंटी देते हैं—

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

अर्थात् जो मनुष्य अस्तेय धर्मको सिद्ध कर लेता है, उसके पास सब प्रकारके रत्न उपस्थित हो जाते हैं।

शौच या शुचिता अथवा पवित्रता

इस गुणका एक स्वरूप सामाजिक है और दूसरा केवल वैयक्तिक। किंतु हमें यहाँ एक बात स्मरणमें रखनी चाहिये कि ये दोनों स्वरूप परस्परके विरोधी नहीं हैं, एक दूसरेके पोषक तथा पूरक अवश्य हैं। मनुष्य अरण्यमें भी निवास करता होगा, तो भी उसे स्वच्छता अवश्य पसंद होगी। समाजमें रहनेपर इस रुचिमें वृद्धि हो जाती है। अपना शरीर, आहार, उपयोगी चीजें आदि स्वच्छ और व्यवस्थित हों—ऐसा प्रत्येक सुसंस्कृत मनुष्यका आग्रह रहता है।

किंतु स्वच्छता दो प्रकारकी मानी जानी चाहिये—शारीरिक एवं मानसिक। मिट्टी तथा जलसे जो स्वच्छता उत्पन्न होती है, वह शारीरिक या बाह्य शौच है। मनको पवित्र करना 'आन्तरिक शौच' कहा जाता है। इस विषयमें भगवान् मनुका वचन स्मरणीय है—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥

(मनुस्मृति ५।१०९)

अर्थात् जलके द्वारा शरीरके अवयव शुद्ध होते हैं, सत्य वचनके द्वारा मनकी शुद्धि होती है, ब्रह्मविद्या एवं तप आदिके द्वारा जीवात्माकी शुद्धि होती है और ज्ञानके द्वारा बुद्धि शुद्ध होती है। तो ये सभी उपाय मनुष्यकी भिन्न-

भिन्न प्रकारकी शुचिता या पवित्रताके साधक हैं। किंतु मनु महाराजके अभिप्रायमें सर्वश्रेष्ठ शौच तो अर्थ-शौच ही है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

(मनुस्मृति ५। १०६)

अर्थात् सब प्रकारकी शुद्धियोंमें न्यायसे प्राप्त किये हुए धनकी शुद्धि श्रेष्ठ मानी जाती है। जो मनुष्य न्यायपूर्वक प्राप्त किये हुए धनसे शुद्ध है, वही वास्तवमें शुद्ध है। मृत्तिका एवं पानीके द्वारा शुद्ध मनुष्य सही अर्थमें शुद्ध नहीं माना जा सकता। हमारी शुद्धिकी वृत्ति हममें दैवी भावनाओंकी वृद्धि एवं आसुरी भावनाओंका विनाश करती है।

इन्द्रिय-निग्रह

सब धर्मोंमें इन्द्रियोंके निग्रहपर मीमांसा की गयी है। यह आवश्यक भी है; क्योंकि—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्॥

अर्थात् जैसे जलके बर्तनमें छिद्र होनेके कारण उसमेंसे जल बह जाता है, वैसे ही इन्द्रियोंके समूहमेंसे किसी भी एक इन्द्रियके विषयमें आसक्त होनेपर मनुष्यकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अतएव ईसाने अपने गिरिप्रवचनमें आज्ञा दी है—

"...if thy right eye scandalize thee pluck it out and cast it from thee. For it is expedient for thee that one of thy members should perish rather than that thy whole body be cast into hell. And if thy right hand scandalize thee, cut it off and cast it from thee; for it is expedient for thee that one of thy members should perish, rather than that thy whole body go into hell."

'यदि तुम्हारी दाहिनी आँख तुम्हें नीचा दिखानेमें कारण बनती है तो उसे बाहर निकालकर अपनेसे दूर फेंक दो; क्योंकि तुम्हारे सम्पूर्ण शरीरको नरकमें झोंका जाय, इसकी अपेक्षा तुम्हारा लाभ इसमें है कि तुम्हारा अन्यतम अवयव नष्ट हो जाय। और यदि तुम्हारा दाहिना हाथ तुम्हारी अपकीर्तिका कारण बनता है तो उसे काटकर अपनेसे दूर फेंक दो; क्योंकि तुम्हारे सारे शरीरको नरकमें झोंक दिया जाय, इसकी अपेक्षा तुम्हारा लाभ इसमें है कि तुम्हारा एकतम अवयव नष्ट हो जाय।' ईसामसीहकी यह वाणी इन्द्रियनिग्रहके विषयमें हमें जाग्रत् रहनेकी कैसी अच्छी चेतावनी देती है! किंतु हमें यहींपर एक बातका विचार करना चाहिये। क्या इन्द्रिय यदि किसी भी प्रकारके विकारका अनुभव करने लगे तो उसका नाश कर देने मात्रसे समस्या हल हो जायगी? हम जानते हैं कि ऐसा नहीं होता। मुख्य बात है—इन्द्रियोंके व्यापारोंके साथ मन या चित्तकी उपस्थितिकी। दूसरे शब्दोंमें कहें तो इन्द्रियोंके सारे व्यापार मनोवृत्तिके द्वारा ही अच्छा या बुरा रूप धारण करते हैं। तब मनुष्यको क्या करना चाहिये?

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥

(मनुस्मृति २। ८८)

'अपनी ओर खींचनेके स्वभाववाले विषयोंमें विचरण करनेवाली इन्द्रियोंको कुशल सारथिके सदृश मनुष्य यत्नपूर्वक काबूमें रक्खे।'

अतएव सच्चा इन्द्रिय-निग्रह तो मनके द्वारा ही होता है; तथापि शरीरके द्वारा भी विषय-सेवनसे बचना बहुत लाभदायक है। प्रथम तो इन्द्रियाँ विषयोंमें लगी रहेंगी तो वह मनको खींचेंगी ही।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः। (गीता)

दूसरे, इन्द्रियोंकी क्रियासे दूसरोंकी भी हानि होगी, मनके रममाण होनेसे केवल अपनी ही हानि होगी। अतः मनका संयम परमावश्यक है।

धी अथवा विज्ञान

विज्ञानको समझाते हुए अष्टावक्र-गीतामें बताया गया है—

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु॥

'विषयोंमेंसे रसका चला जाना ही मोक्ष है और विषयोंमें रसका होना ही बन्धन है। विज्ञान इतना ही है। आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा करें।' इस संसारमें विषयरूपी विषोंसे बचते रहना आवश्यक है; क्योंकि ये विषय वस्तुतः विषसे भी बढ़कर भयंकर हैं। विषके तो खानेपर मनुष्य मरता है या किसी

प्रकारकी विकृतिका अनुभव करता है, किंतु विषयोंका तो केवल ध्यान ही पतनके लिये पर्याप्त है। इनके बारेमें गीताने बहुत सफल रीतिसे बताया है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

(२। ६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन-उन विषयोंमें आसक्ति होती है, आसक्तिसे कामनाका उदय होता है, कामनाकी पूर्तिमें बाधा उपस्थित होनेपर क्रोध होता है, क्रोधसे मूढत्व होता है, मूढत्वसे स्मृति-विभ्रम उपस्थित होता है, स्मृतिके नष्ट होनेपर बुद्धिका नाश हो जाता है एवं बुद्धिका नाश हो जानेपर मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है।' अतः ये विषय इतने भयानक हैं कि इनका चिन्तन ही मनुष्यको क्रमशः अधःपतनके मार्गपर ले जाकर उसका सर्वथा नाश कर देता है। इसी जानकारीको विज्ञान कहते हैं। इसीका नाम 'धी' है।

विद्या

विद्या-शब्दकी निरुक्ति करते हुए बताया गया है—

विद्यायदाभिर्निपुणं चतुर्वर्गमुदारधीः।
विद्यात्तदासां विद्यात्वं विदिर्ज्ञाने निरुच्यते॥

जिन विद्याओंके कारण चतुर बुद्धिवाला मनुष्य धर्म-अर्थ-काम एवं मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है, वे ही विद्याएँ कहलाती हैं। अतएव कहा गया है—**नास्ति विद्यासमं चक्षुः।**

केवल अमुक विषयोंकी जानकारी ही विद्या नहीं है। वास्तवमें जो विद्या मनुष्यको राग-द्वेष, क्रोध-वैर आदि मानव-मनकी क्षुद्र वृत्तियोंसे मुक्ति दिलाती है, वही विद्या है। यदि मनुष्यके पास इस प्रकारकी विद्या होगी तो वह विद्यापीठोंके प्रमाणपत्रोंके अभावमें भी सच्चा विद्यावान् होगा।

सत्य

वाल्मीकिरामायणमें बताया गया है —

आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः।

धर्मको जाननेवाले लोग सत्यको ही परम धर्म मानते हैं। तो यह सत्य है क्या? इसके बारेमें महाभारतकी दो सूक्तियाँ मननीय हैं—

(१) यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा।
(२) सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश॥

जो कुछ भूतोंके लिये कल्याणकारी है, वही सत्य है और पक्षपातका अभाव, इन्द्रियजय, अमात्सर्य, सहिष्णुता, लज्जा, दुःखोंको अप्रतिकारपूर्वक सहन करनेकी क्षमता, गुणोंमें दोषोंका दर्शन न करना, दान, ध्यान, करने योग्य कार्यको करनेकी एवं न करने योग्य कार्योंको न करनेकी आन्तरिक वृत्ति, धृति, स्व और परका उद्धार करनेवाली दया और अहिंसा—ये तेरह सत्यके ही आकार हैं। हमारे धर्मने तो सत्यको नारायणका स्वरूप मानकर सत्यनारायण नामक देवकी प्रतिष्ठा की है। इससे बढ़कर सत्यका महत्त्व क्या हो सकता है। केवल यही गुण मनुष्यके शान्तिपूर्ण सामाजिक जीवनके लिये पर्याप्त है।

अक्रोध

क्रोध मनका भाव है, जो कामके प्रतिहत होनेपर उत्पन्न होता है और शारीरिक चेष्टाओंद्वारा वह प्रकट होता है। एवं जब वह प्रकट होता है तब हम अवशतया हिंसाका आश्रय स्वीकार कर लेते हैं। ऐसा होनेके कारण श्रीमद्भगवद्गीतामें नरकके तीन द्वार काम, क्रोध एवं लोभमें इसकी गणना की गयी है। जैन-शास्त्र भी पुकारकर कहते हैं कि यदि क्रोध करना ही हो तो क्रोधके ऊपर ही करना चाहिये। क्रोधको चण्डाल कहकर लोग उसकी निन्दा करते हैं। क्रोधसे मनुष्य अंधा बन जाता है। अतः क्रुद्ध होनेवालेकी ही हानि होती है।

इस प्रकार हमने धर्मके दस लक्षणोंको अच्छी तरहसे देखा। यदि इन दस लक्षणोंका समन्वय हमारे दैनन्दिन व्यवहारमें किया जाय तो हमारा सामाजिक जीवन अति उत्तम बन जाय। किंतु यदि अत्यन्त संक्षेपमें ही इस प्रकारके जीवनकी चाभी चाहिये तो लीजिये—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।—

Do unto others as you would have them do unto you.

जब सत्य-धर्मकी प्रेरणा होती है !

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

(१)

ये सुन्दरियाँ, यह राजमहल, यह भोगविलास ! छिः छिः—क्या रक्खा है इन सबमें ? 'कुछ तत्त्व नहीं जग-फंदोंमें !' व्यर्थ है यह सारा वैभव। कभी तृप्ति होनेवाली है इन विषयभोगोंसे ?

विश्वमें सर्वत्र जरा है, व्याधि है, मृत्यु है, दुःख है, शोक है, हाहाकार है और इसीमें हम सब लिपटे पड़े रहते हैं, छटपटाया करते हैं।···

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेसथ॥

'यह हँसी कैसी ? यह आनन्द कैसा ? चारों ओर तो धू-धू करके आग जल रही है। सारा संसार उस आगमें जला जा रहा है। फिर भी अन्धकारसे घिरे हुए लोग प्रकाश नहीं खोजते।'

सिद्धार्थ उस प्रकाशकी खोजमें निकल पड़ा। महल और राजपाट, पत्नी और पुत्र, वैभव और विलास उसका रास्ता नहीं रोक सके। सत्यकी प्राप्तिके लिये उसने सब कुछ त्यागकर जंगलका रास्ता पकड़ा। भिक्षाकी रूखी-सूखी रोटियाँ बड़ी मुश्किलसे गलेके नीचे उतर रही थीं, पर उसने इसकी चिन्ता नहीं की। कारण, उसके हृदयमें सत्यधर्मकी प्रेरणा हो रही थी।

× × ×

और महावीर?

उन्हें भी जब सत्यधर्मकी प्रेरणा हुई, तब भरी जवानीमें उन्होंने घर-बार छोड़कर जंगलका रास्ता पकड़ा।

वर्षों साधना करके उन्होंने सत्यको पा लिया।

कहते हैं वे—

पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि।
सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ॥

'हे पुरुष ! तू सत्यको ही सच्चा तत्त्व समझ। जो बुद्धिमान् सत्यके ही आदेशमें रहता है, वह मृत्युको तैरकर पार कर जाता है।'

× × ×

राजरानी मीराँ ?

वैभवकी गोदमें पली-पनपी मीराँ सब कुछ त्यागकर बाहर निकल पड़ी। क्यों ?

सत्यकी प्रेरणा उसकी नस-नसमें भिद गयी। उसके सत्यने 'गिरिधर गोपाल' का रूप धारण कर लिया।

उसके लिये वही एक सत्य था, बाकी सब कुछ असत्य।

उसकी प्राप्तिके लिये मीराँने क्या नहीं किया ?
'लोग कहें मीराँ भई रे बावरी !'

पर सत्य-धर्मकी प्रेरणा थी उसके अन्तरमें। उसने इस पागलपनको सिर-माथे चढ़ाया।

और फिर तो—

'जहरको प्यालो राणाजी भेज्यो, सालिगराम भयो !'

× × ×

चंद टरै, सूरज टरै, टरै जगत ब्यवहार।
पै दृढ़व्रति हरिचंदको टरै न सत्य बिचार॥

राजा हरिश्चन्द्रने सत्यके लिये, सत्य-धर्मके पालनके लिये राज-पाट दे डाला, रानीको, पुत्रको बेच डाला, अपने-आपको भी डोमके हवाले किया। इतना ही नहीं, उसकी वेदीपर—मरघटका कर लिये बिना बेटेकी लाशतक जलानेकी अनुमति नहीं दी। क्या था इस कठोरताके पीछे ?

वह थी केवल सत्यधर्मकी प्रेरणा।

× × ×

हरिश्चन्द्रकी कहानी कुछ लोगोंकी दृष्टिमें 'कहानी' हो सकती है, पर इतिहास भरा पड़ा है सत्यवीरोंकी सच्ची कथाओंसे। सुकरातको ले लीजिये, ईसाको ले लीजिये, मंसूरको ले लीजिये। ये लोग जहरका प्याला पीते हैं, टिकटीपर लटकते हैं, सूलीपर चढ़ते हैं—यह तो गलत नहीं है ?

किस प्रेरणाने इन्हें हँसते-हँसते कुर्बान होने दिया ?
वह सत्यधर्मकी प्रेरणा नहीं तो क्या थी ?

× × ×

और गांधीकी बात तो हमारी आँखों देखी है।
गांधी लिखता है आत्मकथामें, अपने सत्यके प्रयोगोंमें—

'एक नाटक-कम्पनी आयी थी और उसका नाटक देखनेकी इजाजत मुझे मिली थी। हरिश्चन्द्रका आख्यान था। उस नाटकको देखते हुए मैं थकता ही न था। उसे बार-बार देखनेकी इच्छा होती थी। लेकिन यों बार-बार जाने कौन देता? पर अपने मनमें मैंने उस नाटकको सैकड़ों बार खेला होगा। मुझे हरिश्चन्द्रके सपने आते। 'हरिश्चन्द्रकी तरह सत्यवादी सब क्यों नहीं होते?' यह धुन बनी रहती। हरिश्चन्द्रपर जैसी विपत्तियाँ पड़ीं, वैसी विपत्तियोंको भोगना और सत्यका पालन करना ही वास्तविक सत्य है। मैंने मान लिया था कि नाटकमें जैसी लिखी है, वैसी ही विपत्तियाँ हरिश्चन्द्रपर पड़ी होंगी। हरिश्चन्द्रके दुःख देखकर उसका स्मरण करके मैं खूब रोया हूँ। मेरे विचारमें हरिश्चन्द्र आज भी जीवित हैं।'

× × ×

गांधी बचपनमें कुसंगतिमें पड़ा। कुसंगतिमें दूसरोंका जो हाल होता है, उसका भी हुआ। वह गलत रास्तेपर बहने लगा। पर सत्यकी प्रेरणा उसके भीतर बस गयी थी। और यह तो है ही कि सत्यकी प्रेरणा मनुष्यको ऊपर ही उठाती है, गिराती नहीं। उदाहरण लीजिये—

कुमित्रोंके साथ अभक्ष्य-भोजन करके लौटनेपर गांधीकी क्या स्थिति होती थी? वह लिखता है—

'जब-जब ऐसा भोजन मिलता, तब-तब घरपर तो भोजन हो ही नहीं सकता था! जब माताजी भोजनके लिये बुलातीं, तब 'आज भूख नहीं है, खाना हजम नहीं हुआ है' ऐसे बहाने बनाने पड़ते। ऐसा कहते समय हर बार मुझे भारी आघात पहुँचता था। यह झूठ और सो भी माँके सामने!...

'और अगर माता-पिताको पता चले कि लड़के मांसाहारी हो गये हैं, तब तो उनपर बिजली ही टूट पड़ेगी। ये विचार मेरे दिलको कुरेदते रहते थे, इसलिये मैंने निश्चय किया माता-पिताको धोखा देना और झूठ बोलना तो मांस न खानेसे भी बुरा है। इसलिये माता-पिताके जीते-जी मांस नहीं खाना चाहिये। अपना यह निश्चय मैंने मित्रको बता दिया और तबसे मांसाहार जो छूटा, सो सदाके लिये छूट गया।'

× × ×

गांधीको बीड़ीकी बुरी लत लगी। पैसे थे नहीं। तब नौकरकी जेबमें पड़े पैसोंमेंसे एकाध पैसा चुरानेकी आदत डाली। ग्लानिके कारण आत्महत्याकी बात सोची। आत्म-हत्या तो कर नहीं सका, पर चुराकर बीड़ी पीनेकी आदत छूट गयी। पर चोरी-चोरी खान-पान आदिके सिलसिलेमें २५) का कर्ज हो गया। वह कैसे चुके?

सोचा, भाईके सोनेके कड़ेमेंसे एक तोला सोना काट लिया जाय। गांधी कहता है—

'कड़ा कटा, कर्ज पटा; पर मेरे लिये यह बात असह्य हो गयी। मैंने निश्चय किया कि आगे कभी चोरी करूँगा ही नहीं। मुझे लगा कि पिताजीके सम्मुख अपना दोष स्वीकार भी कर लेना चाहिये। पर जीभ न खुली। आखिर मैंने तय किया कि चिट्ठी लिखकर दोष स्वीकार किया जाय और क्षमा माँग ली जाय।

मैंने चिट्ठी लिखकर हाथोंहाथ दी। चिट्ठीमें सारा दोष स्वीकार किया और सजा चाही। आग्रहपूर्वक विनती की कि वे अपनेको दुःखमें न डालें और भविष्यमें फिर ऐसा अपराध न करनेकी प्रतिज्ञा की।

मैंने काँपते हाथों चिट्ठी पिताजीके हाथमें दी। वे बीमार बिस्तरपर पड़े थे। उन्होंने चिट्ठी पढ़ी। आँखोंसे मोतीकी बूँदें टपकीं। चिट्ठी भीग गयी। उन्होंने क्षण-भरके लिये आँखें मूँदीं, चिट्ठी फाड़ डाली और स्वयं पढ़नेके लिये उठ बैठे थे, सो फिर लेट गये।

मैं भी रोया। पिताजीका दुःख समझ सका।

मोतीकी बूँदोंके उस प्रेमबाणने मुझे बेध डाला। मैं शुद्ध बना। इस प्रेमको तो अनुभवी ही जान सकता है।

मेरे लिये यह अहिंसाका पदार्थ पाठ था।

× × ×

यों सत्य-धर्मकी प्रेरणा गांधीको सतत प्रेरित करती चली। उसका सारा जीवन सत्यका ही प्रयोग था आदिसे अन्ततक। वह कहता है—

'मैं पुजारी सत्यरूपी परमेश्वरका ही हूँ। वह एक ही सत्य है, दूसरा सब मिथ्या है। यह सत्य मुझे मिला नहीं है। लेकिन मैं इसका शोधक हूँ। इस शोधके लिये मैं अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तुका त्याग करनेको भी तैयार हूँ और मुझे यह विश्वास है कि इस शोधरूपी यज्ञमें अपने इस शरीरको भी होमनेकी मेरी तैयारी और शक्ति है।'

गांधीने अपनी यह तैयारी प्रत्यक्ष करके दिखा दी। उसका बलिदान सत्यकी वेदीको ही उज्ज्वल बना रहा है।

× × ×

सत्य-धर्मकी यह प्रेरणा हर मानवके हृदयमें होती है, होनी चाहिये। हम उसे दबा देते हैं, यह बात दूसरी है। सत्यकी प्रेरणा होनेपर मनुष्य कोई गलत काम कर नहीं सकता। करता भी रहता है तो सत्यकी प्रेरणा उसे गलत रास्तेसे हटाकर सही रास्तेपर ला खड़ा करती है।

इतना अलबत्ता है कि सत्यकी प्रेरणापर चलना आसान नहीं। उसमें कदम-कदमपर मुसीबतें उठानी पड़ती हैं, पग-पगपर संकट झेलने पड़ते हैं। वह पुष्पोंकी नहीं, काँटोंकी शय्या है। सचमुच यह महान् तपस्याका मार्ग है।

आजका विश्व जिस प्रवाहमें बह रहा है, उसमें सत्य, धर्मकी प्रतिष्ठा कम होती चल रही है। यों, असत्यको भी अपने अस्तित्वके लिये सत्यका ही आश्रय लेना पड़ता है। असत्यकी अपनी कोई हस्ती नहीं। सत्यके सहारे ही वह थोड़ी देर टिक पाता है। पर, सत्यपर डटे रहनेसे मानवको जो सुख मिलता है, जो संतोष मिलता है, जो आनन्द मिलता है, वह असत्यपर चलनेवालेको कहाँ मिलेगा ?

माना, सत्यधर्मकी प्रेरणापर चलना कष्टकर होता है, उसमें त्याग और तपस्या करनी होती है; पर इससे क्या ! कष्टोंकी ज्वालामें तपकर ही तो कञ्चन कञ्चन बनता है।

× × ×

टाल्सटाय, अमीरीमें पला टाल्सटाय विषय-भोगोंमें डूबा रहता है। पर एक दिन उसके अन्तस्में सत्य-धर्मकी प्रेरणा होती है—'छिः-छिः, कैसा अधम है मेरा जीवन ! क्या इसीलिये मेरा जन्म हुआ है कि मैं रात-दिन भोग-विलासमें डूबता-उतराता रहूँ ? मेरे आसपास हजारों-लाखों भाई-बहन कैसी गरीबीका जीवन बिता रहे हैं, कितने कष्ट झेल रहे हैं, कैसे शोषणकी चक्कीमें पिस रहे हैं—और मैं रात-दिन मौज मार रहा हूँ !...' और वह चल पड़ता है सत्यके मार्गपर !

अपनी जीवनगाथा वह खोलकर रख देता है सत्यरूपी परमेश्वरके चरणोंमें। उसका जीवन सर्वथा बदल जाता है।

× × ×

असत्यका वातावरण आज हमें चारों ओरसे घेरे है। सब लोग बेतहाशा दौड़े जा रहे हैं उसकी ओर ! कामिनी और काञ्चनकी माया हमें पथभ्रष्ट कर रही है। हम पैसे-पैसेके लिये ईमान बेच रहे हैं, इज्जत बेच रहे हैं, स्वाभिमान बेच रहे हैं। सत्य बेचारा कोनेमें पड़ा है ! नक्कारखानेमें तूतीकी आवाजको कौन सुनता है !

पर, क्या यह सही है ? असत्यपर सत्यको न्योछावर कर देना क्या ठीक है ? हमारा जीवन गलत रास्तेपर जा रहा है तो क्या उसी प्रवाहमें हमें उसे बहने देना चाहिये ? लोभ और लालच, सत्ता और मदकी चमचमाहटमें हमें अपनेको खो देना चाहिये ?

हमें अपने आपसे इन प्रश्नोंका उत्तर माँगना चाहिये। हमें स्मरण रखना चाहिये कि असत्य सदा टिकनेवाला नहीं। उसके लिये अपनेको गिराना कभी उचित नहीं। उपनिषद् कहता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

सत्यका मुख ढका है सोनेके ढक्कनसे। हे पूषन् ! तू यदि सत्यका दर्शन करना चाहता है तो उसे खोल। आइये, हम इस ढक्कनको खोलनेका प्रयत्न करें।

सत्यकी महिमा

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राणि सत्यमेव विशिष्यते॥

(महा० अनुशासन० ७५। २९)

'तराजूके एक पलड़ेपर एक हजार अश्वमेध यज्ञोंका पुण्य और दूसरे पलड़ेपर केवल सत्य रक्खा जाय तो एक सहस्र अश्वमेधोंकी अपेक्षा सत्यका पलड़ा ही भारी होगा।'

सत्य-धर्म

(लेखक—श्रीसन्तोषचन्द्र सक्सेना एम्० ए०, एम्० एड्०)

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
(गीता १६ । २)

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें रणसे विमुख हुए अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णभगवान्ने श्रीगीता १६वें अध्यायके प्रथम तीन श्लोकोंमें दैवी सम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुषोंद्वारा दृढ़तासे स्वीकृत और आचरित २६ दैवी गुणोंका वर्णन किया है— उनमें अहिंसा और सत्यके नाम आये हैं ।

यह नियम है कि जो मनुष्य जिस गुणको श्रद्धाके साथ अपनाता है, उसका स्वभाव भी वैसा ही हो जाता है—

यो यच्छ्रद्धः स एव सः । (गीता १७ । ३)

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि दैवी सम्पदाके गुण किस लाभकी उपलब्धिके लिये अपनाये गये हैं । भगवान् कहते हैं—

दैवीसंपद्विमोक्षाय । (गीता १६ । ५)

अर्थात् दैवी सम्पदाके गुण मुक्तिके लिये हैं । मुमुक्षु साधक इन्हीं २६ गुणोंमेंसे अपनी-अपनी रुचि तथा धारणाके अनुसार एक, दो, तीन, चार अथवा अधिक अपनी शक्ति-सामर्थ्यको विचारकर अपना लेते हैं एवं श्रद्धासहित तत्परता-से अभ्यासके द्वारा शनैः-शनैः अपने साधनको सफल बनानेका प्रयत्न करते हैं । परिणाम यह होता है कि ज्यों-ज्यों साधन अपनी प्रगतिकी ओर विकसित होता है, त्यों-ही-त्यों उसमें एकके बाद दूसरे-दूसरे गुणोंका भी अपने-आप उदय होता रहता है । अस्तु,

महात्मा गांधीजीने इन दैवी सम्पदाके २६ गुणोंमेंसे केवल दो गुण अपनाये थे—सत्य और अहिंसा । वे गीता-प्रेमी ही नहीं, गीता-मूर्ति थे । गीता-ज्ञानके आधारपर उन्होंने सत्य और अहिंसाको सर्वोपरि मानकर अपनाया था; क्योंकि—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा ।
(मु० उ० ३ । १ । ५)

यह आत्मा सत्य और तप आदिसे प्राप्त किया जा सकता है ।

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
(मु० उ० ३ । १ । ६)

सत्यसे ही जय प्राप्त होती है । मिथ्यावादी कभी जयको प्राप्त नहीं होता । वह तो सदैव पराजयमें ही रहता है । सत्यवादी पुरुषके परमधाम पहुँचनेके लिये देवयान-मार्ग खुल जाता है ।

महात्माजीने सत्यरूप खड्गका अवलम्ब लेकर ही विजय प्राप्त की । यह घटना प्रायः सभीको मान्य है और देहावसानके पश्चात् उन्हें मोक्ष-लाभ भी अवश्य ही हुआ होगा; क्योंकि शरीरका त्याग करते समय उनके मुखसे 'हे राम' पदका उच्चारण हुआ था । हिंदूशास्त्रोंमें पुरुषकी मुक्तिके ये ही चिह्न, लक्षण बतलाये गये हैं—

जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं । अंत राम कहि आवत नाहीं ॥
(रा० च० किष्किन्धा० १० । २ पूर्वार्ध)

भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥
(८ । ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें मुझ (भगवान्) को ही स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है, वह मेरे (साक्षात्) स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥
(गीता ८ । १३)

'जो पुरुष ॐ—इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ (और उसके अर्थस्वरूप) मेरा चिन्तन करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है ।'

स्मरण रहे कि जो 'ॐ' है वही 'राम' है, वही 'कृष्ण' है, वही 'हरि' है । इनमें कोई भेद नहीं है ।

रमन्ते योगिनो यस्मिन् नित्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते ॥
(योगवा० नि० पू० सर्ग ३)

जिस नित्यानन्द चिदात्मामें योगीजन निरन्तर रमण करते हैं, वह परब्रह्म 'राम'—पदसे कहा जाता है ।

महात्माजीकी सत्य तथा अहिंसा-साधना बड़े मर्मका विषय है। सत्य-धर्मके परम रहस्य परमार्थ, परम पुण्यका उनको सम्यक् ज्ञान प्राप्त था। उनकी सत्यधर्म-साधनामें प्रथम स्थान अहिंसाको दिया हुआ था; क्योंकि सत्य-व्रतधारीसे सत्यकी ओटमें हिंसारूप पाप बन सकता है, जो फिर पुनर्जन्मका कारण होता है। इस प्रसङ्गकी एक सत्य दृष्टान्तसे पुष्टि करते हैं।

महाभारत, कर्णपर्वमें आता है कि युद्धमें भीष्मपितामहके गिर जानेके बाद जब कर्ण सेनापति बनाये गये, तब उन्होंने एक दिन महात्मा युधिष्ठिरको परास्त कर दिया, उनके सब हथियार छिन गये। वे परवश हो गये। कर्णने अपने धनुषकी डोरी उनके गलेमें डालकर अवाच्य शब्दों-द्वारा उनकी अवज्ञा की। बोले—'जब तुम लड़ना ही नहीं जानते तो क्यों युद्धस्थलमें आनेका साहस बटोरते हो?' कर्ण योद्धा ही नहीं थे, अपितु दानी एवं दयावान् भी थे। युधिष्ठिरको लज्जित देख उनसे कहने लगे, 'जाओ, सीधे शिबिरमें चले जाओ। अब आगे लड़ने न आना।' युधिष्ठिर शिबिरमें आकर चिन्तायुक्त लेटे थे कि इसी बीच अर्जुन आये। उन्हें देखकर युधिष्ठिर क्षुब्ध होकर कहने लगे—'अर्जुन! तुम अपने गाण्डीवको किसीको दे डालो। बड़े खेदकी बात है कि आज पंद्रह दिनमें भी तुम शत्रुओंपर विजय नहीं पा सके।' उधर अर्जुनने प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि 'जो उन्हें गाण्डीवसहित धिक्कारेगा, उसका मस्तक उतार लेंगे।' अर्जुनने अपनी प्रतिज्ञा सत्य करनेके लिये खड्ग उठा लिया। सहसा भगवान् श्रीकृष्ण भी पधार गये, सर्वज्ञ ही जो ठहरे। बोले—'अर्जुन! खड्गको क्यों निकाला है? क्या विचार है?' प्रभुके पूछनेपर अर्जुनने अपनी प्रतिज्ञाकी तथा और सब बातें सत्य-सत्य बता दीं। भगवान् श्रीकृष्ण बोले—

त्वया चैवं व्रतं पार्थ बालेनेव कृतं पुरा।
तस्मादधर्मसंयुक्तं मौर्ख्यात् कर्म व्यवस्यसि॥

(महाभारत, कर्णपर्व ६९। २)

'हे अर्जुन! तुमने नासमझ बालकके समान कोई प्रतिज्ञा कर ली थी। अतः तुम मूर्खतावश अधर्मयुक्त कार्य करनेको उद्यत हो रहे हो; क्योंकि **'सत्यान्नास्ति परो धर्मः'** बस, तुम्हें इतना ही याद रह गया और उसकी साधनामें तुम एक भीषण अनर्थ करनेको उतावले हो रहे हो। भाई! इससे पहले **'अहिंसा परमो धर्मः'** है। यह अकेली सत्य-साधना तुझसे हिंसारूपी पाप कराके तुमको बन्धनमें डालनेवाली होगी। अतः पहले अहिंसाकी शरणमें आना होगा।

अनृतं वा वदेद् वाचं न तु हिंस्यात् कथंचन।

(महा० कर्ण० ६९। २३ उत्तरार्ध)

(किसीकी प्राणरक्षाके लिये झूठ बोलना हो तो बोल दे, किंतु उसकी हिंसा न हो।)

अर्जुन! तुम मेरे उपदेशको भूले हुए हो। स्मरण करो। मैंने दैवी सम्पदा-विभागयोग, अध्याय १६में इसी कारण सत्यसे प्रथम अहिंसाको स्थान दिया है। इसका अर्थ यही है कि सत्य अहिंसायुक्त होना चाहिये। वह तभी श्रेयस्कर हो सकता है। अर्जुन क्षमा-याचना करते हैं।

इस दृष्टान्तसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि सत्यके साथ अहिंसाका रहना आवश्यक है और इन दोनोंको साथ-साथ जीवनमें ग्रहण करनेके फलस्वरूप ही महात्माजीने महान् विजय तथा मुक्ति प्राप्त की।

सत्य-धर्मका यही वास्तविक स्वरूप है। जहाँतक हो सके, हमें इस धर्मको अपनाना चाहिये। अभ्यासद्वारा सब कुछ हो सकेगा। अभ्यास भी अनिर्विण्णचित्त होकर श्रद्धा तथा तत्परताके साथ होना चाहिये। यह साधना किसी-न-किसी दिन हमें गन्तव्य स्थान (मुक्ति) लाभ करा देगी; क्योंकि बहता पानी एक-न-एक दिन समुद्रमें मिलकर ही रहता है।

मनुष्य-जन्म भगवान्ने इसीलिये दया करके दिया है कि विषयवासनाको छोड़कर हम मुक्तिका मार्ग ग्रहण करें।

संसारवासनाभावरूपे सक्ता तु यस्य धीः।
मन्दो मोक्षे निराकाङ्क्षी स श्वा कीटोऽथवा जनः॥

(योग वा० नि० उत्तरार्ध ९५। २६)

'जिसकी मूर्खबुद्धि संसारवासनावश विषयभोगोंमें आसक्त होती है तथा जिसके मनमें मोक्षकी आकाङ्क्षा जाग्रत् नहीं होती, वह मनुष्य नहीं, कुत्ता अथवा कीड़ा है।' इसलिये—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।

(गीता ६। ५ का पूर्वार्ध)

मनुष्यको संसारसागरमें डूबे हुए अपनेको ऊँचा उठा लेना चाहिये। अपना अधःपतन नहीं करना चाहिये।

सत्य-धर्मके कुछ आदर्श उदाहरण

(१)

राजा हरिश्चन्द्र

'आज त्रिभुवनमें हरिश्चन्द्रके समान धर्मात्मा कोई नहीं है।' अमरावतीकी सभामें यह चर्चा उठी तो देवराजको असह्य हो गयी। उन्होंने विश्वामित्र-जीसे हरिश्चन्द्रकी परीक्षा करनेकी प्रार्थना की। महर्षि विश्वामित्रने इसे स्वीकार कर लिया। ऋषिने कुछ ऐसा किया कि हरिश्चन्द्रने स्वप्नमें अपनेको अपना सम्पूर्ण राज्य विश्वामित्रको दान करते देखा।

दूसरे दिन महर्षि विश्वामित्र अयोध्याकी राजसभामें आ पहुँचे। उनको राजा हरिश्चन्द्रने पहली बार स्वप्नमें देखा था, अतः पहचान लिया और उनके स्वागतमें उठे। लेकिन विश्वामित्रने स्वागत-सत्कारसे पूर्व ही कहा—'राजन्! तुम्हें अपने दानका स्मरण है?'

'स्मरण है भगवन्!' हरिश्चन्द्रने स्वीकार किया!

'यह राज्य अब मेरा है। तुम मेरे राज्यसे चले जाओ।' ऋषिने आज्ञा दे दी। साथ ही कहा—'इस महान् धर्मकार्यके अनुष्ठानकी दक्षिणा भी देनी चाहिये तुम्हें। बिना दक्षिणाके कोई धर्मकार्य पूर्ण नहीं होता।'

'अवश्य दूँगा, प्रभु! आप आज्ञा करें।' हरिश्चन्द्र फिर भी विचलित नहीं हुए।

'इस दानकी दक्षिणा है एक सहस्र स्वर्णमुद्रा। उसकी तुम शीघ्र व्यवस्था कर दो।' विश्वामित्रने कहा—'किंतु यह राज्य, इसका कोष तथा इसके सब उपकरण मेरे हैं—यह ध्यानमें रखना।'

'आप मुझे थोड़ा समय दें।' हरिश्चन्द्रने प्रार्थना की।

'एक माससे अधिक प्रतीक्षा मैं नहीं करूँगा।' ऋषिने अवधि निश्चित कर दी।

अयोध्याका सम्राट् भिखारी बन गया। रानी तथा नन्हे पुत्र रोहितको लेकर पैदल यात्रा करते हुए हरिश्चन्द्र काशी पहुँचे; क्योंकि रथादि तो अब उनके थे नहीं। काशीमें भी, भला, स्वर्णमुद्राओंकी व्यवस्था वे कैसे करते? ब्राह्मण थे नहीं जो भिक्षा माँगते। वैश्यवृत्ति अपनाते भी तो व्यापार करनेको क्या धरा था। उधर बार-बार आकर विश्वामित्र अपनी दक्षिणा माँग रहे थे।

अन्तमें हरिश्चन्द्रने रानीको बेचना निश्चित किया। एक ब्राह्मणने पाँच सौ स्वर्णमुद्रा देकर रानीको अपने यहाँ दासीका काम करनेके लिये खरीदना स्वीकार किया। माताको ब्राह्मण ले जाने लगा तो बालक रोहित माँसे लिपटकर रोने लगा। बड़ी कठिनाईसे ब्राह्मणने बच्चेको साथ ले जानेकी आज्ञा रानीको दी।

विश्वामित्रको पाँच सौ स्वर्णमुद्राएँ दे दी गयीं। शेष पाँच सौके लिये राजाने अपनेको ही बेचनेकी घोषणा की। उन्हें खरीदा काशीके चण्डालोंके सरदारने और श्मशानपर उन्हें नियुक्त किया—'कोई कर दिये बिना शव-दाह न करने पाये!' यह कार्य मिला हरिश्चन्द्रको। विश्वामित्रजी तो दक्षिणा लेकर विदा हो गये।

महारानी शैव्या, जिनकी अयोध्यामें सैकड़ों दासियाँ सेवा करती थीं, ब्राह्मणके यहाँ झाड़ू देना, घर लीपना, जल भरना आदि छोटे-बड़े सब कार्य करनेपर विवश हुईं। उन्हें ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर कार्यमें लगना पड़ता था और रात्रिमें बहुत देरमें सोनेको समय पाती थीं। राजकुमार रोहितको भी अब छोटी सेवाएँ—पुष्प-चयन आदि करनी पड़ती थीं। उधर चक्रवर्ती राजा हरिश्चन्द्र रात-दिन लाठी लिये मरघटकी पहरेदारी करते तथा शवदाह करने आनेवालोंसे कर वसूल करते थे।

दुर्भाग्य इतनेपर भी संतुष्ट नहीं हुआ। महर्षि विश्वामित्रको तो हरिश्चन्द्रकी पूरी कसौटी करनी थी। अचानक एक दिन रातके समय कुमार रोहितको सर्पने काट लिया और उसका प्राणान्त हो गया। आकाशमें मेघ घिरे, घोर अन्धकार और रानी शैव्या अकेली पुत्रका शव उठाये श्मशान पहुँची। उस बेचारी दासीका साथ देनेवाला वहाँ कौन बैठा था। ब्राह्मणने तो रात्रिभर शव अपने यहाँ

रहने देना भी स्वीकार नहीं किया था। उसकी भर्त्सनाके कारण ही तो रानी रातमें ही श्मशान चली थीं।

अन्धकार इतना कि हाथको हाथ न सूझे। किसी स्त्रीका रुदन सुनायी पड़ा तो हरिश्चन्द्रने अनुमान कर लिया कि कोई मुर्दा आया है। वे ध्वनि जहाँसे आ रही थी, वहाँ पहुँचे और बोले—'कौन है? श्मशानके स्वामीका कर पहले दे लो तो और कुछ करना।'

'मैं हूँ भाग्यहीना पुत्रहीना शैब्या!' रानीने स्वर पहचान लिया। 'नाथ! यह आपके कुमार रोहितका शव है। सर्पदंशसे मृत्यु होनेके कारण इसका दाह तो हो नहीं सकता, प्रवाह करने ही आयी हूँ।'

बिजली चमकी और उस क्षणार्धमें हरिश्चन्द्रने विषसे नीले पड़े पुत्रका मुख तथा विपन्ना रानीको देखा। उनका कण्ठ भर आया। दो क्षण वे स्तब्ध रह गये। रानी क्रन्दन कर रही थीं। अपनेको स्थिर करके हरिश्चन्द्रने कहा—'देवि! जीवन तथा इसके भोग नाशवान् हैं, धर्म ही नित्य है। तुम अपने धर्मका पालन करो और मुझे भी धर्मपर स्थिर रहनेमें सहयोग दो। स्वामीकी आज्ञा है कि बिना कर लिये कोई शवदाह या प्रवाह यहाँ न करे।'

'मेरे पास तो कुछ भी नहीं है।' रानीने व्यथासे क्रन्दन किया। 'क्या अयोध्याके युवराजका शव उत्तर-क्रियाके बिना ही पड़ा रहेगा। मैंने तो अपनी साड़ीसे ही इसको आच्छादित किया है।'

'मैं विवश हूँ।' हरिश्चन्द्रके स्वरमें वेदना तो थी, किंतु वज्रकी दृढ़ता थी। 'कर दिये बिना तो उत्तर-क्रिया मैं नहीं करने दे सकता।'

'यह शवाच्छादन करनेवाला वस्त्रमात्र है!' रानी मूर्च्छित हो गयीं क्षणभरको। 'मेरे रोहितकी नग्नदेह क्या प्रवाहित करनी होगी मुझे?'

'उसका आधा फाड़कर मुझे करके रूपमें दे दो!' हरिश्चन्द्रने निर्णय सुना दिया।

'अच्छा!' निरुपाय, परमदुःखकातरा, पुत्रशोक-विह्वला रानीने उस अन्धकारमें मृत इकलौते पुत्रके शवाच्छादनको फाड़नेके लिये अपने काँपते हाथ बढ़ाये और दिशाएँ आलोकसे पूर्ण हो गयीं। उस श्मशानभूमिमें उस समय देवराज इन्द्र, धर्मराज तथा महर्षि विश्वामित्र खड़े थे।

'पुत्र, उठ बैठ!' धर्मराजने रोहितको सम्बोधित किया और वह जीवित हो गया। उन्होंने हरिश्चन्द्रसे कहा—'राजन्! तुम्हारे लिये मुझे चण्डालका रूप लेना पड़ा था। धर्मका दास दूसरे किसीका दास नहीं बन सकता।'



'महाराज! यह मेरेद्वारा आपकी परीक्षा ली गयी, इससे आपका यश उज्ज्वल होगा। ब्राह्मण मैं ही बना था एक रूपसे।' विश्वामित्रने अयोध्याका राज्य लौटा दिया।

इन्द्रने हरिश्चन्द्रकी धर्म तथा सत्यनिष्ठाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। —सु०

(२)

सत्यरक्षाके लिये प्राण देनेवाले महाराज दशरथ

'पुन्य पुंज दसरथ सम नाहीं।'

कभी देवासुर-युद्धमें कैकेयीके त्याग तथा साहससे प्रसन्न होकर दो वरदान देनेकी बात चक्रवर्ती महाराज दशरथने कह दी थी। असुरोंसे युद्ध करते समय महाराजके रथका धुरा टूट गया था। उनके अनजानमें

सम्पूर्ण धर्माचरण जिनकी प्राप्तिके लिये किये जाते हैं, वे श्रीराम स्वयं पुत्र बनकर प्राप्त हुए। वे प्राणाधिक प्रिय—अपने मुखसे उन्हें वन जानेकी बात निकल नहीं पाती। यह सोचते ही व्याकुलता बढ़ती है और मूर्च्छा आ जाती है। लेकिन रानी कैकेयीके वरदानकी स्वीकृति ही तो है वह व्याकुलता। अन्यथा व्याकुल होनेका हेतु क्या ? व्याकुलता स्वयंमें मौन स्वीकृति है।

और वहाँ अपनी भुजा लगाकर रानी कैकेयीने रथको गतिमान् रक्खा था। उस समय तो रानीने वरदान माँगा नहीं, उसे सुरक्षित रख लिया।

भगवान् श्रीरामके लीला-संकेतसे देवी सरस्वतीने प्रेरणा दी, मन्थराकी बुद्धि विकृत हुई और उसकी खोटी सलाहने रानीके चित्तमें व्यामोह उत्पन्न कर दिया। श्रीरामका कल राज्याभिषेक और उससे पूर्व रात्रिमें रानी कैकेयीने महाराज दशरथको वचनबद्ध करके दो वरदान माँगे—'भरतका राज्याभिषेक और श्रीरामको चौदह वर्षका वनवास।'



भरतका राज्याभिषेक सहज स्वीकार था नरेशको, किंतु रामका वनवास ?

जीवन मोर राम बिनु नाहीं।

—महाराज इसे निश्चित समझते हैं। इतना समझते-जानते भी वे कैकेयीकी बात अस्वीकार नहीं कर सकते। महत्त्व जीवनका नहीं है, मोह प्राणोंका नहीं है, प्राण देनेपर भी श्रीरामका वन जाना रुक पाता—प्राणोंके प्राण श्रीरामको वन जाकर चौदह वर्ष 'तापस बेष बिसेष उदासी' रहना है, यह मर्मभेदिनी पीड़ा।

लोग कहते हैं कि 'महाराज दशरथने रानी कैकेयीके वरदानको 'हाँ' नहीं कहा। उन्होंने श्रीरामको वन जानेकी आज्ञा नहीं दी। अतः श्रीरामके पिताके वचन मानकर वन जानेकी बात ठीक नहीं है।

'उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः।'

'उत्तम पुत्र वह, जो पिताकी इच्छा जानकर उसका पालन करे और जो आज्ञा मिलनेपर पालन करे, वह तो मध्यम पुत्र है।'

—यह नीति भूलनी नहीं चाहिये। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके लिये पिताका वरदान ही उनकी आज्ञा है और महाराज दशरथका मौन वरदानकी स्वीकृति नहीं है, यह कौन कहेगा ?

श्रीराम आते हैं। महारानी कैकेयी उनसे अपने वरदानकी बात कहती हैं। उसे स्वीकार करके मर्यादापुरुषोत्तम माता कौसल्यासे विदा लेने जाते हैं। यह सब महाराज दशरथकी उपस्थितिमें उनके सम्मुख होता है। लौटकर श्रीराम वहीं वल्कल धारण करते हैं और पदवन्दना करके भाई तथा जानकीके साथ प्रस्थान करते हैं। महाराजका व्याकुल, असहाय मौन इस सबका नीरव अनुमोदन ही तो है। सत्यकी

रक्षाके लिये यह त्याग—ऐसा त्याग कि उसकी वेदनाने अन्तमें प्राण ले ही लिये ! इस सत्यरक्षण एवं त्यागके ही कारण तो महान् महिमान्वित हैं श्रीचक्रवर्ती महाराज दशरथ। —सु०

(३)

श्रीगोखले

श्रीगोपाल कृष्ण गोखले तब बालक थे। पाठशालामें पढ़ने जाते थे। एक दिन शिक्षकने विद्यार्थियोंके वे प्रश्न देखने प्रारम्भ किये, जो उन्हें घरसे करके लानेको दिये गये थे। केवल गोखले ऐसे थे, जिनके सब प्रश्नोंके उत्तर ठीक थे। शिक्षकने उनकी प्रशंसा की और कुछ पुरस्कार देना चाहा। लेकिन शिक्षकको तब बड़ा आश्चर्य हुआ, जब प्रसन्न होनेके स्थानपर बालक गोखले फूट-फूटकर रोने लगे। शिक्षकने पूछा—'तुम रोते क्यों हो ?'

गोखले बोले—'आपने तो समझा है कि मैंने ही सब प्रश्न हल किये हैं; किंतु मैंने एक प्रश्न अपने मित्रसे पूछकर किया है। इस प्रकार मैंने आपको धोखा दिया है। मुझे तो पुरस्कारके स्थान-पर दण्ड मिलना उचित है।'

इस सत्यप्रियतासे कौन शिक्षक प्रसन्न नहीं होगा ? शिक्षक बोले—'अब यह पुरस्कार तुम्हें तुम्हारी सत्यप्रियताके लिये दिया जा रहा है।' —सु०

(४)

श्रीअश्विनीकुमार दत्त

कलकत्ता विश्वविद्यालयका उस समय नियम था कि सोलह वर्षसे कम आयुके विद्यार्थी हाईस्कूल-की परीक्षामें नहीं बैठ सकते थे। उस समय श्रीअश्विनीकुमार दत्तकी आयु चौदह वर्षकी थी, जब वे परीक्षामें बैठे। दूसरोंके समान उन्होंने भी सोलह वर्षकी आयु फार्ममें भर दी थी।

उस समय तो कोई दोष बाल्यावस्थाके कारण जान नहीं पड़ा, किंतु एक वर्ष पश्चात् एफ० ए० के प्रथम वर्षमें उत्तीर्ण हो जानेपर अपने उस असत्य आचरणका उन्हें अनुभव हुआ। बड़ी ग्लानि हुई उन्हें। कालेजके प्रिंसिपलसे सब बातें कहकर उन्होंने इस भूलको सुधारनेकी प्रार्थना की।

प्रिंसिपलने उनकी सचाईकी प्रशंसा की; किंतु जो कुछ हो गया था, उसे सुधारनेमें वे असमर्थ थे। श्रीदत्त विश्वविद्यालयके रजिष्ट्रारके पास गये। उसने भी सब सुनकर कहा—'अब कुछ नहीं किया जा सकता।'

अश्विनीकुमार बाबूको इससे संतोष नहीं हुआ। झूठी आयु लिखवाकर दो वर्षका लाभ उठाया गया था, अतः सत्यकी रक्षाके लिये उन्होंने दो वर्ष पढ़ाई बंद रक्खी। —सु०

(५)

सत्य-धर्मके आदर्श महात्मा सुकरात

महात्मा सुकरातकी गणना यूनानके महान् दार्शनिकोंमें की जाती है। वे आत्मवादी थे। उन्होंने लोगोंको सजग किया कि संसार नश्वर है, इसके पदार्थ और प्राणियोंसे सच्चे सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। 'अपने आपको जानो'—यही आत्मकल्याण-का सीधा रास्ता है। ईसासे ४६९ साल पहले यूनानके एथेन्स नगरमें जन्म लेकर उन्होंने सीधा-सादा जीवन अपनाकर लोगोंको सत्यके रास्तेपर चलनेकी शिक्षा दी। अपनी शिक्षाके लिये उन्हें तत्कालीन प्रशासनका कोपभाजन बनना पड़ा और सत्यकी रक्षाके लिये मृत्युका भी आलिङ्गन करना पड़ा, पर वे सत्यके पालनमें सदा अविचलित रहे। उन्होंने लोगोंको उसी बातकी शिक्षा दी, जिसका उन्होंने स्वयं अपने जीवन और आचरणमें अभ्यास कर लिया था; यूनानके नवयुवकोंको गलत रास्तेपर जानेसे उन्होंने बचा लिया। प्रशासनकी दृष्टिमें यही उनका सबसे बड़ा अपराध था। वे न्यायालयके सामने उपस्थित किये गये।

'सुकरात नगरके नवयुवकोंको सत्यशिक्षणके नामपर गलत रास्तेपर ले जाते हैं। इस अपराधके लिये इन्हें मृत्यु-दण्ड दिया जाय।' मेलिटस और उसके साथियों—अनीटस और लीसनने अभियोग लगाया।

'नाटककार एरिस्टॉफनीसने अपने 'कलाउड' नाटकमें सुकरातको स्वर्ग-पातालकी बात जाननेवाले

और हवामें उड़नेवालेके रूपमें चित्रितकर यह सिद्ध कर दिया है कि ये जनताको असत्य और अनाचारका पाठ पढ़ाते हैं। अपराधीको विषपानद्वारा मृत्यु-वरणका दण्ड दिया जाता है।' न्यायालयके इस निर्णयसे बाहर प्रतीक्षा करनेवाले नागरिक आश्चर्य-चकित और विक्षुब्ध हो उठे। सुकरात शान्त थे। उन्हें प्रशासनकी आज्ञासे कारागारमें डाल दिया गया।

'मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप अब भी अपने कीमती प्राण बचा सकते हैं। इस कारागारसे निकल भागनेमें हमलोग आपकी सहायता करेंगे।' क्रीटोने सुकरातके सामने प्रस्ताव रक्खा, उन्हें समझाना आरम्भ किया।

'तुम सत्यसे अधिक कीमती प्राणोंको समझते हो? क्रीटो! सत्य अमर और अविनश्वर है। सत्य शाश्वत प्रकाश है; उसे मृत्युके अन्धकारसे—अज्ञानसे ढकना कभी सम्भव नहीं है। सत्यकी रक्षाके लिये प्राण दे देना ही मेरा पवित्र कर्तव्य है, यही मानव-धर्म है। इससे न्यायका भाल उन्नत होगा।' सत्तर वर्षके वृद्ध दार्शनिक क्रीटोको सदाचारकी शिक्षा दे ही रहे थे कि मृत्युका समय आ पहुँचा।

न्यायपतियोंके सेवकने विषसे भरा प्याला महात्मा सुकरातके हाथमें रख दिया। दिशाएँ शोकमग्न थीं, वातावरणमें शान्त विक्षोभ था।

'अभी विष पीनेका समय नहीं आया है, दिनका कुछ अंश शेष है।' क्रीटोकी आँखोंमें अश्रु उमड़ पड़े।

'अपने भीतरकी चेतन आत्माका ज्ञान प्राप्त करो। यह ज्ञान ही सर्वव्यापक सत्य है। अपने आपको पहचानो! तुम शरीर नहीं, आत्मा हो; यह आत्मा अमर शाश्वत, चिरंतन और अक्षय है। मेरे भीतर स्थित आत्मसत्यको समझो, क्रीटो! मृत्यु देहका नाश कर सकती है, आत्माके राज्यमें उसका प्रवेश नहीं है। प्राणान्त होनेपर शरीरको समाधिस्थ कर देना।' सुकरातने विषका प्याला ओठोंसे लगा लिया, न्याय-पतिके आदेशके अनुसार टहल-टहलकर विष पीने लगे। उनके पैर लड़खड़ाने लगे।

'तुम समझते होगे कि मैंने तुम्हारी बात नहीं मानी और तत्काल विष पीना आरम्भ कर दिया। मैं सत्यके अमर लोकमें प्रवेश करनेमें क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं करना चाहता था। अब हम दोनों एक दूसरेसे अलग हो रहे हैं। तुम जीवनकी ओर जा रहे हो, मैं मरनेके रास्तेपर हूँ। जीवन और मरणमें कौन श्रेष्ठ है—इस सत्यका ज्ञान परमात्मा—केवल परमात्माको ही है।' सुकरात बहुत देरतक अपने आपको नहीं सँभाल सके। क्रीटोकी सहायतासे वे भूमिपर लेट गये। क्रीटोने उनका मुख कपड़ेसे ढक दिया।

—रा०

(६)

सत्यवादी घाटम भक्त

'नास्ति सत्यात्परो धर्मः'—इस सिद्धान्तसे सभी शास्त्र, वेद, धर्म एकस्वरसे सहमत हैं। किसी स्थानपर भी, कभी भी, किसीका मतभेद नहीं। सत्य तो सभी वर्णोंमें विकाररहित है। पर यह सत्य है क्या वस्तु? जैसा सुना, समझा और देखा है, सुन-समझ-देखकर जो बात जैसी समझमें आयी है, ठीक वही, वैसी ही सुननेवालेकी भी समझमें आ जाय—ऐसे कथनका नाम सत्य है। आडम्बरहीन भाषामें मनके सच्चे भावोंका प्रकाश दूसरेपर देना। उच्चारण ठीक किये जानेपर भी कहनेका ढंग बदलनेसे उसके अर्थ बदल जाते हैं। सत्यमें वाक्छल या कपट-दम्भको स्थान नहीं है। साथ ही सत्य वह है, जिससे किसी निर्दोषका अहित न होता हो। सत्यके सम्बन्धमें सत्यप्रिय घाटमकी एक कथा याद आती है।

जयपुरके पास घोड़ी नामक ग्राममें घाटम नामका एक मीना रहता था। राजस्थानमें इस जातिके लोग प्रायः चोरीसे ही अपना भरण-पोषण किया करते थे। घाटम भी यही करता था। वह कभी-कभी एक महात्माके पास जाया करता था। महात्माके लिये कौन अच्छा और कौन बुरा? वे तो अपने स्नेहसे उसे भी सत्पथपर लाना चाहते

थे। एक दिन महात्माने कहा—'घाटम! तू चोरी करना छोड़ दे।' इसपर घाटमने कहा—'महाराज! चोरी छोड़ दूँगा तो अपने परिवारका पालन कैसे करूँगा? मेरी तो आजीविका ही चोरी है। आप अन्य कोई भी आज्ञा दें तो मैं उसे पालन करनेको तैयार हूँ।' महात्माने कहा—'अच्छा कोई बात नहीं; चोरी नहीं छोड़ सकता तो मैं तुझे चार नियम बताता हूँ, उनका पालन करना आरम्भ कर दे—(१) सदा सत्य बोलना, (२) साधु-सेवा करना, (३) हर खाद्य-पदार्थ भगवदर्पण करके ही खाना और (४) भगवान्‌की आरती देखना।' सरलहृदय घाटमने चारों व्रत ले लिये। महात्माने चोरको भी प्रभुके समीपस्थ होनेका मङ्गलमय मार्ग दिखा दिया। महात्मा दूसरे ग्रामोंमें चले गये। वहाँ एक बार कोई भगवान्‌का उत्सव था। गुरुजीने उसमें घाटमको भी बुला भेजा। स्थान बहुत दूर था और समय कम रह गया था। घाटमकी चौर्य-वृत्ति जगी। उसने सोचा, यदि राजाकी घुड़सालसे एक घोड़ा ले लिया जाय तो समयसे पहुँचा जा सकता है। बस, वह सीधा घुड़सालपर पहुँचा और अंदर घुसने लगा। अनजानको बेधड़क अंदर घुसते देखकर पहरेदारोंने पूछा—'तुम कौन हो?' घाटम तो सत्य बोलनेकी प्रतिज्ञा कर चुका था। उसने उत्तर दिया—'मैं चोर हूँ, एक घोड़ा चुराने आया हूँ।' पहरदार बड़े पशोपेशमें पड़ गये। सोचने लगे—'यों बोलनेवाला चोर कैसे हो सकता है? सम्भवतः महाराजका कोई नया कर्मचारी होगा।' अतः वे चुप रहे। घाटमने झटसे एक बढ़िया-से-बढ़िया घोड़ा चुना और लेकर चल दिया। रास्तेमें संध्या हो गयी। एक मन्दिरमें आरती हो रही थी। गुरुके आज्ञानुसार घाटम वहाँ ठहर गया और घोड़ा एक पेड़से बाँध दिया।



इधर जब असली बातका पता लगा, तब राजाके घुड़सवार सिपाही दौड़े,—घोड़ेके पद-चिह्नोंसे वहाँ पहुँच गये, जहाँ घोड़ा बंधा था। जाकर देखा, घाटम मतवाला होकर आरतीमें झूम रहा है। पर आश्चर्य! काले रंगके स्थानपर सफेद रंगका घोड़ा है। जो सारे संसारको बन्धनोंसे मुक्त करते हैं, उनका सत्यवादी भक्त बन्धनमें कैसे आ सकता है? फिर घोड़ेके रंगमें इतना-सा अन्तर कर देना भगवान्‌की उस अघट-घटनापटीयसी शक्तिके लिये क्या कठिन है? आरती समाप्त होनेपर प्रेमी भक्त झूमता हुआ बाहर आया और घोड़ेपर जा बैठा। सिपाहियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ—वही व्यक्ति, वही सब कुछ; पर घोड़ेका रंग दूसरा कैसे? एकके पूछनेपर घाटमने समझाकर कहा—'घबराओ नहीं, मैं वही चोर हूँ और वही घोड़ा है; दूसरा रंग तो तुमलोगोंको भ्रमसे या भगवान्‌की मायासे दीखता है। गुरुजीके यहाँ महोत्सवमें मुझे पहुँचना है। तुम चाहो तो मेरे साथ चलो। वहाँसे लौटकर मैं तुमलोगोंके साथ राजाके पास चलूँगा।' सिपाहियोंने मान लिया। गुरुजीके महोत्सवसे

लौटकर घाटम राजाके पास गया और राजाके पूछनेपर आद्योपान्त घाटमने सारी बातें कह सुनायीं। राजा चकित हो गया, सत्यनिष्ठ भगवद्भक्त घाटमके चरणोंमें नमस्कार करने लगा। राजाने उसको बहुत-सा धन देना चाहा, पर घाटमने सर्वथा इन्कार कर दिया। समय-समयपर गुरुजीकी सेवामें जानेके लिये केवल एक घोड़ा भर स्वीकार किया और गुरुके बताये सत्पथपर चलकर वह संसारसे मुक्त हो गया।

यह है सत्यकी महिमा—जिसने आजीवन चोरी-डकैती आदि हेय और घृणित कर्म करनेवाले मीनेको भी सदाके लिये प्रभुके त्रिविधतापविनाशी श्रीचरणोंमें स्थान दिला दिया।

—राधा भालोटिया

(७)

सत्यप्रिय रघुपतिसिंह

एक दूसरे राज्यके सेनापतिने एक राजपूत दुर्गपर घेरा डाल रक्खा था। राजपूत-नायक रघुपतिसिंह भागकर वनमें चले गये थे। उनको जीवित या मृत पकड़नेवालेके लिये पुरस्कारकी घोषणा हुई थी। अचानक वनमें समाचार मिला कि रघुपतिसिंहका पुत्र मरणासन्न है।

मरते पुत्रका मुख देखनेकी लालसा लेकर रघुपतिसिंह वनसे लौटे। घेरा डालनेवाली सेनाके नायकके सामने जाकर उन्होंने कहा—'मुझे दुर्गमें जाने दीजिये। मरते पुत्रको देखकर आपके पास लौट आऊँगा। तब मुझे पकड़ लेना।'

सेनानायक हिचका—'आप न लौटे तो?'

रघुपतिसिंहने कहा—'राजपूत कभी झूठ बोला है?'

उन्हें दुर्गमें चले जाने दिया गया। पुत्रसे मिलकर लौटे वे और सेनानायकके सामने खड़े हो गये—'अब मुझे पकड़ लो!'



उन्हें लेकर सेनानायक अपने प्रधान सेनापतिके पास पहुँचा। रघुपतिसिंहके आत्मसमर्पणका विवरण सुनकर वह वीर सेनापति बोला—'आप स्वतन्त्र हैं। ऐसे बहादुर और सच्चे वीरको मारकर मैं अपने हाथ गंदे नहीं कर सकता!'

—सु०

(८)

सत्य-धर्मनिष्ठ नन्दा गौ

वह श्रेष्ठ गौ थी। रूईके समान श्वेत वर्ण था उसका। पूँछ, सींग, स्तन, जिह्वा—सब श्वेत थे। सुन्दर सुपुष्ट देहवाली उस गायका नाम नन्दा था। वनमें चरते हुए वह गायोंके अपने यूथसे पृथक् हो गयी।

दोपहर होनेपर प्यास लगी तो उसने सरोवरका मार्ग पकड़ा; किंतु मार्गमें उसे एक सिंह मिल गया। सिंहको देखकर नन्दाके पैर रुक गये। उसके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे।

सिंह बोला—'डरपोक गाय! तू रोती क्यों है? तुझे सदा अमर तो रहना नहीं है। बूढ़ी या

बीमार होकर कष्ट पाकर मरती; आज मैं तुझे बिना अधिक कष्ट दिये शीघ्र मार दूँगा।'

गायको तनिक धैर्य हुआ। वह बोली—'आप वनके राजा हैं। आपने मुझसे बात करनेकी कृपा की तो मेरी एक प्रार्थना सुन लें। मैं अपने लिये नहीं रोती। जो जन्मता है, उसे मरना तो है ही।'

सिंह—'ठीक! तुझे मैं छोड़नेवाला नहीं हूँ; किंतु अपनी बात झटपट कह दे।' गौ बोली—'मुझे पहली बार बछड़ा हुआ है। वह अभी घास मुखमें लेना नहीं जानता। मैं उसीके स्नेहसे दुखी हूँ। मुझे थोड़ा समय दें। मैं अपने बछड़ेको अन्तिम बार दूध पिलाकर उसका सिर चाट लूँ और उसे सखियोंको सौंप दूँ। इतना करके आपके पास आ जाऊँगी।'

सिंह—'चतुराई छोड़ दे। तू मुझे ठग नहीं सकती। अपने पंजेमें आये शिकारको मैं छोड़नेवाला नहीं हूँ।'

गायने सत्यकी शपथ की। सिंहने उसकी शपथपर विश्वास कर लिया। उसने सोचा—'इसकी शपथ भी देख लो। एक दिन भोजन न मिले तो मेरा कुछ नहीं बिगड़ता।'

सिंहकी अनुमति पाकर गौ अपने आवासपर लौटी। बछड़ेको दूध पिलाते समय उसके नेत्रोंसे आँसूकी धारा बह चली। माताके रोनेका कारण बछड़ेने पूछा और उसे जानकर बोला—'मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा।'

दूसरी गायोंने नन्दाको अनेक युक्तियाँ तथा उदाहरण देकर समझाया—'अपने प्राण बचानेके लिये झूठ बोलनेमें दोष नहीं है। तू सिंहके पास मत जा।'

नन्दा बोली—'प्राणीको एक दिन अवश्य मरना है। इस नश्वर देहके लिये मैं अपने वचनको झूठा नहीं करूँगी। सत्यकी रक्षा ही प्राणीका श्रेष्ठ धर्म है।'

बछड़ेको दूध पिलाकर, चाटकर, उसे दूसरी गायोंको सौंपकर नन्दा चल पड़ी; किंतु बछड़ा रुका नहीं। वह भी माताके पीछे दौड़ा आया। नन्दा जब सिंहके पास पहुँची, बछड़ा अपनी माता और सिंहके बीचमें खड़ा हो गया। नन्दा गौने कहा—'वनराज! मैं लौट आयी हूँ। आप इस अबोध बछड़ेपर दया करें और मुझे मारकर अपनी क्षुधा शान्त करें।'



सिंह गायकी सत्यनिष्ठासे प्रसन्न होकर बोला—'कल्याणी! जो सत्यपर स्थिर है, उसका अमङ्गल कोई नहीं कर सकता। तुम अपने बछड़ेके साथ जाओ। अब इस वनमें तुम्हें मुझसे अथवा किसी पशुसे कोई भय नहीं है।'

उसी समय धर्मराज प्रकट हुए। उन्होंने नन्दाको बतलाया कि सत्यके प्रभावसे वह बछड़ेके साथ स्वर्गकी अधिकारिणी हो गयी है। सिंह भी उस धर्मात्मा गायके संसर्गसे पापमुक्त हो गया था।

—सु०

(९)
बालचर बालक

परीक्षा चल रही थी। गणितका प्रश्नपत्र बहुत कठिन था। उसका उत्तर लड़कोंको आता नहीं था। किसी लड़केने प्रश्नपत्रको किसी प्रकार परीक्षा-भवनसे बाहर भेजा। बाहरसे उसके मित्रने सब प्रश्न हल करके भेज दिये। उस कमरेमें बैठे सब लड़कोंने उन उत्तरोंकी नकल कर ली। उस कमरेमें एक बालचर था। उसने भी परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके लोभसे नकल कर ली।

रातमें सोते समय नियमानुसार उसने बालचरके नियम पढ़े तो व्याकुल हो गया। नियमके अनुसार

उसे सदा सत्यका पालन करना था; किंतु वह आज असत्य आचरण कर आया था। उसे इतना पश्चात्ताप हुआ कि उसी समय कपड़े पहिनकर पाठशालाके मुख्याध्यापकके घर गया। वहाँ उसने सब बातें बता दीं—'मुझसे अपराध हुआ है। मुझे दण्ड दिया जाय।'

मुख्याध्यापकने कहा—'यह पश्चात्ताप स्वयं तुम्हारा दण्ड है। गणितके प्रश्नोंमें तुम्हारी दुबारा परीक्षा ले ली जायगी।'

दुबारा परीक्षामें वह अच्छे नंबरोंसे उत्तीर्ण हुआ। नकल करनेवाले अन्य छात्रोंको दण्ड मिला।

—सु०

नवधा भक्ति तथा परम धर्म और उनके लक्षण

(१)

(लेखक—श्रीजयनारायणलालजी, एडवोकेट)

(क) नवधा भक्ति और उसके आदर्श

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

पूज्येष्वनुरागो भक्तिः।

स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।

(१) ईश्वरमें अतिशय प्रेम होना भक्ति है। पूज्य-वर्गमें अनुराग होना भी भक्ति है और अर्थपञ्चकके पाँच स्वरूपोंका अनुसंधान करना भक्ति है। पर-स्वरूप (ईश्वर क्या है), स्व-स्वरूप (जीव क्या है), विरोधी-स्वरूप (ईश्वर-मिलनमें बाधा, आवरण क्या है—माया), उपाय-स्वरूप (ईश्वर-प्राप्तिका उपाय क्या है), फल-स्वरूप (ईश्वर-प्राप्तिका फल क्या है)—ये पाँच स्वरूप हैं। ईश्वर सेव्य है, जीव सेवक है, माया विरोधी है, नाना प्रकारकी भक्तियाँ उपाय हैं; ईश्वर ही उपेय है और अनवरत कैङ्कर्य ही ईश्वरप्राप्तिका फल है। इस अर्थपञ्चकके ज्ञानको भक्ति कहते हैं। मनसा, वचसा, कर्मणा, मानसिक, वाचिक, कायिक भगवत्सेवा, भागवतसेवा, जीवसेवा ही ईश्वरभक्ति है। निष्काम भावसे भगवत्-पादारविन्द-सेवनका नाम भक्ति है। मुख्यतः भक्तिके तीन विभाग अर्थात् 'नवधा', 'प्रेम-लक्षणा' और 'परा' विचारणीय हैं। नवधा=नौ प्रकारकी भक्तिके नौ लक्षण हैं। श्रीमद्भागवत तथा रामचरितमानसमें नवोंके भेद विशद-रूपसे वर्णित हैं।

यहाँ श्रीमद्भागवतमें वर्णित नवधा भक्तिका कुछ विवरण दिया जाता है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

सादर्श व्याख्या

(१) श्रवणम्—भगवत्कथा सुनना।

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥

(१) तुम्हारी कथा साक्षात् अमृत है।

(२) संतप्त प्राणियोंके लिये परम शान्तिदायक जीवन है।

(३) ऋषियोंने कथामृतकी भूरि प्रशंसा की है।

(४) यह अमृत श्रोताओंके समस्त पापका नाश कर देता है।

(५) श्रवणमात्रसे मङ्गल प्रदान करता है।

(६) यह समस्त ऐश्वर्यसे भरा हुआ है।

(७) जो इस कथामृतका दान करते हैं, दूसरोंको सुनाते हैं, वे पृथ्वीपर जीवन-दान देते हैं, महादानी हैं।

(८) 'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।' जहाँ भगवान्‌की कथा होती है, वहाँ भगवान्‌का निवास होता है।

आदर्श श्रोता

१—सनकादि—

कथा सुनहिं तजि ध्यान।

'पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः'

यदि आपकी कथासे कान भरता रहे तो नरक-वास भी स्वीकृत है।

२–श्रीहनुमान्जी—

'यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनम्।'

जहाँ-जहाँ श्रीरामजीकी कथा होती है, वहाँ-वहाँ श्रीहनुमान्जी करबद्ध नतमस्तक चुपचाप खड़े-खड़े कथा-रसका पान करते हैं। इसीलिये तो जब राघवेन्द्र सरकार गुप्तार-घाटपर सभीको साकेत भेज रहे थे, श्रीहनुमान्जीने वहाँ जानेसे अस्वीकार किया और तबसे यहीं नाम-लीलामें रत रहते हैं।

३–राजा पृथु—

'विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः'

मुझे कथा सुननेके लिये दस हजार कान मिलें।

४–श्रीशुकदेवजी, परीक्षितजी, उद्धवजी, जनमेजयजी प्रभृति आदर्श श्रोतागण हैं।

(२) कीर्तनम्–भगवान्का नाम-कीर्तन तथा गुण-कीर्तन दोनों ही श्रेयस्कर हैं। इनके आदर्श कीर्तनकार १–श्रीनारदजी हैं, जो वीणापर कीर्तन करते तीनों लोकोंमें भ्रमणशील रहते हैं। २–श्रीशंकरभगवान् अनवरत कथा कहते रहते हैं और ताण्डवनृत्यपर कीर्तन भी करते हैं। ३–शेषभगवान् सहस्र जिह्वासे काम लेते हैं। ४–सरस्वतीजी कविता करती रहती हैं, कराती रहती हैं। १ नारदजी, २ शंकरजी, ३ शेषजी, ४ सरस्वतीजी।

(३) स्मरणम्–आदर्श=ध्रुव, प्रह्लाद, विदुर। वस्तुतः ध्यान, उपासना, वेदन, स्मरण—ये पर्याय शब्द हैं। ये बराबर होते रहने चाहिये। एक क्षण भी भगवत्-स्मृति न छूटे।

'असकृदुपदेशान्निदिध्यासितव्यः'

असकृत=बराबर। निदिध्यासन=अनेक बार ध्यान करना। भगवत्-विषयकी स्मृतिको उपासना कहते हैं। (आनन्दभाष्य)

(४) पादसेवनम्–

१–श्रीसीताजी—

छिन छिन प्रभु पद कमल बिलोकी।

२–निषादराज—

पद पखारि जल पान करि।

३–अङ्गद-हनुमान्—

बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चापत बिधि नाना॥

४–जटायु—

'सुमिरत राम चरन चिन्ह रेखा।' इनको रेखाओंका ही ध्यान था।

५–बालि—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।

(५) अर्चनम्–

धन्नाजाट, मीराँबाई, नामदेवजी। भगवान्के अवतार पाँच प्रकारके हैं, पाँच रूप हैं—पररूप, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा। कलिकालमें केवल अर्चा-विग्रह ही लभ्य हैं। पुनः अर्चाविग्रह आठ प्रकारके होते हैं। यथा—

'शैली[1], दारुमयी[2], लौही[3], लेप्या[4], लेख्या[5], च सैकती[6],।
मनोमयी[7], मणिमयी[8], प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥'

अर्चा-विग्रह ही ऐसा अवतार है, जिसकी सेवा शरीरसे हो सकती है। संध्या, आरती, भोग, पुष्प, धूप-दीप-दान। काम, क्रोध और असेव्य भोजनका त्याग—ये अर्चनके आवश्यक अङ्ग हैं।

(६) वन्दनम्–

'सकृत प्रनाम किएँ अपनाए'—विभीषणको।

(७) दास्यम्–

श्रीहनुमान्जी, भरतजी, लक्ष्मणजी, विदुरजी।

(८) सख्यम्—

सखाभावके आदर्श भक्त—गुह, सुग्रीव, विभीषण, गोपबालक, अर्जुन, उद्धव आदि हैं।

(९) आत्मनिवेदनम्—

गोपिकाएँ—इनका प्रेम दिव्य था। ये भगवान्के सुखमें ही अपना सुख मानती थीं 'तत्सुखसुखित्वम्'। इनका विशुद्ध एकाङ्गी निष्काम, अनन्य प्रेम ही इनके विषयमें 'काम'

शब्दसे प्रयुक्त हुआ है। इनमें काम (इच्छा या दुर्भाव) का लेशमात्र न था।

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

राजा बलिने भी सर्वस्व और शरीर दान करके आत्म-निक्षेपके उदाहरणको अचल-अमर उज्ज्वल रक्खा।

(ख) परम धर्म और उसके आदर्श

(१) 'अहिंसा परमो धर्मः' 'यतो धर्मस्ततो जयः।'

(२) परम धरम श्रुति बिदित अहिंसा।
परनिंदा सम अघ न गरीसा॥

(३) परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(४) सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(५) सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(६) कोटिं त्यक्त्वा हरिं भजेत्'

बारि मथें बरु होइ घृत सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

(७) सिर भर जाउँ उचित अस मोरा।
सब तें सेवक धर्म कठोरा॥

अहिंसा परम धर्म है, उसके आदर्श महाराजा रन्तिदेव, गौतमबुद्ध, महात्मा गांधी, तथा जैन हैं।

चराचर किसी भी जीवका हनन करना हिंसा है। मनसा, वचसा, कर्मणा किसी भी जीवको कष्ट पहुँचाना भी हिंसा है। हिंसाके समान पाप नहीं और अहिंसाके समान दूसरा धर्म नहीं है।

वेदोंमें अहिंसाको परम धर्म और परनिन्दाको घोर पाप कहा गया है (मानस)। मनसे किसीकी हानि सोचना, वचनसे किसीको दुर्वाद या परुष वचन कहना या निन्दा करना और कर्मसे किसीको किसी प्रकारका आघात पहुँचाना हिंसा है। गौतमबुद्धने अपने ढंगपर अहिंसाका पाठ संसारको पढ़ाया। जैनोंने भी इसको अपनाया और महात्मा गांधीका भी यह अमोघ अस्त्र था। भगवान् रामके विषयमें कहा गया है कि 'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।' महाराजा रन्तिदेवने यह वर माँगा कि 'समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित होकर उन सबके सारे दुःख मैं ही भोगूँ—

आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः।

४८ दिनतक वे निराहार रहकर अन्न-जल प्राप्त होनेपर बाँटते गये। जीवदयाका क्या ही उच्च आदर्श चरितार्थ किया उन्होंने। कमाल है।

एक दूसरे दृष्टिकोणसे भगवच्छरणागति ही परम धर्म है।

गीताकार आदेश करते हैं—'अर्जुन! सर्व सामान्य धर्मों या पितृऋण, देवऋण, ऋषिऋण चुकानेवाले धर्मोंको त्यागकर मेरी ही शरणमें तू आ जा; मैं तुझे सभी पापोंसे मुक्त कर दूँगा।' भगवान् राम भी प्रतिज्ञा करते हैं कि "जो व्यक्ति एक बार भी मैं 'आपका हूँ' कहकर प्रपन्न हो जाय, उसको मैं सब जीवोंसे अभय प्रदान करता हूँ।" एतावता भगवच्छरणागति ही मानवजीवनका परम धर्म है। शरणागति-के छः लक्षणोंको अपनाना परम धर्म है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये, षड्विधा शरणागतिः॥

जो भगवान्को अच्छा लगे, वही करना, जो बुरा लगे न करना, भगवान् रक्षा करेंगे—ऐसा दृढ़ विश्वास रखना, भगवान्को रक्षकरूपमें वरण करना एवं आत्मसमर्पण और दीनता। सब कुछ त्याग केवल भगवान्के चरणारविन्दमें ही अनुराग करना मानव-जीवनका सर्वोच्च लक्ष्य है। इसके आदर्श सभी युगोंमें असंख्य हैं। सुग्रीव, विभीषण, अर्जुन, उद्धवादि दृष्टान्त हैं। एक और विचारसे सेवा-धर्म भी कठोर होते हुए निर्वाह किये जानेमें धर्म, परम धर्मका पालन होता है। जीव-सेवा ही भगवत्-सेवा है और सब सेवाओंका शिरोमणि है। श्रीभरतलालजी, श्रीलक्ष्मणजी, श्रीहनुमंत-लालजी सेवक-धर्मके पालनकर्त्ता आदर्शरूपमें हैं। अन्नदान, वस्त्रदान, अभ्यागत-सत्कार, दुखीको द्रव्यदान, विद्यादान, ज्ञान-दान, कथा-दान, रोगीकी शारीरिक सेवा, कुमार्गीको सुमार्गपर लाना—यह सब परम धर्म है और अन्तमें सबके कल्याणके लिये ईश्वर-प्रार्थना भी परम धर्म है।

शान्तिपाठ—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

(२)

नवधा भक्ति

(लेखक—श्रीगजानन्दप्रसादजी बाँकुरा)

सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति सभी देहधारियोंके ध्येय हैं। प्राणिमात्रकी नाना प्रकारकी चेष्टाओंका अन्तिम लक्ष्य दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति ही है; क्योंकि यह 'देहधारी' संज्ञासे सम्बोधित जीव ईश्वरका अंश, अविनाशी, चेतन, अविकार और सुखराशि है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

किंतु मायाके वश होनेके कारण यह अनेकों कष्टोंका अनुभव करता है—

सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मर्कट की नाईं॥
जड चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

यदि ग्रन्थिको छोड़नेका प्रयास करता भी है तो माया अनेकों विघ्न करने लगती है—

छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया॥
होइ बुद्धि जौं परम सयानी। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

ईश्वरकी कृपासे यदि मायासे परे होकर ग्रन्थि छोड़नेमें सफल हो गया तो जीव कृतार्थस्वरूप हो जाता है—

छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तब यह जीव कृतारथ होई॥

किंतु श्रीरामचन्द्रजीके भजनके बिना यह सम्भव नहीं है। यथा—

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥

मुमुक्षु ऐसा जानकर सादर, सप्रेम और भक्तिपूर्वक भजन करते हुए आनन्दसिन्धु भगवान्‌को प्राप्त कर लेते हैं। भक्तिकी प्राप्ति होनेपर मोक्ष-सुख तो आप ही आ जाता है। यथा—

तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥
जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥
अस बिचारि हरि भक्ति जे करहीं। ते गोपद इव भव निधि तरहीं॥
भोजन करिअ तृपिति हित लागी। जिमि सो असन पचवै जठरागी॥
असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥

वेद-पुराण, श्रुति-स्मृति, रामायण आदि सत्-शास्त्रों तथा महाकाव्योंमें भक्तिका विशद निरूपण किया गया है। श्रीराघवेन्द्र सरकार श्रीरामचन्द्रजी शबरीको अपनी नवधा भक्ति बतलाते हुए कहते हैं—

नवधा भक्ति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥

गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

प्रथम भक्ति संतोंका सङ्ग है

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गए बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥
अस बिचारि जो करि सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥

भगवान् संतोंके वशमें रहते हैं। अतएव जहाँ भक्त रहते हों, वहीं जाकर हमें भगवान्‌को प्राप्त करना इष्ट है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

सुनु मुनि संतन के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उनके बस रहऊँ॥

यहाँतक प्रथम भक्तिका निरूपण हुआ।

दूसरी भक्ति भगवान्‌के कथा-प्रसङ्गमें प्रेम है।

भगवत्कथाका श्रवण करना भक्तिका ही एक अङ्ग है।

सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥

क्योंकि—

राम कथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीकी कथा मन्दाकिनी गङ्गा है, सुन्दर (भक्तिसे पूर्ण निर्दोष) चित्त चित्रकूट है और प्रेम ही सुन्दर वन है, जिसमें श्रीसीतारामजी विहार करते हैं। अतः भक्तजन—

सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु साधु समाज प्रयाग॥

तीसरी भक्ति है अभिमानरहित होकर श्रीगुरुके चरणकमलोंकी सेवा।

गुरु ही इस नर-देहरूपी नैयाको खेनेवाले हैं। गुरुकी सेवाके बिना मोहका नाश नहीं होता। मोहके नाश बिना भगवान्‌के चरणोंमें दृढ़ अनुराग नहीं होता। गुरुकी महिमाका वर्णन बालकाण्डमें वन्दनाके रूपमें उद्‌धृत है—

बंदउँ गुरु पद कंज, कृपासिंधु नर रूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर॥

इस सोरठेके नीचे चार चौपाई और एक दोहेतक इसकी अपार महिमाका वर्णन किया गया है।

श्रीगुरु अज्ञानको ज्ञानमें परिणत कर देते हैं। मैं कौन हूँ, परमात्मा कौन है—अपने स्वरूप एवं परम तत्त्वको जाननेकी युक्ति श्रीगुरु-प्रसादसे सम्भव है; इसीसे शास्त्रोंने गुरुको साक्षात् विष्णु, ब्रह्मा और महेश कहा है। अतएव उनकी कृपाके बिना कोई भी प्राणी संसार-सागरसे पार नहीं हो सकता।

गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥
बिनु गुरु होइ कि ग्यान ग्यान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद पुरान सुख कि लहहिं हरि भगति बिनु॥
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयउ पुनीत आजु यहु गेहू॥
जे गुरु पद अंबुज अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी॥

इसलिये तीसरी भक्ति गुरुके चरणोंकी अभिमानरहित सेवा कही गयी है।

चौथी भक्ति 'मम गुन गन करइ कपट तजि गान' को कहा गया है—

कपट त्यागकर श्रीराम-कथाका गान करनेवाले साधक ही भगवान्‌की भक्ति और दर्शनके परम अधिकारी हैं। भगवान् विभीषणके शरणागति-प्रसङ्गपर सुग्रीवसे कहते हैं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

मुनि, साधक भक्तजन भगवान्‌की भजन-कथाको भुक्ति-मुक्ति-भक्तिदायिनी कहते हैं—

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥
कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥
कलिजुग केवल नाम अधारा। सुमिरि सुमिरि नर उतरहिं पारा॥
कलिजुग तरन उपाय न कोई। राम भजन रामायन दोई॥
रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

पाँचवीं भक्ति है—राम-नाम-मन्त्रका जाप और राममें दृढ़ विश्वास।

राम-नामके जपके समान और कोई महान् साधन नहीं। अधम-से-अधम भी श्रीराम-नामका जप करनेपर मुक्त हो जाते हैं। श्रीरामनाम भक्तका तो जीवन ही है।

जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥
राम नाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा॥
राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं॥
नाम सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
मंत्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥
जाकर नाम लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥
बिबसहुँ जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव बारिधि गोपद इव तरहीं॥
बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥

श्रीरामनामका जाप करनेवालेके हृदयमें श्रीराम स्वयं निवास करते हैं। यथा—

राका रजनी भगति तव, राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडुगन बिमल बसहु भगत उर ब्योम॥

श्रीहरिने मुनि नारदको वरदान देते हुए रामनाममें एवं इसके भजनमें अतुलित शक्ति भर दी है। जो रामनाम-मन्त्रका सादर जाप करनेवाले हैं, वे भगवान्‌की पञ्चम भक्तिको प्राप्त पुरुष हैं। उनके हृदयरूपी गगनमें भगवान् सदा निवास करते हैं।

भजन करनेके साथ विश्वास होना परमावश्यक है। विश्वास हुए बिना रामको प्राप्त करना असम्भव है। यथा—

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्राम॥
'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।'
'प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।'

कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरि भजन न भव भय नासा॥



प्रेम-धर्म-रूप सौन्दर्य-माधुर्य-सिन्धु भगवान् श्रीराम

इसलिये विश्वासपूर्वक नाम-मन्त्रका जाप करना चाहिये। यह भगवान्‌की पञ्चम भक्ति है।

छठी भक्ति-दम, शील, कर्म-बहुलतासे विरक्ति और सज्जन-धर्ममें निरन्तर रति।

विषयोंके प्रति इन्द्रियोंको न जाने देना 'दम' है। विषयोंके प्राप्त होनेपर भी उनकी ओर मनके न जानेका— विषयोंकी आत्यन्तिक अनिच्छा और त्यागका नाम उपरति (विरति) है। अथवा भगवत्सेवाको छोड़कर सांसारिक कर्मोंमें प्रीति न होना विरति है।

सज्जनका अर्थ है सत्पुरुष—संत। संतके धर्म या लक्षण भगवान् श्रीरामचन्द्र स्वयं श्रीभरतजीको बतलाते हैं—

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमल चित दीनन पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विजपद प्रीति धर्म जनयत्री॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

इन सज्जनोंके धर्मोंमें निरन्तर रति होना—इसी प्रकारके आचरण करना छठी भक्ति है।

सातवीं भक्ति है-जगत्‌भरको समभावसे मुझसे (भगवान्‌से) ओतप्रोत (राममय) देखना और संतोंको मुझसे (भगवान्‌से) भी अधिक मानना।

जैसे तुलसीदासजीने कहा है—

सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥
'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि॥'

वस्तुतः सारा विश्व राममय ही है। कोई भी वस्तु, स्थान, गुण, प्राणी, काल, व्यक्ति, परिस्थिति एवं आकार-प्राकार ऐसा नहीं है, जो रामसे रहित हो। 'कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।' भगवान् शंकर भी कहते हैं—'अग जगमय सब रहित बिरागी।' व्यष्टि और समष्टि, पञ्चीकृत और अपञ्चीकृत—सभी तत्त्वोंमें भगवान्‌की ही सत्ता व्याप्त है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने अर्जुनसे श्रीमद्भगवद्गीतामें यही कहा है—

'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव', 'वासुदेवः सर्वमिति' 'सूतमें सूतके मणियोंकी भाँति मैं ही सबमें ओतप्रोत हूँ।' 'सब कुछ वासुदेव ही है।'

नारायणोपनिषद्‌में कहा गया है—

नारायणाद् द्वादशादित्याः। सर्वे रुद्राः सर्वे वसवः सर्वाणि भूतानि सर्वाणिच्छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते। नारायणात् प्रवर्तन्ते। नारायणे प्रलीयन्ते।

अथ नित्यो नारायणः। ब्रह्मा नारायणः। शिवश्च नारायणः। शक्रश्च नारायणः। कालश्च नारायणः। दिशश्च नारायणः। विदिशश्च नारायणः। ऊर्ध्वं च नारायणः। अधश्च नारायणः। अन्तर्बहिश्च नारायणः।

नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। निष्कलङ्को निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्। य एवं वेद स विष्णुरेव भवति स विष्णुरेव भवति॥

इस प्रकार जो कुछ है, सब नारायण ही है। श्रुति-स्मृति-पुराणादि सभीका मत है कि श्रीनारायणस्वरूप श्रीरामचन्द्रजी सबमें समानरूपसे व्याप्त हैं। किंतु जो परमात्माके सबमें एक समान व्यापक होनेका दृढ़-निश्चय करके सबका आदर तथा हित करता हुआ भगवान्‌की अनन्य भक्ति करता है, उसीको इस तत्त्वका प्रत्यक्ष बोध होता है और वही सबके परमात्मामें तन्मय होता है।

भगवान् संतोंको अपनेसे भी अधिक माननेको भी अपनी सातवीं भक्ति बतलाते हैं। जो भक्तिप्राप्त पुरुष सबमें परमात्माका और परमात्मामें सबका समत्व-भावसे दर्शन करता है, वह सातवीं भक्तिसे सम्पन्न है; परंतु संतोंको भगवान्‌से भी अधिक माननेका तात्पर्य यह है कि संतोंके द्वारा ही भगवान्‌के तत्त्व-स्वरूपका प्रकाश तथा प्रचार होता है।

श्रीरामचरितमानसमें संतोंकी महिमाका वर्णन किया गया है। यथा—

'राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥'
'राम ते अधिक राम कर दासा।.........'

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें लिखा है—

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्यपि कालेन विष्णुभक्ताः क्षणादहो॥
(प्रकृतिखण्ड ६। ११०)

तुलसी रामहु ते अधिक, राम भगत जिय जान।
रिनियाँ राजा राम भे, धनिक भये हनुमान॥

(दोहावली १११)

इस प्रकार सबमें भगवान्‌को देखनेवाला तथा रामसे अधिक रामके भक्तको माननेवाला समत्वभावयुक्त भक्त सातवीं भक्तिको प्राप्त है।

आठवीं भक्ति है—यथालाभ-संतोष तथा स्वप्नमें भी पर-दोष न देखना।

बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥
कोउ बिश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरिअ॥

(दोहावली २७५)

संतोषके बिना क्या कोई शान्ति पा सकता है? चाहे करोड़ों प्रकारसे जतन करते-करते कोई मर जाय, किंतु जलके बिना सूखी जमीनपर क्या कभी नाव चल सकती है?

कभी स्वप्नमें भी दूसरोंके दोष नहीं देखने चाहिये न दूसरोंकी कभी निन्दा ही करनी चाहिये। बुराई देखनेका कुप्रयास ही मनुष्यको बुरा बना देता है। फिर बुरे विचारवालेको भक्ति कैसे प्राप्त होगी? दोषदर्शन करनेवाला मनुष्य कभी भी भगवान्‌को सर्वत्र नहीं देख पाता। दोष देखना तथा चुगली-निन्दा करना तो बड़ा पाप है। यथा—

'अघ कि पिसुनता सम कछु आना' (मानस)
तुलसी जे कीरति चहहिं पर की कीरति खोइ।
तिनके मुहँ मसि लागिहै मिटिहि न मरिहै धोइ॥

(दोहावली ३८९)

श्रीरामकी दयासे प्राप्त जीविकोपार्जनपर संतुष्ट रहना और सबको राममय जानकर परदोष-दर्शनका त्याग करना भगवान्‌की आठवीं भक्ति है।

नवम भक्ति है—सभीके साथ छलविहीन (मन-वचन-कर्मसे) सत्य तथा सरल व्यवहार करना, भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास करना और कभी हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंमें उद्विग्न न होना।

एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास॥

राम ही गति, मति हों, राममें ही रति हो एवं दृढ़ विश्वास हो।

सबको राममय देखकर सबसे प्रेमका व्यवहार करना चाहिये और वास्तवमें सबमें भगवान्‌को देखनेवाला किसीके साथ असत्य तथा छल-कपटका व्यवहार कर ही कैसे सकता है। और जब सब परमात्मा ही है। तब भगवान्‌पर विश्वास होना तथा अनुकूलता-प्रतिकूलतामें हर्ष-शोकका विकार न होना भी स्वाभाविक ही है। ऐसे लक्षणोंसे सम्पन्न भक्त नवम भक्तिको प्राप्त है।

गीता १२ वें अध्यायमें १२ से २० वें श्लोकतक भक्तोंके लक्षणोंका बहुत ही सुन्दर निरूपण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके द्वारा अर्जुनके प्रति किया गया है। वह अध्ययन, मनन तथा धारण करनेयोग्य है।

वे ही बुद्धिमान् हैं, वे ही परम सुखी हैं, जिन्होंने श्रीरामकी अनन्य भक्तिका सम्पादन किया है। श्रीराम कहते हैं—

तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि 'गति मोरि' न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
'भगति' हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय अस मम बानी॥
'राम भगति' मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे 'मनि' लागि सुजतन कराहीं॥

काकभुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं—

श्रीरामको भक्ति प्यारी है। माया बेचारी तो निश्चय ही नाचनेवाली (नर्तकी मात्र) है।

भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपइ अति माया॥
राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥
अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जाचहिं भगति सकल गुन खानी॥
सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धांत बिचारि॥

(मानस, उत्तरकाण्ड ११९ (क))



धर्म और भागवतकी मर्मकथा

(लेखक—डा० महानामव्रत ब्रह्मचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

द्वापर और कलियुगके संधिकालमें श्रीमद्भागवत-ग्रन्थका आविर्भाव हुआ है। इसी संधिकालमें जन्म लिया था महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासने। युगसंधिकालके आघातसे सम्भव था कि यह जाति उसी प्रकार नष्ट हो जाती, जिस प्रकारसे ग्रीस, रोम, मिस्र, बैबिलोनियाकी महान् सभ्यताएँ नष्ट हो गयीं; परंतु महर्षि वेदव्यासके अनुपम दानसे यह सभ्यता बच गयी।

महर्षि वेदव्यासने वेदोंका विभाग किया। अनेकों पुराण और उपपुराणोंकी रचना की। महत्काय महाभारत महाग्रन्थका प्रणयन किया। महाभारतके भीतर श्रीमद्भगवद्गीताकी रचना की। गीताको वेदरूपी गायका दुग्ध कहा है और खुले हाथों इस दुग्धको परोसकर महर्षि वेदव्यासने इस युगसंधिकालमें आर्यजातिकी कल्याणकारिणी संस्कृतिकी रक्षा की है।

इन ग्रन्थोंकी रचना करके भी श्रीकृष्णद्वैपायनके चित्तको शान्ति प्राप्त न हुई। मानो किसी महामूल्यवान् बातकी घोषणा अभी बाकी रह गयी थी। एक दिन इसी चिन्तासे विषण्णचित्त हुए वे सरस्वतीके तीरपर बैठे थे। उसी समय देवर्षि नारदका शुभागमन हुआ। देवर्षि और महर्षिके बीच मधुर आलाप—आलोचना हुई। क्यों इतना करनेपर भी उनके चित्तको शान्ति नहीं मिली, यह महर्षिने देवर्षिसे जानना चाहा। देवर्षिने उनको चित्तकी अशान्तिका कारण बतलाया।

देवर्षिने कहा कि इस युगसंधिकालमें जातिके कल्याणके लिये आपने बहुत कुछ किया है, परंतु गीतामें जिनके श्रीमुखकी वाणी सुनायी है, उनकी सर्वाङ्गीण जीवन-लीला कीर्तन किये बिना जीवका परम कल्याण नहीं हो सकता; क्योंकि श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णके प्रिय भक्तगणके जीवनमें ही गीताकी महावाणी मूर्तिमान् हो रही है। अतएव श्रीकृष्णकी समस्त लीला-कथाका सर्वाङ्गसुन्दर रूपमें वर्णन कीजिये। श्रीमद्भागवतकी रचना कीजिये। देवर्षि नारदके कृपानुग्रहसे महर्षि वेदव्यासने श्रीमद्भागवतके शास्त्रको प्रकट किया। भागवतकी रचना करके उनको तृप्ति मिली। श्रीमद्भागवतका आस्वादन करके सारे भक्तगण आनन्दमें मग्न हो जाते हैं। जीवको परमशान्ति प्राप्त करनेके लिये सहज सुन्दर पथ खुल जाता है।

इस ग्रन्थमें निश्चय ही ऐसी कोई बात है, जो पूर्ववर्ती ग्रन्थोंमें प्रकट नहीं हुई है। श्रीमद्भागवतमें वह अभिनव बात क्या है, इसकी विवेचना संक्षेपसे इस निबन्धमें की जायगी।

श्रीमद्भागवत एक शास्त्र है। अतएव सब शास्त्रोंका जो मूल अभिधेय है, वह श्रीमद्भागवतमें होगा ही। इसके सिवा श्रीमद्भागवतमें उसकी एक निजी अभिधेय वस्तु है। इसलिये पहले निखिल शास्त्रोंके धर्मतत्त्वकी संक्षेपमें आलोचना करके तदनन्तर श्रीमद्भागवतके रहस्यकी बात कही जायगी।

निखिल शास्त्रोंके धर्मतत्त्व

निखिल शास्त्रोंका सार है श्रुति—वेद और उपनिषद्। उपनिषद् ही वेदान्त है। वेदान्त विश्वमानवको पुकारकर कहता है—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः—हे अमृतके पुत्रगण! सुनो। सबका आह्वान करके सबके नित्यकल्याणका वेदान्त जगत्को उपदेश देता है।

श्रुतिकी धर्मकथा यही है कि हमारा जीवन दुःखमय है, दुःख दूर करनेके लिये हम सदा चेष्टाशील हैं, हमारी लौकिक चेष्टासे दुःख दूर नहीं होता, कुछ समयके लिये आंशिक भावसे दूर होता है। दुःखका सदाके लिये निर्वापण, आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। सब दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिका उपाय श्रुतिने जगत्को बताया है।

शास्त्र हमारे परम सुहृद् हैं। हम दुःखकी ज्वालासे जर्जर हो रहे हैं। उससे छुटकारा पानेके लिये सदा सचेष्ट हैं, परंतु किसी भी प्रकारसे दुःखके आघातसे अपनी रक्षा नहीं कर पाते। इस दुःखमें शास्त्र हमारे सर्वश्रेष्ठ सहायक हैं। शास्त्र वैज्ञानिक प्रणालीसे अपने विषयका प्रतिपादन करते हैं। पहले दुःखका कारण निर्धारित करते हैं, पश्चात् उसके निराकरणका उपाय बतलाते हैं।

श्रुति दुःखका कारण बतलाती है—'नाल्पे सुखमस्ति।' अल्पतामें सुख नहीं है। सीमाबद्धता ही दुःखका हेतु है। संकीर्णता सारी अशान्तिका मूल कारण है। श्रुतिने दुःख दूर करनेके उपायकी भी घोषणा की है—'यद्वै भूमा तत्सुखम्'। भूमाके साथ मिलन होना ही सुख है। असीमके साथ योग होनेपर ही दुःख दूर हो सकता है। असीम, अनन्त, शाश्वत वस्तुका नाम है—भूमा या ब्रह्म। इस ब्रह्म-वस्तुके साथ योग होनेपर जीवके सारे दुःख सदाके लिये निवृत्त हो जाते हैं। 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ है 'सबसे बड़ा'। बड़ेको पानेपर ही सारे दुःखोंकी चरम निवृत्ति हो जाती है।

ब्रह्मका स्वरूप क्या है, किस उपायसे उसकी प्राप्ति हो सकती है—यही वेद-वेदान्तका सार कथन है। ब्रह्म-प्राप्तिके उपायका नाम 'उपासना' है। उपासनाका अर्थ है 'निकट आना'। जितना ही जीव ब्रह्मके निकट आयेगा, उतना ही उसके दुःखका अवसान होगा। निकटतर होते-होते जब वह ब्रह्मभूत हो जायगा, तभी जीव दुःखातीत हो जायगा। यही निखिल शास्त्रका सार धर्म है।

श्रीमद्भागवतकी विशेष बात

सब शास्त्रोंका जो अभिधेय है, वह श्रीमद्भागवतमें भी है। इसके अतिरिक्त उसमें अपनी निजी एक नयी बात है। वह बात और किसी शास्त्रमें नहीं है। श्रीमद्भागवत शास्त्रके प्रधान श्रोता कलिग्रस्त संसारी जीव हैं—'संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यम्।'

अति करुणाके वश होकर श्रीमद्भागवत कलिग्रस्त दुःखसंतप्त सांसारिक जीवोंसे कहता है कि 'तुमलोग इतना दुःख भोग कर रहे हो। उपासना करके ब्रह्म-सांनिध्य प्राप्त करनेकी योग्यता तुमलोगोंमें नहीं है। मैं आया हूँ तुम्हारे लिये अभिनव संवाद। सुनो—

(१) भगवान् आये हैं

जीव! तुम असमर्थ हो। उनके पास जानेकी शक्ति तुममें नहीं है। यह जानकर परब्रह्म करुणा करके तुम्हारे पास आये हैं। तुम गोलोक जानेमें असमर्थ हो, इसी कारण गोलोकविहारी आये हैं तुम्हारे लिये श्रीवृन्दावनमें यमुनाके तटपर। यह श्रीमद्भागवतकी पहली वाणी है—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषीं तनुमाश्रितम्।

संसारके प्रति अशेष अनुग्रह-परायण होकर मानुषी-तन धारण किया है श्रीभगवान्ने। आओ, उनको देख जाओ व्रजमें, वंशीवटमें, गोचारणके मैदानमें। कितनी दूरकी वस्तु आज घरकी वस्तु हो गयी है। वे हैं—यह पुरानी बात है; वे आये हैं—यह भागवतीय वार्ता है।

(२) भगवान् पुकार रहे हैं

श्रीमद्भागवतने संवाद दिया है कि 'जीव! तुम उनको पुकारना नहीं जानते। तुम्हारे क्षीण कण्ठकी ध्वनि उनके गोलोकके आसनतक नहीं पहुँचती। तुम अब कहाँतक पुकारोगे? कान लगाकर सुनो। सुनो, वे तुमको पुकार रहे हैं। मधुर मुरलीकी तानमें मुरलीधर तुम्हें व्याकुल प्राणसे आह्वान कर रहे हैं। तुम्हारी अपेक्षा सहस्रगुना आर्त्तभाव लेकर वे तुमको अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। आकर्षण करते हैं, इसी कारण वे 'कृष्ण' हैं। केवल मधुर तानमें ही वे पुकारते हैं। इस कारण वे मुरलीधर हैं। उनकी वंशी—'सर्वभूतमनोहरम्' है। सब जीवोंकी मनोहारिणी है, मन-प्राणको आकर्षण करनेवाली है। यह श्रीमद्भागवतकी दूसरी वाणी है। वे हैं, वे आये हैं और वे पुकार रहे हैं।

(३) भावनामें भावनातीत

वेदान्त ब्रह्मकी बात कहता है। परंतु क्या कहता है?—कुछ भी कहा नहीं जा सकता। वह कहता है कि ब्रह्म अशब्द है। वह शब्दके द्वारा अवाच्य है, केवल इतना ही कहा जा सकता है। वह अरूप, अस्पर्श और अव्यय है। वह इन्द्रियातीत है, मनके अतीत है, बुद्धिके परे है। ध्यान-धारणाके परे है—यहाँतक कि आलोचनासे भी परे है अथवा उससे ऊपर स्थित है। इस भावातीत, अचिन्त्यके विषयमें चिन्तन करना साधारण जीवके लिये भयकी बात है। चिन्तनके द्वारा जिसका संधान नहीं प्राप्त होता, उसको चिन्तनका विषय कौन बना सकेगा? श्रीमद्भागवत बतलाता है—'जीव! भयकी बात नहीं है। भावातीत प्रभु भावनाके बीच उतर आये हैं। ध्यानातीत सत्ता ध्यानके बीच आ गयी है। निर्गुण, निर्विशेष, निराकारकी भाषा हमारे वशकी नहीं है, हम उसको पढ़ना नहीं जानते। अज्ञेय (न जानी हुई) भाषा आज ज्ञेय (जानी हुई) भाषामें अनूदित हो गयी है। निर्गुण, निराकार, निर्विशेष परब्रह्मका सगुण, साकार, सविशेष अनुवाद ही हैं—व्रजेन्द्र-

नन्दन श्रीकृष्ण। जो ब्रह्म हैं, परमात्मा हैं, निखिल जीवोंके आत्माके आत्मा हैं, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनमें नन्दनन्दन हैं।

कृष्णमेनमवेहि त्व-
मात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र
देहीवाभाति मायया॥
(श्रीमद्भागवत १०।१४।५५)

श्रीकृष्ण 'गूढ़कपट-मानुष' हैं। मानुष होकर भी वे मानुष नहीं हैं। वे परात्पर ब्रह्मके सर्वश्रेष्ठ मानवीय अनुवाद हैं, यही भागवतकी तृतीय वाणी है। जो अचिन्त्य है, वह चिन्तामणि होकर भजनका धन बन गया है। ब्रह्म अकथनीय है। यदि ईश्वरके विषयमें कुछ कहना-सुनना है तो श्रीकृष्णकी कथा ही कहनी-सुननी पड़ेगी। श्रीभगवान्‌की कथा कहनी-सुननी हो तो श्रीमद्भागवतका ही आश्रय लेना पड़ेगा।

(४) कोई अनधिकारी नहीं

सभी शास्त्र कहते हैं कि भगवान्‌को प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है। इसमें सबका अधिकार नहीं है। स्त्री-शूद्रका अधिकार नहीं है। वैश्य-क्षत्रियका अधिकार नहीं है। ब्राह्मण भी जन्मसे शूद्र होनेके कारण अनधिकारी है। परंतु उपनयन होनेके बाद नित्य गायत्री-मन्त्रका जप करनेपर वह द्विज होता है। पश्चात् वेद-पाठ करके वह विप्र होता है। वेदमें जो ब्रह्मतत्त्व है, उसको जान लेनेपर ब्राह्मण होता है। वही व्यक्ति अधिकारी है। अन्य सब अनधिकारी हैं। यह पुरानी बात है।

श्रीमद्भागवतने नया संदेश दिया है। सबको पुकारा है। किसीको भी छोड़ा नहीं है। कहा है कि ईश्वरको प्राप्त करनेके अधिकारी सभी नर-नारी हैं। ईश्वरको प्राप्त करनेमें केवल एक ही वस्तुकी आवश्यकता होती है, जो सबके पास है। हृदयके सहज शुद्ध प्रेमके द्वारा ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती है।

सहज शुद्ध प्रेम क्या है?

सहज प्रेमका अर्थ है वह प्रेम, जिसके द्वारा मनुष्य माता-पिता, स्त्री-पुत्रादिसे प्रेम करता है। यह सहज—सहजात प्रेम आत्माका स्वाभाविक धर्म है। आत्माके तीन धर्म हैं—अस्ति, भाति और प्रियत्व। यह प्रियत्व धर्म ही प्रेम है। इस प्रेमको श्रीकृष्णमें अर्पित करनेसे ही श्रीकृष्णकी प्राप्ति होती है। शुद्ध प्रेमसे यह ध्वनि निकलती है कि प्रेममें स्वार्थपरता नहीं है, कोई स्वार्थ या अभिसंधि नहीं है। जिससे प्रेम है, उसके सुख-विधानके सिवा अन्य कोई वाञ्छा नहीं है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'क्या यह शुद्ध प्रेम सबके पास है?' इसका उत्तर है कि 'हाँ, है।' हमारे प्रेममें जो मलिनता है, वह प्रेमका स्वभाव नहीं है। मालिन्य आगन्तुक है। उसको हटा देनेपर स्वाभाविक शुद्धता व्यक्त हो जाती है।

किसी सरोवरका जल यदि मैला होकर अपेय (न पीने योग्य) हो जाय, तो उसे उबालना, डिस्टिल करना एवं फिल्टर करना आदि क्रियाओंके द्वारा निर्मल कर सकते हैं, पेय (पीने लायक) बना सकते हैं; क्योंकि जल स्वभावतः निर्मल होता है, उसमें मलिनता आगन्तुक होती है, उसे दूर कर सकते हैं। इसी प्रकार चित्तका प्रेम शुद्ध ही होता है; उसमें जो अशुद्धि आ गयी है, उसे हटाया जा सकता है, मार्जनके द्वारा दूर किया जा सकता है। साधनका उद्देश्य ही है चित्तका परिमार्जन करना, यह मार्जन ही भजन है।

भजनके द्वारा सुमार्जित होनेपर सबके हृदयका सहज प्रेम शुद्ध होता है। उसे श्रीनन्दनन्दनमें समर्पित करते ही उनकी प्राप्ति हो जाती है। इस महान् सत्यकी श्रीमद्भागवतने केवल घोषणा ही नहीं की है, बल्कि श्रीकृष्णके लीलाजीवनमें उसे मूर्तिमान् करके दिखला दिया है। अखण्ड ब्रह्माण्डके कारणोंके कारण लीलापुरुषोत्तमको वृन्दावनकी एक ग्वालिन रज्जुके द्वारा बाँध लेती है। यह एक नयी बात श्रीमद्भागवत-महाग्रन्थने बतलायी है।

'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।'

हृदयके सहज शुद्ध प्रेमके द्वारा सभी श्रीकृष्ण-धनको अपना बना ले सकते हैं, यह श्रीमद्भागवतकी अपूर्व घोषणा है।

जो भजता, है वही बड़ा, हो चाहे दीन अभक्त असार।
कृष्णभजनमें नहीं जाति-कुलका कुछ भी है कहीं विचार॥

वंशीध्वनि क्यों नहीं सुन पड़ती?

'सर्वभूतमनोहरम्' मुरली बजाकर मुरलीवाले निरन्तर

पुकारते हैं। श्रीमद्भागवतकी यह वाणी सुनकर कलिमल जीवके मनमें प्रश्न उठता है कि 'ध्वनि कहाँ ? वह तो हमारे सुननेमें नहीं आती ?' श्रीमद्भागवत कहता है कि 'संसारके कर्ण-कोलाहलसे तुमलोगोंके कान बहरे हो गये हैं। इसी कारण तुम नहीं सुन पा रहे हो। इस बहरेपनको दूर करनेकी दवा है; मुरलीकी पुकार सुनकर जो लोग बड़े वेगसे भागे जा रहे हैं, उनकी बात नित्य सुनो। सुनते-सुनते कानोंका बहरापन मिट जायगा। तब वंशीकी ध्वनि सुन पड़ेगी। बाँसुरी सदा ही बजती है। जो कान सुननेयोग्य होता है, वही सुन पाता है।

उपाय क्या है ?

हृदयका सहज प्रेम श्रीकृष्णके अर्पित हो जानेपर श्रीकृष्णकी प्राप्ति होगी। श्रीमद्भागवतकी यह बात सुननेपर यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'हृदयका प्रेम तो पति-पत्नी, पुत्र-कन्या, धन-ऐश्वर्यकी ओर ही दौड़ता है। श्रीकृष्णकी ओर लगानेका उपाय क्या है ?'

श्रीमद्भागवत वह उपाय बतलाता है। जिनका प्रेम श्रीकृष्णकी ओर ही लगा है, उनका सङ्ग करो। दैहिक सङ्ग न हो सके तो मानस सङ्ग करो। मानस सङ्ग तो सभीके लिये सम्भव है। नित्य नियमितरूपसे उनकी कथाका श्रवण-मनन करनेसे मानस सङ्ग होता है। व्रजमें उन्होंने ऐसी लीला की है कि जिसको सुनते ही चित्त तत्पर हो जाता है अर्थात् श्रीकृष्णपर हो जाता है, श्रीकृष्णानुप्राणित हो जाता है—श्रीकृष्णके रंगमें चित्त रंग जाता है।

भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्।

भागवती कथाके सुननेमात्रसे अशेष मङ्गल होता है—'श्रवणमङ्गलम्'। अतएव श्रीमद्भागवतका श्रवण-कीर्तन करना जीवके लिये सर्वश्रेष्ठ तथा अति सहज साधन है।

वे सुन्दरतम हैं

श्रीमद्भागवतकी चरम और परम वाणी है—'सुन्दरतमका संदेश'। इसीकी बात कहकर यह निबन्ध समाप्त कर दिया जायगा।

वेदान्तदर्शनका श्रेष्ठ संदेश है—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।' जीवके भीतर ऐसी योग्यता प्रसुप्त है, जो साधनके द्वारा उन्नत होते-होते ब्रह्मभूत हो सकती है। यह एक महान् संदेश है। वेदान्तके इस संदेशका गान श्रीमद्भागवतने भी किया है। इस महान् संदेशके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत एक और अति सुन्दर संदेश प्रदान करता है, जो वेद-वेदान्तमें नहीं है। इस महान् संदेशसे हमारी आँखें खुल जाती हैं, वह सुन्दर संदेश हृदयको शीतल कर देता है। बुद्धि-वृत्ति महान्को ग्रहण करती है और हृदयवृत्ति सुन्दरको ग्रहण करती है।

श्रीमद्भागवतका सुन्दर संदेश यह है कि जिस प्रकार मनुष्य तपस्याके द्वारा ब्रह्मत्व प्राप्त करता है, परब्रह्म भी उसी प्रकार तपस्याके द्वारा मानवत्वको प्राप्त करता है। मनुष्यकी तपस्याका नाम 'साधना' है और ईश्वरकी तपस्याका नाम 'करुणा' है। साधनासे मनुष्य उठता है, करुणासे ईश्वर—अवतरित होता है—नीचे उतरता है। अवतरित होकर भगवान् जब एकदम मनुष्य हो जाते हैं—मेरे पुत्र, मेरे सखा, मेरे प्राणनाथ हो जाते हैं, तब वे सुन्दरतम हो जाते हैं। सुन्दरतम माधुर्यसे पूर्ण! माधुर्य ही भगवत्ताका सार है, यही श्रीमद्भागवतकी परम वाणी है।

माधुर्य भगवत्ता-सार, व्रजभूमिमें किया प्रचार,
व्यासनन्दन शुकदेवने।
भागवतमें स्थान-स्थान, वर्णन किया अनेक विधान,
भक्त-मत्त हो जिसे सुनकर॥

श्रीमद्भागवतके सभी संवाद भक्तलोग सुनते हैं, श्रद्धाके साथ सुनते हैं। पर व्रजके सुन्दरतमका संवाद प्राप्त करके वे उन्मत्त हो उठते हैं, पागल हो जाते हैं; क्योंकि सुन्दरतमका माधुर्यमय संवाद ही श्रीमद्भागवतकी अन्तरतम वाणी है, सब जीवोंके हृदयको हिला देनेवाली वाणी है।

चार प्रकारके माधुर्य

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके माधुर्यकी चार बातें बतायी गयी हैं। विश्वसाहित्यमें कहीं भी ऐसी बातें नहीं हैं। रूप-माधुर्य, वेणु-माधुर्य, प्रेम-माधुर्य और लीला-माधुर्य—ये चार माधुर्य नन्दनन्दनमें अनन्य-साधारण हैं।

रूप-माधुर्य—श्रीकृष्णका जन्म जिस प्रकार अजन्माका जन्म है, दिव्य जन्म है, उनका रूप भी उसी प्रकार अरूपका रूप है, शाश्वत नित्य रूप है, नवकिशोर नटवर-रूप है। उस रूपसे केवल जगत् ही मुग्ध नहीं होता, वे आप भी उस अपने रूपसे विमुग्ध हैं—'आत्मपर्यन्त सर्वचित्तहर!'

वेणु-माधुर्य—श्रीमद्भागवतके प्रतिपाद्य देवता वेणुवर हैं। संसारको बुलाते वे अपनी ओर वंशीकी तानसे। जब वंशीमें फूँक देते हैं तब अधरोंकी माधुर्य-राशिको छिद्रोंके मार्गसे अंदर डाल देते हैं। वही नादरूपमें परिणत होकर समस्त विश्व-जगत्में व्याप्त हो जाती है।

> वंशी-छिद्राकाशमें कर मधु शब्द प्रवेश।
> नाद रूपसे निकलकर छाया सारे देश॥
> योगी भूले योगको, टूटा मुनिका ध्यान।
> कामिनि काननको चलीं, तज कुल-लज्जा-मान॥

उस ध्वनिसे निखिल विश्वमें आलोडन उपस्थित हो जाता है। तब गिरि गोवर्द्धनकी शिला गल जाती है, वेगवती यमुना स्थिर होकर रुकी रह जाती है, गौएँ पूँछ उठाकर दौड़ने लगती हैं, नर-नारियोंका चित्त श्रीकृष्णकी लालसासे आकुल हो उठता है। और भी क्या-क्या होता है! श्रीमद्भागवतने प्राण भरकर मुरलीके मोहनीय माधुर्यका गान किया है।

प्रेम-माधुर्य—व्रजके शुद्ध प्रेमके वशीभूत हो षडैश्वर्यमय श्रीभगवान् अपने स्वरूपको सम्पूर्ण रूपसे भूल जाते हैं—कितने बड़े कितने छोटे हो जाते हैं! यही प्रेम-माधुर्य है। जिसके भयसे यमराज डरते हैं, वह माँके भयसे भीत होकर काँपते हुए झूठ बोलने लगते हैं। स्वतन्त्र पुरुष होकर भी श्रीभगवान् शुद्ध प्रेमके द्वारपर पूर्णतः अधीन हो जाते हैं। इस भक्ताधीनताके वशवर्ती होनेमें ही व्रजेन्द्रनन्दनकी इतनी मधुरिमा है। इस प्रेम-माधुर्यकी गहराईका थाह नहीं लगता।

लौकिक साहित्यकारोंने प्रधानतः कान्ता-प्रेमका ही विस्तार किया है। श्रीमद्भागवतने शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इन पाँच रसोंका आस्वादन किया है। इनमें श्रीवृन्दावनमें वात्सल्य, सख्य और मधुर—इन तीनों रसोंका जो मिष्टान्न श्रीमद्भागवतशास्त्रने प्रस्तुत किया है, उसकी निखिल विश्व-साहित्यमें कहीं तुलना नहीं है। श्रीभगवान् भक्त-हृदयके प्रेम-माधुर्यके भोक्ता हैं। इसी कारण श्रीमद्भागवतने अशेष-विशेष प्रेमरसके जितने वैचित्र्यमय प्रकार हो सकते हैं, उनको साङ्गोपाङ्ग प्रपञ्चित किया है।

लीला-माधुर्य—लीलामय श्रीहरिकी लीलामें ऐश्वर्य और माधुर्य दो वस्तुएँ हैं। ऐश्वर्यमें उनके महत्त्व और माधुर्यमें उनके प्रियत्वका प्रकाश है। दोनों मानो दो प्रान्त हैं। किंतु वृन्दावनलीलामें दोनों मिलकर एक अनिर्वचनीय मधुरिमाका विकास कर रहे हैं।

श्रीभगवान्‌ने पूतनाका वध किया है स्तन्यपान करते-करते। पूतनाके वधमें ऐश्वर्य है, स्तन्यपानमें माधुर्य है। दोनोंका यह मिलन चमत्कारपूर्ण है।

नाचते-नाचते कालियनागके फणोंको चूर-चूरकर उसका दमन किया है। कालिय-दमनमें ऐश्वर्य है। मधुर नृत्यमें अपूर्व माधुर्य है। दोनोंका यह मिलन अभिनव है, चित्तके लिये चमत्कारिक है। व्रजका यह लीलामाधुर्य असीम मधुरिमासे मण्डित है। इसके वर्णनमें श्रीमद्भागवतकी निपुणता विस्मयोत्पादक है।

इन चारके माधुर्यसे मधुमय होकर श्यामसुन्दर सुन्दरतम हो गये हैं। इस सुन्दरतमको निजजन बना लेनेका सहज उपाय है—हृदयकी सर्वापेक्षा सुन्दर वस्तु—शुद्ध प्रेमको पूर्णरूपेण श्रीकृष्णमें समर्पण कर देना। यह प्रेम सभी जीवोंके अन्तस्तलमें है। अतएव जाति, वर्ण, गोत्रका भेद न करके सभी नर-नारी इस सुन्दरतमको हृदय-सर्वस्व बना लेनेके अधिकारी हैं। यही भागवतधर्म है।

श्रवण-मन-रसायन मधुमय भाषामें श्रीमद्भागवतने इस अनुपम धर्मकी उद्‌घोषणा की है कलिग्रस्त जीवोंके सामने। इसी संदेशको लेकर आये थे श्रीगौराङ्ग-सुन्दर! अगणित संतोंने भी यही वाणी हमको सुनायी है।

आजकलके इस जातीय दुर्दिनके समय इस वाणीके एक श्रेष्ठ उद्गाता हो गये हैं—अभिन्न गौरतनु श्रीश्रीप्रभु जगद्‌बन्धु सुन्दर। उनकी महावाणी है—

> 'भक्ति शास्त्र भागवत सार करो अविरत।'

श्रीमद्भागवतका धर्म ग्रहण करनेपर दुःखकी निवृत्ति, प्रेमकी प्राप्ति, आनन्दरसके आस्वादनसे चिरतृप्ति होती है। और ग्रहण न करनेपर अशेष दुर्गति तथा जातीय संगठनकी महान् हानि है। जय जगद्‌बन्धु हरि!



पुकारते हैं। श्रीमद्भागवतकी यह वाणी सुनकर कलिग्रस्त जीवके मनमें प्रश्न उठता है कि 'ध्वनि कहाँ ? वह तो हमारे सुननेमें नहीं आती ?' श्रीमद्भागवत कहता है कि 'संसारके कर्म-कोलाहलसे तुमलोगोंके कान बहरे हो गये हैं। इसी कारण तुम नहीं सुन पा रहे हो। इस बहरेपनको दूर करनेकी दवा है; मुरलीकी पुकार सुनकर जो लोग बड़े वेगसे भागे जा रहे हैं, उनकी बात नित्य सुनो। सुनते-सुनते कानोंका बहरापन मिट जायगा। तब वंशीकी ध्वनि सुन पड़ेगी। बाँसुरी सदा ही बजती है। जो कान सुननेयोग्य होता है, वही सुन पाता है।

उपाय क्या है ?

हृदयका सहज प्रेम श्रीकृष्णके अर्पित हो जानेपर श्रीकृष्णकी प्राप्ति होगी। श्रीमद्भागवतकी यह बात सुननेपर यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'हृदयका प्रेम तो पति-पत्नी, पुत्र-कन्या, धन-ऐश्वर्यकी ओर ही दौड़ता है। श्रीकृष्णकी ओर लगानेका उपाय क्या है ?'

श्रीमद्भागवत वह उपाय बतलाता है। जिनका प्रेम श्रीकृष्णकी ओर ही लगा है, उनका सङ्ग करो। दैहिक सङ्ग न हो सके तो मानस सङ्ग करो। मानस सङ्ग तो सभीके लिये सम्भव है। नित्य नियमितरूपसे उनकी कथाका श्रवण-मनन करनेसे मानस सङ्ग होता है। व्रजमें उन्होंने ऐसी लीला की है कि जिसको सुनते ही चित्त तत्पर हो जाता है अर्थात् श्रीकृष्णपर हो जाता है, श्रीकृष्णानुप्राणित हो जाता है—**श्रीकृष्णके रंगमें चित्त रंग जाता है।**

भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्।

भागवती कथाके सुननेमात्रसे अशेष मङ्गल होता है—'श्रवणमङ्गलम्'। अतएव श्रीमद्भागवतका श्रवण-कीर्तन करना जीवके लिये सर्वश्रेष्ठ तथा अति सहज साधन है।

वे सुन्दरतम हैं

श्रीमद्भागवतकी चरम और परम वाणी है—'**सुन्दरतमका संदेश' । इसीकी बात कहकर यह निबन्ध समाप्त कर दिया जायगा।**

वेदान्तदर्शनका श्रेष्ठ संदेश है—'**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।**' जीवके भीतर ऐसी योग्यता प्रसुप्त है, जो साधनके द्वारा उन्नत होते-होते ब्रह्मभूत हो सकती है। यह एक महान् संदेश है। वेदान्तके इस संदेशका गान श्रीमद्भागवतने भी किया है। इस महान् संदेशके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत एक और अति सुन्दर संदेश प्रदान करता है, जो वेद-वेदान्तमें नहीं है। इस महान् संदेशसे हमारी आँखें खुल जाती हैं, यह सुन्दर संदेश हृदयको शीतल कर देता है। बुद्धि-वृत्ति महान्‌को ग्रहण करती है और हृदयवृत्ति सुन्दरको ग्रहण करती है।

श्रीमद्भागवतका सुन्दर संदेश यह है कि जिस प्रकार मनुष्य तपस्याके द्वारा ब्रह्मत्व प्राप्त करता है, परब्रह्म भी उसी प्रकार तपस्याके द्वारा मानवत्वको प्राप्त करता है। मनुष्यकी तपस्याका नाम 'साधना' है और ईश्वरकी तपस्याका नाम 'करुणा' है। साधनासे मनुष्य उठता है, करुणासे ईश्वर—अवतरित होता है—नीचे उतरता है। अवतरित होकर भगवान् जब एकदम मनुष्य हो जाते हैं—मेरे पुत्र, मेरे सखा, मेरे प्राणनाथ हो जाते हैं, तब वे सुन्दरतम हो जाते हैं। सुन्दरतम माधुर्यसे पूर्ण! माधुर्य ही भगवत्ताका सार है, यही श्रीमद्भागवतकी परम वाणी है।

माधुर्य भगवत्ता-सार, व्रजभूमिमें किया प्रचार,
व्यासनन्दन शुकदेवने ।
भागवतमें स्थान-स्थान, वर्णन किया अनेक विधान,
भक्त-मत्त हो जिसे सुनकर ॥

श्रीमद्भागवतके सभी संवाद भक्तलोग सुनते हैं, श्रद्धाके साथ सुनते हैं। पर व्रजके सुन्दरतमका संवाद प्राप्त करके वे उन्मत्त हो उठते हैं, पागल हो जाते हैं; क्योंकि सुन्दरतमका माधुर्यमय संवाद ही श्रीमद्भागवतकी अन्तरतम वाणी है, **सब जीवोंके हृदयको हिला देनेवाली वाणी है।**

चार प्रकारके माधुर्य

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके माधुर्यकी चार बातें बतायी गयी हैं। विश्वसाहित्यमें कहीं भी ऐसी बातें नहीं हैं। रूप-माधुर्य, वेणु-माधुर्य, प्रेम-माधुर्य और लीला-माधुर्य—ये चार माधुर्य नन्दनन्दनमें अनन्य-साधारण हैं।

रूप-माधुर्य—श्रीकृष्णका जन्म जिस प्रकार अजन्माका जन्म है, दिव्य जन्म है, उनका रूप भी उसी प्रकार अरूपका रूप है, शाश्वत नित्य रूप है, नवकिशोर नटवर-रूप है। उस रूपसे केवल जगत् ही मुग्ध नहीं होता, वे आप भी उस अपने रूपसे विमुग्ध हैं—'**आत्मपर्यन्त सर्वचित्तहर !**'

वेणु-माधुर्य—श्रीमद्भागवतके प्रतिपाद्य देवता वेणुवर हैं। संसारको बुलाते वे अपनी ओर वंशीकी तानसे। जब वंशीमें फूँक देते हैं तब अधरोंकी माधुर्य-राशिको छिद्रोंके मार्गसे अंदर ढाल देते हैं। वही नादरूपमें परिणत होकर समस्त विश्व-जगत्‌में व्याप्त हो जाती है।

> वंशी-छिद्राकाशमें कर मधु शब्द प्रवेश।
> नाद रूपसे निकलकर छाया सारे देश॥
> योगी भूले योगको, टूटा मुनिका ध्यान।
> कामिनि काननको चलीं, तज कुल-लज्जा-मान॥

उस ध्वनिसे निखिल विश्वमें आलोडन उपस्थित हो जाता है। तब गिरि गोवर्द्धनकी शिला गल जाती है, वेगवती यमुना स्थिर होकर रुकी रह जाती है, गौएँ पूँछ उठाकर दौड़ने लगती हैं, नर-नारियोंका चित्त श्रीकृष्णकी लालसासे आकुल हो उठता है। और भी क्या-क्या होता है! श्रीमद्भागवतने प्राण भरकर मुरलीके मोहनीय माधुर्यका गान किया है।

प्रेम-माधुर्य—व्रजके शुद्ध प्रेमके वशीभूत हो षडैश्वर्यमय श्रीभगवान् अपने स्वरूपको सम्पूर्ण रूपसे भूल जाते हैं—कितने बड़े कितने छोटे हो जाते हैं! यही प्रेम-माधुर्य है। जिसके भयसे यमराज डरते हैं, वह माँके भयसे भीत होकर काँपते हुए झूठ बोलने लगते हैं। स्वतन्त्र पुरुष होकर भी श्रीभगवान् शुद्ध प्रेमके द्वारपर पूर्णतः अधीन हो जाते हैं। इस भक्ताधीनताके वशवर्ती होनेमें ही व्रजेन्द्रनन्दनकी इतनी मधुरिमा है। इस प्रेम-माधुर्यकी गहराईका थाह नहीं लगता।

लौकिक साहित्यकारोंने प्रधानतः कान्ता-प्रेमका ही विस्तार किया है। श्रीमद्भागवतने शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इन पाँच रसोंका आस्वादन किया है। इनमें श्रीवृन्दावनमें वात्सल्य, सख्य और मधुर—इन तीनों रसोंका जो मिष्टान्न श्रीमद्भागवतशास्त्रने प्रस्तुत किया है, उसकी निखिल विश्व-साहित्यमें कहीं तुलना नहीं है। श्रीभगवान् भक्त-हृदयके प्रेम-माधुर्यके भोक्ता हैं। इसी कारण श्रीमद्भागवतने अशेष-विशेष प्रेमरसके जितने वैचित्र्यमय प्रकार हो सकते हैं, उनको साङ्गोपाङ्ग प्रपञ्चित किया है।

लीला-माधुर्य—लीलामय श्रीहरिकी लीलामें ऐश्वर्य और माधुर्य दो वस्तुएँ हैं। ऐश्वर्यमें उनके महत्त्व और माधुर्यमें उनके प्रियत्वका प्रकाश है। दोनों मानो दो प्रान्त हैं। किंतु वृन्दावनलीलामें दोनों मिलकर एक अनिर्वचनीय मधुरिमाका विकास कर रहे हैं।

श्रीभगवान्‌ने पूतनाका वध किया है स्तन्यपान करते-करते। पूतनाके वधमें ऐश्वर्य है, स्तन्यपानमें माधुर्य है। दोनोंका यह मिलन चमत्कारपूर्ण है।

नाचते-नाचते कालियनागके फणोंको चूर-चूरकर उसका दमन किया है। कालिय-दमनमें ऐश्वर्य है। मधुर नृत्यमें अपूर्व माधुर्य है। दोनोंका यह मिलन अभिनव है, चित्तके लिये चमत्कारिक है। व्रजका यह लीलामाधुर्य असीम मधुरिमासे मण्डित है। इसके वर्णनमें श्रीमद्भागवतकी निपुणता विस्मयोत्पादक है।

इन चारके माधुर्यसे मधुमय होकर श्यामसुन्दर सुन्दरतम हो गये हैं। इस सुन्दरतमको निजजन बना लेनेका सहज उपाय है—हृदयकी सर्वापेक्षा सुन्दर वस्तु—शुद्ध प्रेमको पूर्णरूपेण श्रीकृष्णमें समर्पण कर देना। यह प्रेम सभी जीवोंके अन्तस्तलमें है। अतएव जाति, वर्ण, गोत्रका भेद न करके सभी नर-नारी इस सुन्दरतमको हृदय-सर्वस्व बना लेनेके अधिकारी हैं। यही भागवतधर्म है।

श्रवण-मन-रसायन मधुमय भाषामें श्रीमद्भागवतने इस अनुपम धर्मकी उद्घोषणा की है कलिग्रस्त जीवोंके सामने। इसी संदेशको लेकर आये थे श्रीगौराङ्ग-सुन्दर! अगणित संतोंने भी यही वाणी हमको सुनायी है।

आजकलके इस जातीय दुर्दिनके समय इस वाणीके एक श्रेष्ठ उद्गाता हो गये हैं—अभिन्न गौरतनु श्रीश्रीप्रभु जगद्बन्धु सुन्दर। उनकी महावाणी है—

'भक्ति शास्त्र भागवत सार करो अविरत।'

श्रीमद्भागवतका धर्म ग्रहण करनेपर दुःखकी निवृत्ति, प्रेमकी प्राप्ति, आनन्दरसके आस्वादनसे चिरतृप्ति होती है। और ग्रहण न करनेपर अशेष दुर्गति तथा जातीय संगठनकी महान् हानि है। जय जगद्बन्धु हरि!



पुकारते हैं। श्रीमद्भागवतकी यह वाणी सुनकर कलिग्रस्त जीवके मनमें प्रश्न उठता है कि 'ध्वनि कहाँ ? वह तो हमारे सुननेमें नहीं आती ?' श्रीमद्भागवत कहता है कि 'संसारके कर्म-कोलाहलसे तुमलोगोंके कान बहरे हो गये हैं। इसी कारण तुम नहीं सुन पा रहे हो। इस बहरेपनको दूर करनेकी दवा है; मुरलीकी पुकार सुनकर जो लोग बड़े वेगसे भागे जा रहे हैं, उनकी बात नित्य सुनो। सुनते-सुनते कानोंका बहरापन मिट जायगा। तब वंशीकी ध्वनि सुन पड़ेगी। बाँसुरी सदा ही बजती है। जो कान सुननेयोग्य होता है, वही सुन पाता है।

उपाय क्या है ?

हृदयका सहज प्रेम श्रीकृष्णके अर्पित हो जानेपर श्रीकृष्णकी प्राप्ति होगी। श्रीमद्भागवतकी यह बात सुननेपर यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'हृदयका प्रेम तो पति-पत्नी, पुत्र-कन्या, धन-ऐश्वर्यकी ओर ही दौड़ता है। श्रीकृष्णकी ओर लगानेका उपाय क्या है ?'

श्रीमद्भागवत वह उपाय बतलाता है। जिनका प्रेम श्रीकृष्णकी ओर ही लगा है, उनका सङ्ग करो। दैहिक सङ्ग न हो सके तो मानस सङ्ग करो। मानस सङ्ग तो सभीके लिये सम्भव है। नित्य नियमितरूपसे उनकी कथाका श्रवण-मनन करनेसे मानस सङ्ग होता है। व्रजमें उन्होंने ऐसी लीला की है कि जिसको सुनते ही चित्त तत्पर हो जाता है अर्थात् श्रीकृष्णपर हो जाता है, श्रीकृष्णानुप्राणित हो जाता है—**श्रीकृष्णके रंगमें चित्त रंग जाता है।**

भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्।

भागवती कथाके सुननेमात्रसे अशेष मङ्गल होता है—'श्रवणमङ्गलम्'। अतएव श्रीमद्भागवतका श्रवण-कीर्तन करना जीवके लिये सर्वश्रेष्ठ तथा अति सहज साधन है।

वे सुन्दरतम हैं

श्रीमद्भागवतकी चरम और परम वाणी है—'सुन्दरतमका संदेश'। इसीकी बात कहकर यह निबन्ध समाप्त कर दिया जायगा।

वेदान्तदर्शनका श्रेष्ठ संदेश है—'**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।**' जीवके भीतर ऐसी योग्यता प्रसुप्त है, जो साधनके द्वारा उन्नत होते-होते ब्रह्मभूत हो सकती है। यह एक महान् संदेश है। वेदान्तके इस संदेशका गान श्रीमद्भागवतने भी किया है। इस महान् संदेशके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत एक और अति सुन्दर संदेश प्रदान करता है, जो वेद-वेदान्तमें नहीं है। इस महान् संदेशसे हमारी आँखें खुल जाती हैं, यह सुन्दर संदेश हृदयको शीतल कर देता है। बुद्धि-वृत्ति महान्‌को ग्रहण करती है और हृदयवृत्ति सुन्दरको ग्रहण करती है।

श्रीमद्भागवतका सुन्दर संदेश यह है कि जिस प्रकार मनुष्य तपस्याके द्वारा ब्रह्मत्व प्राप्त करता है, परब्रह्म भी उसी प्रकार तपस्याके द्वारा मानवत्वको प्राप्त करता है। मनुष्यकी तपस्याका नाम 'साधना' है और ईश्वरकी तपस्याका नाम 'करुणा' है। साधनासे मनुष्य उठता है, करुणासे ईश्वर—अवतरित होता है—नीचे उतरता है। अवतरित होकर भगवान् जब एकदम मनुष्य हो जाते हैं—मेरे पुत्र, मेरे सखा, मेरे प्राणनाथ हो जाते हैं, तब वे सुन्दरतम हो जाते हैं। सुन्दरतम माधुर्यसे पूर्ण! माधुर्य ही भगवत्ताका सार है, यही श्रीमद्भागवतकी परम वाणी है।

माधुर्य भगवत्ता-सार, व्रजभूमिमें किया प्रचार,
व्यासनन्दन शुकदेवने।
भागवतमें स्थान-स्थान, वर्णन किया अनेक विधान,
भक्त-मत्त हो जिसे सुनकर॥

श्रीमद्भागवतके सभी संवाद भक्तलोग सुनते हैं, श्रद्धाके साथ सुनते हैं। पर व्रजके सुन्दरतमका संवाद प्राप्त करके वे उन्मत्त हो उठते हैं, पागल हो जाते हैं; **क्योंकि सुन्दरतमका माधुर्यमय संवाद ही श्रीमद्भागवतकी अन्तरतम वाणी है, सब जीवोंके हृदयको हिला देनेवाली वाणी है।**

चार प्रकारके माधुर्य

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके माधुर्यकी **चार बातें** बतायी गयी हैं। विश्वसाहित्यमें कहीं भी ऐसी बातें **नहीं** हैं। रूप-माधुर्य, वेणु-माधुर्य, प्रेम-माधुर्य और लीला-माधुर्य—ये चार माधुर्य नन्दनन्दनमें अनन्य-साधारण हैं।

रूप-माधुर्य—श्रीकृष्णका जन्म जिस प्रकार अजन्माका जन्म है, दिव्य जन्म है, उनका रूप भी उसी प्रकार अरूपका रूप है, शाश्वत नित्य रूप है, नवकिशोर नटवर-रूप है। उस रूपसे केवल जगत् ही मुग्ध नहीं होता, वे आप भी उस अपने रूपसे विमुग्ध हैं—**'आत्मपर्यन्त सर्वचित्तहर!'**

धर्मो धारयति प्रजाः

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

आजकी बात नहीं है। बात है उस समयकी; जब पृथ्वीकी केन्द्रच्युति हुई; अर्थात् आजसे कई लाख वर्ष पूर्वकी। केन्द्रच्युतिसे पूर्व उत्तर तथा दक्षिणके दोनों प्रदेशोंमें मनुष्य सुखपूर्वक रहते थे। आजके समान वहाँ हिमका साम्राज्य नहीं था; यह बात अब भौतिक विज्ञानके भू-तत्त्वज्ञ तथा प्राणिशास्त्रके ज्ञाताओंने स्वीकार कर ली है।

पृथ्वीके दक्षिणी ध्रुवप्रदेशमें बहुत बड़ा महाद्वीप था अन्तःकारिक। महाद्वीप तो वह आज भी है। उसे अब आप अण्टार्कटिकाके नामसे जानते हैं। उसके एक महानगरकी चर्चा है यह। उस महानगरको अन्तःलासिक कहते थे उस समय।

पृथ्वीका यह दक्षिण-ध्रुवीय प्रदेश अब भी अनेक अद्भुत रहस्य रखता है। उसकी अनेक प्राकृतिक विशेषताएँ उस समय भी वैसी ही थीं, जैसी आज हैं। वहाँ जब इस युगके अन्वेषकोंका प्रथम दल गया तो उसने पाया कि प्रत्येक वस्तुमें वहाँ दाहिने घूमनेकी विचित्र प्रवृत्ति है। आँधी दक्षिणावर्त चलती है। वहाँके पक्षी बायेंसे दाहिने मण्डलाकार चलते हैं। मनुष्य प्रयत्न करता और समझता है कि वह सीधे या बायें मुड़ रहा है, किंतु अन्तमें पाता है कि वह दाहिने मण्डलाकार घूमता हुआ वहीं पहुँच गया, जहाँसे चला था। अब तो दिशादर्शक यन्त्रपर निर्भर करके ही वहाँ चलना होता है।

प्रकृतिमें जो यह सहज प्रवृत्ति वहाँ है, उसका परिणाम यह हुआ था कि पूरे अन्तःकारिक महाद्वीपमें नगर गोलाकार बसे थे। उनके मार्ग मण्डलाकार थे। भवन अर्धगोलाकार गुम्बदके समान बनते थे और उनका बाहरी घेरा ही नहीं, मुख्य कक्ष भी गोल होते थे। यदि बहुत ही थोड़ी दूर न जाना हो तो व्यक्ति अपने गन्तव्यतक दक्षिणसे चलकर मण्डलाकार घूमते हुए ही जाते थे। इसके लिये उन्हें कितना अधिक चलना पड़ता है, इसपर ध्यान देनेकी किसीको कभी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

प्रकृतिमें यह जो दाहिने घुमानेकी शक्ति है वहाँ, वह सीधे मनको प्रभावित करती है। इसीलिये मनुष्य न चाहते हुए भी दाहिने अनजानमें घूमता जाता है। यह शक्ति मनपर अनेक और प्रभाव डालती है। मन बहुत कम बाहरी दृश्यों तथा कार्योंमें रस ले पाता है। स्वभावसे चुपचाप बैठने; अन्तर्मुख होनेकी प्रवृत्ति वहाँ है। यह बात दूसरी है कि आजका अत्यन्त बहिर्मुख मनुष्य वाह्यशोधका उद्देश्य लेकर जब वहाँ पहुँचता है, तब वह इस अन्तर्मुख करनेवाली शक्तिका अनुभव केवल इस रूपमें कर पाता है कि 'प्रकृति वहाँ शीघ्र थका देती है। व्यक्ति वहाँ बहुत कम सक्रिय रह पाता है।'

उस समय पूरी पृथ्वीमें एक ही धर्म था—'सनातन धर्म।' दूसरे किसी सम्प्रदायने तबतक जन्म ही नहीं लिया था। सनातन धर्म तो सार्वभौम एवं नित्य शाश्वतधर्म है। अतः उसमें सब देशोंके लिये, सब युगोंके लिये, सब प्रकारकी रुचि तथा शक्ति-सामर्थ्यके लोगोंके लिये साधन हैं। उस युगमें उस अन्तःकारिक महाद्वीपके लोग भी अपनी-अपनी रुचिके साधन करते थे।

जहाँ प्रकृति स्वयं अन्तर्मुख होनेमें सहायक है, मनुष्य एकाग्रता प्राप्त करनेके अनेक साधनोंको जीवनमें उतार ले—इसमें आश्चर्यकी बात नहीं है। महाद्वीपमें बहुत कम कोलाहल प्रत्येक नगरमें था। पथोंपर अत्यावश्यक होनेपर ही कोई निकलता था। जीवन बहुत सादा, बहुत परिग्रहरहित। जीवनधारणके लिये आवश्यक क्रियामात्र ही मनुष्यकी कर्मशीलता रह गयी थी।

कोई श्रवण बंद किये, दोनों कानोंमें गुटिका लगाये बैठा है। अनहद नादके माधुर्यके सम्मुख जगत्का सब रस उसे नीरस लगता है। किसीने जिह्वाका दोहन-छेदन युवावस्थाके प्रारम्भमें ही सम्पन्न कर लिया। वह रसनाको कण्ठछिद्रमें दबाये गगनगुफासे झरते रसका ही आस्वादन करता है। किसीको स्पर्शयोग सिद्ध है और किसीको गन्धयोग। इच्छानुसार मनमें ही अभीष्ट रूप-दर्शनकी सामर्थ्य भी अनेकोंने प्राप्त कर ली थी।

कोई-न-कोई साधना अन्तःकारिक महाद्वीपका बालक

माताकी गोदसे ही सीखना प्रारम्भ कर लेता था। एकाग्रता, अन्तर्लीनता और मौन—ये वहाँके स्वभावमें आ गये थे।

इस स्वभावका एक विचित्र परिणाम भी हुआ था। लोगोंमें बोलनेकी प्रवृत्ति नहीं थी तो सुननेकी भी प्रायः नहीं रह गयी थी। वेदज्ञ ब्राह्मण भारतसे बाहर जाते नहीं थे। साधना और आराधनाको शास्त्रीय आधार कम ही प्राप्त था। केवल प्रकृतिदत्त अन्तर्मुखता तथा एक प्रकारका आलस्य भी था किसी क्रियाको करनेमें।

पूरे महाद्वीपके अन्तःलासिक नगरमें एक व्यक्ति इस सबका अपवाद था। वह था अविनीत वर्मा। पता नहीं क्या बात थी कि वहाँकी प्रकृतिका प्रभाव उसे स्पर्श नहीं कर पाता था। वह मार्गोंको छोड़कर सीधे चल देता था। वाम दिशामें मार्गपर चल देना भी उसे अस्वाभाविक नहीं लगता था। पथपर उसे प्रायः इधर-उधर दौड़ते-भागते देखा जा सकता था। बहुत कम वह कहीं स्थिर बैठ पाता था। अन्तर्मुख होकर ध्यान करनेका प्रयत्न करते भी उसे पाया नहीं गया।

'मेरा पशु पङ्कमें फँस गया है। मैं एकाकी उसका उद्धार नहीं कर पाऊँगा, सहायताकी अपेक्षा है।' ऐसे अवसरपर व्यक्ति दूसरेसे प्रार्थना करनेको विवश हो ही जाता है।

'मेरे संध्याकालीन कृत्यका समय है। नियमका भङ्ग करनेमें असमर्थ हूँ। आप अविनीत वर्माको ढूँढ़ लें।' आप इसे नियमनिष्ठा भले न मानें, किंतु आलस्य मत कहिये। वहाँ कोई आलस्यका आदर नहीं करता था। किंतु अपने नियमको तोड़कर कुछ करनेका उत्साह भी किसीमें नहीं था।

'मैं स्वयं अस्वस्थ हूँ। बच्चा बहुत कष्टमें है। चिकित्सकको बुला देनेका कष्ट करेंगे आप ?' एक रुग्ण व्यक्ति पड़ोसीसे प्रार्थना करनेके अतिरिक्त और क्या करे ?

'मैं अर्चनमें बैठने ही जा रहा हूँ। आराधनामें व्यतिक्रम अभीष्ट नहीं है। आप पथपर दृष्टि रक्खें। अविनीत वर्मा आता ही होगा इधरसे।' उत्तर अवश्य अप्रिय है; किंतु प्रार्थना करनेवाला जानता है कि इस परिस्थितिमें वह स्वयं होता तो यही उत्तर वह भी देता।

अविनीत वर्मा ही आश्रय है ऐसे विपत्तिमें पड़े लोगोंका। वह किसीके लिये ओषधि लाने दौड़ रहा है और किसीके लिये चिकित्सक बुलाने। किसीका खोया पशु ढूँढ़ने उसे जाना है अथवा किसीके प्रिय जनतक संदेश पहुँचा देना है। उसे किसीकी सहायतामें आपत्ति नहीं है, यदि उसके पास अवकाश हो।

'मेरे लिये आप शाल्यन्न ला देंगे ?' कोई भी कह सकता है अविनीत वर्मासे।

'नहीं! तुम अपने लिये यह उद्योग स्वयं करो। मुझे दूसरा आवश्यक कार्य है।' यह उत्तर मिलनेकी सम्भावना सदा रहती है। वह अविनीत वर्मा नामसे ही नहीं है। विनम्रता, बनावट, किसीका संकोच उसमें नामको नहीं है। नगरके प्रशासक अथवा कर्मनियामकको भी किसी भी नन्हे कार्यतकके लिये वह अस्वीकार कर दे सकता है। वह कार्य सबके कर देता है, अत्यन्त उपेक्षणीय पशुतककी सेवा करने बैठ जाता है; किंतु करेगा वही कार्य, जो उसे ठीक लगेगा। उसको जो कार्य जब महत्त्वपूर्ण लगे, तब वही महत्त्वपूर्ण है।

'धन्यवाद!' कभी कोई कह तो देखे अविनीत वर्माको। ऐसी झिड़की सुननी पड़ेगी उसे जो, वर्षों स्मरण रहे। उसे किसी कार्यके उपलक्ष्में दो घूँट जल भी भेंट नहीं किया जा सकता। अपने श्रमसे उपार्जित वस्तुके अतिरिक्त वह किसीसे कुछ लेता नहीं। कोई उपकृत करनेका साहस करे, यह उसका अपमान करनेका प्रयास ही तो है।

सबका कार्य करके, सबकी सहायता करके, सबसे भिन्न रीतिसे रहनेवाला यह अविनीत वर्मा बड़ा रूक्ष पुरुष है। उसके नेत्रोंमें अश्रु नहीं आते किसीकी मृत्यु देखकर; और सब कहते हैं कि वह सांसारिक पुरुष है। कोई अन्तर्मुख होनेका साधन उसने नहीं अपनाया। उससे सेवा चाहे जितनी लोग ले लें, समाजमें तिरस्कृत—उपेक्षणीय ही है वह। कौन जाने उसकी रूक्षता इस उपेक्षासे ही उत्पन्न हुई हो।

यही अविनीत वर्मा एक रात्रि अचानक चौंककर उठा। वह बहुत प्रयत्न करके, दीर्घकालके श्रमके पश्चात् अपने गोल भवनका द्वार खोलनेमें समर्थ हुआ था। बाहर उसने जो कुछ देखा, उसे देखकर फूट-फूटकर रोया; किंतु उस दिन उसके अश्रु कपोलोंपर आनेसे पूर्व ही जम जाते थे। कोई उसका रुदन देखनेवाला नहीं था उस दिन।

अविनीत वर्माको अपने आसपास कुछ नहीं दीखता था। कोई भवन, कोई मार्ग अथवा कोई जीवन-चिह्न कहीं नहीं था। पृथ्वीकी केन्द्रच्युति हुई है, इसे कौन बतलाता।

सम्पूर्ण सृष्टिपर श्वेत अन्धकार छाया दीखता था। आपने जो घोर कृष्ण अन्धकार जाना-देखा है, उससे अकल्पनीय भयानक था वह श्वेत अन्धकार।

पता नहीं, आपने कभी हिमपात देखा है या नहीं। वह ध्रुवीय प्रदेशका हिमपात, उसमें अपना फैलाया हाथतक हवामें घुल गया जान पड़ता है। व्यक्ति अपनेको ही नहीं देख सकता तो आस-पास क्या है, इसे कैसे देखेगा। चारों ओर हिमराशि—जहाँ दृष्टि जाय, केवल श्वेत हिम।

जादूका प्रदेश लगता है वह हिम-प्रदेश। गगनमें मरे हिमकणोंपर सूर्यकी किरणोंका वक्रीभवन अद्‌भुत दृश्य दिखलाता है। आप खड़े हैं भूमिपर और साथका व्यक्ति आपको गगनमें उलटा लटका दीखता है। आपके देखते-देखते वह वायुमें घुलकर अदृश्य हो जाता है, जब कि उसका हाथ आपके हाथमें है। आपको अपनेसे थोड़ी दूरीपर एक नगर दीखता है। उसके वृक्ष, भवन, मार्ग तथा उस मार्ग-पर चलते वाहन, दौड़ते लोग—सब दीखते हैं। लगता है कि आप घंटेभरसे कममें वहाँ पहुँच सकते हैं। लेकिन सत्य यह है कि वह नगर वहाँसे कई सहस्र मील दूर जापान या आस्ट्रेलियामें है। यह भी सम्भव है कि वह नगर सामने भूमिपर न दीखकर आपको अपने मस्तकपर आकाशमें उलटा लटकता दीखे।

एक रात्रिमें वह पूरा अन्तःकारिक महाद्वीप आजके अण्टार्क्टिकके जादूभरे हिमप्रदेशमें बदल गया था। पूरी रात्रिमें कितना हिमपात हुआ, जाननेका कोई साधन नहीं था। अविनीत वर्माने पद बढ़ाये तो वह कटितक कोमल हिममें डूब गया। कठिनाईसे निकला; किंतु अब वह भवन-का द्वार भी हिमके गर्भमें अदृश्य हो चुका था, जिसमेंसे अविनीत वर्मा अभी बाहर आया था।

वह सिर पकड़कर बैठ गया और रोता रहा। रुदन रुका; कोई कबतक अकेले रोता रह सकता है। कुछ समझ-में नहीं आता था कि क्या हुआ है। कुछ भी कर पानेका उपाय नहीं था। जहाँ पद बढ़ाते ही हिम-समाधि मिल जाने-की आशङ्का हो, कोई कर भी क्या सकता है। इतना सब था, किंतु अविनीत वर्माको अपने शरीरकी सुधि नहीं थी। उन्हें न शीत लगनेका बोध था और न अपने रहने, भोजन-जल पानेकी चिन्ताने स्पर्श किया था।

'यह पूरा महादेश धार्मिक था। धर्मका जो धारण करता है, धर्म उसका धारण करता है।' किसी समय माता-से सुने वचन स्मृतिमें आये और मनमें प्रश्न जागा—'धर्मने यहाँके धार्मिक लोगोंका धारण-रक्षण क्यों नहीं किया? कौन है इस धर्म-व्यवस्थाका नियामक-संचालक?'

संकल्प मनमें उठा और लगा कि शरीरको कुछ हो गया है। बहुत ही हलका लगा देह, जैसे वह गगनमें ऊपर उठ रहा हो। अविनीत वर्माने नेत्र बंद कर लिये। उन्होंने अल्प क्षणोंमें ही उस श्वेत अन्धकारके प्रदेशमें जो कुछ देखा था, उसके कारण कुछ भी होना उन्हें आश्चर्यजनक नहीं लग सकता था।

'पधारो, महानुभाव!' किसीका गम्भीर स्वर सुनायी पड़ा तो अविनीत वर्माने नेत्र खोल दिये। वे आश्चर्यसे चारों ओर देखने लगे। कभी न तो उन्होंने वैसा स्थान देखा था, न वैसे लोगोंका वर्णन सुना था, जैसे उन्हें वहाँ दीख रहे थे।

'यह धरा नहीं है। आप इस समय यमलोकमें हैं। आपने मनुष्यके धर्माधर्मके विधायक धर्मराजका साक्षात्कार करनेकी इच्छा की थी।' चित्रगुप्तने उन्हें चकित देखकर तथ्यसे अवगत किया।

'तो मैं मर चुका हूँ।' अविनीत वर्माने कोई व्याकुलता प्रकट नहीं की। 'उस हिमप्रदेशमें जीवित एकाकी भटकनेसे यह अधिक उत्तम है।'

'आप अब भी अपने भौतिक देहमें ही हैं।' चित्रगुप्त-ने फिर बतलाया। 'केवल आपकी जिज्ञासाने आपको यहाँ पहुँचा दिया है। आपका पार्थिव देह तो पृथ्वीपर जो केन्द्र-च्युतिकी घटना हुई, उसके संयोगोंमें पड़कर तथा आपके शुभाचरणकी शक्तिसे सिद्ध-देह हो गया है। आप अब अमर रहेंगे मर्त्यभूमिमें रहकर भी। लेकिन आपको तो अभी धर्मराजके दर्शन करने हैं।'

'अन्तःकारिक महाद्वीपके लोग धर्मात्मा थे।' अविनीत वर्माने धर्मराजको भी केवल हाथ जोड़कर शिष्टाचारमात्रके लिये प्रणाम किया और अपने प्रश्नपर आ गये—'आप धर्मके निर्णायक हैं। आप बतायेंगे कि धर्मने उनका धारण क्यों नहीं किया? वह पूरा महादेश ध्वस्त क्यों हो गया?'

'स्वेच्छाचरणका नाम धर्म नहीं है, भद्र! भले वह आचरण अन्तर्मुखताके साधनके रूपमें ही क्यों न किया

जाय।' धर्मराजने गम्भीर बनकर उत्तर दिया। 'धर्म वह है, जो वेद-शास्त्रविहित है।'

'चोदनालक्षणो धर्मः' अविनीत वर्माको यह स्मरण आ गया। लेकिन वे यह नहीं समझ पा रहे थे कि अन्तर्मुखता ही जिनका जीवन-लक्ष्य था, वे धार्मिक क्यों नहीं माने जाने चाहिये। उनके चित्तकी स्थिति धर्मराजसे अज्ञात तो थी नहीं। अतः वे बोले—'जो गृहस्थ हैं, वर्णाश्रमविहित कर्मका सम्यक् निर्वाह उनका कर्तव्य है। विरक्त योगीके लिये उपदिष्ट केवल अन्तर्मुखताके साधन उनके लिये परधर्म तथा विधर्म बन गये, जब उनके कारण कर्तव्य-निर्वाहमें प्रमाद होने लगा। परधर्म और विधर्म अधर्मके ही रूप हैं, यह आपको ज्ञात है।'

'लेकिन वे इन्द्रियाराम तो नहीं थे।' अविनीत वर्माने कहा।

'वे साधक थे, यह कौन अस्वीकार करता है?' धर्मराज बोले। 'उनका साधन निष्फल नहीं हो सकता और जीव अमर है। उन्होंने अपने स्थूल देहके कर्तव्य तथा उसके धर्म-निर्वाहकी उपेक्षा की साधनको उपलक्ष बनाकर, अतः स्थूल देह उनसे छीन लिये गये।'

अब अविनीत वर्माके पास कहनेको कुछ था ही नहीं। आत्मा अमर है और साधन जन्मान्तरमें भी चलते हैं, यह वे जानते थे।

सुना है कि अब अविनीत वर्मा अपने सिद्ध-देहसे हिमालयके अदृश्य रहनेवाले कारक पुरुषोंके साथ रहते हैं। सिद्धोंके समाजमें उनका नाम अब अविनीतपाद अथवा अविनीतप्पा लिया जाता है।

सनातन धर्मका लक्षण, स्वरूप और सार्वभौमत्व

(लेखक—पं० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री, शास्त्रार्थमहारथी)

प्रत्येक मनुष्यकी यह स्वाभाविक इच्छा होती है—**'सुखं मे स्यात्, दुःखं मे मा भूत्'** अर्थात् मैं सदैव सुखी रहूँ, मुझे दुःख कभी न हो। इस इच्छाकी पूर्तिके अन्यतम साधनका अपर नाम 'धर्म' है।

महर्षि कणादकी घोषणा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

अर्थात् जिस आचरणके द्वारा मनुष्यकी इस लोकमें पूर्ण उन्नति हो और मृत्युके अनन्तर भी उसे सद्गति प्राप्त हो, उसी आचरणीय विधानको धर्म कहते हैं।

प्रत्येक विज्ञ यह माननेको विवश है कि इस दृष्ट ब्रह्माण्डकी नियामिका कोई अदृष्ट शक्ति अवश्य है। उसके नामोंमें विवाद हो सकता है—परंतु नास्तिकोंको भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि विश्वका आपाततः कोई-न-कोई हेतुभूत एक मूलतत्त्व अवश्य है, जिसे इस दृष्ट चराचरात्मक ब्रह्माण्डका उत्पादक, पालक और नियामक कहा जा सकता है। ब्रह्म, ईश्वर, प्रकृति, नेचर, कुदरत, अल्लाह, गाड और अहुर-मजदा, ये नाम विभिन्न हो सकते हैं; परंतु वास्तवमें ये सब किसी एक ही तत्त्वके बोधक हैं, जिसको हिंदू-संस्कृतिकी परम्परामें 'परमात्मा' कहते हैं। वह एक है—यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। क्योंकि उस परमात्माद्वारा निर्मित मानव-हितकर नियमोपनियमोंको ही 'धर्म' कहते हैं, इसलिये वह भी एक है। परिस्थिति-भेदसे और पात्रिक व्यवस्था-भेदसे कर्तव्योंका वैविध्य हो सकता है; परंतु मूल धर्मके अनेक होनेकी सम्भावनाको कोई अवकाश नहीं, अतः वह एक ही है।

विभिन्न मत-मतान्तरवादी और धर्म-पराङ्मुख ग्रन्थानुसंधायक—सभी एक स्वरसे यह स्वीकार करते हैं कि संसारके पुस्तकालयमें सबसे प्राचीनतम पुस्तक वेद है। ऐसी स्थितिमें वेदमें जो लिखा है, वही धर्म हुआ। ईश्वरवादियोंके निकट यह कल्पना तो ईश्वरको अन्यायी सिद्ध करनेवाली होगी कि (वर्तमान विज्ञानके अनुसार भी) अरबों वर्षसे बने इस संसारमें कलतक तो मानव **'किंकर्तव्यविमूढ़** की' भाँति भटकता रहा, ईश्वरकी ओरसे उसके रहन-सहनके नियमोंकी कोई व्यवस्था नहीं की गयी और इन दो-तीन सहस्र शताब्दियों पूर्वसे उसके विविध संदेश आने लगे।

कहना न होगा कि संसारमें जब मानव मानव बना, उसके जन्मसे पूर्व ही जैसे उसके जीवनके लिये अनिवार्य खान-पानकी सामग्री विद्यमान थी, उसी प्रकार उसकी जीवन-व्यवस्थाका प्रभुनिर्मित संविधान भी पहिलेसे ही विद्यमान था। उसी संविधानका नाम वेद है। अतः फलतः यही सिद्ध हुआ कि ईश्वर और उसका बनाया संविधान दोनों अनादि हैं, तत्प्रोक्त धर्म भी अनादि है।

वेदादि शास्त्रोंमें उसे निर्विशेष 'धर्म' नामसे ही स्मरण किया गया है; परंतु कालचक्रकी वक्रगतिसे जब धर्मके नामपर अनेक मनुष्यकल्पित मत—धर्माभास प्रकट हो गये, तब उसका वैशिष्ट्य द्योतन करनेके लिये ऋषि-मुनियोंने उसके साथ 'सनातन' विशेषणको संयुक्त किया। तदनुसार मन्वादि स्मृतियोंमें, रामायण-महाभारतमें **'एष धर्मः सनातनः'** ऐसा कहते हुए तत्तद् धर्मतत्त्वोंका वर्णन किया गया है।

जैसे तीस वर्ष पूर्व गाय-भैंसके घृतको निर्विशेष केवल घृतमात्र कहना पर्याप्त था, परंतु सम्प्रति जब कि 'डालडा' आदि जमे हुए तेल—घृताभास बन गये, तब उसके साथ शुद्ध घृत, असली घृत, देशी घृत—इस प्रकार विशेषण लगाने अनिवार्य हो गये।

अतः सनातन-धर्म ही एकमात्र धर्म है। अन्य सब धर्माभास, मत, मजहब, रिलीजन जो हैं सो हैं, परंतु वे 'धर्म' नहीं हैं; क्योंकि धर्म तो अनादि, अनन्त, ईश्वरीय, सदा एकरस और प्राणिमात्रका कल्याणकारक होता है। इसके विपरीत मत, पंथ आदि सादि, सान्त, मनुष्यकल्पित, परिवर्तनशील और परिमित व्यक्तियोंद्वारा आचरणीय होते हैं। धर्म वह स्थिति-स्थापक तत्त्व है, जिससे प्रत्येक पदार्थकी सत्ता स्थिर है। वेद कहता है—

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।'

अर्थात् धर्मके सहारेपर ही इस समस्त जगत् (स्वभावतः विपरिणामी) की सत्ता निर्भर करती है। धर्म प्राकृतिक सिद्धान्तोंपर सुस्थिर एक सार्वभौम तथ्य है; वह केवल किसी देशविशेष या व्यक्तिविशेषके लिये नहीं है, किंतु मानवमात्र योग्यतानुसार उसका अधिकारी है।

मत-मतान्तर देश-सीमाओंमें आबद्ध हैं। उनके कथित धर्मग्रन्थ अमुक देशकी भाषामें उपनिबद्ध हैं; परंतु वेदोंकी भाषा किसी भी देशविशेषकी भाषा नहीं है किंतु दिव्य वाणी है।

'सनातन-धर्म'में राष्ट्रकी आवश्यकताओंकी पूर्तिका उत्तरदातृत्व सँभालनेकी दृष्टिसे जिस संस्थाका निर्माण हुआ है, उसे **'वर्ण-व्यवस्था'** कहते हैं; तादृश उत्तरदातृत्वके निर्वाहकी क्षमता उत्पन्न करने और उसको उत्तरोत्तर क्रमशः विकसित करनेकी दृष्टिसे जिस संस्थाका निर्माण हुआ है, उसे **'आश्रम-व्यवस्था'** कहते हैं। यहाँ उनके विशद वर्णनको अवकाश नहीं है; तथापि यह समझ लेना चाहिये कि जैसे प्रत्येक विद्यालयमें ऐसी व्यवस्था रहती है कि अमुक व्यक्तिपर अमुक विषय पढ़ानेका भार है और अमुक घंटीमें वह विषय पढ़ा और पढ़ाया जायगा—इस प्रकार विषय और काल दोनोंका नियन्त्रण होनेसे वहाँका समस्त कार्य सुचारुरूपसे सम्पन्न होता है; परंतु यदि कौन क्या पढ़ायेगा—न इसका कुछ निर्णय हो और न समयका ही नियन्त्रण हो तो वहाँ सब कार्य गड़बड़ा जायेगा—उसी प्रकार हिंदू-संस्कृतिमें गर्भस्थ बालकका ही सब पुरोगम सुनिश्चित है कि उसे उत्पन्न होकर स्ववर्णानुसार राष्ट्रके किस दायित्वका भार वहन करना होगा, तथा च जीवनके समयको कब-कब क्या-क्या करते हुए बिताना होगा। कहना न होगा कि मनुष्यकल्पित पंथोंमें इन व्यवस्थाओंकी छाया भी नहीं है। उनका जीवन तो वैसा ही है जैसे कि कोई जलयान समुद्रमें तो उतर आये, परंतु उसे किस मार्गसे किस किनारे लगना है—यह सर्वथा विदित न हो, किंतु वायु जिधर लिवा ले जाय उधरको ही भटकता रहे। वह पोत कभी उद्दिष्ट स्थानपर नहीं पहुँच सकता; क्योंकि वायुका कौन भरोसा ? वह तो कभी पूर्वकी ओर, कभी पश्चिमको बहने लगता है। ठीक इसी प्रकार उद्देश्यरहित जीवनयापन करनेवाले मनुष्योंकी जीवन-नैया भी भटकती हुई किसी विघ्नबाधाकी चट्टानसे टकराकर समाप्त हो जाती है।

आदिसृष्टिका उत्पत्तिस्थान भारत है, यह बात डाक्टर सम्पूर्णानन्द-जैसे आधुनिक विद्वान् भी माननेके लिये विवश हुए हैं। अतः यहाँसे मानवजातियोंके पूर्वज-पुरखा अन्यत्र गये हैं, यह पुराणेतिहास-ग्रन्थोंसे सिद्ध है। वे सब पहले विशुद्ध हिंदू-संस्कृतिके पुजारी ही थे। पश्चात्—

शनकैस्तु क्रियालोपात्.........वृषलत्वं गताः ॥

—इस मनूक्तिके अनुसार परम्परागत धर्मक्रियाओंके लुप्त किंवा विस्मृत हो जानेपर वे सब वृषलभावको प्राप्त हो गये। जैसे गङ्गाका पवित्र प्रवाह गङ्गोत्तरीसे चलकर गङ्गासागर पहुँचते-पहुँचते अपने मूलरूपमें स्थिर नहीं रह पाता, यही दशा प्रवासी भारतीयोंकी हुई।

समय पाकर वहाँके कुछ बुद्धिमान् पुरुषोंने—जिनको संयोगवश भारतवर्षमें रहनेके कारण किंवा भारतीयोंके सम्पर्कमें आ जानेके कारण आध्यात्मिक प्रेरणा मिली थी—उन अनार्य देशोंके निवासियोंको भी उनकी तत्कालीन परिस्थितिके अनुसार धर्मोपदेश दिया। या यों कहिये कि बदी-

चढ़ी अभ्यस्त बुराइयोंको हटाकर यथायोग्य सुधार करनेको समझौता किया, जिसका प्रतिफल वर्तमान ईसाई-मत और इस्लाम देखा जा सकता है।

यशुमसीहके जीवनके अन्यून सोलह वर्षोंका इतिहास अन्धकारग्रस्त है अर्थात् अज्ञात है। पाली भाषामें प्राप्त एक जीवनचरित्रके अनुसार उन दिनों वे बंगालके 'नदिया' स्थानमें और पश्चिमोत्तर भारतके 'तक्षशिला' स्थानमें शिक्षा पाते रहे, यह सिद्ध हो चुका है। हजरत मोहम्मद भी व्यापारके प्रसङ्गसे इधरसे अरब गये और फेरीवालोंके सम्पर्कमें बहुत रहे। इस तरह भारतीय संस्कृतिसे उनका परिचय बढ़ा। उन दोनों सज्जनोंने सनातन धर्मकी ही बहुत-सी बातें वहाँ पुनः प्रचरित करनेका प्रबल प्रयत्न किया, परंतु पीढ़ियोंकी अभ्यस्त कुरूढ़ियाँ सहसा कैसे दूर हो सकती थीं; अतः उन्होंने बुराईको छुड़ानेके लिये 'परिसंख्या' पद्धतिका आश्रय लिया। तदनुसार इस्लामपरस्तोंको बहुत-सी पत्नियोंके स्थानमें केवल चार-तक रखनेको राजी किया गया, सर्वभक्षियोंको कम-से-कम नरमांस और शूकरमांस छोड़नेको तो रजामंद किया जा सका, मद्यका सर्वथा परित्याग करनेका प्रचार हुआ, माता और सहोदरा बहिनको पत्नी न बनानेका नियम दृढ़ किया जा सका, रोजाके नामपर व्रतोपवासको, हज्जके रूपमें तीर्थयात्राको और 'संग असवद' नामसे मक्केमें अद्यावधि सुरक्षित शिवलिङ्गको चूमनेके रूपमें प्रतीकोपासनाको जीवित रक्खा जा सका। इस प्रकार सर्वथा मार्गभ्रष्ट बर्बर लोगोंको किंचित् सभ्यताकी ओर उन्मुख किया गया। परंतु यशुका अरबोंसे भी अधिक मार्गभ्रष्ट कुसङ्गियोंसे वास्ता पड़ा, उसके अनुयायी मद्य-पानसे विरत न हुए, मानवरक्तके अतिरिक्त और सब कुछ भक्ष्य ही मानते रहे। विवाह-सम्बन्धमें भी माताके अतिरिक्त अन्य स्त्रीके ग्राह्य किंवा अग्राह्य होनेकी सीमा स्थिर न हो सकी। बौद्ध-वाद चीनमें पहुँचता-पहुँचता सर्वभक्षीरूपमें परिणत हो गया।

यह सब चर्चा हम इसलिये कर रहे हैं कि इस समय संसारमें फैले हुए उपर्युक्त मतोंका धर्मसे कितना सम्बन्ध है, यह जाना जा सके। अतः उक्त मतोंमें जो गुण हैं, वे तो सब धर्मके मूल तत्त्वोंकी प्रतिच्छाया हैं और जो विकृतियाँ किंवा विद्रूपताएँ हैं, वे उन-उन देशों और पात्रोंकी मानव-सुलभ निजी पतनोन्मुखी प्रवृत्तियोंके परिणाम हैं!

कौन-कौन आचार-विचार विशुद्ध धर्म हैं और कौन पाप हैं—इसकी कसौटी एकमात्र वेद है, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। मनुजी कहते हैं—

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।

अर्थात् धर्माधर्मका निर्णायक परम प्रमाण केवल वेद है।

आज संसारमें अस्थिरता, आक्रोश, परस्पर अविश्वास और भौतिकता दूरीकरणके लिये साम्राज्यवाद, साम्यवाद और समाजवाद आदि जिन नाना वादोंका प्रादुर्भाव हुआ है, वे सब वाद दो विश्वयुद्धोंको जन्म दे चुके हैं और अब उनकी ही बदौलत प्रलयकारी तृतीय महायुद्ध क्या, विश्व-संहारका खतरा मुँह बाये सामने खड़ा है। इसलिये उक्त वादोंकी निःसारता सब देख चुके हैं। यदि वस्तुतः संसारको बसा रहने देना आजके विचारकोंको अभीष्ट है तो उन्हें उचित है कि इन मनःकल्पित वादोंके व्यामोहको छोड़कर 'धर्म-वाद' का आश्रय लें। वस्तुतः एकमात्र धर्म ही 'जीओ और जीने दो!' इस शान्ति-सूत्रकी आधार-भित्ति है। यह तथ्य चाहे आज समझ लिया जाय, चाहे मर मिटनेके बाद **'एष निष्कण्टकः पन्थाः'**—धर्म ही एकमात्र निरापद मार्ग है।

अधर्मसे दुःख और धर्मसे सुख

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम्।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम्॥

(मनु० ६। ६४)

'शरीरधारियोंके सब दुःख अधर्मसे होते हैं और अक्षय सुखका संयोग धर्मसे होता है।

धर्मका लक्षण, स्वरूप और उसकी परिभाषाएँ

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय एम्० ए०)

जब पक्षी-कुल प्रातःकाल मधुर गीत गाते हैं और भगवान्की महिमाका कीर्तन करते हैं, तब कहा जाता है कि यह पक्षियोंका धर्म है, अर्थात् 'धर्म' शब्दका स्वभावके अर्थमें व्यवहार किया जाता है। 'धर्म' ऐसे नियमोंको भी कहते हैं, जिनका किसी समाज या किसी सम्प्रदायको अवश्य पालन करना चाहिये। सत्य और न्यायका अनुगामी होनेके लिये जो सनातन रीति-नीतियाँ हैं, उनको भी धर्म कहते हैं। और यथार्थ धर्म तो वह है, जिसके द्वारा हम मनुष्य और देवतामें जो सम्बन्ध है, उसकी धारणा व्यक्त करते हैं—जैसे वह उपास्य है और मनुष्य उपासक है, वह भगवान् है और मनुष्य भक्त है। तभी तो मनुष्य भगवान्को ईश्वर समझकर उसकी आराधना करता है—यह उसका धर्म है। कोई संस्कृति या सभ्यता टिक नहीं सकती, जिसका सत्य-धर्म आधार नहीं है।

'धर्म' शब्दके दो विशेष अर्थ हैं। प्रत्येक मनुष्य जीवन और उसके उत्कर्ष-साधनके निमित्त अपने धर्मका पालन करता है। दूसरा 'धर्म' शब्द आचरण और पवित्र भावका निर्देशक भी है।

ऐसा धर्म सनातन धर्म है, जिसका स्वरूप गीतोक्त दैवीसम्पत्-सम्पन्न है। श्रीभगवान्ने उसका इस प्रकार वर्णन किया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।

(१६। १–३)

—अभय, अन्तःकरणकी पवित्रता, परमेश्वरके स्वरूपको जाननेके लिये उनके स्वरूपमें ध्यानकी निरन्तर स्थिति, दान, इन्द्रियोंका दमन, यज्ञानुष्ठान, शास्त्रोंका पठन-पाठन, पूजा-आराधन, सरलता, अहिंसा, यथार्थ और प्रिय-भाषण, क्रोध न करना, त्यागभाव, चित्तमें शान्तभाव, निन्दा न करना, दया, अनासक्ति, कोमलता, अन्याय्य कर्ममें लोक-लाज, व्यर्थके लिये कोई चेष्टा न करना, तेज (दूसरेसे पराभूत न होना), क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतरकी शुद्धि, शत्रुभावका और अभिमानका अभाव।—'नातिमानिता'का अर्थ नम्रता, दीनता भी है। नम्रतापर भगवान् आध्यात्मिक जीवन निर्माण करते हैं।

मनु महाराज धर्मके लक्षण ये बताते हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

धैर्य, क्षमा, मनका निग्रह, चोरी न करना, बाहर-भीतरकी शुद्धि, इन्द्रियोंका संयम, सात्त्विक बुद्धि, अध्यात्म-विद्या, सत्य, क्रोध न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।

योग-शास्त्रके अनुसार यम और नियम पालन करना—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

अहिंसा, सत्यभाषण, चोरी न करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना और संग्रह न करना—ये पाँच प्रकारके यम हैं।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

बाहर-भीतरकी पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरका ध्यान करना—ये पाँच नियम हैं।

इन सबका यथाशक्ति पालन करना ही धर्माचरण है। सम्प्रदाय-विशेषका मतामत धर्म नहीं है, न कोई क्रिया-कर्म, धर्म-ग्रन्थोंके वचनोंकी आवृत्ति ही धर्म है। धर्म जीवन है और जीवन यज्ञ है, जिस यज्ञके भोक्ता हैं स्वयं भगवान्।

मनु महाराजने धर्मके कुछ और भी लक्षण बताये हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

वेद, स्मृति, सदाचार, अपने मनकी प्रसन्नता—धर्मका यह चार प्रकारका साक्षात् लक्षण कहा गया है।

दया धर्मका मूल है, पाप मूल अभिमान।

हमारे जीवनमें धर्मके साथ अर्थ, काम, मोक्ष भी संश्लिष्ट हैं। ये पुरुषार्थ-चतुष्टय हैं। धर्मके पालन करनेसे—सदा धर्मपथपर चलनेसे कामना-वासनाएँ पूर्ण होती हैं, अर्थ-

लाभ होता है और अन्तमें मोक्षकी प्राप्ति होती है। भगवान् व्यासजी 'भारत-सावित्री' स्तोत्रमें कहते हैं—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

इसका सारांश यह है कि चाहे प्राण चले जायँ, पर धर्म न छूटे। न कामनाकी पूर्तिके लिये, न प्राणभयसे, न लोभसे धर्मका त्याग करना चाहिये। धर्म तो नित्य वस्तु है, संसारका सुख-दुःख चार दिनका है।

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
(महाभारत, शान्तिपर्व १०९। ११)

धर्म धारण करता है, इसलिये उसे धर्म कहा गया है। धर्म प्रजाको धारण करता है। जो धारणकी योग्यता रखता है, वही निश्चय धर्म है।

अन्तमें तुलसीदासजीके एक वचनसे मानव-धर्म प्रणिधान किया जाय—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

ऋग्वेदमें कहा है—

'अपांसि नर्याणि विद्वान्'
—मानवोंके हित करनेवाले कर्मोंको जानो।
(७। २१। ४)

(२)

(लेखक—पं० श्रीकैलाशनाथजी द्विवेदी, एम्० ए०, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न)

भारतीय संस्कृति इस संघर्षमय संसारमें अपने जिस उपकरणसे आदिकालसे लेकर अबतक सत्ताशील रही है, वह परम अभिन्न अङ्ग ही तो धर्म है। मानव-जीवनको यही तत्त्व तो पशुत्वसे पृथक्कर मानवत्वकी कोटिमें लाता है। वस्तुतः देश और कालके पथपर महापुरुषोंद्वारा निर्दिष्ट जीवनकी वे विशिष्ट प्रक्रियाएँ, जो लौकिक एवं पारलौकिक सफलताओंका साधन बनती हैं, धर्म कही जा सकती हैं। प्रस्तुत विषय 'धर्मका लक्षण और स्वरूप' अत्यन्त व्यापक है, फिर भी किंचित् प्रकाश विशिष्ट विद्वानों एवं मान्य ग्रन्थोंके आधारपर डाला जा रहा है।

'धर्म' शब्द 'धृ' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है—धारण करना। अर्थात् जो तत्त्व सारे संसारके जीवनको धारण करता हो, जिसके बिना लोक-स्थिति सम्भव न हो, जिससे सब कुछ संयमित, सुव्यवस्थित एवं सुसंचालित रहे, उसे धर्म कह सकते हैं—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।

ऋग्वेदमें 'धर्म' शब्द संज्ञा अथवा विशेषण रूपमें प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ प्रायः 'ऊँचा उठानेवाला' (उन्नायक), 'सम्पोषक' (प्राणतत्त्वका पालन-पोषण करनेवाला) है; किंतु ऋग्वेदमें ही अन्य स्थलोंपर इस 'धर्म'का अभिप्राय 'सुबद्ध निश्चित सिद्धान्त' एवं 'धार्मिक क्रियाओंके नियम'से है।

ऐतरेय ब्राह्मणमें 'धर्म'का अर्थ है—धार्मिक कर्मोंका सर्वाङ्गस्वरूप। ये धार्मिक कर्म परलोक सुधारने, संसार-सागरसे तारनेके लिये जप, व्रत, हवन, यज्ञ-यागादि ही थे।

छान्दोग्योपनिषद्में 'धर्म'से तात्पर्य है—'आश्रमोंके विशिष्ट कर्तव्य' और आश्रमोंसे सर्वाङ्ग जीवनका संतुलित, संयमित एवं समन्वित स्वरूप निर्धारित होता है। अर्थात् धर्म सारे जीवनके कर्तव्योंसे अपना सम्बन्ध रखता है।

तैत्तिरीयोपनिषद्, गीता, मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियोंमें 'धर्म'का अभिप्राय प्रायः समान ही है, केवल उक्तिमें शब्दपार्थक्य पाया जाता है। मनुस्मृति **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** कहकर धर्मके १० लक्षण निर्धारित करती है।

गीताके 'दैवी सम्पत्ति'में २६ लक्षण बतलाये गये हैं।

मेधातिथिने धर्मके पाँच स्वरूप स्वीकार किये हैं—१. वर्णधर्म, २. आश्रमधर्म, ३. वर्णाश्रमधर्म, ४. नैमित्तिक धर्म, ५. गुणधर्म। इन पाँचों स्वरूपोंमें मानव-जीवन धर्मसे ओतप्रोत हो सकता है; क्योंकि ये उक्त स्वरूप जीवनश्रृङ्खलामें परस्पर अनुस्यूत हैं। इनमें विच्छिन्नता नहीं आनी चाहिये।

जैमिनिने 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (पू० मी० सूत्र १ । १ । २१) तथा महर्षि कणादने अपने वैशेषिक सूत्रमें धर्मका लक्षण 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' बताया है। मनुस्मृतिके टीकाकार कुल्लूक भट्ट भी 'श्रुतिप्रमाणको धर्मः'—धर्मकी यह परिभाषा स्वीकार करते हैं। महामहोपाध्याय डा० पी० वी० काणे अपने ग्रन्थ 'धर्मशास्त्रका इतिहास'में धर्मका प्राचीन ग्रन्थोंका समन्वित लक्षण लिखते हैं—"Dharma came to mean peculiar duties and privileges of a person as a member of the Aryan community, as a member of one of the Varnas or as in a particular stage of life."

पाश्चात्त्य भाषाओंमें धर्मके सदृश विलक्षण अर्थवाला शब्द शायद है ही नहीं। अंग्रेजीका शब्द 'Religion' तथा जर्मनका शब्द 'Sittlichkeit' धर्मका पूर्ण, सच्चा अर्थ व्यक्त करनेमें असमर्थ हैं। मुस्लिमोंका 'मजहब' भी धर्म-जैसा भाव नहीं रखता। वैसे स्वेज नहरसे पश्चिमी संसार धर्म-से अभिप्राय 'ईश्वर और मनुष्यका सम्बन्ध रखनेवाला' (Relationship between God and man) तथा स्वेजसे पूर्वी संसार 'जीवनका पथ' (Way of life) अर्थ मानता है। 'सम्प्रदाय' शब्द धर्मकी अपेक्षा अधिक संकीर्ण एवं हीन अर्थोंवाला है। वह धर्मके समक्ष टिक नहीं सकता। महात्मा गांधी तथा ठाकुर रवीन्द्रनाथ प्रभृति महानुभावोंने धर्मकी विलक्षणता स्वीकार कर इसकी बड़ी ऊँची श्रेणी मानी है। वस्तुतः धर्म ही जीवनकी गति है, इसके बिना यह निष्प्राण है, निरर्थक है। जितने जीवन-सम्बन्धी गुण सांसारिक स्वरूपोंसे सम्बन्ध रखते हैं, धर्मके दिव्य सूत्रसे संयुक्त हैं।

जो मानव-जीवनकी इस लोकमें तथा परलोकमें उन्नति एवं हितसाधना करे, जिससे मनुष्य मृत्युपर्यन्त अभय, अदीनता एवं आत्मशान्तिका अनुभव करे, जिससे सच्चा संतोष, श्री-वैभव एवं सुयश प्राप्त हो, समाज और राष्ट्रमें जो तत्त्व सुव्यवस्था, सम्पन्नता तथा चेतनता लाये, उसे हम धर्मकी संज्ञा देनेका साहस कर सकते हैं। जीवनके पग-पगमें जो संसारसे अपना अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किये हुए है, वह धर्म ही है, जिसे दो पक्षोंमें ले सकते हैं—(१) वैयक्तिक (२) सामाजिक। ये दोनों आपसमें एक-दूसरेसे सम्बन्धित हैं। दोनोंका क्षेत्र व्यापक है, अतः दोनोंका पालन करना आवश्यक है। चाहे स्वधर्म हो, चाहे परधर्म, दोनोंके पालनसे ही जीवनकी पूर्णता सम्भव है। पुण्यके साथ इसका सम्बन्ध जोड़ा जाना परधर्म-पालनमें आनेवाली उदासीनता, संकीर्णता-को दूर करनेका उपाय है।

जो व्यक्तियोंके चरित्र और नैतिक भावनाओंको परिष्कृत-कर विकसित करे, वही तत्त्व धर्म कहा जा सकता है। तभी तो 'अहिंसा परमो धर्मः', 'न हि सत्यात् परो धर्मः', 'आचारः प्रथमो धर्मः' कहा गया। जिससे प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें बुझी अग्नि जलने लगे, जो अन्तरमें एक अद्भुत प्रकाश दे, सद्-दिशा दिखाये और सद्गति देकर सत्य लक्ष्यतक पहुँचाये, यही तो हमारी संस्कृतिका श्रेष्ठ धर्मतत्त्व है।

उपर्युक्त विचारोंका सारांश स्वीकारकर धर्मका स्वरूप और लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है कि जिससे मानव-जीवनके व्यावहारिक, आध्यात्मिक पक्षोंमें विकास हो, सभी प्रकारका सबका और अपना हित हो, जिससे सबको सुख-संतोष मिले, जो जीवनमें व्यवस्था, नियमबद्धता, चेतनता एवं पवित्रताके साथ पूर्णता लाये—वही आदर्श आर्य महापुरुषों, सनातन साधु-महात्माओं एवं सद्ग्रन्थोंका निर्देश ही धर्म है, जो हमारी संस्कृतिका प्राण है। आज हमें इसी सच्चे धर्म-पालनकी परम आवश्यकता है। तभी हमारा कल्याण होगा।

(३)

(लेखक—पं० श्रीहरिदासजी व्या० वेदान्ताचार्य)

सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर सर्वनियन्ता भगवान्‌का अवतार धर्मसंस्थापनके लिये होता है। भगवान् अवतार लेकर अधर्म-का नाश करके साधुजनोंका परित्राण करते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

'धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं'—इत्यादि। भगवान्‌का दिव्य कलेवर भी धर्ममय होता है—'रामो विग्रहवान् धर्मः।' भगवती श्रुतिकी आज्ञा है—'धर्मं चर,' 'धर्मान्न प्रमदि-तव्यम्' (धर्म करो, धर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये)। प्रश्न होगा कि वह धर्म क्या है, जिसके लिये भगवान् अपने साकेतधामसे आते हैं। व्याकरणकी रीतिसे धारणार्थक 'धृञ्' धातुसे 'मन्' प्रत्यय करनेपर धर्म शब्दकी सिद्धि होती है। उसकी व्युत्पत्ति दो प्रकारसे की जाती है। 'ध्रियते लोकः अनेन'—जिसके द्वारा लोक धारण किया जाय

उसे धर्म कहते हैं। २—'धारयति लोकम्'—जो लोकको धारण करे, उसे धर्म कहते हैं। न केवल ग्राम, नगर, देश, राष्ट्रका कल्याण जिससे हो, अपितु समस्त विश्वके सभी प्राणियोंके लिये जो कल्याणकारी—मङ्गलकारी हो, ब्रह्माण्डके निखिल प्राणियों-का जो पोषक-संरक्षक-संवर्द्धक हो, उसे धर्म कहते हैं। इस अर्थको महाभारतका एक श्लोक पुष्ट करता है—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

प्राणी जो भी शुभाशुभ कर्म करता है, उस कर्मका प्रभाव केवल कर्तामें ही न रहकर ब्रह्माण्डके समस्त वायु-मण्डल, तेजोमण्डल, पृथ्वीमण्डलको व्याप्त करता है। उसकी छोटी-छोटी हिलोरें सभी प्राणियोंके मन-बुद्धि-शरीरपर अधिकार जमाती हैं। वे कर्म किन कारणोंसे किन प्राणियोंके अनुकूल और किन प्राणियोंके प्रतिकूल पड़ते हैं, इसे सर्वज्ञ ही बतला सकता है। मानव सृष्टिके सभी प्राणियोंसे परिचित नहीं है और न उनके कर्मकलापसे ही परिचित है। जिसकी इच्छामात्रसे अनन्त ब्रह्माण्डोंका सृजन-पालन-संहार होता है, वही कर्मोंके दुष्प्रभाव या सुप्रभावका निर्णय कर सकता है। जगत्का कर्तृत्व ईश्वरको छोड़कर अन्यमें सम्भावित भी नहीं है; क्योंकि कर्ता उसे कहते हैं, जिसे जगत्के उपादानकारणका अपरोक्ष ज्ञान हो, जिसमें जगत्की चिकीर्षा और कृति हो। उपादानगोचरापरोक्षज्ञान तथा चिकीर्षाकृतिमत्त्व केवल ईश्वरनिष्ठ ही हैं। श्रीमद्भागवतमें यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं—

धर्मं तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतं
न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः।
न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः
कुतश्च विद्याधरचारणादयः॥
स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥
द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः।
गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते॥
(६।३।१९-२१)

'स्वयं भगवान्‌ने (भागवत) धर्मकी सृष्टि की है, उसे न तो ऋषि जानते हैं न देवता न सिद्धगण। तब राक्षस, मनुष्य, विद्याधर, चारणादिकी चर्चा ही क्या है। ब्रह्मा, नारद, शंकर, सनत्कुमार, कपिलदेव, स्वायम्भुव मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्मपितामह, बलि और शुकदेव तथा मैं (धर्मराज)—ये बारह व्यक्ति ही भागवतधर्मको जानते हैं। वह अत्यन्त गोपनीय, विशुद्ध तथा दुर्बोध है। हे भटो! जो इस भागवतधर्मको जान लेता है, वह जीवके परमलक्ष्य अमृतत्वको भोगता है।'

यह व्यापक धर्मकी बात नहीं है, अपितु व्याप्य भागवतधर्मका माहात्म्य, उसकी दुर्लभता तथा फल कहा गया है। भागवतधर्म उस धर्मका एकदेश मात्र है।

वेदमें जो कहा गया है, उसे धर्म कहते हैं। अधर्म उसका विपर्यय है।

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥
(श्रीमद्भागवत ६।१।४०)

'श्रुति जिन कर्मोंका विधान करती है, उन्हें धर्म कहते हैं और जिनका निषेध करती है, वे अधर्म हैं। वेद साक्षात् भगवान् हैं, वे उनके सहज श्वासभूत हैं—ऐसा हमने सुना है।'

जिसने जितना धर्मानुष्ठान या पाप किया है, वह उसके सूक्ष्म संस्कारसे युक्त होकर यहाँ तथा परलोकमें उसके फल-स्वरूप सुख-दुःखको भोग लेता है—

येन यावान् यथाधर्मो धर्मो वेह समीहितः।
स एव तत्फलं भुङ्क्ते तथा तावदमुत्र वै॥
(श्रीमद्भागवत ६।१।४५)

इस लोकमें जो मनुष्य जिस प्रकारका और जितना अधर्म या धर्म करता है, वह परलोकमें उसका उतना और वैसा ही फल भोगता है। लोकमें प्रसिद्ध है कि धनसे धर्म और धर्मसे सुख होता है—धनाद्धर्मस्ततः सुखम्।

ऐहिक-आमुष्मिक भेदसे सुख दो प्रकारका होता है। ऐहिक सुखमें स्रक्, चन्दन, ताम्बूल, कुसुम, यान, अट्टालिका, प्रासाद, वनितादि विविध भोग कहे जाते हैं। आमुष्मिक सुख दिव्यालङ्कारालङ्कृत अप्सरादि-सङ्गम तथा इससे भी परे जरामरणशून्यत्व, पुनरागमरहितत्व भगवत्पादारविन्द-मकरन्द-रसास्वादन एवं उनके सौगन्ध्य, माधुर्य, लावण्य, यौवनाद्यनन्त दिव्य गुणगणोंका अनुसंधान।

धर्मानुष्ठानसे ये दोनों प्रकारके सुखोंकी उपलब्धि वैशेषिक दर्शनके आचार्य महर्षि कणादने मानी है। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'—जिसके द्वारा इस लोकमें सर्वाङ्गीण अभ्युदय हो और अन्तमें भी निरन्तर श्रेय सिद्धि हो उसे धर्म कहते हैं।

वेदमें जिसकी प्रेरणा की गयी है—वह धर्म है, ऐसा जैमिनि मुनिने स्वीकार किया है।

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।'

भगवान् मनुने धर्मका लक्षण यह बतलाया है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
(मनु० २। १२)

वेद, स्मृति, सत्पुरुषोंका आचरण और अपने आत्माकी प्रसन्नता—ये चार धर्मके परिचायक हैं।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥
(मनु० २। ९)

'वेद-धर्मशास्त्रानुमोदित धर्माचरण करता हुआ मनुष्य इस लोकमें कीर्ति प्राप्त करता है और मृत्युके बाद मोक्षभाजन होता है।'

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥

'प्राणिमात्रका एक सच्चा सजग साथी धर्म ही है, जो मरनेपर भी पीछे-पीछे अनुसरण करता है। धर्मको छोड़कर सभी वस्तुएँ शरीरके साथ-साथ ही नष्ट हो जाती हैं।'

महाभारतमें अहिंसाको धर्म तथा हिंसाको अधर्म बतलाया गया है—

अहिंसालक्षणो धर्मो हिंसा चाधर्मलक्षणा॥

धर्मदीपिकामें वेदविहित क्रियाके द्वारा धर्मका साधन और प्रतिषिद्ध कर्मके द्वारा अधर्मका साधन कहा गया है—

विहितक्रियया साध्यो धर्मः पुंसां गुणो मतः।
प्रतिषिद्धक्रियासाध्यः स गुणोऽधर्म उच्यते॥

योगसारमें प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा और स्मरण—ये पाँच प्रकारके धर्म कहे गये हैं—

प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा।
स्मरणं चैव योगेऽस्मिन् पञ्चधर्माः प्रकीर्तिताः॥

अभीतक जितने प्रमाण उद्धृत किये गये हैं, उन प्रमाणोंसे 'धर्म' गुण अथवा क्रिया ही सिद्ध हो सका है, जो आत्मद्रव्यमें समवाय-सम्बन्धसे रहता है। मीमांसकोंने धर्मके द्वारा एक अपूर्व नामक संस्कारकी उत्पत्ति मानी है और वह जबतक स्वर्गादिकी प्राप्ति नहीं करा देता, तबतक नष्ट नहीं होता—ऐसा वे कहते हैं।

पौराणिकोंने धर्मको द्रव्य माना है। उनका कथन है कि धर्मका जन्म ब्रह्माके स्तनभागसे हुआ है और धर्मकी गणना देवताओंमें है। देखिये मत्स्यपुराण—

अङ्गुष्ठाद्दक्षिणाद्दक्षः प्रजापतिरजायत।
धर्मःस्तनान्ताद्भवद् हृदयात्कुसुमायुधः॥
(३। १०)

'ब्रह्माके दक्षिण अङ्गुष्ठसे दक्षप्रजापति उत्पन्न हुए, स्तनके अन्तभागसे धर्म और हृदयसे कामदेव।'

विष्णुपुराणमें धर्मकी त्रयोदश पत्नियोंके नाम तथा पुत्रोंकी उत्पत्ति कही गयी है—

श्रद्धा लक्ष्मीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिर्मेधा तथा क्रिया।
बुद्धिर्लज्जा वपुः शान्तिः ऋद्धिः कीर्तिस्त्रयोदशी॥
पत्न्यर्थं प्रतिजग्राह धर्मो दाक्षायणीः प्रभुः।

उनके पुत्र—

श्रद्धा कामं च श्रीर्दर्पं नियमं धृतिरात्मजम्।
संतोषं च तथा तुष्टिर्लोभं पुष्टिरसूयत॥
मेधा श्रुतं क्रिया दण्डं नयं विनयमेव च।
बोधं बुद्धिस्तथा लज्जा विनयं वपुरात्मजम्॥
व्यवसायं प्रजज्ञे वै क्षेमं शान्तिरसूयत।
सुखं सिद्धिर्यशः कीर्तिरित्येते धर्मसूनवः॥

श्रद्धा-लक्ष्मी आदि तेरह स्त्रियाँ हैं और कामादि सत्ताईस पुत्र हैं। अन्य पुराणोंमें भी इसी प्रकारकी कथा मिलती है।

वामनपुराणकी कथामें कुछ अन्तर है—

धर्मकी अहिंसा नामक पत्नी हुई, जिससे सनत्कुमार, सनातन, सनक, सनन्दन—चार पुत्र उत्पन्न हुए।

यह कथा अन्य कल्पकी प्रतीत होती है।

पुराणोंमें अर्थवाद नहीं होता—

पुराणेष्वर्थवादत्वं ये वदन्ति नराधमाः।
तैरर्जितानि पुण्यानि तद्वदेव भवन्ति हि॥

इसलिये विष्णुपुराणके श्लोकोंका तात्पर्य यह है कि धर्म जहाँ रहते हैं, वहाँ उनकी पत्नियाँ भी रहती हैं और जो गुण जगत्‌के समस्त प्राणियोंके लिये कल्याणकारी हैं, वे

गुण पुत्ररूपसे धर्मानुष्ठाताके पास रहते हैं। धर्म देवता है, जो प्रत्येक प्राणीके शरीरमें विराजमान हैं।

पद्मपुराणमें धर्मका यह लक्षण है—

पात्रे दानं मतिः कृष्णे मातापित्रोश्च पूजनम्।
श्रद्धा बलिर्गवां ग्रासः षड्विधं धर्मलक्षणम्॥

सत्पात्रको दान, भगवान् श्रीकृष्णमें बुद्धि, माता-पिताका सम्मान, गुरु-वेद-वाक्यमें श्रद्धा, बलि और गोग्रास देना—ये छः लक्षण धर्मके होते हैं।

इज्याध्ययनदानानि धृतिः सत्यं क्षमा दया।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥
(प० तन्त्रसे उद्धृत)

इसी प्रकार धर्मके कहीं आठ भेद, कहीं द्वादश भेद कहे गये हैं। वस्तुतः धर्मके अनन्त भेद हैं।

ब्रह्मवैवर्तपुराणके भी श्रीकृष्णजन्मखण्ड, बयालीसवें अध्यायमें धर्मके स्थान बतलाये गये हैं, जहाँ धर्म निवास करते हैं। देवी पद्मा धर्मसे कहती हैं, यथा—

वैष्णवेषु च सर्वेषु यतिषु ब्रह्मचारिषु।
पतिव्रतासु प्राज्ञेषु वानप्रस्थेषु भिक्षुषु॥
नृपेषु धर्मशीलेषु सत्सु सद्वैश्यजातिषु।
द्विजसेविषु शूद्रेषु सत्संसर्गस्थितेषु च॥
अश्वत्थवटबिल्वेषु तुलसीचन्दनेषु च।
दीक्षापरीक्षाशपथगोष्ठगोपदभूमिषु।
विवाहेषु च पुण्येषु विद्यमानोऽसि शाखिषु॥
देवालयेषु तीर्थेषु सतां शश्वद् गृहेषु च।
वेदवेदाङ्गश्रवणजलेषु च सभासु च॥
श्रीकृष्णगुणनामोक्तश्रुतिगीतस्थलेषु च।
व्रतपूजातपोन्याययज्ञसाक्षिस्थलेषु च॥
गवां गृहेषु गोष्ठेषु विद्यमानो हि पश्यसि।
कृशता ते न भविता धर्म तेषु स्थलेषु च॥

'सम्पूर्ण वैष्णव, यति, ब्रह्मचारी, पतिव्रता स्त्री, ज्ञानी पुरुष, वानप्रस्थ, भिक्षु (संन्यासी), धर्मशील राजा, श्रेष्ठ वैश्य जाति, द्विजसेवक शूद्र, सत्पुरुषोंके संसर्गमें स्थित—इन मनुष्योंमें; पीपल, वट, बिल्व, तुलसी, चन्दन—इन वृक्षोंमें; दीक्षा-परीक्षा,—शपथके स्थान, गोशाला तथा गोचर-भूमियोंमें; धर्मसम्मत विवाह, पुष्प तथा देववृक्षोंमें; देवालयों, तीर्थों तथा सत्पुरुषोंके घरोंमें; वेद-वेदाङ्गके श्रवणमें, जलाशयोंमें, धर्मसभाओं, श्रीकृष्णके नाम तथा गुणोंके कीर्तन-श्रवण और गानके स्थानोंमें; व्रत, पूजा, तप, न्याय, यज्ञ एवं साक्षीके स्थानोंमें एवं गोशालाओं तथा गौओंमें विद्यमान रहकर आप अपनेको पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित देखेंगे। उन स्थानोंमें आप क्षीण नहीं होंगे।'

धर्म कहाँ-कहाँ नहीं जा सकते या नहीं रह सकते—उनके नाम-पते ये हैं—व्यभिचारी नर-नारी, नरहत्याकारी, नीच मनुष्यों और उनके घर; दुष्ट, देवता-गुरु-ब्राह्मण-इष्टदेव तथा पालनीय मनुष्योंका धन हड़पनेवाले, धूर्त, चोर, रतिस्थान, जुआ, मदिरापान, कलहके स्थान, भगवान्-साधु-तीर्थ तथा पुराणोंसे रहित स्थान; डाकुओंके स्नेह, वाद-विवाद, ताड़वृक्षकी छाया, घमंडी मनुष्य, जीवहिंसासे जीविका चलानेवाले, बैल जोतनेवाले, दीक्षा-संध्या तथा भक्तिसे हीन द्विज, अपनी पुत्री तथा पत्नीको बेचनेवाले, देवमूर्तियोंको बेचनेवाले, मित्रद्रोही, कृतघ्न, सत्यनाशक, विश्वासघाती, समर्थ होकर भी शरणागतकी रक्षा न करनेवाले, शरणागतका नाश करनेवाले, सदा झूठ बोलनेवाले, सीमाका अपहरण करनेवाले, काम-क्रोध-लोभवश झूठी गवाही देनेवाले, धोखेसे या अन्यायसे धन कमानेवाले तथा पुण्यकर्मोंका विरोध करनेवाले, हिंसा करनेवाले तथा हिंसाको प्रोत्साहन देनेवाले।

श्रीमद्भागवतमें राजा परीक्षित् वृषभ-रूपधारी धर्म एवं गोरूपधारिणी पृथ्वीके दर्शन करके उनसे कहते हैं कि आप साक्षात् धर्म हैं। सत्ययुगमें आपके तप, पवित्रता, दया और सत्य चार चरण थे। अधर्मके कारण, आसक्ति और मदसे तीन चरण नष्ट हो गये हैं। चौथा चरण 'सत्य' का बचा है।

तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः कृते कृताः।
अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मयसङ्गमदैस्तव॥
इदानीं धर्म पादस्ते सत्यं निर्वर्तयेद्यतः।
(१।१७।२४)

यहाँ वृषभका वर्णन इसलिये किया गया है। 'वर्षति कामान्'—सभी प्रकारकी कामनाओंको जो पूर्ण कर दे, उसे वृषभ कहते हैं। धर्मानुष्ठान करनेसे कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं है। जो लोग आलस्यवश, प्रमादवश, परम्परासे आगत

धर्मका त्याग करते हैं, वे प्रायश्चित्ती हैं। उन्हें पाप लगेगा और उसका फल दुःख भोगना पड़ेगा।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इस चरम मन्त्रसे भगवान्ने यह उपदेश दिया है कि कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोगरूप परम निःश्रेयसके जितने धर्म हैं, उनका मेरी आराधना करते हुए यथाधिकार पालन करो। फल और कर्तृत्वके अभिमानका परित्याग कर दो।

आसक्ति और फलका त्याग ही शास्त्रीय त्याग है—

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥

देहधारी सम्पूर्ण कर्म त्याग नहीं कर सकते, कर्मफलके त्यागीको ही त्यागी कहते हैं—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥

इस धर्मका फल भगवान्‌के नाम-रूप-लीला-धाममें अनुराग होना है—'सब कर फल हरि भगति सुहानी।' गोस्वामीजीने रामनामको सम्पूर्ण धर्ममय बतलाकर रामनाम जपनेसे धर्म स्वयं अनुष्ठित हो जाता है, ऐसा माना है।

राम नाम सब धर्ममय जानत तुलसीदास।

धर्म और सम्प्रदाय

(लेखक—श्रद्धेय स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

सारे विश्वके लिये धर्म तो एक ही होता है—भले ही उसको मानव-सभ्यता कहें, सदाचारका तत्त्व कहें, या शिष्टाचारके सूत्र कहें अथवा मानवताके मूल तत्त्व कहें। इन तत्त्वोंको ही 'धर्म' नाम दिया गया है। इसका कारण यह है कि ये मूलभूत सिद्धान्त यदि किसी प्राणी या पदार्थमें, अथवा व्यक्ति या संस्थामें न हों तो वह उस नामके योग्य ही नहीं रहती। यह बात बिना दृष्टान्तके समझमें नहीं आ सकती। अग्निका धर्म है उष्णता प्रदान करना। यदि इस धर्मको अग्नि छोड़ दे तो वह अग्नि नहीं कहलायगी; बल्कि राख या कोयला कहलायगी। सूर्यका धर्म है उष्णता और प्रकाश प्रदान करना; इस धर्मका यदि लोप हो जाय तो सूर्य इस नामके लायक न रहे और एक पत्थरका गोला कहलाये। जलका धर्म है द्रवता और शीतलता; परंतु इसका यह धर्म यदि अदृश्य हो जाय तो यह बर्फ या भाप कहलाये।

इसी प्रकार यदि मनुष्यको मनुष्यके समान जीना हो तो उसका आचरण कैसा होना चाहिये, इसके लिये पूर्वपुरुषोंने नियम बना दिये और जिस मनुष्यमें वे नियम—सद्गुण न हों, वह 'मानव' कहलाने योग्य नहीं है, बल्कि मानवदेहधारी पशु है—ऐसा निश्चय कर दिया। इस कारण ऐसे आचरणके नियमोंको 'धर्म' नाम प्रदान किया गया; क्योंकि जहाँतक मनुष्य उन नियमोंको धारण किये रहता है, वहींतक वह मनुष्य कहलाता है। धर्म-शब्दकी व्युत्पत्ति भी ऐसी ही है—'धारणाद् धर्मः।' जिसके आचरणसे व्यष्टि तथा समष्टि अपना यथार्थ जीवन धारण करते हैं, उस आचरणविशेषका नाम 'धर्म' है। मनुष्यभावसे पशुभावमें ढलना प्रकृतिका स्वभाव है। इसको रोकनेवाले तत्त्वका नाम धर्म है। इसी कारण आगे चलकर कहते हैं—'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।' अर्थात् जो कोई धर्मका पालन करेगा, वही व्यक्ति या समाज अथवा संस्थाके रूपमें जीवित रह सकेगा; और जो धर्मका पालन नहीं करेगा, उसका शरीर—कलेवर जीवित रहनेपर भी वह मरा हुआ ही है।

आजकल चारों ओर अनीति-अनाचार फैलते ही जा रहे हैं। चोरी, घूस-रिश्वत, सट्टा-जुआ-जैसे अनेकों अनिष्ट असह्य स्थितितक पहुँच गये हैं। शिक्षा-संस्थाएँ जिनका अस्तित्व ही छात्रोंके चरित्रगठनके लिये होता है, वहाँ भी चोरी और घूस-रिश्वत पहुँच गयी है। फलतः परीक्षामें बैठे बिना ही विद्यार्थी उत्तीर्ण हो जाते हैं। इन अनिष्टोंको रोकनेके लिये पाठ्यक्रममें जब धार्मिक शिक्षाका समावेश करनेकी बात कही जाती है, तब ऐसा उत्तर दिया जाता है कि भारतमें अनेक धर्म हैं, अतएव विद्यालयोंमें धार्मिक शिक्षा देनेका प्रबन्ध इस देशमें नहीं हो सकता। परंतु ऐसा कहनेवाले भूल करते हैं; क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया है, सारे विश्वके लिये धर्म तो एक ही है। केवल सम्प्रदाय पृथक्-पृथक् हैं।

अब अपने यह विचार करते हैं कि धर्म और सम्प्रदायमें क्या अन्तर है। जीव अर्थात् शरीरमें रहनेवाला चैतन्य

जैसे नित्य है, वैसे धर्म भी नित्य है। इसीसे यह सनातन कहलाता है। इस प्रकार धर्म अनादि है और सम्प्रदायोंकी स्थापना अवतारी पुरुषोंके द्वारा की गयी होती है। अतएव उनमें देश, काल और समाजके अनुसार कर्म-काण्डकी विशेषता होती है और इस कारण उनका प्रभाव भी सीमित होता है।

यह बात एक रूपक द्वारा इस प्रकार समझी जा सकती है। धर्म आत्मा है और विविध सम्प्रदाय उसके शरीर हैं। सब शरीरोंमें आत्मा एक ही है, तथापि उन शरीरोंके साथ व्यवहार उस शरीरकी आकृति और स्वभावके अनुसार करना आवश्यक है। इसी प्रकार सभी सम्प्रदायोंमें धर्मका तत्त्व एक होनेपर भी उनके कर्मकाण्डमें विभिन्न प्रकार-की विशेषता होनेके कारण उनके व्यवहारकी विभिन्नता अनिवार्य है।

अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग इस बातको इस प्रकार समझ सकते हैं। एक सिक्केकी दो प्रकारकी कीमत होती है—एक स्वरूपगत (Intrinsic Value) मूल्य और दूसरा व्यावहारिक मूल्य (Face Value)। इन दोनों कीमतोंके बीचमें जितना ही अधिक अन्तर होगा, उतना ही अधिक वह सिक्का निम्नकोटिका माना जायगा। आदर्श सिक्केमें दोनों मूल्य समान होते हैं। उदाहरणार्थ खरे सोनेके सिक्कोंमें दोनों मूल्य समान होते हैं। अंग्रेजोंके समयमें रुपयेका स्वरूपगत मूल्य ग्यारह आने था और उसका व्यावहारिक मूल्य सोलह आने था। आजकल हमारे लोहेके रुपयेकी व्यावहारिक कीमत तो सोलह आने रक्खी है। परंतु उसकी स्वरूपगत कीमत एक पैसा भी शायद नहीं है। यही बात धर्म और सम्प्रदायकी है। जहाँ दोनोंके बीच विशेष समानता होती है, वहाँ सम्प्रदाय उच्च कोटिका होता है और जहाँ कम समानता होती है, वहाँ सम्प्रदाय निकृष्ट कोटिका समझा जाता है। व्यावहारिक कीमतके अनुसार जिस राज्यका सिक्का होगा, वहीं माल मिलेगा। लेकिन दूसरे राज्यमें तो उसकी स्वरूपगत कीमतके अनुसार ही मूल्याङ्कन होता है। इसी प्रकार सम्प्रदायकी कीमत उसके अनुयायियोंतक सीमित रहती है। दूसरा उसको मानता नहीं और कभी-कभी उसकी उपेक्षा भी करता है। जब दूसरोंको मनानेके लिये दुराग्रह या हठाग्रह किया जाता है, तब संघर्ष हुए बिना नहीं रहता और संघर्ष जैसे-जैसे तीव्र या उग्र होता जाता है वैसे-वैसे ही रक्तपात बढ़ता जाता है। यूरोपके क्रूसेड्स (Crusades) इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि विश्वके सब सम्प्रदायोंमें तो ऐक्य स्थापित करना सम्भव नहीं है, परंतु धर्मके सिद्धान्त तो एक ही हैं। एक हिंदूधर्ममें ही अनेकों सम्प्रदाय हैं, परंतु धर्मका सिद्धान्त एक ही होनेके कारण कहीं कोई विरोध नहीं आता। समाजमें देखिये तो एक ही परिवारमें अनेक सम्प्रदाय मिलेंगे। उदाहरणके लिये—पति जैन है तो पत्नी वैष्णव; फिर पुत्रवधू आती है तो वह देवीभक्त होती है तथा बच्चे किसी दूसरे ही देवताको पूजते हैं। इस प्रकार एक ही घरमें विभिन्न सम्प्रदाय होते हैं, तथापि व्यवहारमें किसी प्रकारका वैमनस्य नहीं दीखता; क्योंकि धर्ममें भावकी प्रधानता होती है और सम्प्रदायमें क्रियाकी प्रधानता होती है।

कहा जाता है कि धर्मके नामपर बहुत रक्तपात हुआ है, इससे धर्म शब्द ही अनर्थकारी हो गया है। परंतु यह कहना गलत है। उदाहरणार्थ ईसाई-धर्मके नामपर क्रूसेड (Crusade) हुए और बहुत रक्तपात हुआ। स्वयं इंगलैंडमें प्रॉटेस्टेंट और कैथलिक सम्प्रदायोंके झगड़ोंमें भी बहुत रक्तपात हुआ और धर्मप्रेमी मनुष्योंको देश छोड़कर परदेश चला जाना पड़ा। तथापि यूरोपकी कोई भी प्रजा धर्मके नामसे भड़कती नहीं, उन्होंने अपने गिरजाघरोंको तोड़ नहीं दिया है। केवल हमीं अभागे हैं, जो धर्मसे चिढ़ते हैं और उसका नाम भी नहीं लेना चाहते। यह सब अंग्रेजी अक्षर-ज्ञानकी शिक्षाका परिणाम है। आज भी इस शिक्षाकी गुलामीसे छूटनेकी इच्छा नहीं होती, हम इतने पराधीन और अन्धानुकरण करनेवाले हो गये हैं।

रक्तपातका कारण धर्म नहीं है, बल्कि एक सम्प्रदायके कर्मकाण्डका दूसरे सम्प्रदायके कर्मकाण्डके साथ विरोध ही इसका मुख्य कारण है। कुछ सम्प्रदायोंमें भिन्न-धर्मियोंको अपने धर्ममें लाना बड़ा पुण्य माना जाता है। जप-तप आदि कर्मकाण्डद्वारा पुण्य अर्जन करनेमें तो शारीरिक कष्ट सहन करना पड़ता है, परंतु एक मनुष्यको जबरदस्ती धर्म परिवर्तन कराने या विधर्मी बनानेमें स्वयं कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता। इससे धर्मके नामपर जोशमें भरे लोग पुण्य कमानेके लिये कभी-कभी सारी प्रजाको अपने धर्ममें लानेके लिये संघर्ष करते हैं और ऐसे अवसरपर रक्तपात अनिवार्य हो जाता है। उदाहरणार्थ—ईसाईलोग अपने धर्म-के प्रचारमें करोड़ों रुपये खर्च करते हैं और साम-दाम-जैसी युक्ति-प्रयुक्तिसे दूसरोंसे अपना पंथ स्वीकार करानेमें

पुण्य कमाना मानते हैं। औरंगजेबने ऐसा न करके मार-काटके द्वारा सबको मुसल्मान बनानेकी प्रतिज्ञा की थी। इसका परिणाम जो हुआ, उसे जगत् जानता है।

इस लघु निबन्धमें आपने देख लिया कि सारे विश्वके लिये धर्म तो एक ही होता है। वह धर्म सनातन होनेके कारण नित्य है। इसलिये इसमें किसी समयमें कोई परिवर्तन नहीं होता। आपने यह भी देखा कि सम्प्रदाय अनेक हैं और वे आचार्योंके बनाये हुए हैं। अतएव उनमें देश-कालके अनुसार परिवर्तन हुआ ही करता है। इस परिवर्तनके फल-स्वरूप एक सम्प्रदायमें अनेकों शाखाएँ निकल पड़ती हैं और उनमें वाद-विवाद चलता रहता है।

अतएव कल्याणकामी बुद्धिमान् मनुष्यको साम्प्रदायिक झगड़ेमें न उतरकर केवल धर्मका अवलम्बन लेना चाहिये। धर्मसे अर्थ-काम प्राप्तकर—जीवननिर्वाहका साधन प्राप्तकर, यथाप्राप्तमें संतोष मानकर सुखसे रहना चाहिये। इस प्रकारका जीवन व्यतीत करनेसे चित्त शुद्ध होने लगता है और समयानुसार मनुष्य मोक्षका अधिकारी बनता है। इसी कारण सुभाषित कहता है—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः॥

भाव यह है कि शरीर क्षणभङ्गुर होनेके कारण अचानक नाशको प्राप्त होता है और इसकी पहलेसे कुछ सूचना नहीं मिलती। वैभवके साधन भी अवधि आनेपर नष्ट हो जाते हैं। सूर्यके अस्त होनेके साथ-साथ मृत्युका आगमन समीप आता जाता है। इस प्रकार दिन-प्रतिदिन मृत्यु समीप आती जा रही है और वह कब पहुँच जायगी, इसका पता नहीं लगता। इसलिये विवेकी और कल्याणकामी पुरुष धर्मका संग्रह करके जीवनको संतोषपूर्वक बिताये, यही परम शान्तिका उपाय है।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

धर्म और सम्प्रदायका अन्तर

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।
यस्माद् धारणासंयुक्तं स धर्म इति कथ्यते॥ (महाभारत)

'धृञ् धारणपोषणयोः' यह धर्म-शब्दकी व्युत्पत्ति है। 'धृञ्' धातुका अर्थ है धारण करना तथा पोषण करना। इसी धातुसे 'धर्म' शब्द बना है। अतः धर्मका अर्थ है धारण करनेवाला—'धार्यते इति धर्मः।' यह धारण तथा पोषण करना कहाँतक?

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

जिससे इस लोकमें उन्नति हो तथा परलोकमें कल्याण हो, वह धर्म कहलाता है। इसका अर्थ हुआ कि लोक तथा परलोक दोनोंको जो धारण करे, वह धर्म है।

धर्मसे मनुष्य महान् है

अग्निका धर्म है उष्णता। उष्णता ही अग्निके अग्नित्वका धारण करती है। अग्निमें उष्णता न रहे तो वह भस्म होगी, अग्नि नहीं रहेगी। इसी प्रकार मनुष्यमें धर्म न हो तो द्विपाद होकर भी वह पशु या पिशाच भले हो, मनुष्य नहीं कहला सकता। भगवान् व्यासने कहा है—

नहि मनुष्यात् परतरं हि किंचित्।

मनुष्यसे श्रेष्ठ कुछ नहीं है। विश्वकविने इसी स्वरमें स्वर मिलाया—

सर्वोपरि मानुष। मानुषोपरि नाहि।

लेकिन मनुष्य सर्वोपरि क्यों है? तड़क-भड़कवाले वस्त्र पहिननेके कारण? ऊँचे महलोंमें रहनेके कारण? मोटर या हवाई जहाजमें घूमनेके कारण? अथवा शीघ्र-से-शीघ्र अधिक-से-अधिक प्राणियोंके संहारके नवीन-नवीन उपायोंको खोज निकालनेके कारण?

देखिये मनुष्यकी बुद्धिमत्ताकी डींग मत हाँकिये! मनुष्यकी बुद्धिने जितना अनर्थ किया है और कर सकती है, उतना कोई पशु-पक्षी न कर सका, न कर सकता है। योजनापूर्वक विश्वसंहारके शस्त्र पशु नहीं बना सकता। पशु अपने आहारके लिये हिंसा भले करे, पाल-पालकर पशु-पक्षियोंको पेटमें पहुँचानेकी नृशंसता वह नहीं करता।

अच्छा, इसे भी छोड़िये। जंगलमें केवल कौपीन लगानेवाली, पेड़ोंपर रहनेवाली जो जातियाँ हैं, उन्हें आप मनुष्य मानते हैं या कुछ और? हाथी, कुत्ते, घोड़े, कबूतर, चींटियाँ अनेक बार इतनी सूझ-बूझका

धर्मका यथार्थ रहस्य क्या है ?

(लेखक—श्रीकानाईलालजी घटक, एम० पी०)

धर्म कोई मनगढ़ंत वस्तु नहीं है। नित्यकी जीवन-यात्रामें धर्मके साथ मनुष्यका निकट सम्बन्ध है। धर्मसे मिलती है जीवनमें पवित्रता, मनकी शुद्धता—जिससे हम सत्यकी उपलब्धि कर सकें, सत्के अनुपम आलोकका अनुसंधान कर सकें। सत्के आलोकसे आकाशके ज्योतिर्मय पिण्ड आलोकित हैं, वसुन्धरा प्राणमय है और वायु ध्वनित हो रही है। धर्मके यथार्थ रहस्यको न समझकर हमलोग एक-एक व्यक्ति देवताविशेष बनकर लोकसंग्रहके लिये व्यस्त हो रहे हैं। धर्म हृदयकी वस्तु है, अनुभूतिका विषय है। केवल मन्दिर जाकर दो बार सिर झुकाने अथवा चारों धाम घूम आनेसे ही धर्म-सम्पादन नहीं हो जाता।

जीवनभर जिस परमानन्दके स्पर्शके लिये दौड़-धूप करके देह-मनको क्लान्त कर रहे हो, वह बाहरके रूप-रस-गन्धादिमें नहीं है। वह तो अपनी आत्माके ही निभृत कुञ्जमें नित्य विराजमान है। उसे बाहर खोजनेपर कोई कैसे पायेगा ? एक सरल अनुभूतिके भीतर चलकर भगवान्‌के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है। मृण्मय जगत् चिन्मय रूपमें दीख पड़ता है, यही धर्म है। तब लगता है कि भगवान् सबसे बड़े निजजन हैं। फिर तो त्रिलोकीके ऐश्वर्यकी ओर लक्ष्य नहीं रह जाता। तब वह जगत्-विस्मृत होकर देखता है कि उनकी महिमा द्युलोकसे भूलोकतक परिव्याप्त है; ब्रह्मासे लेकर कीटाणुपर्यन्त अणु-परमाणुमें उन्हींकी सत्ता विराज रही है। उस समय उस विश्वप्रेमीका जीवन सहज और सरल हो जाता है, कृत्रिमताका लेशमात्र भी उसमें नहीं रह जाता।

धर्मकी मूलशक्ति हैं—भगवान्। धर्म ही जगत्‌का प्राण है। धर्म ही जीवके आनन्दका स्रोत है। मायाके जालमें पड़ा वासना-क्लिष्ट जीव आज रोग, शोक और तापसे जर्जरित है। वह केवल निराशाके दीर्घ और उष्ण निःश्वास छोड़ रहा है। देहाभिमानी जीव भगवान्‌से बहुत दूर हट गया है। कोई भी दुष्कर्म करनेमें वह कुछ भी भीत या लज्जित नहीं होता। जगत्‌की भूषण-स्वरूपा दया, क्षमा, करुणा आदि अभ्युदयकारी शक्तियाँ आज जगत्‌से मानो लुप्त हो गयी हैं। लोग पशुके समान भोग-लालसाकी परितृप्तिके लिये सदा ही लालायित हैं। वे भूल गये हैं अपने स्वरूपको, भूल गये हैं अपने निजी नित्यनिकेतनको।

अब यह जानना है कि धर्मका यथार्थ रहस्य क्या है। यह विषय अत्यन्त चित्ताकर्षक है। वेदोंमें कर्मकाण्डका प्राधान्य देखा जाता है, वेदान्तमें आत्मतत्त्वकी घोषणा है, सांख्य-मतके अनुसार 'अहं-तत्त्व' का प्रचार होता है, और वैष्णव लोग अपने धर्ममें नवजलधर श्यामसुन्दरकी मोहनीय वंशीध्वनि सुनते और आनन्दमें नृत्य करते हैं। दस्यु रत्नाकर 'मरा मरा' जप करके ब्रह्मविद् हो गया। महाप्रभु गौराङ्गने नाम-प्रचारके द्वारा जगत्‌को उन्मत्त कर दिया। भक्तकवि तुलसीदासजीने एक राम-नामके द्वारा सत्यकी महिमाका प्रचार किया।

वास्तविक धर्म ऐसा ही विराट्, ऐसा ही विशाल है। क्यों न हो ? धर्म 'धृ' धातुसे निष्पन्न होता है। धर्मका अर्थ है धारण करना। धर्म ही जगत्‌को धारण कर रहा है, इसमें कोई संदेह नहीं है। इसी कारण धर्मके सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्य-जालको उच्छेद करना वस्तुतः बड़ा ही कठिन है। परंतु उसमें जो सत्य निहित है, उस सत्यकी महिमा सब धर्मोंमें और सब ग्रन्थोंमें प्रचलित है। पथ और मत विभिन्न हो सकते हैं, किंतु गन्तव्य स्थान एक ही है। जिस प्रकार नदीसे जल लेते समय जिसका जितना बड़ा पात्र होता है, वह उतना ही जल ले सकता है, उसी प्रकार मन-बुद्धिके आधार और गठन-भेदसे हम सत्यको तद्वत् ही ग्रहण कर सकते हैं। परंतु यह सत्य नहीं है कि हमारे मन-गढ़ंत भाव ही ठीक हैं, दूसरे भाव ठीक नहीं हैं। सत्यका स्वरूप अनन्त भावमय है। वह सबके सब रूपोंको ग्रहण करके स्थित है। वह सबका प्रभु है। सर्वशक्तिमान् है।

परंतु जिसको धर्मका रहस्य जानना है, वह जीव ही मायाके आश्रित है। मायाके आश्रयसे हमको यह शरीर प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार काँटेसे काँटा निकाला जाता है, उसी प्रकार इस शरीरका अवलम्बन करके जीव पुनः अपने सत्य स्वरूपको जान सकता है। जबतक जीव मायासे अभिभूत रहता है, तबतक 'धर्म क्या है और उसका यथार्थ स्वरूप क्या है'—यह किसी तरह नहीं समझ पाता।

प्राचीन कालमें ऋषियोंने ध्यानमग्न हो मनःसीमाका अतिक्रम करके परम पदमें प्रतिष्ठित होकर विज्ञानसम्मत-भावसे प्रतिपादन किया है कि 'नित्यं पूर्णमनाद्यन्तं ब्रह्मपरं तदेवैकमेवाद्वैतं सत् ।' जगत्‌की जो कुछ सत्ता है, वह केवल उस विशुद्ध आत्मसत्तासे ही उत्पन्न हुई है । केवल वेद, उपनिषद्, दर्शन पढ़नेसे ही नहीं जाना जा सकता कि 'धर्म' क्या है । यह क्रिया-कर्म-सापेक्ष है । 'तपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि क्रियायोगः ।' तप और स्वाध्यायके द्वारा ईश्वर-प्रणिधान सिद्ध हो सकता है । इस प्रकारसे अनुष्ठित कर्मसमूह क्रियायोगके नामसे अभिहित होता है । तपः-शब्दका अर्थ है तपोलोक या आज्ञाचक्र । उसमें स्व अर्थात् आत्माकी स्थिति होनेपर ईश्वर-प्रणिधान होता है । तपस्याके द्वारा आत्माका ज्ञान प्राप्त होगा । तपस्या क्या वस्तु है ? 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः ।' मन और इन्द्रियों-की एकाग्रता ही परम तपस्या है । काय-मन-वचनसे सत्यका आश्रय लेना होगा तथा नित्य ब्रह्मचर्यमें प्रतिष्ठित होकर साधनाभ्यास करनेपर आत्मदर्शन होगा । परंतु भक्तिके बिना आत्मदर्शन असम्भव है और चित्तशुद्धि हुए बिना भक्तिका उदय नहीं होता । यह चित्तशुद्धि होगी—एकमात्र साधन-भजनके द्वारा ।

कलिके मध्याह्न-मार्त्तण्डकी संतप्त रश्मिमालासे जब जीव संत्रस्त हो उठता है, तब वह धर्मका आश्रय लेता है और सत्यके स्निग्ध समीरणमें शुद्ध-स्नात होकर प्राणको शीतल करना चाहता है—धर्मके रहस्यको जानना चाहता है । परंतु धर्मका तत्त्व बड़ा ही सूक्ष्म है, पथ बड़ा ही गहन है । तुलसीदासजी कहते हैं—

> कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक ।
> होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक ॥

यह ज्ञानका विषय है । इसके विषयमें आलोचना करना भी कठिन है । बहुत शास्त्र-ज्ञान होना आवश्यक है और बुद्धिमें यदि उज्ज्वल वैदिक प्रकाशका अभाव हो तो वह ज्ञान ठीक-ठीक समझमें नहीं आता । यदि घुणाक्षरके समान कुछ ज्ञान हो भी जाय तो उसमें फिर अनेकों विघ्न आ पड़ते हैं । वस्तुतः प्रथम तो अन्धकार होता है, कुछ दीख नहीं पड़ता, फिर गाँठ खोलनी है । इसी कारण इस पथके यात्री कम ही हैं । उपयुक्त वक्ता और श्रोता भी कम हैं । इस धर्मके तत्त्वको जाननेके लिये एक दिन ऋषिकुमार नचिकेताको यमराजके घर जाना पड़ा था और त्रिभुवनके ऐश्वर्यका प्रलोभन त्याग करके धर्मराजके पास रहकर उन्होंने धर्मके रहस्यको जाना था ।

'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'—धर्मका तत्त्व पर्वत-की कन्दरामें खोजते फिरनेसे प्राप्त न होगा । उसे हृदय-कन्दरामें खोजना पड़ेगा । और धर्मका रहस्य जिस-तिसको कहा भी नहीं जाता । बछड़ेको देखकर गायकी स्तन-धारा जैसे स्वतः प्रवाहित होती है, उसी प्रकार उपयुक्त शिष्यको देखकर गुरुके प्रेममय अन्तःस्थलसे अमृतका प्रवाह बहने लगता है । सत्‌के भाव जिनकी मूर्तिमें अङ्कित हैं, वे ही सद्गुरु हैं । उन सद्गुरुकी कृपाके बिना धर्मका यथार्थ रहस्य कोई जान नहीं सकता ।

पुनः, इस धर्मके रहस्यको जाननेके लिये अधिकारी होना चाहिये ।

> ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ।

करुणार्द्र गुरु शरणागत शिष्यको ब्रह्मविद्या या अन्तर्मुखी साधना तत्त्वतः अर्थात् साधन-कौशल आदि उपायोंके साथ बतलाये । परंतु शिष्य यदि जिज्ञासु नहीं है तो ब्रह्मविद्यासे अभिज्ञ पुरुष ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं देता । मोक्षप्रापक कल्याणका प्रार्थी होकर गुरुके संनिधानमें उपस्थित होनेपर मुमुक्षु शिष्यको वे कल्याणका पथ दिखला देते हैं । जिनकी स्वधर्ममें आस्था नहीं है, जो भक्तिहीन हैं, जो शास्त्र, गुरु और ईश्वरमें श्रद्धारहित हैं, उनको साधन-की बात न बताये; क्योंकि जो असंयमी, अशान्त-चित्त हैं तथा जिनकी बुद्धि अभी स्थिर नहीं हुई है, उनको ब्रह्म-विद्या बतलानेपर भी वह कदापि प्रकट न होगी ।

धर्मरहस्यकी बातें वेद, उपनिषद्, गीता और दुर्गा-सप्तशतीमें मुखरित हो रही हैं; परंतु सद्गुरुकी कृपाके बिना तथा आत्म-कृपाके बिना मोक्षधाममें प्रवेश करना दुरूह है । जो विद्वान् साधक आत्मसाक्षात्कारके लिये प्रयत्न करता है, उसीकी आत्मा ब्रह्मधाममें प्रवेश करती है । वहाँ पहुँचनेपर उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती ।

> यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।

आवश्यकता है शास्त्र-सम्मत तपस्याकी तथा विषयासक्ति-शून्य मन और आत्मनिष्ठा-समुत्पन्न बलकी ! परमात्माका स्वरूप इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता । साधनाके द्वारा मन और बुद्धि निश्चल होनेपर ध्याननिष्ठ मनके समक्ष उनका यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होता है । योगिराज गोरखनाथ कहते हैं—

यावद् ध्यानं सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः॥

जबतक ध्यानद्वारा तत्त्वका साक्षात्कार नहीं होता, तबतक ज्ञानकी बातें करना दाम्भिकता और मिथ्या प्रलापमात्र है।

धर्म जीवनमें प्रतिदिन, प्रतिपल व्यवहारकी जीवन-पद्धति है

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

धर्म हमारे दैनिक जीवनका साथी और पथ-प्रदर्शक है, प्रतिदिन और प्रतिपल व्यवहारमें आनेवाली जीवन-पद्धति है। अनेक महान् व्यक्तियोंके जीवनमें धर्मने उन्हें पाप-पङ्कसे बचाया है। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

ईश्वर सब कुछ देखता है

मंगोलियामें चाङ्गशेन नामक एक न्यायाधीश रहते थे। वे बड़े धार्मिक वृत्तियोंके पुरुष थे। वे धर्मको सदा दैनिक व्यवहारमें लाया करते थे। इस कारण अनेक बार उन्हें अभावग्रस्त जीवन भी व्यतीत करना पड़ता था।

एक दिनकी बात है—

उनके एक धनिक मित्र उनके पास आये। शिष्टाचार-की औपचारिक बातें होनेके बाद उन्होंने अशर्फियोंकी एक थैली निकाली और बड़े आदरसे उन्हें भेंट करते हुए कहा—

'हमारे और आपके अतिरिक्त इस धनराशिकी बात कोई नहीं जान सकेगा। कृपाकर आप इस थैलीको रखिये और मेरा काम कर दीजिये। भला, इसे कौन देखता है? कोई भी इस धनके विषयमें चर्चा नहीं करेगा और आपकी प्रतिष्ठाकी भी कोई हानि नहीं होगी। इस गुप्त बातसे निश्चिन्त रहिये। मुझसे यह तथ्य कहीं नहीं फूटेगा।'

धनका लोभ बड़े-बड़े व्यक्तियोंको धर्मके मार्गसे डिगा देता है। आये हुए पैसेको कौन छोड़ता है? और विशेषकर जब वह किसी विश्वस्त व्यक्तिके द्वारा दिया जाय।

वे महोदय यह मान बैठे थे कि रिश्वत स्वीकार कर ली जायगी तथा उनका अनैतिक कार्य चुपचाप हो जायगा।

पर न्यायाधीशके धर्मने अपनी आवाज ऊँची की। वे सदासे धर्मको दैनिक व्यवहारमें लानेके पक्षपाती रहे थे। उनकी अन्तरात्माने उन्हें नैतिक बल दिया और वे बोले—

'मित्र! यह मत कहो कि इस अनैतिक धनको कोई नहीं देखता! नैतिकता मानव-स्वभावका एक अनिवार्य अङ्ग है। मनुष्यकी गुप्त धर्मबुद्धिसे स्वयं उसे आन्तरिक तृप्ति और मनःशान्ति मिलती है। जिस दृष्टिसे हम दूसरोंके कार्योंकी आलोचना करते हैं, उसी कटु दृष्टिसे स्वयं अपनी भी आलोचना करनी चाहिये। इस अनैतिक धनको मांसके नेत्र तो नहीं, पर घर और धरती देखते हैं। आकाशके सैकड़ों नेत्र हमारे गुप्त कार्योंको देखते हैं और सबका मालिक असंख्य नेत्रोंवाला परमेश्वर तो दिन-रात प्रतिपल हमारे बाह्य और आन्तरिक कार्योंको देखता रहता है। मैं यह अनैतिक धन कदापि न लूँगा। अपनी नैतिक बुद्धिके अनुसार ही आपके मुकदमेका निर्णय दूँगा।'

न्यायाधीशने अनैतिक धन नहीं लिया। धर्मकी ही विजय रही।

मैं धर्मबुद्धिकी अवहेलना नहीं करूँगा

सन् १९१५ की एक घटना है।

लोकमान्य तिलकका विचार विदेश जानेका हुआ। धन और यातायात-सम्बन्धी अनेक अड़चनें तो थीं ही, पर एक और अप्रत्याशित कठिनाई आ उपस्थित हुई।

बात यों हुई कि समुद्रयात्राके विरुद्ध तत्कालीन रूढ़ि खड़ी हो गयी। उन दिनों समुद्र-यात्रा धर्मके विरुद्ध मानी जाती थी। जो लोग मन कड़ा करके विदेश-यात्राको चले जाते थे, उनको जाति-च्युत कर दिया जाता था। इससे कोई विदेश-यात्राकी बात ही नहीं सोच पाता था।

तिलकने सोचा, 'उन्नति और देशकी प्रगतिके लिये विदेशोंमें जाकर देखना चाहिये कि उनकी उन्नतिका क्या रहस्य है।' पुराने पण्डितोंसे यदि विदेश जानेकी अनुमति मिल जाय, तो फिर कोई नैतिक अड़चन न रहेगी।'

यह सोचकर महामान्य तिलक काशी पहुँचे और वहाँके एक प्रमुख महामहोपाध्यायसे प्रार्थना की कि 'समुद्र-यात्रासे धर्महानि न होनेकी कोई व्यवस्था वे दे दें तो बड़ा अच्छा हो।'

पण्डितजीने तिलककी प्रार्थनाको सुना। उन्होंने सोचा

कि अच्छा अवसर है। इस मौकेपर तिलकसे रुपया निकालना चाहिये। वे कदाचित् पहले भी धर्मकी आड़में इसी प्रकार दूसरोंसे अपना स्वार्थ-साधन करते रहे थे। अब फिर रुपयेका लोभ सामने आया। उन्होंने समस्याका हल प्रस्तुत करते हुए कहा—

'यह यात्रा धर्मशास्त्रके विरुद्ध है। साधारण स्थितिमें हम किसीको आज्ञा नहीं देते। किंतु आप यदि प्रायश्चित्त रूपमें पाँच हजार रुपये व्यय कर सकें तो विदेश-यात्रा करने और धर्म भी बनाये रहनेकी आज्ञा मिल सकती है। कहिये, क्या आप इस राशिका प्रबन्ध कर सकेंगे?'

तिलक किसी भी शर्तपर विदेश जानेको प्रस्तुत थे। वे यह रुपया आसानीसे जुटा सकते थे। उनकी आर्थिक हालत भी ठीक थी। वे रुपयेका इंतजाम करके जब रुपये देने चलने लगे, तब यकायक उनकी अन्तरात्माने झकझोरकर कहा—

'धर्म ईश्वरका विधान है। नैतिकता हमारे समाजका सुदृढ़ आधार है। यदि यों धर्मबुद्धिकी अवहेलना की जायगी तो समाजकी नैतिक व्यवस्था खण्ड-खण्ड हो जायगी। मुझे अपने स्वार्थवश यह अनैतिक कार्य नहीं करना चाहिये।'

उनका अचेतन मन बार-बार उन्हें नैतिक बुद्धिके विरुद्ध कार्य करनेपर धिक्कारने लगा। उनकी धर्मबुद्धि रुपये देकर धर्मको अपने पक्षमें करनेके लिये धिक्कारने लगी। अपना काम उन्हें अनुचित दिखायी देने लगा। नैतिकताके विरुद्ध आचरण करनेपर उनका भीतरी मन उन्हें कोसने लगा। वे किसी भी प्रकार अपनी धर्मबुद्धिको चुप न कर सके।

अन्तमें उन्होंने यह तय किया कि अधर्म और स्वार्थ-बुद्धिको अपने ऊपर हावी नहीं होने देंगे। धर्मको रुपयोंके द्वारा कलङ्कित नहीं करेंगे।

वे रुपया वापस लिये उलटे पैरों वापस लौट आये और बिना व्यवस्थाके ही कार्य चलाया। उन्होंने नैतिकताकी अवहेलना नहीं की और इससे उनके गुप्त मनमें बड़ी शान्ति रही।

सबसे बड़ा धर्म मानवताकी सेवा

कलकत्तेमें 'स्वामी रामकृष्ण-मठ'की स्थापना हो चुकी थी। उसके सारे भक्त संन्यास लेकर मठमें प्रवेश कर चुके थे। मठका आर्थिक प्रबन्ध मठके खर्चेके लिये लगी जमीनके लाभसे चलता था। संन्यासियोंको भजन-पूजनके अतिरिक्त और कोई कार्य न था।

संयोगसे तभी कलकत्तेमें प्लेगका प्रकोप हुआ।

लोग बुरी तरह बीमार होने और मरने लगे। स्वामी विवेकानन्दजीसे यह न देखा गया और उन्होंने धार्मिक मठ-को शुश्रूषा और चिकित्सा-शिविरमें बदल दिया। सारे अध्यात्म-साधकोंको सेवा-कार्योंमें लगा दिया और कहा—

'बन्धुओ! आज धर्मका रूप बदल रहा है। भगवान्ने अपने सच्चे भक्तों और संन्यासियोंकी परीक्षा ली है। आज मनुष्यता और महामारीके बीच संग्राम छिड़ गया है। आज मठके प्रत्येक संन्यासीको अपने धर्मकी परीक्षा देनी है, अपनी सच्चाईका प्रमाण देना है। रोगी, अनाथ, अपंग, दुर्बल तथा निस्सहायकी परिचर्या धर्मका अङ्ग है। रोगियोंकी इतनी सेवा और परिचर्या करो, इतनी सहानुभूति बरसाओ कि मठमें आया हुआ कोई भी रोगी मृत्युसे पराजित न होने पाये। धनकी कमी होनेपर मैं मठकी भूमि बेच दूँगा। चिन्ता न करना। सेवा धार्मिक कार्य है। रोगियोंकी सेवा ही प्रभुकी सेवा है।'

स्वामी विवेकानन्दजीकी प्रभावोत्पादक पुकारपर मठके सब संन्यासी रोगियोंकी सेवामें धार्मिक कार्यकी तरह जुट गये।

धन नहीं—ज्ञान, भक्ति और विवेक चाहिये

स्वामी विवेकानन्दजी (उस समयके नरेन्द्र) के पिताने जिस बहुतायतसे धन कमाया, उससे अधिक तत्परतासे उसे खर्च भी कर डाला। नतीजा यह हुआ कि जब उनका स्वर्गवास हुआ, तब परिवारकी आर्थिक स्थिति डावाँडोल हो गयी, गुजारा चलना भी कठिन हो गया।

स्वामीजी (नरेन्द्र) उस समय बी० ए० पास कर चुके थे, पर दुर्भाग्यसे उन्हें बहुत प्रयास करनेपर भी कोई नौकरी नहीं मिल सकी। उनकी माँ और छोटे भाई-बहनोंके भूखे रहनेकी नौबत आ गयी।

बी० ए० होकर भी आर्थिक मजबूरी थी। बड़ी विकट परिस्थितिमें वे पिस रहे थे। आखिर करें तो क्या उपाय करें। प्रत्यक्ष कोई तरकीब नहीं सूझती थी।

आखिर विवश और परीशान होकर वे अपने गुरु

श्रीरामकृष्ण परमहंसजीके पास गये और अपनी आर्थिक विवशताकी दर्दनाक हालत उनसे कह सुनायी।

श्रीरामकृष्णजीने बहुत सोचा। फिर उनसे कहा—

'आज तुम काली मातासे जो कुछ माँगोगे, वह सब मिल जायगा; क्योंकि तुम्हारी भक्ति सच्ची है। विश्वासमें ही बल है। श्रद्धा सदा-सर्वदा फलवती होती है। जाओ, माँग लो जाकर।'

स्वामी विवेकानन्दजी परीशान थे। मजबूरी क्या नहीं कराती? क्षुधातुर आदमी कुछ-का-कुछ कर बैठता है, धर्म-अधर्मका विवेकतक प्रायः नष्ट हो जाता है।

स्वामीजीकी भक्ति निश्चय ही अटूट थी।

वे आधीरातके बाद रुपयेकी सहायताकी माँग करनेके लिये काली माताके मन्दिरमें गये।

ओफ! यह क्या हुआ! यह कैसा परिवर्तन!

अब स्थिति यह थी कि वे हाथ जोड़े खड़े हैं और जो कहना चाहते थे, वह यकायक भूल गये हैं।

वे अपने लौकिक स्वार्थको विस्मृतकर यह शब्द बोलने लगे—

'माँ, मैं और कुछ नहीं चाहता। मुझे केवल ज्ञान दे। भक्ति दे। विवेक दे और सांसारिक प्रपञ्चोंसे वैराग्य दे।'

श्रीरामकृष्णजीको इस माँगपर आश्चर्य हो रहा था। यह भूख मिटानेको धन क्यों नहीं माँगता? उन्होंने फिर उन्हें माताके पास भेजा।

एक बार नहीं, तीन बार भेजा—अपनी माँग प्रस्तुत करने और माँके द्वारा उसे पूर्ण होनेका विश्वास दिलाकर।

किंतु आप जानते हैं क्या हुआ?

स्वामी विवेकानन्द एक बार भी माँसे रुपया-पैसा न माँग सके।

संसारसे अज्ञान दूर करना भी एक बड़ा धर्म है

स्वामी विवेकानन्दजीको अपने गुरुकी कृपासे ईश्वरीय दर्शनके साथ तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया था। वे काशीपुरके एक बागमें अपने गुरुकी परिचर्या कर रहे थे।

ज्ञान प्राप्त होते ही स्वामीजीके मनमें एक विचार आया—

'बस, अब मैं संसार त्यागकर एकमात्र समाधिस्थ होकर परमानन्दका अनुभव करता हुआ सम्पूर्ण जीवन एकान्त साधनामें बिताऊँगा।'

अन्तर्यामी गुरुने यह बात जान ली और कहा—

'विवेकानन्द! तुम्हारा यह स्वार्थपूर्ण परमार्थ उचित नहीं। अभी तुम्हें छुट्टी नहीं है। समाज और संसारसे अज्ञान दूर करना भी धर्म है और यह व्यावहारिक धर्म-कार्य अब तुम्हें सम्पन्न करना है। एकान्तमें बैठकर आत्म-सुखका आनन्द तुम्हें अभी नहीं लेना है। अभी अपनी विद्या-बुद्धिद्वारा नैतिक जागरण करो।'

अब विवेकानन्दजी क्या करते!

उन्होंने गुरुकी आज्ञाको शिरोधार्य किया। ब्रह्मानन्दमें लीन हो, एकान्तमें बैठ जानेकी अपेक्षा लोक-सेवामें तन-मनसे लग गये।

धर्मने पापसे रक्षा की थी

महात्मा गांधी बचपनमें न जाने कैसे कुसङ्गतिमें पड़ गये। कुसङ्गति संक्रामक रोगकी तरह विषैली है। उसमें पड़कर मनुष्य प्रायः वे बुरे कार्य करनेपर उतारू हो जाता है, जो सम्भवतः वह साधारण जीवनमें नहीं करेगा।

युवक गांधी एक ऐसी कुविचारपूर्ण दूषित परिस्थितिमें पहुँच गये, जिसमें सिगरेट पीना, मांस खाना और पर-स्त्री-गमन-जैसा पाप कर सकते थे। दुष्ट मित्र उन्हें फुसलाकर एक वेश्याके यहाँ ले गया। वे एक बड़ी ही नाजुक परिस्थितिमें थे। साधारण संस्कारोंवाला मामूली युवक जरूर पथभ्रष्ट हो जाता, पर यकायक गांधीजीके बचपनके धार्मिक सात्त्विक संस्कार जाग उठे। उन्हें इस पापसे बचानेके लिये उनकी धर्मबुद्धि ढालकी तरह रक्षाके लिये खड़ी हो गयी।

जिस प्रकार सख्त डालीको आसानीसे जिधर चाहें, उधर नहीं मोड़ा जा सकता, अथवा कच्चे बर्तनपर बने धब्बे पकनेपर नहीं मिटाये जा सकते, उसी प्रकार मनुष्यके बचपनके धार्मिक संस्कार भी सरलतासे नहीं मिटाये जा सकते। गांधीजीको बचपनसे ही सिखाया गया था कि सिगरेट, मांस-मदिरा और परस्त्री-गमन भयंकर पाप हैं। मनुष्यको इनसे सावधान रहना चाहिये।

गांधीजीकी अन्तरात्मा इस पापके लिये अंदरसे उनकी भर्त्सना करने लगी। नतीजा यह हुआ कि वे पापसे बच

गये। धार्मिक संस्कारोंकी शिक्षा-दीक्षा तथा अभ्यासने उन्हें व्यभिचारके पाप-पङ्कसे बचा लिया।

धर्मबुद्धि सदा हमें पापोंसे सावधान करती है। वह ईश्वरकी आवाज है, जो सदा मनुष्यको ठीक मार्गपर ही चलाती है।

दूसरोंकी सेवाका ध्यान

अहमदाबाद जेलसे छूटनेके बाद पण्डित नेहरूने एक सार्वजनिक सभामें बोलते हुए बताया कि वे निकट भविष्यमें मलाया जानेवाले हैं।

भाषण समाप्त होनेपर उनके पास एक पर्चा आया। उसमें लिखा था—'मेरा बेटा बीमार है। उसके इलाजके लिये अमुक दवा चाहिये। वह दवा मलायाके अतिरिक्त कहीं नहीं मिलती। आप मलाया जा रहे हैं। यदि वापसीमें आप यह दवा लेते आयें, तो बड़ी कृपा होगी।'

नीचे उस व्यक्तिने अपना पूरा पता लिख दिया था।

कहाँ भारत-जैसे देशका एक महान् नेता और कहाँ एक मामूली व्यक्तिका उनसे दवाई लानेके लिये आग्रह। कोई और होता तो वह पर्चेको मरोड़कर यों ही फेंक देता। पर नेहरूजी दूसरोंकी सेवाको धर्मका एक व्यावहारिक अङ्ग समझते थे। जिससे जिसकी जितनी सेवा बने, उसे उतनी सेवा अवश्य करनी चाहिये। रोगियों, गुरुजनों, निर्बलों, वृद्धों और असहायोंकी सेवा धर्म है। मलायाके आवश्यक एवं व्यस्ततम कार्यक्रमोंके बीच नेहरूजी वह दवा लाना न भूले और उसी हिफाजतसे रक्खे हुए मौलिक पर्चेके आधारपर भारत आकर दवा उस रोगीके पास भिजवा दी।

एक बार पण्डित नेहरू कमला नेहरू अस्पताल जा रहे थे। मार्गमें उनकी दृष्टि अपने पिताके समयकी अपंग जमादारिनपर पड़ी। उस जमादारिनने नेहरूजीको गोद खिलाया था। वे तुरंत कार रुकवाकर उतर पड़े और दौड़कर उसके गलेसे लिपट गये।

गद्गद कण्ठसे पूछने लगे, 'मेरी लछमिनियाँ माई! अब तुम कैसी हो?'

जमादारिन प्यारमें आशीर्वाद देकर भावुकतामें रो पड़ी। पण्डितजीका आत्मभाव, परदुःखकातरता और सेवाभाव इतने बढ़े हुए थे कि वे सबका ध्यान रखते थे। उन्होंने जमादारिनके जीवनकी समुचित व्यवस्था कर दी।

सन् १९२९ की बात है—

महात्मा गांधीजीके सार्वदेशिक दौरेके समय श्रीप्रकाशजी और पण्डित नेहरू मसूरीके एक कमरेमें ठहरे हुए थे। यकायक श्रीप्रकाशजीको सिरदर्दका दौरा पड़ गया। जब नेहरूजी दिनभरके कामसे थककर कमरेमें लौटे तो देखा कि श्रीप्रकाशजी आँखें बंद किये पड़े हैं और नौकर उनका सिर दबा रहा है।

पण्डित जवाहरलालने हाल पूछा। चिन्तित हो गये और सहायता-सेवाकी दृष्टिसे लगभग दो-डेढ़ मील चलकर एक केमिस्टकी दूकानसे सिरदर्द दूर करनेकी गोलियाँ लेकर आये और रोगी श्रीप्रकाशजीको खिलायीं। इससे उनका दर्द कम हुआ और वे सुखकी नींद सो सके।

इसी प्रकार १९३३ में कांग्रेस कार्यकारिणीके एक सदस्य श्रीरामशरणको सिरदर्द हुआ। जब श्रीनेहरूको पता चला तो उनका सिर दबाते हुए दवा मलने लगे। बहुत कुछ मना करनेपर भी वे तबतक उनका सिर दबाते और दवा मलते रहे, जबतक कि रोगी महाशय सो नहीं गये।

ये घटनाएँ स्पष्ट करती हैं कि धर्मका एक व्यावहारिक पक्ष भी है, जो दैनिक जीवनमें प्रतिपल प्रतिपग काममें आनेवाला है। धर्म एक व्यावहारिक जीवन-पद्धति है। हमें अपने गुणोंका और आत्माका विकास उन्हें समाजके हितमें लगाकर ही करना चाहिये। गुणोंकी परख आपत्ति-कालमें ही होती है। कष्ट और कठिन परिस्थितियोंमें भी हम धर्मको धारण किये रहें। मनुष्यकी उन्नतिका यही मार्ग है।

मनुष्यमें सद्गुणोंकी खान भरी पड़ी है। ईश्वर अन्तरात्मामें बसे हुए हैं। आवश्यकता इस बातकी है कि हम उन्हें दैनिक जीवन और व्यवहारके द्वारा प्रत्यक्ष करें। हम श्रेष्ठ बनें तथा धर्मको धारण करें तो संसार श्रेष्ठ बनेगा। धर्म हमें अच्छा नागरिक बनाता है। आपमें ईश्वरत्व सो रहा है। भले कार्योंसे, सज्जनता और ईमानदारीसे उसे जाग्रत् कीजिये। धर्मको नित्यप्रतिके व्यवहारमें लाइये। वास्तवमें हमें क्रियात्मक धर्मकी आवश्यकता है। धर्मको जीकर प्रत्यक्ष कीजिये।

व्यक्तिगत दैनिक जीवनमें धर्मका रूप

(लेखक—श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी एम्० ए०, काव्यतीर्थ)

'धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः ।' धर्मके विषयमें जितनी गहराईसे विचार किया जाय, उतनी इसकी शाखा-प्रशाखाएँ सामने आती जायँगी । देशगत धर्म, समाजगत धर्म, व्यक्तिगत धर्म और सर्वोपरि—कालगत धर्म । इसी आधारपर सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुगके भिन्न-भिन्न धर्म कहे गये हैं । उसी प्रकार पराधीन देशवासियोंके धर्म स्वाधीन देशवासियोंके धर्मसे कुछ भिन्न प्रकारके ही होते हैं । भारत-जैसे विस्तृत देशके भिन्न-भिन्न वर्णोंके धर्मोंमें भेद होना स्वाभाविक है । इस देशके प्राचीन धर्माचार्य मनु-याज्ञवल्क्य, व्यास-वसिष्ठादि भिन्न-भिन्न कालमें धर्मके कुछ-कुछ भिन्न रूपोंका निदर्शन कर गये हैं । इसी देशके आर्योंके लिये अनार्योंके धर्मसे भिन्न धर्म बतलाये गये हैं । पञ्चनद प्रदेशके निवासियोंके धर्मसे मिथिलावासियोंके धर्मोंमें कुछ भेद पड़ता है । शीतप्रदेश कश्मीरके निवासियोंका जीवनक्रम विहार, उत्तरप्रदेश, बंगाल, उत्कल आदि उष्णप्रदेशोंके निवासियोंके जीवन-क्रमसे भिन्न है और सदा भिन्न रहेगा । अस्तु,

परंतु धर्मके कुछ मोटे सिद्धान्त हैं, जो सार्वत्रिक एवं शाश्वत हैं । देश-काल तथा व्यक्तिभेदसे धर्मोंके सूक्ष्मरूपमें भेद हो सकता है, स्थूलरूपमें नहीं । पराधीन देशवासियोंका जीवन शासकवर्गके इच्छानुसार अधिकतर चलता है, कुछ तो परवशताके कारण और कुछ अनुकरणशीलताके प्रवाहमें । शासकोंकी बुरी आदतों और बुरी वेष-भूषाकी नकल विजित देशके लोग अन्धानुकरण-न्यायसे किया करते हैं । हमारा देश हजार वर्षोंतक पराधीन रहनेके पश्चात् सत्रह वर्षोंसे स्वाधीन हुआ है; परंतु पराधीनताने इसे नस-नसमें इतना जकड़ लिया था कि सत्रह वर्षोंके बाद भी इसके निवासियोंमें स्वाधीनताके लक्षण परिलक्षित नहीं हो रहे हैं । अधिकतर लोगोंका जीवन पशुवत् हो रहा है । घृणित क्षुद्र स्वार्थसे आक्रान्त होकर देशहित तथा समाजहितकी चिन्तनासे लोग दूर रह रहे हैं । चोरी-डकैती, हत्या और बलात्कारकी घटनाएँ दिनानुदिन बढ़ती जा रही हैं । शहरोंमें छात्राओंपर आये दिन युवकोंकी कुदृष्टि पड़ती रहती है । हालमें ही पटनेमें एक लड़कीके रक्षकके ऊपर घातक छूरेबाजी भी की गयी है । ऐसी विकट परिस्थितिमें सम्प्रति भारतमें धर्मका क्या स्थान रह गया है और आगे इस परिस्थितिके सुधारमें क्या यत्न किया जा सकता है, इसपर विचार करना है ।

भारतमें धर्म-ह्रासके कारणोंमेंसे प्रधान कारण है—चिर-पराधीनता । पराधीन देशवासियोंमें आत्म-चिन्तनकी मात्रा शनैः-शनैः न्यूनतर हो जाती है । वे विजेताओंको प्रसन्न करनेके यत्नमें अपनी स्वाभाविक स्थितिको शनैः-शनैः भूल जाते हैं और उनका व्यवहार छद्ममय (Hypocritical) हो जाता है । वे अधिकतर पाप छिपकर करते हैं, जिनका प्रायश्चित्त शायद नहीं किया जाता और वे निराकृत पाप कर्ता एवं समाजके शरीर तथा आत्माको क्षीण-हीन बना डालते हैं । खुले पापका प्रायश्चित्त आसान होता है । स्वतन्त्र देशके लोग भी पाप करते हैं, परंतु वे खुलकर करते हैं । प्राचीन भारतमें एक समय था जब लोग धर्म तथा ईश्वरसे डरते थे और अज्ञानवश किये गये पापोंका प्रायश्चित्त स्वयं समाजके समक्षमें करते थे । स्मृतिकार शङ्ख और लिखित-नामक भ्रातृद्वयमेंसे किसी एकने दूसरेके बगीचेका फल भूलसे तोड़कर रख लिया था । भूल ज्ञात होनेपर अपराधीने राजाके पास जाकर दण्ड माँगा तो राजाने ब्राह्मणका हाथ कटवा डाला । आजका वह दिन है, जब समाज पापोंसे घुल-घुलकर सड़-पच रहा है और पापको पचा लेना बड़ी बुद्धिमानी और बहादुरीकी बात समझी जाती है । अदालतें खुली हुई हैं, जहाँ बड़े बुद्धिमान् वकील वे ही समझे जाते हैं जो खूनी और आततायीको निर्दोष प्रमाणित करके मुक्त कराते हैं । आज जिनके पास लक्ष्मी तथा अधिकार है, वे आपाद-मस्तक पापोंके कुण्डमें निमग्न रहते हुए भी त्राणके विषयमें निःशङ्क रहते हैं ।

धर्म-बुद्धिके ह्रासका दूसरा कारण हुआ है भारतवासियों-का विधर्मी विजेतावर्गके लोगोंके सम्पर्कमें, विशेषतः पाश्चात्त्यों-के सम्पर्कमें चिरकालतक रहनेसे देहात्मवादके चक्रमें पड़कर परलोककी सुधि भूल जाना । शनैः-शनैः अपने प्राचीन धर्मके आदर्शसे च्युत होकर येनकेनोपायेन प्रचुर अर्थोपार्जनके द्वारा ऐन्द्रियिक विषयोंकी तृप्तिको जीवनका चरम लक्ष्य भारतवासी लोग समझने लगे और यह प्रवृत्ति दिनानुदिन बढ़ती जाकर आज चरम सीमापर पहुँच गयी है । जहाँ जो

लोग जिस पदपर या जिस व्यापारमें लगे हैं, उन्हें एकमात्र चिन्ता रहती है कि किस प्रकार अधिक-से-अधिक पैसा बटोरा जाय। इस एकाङ्गी चिन्तामें बेचारे धर्मको कौन पूछता है। ऐसे बहुतेरे लोगोंके मनमें यह विचार उठता रहता है कि हम जो कुमार्गका अवलम्बन द्रव्यार्थ कर रहे हैं, उसको दूसरा कोई नहीं जानता और इस पापका प्रायश्चित्त हम धर्मकार्यमें कुछ पैसे खर्च करके कर लेंगे। वे यह भी समझते हैं कि उनके समाज तथा पड़ोसमें दूसरे ऐसे बहुतेरे लोग हैं, जो अपने सत्कर्मके द्वारा समाजका मुख उज्ज्वल करते रहेंगे और उनके दुष्कर्मका ध्यान किसीको नहीं रहेगा। इसी विचारधारामें अधिकांश लोग नित्य भगवान्‌की आँखोंमें धूल झोंककर पापी दुर्भर पेटके लिये और अपने बच्चोंको समाजमें सर्वोपरि सुखी, सुसज्जित एवं सुशिक्षित बनानेकी हविशमें पापकर्म किया करते हैं। लोगोंकी ऐसी प्रवृत्ति न भारतीय संस्कृतिकी परम्पराके अनुकूल है और न सनातन परिपाटीके अनुकूल है। भले-बुरे कर्मोंका फल पृथक्-पृथक् भोगा जाता है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

—इस सनातन सिद्धान्तको भारतवासियोंको कदापि नहीं भूलना है।

आज भारतके न्यायाधीश भी प्रायः न्यायासनपर बैठकर नीर-क्षीर-विवेक नहीं कर रहे हैं, यह भारतीय जनताकी व्यापक धारणा है। नये विधानके अनुसार जो मन्त्रिमण्डल बने हुए हैं और आगे बनेंगे, कहनेके लिये उनके हाथमें जन-समूहके कल्याणका भार अर्पित किया गया है; पर जिस निर्वाचन-पद्धतिके अनुसार वे मन्त्री चुने गये हैं, उस पद्धतिमें वे सच्चे लोक-हितका काम नहीं कर सकते। अगले चुनावमें पुनः पद-प्राप्तिकी धुनमें वे मन्त्रिमण्डलकी स्थापनाके दिनसे ही इसी चिन्तामें निमग्न रहते हैं कि कैसे-कैसे विधेयकको पारित करते रहें, जिससे अधिकतर लोग उन्हें लोकोपकारी समझें और भूल-भुलैयामें डाले जाकर पुनः उन्हें वोट दें। विधानकी तहमें यह जन्मजात दोष है और मतदान-के रहस्यको नहीं समझनेवाली भोली-भाली भारतीय जनता-का पिण्ड इस अभिशापसे निकट भविष्यमें छूटेगा—इसकी सम्भावना नहीं है। इस विचारधाराको दृष्टिमें रखते हुए कहा जा सकता है कि सम्प्रति भारतीय समाजमें व्यक्तिगत धर्मका कोई स्थान नहीं रह गया है। गड्डुरिका-प्रवाहसे जन-जीवन चल रहा है। सर्वत्र घूसकी भरमार है—पहले केवल पुलिसके लोग इसके लिये बदनाम थे, अब तो सारे अन्यविभागोंके लोग भी पापके पैसे बटोरनेमें व्यस्त हैं। यह जन-जीवनकी एक साधारण-सी बात हो गयी है। सरकारी कामोंमें न्यायानु-कूल व्ययसे कईगुना अधिक अनुचित व्यय जनताको वहन करना पड़ रहा है। कहा जाता है कि स्वराज्य-सरकारमें किरानियोंका ही शासन चल रहा है। हाकिम मूर्तिवत् मूक बने रहते हैं। किरानियोंकी इच्छाके विरुद्ध विरला ही कोई पदाधिकारी जीभ हिला सकता अथवा कलम उठा सकता है। व्यापारीवर्गके लोग भी खोटी वस्तुओंको उत्तम बताकर उत्तम वस्तुकी दरपर ग्राहकसे अनुचित पैसे वसूलते हैं। संक्षेपमें वक्तव्य यह है कि सम्प्रति भारतीय जनसमूहमें नैतिक स्तर बहुत नीचे गिर गया है और जनतामें परस्पर विश्वास उठता जा रहा है। किसको कौन कब धोखा दे देगा, इसकी आशङ्का बराबर बनी रहती है। सदाचार-प्रचारकी चर्चा बहुत चल रही है। सरकारने भी सदाचार-समिति खोल रक्खी है। भारत-सेवा-समाज भी यत्र-तत्र सेवाकार्यका स्वाँग रचा करता है। वास्तविक ठोस काम कहीं नहीं हो रहा है। मुख्य प्रत्यक्ष कारण यह है कि शासन-सत्ताधिरूढ़ दलके मन्त्रियों तथा विधायिकाके सदस्योंमें येनकेनोपायेन अधिका-धिक धनोपार्जनकी होड़ लगी हुई है। इससे ईर्ष्या तथा द्वेषकी अग्नि बढ़ती जा रही है और देखा-देखी अन्यान्य मार्गसे धन-संग्रहकी ओर लोगोंकी प्रवृत्ति बढ़ रही है।

इन उपर्युक्त सारे अनर्थोंका एक बड़ा कारण है—स्कूल-कॉलेजमें शिक्षाका विकृत उद्देश्य। पाश्चात्य सभ्यताके सम्पर्कमें चिरकालतक रहनेसे इस देशके निवासियोंने विद्यालाभका एकमात्र उद्देश्य समझ लिया है ऐहिक सुखके लिये येनकेन मार्गेण द्रव्योपार्जन करना। इस देशमें प्राचीन आदर्श था **'सा विद्या या विमुक्तये'**। अब इसे ऐसा पढ़िये—**'सा विद्या या विभुक्तये।'** हमारा प्राचीन संस्कृत साहित्य विश्वके साहित्यमें लोक-परलोक-कल्याणके साधनकी दृष्टिसे अनुपम स्थान रखता है। नीति-उपदेशका तो यह खजाना कहा जा सकता है। पर संस्कृतकी दुर्दशा पराकाष्ठापर पहुँच चुकी है। संस्कृत पाठशालाओंमें छात्रोंकी संख्या नहींके बराबर है। जिन छात्रोंको अंग्रेजी स्कूल-कालेजोंमें धनाभावके कारण पढ़नेका साधन नहीं होता, वे ही भूले-भटके संस्कृत विद्यालयोंमें प्रविष्ट होते हैं। देखिये, मनुष्यके जीवनमें विद्याका उद्देश्य किस अनुपम ढंगसे हितोपदेशमें वर्णित है—

विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम्॥

विद्यासे मनुष्य विनयी होता है, विनयी होनेपर समाजमें वह विश्वास-भाजन समझा जाता है, विश्वास-पात्र होनेपर उसे आप-से-आप धन-लाभ होने लगता है, धनके द्वारा वह धर्माचरण करता है, तब वह सुखी होता है। यहाँपर यह बात विशेषरूपसे समझनेकी है कि हमारे प्राचीन मनुष्य-जीवनके आदर्शमें धनसे सुख नहीं लिखा है। धनसे धर्मार्जन लिखा है, धर्मार्जनसे सुख लिखा है। शायद ही विश्वके किसी धर्ममें यह उच्चात्युच्च आदर्श हो। बड़े-बड़े धनी-मानी राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार चिन्ताग्रस्त, दुखी जीवन व्यतीत करते देखे जाते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥

—के चक्रमें उनका जीवन व्यतीत होता है। दूसरी ओर लँगोटीवाले अकिञ्चन महात्मा सुखमय जीवन व्यतीत करते देखे जाते हैं।

परमुखापेक्षी न होकर संतोषमय स्वतन्त्र जीवन बिताना इस देशके महापुरुषोंका लक्षण पुरातनकालसे चला आ रहा है। पर आज विशुद्ध संतोषमय जीवनवालोंकी कहीं पूछ नहीं है। यहाँकी मानापमानकी परम्परा हमारे लिये सदा-सर्वदा सुरक्षणीय है। उसीसे हम अपने वास्तविक कल्याणके भाजन बन सकते हैं। मिथिलामें अयाची मिश्रकी कथा प्रचलित है, जो अत्यन्त कष्टमय किंतु संतोषमय जीवन-यापनके लिये महान् आदर्श छोड़ गये हैं। कई दिनोंतक भूखे रहनेपर भी किसीके सामने कभी उन्होंने हाथ नहीं पसारा। महाराज दरभंगाके यहाँ उस समय शत-सहस्र पण्डितलोग मान-पुरस्कार पा रहे थे, परंतु बुलाये जानेपर भी पं० अयाची मिश्र राजदरबारमें नहीं गये। महाराज स्वयं उनकी कीर्ति सुनकर उनके झोपड़ेमें पधारे थे। ब्राह्मणलोग सदासे समाजमें सदाचारके रक्षक तथा अग्रणी समझे जाते रहे हैं। समाजमें उनका मान-सम्मान धनके ऊपर आश्रित नहीं था। जबसे वे त्यागका त्याग करने लगे हैं, तभीसे वे अग्रगण्यसे पृष्ठगण्य हो गये हैं और उनके विपथगामी होनेसे सारा समाज धनके पीछे धर्म एवं सदाचारको भूलता जा रहा है।

जो लोग पुनर्जन्म एवं वर्ण-व्यवस्थाको विशुद्ध रूपमें मानते हैं, उनके लिये हमारे इस कथनका अभिप्राय स्पष्ट है। पूर्वजन्मके कर्म ही मनुष्यके वर्तमान जन्मके कर्मफलोंके रूपोंके नियामक होते हैं। तत्तत्कुलोंमें जन्म तथा संस्कार पूर्वजन्मके जन्म एवं कर्मोंपर बहुत अंशोंमें आधृत हैं। भारतके नवीन स्वराजी विधानमें सब मनुष्योंको एक समान समझे जानेका नियम बनाया गया है। समस्त देशके स्त्री-पुरुष बराबर मान लिये गये हैं और कागजपर उन्हें समान अधिकार प्राप्त करा दिया गया है। परंतु यथार्थता इससे बहुत दूर है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि सम्प्रति इस देशमें प्रायः सभी वर्गोंके लोग धर्मको तिलाञ्जलि देकर अनाचारपर उतर गये हैं। कहने-सुननेके लिये जनतन्त्र शासनपद्धति बड़ी अच्छी वस्तु है; परंतु यह तभीतकके लिये अच्छी वस्तु है, जबतक प्रजामें सभी वर्गके लोग अपने देशको निजी सम्पत्ति समझकर एकमन तथा एकप्राण होकर इसकी रक्षा और समुन्नतिके लिये लगे हुए रहते हैं। हम तो उस देशके निवासी हैं, जहाँ अनेकानेक ऐसे प्रजावत्सल राजा हुए हैं, जिनका सर्वस्व ही प्रजाकी सुख-समृद्धिके लिये सदा अर्पित रहता था। संसारमें रामराज्यके समान सुशासन शायद ही अन्यत्र हुआ हो। वह एकतन्त्र अथवा राज-तन्त्र था नामके लिये। रामने कहा था सीताको दूसरी बार वनमें भेजते समय—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥
(उ० रा० च०)

'प्रजाको प्रसन्न रखनेके हेतु मैं स्नेह, दया, सांसारिक सुख एवं जानकीका भी त्याग कर सकता हूँ।' भारतके प्राचीन इतिहास-पुराणमें लिखित ऐसा कोई प्रमाण नहीं है, जिससे यह प्रमाणित होता हो कि प्रजासे कर-रूपमें लिये गये द्रव्यका दुरुपयोग कभी किसी राजाने अपने व्यक्तिगत सुख-भोगमें किया हो। राजा-प्रजाका हित समानरूपसे एक था। वहाँ द्वैधको स्थान नहीं था। व्यावहारिक वेदान्तमय प्रजाका जीवन था। आजकी तरह कागजी वेदान्तका बोलबाला नहीं था। यदि आज वह अद्वैतभाव रुपयेमें एक आना भी व्यवहारमें आ जाय तो पुनः भारतसे सारे अनाचार

दूर हो जायँ और सर्वत्र प्रेम और पारस्परिक विश्वासका शान्तिमय वातावरण व्याप्त हो जाय। हमको पुनः प्राचीन आदर्शको पकड़नेका सर्वतोभावेन यत्न करना चाहिये। अब राजतन्त्रका युग नहीं रह गया। जहाँ है भी, वहाँसे निष्कासित किया जा रहा है। अब तो जनतन्त्रको ही सुधार-सँभालकर चलानेसे किसी देशका कल्याण हो सकता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

'संसारमें सब प्राणी सुखी तथा नीरोग रहें। सबका जीवन कल्याणमय हो। कोई दुःख न पाये।' यह हमारे देशके मनुष्योंके व्यक्तिगत दैनिक जीवनकी भावना थी। इसमें पारस्परिक द्वेष और अविश्वासका कोई सम्पर्क नहीं था। सर्वस्व चला जाय, परंतु एक धर्म बचा रहे। यही भावना काम कर रही थी।

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥

और भी देखिये—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

'विषय-सुखकी कामनासे, डरसे, लोभसे अथवा प्राणकी ममतासे भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है। सुख-दुःख क्षणिक हैं। जीवात्मा नित्य है, इसका जन्म लेना और मरण अनित्य हैं।' इन बहुमूल्य धर्मविषयक श्लोकोंको लाखोंकी संख्यामें छपाकर वितरण किया जाना चाहिये। राज्यकी ओरसे देश और समाजमें अधर्म और अनाचारको रोकनेका एक दूसरा प्रबल साधन यह है कि बड़े लोग अपने संचित और संचीयमान धनका बृहद्भाग निजी शान-शौकतमें और लड़के-लड़कियोंके विवाहादिमें अपव्यय न करके जनताके हितमें लगायें और उनके समक्ष मितव्ययिताका उदाहरण उपस्थित करें। इससे उनके प्रति गरीबोंकी ईर्ष्या कम होगी और परस्पर समताका और विश्वासका भाव बढ़ेगा।

सारे संसारमें त्रिकालमें पुण्यात्मा और पापात्मा होते आये हैं और आज हैं, आगे भी होंगे। अन्तर केवल उनकी संख्यामें पड़ता है। इस कलिकालमें पापकी वृद्धि पराकाष्ठापर है। वर्तमान कालके भारतवासी इस कालचक्रमें पड़े हैं। गीतामें कहे गये नियमके अनुसार भगवान्‌का जब अवतार होगा, तभी इस देशको त्राण मिलेगा—ऐसा भासित होता है। पापियोंको सँभल जाना चाहिये। उनके विनाशके लिये तथा धर्मकी पुनः संस्थापनाके हेतु भगवान्‌का अवतार अवश्य होगा देर या सबेर।

बोलो भक्त और भगवान्‌की जय। **'यतो धर्मस्ततो जयः।'**



धर्मकी महिमा

(रचयिता—श्रीराजेन्द्रसिंहजी चौहान)

धर्म मानवताका मूल स्तम्भ है।
धर्म अध्यात्मका अवलम्ब है॥
धर्मसे मिटता सब अज्ञान है।
धर्मसे मिलता सदा ज्ञान है॥

कानून बन्धन है मनुष्यमात्रपर।
धर्म एक नीति है लगी सुपात्रपर॥
धर्मबलसे ज्ञानका संचय हुआ।
धर्मसे अनीतिका अपचय हुआ॥

जब धरापर धर्म होता नष्ट है।
मानवकी ज्ञानशक्ति होती भ्रष्ट है॥
धर्महीन मानव दानव कहा जाता है।
धर्मको मुक्तिकी राह कहा जाता है॥

सत्यका मार्ग एक धर्म है।
धर्म आप भी पुनीत कर्म है॥
धर्मसे मिला ईश्वरका मर्म है।
भूलेको राह दिखाता धर्म है॥

भागवत-धर्म

(लेखक—राष्ट्रपति-पुरस्कृत डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, पुराणाचार्य)

श्रीभगवान्‌के चरणारविन्दके आश्रयमें रहनेवालोंके कार्य-कलापको 'भागवत-धर्म' कहते हैं। **'भागवतानां धर्मा इति भागवतधर्माः।'** दूसरे शब्दोंमें भक्तिकी अनेक विधाएँ ही विभिन्न भागवत-धर्म हैं। श्रीमद्‌भागवत-महापुराणमें भक्तिके नानाविध प्रकारोंका निम्नाङ्कित स्थलोंपर उल्लेख हुआ है—

१. शुकदेवजीके द्वारा महाराज परीक्षित्‌के प्रति उपदिष्ट त्रिविधा भक्ति (२।१।५ और २।२।३६)

२. सूतजीके द्वारा श्रोताओंके प्रति उपदिष्ट चतुर्धा भक्ति (१।२।१४)

३. श्रुतदेवद्वारा श्रीकृष्णभगवान्‌के प्रति निवेदित पञ्चधा भक्ति (१०।८६।४६)

४. नल और कूबरके द्वारा श्रीभगवान्‌के प्रति निवेदित षोढा भक्ति (१०।१०।३८)

५. भगवान् कपिलद्वारा माता देवहूतिके प्रति उपदिष्ट सप्तधा भक्ति (३।२७।२१–२३)

६. प्रह्लादजीके द्वारा हिरण्यकशिपुके प्रति समर्थित नवधा भक्ति (७।५।२३)

७. शौनकके द्वारा सूतजीके प्रति वर्णित दशधा भक्ति (२।३।१९—२४)

८. अम्बरीष महाराजके द्वारा अभ्यस्त एकादशधा भक्ति (९।४।१८—२०)

९. नारदजीद्वारा प्रह्लादको उपदिष्ट द्वादशधा भक्ति (७।७।३०—३६)

१०. श्रीकृष्णभगवान्‌के द्वारा उद्धवको उपदिष्ट त्रयोदशधा भक्ति (११।२९।९—१६)

११. श्रीकृष्णभगवान्‌के द्वारा उद्धवको उपदिष्ट पञ्चदशधा भक्ति (११।१९।२०—२३)

१२. माता देवहूतिके द्वारा कपिलभगवान्‌के प्रति कथित अष्टादशधा भक्ति (३।२७।६—११)

१३. सनत्कुमारजीके द्वारा महाराज पृथुको उपदिष्ट एकोनविंशतिधा भक्ति (४।२२।२२—२५)

१४. कपिलभगवान्‌के द्वारा माता देवहूतिके प्रति उपदिष्ट विंशतिधा भक्ति (३।२९।१५—१९)

१५. श्रीकृष्णभगवान्‌के द्वारा उद्धवको उपदिष्ट चतुर्विंशतिधा भक्ति (११।११।३४—४१)

१६. कपिलभगवान्‌के द्वारा माता देवहूतिके प्रति उपदिष्ट पञ्चविंशतिधा भक्ति (३।२८।२—६)

१७. श्रीऋषभदेवजीके द्वारा अपने पुत्रोंके प्रति उपदिष्ट षड्‌विंशतिधा भक्ति (५।५।१०—१३)

१८. नारदजीके द्वारा महाराज युधिष्ठिरके प्रति वर्णित त्रिंशद्धा भक्ति (७।११।८–१२)

१९. महर्षि प्रबुद्धके द्वारा महाराज विदेहके प्रति उपदिष्ट षट्‌त्रिंशद्धा भक्ति (११।३।२३–३१)

इन उपर्युक्त विधाओंमें नवधा भक्ति अत्यन्त लोक-प्रिय है और प्रसङ्गवश प्रायः इसीका उद्धरण भी दिया जाता है। इसमें भी जो पञ्चम अर्थात् अर्चन है, उसने जन-जीवनमें सर्वाधिक प्रवेश पाया है। आसेतु-हिमाचल सर्वत्र मन्दिरोंमें भगवान्‌का अर्चन सम्पन्न होता है। भारतमें जितने भी देवस्थान हैं, वे सभी अर्चन-नामक भागवत-धर्मके पोषक हैं। देवताओंकी प्रतिमाओंका और उनके आयतनोंका निर्माण संसारमें वैदिक कालसे ही चला आ रहा है[1]। देशको एक सूत्रमें बाँधकर रखनेके कारण इन भजन-भवनोंकी राष्ट्रिय उपादेयतामें किसी संदेहके लिये अवसर नहीं रह जाता।

---

१. (अ) ऋषीणां प्रस्तरोऽसि। नमो दैवाय प्रस्तराय।
(अथर्ववेद १६।२।६)

(आ) क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।
(ऋग्वेद ४।२४।१०)

(इ) देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति।
(षड्विंश ब्राह्मण ५।१०)

(ई) वाग्यतः सह वैदेह्या भूत्वा नियतमानसः।
श्रीमत्यायतने विष्णोः शिश्ये नरवरात्मजः॥
(रामायण २।६।४)

अर्चनका एक और नाम है—'क्रियायोग', जिसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं श्रीमुखसे उद्धवके प्रति किया था और जो भागवतके एकादश स्कन्धके सत्ताईसवें अध्यायमें द्रष्टव्य है।

क्रियायोग-नामक भागवत-धर्मका अनुष्ठाता अपने आराध्य श्रीभगवान्का आराधन अपने हृदयमें अथवा पृथ्वी, जल, अग्नि और सूर्यमेंसे किसी एक माध्यमसे कर सकता है[1]। प्रतिमामें भगवान्का आराधन अत्यन्त लोकप्रिय है। भगवान्के परम मधुर, त्रिभुवन-मोहन रूपका वर्णन शास्त्रमें अनेकत्र हुआ है[2]। उसीके आधारपर प्रतिमाका निर्माण होता है। चल और अचल-भेदसे यह दो प्रकारकी होती है। भक्तकी भावनाको अङ्गीकार करके करुणा-वरुणालय श्रीभगवान् अपनी प्रतिमामें आकर विराजमान होते हैं[3] और इस प्रकार आराधकके लिये अपना सांनिध्य सुलभ कर देते हैं। तत्पश्चात् भक्त अपने भगवान्की सेवामें गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, फल, जल आदि समर्पण करता है। तदनन्तर इष्टमन्त्रसे हवन करके उसी मन्त्रका जप करता है। तत्पश्चात् भगवान्की विविध मनोरम लीलाओंके गान और अभिनयमें तथा उनकी कथाओंके श्रवणमें एवं स्तोत्र-पाठोंमें दत्तचित्त हो जाता है। साष्टाङ्ग प्रणाम करता हुआ वह कहता है—'हे प्रभो! आप प्रसन्न हो जाइये। मैं आपके अशरण-शरण चरणोंकी शरणमें आया हूँ। मेरी रक्षा कीजिये।' यों कहकर वह भगवत्प्रसादको सत्कारपूर्वक स्वीकार करता है।

इस प्रकार क्रियायोग-नामक भागवत-धर्मका आचरण करनेवाला व्यक्ति श्रीभगवान्के परम अनुग्रहसे ऐहिक अभ्युदय एवं सर्वविध कामनाओंको प्राप्तकर निःश्रेयस-नामक परम सिद्धिको भी प्राप्त कर लेता है।

धर्म और भगवान्

मानवके हैं प्राण-आत्मा नित्य अनादि धर्म-भगवान्।
ऋषि-मुनि-संत-भक्त—सबका अनुभूत यही सिद्धान्त महान्॥
धर्मनिष्ठ, भगवद्विश्वासी मानव रहा सुदृढ़ सब काल।
'प्रगति' नामपर पागल हो वह आज कर रहा भूल विशाल॥
छोड़ धर्म-भगवान् चाहता वह भोगोंसे सुख-संदोह।
शीतलताकी आश अग्निसे जैसे, कैसा यह व्यामोह?॥
इसीलिये भर रहा दम्भ, मद, मान, वैरसे सब संसार।
काम-क्रोध-लोभ-भय-हिंसाका हो गया अमित विस्तार॥
बढ़ी प्रबल अति भोग-लालसा, बढ़ा सहज पापोंमें राग।
पशु-पिशाच हो चला आज मानव, कर मानवताका त्याग॥
होता रहा अगर ऐसे ही धर्म-ईश-निष्ठाका ह्रास।
निश्चय ही होगा विकासके मधुर नामपर पतन-विनाश!॥

---

१. अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाप्सु हृदि द्विजः। द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरुं माममायया॥ (भागवत ११।२७।९)

२. (अ) पुंलिङ्गपदावलीद्वारा—

केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्। चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ति॥ (भागवत २।२।८)

(आ) स्त्रीलिङ्गपदावलीद्वारा—

विरिञ्चो भगवान् दृष्ट्वा सह शर्वेण तां तनुम्। स्वच्छां मरकतश्यामां पद्मगर्भारुणेक्षणाम्॥ (तदेव ८।६।३)

(इ) नपुंसकलिङ्गपदावलीद्वारा—

स्फुरत्किरीटवलयहारनूपुरमेखलम्। शङ्खचक्रगदापद्ममालामण्युत्तमर्द्धिमत्॥ (तदेव ४।२४।४८)

३. बिम्बाकृत्यात्मना बिम्बे समागत्यावतिष्ठते। (सात्वतसंहिता ६।२२)

भागवत-धर्म

श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्धमें राजा निमिके साथ नौ योगीश्वरोंके संवादमें 'भागवत-धर्म तथा उसका आचरण करनेवाले भागवतोंके लक्षणोंका सुन्दर वर्णन है। उसीमेंसे कुछ यहाँ दिया जाता है। राजा निमिने पूछा—

धर्मान् भागवतान् ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम्।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः॥
(श्रीमद्भागवत ११। २। ३१)

'यदि हम सुननेके अधिकारी हों तो आप कृपापूर्वक भागवत-धर्मोंका वर्णन कीजिये। भागवत-धर्मसे अजन्मा एकरस भगवान् प्रसन्न होते हैं और उन धर्मोंका पालन करनेवाले शरणागत भक्तको वे अपने-आप तकको दे डालते हैं।'

इस प्रश्नको सुनकर नौ योगीश्वर प्रसन्न हो गये और उनमेंसे 'कवि' नामक योगीश्वरने कहा—'राजन्! अपनी महिमामें नित्य प्रतिष्ठित भगवान्के चरणकमलोंकी नित्य-निरन्तर उपासना करना ही सर्वथा भयशून्य मार्ग है। शरीर, घर, सम्पत्ति आदि असत्, तुच्छ तथा विनाशी पदार्थोंमें अहंता-ममता हो जानेके कारण जिनकी चित्तवृत्ति व्यग्र हो रही है, उनका भय भी भगवान्की उपासना करनेसे पूर्णतया निवृत्त हो जाता है। सरल हृदयके अज्ञानी पुरुषोंको भी सुगमतासे साक्षात् अपनी प्राप्तिके लिये जो उपाय भगवान्ने बतलाये हैं, उन्हें 'भागवत-धर्म' समझो। इन भागवत-धर्मोंपर दृढ़ आस्थाके साथ इनका अवलम्बन करनेपर फिर मनुष्यको किसी भी विघ्नका भय नहीं रह जाता और आँखें बंद करके दौड़नेपर अर्थात् विधि-विधानकी परवा न करके केवल भगवान्पर दृढ़ विश्वास करके उनकी कृपाके बलपर ही उनके प्रीत्यर्थ जीवन बितानेपर भी, फिर न तो वह कभी मार्गसे स्खलित ही होता है और न गिरता ही है। इस भागवत-धर्मका पालन करनेवालेको चाहिये कि वह शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे तथा अहंकारसे अनेकों जन्मोंके तथा इस जन्मके अभ्यास-वश स्वभावसे जो कुछ भी करे, सब परम पुरुषोत्तम भगवान् नारायणको समर्पण कर दे। यही सर्वसुलभ भागवतधर्म है।'

आगे चलकर फिर कहते हैं—

'उस पुरुषको चाहिये कि वह संसारमें चक्रपाणि भगवान्के लोक-प्रसिद्ध जन्मोंकी, कर्मोंकी, गुणोंकी लीलाओंको सुनता रहे और उन गुणों तथा लीलाओंके अनुसार रक्खे गये, उन लीलाओंका स्मरण करानेवाले भगवान्के नामोंका लाज-सङ्कोच छोड़कर गान करे एवं कहीं भी आसक्ति न रखते हुए संसारमें विचरे। इस प्रकार विशुद्ध व्रत धारण करनेवाले भक्तके हृदयमें अपने परम प्रियतम भगवान्के नाम-कीर्तनमें अनुराग—प्रेम उत्पन्न हो जाता है, उसका चित्त द्रवित हो जाता है, वह बड़भागी पुरुष लौकिक स्तरसे ऊपर उठकर सहज ही प्रेममत्त हो कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है, कभी फूट-फूटकर रोने लगता है, कभी उच्चस्वरसे पुकारने लगता है तो कभी मधुर स्वरसे प्रियतम प्रभुके गुणोंका गान करने लगता है और कभी-कभी उन्मत्तकी तरह नाचने लगता है। उसे दीखता है—प्रियतम मेरे सामने खड़े हैं। राजन्! ऐसा वह भक्त केवल चेतन जीवोंमें ही अपने प्रभुको नहीं देखता—वह ऐसा अनुभव करता है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, सब दिशाएँ, वृक्ष-लता, नदी, समुद्र, जो कुछ भी हैं, सभी भगवान्के शरीर हैं—इन सब रूपोंमें भगवान् ही प्रकट हैं और वह जड-चेतन सभीको अनन्य भगवद्भावसे प्रणाम करता है। सबके सामने नत रहकर वह सहज ही सबका अर्चन—हित-साधन करता है। जैसे भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा-निवृत्ति—तीनों प्राप्त होती जाती हैं, वैसे ही भगवान्के शरण होकर उनका भजन करनेवालेको प्रतिक्षण प्रेमास्पद भगवान्के प्रति प्रेम, उनके स्वरूपका अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुमात्रमें वैराग्य—तीनों प्राप्त हो जाते हैं। राजन्! इस प्रकार प्रत्येक वृत्तिसे भगवान् अच्युतके चरणकमलोंका भजन करते-करते उसे भगवान्में प्रेममयी भक्ति, संसारके विषयोंमें वैराग्य और प्रियतम भगवान्के स्वरूपका भलीभाँति बोध—ये सब अवश्य प्राप्त हो जाते हैं। फिर वह परम शान्तिका साक्षात् अनुभव करने लगता है।'

योगीश्वर कविके इस प्रकार कहनेपर राजा निमिने ऐसे भगवद्भक्तके लक्षण, धर्म, स्वभाव, आचरण तथा बोल-चालके सम्बन्धमें पूछा। तब योगीश्वर हरिने कहा—

'आत्मस्वरूप भगवान् समस्त प्राणियोंमें आत्मारूपसे स्थित हैं, सर्वत्र समान रूपसे परिपूर्ण भगवत्-सत्ता है और

समस्त प्राणी-पदार्थ आत्मस्वरूप भगवान्‌में ही (अध्यस्त-रूपसे) स्थित हैं—इस प्रकार जो भगवत्स्वरूपका अनुभव करता है, वह श्रेष्ठ—'उत्तम' भागवत (प्रेमी भक्त) है। जो भगवान्‌से प्रेम, उनके भक्तोंसे मित्रता, दुखी और अज्ञानियोंपर कृपा और भगवान्‌से द्वेष करनेवालोंकी उपेक्षा करता है, वह 'मध्यम' भागवत (भक्त) है और जो भगवत्प्रतिमाकी पूजा आदिमें ही श्रद्धा करता है, परंतु भगवान्‌के भक्तों तथा अन्य लोगोंकी श्रद्धासे सेवा नहीं करता, वह 'साधारण' भगवद्भक्त है। जो इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण तो करता है; पर अनुकूल विषयकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होता और प्रतिकूलकी प्राप्तिमें द्वेष नहीं करता, यही मानता है कि यह सब हमारे भगवान्‌की माया—लीला या कृपा है, वह उत्तम भगवद्भक्त है। जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, श्रम-कष्ट, भय और तृष्णा—ये क्रमशः शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके सांसारिक धर्म हैं, यों मानकर जो इनसे मोहित नहीं होता और भजनमें तन्मय रहता है, वह उत्तम भागवत–भगवद्भक्त है। जिसके मनमें विषय-भोगकी कामना, तज्जन्य कर्ममें प्रवृत्ति और उनके बीजरूप वासनाओंकी उत्पत्ति नहीं होती और जो एकमात्र वासुदेवमें ही निवास करता है, वह उत्तम भगवद्भक्त है। जिसका इस शरीरमें जन्म, कर्म तथा वर्ण, आश्रम और जातिको लेकर कोई अहंभाव (अभिमान) नहीं होता, वह निश्चय ही भगवान् हरिका प्रिय भक्त है। जिसका धन-सम्पत्ति अथवा शरीर आदिमें अपना-पराया—ऐसा भेदभाव नहीं होता, जो सब प्राणी-पदार्थोंमें समरूप परमात्माको देखता है, समदृष्टि होता है और किसी प्रकार भी क्षुब्ध न होकर प्रत्येक स्थितिमें शान्त रहता है, वह निश्चय ही उत्तम भगवद्भक्त है। बड़े-बड़े देवता तथा ऋषि-मुनि आदि अपने अन्तःकरणमें ध्यान करते हुए जिन भगवान्‌को खोजते रहते हैं, उन भगवान्‌के चरणकमलोंसे, त्रिभुवनकी राज्यलक्ष्मी देनेपर भी आधे क्षण, आधे पलके लिये भी जिसकी स्मृतिका तार नहीं टूटता, वह भगवद्भक्तों—वैष्णवोंमें अग्रगण्य—परम श्रेष्ठ है। असीम अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यके समुद्र भगवान्‌के श्रीचरणोंकी अङ्गुलि-नख-मणिकी शीतल चन्द्रिकासे जिन भक्तोंके हृदयका विरह-संताप एक बार शान्त हो चुका है, उनके हृदयमें क्या वह फिर कभी आ सकता है? चन्द्रमाके उदय होनेपर क्या सूर्यका ताप ठहर सकता है? विवश होकर जिनके नामका उच्चारण कर लेनेपर जो समस्त पापराशिका नाश कर देते हैं, उन भगवान्‌के चरणकमलोंको उस भक्तने प्रेम-रज्जुसे बाँध रक्खा है। अतएव वे स्वयं भगवान् हरि क्षणभरके लिये भी उसके हृदयको नहीं छोड़ते। ऐसा पुरुष भगवान्‌के भक्तोंमें प्रधान—सर्वश्रेष्ठ है।

> विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
> द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
> प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
> स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥
> (श्रीमद्भागवत ११। २। ५५)

परम भागवतके लक्षण

प्रभु-सेवामें 'अहं' समर्पित, केवल प्रभुमें मधुर 'ममत्व'।
सुख-दुःखादि सभी द्वन्द्वोंमें, स्वाभाविक हो गया 'समत्व'॥
भोग-मोक्षकी मिटी 'कामना,' रह नहिं गया 'वासना-लेश'।
मिटा 'मोह,' सब नष्ट हो गये 'राग-द्वेष' 'मृत्युभय'-क्लेश॥
नित्य निरन्तर केवल 'प्रभुकी स्मृति'में ही रहता मन लीन।
त्याग सभी 'अभिमान' निरन्तर प्रभुके सम्मुख रहता 'दीन'॥
नित्य निरन्तर करता केवल, एकमात्र 'प्रभुके ही काम'।
सबमें सदा देखता प्रभुका मधुर मनोहर मुख अभिराम॥

परमधर्म भागवत-धर्म

(लेखक—श्रीजयरणछोड़दास 'भगत')

जो 'सत्यं परं धीमहि' एवं 'अहिंसा परमो धर्मः' आदि अद्वितीय परम मन्त्रोंकी दीक्षा देता है और सर्वदेश, सर्वदशा तथा सर्वकालमें सब प्रकारके अधिकारियोंके लिये उद्धारका सरल मार्ग प्रशस्त करता है, वही धर्म समस्त धर्मोंमें परम श्रेष्ठ माना जा सकता है। यही 'भागवत-धर्म' है। भागवत-धर्म एक आदर्श विश्वविद्यालय है, जिसमें ज्ञान-विज्ञान, वैराग्य और भक्तिकी शिक्षा मिलती है। इसमें मनुष्यकी तीन परीक्षाएँ होती हैं। 'मानव' बनना प्राथमिक परीक्षा, 'वैष्णव' बनना माध्यमिक परीक्षा और 'भागवत' बनना सर्वोच्च परीक्षा है। यह धर्म ही उच्चतम आध्यात्मिक जीवन तथा परमानन्दकी प्राप्तिका महान् साधक है।

बहुत प्राचीन समयसे जिसकी ज्ञान-गङ्गाका परम पवित्र प्रवाह चारों दिशाओंमें निरन्तर साक्षात् अथवा परोक्षरूपसे बह रहा है एवं असंस्कृत मानवोंको संस्कृत बना रहा है, वही परम धर्म भागवत-धर्म है, जो वैदिकधर्मका रूपान्तर अथवा सरल संस्करण मात्र है। इसकी महत्ता सर्वोपरि है, व्यापकता अपरिमित है। इतना ही नहीं, परंतु यह धर्म प्राणिमात्रका प्राण है।

भागवत-धर्म विश्वका संविधान है। जिस प्रकार राष्ट्रके लिये एक संविधान होता है, उसी प्रकार सृष्टिका भी संविधान है। जिसको विश्व-शासन कहते हैं, वही भागवत-धर्म है। प्रकृतिका संचालन-कार्य करनेवाली एक शक्ति है, जो अनन्त एवं अगोचर है। यही शक्ति कुछ नैसर्गिक नियमोंके आधारसे विश्वका सर्वाङ्गसुन्दर विकास नियमित करती रहती है। विश्वके संविधान (वेद) का उद्देश्य है—सम्पूर्ण समाजको सदाचारके द्वारा भौतिक स्तरसे आध्यात्मिक स्तरपर पहुँचा देना तथा सारी जड-चेतन समष्टिका कल्याण-साधन करना। यही 'भागवत-धर्म'का उद्देश्य है। अतएव भागवत-धर्मको विश्वका संविधान कहनेमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

जीवात्मापर जब परमात्माकी परम कृपा होती है, तब उसको मनुष्य-जन्म प्राप्त होता है। इससे भी अधिक कृपा होती है, तब सत्सङ्गका लाभ होता है, सत्सङ्गसे ही 'भागवत-धर्म' का ज्ञान प्रकाशित होता है। श्रद्धा और विश्वासपूर्वक धर्मशास्त्रका स्वाध्याय, संतोंका सेवन, प्रभु-सेवाके भावसे जन-सेवा, निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक प्रभुस्मरण, सर्वत्र प्रभु-दर्शन—यही सत्सङ्ग है। सत्सङ्गसे स्वानुभव होता है। स्वानुभव सर्वोत्तम गुरु है। सदाचारका पालन करके शरीर, मन, वाणीको पवित्र निर्मल बनाकर अन्तःकरणकी शुद्धि करना ही स्वानुभव है। अन्तरकी सद्वृत्तिका बाह्यमें आचार-द्वारा दर्शन होता है।

शास्त्रकारों एवं भगवद्भक्तोंने भागवत-धर्मका स्वरूप-दर्शन कराते हुए कहा है कि 'दूसरोंके दुःखोंको जानना, प्राणिमात्रकी सेवा करना, दयाभाव रखना, मिथ्याभिमान नहीं करना, सबको पूज्य भावसे देखना एवं वन्दन करना, गुरुजन (माता, पिता, आचार्य, अतिथि) तथा दुखी प्राणीकी सेवा करना, किसीकी भी निन्दा नहीं करना, मन, वाणी, शरीरपर नियन्त्रण रखना, जितेन्द्रिय बनना, समदृष्टि रखना, तृष्णाका त्याग करना, पर-स्त्रीका स्वप्नमें भी दर्शन नहीं करना, प्राण चले जायँ, पर असत्य नहीं बोलना, किसीके धनकी वासना नहीं करना, काम-क्रोध-लोभ-मोहका त्याग करना, ज्ञान और वैराग्यका विकास करना और प्रपञ्च-कपटसे दूर रहना चाहिये। यह है प्रत्येक मनुष्यको मनुष्यताके पूर्ण आकारपर्यन्त विकसित होनेका मर्यादापथ। इससे मानव मानव बनता है तथा वैष्णव बनता है।

विश्वका कल्याण कैसे हो? ऐसा शुभ विचार सर्वदा करना चाहिये। अधिकार नहीं, कर्तव्य; मेवा नहीं, सेवा; स्वार्थ नहीं, परमार्थ;—इस दृष्टिकोणको अपने सामने रखकर सारे विश्वको ही अपना उपास्य समझना एवं यथाशक्ति सबका हित-साधन—आराधन करना चाहिये। सबके कल्याणके लिये प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये। विपत्तिमें डरना नहीं; भगवान्-की कृपापर सदा परम विश्वास रखना और सबकी सेवाके लिये सदा तत्पर रहना। सर्वसाधारण प्राणियोंकी सेवाकी अपेक्षा भी आपत्ति-ग्रस्त प्राणीकी विशेषरूपसे सेवा करनी चाहिये। प्यासेको पानी, भूखेको भोजन, अतिथिका सत्कार करना चाहिये भगवत्सेवाके भावसे। अच्छे कार्यमें सबको सहयोग देना चाहिये।

विश्वरूपी परमेश्वरकी सेवा-पूजामें अपने तन, मन, धन-को 'पत्रं पुष्पं' भावसे नैवेद्यरूपसे समर्पण करना। सारी

सम्पत्तिका स्वामी परमात्मा है । हमलोग एक विश्वासी व्यवस्थापक हैं—ऐसा विशुद्ध भाव रखना चाहिये । इससे अहंता-ममता चली जाती है । फिर अपने लिये कुछ भी नहीं रहता । इससे भी आगे बढ़कर साक्षात् परमात्माकी शरणागति स्वीकार करके सर्वस्व समर्पण कर देना चाहिये । यही भागवत-धर्म है । इस महामहिम, सर्वश्रेयस्कर, सार्वजनीन परमधर्म भागवत-धर्मकी जय-जयकार हो ।

(२)

(लेखक—पं० श्रीवैद्यनाथजी झा आचार्य, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

(श्रीमद्भागवत)

जहाँतक धर्म-शब्दके वाच्यार्थका प्रश्न है—धर्म-शब्द 'धृ' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है धारण करना । अर्थात् जो जगत्को धारण करे, उसे धर्म कहते हैं । सचमुच संसार धर्मपर ही टिका हुआ है । यदि संसारमें सब अपना-अपना धर्म छोड़ दें तो विश्व एक दिन भी नहीं टिक सकता । पृथ्वीका धर्म है धारण करना, वायुका धर्म है—हवा चलाना और पानीका है प्यास बुझाना । यदि ये सब अपना-अपना धर्म छोड़ दें तो क्या क्षणभर भी जगत् टिक सकता है ? इसी प्रकार मानव मानवका धर्म, पिता पिताका धर्म, माँ माँका धर्म, स्त्री स्त्रीका धर्म छोड़ दे तो जगत् नहीं चल सकता ।

यह धर्म 'सामान्य'-'विशेष' भेदसे दो प्रकारका होता है । 'सामान्य' धर्म वह है, जिसकी मानवमात्रके लिये उपयोगिता हो—जैसे सत्य बोलना, चोरी न करना, हिंसा न करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, प्राणिमात्रपर दया रखना आदि । किसी भी जाति, किसी भी देश या किसी भी कालका रहनेवाला क्यों न हो, सबके लिये जरूरी हैं ये । चाहे कोई संन्यासी हो या वैरागी, अद्वैतवादी हो या विशिष्टाद्वैतवादी, भक्त हो या ज्ञानी, रसिक हो या अरसिक—ये नियम, ये धर्म सबके लिये बराबर पालनीय हैं । चाहे कोई कितना ही बड़ा संत या ज्ञानी-विरागी क्यों न हो, इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । कारण, सदाचारहीन जितेन्द्रिय पुरुषको प्रभु-प्राप्ति कथमपि नहीं हो सकती । क्योंकि—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

—ये स्पष्ट श्रुतिवाक्य हैं ।

विशेष धर्ममें आते हैं—वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, कुल-धर्म, गुरु-धर्म, शिष्य-धर्म इत्यादि । इनमें जिसके लिये जो विहित है, उसीके लिये वह धर्म है—तदितर व्यक्तिके लिये वह आवश्यक नहीं, अपितु प्रत्यवाय-जनक है । उदाहरणार्थ—यदि कोई संन्यासी या वैरागी गृहस्थोंकी तरह आलीशान भवन बनाकर भाँति-भाँतिके भोगोंको भोगता हुआ दिन-रात स्त्री-सम्पर्कमें रहे तो यह उसके लिये अधर्म है और गृहस्थ, संन्यासीकी तरह शिखा-सूत्रसे रहित हो अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको छोड़कर **'अहं ब्रह्मास्मि'**की भावना करने लगे तो यह गृहस्थोंके लिये भी धर्म नहीं हो सकता । इसी तरह संध्योपासन, गायत्रीका जप, अग्निहोत्र द्विजातिके धर्म हैं; पर यदि कोई द्विजेतर राग-द्वेषकी भावनासे अथवा स्वतः गायत्रीका अनुष्ठान, अग्निहोत्र आदि करने लगे तो वह धर्म नहीं कहा जा सकता । विशेष धर्म जिसके लिये विहित है, उसीको उसका अनुष्ठान करना चाहिये । इसी विशेष धर्मको लेकर भगवान्ने गीतामें कहा है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

एक ब्राह्मणके लिये ब्राह्मण-धर्म—वेदका पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना, व्यासगद्दीपर बैठना स्वधर्म हैं, पर क्षत्रिय और वैश्यके लिये पर-धर्म; फिर शूद्रोंकी तो बात ही क्या । एक सवर्ण हिंदूके लिये मन्दिरमें जाकर पूजा करना—स्वधर्म; पर वही असवर्ण हिंदूके लिये पर-धर्म और स्वधर्मको छोड़कर पर-धर्मका अवलम्बन किसी भी स्थितिमें श्रेयस्कर नहीं होता ।

इस प्रकार धर्म-अधर्म, कर्म, अकर्म, विकर्म आदिके नानाविध रूप एवं परिभाषाएँ हैं । बहुत ही सूक्ष्म विषय हैं ये । इन सभी—सामान्य-धर्म, विशेषधर्म, पर-धर्म, वर्ण-धर्म, कुल-धर्म, जाति-धर्म, गुरु-धर्म, शिष्य-धर्म आदि धर्मोंसे विलक्षण सर्वसुलभ, सर्ववादसिद्ध, सर्वशास्त्र-सिद्ध, सर्वजनाधिकृत, सर्वमङ्गलकारक निष्कण्टक होता है एक परम धर्म, जो सबसे बड़ा होता है, जिससे बढ़कर कोई धर्म नहीं, कोई कर्तव्य नहीं । वह है श्रीभगवद्भजन—श्रीहरि-भजन । समस्त व्यास-वाङ्मय, सम्पूर्ण रामायण, समस्त वैदिक साहित्य तथा समग्र स्मृतियोंका परम तात्पर्य है—श्रीहरिभजन । जैसा कि कहा है—

वेदे रामायणे चैव भारते पाञ्चरात्रके ।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥

महाभारतका अन्तिम निर्णय है—

एष निष्कण्टकः पन्था यत्र सम्पूज्यते हरिः ।
कुपथं तं विजानीयाद् गोविन्दरहितागमम् ॥

इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताका सर्वान्तिम उपदेश है—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
... ...
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
(१८ । ६४–६६)

सर्ववादिसम्मत (अर्थात् श्रीशंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, चैतन्य आदि दार्शनिकाचार्य तथा एतदतिरिक्त समस्त वैदिकमतानुयायिसम्मत), सकलोपनिषत्सार, ब्रह्मसूत्रका व्यासकृत निजी भाष्य-स्वरूप, महाभारत-तात्पर्यनिर्णायक, गायत्रीभाष्यभूत, सर्वपुराणमूर्धन्य, महर्षि वेदव्यासविरचित श्रीमद्भागवतमहापुराणका तो कहना ही क्या । इसमें तो पद-पदपर श्रीहरिभक्तिको ही सर्वश्रेष्ठ धर्म, सर्वश्रेष्ठ कर्म, सर्वश्रेष्ठ ज्ञान तथा सर्वोपरि लक्ष्य माना गया है, जैसा कि प्रथम स्कन्धसे ही उपक्रम किया गया है । शौनकादि महर्षियोंने पूछा—

त्वया खलु पुराणानि सेतिहासानि चानघ ।
... ...
तत्र तत्राञ्जसाऽऽयुष्मन् भवता यद्विनिश्चितम् ॥
पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि ।
(श्रीमद्भागवत १ । १ । ६–९)

'हे प्रभो ! आपने समस्त पुराण तथा सम्पूर्ण इतिहासोंका अध्ययन किया है । यह बताइये कि उन सबसे आपने मानवमात्रका ऐकान्तिक श्रेय (कल्याण) क्या निश्चित किया है ।' सूतजीने उत्तर दिया—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति ॥
(श्रीमद्भागवत १ । २ । ६)

अर्थात् प्राणिमात्रका परमधर्म है श्रीहरिमें अहैतुक एवं व्यवधानरहित प्रीति । उपर्युक्त सामान्य-विशेष आदि धर्मोंके अनुष्ठानका भी परम फल है श्रीहरिभक्ति ही । यदि इन वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, कुल-धर्म, जाति-धर्म आदिका सुचारुरूपसे भी अनुष्ठान किया जाय, परंतु यदि इन धर्मोंके अनुष्ठानसे श्रीहरिमें प्रीति न हो, तो यह सारा-का-सारा परिश्रम भुसी कूटनेके समान व्यर्थ है । जैसा कि कहा है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥
(श्रीमद्भागवत १ । २ । ८)

इसलिये सतत अनन्यभावसे भगवान् श्रीहरिके नाम, रूप, लीलाका सतत स्मरण, श्रवण एवं कीर्तन करते रहना चाहिये । जैसा कि कहा है—

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ॥
(श्रीमद्भागवत १ । २ । १४)

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत द्वितीय स्कन्धके आदिमें राजर्षि परीक्षित्के द्वारा यह पूछनेपर कि प्राणिमात्रके लिये क्या श्रोतव्य, मन्तव्य एवं स्मरणीय हैं, मानवमात्रकी भलाई किसमें है, महर्षिप्रवर श्रीशुकदेवजीने कहा—

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥
(श्रीमद्भागवत २ । १ । ५)

'हे भरतनन्दन ! यदि मानव अभयपद चाहता है, परम शान्ति तथा शाश्वत सुख चाहता है, तो उसे सदा भगवान् श्रीहरिका ही श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण करते रहना चाहिये ।' इसी स्कन्धके द्वितीय अध्यायमें इससे भी स्पष्टरूपसे कहा गया है—

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह ।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत् ॥
(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३३)

'वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिको छोड़कर दूसरा कोई भी ऐसा मङ्गलमय मार्ग नहीं है ।' लोक-पितामह ब्रह्माने भी तीन बार आदिसे अन्ततक सम्पूर्ण वेदोंका मथन किया, पर उन्हें भी श्रीहरिभक्तिके अतिरिक्त कोई दूसरा मङ्गलमय मार्ग नहीं दीख पड़ा । अतः प्रतिक्षण सर्वत्र भगवान् श्रीहरिके ही नाम-रूप-लीलाका श्रवण-कीर्तन करना चाहिये ।

भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया ।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत् ॥
तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान् नृणाम् ॥
(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३४, ३६)

—इत्यादि। वस्तुतः सम्पूर्ण ज्ञान एवं समस्त धर्मानुष्ठान-का परम लाभ यही है कि सदा हरिस्मरण बना रहे।

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः॥

(श्रीमद्भागवत २।१।६)

इसी प्रकार तृतीय स्कन्धमें जहाँ श्रीदेवहूति मैयाको भगवान्‌ने परम रहस्य, परम कल्याण एवं गुह्यतम योगका उपदेश दिया है, वहाँ भी भगवान्‌ने भक्तिको ही निःश्रेयस बतलाया है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥

(श्रीमद्भागवत ३।२५।४४)

इसी प्रकार चतुर्थ स्कन्धमें भी स्पष्ट भाषामें कहा गया है—

तत्कर्म हरितोषं यत् सा विद्या तन्मतिर्यया॥

(श्रीमद्भागवत ४।२९।४९)

'वही कर्म कर्म है, जिससे श्रीहरि संतुष्ट हों; वही विद्या विद्या है, जिससे श्रीहरिमें मन लगे।' क्योंकि श्रीहरि ही सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मा एवं स्वयं भगवान् हैं, अतः उनके श्रीचरण-कमलकी शरणागति सर्वमङ्गलदायक है।

हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः।
तत्पादमूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह॥

(श्रीमद्भागवत ४।२९।५०)

संसारमें वही जीवन जीवन है, वही कर्म कर्म है, जिससे विश्वात्मा श्रीहरिकी आराधना हो—

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः।
नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः॥

(श्रीमद्भागवत ४।३१।९)

जिस प्रकार वृक्षके मूलमें सेचन करनेसे पत्र-शाखाओंकी आप-से-आप तृप्ति हो जाती है, उसी प्रकार श्रीहरिकी आराधनासे समस्त देवताओंकी तृप्ति हो जाती है। उनकी अलग-अलग आराधना करनेकी आवश्यकता नहीं। कारण, श्रीहरि समस्त देवताओंके मूल हैं।

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥

(श्रीमद्भागवत ४।३१।१४)

अजामिलोपाख्यानमें स्वयं धर्मराजने परम धर्मका निरूपण करते हुए कहा है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥

(श्रीमद्भागवत ६।३।२२)

'इस लोकमें भगवान् श्रीहरिके नाम-रूप-लीलाओंके कीर्तन-स्मरण-चिन्तनके द्वारा उनका—श्रीहरिका भजन करना ही प्राणिमात्रका परम धर्म है।'

इसी प्रकार सप्तम स्कन्धमें महाभागवत प्रह्लादजीने अपने साथियोंको सम्बोधित करते हुए कहा है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्॥

(श्रीमद्भागवत ७।७।५५)

'प्राणिमात्रका परम स्वार्थ—परम लाभ है श्रीगोविन्दमें ऐकान्तिक भक्ति तथा सर्वत्र उनको ही देखना।' जीवनमें सबसे अच्छी चीज अगर कोई है तो वह है श्रीहरि-भजन।

महाप्रतापी हिरण्यकशिपुने प्रह्लादजीसे पूछा—'बेटा! तुमको सबसे अच्छी चीज क्या लगती है?' तब प्रह्लादजीने जवाब दिया—'**तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनाम्**···**वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत**।' अर्थात् हे असुरश्रेष्ठ पिताजी! अगर हमको आप पूछते हैं कि संसारमें सबसे अच्छी वस्तु क्या है तो मैं तो समझता हूँ कि यह मेरी स्त्री, यह मेरा लड़का, यह मेरा मकान आदि अज्ञानोंके कारण कोटि-कोटि जन्मोंसे चौरासीके चक्रमें भाँति-भाँतिके क्लेशोंसे परम उद्विग्न हुए प्राणियोंके लिये गृह आदिकी आसक्तिको छोड़कर श्रीहरिका भजन करना ही सबसे अच्छी वस्तु है। सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञानका भी यही परम फल है—'**तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्**।'

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीमद्भागवत जो कि विश्वसाहित्यके सर्वोत्तम ग्रन्थ हैं और जिन दोनों ग्रन्थोंको भारतीय समस्त दार्शनिक आचार्यों, भक्तों एवं ज्ञानियोंने एक स्वरसे परम प्रामाणिक ग्रन्थ माना है, इनमें श्रीहरि-तत्त्व ही सर्वश्रेष्ठ तत्त्व एवं श्रीहरिभक्ति ही परम प्राप्य वस्तु मानी गयी है। यह बात उपक्रम-उपसंहार आदि तात्पर्यनिर्णायक सामग्रियोंद्वारा पक्षपातरहित होकर इन

ग्रन्थोंके स्वाध्याय करनेसे स्पष्ट अवगत होती है । इस दृष्टिसे सम्पूर्ण गीता एवं भागवतका निचोड़ है—साध्यरूपमें—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(गीता १५ । १७)

तथा—**एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।**
(श्रीमद्भागवत १ । ३ । २०)

भगवान् श्रीश्यामसुन्दर अक्षर ब्रह्म (निर्विशेष ब्रह्मज्ञानियोंके पारमार्थिक सत्तासम्पन्न तत्त्व एवं चित्-तत्त्व दोनोंसे) उत्कृष्ट पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् हैं । और साधनदृष्टिसे **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** के अनुसार उपायोपेयभावसे भगवद्भजन ही सर्वश्रेष्ठ है। इनसे उत्कृष्ट न कोई साध्य है और न कोई साधन । यह विषय शतशः श्रुतिवाक्य एवं स्मृतिवाक्योंसे परिपुष्ट है। ऋग्वेदका विष्णुसूक्त जगत्प्रसिद्ध है । इसमें श्रीहरि-तत्त्वको ही विश्वका मूल तत्त्व, एवं उनके परमधाम गोलोकको ही दिव्यातिदिव्य, परम मधुर एवं परम रमणीय माना गया है । जैसे कि विष्णुसूक्तके मन्त्र हैं—**'विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि'**···**'यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधि क्षियन्ति भुवनानि विश्वा'**···**'य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा'**···**'विष्णोः परमे पदे मध्व उत्सः'**···**'ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः'** इत्यादि । इसी प्रकार मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, बृहद्धारीत आदि समस्त स्मृतियोंमें विष्णुतत्त्वका ही पारम्य वर्णित है और मोक्षकाम व्यक्तिके लिये श्रीहरिकी आराधना ही परम कर्त्तव्य रूपमें वर्णित है । लेखके कलेवरके विस्तारभयसे हम यहाँ उन विभिन्न स्मृति-वाक्योंका उद्धरण नहीं कर रहे हैं । इस सम्बन्धमें विशेष जानकारीके लिये हमारे पूज्य गुरुदेव पं० श्रीभगीरथ झाजी-द्वारा विरचित 'श्रीभगवत्तत्त्व-सुधानिधि' एवं 'श्रीयुग्म-तत्त्व-समीक्षा' ग्रन्थ देखने चाहिये, जिनमें उन्होंने ऐसे समस्त श्रुतिवाक्यों एवं स्मृतिवाक्योंका संकलन करके बड़ी योग्यता-पूर्वक इस बातका प्रतिपादन किया है कि समस्त आर्ष ग्रन्थोंका परम प्रतिपाद्य विष्णुतत्त्व (श्रीकृष्ण) ही है और भक्तिमार्ग ही सर्वश्रेष्ठ साधन है ।

इस प्रकार सिद्ध है कि श्रीहरिभक्ति ही प्राणिमात्रका परम धर्म है और यही भागवत-धर्म यानी भगवान्‌के भक्तका परम धर्म है । भक्तके लिये भक्तिके अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म नहीं होता । धर्मरूपमें प्रतीयमान धर्मोंका अनुष्ठान भी भक्त भक्त्यर्थ ही करता है, यहाँतक कि भक्तोंकी भक्ति भी भक्त्यर्थ ही होती है, ज्ञानियोंकी तरह चित्तशुद्ध्यर्थ मात्र नहीं । भक्त भक्तिके लिये सब कुछ परित्याग कर सकता है और उसके लिये वही धर्म है । भक्तिका विरोधी चाहे कोई साधन या व्यक्ति क्यों न हो, भक्तिके धर्मशास्त्रमें सब हेय माना गया है । तभी तो प्रह्लादजीने पिताका, बलिने गुरुका, भरतने माँका और व्रजसुन्दरियोंने पतियोंका भी परित्याग कर दिया और वे संसारमें सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माने गये—

पिता तज्यौ प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यौ, कंत ब्रज बनितनि, भये जग मंगलकारी ॥

साधारण भोग-विलासकी तो बात ही क्या, भगवान्‌के भक्तके सामने यदि त्रिभुवनके साम्राज्यका प्रलोभन हो और उससे कहा जाय कि वह क्षणभरके लिये भगवच्चिन्तन छोड़ दे, उसे त्रिलोकीका ऐश्वर्य प्राप्त हो जायगा, तो उसे वह वमनकी तरह परित्याग कर देगा, पर वह भगव-च्चिन्तनको नहीं छोड़ेगा—

'त्रिभुवनविभवहेतवेऽपि'···

रमा बिलास राम अनुरागी । तजइ बमन जिमि जन बड़ भागी ॥

इसके अतिरिक्त प्राणिमात्रपर दया करना, किसीकी निन्दा न करना, विश्वकी भलाई सोचना, परायी स्त्रियोंको अपनी माँ-बहनकी तरह समझना, सत्यभाषण करना, **'सर्वे भवन्तु सुखिनः'** की भावना रखना आदि भागवत-धर्मकी असाधारण विशेषताएँ हैं; क्योंकि भागवत (वैष्णव) धर्मके प्रधान ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीमद्भागवतकी मुख्य शिक्षाएँ हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ॥
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ॥
यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः ॥
अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद् भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥

संसारमें कहाँ है इस प्रकारकी ऊँची शिक्षा, उदात्त भावना तथा विश्वबन्धुत्वकी अनुभूति ? यदि आजका विश्व शान्ति चाहता है, सह-अस्तित्व चाहता है, विश्व-बन्धुत्व चाहता है और चाहता है विनाशकारी नरसंहारसे बचना तो संसारमें भागवत-धर्म (वैष्णवधर्म) का प्रचार करना, गीता एवं भागवतकी शिक्षाका प्रचार-प्रसार करना ही पड़ेगा; अन्यथा आजके जगत्को विनाशके गर्तसे कोई बचा नहीं सकता ।

प्राणीका सर्वोपरि धर्म परमात्मसाक्षात्कार अथवा भगवद्दर्शन

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

शान्त, शुद्ध, पवित्रतम मतिवाले साधककी सर्वोपरि शुद्धतम धर्ममें ही निरन्तर अवस्थानकी चेष्टा होती है; अतः शुद्ध-श्रेष्ठतम धर्म क्या है, यह विचारणीय होता है । इसमें संदेह नहीं कि शुद्धता तथा पवित्रताकी एक-से-एक कोटियोंका विचार तथा उनको पार करते हुए उसकी सीमाको प्राप्त करनेवाला सनातन हिंदूधर्म ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है; क्योंकि अन्य धर्मोंमें न तो आचार-विचार, भोजन-पानादि शुद्धियोंका ही विचार है और न संस्कारादिकी शुद्धि ही । अन्यत्र धर्मोंमें संस्कारके नामपर ४८ के बदले केवल एक विवाह-संस्कार ही चलता है, जिसमें भी विधवा-विवाहादि मान्य होनेसे स्नेह-शुद्धि आदिको तिलाञ्जलि ही दे दी गयी है । अस्तु, तथापि हिंदूधर्म-मीमांसामें भी जगह-जगहपर विभिन्न धर्मोंको श्रेष्ठ कहा गया है । जैसे केवल एक रामचरितमानसमें ही—

परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा ।

(आधारवचन—**अहिंसा परमो धर्मः**)

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीडा सम नहिं अधमाई ॥

(आधार वचन—**परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्**)

धर्म न दूसर सत्य समाना । आगम निगम प्रसिद्ध पुराना ॥
सत्य मूल सब सुकृत सुहाए । बेद पुरान बिदित मनु गाए ॥

(आधार०—**नास्ति सत्यात् परो धर्मः**)

तब मैं हृदयँ बिचारा जोग जग्य ब्रत दान ।
जा कहुँ करिअ सो पैहउँ धर्म न एहि सम आन ॥
प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान ।
येन केन बिधि दीन्हें दान करै कल्यान ॥

(आधार०—**दानमेकं कलौ युगे**)

[ए]कै धर्म एक ब्रत नेमा । काय बचन मन पति पद प्रेमा ॥
[ते]हि ते अधिक धर्म नहिं दूजा । सादर सासु-ससुर-पद-पूजा ॥
[अ]न्य एक जग महुँ नहिं दूजा । मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा ॥

—इत्यादि

और ये बातें केवल सामान्य माहात्म्य अथवा—**'रोचनार्था फलश्रुतिः'**की दृष्टिसे ही कही गयी हों, सो भी नहीं—इनमें तथ्य भी है । किंतु इनमें सामान्य-विशेष, उत्सर्गापवाद भी चलता है और उस समय वस्तुतः सूक्ष्म धर्मतत्त्वका निर्णय करना बहुत ही कठिन हो जाता है—

अहेरिव हि धर्मस्य पदं दुःखं गवेषितुम् ।*

(महा० शा० १३२ । २०)

सूक्ष्मः परमदुर्ज्ञेयः सतां धर्मः प्लवंगम ।
हृदिस्थः सर्वभूतानामात्मा वेद शुभाशुभम् ॥

(वाल्मीकिरामा० ४ । १८ । १५)

महाभारत, कर्णपर्वादिमें भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा हिंसक सत्यसे अहिंसक परम कल्याणकारी असत्यको श्रेष्ठ तथा धर्म बतलाया है । ऐसी ही कथा देवीभागवतमें सत्यव्रतकी आयी है । इसी प्रकार गीतादिमें (हिंस्र भी, पर) धर्मयुद्धके लिये भगवान्का स्पष्ट आदेश है—

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥

(गीता २ । ३१)

धर्मोंमें सबसे बड़ा धर्म कौन ?

तथापि विवेचकशेखर मनीषियोंने विचारकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोटियोंकी परम्पराको पार करते हुए आत्मदर्शन—अर्थात् भगवद्दर्शनको ही सर्वश्रेष्ठ धर्म माना, बतलाया है—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।

(याज्ञव० स्मृ० १ । ७ तथा बृहद्योगियाज्ञवल्क्य० ११ । ३४)

यहाँ विद्वान् टीकाकारोंने 'आत्मदर्शन'का अर्थ स्पष्ट ही परमात्मदर्शन किया है—

आत्मशब्दोऽयं परमात्मनि वर्तते, न तु जीवात्मनि,

---

* अर्थात् जैसे साँपका पदचिह्न ढूँढना कठिन है, वैसे ही धर्मतत्त्वकी पहचान—परीक्षा भी बड़ी दुष्कर है ।

तस्येज्यादिकमन्तरेण समाधिं विनैव च प्राप्तत्वात्, आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः—इति तत्रोत्पत्तिविधिः। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यधिकारविधिः। अत्र हि परशब्देन परमात्माभिधीयते। तदाप्तिश्च तदात्मनैव क्षेत्रज्ञस्यावस्थानम्। तत्र ब्रह्मविदिति पदोपात्ता ब्रह्मविधाकरणं, 'तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' इत्यत्र यज्ञेनेत्यादिना श्रुतिः सकलनित्यनैमित्तिकवर्णाश्रमधर्मोपलक्षणार्थमाचष्टे, अतएव विष्णुपुराणम्—

आराध्यते स्ववर्णोक्तधर्मानुष्ठानकारिणा।
तस्मात् तत्प्राप्तये यत्नः कर्तव्यः पण्डितैर्नरैः॥
तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने।

(अपरादित्यकृत अपरार्क-व्याख्या)

अर्थात् ऐसे सभी स्थलोंपर 'आत्मा' शब्दसे 'परमात्मा' ही परिलक्षित—परिगृहीत होता है। जीवात्मा यहाँ कदापि अभीष्ट नहीं है; क्योंकि वह तो बिना ही योग-समाधिके सबको सदा सर्वत्र प्राप्त ही है। अतः 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' (बृहदारण्यकोप०) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' आदि अधिकारों—प्रकरणोंको देखनेसे परमात्म-दर्शनकी ही विधि बतलायी, अनुष्ठित की जाती है। 'तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति' से भी यह परमात्मा ही अभिप्रेत है। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी भी वसिष्ठके शब्दोंमें मानो इस 'तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन तपसानाशकेन' (बृहदा०४।४।२२) तथा 'यद्योगेनात्मदर्शनम्' इस स्मृति-वचनको ही ध्यानमें रखकर कहते हैं।

तब मैं हृदयँ बिचारा जोग जग्य ब्रत दान।
जा कहुँ करिअ सो पैहउँ धर्म न एहि सम आन॥

जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुतिसंभव नाना सुभ कर्मा॥
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥
……सब साधन कर फल यह सुंदर॥

इस आत्मदर्शन (किंवा परमात्मदर्शन)-प्राप्त विद्वान्को कई वेदज्ञ विद्वानोंके तुल्य माना गया है और उसके द्वारा किये गये धर्म-निर्णयको निर्भ्रान्त माना गया है—

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाध्यात्मवित्तमः॥

(याज्ञव० १।९)

समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धर्मसार जग होइहि सोई॥

साथ ही उपनिषदोंमें इस परमात्मदर्शनके बिना किये गये समस्त प्रयत्नों तथा सफलताओंको व्यर्थ, निरर्थक तथा शोच्य माना गया है—

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते……अन्तवदेवास्य तद् भवति। यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः।

(बृहदारण्यक० ३।८।१०)

कृपणः—पणक्रीत इव दासादिः (शांकरभा०)

दीनः—(आनन्दगिरि)। केवल परमात्मप्राप्त सिद्ध साधकको ही इस लोकमें सफल माना गया है—'य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः।' (वही)

परमात्मप्रापक योगकी विशेषता

इसीलिये परमात्मप्रापक योगकी विशेषता जगह-जगह अत्यधिकरूपमें दीखती है। यथा—

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते। (गीता ६।४४)
योगो हि प्रभवाप्ययौ। (मुण्डक, कठोप०)
योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत्।

(श्रीमद्भा० ११।१५।३४)

'योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्' (गीता ८।२८)
'ज्ञानं तु जन्मनैकेव योगादेव प्रजायते'

(योगशिखोपनिषत् पृ० ३६१, हितचिं० प्र० संस्क०)

न च तीव्रेण तपसा न स्वाध्यायैर्न चेज्यया।
गतिं गन्तुं सुराः शक्ता योगात् सम्प्राप्नुवन्ति याम्॥

(अत्रिधर्मसूत्र १–११)

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(गीता ६।४६)

'यश्च योगे भवेद्भक्तः सोऽपि नास्त्यत्र संशयः। ……
गच्छेतां मत्सलोकताम्।' (महा० शां० २००।३०)
विज्ञानादपि योगश्च योगो भूतिकरः परः।

(महा० शा० १३०।१०-११)

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

इत्येतेऽऽत्मा तथाऽऽत्मनि (महा० शा० ३०६।२०)*

* इसमें सहायक होनेके कारण ही भागवतमें अन्य धर्मोंकी अपेक्षा भगवच्चरित्र-श्रवणको सर्वोपरि सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है—

योगधर्मसार-सर्वस्व—ध्यान-समाधि

इस तरह धर्मका सार योग है और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, **शौच**, तप आदि यम-नियम, प्राणायामादि योगका भी सारसर्वस्व गाढ सुस्थिर ध्यान किंवा समाधिद्वारा नित्य सर्वत्र भगवद्दर्शन या परमात्म-साक्षात्कार है, जिसे 'वेदान्तसार' भी कहा जाता है। शास्त्रोंमें एक क्षणका भी इस ध्यान-समाधिकी सर्वोपरि महिमा सुस्पष्टरूपसे स्थान-स्थानपर निरूपित दीख पड़ती है।

यथा '**ध्यायीतेशानं**'.....'अधिकं क्षणमेकं क्रतुशतस्यापि'

(अथर्वशिखोपनिषद् ३—९)

नाश्वमेधेन तत्पुण्यं न चैव राजसूयतः।
यत्पुण्यमेकध्यानेन लभेद्योगी स्थिरासनः॥

(काशीखण्ड ४१। १२२)

इसीलिये गीतादिमें ध्यानको ज्ञानसे भी श्रेष्ठ कहा गया है—

ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते (गीता १२। ११½)

वेदाच्छ्रेष्ठः सर्वयज्ञक्रियाश्च
यज्ञाज्जप्यं ज्ञानमार्गश्च जप्यात्।
ज्ञानाद् ध्यानं सङ्गरागव्यपेतं
तस्मिन् प्राप्ते शाश्वतस्योपलब्धिः॥

(मार्क० योगाचर्याध्याय ४१। २५)

वेदान्तदर्शन ३। २। ५ में इसके द्वारा शीघ्र ही सारूप्य-लाभकी बात कही गयी है—'**पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ।**'

यही शुद्धतम धर्म भी

उपनिषदों, योगशास्त्रों तथा ब्रह्मपुराणादि ग्रन्थोंमें इस ध्यानको—शुद्धैकतत्त्व-चिन्तनको विशुद्धतम धर्म कहा गया है—

ततोऽभ्यासपाटवात् सहस्रशः सदा धर्मामृतधारा वर्षति ततो योगवित्तमाः समाधिं धर्ममेघं प्राहुः॥

(पैङ्गलोपनिषद् ३। १३-१४)

श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधनाः।
वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणाद्यस्य लभ्यते॥

(भाग० माहात्म्य०)

यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः।
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः॥

(भाग० १। ५। ९)

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते।
धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः।*
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः॥

(पञ्च० १। ५९-६०)

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः। (योगदर्शन ४। २९)

मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं परमं तपः।
विज्ञेयः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते॥

(ब्रह्मपुराण २३७। १७, गा० २२९। २०)

विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री-
तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा
यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते॥
म्रियमाणैरभिध्येयो भगवान् परमेश्वरः।
आत्मभावं नयत्यङ्ग सर्वात्मा सर्वसंश्रयः॥

(श्रीमद्भा० १२। ३। ४८, ५०)

तब लगि हृदयँ बसत खल नाना। काम क्रोध मत्सर अभिमाना॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥
ममता तरुन तमी अँधिआरी। पाप उलूक निकर सुखकारी॥
तब लगि बसत जीव उर माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं॥

* महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म० १९५। ३०६ तथा २४९-

---

† इसी प्रकार सांख्यकारिका (२) के 'ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' की चन्द्रिका, तत्त्वकौमुदी, माठर, सारबोधिनी, तत्त्वविभाकर आदि व्याख्याओंमें तथा योगदर्शन (४। ७) के 'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' के व्यासभाष्य-शांकरविवरण, वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु, भोजादि विवृति, वार्तिकोंमें धर्मके चार प्रकार बतलाये गये हैं— १—कृष्णधर्म, २—शुक्लकृष्णधर्म, ३—शुक्लधर्म और ४—अशुक्लाकृष्णधर्म। इनमें दुरात्माओंके तामसी श्रद्धासे सम्पादित धर्म (द्रष्ट० गीता १७। ४—६, १३, १९, २२) तो कृष्ण **हैं**, राजसी अश्वमेधादि काम्यिक हिंसामयी क्रियाएँ **शुक्लकृष्ण हैं**, जप-स्वाध्यायादि धर्म **शुक्ल हैं** और ध्यान-समाधिजन्य शुद्धतम धर्म अशुक्ला-कृष्ण—दिव्य धर्म हैं—

गुणाहेतुका निजानन्दफलिका सम्प्रज्ञातसमाध्यादिरूपा क्रिया अशुक्लाकृष्णो धर्मः। (सरबोधिनी)

इस प्रकार यहाँ भी ध्यानसमाधिद्वारा परमात्मदर्शनको सर्वश्रेष्ठ (धर्म) कहा गया है।

२५० एवं ब्रह्मपुराणके २३७ वें अध्यायमें 'सर्वधर्म-विशिष्ट धर्म-निरूपण' नामके अध्याय ही हैं। इनमें सर्वत्र ध्यान-चिन्तनको ही सर्वोपरि धर्म बतलाया गया है। इनमें श्रीशुकदेवजी [कहीं-कहीं मुनिगण] श्रीव्यासजीसे प्रार्थना करते हैं कि प्रभो! जो सबसे बड़ा धर्म हो आप उसे बतलानेकी कृपा करें—

यस्माद्धर्मात्परो धर्मो विद्यते नेह कश्चन।
यो विशिष्टश्च धर्मेभ्यस्तं भवान् प्रब्रवीतु मे॥
(ब्रह्मपुराण २३८। १५ तथा महा० शान्ति० २५०। १ इत्यादि)

इसके उत्तरमें भगवान् वेदव्यासजी बोले—

धर्मं ते सम्प्रवक्ष्यामि पुराणमृषिभिः कृतम्।
विशिष्टं सर्वधर्मेभ्यस्तमिहैकमनाः शृणु॥
(महा० शान्ति० २५०। २; ब्रह्मपुराण २३७। १६)

अर्थात् ऋषियोंने जिस धर्मको प्राचीन कालसे परम विशिष्ट धर्म—सर्वोपरि श्रेष्ठ धर्म माना है, उसे बतला रहा हूँ; आपलोग उसे ध्यान देकर सुनें।

मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं परमं तपः।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते॥
गोचरेभ्यो निवृत्तानि यदा स्थास्यन्ति वेश्मनि।
तदा त्वमात्मनाऽऽत्मानं परं द्रक्ष्यसि शाश्वतम्॥
(शा० २५०। ४, ६; ब्र० २३७। १८, २०; गरुड० २२९। २०)

अर्थात् मानस-निरोध—सर्ववृत्तिशून्यता ही सर्वोपरि धर्म एवं तपस्या है। जब सारी वृत्तियाँ तथा इन्द्रियाँ निरुद्ध होकर सुस्थिर हो जाती हैं, तब तुम अपनी ही आत्मामें परमात्माका दर्शन करने लगोगे। जैसे बहुशाखी वृक्षको अपने पत्र-पुष्प-फलोंका कोई ज्ञान नहीं होता, वैसे ही अज्ञजन उस अपने परम आत्माको ही नहीं जान पाते। पर अभ्यासी जन ज्ञानदीपके सहारे उस आत्माका दर्शन करते हैं। आत्मदर्शनसे ज्ञानी पुरुषके समस्त पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं—

···सर्ववित्।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यो मुक्तत्वच इवोरगः।
परां बुद्धिमवाप्येह विपाप्मा विगतज्वरः॥

यही धर्म विद्वानों तथा विवेचकोंद्वारा सर्वोपरि सर्वश्रेष्ठ माना गया है—

एनं वै सर्वधर्मेभ्यो विशिष्टं मेनिरे बुधाः।
धर्मं धर्मभृतां श्रेष्ठा मुनयस्तत्त्वदर्शिनः॥
(महा० शा० २५०। १९; ब्रह्मपुराण, सर्वधर्मविशिष्टधर्म-निरूपणाध्याय २३७। ३३-३४)

यही बात महाभारतोक्त (अनु० पर्व १४७ अ०) विष्णुसहस्रनामके—

को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः।
एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः॥
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा।

तथा भागवतके—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥······
तस्मादेकेन मनसा······ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥
(१। २। ६, १४)

—आदि शब्दोंमें कही गयी है।

समाहित ध्यानकी महत्ता इससे भी स्वीकार करनी पड़ती है कि तन्त्र-मन्त्र, शास्त्र, सांख्य, योगादि (राजयोग, लययोग, हठयोगादि) शास्त्रों, वृद्धहारीतस्मृति, बृहत्पाराशर, विश्वामित्रस्मृति आदि धर्मशास्त्रों, मीमांसा-ग्रन्थों एवं विष्णुधर्म, भविष्य, मत्स्यादि पुराणोंमें भी इसे सविस्तर निरूपणकर इसे ही परम लक्ष्य माना गया है। यद्यपि अन्यत्र योगपद्धतियों, तान्त्रिक मार्गों—साधनाओंकी अपनी स्वतन्त्र दिशाएँ हैं, तथापि ये सभी ध्यानको ही लक्ष्यकर अग्रसर होती हैं। ध्यान ही सबको अभीष्ट है। ध्यान-समाधिद्वारा नित्य सर्वत्र परमात्म-दर्शन ही वेदान्तको भी अभीष्ट है। योगवासिष्ठ तथा उपनिषदोंके प्रायः प्रत्येक वाक्यमें इसीका निरूपण है। परम योगी तथा जगद्वन्द्य यतिका भी एकमात्र यही धर्म माना गया है कि वह नित्य-निरन्तर अखण्ड ध्यानमें लीन रहे—

'ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्।' (अमृत-नाद ८, मनु० ६। ७२, विष्णुधर्म २। १३१। ४०; अत्रिधर्मसूत्र १। १०; श्रीमद्भा० ३। २८। ११; वायुपुराण १०। ९३)

ध्यानयोगेन सम्पश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥
···ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम्॥
(मनु० ६। ७३-७४, ७९)

ध्यानिकं सर्वमेवैतद् यदेतदभिशब्दितम् ।
न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते ॥
(मनु० ६ । ८२)

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥
(मनु० १२ । १२२)

यहाँ **'स्वप्नधीगम्य'** का सभीने ध्यान-समाधिसे जानने योग्य अर्थ किया है । स्वामी दयानन्दजी (आर्यसमाजके प्रवर्तक) को भी यही अर्थ अभीष्ट रहा ।

ध्यानयोगेन संदृश्यः ··· ··· ··· ··· ···
ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ।
(याज्ञ० स्मृ० ३ । ६३, ११०)

यही संसारका सबसे बड़ा सुख भी

'सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।'
'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।'
(गीता)

न तत्पुरुषकारेण न च दैवेन केनचित् ।
सुखमप्येति तत्तस्य यदेवं संयतात्मनः ॥
'स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।'
(गीता ५ । २१)

'प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति··············· ॥
(गीता ६ । २७)

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥
(गीता ५ । २४)

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥
(मैत्रायण्युपनिषद् ४ । ४ । ९; पञ्च० ११ । १८ इत्यादि ।)

यद्यप्यसौ चिरं कालं समाधिर्दुर्लभो महान् ।
तथापि क्षणिको ब्रह्मानन्दं निश्चाययत्यसौ ॥*

—इत्यादि सूक्तियोंमें इस परमात्म-ध्यानको ही परमोत्तम सुख माना गया है । योगवासिष्ठादिमें इसकी बड़ी महिमा है । वहाँ इस ध्यानसे दुःख-मृत्युको भी सुख-अमरत्वमें पलटनेकी बात कही गयी है ।

द्वन्द्वोपशमसीमान्तं संरम्भज्वरनाशनम् ।
सर्वदुःखातपाम्भोदं समत्वं विद्धि राघव ॥
साम्यं (ध्यानं) अभ्यसतो जन्तोः स्वदोषोऽपि गुणायते ।
दुःखं सुखायते नित्यं मरणं जीवितायते ।
(६ । २ । १९८ । १२, १६)

भगवत्स्मारक, ध्यानमें सहायक होनेके कारण ही सत्सङ्गको भी स्वर्गापवर्गादि सर्वसुखोंसे श्रेष्ठ कहा गया है ।

अन्यत्र इन्हीं भावोंके आधारपर अन्य सुखोंको महातुच्छ बतलाया है । यथा—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥
(महा० शान्ति०)

न रसायनपानेन न लक्ष्म्यालिङ्गनेन च ।
तथा सुखमवाप्नोति शमेनान्तर्यथा मनः ॥
(योगवा० २ । १३ । ६२)

ब्रह्मपियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै ।
तौ कत मृगजल रूप बिषय कारन निसिबासर धावै ॥
(विनयपत्रिका ११६ । ३, १६८ । २)

संतोषामृततृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥
(महा० शा० पञ्चतन्त्र इत्यादि)

शमामृतरसाच्छन्नं मनो यामेति निर्वृतिम् ।
छिन्नान्यपि तयाङ्गानि मन्ये रोहन्ति राघव ॥
(योगवा० २ । १३ । ६५)

जो संतोष सुधा निसिबासर सपनेहुँ कबहुँक पावै ।
तौ कत बिषय बिलोकि झूठ जल मन कुरंग ज्यौं धावै ॥
अविदितपरमानन्दो वदति जनो विषयमेव रमणीयम् ।
तिलतैलमेव मृष्टं येन न दृष्टं घृतं क्वापि ॥
(प्रबोधसुधा० सुभाषित मं०)

अर्थात् ब्रह्मानन्द-सुखको न जानकर ही प्राणी विषय-विषको रम्य मानता है; क्योंकि जिसने कभी घी नहीं देखा, उसके लिये तो तिलका तेल ही महान् मिष्ट स्वादमय प्रतीत होता है ।

* इन सबका भाव ब्रह्मके निर्गुण-सगुण रूपके ध्यानको परम सुखमय कहना है ।

एतदर्थ ही जप भी सर्वोपरि धर्म

भगवद्ध्यानद्वारा भगवत्प्रापक होनेके कारण ही जपको भी सर्वश्रेष्ठ किंवा सर्वधर्ममय माना गया है। सत्-कुल-कमल-दिवाकर गो० श्रीतुलसीदासजी महाराजकी सद्भावपूर्ण सुखद सूक्ति है—

जथा भूमि सब बीजमय नखत-निवास अकास।
राम नाम सब धर्ममय जानत तुलसीदास॥

(दोहावली २९)

धर्म-कल्पद्रुमाराम: हरिधाम-पथि संबलं, मूलमिदमेव एकम्।
भक्ति-वैराग्य-विज्ञान-शम-दान-दम: नाम आधीन साधन अनेकम्॥
तेन तप्तं, हुतं, दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्मजालम्।
येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालम्॥
त्यागि सब आस, भव-संत्रास,असि निसित हरिनाम जपु दास तुलसी।

(विनयपत्रिका ४६। ७)

'मूलं धर्मतरो:' 'बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम।'

(महानाटक १। १)

रामनाम लेत होत सुलभ सकल धरम।
जोग, मख, बिबेक, बिरति, बेद-बिदित करम॥

—इत्यादि

(विनयपत्रिका १३१)

इससे अन्य धर्मोंकी कमियाँ भी दूर होती हैं

ध्यानभावयुक्त जपद्वारा—भगवन्नामोच्चारणद्वारा अन्य कर्मोंकी कमियाँ भी दूर होकर परिपूर्णता प्राप्त होती है, ऐसा शास्त्रोंका बार-बार कथन है। यथा—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव॥

(श्रीमद्भा० ८। २३। १६)

कीर्त्यमाने नृभिर्नाम्नि यज्ञेश ते।
यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति तस्मै नमः॥ (४। ७। ४७)

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञादिकर्मसु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥
प्रमादात् कुर्वतां कर्म प्रच्यवेदध्वरेषु यत्।
स्मरणादेव तद् विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः॥

—इत्यादि

इन सभी बातोंसे भी यही सिद्ध होता है कि **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'**—

'सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥
स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद्
धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः॥

(श्रीमद्भा० ११। ५। ४१-४२)

—के अनुसार एकान्त स्मरणद्वारा परमात्मध्यान ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है। शान्तिपर्व ३३६ से ३५० तकके नारायणीय धर्ममें इस एकान्त स्मरणकी महामहिमा है। यहाँ ज्ञानी भक्तको एकान्ती भक्त या अनन्य भक्त कहा गया है। गीता आदिमें भी **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।'** 'ग्यानी प्रभुहि बिसेष पिआरा' **'स महात्मा सुदुर्लभः'** आदिद्वारा एतादृश धर्मीकी ही महिमा प्रख्यापित है। पुराण, उपनिषद्, दर्शन-धर्मशास्त्र-तन्त्रादिमें इन्हें ही सिद्ध, ऋषि, मुनि-महात्मा, भक्त-संत, किंवा भगवत्प्राप्त सत्पुरुष, गुणातीत, स्थितप्रज्ञ—समाधिस्थ पुरुष कहा गया है।

सबसे बड़ा पाप क्या?

'रिपु रुज पावक पाप, प्रभु अहि गनिअ न छोट करि' के अनुसार पाप कोई भी छोटा समझने योग्य नहीं है। कल्याणेप्सुको क्षुद्रतम पातकसे भी सदा दूर रहना ही चाहिये। किमधिकं, क्षणभर भी श्रेष्ठ धर्मसे हटना ही न चाहिये; फिर सबसे बड़े पापकी भयानकताका क्या कथन। अतः अति संक्षेपमें यहाँ सर्वोपरि पापकी मीमांसा शास्त्रानुसार की जाती है।

ब्रह्महत्याको एक स्वरसे सभीने सर्वोपरि पाप माना है। तीन और महापातक इसके अनुयायी ही हैं, तथापि ये शास्त्रवचन भी स्मरणार्ह हैं—

१—परदाराभिमर्शात्तु नान्यत् पापतरं महत्।
२—स्तेयादभ्यधिकं पापं न भूतं न भविष्यति।
३—पर निंदा सम अघ न गरीसा।
४—पर पीडा सम नहिं अधमाई।
५—नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरिसम होहिं कि कोटिक गुंजा॥

इसी प्रकार अहंकार, स्वप्रशंसा, कटु भाषणको भी

सर्वोपरि पाप महाभारत,* देवीभा० † आदिमें माना है। (द्रष्टव्य कल्याण ३० । ३ का 'विश्ववशीकरण' शीर्षक लेख।) सर्व-मीमांसाद्वारा हिंसात्मक होनेसे ही इनकी विशेष निन्दा है। अतः हिंसा-भावना सर्वथा त्याज्य है।

परम श्रेष्ठ धर्म

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं ॥
तिमि सुख संपति बिनहिं बुलाएँ। धरमसील पहँ जाहिं सुभाएँ ॥
(मानस)

ऐसे तो धर्मके कई भेद हैं—वर्णधर्म, आश्रमधर्म, सामान्यधर्म, आपद्धर्म, लिङ्गधर्म, परम धर्म, महान् धर्म और विशेष धर्म। एक-एक धर्मके पालनमें ही मानवताका उत्कर्ष निहित है। अपने-अपने अधिकारानुसार धर्मका पालन करते रहना ही प्रेय और श्रेयका सर्वोत्तम मार्ग है। अर्थ, काम और मोक्ष—इन तीनोंका आधार धर्म ही है, ऐसा श्रीवेदव्यासजीका डिण्डिमघोष है।

धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।

सर्वप्रकारके धर्मोंका फल भागवत-धर्म या शरणागति-धर्मकी प्राप्ति है। इसीमें सब धर्मोंका समावेश हो जाता है।

'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः'

—न्यायके अनुसार श्रीमानसकारने भी यही लिखा है—

तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर ॥

जिसका जिस धर्ममें अधिकार है, उसको उसका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। अन्यथा प्रायश्चित्तधर्मका आश्रय लेना पड़ेगा। हाँ, भागवत-धर्मके अनुष्ठानमें यदि कोई अन्य धर्म अड़चन या विरोध खड़ा करे तो उस विरोधीका त्याग कर देना चाहिये। श्रीगीताजीका भी यही आदेश है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

जाकें प्रिय न राम बैदेही।
तजिय ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥

भागवत-धर्मका वर्णन श्रीमद्भागवतमें विस्तृतरूपमें मिलता है। इस धर्मका प्रधान अङ्ग है—प्रेमपूर्वक भगवद्गुणगान करना। भगवद्गुणगान या भगवत्स्तोत्रका विधिपूर्वक पाठ करनेसे मनुष्य निश्चय ही परम भागवत बन जाता है और इसीमें मानव-जीवनकी पूर्ण सफलता है। इसीलिये भगवत्-स्तोत्रोंका श्रवण-मनन-पठन करना ही परम श्रेष्ठ धर्म कहा गया है। पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिरने महामना भीष्मसे पूछा—'आप समस्त धर्मोंमें किस धर्मको परम श्रेष्ठ मानते हैं?' इसके उत्तरमें महामना भीष्मने कहा—

'सम्पूर्ण धर्मोंमें मैं इसी धर्मको सबसे बड़ा मानता हूँ कि मनुष्य अपने हृदयकमलमें विराजमान कमलनयन भगवान् वासुदेवका भक्तिपूर्वक तत्परतासहित गुण-संकीर्तनरूप स्तुतियोंद्वारा सदा अर्चन करे।'

इस प्रकार कहकर महामना भीष्मने भगवान् वासुदेवके सहस्रनामोंका वर्णन किया और अन्तमें उसकी फलश्रुतिमें कहा कि—

'जो इस सहस्रनामका सदा श्रवण करता है और जो प्रतिदिन इसका पाठ करता है, उसका इस लोकमें तथा परलोकमें कहीं भी अशुभ नहीं होता। क्षत्रिय युद्धमें विजय पाता है, वैश्य व्यापारमें धन पाता है और शूद्र सुख पाता है। ब्राह्मण वेदान्तपारगामी हो जाता है। धर्म, अर्थ, काम और संततिकी प्राप्ति हो जाती है और वह महान् यशस्वी होता है। यही नहीं, इसके पाठसे तेज, बल, कान्ति, लक्ष्मी, वीर्य और आरोग्यताकी प्राप्ति भी सुलभ हो जाती है। रोगी रोग-मुक्त होता है और बन्धनमें पड़ा हुआ मनुष्य बन्धनसे छूट जाता है। कहाँतक कहा जाय—वह मनुष्य इसके पाठके प्रभावसे भुक्ति, भक्ति और मुक्ति तीनों प्राप्त कर लेता है।'

एकहि साधें सब सधै।

जिस एक ही साधनसे सब कुछ प्राप्त हो जाय, वही परम श्रेष्ठ धर्म भगवत्स्तोत्रका पठन-श्रवण-मनन है।

अन्तमें यही प्रार्थना है कि भगवान् सबको सद्बुद्धि प्रदान करें, जिससे वे धर्मशील बनें।

सियावर रामचन्द्रकी जय !

* ब्रवीहि वाचाद्य गुणानिहात्मनस्तथा हतात्मा भवितासि पार्थ। (महा० कर्ण० ७० । २९)

† यथा सूर्योदये जाते तमः किंचिन्न तिष्ठति। अहंकाराङ्कुरस्याग्रे तथा पुण्यं न तिष्ठति ॥ (देवीभाग०)

धर्ममय भगवान् श्रीकृष्ण

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १४। २७)

भगवान् श्रीकृष्ण अविनाशी परब्रह्मकी, अमृतकी, शाश्वतधर्मकी और ऐकान्तिक सुखकी प्रतिष्ठा हैं। वे स्वयं साक्षात् परब्रह्म हैं, दिव्य अमृत हैं, शाश्वत धर्म हैं और भूमा ऐकान्तिक आनन्दस्वरूप हैं और इन सबके परम आश्रय भी हैं! श्रीमहाभारत, श्रीमद्भागवत एवं अन्यान्य सद्ग्रन्थोंमें इसके असंख्य प्रमाण हैं। वे स्वयं भगवान् हैं, इससे उनमें अनन्त-अचिन्त्य-अनिर्वचनीय परस्पर विरोधी गुण-धर्मोंका युगपत् प्रकाश है। वे जहाँ पूर्ण भगवान् हैं, वहीं पूर्ण मानव हैं। पूर्ण भगवत्ता और पूर्ण मानवताके प्रत्यक्ष स्वरूप श्रीकृष्ण हैं। कंसके कारागारमें वे दिव्य आभाका विस्तार करते हुए आभूषण-आयुधादिसे सम्पन्न ऐश्वर्यमय चतुर्भुज रूपमें प्रकट होते हैं और तुरंत ही मधुर-मधुर छोटे-से शिशु बन जाते हैं।

व्रजमें जहाँ अपने अनुपम असमोर्ध्व रूप-माधुर्य, वेणु-माधुर्य, प्रेम-माधुर्य और लीलामाधुर्यके द्वारा व्रजवासी महाभाग नर-नारियोंको दिव्य स्वरूप-रस-सुधाका पान कराते हैं और स्वयं उनके स्व-सुखवाञ्छाशून्य निर्मल सख्य, वात्सल्य और मधुर-रस-सुधाका नित्य लालायित चित्तसे पान करते रहते हैं, वहाँ दूसरी ओर अवतीर्ण होनेके छठे ही दिनसे पूतना-वधके द्वारा अधर्मी असुरों-राक्षसोंका परिणाम-कल्याणकारी वध करके ऐश्वर्यमयी धर्म-संस्थापन-लीलाका शुभ आरम्भ कर देते हैं।

माधुर्यजगत्के सखा, माता-पिता और प्रेयसियोंको अपने सखा, सुत और प्रियतम श्यामसुन्दरके ऐश्वर्यका कहीं भान भी नहीं होता और उधर तृणावर्त, वत्सासुर, बकासुर, काकासुर, धेनुकासुर, सुदर्शन, शङ्खचूड, अरिष्टासुर आदिका उद्धार हो जाता है और साथ ही मुखमें यशोदा मैयाको विश्वरूप-दर्शन, यमलार्जुन-भङ्ग, कुबेर-पुत्रोंका उद्धार, कालियदमन, ब्रह्म-दर्प-दलन, गोवर्धन-धारण, गोवर्धनरूपमें पूजाग्रहण, इन्द्रमोहभङ्ग, वरुणलोक-गमन, रासलीलाके समय असंख्य रूपोंमें प्रकट होना आदि ऐश्वर्यमयी लीलाएँ भी होती रहती हैं। यों धर्मसंस्थापनका तथा धर्मरक्षणका कार्य व्रजमें भी लगातार चालू रहता है।

इसके बाद तो चाणूर-मुष्टिक तथा मामा कंससे लेकर राजरूपधारी अगणित असुरोंके उद्धारद्वारा धर्म-संस्थापनका कार्य चलता ही रहता है। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी सारी लीलाएँ निरन्तर प्रेम-धर्म तथा सनातन मानव-धर्मकी रक्षा तथा विस्तारके रूपमें ही सुसम्पन्न होती हैं। भगवान्का रूप-सौन्दर्य नित्य नवायमान है। जो देखता है, वही मुग्ध हो जाता है। उनका रूपसौन्दर्य कैसा है—

शारदीय-पूर्णिमा-सुनिर्मल-स्निग्ध-सुधावर्षी द्युतिमान्।
ज्योत्स्ना-स्मित-समूह-विकसित शुचि शीतल अगणित चन्द्र महान्॥
जिनकी विश्वमोहिनी अङ्गद्युतिसे सब हो जाते म्लान।
परमोज्ज्वल नीलाभ-श्याम वे अनुपम विमल-दीप्ति भगवान॥
परमहंस-ऋषि-मुनि-मन-मोहन, गुरु-जन-मोहन मोहन रूप।
श्रुति-सुराङ्गना, स्वयं ब्रह्म-विद्या मनमोहन, परम अनूप॥
विश्वनारि-मन, स्व-मन, शत्रुमन-मोहन, सर्वरूप-आधार।
सौन्दर्यामृत-माधुर्यामृत-सागर लहराता सुखसार॥

'शरत्पूर्णिमाके सुनिर्मल स्निग्ध पवित्र शीतल अमृतकी वर्षा करनेवाले, ज्योत्स्नारूप मृदु-हास्य राशिसे विकसित अगणित समस्त चन्द्रमा भी जिनकी विश्वविमोहिनी अङ्ग-कान्तिके सामने फीके हो जाते हैं, ऐसे वे अनुपमेय विमल आभावाले परम उज्ज्वल नीलाभ श्यामसुन्दर भगवान् हैं। उनका परमश्रेष्ठ अनुपमेय मोहन रूप ऋषियोंके मनको, गुरुजनोंके मनको, श्रुतियोंके, देवाङ्गनाओंके तथा स्वयं ब्रह्म-विद्याके मनको एवं विश्वकी समस्त नारियोंके मनको, शत्रुओं-के मनको और स्वयं उनके अपने मनको भी मोहित करने-वाला है। वह रूप सौन्दर्यामृत और माधुर्यामृतका लहराता हुआ समुद्र है, जो समस्त रूपोंका आधार तथा आत्यन्तिक सुखका सार है।'

कहाँ तो श्रीकृष्णका यह सौन्दर्य-माधुर्यसिन्धु विश्वमोहन रूप और कहाँ विकराल दाढ़ोंवाला अर्जुनको भी भयसे कँपा देनेवाला भयानक विराट् रूप! दोनों ही धर्मके संस्थापक रूप हैं। एकसे पवित्र प्रेम-धर्मकी प्रतिष्ठा होती है, दूसरेसे सनातन मानव-धर्मकी।

भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंके साथ क्यों रहे, क्यों कौरवोंके विपक्षमें भगवान्ने पाण्डवोंकी सहायता की? श्रीकृष्ण कौरव-पाण्डवोंको लड़ाकर पृथ्वीको क्षत्रिय-वीरोंसे

शून्य नहीं बनाना चाहते थे, न वे पाण्डवोंका अनुचित पक्ष लेकर कौरवोंका नाश ही चाहते थे। वरं उन्होंने सच्चे हृदयसे संधिका प्रयत्न किया था। स्वयं दूत बनकर गये। धृतराष्ट्र और दुर्योधनको बहुत समझाया। युद्धको टालना चाहा। पर दुर्योधनने किसी तरह उनकी बात नहीं मानी। विदुरजीने जब श्रीकृष्णसे कहा कि 'दुर्योधनके पास आपको नहीं आना चाहिये था,' तब श्रीकृष्णने विदुरसे कहा—'आपका कथन ठीक है, पर मैं तो युद्धमें मर-मिटनेको उद्यत कौरव-पाण्डवोंमें सच्चे हृदयसे संधिका प्रयत्न करने आया हूँ। हाथियों, घोड़ों तथा रथोंसे युक्त यह पृथ्वी नष्ट होना चाहती है, इसे बचानेवालोंको निस्संदेह बड़ा पुण्य होगा। किसी व्यसन या विपत्तिमें पड़कर क्लेश उठाते हुए मित्रको यथासाध्य समझा-बुझाकर जो मनुष्य उसे बचानेका प्रयत्न नहीं करता, वह बड़ा निर्दय और क्रूर है। बुद्धिमान् पुरुष अपने मित्रको उसकी चोटी पकड़कर भी बुरे कार्यसे हटानेका प्रयत्न करता है। मेरे सत्-परामर्शको भी दुर्योधन नहीं मानेगा और मुझपर संदेह करेगा तो इससे मेरा क्या बिगड़ेगा? मैं अपने कर्तव्यसे तो उऋण हो जाऊँगा। मैं शान्तिके लिये विद्वानोंद्वारा अनुमोदित अर्थ तथा धर्मके अनुकूल हिंसारहित ही बात कहूँगा। दुर्योधनादि यदि मेरी बातपर ध्यान देंगे तो अवश्य मानेंगे तथा कौरव भी मुझे वास्तवमें शान्ति-स्थापनके लिये आया हुआ समझकर मेरा आदर ही करेंगे।'

दुर्योधनने बात नहीं मानी, वह अधर्मपरायण रहा। इसीसे भगवान्‌ने धर्मयुद्धमें धर्मपरायण पाण्डवोंका साथ दिया। उनका अवश्य ही अर्जुनसे अतुलनीय प्रेम था, पर वे पाण्डवोंका साथ इसीलिये देते थे कि पाण्डवोंके पक्षमें धर्म था।

युद्धारम्भके समय जब धर्मराज युधिष्ठिरने गुरु द्रोणाचार्यके समीप जाकर उन्हें प्रणाम किया तथा युद्धके लिये आज्ञा माँगकर अपने लिये हितकी सलाह पूछी, तब गुरु द्रोणाचार्यने कहा—

ध्रुवस्ते विजयो राजन् यस्य मन्त्री हरिस्तव।
अहं त्वामभिजानामि रणे शत्रून् विमोक्ष्यसे॥
यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।
युद्ध्यस्व गच्छ कौन्तेय पृच्छ मां किं ब्रवीमि ते॥

(महाभारत भीष्म० ४३। ५९-६०)

'राजन्! तुम्हारी विजय तो निश्चित है; क्योंकि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे मन्त्री (तुम्हें सलाह देनेवाले) हैं। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम युद्धमें शत्रुओंको उनके प्राणोंसे विमुक्त कर दोगे। जहाँ धर्म है, वहाँ श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं; वहीं विजय है। जाओ! युद्ध करो; पूछो, मैं और क्या बताऊँ?'

इससे सिद्ध है कि भगवान् धर्मके साथ हैं। और जहाँ भगवान् हैं, वहाँ धर्म रहता ही है। महाभारतका एक प्रसङ्ग है। इन्द्रने अर्जुनका हित करनेकी इच्छासे महादानी कर्णसे कवच-कुण्डल माँगकर ले लिये और बदलेमें उनको एक अजेय अमोघ शक्ति देकर यह कह दिया कि 'तुम केवल एक बार जिस किसीपर भी इसका प्रयोग कर सकोगे। जिसपर प्रयोग करोगे, वह अवश्य मर जायगा।' कर्णने वह शक्ति अर्जुनपर चलानेके लिये सुरक्षित रख छोड़ी थी, वे प्रतिदिन उसकी पूजा करते। महाभारत-युद्धमें एक रात्रिको भीम-पुत्र राक्षस घटोत्कचने ऐसा भीषण युद्ध किया कि सारा कौरवदल जीवनसे निराश हो गया। सबने आकर कर्णसे कहा कि 'तुरंत उस शक्तिका प्रयोग करके इस भयानक राक्षसका वध करो, नहीं तो इस रात्रि-युद्धमें यह राक्षस हम सभी कौरव-वीरोंका आज ही नाश कर देगा। कोई बचेगा ही नहीं, तब फिर यह शक्ति किस काम आयेगी?' कर्ण भी घबराये हुए थे। उन्होंने उस वैजयन्ती शक्तिको घटोत्कच-पर छोड़ दिया। शक्तिके प्रहारसे घटोत्कचका हृदय विदीर्ण हो गया और वह वहीं मरकर गिर पड़ा। उसके मरते ही कौरव योद्धा बाजे बजाकर हर्षनाद करने लगे।

इधर पाण्डवदलमें शोक छा गया। सबके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। परंतु श्रीकृष्ण आनन्दमग्न होकर नाच उठे और अर्जुनको गले लगाकर पीठ ठोंकने तथा बार-बार गर्जना करने लगे।

भगवान्‌को इतना प्रसन्न जान अर्जुन बोले—'मधुसूदन! आज आपको शोकके अवसरपर इतनी प्रसन्नता क्यों हो रही है? घटोत्कचके मारे जानेसे हमारे लिये शोकका अवसर उपस्थित हुआ है। सारी सेना विमुख होकर भागी जा रही है। हमलोग भी बहुत घबरा गये हैं, तो भी आप प्रसन्न हैं। इसका कोई छोटा-मोटा कारण नहीं हो सकता। जनार्दन! बताइये, क्या कारण है इस प्रसन्नताका? यदि बहुत छिपानेकी बात न हो तो अवश्य बता दीजिये। मेरा धैर्य छूटा जा रहा है।'

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—धनंजय ! मेरे लिये इस समय सचमुच ही बड़े आनन्दका अवसर आया है। कारण सुनना चाहते हो ? सुनो ! तुम जानते हो कर्णने घटोत्कचको मारा है; पर मैं कहता हूँ कि इन्द्रकी दी हुई शक्तिको निष्फल करके (एक प्रकारसे) घटोत्कचने ही कर्णको मार डाला है। अब तुम कर्णको मरा हुआ ही समझो। संसारमें कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जो कर्णके हाथमें इस 'शक्ति' के रहनेपर उसके सामने ठहर सकता। और यदि उसके पास कवच तथा कुण्डल भी होते, तब तो वह देवताओंसहित तीनों लोकोंको भी जीत सकता था। उस अवस्थामें इन्द्र, कुबेर, वरुण अथवा यमराज भी युद्धमें उसका सामना नहीं कर सकते थे। हम और तुम सुदर्शन-चक्र और गाण्डीव लेकर भी उसे जीतनेमें असमर्थ हो जाते। तुम्हारा ही हित करनेके लिये इन्द्रने छलसे उसे कुण्डल और कवचसे हीन कर दिया था। उनके बदलेमें जबसे इन्द्रने उसे अमोघ शक्ति दे दी थी, तबसे वह तुमको सदा मरा हुआ ही मानता था। आज यद्यपि उसकी वे सारी चीजें नहीं रहीं, तो भी तुम्हारे सिवा दूसरे किसीसे वह नहीं मारा जा सकता। कर्ण ब्राह्मणोंका भक्त, सत्यवादी, तपस्वी, व्रतधारी और शत्रुओंपर भी दया करनेवाला है; इसीलिये वह वृष (धर्म) कहलाता है। सम्पूर्ण देवता चारों ओरसे कर्णपर बाणोंकी वर्षा करें और उसपर मांस और रक्त उछालें, तो भी वे उसे नहीं जीत सकते।

× × ×

'यदि इस महासमरमें कर्ण अपनी शक्तिके द्वारा घटोत्कचको नहीं मार डालता तो स्वयं मुझे इसका वध करना पड़ता। इसके द्वारा तुमलोगोंका प्रिय कार्य करवाना था, इसीलिये मैंने पहले ही इसका वध नहीं किया। घटोत्कच ब्राह्मणोंका द्वेषी और यज्ञोंका नाश करनेवाला था। यह पापात्मा धर्मका लोप कर रहा था, इसीसे इस प्रकार इसका वध करवाया है। जो धर्मका लोप करनेवाले हैं, वे सभी मेरे वध्य हैं। मैंने धर्म-स्थापनाके लिये प्रतिज्ञा कर ली है। जहाँ वेद, सत्य, दम, पवित्रता, धर्म, लज्जा, श्री, धैर्य और क्षमाका वास है, वहाँ मैं सदा ही क्रीड़ा किया करता हूँ—यह बात मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ। (तुम पाण्डवोंमें धर्मके इन सब गुणोंका निवास है, इसीलिये मैं तुमलोगोंके साथ हूँ।)'

× × ×

भगवान् श्रीकृष्ण धर्मरक्षक तथा धर्मसंस्थापक हैं। इसीसे वे अधार्मिक घटोत्कचका स्वयं अपने हाथों वध करना चाहते थे, यद्यपि घटोत्कच पाण्डव भीमका पुत्र होनेके कारण श्रीकृष्णके कुटुम्बका ही एक सदस्य था। श्रीकृष्ण अपने स्वजनोंके, कुटुम्ब-परिवारोंके, सम्बन्धियोंके नित्य हितैषी और हित-साधक थे; परंतु धर्मविरोधी होनेपर वे किसीको स्वजन-कुटुम्बीके नाते क्षमा नहीं करते थे। धर्मरक्षण एवं धर्मके द्वारा लोकसंग्रह या लोकहितपर उनकी दृष्टि रहती थी। कंस सगे मामा थे, पर अधार्मिक होनेके कारण स्वयं श्रीकृष्णने उनका वध किया। शिशुपाल तो पाण्डवोंके सदृश ही श्रीकृष्णकी बूआका लड़का था, पर पापाचारी था; अतएव उन्होंने उसको दण्ड दिया। यहाँतक कि जब उन्होंने देखा कि उन्हींका आश्रित यादववंश सुरापान-परायण, धन-वैभवसे उन्मत्त और अभिमानमें चूर होकर अधार्मिक और उद्दण्ड हुआ जा रहा है, तब उसके भी विनाशकी व्यवस्था करा दी। उन्हें धर्म प्रिय है, अधार्मिक स्वजन नहीं !

महाभारत युद्धके समय एक दिन अपने भाइयों तथा योद्धाओंको बुरी तरह पराजित हुए देखकर दुर्योधनने भीष्मपितामहसे पाण्डवोंकी विजयका कारण पूछा। उसके उत्तरमें भीष्मजीने कहा कि 'पाण्डव धर्मात्मा हैं और वे पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित हैं। इसीसे वे जीत रहे हैं और जीतेंगे।' उसके बाद भीष्मजीने भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका विस्तारसे वर्णन किया और दुर्योधनसे कहा कि 'मैं तो तुम्हें राक्षस समझता हूँ; क्योंकि तुम परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णसे और अर्जुनसे द्वेष करते हो। मैं तुमसे ठीक-ठीक कह रहा हूँ कि श्रीकृष्ण सनातन, अविनाशी, सर्वलोकमय, नित्य, जगदीश्वर, जगद्धर्ता और अविकारी हैं। ये ही युद्ध करनेवाले हैं, ये ही 'जय' हैं और ये ही जीतनेवाले हैं। जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं जय है। श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी रक्षा करते हैं, अतएव उन्हींकी विजय होगी।*

यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः।

× × ×

* दुर्योधनके प्रति पितामह भीष्मने बड़े विस्तारसे भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन किया है। उसे महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ६५ से ६८ तक देखना चाहिये। इसी प्रकार शान्तिपर्व अध्याय ४७, ५१ देखिये।

धृताः पाण्डुसुता राजन् जयश्चैषां भविष्यति ॥

(महाभारत भीष्म० ६६ । ३५-३६)

तदनन्तर दुर्योधनके पूछनेपर भीष्मजीने कहा कि 'ये श्रीकृष्ण ही सब प्राणियोंके आश्रय हैं; जो पुरुष पूर्णिमा और अमावास्याको इनका पूजन करता है, वह परमपदको प्राप्त होता है। ये परम तेजःस्वरूप और समस्त लोकोंके पितामह हैं। ये सच्चे आचार्य, गुरु और पिता हैं। जिसपर ये प्रसन्न हैं, उसने मानो सभी अक्षय लोकोंपर विजय प्राप्त कर ली है। जो पुरुष भयके समय श्रीकृष्णकी शरण लेता है और सर्वदा इस स्तुतिका पाठ करता है, वह कुशलसे रहता है और सुख प्राप्त करता है। उसका मोह नष्ट हो जाता है। उन्हें इस प्रकार यथार्थ रूपसे जानकर ही—समस्त जगत्के स्वामी और सम्पूर्ण योगोंके अधीश्वर जानकर ही युधिष्ठिरने इनकी शरण ली है।' इसके पश्चात् भीष्मजीने दुर्योधनको श्रीकृष्णका ब्रह्मभूत स्तोत्र सुनाया।

श्रीकृष्णका ब्रह्मभूतस्तोत्र

भीष्म उवाच

शृणु चेदं महाराज ब्रह्मभूतं स्तवं मम।
ब्रह्मर्षिभिश्च देवैश्च यः पुरा कथितो भुवि ॥ १ ॥
साध्यानामपि देवानां देवदेवेश्वरः प्रभुः।
लोकभावनभावज्ञ इति त्वां नारदोऽब्रवीत् ॥ २ ॥
भूतं भव्यं भविष्यं च मार्कण्डेयोऽभ्युवाच ह।
यज्ञं त्वां चैव यज्ञानां तपश्च तपसामपि ॥ ३ ॥
देवानामपि देवं च त्वामाह भगवान् भृगुः।
पुराणं चैव परमं विष्णो रूपं तवेति च ॥ ४ ॥
वासुदेवो वसूनां त्वं शक्रं स्थापयिता तथा।
देव देवोऽसि देवानामिति द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥
पूर्वे प्रजानिसर्गे च दक्षमाहुः प्रजापतिम्।
स्रष्टारं सर्वलोकानामङ्गिरास्त्वां तथाब्रवीत् ॥ ६ ॥
अव्यक्तं ते शरीरोत्थं व्यक्तं ते मनसि स्थितम्।
देवास्त्वत्सम्भवाश्चैव देवलस्त्वसितोऽब्रवीत् ॥ ७ ॥
शिरसा ते दिवं व्याप्तं बाहुभ्यां पृथिवी तथा।
जठरं ते त्रयो लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ८ ॥
एवं त्वामभिजानन्ति तपसा भाविता नराः।
आत्मदर्शनतृप्तानामृषीणां चासि सत्तमः ॥ ९ ॥
राजर्षीणामुदाराणामाहवेष्वनिवर्तिनाम्।
सर्वधर्मप्रधानानां त्वं गतिर्मधुसूदन ॥ १० ॥
इति नित्यं योगविद्भिर्भगवान् पुरुषोत्तमः।
सनत्कुमारप्रमुखैः स्तूयतेऽभ्यर्च्यते हरिः ॥ ११ ॥
एष ते विस्तरस्तात संक्षेपश्च प्रकीर्तितः।
केशवस्य यथातत्त्वं सुप्रीतो भज केशवम् ॥ १२ ॥

'राजन्! पूर्वकालमें ब्रह्मर्षि और देवताओंने इन श्रीकृष्णका जो ब्रह्ममय स्तोत्र कहा है, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ; सुनो—'नारदजीने कहा है—आप साध्यगण और देवताओंके भी देवाधिदेव हैं तथा सम्पूर्ण लोकोंका पालन करनेवाले और उनके अन्तःकरणके साक्षी हैं।' मार्कण्डेयजीने कहा है—'आप ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान हैं तथा आप यज्ञोंके यज्ञ और तपोंके तप हैं।' भृगुजी कहते हैं—'आप देवोंके देव हैं तथा भगवान् विष्णुका जो पुरातन परम रूप है, वह भी आप ही हैं।' महर्षि द्वैपायनका कथन है—'आप वसुओंमें वासुदेव, इन्द्रको भी स्थापित करनेवाले और देवताओंके परम देव हैं।' अङ्गिराजी कहते हैं—'आप पहले प्रजापतिसर्गमें दक्ष थे तथा आप ही समस्त लोकोंकी रचना करनेवाले हैं।' देवल मुनि कहते हैं—'अव्यक्त आपके शरीरसे हुआ है, व्यक्त आपके मनमें स्थित है तथा सब देवता भी आपके मनसे उत्पन्न हुए हैं।' असित मुनिका कथन है—'आपके सिरसे स्वर्गलोक व्याप्त है और भुजाओंसे पृथ्वी तथा आपके उदरमें तीनों लोक हैं। आप सनातन पुरुष हैं। तपःशुद्ध महात्मालोग आपको ऐसा समझते हैं तथा आत्मतृप्त ऋषियोंकी दृष्टिमें भी आप सर्वोत्कृष्ट सत्य हैं। मधुसूदन! जो सम्पूर्ण धर्मोंमें अग्रगण्य और संग्रामसे पीछे हटनेवाले नहीं हैं, उन उदारहृदय राजर्षियोंके परमाश्रय भी आप ही हैं।' योगवेत्ताओंमें श्रेष्ठ सनत्कुमारादि इसी प्रकार श्रीपुरुषोत्तम भगवान्का सर्वदा पूजन और स्तवन करते हैं। राजन्! इस तरह मैंने विस्तार तथा संक्षेपसे तुम्हें श्रीकृष्णका स्वरूप सुना दिया। अब तुम प्रसन्नचित्तसे इनका भजन करो।'

भगवान् श्रीकृष्णने जब प्राग्ज्यौतिषपुरके नरकासुरको मारकर उसके द्वारा हरण की हुई सोलह हजार राजकुमारियों-पर दया करके अकेले ही उनसे विवाह कर लिया और यह बात जब नारदजीने सुनी, तब उन्हें भगवान्की गृहचर्या देखनेकी बड़ी इच्छा हुई। नारदजी अत्यन्त उत्सुक होकर द्वारका आये। द्वारकामें श्रीकृष्णके अन्तःपुरमें सोलह हजारसे अधिक बड़े सुन्दर कलापूर्ण सुसज्जित महल थे। नारदजी एक महलमें गये। वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणीजीके समीप

बैठे थे। रुक्मिणीजी चँवरसे हवा कर रही थीं। नारदजीको देखते ही भगवान् पलँगसे उठे। नारदजीकी उन्होंने अभ्यर्थना-पूजा की, उनके चरण पखारकर चरणामृत सिर चढ़ाया और नम्र शब्दोंमें उनका गुणगान करके उनसे सेवा पूछी।

नारदजीने भगवान्‌का गुणगान तथा स्तवन करते हुए कहा—'भगवन्! आपके श्रीचरण ही संसारकूपमें पड़े लोगोंके निकलनेके लिये अवलम्बन हैं। आप ऐसी कृपा कीजिये कि आपके चरणकमलोंकी स्मृति सदा बनी रहे और मैं जहाँ जैसे भी रहूँ, उन चरणोंके ध्यानमें ही लीन रहूँ।'

तदनन्तर नारदजी एक-एक करके सभी महलोंमें गये। भगवान् श्रीकृष्णने सर्वत्र उनका स्वागत-सत्कार किया। नारदजीने देखा—कहीं श्रीकृष्ण गृहस्थके कार्य सम्पादन कर रहे हैं, कहीं हवन कर रहे हैं, कहीं पञ्च-महायज्ञोंसे देवाराधन कर रहे हैं, कहीं ब्राह्मण-भोजन करा रहे हैं, कहीं यज्ञावशेष भोजन कर रहे हैं, कहीं संध्या, तो कहीं मौन होकर गायत्री-जप कर रहे हैं; कहीं श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको वस्त्रा-भूषणोंसे सुसज्जित गौओंका दान कर रहे हैं। कहीं एकान्तमें बैठकर प्रकृतिसे अतीत पुराण-पुरुषका ध्यान कर रहे हैं, कहीं गुरुजनोंको अभीष्ट वस्तु देकर उनकी सेवा-शुश्रूषा कर रहे हैं; कहीं देवताओंका पूजन, तो कहीं इष्टापूर्तरूप धर्मका सम्पादन कर रहे हैं। इस प्रकार वे सर्वत्र वर्णाश्रमोचित तथा आध्यात्मिक धर्म-साधनमें लगे हुए हैं।'

नारदजीने कहा—'योगेश्वर आत्मदेव! आपकी योगमाया ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े मायावियोंके लिये भी अगम्य है; पर आपके चरणोंकी सेवा करनेके कारण वह योगमाया हमारे सामने प्रकट हो गयी है, हम उसे जान गये हैं। देवताओंके भी आराध्य भगवन्! सारे भुवन आपके सुन्दर यशसे परिपूर्ण हो रहे हैं। अब मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं आपकी त्रिभुवन-पावनी लीलाका गान करता हुआ उन लोकोंमें विचरता रहूँ।'

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—

ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताहं कर्ता तदनुमोदिता।
तच्छिक्षयँल्लोकमिममास्थितः पुत्र मा खिद॥

(श्रीमद्भागवत १०। ६९। ४०)

'नारद! मैं ही धर्मका उपदेशक, उपदेशके अनुसार स्वयं उसका आचरण करनेवाला तथा उसका अनुष्ठान करनेवालोंका अनुमोदन करनेवाला हूँ। मेरे आचरणसे लोगोंको शिक्षा मिलेगी, इसलिये मैं स्वयं धर्मका आचरण करता हूँ। पुत्र नारद! तुम मेरी मायासे मोहित न होना—मैंने जो तुम्हारे चरण धोये, इससे खेद मत करना।' कैसा सुन्दर आदर्श है धर्माचरणका!

भगवान् श्रीकृष्णका समस्त जीवन-लीला-चरित धर्ममय है। उनके आचरणमें तो केवल धर्म है ही, उनके उपदेश भी धर्मपूर्ण हैं। रणाङ्गणमें अपने परम धर्ममय गीताका उपदेश मित्र अर्जुनको किया और अन्तमें सखा उद्धवको धर्मोपदेश किया। महाभारत, भीष्मपर्व और श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्धमें ये दोनों धर्ममय गीतोपदेश हैं।

भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीताको **'धर्म्यं संवादं'*** (धर्ममय संवाद) कहा है और इसमें भी भक्तिके स्वरूप-वर्णनको **'धर्म्यामृतं'†** (धर्ममय अमृत) बतलाया है।

श्रीकृष्ण जहाँ समस्त अवतारोंके मूल अवतारी, षडैश्वर्यसम्पन्न सच्चिदानन्द नित्य-विग्रह, सर्वेश्वरेश्वर, सर्व-लोक-महेश्वर, निर्गुण, निराकार (स्वरूपभूत गुणमय तथा पाञ्चभौतिक आकाररहित) सर्वातीत, सर्वमय, सर्वात्मा, परमात्मा पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् हैं। वहीं वे नन्द-यशोदाके प्यारे दुलारे लाल, गोपबालकोंके सखा कन्हैया भैया, गोपाङ्गनाओंके प्राणवल्लभ प्रेमास्पद, कौतुकप्रिय बालक, संगीत-वाद्य-नृत्य आदि विविध कलाओंके आचार्य, वसुदेव-देवकीके सुपुत्र, श्रीरुक्मिणी आदि सहस्रों पतिव्रताओंके आराध्य पति, दीन-दुखी-गरीबोंके आश्रय, प्रेमियोंके प्रेमी, भक्तोंके भक्त, भक्तवत्सल, भक्तिप्रिय, भक्त-पराधीन, भक्तवाञ्छाकल्पतरु, सतत प्रीतिवर्धक मित्र, विनोदप्रिय, विचित्र सारथि, महारथियोंके महारथी, दुर्धर्ष योद्धा, रणनीतिके आचार्य, सर्वशस्त्रास्त्रसम्पन्न, महान् बलवान्, मल्लविद्या-विशारद, राजनीतिविशारद, कूटनीतिके ज्ञाता, महान् बुद्धिमान्, परम चतुर, नीतिनिपुण, आदर्श निष्काम कर्मयोगी, महान्

* अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥
(१८। ७०)

† ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
(१२। २०)

ज्ञानी, परम तपस्वी, परम योगी, योगीश्वरेश्वर, योगेश्वरेश्वर, वेदज्ञ, वेदमय, सर्वशास्त्रज्ञ, सर्वथा अपरिजेय, दयामय, करुणामय, प्रेममय, पुण्यमय, न्यायशील, क्षमाशील, परमसुशील, निरपेक्ष, स्पष्टवादी, सत्यवादी, परम वाग्मी, परम उपदेशक, लोकनायक, लोकहितैषी, सर्वभूतहितैषी, ममतारहित, अहंकाररहित, कामनारहित, आसक्तिरहित, विशुद्धचरित्र, शिष्टपालक, दुष्टनाशक, असुरसंहारक, गोसेवक, पशु-पक्षियोंके तथा प्रकृतिके प्रेमी, प्रकृतिके स्वामी, प्रकृति-नटीके सूत्रधार, महामायावी, मायाके अधीश्वर और नियामक, भीषणोंके भीषण, परम सुन्दर, परम मधुर—असंख्य गुणगणसम्पन्न हैं और इन सभी गुणोंके द्वारा वे सदा ही धर्मका रक्षण तथा संस्थापन करते हैं।

धर्ममूल पावन परम बंदौं पद-अरबिंद।
बसौ जहाँ रस-पान-रत मम मन मत्त मिलिंद॥

भगवान् श्रीकृष्णके पवित्र पावन चरणकमलोंमें बार-बार नमस्कार।

धर्मके परम आदर्शस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी दिनचर्या

(लेखक—श्रीलक्ष्मीकान्तजी त्रिवेदी)

अचिन्त्यगति भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा वेदों, पुराणों, उपनिषदों एवं अन्यान्य शास्त्रोंमें बहुत प्रकारसे गायी गयी है। अनेकों ऋषियों, मुनियों, संतों, भक्तों एवं विद्वानोंने उनकी ही महिमाका गान करके अपनी वाणीको सफल किया है। अनेकों संत-महात्माओंने भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुणोंका गान तथा चरणोंकी सेवा करके अपने जीवनको धन्य माना और परमगति प्राप्त की। श्रीकृष्णद्वैपायन मुनि स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके ही कलावतार हैं। उन्होंने महाभारत नामक इतिहास तथा श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें भगवान्‌की जिन रहस्यमयी मधुर मनोहर लीलाओंका विशद वर्णन किया है, वे बुद्धिवादी लोगोंके सूक्ष्म चिन्तनकी गतिसे परे हैं, परंतु श्रद्धालु भक्तोंके लिये वे परमानन्द-प्रदायिनी हैं। भगवान्‌की लीलाओंका गान भगवती शारदा देवी वीणा बजाकर कल्प भर करती रहें, भगवान् गणेशजी अपनी लेखनीसे कल्पोंतक लिखते रहें और भगवान् शेषनाग अपने सहस्र मुखोंसे कल्पोंतक गान करते रहें तो भी पार नहीं पा सकते। फिर अस्मदादि तुच्छबुद्धि मनुष्य भला, उनकी लीलाओंका क्या गान कर सकते हैं।

हमारा यह देश भारतवर्ष धर्मप्राण (धर्मप्रधान) देश कहा जाता है। यहाँके बड़े-बड़े लोगोंने, राजाओं एवं सम्राटोंने भी भोगोंको लात मारकर भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंकी सेवा की, अरण्यका आश्रय लिया और विशुद्ध धर्मका आचरण करके लोगोंको शिक्षा दी है। भगवान् श्रीकृष्णने ही चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि की, उन्होंने ही चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) की स्थापना की और उन्होंने ही उनमें प्रविष्ट होकर तदनुकूल आचरण करके लोगोंको समय-समयपर शिक्षा दी। भगवान्‌के विश्वासी अनेकों संतोंने अपने आचरणोंके द्वारा आदर्श उपस्थित किया।

भगवान् श्रीकृष्ण ही धर्मके परम आदर्शस्वरूप हैं, यह उनकी विभिन्न लीलाओंसे स्पष्ट सिद्ध होता है। भगवान्‌का तो यह कहना ही है कि—'जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं अजन्मा, अविनाशी तथा लोक-महेश्वर रहते हुए ही साधुओंके परित्राण, दुष्कृतोंके विनाश और धर्मकी संस्थापनाके लिये युग-युगमें अपनी लीलासे प्रकट होता हूँ।'

मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि, कपिल, हंस, कृष्णद्वैपायन आदि भगवान्‌के अनेकों अवतार शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं, जिनमें कुछ उनके अंशावतार, कुछ कलावतार कहलाते हैं, किंतु भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। इन अवतारोंमें भगवान्‌ने जो-जो लीलाएँ की हैं, वे संत-महात्माओंद्वारा गेय हैं। धर्माचरणके विशुद्ध आदर्श भगवान्‌के इन अवतारोंमें दर्शनीय हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ही अपने एक अवतारमें नर-नारायणरूपसे बदरिकाश्रममें तप करते हुए परमहंस संन्यासियोंको आचरणकी शिक्षा देते हैं, कपिलके रूपमें सांख्ययोगके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं, परशुराम, श्रीराम और श्रीकृष्णके रूपमें अनेकों असुर-प्रकृति राजाओं तथा दैत्योंका दलन करते हैं, संतोंकी रक्षा करते हैं। बुद्धके रूपमें अवतार लेकर यज्ञके अनधिकारियोंको यज्ञ करनेसे रोकते हैं, अपने विशुद्ध तर्कके द्वारा वे ब्राह्मणोंके रूपमें पैदा हुए राक्षसोंको मोहित कर देते हैं। आगे भी कलियुगके अन्तमें वे भगवान् कल्कि-रूपमें अवतार लेकर इस धरापर फैले हुए समस्त म्लेच्छोंका संहार करेंगे और अपने आश्रित संतोंकी रक्षा करेंगे। कहाँतक कहा जाय, भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा अपार है। भगवान् श्रीकृष्ण धर्मके परम आदर्श हैं।

भगवान् श्रीकृष्णकी दिनचर्याका बड़ा सुन्दर वर्णन श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके उनहत्तरवें और सत्तरवें अध्यायोंमें पढ़ने-सुननेको मिलता है। भगवान् श्रीकृष्णकी दिनचर्या देखनेके लिये देवलोकसे स्वयं नारदजी पधारे थे और इन्द्रकी सभामें जाकर उन्होंने उसका गान किया था।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्‌से कहते हैं—प्रातःकाल भगवान् श्रीकृष्ण ब्राह्ममुहूर्तमें जब कुक्कुट (मुर्गे) बोलने लगते थे, उठते थे। उस समय पारिजातके पुष्पोंकी भीनी-भीनी सुगन्ध लेकर वायु बहने लगती थी, भ्रमरसमूह तालस्वरके साथ मधुर संगीतकी तान छेड़ देते थे और पक्षी मधुर स्वरसे कलरव करते थे। भगवान् श्रीकृष्ण शय्यासे उठकर हाथ-मुँह धोते और अपने मायातीत आत्मस्वरूपका ध्यान करने लगते थे। उस समय उनका रोम-रोम आनन्दसे खिल उठता था। इसके बाद विधिपूर्वक शौचादि कृत्य समाप्त करके वे विधिपूर्वक निर्मल और पवित्र जलमें स्नान करते थे। पश्चात् शुद्ध धोती पहिनकर चादर ओढ़कर यथाविधि नित्य-कर्म—संध्यावन्दन आदि करते थे। इसके बाद हवन करते और मौन होकर गायत्रीका जप करते थे। तदनन्तर सूर्योदयके समय सूर्योपस्थान करते और अपने कलास्वरूप देवता, ऋषि तथा पितरोंका तर्पण करते थे। इसके बाद कुलके बड़े-बूढ़ों और ब्राह्मणोंकी विधिपूर्वक पूजा करते थे। तदनन्तर परम मनस्वी भगवान् श्रीकृष्ण दुधार, पहले-पहल ब्यायी हुई, बछड़ोंवाली सीधी-शान्त तेरह हजार चौरासी गौओंका दान करते थे। उन गौओंको सुन्दर वस्त्र, मोतियोंकी माला पहना दी जाती थी। सींगोंमें सोना और खुरोंमें चाँदी मढ़ दी जाती थी। भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार ब्राह्मणोंको वस्त्रालंकारोंसे सुसज्जित करके रेशमी वस्त्र, मृगचर्म और तिलके साथ प्रति-दिन गौएँ दान करते थे। तदनन्तर अपनी विभूतिरूप गौ, ब्राह्मण, देवता, कुलके वयोवृद्ध, गुरुजन और समस्त प्राणियोंको प्रणाम करके माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करते थे। सहज सौन्दर्यकी खान होते हुए भी भगवान् अपनेको पीताम्बर आदि दिव्य वस्त्र, कौस्तुभ आदि आभूषण, पुष्पोंके हार और चन्दनादिके अङ्गरागसे अलंकृत करके घी और दर्पणमें अपना मुख देखते थे तथा गाय, बैल, ब्राह्मण और देवप्रतिमाओंके दर्शन करते थे। फिर पुरवासी, अन्तःपुर-के लोगोंकी अभिलाषाएँ पूर्ण करते थे। पश्चात् अन्यान्य प्रजाकी कामना-पूर्ति करके उन्हें संतुष्ट करते और इस प्रकार सबको प्रसन्न देखकर स्वयं भी आनन्दित होते थे। भगवान् श्रीकृष्ण पुष्पमाला, ताम्बूल, चन्दन, अङ्गराग आदि वस्तुएँ पहले ब्राह्मण, स्वजन-सम्बन्धी, मन्त्री और रानियोंको बाँट-कर बची हुई वस्तु स्वयं काममें लेते थे। जबतक भगवान् यह सब करते होते, तबतक उनका सारथि दारुक सुग्रीव आदि घोड़ोंको रथमें जोतकर ले आता और भगवान्‌को प्रणाम करके उनके सामने खड़ा हो जाता था। इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखा उद्धव और सात्यकिके साथ अपने सारथि दारुकका हाथ अपने हाथसे पकड़कर रथपर सवार होते और सुधर्मा सभाको जाते थे। यदुवंशियोंसे भरी हुई उस सुधर्मा सभाका ऐसा प्रभाव था कि उसमें जो लोग प्रवेश करते थे, उनको शरीरकी छः ऊर्मियाँ—भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मृत्यु—नहीं सताती थीं। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण अपनी सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंके महलोंसे अलग-अलग निकलकर एक ही रूपमें सुधर्मा सभामें प्रवेश करते और श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान होते थे। उस सभामें नट, मागध, सूत, वन्दीजन भगवान्‌की विभिन्न लीलाओंका बखान करके नाचते, गाते और उन्हें प्रसन्न करते थे। मृदङ्ग, वीणा, पखावज, बाँसुरी, झाँझ और शङ्ख आदि बजने लगते थे। कोई-कोई व्याख्या-कुशल ब्राह्मण वहाँ बैठकर वेदमन्त्रोंकी व्याख्या करते और कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण शास्त्रों-पुराणोंकी कथाएँ कहते, कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण पूर्वकालीन पवित्रकीर्ति नरपतियोंके चरित्रोंका बखान करते थे। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण यदुवंशियोंके बीचमें अपने ब्रह्मरूपको छिपाकर श्रेष्ठ मनुष्योंके धर्मका आचरण करते थे। वे अपने आचरणसे लोगोंको सदैव सद्धर्म एवं शुभ आचरणकी शिक्षा दिया करते थे।

हस्तिनापुरमें गये हुए भगवान् श्रीकृष्णकी प्रातःकालीन चर्याकीबात महाभारतमें आती है। वहाँ कहा गया है—'आधा पहर रात्रि शेष रह गयी, तब श्रीकृष्ण जागकर उठ बैठे। तदनन्तर वे माधव ध्यानमें स्थित हो सम्पूर्ण ज्ञानोंको प्रत्यक्ष करके अपने सनातन ब्रह्मस्वरूपका चिन्तन करने लगे। फिर अपनी धर्ममर्यादा तथा महिमासे कभी च्युत न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने शय्यासे उठकर स्नान किया, पश्चात् गूढ़ गायत्रीमन्त्रका जप करके हाथ जोड़े हुए अग्निके समीप जा बैठे। वहाँ अग्निहोत्र करनेके अनन्तर भगवान् माधवने चारों वेदोंके विद्वान् एक हजार ब्राह्मणोंको बुलाकर प्रत्येकको एक-एक हजार गौएँ दान कीं और उनसे वेद-

मन्त्रोंका पाठ एवं स्वस्तिवाचन करवाया । इसके बाद माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करके भगवान्ने स्वच्छ दर्पणमें अपने स्वरूपका दर्शन किया । (महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय ५३ देखिये ।)

भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य जन्म, दिव्य कर्म, उनकी मुनिमन-मोहिनी लीला और महिमाका कोई पार नहीं पा सकता। वे ही धर्मके मूल हैं, वे ही धर्म हैं, वे ही धर्मरक्षक हैं, वे ही धर्माचरण करनेवाले हैं । वे अकारण करुणामय भगवान् श्रीकृष्ण कलिकालसे ग्रस्त इन मूढ़ मनुष्योंका उद्धार करें तथा विश्वमें बढ़ते हुए अधर्मके प्रवाहको सुखाकर धर्मकी सुधाधारा बहा दें, यही प्रार्थना है ।

'बोलो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जय !'

भगवान् श्रीकृष्णकी धर्मयुक्त दैवी राजनीति

(लेखक—स्वर्गीय श्रीलौटूसिंहजी गौतम, एम्० ए०)

भगवान् श्रीकृष्णका जीवन अलौकिक था । जो लोग सनातन-धर्मकी शीतल छायामें अपना जीवन-यापन करते हैं, उनके लिये तो वे परम पुरुषके पूर्ण अवतार—'स्वयं भगवान्' ही हैं—और उदार-हृदय इतरधर्मावलम्बी भी, जो उन्हें अवतार नहीं मानते, भगवान् श्रीकृष्णको एक महापुरुष—अद्भुत पुरुष—ऐसा पुरुष, जिससे अधिक श्रेष्ठ पुरुष कोई अबतक नहीं हुआ—मानते हैं । इन सब बातोंपर विचार करनेके बाद श्रीकृष्ण क्या थे, उनकी लीला क्या थी, यह समझना मन-बुद्धिके परेका विषय हो जाता है, जो आध्यात्मिक साधनाके द्वारा—अनुभवके द्वारा ही जाना जा सकता है। पर आजकल लोग तर्ककी तलीमें पड़े हुए हैं, बुद्धिवादका बाजार गरम है; इसलिये उन लोगोंको, जो बुद्धिसे आगे बढ़कर नहीं जा सकते या जाना ही नहीं चाहते वा वहाँतक जानेमें विश्वास नहीं करते, प्रबल प्रमाणों और अखण्डनीय युक्तियोंके अभावमें—तो कभी संतोष हो ही नहीं सकता । इसलिये उनके सामने अपनी बातोंको सप्रमाण और युक्तिसहित उपस्थित करना ही वाञ्छनीय होगा ।

यों तो श्रीकृष्णके जीवनपर, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, विभिन्न दृष्टिकोणोंसे विचार किया गया है; तथापि इस लेखमें हम केवल भगवान्की धर्मयुक्त राजनीतिपर ही अपने विचार प्रकट करेंगे ।

भगवान् श्रीकृष्णकी राजनीतिको समझनेमें प्रायः लोग भूल किया करते हैं । कोई-कोई पाश्चात्त्य विद्वानोंके राजनीतिक सिद्धान्तोंको श्रीकृष्णके सिद्धान्तोंके स्थानमें बैठानेकी चेष्टा किया करते हैं । पर यह भारी भूल है; क्योंकि पश्चिममें जिस राजनीतिका विवेचन यूनान और रोममें हुआ और फिर उसके बाद सोलहवीं शताब्दीसे जिस राजनीतिका विकास होते-होते जिस रूपमें आज वह संसारके सामने है, उसमें और श्रीकृष्णकी राजनीतिमें आकाश-पातालका अन्तर है । पाश्चात्त्य राजनीतिमें राजधर्म (Polity) की बड़ी दुर्दशा की गयी है । इटालीमें मैकियावेली (Machiavelli), प्रशियामें बिस्मार्क, फ्रान्समें रिचल्यू तथा भारतमें भी चाणक्यने राजनीतिको बिल्कुल स्वार्थकी भित्तिपर—फिर वह राष्ट्रीय स्वार्थ ही क्यों न हो—खड़ा किया । 'My country, right or wrong' मेरा देश ठीक या बेठीक जो हो, वही ठीक है । इन्हीं सिद्धान्तोंका अवलम्बन इन राजनीति-विशारदोंने करवाया है और यही कारण है कि आज यूरोपकी राजनीति कंसकी राजनीति हो गयी है । यानी 'Blood and iron policy'—लोहेसे रुधिर बहाना और स्वार्थसिद्ध करना (रक्तपात और स्वार्थसिद्धि) ! कैसी कठोर और घृणित नीति है ।

यूरोप ही नहीं, समस्त संसार अब Humanism (मनुष्यत्व) को ही राजनीतिका लक्ष्य बनाना चाह रहा है, जिसके लिये पहले भारतके विरुद्ध शिकायत रहती थी । आजकल यूरोपमें राष्ट्रीय स्वार्थोंके नामपर भयंकर द्वेषाग्नि प्रज्वलित हो रही है, और इसलिये अब चार सौ वर्षोंके पश्चात् यूरोपको अन्ताराष्ट्रीय कल्याणका ध्यान हुआ है । यूरोपको अपनी जघन्य नीतियोंका अब कुछ-कुछ पता चला है । मोह-निद्रा और स्वार्थकी कर्मनाशामें निमग्न यूरोप आज अपनी आँखें खोलना चाहता है । उसे अब सच्ची राजनीतिकी उपयोगिताका कुछ-कुछ भान हो रहा है । यह सच्ची राजनीति भगवान् श्रीकृष्णने बहुत पहले महाभारतके अवसरपर बतायी थी । यानी जो पापी है, नराधम है, नृशंस है, वह दण्डका पात्र है; फिर चाहे वह अपना भाई ही क्यों

न हो। यही सच्ची राजनीति है, यही सच्चा धर्म है। चाहे जिस क्षेत्रमें जाइये, **'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम**—'विना आत्मत्यागके न इस लोकमें सुख है और न परलोकमें। स्वार्थ व्यक्तिगत हो अथवा राष्ट्रीय, वह निन्द्य और त्याज्य है।

राजधर्मको न्याय और सत्यका पोषक होना चाहिये। राजनीतिका उपयोग राजधर्मके निवाहनेके लिये ही होता है, इसलिये जबतक राजनीतिका नियन्त्रण राजधर्म न करेगा, तबतक राजनीति हेय और घातक ही रहेगी।

भगवान् श्रीकृष्ण उस धर्मयुक्त राजनीतिके प्रतिपादक और पोषक थे जिसका कि वर्णन ऊपर किया गया है। भविष्यमें मानवजातिका कल्याण तभी सम्भव है, जब इसी राजनीतिका उपयोग किया जायगा।

एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र, प्रजातन्त्र, जनतन्त्र—किसी भी नामसे पुकारा जानेवाला शासन क्यों न हो, जबतक उसका प्राण मनुष्यत्वका कल्याण चाहनेवाली वह सच्ची धर्मयुक्त राजनीति नहीं है, तबतक पूर्ण सुख और शान्ति स्थापित होना दूर है। भगवान् श्रीकृष्ण इसी दैवी राजनीतिके ज्ञाता थे और इसी कारण संसारके राजनीतिविशारदोंके बीच उनकी इतनी अधिक प्रतिष्ठा थी। महाभारत हुआ—कौरवोंके पाप, स्वार्थ और दुष्कर्मसे। जो ऐसा समझते हैं, भगवान् 'श्रीकृष्णने ही महाभारत-संग्राम कराया' वे ठीक नहीं समझते। महाभारतके निमित्त कारण भगवान् श्रीकृष्ण भले ही हों; पर महाभारतका समर अवश्यम्भावी था। अच्छा हुआ, भगवान् श्रीकृष्णने उसमें पड़कर सत्य, दया और सभ्यताकी रक्षा की। अर्जुनको पात्र बनाकर उसके बहाने निष्काम-धर्मका एक बड़ा भारी सिद्धान्त प्रत्यक्ष क्रियारूपमें सामने रख दिया। भगवान्ने स्वयं अगणित अत्याचारी राजाओंका विनाश किया। पर कहीं स्वयं राजसिंहासनपर वे नहीं बैठे; जिसको मारा, उसीके पुत्र या सम्बन्धीको राजगद्दीपर बैठाकर निष्काम कर्मका ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित किया। संसारका सच्चा राजनीतिपटु वही है, जो अपनी राजनीतिकी पुष्टि आध्यात्मिक साधनोंद्वारा करता है। भगवान् श्रीकृष्णने जब देखा कि महाभारत होनेके सब लक्षण मौजूद हैं; युद्ध हुए बिना रहनेका नहीं, इसलिये कम-से-कम इतना ही हो जाय तो बहुत है कि 'जो युद्ध हो, वह पशुओं और राक्षसोंकी भाँति अंधाधुंध न हो, बल्कि योद्धा धर्मयुक्त पद्धतिसे रणाङ्गणमें उतरें और एक-दूसरेकी शक्तिकी परीक्षा लें।' ऐसा होनेसे कम-से-कम बहुत-सा अनावश्यक रक्तपात बच जायगा और सबसे बड़ी बात यह होगी कि धर्मकी मर्यादा रह जायगी, जिससे आगे लोगोंकी लड़ाईका आदर्श होगा तो वह धर्म-युद्ध होगा, अधर्मयुद्ध नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण राजनीतिके पहुँचे हुए विद्वान् थे। उन्होंने ऐसी कोई गलती नहीं की, जिन गलतियोंका शिकार आज संसार हो रहा है। आज यूरोपमें राष्ट्र (State) और धार्मिक संस्था (Church) के बीच युद्ध और तनातनी है। इसका परिणाम बहुत बुरा हो रहा है। सत्य तो यह है कि जबतक राष्ट्र और धार्मिक संस्थाका आपसमें झगड़ा रहेगा, तबतक शान्ति नहीं होगी। श्रीकृष्णने राजनीतिका सच्चा स्वरूप तथा उसका अन्तःकरण समझ लिया था और उसका प्रयोग भी किया था।

संसारके इतिहासमें भगवान् श्रीकृष्ण ही एक ऐसे राजनीतिज्ञ हो गये हैं, जिनको आदर्श माननेसे संसारका बहुत कुछ कल्याण हो सकता है। महाभारतरूपी नाटकके पात्र अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार सारे कर्म करते हैं अवश्य, द्रष्टा हैं वे ही मधुर मुरलीवाले श्रीकृष्ण, जो वहाँ अर्जुनके घोड़ोंकी लगाम हाथमें लिये मुसकुरा रहे हैं। महाभारतमें सत्य-असत्य, पाप-पुण्य, पशुबल और धर्मबल, अन्धकार और प्रकाश अथवा यों कहिये कि देव और असुरोंका संग्राम होता है और अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णकी देखरेखमें दैवी गुणोंकी विजय और आसुरी गुणोंकी हार होती है। भगवान् श्रीकृष्ण-जैसे महापुरुष ही धर्म-बलपर चलनेवाले निर्बल और निस्सहाय पाण्डवोंके सच्चे सहायक हो सकते थे। जिस समय दुर्योधनके सौभाग्य-सूर्यकी प्रचण्ड ज्वालाके सामने ताकनेतकका साहस भी किसीमें नहीं देखनेमें आता था, जिसके पितामह भीष्म-जैसे फील्ड-मार्शल, द्रोण, कर्ण और अश्वत्थामा-जैसे जेनरल, जिसकी बड़ी भारी सेना थी, उसका डर किसे न होता ? पर श्रीकृष्ण, जिनका अवतार ही धर्मकी स्थापनाके लिये हुआ था, धर्मपक्षमें आये और अर्जुनके सारथि बनकर ही उन्होंने उस राजनीतिका परिचय दिया, जिसका पालन करनेसे मनुष्य ऊँचा उठकर देवोंके स्थानतक पहुँच सकता है। भगवान् श्रीकृष्णका यह कार्य संसारके इतिहासमें एक अद्वितीय और अद्भुत कार्य था। यूरोपीय इतिहासमें पोलैंड देशको उसके पड़ोसी राज्योंने हड़प लिया; पर किसीकी मजाल न थी जो चूँ तक करता। नेपोलियनने निर्धन देशोंको रौंद डाला; पर अन्य देश न

केवल कुछ नहीं बोले, बल्कि उल्टे उसीकी खुशामदमें लगे रहे। इंगलैंडने अपने स्वार्थोंकी रक्षाके लिये उससे लोहा अवश्य लिया; पर उसमें वह धर्मपरायणता और वह राजनीतिक त्याग कहाँ था, जिसे भगवान् श्रीकृष्णने पद-पदपर दिखाया था।

भगवान् श्रीकृष्णकी राजनीतिपटुता अपना जोड़ नहीं रखती। उसमें त्याग, सत्य, दया, न्याय और मानवोचित सभी गुणोंका समावेश है, जिससे वह कभी असफल हो ही नहीं सकती। उस राजनीतिमें न तो व्यक्तिगत महत्त्वाकाङ्क्षाके लिये स्थान है और न केवल देश तथा जातिगत स्वार्थोंका ही ध्यान है, उसमें न मदमस्ती है और न मूर्खतापूर्ण उचक्कापन। वह राजनीति केवल एक निश्चित लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये है और उस लक्ष्यका नाम है 'अभ्युदय तथा कल्याण।' जिस उन्नतिसे पारमार्थिक उन्नतिमें बाधा न हो, वही यथार्थ उन्नति है और वही वाञ्छनीय है। आजकल जिस नीचता और वज्रस्वार्थको राजनीतिके नामसे पुकारा जाता है, वह सर्वदा जघन्य है। इस समय, जब कि चारों ओरके स्वार्थ आपसमें टकरा रहे हैं, पाशविक युद्ध हो रहे हैं, शान्तिस्थापना बहुत दूर जान पड़ती है, आवश्यकता इस बातकी है कि जो मानवजातिके कल्याणार्थ परम आवश्यक है, भगवान् श्रीकृष्णकी राजनीतिका रहस्य समझा जाय और उसका अनुसरण किया जाय। ऐसा करनेसे सारे संसारमें सुख-समृद्धिका प्रादुर्भाव हो सकता है। अभीतक भगवान्‌की रहस्यवाणीका शङ्खनाद फूँका जाता रहा है; पर अब समय आ गया है कि उनकी दैवी धर्मसम्मत राजनीतिद्वारा संसार-श्मशानको पुनः नन्दनवनमें परिणत किया जाय।

धर्म और परम धर्म

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥

(श्रीमद्भागवत ६। १। ४०)

'वेदोंमें जिन कर्मोंका विधान है, वे धर्म हैं और उनके विपरीत कर्म अधर्म हैं। वेद स्वयंप्रकाश साक्षात् नारायणके स्वरूप हैं, ऐसा हमने सुना है।'

यह बात यमराजके दूतोंने विष्णुदूतोंसे कही। जो जीवके कर्मोंका निर्णय करके उसे शुभ अथवा अशुभ गति देनेवाले हैं, उन धर्मराजके दूतोंसे अधिक धर्मको कौन समझ सकता है। धर्मके सम्बन्धमें उनका निर्णय भ्रान्तिहीन होना ही चाहिये।

किंतु उस दिन धर्म और परम धर्मका संघर्ष हो गया था। माता-पिता तथा साध्वी पत्नीकी उपेक्षा करके कुलटा दासीको पत्नी बनाकर रख लेनेवाला तथा उस दासीके भरण-पोषणमें न्याय-अन्याय न देखकर जीवनभर अर्थोपार्जन करनेवाला पापी अजामिल मरणासन्न था। उसने मरते समयकी घबराहटमें दूर खेलते अपने छोटे पुत्रको उच्चस्वरसे पुकार लिया था। यह भिन्न बात है कि उस छोटे पुत्रका नाम 'नारायण' था।

अजामिलको लेने यमदूत आये थे। पापीको लेने जब यमराजके दूत आते हैं, बड़ी भयंकर आकृति होती है उनकी। अजामिल कोई पुण्यात्मा तो था नहीं कि वे सौम्य, सुन्दर, त्रिनम्र बनकर आते। उन्होंने अजामिलके सूक्ष्मदेहको पाशमें बाँध लिया था; लेकिन इतनेमें भगवान् विष्णुके पार्षद यमदूतोंपर टूट पड़े। पाश उन्होंने काट फेंका। बलपूर्वक धक्के देकर यमदूतोंको अजामिलके सूक्ष्मदेहसे दूर हटा दिया।

'आप सब कौन हैं?' यह देखकर कि इन अद्भुत तेजस्वी लोगोंसे वे जीत नहीं सकते यमदूत नम्रतासे बोले—'हम तो धर्मराजके सेवक हैं और यहाँ अपना कर्तव्य-पालन करने आये हैं। आप सब तेजस्वी हैं, धर्मज्ञ हैं, फिर धर्मराजके हम सेवकोंके कार्यमें बाधा क्यों देते हैं?'

'तुमलोग धर्मराजके सेवक हो?' विष्णुपार्षद ऐसे बोले जैसे पहचानते ही न हों—'धर्मका तत्त्व हमें बतलाओ। धर्मका लक्षण क्या है? दण्डपात्र कौन होता है?'

धर्मराजके सेवकोंने सीधा मार्ग लिया। उन्होंने 'चोदनालक्षणो धर्मः' वेद-विहित आज्ञाका पालन धर्म है, यह कह दिया। जो धर्मका पालन न करके अधर्माचरण करे, उसका अन्तःकरण मलिन हो जाता है। दयामय भगवान्‌की व्यवस्थामें दण्ड नामकी कोई वस्तु नहीं है; लेकिन अधर्मके मलको दूर करके जीवको स्वच्छ तो करना ही चाहिये। अतः पापी जीवको यमलोक ले जाया जाता है।

यत्र दण्डेन शुध्यति ।

यमराजका दण्ड-विधान पापीकी शुद्धिके लिये है । वह अपराधका कोई प्रतिशोध नहीं है और न क्रोध अथवा बदलेकी भावनासे दिया जाता है । लेकिन इस दण्डके भागी तो सब होते हैं; क्योंकि—

'देहवान्न ह्यकर्मकृत्'

कोई देहधारी तो कर्म किये बिना रह नहीं सकता । कर्म करेगा तो —

सम्भवन्ति हि भद्राणि विपरीतानि चानघाः ।
कारिणां गुणसङ्गोऽस्ति—(श्रीमद्भागवत ६ । १ । ४४)

मनुष्य त्रिगुणोंमें आसक्त है । अतएव उससे पुण्य भी होते हैं, पाप भी होते हैं । अतएव—

सर्वे कर्मानुरोधेन दण्डमर्हन्ति कारिणः ।
(श्रीमद्भागवत ६ । १ । ४३)

कर्म करनेवालेको कर्मका मल लगेगा ही । कर्मासक्त सभी लोग कर्मके अनुसार दण्ड पाते हैं ।

कर्मके साक्षी

सूर्योऽग्निः खं मरुद्गावः सोमः संध्याहनी दिशः ।
कं कुः कालो धर्म इति ह्येते दैहस्य साक्षिणः ॥
(श्रीमद्भागवत ६ । १ । ४२)

'सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, इन्द्रियाँ, चन्द्रमा, संध्या, रात-दिन, दिशाएँ, जल, पृथ्वी, काल और धर्म—ये देहधारीके कर्म-साक्षी हैं ।'

सूर्य रात्रिमें नहीं रहता और चन्द्रमा दिनमें नहीं रहता; प्रज्वलित अग्नि भी सामने न हो, यह सम्भव है; किंतु रात-दिन अथवा संध्याका समय तो होगा ही । दिशाएँ होंगी । आकाश, वायु, पृथ्वी, जलको छोड़कर आप कहाँ चले जायँगे ! आपकी अपनी इन्द्रियाँ, काल तथा धर्म तो शून्याकाशमें घूमते 'राकेट' में भी आपके साथ रहेंगे । आपके कर्मोंके इतने साक्षी हैं । देहधारीके अधर्म करनेपर इनपर प्रभाव पड़ता है ।

आजके अनास्था-भरे युगमें सूर्य, चन्द्र तथा अग्निकी उपासना लोगोंकी समझमें नहीं आती । अन्यथा इनके अधिदेवता हैं और वे प्रसन्न-अप्रसन्न होते हैं । इनकी पूजा-विधि है शास्त्रमें । इसी प्रकार आकाश, वायु, संध्या, दिन, रात्रि, जल, पृथ्वी एवं कालके भी अधिदेवता हैं । धर्म साक्षात् देवता हैं और प्रत्येक इन्द्रियके पृथक्-पृथक् देवता हैं ।

कोई भी कर्म इन्द्रिय-चेष्टाद्वारा होगा, किसी कालमें होगा, उस कर्मका प्रभाव पञ्चमहाभूतोंपर तथा ग्रह-नक्षत्रोंपर भी पड़ेगा । धर्मदेव उसके साक्षी हैं ही । इस प्रकार ये साक्षी जब अधर्मकी सूचना देते हैं, तब देही दण्डपात्र निश्चित होता है ।

धर्मसे प्राप्त होनेवाली गतियाँ

यमदूतोंने सामान्य धर्मकी यह बात बतलायी थी । उनका अधिकार-क्षेत्र सामान्य कर्तातक ही है । कर्मके विशेष कर्ता, योगी, ज्ञानी आदि उनके शासन-क्षेत्रमें नहीं हैं । अतएव उन लोगोंकी गतिकी चर्चा उन्होंने नहीं की । यहाँ संक्षिप्त रूपसे उन गतियोंका उल्लेख किया जा रहा है ।

साधारण कर्ता—पुण्यात्मा हुआ तो धर्मराजके दूत सौम्यरूपमें आकर उसे यमलोक ले जायँगे । वहाँसे वह अपने पुण्यकर्मोंके अनुसार स्वर्गादि उच्च लोकोंमें जायगा । गन्धर्वलोकसे लेकर ब्रह्मलोकतक पुण्यकर्मीकी गति है । पुण्य-भोग समाप्त होनेपर उसे पृथ्वीपर जन्म लेना पड़ता है ।

यदि वह पापकर्मा है तो उसे यमदूत भयानक वेशमें मिलते हैं । मार्गमें भी उसे असह्य क्लेश होता है । यमराज उसे भयंकर वेशमें दीखते हैं । उसे नरकोंमें डाला जाता है । पापके उत्कट भोग समाप्त होनेपर उसे पृथ्वीपर कर्मानुसार वृक्ष अथवा कीटादि तिर्यक् योनियोंमें पहले जन्म मिलता है ।

मनुष्य एक दिन एक मुहूर्तमें ऐसे पुण्य या पाप कर सकता है—करता है कि उसका भोग सहस्र वर्षमें भी पूर्ण न हो । पृथ्वीपर जो देह हैं, उनमें एक सीमातक ही दुःख या सुख भोगनेकी क्षमता है । जो पुण्य या पाप पृथ्वीके किसी देहमें भोगने सम्भव नहीं, उनका फल स्वर्ग या नरक आदिमें जीव भोगता है । पाप अथवा पुण्य जब इतने रह जायँ कि पृथ्वीपर उनका भोग सम्भव हो, तब वह पृथ्वीके किसी देहमें जन्म लेता है ।

पितृलोक—यह एक प्रकारका प्रतीक्षा-लोक है । एक जीवको पृथ्वीपर अमुक माता-पितासे जन्म लेना है, अमुक भाई-बहिन, पत्नी पाना है । अमुक लोगोंके द्वारा उसे सुख या दुःख मिलना है । वे सब जीव भिन्न-भिन्न कर्म करके स्वर्ग

या नरकमें हैं। जबतक वे सब भी पृथ्वीपर इस जीवके अनुकूल योनिमें जन्म लेनेकी स्थितिमें न आ जायँ, इसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है। पितृलोक इस प्रकार प्रतीक्षा-लोक है।

प्रेतलोक—अनेक बार मनुष्य पृथ्वीके किसी बहुत प्रबल राग, द्वेष, लोभ या मोहका आकर्षण लिये देह छोड़ता है। क्योंकि मनुष्यको अन्तिम इच्छाके अनुसार गति प्राप्त हो, यह नियम है, अतः वह मृत पुरुष वायवीय देह पाकर अपने राग-द्वेषके बन्धनसे बँधा उस राग-द्वेषके कारणके आस-पास भटकता रहता है। यह बड़ी यातनाभरी योनि है। इससे छुटकारेके उपाय शास्त्रोंमें अनेक कहे गये हैं।

विशेष कर्ता—उत्कट पुण्यकर्मा, तीव्र तापस तथा योगी यमलोक नहीं जाते। इनकी दो गतियाँ हैं। गीतामें शुक्ल तथा कृष्णमार्ग कहकर इन गतियोंका वर्णन है। इनमेंसे जिनमें वासना शेष है, वे धूम्र, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायनके देवताओंद्वारा ले जाये जाते हैं। ऊर्ध्वलोकमें अपने पुण्य भोगकर ये फिर पृथ्वीपर जन्म लेते हैं। जिनमें वासना शेष नहीं है, वे अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायणके देवताओंद्वारा ले जाये जाते हैं। वे फिर पृथ्वीपर जन्म लेने नहीं लौटते।

सती नारियाँ, धर्मयुद्धमें मारे गये क्षत्रिय तथा उत्तरायणके शुक्ल-मार्गसे जानेवाले योगी सूर्यमण्डल भेदकर मुक्त हो जाते हैं।

ब्रह्मलोकमें दो प्रकारके पुरुष पहुँचते हैं। एक यज्ञ-तप आदि करनेवाले पुण्यात्मा। ये लोग ब्रह्माकी आयुतक वहाँ सुख भोगते हैं। प्रलयके समय ब्रह्माजीमें लीन रहते हैं, किंतु अगली सृष्टिमें जन्म लेते हैं। दूसरे वे योगी अथवा वासनालेशयुक्त ज्ञानी, जिनके कर्मभोग समाप्त हो चुके हैं—जो शुद्धान्तःकरण हैं। प्रलयसे पू ब्रह्माजी उन्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश कर देते हैं। इससे वे मुक्त हो जाते हैं। आगामी सृष्टिमें वे जन्म नहीं लेते।

श्रीमद्भागवत द्वितीय स्कन्धमें एक क्रम-मुक्तिका वर्णन है। कुछ योगियोंको दिव्यलोकके भोगोंको भोगनेकी इच्छा होती है। वे स्वेच्छासे सूक्ष्मशरीर साथ लेकर देह छोड़ते हैं। वे कल्पपर्यन्त ब्रह्मलोकमें रहते हैं। अगली सृष्टिमें पृथ्वीसे एक होकर उन्हें भूमि बनना पड़ता है, फिर महाप्रलयमें वे क्रमशः लयको प्राप्त होते हुए मुक्त होते हैं।

मुक्त पुरुष—तत्त्वज्ञानी पुरुष ज्ञान-समकाल मुक्त हो जाते हैं। उनका आवागमन नहीं होता। उनके विषयमें श्रुतिने कहा है—

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति। तत्रैव प्रविलीयन्ते।

उसके प्राण कहीं निकलकर जाते नहीं। वहीं सर्वात्मामें लीन हो जाते हैं।

भक्त अपने आराध्यके लोकमें जाते हैं। भगवान्‌के लोकमें कुछ भी बनकर रहना सालोक्य-मुक्ति है। भगवान्‌के समान ऐश्वर्य प्राप्त करना सार्ष्टि-मुक्ति है। भगवान्‌के समान रूप पाकर वहाँ रहना सारूप्य-मुक्ति है। भगवान्‌के आभूषणादि बनकर रहना सामीप्य-मुक्ति है। भगवान्‌के श्रीविग्रहमें मिल जाना सायुज्य-मुक्ति है।

भगवद्धाम-प्राप्त भक्त भगवान्‌की इच्छासे उनके साथ या पृथक् भी संसारमें दिव्य जन्म ले सकता है; वह कर्मबन्धमें बँधा नहीं होता। भगवत्कार्य सम्पन्न करके वह पुनः भगवद्धाम चला जाता है।

परम धर्म

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥

(श्रीमद्भागवत ६। २। १४-१५)

'संकेतमें (इशारेसे या दूसरे अभिप्रायसे), हँसीमें, तान लेनेमें, अवहेलनापूर्वक भी कोई भगवन्नाम ले ले तो वह नामोच्चारण उसके समस्त पापोंको दूर करनेवाला होता है, यह बात महापुरुष जानते हैं। गिरते समय, पैर फिसलनेपर, अङ्ग टूटनेपर, जलनेपर, चोट लगनेपर विवशतासे भी 'हरि' यह भगवन्नाम लेनेवाला यमयातनाका पात्र नहीं है।'

विष्णुदूतोंने यमदूतोंको परम धर्मका यह विचित्र प्रभाव सुनाया। जिनके कार्यक्षेत्रमें केवल सामान्य कर्ता ही आते हैं, उन यमदूतोंको पता ही नहीं था कि अजामिलने पुत्रको पुकारनेके लिये जो 'नारायण' यह भगवन्नाम लिया, वह नामाभास भी उसे यमयातनासे मुक्ति दिलानेवाला है।

मनुष्य बिना कर्म किये नहीं रह सकता, कर्म करेगा तो

पाप-पुण्य दोनों होंगे। यह बात ठीक है; लेकिन क्रिया स्वयं जड है। कर्ताकी श्रद्धाके अनुसार कर्मका निर्णय होता है। कर्ता यदि सर्वत्र भगवान्को देखकर, भगवदाज्ञा-पालनके लिये, भगवत्सेवाके लिये, भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करता है तो वह कर्म करते हुए भी अकर्मा है। उसके कर्म उसे मायाके बन्धनमें नहीं ले जाते। वे तो उसे भगवान्के समीप रखते हैं। वह तो संसारमें रहते भी नित्यमुक्त है।

भगवान्के नाम, गुण, लीला, स्वरूपका चिन्तन, मनन, श्रवण, कथन करनेवाला नित्य भगवान्के सांनिध्यमें है। इस प्रकार नवधा भक्तिका प्रत्येक अङ्ग परम धर्म है और उसका आचरण—सेवन करनेवाला परम तत्त्व श्रीभगवान्को प्राप्त करता है। —सु०

परम धर्म

(लेखक—डा० पं० श्रीगोपीनाथजी तिवारी एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

जीवन या व्यक्तित्वके तीन अङ्ग देखे जाते हैं—विचार, साधना और कर्म। फलतः मनुष्य विचारक, साधक और कर्मठ कहलाता है। साधना और कर्ममें अन्तर है। जीवनके समस्त व्यापार—अच्छे और बुरेको कर्म कहते हैं। जब मनुष्य कर्मधाराको विशेष सद्दिशामें दृढ़तासे मोड़कर उसपर एकाग्र होकर जमता है, तब वहाँ उसका साधकरूप दिखायी देता है। साधनाके क्षेत्रमें मनका बड़ा महत्त्व है। सदा चल मनको स्थिर करके ही साधनामें रत हुआ जाता है। एक व्यक्तिमें ये तीनों रूप मिल सकते हैं। हाँ, कोई अधिक विचारक हो सकता है तो कोई अधिक साधक या कर्मशील। अधिक विचारकको दार्शनिक भी कहा जाता है। शंकराचार्यका अद्वैत विचारवाला रूप विचारक या दार्शनिकका है। गोविन्दभक्ति एवं संन्यासरत रूप साधकका है। जलमें डूबते समय मातासे धर्मप्रसारकी आज्ञा माँगनेवाला रूप कर्मी या कर्मशील पुरुषका है। विनयपत्रिकामें माया तथा मानसमें नाम और रामका विवेचन करनेवाला तुलसी दार्शनिक या विचारक है। बिन्दुमाधवकी छवि निहारनेवाला, सत्सङ्गनिरत और एकाग्र मनसे विनयपत्रिका लिखनेवाला तुलसी साधक है। दुःखोंसे संघर्ष करनेवाला, शैवोंकी उपेक्षाको हँसकर टालनेवाला और मित्र टोडरके स्वर्ग-गमनके पश्चात् उनके लड़कोंको प्रबोध देनेवाला कर्मशील तुलसी है।

व्यक्तिके समान राष्ट्र, साहित्य एवं धर्मके भी ये तीन रूप प्राप्त होते हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय, मत, जाति और समाजमें धर्मके ये तीन अङ्ग—दर्शन, साधना और व्यवहार देखे जा सकते हैं। फलतः कोई मत या धर्म दर्शनप्रधान हो जाता है तो कोई साधना या व्यवहारप्रधान। हिंदूधर्म दर्शन-प्रधान है। इसमें साधना भी बहुत फैली; किंतु अब न साधना है और न व्यवहार। बस, अपने दर्शनके गौरवका स्मरण करके हम फूलते हैं और साधनाके नामपर कभी-कभी रामस्मरण कर लेते हैं। ईसाई और मुसल्मानी धर्मोंमें दर्शन है, पर वह उतना पुष्ट नहीं है। उनका साधनापक्ष अधिक सबल रहा है। आज भी मुसल्मान नमाज और रोजेमें लीन होते हैं। व्यवहारपक्ष तो सर्वत्र परिवर्तित है। ईसाई और मुसल्मानी धर्मोंमें धार्मिकताके व्यापारमें उपासनाकी विशेष पद्धति प्रचलित हुई है जिसका समस्त जीवनसे, जीवनके प्रत्येक व्यापारसे नितान्त अटूट सम्बन्ध दृढ़तासे स्थापित नहीं है। पर ईसाई जीवन-व्यापारमें धार्मिक है।

भारतवर्षमें धर्मका रूप बड़ा व्यापक रहा है। हम हिंदू-धर्म कह देते हैं, पर हिंदू विशिष्ट समाज या जाति है। धर्म तो जीवन-व्यापारमें व्याप्त है। हिंदुओंमें धर्म केवल उपासना-पद्धतिसे नहीं चिपटा है। अथर्ववेदमें धर्मको राष्ट्रका बल माना गया है और उसे ईश्वर-रूपमें देखा गया है—

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले॥
(अथर्व० ११। ७। १७)

ऋत (नियमपालन या ईमानदारी), सत्य और तपको वैदिक ऋषि बहुत महत्त्व दे रहा है। इसी प्रकार धर्मके साथ श्रम और कर्मको ऊँचा स्थान प्राप्त है। वीरता और धनबल तो बल है ही।

धर्मकी विशद व्याख्या श्रीमद्भगवद्गीतामें प्राप्त है। वहाँ भगवान्के अवतारका कारण धर्मकी ग्लानि बताया गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
(४। ७)

'अर्जुन! जब-जब धर्मका क्षय होता है और अधर्म वृद्धि पाता है, तब मैं अवतार ग्रहण करता हूँ।'

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥
(४ । ८)

'सज्जनोंकी रक्षा, दुष्टोंके नाश एवं धर्मकी स्थापनाके लिये मैं युग-युगमें जन्म लेता हूँ ।' इससे स्पष्ट है कि धर्मकी स्थापनाका सम्बन्ध सज्जनोंके सुकर्मोंसे है । जब सज्जनोंके सत्कार्योंमें बाधा पड़ती है, उन्हें कष्ट मिलता है और कष्ट देनेवाले खल बढ़ते हैं, तब धर्मकी स्थापना और अधर्मके ध्वंसके लिये भगवान् पृथ्वीपर आते हैं । आगे भगवान्ने कहा भी है कि मनुष्यको धर्म और अधर्म, कर्म और अकर्मका ज्ञान कर लेना चाहिये (अध्याय १८) । तप, योग और भक्तिकी गणना सुकर्मोंमें है । भगवान्की उपासना भी श्रेष्ठ है । ये सब धर्मकी परिधिमें बैठे हैं, किंतु धर्मकी सीमा इनसे भी आगे है । भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि अपना गुणरहित धर्म दूसरेके अत्यन्त गुणी धर्मसे श्रेष्ठतर है, जिसमें मरना भी श्रेयस्कर है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥
(३ । ३५)

यहाँ अर्जुनसे भगवान् यह नहीं कह रहे हैं कि मेरी मूर्तिकी उपासना करनेवाले ही धार्मिक हैं अथवा पद्मासन लगाकर त्रिकुटी ध्यान धरनेवाले ही बड़े धार्मिक हैं । 'स्वधर्म'से यहाँ अभिप्राय जातीय धर्मसे है । भगवान्से जातीय एवं कुलधर्मकी चर्चा करते हुए अर्जुन कहता है—

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥
(१ । ४३)

'वर्णसंकरतासे कुलका क्षय करनेवाले अनेक दोष उत्पन्न होते हैं । इन दोषोंसे कुलधर्म एवं जातिधर्म नष्ट होते हैं ।' इसीपर भगवान्ने अर्जुनसे कहा था—'अच्छा, तू जाति और कुलधर्मकी बातें करता है । मैं भी इन्हें मानता हूँ । किंतु तू देख, तेरा अपना जातीय एवं कुलधर्म भी यही सिखाता है कि तुझे युद्ध करना चाहिये—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥
(२ । ३१)

'हे अर्जुन ! यदि तू अपने कुल या जातीय धर्मका ध्यान करता है, तब भी तुझे भयभीत नहीं होना चाहिये; क्योंकि युद्धमें निर्भीकता ही तो क्षत्रियका सबसे बड़ा और कल्याण देनेवाला धर्म है ।'

अतः धर्मका अर्थ यहाँ कर्तव्य है । स्वधर्मका अर्थ हुआ 'अपना कर्तव्य ।' फलतः कुल, जाति और वर्णके अनुसार कर्तव्य निश्चित किये गये । अठारहवें अध्यायमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रके स्वाभाविक कर्मोंकी गणना करते हुए भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
(१८ । ४७)

कुल-धर्म एवं जातिधर्मोंमें कभी संघर्ष हो सकता था । अतः कुछ और व्यापक धर्म निश्चित किये गये । यहाँ भी धर्मका अर्थ कर्तव्य ही है । जो आवश्यक रूपसे करणीय है, वही कर्तव्य है । ईशोपनिषद्में सत्यको धर्मके रूपमें देखा गया है—

सत्यधर्माय दृष्टये । (ईशोपनिषद् १५)

स्मृतिकारोंने धर्मके अन्तर्गत गुणों एवं करणीय कार्योंकी संख्या निश्चित की । महर्षि याज्ञवल्क्यने धर्मके नौ साधनोंमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), शौच, इन्द्रियनिग्रह, दान, दया, दम, क्षान्तिको ग्रहण करते हुए कहा—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति)

मनुमहाराजने इन नौमेंसे कुछ घटा-बढ़ाकर धर्मके लक्षण बना दिये । याज्ञवल्क्यके अहिंसा, दान, दयाको छोड़कर क्षमा, धी, विद्या और अक्रोधको सम्मिलितकर धर्मके दस लक्षण स्थापित करते हुए उन्होंने लिखा—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

ये भी धर्मके साधन ही हैं । सत्य, अहिंसा, अस्तेय, इन्द्रियनिग्रह, शौच इत्यादि क्या हैं ? आचारके अङ्ग । अतः वसिष्ठ एवं महाभारतकारने आचारको ही धर्म या परम धर्म घोषित किया ।

आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः ।
(वसिष्ठस्मृति)

सदाचारो हि धर्मः । (महाभारत)

फलतः जीवनके व्यापारके चार अङ्ग बताये गये, जिनमें

धर्मको प्रधान स्थान मिला । धर्म, अर्थ, काम और मोक्षमें धर्म सबसे आगे है ।

सत्रहवीं शतीके परमहंस और परम भक्तने देखा कि आचारका घनिष्ठ सम्बन्ध समाज या राष्ट्रसे है । अतः समाजको उत्थान देनेवाला करणीय कार्य ही सबसे बड़ा धर्म है और वह है सहकारी भाव या उपकार । अतः उस संत तुलसीदासने ऊँचा शङ्ख बजाकर घोषित किया कि सबसे बड़ा धर्म परोपकार है—

श्रुति कह परम धरम उपकारा ।

और वह दूसरे रूपमें इसी परमधर्मकी व्याख्या करता हुआ कहता है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

'हे भाई ! दूसरेके हितके समान संसारमें कोई धर्म नहीं है और दूसरेको पीड़ा देनेके समान अधर्म या पाप नहीं है ।' धर्मकी ऐसी कल्याणकर और सम्पन्न परिभाषा विरलतासे ही मिलेगी । धारण करनेवाला गुण ही तो धर्म है । परहितसे बढ़कर कौन गुण होगा जो समाजको धारण करेगा । धर्म और मत या सम्प्रदायमें इस विश्लेषणके आधारपर अन्तर देखा जा सकता है । हिंदू-समाजने कभी भी धर्मको केवल मन्दिर, तीर्थ या स्थानविशेषपर ही नहीं जमाया वरं वह जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें साथ चलता आया है । जब पत्नी और पति अपने शुद्धाचरणसे अपने कर्तव्य करते हैं, तब वे धर्ममें लगे हैं—

दंपति धरम आचरन नीका । अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका ॥

राजा जब नीति-न्यायके साथ प्रजा पालता है, तब वह धर्मका पालन कर रहा है—

धरम धुरंधर नीति निधाना । तेज प्रताप सील बलवाना ॥
भूप धरम जे बेद बखाने । सकल करइ सादर सुख माने ॥

धर्मकी कसौटी है कि उससे परहित हो । जो स्वार्थी बनकर केवल अपने सुखके लिये सब कुछ करता है, वह अधर्मी है । आज धर्मकी यह व्यापक दृष्टि लुप्त हो गयी है । अतः हिंदू आचार ऊँचा नहीं उठा है ।



धर्मो धारयते प्रजाः

(लेखक—डा० मुंशीरामजी शर्मा एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

धर्म प्रजाओंको धारण करता है । धर्मके न रहनेसे प्रजाएँ नष्ट हो जाती हैं । इस भूमण्डलपर पुराकालमें अनेक जातियाँ थीं; परंतु उनमेंसे आज कुछ ही जीवित हैं, शेष इस धरातलसे लुप्त हो गयीं । यवन, मिस्र तथा रोमन जातियाँ किसी समय अपने वैभवके शिखरपर विद्यमान थीं; पर आज उनका नाममात्र अवशिष्ट है । इसका क्या कारण है ? यवन या यूनानके सम्बन्धमें कहा जाता है कि वह एथेन्स और स्पार्टा नामके दो विभागोंमें विभाजित था । स्पार्टा अपनी वीरताके लिये और एथेन्स अपनी कलाके लिये प्रख्यात था । आज न तो वह वीरता ही जीवित है और न कला ही । जगद्विजयी सिकन्दरको जन्म देनेवाला यूनान आज शक्तिकी दृष्टिसे जर्जर है । धर्मके एकाङ्गी रूपको अपनानेका यही परिणाम होता है । रोम या इटलीकी अवस्था भी ऐसी ही है । किसी दिन रोमन साम्राज्य दूर-दूरतक विस्तृत था, आज वह सिमिटकर संकुचित सीमाओंके अंदर आबद्ध है । मुसोलिनीने पुराने रोमन साम्राज्यके स्वप्नको पुनः साकार रूप देना चाहा, यूथोपियाको हथिया भी लिया; परंतु अन्तमें उसका स्वप्न ध्वस्त हो गया । ग्रीक और लैटिन भाषाएँ श्रवणमात्रकी वस्तु हैं । उनका कोई अस्तित्व नहीं रहा है ! मिस्रके भी केवल प्राचीन ध्वंसावशेष रह गये हैं । न वहाँकी प्राचीन भाषा जीवित है और न वहाँकी संस्कृति ही दृष्टिगोचर होती है । चतुर्दिक् अरबीका प्रभाव है । प्राचीन मर्यादाएँ लुप्त हो गयी हैं । इस ध्वंसके मूलमें एक ही कारण कार्य कर रहा है । इन जातियोंने अपने धर्मका पालन नहीं किया, उसे सुरक्षित नहीं रक्खा । जिस प्राणपणसे दीक्षा, श्रद्धा, उत्साह और तपसे किसी वस्तुकी रक्षा की जाती है, उसका इन जातियोंमें अभाव हो गया । परिणामतः वे काल-कवलित हो गयीं । उनकी संस्कृति नष्ट हो गयी । उनकी सभ्यताओंपर दूसरी सभ्यताएँ आच्छादित हो गयीं । उनके विश्वासोंका स्थान दूसरे विश्वासोंने ले लिया । यह सब धर्मकी अवहेलनाका ही परिणाम था ।

धर्मके मूलमें श्रद्धा निहित रहती है । जातियोंकी ज्ञानधारा और कर्म-परिकल्पना इसीके द्वारा संचालित होती है । धर्ममें श्रद्धा बनी रहे तो उसके प्रति चिन्तन और

मनन भी चलेगा और तदनुकूल आचरण करनेकी प्रकृति भी जाग्रत् होगी। श्रद्धाके अभावमें ज्ञान एवं आचरण दोनों ही मृतकप्राय हो जाते हैं। गीताने इसीलिये कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
(१७।२)

पुरुष श्रद्धामय है, वह श्रद्धाका ही बना हुआ है, यह श्रद्धा भी किसी व्यक्तिके सत्त्वके अनुरूप ही होती है। अतः श्रद्धाके लिये भी सत्त्वकी शुद्धिकी आवश्यकता है। सत्त्वकी शुद्धि आहारपर अवलम्बित है। सात्त्विक अन्नका सेवन ही सात्त्विक धर्ममें श्रद्धा उत्पन्न करेगा। जो व्यक्ति और जातियाँ राजस एवं तामस आहारका सेवन करती हैं, उनकी प्रवृत्ति तदनुकूल आदर्शोंमें ही होगी। तमोगुण प्रमादको उत्पन्न करता है, उससे जीवनमें जडता आती है। रजोगुण क्रियाशील होकर हिंसा एवं परिपीड़नकी ओर भी जा सकता है। परोपकारकी ओर वह तभी प्रयाण करेगा, जब सात्त्विकतासे प्रभावित होगा। अतः प्रधानता सत्त्वकी ही है। गीताने इसीलिये श्रद्धाके लिये सत्त्वपर बल दिया है। जिन जातियोंका नामोल्लेख ऊपर किया गया है, वे सत्त्वके संसर्गसे दूर पड़ गयी थीं। रजोगुणके चक्रने सत्त्वके अभावमें उन्हें हिंसाप्रधान बनाया और तमोगुणने उन्हें जडतामें परिणत कर दिया। विनाशका पथ यही है। यूरोपकी जातियाँ सत्त्वसे विरहित होकर आज पुनः इसी रजोगुणके चक्रमें लीन हैं और सुधीजन उनके निराशाजनक भविष्यकी घोषणा भी कर चुके हैं। विज्ञानका जो वैभव इन जातियोंको थल-जल और वायुपर एकान्त आधिपत्य स्थापित करनेकी प्रेरणा दे रहा है, वह किंचित् सफलताके गर्वसे इन्हें उन्मत्त कर रहा है! वह कालान्तरमें स्वयं अपदस्थ होगा, अन्य जातियोंको भी ले डूबेगा।

भूमण्डलपर भारतवर्ष अपने अध्यात्मके लिये प्रख्यात रहा है। इस अध्यात्मकी आधारशिला सत्त्वानुरूपा श्रद्धा है। हमने भयंकर-से-भयंकर झंझावात झेले हैं, आँधियों और तूफानोंका सामना किया है, पर धर्मको नहीं छोड़ा। आध्यात्मिकता हमारा प्राण बनकर रही है। परम तत्त्वमें अविचल विश्वास हमें सहन-शक्ति देता रहा है। मथुरामें महमूद गजनवी पाँच सौ बौद्ध भिक्षुओंको तलवारके घाट उतार देता है और वे बिना उफ किये अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं, पर उनके इस मरणसे भारतकी आध्यात्मिकता बल पकड़ती है, नष्ट नहीं होती। चंगेजखाँ और तैमूरके हत्याकाण्ड भी इस श्रद्धाको विचलित नहीं कर पाते। पठानों और मुगलोंका अद्भुत प्रताप भी भारतके प्रतापको अभिभूत नहीं कर सका। अंग्रेजोंकी कूटनीतिने हमपर अकथनीय प्रभाव डाला और वे हमारे कुछ अंशको अपनी चकाचौंधसे प्रभावित ही नहीं, परिवर्तित भी कर गये; पर भारतीयोंकी धर्म-श्रद्धा, ईश्वर-विश्वास आदि आज भी जीवित हैं।

इतिहास साक्षी है कि जब-जब हमारी मान्यताओंपर ठेस पहुँची है और धर्म क्षीणताकी ओर जाने लगा है, तब-तब भगवत्कृपासे कुछ दैवी विभूतियाँ जन्म लेती रही हैं और उन्होंने भारतीयोंको धर्मकी ओर उन्मुख करनेमें श्लाघनीय कार्य किया है। अभी सौ वर्ष भी नहीं बीते हैं, जब इस वसुन्धरापर राजा राममोहनराय, महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गांधीने अवतरित होकर हमारी सुप्त चेतनाको पुनः जाग्रत् किया। पीछेकी ओर देखो और आगे बढ़ो। जिस मार्गका अतिक्रमण कर रहे हो, वह तुम्हारा मार्ग नहीं है। यहाँसे लौटकर अपने मार्गपर आ जाओ। जिस वेदने तुम्हारे भूतकालको प्रदीप्त किया था, वह आज भी तुम्हें सत्पथका दर्शन करा सकता है। यह ध्वनि भारतके इस वायुमण्डलमें गूँजी और हम अपने उसी अध्यात्म-पथपर चलनेके लिये पुनः कटिबद्ध हो गये।

आज परकीय-प्रियताने हमें पुनः झकझोरा है। अंग्रेजको निकालकर भी हम अंग्रेजियतको अपनानेके लिये पहलेसे अधिक सचेष्ट दिखायी देते हैं। यूरोपीय नीतियों और वादोंने हमपर जो प्रभाव डाला है, उससे हम अपने ऐक्यको भङ्ग करके अनेक दलोंमें विभक्त होते जा रहे हैं। हमारे अध्यात्मका स्थान भौतिकता-प्रधान वाद ले रहे हैं। देशके प्रशासन, नैयायिक, शैक्षिणिक, व्यापारिक आदि सभी क्षेत्र इन वादोंके अड्डे बन गये हैं। प्रतीत होता है कि हम इन वादोंकी चक्कीमें पिस जायँगे और पुनः नियतिके वशीभूत होकर किसीके अधीन बनेंगे। आशाकी किरण केवल एक ही है कि इस देशको, इस जातिको भगवान्ने कभी विस्मृत नहीं किया। उनकी अहैतुकी करुणा हमारा संत्राण करेगी। धर्मके प्रति हमारा अटूट विश्वास हमें बल देगा। हमारे पूर्वजोंके

पुण्यकर्म, उनकी साधना और धर्मपरायणताके बचे हुए अंकुर पल्लवित होंगे और हमें धर्मकी ओर प्रेरित करेंगे। धर्मप्राण भारत जिन भयंकर आसुरी आघातोंसे निकल चुका है, उनकी अपेक्षा वर्तमानकालीन भौतिक आघात अधिक प्रबल सिद्ध न होंगे। हमारा विवेक दबा न रहेगा। वह विघ्नोंपर विजय प्राप्त करेगा और अध्यात्मके आश्रयद्वारा हम भौतिकताकी पीठपर खड़े होकर दिव्यताका शङ्खनाद करेंगे। कल्याणकारी प्रभु हमें कल्याण-पथपर अग्रसर करें।

वेदवर्णित राष्ट्रधर्म

(लेखक—श्रीसियारामजी सक्सेना 'प्रवर', एम्० ए०, साहित्यरत्न)

विश्वके आदिग्रन्थ वेदमें मनुष्यके सभी धर्मोंका सम्पूर्णतः विवेचन हुआ है। विश्व-धर्मसे लेकर व्यक्ति-धर्मतक, समष्टिसे व्यष्टितक सभी धर्मोंका निरूपण वैदिक वाङ्मयमें है। उदाहरणार्थ यजुर्वेदका निम्नलिखित मन्त्र राष्ट्रधर्मका साङ्गोपाङ्ग और स्पष्ट वर्णन करता है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथी जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा, सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्॥

(यजुर्वेद २२। २२)

भाव यह कि विश्वभावन ब्राह्मण ब्रह्मतेजसे सम्पन्न हों। राष्ट्रमें क्षत्रियगण शूरवीर, धनुर्धर, रोगमुक्त और महारथी हों। गायें दुधारू, बैल भारवहनमें सक्षम, अश्व शीघ्रगामी, स्त्रियाँ शोभामयी, रथी विजयशील हों और इस यजमानका युवा पुत्र निर्भय वीर हो। आवश्यकतानुसार वर्षा हो, वनस्पतियाँ फलवती हों। हमारा योग-क्षेम हो।

अथर्ववेदमें भी राष्ट्रोन्नतिके उपाय बताये गये हैं, जो उपर्युक्त मन्त्रके तारतम्यमें हैं, अथवा अधिपूरक रूपमें हैं। पृथ्वीसूक्तका वचन है कि बृहत् सत्य, उग्र ऋत (अर्थात् सत्यकर्म, सत्यज्ञान), दीक्षा, तप, ब्रह्मयज्ञ पृथ्वीका धारण करते हैं।[१]

यजुर्वेदके उपरिलिखित मन्त्रकी व्याख्यासे राष्ट्रधर्मका स्वरूप निर्दिष्ट हो जाता है। आगे वेद-मन्त्रोंसे पुष्ट करते हुए उक्त मन्त्रका स्पष्टीकरण किया जायगा।

१. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥
(अथर्व० १२। १। १)

राष्ट्र-भावनाके मूलाधार हैं—एक देश (भौगोलिक एकता), एक केन्द्रीय शासन (संगठनात्मक एकता), एक संस्कृति (भावनाकी एकता), एक सभ्यता (ऐतिहासिक एकता) और एक भाषा (अभिव्यक्ति-प्रणालीकी एकता)। वेदोंमें इन सबका सविस्तर वर्णन मिलता है।[२]

राष्ट्र

उपर्युक्त पाँचों आधारोंका, अथवा और भी संक्षेपमें कहें तो, देश और राज्यके संगठनात्मक ऐक्यका नाम 'राष्ट्र' है।[३] राष्ट्र देशकी समग्रता, भावात्मक संगठन और राजनीतिक एकताका द्योतक है—यह इस तथ्यसे प्रकट होता है कि ऋग्वेदमें सामाजिक संगठनकी पाँच क्रमिक विकासभूमियाँ बतायी गयी हैं। इसकी मूलभूत इकाई 'कुल' कहलाती है, जो कुलपके संरक्षणमें एक 'गृह'के सदस्योंके अनुशासन-बद्ध संगठनका नाम है।[४] कुलोंका समूह 'ग्राम' कहलाता है,[५] जो ग्रामणीके नेतृत्वमें काम करता है। ग्रामसे बढ़कर 'विश्' नामक समूह होता है, जिसका मुखिया विश्पति कहा जाता है।[६] जैसे आजकल अनेक ग्रामोंकी एक बड़ी पंचायत होती है, वैसे ही पहले विश् रहे होंगे। विश्के नागरिक विट् कहलाते थे, जिन्हें कबायली-जैसा समझा जा सकता है। ये एक विश्से दूसरे विश्में आते-जाते रहते थे। विश्से बृहत्तर समूह 'जन' कहलाता है।[७] 'जन' राजाके शासन-यन्त्रसे सीधा

२. द्रष्टव्य—श्रीराधाकुमुद मुकर्जीकृत 'हिंदू-सभ्यता' अध्याय ३-४

३. ऋग्वेद ४। ४२। १

४. वही १०। १७९। ९

५. वही १। ४४। १०; ३। ३३। ११; १०। ६२। ११; १०। १०७। ५

६. वही १। ३७। ८

७. वही २। २६। ३; १०। ८४। २; १०। ९१। २

सम्बन्ध रखता होगा, क्योंकि राजाको 'जनरक्षक' कहा गया है।[८]

राष्ट्रसे भी बृहत्तर 'साम्राज्य' होता है। इसके शासकोंको क्रमिक उच्चताके अनुसार अधिराज, राजाधिराज, एकराट्, सम्राट्, स्वराट्, विराट् और सर्वराट् कहा जाता है। ये अपना पद-गौरव-प्रदर्शन करनेके लिये राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध आदि यज्ञ करते थे।[९] किंतु इनका वर्णन प्रस्तुत लेखकी विषय-सीमासे बाहर है।

ऐतरेय ब्राह्मणमें तत्कालीन शासन-पद्धतियोंके भी उल्लेख हैं।[१०] 'भौज्य' एक विशिष्ट प्रकारका गणराज्य था। 'स्वाराज्य' राष्ट्रपतिकी प्रधानतावाला गणराज्य था।[११] स्वाराज्यसे विपरीत 'वैराज्य' गणतन्त्र राष्ट्रपति-रहित होता था।[१२] जहाँ किसी व्यक्ति-विशेषमें ही शासनकी प्रभुसत्ता रहती थी, उसे 'राज्य' कहते थे। अनेक राज्योंको अधीन रखनेवाले शासनका नाम 'साम्राज्य' था।

राष्ट्रके उपर्युक्त प्रकार-विनिर्णयसे यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्र-भावनामें भौगोलिक एकताका विचार प्रमुख है। राजा भूमिकी रक्षा करते रहनेकी पवित्र शपथ इन शब्दोंमें लेता है कि 'पृथ्वीमाता! तुम मेरी हिंसा न करो और मैं तुम्हारी हिंसा न करूँ।' भाव यह कि देश और राजा इस प्रकार परस्पर हितैषी हों, जैसे माता और पुत्र।[१३] किंतु देश एक भावात्मक सत्ता भी है और इस शब्दसे जितना भौगोलिक सीमाका बोध होता है, उतना ही या प्रसङ्गानुसार उससे भी अधिक 'प्रजा' का कथन होता है। इसीलिये कहा है कि 'प्रजा ही राष्ट्र है'।[१४] राष्ट्रके विचारमें प्रजाका विचार ही सब कुछ है। प्रजाके हित और संरक्षणमें ही राष्ट्रकी सुरक्षा है। प्रजाकी समृद्धि, धनधान्यसम्पन्नता, नीरोगता, संक्षेपमें शोभा और दीप्ति ही राष्ट्रका वास्तविक राष्ट्रत्व है।[१५] इनसे विहीन राष्ट्र राष्ट्र कहलानेका अधिकारी नहीं। जब प्रजा-हित ही राष्ट्रका सर्वस्व है, तब प्रजाको ही अपना हित देखनेका वास्तविक अधिकार है। अतः वेदोंने राष्ट्रकी प्रभुसत्ता प्रजामें रक्खी है। धर्म, यज्ञ और राजदण्ड प्रजाके भावात्मक प्रतीक माने जाते हैं। अभिषेकके समय सविता, अग्नि, सोम, बृहस्पति, इन्द्र, रुद्र, मित्र और वरुणको आहुतियाँ दी जाती हैं। इनमें सविता धर्म-पालन, सोम कृषि और वनस्पतिकी समृद्धि, रुद्र पशु-रक्षण और वरुण धर्म-रक्षणकी शक्ति प्रदान करते हैं। ये शक्तियाँ राजाका नहीं, प्रजाका हित-साधन करनेके लिये हैं। वैदिक विचारधारामें राजाकी विशेषता उसके धर्मसंस्थापक रूपमें है। प्रजाओंका सच्चा अधिपति धर्म है, राजा तो दण्ड (शासन)का वह रूप है जो धर्मकी संस्थापना और रक्षा करता है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि राजा ईश्वरका रूप है। राजाको दैवी अधिकार नहीं है, उसमें मन्त्रोंके द्वारा दैवी गुणोंका अध्यारोप किया जाता है। भाव यह कि प्रजाकी इच्छा वा आज्ञासे राजाको शासनाधिकार दिया जाता है।[१६] राजाको राज्य एक निक्षेपकी भाँति सौंपा जाता है; स्वोपभोगके लिये नहीं, अपितु कृषिवृद्धिके लिये और सर्वविध पोषणद्वारा प्रजाके क्षेम-सम्पादनके लिये।[१७] इससे सिद्ध है कि राज्यपदपर आसीन रहनेकी कसौटी जनताका योग-क्षेम-सम्पादन है और राजा एक महार्घनिधि (ट्रस्टी) मात्र है। राजाका अभिषेक-संस्कार भी यही प्रकट करता है। सत्रह स्थानोंसे सम्भृत जलोंसे राजाका अभिषेक कराया जाता है। यह भी प्रतीकात्मक संस्कार है। समुद्रजल प्रजाओंके प्रति भक्तिका संकेत करता है, परिवाही जल भूमा या समृद्धि-की प्रेरणा देता है और स्थावर ह्रदका जल राजाके प्रति प्रजाकी दृढ़ भक्तिका विश्वास दिलाता है। इतना ही नहीं, राजाको निरंकुशताके पथपर जानेसे रोकनेके लिये और उसपर नियन्त्रण रखनेके लिये प्रजाकी चार कार्यविधियाँ

---

८. 'गोप्ता जनस्य' (ऋग्वेद ३। ४३। ५)

९. अथर्व० ३। १। ४; ऐत० ब्रा ८। १५; तथा गोपथ-ब्राह्मण, आपस्तम्ब श्रौत सूत्र २०। १। १

१०. ऐत० ब्रा० ८। ३

११. 'ए एवं विद्वान् वाजपेयेन यजति। गच्छति स्वाराज्यम्। अग्रसमानानां पर्येति। तिष्ठन्तेऽस्मै ज्येष्ठाय॥

(तैत्तिरीयब्राह्मण १। ३। २२)

१२. वैराज्यका अर्थ 'सुशोभित होना' मात्र नहीं है। विराट्-का अर्थ 'राजा' है—

'राजा भोजो विराज् सम्राट्॥'

(महाभारत, शान्तिपर्व ५८। ५४)

१३. शत० ब्रा० ५। ४। ३। २० और टीका

१४. 'राष्ट्राणि वै विशः॥'—ऐत० ब्रा० ८। २६

१५. 'श्रीर्वै राष्ट्रम्॥'—शत० ब्रा० ६। ७। ३। ७

१६. शत० ब्रा० ५। ३। ३। २–९

१७. इयं ते राट्·······यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि वरुणः। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥

—शत० ब्रा० ५। २। १

हैं—निर्वाचन, राज-मर्यादा-निर्धारण, मन्त्रि-परिषद्की अधिकार-सम्पन्नता तथा सभा-समितियोंका अंकुश। इससे स्पष्ट है कि राजाकी स्थिति प्रजापर निर्भर है;[१८] क्योंकि प्रजा ही राजाको चुनती है[१९] और उसे पदपर बनाये रखती है[२०] या पदच्युत कर सकती है और एक बार पदच्युत कर दिये जानेपर उसे पुनः सिंहासनासीन कर सकती है;[२१] निरन्तर उसे शक्ति देती है[२२] और सब ओरसे उसकी रक्षा करती है।[२३] अतः राजाका यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह प्रजाको प्रसन्न रक्खे, उसकी भक्ति करे,[२४] जिससे प्रजा उसे चाहती रहे।[२५]

राजा प्रजाका सेवक है[२६], यह प्रकट करनेके लिये अभिषेकके समय एक विशेष धार्मिक कृत्य होता है। अध्वर्यु और उसके सहकारी राजाकी पीठपर दण्ड-स्पर्श करते हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि प्रजा राजाको अदण्ड्य बना रही है, तथापि दण्ड-शक्तिकी मूल अधिष्ठात्री प्रजा ही है।[२७] राजा दण्डसे अतीत रहते हुए उस दण्डको धारण करता है, जो धर्मका रक्षक है। राजा दण्डका धारण करनेवाला मात्र है[२८], दण्डका विधाता या मूलस्रोत नहीं।

यद्यपि प्रभुसत्ता प्रजामें निहित है, तथापि दण्ड-शक्ति राजाको देकर और उसे अदम्य बनाकर[२९] प्रजा स्वेच्छासे राजाकी आज्ञाका पालन करनेका व्रत लेती है[३०]। समष्टि-प्रजा प्रभुता-सम्पन्न है, व्यष्टि-प्रजा वशवर्त्तिनी है। इस प्रकार राजा और प्रजाके परस्पर अधीन रहनेसे ही राष्ट्र उन्नतिशील, निर्द्वन्द्व और व्यवस्थित रहता है।[३१] राष्ट्रकी रक्षा और समृद्धिके लिये प्रजा राजाको बलि (कर) दिया करती है।[३२] बलिहृत्[३३] होकर राजा न्यायकी व्यवस्था करता और व्यवहार (कानून-) सम्बन्धी कार्योंमें वही अन्तिम धर्माध्यक्ष होता है।[३४] इस प्रकार आन्तरिक व्यवस्था और सुरक्षाका प्रबन्ध करके वह बाह्य शत्रुओंसे भी प्रजाकी रक्षा करता है। इसीलिये

१८. विशि राजा प्रतिष्ठितः॥—यजु० २०। ९

१९. त्वां विशो वृणतां राज्याय॥ अथर्व० ३। ४। २
अथर्व० ६। ८७–८८

२०. अथर्व० ६। ८८। ३

२१. त्वां विशो वृणतां राज्याय।
त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व।
ततो न उग्रो विभजा वसूनि॥
अथर्व० ३। ४। २

अथर्व० ३। ३; ३। ३। ४; ३। ८। २; ८। १०, तैत्ति० सं० २। ३। १, वाजसनेयि सं० अध्याय १९–२१। शत० ब्रा० १२। ९। ३। ३; पञ्चविंश ब्रा० १९। ७। १–४

२२. विशा वा क्षत्रियो बलवान् भवति॥
शत० ब्रा० ४। ३। ३। ६

२३. शत० ब्रा० ५। ३। ३। १२; ५। ४। २। ३
अथर्व० ७। ३४; १। २९; १। ३०

२४. अथर्व० ६। ७३; ८। ९४

२५. विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु॥' अथर्व० ४। ८। ४, यजु० १२। ११; ऋ० १०। १७१। १

एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वा अभिषिञ्चेत् स ब्रूयात् सह श्रद्धया यान्च रात्रीमजायेऽहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरे-णेष्टापूर्त्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येयमिति॥
ऐत० ब्रा० ८। १५

२६. राजा प्रजाका पात्र है। वह आप प्रतिनिधि मात्र है॥
—मैथिलीशरण गुप्त

२७. दण्डैर्घ्नन्ति……एवं दण्डवधमतिनयन्ति॥
—शत० ब्रा० ५। ४। ४। ७

२८. ऋग्वेद ८। ४७। ११

२९. अदब्धः॥ ऋग्वेद ४। ४। ३—

३०. प्रजापतेः प्रजा अभूम॥ यजु० १८। २९

३१. राष्ट्रमेव विश्या हन्ति तस्माद् राष्ट्री विशं घातुकः।
विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद् राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति॥ —शत० ब्रा०

३२. ऋग्वेद १। ६४। ४; ७। ६। ५

३३. ऋग्वेद ७। ६। ५; १०। १७३। ६

३४. ऋग्वेद १। २५। १३

वह प्रजारक्षक कहलाता है।[३५] अथर्ववेदमें[३६] राजाको रक्षकों अर्थात् क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ, प्रजाओंका अधिपति, कोषका एकमात्र स्वामी, जनोंका अप्रतिम नेता, समस्त प्राणियोंका प्रभु, मनुष्योंमें सर्वोच्च और देवोंके समकक्ष बताया गया है। करद्वारा धनकी प्रचुरता हो जानेसे राजा भव्यता भी धारण कर लेता है। उसका वेष भव्य होता है,[३७] उसका समाभवन सहस्र-स्तम्भवाला[३८] और राजप्रासाद सहस्रद्वारवाला[३९] होता है। उसके अनेक परिकर रहते हैं।

राजाको इतनी सुविधा, इतनी प्रभुता और इतने अधिकार देनेपर भी राजासे संयमी, ब्रह्मचारी और तपोमय होनेकी अपेक्षा की गयी है।[४०] क्योंकि जागरूक व्यक्ति ही जनताकी रक्षा कर सकता है,[४१] और समझदार बुद्धिमान् नेता ही प्रजाको ठीक मार्गसे उन्नति-पथपर ले जाता है।[४२] ऐसा राजा ही गर्वपूर्वक कह सकता है कि मेरा राज्य चोरों, कायरों, शराबियों, यज्ञहीनों, अविद्वानों और चरित्रभ्रष्टोंसे रहित है।[४३]

पराक्रमी और तेजस्वी होनेके लिये सहायकों और मित्रों-की आवश्यकता होती है। राजाको भी अपने कार्योंमें साथ देनेवाले व्यक्तिकी अपेक्षा होती है।[४४] संगठित और बलशाली रहनेपर ही राष्ट्र या व्यक्ति अनाधृष्ट रह सकता है।[४५] देशरक्षार्थ संग्राम करना होता है और संग्राममें क्रूर कर्म भी होते हैं।[४६] शत्रुके साथ 'शठे शाठ्यं'की नीति अपनानी पड़ती है और हिंसाका मार्ग भी ग्रहण करना होता है।[४७]

समिति और सभा

राजाको जनहितके कार्योंमें लगाये रखनेके लिये और उसमें तानाशाहीकी प्रवृत्ति उत्पन्न होनेसे रोकनेके लिये समिति और सभा हैं।[४८] इनके द्वारा जनताकी इच्छा राजा-को ज्ञात होती है। वस्तुतः ये जनसंसदें हैं। ये भारतीय राजतन्त्रकी मूलभूत आरम्भिक संस्थाएँ हैं, अतः इन्हें प्रजापति-की दो पुत्रियाँ कहा गया है।[४९]

समिति

समिति पूरे राष्ट्रकी संस्थाका नाम है। इसमें राष्ट्रकी जनताके प्रतिनिधि एकत्र होकर राजाका निर्वाचन करते थे और कभी-कभी निर्वासित राजाको वापस बुलाकर उसका पुनर्निर्वाचन करते थे। राजाको बनानेवाले ये (राजकृतः) राष्ट्रवासी उसे एक मणि या पलाशपर्ण प्रतीकरूपमें इसलिये देते थे कि प्रजा राजाके अनुकूल रहनेका अनुग्रह कर रही है। समिति विचार करके राजाके अच्छे कार्योंका समर्थन करती और बुरे कार्योंसे उसे विरत करती थी।[५०] शत्रु-

---

३५. पायुर्विशः ॥—ऋग्वेद

३६. 'क्षत्राणां राजेन्द्रः' ··· 'विशां विश्पतिः' ··· 'धनिपतिः धनानाम्' ··· 'एकं वृषं जनानाम्' ··· 'वृष विश्वस्य भूतस्य' ··· 'उत्तमं मानवानाम्' ··· 'देवानामर्धभाक्'॥—अथर्व० ४। २२

यजुर्वेदानुसार भी राष्ट्रपतिमें ऐसे ही गुण अपेक्षित हैं—

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां
मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः।
वसुः सूनुः सहसो अप्सु राजा
विभात्यग्र उषसामिधानः॥
—यजु० १२। २२

३७. त्वेष संदृश ॥ ऋक्० १। ८५। ८

३८. सहस्र स्थूणसदसे ॥ ऋक्० २। ४१। ५

३९. सहस्रद्वारं गृहम् ॥ ऋक० ७। ८८। ५

४०. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ॥
—अथर्व० ११। ५। १७

४१. जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविः ॥
—साम० उ० ३। १। ६

४२. विद्वान् पथः पुर एता ऋजुनेषति ॥
—ऋक्० ५। ४६। १

४३. न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥
—छान्दो० उपनिषद् ५। ११। ५

४४. द्वितीयवान् हि वीर्यवान् ॥—शत० ब्रा० ३। ७। ३। ८

४५. अनाधृष्टाः सीदत सहौजसः ॥—यजु० १०। ४

४६. संग्रामो वै क्रूरम्। संग्रामे हि क्रूरं क्रियते ॥
—शत० ब्रा० १। २। ५। १९

४७. धूर्व धूर्वन्तं, धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति ॥—यजु० १।८
यो अस्मभ्यमरातीयाद् यश्च नो द्विषते जनः।
निन्दाद् यो अस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं भस्मसा कुरु ॥
—यजु० ११। ८०

४८. तं सभा च समितिश्च सेना च ॥—अथर्व० १५।९।२ तथा १२। १। ५६; यजु० ३। ४५

४९. सभा च सा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ॥
—अथर्व० ७। १२। १

५०. ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह। नास्मै समितिः कल्पते ॥ अथर्व० ६। ८८। ३, ५। १९। १५ तथा ऋग्वेद १०। १७३ सूक्त

विजयार्थ एवं स्वशक्ति-दृढ़करणार्थ राजा समितिका समर्थन प्राप्त करता है।[५१] राजाके लिये समितिका प्रिय बनना आवश्यक है।[५२] राजाका यह कर्तव्य है कि समितिमें उपस्थित हो,[५३] और सदस्योंके चित्त एवं व्रतको अपने अनुकूल बनाये।[५४] राष्ट्रकी अभिवृद्धिके लिये राजा और समितिके मन्त्र, मन, चित्त, प्रयत्न और हृदय समान होने चाहिये,[५५] अर्थात् उनमें पूर्ण सौमनस्य होना चाहिये। समितिमें अध्यात्मचर्चा और साहित्य-चर्चा भी हो जाती है।[५६]

सभा

सभा राष्ट्रके वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध नागरिकोंके समूहका नाम है। सभाके सदस्य सभ्य, सभासद,[५७] सभासीन या सभेय कहलाते हैं। सभाका प्रमुख सभापति,[५८] और सभाका रक्षा-पुरुष सभापाल[५९] कहलाता है। सभाके लिये धनका पृथक् अनुदान होता है।[६०] सभाका एक नाम 'नरिष्ठा' भी है; क्योंकि सभामें किसी भी प्रश्नपर स्वतन्त्रतापूर्वक, खुलकर, विचार हो सकता है; किंतु एक बार कोई निर्णय हो जानेपर वह सबके लिये अनुल्लङ्घनीय हो जाता है।[६१] इसीलिये स्वच्छन्दता या उच्छृङ्खलताका परित्याग करनेके लिये कहा जाता है। उदाहरणार्थ, शुक्ल यजुर्वेदमें युवकोंको सभाके योग्य बननेका आदेश दिया गया है।[६२]

पहले ऋषिगण भी राजासे सभामें ही मिला करते थे,[६३] तथा करद राजा भी सभामें ही एकत्र होते थे।[६४] सभाका महत्त्व इतना अधिक है कि कोई राजा तो क्या प्रजापति भी सभाके बिना अपना कार्य नहीं चला सकते।[६५]

सभाके कार्योंमें सामूहिक निर्णय और न्याय प्रमुख हैं। गम्भीर विषयोंपर विचार-विनिमय होते हैं। सदस्य अपने मन्तव्यको प्रभावपूर्ण ढंगसे प्रस्तुत करनेके लिये वाक्शक्ति बढ़ाते हैं। वे वाग्मिता बढ़ाने[६६] और सुन्दर भाषण करनेकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये[६७] भगवान्‌से कामना करते हैं। प्रत्येक सभासद् चाहता है कि वह अन्य सदस्योंके वर्चस् और विज्ञान, तेज और बुद्धिको अपने पक्षमें मोड़ सके और उनके मनको अपने भाषणोंमें रमा सके,[६८] जिससे वे उसका समर्थन करें।[६९] भाषणमें त्रुटि रहना बड़ा अपराध माना जाता है और ऐसे भाषणदाताका अपमान होता है।[७०]

---

५१. ध्रुवोऽच्युतः प्रमृणीहि शत्रून् छत्रू यतोऽधरान् पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवायते समितिः कल्पतामिह।
अथर्व० ६।८८।३ तथा ऋग्वेद १०।१७३ सूक्त—

५२. ऋक्० १०।९७।६। (··· समग्मतः राजानः समिताविव)

५३. राजा न सत्यः समितीरियानः—ऋक्० ९।९२।६

५४. ऋक्० १०।१६६।४ (अहं समितिं ददे)

५५. समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
—ऋक्० १०।१९१।३-४

५६. छान्दो० उप० ५।३

५७. सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः॥
—अथर्व० १९।५५।५

५८. वाजसनेयि-सं० १६।१४

५९. तैत्तिरीय० ३।७।४।६

६०. 'रयिः सभावान्' ॥ ऋक्० ४।२।५

६१. विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि॥—अथर्व० ७।१२।२

इसपर सायणभाष्य—

नरिष्टा अहिंसिता परैरनभिभाव्या। बहवः सम्भूय यद्येकं वाक्यं वदेयुः, तद्धि न परैरतिलङ्घ्यम्। अतः अनभिलङ्घ्यवाक्यत्वात् नरिष्टेति नाम।

६२. सभेयो युवा।—यजु० २२।२२

६३. छान्दो० उप० ५।३।६

६४. वही ८।१४।१

६५. शत० ब्रा० ३।३।५।१४

६६. याः सभा अभिभूम्याम्··· समितयः तेषु चारु वदेम ते।
—अथर्व० १२।१।५६

६७. चारु वदामि संगतेषु॥—अथर्व० ७।१२।१

६८ मयि वो रमतां मनः॥—अथर्व० ७।१२।४
अभिभूरहमागमं विश्वकर्मेण धाम्ना।
आ वश्चित्तमा वो व्रत मा वोऽहं समितिं ददे॥
—ऋक्० १०।१६६।४

६९. ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥
—अथर्व० ७।१२।२

७०. सभायां यदेनश्चकृमा वयम्॥ यजु० ३।४५, तथा भाष्य यजु० २०।१७ भी

सभा उच्च न्यायालयका कार्य भी करती है। यद्यपि न्याय वा व्यवहार-सम्बन्धी कार्योंमें राजा ही सर्वोच्च धर्माध्यक्ष होता है,[७१] तथापि वह यह कार्य सभाकी सहायतासे ही करता है। पारस्कर-गृह्यसूत्रमें सभाके गुण-नाम 'नादि' और 'त्विषि' भी बताये गये हैं, जिनके अर्थ जयरामीय व्याख्याके अनुसार 'नदनशील' और 'दीपनशील' हैं; क्योंकि सभामें धर्म-निरूपण होता है।[७२] प्राचीन कालमें दिव्य परीक्षा करनेके लिये सभामें अग्नि रक्खी जाती थी। इसीलिये सभाको प्रकाशवती कहा गया है। सभामें निर्णयार्थ आनेवाले व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमूह 'सभाचार' कहलाते थे।[७३] 'सभाचार' का अर्थ है धर्म-निरूपणके लिये न्यायालयरूप सभामें आनेवाला व्यक्ति। सभा अपराधीको दण्ड देती और निरपराधको दोष-विनिर्मुक्त प्रकट करती है।[७४]

सभाके अतिरिक्त न्यायके अन्य साधन भी वेदमें उल्लिखित हैं। झगड़ोंमें पञ्च-निर्णय भी होता है। ऐसे बीच-बचाव करनेवाले 'मध्यमशी' कहे जाते हैं।[७५] ग्रामोंमें न्यायकर्त्ता पञ्च होते हैं। पञ्चका नाम 'ग्राम्यवादिन्' भी है।[७६] इनकी भी सभा हुआ करती है।[७७]

न्यायकार्यमें सहायता करनेके लिये आरक्षी विभाग होता है। रक्षापुरुष या दण्डधरको 'उग्र'[७८] और 'जीवगृभ्'[७९] अर्थात् दुर्दान्त और जीवित पकड़नेवाला कहते हैं।

मन्त्रि-परिषद्

शासनकार्यमें राजाको सब प्रकारसे सहायता देनेवाले मन्त्री होते हैं। राजा इनपर आश्रित रहता है, इनसे पथ-प्रदर्शन प्राप्त करता है; अतः इन्हें 'रत्निन्' कहा गया है।[८०] ये राजकर्त और राजकृत्[८१] होते हैं, अर्थात् ये स्वयं राजा न होते हुए भी राज्य करनेवाले और राजाको बनानेवाले होते हैं। ये ही राजाके सिंहासनासीन होनेपर उसकी प्रभुता और कर्त्तव्यमत्ताकी घोषणा करते हैं।[८२] ये शासनके समस्त मुख्य कार्योंके संचालक होते हैं और शासकीय विभागोंके अधिपति हुआ करते हैं।[८३] इनकी सम्मति लेना राजाका कर्तव्य है। पदारूढ़ बने रहनेके लिये इनकी अनुकूलता रखना राजाके लिये आवश्यक होता है, अतः 'रत्न-हवि' नामक इष्टिसे राजा इन्हें प्रसन्न रखता है।[८४]

इन राजकर्त्ताओंमें सर्वप्रथम गणना ब्राह्मणकी है। ब्राह्मण पुरोहितके रूपमें राजा और राजघरानेसे सम्बन्ध रखता है। यह न केवल सन्मित्रके रूपमें नित्य साहचर्यके द्वारा राज-परिवारको कर्तव्याभिमुख रखता है, अपितु युद्धोंमें भी राजाके साथ रहकर उसके लिये दैवी सहायताकी योजना भी करता है। ब्राह्मण राजाके लिये उपदेशक, राजपुत्रों और प्रजाओंके लिये शिक्षक, विचार-क्षेत्रमें ऋषि, समाजके लिये पथ-प्रदर्शक और योद्धाओंके लिये अग्रगामी होता है। वेदके मतमें, वह राष्ट्र-जीवनके प्रायः प्रत्येक क्षेत्रमें जागरूक रहकर आगे रहता है।[८५] इसीलिये वह

---

७१. ऋक् १।२४।१३–१५

७२. पा० गृ० सूत्र ३।१३; 'नदनशीला दीप्ता धर्मनिरूपणात्' द्रष्टव्य—श्रीबलदेव उपाध्याय 'वैदिक साहित्य' पृ० ४७२

७३. यजु० ३०।६; ऐत० ब्रा० ८।२१।१४
अथर्व० ३।२९।१; ७।१२।२; १९।५५।६

७४. किल्बिषस्पृत् (अपराध-संस्पृष्ट) पितुषणिः (अपराधमुक्त)। —ऋक् १०।७१।१०

७५. ऋक्० १०।९७।२

७६. तैत्ति० सं० २।३।१।३

७७. मैत्रायणी सं० २।२।१

७८. ऋक्० ७।३८।६

७९. ऋक्० १०।९७।११

८०. शत० ब्रा० काण्ड १३

८१. अथर्व० ३।५।७; ऐत० ब्रा० ८।१७।५;
शत० ब्रा० ३।४।१।७; १३।२।२।१८

८२. 'इमं जनाः अभ्युत्क्रोशत सम्राजं साम्राज्यं, भोजं भोजपितरं, स्वराजं स्वाराज्यं, विराजं वैराज्यं, परमेष्ठिनं पारमेष्ठ्यं, राजानं राजपितरं, क्षत्रमजनि क्षत्रियोऽजनि, विश्वस्याभूतस्याधिपतिरजनि, विशामत्ताजनि, अमित्राणां हन्ताजनि, ब्राह्मणानां गोप्ताजनि इति॥—ऐतरेय ब्रा० ८।१७

८३. अथर्व० १।९।३-४; ३।४।३ आदि; मैत्रा० सं० २।६।५; तैत्ति० संहिता शत० ब्रा० ३।५।१।१; ५।४।४।१५-१९; ५।३।१ सूक्त
पंचविंश ब्राह्मण १९।१।४

८४. ऋक्० १।१।१

८५. वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः॥

'पुरोधा' या 'पुरोहित'[८६] कहलाता है और उसके कार्यको 'पुरोहिति' कहते हैं। विश्वामित्र, वसिष्ठ और देवापि प्रसिद्ध पुरोहित हुए हैं।

चतुर्वर्ण—

राज्याभिषेकके समय चारों वर्णोंके मनुष्य उपस्थित रहते हैं। सबके मध्य पुरोहित यह घोषित करता है कि 'सब प्रजाओं-का राजा यह व्यक्ति है, किंतु ब्राह्मणोंका राजा सोम है।[८७] अभिप्राय यह कि वैदिक राजतन्त्रमें धर्मको ही सच्चा अधिपति माना गया है। धर्मका प्रतिनिधि ब्राह्मण है, अतः ब्राह्मण क्षत्रसे ऊपर है। इसीलिये ब्राह्मणोंकी गणना प्रथम होती है।[८८] इतना ही नहीं, वेदका अध्ययन-अध्यापन करनेसे ब्राह्मण और भी ऊँचे हैं, देवतुल्य हैं।[८९] ब्राह्मण सदा विश्वहितमें लगा रहता है। अतः कहा गया है कि ब्राह्मणके अपमानसे राष्ट्रका नाश हो जाता है।[९०] क्षत्रका शासन जीवनके उन्हीं क्षेत्रोंपर होता है जो धर्मकी प्रत्यक्ष शासन-सीमामें नहीं आते। क्षत्रिय प्रजाको धर्मपथपर लाता है और ब्राह्मण उसे धर्ममय बनाता है। क्षत्र-ब्रह्म दोनों ही प्रजाओंमें धर्मको धारण कराते हैं, अतः दोनोंमें पूर्ण सौमनस्य होना चाहिये। दोनोंकी परस्पर प्रतिष्ठा होती है।[९१] बुद्धि और क्रियाका सामञ्जस्य हुए बिना कोई कार्य ठीक नहीं हो सकता, राष्ट्र उन्नति-पथपर अग्रसर नहीं हो सकता। अतः ब्राह्मण और क्षत्रियको मिलकर देशहितमें लगे रहना चाहिये।[९२]

ब्राह्मण और क्षत्रिय ही नहीं, वैश्य और शूद्र भी राष्ट्रके साथ सौमनस्य रक्खें; चारों वर्णोंमें परस्पर सौहार्द हो, वे एक मनसे तथा मिल-जुलकर कार्य करें।[९३] ऐसा भी उक्त वेदमन्त्रका अभिप्राय है। 'धेनु'से वैश्य और 'अनड्वान्' तथा 'सप्ति'से शूद्रके सहयोगकी ओर संकेत है। राष्ट्र-रक्षामें तत्पर सभी वर्णोंको तेजस्वी होना चाहिये।[९४] सभी अपने-अपने कर्तव्योंमें निरत रहें; किंतु संकट-कालमें, धर्मका अवरोध होनेपर द्विजाति शस्त्र-ग्रहण भी करे और शूद्र द्विजातिका हित-साधन करता हुआ विविध शिल्पोंकी उन्नति करता रहे।[९५] यह स्मृति-प्रतिपादन वेदके आधारपर ही है। मनुस्मृतिका वचन है कि वर्ण-निर्दिष्ट कर्तव्योंकी अवहेलना करनेपर राष्ट्र राष्ट्रिकोंके सहित नष्ट हो जाता है।[९६] अतः अपने धर्म वा कर्तव्यमें लगे रहकर सभीको सबके प्रति मित्रभाव रखना चाहिये[९७] और सब प्रकारसे समस्त मानव-जातिकी रक्षामें दत्तचित्त रहना चाहिये।[९८] यही संगठन और शक्तिका मूलमन्त्र है।

परिवार

यजुर्वेदके उक्त मन्त्रका 'योषा' शब्द पारिवारिक सौमनस्यकी अनिवार्यता प्रकट करता है। राष्ट्रमें सहृदयताके विस्तार करनेका प्रथम सोपान परिवार ही है। व्यक्ति सर्व-प्रथम परिवारमें ही आत्मविस्तार करता है। यहीं वह अपने क्षुद्र स्वार्थसे ऊपर उठनेका अभ्यास करता है और परहित-

---

८६. ऋक्० ७। ६२। १२; ७। ८३। ४

८७. एष वो विशो राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा॥
—शत० ब्रा० ५। ३। ३। १२ तथा शत० ब्रा० ५। ४। २। ३

८८. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्॥ —पुरुषसूक्त
आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी ···

८९. अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः॥
—शत० ब्रा० २। २। २। ६

९०. उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति।
परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते॥
अथर्व० ५। १९। ६ तथा अथर्व० ५।१७, १८, १९ सूक्त

९१. ब्रह्म च क्षत्रं च संश्रिते॥ —ऐत० ब्रा० ३। ११
ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितम्। क्षत्रे ब्रह्म॥—ऐत० ब्रा० ८। २

९२. ॐ यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं देशं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥
—यजु० २०। २५

९३. संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
—ऋक् १०। १९१। २

९४. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु, रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु, मयि धेहि रुचा रुचम्॥
—यजु० १८। ४८

९५. (क) शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते॥
(ख) शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद् द्विजातिहितमाचरन्॥
—याज्ञवल्क्यस्मृति

९६. यस्मिन्नेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥
—मनुस्मृति १०। ११

९७ मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥—यजु० ३६। १८

९८. पुनान् पुमांसं परिपातु विश्वतः॥ —ऋक् ६। ७५। १४

साधनमें लगाना सीखता है। अथर्ववेदके सौमनस्यसूक्तमें[९९] पारिवारिक सौहार्द, सौमनस्य, अविद्वेष, त्याग, अनुव्रत और सव्रत-भद्रता रखनेका व्रत निर्दिष्ट किया गया है।

व्यष्टि-धर्म

यह तो राष्ट्रके समष्टिगत धर्मकी विचारणा हुई। व्यष्टिगत राष्ट्रधर्मका भी वेदोंमें निरूपण हुआ है। उपर्युक्त मन्त्रमें 'नः' शब्दका तीन बार प्रयोग प्रत्येक मनुष्यके व्यक्तिगत योगक्षेम, आरोग्य, पुष्टि, तेजस्विता, परिश्रम-शीलता आदिकी कामना करता है। अन्य प्रसङ्गोंमें भी कहा गया है कि मनुष्यका शरीर चट्टान-जैसा सुदृढ़ हो[१००] और वह तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु तथा सहसे भरपूर हो।[१०१] अनौचित्यको देखकर होनेवाला क्रोध 'मन्यु' है। विरोधीपर विजय पानेमें समर्थ शक्तिका नाम 'सह' है। यह भी उपदेश है कि परिश्रमशील हुए विना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, देव भी सहायता नहीं करते।[१०२] अतः उन्नति-शील जीवनकी प्राप्तिके लिये उद्यमी होना चाहिये।[१०३]

वेदभगवान्ने सृष्टिके आरम्भमें ही इस राष्ट्रधर्मका निर्वचन कर दिया है, जिसका अनुसरण करके कोई भी राष्ट्र बलवान् हो सकता है। भारत राष्ट्रकी श्रीवृद्धि, श्रेय-प्रेय-सम्पादन और दुर्धर्षिता-प्राप्तिके लिये यह परम आवश्यक है कि हम सब इन पवित्र आदेशोंका सदा पालन करते रहें।

परस्वापहरण-त्याग या अस्तेय-धर्म

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(श्रीमद्भागवत ७। १४। ८)

'मनुष्योंका अधिकार या हक उतने ही धनपर है, जितनेसे उनके पेट भर जायँ। इससे अधिकको जो अपना मानता है, वह चोर है और उसे दण्ड मिलना चाहिये।'

श्रीमद्भागवतमें ये देवर्षि नारदके वचन हैं युधिष्ठिरके प्रति। यह केवल अस्तेय-व्रतका ही लक्षण नहीं है; यह वह सिद्धान्त है, जिसका पालन करनेपर विश्वकी सारी आर्थिक विषमताका नाश हो जाता है और विभिन्न वादोंकी—जो अर्थ-व्यवस्था-को लेकर परस्पर झगड़ते रहते हैं—सारी समस्याओंका समाधान हो जाता है। हमारे भारतीय ऋषियोंका यही साम्यवाद है, जिसमें कहीं भी हिंसा-प्रतिहिंसा नहीं है और सबको सबकी न्यायप्राप्त अर्थ-सम्पत्ति तथा सुख-सुविधा मिल जाती है। जब समाजमें सभी लोग पेट भरने-जितने धनपर अपना अधिकार मानेंगे, तब न तो किसीके पास अधिक ग्रह होगा, न कोई अभावग्रस्त ही रहेगा। इसी साम्यवाद-के प्रचार-प्रसार तथा जीवनमें धारण करनेकी आवश्यकता है। आज इस साम्य-धर्मका, जो सनातन-धर्मका एक स्वरूप-लक्षण है, लोप-सा हो गया है। इसीसे चारों ओर नीच स्वार्थका विस्तार हो रहा है और इसीसे कई प्रकारकी सभ्यताकी पोशाकमें छिपे हुए परस्वत्वापहरण या चोरी-जैसे पापोंको आजके लोगोंने न्यायसंगत मान लिया है। इसीसे 'अस्तेय'-व्रत केवल ग्रन्थोंमें पढ़नेकी चीज रह गया है। यहाँ अस्तेयका आजकल कैसे नाश हो रहा है, अतिसंक्षेप-में इसपर कुछ विचार किया जाता है—

दूसरेकी किसी भी वस्तु—जड-चेतन, प्राणी-पदार्थ या स्वत्व-अधिकार आदिका हरण कर लेना 'स्तेय' है। स्तेयका अर्थ है—चोरी। और चोरी न करनेका नाम 'अस्तेय' है। चोरीके कई प्रकार हैं—अन्यायी राजा या शासनके द्वारा प्रजाके न्याय्य अधिकारोंका हरण किया जाना, प्रजापर बड़े-बड़े अनुचित कर लगाकर अपना स्वार्थ-साधन करना; भूमि-अधिकारियोंका गरीबोंसे न्यायके विरुद्ध कर वसूल

९९. अथर्व० ३। ३०। १—३

१००. अश्मा भवतु नस्तनूः॥ यजु० २९। ४९

१०१. तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि॥ बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽसि ओजो मयि धेहि॥ मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि॥ —यजु० १९। ९

१०२. 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः'॥—ऋक् ४।३३। ११

१०३. 'कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे'॥—ऐत० ब्रा० २। २.

करना; न्यायाधीशों तथा अन्य अधिकारियोंका रिश्वत लेकर अन्याय करना, कर्तव्यपालनमें प्रमाद करना और अवैध कार्य करनेवालोंकी सहायता करना; बड़े-बड़े उद्योगोंके संचालकोंका झूठे कागजात बनवाकर शेयर-होल्डरोंके न्याय्य नफेके पैसोंको स्वयं हड़प लेना तथा मजदूरोंको पेटभर मजदूरी न देना; मजदूरोंका वेतन या पारिश्रमिक लेकर भी स्वीकृत कार्य पूरा समय देकर सुचारु रूपसे न करना; व्यापारियोंका बढ़िया चीजके दाम लेकर घटिया देना या घटियाकी कीमत देकर बढ़िया ले लेना, नाप-तौल या संख्यामें अधिक ले लेना या कम देना, किसीको रिश्वत देकर अन्यायपूर्वक आर्थिक लाभ उठाना, एक चीजमें दूसरी चीज मिलाकर देना, एक चीजको दूसरी बताकर बेचना, सस्ता समझकर चोरीका माल खरीदना, जबान पलट जाना, झूठे समाचार गढ़कर लोगोंको धोखेमें डालना, अधिक व्याज लेकर गरीबोंकी सम्पत्तिका हरण करना, झूठे दस्तावेज लिखना-लिखवाना, किसी दूसरे कार्यके लिये मिली हुई चीजोंको उस काममें न लगाकर ऊँचे दरमें बाजारमें बेच देना।

रास्तेमें या रेलके डिब्बेमें मिली हुई दूसरोंकी चीजको पुलिस आदिमें जमा न करवाकर स्वयं रख लेना; लोभी व्यापारी तथा रेलवे अधिकारियोंद्वारा बिना माल चालान किये ही मालकी, कम चालान करके ज्यादा मालकी और दूसरी चीज चालान करके दूसरी चीजकी बिल्टी (रेलवे-रसीद) बनवा लेना और रेलवेसे रुपये वसूल करके न्यूनाधिक रूपमें आपसमें बाँट लेना। लोभी वकीलोंका रुपयोंके लोभसे अनुचित सलाह देकर मुकद्दमे लड़वाना तथा अपने मवक्किलोंको झूठे दस्तावेज और झूठे गवाह बनाकर न्यायसे बचनेके एवं असत्य तथा चोरीके नये-नये तरीके बतलाना और न्यायाधीशोंको रिश्वत देने-दिलानेकी व्यवस्था करना; डाक्टर-वैद्योंका लोभवश रोगीको झूठे रोग बढ़ाकर रोग बतलाना।

इंजीनियरों, ओवरसियरों, अन्य अधिकारियों, लेखा-जोखा रखनेवालों तथा क्लर्कोंसे मिलकर ठीकेदार या माल सप्लाई करनेवाले लोगोंका बिना काम किये या बिना माल सप्लाई किये झूठे बिल बनाकर रुपये हड़प लेना; पूरा काम बिना किये, पूरा माल बिना दिये, खराब काम किये तथा घटिया माल दिये जानेपर भी पूरी कीमत ले लेना; रिश्वत देकर दूसरोंकी अपेक्षा अधिक कीमतपर टेंडर पास करवा लेना तथा फिर मनमानी करना—इस प्रकार अन्यायका धन लेकर न्यूनाधिक रूपमें बाँट लेनेवाले ठीकेदार, आर्डर-सप्लायर और इंजीनियर-ओवरसियर, लेखा-जोखा करनेवाले, बिल आदि पास करनेवाले, क्लर्क एवं रुपये चुकानेवाले—सभी चोरीके अपराधी होते हैं।

इस प्रकारकी चोरियाँ आजकल बहुत बढ़ गयी हैं और सुरसाके वदनकी तरह बढ़ती ही जा रही हैं। मानो सारा समाज ही इस मधुर परंतु भीषण विषसे आक्रान्त हो गया है। लोगोंके मनोंसे इस प्रकारके कार्योंसे पापबुद्धि और घृणा निकल गयी है और वे इसमें बुद्धिमानी तथा गौरवका अनुभव कर रहे हैं। सभ्य पोशाकोंसे सजे हुए लोग शानदार आफिसोंमें बैठकर कागज-कलमकी सहायतासे आज जो विभिन्न प्रकारकी असंख्य चोरी-डकैतियाँ कर रहे हैं, वे बड़ी ही भयानक हैं। सबसे बुरी बात तो यह है कि समाज आज इन पापभरी क्रियाओंको चतुरता या धनार्जन-कुशलता मानने लगा है और ऐसी चोरी करके धनी बने हुए लोगोंका समाजमें बड़ा आदर-सम्मान होता है! वे ही धर्मात्मा, नेता, अग्रणी या पञ्च माने जाते हैं। इससे स्वाभाविक ही अन्य लोगोंके मनमें भी इस प्रकार धनी बनकर भोग-विलास या मौज-शौक करने और आदर-सम्मान पानेकी कामना-लालसा उत्पन्न होती है। ऐसी चोरी-डकैतियाँ प्रायः पकड़ी भी नहीं जातीं; क्योंकि ये प्रायः होती हैं उन्हीं लोगोंके द्वारा जो समाजमें ऊँची रहन-सहनवाले, सभ्य, शिक्षित, अधिकारी, न्यायकारी, धर्मात्मा, उदार, लोकसेवक या देशभक्त कहे जाते हैं। जितने ही अधिक कानून बनते हैं, उतना ही इस प्रकारकी चोरी-डकैतियोंकी नयी-नयी सफल क्रियाओंका आविष्कार होता जाता है। कानून किताबोंमें रहता है और कानून बनाने-मनवानेवाले तथा कानून माननेवाले लोग आपसमें स्वार्थ-साधनका

समझौता कर लेते हैं। पकड़े प्रायः वे ही जाते हैं, जो ऐसा समझौता नहीं कर पाते।

चोरीसे घृणा निकल जाने तथा उसमें गौरवबुद्धि हो जानेके कारण जिन क्षेत्रोंमें पहले रिश्वत-चोरी आदिकी सम्भावना या कल्पना भी नहीं थी, वहाँ भी चोरियाँ होने लगी हैं। शिक्षाविभाग, डाकविभाग आदि प्रायः चोरियोंसे सर्वथा अछूते समझे जाते थे। पर अब तो उनमें भी चोरी होती है। परीक्षामें पास होने-करानेमें सिफारिशोंके साथ ही घूस चलती है, अध्यापकोंकी नियुक्ति और वेतन-वितरणमें भी रिश्वत तथा चोरी चलती है। डाकविभागमें भी तरह-तरहसे बीमा, रजिस्ट्री आदिकी चोरियोंके साथ ही अन्यान्य प्रकारोंसे भी चोरी होती है। रेलवेमें तो चोरियोंकी भरमार है। साहित्यिक चोरी भी कम नहीं होती। दूसरोंके मतों, विचारों, शब्दों तथा भावोंका अपहरण मजेमें चलता है। मन्दिरों, कीर्तनों, आध्यात्मिक आश्रमोंके नामपर तथा उनमें भी कितनोंमें ही चोरी चलती है। 'कल्याण'में जो 'शिव'के नामसे 'कल्याण' शीर्षक लेख छपता है, कई लोग अपनेको 'शिव' बताकर उसके लेखकके नाते लोगोंको **ठग चुके हैं!**

जो लोग कपड़े, खानेकी चीजें, दवाइयों तथा अन्यान्य नित्य व्यवहारके पदार्थोंका अनावश्यक संग्रह करते हैं तथा जो लोग उच्चस्तरकी रहन-सहनके नामपर और देखादेखी, झूठी शान दिखानेके लिये आवश्यकतासे अधिक अनाज-कपड़े आदि खरीदते, भाँति-भाँतिके कपड़े सिलवाते, बिना ही प्रयोजन भोज देते-लेते, विवाह-शादियोंमें अनापशनाप वस्तुओंका अपव्यय करते तथा विलासिताके वश होकर अनावश्यक आवश्यकता बढ़ाते रहते हैं, वे भी समाजकी बड़ी चोरी करते हैं। अनावश्यक संग्रह तथा व्यवहारके कारण प्रयोजनीय वस्तुओंका अभाव हो जाता है और उस अभावके कारण लाखों-करोड़ों मनुष्य भूखों मरते तथा पूरा अङ्ग ढकनेके लिये वस्त्र नहीं पाते एवं इस प्रकार दैनिक जीवन-निर्वाहमें भी कष्ट भोगते हैं। सब लोग अनावश्यक संग्रह और व्यवहार करना छोड़ दें; आवश्यकताओंको बढ़ायें नहीं, क्रमशः घटाते हुए यथासाध्य कम-से-कम कर दें तो लोगोंको इतनी तंगी न भोगनी पड़े।

चोरी तो वह भी है जिसमें घरके लोगोंसे छिपाकर घरकी चीजको लेकर अपनी पेटीमें रख लिया जाता है और खाने-पीनेकी चीज हो तो उसे छिपाकर खा-पी लिया जाता है।

सबसे अधिक भयानक मानस चोरी है, जो शारीरिक चोरीका मूल है। दूसरोंकी वस्तुओंपर मन चलाते रहना, उन्हें प्राप्त करनेके लिये मन-ही-मन कामना करना तथा उपाय सोचना।

अभिप्राय यह कि किसी भी कारणसे या किसी भी नामसे परस्वापहरणकी जो कुछ भी कामना, चेष्टा या क्रिया होती है, वह सभी चोरी और पाप है एवं इन सभी प्रकारकी चोरियोंसे बचना चाहिये।

भगवत्प्रेमीका जीवन धन्य है

कभी पराई वस्तुपर मत ललचाओ चित्त। सोचो कभी न हरणकी बात अशुचि पर-वित्त॥
सदा पराई वस्तुको भारी विष-सम जान। बचे रहो उससे, सदा मृत्युदायिनी मान॥
नित्य तुम्हारे सुहृद जो सर्वेश्वर भगवान। स्वाभाविक सर्वज्ञ जो सर्वशक्ति-बलवान॥
उन प्रभूने कर दिया जो उचित समझ, सु-विधान। समुद करो स्वीकार सो मान सुमंगल-खान॥
संस्पर्शज सब भोग हैं नहीं सिर्फ निस्सार। दुःखयोनि बंधन-जनक नरक-कष्ट-आगार॥
रहते इनसे, इसीसे, बुधजन सदा विरक्त। मधुकर ज्यों हरि-पद-कमल रहते जो अनुरक्त॥
भगवत्पद-रति-रँग रँगे मानव नित्य अनन्य। सहज भोग-उपरति-हृदय उनके जीवन धन्य॥

अस्तेय-धर्मके आदर्श उदाहरण

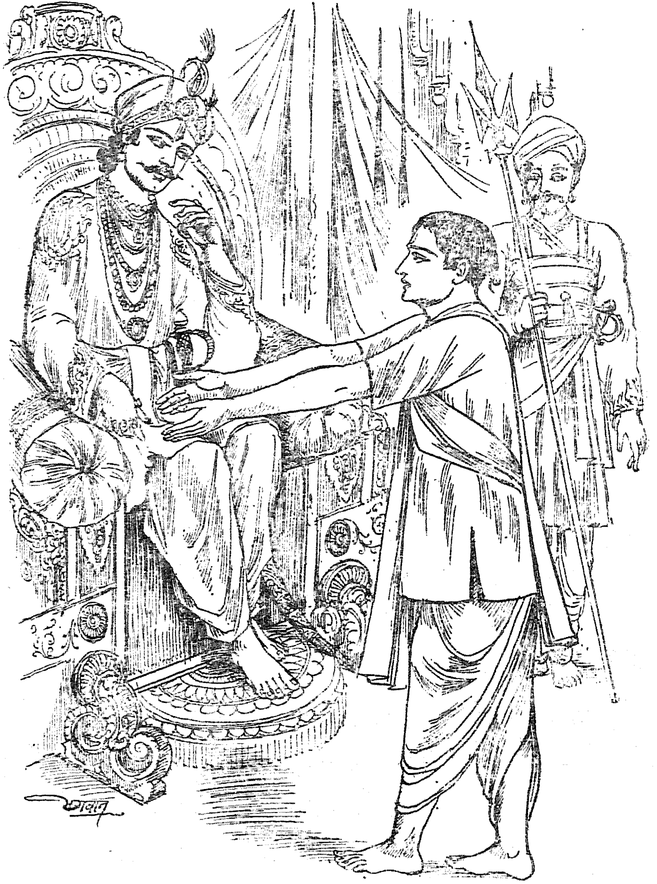
(१)

अस्तेय-धर्मके आदर्श ऋषि शङ्ख-लिखित

ऋषि शङ्ख और लिखित दोनों सगे भाई थे । दोनों धर्मशास्त्रके परम मर्मज्ञ थे । दोनोंकी स्मृतियाँ अब भी उपलब्ध हैं । विद्याध्ययन समाप्त करके दोनोंने विवाह किया और अपने-अपने आश्रम पृथक्-पृथक् बनाकर रहने लगे ।

एक बार ऋषि लिखित अपने बड़े भाई शङ्खके आश्रमपर उनसे मिलने गये । आश्रमपर उस समय न शङ्ख थे और न उनकी पत्नी ही । लिखितको भूख लगी थी । उन्होंने बड़े भाईके उपवनसे एक फल तोड़ा और खाने लगे । वे फल पूरा खा नहीं सके थे, इतनेमें शङ्ख आ गये । लिखितने उनको प्रणाम किया ।

ऋषि शङ्खने छोटे भाईको सत्कारपूर्वक समीप बुलाया । उनका कुशल-समाचार पूछा । इसके पश्चात् बोले—'भाई, तुम यहाँ आये और मेरी अनुपस्थितिमें इस उपवनको अपना मानकर तुमने यहाँसे फल ले लिया, इससे मुझे प्रसन्नता हुई है; किंतु हम ब्राह्मणोंका सर्वस्व धर्म है, तुम धर्मका तत्त्व जानते हो । यदि किसीकी वस्तु उसकी अनुपस्थितिमें उसकी अनुमतिके बिना ले ली जाय तो इस कर्मकी क्या संज्ञा होगी ?'



'चोरी !' लिखितने बिना हिचकके उत्तर दिया । 'मुझसे प्रमादवश यह अपकर्म हो गया है । अब क्या करना उचित है ?'

'राजासे इसका दण्ड ले आओ । इससे इस दोषका निवारण हो जायगा ।' शङ्खने कहा ।

ऋषि लिखित राजधानी गये । राजाने उनको प्रणाम करके अर्घ्य देना चाहा तो बोले—'राजन् ! इस समय मैं तुम्हारा पूजनीय नहीं हूँ । मैंने अपराध किया है । तुम्हारे लिये मैं दण्डनीय हूँ ।'

अपराधका वर्णन सुनकर राजाने कहा—'नरेश-को दण्ड देनेका जैसे अधिकार है, वैसे ही क्षमा करनेका भी अधिकार है ।'

लिखितने रोका—'तुम्हारा काम अपराधके दण्ड-का निर्णय करना नहीं है । विधान निश्चित करना ब्राह्मणका काम है । तुम उस विधानको केवल क्रियान्वित कर सकते हो । मुझे दण्ड देना है, तुम दण्ड-विधानका पालन करो ।'

उस समयके दण्ड-विधानके अनुसार चोरीका दण्ड था चोरके दोनों हाथ काट देना । राजाने लिखितके दोनों हाथ कलाईतक कटवा दिये । कटे-हाथ लिखित बड़े प्रसन्न बड़े भाईके यहाँ लौटे और बोले—'भैया ! मैं दण्ड ले आया ।'

शङ्खने कहा—'मध्याह्न-संध्याका समय हो गया है । चलो स्नान-संध्या कर आयें ।'

लिखितने भाईके साथ सरितामें स्नान किया । अभ्यासवश तर्पणको हाथ उठे तो वे पूर्ण हो गये ।

उन्होंने बड़े भाईकी ओर देखकर कहा—'भैया ! जब यही करना था तो आपने मुझे राजधानीतक क्यों दौड़ाया ?'

शङ्ख बोले—'अपराधका दण्ड तो शासक ही दे सकता है; किंतु ब्राह्मणको कृपा करनेका अधिकार है।'

—सु०

(२)

अस्तेय तथा त्याग-धर्मके आदर्श ब्राह्मण

वे विद्वान् थे, बुद्धिमान् थे और ब्राह्मण थे। प्रतिग्रह (दान) लेनेमें उन्हें अपने पुण्यका क्षय दीखता था। संयोग कुछ ऐसा हुआ कि कोई यज्ञ, पूजा, कथा करानेवाला यजमान अधिक समयतक नहीं मिला। कोई विद्यार्थी भी उनके पास अध्ययन करने नहीं आया। अब उदर-पोषण कैसे हो ? पेटको तो न भरो तो माँगना बंद नहीं करता।

भूखा मनुष्य विवेकहीन हो जाता है। उन विद्वान् ब्राह्मणके मनमें भी चोरी करनेकी इच्छा हुई। देशमें अकाल पड़ा था। वे चाहते भी तो कटे खेतोंमें न चुननेको बालें थीं और न अन्नकी मंडियोंमें बिखरे दाने। 'शिलोञ्छवृत्ति' ब्राह्मणके लिये सर्वोत्तम तो है, किंतु अकालके समय उसका पूर्णतः उच्छेद हो जाता है।

रात्रिका अन्धकार होनेपर वे ब्राह्मण राजाके भवनमें प्रविष्ट हो गये। प्रहरियोंने उन्हें न देखा हो, ऐसा नहीं था; किंतु धार्मिक नरेशोंके भवनमें ब्राह्मणको जानेसे रोकनेकी आज्ञा तो रहती नहीं थी। राजभवनमें जाकर वे एक एकान्त स्थानमें छिप गये।

मध्यरात्रिमें जब राजभवनके सब सेवक सो गये, तब वे निकले। भवनके भीतरी कक्षोंके द्वार खुले पड़े थे। उन्होंने एक कक्षमें प्रवेश किया तो रत्नजटित स्वर्णाभरण उन्हें दिखायी पड़े। उन्हें छूनेसे पहले स्मरण आया—'स्वर्णस्तेयी पापतमः।'

'ये अपने कामके नहीं।' उन्हें महापापी तो बनना नहीं था। लेकिन उनके कामकी कोई वस्तु उन्हें कहीं मिली नहीं। एकसे दूसरे कक्षमें भटकना ही उनके हाथ लगा। अश्व, गज, रथ भले वे न लेते, राजसदनमें अन्न तथा वस्त्रका अंबार था। कठिनाई यह थी कि प्रत्येक वस्तु दूसरेकी थी और उसकी चोरी करनेमें शास्त्र जो पाप कहता है, वह स्मरण आ जाता था वस्तुपर दृष्टि पड़ते ही। घूमते-घूमते प्रातःकाल होनेको आया। अन्तमें पण्डितजीको कुछ दीखा। अपने उत्तरीयमें उन्होंने उसकी गठरी बनायी और सिरपर उठाकर चलने लगे।



'भगवन् ! यह क्या है आपके पास ?' ब्राह्ममुहूर्त हो गया था। राजाकी निद्रा टूटी। वे भगवन्नाम लेते उठे तो ब्राह्मणको देखकर उसकी चरण-वन्दना करके राजाने पूछ लिया।

'भस्म है राजन् !' ब्राह्मणने रसोई-घरसे दूर पड़ी हुई राख बाँधी थी उत्तरीयमें। 'यहाँ मैं आया

था पेट भरनेको कुछ ले जानेके लिये। सब वस्तुएँ किसी-न-किसीकी हैं। दूसरेकी वस्तु लेना चोरी—पाप है। मैंने देखा कि यह भस्म परित्यक्त है। इसपर किसीका स्वत्व नहीं। इसको खाकर भी पेटकी ज्वाला तो शान्त की ही जा सकती है।'

राजा बहुत दुखी हुए कि उनके राज्यमें विद्वान् ब्राह्मण इतने कष्टमें हैं। दान लेनेको वे विप्रश्रेष्ठ प्रस्तुत नहीं थे, अतः उसी दिन उन्हें यज्ञके आचार्यके रूपमें नरेशने वरण किया। —सु०

(३)

बुढ़िया माईकी हककी रोटी

छल, बल, कौशल, चातुरी—किसी भी प्रकारसे परस्वापहरण या परस्वत्वापहरण चोरी है। मनुष्यका अधिकार उतनेपर ही है, जितना उसका 'स्व' है—अपना है। इस अधिकारको ही 'स्वत्व' कहते हैं और यही हक कहा जाता है। जो हककी चीज लेता है, उसका व्यवहार करता है—खाता है, वह ईमानदार है। दूसरेके हककी चीज लेने, बरतने या खानेवाला 'चोर' है। इसीपर एक सुन्दर कथा है।

एक राजा थे। बड़े सच्चे—ईमानदार माने जाते थे और अपनी जानमें वे ईमानदारी ही बरतते थे। वे प्रायः संत-महात्माओंसे यही पूछा करते कि सच्ची ईमानदारी क्या है। एक दिन एक महात्मासे पूछनेपर उन्होंने कहा कि 'अपने हककी चीज लेना ईमानदारी है, बिना हककी लेना चोरी है।' राजाने समझाकर कहनेके लिये प्रार्थना की; तब महात्माने उसी नगरकी कहीं किसी गलीमें रहनेवाली एक गरीब बुढ़ियाका नाम-पता बतलाकर राजासे कहा कि 'तुम उसकी कुटियापर जाकर उससे हककी रोटी माँगो। रातको जाना; क्योंकि वह दिनमें हककी कमाई करके ही उसकी रोटी बनाती है। वह बुढ़िया हक क्या है—इसे जानती है; वही तुमको उदाहरणसहित हकके स्वरूपको बतायेगी।'

राजा रात्रिके समय उस बुढ़ियाके पास पहुँचे और जाकर बोले—'माजी! मुझे हककी रोटी चाहिये। सुना है, आपके पास हककी ही रोटी है। अतः आप मुझे दीजिये!' राजाकी बात सुनकर बुढ़िया माईने कहा—

'सच है, मैं हककी रोटी ही बनाती खाती हूँ। जो हककी रोटी खाता है, उसकी बुद्धि शुद्ध होती है, अन्तःकरण पवित्र होता है। इससे उसके संकल्प भी सत् होते हैं, जिनसे उसका तथा



जगत्‌का कल्याण होता है। बिना हककी रोटी तो चोरीकी रोटी है, उससे बुद्धि बिगड़ती है और मनुष्यका पतन हो जाता है। पर बेटा! आज मेरी रोटी पूरी हककी नहीं है; आधी हककी है, आधी बिना हककी है। मैं रोज चरखेपर सूत कातकर उसे बेचती हूँ और उसीसे खानेका सामान खरीदकर लाती हूँ। यह मेरे परिश्रमकी कमाई हककी है। आज कुछ देर हो गयी थी, सूरज छिप गये थे। मैं सूत पूरा कात नहीं पायी थी। जब अँधेरा हो गया, तब कातनेमें कठिनता होने लगी। मैं दीया जलाने जा रही थी। इतनेमें ही इधरसे एक जुलूस निकला, उसमें मशालें जल रही थीं। मैं जल्दीमें थी, दीया नहीं जलाया। उन मशालोंकी रोशनीमें सूत कात लिया। आधा पहले कता था, आधा उस रोशनीमें कता। इसलिये आजके सूतकी आधी रोटी हककी नहीं रही; क्योंकि उस रोशनीपर मेरा हक नहीं था। मैंने उससे अनुचित लाभ उठाया, आलस्य-प्रमादवश दूसरेके हककी चोरी की।' राजाने 'हक'का अर्थ समझकर अपनेको कृतार्थ माना और हाथ जोड़कर वहाँसे प्रस्थान किया।

आजका युग—जो छल-बल-कौशलसे पर-स्वत्वापहरणको हक मानता है, इस कथासे कुछ शिक्षा ले सके तो बड़े आनन्दकी बात हो ।

—राधा भालोटिया

(४)

अस्तेय-धर्मका आदर्श—निर्धन बालक

घरमें माँ और छोटी बहिन थी । बहिन बीमार थी । बालक उसकी बीमारीका समाचार चाचाको देने जा रहा था । मार्गमें एक पाकेट बुक मिली । पाकेट बुकमें मिले १२०) के नोट ।

लड़का घर आया और माँसे बोला—'जिसकी पाकेट बुक खोयी है, वह बेचारा बहुत दुखी होगा। उसे बड़ी चिन्ता होगी । लेकिन उसका पता कैसे लगे ? मैं उसके रुपये उसे कैसे लौटाऊँ ?'

माता ईमानदार न होती तो बच्चेमें ईमानदारी कहाँसे आती । माताने समाचारपत्रमें खबर देनेको कहा । लड़का गया समाचारपत्रके कार्यालय और उसका समाचार प्रकाशित हुआ । समाचार पढ़कर पाकेट बुक जिनकी थी, वे लेने आये । लड़केके घरकी दशा देखकर चकित रह गये । इतना गरीब और इतना ईमानदार ! बोले—'धन्य हो तुमलोग इस अवस्थामें भी प्रभुपर विश्वास करके सत्यपर दृढ़ हो !'

वे नोट उन्होंने उसकी बहिनकी दवाके लिये दे दिये और लड़केको अपने यहाँ कामपर रख लिया ।

—सु०

धर्मशासित जीवन

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥

(महाभारत, स्वर्गा० ५ । ६२)

भगवान् व्यास कहते हैं—'मैं दोनों हाथ उठाकर पुकार रहा हूँ, किंतु कोई मेरी बात सुनता ही नहीं । अरे, जिससे धन तथा काम-भोग मिलते हैं, उस धर्मका आचरण क्यों नहीं करते ?'

दूसरे धर्म-सम्प्रदायोंकी बात मैं नहीं करता । जहाँ कर्मका निर्णय कयामतके समय होता है, वहाँ धर्म एक निश्चित समय उपासना करने, सातवें दिन प्रार्थना कर आने-तक सीमित हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं । वैसे वे भी धर्म हैं और पूरे जीवनको अनुशासित करते हैं; किंतु उनमें प्रमादको अवकाश बहुत है, यह मानना पड़ेगा ।

हिंदू-धर्म—सनातन धर्म प्रारब्धको मानता है और मानता है पुनर्जन्मको । पुनर्जन्मको माननेका अर्थ ही है प्रकृतिके एक तथ्यको स्वीकृति देना और वह तथ्य है बीज-वृक्षन्याय । आप खेती करते हैं या वृक्ष लगाते हैं । आपके वृक्ष या अन्नमें अङ्कुर आने, उसके उगने, बढ़ने तथा फल देनेमें समय लगता है । खेत, खाद, पानी तथा अन्य प्रकारकी अनुकूलताएँ अपेक्षित होती हैं । कुछ प्रतिकूलताएँ बीजको या अङ्कुरको मार देती हैं । कुछ वृक्ष या फसलको दुर्बल कर देती हैं । सब अनुकूलता हो तो एक बीज बहुत फल उत्पन्न करता है । इसी प्रकार एक कर्म आज किया जाता है । इस समय उसमें श्रम होता है । फल उसका बहुत होता है, किंतु कालान्तरमें होता है । देश, स्थान, समय, विधि, कर्मके उपकरण, कर्ताकी योग्यता एवं सावधानी तथा श्रद्धा आदि अनेक बातोंकी अनुकूलता उस कर्मके पूर्ण फलके लिये अपेक्षित हैं । इनकी प्रतिकूलता कर्मको निष्फल कर दे सकती है या उसके फलको घटा दे सकती है ।

कर्म अपना फल देता है और कालान्तरमें—जन्मान्तरमें देता है । इस वर्ष बोयी जानेवाली फसल आगे खायी जायगी। पिछली फसलका अन्न अभी खाया जाता है । इसी प्रकार पिछले जन्मके कर्मोंमेंसे इस जन्ममें भोगनेके लिये प्रारब्ध बना है । जीवनके सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश, संयोग-वियोग, आयु तथा मृत्यु प्रारब्धके अनुसार मिलते हैं । यह दूसरी बात है कि तत्काल खा लिये जाने योग्य जैसे कुछ शाकादि होते हैं, वैसे ही अनुष्ठानादि कुछ कर्म प्रारब्ध बनकर तत्काल फल देनेवाले भी होते हैं ।

जीवनका पूरा निर्माण अपने भूतकालीन कर्मोंके अनुसार हुआ है । वह हमारे सिर बलपूर्वक थोपा हुआ किसी

निरङ्कुश स्वेच्छाचारीका विधान नहीं है। इस स्वीकृतिका फलितार्थ यह है कि जीवन-निर्माणके प्रति हम उत्तरदायी हैं। हम जैसा चाहें अपना आगामी जीवन वैसा बना सकते हैं।

प्रारब्ध और पुनर्जन्मकी इस मान्यताके कारण हिंदूका सम्पूर्ण जीवन धर्मशासित है; क्योंकि धर्म—सत्कर्म ही उत्तम भोग एवं अभीष्ट अर्थका उत्पादक हो सकता है। पुरुषार्थ-का प्रयोजन आगामी जीवनका निर्माण है हिंदूके लिये। वर्तमान जीवनमें भोग या अर्थकी उपलब्धिमें पुरुषार्थ प्रायः सहायक नहीं है। वह तो प्रारब्धके अनुसार प्राप्त होगा, यदि फल-दानोन्मुख प्रारब्धको रोककर तत्काल फलदायी नवीन प्रारब्धका निर्माण प्रचण्ड पुरुषार्थ—सकाम अनुष्ठानादिके द्वारा न कर लिया जाय।

इस जीवनमें अर्थ और भोग मिलनेवाले हैं प्रारब्धके अनुसार। आगामी जीवनमें वे मिलेंगे इस जन्मके कर्म-के—सत्कर्मके अनुसार। अतएव अर्थ एवं भोगका मूल भी धर्म ही है। धर्माचरण ही जीवनमें प्रधान होना चाहिये।

जीवनका लक्ष्य क्या? धन जुटाना? धनका यदि कोई प्रयोजन नहीं है तो धन जुटानेका अर्थ? धन बैंकमें बहुत है। वह आपकी पास-बुकमें जमा है या दूसरेकी पास-बुकमें। क्या अन्तर पड़ता है? अन्तर तो तब पड़ता है, जब उसका उपयोग करना हो। उपयोग दो सम्भव हैं—सुखोपभोग तथा धर्म। धर्मके लिये धन आवश्यक नहीं है। धन हो तो उसका उपयोग कर लेना चाहिये धर्ममें। न हो तो निर्धन भी सरलतासे केवल सेवासे उतना धर्म अर्जित कर ले सकता है, जितना बड़ेसे बड़ा धनी अर्जित कर सकेगा। दरिद्रका एक पैसेका दान धनीके करोड़ रुपयेके दान-जितना ही पुण्यप्रद है।

धनका उपयोग भोग, यह बात कही-समझी जाती है। लेकिन क्या यह सत्य है? केवल धनसे ही भोग नहीं प्राप्त होते। भोग-सुखकी प्राप्तिके लिये अनुकूल प्रारब्ध चाहिये, मैंने ऐसे करोड़पति देखे हैं, जो फलोंका रस भी पचा नहीं सकते। तोरई उबालकर उसका रस पीकर उन्हें जीवन घसीटना पड़ता है। ऐन्द्रियिक शक्ति अपेक्षित है भोगके लिये और असंयमित भोग करनेवालेसे प्रकृति वह शक्ति छीन लेती है।

इस प्रकार तथ्य यह है कि जीवनका लक्ष्य न अर्थ है न भोग। लक्ष्य तो है मनुष्यजीवनका जन्म-मरणके चक्रसे मोक्ष। उस मोक्षका तथा अर्थ और भोगका भी साधन धर्म है। इसलिये मनुष्यके जीवनका आधार, जीवन-का चालक एवं नियन्त्रक धर्मको होना चाहिये। मनुष्य वही ठीक अर्थमें मनुष्य है, जिसका जीवन धर्मशासित है।

धर्मशासित जीवनका अर्थ है—धर्मपूर्वक अर्थका अर्जन। जो अर्थ धर्मसे प्राप्त नहीं होता, जो धर्मका पोषण नहीं करता, वह हमारे लिये अवश्य अवाञ्छनीय होना चाहिये; क्योंकि जीवनकी शुद्धिका आधार अर्थ है। जीवन-निर्वाह—सुखोपभोगकी उपलब्धिका माध्यम अर्थ है। वह अर्थ धर्मार्जित नहीं होगा तो उससे प्राप्त समस्त उपकरण अपवित्र होंगे। अपवित्र अर्थ, अपवित्र उपकरणसे धर्म नहीं होता। उसके द्वारा किया गया धर्मकार्य फलवान् नहीं होता। मनुजीने कहा है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥
(५।१०६)

'जिसका अर्थ पवित्र है, वही पवित्र है। मिट्टी-पानी-के उपयोगसे अपनेको पवित्र माननेवाला पवित्र नहीं है; क्योंकि समस्त पवित्रताओंमें धनकी पवित्रता ही सर्वोपरि कही गयी है।'

धर्मपूर्वक अर्थका उपार्जनमात्र धर्मानुशासित जीवन नहीं हो जाता। वह तो धर्मानुशासित जीवनकी आधारभूमि है। उस धर्मार्जित धनका धर्मपूर्वक व्यय भी किया गया तो जीवन ठीक धर्म-जीवन है। जो ऐसा करता है, वह अब मोक्षका साधक बनने योग्य है। यद्यपि अभी है वह विषयी ही। अब वह मोक्षके साधनका अधिकारी बना और साधन करेगा तब मोक्षको प्राप्त करेगा।

पामर, विषयी, साधक और सिद्ध—ये चार कक्षाएँ मनुष्यकी हैं। जो इन्द्रियोंके भोगोंको तथा उन भोगोंकी प्राप्तिके साधन धनको उचित-अनुचित किसी प्रकार जुटानेमें लगा है, वह तो पामर है। संसारमें इसी श्रेणीके लोग अधिक हैं। जो धर्मपूर्वक धनोपार्जन करता और उस धर्मोपार्जित धनसे अपने वर्णाश्रम-धर्मके लिये विहित जो सुखोपभोग हैं, उनको ही भोगता है, वह विषयी है। धर्मपूर्वक उपार्जित धनको धर्मकार्य, सेवाकार्यमें लगा देनेवाला तथा धर्मपूर्वक जिन विषयोंका सेवन किया जा सकता है, उनका भी त्याग करते हुए मन तथा इन्द्रियोंका संयम करनेवाला साधक

है। इस साधनके दृढ़ एवं परिपक्व अभ्याससे जिनके राग-द्वेष, देहासक्ति, अहंकार तथा अविद्याका नाश हो गया; परमात्म-तत्त्वका साक्षात्कार करनेवाले वे महापुरुष सिद्ध कहे जाते हैं। मानव-जन्मका लक्ष्य उन्होंने सिद्ध कर लिया।

मनुष्य पामर न बने, वह कम-से-कम ठीक विषयी बने। जो विषयी हैं, वे साधक बनें और साधक सिद्धपद प्राप्त करें, यह हिंदू-धर्मकी प्रेरणा तथा लक्ष्य है। अतएव हिंदू-धर्म व्यक्तिके पूरे जीवनको शासित करता है। जीवनका ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जो धर्मके शासनसे बाहर हो।

अर्थोपार्जन कैसे हो? जीविका कैसे चलायी जाय? इसमें धर्मका निर्णय चाहिये। घर कैसे बनाया जाय? धर्मशास्त्र बतलायेगा। चिकित्सा कैसे हो? यह ओषधि ली जाय या नहीं? धर्मशास्त्रकी सम्मति चाहिये। उठने-बैठने, चलने-फिरने, सोने-जागनेमें धर्मशास्त्रकी विधि है। यात्रा करने, कपड़ा पहिनने, तेल लगाने, बाल बनानेमें धर्मशास्त्र। दूसरी बात छोड़िये—शौच-लघुशंकामें धर्मशास्त्रकी विधि। बच्चा पैदा करनेमें धर्मशास्त्र। पूरी दिनचर्यामें ऐसी कोई बात नहीं, जो धर्मशास्त्रकी मर्यादामें बँधी न हो।

आजकी नयी सभ्यताकी चकाचौंधसे चौंधियाये लोग व्यङ्ग करते हैं—हिंदू तो छींकने-खाँसनेमें भी धर्मशास्त्र देखते हैं। किंतु बात सच है। छींक, खाँसीके समय सभ्यताके नियम—मुखके सम्मुख हाथ या रूमाल लगानेकी बात वे स्वयं न करते हों, ऐसा नहीं है।

भोजन और जल—इनसे तो हमारा शरीर बनता है। ये तो जीवन-निर्माणकी मूल धातुएँ हैं। अतः धर्मशास्त्र इनके सम्बन्धमें बहुत अनुशासन चाहता है। खाद्याखाद्य-विवेक तो धार्मिक जीवनके लिये अत्यन्त अनिवार्य बात है।

हिंदूके पास जो अर्थशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, नीतिशास्त्र, कामशास्त्र है—उसका अब भी विश्व सम्मान करता है और उसे मूलाधार मानकर चले बिना आजके महाविद्वानोंकी विद्या भी अपूर्ण रहती है। चाणक्य, सुश्रुत, चरक, वात्स्यायन आदिकी वन्दना ही करते हैं आजके विद्वान् भी। और ये शास्त्र अपने-अपने विषयके प्रतिपादनमें सर्वथा स्वतन्त्र—सम्पूर्ण स्वच्छन्द हैं। अन्तर यही है कि जहाँ इनके व्यवहारकी बात आती है, हिंदू-धर्म इनको धर्मका अनुवर्ती मानता है। जहाँ धर्मशास्त्रके अनुकूल इनकी विधि न पड़े, वहाँ इनकी विधि त्याज्य है।

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्॥

(श्रीमद्भागवत ८। १९। ४३)

आचार्य शुक्रका यह नीतिवाक्य है—'स्त्रियोंके साथ एकान्त क्रीड़ामें, हास-परिहासमें, किसीका विवाह-सम्बन्ध स्थिर होता हो तो, आजीविका तथा प्राण बचानेके लिये, गौ एवं ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये तथा किसीके भी प्राण बचानेके लिये झूठ बोलना निन्दित नहीं है।'

नीतिवाक्यका यह उपदेश शुक्राचार्यने अपने शिष्य दैत्यराज बलिको किया—उस समय जब बलि भगवान् वामनको भूमिदान करने जा रहे थे। बलिने उसी समय इस नीतिको अस्वीकार कर दिया; क्योंकि यह नीति धर्मशास्त्रके प्रतिकूल पड़ती थी। यह एक उदाहरण है इस बातके लिये कि हिंदू-समाजको नीतिशास्त्र—आजकी कूटनीतिका भी पूरा पक्का ज्ञान था; किंतु धर्मके प्रतिकूल नीति हो तो वह त्याज्य थी। उसके त्यागसे होनेवाली हानि उठा लेना ही गौरव माना जाता था।

आयुर्वेदमें लहसुन-प्याजकी बहुत-बहुत प्रशंसा है। अनेक ऐसी ओषधियोंकी निर्माणविधि है, जिसमें मांस अथवा छोटे जीव पड़ते हैं। निघण्टुमें विविध जीवोंके रक्त-मांसादिके गुणोंका विस्तृत वर्णन है। किंतु धार्मिक पुरुष ऐसी ओषधियोंको त्याज्य मानते हैं। धर्मशास्त्रने लहसुन-प्याजको तामस आहार होनेसे वर्जित माना है और धार्मिक पुरुष उनका उपयोग नहीं करते।

किसी वस्तुमें, किसी क्रियामें क्या गुण-दोष हैं—यह जानना एक बात है। नीतिशास्त्र, आयुर्वेद आदि इस गुण-दोषका परिचय कराते हैं। लेकिन धर्मशास्त्र मनुष्यके शुद्ध चरित—पवित्र हृदयका निर्माण करनेके लिये विधान करता है। आप क्या जान-बूझकर कोई ऐसी क्रिया कर सकते हैं, जिसका आपके मनपर कोई प्रभाव न पड़े? जब जान-बूझकर, संकल्पपूर्वक कोई क्रिया की जायगी तो उसका मनपर कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ेगा ही। अतएव जो धर्म मनके निर्माणचित्त—शुद्धिको ही मुख्य मानता है, वह किसी भी क्रियाको अपने अनुशासनसे बाहर कैसे रहने दे सकता है? कोई पदार्थ जो आपके सम्पर्कमें आता है, वह सजीव हो या निर्जीव, आपपर एक प्रभाव छोड़कर जाता है। इसलिये जो आपके मनोनिर्माणका दायित्व रखता है, वह आपकी

प्रत्येक चेष्टामें, आपके सम्पर्कमें आनेवाली प्रत्येक वस्तुके सम्बन्धमें अपना अनुशासन रक्खेगा ही। ऐसा न करे तो वह अपूर्ण धर्म होगा।

'धारणाद् धर्मः' जो धारण करे, मनुष्यके अभ्युदय, निःश्रेयस दोनों जिसपर निर्भर हों, मनुष्यके सम्पूर्ण जीवनका अनुशासन होगा वह। उसके द्वारा अनुशासित जीवन ही सम्यक् जीवन होगा। उसके अनुशासनसे बहिर्गत जीवनका अर्थ होगा अपनी धारिका शक्तिसे बाहर जाता—पतन, विनाशकी ओर जाता जीवन!

धर्मकी पूर्णता इसीमें है कि वह सम्पूर्ण जीवनका धारण एवं शासन करता है। जो जीवनके किसी एक अङ्गको भी अपने अनुशासनसे बाहर छोड़ देता है, वह धर्म उतने अंशमें अपूर्ण है। मनुष्य-जीवनकी भी पूर्णता इसमें है कि उसका पूरा जीवन, उसके जीवनकी प्रत्येक क्रिया धर्मके द्वारा अनुशासित हो।

वर्णाश्रम-धर्म

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम्० ए०)

हिंदू-धर्मकी एक यह विशेषता है कि इसका कोई निजी नाम नहीं है। प्राचीन शास्त्रोंमें 'हिंदू-धर्म' नामका उल्लेख देखनेमें नहीं आता। 'हिंदू' शब्द 'सिन्धु' का विकृत रूप है। सिन्धु नदीके पार बसनेवाले लोगोंको पश्चिमके लोग 'हिंदू' कहते थे और उनके धर्मको 'हिंदू-धर्म' कहते थे। प्राचीन शास्त्रोंमें हिंदू-धर्मको केवल 'धर्म' शब्द मात्रसे ही उल्लेख किया गया है। इससे जान पड़ता है कि प्राचीन युगमें हिंदू-धर्मके सिवा दूसरा कोई धर्म नहीं था। कहीं-कहीं इस धर्मको 'सनातन धर्म' भी कहा जाता था। 'एष धर्मः सनातनः'—यह सनातन धर्म है। 'सनातन धर्म' शब्दसे हिंदू-धर्मके केवल एक गुणका उल्लेख होता है। 'सनातन'का अर्थ है नित्य स्थायी, अर्थात् इसकी उत्पत्ति नहीं है। किसी समय-विशेषमें, किसी व्यक्ति-विशेषके द्वारा यह धर्म प्रचलित नहीं हुआ है। श्रीराम या श्रीकृष्ण, व्यास या वाल्मीकि—कोई भी हिंदू-धर्मके संस्थापक नहीं हैं। यह धर्म उनसे पहले भी था। उन्होंने भी इसको अनादि 'सनातन धर्म' कहा है। अपरञ्च बौद्धधर्म २५०० वर्ष पूर्व गौतमबुद्धके द्वारा प्रचलित हुआ था। ईसाईधर्म ईसाके द्वारा लगभग १९६५ वर्ष पूर्व प्रचरित हुआ था। इस्लाम (मुसल्मानी) धर्म १३८५ वर्ष पूर्व मुहम्मद-साहेबके द्वारा प्रचरित हुआ था।

कहीं-कहीं हिंदू-धर्मको वर्णाश्रम-धर्म नामसे अभिहित किया गया है। इसका कारण यह है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था हिंदू-धर्मकी एक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है। अन्य किसी धर्ममें इस प्रकारकी कोई व्यवस्था नहीं है। वर्णाश्रम-व्यवस्थाका स्वरूप संक्षेपमें इस प्रकार है—

ईश्वरने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंकी तथा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार आश्रमोंकी सृष्टि की है। प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य-कर्म उसके वर्ण और आश्रमके ऊपर निर्भर करता है। ब्राह्मणका कर्तव्य-कर्म वेद-पाठ तथा वैदिक यज्ञादि कर्मोंका सम्पादन है। क्षत्रियका कर्म दुष्टोंका दमन, शिष्टजनोंका पालन तथा इसके लिये दण्ड धारण करना है। वैश्यका कर्म कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य है। शूद्रका कर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी सेवा है। इसके अतिरिक्त कुछ साधारण धर्म हैं, जो चारों वर्णोंके लिये कर्तव्य हैं—जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय (परद्रव्य ग्रहण न करना), शौच (देह और मनकी शुद्धि) तथा इन्द्रिय-संयम। मनुने कहा है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

(मनुस्मृति १०। ६३)

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच तथा इन्द्रियनिग्रह—ये चारों वर्णोंके धर्म हैं। इनके अभावमें कोई वास्तवमें मनुष्य-पदवाच्य नहीं हो सकता। समाजकी सर्वाङ्गीण उन्नतिके लिये धर्म-भाव, शक्ति, ऐश्वर्य और श्रम—इन चार वस्तुओंकी आवश्यकता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (१। ४। ११-१२-१३) में कहा गया है कि पहले केवल ब्राह्मण था वह अकेला उन्नति नहीं कर सका, इसलिये उसने क्षत्रियकी सृष्टि की। उससे भी उन्नति न हुई। उसने वैश्यकी सृष्टि की, उससे भी उन्नति न हुई। उसने शूद्रकी सृष्टि की।

'ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव, तदेकं सन्न व्यभवत्, तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रम् । स नैव व्यभवत् स विशमसृजत । स नैव व्यभवत्, स शौद्रं वर्णमसृजत ।'

इन चारों वर्णोंकी सृष्टिके बाद धर्मकी सृष्टि हुई । पहले जातिकी सृष्टि हुई, उसके बाद उनके धर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्मकी सृष्टि हुई । कुछ लोग समझते हैं कि वैदिक युगमें जो लोग यज्ञ करते थे, उनको ब्राह्मण कहते थे; जो लोग युद्ध करते थे, वे क्षत्रिय कहलाते थे, इत्यादि । परंतु बृहदारण्यक उपनिषद्के इस वचनसे ज्ञात होता है कि ऐसी धारणा या मत ठीक नहीं है । पहले विभिन्न जातियोंकी सृष्टि हुई, उसके बाद उनके लिये कर्तव्य-कर्मका निर्देश किया गया, अर्थात् ब्राह्मणके लिये यज्ञादि कर्म करना उचित है, क्षत्रियके लिये धर्मयुद्ध करना उचित है, इत्यादि । ऋग्वेदके पुरुषसूक्तमें कहा गया है कि ईश्वरके मुखसे ब्राह्मण, बाहुसे क्षत्रिय, ऊरुसे वैश्य तथा पादद्वयसे शूद्रकी सृष्टि हुई है । यथा—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥
(ऋग्वेदसंहिता १० । ९० । १२)

सायणाचार्यने इस मन्त्रकी व्याख्या उपर्युक्त रीतिसे की है । तदुपरान्त कहा है कि ब्राह्मणादि जातिकी सृष्टिका यही प्रकार यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता ७ । १ । १ मन्त्रमें स्पष्टरूपसे कहा गया है । वहाँ कहा गया है कि प्रजापतिके मुखसे ब्राह्मण, वक्षःस्थलसे तथा बाहुसे क्षत्रिय, देहके मध्यभागसे वैश्य तथा पदसे शूद्रकी सृष्टि हुई । ऋग्वेद (१० । ९० । १२) के जिस मन्त्रका पहले उल्लेख किया गया है, वही मन्त्र यजुर्वेद, वाजसनेयि-संहिता में (३१ । १ । ११) मन्त्रके रूपमें प्राप्त होता है । अथर्ववेदमें भी यह कुछ परिवर्तित रूपमें मिलता है । (देखिये अथर्ववेद १९ । १ । ६)

स्वामी श्रीमद्भक्तिहृदय वन महाराजने अपने लिखे हुए 'वेदेर परिचय' नामक ग्रन्थमें (२५६ पृष्ठमें) लिखा है कि "सृष्टिके आदिमें यदि ब्राह्मणादिके कर्मोंकी उत्पत्ति होती तो वेदमें 'विराट् पुरुषसे ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्व आदि गुण-कर्म उत्पन्न हुए'—इस प्रकार लिखा जाता । परंतु यों न कहकर सुस्पष्ट भाषामें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन चारों वर्णोंकी उत्पत्तिका उल्लेख किया गया है ।"

कोई-कोई पण्डित कहा करते हैं कि वेदमें ब्राह्मणादि जातियोंका उल्लेख हो सकता है, परंतु उस समय जन्मगत जाति न थी । कोई ब्राह्मणका पुत्र होनेसे ही ब्राह्मण नहीं हो जाता था; जो यज्ञ करता था, उसको ब्राह्मण कहते थे ।' परंतु यह मत यथार्थ नहीं है । पुरुषसूक्तमें ब्रह्माके विभिन्न अङ्गोंसे ब्राह्मणादि जातिकी उत्पत्ति कही गयी है । जातिके जन्मगत होनेपर ही यह उक्ति सुसङ्गत होती है । कठोपनिषद्में यमने नचिकेताको ब्राह्मण कहा है तथा उसे नमस्कार किया है । नचिकेता बालक थे । उनको जन्मके अनुसार ही ब्राह्मण कहकर निर्देश किया गया होगा । कर्मके अनुसार निर्देश नहीं हो सकता था । ऋग्वेद (१० । ७१ । ९) मन्त्रमें कहा गया है कि जो ब्राह्मण वेदके अर्थको नहीं जानता, वह निन्दित कृषिकर्मके द्वारा जीविका-निर्वाह करे । इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मणवंशमें जन्म लेकर कृषिकर्म करनेपर भी वह ब्राह्मणके नामसे परिचित होता था । यदि कर्मके अनुसार जातिविभाग होता तो उसे ब्राह्मण न कहकर वैश्य कहा गया होता । ऋग्वेद (८ । ९८ । ३० मन्त्र) में कहा गया है कि 'हे इन्द्र ! तुम आलस्यपरायण नास्तिक ब्राह्मणके समान मत बनो ।' इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मणवंशमें जन्म लेनेपर ब्राह्मणोचित गुणकर्म न रहनेपर भी उसे ब्राह्मण कहा जाता था । ऋग्वेद (२ । ४३ । २) में कहा गया है कि 'ब्राह्मणका पुत्र जिस प्रकार यज्ञमें वेदमन्त्र गान करता है, हे पक्षी ! तुम उसी प्रकार गान करो ।' इससे ज्ञात होता है कि यज्ञमें ब्राह्मणका पुत्र ही वेद-मन्त्र गान करता था, अन्य जातिका पुत्र नहीं गान करता था । अतः देखा जाता है कि वैदिक युगमें जन्मके अनुसार ही जातिका निर्देश किया जाता था, गुण और कर्मके अनुसार नहीं ।

महाभारतमें कहीं कहा गया है कि जन्मके अनुसार ब्राह्मण होता है और कहीं कहा गया है कि गुणके अनुसार ब्राह्मण होता है—

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः ।
(महाभारत, अनुशासन० ४७ । २८)

अर्थात् ब्राह्मणीके गर्भमें ब्राह्मणके वीर्यसे जिसका जन्म होता है, वह ब्राह्मण है—इस विषयमें कोई संशय नहीं है । यहाँ कहा गया है कि जाति जन्मके अनुसार होती है । पुनः वनपर्व (१८० । २१) श्लोकमें कहा गया है कि जिसमें सत्य, दान, क्षमा, तपस्या आदि गुण हैं, वही ब्राह्मण है—

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा ।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥

'हे सर्पराज ! जहाँ सत्य, दान, क्षमा, सच्चरित्र, कोमलता, तपस्या तथा करुणा देखे जाते हैं, उसे ही ब्राह्मण कहा जाता है ।' यहाँ कहा गया है कि गुणके अनुसार ब्राह्मण होता है । इन दोनों वचनोंका इस प्रकार सामञ्जस्य किया जाता है कि प्रथम वाक्यका उद्देश्य यह बतलाना है कि किस नियमके अनुसार ब्राह्मण-जातिका निर्देश किया जाय । दूसरे वाक्यका उद्देश्य सत्य, दान, क्षमा आदि गुणोंकी प्रशंसा करना है । अन्य किसी प्रकारसे इन दोनों वाक्योंमें सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया जा सकता । किंबहुना, शास्त्र-वचनमें सामञ्जस्य तो स्थापित होना ही चाहिये । गीता (१६ । २४) में भगवान्‌ने कहा है कि कौन कर्म करना ठीक है और कौन कर्म करना ठीक नहीं, इस विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

जो परस्पर विरोधी है, वह कभी प्रमाण नहीं हो सकता । अतएव शास्त्रवाक्यमें सामञ्जस्य स्थापित करना परम आवश्यक है ।

अश्वत्थामाके गुण या कर्म कुछ भी ब्राह्मणोचित न थे । वे युद्ध करते थे—जो क्षत्रियका कर्म था, ब्राह्मणका नहीं । वे इतने क्रूर-स्वभाव थे कि रातके समय पाण्डव-शिविरमें प्रवेश करके उन्होंने द्रौपदीके सोये हुए पाँच पुत्रोंकी हत्या कर डाली और उत्तराके गर्भस्थ भ्रूणकी हत्या करनेके लिये अस्त्र चलाया था । गुण और कर्मके अनुसार जाति-निर्देश करनेपर अश्वत्थामाको कदापि ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता । परंतु जब उन्हें पराजित करके पकड़कर लाया गया, तब ब्राह्मण बोलकर उनका वध नहीं किया गया । उनके सहजात मस्तक-मणिको काटकर उनको बाहर निकाल दिया गया । इस अवसरपर भीमने द्रौपदीसे कहा था—

जित्वा मुक्तो द्रोणपुत्रो ब्राह्मण्याद् गौरवेण च ।

(महाभारत, सौप्तिक० १६ । ३२)

अर्थात् द्रोणपुत्रको जीतकर मुक्त कर दिया गया; क्योंकि वे ब्राह्मण हैं और गुरु द्रोणाचार्यके पुत्र हैं । यहाँ स्पष्टरूपसे देखा जाता है कि गुण-कर्मके अनुसार जातिका निर्देश नहीं हुआ, जन्मानुसार ही जातिका निर्देश हुआ है । द्रोणाचार्य और कृपाचार्यने युद्धका व्यवसाय ग्रहण किया था । परंतु उनको क्षत्रिय नहीं कहा गया, ब्राह्मण ही कहा गया था; क्योंकि ब्राह्मणवंशमें उनका जन्म हुआ था ।

रामायण, अरण्यकाण्ड (श्लोक १४ । ३०) में लिखा है—

मुखतो ब्राह्मणा जाता उरसः क्षत्रियास्तथा ।
ऊरुभ्यां जज्ञिरे वैश्याः पद्भ्यां शूद्रा इति श्रुतिः ॥

अर्थात् मुखसे ब्राह्मण, वक्षःस्थलसे क्षत्रिय, ऊरुसे वैश्य और पदसे शूद्र उत्पन्न हुए । महाभारत, शान्तिपर्व (अ० ४७ । ६०) में लिखा मिलता है—

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः ।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः ॥

अर्थात् हे चतुर्वर्ण-स्वरूप ईश्वर ! ब्राह्मण आपके मुख, क्षत्रिय आपके बाहु, वैश्य आपके ऊरु और उदर तथा शूद्र आपके पद हैं; आपको नमस्कार हो ।

श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ११ । ५ । २) में लिखा गया है—

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥

अर्थात् ईश्वरके मुख, बाहु, ऊरु तथा पदसे चार आश्रमके साथ चार वर्ण पृथक् रूपमें उत्पन्न हुए । उत्पत्तिके समय उनके गुण पृथक्-पृथक् थे ।

विष्णुपुराण (३ । ८ । ९) में कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् ।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम् ॥

अर्थात् 'अपने वर्ण और आश्रमके विहित कर्मोंको करते हुए परमपुरुषकी आराधना की जाती है । उनको संतुष्ट करनेका और कोई उपाय नहीं है ।' मनुसंहिता (१० । ५) में लिखा है—

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु ।
आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव हि ॥

अर्थात् सब वर्णोंमें समान वर्णकी अक्षतयोनि पत्नीसे जिनका जन्म होता है, उनकी जाति पिताकी जाति होती है ।

गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ॥

(४ । १३)

अर्थात् 'गुण और कर्मके विभागके द्वारा मैंने चारों वर्णोंकी सृष्टि की है ।' इस वचनसे कुछ लोग समझते हैं कि गीताका उद्देश्य जन्मके अनुसार जातिविभाग नहीं है, गुण

और कर्मके अनुसार जातिविभाग है; किंतु गीताके इस वचनकी ऐसी व्याख्या करना गलत है। एक आदमीका गुण तो ब्राह्मणके समान हो सकता है और कर्म क्षत्रियके समान हो तो गुण-कर्मके अनुसार जाति-निर्देश करनेपर उसकी कौन-सी जाति होगी? किस व्यक्तिका गुण ब्राह्मणके समान है, अथवा क्षत्रिय या वैश्यके समान है, यह निर्णय करना सर्वत्र ही दुरूह होगा। इसके सिवा गुणमें परिवर्तन भी हो सकता है। एक अच्छा आदमी पीछे बुरा भी हो सकता है और एक बुरा आदमी अच्छा बन सकता है। कर्ममें भी परिवर्तन हो सकता है—एक आदमी जो योद्धा (क्षत्रिय) की वृत्तिका अनुसरण कर रहा है, पीछे वैश्यकी वृत्ति (कृषि या वाणिज्य) ग्रहण कर सकता है। इन सब कारणोंसे गुण और कर्मके अनुसार जातिनिर्णय करना अतिशय दुरूह है। मनुसंहितामें लिखा है कि जन्मके पश्चात् दस या बारह दिनोंमें नामकरण-संस्कार करना चाहिये। ब्राह्मणके नामके आगे 'शर्मा' जोड़ना चाहिये, क्षत्रियके आगे 'वर्मा' जोड़ना चाहिये। (मनु० २। ३२) किंबहुना, जन्मसे १०—१२ दिनोंके भीतर किसीके गुण और कर्मका विचार करके नामकरण करना सम्भव नहीं है। अतएव स्पष्ट है कि जन्मके अनुसार ही जाति-निर्णय करना शास्त्रका उद्देश्य है।

ब्राह्मणबालकका ८ वें वर्षमें उपनयन होना चाहिये, क्षत्रियबालकका ११वें वर्षमें और वैश्यका १२वें वर्षमें। (मनु २। ३६) ८ वें वर्षमें गुण और कर्मका विचार करके जातिनिर्णय करना सम्भव नहीं है। अतएव जन्मके अनुसार जातिनिर्णय करना होगा। गीता (श्लो० ४। १३) में जो **'गुणकर्मविभागशः'** शब्दका व्यवहार हुआ है, उसमें 'कर्म' शब्दका अर्थ कर्तव्य-कर्म है। 'गुण' शब्दका अर्थ सत्त्व, रज और तमोगुण है। समस्त वाक्यका अर्थ यह है कि जन्मके समय जिसमें जिस परिमाणमें सत्त्व, रज और तमोगुण रहता है, तदनुसार कर्तव्यकर्मका विभाग करके ईश्वरने चार वर्णोंकी सृष्टि की है। यह अर्थ गीता (अ० १८। ४१) में स्पष्टरूपसे कहा गया है।

> **ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।**
> **कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥**

'गुणैः कर्माणि विभक्तानि'—इन तीन शब्दोंको मिलाकर 'गुणकर्म-विभाग' शब्द प्राप्त होता है। समस्त श्लोकका अर्थ यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके जन्मके समय जो गुण रहते हैं, तदनुसार उनके कर्तव्यकर्मोंका विभाग किया गया है। तत्पश्चात् ४२-४३ और ४४ वें श्लोकमें प्रत्येक वर्णके कर्तव्य-कर्मका विभाग किया गया है। गीता अ० ४। १३ श्लोककी इस प्रकार व्याख्या न करके 'गुण और कर्मके अनुसार जातिनिर्देश करना चाहिये, इस प्रकार व्याख्या करनेसे शास्त्रमें अनेक स्थलोंमें जन्मानुसार जो जातिकी बात कही गयी है, उसके साथ विरोध होगा। कुछ लोग यह समझते हैं कि जाति-विभागने समाजमें अनैक्यकी सृष्टि की है; यदि सब लोगोंकी एक जाति होती तो एकता अधिक होती। पर ऐसा समझना गलत है। एक बोझा पुआलको एक रस्सीसे बाँधनेपर उसमें जो ऐक्य होता है, पहले कुछ पुआलकी अलग-अलग आँटियाँ तैयार करके फिर सारी आँटियोंको एक रस्सीसे बाँधनेपर उसकी अपेक्षा बहुत अधिक ऐक्य हो जाता है। ब्राह्मणादि चार जातियोंको समाजका मुख, बाहु, ऊरु और पद निर्देश करके सब जातियोंमें ऐक्यकी भावना सुप्रतिष्ठित की गयी है। जिस प्रकार एक मनुष्य-देहमें मुख, हाथ, पैर आदि विभिन्न अङ्ग विभिन्न कर्म करते हैं, तथापि सब अङ्गोंका उद्देश्य एक ही सारे शरीरका कल्याण-साधन करना होता है; उसी प्रकार समाजके अन्तर्गत विभिन्न जातियाँ विभिन्न कर्म करती हैं, तथापि सब जातियोंका उद्देश्य सारे समाजका कल्याण-साधन करना होता है। पाश्चात्त्य देशमें धनी और दरिद्रके बीच सदासे ही तीव्र विद्वेष और विरोध चला आ रहा है। हिंदू-समाजमें विभिन्न श्रेणियोंमें इस प्रकारका विरोध कभी नहीं रहा। पाश्चात्त्य-समाजमें धनी और दरिद्र एक साथ भोजन नहीं करते। परंतु हिंदू-समाजमें लखपती ब्राह्मण और दरिद्र ब्राह्मण एक पंक्तिमें भोजन करते हैं। जन्मानुसार जाति-विभाग अनिष्टकर नहीं है, बल्कि कल्याणप्रद है; परंतु धनके अनुसार श्रेणी-विभाग अत्यन्त अनिष्टकर है। स्वभावतः दरिद्र मनुष्य धनीके प्रति ईर्ष्याभाव रखता है। जन्मानुसार जाति-विभाग माननेपर धनीके प्रति दरिद्रका ईर्ष्याभाव नहीं रहता। निम्न वर्णके लोग समझते हैं कि जो ब्राह्मण हुए हैं, उन्होंने पूर्व-जन्ममें शुभ कर्म किये होंगे, तभी ब्राह्मण हुए हैं; अतएव निम्न वर्णका मनुष्य उच्च-वर्णके आदमीके प्रति ईर्ष्या नहीं करता।

कुछ लोग समझते हैं कि ब्राह्मणोंने अपनी सुविधाके लिये जातिभेदकी व्यवस्था की है। किंतु जिस कार्यसे अधिक अर्थ-लाभ होता है, वह वाणिज्य कर्म वैश्यको दिया गया है।

जिस कार्यके द्वारा दूसरोंपर प्रभुत्व किया जाता है, वह क्षत्रियको दिया गया है। ब्राह्मणकी जीविका पुरोहिती अथवा पाठशालामें अध्यापन-कार्य करना है। पुरोहिती या अध्यापन कार्यमें अधिक अर्थ-प्राप्ति नहीं होती। अतएव जाति-भेद ब्राह्मणोंके स्वार्थके लिये नहीं बना।

आजकल बहुत-से लोग कहते हैं कि चण्डालको मन्दिरमें घुसने न देना बड़ा अन्याय है। परंतु यह बात आधुनिक पाश्चात्त्य शिक्षितलोग ही कह सकते हैं। यह व्यवस्था अतिप्राचीन है और शंकराचार्य, रामानुजाचार्य तथा श्रीचैतन्यमहाप्रभु आदि किसीने इस व्यवस्थाकी निन्दा नहीं की है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुके एक प्रधान भक्त हरिदास यवन-वंशमें उत्पन्न हुए थे। वे पुरीमें श्रीजगन्नाथदेवके मन्दिरके समीप नहीं जाते थे। कहा करते थे कि कहीं अचानक यदि श्रीजगन्नाथदेवके सेवक ब्राह्मणसे स्पर्श हो जायगा तो उससे बड़ा अपराध लगेगा।

ठाकुर हरिदास आर रूप सनातन।
जगन्नाथ मन्दिरे नाहिं जाय तिन जन॥

(श्रीचैतन्यचरितामृत—मध्य लीला, प्रथम परिच्छेद)

रूप और सनातनने यद्यपि ब्राह्मणवंशमें जन्म ग्रहण किया था, तथापि ऐसा जान पड़ता है कि उनके पूर्व-पुरुष किसी कारणसे पतित हो गये थे। इस कारण वे लोग अपनेको नीच-जाति, म्लेच्छ-जाति कहकर उल्लेख करते थे। (इस विषयमें श्रीचैतन्य-चरितामृत, मध्यलीला, प्रथम परिच्छेद देखें।) वे लोग मुसल्मान नवाबकी नौकरी करनेके कारण अपनेको नीच जाति या म्लेच्छ जाति नहीं कह सकते थे। श्रीचैतन्यमहाप्रभुने उनको कहा था—'तुमलोग परम भक्त हो, अतएव तुम्हारा देह परम पवित्र है; क्योंकि श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि जिनके मुखसे सर्वदा कृष्ण-नाम उच्चारण होता है, वे चण्डाल होनेपर भी परम पवित्र हैं। तथापि तुमलोग जो शास्त्रकी मर्यादाकी रक्षा करके मन्दिरके समीप नहीं जाते, यह अति उत्तम बात है।'

मर्यादा पालन हय साधुर भूषण।
मर्यादा लङ्घने लोके करे उपहास।
इहलोक परलोक दुई हय नाश॥

(श्रीचैतन्यचरितामृत, अन्त्य लीला, चतुर्थ परिच्छेद)

'मर्यादाका पालन साधुके लिये भूषण है। मर्यादाका उल्लङ्घन करनेसे लोग हँसी करते हैं और इहलोक और परलोक दोनोंका नाश होता है।'

छान्दोग्य उपनिषद् (५।१०।७) में कहा गया है कि जो लोग अतिशय नीच कर्म करते हैं, वे चण्डाल आदि नीच योनिमें जन्म ग्रहण करते हैं। इस कारण उनका शरीर अपवित्र होता है, यही उनके मन्दिर-प्रवेशके निषेधका कारण है। शूद्र वेद-पाठ नहीं कर सकता, चण्डाल मन्दिरमें प्रवेश नहीं कर सकता, इन निषेधवाक्योंकी युक्तिसंगतता श्रीरामकृष्ण परमहंसने एक दृष्टान्तद्वारा समझायी थी। मान लीजिये कि 'एक उत्सववाले घरमें पुलाव आदि बहुत-से स्वादिष्ट तथा गुरुपाक द्रव्य बनाये गये हैं। गृहिणी अपने स्वस्थ पुत्रोंको वे चीजें खानेके लिये देती है, परंतु रोगी पुत्रको गरिष्ठ चीजें खानेके लिये नहीं देती। उसे हलका पथ्य भोजनके लिये देती है। इससे वह रोगी पुत्रको कम प्यार करती हो, ऐसी बात नहीं है। परंतु गरिष्ठ चीजें खानेसे उसका शरीर अस्वस्थ हो जायगा, इसी कारण उसे वे चीजें खानेको नहीं देती। कोई भी जो मन्दिरमें प्रवेश करेगा, उसको पुण्य ही होगा, यह समझना भूल है। कौन कर्म पुण्यजनक है और कौन पापजनक, शास्त्र-वचनोंसे ही यह जाना जाता है। शास्त्र जिसको प्रवेश करनेके लिये अनुमति देता है, उसको मन्दिरमें प्रवेश करनेसे पुण्य होगा। किंतु शास्त्र जिसको अधिकार नहीं देता, उसके प्रवेश करनेसे पुण्य नहीं होगा, पाप होगा। चण्डाल आदि जातियोंके मन्दिर-प्रवेशका अधिकार न होनेपर भी उनके लिये भगवत्-प्राप्तिका मार्ग खुला हुआ है। वे लोग माता-पिताकी सेवा करके पापकर्मसे दूर रहकर सदा भक्तिभावसे ईश्वरका नाम लेकर ईश्वरकी प्राप्ति कर सकते हैं। इस विषयमें महाभारत, वनपर्व (अ० २०४) में धर्मव्याधका उपाख्यान द्रष्टव्य है। हरिदासने मन्दिरमें प्रवेश नहीं किया, इस कारण उनको ईश्वरकी प्राप्ति नहीं हुई—ऐसा समझना गलत है। वे सदा भक्तिभावसे हरिनाम लेते थे और इस प्रकार उन्होंने सिद्धि प्राप्त की थी।

कुछ लोग समझते हैं कि हिंदुओंमें जातिभेद था, इसी कारण हिंदूलोग मुसल्मानों और अंग्रेज आदि जातियोंसे पराजित हुए थे। परंतु ऐसा सोचना भूल है। मुसल्मानोंने केवल भारतवर्षको ही नहीं जीता था। बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्यायने लिखा है कि 'अरबलोग एक प्रकारसे दिग्विजयी हुए थे। उन्होंने मिस्र और सीरिया देशोंको

महम्मदकी मृत्युके बाद छः वर्षके भीतर, फारसको दस वर्षके भीतर, अफ्रिका और स्पेनको एक-एक वर्षमें, तुर्किस्तानको आठ वर्षोंमें पूर्णतः अधिकारमें कर लिया था। किंतु वे लोग भारतवर्षको जीतनेके लिये तीन सौ वर्षोंतक लगातार चेष्टा करके भी इसपर अधिकार नहीं पा सके थे।

सर्वप्रथम ६६४ ई० में अरबके मुसल्मानोंने भारतपर आक्रमण किया था। उससे ५२९ वर्ष बाद सहाबुद्दीन गोरीने उत्तर भारतपर अधिकार किया था। अरब, तुर्क और पठान—इन तीनों जातियोंके यत्न और लगातार आक्रमणसे साढ़े पाँच सौ वर्षोंमें भारतवर्षकी स्वाधीनता लुप्त हुई थी।

अतएव सिद्ध है कि अन्य जातियोंकी अपेक्षा हिंदू-जातिने मुसल्मान-आक्रमणोंमें बहुत अधिक बाधा डाली थी। हिंदुओंमें जातिभेद था, इस कारण हिंदू सहज ही पराजित हो गये—यह समझना गलत है। बल्कि यह कह सकते हैं कि हिंदुओंमें जातिभेद होनेके कारण ही हिंदुओंने मुस्लिम आक्रमणमें अधिक बाधा उपस्थित की थी। वस्तुतः हिंदू-जातिका राजनीतिक इतिहास अन्य जातियोंके राजनीतिक इतिहासकी अपेक्षा कहीं अधिक गौरव-जनक है। वैदिक युगसे ११९४ ई० तक हिंदू जातिने अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षा की थी। उसके बाद अफ़गानराज्य हुआ, तीन सौ वर्षके पठानराज्यके बाद हिंदू-जातिका पुनरुत्थान हुआ। बाबरने जब भारतवर्षपर आक्रमण किया, तब उसने अनायास ही इब्राहीम लोदीको परास्त कर दिया। परंतु संग्रामसिंहके साथ युद्ध करनेके पूर्व वह बहुत ही भयभीत हो गया था और रातों जागकर उसने प्रार्थना की थी। पुनः दो सौ वर्षतक मुगलोंके राज्य करनेके बाद हिंदू-जाति पुनः प्रबल शक्तिसम्पन्न हो उठी। मराठों और सिक्खोंने मुगल-साम्राज्यको चूर्ण-विचूर्ण कर डाला। दो सौ वर्ष अंग्रेजोंके राज्य करनेके बाद हिंदुओंने ऐसा राजनीतिक आन्दोलन किया कि अंग्रेजोंको विवश होकर भारत छोड़कर जाना पड़ा। इसके साथ इंगलैंडके राजनीतिक इतिहासकी तुलना कीजिये। इस विषयमें टाड साहबने लिखा है—

What nation on earth would have maintained the semblance of Civilization, the spirit or the customs of their forefathers, during so many centuries of overwhelming oppression; but one of such singular character as the Rajputs? How did the Britons at once sink under the Romans and in vain strove to save their groves, their Druids or their altars of Bal from destruction? To the Saxons they alike succumbed, and this heterogenous to the Normans. Empire was lost or gained by a single battle and the laws and religion of the conquered merged in those of the conquerors. Contrast with these the Rajputs, not an iota of their religion and customs have they lost, though many an acre of land.

(Annals of Mewar, Chapter V.)

'राजपूतोंके समान असाधारण चरित्रकी जातिके सिवा संसारकी अन्य कौन जाति है, जो अनेकों शताब्दियों तक भारी अत्याचारोंके होते रहनेपर भी अपनी सभ्यता और पूर्व-पुरुषोंकी विचारधारा तथा आचारकी रक्षा करनेमें समर्थ हुई? ब्रिटन लोगोंने किस प्रकार रोमन लोगोंकी अधीनता स्वीकार की थी। अपने उपवन, पुरोहित तथा 'बल' देवताकी वेदीकी रक्षा करनेकी उन्होंने असफल ही चेष्टा की थी। इसी प्रकार वे लोग सैक्सन लोगोंके अधीन हो गये, पश्चात् डेन जातिके अधीन हो गये और फिर ये जातियाँ एक साथ मिलकर नारमन लोगोंके अधीन हो गयीं।

'एक-एक युद्धमें एक-एक राज्य ध्वस्त या प्रतिष्ठित हुआ तथा विजित जातिके धर्म और व्यवहार (Law) विजेता जातिके धर्म और व्यवहारमें विलीन हो गये। इसके साथ राजपूतोंकी कितनी विभिन्नता है, यह देखिये। यद्यपि राजपूतोंने बहुत-सा भूभाग खो दिया, तथापि उन्होंने अपने धर्म और आचारको तनिक भी नहीं खोया।'

किसी व्यक्तिकी वृत्तिविशेषके लिये उपयुक्तता प्रधानतः दो वस्तुओंके ऊपर निर्भर करती है—(१) 'जन्मगत संस्कार और (२) पारिपार्श्विक अवस्था। ये ही दो बातें मनुष्यको उसकी पैतृक वृत्तिके लिये उपयुक्त बनाती हैं। ब्राह्मणका पुत्र पिताके अनुरूप धीर, शान्तस्वभाव तथा धर्म-परायण हो, यही सम्भव है। वह बाल्यकालसे ही पिताको शास्त्र-चर्चा तथा क्रिया-कर्ममें निरत देखता है, इस कारण उसमें इस प्रकारके कर्मोंको करनेकी प्रवृत्ति और उपयुक्तता बढ़ती है। क्षत्रियका पुत्र स्वभावतः शक्तिशाली होता है। बाल्यकालसे ही वह युद्धकी बातें, शौर्य-वीर्यकी कहानियाँ सुनता है।

उसके मनमें भी उसी प्रकारके वीरतापूर्ण कार्य करनेका स्वभावतः आग्रह उत्पन्न होता है। जुलाहेका लड़का बचपनसे ही चरखा, करघा आदिसे परिचित होता है। अपने पिताके पास करघेपर काम करनेकी शिक्षा प्राप्त करना उसके लिये सहज और स्वाभाविक होता है। जन्मगत वृत्तिकी व्यवस्था रहनेपर जातिके अधिकांश लोगोंको समाजके लिये उपयोगी किसी वृत्तिमें कुशल बनाना आसान होता है। उसके लिये Weaving School, Technical School, Industrial School आदि व्ययसाध्य संस्थाओंकी आवश्यकता नहीं होती। जन्मगत वृत्तिके फलस्वरूप भारतमें नाना प्रकारकी कलाओं और शिल्पोंकी उन्नति हुई थी, इसमें कोई संदेह नहीं है। भारतके समान बारीक सूती वस्त्र संसारमें और कहीं नहीं तैयार होते थे। संसारमें सर्वत्र उनका आदर होता था। नाना प्रकारके शिल्पकार्यके लिये भारतवर्ष प्रसिद्ध था। पीतल, काँसा तथा हाथीदाँतसे बनी विविध दर्शनीय वस्तुएँ प्रचुर परिमाणमें उत्पन्न होती थीं तथा देश-विदेशमें बिकती थीं; इससे भारत इतना ऐश्वर्यशाली हो गया था कि 'भारतका ऐश्वर्य' एक लोकोक्तिका विषय बन गया था। इसीको लक्ष्य करके Milton ने अपने Paradise Lost में लिखा था—"The weatlh of Ormur or of Ind." परम विचारक तथा स्वदेशभक्त भूदेव मुखोपाध्याय C. I. E. ने (जिन्होंने अपना सारा जीवन संस्कृत-शिक्षा तथा अन्य लोकहितके कार्योंमें उत्सर्ग कर दिया था) लिखा है कि 'जातिभेदकी प्रथा प्रचलित होनेके कारण भारतवर्षके सारे शिल्प बहुत प्राचीन कालसे ही परम उन्नतिको प्राप्त हो चुके हैं और सारे संसारमें इसकी तुलना नहीं प्राप्त होती।' (सामाजिक प्रबन्ध, पृ० १०४)

एलोरा, कोणार्क, भुवनेश्वर आदि भारतवर्षके असंख्य मन्दिरोंके रचना-कौशल तथा शिल्प-रचनाकी सुन्दरता और अजन्ताकी गुफाओंके चित्र पृथिवीके दूर-दूरके श्रद्धालु दर्शकोंके चित्तको आकृष्ट करते हैं। जन्मगत वृत्तिकी व्यवस्थासे ही इस प्रकारकी उन्नति हुई थी।

किसी-किसी पाश्चात्त्य विद्वान्ने हिंदुओंके जातिभेदकी निन्दा की है, तथापि बहुतेरे पाश्चात्त्य विद्वानोंने इस जातिभेदकी प्रचुर प्रशंसा भी की है। भारतके सच्चे हितैषी सर हेनरी काटन (Sir Henry Cotton) ने लिखा है—

"The caste system of India, far from being the source of all troubles which can be traced in Hindu Society, has rendered the most important service in the past and still continues to sustain order and solidarity."

श्रीसिडनी लो (Sydney Low) लिखते हैं—"There is no doubt that the Caste System is the main cause of the fundamental stability and contentment by which Indian society has been braced for centuries against the shocks of politics and cataclysms of nature."

श्रीमती ऐनी बेसेंट (Dr. Annie Besant) लिखती हैं—"It is not well to destroy the stately edifice built by the Rishis, which has weathered many a storm and given safe shelter to a myriad generations. Chaldea, Persia, Egypt, Greece and Rome have perished,—mighty as once they were. India which was their contemporary has outlived them all and this marvellous endurance, while primarily due to her profound spirituality, is partly due also to the stability given her by her Caste System."

श्री अब्बे डुब्वा (Abbe Dubois) लिखते हैं—"It is simply and solely due to the distribution of the people into Castes that India did not lapse into a state of barbarism and that she preserved and perfected the art and science of civilization while most other peoples of the earth remained in a state of barbarism."

श्रीमेरेडिथ टाउनसेंड (Meredith Townsend) लिखते हैं—"I firmly believe caste to be a marvellous discovery, a form of socialism which through ages has protected Hindu Society from the worst evils of industrial and competitive life. It is an automatic poor law to begin with, and the strongest form of trade union." (**Asia and Europe**)

सर जान उडरफ (Sir John Woodroffe) लिखते हैं—"Caste system is democratic in the true sense of the term. It insists on the spiritual equality of all men."

सर जार्ज बर्डउड (Sir George Birdwood) लिखते हैं—"Such an ideal social order we should have held impossible of realization, but that it continues to exist and to afford us, in the living results of daily operations in India, a proof of the superiority in so many unsuspected ways, of the hierarch civilization of antiquity over the secular, joyless and self-destructive modern civilization."

प्राचीन भारतमें जब वर्णाश्रम-व्यवस्था सुप्रतिष्ठित थी, तब देशमें सुख-शान्ति और समृद्धि विद्यमान थी। रामायण और महाभारतसे तथा मेगास्थनीज, फाहियान, हुएन्त्सांग आदि विदेशी पर्यटकोंके लिखित वृत्तान्तसे यह हमको ज्ञात होता है। भारतके अतिरिक्त अन्य किसी देशमें ऐसी सुख-शान्ति नहीं थी।

गीता (अ० ३। २४) में श्रीभगवान् कहते हैं—

संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।

इससे ज्ञात होता है कि वर्णसंकर होनेसे समाज नष्ट हो जाता है। गत दो महायुद्धोंमें पाश्चात्त्य जातियोंने व्यापकरूपसे जिस प्रकार नरहत्या और लूटपाट की है, इससे उनकी स्वभावगत दुर्नीतिका पता चलता है। इस कारण बहुतेरे पाश्चात्त्य विद्वान् हिंदू-संस्कृतिके मूल तत्त्वको जाननेके लिये उत्सुक हुए हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीरामकृष्ण परमहंस आदि महा-पुरुषोंने जातिभेदके सारे नियमोंका पालन किया है। श्रीचैतन्य महाप्रभु वनके मार्गसे पुरीसे वृन्दावन जाते समय, जिन गाँवोंमें ब्राह्मणोंका वास था, वहींका निमन्त्रण स्वीकार करते थे। जिस गाँवमें ब्राह्मण नहीं रहते थे, उस गाँवमें उनके सहयात्री बलभद्र भट्टाचार्य उनके लिये वन्य शाक-पात उबालकर दे देते थे।

(श्रीचैतन्यचरितामृत, मध्यलीला, १७ परिच्छेद)

एक मनुष्य यदि दूसरे व्यक्तिको स्पर्श करनेसे मना करता है तो यह समझना ठीक नहीं कि वह उससे घृणा करता है। रजस्वला माताको उसका पुत्र स्पर्श नहीं करता—इसका यह अभिप्राय नहीं है कि पुत्र अपनी मातासे घृणा करता है। अतिरिक्त इसके एक साथ खाने और अन्तर्विवाह करनेपर सर्वत्र प्रीतिभाव रहता हो, यह नहीं देखा जाता। अंग्रेज और जर्मन जातियोंमें अन्तर्विवाह और सहभोज स्वतन्त्रतासे प्रचलित था, तथापि विश्वयुद्धके समय उनके बीच तीव्र द्वेष हो गया था।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर जातिभेदके विरोधी थे, यह ठीक है। परंतु उनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर दृढ़तापूर्वक जातिभेदका समर्थन करते थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुरने कहा है कि 'शान्तिनिकेतनमें एक छायादार वृक्षके नीचे उपासना करते समय उनके पिताको ब्रह्मदर्शन हुआ था।' उपनिषद् कहते हैं कि जिनको ब्रह्मदर्शन होता है, वे सर्वज्ञ हैं। महर्षिने जब कहा था कि जातिभेद उठा देना समाजके लिये अनिष्टकर होगा, तब उनका यह मत ब्रह्मज्ञ पुरुषके निर्भ्रान्त मतके रूपमें स्वीकार करना उचित है। महर्षिको ब्रह्मदर्शन तो हुआ था, परंतु जातिभेदके सम्बन्धमें उनका मत भ्रान्त था—ये परस्पर विरोधी उक्तियाँ हैं।

उपनिषद्में आया है कि माता-पिताकी पूजा देवताके समान करनी चाहिये—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव।

(तैत्तिरीय उपनिषद् १। ११। ८)

अतएव जहाँ माता-पिता असवर्ण विवाहके विरोधी हों, वहाँ पुत्रके लिये असवर्ण विवाह करना अन्याय है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अधिकांश स्थलोंमें माता-पिता असवर्ण विवाहके विरोधी होते हैं।

गीता अ० १८। ४२, ४३, ४४ श्लोकोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंके कर्त्तव्यकर्मोंका उल्लेख करते हुए इसी अध्यायके ४५, ४६ वें श्लोकोंमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि अपनी-अपनी जातिके कर्तव्य-कर्मोंको यत्नपूर्वक करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है; क्योंकि इस प्रकार ईश्वरकी आराधना की जाती है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(१८। ४५)

वर्णसंकर उत्पन्न करके जातिभेद नष्ट कर देनेपर ईश्वरकी प्राप्तिका एक स्वाभाविक और सहज मार्ग नष्ट हो

जाता है । श्रीचैतन्य महाप्रभुने पाठशाला स्थापित करके अध्यापन-कार्य किया था । श्रीरामकृष्ण परमहंस मन्दिरके पुजारीका काम करते थे । अध्यापन तथा पुरोहिती करना, दोनों ही ब्राह्मणजातिकी शास्त्र-विहित जीविका हैं ।

समाज जिससे समृद्धिशाली हो, समाजके विभिन्न वर्गोंमें जिससे प्रीतिका बन्धन स्थापित हो, समाजके अन्तर्गत सब लोग जिससे शान्तिपूर्ण पवित्र जीवनयापन कर सकें तथा धर्म-संचय करके पारलौकिक कल्याण-साधनमें सक्षम हों—जातिभेदका यही उद्देश्य है । इन उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये जातिभेद अत्यन्त उत्कृष्ट व्यवस्था है । यह व्यवस्था मनुष्यरचित नहीं है, स्वयं ईश्वर ही जातिविभाग तथा वर्णाश्रम-व्यवस्थाके रचयिता हैं । वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता, श्रीमद्भागवत आदि सारे धर्मग्रन्थ इस बातको कहते हैं । कुछ दिनोंसे हिंदुओंमें वर्णाश्रम या जातिभेदके विरुद्ध आन्दोलन चल रहा है । जातिभेदके साथ हिंदू-धर्मका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि जातिभेद नष्ट होनेपर हिंदूधर्म ही नष्ट हो जायगा । अतएव धर्महीन समाजमें जितने प्रकारका तथा जितना अनिष्ट हो सकता है, जातिभेद लुप्त होनेपर हिंदू-जातिका उतना ही अनिष्ट-साधन होनेकी पूर्ण सम्भावना है । पाश्चात्य शिक्षाके प्रभावसे भारतवर्षमें जो धार्मिक क्रान्ति हो रही है, उससे सब लोगोंके लिये अपने वर्णविहित कर्मके द्वारा जीविका उपार्जन करना सम्भव नहीं हो रहा है; तथापि जहाँतक सम्भव हो अपने वर्णविहित कर्मोंको करते हुए सदाचारकी रक्षा करना और असवर्ण विवाहको रोकना प्रत्येक हिंदूका परम कर्तव्य है ।

वर्णाश्रमकी महामहिमा

(लेखक—डा० श्रीनीरजाकान्त चौधुरी देवशर्मा एम्० ए०, पी-एच्० डी०, एल्-एल् बी०)

वर्णाश्रम-धर्म ही वैदिक या सनातनधर्म है । ऐहिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयसकी प्राप्ति ही धर्मका धर्मत्व है । धर्मकी यह सार्थकता अनादिकालसे लेकर आजतक वर्णाश्रममें उपलब्ध होती है । वर्णाश्रमी समाजका मनुष्य अपने-अपने अधिकारके अनुसार शास्त्रके आदेशका अनुगमन करते हुए यदि निष्काम भावसे नित्य, काम्य आदि कर्मोंको करता रहे तो इहलोकमें चरम शान्ति, सुख और ऐश्वर्य तथा परलोकमें स्वर्ग तथा क्रमशः अपवर्ग अर्थात् मोक्षको प्राप्त करनेमें समर्थ होगा ।

वर्णाश्रम या चातुर्वर्ण्य-समाज श्रीभगवान्के द्वारा सृष्ट है । 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।' (गीता ४ । १३) वेद-संहिताके पुरुषसूक्तमें 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्०'—यह मन्त्र आम्नात हुआ है । मानव-जातिके आदिपुरुष स्वायम्भुव मनुने भी कहा है—

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक् कर्माण्यकल्पयत् ॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिं च क्षत्रियस्य समासतः ॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥

(मनुसंहिता १ । ८७—९१)

श्रीमद्भागवतमें नारदके प्रति ब्रह्माजीका वचन है—

पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः ।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

(२ । ५ । ३७)

पञ्चम स्कन्धमें लिखा है—

'वर्णाश्रमवतीभिर्भारतीभिः प्रजाभिः××× परमभक्तिभावेनोपसरति'—(१९ । १०) 'यथावर्णविधानमपवर्गश्चापि भवति'—(१९ । १९)

श्रीधरस्वामी टीकामें लिखते हैं—'यस्य वर्णस्य यद्विधानं मोक्षप्रकारं संन्यासवनस्थत्वादि तदनतिक्रमेण अस्मिन्नेव वर्षे नृणामपवर्गश्च भवति ।' यह भारत वैकुण्ठका अजिर (प्राङ्गण) है । यहाँ जो लोग नरदेह प्राप्त करते हैं, उनके ऊपर श्रीहरि प्रसन्न होते हैं । (५ । २०)

भगवान् पराशरजीने विष्णुपुराण (१ । ६) में गुण और कर्मके अनुसार ब्रह्माने किस प्रकार चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि की है,

यह मैत्रेयको बतलाया है। विराट् पुरुष ब्रह्माके मुखसे सत्त्वोद्रिक्त, वक्षःस्थलसे रजोद्रिक्त, ऊरुसे रजस्तमोद्रिक्त तथा पादद्वयसे तमःप्रधान प्रजाकी सृष्टि हुई है; इसीसे यह चातुर्वर्ण्य है।

> ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम।
> पादोरुवक्षःस्थलतो मुखतश्च समुद्गताः॥
> (१।६।६)

यह चातुर्वर्ण्य उत्तम यज्ञ-साधन है। महर्षि और्वने सम्राट् सगरसे कहा था—

> वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
> विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥
> (३।८।९)

सदाचारयुक्त होकर अपने-अपने वर्णके अनुसार धर्मानुष्ठान करनेसे भगवान् जनार्दनकी आराधना होती है। वामनपुराणके चतुर्दश अध्यायमें ऋषियोंने सुकेशी राक्षसको वर्णधर्म और आश्रमाचारके सम्बन्धमें उपदेश दिया है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, दान, क्षमा, शम, दम, अकार्पण्य, शौच और तपस्या—ये दस सब वर्णोंके साधारण धर्म हैं।

केवल ब्राह्मणोंका ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार आश्रमोंमें अधिकार है। क्षत्रियको तीन आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थमें, वैश्यका ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य—इन दो आश्रमोंमें तथा शूद्रका केवल एक गार्हस्थ्य-आश्रममें अधिकार है।

> गार्हस्थ्यमाश्रमं त्वेकं शूद्रस्य क्षणदाचर। (१४।११८)

पुण्यभूमि भारतमें वर्णाश्रमी भारती जाति अनादिकालसे वास कर रही है। अन्यान्य सभ्यताएँ प्रायः इहलोकको ही सर्वस्व मानती हैं, किंतु वर्णाश्रमी वैदिक सभ्यता इन्द्रियातीत लोकोंको भी स्पर्श करती है। यही जन्म-जन्मान्तरकी साधनाके द्वारा जीवको शिवत्वकी प्राप्तिका सुगम उपाय है।

वर्णाश्रमी धर्म और सभ्यता श्रेष्ठ और चिरस्थायी हैं

निष्पक्ष और तुलनात्मक रीतिसे संसारके सारे प्राचीन ऐतिह्य तथा सब जातियोंके इतिहासकी आलोचना करनेपर यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक वर्णाश्रमी धर्म, समाज और सभ्यता निःसंदेह सर्वश्रेष्ठ, कालजयी और अमर है। इसकी प्रदीप्त महिमाकी तुलना संसारमें न है न हो सकती है।

हम इस लेखमें संक्षेपमें इस विषयका समीक्षण करनेका प्रयास करेंगे।

भारती-जाति भारतखण्डकी आदि अधिवासी है, बाहरसे नहीं आयी है

वर्णाश्रमी भारती-जाति अनादिकालसे भारतखण्डमें वास करती आ रही है। ये लोग बाहर किसी देशसे इस देशको विजय करने नहीं आये। इसके सम्बन्धमें अनेक प्रमाणोंमेंसे कुछ प्रमाण यहाँ दिये जाते हैं—

वेद संसारमें सबसे प्राचीन ज्ञान-राशि है, इस बातको पाश्चात्त्य विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। ऋग्वेद-संहिता या दूसरे किसी वैदिक साहित्यमें भारतसे बाहर किसी अन्य देशमें वैदिक जातिके निवासके विषयमें कोई स्मृति या निदर्शन नहीं पाया जाता तथा पंजाबसे पूर्व या दक्षिणमें उनके तथाकथित प्रसारका कोई संकेत भी उसमें उपलब्ध नहीं होता। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ कीथ साहबने इसी मतका पोषण किया है।*

भारतमें आर्य-अभियानवाद निराधार है

आजसे प्रायः सौ वर्ष पूर्व प्रख्यात भाषातत्त्वज्ञ मैक्समूलर तथा उनके अनुयायियोंने 'आर्यवाद'की कहानी रची है। यह कहानी पूर्णतः कपोलकल्पित और निराधार है। तथापि आधुनिक भारतीकी यह कहानी विश्वके इतिहासमें निर्विवाद-रूपमें गृहीत हो रही है और इसको आधार बनाकर और भी बहुत अद्भुत वितण्डाकी सृष्टि हुई है और हो रही है।

कहा जाता है कि अति प्राचीन कालमें एक 'आर्य' (आजकल उसका नामकरण इन्डोयूरोपीय है) जाति भारतके बाहर किसी भूखण्डमें वास करती थी। वहाँसे प्रायः २५०० से १५०० ई० पूर्वमें उस जातिके लोग विभिन्न

---

* It is, however, certain that the Ṛgveda offers no assistance in determining the mode in which the Vedic Indians entered India. If, as may be the case, the Aryan invaders entered by the passes of the Hindukush, and proceeded thence through the Punjab to the east, still that advance is not reflected in Ṛgveda. (Keith, Cambridge History of India, Vol. I, page 78—9)

दलोंमें भारत, फारस, ग्रीस, रोम, जर्मनी, स्कैण्डिनेविया आदि देशोंकी ओर निकल पड़े। पहले कहा जाता था कि तत्कालीन असभ्य भारतीय आदिम अधिप सिल्हण (दस्युओं)को उन्होंने पराजित किया। परंतु आजकल टयनबी (Toynbee) पिगट (Piggott) आदि लेखकोंका मत ठीक इसके विपरीत है। इनके मतसे आर्य अभियात्री निम्नस्तरकी असभ्य जातिके लोग थे।* हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ोके निवासी सुसभ्य थे, परंतु उनसे परास्त हो गये। असभ्य आर्योंने विजित सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यतासे बहुत कुछ ग्रहण किया। वैदिक (सनातनी) धर्म और संस्कृति इस मिश्रित सभ्यताका परिणाम मात्र हैं।

ये दोनों ही मत भ्रमपूर्ण हैं। अनेक प्रमाणोंमेंसे कुछ-का उल्लेख करके यह स्पष्ट किया जायगा कि वैदिक वर्णाश्रमी जाति इस देशमें ३००० ई० पूर्वसे बहुत पहलेसे ही निवास कर रही है।

१. ज्योतिषका प्रमाण—

(क) भारतमें सुप्रचलित युधिष्ठिराब्द और कल्यब्द कुरुक्षेत्रके युद्धके बाद अनुमानतः ३१०२ ई० पूर्वसे प्रचलित हो गया था। अतएव २५०० से १५०० ई० पूर्वके बीचका 'आर्य-अभियान' नितान्त असत्य बात है।

(ख) बेली (Bailley), वालेस (Wallace) आदि पाश्चात्त्य विद्वानोंने गणितद्वारा प्रमाणित किया है† कि भारतीय ज्योतिषकी सारणी ज्यामितिकी सहायतासे अति प्राचीन कालमें, यहाँतक कि ३००० वर्ष ई०पूर्व निर्णीत और लिपिबद्ध हो गयी थी। अतएव वैदिक सभ्यता उससे बहुत पूर्व वर्तमान थी, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

२. यजुर्वेदीय वंशब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मणके अन्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषद् महाभारत युग (३१०० ई० पूर्व) से बहुत पहले आम्नात हो गया था। इस उपनिषद्में मधुविद्या (ब्रह्मविद्या) के वंशब्राह्मणमें जो गुरु-शिष्य-परम्परा पायी जाती है, इससे सिद्ध होता है कि इस विद्याके आदि गुरु दधीचि ऋषि पौतिमाष्य मुनिके ४७वीं पीढ़ीके आदिपुरुष थे। गुरु-शिष्यकी एक पीढ़ीमें ५० वर्षका समय मानना असंगत न होगा। अतएव देखा जाता है कि पौतिमाष्यका समय अनुमानतः ३५०० ई० पूर्व माननेपर दधीचि उनसे ५०×४७=२३५० वर्ष पूर्व अर्थात् ५८५० ई० पूर्वमें विद्यमान थे। अतएव अन्ततः ५००० ई० पूर्व वैदिक सभ्यता भारतमें थी, यह विश्वास करना युक्तिहीन नहीं है।

३. सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यताका प्रस्तरिक प्रमाण

मोहन-जो-दड़ो, हड़प्पा आदि स्थानोंमें जो प्राचीन ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं, वे २५०० वर्ष ई० पूर्व या इससे भी प्राचीन हैं। यह सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यता वैदिक वर्णाश्रम सभ्यता थी, यह निम्नलिखित प्रमाणोंसे प्रतिपादित होती है—

(क) इन स्थानोंमें प्राप्त कुछ मूर्त्तियोंमें आसनबद्धता, नासाग्रदृष्टि आदि पायी जाती है। आसन योगका एक प्रधान अङ्ग है। आसन लगाकर बैठनेकी पद्धति भारतके बाहर कहीं कभी न थी। यह चीन, जापान और हिन्देशिया आदिमें इस देशसे ही गयी है। नासाग्रदृष्टि मनको अन्तर्मुखी करनेका एक यौगिक उपाय है। अतएव सिन्धु-सभ्यताकी संस्कृति वैदिक थी।

(ख) एक सील मुहरपर कलसी, काष्ठ आदिके साथ श्मशानका दृश्य अङ्कित है।

---

* This method of interpretation, however, is one which grew up at a time when the Harappa civilization was still undiscoverd and when it was assumed that the Aryan invaders if India encountered only a rabble of aboriginal savages, who could have contributed little save a few primitive animistic beliefs to Vedic thought, nothing to the structure of later Indo.-Aryan Society. But the Aryan advent in India was in fact the arrival of barbarians into a region already highly organized into an empire based on a long established tradition of literate urban culture. The situation is, in fact, almost reversed; for the conquerers are seen to be less civilized than the conquered. (Piggot, Prehistoric India (Pangum p. 257)

† Astronomical tables in India must have been constructed by the principles of Geometry. Some are of opinion that they have been framed from the observations made at a very remote period, not less than 3000 years before the Christian era. (This has been conclusively proved by Bailley.) (Prof. Wallace, in the Edinburgh Encyclopaedie Geometry, p. 191)

(ग) खुदाईके फलस्वरूप कितने ही प्रस्तरमय शिवलिङ्ग* पाये गये हैं। वैदिक सनातनधर्मको छोड़कर अन्यत्र शिवलिङ्गकी पूजा कहीं नहीं होती।

(घ) जो सील-मुहर ध्वंसावशेषमें पाये गये हैं, उनमें जो लिपि है, उसका पाठोद्धार पाश्चात्त्य देशोंमें अभीतक नहीं हुआ है। किंतु सिलचरनिवासी पण्डित श्रीमहेन्द्रचन्द्र काव्यतीर्थ सांख्यार्णवने† कुछ सील-मुहरोंका पाठोद्धार किया है।

एक सीलमें जो चित्र है, उसमें एक वृक्षपर दो पक्षी चित्रित हैं। एक पक्षी फल खा रहा है, दूसरा कुछ खाता नहीं है, केवल देख रहा है। इस चित्रमें सम्भवतः ईश्वर और जीवविषयक एक सुप्रसिद्ध वेदमन्त्रका भाव अङ्कित हुआ है—'द्वा सुपर्णा' इत्यादि।

(ऋक् २। १। ६४। २०)

सांख्यार्णव महाशयने इसकी लिपिको पढ़ा है। २ सुवर्ण (मुद्रा)। 'द्वा सुपर्णा' के साथ '२ सुवर्णकी' ध्वनिका सुन्दर मेल है और चित्र भी सम्भवतः इस मेलके कारण इस प्रकारसे अङ्कित हुआ है। यदि यह अनुमान सत्य है और यही सम्भव है तो अन्ततः यह प्रमाणित होता है कि 'सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यता' इस वेदमन्त्रके बहुत बादकी है तथा सिन्धु-सभ्यताके लोग वैदिक धर्मका ही पालन करते थे।

और भी कतिपय सीलोंका पाठोद्धार करके सांख्यार्णव महाशयने दिखला दिया है कि वे सब भी विभिन्न मुद्राओंके मानके द्योतक हैं—यथा, ३ धरण, नव निष्क, गुण चरण, रजत द (दी) नार, पल आदि। ये सारे मुद्रा भारतमें प्राचीन युगमें व्यवहृत होते थे तथा मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंमें इनका उल्लेख प्राप्त होता है। उनके मतसे ये सील व्यवसायी लोगोंके द्वारा हुंडी या वस्त्रादि-विक्रयके द्रव्यादिके ऊपर मुद्राङ्कनके लिये व्यवहृत होते थे। यही सिद्धान्त युक्तिसंगत है। पिगट (Piggot) ने भी 'Prehistoric India' नामक ग्रन्थमें इसके अनुरूप ही मत प्रकाशित किया है।‡

(ङ) इन दोनों नगरोंके ध्वंसावशेषमें ईंटसे बँधे कूप वर्त्तमान हैं। उनके चारों ओर असंख्य मिट्टीके बर्तनोंके टुकड़े राशिरूपमें पड़े हैं। इसको समझनेमें कष्ट नहीं होता कि जल पीनेके बाद वह फेंक दी गयी होगी या तोड़-फोड़ दी गयी होंगी।*

संसारकी दूसरी किसी जातिमें, या किसी देशमें, स्पर्शास्पर्श-विवेक या आहारशुद्धि और आचार, जिसको आजकल व्यङ्ग्य करके कूँड़ापंथ कहते हैं, नहीं था और और न है। केवल वर्णाश्रमी जातिके शास्त्रानुसार मिट्टी-के बर्तनको एक बार ओठसे लगानेसे ही वह उच्छिष्ट हो जाता है और उसे फेंक देते हैं। सिन्धु-उपत्यकाके अधिवासी वैदिक सनातन (हिंदू) धर्मको मानते थे और आचारका पालन करते थे—यह टूटे-फूटे मिट्टीके बर्तनोंसे पूर्णतः प्रमाणित हो जाता है। इसके लिये किसी तर्ककी आवश्यकता नहीं और न संदेहके लिये ही कोई जगह रह जाती है। अतएव वर्णाश्रम-धर्म इस देशमें ५००० वर्ष ई० पूर्वमें तथा उससे बहुत पहलेसे विद्यमान था, यह निश्चय हो जाता है।

४. मेगास्थनीजका लेख

ग्रीक सम्राट् सेल्यूकसके दूत मेगास्थनीजने मौर्य-राज्यसभामें कई वर्ष (ई० पूर्व चतुर्थ शताब्दीके अन्तिम भागमें) व्यतीत किये थे। उनके निबन्ध विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने लिखा है कि 'भारतमें बहुत-से लोग और जातियाँ हैं, परंतु उनमें कोई बाहरसे आया हुआ या विदेशी वाशिन्दा नहीं है।'† १५०० ई० पूर्वतक भारतमें 'आर्य-अभियान' हुआ होता तो उसको प्रायः १००० वर्षके भीतर ही लोग भूले नहीं होते।

अतएव बाहरसे 'आर्यों'के अभियानकी कहानी बिल्कुल

---

* Certain large, smooth, cohesive stones unearthed at Mohenjodaro and Harappa were undoubtedly the Lingas of those days. This association (with the worship of Siva) however seems more probable.'

(Mackay, the Indus Civilization P. 77-8)

† (M. C. Kavyatirtha Sankhyarnava, Mohenjodaro seals deciphered p. 9)

‡ 'Harappa traders by about 2300 B. C., must have had their resident representatives in Ur and Lagesh, and other centres of trade using the characteristic seals on merchandise and documents." (Piggot, Prehistoric India, p. 210)

* Round such well-heads have been found innumerable fragments of mass produced little clay cups, suggesting that, as in Contemporary Hinduism, there was a ritual taboo on drinking twice from the same cup, and that each cup was thrown away or smashed after it has been used. (Ibid, p. 171)

† It is said that India, being of enormous size, when taken as a whole, is peopled by races both numerous and divers, of which not even one was originally of foreign descent, but all were evidently indigenous, and moreover that India neither received a colony from abroad, nor sent out a colony to any other nation.

(Mac Crindle, "Ancient India" Megasthenes, p. 31—34)

ही निर्मूल है और कपोलकल्पना मात्र है। अनादिकालसे, ऐतिहासिक मतसे भी, अन्ततः सुदीर्घ प्रायः छः हजार वर्षके ऊपरसे वर्णाश्रमी भारती जाति भारतखण्डमें बास करती आ रही है, इसमें संदेह नहीं है। बहुत-से लोगोंने दूसरा धर्म ग्रहण कर लिया है। परिवारनियोजन, बहुविवाह-निषेध आदिके द्वारा हिंदुओंकी संख्या घटानेकी चेष्टा हो रही है। तथापि आज भी इनकी संख्या नगण्य नहीं, बल्कि ४० कोटिसे ऊपर है।

वर्णाश्रमका अमरत्व और आपेक्षिक गुरुत्व, विभिन्न प्राचीन और नवीन सभ्यताके साथ तुलना

'जातिभेदने भारतका सर्वनाश किया है'—यह बात नितान्त भ्रमपूर्ण है। वर्णाश्रमी वैदिक सभ्यताके प्रकृत महत्त्व और श्रेष्ठत्वको समझनेके लिये विभिन्न प्राचीन और नवीन सभ्यताओंके साथ इसकी तुलना करना आवश्यक है। अनन्त कालसिन्धुमें न जाने कितनी जातियाँ, संस्कृति और सभ्यताएँ, धर्म और सम्प्रदाय बुद्बुदके समान उठकर विलीन हो गये हैं। केवल एकमात्र वर्णाश्रमी सभ्यता और धर्म नाना प्रकारके आँधी-तूफानका आघात सहते हुए आज भी गौरवके साथ टिका हुआ है तथा पुनः राजनीतिक स्वतन्त्रताको भी प्राप्त करनेमें समर्थ हो गया है।

पाश्चात्य पुरातत्त्वविदों और ऐतिहासिकोंकी गवेषणा और अभिमतके अनुसार आधुनिक इतिहासका अनुसरण करके मुख्य-मुख्य प्राचीन और अर्वाचीन सभ्यताओंकी रूपरेखा तथा संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि राज्य-विस्तार, जनसंख्या आदिका जो आँकड़ा दिखलाया गया है, वह आपाततः ठीक होते हुए भी केवल आनुमानिक है।

पृथ्वीकी सभ्यताका रेखा-चित्र

ईसवी सन् पूर्वमें — ४००० ३००० २००० १०००

ईसवी सन् — १००० १९६५

सुमेरियन सभ्यता
बैबिलोनियन बवेरु सभ्यता
चैल्डियन सभ्यता
कासाइत
असीरियन सभ्यता
मिस्री स०
हिण्डाइत—हित्ती सभ्यता
मितान्नि
क्रेत्रू
ईरानियन सभ्यता
ग्रीक
यूनानी
रोमनक सभ्यता
वर्णाश्रमी सभ्यता
चीनी
वाइमण्टीय
इस्लामी
यूरोपियन
अमेरिकन
मेक्सिकन
माया
पेरू

Oxford Junior Encyclopoedia Vol. I Ancient (Civilizations—p.22)

पाश्चात्य लेखक ईसाई हैं। ईसाई मत यहूदी धर्मकी ही एक शाखा है। ईसा और उनके शिष्यगण यहूदी थे। अतएव पाश्चात्य जातियोंका धर्मदर्शन सेमिटिक है। इस्लाम-धर्म भी यहूदी और ईसाई मतपर अवलम्बित है। अतिरिक्त इसके पाश्चात्य संस्कृतिका मूलस्रोत ग्रीक और रोमन ऐतिह्य है। अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, इटालियन आदि भाषाएँ भी मूलतः ग्रीक और लैटिनसे निकली हैं; इनकी वर्णमालाका इतिहास भी तदनुरूप है। अतएव वर्तमान यूरोपीय और अमेरिकन सभ्यता सेमिटिक (यहूदी), पैगन (Pagan), ग्रीक-रोमीय तथा नार्दिक (Nordic), उत्तर यूरोपीय—इन सब संस्कृतियोंकी खिचड़ी* है। विभिन्न देशोंके नर-नारियोंके अबाध मिलनके फलस्वरूप इन सब समाजोंमें संकरता भी पर्याप्त हुई है।

केवल एक सौ वर्ष पहले पाश्चात्य लेखकगण अपने ईसाई तथा यहूदी धर्मग्रन्थों (New and Old Testaments) के अनुसार दृढ़तापूर्वक विश्वास करते थे कि पृथ्वीकी सृष्टि और मानवजातिका उद्भव केवल ४००४ ई० पूर्व, अर्थात् आजसे प्रायः ५९६९ वर्ष पूर्व हुआ था। सनातनधर्मके पुराणोंके अनुसार युगभेदकी बात सुनकर उनमेंसे बहुतेरे नाक-भौं सिकोड़नेसे बाज नहीं आते थे।

परंतु नृतत्त्व, पुरातत्त्व, भूगर्भ आदि शास्त्रोंकी तथा भौगोलिक और ऐतिहासिक नाना प्रकारकी वैज्ञानिक गवेषणाके फलस्वरूप क्रमशः यह निश्चयपूर्वक प्रमाणित हो गया है तथा और भी हो रहा है कि केवल ६००० वर्ष ही नहीं, पृथ्वीकी सृष्टि कोटि-कोटि वर्ष पूर्वकी घटना है। अन्ततः ४ लाख वर्ष पूर्व भी इस भूपृष्ठपर मनुष्यजातिका अस्तित्व था। ईसाई धर्मग्रन्थ बाइबिल (Old Testament) में वर्णित सृष्टि-रचनाकी बात बिल्कुल कल्पित और मिथ्या है। यह बात अब पाश्चात्य लेखकवृन्द भी स्वीकार करनेके लिये बाध्य हो गये हैं।

यद्यपि वर्णाश्रमी भारतीय वैदिक सभ्यताका उदय और भी अनेक युगोंपूर्व हुआ था, तथापि केवल ४००० वर्ष ईसवीपूर्वसे इसका आरम्भ यहाँ लिया गया है। इसका प्रवाह अविच्छिन्नरूपसे सुदीर्घ ६००० वर्ष पूर्वसे आजतक चला आ रहा है। केवल सुमेरीय ही नहीं, हिण्डाइत, (ग्रीक तथा इटालियन एत्रस्कन (Atruscan) लोग भी हिण्डाइत वंशके हैं) कासाइत, मिस्री, ईरानी, मेक्सिकन, माया तथा चीन और दक्षिणपूर्व एशियाके अन्यान्य देशोंकी सभ्यताके ऊपर भी वैदिक सभ्यताका प्रभाव स्पष्ट दीखता है।

इस रेखाचित्रसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि आधुनिक पाश्चात्य ऐतिहासिक मतसे भी पृथ्वीकी सारी सभ्यताओंमें भारतीय (वर्णाश्रमीय) सभ्यताने असाधारण और सर्वप्रधान स्थान अधिकृत किया है।

आधुनिक सभ्यता, जैसे इस्लामी, यूरोपीय, अमेरिकी आदि किस प्रकार थोड़े दिनकी है—यह भी इस चित्रसे स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः केवल स्थायित्वकी दृष्टिसे देखनेपर भी वर्णाश्रमके साथ अन्य किसी संस्कृतिकी तुलना नहीं हो सकती।

नीचे विभिन्न सभ्यताके उत्थान और पतनका समय, उद्भवस्थान, चरम उत्कर्षका समय, राज्य और संस्कृतिका विस्तार तथा जनसंख्याका एक संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। इस तालिकासे विभिन्न प्राचीन जातियोंकी सभ्यताकी तुलनात्मक प्रधानता, आपेक्षिक गुरुत्व तथा परिणति समझमें आ जायगी। भारतीय, हिब्रू और चीनकी सभ्यताके सिवा अन्य सभी सभ्यताएँ एकबारगी लुप्त हो गयी हैं।

* If we are Jewish or Semitic in our religion, we are Greek in our philosophy, Roman in our Politics, and Saxon in our morality.

(Maxmuller, What India can teach us ? p. 20)

प्राचीन सभ्यताओंका विवरण

	सभ्यता और जाति	काल ईसवी पूर्व	विस्तार	क्षेत्रफल, जन-संख्या	वर्तमान जाति-अवस्था
१	सुमेरियन	४०००–१८००	इराक (फारसकी खाड़ीसे दो सौ मील पश्चिम पर्यन्त)	एक लाख वर्ग मील। ४००००००	भारती (?) लुप्त
२	वर्णाश्रमी भारती	४००० वर्ष ई० बहुत पूर्वसे ही आज-तक चल रही है।	भारतखण्ड। बिलोचिस्तान, अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, खोतान, ब्रह्मदेश, यूनान, इन्दोचीन, सिंहल, पूर्वभारतीय और फिलिपाइन द्वीपसमूह। ईरान, एशिया माइनर, बैबिलन, मध्य और पूर्व अफ्रिका, मडागास्कर, माया (?)	१६ लाख वर्गमील २० करोड़	वैदिक, वर्तमान
३	मिस्री	२८००–२२०० २०००–१७०० १५८०–५२५ ३३२	मिस्र। पैलेस्टाइन, सीरिया, सूडान	३८६००० वर्ग मील। एक करोड़	सेमिटिक, लुप्त
४	बैबीलोनियन कासाइत	२१००–१६५० १६५९–१००० ६१२–५३९	ईराक और पार्श्ववर्ती देश	१ लाख वर्ग मील। ४० लाख	सेमिटिक वैदिक लुप्त
५	हिण्डाइत	२०००–६०० ई० पूर्व (११००)	एशिया माइनर। सीरिया, ग्रीस (?) एत्रस्कान (?)	४ लाख वर्ग मील। ५० लाख	काकेशीय वैदिक, लुप्त
६	मितान्नि	१७००–१५००	एशिया माइनर।	४ लाख वर्ग मील। ५० लाख	वैदिक, लुप्त
७	चीन	१५०० (?) वर्तमान कालतक चलती है	चीन, तिब्बत, तुर्किस्तान, अनाम आदि	३० लाख वर्ग मील। २५ करोड़	मंगोल, वैदिक, बौद्ध (वर्त्तमान)
८	हिब्रू	११०० से ७०	फिलिस्तीन।	६ हजार वर्ग मील। २० लाख।	सेमिटिक, वर्तमान
९	असीरियन	९१०–६१२	ईराक। सीरिया, फिलिस्तीन, निम्न मिस्र, अरब सीमान्त	१ लाख वर्ग मील। ४० लाख।	सेमिटिक, (लुप्त)
१०	ईरानी (मीड)	८५०–६५०	फारस। इराक, एशिया माइनर, सीरिया, मिस्र, ग्रीस, अफगा-निस्तान।	६ लाख वर्ग मील। १ करोड़।	वैदिक, काकेशियन (लुप्त)
११	ग्रीक	६००–१५०	ग्रीस। सिसली, एशिया माइनर, फारस, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान, मिस्र, सीरिया, पंजाब।	२४ हजार वर्ग मील। ३० लाख।	काकेशियन (लुप्त)
१२	रोमन	४००–६०० (?) ५०० तक	इटली। उत्तरी अफ्रीका, ग्रीस, इंगलैंड, रोमानिया, साइबेरिया, एशिया माइनर, फिलिस्तीन, मिस्र, ईराक।	१ लाख १६ हजार वर्ग मील। २ करोड़।	काकेशियन (लुप्त)
१३	मेक्सिकन	५००–१५००	मेक्सिको	७ लाख वर्ग मील। १ करोड़।	वैदिक (?)

वर्णाश्रमका विस्तार

ऐतिहासिक युगमें भी देखा जाता है कि वर्णाश्रमीय (वैदिक) सभ्यता * प्रायः एक हजार वर्ष पूर्वतक समस्त भारतखण्ड (जो रूसको छोड़कर प्रायः समस्त यूरोपके बराबर है), तथा बिलोचिस्तान, अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, खोतान, ब्रह्मदेश, यूनान, सिंहल, इन्दोचीन, पूर्वी द्वीप-पुञ्ज, फिलिपाइन द्वीपपुञ्ज आदि देशोंमें अल्पाधिक रूपमें व्याप्त थी। इन सब देशोंका क्षेत्रफल रोमन साम्राज्यकी अपेक्षा कदापि कम न था। रोमन साम्राज्यकी जनसंख्या १० । १२ कोटिसे अधिक न थी । उनमें क्रीत दासोंकी संख्या अधिक थी । भारतमें तो दास-प्रथा कभी थी ही नहीं। (**न तु आर्यस्य दासभावः— कौटलीये अर्थशास्त्रे**) वर्णाश्रमी जातिकी जनसंख्या किसी भी कालमें २० करोड़से कम न थी। इसमें अतिशयोक्ति नहीं है।

इसके सिवा प्रागैतिहासिक युगमें ईरान, एशिया माइनर (हिण्डाइत, तान्नि), इराक (सुमेरीय, कासाइत) आदि देश वैदिक वर्णाश्रमके साथ संश्लिष्ट थे, इसका प्रमाण प्राप्त होता है। सम्भवतः प्राचीन मेक्सिको और माया सभ्यता भी वैदिक संस्कृतिके द्वारा प्रभावित थी। ईसाकी दूसरी शताब्दीके बाद चीन, जापान, मध्य एशिया आदि देशोंने बौद्ध-धर्म और उसके साथ थोड़ा-बहुत भारती आचार-व्यवहारको ग्रहण किया । पूर्व अफ्रिका, मडागास्कर द्वीप आदि देश भी वैदिक विचारधारासे प्रभावित हुए थे।

भारत चिरकालसे स्वाधीन रहा

इस देशकी कोई प्राचीन कहानी या साहित्य घुणाक्षर-न्यायसे भी इङ्गित नहीं करता कि प्राचीन कालमें यह भारती जाति कभी पराजित या पराधीन हुई थी। पहले कह चुके हैं कि भारतमें आर्य-अभियान बिल्कुल मनगढंत कहानी है। मेधातिथि (नवम शताब्दी) ने अपनी मनुस्मृतिकी टीकामें आर्यावर्त्तके विषयमें लिखा है—

आर्या वर्तन्ते पुनः पुनरुद्भवन्ति आक्रम्याक्रम्यापि न चिरं तत्र म्लेच्छाः स्थातारो भवन्ति ।

सचमुच ग्रीक, कुशान, शक, हूण, अरब, तुर्क, मुगल, अंग्रेज आदि म्लेच्छ जातियोंने गत दो सहस्र वर्षों-तक बार-बार स्वर्णप्रसू भारतभूमिपर आक्रमण करके अधिकार किया। परंतु अन्ततः इस आर्यभूमिमें वे स्थायीरूपसे नहीं रह सके। तथापि क्षत्रिय वीरोंने कभी अधर्मयुद्ध नहीं किया, वे सदा ही धर्मयुद्ध करते आ रहे हैं।

धर्मोन्मत्त अरबोंने अपेक्षाकृत थोड़े ही समयमें फारस, एशिया माइनर, मिस्र, उत्तर अफ्रिका, स्पेन, पुर्तगाल, यहाँतक कि इटलीके कुछ भागको भी अधिकारमें कर लिया था। परंतु सातवीं शताब्दीसे आक्रमण करके भी बारहवीं शताब्दीके अवसानतक मुसल्मान भारतमें विशेष सुविधा प्राप्त करके भी उठ नहीं सके।

सारा भारत कभी मुसल्मानोंके अधीन नहीं हुआ। १३२० ई० (चित्तौड़ और पश्चात् दक्षिण विजय करने) के बाद १३३५ ई० (१३३६ ई० में विजयनगरका अभ्युदय तथा इसके पहले ही चित्तौड़ स्वाधीन हो गया था) तक प्रायः २५ वर्ष (कश्मीर, उड़ीसा, आसाम आदि बादमें) भारतका अधिकांश भाग पठानोंके हाथमें आ गया था। १५७० ई०से १७२० ई० तक, लगभग १५० वर्ष मुस्लिम राज्यकी चरम उन्नतिका काल है। निश्चय ही १६७४ ई०में शिवाजी स्वाधीन राज्यसिंहासनपर अभिषिक्त हुए थे। राजस्थान, मध्यप्रदेश, काठियावाड़, उड़ीसा, केरल आदि बहुत-से देशोंमें हिंदू राजा मुस्लिम शासन-कालमें भी कभी स्वाधीन और कभी अर्द्ध-स्वाधीन रहे।

इसके बाद मरहठे लोग उत्तरमें अटकसे लेकर दक्षिणमें तंजोरतक तथा पूर्वमें पुरीसे लेकर पश्चिममें बम्बई तक राज्यविस्तार करनेमें समर्थ हुए । पानीपतके तीसरे युद्धमें पराजित होनेपर भी १८१८ ई० तक उनकी शक्ति अक्षुण्ण बनी रही।

१८१८ ई०से अंग्रेजोंने भारतके अधिकांश स्थानोंपर प्रभाव फैलाया। १८७७ ई०में विक्टोरिया भारतकी सम्राज्ञीके पदपर अभिषिक्त हुई । १८७७ ई०से १९४७ ई०तक, ७० वर्ष अंग्रेजी शासनकी चरम उन्नतिका काल कहा जाता है। परंतु भारतके एक तिहाई भागपर देशी राजाओंका स्वशासन था, यह याद रखना होगा । १९४७के बाद,

---

* डा० नीरजाकान्त चौधरी—'बहिर्भारते वैदिकसभ्यता', 'देवायन' द्रष्टव्य हैं।

पाकिस्तान बन जानेपर भी हिंदू भारत पुनः एक स्वाधीन शक्तिके रूपमें अधिकारारूढ़ हुआ है।

भारतके इतिहासकी आलोचना करनेपर देखा जाता है कि पठान (१३१०–३५) और मुगल (१५७०–१७२०) कालमें १७५ वर्ष, तथा ब्रिटिश (१८४९–१९४७) कालमें प्रायः १०० वर्ष; गत १५०० वर्षोंमें इन्हीं कुल २७५ वर्षोंमें भारतके अधिकांश भाग विधर्मी विदेशियोंके अधीन थे। इसके पहले सुदीर्घ प्रायः ६००० वर्षोंमें भारतकी कभी ऐसी अवस्था देखनेमें नहीं आती। छः हजार वर्षोंमें केवल २७५ वर्षकी पराधीनता दौर्बल्यका परिचायक नहीं है।

सांस्कृतिक स्वाधीनता ही यथार्थ स्वाधीनता है—

स्वाधीनताका अर्थ केवल राजनीतिक स्वाधीनता नहीं है। सच्ची स्वाधीनता है सांस्कृतिक स्वाधीनता। भारतने इस दीर्घकालतक सांस्कृतिक और धर्मगत स्वाधीनतापर डटे रहनेके कारण यथार्थरूपमें कभी भी स्वाधीनताका त्याग नहीं किया। राजनीतिक स्वाधीनता एक बार जानेपर किसी भी समय लौटा ली जा सकती है, परंतु धर्म और संस्कृति एक बार चली जानेपर उसे लौटा लाना किसी भी जातिके जीवनमें प्रायः असम्भव है। दृष्टान्तस्वरूप अफगानिस्तान प्रायः १००० ई० तक पूर्णतः हिंदू था। गजनीमें यादव क्षत्रिय और काबुलमें तथा (उद्भाण्डपुर) ओपाहिंदमें ब्राह्मण राजा थे। सुबुक्तगीनने ही पहले कन्दहारको विजय किया। उसके पुत्र महमूदके द्वारा जयपाल और आनन्दपाल पराजित हुए। गोर राज्य भी पराजित हुआ और वहाँके तथा सीमान्तके लोगोंको बलात् मुसलमान बनाना शुरू किया गया।* आज अफगानिस्तानमें प्रायः ९९ प्रतिशत मुसल्मान हैं। उनको राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त है, परंतु वर्णाश्रमकी सांस्कृतिक स्वाधीनता उनकी सदाके लिये छिन गयी।

भारतवासी हिंदू यदि पूर्णतः मुसल्मान या ईसाई हो गये होते तो राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करनेपर क्या उनको कोई लाभ होता?

* Sultan Mahmud now wanted to fight with the Ghorians, who were infidels at that time. Suri, their chief, was killed in the war, and his son was taken prisoner. The country of Ghore was annexed to that of the Sultan, and the population there of converted to Islam." (Hamidulla—Mustafi's Tarikh-i-Gusida, Ewott. P. 65)

अन्य सभ्यताओंके साथ तुलना। जन्मगत वर्णभेद पराजयका कारण नहीं है

संसारकी विभिन्न सभ्यताओंका इतिहास तुलनात्मक ढंगसे अध्ययन करनेपर ज्ञात होता है कि कोई भी जाति निरंवच्छिन्न रूपसे स्वाधीनताका उपभोग नहीं कर सकी है। ब्रिटेन पहले रोमन लोगोंके अधीन था, पश्चात् क्रमशः केल्ट, मूट, थांगल, सैक्सन, डेन आदि वैदेशिक जातियोंके द्वारा पराजित और पराधीन हुआ है। १०६६ ई० में प्रकृतितः डेन वंशके फ्रांसीसी और जर्मन लोगोंने इंगलैंडको विजय किया। उसके बाद कोई उनको भगा न सका। तबतक इंगलैंडके सब लोग ईसाई नहीं हुए थे। अष्टम हेनरीके समयतक फ्रांसीसी इंगलैंडकी राजभाषा थी। वर्तमान जर्मन राजवंश ब्रिटेनमें अधिष्ठित है। क्रमशः जेता और विजेता मिश्रित होकर एक ईसाई जातिमें परिणत हो गये हैं; ब्रिटेनके प्राचीन निवासी और उनकी सभ्यताके दृष्टिकोणसे देखनेपर वे आज भी पराधीन हैं और उनकी सभ्यताका कोई चिह्न नहीं रह गया है।

प्रबल पराक्रमी जर्मन लोग कई राज्योंमें बँटे थे। ऑस्ट्रिया और फ्रांसकी अधीनता उनको १८१५ ई० तक बीच-बीचमें स्वीकार करनी पड़ी थी। १८७० ई० में जर्मन-साम्राज्यकी स्थापना हुई। १९१८ और १९४५ ई० में उनकी पराजय हुई। वर्तमान कालमें उनके देशका अधिकांश विदेशियोंके प्रभुत्वमें है।

प्राचीन ग्रीस एक छोटा-सा (२४००० वर्गमील) देश था। वह भी अनेक छोटे-छोटे राज्यों और जातियोंमें विभक्त था। एथेन्स एक बड़ा नगरराज्य था। उसकी जनसंख्या तीन लाखसे अधिक न थी, बहुत लोग दास थे। नागरिक पचास हजारसे अधिक न थे। ४९० ई० पूर्वसे बहुत दिनोंतक ग्रीसके अन्तर्गत थिसिली, मक्दूनिया (Macedon), सारा ग्रीक द्वीपसमूह तथा एशिया माइनरके ग्रीक उपनिवेश फारसवालोंके अधीन रहे। १९४ ई० पूर्वसे १४६ ई० पूर्वके बीच सारा ग्रीस देश रोमन लोगोंके आधिपत्यमें हो गया। ग्रीकलोग निहत हुए तथा दास बनाये गये। ३२५ ई०में जब कान्स्टैन्टिनेपुलमें पूर्व रोमक साम्राज्यकी राजधानी स्थापित हुई, उस समय ग्रीक-सभ्यताका नामोनिशान मिट गया था। प्राचीन ग्रीक-सभ्यताकी आयु प्रायःछः सौ

वर्ष अथवा हजार वर्षसे कदापि अधिक न थी ।* सिकन्दर वस्तुतः ग्रीक न था। उसने केवल तत्कालीन ईरान साम्राज्य अथवा उससे कुछ अधिक राज्य विजय किया था। परंतु उसका साम्राज्य १५/२० वर्षसे अधिक न टिका। ग्रीस १५वीं सदीसे (१४५३ ई०) १९वीं सदीतक तुर्कोंके अधीन रहा। गत महायुद्धमें जर्मन लोगोंने कई वर्षोंतक ग्रीसको अपने अधिकारमें कर रक्खा था।

प्रबल पराक्रमी रोमन जातिका अभ्युदय और पतन प्रायः ४०० ई० पूर्वसे ५०० ई० तक एक हजार वर्षके भीतर ही घटित हुआ था। गथ, विसिगथ, हूण, भाण्डाल आदि जातियोंने रोमन साम्राज्यको विनष्ट कर दिया। ईसाकी छठी शताब्दीमें प्राचीन रोमन नामकी कोई चीज नहीं रह गयी थी। उसके बाद कई शताब्दियोंतक इटली फ्रांसीसी, मुसल्मान, ऑस्ट्रियन आदि नाना जातियोंके अधीन रहा। १८७० ई०में वर्तमान इटलीने स्वाधीनता प्राप्त की। गत महायुद्धमें इटली मित्र राष्ट्रोंसे पूर्णतः पराजित हो गया था।

चंगेजखाँ और उसके वंशजोंने (१२२८–६०) चीनसे यूरोपमें रूसपर्यन्त विजय प्राप्त की थी। हलाकूखाँने बगदाद जीतकर तत्कालीन खलीफाके साथ सारे नगर-निवासियोंकी हत्या की थी। यह मङ्गोल साम्राज्य पृथिवीके इतिहासमें सबसे बड़ा था। चंगेजके वंशजोंने बादमें इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया। बाबर चंगेजके दौहित्र-वंशज तैमूरका उत्तराधिकारी था। स्पेन और पुर्तगाल भी प्रायः ७०० वर्षोंतक मुसल्मानोंके (मूरोंके) अधीन रहा।

याद रखनेकी बात है कि उपर्युक्त देशोंमेंसे बहुत-से देश क्षेत्रफलमें भारतखण्डकी तुलनामें बहुत छोटे हैं, इनकी जनसंख्या बहुत कम है। ब्रिटिश, जर्मन, ग्रीक, रोमन, चीन, अरब, रूस, स्पेन आदि जातियाँ वर्णाश्रमसे बाहर हैं; अफ्रिका, अमेरिका या ऑस्ट्रेलियामें भी जन्मगत जातिभेद कभी न था। फिर भी वर्णभेदके अभावमें भी ये जातियाँ तथा अन्य युद्धलोलुप जातियाँ बारंबार पराभूत हुई हैं। बहुतेरी जातियोंकी सभ्यता और धर्म सदाके लिये लुप्त हो गया है। उनका नाममात्र इतिहासके पन्नोंमें रह गया है।

अतएव जातिभेद या वर्णाश्रम भारतकी पराजयका कारण नहीं है। बल्कि वर्णाश्रमके व्यवहारके कारण ही भारती जाति संसारके इतिहासमें एक अमर संस्कृति लेकर आज भी गौरवके साथ खड़ी है। केवल एक हजार वर्ष अथवा उससे भी कम समयमें जो जातियाँ—जैसे ग्रीस, रोम, बैबिलन आदि—अभ्युदय, चरम उत्कर्ष और विनाशको प्राप्त हो गयीं, निश्चय ही उनकी संस्कृति और धर्म, अथवा राजनीतिक और सामाजिक ढाँचा किसी प्रकारसे भी वरणीय मानना ठीक नहीं है।

वर्णाश्रमी भारती जातिके अमरत्वका गुप्त रहस्य क्या है ? क्यों मृतप्राय होकर भी यह विनाशको प्राप्त नहीं हुई ?

वर्णाश्रमकी जीवनी शक्तिका अक्षय स्रोत ब्रह्मचर्य है।

स्थानाभावके कारण वर्णाश्रमी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाकी कुछ ही विशिष्टता नीचे आलोचित हो रही है।

खट्वाक्षेपे। (पाणिनि २।१।२६)

—इस सूत्रमें वर्णाश्रमी ऐतिह्यका एक मूल रहस्य छिपा हुआ है। द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालक पाँचसे पच्चीस वर्षकी अवस्थातक गुरुगृहमें ब्रह्मचर्य पालन करते थे। उस समय भूमि-शयन, एक समय भिक्षान्न-भोजन, गुरुकी निष्कपट सेवा, वेद-पाठ और अपरा विद्याके साथ-साथ ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये चेष्टा—ये त्रिवर्णके अवश्य-कर्त्तव्य थे। शूद्र बालक भी घरपर रहते हुए अपने अधिकारानुसार इस उच्च आदर्शका अनुसरण करते थे। परनारी और परपुरुषका स्पर्श तो क्या, उनके प्रति दृष्टिपात—यहाँतक कि चिन्तन भी वैदिक जातिका वर्जनीय अपराध था।

विवाहके बाद ही खाटपर शयन करते थे। पति-पत्नी वैवाहिक जीवनमें भी ब्रह्मचर्यका पालन करें, यही शास्त्रका आदेश है। स्त्री भोग्या नहीं, वह अनन्यताका प्रतीक

---

* A man (Philip) who not only is no Greek, and in no way akin to the Greeks, but is not even a barbarian from a respectable country – no, a pestilent fellow of Macedon, a country from which we never get even a decent slave. Demosthnese, Philippies, the Macedonians, were an Aryan people very closely akin to the Greeks." (H. G. Wells, Outline of History, p. 345)

अतएव फिलिपका पुत्र सिकन्दर यथार्थमें ग्रीक नहीं हो सकता।

अर्द्धाङ्गिनी है, यज्ञमें पत्नी है, धर्म-कर्ममें सहधर्मिणी है। प्रकृत ब्रह्मचारी महीनेमें पर्व-दिनोंको छोड़कर केवल एक दिन सहवास करे तो गर्भाधान होगा ही। उसके बाद ऋतुदर्शनपर्यन्त दोनों ही ब्रह्मचर्य-पालन करें तो विवाहित जीवनमें १५/२० बारसे अधिक पुरुष-स्त्रीका सहवास न हो सकेगा। यही वर्णाश्रमी गृहस्थका ब्रह्मचर्य है, यह असिधारा-व्रतकी अपेक्षा भी कठिन है। पहले चारों वर्णोंके गृहस्थ ऐसा ही करते थे, इस आदर्शका नाममात्र भी अन्यत्र कहीं संसारमें न था।

क्षत्रिय और ब्राह्मणके वानप्रस्थ अथवा ब्राह्मणके नैष्ठिक ब्रह्मचर्य या संन्यासकालमें भूमिशयन अवश्यमेव करनेका विधान था। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जगज्जननी श्रीसीताजीके साथ कुश-शय्यापर शयन करते थे, यह रामायणसे जाना जाता है।

इस आजीवन ब्रह्मचर्यके फलस्वरूप स्त्री-पुरुषका स्वास्थ्य अटूट बना रहता था और अमित शक्ति प्राप्त होती थी। अध्यात्म-राज्यमें भी वे लोग सहज ही अग्रसर हो सकते थे।

गुरुवाद

'आज्ञा गुरूणामविचारणीया' (कालिदास) गुरुसेवा वर्णाश्रमकी एक अनन्य विशेषता थी। पिता-माता, गुरुजन, आत्मीय आदि, शिक्षाचार्य तथा सर्वोपरि दीक्षाचार्यके प्रति आज्ञाकारिता अन्य किसी समाजमें ऐसी नहीं पायी जाती; स्त्रीका परम गुरु और देवता पति है। श्रीराम और भीष्मके समान पितृभक्ति अन्य किसी देशके उपन्यासमें भी नहीं है। शास्त्र और गुरुके आदेशका बिना विचारे पालन, नियमानुवर्तिता जबतक रही, भारतीय जाति उच्छृङ्खल न हो सकी।

वर्णाश्रमका प्रकृत गौरव। मोक्षका साधन

सेमिटिक (यहूदी, ईसाई और मुसल्मान) मतसे पुरुषको छोड़कर किसी जीवको—यहाँतक कि नारीको भी आत्मा नहीं होती; क्योंकि हौवा (Eve) की सृष्टि आदमके पंजरके हाड़से हुई। मनुष्यका जन्म इनके शास्त्रानुसार एक ही बार होता है। यहूदी मतसे परलोककी कोई बात जानी नहीं जाती। ईसाई और मुसल्मानके मतानुसार इस जन्मके आचरणका फल अनन्त स्वर्ग या अनन्त नरक है। सेमिटिक दर्शनमें आत्मा और देहका सम्बन्ध प्रायः अविच्छेद्य है। मृत्युके बाद शवदेह सावधानीसे पवित्र भूमिमें गाड़ दी जाती है; क्योंकि अन्तिम निर्णयके समय सारे मृतव्यक्ति उठ खड़े होंगे। उस निर्णयके फलस्वरूप धार्मिक लोग (उनमें ईसाई और मुसल्मानके सिवा दूसरे लोग न होंगे) अनन्त कालतक स्वर्ग भोग करेंगे। पापी लोग अनन्त कालतक नरक भोगेंगे। सेमिटिक धर्मके अनुसार ईश्वर स्वर्गमें रहता है; जिस प्रकार जीवका पुनर्जन्म नहीं होता, उसी प्रकार ईश्वरका अवतार भी नहीं होता। जीव और ईश्वरमें बहुत अन्तर है।

वर्णाश्रम-धर्म पुनर्जन्म और कर्मफलवादके सिद्धान्त-पर अवलम्बित है। इसका मुख्य सिद्धान्त है कि यह जड देह पाञ्चभौतिक और नश्वर है। देह आत्मा नहीं है। आत्मा अविनाशी है। एक परमात्मा ही अनेक रूप धारण करके लीला कर रहा है। जीव ही शिव है, वर्णाश्रम-धर्मका अन्तिम लक्ष्य है—शिवत्वकी प्राप्ति।

संचित कर्म, अदृष्टसे जीवके इहजन्मका प्रारब्ध-भोग होता है। परंतु इसी जन्ममें शास्त्रानुसार आचरण करके अपने-अपने अधिकारके अनुसार निष्काम कर्म करते रहनेपर पाप-पुण्य दोनोंसे मुक्ति मिल जाती है। संचित कर्मकी राशि श्रीभगवान्‌की उपासनाके द्वारा क्षय हो जाती है। श्रीभगवान्‌के नाम-रूपका आश्रय लेना पड़ता है। पहले स्थूल बहिरङ्ग देवमूर्त्तिकी पूजा करके मनुष्य, क्रमशः अन्तरङ्ग मनसे सूक्ष्म पूजाका अधिकारी होता है, उसके द्वारा क्रमशः पराभक्तिका उदय होता है।

'तुम मेरे हो, मैं तुम्हारा हूँ'—यह द्वैत सिद्धान्त है। 'तुम और मैं एक हूँ'—इसकी उपलब्धि अद्वैतवादमें अभ्यस्त होनेपर स्वतः होती है। द्वैत-अद्वैतके परे पहुँचनेपर मुक्ति मिलती है।

जन्म-जन्मान्तरके चक्रसे उद्धार पाना मनुष्यजीवनका परम और चरम लक्ष्य है। वर्णाश्रम इसीकी साधनाका पथ दिखलाता है। अवर्ण, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण-शरीर, इस क्रममुक्तिके पथमें सोपान-सदृश हैं।

भारतमें आज भी ऐसे ब्राह्मण और साधु हैं, जिन्होंने ब्रह्म-साक्षात्कार कर लिया है। कलिकालमें अब भी शास्त्रानुसार चलनेपर भगवान्‌का दर्शन असम्भव नहीं है।

वर्णाश्रमकी श्रेष्ठता

(१) **समाज-व्यवस्था**—जन्मगत वर्णभेद वैदिक-कालीन है, अर्वाचीन नहीं है । वंशगत प्रभाव (Hereitry) तथा पारिपार्श्विक अवस्था (Environment), इन दोनोंमें कौन प्रधान है, इसको लेकर तर्कका अवसर रहनेपर भी, वर्णाश्रम-समाजमें जन्मद्वारा जाति और व्यवसाय आदि पहलेसे ही निश्चित रहता है। पारिपार्श्विक अवस्थाकी उन्नति करके छोटे आँवलेको बड़ा बना सकते हैं, किंतु आँवलेके वृक्षसे फजली आम पैदा करना असम्भव है। गधेको घोड़ा नहीं बनाया जा सकता। बबूलके पेड़के काँटेको लुप्त करनेपर भी उसको चन्दन नहीं बना सकते । वर्णाश्रममें इन दोनोंका अपूर्व समन्वय घटित होता है। विभिन्न वर्णोंके कर्म-विभाग कर दिये गये हैं, उनमें प्रतियोगिता नहीं है। परंतु एक-एक वर्णके भीतर धनी-दरिद्र सभी समाजकी दृष्टिमें समान हैं। और इसमें प्रत्येकका व्यक्तित्व स्वाभाविक रीतिसे उन्नत करना सम्भव है। वंशानुक्रमसे वृत्ति निश्चय होनेके कारण एक ओर जहाँ सामाजिक शान्ति थी, वहाँ दूसरी ओर कर्म-कौशलमें भी वृद्धि हुई थी।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था वैदिक है। वेदमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्यान्य जातियोंका उल्लेख प्राप्त होता है। 'पञ्चजन' शब्दका अर्थ है निषाद-पञ्चम या चार वर्ण। अर्थात् वर्णबाह्य या हरिजन उस समय भी थे।

'ब्राह्मो जातौ', 'क्षत्राद् घः', 'राजश्वशुराद् यत्' आदि पाणिनीयके सूत्रोंसे प्रमाणित होता है कि जन्मद्वारा वर्णभेद वैदिक युगसे है । व्यक्ति-विशेषके गुण या कर्मके द्वारा जातिनिर्णय असम्भव है तथा वर्णाश्रममें यह कभी न था। शूद्रोंकी संतान वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण हुई है अथवा वैश्यसंतान क्षत्रिय और ब्राह्मण हुई है, यह उल्लेख भारतके सुदीर्घ इतिहासमें कहीं नहीं मिलता। अवश्य ही सत्ययुगमें कुछ क्षत्रिय विशेष कारणसे अथवा तपस्याके बलसे उसी जन्मसे ब्राह्मण हो गये थे।

विवाह-विच्छेद, पत्यन्तर-ग्रहण अथवा विधवा-विवाहका एक भी उदाहरण वर्णाश्रमके इतिहास या साहित्यमें प्राप्त नहीं होता । सती नारी वर्णाश्रम-समाजकी एक प्रधान विशेषता है । यहाँ पति-पत्नीका मन्त्रविवाह होता है। इनका सम्बन्ध केवल देह या भोगके लिये नहीं होता; सदाके लिये, जन्म-जन्मान्तरके अनन्त भूमासुखके लिये होता है। स्वयं जगज्जननी मूलप्रकृति माता, स्त्री, बहिन, कन्या, पुत्रवधूके रूपमें हमारे घरमें लीला करती है।

किसी भी सेमिटिक धर्ममें देवीका अस्तित्व नहीं है* । विवाहरूपमें पति-पत्नीका दैहिक मिलन एक अवश्यकरणीय व्यापार है । वेश्या-संतान या जारज-संतान समाजसे बहिर्भूत नहीं होते । पाश्चात्त्य देशमें विवसना नारी-नृत्य strip tease आदि खुल्लमखुल्ला होते हैं । भारतके बाहर सब देशोंमें अबाध सांकर्य स्वाभाविक परिणति है।

वर्णाश्रमके नैतिक आदर्श जगत्में सर्वश्रेष्ठ हैं। इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

(२) **भाषा और साहित्य**—वर्णाश्रमी भारती जातिकी भाषा देववाणी संस्कृत है। इसकी वर्णमालामें स्वर और व्यञ्जन मिलाकर ५० (वस्तुतः ६४) अक्षर हैं, जो अति विज्ञानसङ्गत और सुसमीचीन रूपमें श्रेणीबद्ध हैं। प्रत्येक ध्वनिका उच्चारण इसी भाषामें सम्भव है; जैसा लिखा जाता है, वैसा ही उच्चारण किया जाता है । यही संस्कृतकी विशेषता है। सेमिटिक वर्णमाला पूर्ण नहीं है और मनमाने ढंगसे पढ़ी जाती है। हिब्रूमें स्वरवर्ण प्रायः थे ही नहीं। ग्रीक भाषामें २४ अक्षर थे, दो हजार वर्षोंके बाद भी अंग्रेजीमें केवल २६ अक्षर हैं, कोई विशेष उन्नति नहीं हुई है। चीन आदि देशोंमें वर्णमाला नहीं है, चित्रद्वारा शब्दोंका भाव घोषित होता है।

संस्कृत व्याकरण भी वैज्ञानिक रीतिसे गठित है । पाणिनीय व्याकरण संसारमें सबसे पुराना और सर्वश्रेष्ठ व्याकरण है।†

---

* "Note the absence of mother Goddesses in such strongly patriarchal societies as Judea, Islam and protestant christendam."

(Durant," Life of Greece,"—P. 178, F. N.)

रोमन कैथलिक लोग ईसाकी माता मेरीकी उपासना करते हैं, किंतु वह ईश्वरकी शक्ति नहीं है।

† The Grammar of Panini is one of the most remarkable literary works that the world has ever seen, as no other country can produce any grammatical system at all comparable to it, either for originality of plan, or analytical subtlety."

(Sir M. Williams "Indian Wisdom, P. [illegible])"

सुविशाल वैदिक साहित्य ११३१ शाखाओंमें विभक्त था। वेदसंहिता और उपनिषद् ब्रह्मविद्याके मूल हैं। ब्रह्मचर्य और मेधाके बलसे ब्राह्मण लोगोंने आजतक चारों वेदोंको कण्ठस्थ कर रक्खा है। 'शतावधानी' पुरुष भारतमें अब भी देखनेमें आते हैं। स्मृति-शक्तिकी उन्नति जैसी भारतमें हुई थी, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं हुई।

एक लाख श्लोकोंका महाभारत संसारमें सर्वोत्कृष्ट और बृहत्तम धर्म-ग्रन्थ है। स्कन्दपुराण (८१००० श्लोक) और पद्मपुराण (५५००० श्लोक) जान पड़ता है कि द्वितीय-तृतीय स्थान रखते हैं। संस्कृत भाषामें प्रायः एक हजार महाकाव्योंके नाम अब भी सुने जाते हैं। प्रत्येक वर्ष और भी लिखे जाते हैं। अंग्रेजी भाषामें केवल एक—मिल्टनकृत पाराडाइज लास्ट ('Paradise lost') महाकाव्य है। वह भी अभी तीन सौ वर्ष पहलेका लिखा हुआ है। उसकी कथावस्तु (Old Testment) के आदम और हौवाकी काल्पनिक सेमिटिक कहानी है। पाश्चात्य सभ्यतामें महापुरुषोंका अभाव है, महाकवि भी पैदा नहीं हुए। कालिदासने संस्कृत भाषामें श्रेष्ठ दृश्यकाव्य (शाकुन्तल) और महाकाव्य रघुवंशका प्रणयन किया है। अर्थात् वे विश्वकी श्रेष्ठ भाषाके श्रेष्ठ कवि हैं।

(३) आहार और शौचाचार—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।' (छान्दो० उप०) शास्त्रका आदेश है कि आहार सात्त्विक और सेव्य हो। पाकशाला भी एक यज्ञशाला है। आहार भी केवल उदरपोषण नहीं है, वह यज्ञमें आहुति है। स्नान करके मन्त्रपाठके बाद पवित्र भावसे मौन होकर इष्ट मन्त्रका जप करते-करते आहार करना होता है। भुक्त द्रव्यसे शरीर-मन-बुद्धि सब गठित होते

"The Grammar of Panini Stands supreme among the grammars of the world. × × It stands forth as one of the most splendid achievments of human invention and industry."
(Sir W. W. Hunter, Imperial Gazetteer of India, 'India' P. 214)

सप्तम शताब्दी ईसवी पूर्व ग्रीसदेशमें लिपिका व्यवहार नहीं होता था। प्लेटो और अरस्तूके समयमें भी ग्रीक व्याकरणमें केवल विशेष्य और क्रियापद थे। सर्वनाम, कारक आदिकी विशेषता ग्रीकलोग बहुत दिनोंके बाद जान पाये।

हैं। इसी कारण शास्त्र जिस-किसीके हाथका या साथमें बैठकर जलपान और भोजन करनेका निषेध करता है। इसमें घृणाकी कोई बात नहीं है। यह आत्मरक्षाका कवच मात्र है। वर्णाश्रमी सभ्यताके बाहर शुचि-अशुचि या स्पृश्यास्पृश्यकी धारणा भी नहीं है।

'शूद्राणामनिरवसितानाम्।' (२।४।१०) पाणिनिके इस सूत्रमें सत्-शूद्र और असत्-शूद्रमें भेद किया गया है। असत् शूद्र यदि किसी धातुके पात्रमें भोजन करता है तो वह पात्र माँजनेसे भी शुद्ध नहीं होता। इस सूत्रसे प्रमाणित होता है कि 'स्पृश्यास्पृश्य-विवेक' प्राचीन कालसे है।

भारतीय जातिकी आहारप्रणाली संसारमें सर्वश्रेष्ठ है। कुछ शताब्दीपूर्व यूरोपमें साधारण लोग चीनीका व्यवहार नहीं करते थे; क्योंकि भारतको छोड़कर और कहीं ईखकी खेती नहीं होती थी। आज भी पाश्चात्य जातियोंका भोजन मुख्यतः अंडा, मुर्गी तथा गौ और सूअरका मांस है। यह पकाया या झुलसाया होता है। मसाला, नमक और काली-मिर्चका चूर्ण साथ होता है। नाना प्रकारका मद्य प्रधान पेय है। यूरोप और अमेरिकामें मसालेदार तरकारी या रसदार तरकारी लोग बनाना जानते ही नहीं। घी और तेलका व्यवहार ही नहीं होता। इसके बदलेमें चर्बी व्यवहार करते हैं। पोलाव, खिचड़ी, दलिया, झोल, अचार, शाक, पापड़, रोटी, कुंजी, निमकी, सिंघाड़ा, कचौड़ी, पायसान्न, दही, अमावट, संदेश, रसगुल्ला, कलाकन्द, पेड़ा, बरफी, अनारदाना आदि सैकड़ों प्रकारके सुस्वादु व्यञ्जन पाश्चात्य देशोंमें अभीतक अज्ञात हैं। चीन-जापान आदि अञ्चलोंमें भी आहारकी व्यवस्था निकृष्ट है।

स्वच्छताके विषयमें भी वर्णाश्रमी जाति सर्वाग्रगण्य है। ब्राह्मणादिकी त्रैकालिक स्नान-संध्या आदिके नियम (त्रिषवणम्) आज भी बहुत लोग करते हैं। भारतके बाहर मलत्यागके बाद भी जल और मृत्तिका-शौच या वस्त्रपरिवर्तन अज्ञात है, लघुशङ्काके बादकी तो बात ही क्या है! भोजनके बाद मुँह धोना तो दूर रहा, एक शताब्दी पहले दाँत धोनेकी प्रथा भी पाश्चात्य देशोंमें न थी। वहाँके होटलोंमें स्नानकी व्यवस्था दुर्लभ है। बहुधा एक टबके साबुनके जलमें बारी-बारीसे बहुतसे लोग स्नान करते हैं। वहाँ नंगे होकर स्नान करना लज्जाकी बात नहीं है। जापानमें स्त्री-पुरुष एक स्थानमें नंगे होकर स्नान करते हैं।

हमने यह देख लिया कि वर्णाश्रम (वैदिक सनातन) धर्म अनादि कालसे भारतमें प्रतिष्ठित है और एक प्रकारसे अजर-अमर है। क्या राजनीतिक, क्या ऐतिहासिक, क्या इहलौकिक और क्या पारलौकिक—किसी भी दृष्टिकोणसे देखने-पर यह संसार भरमें केवल प्राचीनतम ही नहीं, बल्कि सर्वश्रेष्ठ भी है। आज भी भारतमें सती नारी और ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण हैं। वर्णाश्रमको मिटा देनेपर मुक्तिका मार्ग सदाके लिये अवरुद्ध हो जायगा। यह बात भूलनेसे काम न चलेगा।

भारतीय वर्ण-धर्मका स्वरूप और महत्त्व

सनातनधर्मकी वर्ण-विभाग-व्यवस्था समाज-शरीरकी स्वस्थता तथा सर्वाङ्गीण उन्नतिके लिये अत्यन्त ही उपयोगी और परमावश्यक है तथा यह मानवरचित है भी नहीं। वर्ण-धर्मकी रचना भगवान्‌के द्वारा हुई है। स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

(गीता ४ । १३)

'गुण और कर्मोंके विभागसे चारों वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—मेरे द्वारा ही सृजन किये हुए हैं।' भारतके राग-द्वेष-शून्य, सर्वसुहृद्, दिव्यदृष्टिप्राप्त, त्यागी त्रिकालज्ञ महर्षियोंने भगवान्‌के द्वारा सृष्ट इस सत्यका प्रत्यक्ष किया और इसी सत्यपर समाजका निर्माण करके उसे सुव्यवस्थित, शान्ति-शीलमय, सर्वोदय-प्रयासी, सुखी, कर्म-प्रवण, स्वार्थदृष्टिशून्य और सुरक्षित बना दिया। इस वर्ण-विभाग-रचनाका कहीं कोई पक्षपात नहीं है। न किसीके लिये रियायत है, न किसीके स्वत्वका अपहरण है। सबका कल्याण ही इसका लक्ष्य है। सामाजिक सुव्यवस्थाके लिये मनुष्यके चार विभाग सभी देशों और सभी कालोंमें आवश्यक हैं और सभीमें किसी-न-किसी प्रकारसे ये चार भाग रहे हैं और रहते भी हैं। अवश्य ही सर्वसुखाभिलाषी ऋषियोंके देश इस भारतवर्षमें ये जिस सुव्यवस्थित रूपमें रहे, वैसे कहीं नहीं रहे।

समाजमें धर्मकी स्थापना और रक्षाके लिये एवं समाज-को सुखी बनाये रखनेके लिये, जहाँ समाजकी जीवन-पद्धति-में कोई बाधा उपस्थित हो वहाँ प्रलयके द्वारा उस बाधाको दूर करनेके लिये, कर्मप्रवाहके भीषण भँवरको मिटानेके लिये, उलझनोंको सुलझानेके लिये और धर्मसंकट उपस्थित होनेपर समुचित व्यवस्था देनेके लिये परिष्कृत और निर्मल मस्तिष्ककी आवश्यकता है। धर्मकी और धर्ममें स्थित समाजकी भौतिक आक्रमणोंसे रक्षा करनेके लिये बाहुबलकी आवश्यकता है। मस्तिष्क और बाहुका यथायोग्य रीतिसे पोषण करनेके लिये धनकी और अन्नकी आवश्यकता है एवं उपर्युक्त कर्मोंको यथायोग्य सम्पन्न करानेके लिये शारीरिक परिश्रमकी आवश्यकता है।

इसीलिये समाज-शरीरका मस्तिष्क ब्राह्मण है, बाहु क्षत्रिय है, ऊरु वैश्य है और चरण शूद्र है। चारों एक ही समाज-शरीरके चार अनिवार्य आवश्यक अङ्ग हैं और एक-दूसरेकी सस्नेह और सजग सहायतापर सुरक्षित और जीवित हैं। घृणा और अपमानकी तो बात ही क्या है, इनमेंसे किसीकी भी तनिक भी अवहेलना नहीं की जा सकती। न इनमें कहीं कोई नीच-ऊँचकी ही कल्पना है। अपने-अपने स्थान और कार्यके अनुसार चारों ही बड़े हैं। चारोंका ही महत्त्व और गौरवपूर्ण स्थान है। एकका अभाव सबको अपंग बना देता है। ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबल या श्रमबलसे समाजको जीवनदान देता है। चारोंकी ही पूर्ण उपयोगिता है। इनकी उत्पत्ति भी एक ही भगवान्‌के शरीरसे हुई है—ब्राह्मणकी उत्पत्ति भगवान्‌के श्रीमुखसे, क्षत्रियकी बाहुसे, वैश्यकी ऊरुसे और शूद्रकी चरणोंसे हुई है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(ऋ० सं० १० । ९० । १२)

परंतु इनका यह अपना-अपना बल तथा कार्य न तो स्वार्थ-सिद्धिके लिये है और न किसी दूसरेको दबाकर स्वयं ऊँचा बननेके लिये ही है। समाज-शरीरके आवश्यक अङ्गोंके रूपमें इनका योग्यतानुसार कर्म-विभाग है और यह है केवल धर्मके पालने-पलवानेके लिये ही। ऊँच-नीचका भाव न होकर यथायोग्य कर्म-विभाग होनेके कारण ही चारों वर्णोंमें एक शक्ति-सामञ्जस्य रहता है। कोई भी किसीकी न अवहेलना कर सकता है न किसीके न्याय्य अधिकारपर आघात कर सकता है। इस कर्मविभाग और कर्माधिकारके सुदृढ़ आधारपर रचित यह वर्ण-धर्म ऐसा सुव्यवस्थित है कि

इसमें शक्ति-सामञ्जस्य अपने-आप ही अक्षुण्ण रहता है। स्वयं भगवान्‌ने और धर्मनिर्माता ऋषियोंने प्रत्येक वर्णके कर्मोंका पृथक्-पृथक् स्पष्ट निर्देश करके तो सबको अपने-अपने धर्मका निर्विघ्न पालन करनेके लिये और भी सुविधा कर दी है और स्वकर्मका पूरा पालन होनेसे शक्ति-सामञ्जस्यमें कभी बाधा आ ही नहीं सकती।

यूरोप आदि देशोंमें स्वाभाविक ही मनुष्य-समाजके चार विभाग रहनेपर भी निर्दिष्ट नियम न होनेके कारण शक्ति-सामञ्जस्य नहीं है। इसीसे कभी ज्ञान-बल सैनिक-बलको दबाता है और कभी जन-बल धन-बलको परास्त करता है। भारतीय वर्णविभागमें ऐसा न होकर सबके लिये पृथक्-पृथक् कर्म निर्दिष्ट हैं।

ऋषिसेवित वर्ण-धर्ममें ब्राह्मणका पद सबसे ऊँचा है; वह समाजके धर्मका निर्माता है, उसीकी बनायी हुई विधिको सब मानते हैं। वह सबका गुरु और पथप्रदर्शक है; परंतु वह धन-संग्रह नहीं करता, न दण्ड ही देता है और न भोग-विलासमें ही रुचि रखता है। स्वार्थ तो मानो उसके जीवनमें है ही नहीं। धनैश्वर्य और पद-गौरवको धूलके समान समझकर वह फल-मूलोंपर निर्वाह करता हुआ सपरिवार शहरसे दूर वनमें रहता है। दिन-रात तपस्या, धर्मसाधन और ज्ञानार्जनमें लगा रहता है और अपने शम, दम, शौच, तितिक्षा, क्षमा, सरलता आदिसे समन्वित महान् तपोबलके प्रभावसे ज्ञाननेत्र प्राप्त करता है और उस ज्ञानकी दिव्य ज्योतिसे सत्यका दर्शनकर उस सत्यको बिना किसी स्वार्थके सदाचारपरायण, साधु-स्वभाव पुरुषोंके द्वारा समाजमें वितरण कर देता है। बदलेमें कुछ भी चाहता नहीं। समाज अपनी इच्छासे जो कुछ दे देता है या भिक्षासे उसे जो कुछ मिल जाता है, उसीपर वह बड़ी सादगीसे अपनी जीवनयात्रा चलाता है। उसके जीवनका यही धर्ममय आदर्श है।

क्षत्रिय शौर्य, वीर्य, तेज, धृति, दक्षता, धर्म-युद्धमें अचल प्रवृत्ति तथा दान आदि गुणोंसे समन्वित होकर सबपर शासन करता है। अपराधीको दण्ड और सदाचारीको पुरस्कार देता है। दण्डबलसे दुष्टोंको सिर नहीं उठाने देता और धर्मकी तथा समाजकी दुराचारियों, चोरों, डाकुओं और शत्रुओंसे रक्षा करता है। क्षत्रिय दण्ड देता है, परंतु कानूनकी रचना स्वयं नहीं करता। राग-द्वेषशून्य विद्वान् ब्राह्मणके बनाये हुए कानूनके अनुसार ही वह आचरण करता है। ब्राह्मणरचित कानूनके अनुसार ही वह प्रजासे नियत तथा धर्मसम्मत कर वसूल करता है और उसी कानूनके अनुसार प्रजाहितके लिये व्यवस्थापूर्वक उसे व्यय कर देता है। कानूनकी रचना ब्राह्मण करता है और धनका भंडार वैश्यके पास है। क्षत्रिय तो केवल विधिके अनुसार व्यवस्थापक और संरक्षक मात्र है।

धनका मूल वाणिज्य, पशु और अन्न—सब वैश्यके हाथमें है। वैश्य धन उपार्जन करता है और उसको बढ़ाता है, किंतु अपने लिये नहीं। वह ब्राह्मणके ज्ञान और क्षत्रियके बलसे संरक्षित होकर धनको सब वर्णोंके हितमें उसी विधानके अनुसार व्यय करता है। न शासनपर उसका कोई अधिकार है और न उसे उसकी आवश्यकता ही है; क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय उसके वाणिज्यमें कभी कोई हस्तक्षेप नहीं करते, स्वार्थवश उसका धन कभी नहीं लेते, वरं उसकी रक्षा करते हैं और ज्ञान-बल एवं बाहु-बलसे ऐसी सुव्यवस्था करते हैं कि जिससे वह अपना व्यापार सुचारु रूपसे निर्विघ्न चला सकता है। इससे उसके मनमें कोई असंतोष नहीं है और वह प्रसन्नताके साथ ब्राह्मण और क्षत्रियका प्राधान्य मानकर चलता है एवं मानना आवश्यक भी समझता है; क्योंकि इसीमें उसका हित है। वह प्रसन्नतासे राजाको कर देता है, ब्राह्मणकी सेवा करता है और विधिवत् आदर तथा स्नेहपूर्वक शूद्रको भरपूर अन्न-वस्त्रादि देता है।

अब रहा शूद्र। शूद्र स्वाभाविक ही जन-संख्यामें अधिक है। शूद्रमें शारीरिक शक्ति प्रबल है, परंतु मानसिक शक्ति कुछ कम है। अतएव शारीरिक श्रम ही उसके हिस्सेमें रक्खा गया है। और समाजके लिये शारीरिक शक्तिकी अनिवार्य आवश्यकता भी है। परंतु इसकी शारीरिक शक्तिका मूल्य किसीसे कम नहीं है। शूद्रके जन-बलके ऊपर ही तीनों वर्णोंकी प्रतिष्ठा है। यही आधार है। पैरके बलपर ही शरीर चलता है। अतएव शूद्रको तीनों वर्ण अपना प्रिय अङ्ग मानते हैं। उसके श्रमके बदलेमें वैश्य प्रचुर धन देता है, क्षत्रिय उसके धनकी रक्षा करता है और ब्राह्मण उसको धर्मका—भगवत्प्राप्तिका मार्ग दिखाता है। न तो स्वार्थ-सिद्धिके लिये कोई वर्ण शूद्रकी वृत्ति हरण करता है, न स्वार्थवश उसे कम पारिश्रमिक देता है और न उसे अपनेसे नीचा मानकर किसी प्रकारका दुर्व्यवहार ही करता है।

सब यही समझते हैं कि सब अपना-अपना स्वत्व ही पाते हैं, कोई किसीपर उपकार नहीं करता। परंतु सभी एक-दूसरेकी सहायता करते हैं और सब अपनी उन्नतिके साथ उसकी उन्नति

करते हैं और उसकी उन्नतिमें अपनी उन्नति तथा अवनतिमें अपनी अवनति मानते हैं। ऐसी अवस्थामें जन-बलयुक्त शूद्र संतुष्ट रहता है, चारोंमें कोई किसीसे ठगा नहीं जाता, कोई किसीसे अपमानित नहीं होता। एक ही घरके चार भाइयोंकी तरह एक ही घरकी सम्मिलित उन्नतिके लिये चारों भाई प्रसन्नता और योग्यताके अनुसार बाँटे हुए अपने-अपने पृथक्-पृथक् आवश्यक कर्तव्यपालनमें लगे रहते हैं। यों चारों वर्ण परस्पर—ब्राह्मण धर्म-स्थापनके द्वारा, क्षत्रिय बाहुबलके द्वारा, वैश्य धनबलके द्वारा और शूद्र शारीरिक श्रमबलके द्वारा एक-दूसरेकी सेवामें लगे रहकर समाजकी सेवा करते हुए निरन्तर समाजकी शक्तिको बढ़ाते रहते हैं। न तो सब एक-सा कर्म करना चाहते हैं और न अलग-अलग कर्म करनेमें कोई ऊँच-नीच भाव ही मनमें लाते हैं। इसीसे उनका शक्ति-सामञ्जस्य रहता है और धर्म उत्तरोत्तर बलवान् तथा पुष्ट होता है। यह है वर्ण-धर्मका स्वरूप।

इस प्रकार गुण और कर्मके विभागसे ही वर्णविभाग बनता है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि मनमाने कर्मसे वर्ण बदल जाता है। वर्णका मूल जन्म है और कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है। इस प्रकार जन्म और कर्म—दोनों ही वर्णमें आवश्यक हैं। केवल कर्मसे वर्णको माननेवाले वस्तुतः वर्णको मानते ही नहीं। वर्ण यदि कर्मपर ही माना जाय तब तो एक दिनमें एक ही मनुष्यको न मालूम कितनी बार वर्ण बदलना पड़ेगा। फिर तो समाजमें कोई शृङ्खला या नियम ही न रहेगा। सर्वथा अव्यवस्था फैल जायगी। परंतु भारतीय वर्णधर्ममें ऐसी बात नहीं है। यदि केवल कर्मसे वर्ण माना जाता तो युद्धके समय ब्राह्मणोचित कर्म करनेको तत्पर हुए अर्जुनको गीतामें भगवान् क्षत्रिय-धर्मका उपदेश न करते। मनुष्यके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार ही उसका विभिन्न वर्णोंमें जन्म हुआ करता है। जिसका जिस वर्णमें जन्म होता है, उसको उसी वर्णके निर्दिष्ट कर्मोंका आचरण करना चाहिये; क्योंकि वही उसका स्वधर्म है और स्वधर्मका पालन करते-करते मर जाना भगवान् श्रीकृष्णने कल्याणकारक बतलाया है—'**स्वधर्मे निधनं श्रेयः।**' साथ ही परधर्मको 'भयावह' भी बतलाया है। यह ठीक ही है; क्योंकि सब वर्णोंके स्वधर्म-पालनसे ही सामाजिक शक्ति-सामञ्जस्य रहता है और तभी समाज-धर्मकी रक्षा और उन्नति होती है। स्वधर्मका त्याग और परधर्मका ग्रहण व्यक्ति और समाज दोनोंके लिये ही हानिकर है। यह है प्राचीन भारतके वर्णधर्मका स्वरूप और महत्त्व!

खेदकी बात है, विभिन्न कारणोंसे आर्यजातिकी यह महान् वर्ण-व्यवस्था इस समय शिथिल हो चली है। आज कोई भी वर्ण अपने धर्मपर आरूढ़ रहना नहीं चाहता। सभी मनमाने आचरणपर उतर रहे हैं और इसका कुफल भी प्रत्यक्ष ही दिखायी दे रहा है। प्राचीन कालमें राजाओंमें युद्ध हुआ करते थे, समाजमें कोई युद्ध या कलह नहीं होता था। सब अपने-अपने वर्णोचित कार्यमें लगे रहते थे। सबकी जीविका चलती थी। वैर-विरोधका कोई कारण ही नहीं बनता था। अब भी यदि वर्णव्यवस्थाको मानकर सब लोग स्ववर्णोचित कार्य करने लगें तो न किसीके स्वत्वका हरण हो और न कलह-क्लेश ही हो। समाजमें शान्ति-सुखका साम्राज्य छा जाय। भगवान् सबको सुबुद्धि दें।

संतका धर्म-आचार

पर-निंदा मिथ्या करि मानै, सुनै न कहै काउ तें बात।
बुरी लगै परसंसा अपनी, पर की सुनत सदा हरषात॥
छोटन तें बिनम्रता बरतै, करै बड़न कौ सुचि सत्कार।
निज सुख भूल, देत सुख पर कौं होय परम सुख सहज उदार॥
सहज दयालु रहै दीनन पर, करै सबनि सौं निश्छल प्रेम।
करै न किंचित् कपट, निभावै सुद्ध सरलता कौ नित नेम॥
बाचा-काछ रखै नित बस में, रहै परिग्रह-संग्रह-हीन।
करै न रति जग के परपंचनि, रहै सदा हरि-सुमिरन-लीन॥
निज-हित पर तें जैसो चाहै, करै सबनि सौं सो ब्यवहार।
देखैं सदा सबनि में हरि कौं, यहै संत को धर्माचार॥

भारतीय चार आश्रमोंके धर्म और पालनीय नियम

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम शास्त्रोंमें बताये गये हैं। इनके पालनीय नियमोंका उपनिषद्, स्मृति, महाभारत आदिके अनुसार नीचे संक्षेपमें विवरण दिया जाता है।

ब्रह्मचर्य

यथाशक्ति अध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह अपने धर्ममें तत्पर रहे, विद्वान् बने, सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने अधीन रक्खे, मुनिव्रतका पालन करे, गुरुका प्रिय और हित करनेमें लगा रहे, सत्य बोले तथा धर्मपरायण एवं पवित्र रहे। नित्य संध्या-वन्दन करे। नित्य स्नान करके देवता-ऋषियोंका तर्पण, देवताओंका पूजन तथा अग्न्याधान करे। मधु, मांस, सुगन्धित द्रव्य, माला, रस, स्त्री, सभी प्रकारके आसव तथा प्राणियोंकी हिंसा सर्वथा त्याग दे। शरीरमें उबटन (साबुन-तेल) आदि न लगाये, आँखोंमें सुरमा न डाले, जूता तथा छाता व्यवहार न करे। काम, क्रोध और लोभ न करे। नाच-गान तथा वाद्यसे दूर रहे। जुआ, कलह, निन्दा, झूठ आदिसे बचे, स्त्रियोंकी ओर सकाम दृष्टिसे न देखे, कभी उनका आलिङ्गन न करे, किसीकी निन्दा न करे। सदा अकेला सोये। कभी वीर्यपात न करे। अनिच्छासे स्वप्नमें कहीं वीर्यपात हो जाय तो स्नानकर सूर्यका पूजन करके तीन बार 'पुनर्मा' इस ऋचाका पाठ करे। भोजनके समय अन्नकी निन्दा न करे। भिक्षाके अन्नको हविष्य मानकर ग्रहण करे, गुरुकी आज्ञा लेकर एक बार भोजन करे। एक स्थानपर रहे, एक आसनसे बैठे और नियत समयमें भ्रमण करे। पवित्र और एकाग्रचित्त होकर दोनों समय अग्निमें हवन करे। सदा बेल या पलाशका दण्ड लिये रहे। रेशमी अथवा सूती वस्त्र या मृगचर्म धारण करे। ब्रह्मचारी मूँजकी मेखला पहने, जटा धारण करे, प्रतिदिन स्नान करे, यज्ञोपवीत पहने, वेदके स्वाध्यायमें लगा रहे तथा लोभहीन होकर नियमपूर्वक व्रतका पालन करे।

गार्हस्थ्य

गृहस्थ-आश्रम ही चारों आश्रमोंका आश्रयभूत तथा मूल है। इस संसारमें जो कोई भी विधि-निषेधरूप शास्त्र कहा गया है, उसमें पारंगत विद्वान् होना गृहस्थ द्विजोंके लिये उत्तम बात है। गृहस्थ पुरुषके लिये केवल अपनी ही स्त्रीपर प्रेम रखना, सदा सत्पुरुषोंके आचारका पालन करना और जितेन्द्रिय होना परमावश्यक है। इस आश्रममें उसे श्रद्धापूर्वक पञ्च महायज्ञोंके द्वारा देवता आदिका यजन करना चाहिये। गृहस्थको उचित है कि वह देवता और अतिथिको भोजन करानेके बाद बचे हुए अन्नका स्वयं आहार करे। वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानमें संलग्न रहे। अपने वर्ण-धर्मके अनुसार निर्दोष अर्थका उपार्जन करके गृहस्थका पालन करे तथा अपनी शक्तिके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक यज्ञ करे और दान दे। मननशील गृहस्थको चाहिये कि हाथ, पैर, नेत्र, वाणी तथा शरीरके द्वारा होनेवाली चपलताका परित्याग करे अर्थात् इनके द्वारा कोई अनुचित कार्य न होने दे। यही सत्पुरुषोंका बर्ताव (शिष्टाचार) है। स्वच्छ वस्त्र पहने, उत्तम व्रतका पालन करे, शौच-संतोष आदि नियमों और सत्य-अहिंसा आदि यमोंके पालनपूर्वक यथाशक्ति लोकसेवा करता रहे। शिष्टाचारका पालन करते हुए जिह्वा और उपस्थको काबूमें रक्खे। सबके साथ मित्रताका बर्ताव करे। स्वयं सादगीसे रहकर सबका सदा हित-साधन करे। जन्मसे लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त यथायोग्य यथाविधि सब संस्कार करे। शास्त्रका अनुसरण करे। माता-पिता-कुटुम्ब आदिका आदरपूर्वक भरण-पोषण करे।

वानप्रस्थ

वानप्रस्थ मुनि सब प्रकारके संस्कारोंद्वारा शुद्ध होकर ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए घरकी ममता त्यागकर गाँवसे बाहर निकलकर जन-कोलाहलरहित शान्त स्थानमें निवास करे। प्रातः और सायंकालके समय स्नान करे। सदा वनमें ही रहे। गाँवमें फिर कभी प्रवेश न करे। अतिथिको आश्रय दे और समयपर उनका सत्कार करे। जंगली फल, मूल, पत्ता अथवा सावाँ खाकर जीवन-निर्वाह करे। बहते हुए जल, वायु आदि सब वनकी वस्तुओंका ही सेवन करे। अपने व्रतके अनुसार सदा सावधान रहकर क्रमशः उपयुक्त वस्तुओंका आहार करे। कभी आलस्य न करे। जो कुछ भोजन अपने पास उपस्थित हो, उसीमेंसे अतिथिको भिक्षा दे। नित्यप्रति पहले देवता और अतिथियोंको भोजन दे।

उसके बाद मौन होकर स्वयं अन्न ग्रहण करे। हल्का भोजन करे। मनमें किसीके साथ स्पर्धा न रक्खे, देवताओंका सहारा ले। इन्द्रियोंका संयम करे, सबके साथ मित्रताका बर्ताव करे। क्षमाशील बने और दाढ़ी-मूँछ तथा सिरके बालोंको धारण किये रहे। समयपर अग्निहोत्र और वेदोंका स्वाध्याय करे तथा सत्य-धर्मका पालन करे। शरीरको सदा पवित्र रक्खे। धर्म-पालनमें कुशलता प्राप्त करे। सदा वनमें रहकर चित्तको एकाग्र किये रहे। इस प्रकार उत्तम धर्मोंका पालन करनेवाला जितेन्द्रिय वानप्रस्थी स्वर्गपर विजय पाता है।

संन्यास

श्रेष्ठ संन्यासी नाम, गोत्र आदि तथा देश, काल, शास्त्रज्ञान, कुल, अवस्था, आचार, व्रत और शीलका विज्ञापन न करे। किसी भी स्त्रीसे बातचीत न करे। पहलेकी देखी हुई किसी भी स्त्रीका स्मरणतक न करे, उनकी चर्चासे भी दूर रहे तथा स्त्रियोंका चित्र भी न देखे। सम्भाषण, स्मरण, चर्चा और चित्रावलोकन—स्त्री-सम्बन्धी इन चार बातोंका जो मोहवश आचरण करता है, उसके चित्तमें अवश्य ही विकार उत्पन्न होता है और उस विकारसे उसका धर्म निश्चय ही नष्ट हो जाता है। तृष्णा, क्रोध, असत्य, माया, लोभ, मोह, प्रिय, अप्रिय, शिल्पकला, व्याख्यानमें योग देना, कामना, राग, संग्रह, अहंकार, ममता, चिकित्साका व्यवसाय, धर्मके लिये साहसका कार्य, प्रायश्चित्त, दूसरेके घरपर रहना, मन्त्र-प्रयोग, औषध-वितरण, विषदान, आशीर्वाद देना—ये सब संन्यासीके लिये निषिद्ध हैं।

संन्यासी स्वप्नमें भी कभी किसीका दिया हुआ दान न ले, दूसरेको भी न दिलाये और न स्वयं किसीको देने-लेनेके लिये ही प्रेरित करे। स्त्री, भाई, पुत्र आदि तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंके शुभ या अशुभ समाचारको सुनकर या देखकर भी संन्यासी कभी कम्पित (विचलित) न हो; वह शोक और मोहको सर्वथा त्याग दे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (किसी वस्तुका संग्रह न करना), उद्दण्डताका अभाव, किसीके सामने दीन न बनना, स्वाभाविक प्रसन्नता, स्थिरता, सरलता, स्नेह न करना, गुरुकी सेवा करना, श्रद्धा, क्षमा, इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह, सबके प्रति उदासीनताका भाव, धीरता, स्वभावकी मधुरता, सहनशीलता, करुणा, लज्जा, ज्ञान-विज्ञान-परायणता, स्वल्प आहार तथा धारणा—यह मनको वशमें रखनेवाले संन्यासियोंका विख्यात सुधर्म है। द्वन्द्वोंसे रहित, सत्त्वगुणमें सर्वदा स्थित और सर्वत्र समान दृष्टि रखनेवाला तुरीयाश्रममें स्थित परमहंस संन्यासी साक्षात् नारायणका स्वरूप है।

संन्यासी गाँवमें एक रात रहे और बड़े नगरमें पाँच रात; किंतु यह नियम वर्षाके अतिरिक्त समयके लिये ही है, वर्षामें चार महीनेतक वह किसी एक ही स्थानपर निवास करे। भिक्षु गाँवमें दो रात कभी न रहे। यदि रहता है तो उसके अन्तःकरणमें राग आदिका प्रसङ्ग आ सकता है। इससे वह नरकगामी होता है। गाँवके एक किनारे किसी निर्जन प्रदेशमें मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए निवास करे। कहीं भी अपने लिये मठ या आश्रम न बनाये। जैसे कीड़े हमेशा घूमते रहते हैं, उसी प्रकार आठ महीनोंतक संन्यासी इस पृथ्वीपर विचरता रहे। केवल वर्षाके चार महीनोंमें वह किसी एक स्थानपर, जो पवित्र जलसे घिरा हुआ और एकान्त-सा हो, निवास करे। संन्यासी सम्पूर्ण भूतोंको अपने ही समान देखता हुआ अन्धे, जड, बहरे, गूँगे और पागलकी तरह चेष्टा रखता हुआ पृथ्वीपर विचरण करे।

अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, सरलता, क्रोधका अभाव, दोषदृष्टिका त्याग, इन्द्रियसंयम और चुगली न खाना—इन आठ व्रतोंका सदा सावधानीके साथ पालन करे। इन्द्रियोंको वशमें रक्खे। पाप, शठता और कुटिलतासे सदा रहित होकर बर्ताव करे। खानेके लिये अन्न और शरीर ढँकनेके लिये वस्त्रके सिवा और किसी वस्तुका संग्रह न करे।

बुद्धिमान् संन्यासीको चाहिये कि न तो दूसरोंके लिये भिक्षा माँगे तथा न सब प्राणियोंके लिये दयाभावसे संविभागपूर्वक कभी कुछ देनेकी इच्छा ही करे। दूसरोंके अधिकारका अपहरण न करे। काम, क्रोध, घमंड, लोभ और मोह आदि जितने भी दोष हैं, उन सबका परित्याग करके संन्यासी सब ओरसे ममताको हटा ले। अपने मनमें राग और द्वेषको स्थान न दे। मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझे। प्राणियोंकी हिंसासे सर्वथा दूर रहे तथा सब ओरसे निःस्पृह होकर मुनिवृत्तिसे रहे। सबके साथ अमृतके समान मधुर बर्ताव करे, पर कहीं भी आसक्त न हो और किसी भी प्राणीके साथ परिचय न बढ़ावे। जितने भी कामना और हिंसासे युक्त कर्म हैं, उन सबका एवं लौकिक कर्मोंका न स्वयं अनुष्ठान करे और न दूसरोंसे कराये। सब प्रकारके पदार्थोंकी आसक्तिका त्याग करके थोड़ेमें संतुष्ट हो सब ओर विचरता रहे। स्थावर और जङ्गम सभी प्राणियोंके प्रति

समान भाव रक्खे। किसी दूसरे प्राणीको उद्वेगमें न डाले और स्वयं भी किसीसे उद्विग्न न हो। संन्यासीको उचित है कि भविष्यके लिये विचार न करे, बीती हुई घटनाका चिन्तन न करे और वर्तमानकी भी उपेक्षा कर दे।

नेत्रसे, मनसे और वाणीसे कहीं भी दोषदृष्टि न करे। सबके सामने और दूसरोंकी आँख बचाकर कोई बुरा काम न करे। जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटा ले।

मान-अपमानमें समान भावसे रहे। छहों ऊर्मियोंसे प्रभावित न हो। निन्दा, अहंकार, मत्सर (डाह), गर्व, दम्भ, ईर्ष्या, असूया (दोषदृष्टि), इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि छोड़कर, अपने शरीरको मुर्देके समान मानकर, आत्मासे अतिरिक्त दूसरी किसी भी वस्तुको बाहर-भीतर न स्वीकार करते हुए, न तो किसीके सामने मस्तक झुकाये, न यज्ञ और श्राद्ध करे, न किसीकी निन्दा या स्तुति करे। अकेला ही स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करता रहे। दैवेच्छासे भोजन आदिके लिये जो कुछ भी मिल जाय, उसीपर संतुष्ट रहे। न किसीका आवाहन करे न विसर्जन। न मन्त्रका प्रयोग करे, न मन्त्रका त्याग करे। ××××कोई उसका अपना घर या आश्रम न हो। जनशून्य भवन, वृक्षकी जड़, देवालय, घास-फूसकी कुटिया, अग्निहोत्रशाला, नदीतट, पुलिन (कछार), भूगृह (गुफा), पर्वतीय गुफा, झरनेके समीप, चबूतरे या वेदीपर अथवा वनमें रहे। जो संन्यासी निष्काम, निर्गुण, शान्त, अनासक्त, निराश्रय, आत्मपरायण और तत्त्वका ज्ञाता होता है, वह मुक्त हो जाता है—इसमें कोई संदेह नहीं है।

सनातन-धर्म

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि)

'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।'

'धरति विश्वम् इति धर्मः।' जो जगत्को अथवा जागतिक पदार्थमात्रको धारण करे, वह धर्म होता है। **'धृञ् धारणे'** (भ्वा० उ० अ०) इस धातुसे **'अर्ति-स्तु-सु-हु-सृ-धृ'** (१। १४०) इस उणादि सूत्रद्वारा मन् प्रत्यय करनेपर 'धर्म' शब्द बनता है। हमारी संस्कृतभाषामें जो नाम रक्खे जाते हैं, **'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि'** (सब नाम क्रियासे उत्पन्न होते हैं)—इस निरुक्तके नियमके अनुसार धातुसे बने हुए होते हैं। उनका मूल धातु हुआ करता है। अतः उस धातुका जो अर्थ होता है, वह उस शब्दमें भी प्रायः अनुस्यूत होता है।

यदि वह धातुप्रोक्त अर्थ उस शब्दमें सर्वांशमें घटे, तो वह यौगिक होता है। यदि बिल्कुल न घटे तो वह रूढ होता है। अर्थ होकर एकमें नियमित हो जाय, वह योगरूढ होता है। अतः 'धर्म' शब्द भी धातुप्रोक्त अर्थको धारण करता है। अतः इसे यौगिक वा योगरूढ माना जा सकता है।

फिर इस 'धर्म'का विशेषण 'सनातन' शब्द इस अर्थको और भी स्पष्ट करता है। **'सना भवः सनातनः।'** 'सना' एक अव्यय है, जिसका अर्थ है 'सदा'। जो सदा रहे, वह 'सनातन' होता है। **'सायं-चिरं-प्राह्णे-प्रगे अव्ययेभ्यः ट्युट्युलौ तुट् च'** (४। ३। २३) इस पाणिनिसूत्रसे 'सना' अव्ययको 'ट्युल्' प्रत्यय होकर अनुबन्धका लोप होकर **'युवोरनाकौ'** (पा० ७। १। १) इस सूत्रसे 'यु'का 'अन' होकर तुट्का आगम आनेपर **'सनातन'** शब्द बनता है।

अब 'सनातन-धर्म' का अर्थ हुआ—पदार्थमात्रका सदा रहनेवाला धर्म। पदार्थमात्रकी सदा सत्ता रखनेवाला—यह इसका परमार्थ हुआ। यह बात शास्त्रसिद्ध तो हुई ही, प्रमाणसिद्ध भी है, प्रत्यक्षसिद्ध भी है, अनुभवसिद्ध भी है।

'धर्म'का अर्थ 'शब्दशास्त्र'से तो हम बता ही चुके, अब इसे प्रमाणसे सिद्ध होता हुआ भी देखें। कृष्णयजुर्वेद (तैत्तिरीयआरण्यक) में 'धर्म'के विषयमें कहा गया है—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा
लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापमपनुदन्ति
धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति।

(१०। ६३)

'धर्म ही सम्पूर्ण जगत् अथवा जागतिक पदार्थमात्रको प्रतिष्ठित—स्थिर करनेवाला है। धर्मिष्ठके पास ही प्रजाजन जाते हैं। धर्मसे ही पाप दूर होता है। धर्ममें सब (पदार्थमात्र) की प्रतिष्ठा—स्थिरता वा सत्ता है। इसी कारण धर्मको सबसे बड़ा कहा गया है।

'धर्म' शब्दके विषयमें जिस बातको शब्दशास्त्रने बताया, वेदने भी उसके विषयमें वही बात बतलायी है। तभी धर्मको 'सनातन-धर्म' कहते हैं।

इस 'सनातन-धर्म'के दो विग्रह हैं। **'सनातनो धर्मः'** अथवा **'सनातनस्य धर्मः।'** सनातन (नित्य रहनेवाला) धर्म, अथवा सनातनका धर्म। प्रथम अर्थ तो पहले स्पष्ट हो ही चुका है। अब दूसरा अर्थ देखिये—सनातनका धर्म। सनातन परमात्माका नाम होता है; क्योंकि वे भी **'सना भवः सनातनः'**—नित्य होनेवाले होनेसे सनातन हैं। परमात्माका कभी जन्म नहीं कहा जा सकता, न कभी उस परमात्माको अपने पदसे रिटायर किया जा सकता है, न उसका कभी मरण हो सकता है। तब वह स्वतः 'सनातन' हुआ।

भगवद्गीतामें अर्जुन भगवान्से कहता है—**'त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे'** (११। १८) (तुम सनातन-धर्मके रक्षक हो, कभी नष्ट होनेवाले नहीं; इसलिये तुम 'सनातन' पुरुष हो)। **'योऽसौ अतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः'** (१। ७)—'मनुस्मृति'के इस पद्यमें भी परमात्माका नाम 'सनातन' कहा गया है। अथर्ववेद-संहितामें भी कहा है—**'यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम्'** (१०। ८। २२ शौ० सं०) (जो उच्चपद देनेवाले सनातनदेवकी उपासना करता है, [वह सुखी तथा अन्नयुक्त रहता है।] **'सनातनमेनमाहुः, उताद्य स्यात् पुनर्णवः'** (अथर्व० १०। ८। २३)—उस देवको सनातन (पुराणपुरुष वा नित्यपुरुष) कहते हैं; परंतु वह आज भी नया है।

इससे जब परमात्मा नित्य हुआ, तब उसका 'सनातन-धर्म' भी नित्य एवं अविकारी धर्म हुआ। उसमें परिवर्तन नहीं होता, वह एकरूपमें रहता है। अतः इस धर्मका रक्षक भी परमात्मा ही सिद्ध हुआ। तभी श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—**'त्वत्तः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्तव'** (३। १६। १८) (सनातनधर्मकी तुम्हारे अवतार रक्षा करते हैं)। महाभारतमें कहा गया है—**'सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम्'** (आश्वमेधिक० ९१। ३४) (सनातनधर्मका मूल वह सनातनपुरुष है)। **'सनातनोऽमृतो धर्मः'** (महाभारत वन० ३१३। ६६) (सनातन धर्म अमर है)।

फलतः जो शक्ति पृथिवीमें व्यापक होकर उसके पृथिवीत्वकी, जलमें स्थित होकर उसके जलत्वकी, तेज-वायु आदिमें स्थित होकर उसके तेजस्त्व और वायुत्व आदिकी रक्षा करती है; जिसके कारण सूर्य-चन्द्र-पृथिवी आदि अपने स्थानमें ठहरे हैं; वह शक्ति धर्म है।

'धर्म' शब्दकी शब्दशास्त्रसिद्धता तथा प्रमाणसिद्धता तो दिखलायी जा चुकी, अब उसकी प्रत्यक्षसिद्धता एवं अनुभव-सिद्धता भी देखिये। हमने जो वाक्य प्रारम्भमें दिया है, वह मनुस्मृतिका वचन है। पूरा वचन यह है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥
(८। १५)

नित्य रहनेवाला धर्म सनातन धर्म है। अतः जब किसी वस्तुका सनातन धर्म, जिससे वह वस्तु अपनी सत्ता रखती है—हटा दिया जायगा, तब वह वस्तु भी वह नहीं रहेगी; क्योंकि धर्मके विना धर्मीकी सत्ता नहीं रह जाती। इसे यों भी कहा जा सकता है कि धर्मके नष्ट करनेवालेको धर्म मार दिया करता है और धर्मके रक्षककी धर्म रक्षा करता है।

यह बात प्रत्यक्षसिद्ध होनेसे ठीक भी है और विज्ञान-सम्मत भी। अग्निका सनातन धर्म उष्णता एवं प्रकाश-प्रदान है। यदि उसकी उष्णता नष्ट हो जायगी तो अग्नि अग्नि न रह पायेगी, वह भस्म हो जायगी। हमें रोटी न खिलाकर अँधेरेमें ठोकरें ही खिलायेगी। जलका सनातन धर्म तरलता, शीतलता तथा प्यासका बुझाना है; जब यह उसका सनातन धर्म नष्ट होगा, तो जल जल ही न रहेगा, कीचड़ हो जायगा। हम उस अग्नि या जलसे कोई लाभ प्राप्त न कर सकेंगे।

इससे यह स्पष्ट है कि सनातन धर्म अविकारी है। यह बदल नहीं सकता। हाँ, देशकालानुसार अग्निकी प्रकटतामें प्रक्रियाभेद हो सकते हैं, जलको पृथिवीसे खींचनेमें देश-कालानुकूलतावश भेद हो सकते हैं; पर उसका सनातन धर्म नहीं बदल सकता। पहले 'दिये तले अँधेरा' होता था, अब 'दियेके ऊपर अँधेरा' हो गया है। पहले चकमकसे रगड़कर अग्नि निकाली जाती थी, फिर दियासलाईसे घिसकर अग्निको निकाला जाता रहा। अब 'लाइटर'से अग्नि निकालिये। पर उस अग्निका ऊपर जाना, प्रकाश-धर्म तथा उष्णता-धर्म कोई बदल नहीं सकता।

फलतः सनातन-धर्म भी मर नहीं सकता, बदल नहीं सकता। यदि हम इसे मारेंगे तो हम भी मरेंगे। यदि इसके स्वरूपको बदलेंगे तो हम भी वे न रहकर कुछ और हो

जायँगे, जिससे हमें कोई पहचान भी न सकेगा। इसीलिये इस धर्मका मुख्य आश्रय भी प्रमाण रक्खा गया है, तर्क नहीं। कारण यह है कि तर्क अप्रतिष्ठित होता है, बदलता रहता है; परंतु प्रमाण बदलता नहीं। प्रमाण भी इसमें परमात्माका वचन वेदरूपी रक्खा गया है, तथा परमात्मातक पहुँचे हुए ऋषि-मुनियोंके वचन स्मृति एवं पुराण रक्खे गये हैं। तर्क पुरुषकी विद्यासे उद्भावित होता है। श्रीयास्कने निरुक्तमें पुरुषकी विद्याको अनित्य बताया है; तब यदि धर्मको तर्कपर रक्खा जाय—प्रमाणपर, आगमपर न रक्खा जाय तो धर्म भी क्षण-क्षणमें परिणामकृतिक होकर नष्ट होनेवाला बन जाय।

न्यायशास्त्र तर्कशास्त्र माना जाता है; पर वह भी कोरे तर्कशास्त्रको न रखकर आगम (प्रमाण) को भी साथ ही रखता है। देखिये—न्यायको आन्वीक्षिकी विद्या कहते हैं। न्यायदर्शनमें 'आन्वीक्षिकी'का अर्थ किया गया है—

प्रत्यक्षागमाश्रितम् अनुमानं सा अन्वीक्षा।
प्रत्यक्षागमाभ्याम् ईक्षितस्य अन्वीक्षणम् अन्वीक्षा॥
तया प्रवर्तते इति आन्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्।

—प्रत्यक्ष और आगम (प्रमाण) का सहारा लिये हुए अनुमान (तर्क) को आन्वीक्षिकी कहते हैं। यह कहकर न्यायभाष्यकार स्पष्ट कहते हैं—

यत् पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः सः।
(१ । १ । १)

—जो तर्क प्रत्यक्ष एवं आगम (प्रमाण) से विरुद्ध हो, उसका नाम न्याय न होकर 'न्यायाभास' हुआ करता है।

इसका कारण यह है—**'तर्कोऽप्रतिष्ठः'** (महा० वन० ३१३ । ११७)—तर्कके पाँव नहीं रहा करते। इसी कारण न्यायशास्त्रमें कहा गया है—

तर्कः प्रमाणसहितो वादे साधनाय उपालम्भाय च अर्थस्य भवति।

(१ । १ । १)

—तर्क प्रमाणके साथ हो। केवल तर्कके लिये न्यायभाष्यकार कहते हैं—**'अयं तर्कस्तत्त्वज्ञानार्थः, न तत्त्वज्ञानमेव, अनवधारणात्। अनुजानाति अयं तर्कः। एकतरं धर्मं कारणोपपत्त्या, न तु अवधारयति, न निश्चिनोति।'**···(तर्क तत्त्वज्ञानका सहायक तो है, पर तत्त्वज्ञान नहीं है; क्योंकि यह निश्चय नहीं करा सकता।)**'सोऽयं तर्कः प्रमाणसहितो वादे प्रतिष्ठितः'** (१ । १ । ४०)—तर्कको प्रमाणसहित ही प्रयुक्त करना चाहिये।

इसीलिये श्रीभर्तृहरिने वाक्यपदीयमें कहा है—

न चागमाद् ऋते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम्॥
(१ । ३०)

धर्म तर्कसे स्थिर नहीं रहता, जबतक उसके साथ आगम-प्रमाण न हो। ऋषियोंका ज्ञान भी आगमके आश्रित होता है।

हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता।
अनुमान (तर्क) प्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः॥
(१ । ४२)

श्रीभर्तृहरि कहते हैं कि केवल तर्कप्रधान जो रहता है, वह उस अंधेकी भाँति है, जो ऊँचे-नीचे रास्तेमें हाथके स्पर्शके सहारे दौड़नेकी चेष्टा करे। ऐसे पुरुषका पतन अवश्यम्भावी है।

इसलिये महाभारतमें भी कहा गया है—**'शुष्कं तर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिस्मृती'** (वनपर्व २०० । ११४)—शुष्क तर्कको छोड़कर वेद एवं धर्मशास्त्रका अवलम्बन करो। इससे सनातन धर्मकी स्थितिकी व्याख्या हो गयी। इसी कारण दृष्टशास्त्र उपवेद आयुर्वेद भी कहता है—**तस्मात् तिष्ठेत्तु मतिमान् आगमे, न तु हेतुषु।** (सुश्रुत सं० सूत्रस्थान ४० । २१)—बुद्धिमान् व्यक्ति आगम (शास्त्र) का सहारा ले, तर्कोंका नहीं। इस सबका कारण यह है कि तर्कके पाँव नहीं होते। तर्काश्रित धर्म मरता-जन्मता रहेगा, परंतु प्रमाणाश्रित धर्म अमर रहेगा और धर्मीको भी अमर रक्खेगा।

इसी धर्ममें दैवीकर्म यज्ञ भी एक प्रमुख स्थान रखता है। जो उस कर्मको करता रहता है, मनुजीके शब्दोंमें वह सारे संसारको पाल रहा है—

दैवे कर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्।
(मनु० ३ । ७५)

यह ठीक भी है। यज्ञाग्निमें मन्त्राहुतिपूर्वक डाले हुए घृत आदि सूक्ष्म होकर सर्वत्र व्याप्त होकर संसारभरको आप्यायित करते हैं। इस दृष्टिसे सोचा जाय तो सनातन धर्म विश्वधर्म अथवा सार्वभौम धर्म है; यह सबका शुभ सोचता है, किसीका अप्रिय नहीं चाहता। यह कहता है कि 'स्वयं

भी जीओ और दूसरोंको भी जीने दो' इसीलिये इसे 'मानव-धर्म' भी कह सकते हैं। इसी धर्मका अवलम्बन करनेसे हमें अभ्युदय (स्वर्ग) तथा निःश्रेयस (मुक्ति) अथवा लौकिक उन्नति एवं पारलौकिक उन्नति प्राप्त होती हैं, जैसा कि महामुनि कणादने कहा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
(१।१।२)

इस धर्ममें मनुष्यमात्र अपनी सत्ताको स्थिर रख सकता है। संसारमें अपना अस्तित्व स्थिर रखते हुए अपनी उन्नति करना ही वास्तविक अभ्युदय हुआ करता है। अतः मनुष्य अपना वास्तविक अभ्युदय सनातन धर्ममें रहकर ही कर सकता है।

सनातन धर्म वैसे वैद्यकी भाँति नहीं है, जिसके पास केवल एक ही ओषधि हो और वह अपूर्ण हो। यह तो यथाधिकार सबकी व्यवस्था करता है। इसमें दूसरेके अधिकारको छीनकर दूसरेको देनेकी शिक्षा नहीं है। यहाँ तो प्रत्येक पुरुष अपनी-अपनी जातिमें शास्त्रनिर्दिष्ट अपने कर्तव्यका पालन करता हुआ भगवान्‌की आज्ञाको पूर्ण करता है। इसी सनातन धर्मकी शास्त्रीय व्याख्या हमने अपने 'श्रीसनातनधर्मालोक'* ग्रन्थ-मालामें करनेकी चेष्टा की है।

स हि धर्मः सनातनः। (महा० उद्योग० ८५।७)

यहाँ श्रीकृष्ण भगवान्‌को सनातन धर्म कहकर धर्मका आदर्शस्वरूप बताया गया है।

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥
(महाभारत)

इस प्रकार हम यदि उस भगवान्‌के धर्मको पालते रहेंगे। भगवान्‌की आज्ञा—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञाभङ्गान्मम द्वेष्यः स मद्भक्तोऽपि न प्रियः॥
श्रुतिस्मृती च विप्राणां चक्षुषी देवनिर्मिते।
काणस्तत्रैकया हीनो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः॥
(हारीतस्मृति २४)

—धर्मका स्वरूप बतानेवाले श्रुति-स्मृति और उनके उदाहरण-प्रत्युदाहरणभूत पुराणोंका अवलम्बन लेते रहेंगे, तब तो हम स्थिर रहेंगे; नहीं तो हमारी मृत्यु अनिवार्य ही हो जायगी।

सहिष्णुता-अहिंसाके रक्षक देवता

एक संत अपने एक साथी साधकके साथ कहीं जा रहे थे। रास्तेमें एक मनुष्य मिला, जो झूठे दोष लगाकर साधकको गालियाँ बकने लगा। कुछ समयतक तो साधकने उसकी गालियोंको सहा, पर अन्तमें उत्तेजित होकर वह भी गालियाँ देने लगा। दोनोंको लड़ते देखकर संत आगे बढ़ गये कि अब ये दोनों आपसमें निवट लेंगे। कुछ देर बाद साधक दौड़कर संतके पास आ गया और बोला—'महाराज! आप मुझे वहाँ उस दुष्टके पास अकेला छोड़कर क्यों चले आये?' संतने कहा—'तुम अकेले कहाँ रहे, तुमने भी दुष्ट हिंसा तथा गालियोंको साथी बना लिया। तभी उसे गाली देने तथा मारनेकी धमकी देने लगे। तब मैंने समझा कि अब इसको मेरी जरूरत नहीं है। दूसरे, मैंने यह भी देखा कि जब वह आदमी तुमको बुरी बुरी गालियाँ दे रहा था और तुम चुप थे, तब दस देवता तुम्हारी रक्षा कर रहे थे और उसका उत्तर भी ऐसा दे रहे थे, जिससे वह दबा जा रहा था। पर जब तुमने भी गाली बकना आरम्भ कर दिया, तब वे सब हट गये और मैं भी चला आया।'

* श्रीसनातनधर्मालोक ग्रन्थमालाके ९ पुष्प, जिनकी पृष्ठसंख्या ६ हजार है, प्रकाशित हो चुके हैं। दशम पुष्पकी योजना तैयार हो रही है। इस ग्रन्थमालामें सनातन धर्मको वेद, धर्मशास्त्र, पुराण, दर्शन आदिसे दुहकर साररूपमें रक्खा गया है। जो मँगाना चाहें वे 'स० ध० आलोक ग्रन्थमाला कार्यालय फर्स्ट बी० १९, लाजपतनगर, नई देहली-१४ से पत्रव्यवहार करें। विद्वानोंने उक्त ग्रन्थमालासे अपना परितोष व्यक्त किया है।

सनातन धर्म ही सार्वभौम-धर्म या मानव-धर्म है

(लेखक—श्रीनारायणजी पुरुषोत्तम सांगाणी)

सृष्टिकर्ता परब्रह्म परमात्मा श्रीहरि परम दयालु, कृपालु और समदृष्टि हैं। ऐसा होनेपर भी उनकी सृष्टिमें कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई पर-दुःखहारी परोपकारी है तथा कोई क्रूर अत्याचारी है—इस प्रकारकी विषमताका क्या कारण है? तथा प्रायः सारी सृष्टिपर भयानक संकटोंके पहाड़ क्यों टूट रहे हैं, क्यों घोर पीड़ाओंकी भीषण तरङ्गें उछल रही हैं? इस प्रकारकी विलक्षण स्थिति उत्पन्न होनेका कारण क्या है? ऐसे प्रश्न सहज ही उपस्थित हो सकते हैं।

सूक्ष्मबुद्धिसे तथा शास्त्रदृष्टिसे विचार करें तो परब्रह्म परमात्मा श्रीहरि तो आनन्दस्वरूप ही हैं। उनको क्रीड़ा करनेकी इच्छा हुई। क्रीड़ा अकेलेमें हो नहीं सकती थी, इसलिये उन्होंने विविध प्रकारकी सृष्टि आनन्द देने और आनन्द लेनेके लिये रच ली। सृष्टिके जीव व्यवस्थाका पालन करके इस लोकमें सुख भोगें तथा परलोकमें सदा-सर्वदा आनन्द प्राप्त कर सकें, इसके लिये जगत्‌के कर्ता परमात्माने अपना स्वरूप, सनातन धर्म' प्रकट करके वेद-शास्त्रके द्वारा आज्ञा—आदेश प्रदानकर उद्धारका अनुपम मार्ग दिखला दिया। जीव जबतक वेद-शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चला, तबतक स्वर्गसे भी बढ़कर सुख इस संसारमें भोग सका। परंतु जब भगवद्-आज्ञाका भङ्ग, उच्छेद या अवहेलना करके मनमानी रीतिसे बरतने लगा, तब दुःख-दारिद्र्य, अन्नाभाव, असह्य मँहगी, युद्ध-विप्लव, रोग-क्लेश आदि महासंकट आ उपस्थित हो गये, जिसे आज सब लोग प्रत्यक्ष देख और अनुभव कर रहे हैं। अब हमको विचार करना है कि उस सर्वोद्धारक ईश्वरस्वरूप सनातन धर्मका स्वरूप क्या है।

सनातन धर्मका भव्य और दिव्य सिद्धान्त

जिसके आधारपर सचराचर विश्व टिका हुआ है तथा सारे लोक नियममें बर्तते हैं, एवं जो इहलोकमें सुख-शान्ति और आनन्द प्रदानकर परलोकमें परमपद अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति कराता है, वह एकमात्र सनातन धर्म ही है। यह सनातन धर्म **ईश्वर-स्वरूप है; क्योंकि यह स्वयं ईश्वरके द्वारा प्रवर्तित है। जिस प्रकार ईश्वरका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, वैसे ही सनातन धर्मका भी आदि-अन्त नहीं है।** अर्थात् वह अनादि है, प्राचीन-से-प्राचीन है, सदा एक-सा चला आ रहा है, उसमें कभी परिवर्तन या विकार नहीं होता। इसी कारण वह सनातन धर्म कहलाता है। यह धर्म ईश्वरनिर्मित है, अतएव ईश्वर ही इसका स्वामी है। आसुरी वृत्तिके स्वार्थी, नास्तिक और निरङ्कुश लोग जब-जब सनातन धर्म या उसके अङ्गरूप वेदशास्त्रकी मर्यादा, वर्णाश्रम, भक्तजन, सती स्त्रियाँ, गौ तथा धर्मके सिद्धान्तोंपर आघात-प्रत्याघात करते हैं और धर्मपरायण लोग दुःख और उत्पीड़नके शिकार बनकर आर्तनाद करके पुकार उठते हैं, तब-तब जगन्नियन्ता ईश्वर अजन्मा होनेपर भी अवतार लेकर सनातन धर्मकी, धर्मज्ञानकी तथा गौओंकी रक्षा करके दुष्ट अधर्मियोंको दण्ड देकर पुनः धर्मकी संस्थापना करते हैं। अब सनातन धर्मके सिद्धान्तोंकी उत्कृष्टतापर विचार कीजिये—

सर्वेऽत्र सुखिनः भवन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

'प्राणीमात्र सुखी रहें, सब नीरोग रहें, सबका कल्याण हो, कभी किसीको दुःख न हो।'

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति॥

'जो परस्त्रीको माताके समान, परद्रव्यको मिट्टीके ढेलाके समान और प्राणिमात्रको अपनी आत्माके समान देखता है, वही ठीक देखता है।'

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

ईश्वर प्राणिमात्रके हृदयमें विराजमान है।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

'यह अपना है या पराया—ऐसा विचार छोटी बुद्धिवाले मनुष्यका होता है; परंतु विशाल हृदयवाले मनुष्यके लिये तो सारा जगत् ही अपना कुटुम्ब है।

संसारके सब लोगोंके लिये इस प्रकार श्रेष्ठ सद्भावना रखनेके कारण सनातन धर्म ही सार्वभौम धर्म अथवा

मानव-धर्म अर्थात् विश्वका उद्धार करनेवाला धर्म है और उसका अनुसरण करके मानवमात्र कृतार्थ हो सकता है।

सामान्य और विशेष धर्म

सनातन धर्मके अन्तर्गत सामान्य धर्म और विशेष धर्म निरूपण किये गये हैं—धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, सहनशीलता, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये मनुमहाराज-कथित दस सामान्य धर्मके लक्षण हैं। इनका आचरण सब जाति, धर्म या राष्ट्रके लोग कर सकते हैं। परंतु विशेष धर्म जो वेदमें तथा श्रीमद्भगवद्गीतामें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णने चारों वर्णोंके लिये निरूपण किये हैं, वे अत्यन्त रहस्यमय विशुद्ध धर्म केवल हिंदुओंके लिये ही अपने-अपने वर्णके अनुसार पालनीय हैं और उनका पालन करके हमें अपनी-अपनी संस्कृतिका, धर्मका, देशका तथा मानवमात्रका उत्कर्ष और उद्धार करना है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

भगवान् नारायणके मुखारविन्दसे ब्राह्मण, बाहुसे क्षत्रिय, ऊरुसे वैश्य और चरणोंसे शूद्र उत्पन्न हुए।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्॥

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि 'गुण और कर्मके विभागके अनुसार चार वर्णोंको मैंने सिरजा है। उनके कर्ता मुझ अविनाशी परमेश्वरको तुम अकर्ता ही जानो।'

इसी प्रकार लोगोंके श्रेय और प्रेयके लिये ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नामक चार आश्रमोंकी अनुपम व्यवस्था की गयी है। ब्राह्मण ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रममें रहकर ब्राह्मणधर्मका आचरण करे तो उसको ज्ञानबल, तपोबल, उपासनाबल तथा योगबलसे ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाता है। फिर सम्पूर्ण जगत् उसकी आज्ञामें रह सकता है। वह ब्राह्मण द्विजवर्णके बालकोंको अपने घर आश्रममें सदाचारी बनाकर अधिकारके अनुसार बिना एक पैसा भी लिये उन्हें निःशुल्क विद्यादान कर सकता है। ऐसा होनेपर आजकलके निर्माल्य गुलाम कर्मचारी तैयार करनेवाली शिक्षापद्धतिके पीछे जो प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये खर्च हो रहे हैं, वे बच सकते हैं। माता-पिता फीसके भारी बोझसे और स्वेच्छाचारिताके भारी डरसे बच सकते हैं।

क्षत्रिय धर्मशास्त्र, राजनीति तथा अस्त्र-शस्त्र-संचालनका ज्ञान प्राप्त करें तो धनुर्वेद तथा शक्ति-सामर्थ्यसे राज्य और प्रजाका रक्षण करके उच्छृङ्खल और अत्याचारी लोगोंको कठोर दण्ड देकर देशमें सुख-शान्तिका प्रसार कर सकते हैं। इससे सेनाके प्रबन्धमें जो करोड़ों-अरबों रुपये प्रतिवर्ष खर्च हो रहे हैं, वे बच सकते हैं। वैश्य यदि धर्म-ज्ञान तथा राजनीतिके साथ उद्योग-व्यवसाय, खेती-बारी तथा गायके रक्षण-पोषणका कार्य करके प्रचुर धन कमायें और फिर उस धनका उपयोग जहाँ तहाँ न करके धर्मात्मा ब्राह्मणोंके वेदाभ्यासमें, तत्त्वज्ञानके शोधन तथा प्रयोगके महत् कार्यमें, विद्यालयों, पाठशालाओं, धर्मशालाओं, अन्नक्षेत्रों, मन्दिरों, कूप-तड़ागों, बावड़ियों, गोशाला, अग्नि-होत्र, होम-हवन, सनातन धर्म तथा हिंदुओंकी रक्षामें उपयोग करें तो सनातन धर्मका पुनः उदय हो; और शूद्र तीनों वर्णोंकी सेवा करनेके साथ-साथ शिल्प-विद्याके अनुसार नाना प्रकारके गृह-उद्योग अपने अपने घर चलायें तो दारिद्र्य तुरंत दूर हो जाय।

वेद किसी मनुष्यकी कृति नहीं है। यह अपौरुषेय होनेके कारण साक्षात् भगवान् नारायणका ही स्वरूप है। वेदके कर्म, उपासना तथा ज्ञान—ये तीन काण्ड हैं। इन तीनों काण्डोंका आशय—मनुष्यमात्रको, जो दिन-रात शाश्वत सुख-शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति तथा दुःख-क्लेश और त्रासको निवारण करनेकी चेष्टा करते हैं, परम श्रेयका सत्य मार्ग दिखलाना है। भगवत्प्रीत्यर्थ यज्ञ-याग, होम-हवन करके, देवताओंको प्रसन्न करके जगत्के लोगोंको धन-धान्य-वैभव प्रदान करके स्वर्गका अधिकारी बनाना—यह कर्मकाण्डका विधान है। जगन्नाथ श्रीहरिकी अनन्य भक्ति श्रद्धापूर्वक करके भगवत्कृपा प्राप्त कराना—यह उपासनाकाण्डका आशय है और संसारके सब पदार्थों तथा प्रियसे प्रिय अपने शरीरतकको क्षणभङ्गुर, दुःखदायी और नाशवान् मानकर, सबकी मोह ममता त्यागकर शाश्वत सुख-शान्ति-आनन्दके धाम एकमात्र सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि ही हैं, जहाँ सूर्य-चन्द्र प्रकाश नहीं कर सकते, परंतु सूर्य-चन्द्र और अग्नि जिनकी कृपासे प्रकाशित होते हैं और जहाँ जानेपर इस संसारके दुःखमय आवागमनके चक्रमें पुनः नहीं आना पड़ता, जीवात्माको इसका ज्ञान कराकर जीवका उद्धार करना—यह ज्ञानकाण्ड-उपनिषद्का लक्ष्य है।

विविध धर्मशास्त्रोंकी रचनाका हेतु

वेदोंका ज्ञान अत्यन्त गहन है तथा वह अधिकारी पुरुषको ही प्राप्त हो सकता है। इसलिये परम दयालु ऋषि-मुनियोंने लोक-कल्याणके लिये तपश्चर्या, योगसाधन तथा अत्यन्त उग्र आराधन करके वेदका गुह्य-ज्ञान श्रवण तथा स्मरणके द्वारा प्राप्त किया। तदनन्तर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेदके चार उपवेद—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद तथा शिल्पवेदके द्वारा प्रकट किया। साथ ही सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा और ब्रह्मसूत्रके द्वारा समझानेकी कृपा की। इसी प्रकार वेदके छः अङ्ग—शिक्षा, कल्प, छन्द, निरुक्त, ज्यौतिष और व्याकरणके द्वारा दर्शानेकी कृपा की तथा ईश, केन, कठ, मुण्डक, प्रश्न, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि उपनिषदोंके द्वारा प्रतिपादन किया। फिर मनु, अत्रि, विष्णु, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, पराशर, शङ्ख, लिखित, बृहस्पति आदि स्मृतियोंद्वारा मनोंमें उतारनेका प्रयत्न किया। रामायण और महाभारत-जैसे श्रेष्ठतम, सर्वज्ञानसम्पन्न अनुपम इतिहासोंद्वारा लोगोंके हृदयोंमें बैठानेका आयोजन किया और इतनेसे ही न रुककर अत्यन्त महत् अनुकम्पा दिखलाकर श्रीमद्भागवत, विष्णु, ब्रह्म, शिव, पद्म, स्कन्द, वामन, नारद, वराह, मार्कण्डेय, मत्स्य तथा गरुड आदि पुराणोंके द्वारा वेदके ज्ञानको सर्वग्राह्य बनाकर हिंदू-जाति, धर्म और संस्कृतिको जीवित रखकर अनन्त जीवोंका उद्धार किया और अब भी कर रहे हैं।

संस्कृत भाषा देवभाषा है, गीर्वाणवाणी है। इसमें समस्त संस्कृति निहित है। यह जगत्की मूल भाषा है और समस्त राष्ट्रोंकी भाषाओंकी जननी है। यह देवभाषा पहले भारतमें आर्यों—हिंदुओंके संस्कारी लोगोंमें घर-घर बोली जाती थी। वेद तथा उपर्युक्त समस्त विश्वका उद्धार करनेवाले स्मृति, दर्शनशास्त्र तथा इतिहास-पुराणादि ग्रन्थ इस देवभाषा संस्कृतमें ही लिखे गये हैं। अतएव आत्मकल्याण तथा विश्वकल्याण चाहनेवालोंको संस्कृत भाषाका अध्ययन अवश्य करना चाहिये।

प्रजापति मनु महाराजका आदेश

ऊपर लिखे अनुसार सनातन धर्ममें सर्वोद्धारकता होनेके कारण मानव-सृष्टि रचनेवाले प्रजापति मनु महाराज संसारके सब लोगोंको आदेश देते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनु० २ । २०)

'भारतवर्षमें उत्पन्न हुए वेदज्ञ ब्राह्मणोंसे सब देशोंके सब मनुष्य अपने-अपने शील, सदाचार और चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करें।'

इस आदेशका अनुसरण करके यूरोप, अमेरिकाके समर्थ विद्वान् संस्कृतभाषाका और गीता, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत, पातञ्जलयोगदर्शन तथा कवि-श्रेष्ठ कालिदास, माघ, बाण, भवभूति आदि महानुभाव विद्वानोंके ग्रन्थोंका अध्ययन करके मुग्ध हो गये। जर्मनीने तो विश्वविद्यालयोंमें वेद-शास्त्रका अध्ययन, जर्मनभाषामें अनुवाद तथा बड़े परिश्रमसे शोध-कार्य करके विज्ञानमें चरम उन्नति कर ली है। इंगलैंडके प्रकाण्ड विद्वान् मैक्समूलर, अमेरिकाके महात्मा थोरो, जर्मनीके तत्त्ववेत्ता शोपेनहर, मद्रास हाईकोर्टके अवसर-प्राप्त चीफ जस्टिस सर जान उडरफ, सर हेनरी काटन, डाक्टर मिलर तथा श्रीराल्फ एहेन-जैसे विद्वान् विचारक हिंदू-जातिके वर्णाश्रम-धर्म, संस्कृति, गोसेवा आदिके द्वारा इतना अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने जीवनमें इससे लाभ उठाकर इस विषयमें मनन करने योग्य ग्रन्थ लिखे और अपने देशके पाठ्यक्रममें गीता, रामायण, महाभारत, रघुवंशादि ग्रन्थोंसे संकलितकर पाठ्यपुस्तकें निर्धारित करवायीं। इस प्रकार उन्होंने अपने देशवासियोंकी वास्तविक उन्नतिमें योगदान किया तथा भारतवर्षमें जन्म लेनेका सौभाग्य प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षा की। इधर कितने खेद और आश्चर्यकी बात है कि भारतके सत्ताधीश बने हुए लोग अपनेको हिंदू कहनेमें ही हीनता समझ रहे हैं और हिंदूजाति ए धर्मकी केवल उपेक्षा ही नहीं करते, बल्कि भारतके शासनविधानको धर्मनिरपेक्ष बनाकर भारतीय राज्योंके स्कूल और कालेजोंमेंसे धर्म तथा ईश्वरका नामतक उठानेमें लगे हैं!

लोकशासनमें प्रजा अपने हितके लिये जो कहे, उसके प्रतिनिधियों तथा अधिकारियोंको करना चाहिये। परंतु भारतमें इससे उलटी बात चल रही है। भारतीय प्रजाके बहुत विरोध करनेपर भी लोगोंने भारतके टुकड़े करके पाकिस्तान बनाकर भारतके सामने सदाके लिये एक प्रबल शत्रु खड़ा कर दिया है और यह सब करके भी पाँच करोड़

मुसल्मानोंको भारतमें रहने दिया है! इंगलैंड जैसे अंग्रेज प्रजाका देश है, फ्रान्स फ्रान्सीसियोंका है, जर्मनी जर्मन लोगोंका है, चीन चीनी लोगोंका है और जापान जापानियोंका देश है, वैसे ही भारत (हिंदुस्थान) हिंदुओंका देश है। फिर भी आजके सत्तारूढ़ लोग इस मान्यताको स्थान नहीं देते। कैसी चिन्ताकी बात है!

हिंदू-जातिके धर्मविरुद्ध कायदे-कानून

वस्तुतः लोकसभा अथवा पार्लमेण्ट, ऐसेम्बली आदि संस्थाएँ हिंदुस्थानकी प्रजाके रा कीय, व्यावसायिक, आर्थिक तथा आरोग्यसम्बन्धी प्रश्नोंको तय करनेवाली संस्थाएँ हैं। इन संस्थाओंको हिंदुओंके धार्मिक या सामाजिक प्रश्नोंपर विचार या निर्णय करनेका कोई अधिकार नहीं है। पार्लमेण्ट, एसेम्बली, कौन्सिल आदि हिंदू, मुसल्मान, ईसाई, पारसी आदि भारतमें बसनेवाली सभी जातियोंके लिये सार्वजनिक संस्थाएँ हैं; परंतु मुसल्मान, ईसाई, पारसी आदि जातियोंके धार्मिक—सामाजिक प्रश्नोंकी चर्चातक न करके केवल हिंदूजातिके ही धार्मिक और सामाजिक प्रश्नोंपर, हिंदूजातिके प्रबल विरोधके बावजूद, सत्ताधीश अधिकारी चर्चा करके अपने बहुमतसे कायदे-कानून बनाकर हिंदू-जातिके धर्मका उच्छेद कर रहे हैं। इसपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये।

अन्त्यज-मन्दिर-प्रवेश, अस्पृश्यता-निवारण, सगोत्र-विवाह, वर्णान्तर-विवाह, शारदा ऐक्ट, ज्ञातित्रासनिवारण नामक ऐक्ट, तलाक, लड़कियोंका दायभाग, एकके बाद दूसरी स्त्रीसे व्याहका निषेध—इस प्रकारके सनातन धर्म तथा हिंदुत्वपर आघात करनेवाले अनेकों कानून, हिंदुओंके तीव्र विरोधके बावजूद भी पास किये गये हैं। विश्वके सभी लोगोंको दूध-दही-घी-मट्ठा-मक्खन तथा अन्नोत्पादनसे पोषण-रक्षण करनेवाली गौओं और उनकी संतान बछड़े, बछिया तथा बैल, जो परम उपकारी हैं तथा जिनको हिंदू विश्वकी माता और पिताके तुल्य मानते हैं एवं देवता मानकर पूजते हैं, उनका वध ंद करनेके लिये हिंदू वर्षोंसे एक स्वरसे पुकार कर रहे हैं तथापि कठोर-हृदय सत्ताधीशोंके हृदय नहीं पसीजते। इसके विपरीत भयंकर गोवधके उपरान्त भारतमें जो थोड़े गाय-बछड़े, भैंस और बैल बचे हुए हैं उनका वध करके हड्डी, मांस, चमड़ा, चर्बी आदि परदेशमें भेजकर द्रव्योपार्जनके उद्देश्यसे आठ करोड़ रुपये खर्च करके बम्बई (देवनार), कलकत्ता, दिल्ली तथा मद्रास—इन चार स्थानोंमें नये यान्त्रिक कसाईखाने खोलनेकी योजना बन रही है। क्या यह मानवता या प्रजातन्त्रकी क्रूर अवहेलना नहीं है? विधर्मी राज्योंमें (डेनमार्क आदि देशोंमें) गौओंको परम उपयोगी प्राणी मानकर अपने प्रिय पुत्र-पुत्रीके समान उनका आदरसे रक्षण-पोषण किया जाता है और भारत-जैसे देशमें, जहाँ गाय-बैलोंके द्वारा प्रतिवर्ष अरबों रुपये दूध-घी-मक्खन आदि तथा खेतीसे उत्पन्न अनाजके रूपमें प्राप्त हो रहे हैं, कुछ भी विचार न करके निरन्तर इन पशुओंका वध कराकर भारतकी जनताका सर्वनाश करनेकी चेष्टा की जा रही है! यह विचारणीय विषय है।

इस प्रकार आज देशमें अधर्म, क्रूरता, नास्तिकता तथा स्वार्थान्धताका प्रसार है। इसीका परिणाम है कि भारत आज नाना प्रकारके संकटों और शत्रुओंसे घिरकर संतप्त हो रहा है। ऐसी स्थितिमें हमको प्रातःस्मरणीय पूर्वजों—जैसे ध्रुव, प्रह्लाद, पाण्डव, श्रीशंकराचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, समर्थ रामदास स्वामी, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी आदि महानुभावोंने सनातन धर्म, हिंदुत्व, भारत तथा गौकी रक्षाके लिये अपना जीवन समर्पण किया था, उनका स्मरण करके, उसी प्रकार—

कार्यं साधयामि वा देहं पातयामि

—जैसा निश्चय करके पुरुषार्थ करनेके लिये हमें कटिबद्ध होना चाहिये।

उचित उपाय

(१) सर्वशक्तिमान् विश्वनियन्ता श्रीहरिकी शरणागति ग्रहण करके उनके स्वरूपभूत सनातन धर्म तथा उनके आज्ञास्वरूप वेद-शास्त्र, वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार यथाशक्ति चलनेके लिये हिंदुओंको प्रतिज्ञा करके तैयार होना चाहिये।

(२) जाति, वर्ण तथा सम्प्रदायको जाग्रत् तथा सावधान करके सुदृढ़ हिंदू-संगठन करना चाहिये।

(३) विवाहकी मर्यादा, खान-पान-विवेक, आचार-विचार अथवा स्पृश्यास्पृश्यके नियम और जाति-विधान—ये सनातनधर्मके चार अभेद्य दुर्ग हैं, जिनको विदेशी विधर्मी लोगोंके असंख्य आक्रमणोंसे बचाकर हिंदुओंने जीवित रक्खा है। उनको यथावत् सुरक्षित रक्खा जाय, शिथिल और कायर बनकर नष्ट न होने दिया जाय।

(४) आजकल अनेक राजकीय कार्य करनेवाली संस्थाएँ हैं। उनमें अधिकांश येन केन प्रकारेण हिंदूजाति और धर्मपर आघात कर रही हैं। अतएव सनातन धर्ममें निष्ठा रखनेवाले हिंदुओंको धर्मराज्य-सभा, वर्णाश्रम स्वराज्य-सभा, रामराज्य-सभा अथवा हिंदूसंस्कृति रक्षक धर्मसभा आदि नामोंमें जो ठीक जँचे, एक सुदृढ़ संगठित संस्थाकी स्थापना करके भारतवर्ष भरमें गाँव-गाँव नगर नगर उसकी शाखाएँ खोलकर निष्ठावान् धर्मप्राण हिंदू उम्मीदवारोंको खड़ा करके और उन्हें बहुसख्यक मतदान करके पञ्चायतों, नगरपालिकाओं, कौन्सिल, एसेम्बली, पार्लमेण्ट, यूनिवर्सिटी सनेट, इण्डियन मर्चेंट चेम्बर्स आदि प्रसिद्ध संस्थाओंमें चुनावमें विजयी बनाकर भिजवाना। साथ ही ट्रस्ट कमेटी, कमीशन, बैंक, कारखाने आदि संस्थाओंमें भी धर्मनिष्ठ विद्वान् कार्यकर्त्ताओंको ट्रस्टी, डाइरेक्टर, मैनेजर आदि बनाना—जिससे इन संस्थाओंके द्वारा होनेवाले अनर्थ रोके जायँ।

(५) सनातन धर्म, जाति-धर्म तथा गोरक्षाके हिमायती हिंदू अपना मत या किसी प्रकारकी आर्थिक सहायता नास्तिक धर्महीन व्यक्ति या संस्थाको न दें।

(६) सनातनी हिंदू सम्पन्न लोग सनातन धर्म, हिंदुत्व तथा गायोंकी रक्षाके लिये आन्दोलन करनेके उद्देश्यसे दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्र-पत्रिकाएँ देशकी मुख्य-मुख्य भाषाओंमें प्रकाशित करें और प्रचारार्थ प्रान्त-प्रान्तमें प्रचारक भेजें।

(७) आजकलके लाक्षागृहके समान खड़े स्कूल और कालेजोंमें पढ़नेवाले हिंदूबालक माता-पिता, जातिधर्मके विद्रोही तथा उच्छृङ्खल बनते जा रहे हैं। इसलिये साधन-सम्पन्न धर्मात्मा गृहस्थ लोग सनातन धर्मके महाविद्यालय, ब्रह्मचर्याश्रम तथा पाठशालाएँ खोलें।

(८) धनुर्वेद, आयुर्वेद, तप-अनुष्ठान, योग-साधन तथा मन्त्र-प्रयोगमें अगाध शक्ति है। भगवान् परशुरामजी, वीरपुङ्गव अर्जुन, ध्रुवजी तथा चाणक्यने ऐसे ही दैवी साधनों तथा प्रयोगोंके द्वारा महान् सिद्धियाँ प्राप्त-कर भयंकर आसुरी शक्तियोंका नाश करके अपना उत्कर्ष-स्थापन और लोकरक्षण किया था। अतएव ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्योंको इस प्रकारके दैवी उपायोंका तत्काल अवलम्बन करना चाहिये।

(९) सनातन धर्ममें निष्ठावान् हिंदू जीतोड़ प्रयत्न करके धर्महीन लोगोंको येनकेन प्रकारेण सत्तासे पृथक् करके देशकी सत्तापर अधिकार कर लें। ऐसा करनेसे ही देश और हिंदूजातिकी रक्षा हो सकेगी।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

(२)

(लेखक—श्रीइन्द्रजीतजी शर्मा)

प्राचीन विश्वके इतिहाससे ज्ञात है कि मानव-जातिका जन्म एक ही स्थानपर हुआ था, जहाँसे वह समान भाषा और धार्मिक भावनाओंको लेकर विश्वमें फैली है। मानवका शारीरिक गठन भी एक समान है। देश-विशेषकी जलवायुने उसके रंग-रूप और भाषामें अन्तर उत्पन्न कर दिया है।

विश्वमें प्रचलित सभी महान् धर्मोंका एकमात्र लक्ष्य भगवत्प्राप्ति अथवा मुक्ति, निर्वाण, निजात वा Salvation है। प्रत्येक धर्मका अनुयायी अपने धर्मको आदि और सर्वश्रेष्ठ धर्म मानता है; परंतु इतिहास बतलाता है कि विश्वमें प्राप्य धार्मिक साहित्यमें वेदसे प्राचीन अन्य कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। (Chips from a German Workshop, Vol I., p. 4. by Maxmuller)

सनातन शब्दका अर्थ है सदासे वर्तमान और निश्चल। प्रत्येक धर्मके प्रादुर्भाव तथा प्रचारके इतिहाससे वैदिक धर्म ही सबसे प्राचीन और आदि मानव-धर्म सिद्ध होता है।

वैदिक धर्म प्राचीन आर्योंका धर्म है, जो विश्वके अनेक भागोंमें जाकर बस गये। भारतीय आर्योंकी दो शाखाओंमें वैमनस्य उत्पन्न होनेपर एक शाखा ईरान (पारस) में जाकर बस गयी और उन्होंने अपने नेता जरथुस्त्रके द्वारा प्रचारित असुर-धर्मको स्वीकार कर लिया। इनमें ईश्वरका नाम अहुर-मज्द (सं० असुर महत्) तथा धर्म-पुस्तकका नाम जेन्दावस्था (सं० छन्दस्+अवस्था)।

प्राचीनकालमें असुर-शब्द देवताओंकी प्रशस्तिके हेतु प्रयोग किया जाता था। यथा—

त्वं राजा इन्द्र नॄन् पाहि असुर त्वं।
(ऋक् १ । १७४ । १)

त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवि।
(२ । १ । ६)

त्वं विश्वेषां वरुण असि राजा असुरः।
(२ । २७ । १०)

ऋग्वेदके भाष्यकार सायणके अनुसार असुर-शब्दका अर्थ—'असून् प्राणान् राति ददाति इत्यसुरः'—अर्थात् प्राणदाता है। कालान्तरमें जब देवासुर-संग्रामोंने उग्र रूप धारण कर लिया, तब असुरोंने अपने वेष-भूषा, खान-पान और आचार-विचारमें द्रष्टव्य अन्तर उत्पन्न कर लिया और देवनागरी अक्षरोंमें हेर-फेर करके संस्कृत-शब्दोंका रूप बदल डाला, जिससे पारसी भाषाका प्रारम्भ हुआ। यथा—क=ग यथा सुकरा=सुगरा, सुलेखा=जुलेखा, वक्ष=वख, सप्ताह=हफ्ता, आपत्=आफत, स्वतः=खुद, समतम=हमरम, समक्षीरा=हमशीरा, श्वशुर=खुशर, दुहितर=दुख्तर आदि।

जेन्दावस्थाके अनुवादकर्ता डा० मार्टिन हॉगने अपनी पुस्तक (Haug's Essays P. 69) में लिखा है—

'As the Ionians, Dorians, Aeolians etc. were differrent tribes of the Greek nation, whose general name was Hellenic, so the Ancient Brahmans and Parsis were two tribes of the nation which is called Aryas, both in the Vedas and the Zend Avastha.'

इसी पुस्तकके पृष्ठ १४३ पर वे लिखते हैं—

'The verses of the Zend Avestha are full of Aryan glory, composed in the same metres as that of the Vedas.'

एसियाटिक सोसाइटीके संस्थापक सर विलियम जोन्सने लिखा है कि 'जब मैंने जेन्द शब्दावलीका मनन किया, तब मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि दसमें सात-आठ शब्द तो शुद्ध संस्कृतके थे और उनका व्याकरण-रूप भी समान था। एक पारसी विद्वान् डा० एस्० ए० खपाडिया अपनी पुस्तक (The Teachings of Zorostrianism and the Philosophy of Parsi Religion, p. 16) में लिखते हैं—

'The mission of Zoroster was only to restore the purity of the primitive Aryan Religion or the ancient monotheistic religion of the Aryas.'

एक दूसरे पारसी विद्वान श्रीखुरशेदजी एन. सीरभाईने अपनी पुस्तक (Zorostrianism in the Light of Theosophy, p. 6) में लिखा है कि शुद्ध वैदिक धर्म और शुद्ध जोरास्त्रियन धर्म एक है। जोरास्त्रियन धर्मकी उत्पत्ति प्राचीन वैदिक धर्ममें घुसे हुए अन्धविश्वासों तथा पुजारियोंके दूषित कृत्य और पाखण्डको सुधारनेके हेतु हुई। जोरास्तरने वही काम किया, जो उनके बहुकाल पश्चात् महात्मा बुद्धने किया था।

इतिहासके अनुसार जोरास्त्रियन धर्मके पश्चात् यहूदी धर्म (Judaism) का जन्म हुआ, जिसके संस्थापक महात्मा मूसा कहे जाते हैं। मूसाका जन्म १५७१ ईसा पूर्वमें हुआ था और उनको दैवी प्रेरणा १४९१ ई० पूर्वमें प्राप्त हुई। उन्होंने अपने धर्मग्रन्थ 'पेन्टा टु एक' (सं० पन्था तु एकः) की रचना की, जिसको अन्य विद्वान् इजराद्वारा सन ४५० ई० पूर्वमें रचा गया मानते हैं।

यहूदियोंके पूर्वज अपनी भेड़-बकरियोंको चराते हुए देश-विदेशोंमें घूमते-फिरते थे और उन देशोंके शासकोंद्वारा उत्पीड़ित होते थे। उनके धर्मग्रन्थ भ्रमण, तिरस्कार, यन्त्रणा तथा अपमानकी कथाओंसे परिपूर्ण हैं। श्रीएच्० जी० वेल्सने अपने विश्वके इतिहासमें लिखा है कि ईजिप्टके शासकोंने यहूदियोंसे बलात् शारीरिक परिश्रम कराया, यहाँतक कि उनको पशुओंकी भाँति रथोंमें जोता गया। अन्तमें वे लोग भागकर पैलेस्टाइन (सं० पुलस्त्यायन) के पर्वतीय भागोंमें जाकर बस गये।

सन् ५८७ ई० पूर्वमें बैबीलनके शासक नवचन्द्रेश्वर (Nabuchad Negger) ने यहूदियोंपर आक्रमण करके उनका जरूसलम स्थित मन्दिर नष्ट कर डाला और अधिकांश यहूदियोंको बैबीलनमें लाकर कैद कर दिया।

इजरा और नेहमिया नामक दो यहूदी पारसके आर्य सम्राट्की सेवामें नियुक्त थे, उनके अनुनय-विनयपर पारस-सम्राट्ने बैबीलनसे यहूदियोंको बंदीगृहसे मुक्त कराया और उनको अपने देशमें बसने और एक साहित्यके निर्माणमें सहायता दी।

यहूदियोंने अपने धर्मग्रन्थोंकी रचनामें पारसी धर्मसे सहायता प्राप्त की है। एक यहूदी विद्वान् Prof. D. W. Marks, Chief Minister, W. London Synagogue of British Jews, in the Religious Systems of the World, p. 685 में लिखते हैं—'The Jews received many religious notions from the Persians, to whom they communicated few, if any, of their own'

ईसाई और इस्लामधर्म दोनों यहूदी धर्मसे निकले हैं। यहूदियोंका धर्मग्रन्थ ईसाइयोंका Old Testament अर्थात् बाइबिल है। यहूदियोंके धर्मप्रचारक मुसल्मानोंके धार्मिक नेता हैं।

इस ऐतिहासिक विवरणसे वैदिक धर्म ही प्राचीनतम सनातन सार्वभौम मानवधर्म सिद्ध होता है। यह धर्म किसी देशविशेष अथवा जातिविशेषका धर्म इसलिये नहीं कहा जा सकता कि इस धर्मके अनुयायियोंने किसी धर्मप्रचारकके प्रचारमें कभी विघ्न या बाधा उपस्थित नहीं की। विपरीत, इसमें उसने सबके विचारोंका आदर किया और उन प्रचारकोंको सम्मान दिया है; क्योंकि सब धर्मोंकी विचारधाराका वह एकमात्र स्रोत है।

समानताएँ—

ईश्वरका रूप—वेदोंके अनुसार ईश्वर निराकार, निर्विकल्प एवं सर्वव्यापी है, परंतु ऋषि-मुनि उसका कई रूपोंमें वर्णन करते हैं—

सुपर्णं विप्रा कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
(ऋक् १०। ११४)

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तदु वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मा ता आपः स प्रजापतिः॥
(यजु० ३२। १)

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः
स शिवः सोऽक्षरः स परमः स्वराट्।
स इन्द्रः सा कात्याग्निः च चन्द्रमाः।
(कैवल्योपनिषद्)

पारसी धर्मानुसार ईश्वरने अपने बीस नाम गिनाये हैं। वह सारे संसारका रचयिता है। उसने साकाररूपमें जरथुस्त्रसे वार्तालाप किया है। (यस्न १२)

यहूदी, ईसाई और मुसल्मान एक ईश्वरमें विश्वास करते हैं और उसका साकाररूप भी मानते हैं। ईश्वरने साकाररूपमें आकर बागे-अदनमें आदम और हव्वकी भर्त्सना की थी। कुरानके अनुसार खुदा सातवें आसमानमें एक तख्तपर बैठा है, जिसे आठ फरिस्ते थामे हुए हैं। कोहे तूरपर वह मूसासे बातें करता हुआ दिखलाया गया है। इन सब धर्मोंके अनुसार ईश्वर अग्निरूप भी है।

ईसाई अपनी प्रार्थनामें कहते हैं—

Thou art, Oh God, the life and light
Of all the wondrous world we see.
Thy glows by day and smiles by night
Areall but reflections caught form thee.

महात्मा तुलसीदासके अनुसार—

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

अवतार-वाद

भारतमें राम, कृष्ण, बुद्ध एवं महावीर स्वामीको ईश्वरका अवतार माना गया तथा यहूदियोंने मूसा, ईसाइयोंने ईसा और मुसल्मानोंने मोहम्मदको ईश्वरका प्रतिनिधि स्वीकार किया।

जल-प्रलयकी कथा जो शतपथ ब्राह्मणमें दी गयी है, जिसमें मत्स्यरूपी भगवान्‌के आदेशसे मनुने अपनी नौका उत्तर गिरिके उच्चतम शृङ्गपर जाकर बाँधी थी, उसीको जरथुस्त्रने दोहराया है और उसमें प्रत्येक जीवित प्राणीका जोड़ा एक गढ़ेमें रक्खा गया। इसीकी नकल यहूदी, ईसाई और मुसल्मानोंके Noah's Arc अथवा नूहकी किश्तीके सम्बन्धमें की गयी है।

मनु वर्तमान मानव-सृष्टिके आदिपुरुष माने जाते हैं। नूह भी मनुका रूपान्तर है। नूहके दो पुत्र साम और हाम बताये जाते हैं, जिनसे सामतिक तथा हामतिक दो उपजातियाँ बनीं। मनुके वंशमें भी चन्द्रवंश और सूर्यवंश हैं। चन्द्रको सोम और सूर्यको हेम भी कहते हैं। आश्चर्य नहीं कि यहूदियोंने सोमका साम और हेमका हाम बना दिया हो।

मूर्तिपूजा

ईशोपासनाके हेतु प्रत्येक धर्मावलम्बियोंने पूजास्थानोंका निर्माण कराया है। बिना किसी लक्ष्यके साधना अपूर्ण रहती है। वैदिक आर्य अपनी त्रिकाल-संध्या सूर्याभिमुख होकर करते थे। कालान्तरमें हिंदू-मन्दिरोंमें विभिन्न देवी-देवताओंकी मूर्तियाँ स्थापित हुईं, जो साधनाके लक्ष्य हैं।

इसी प्रकार कैथलिक ईसाइयोंके गिरजोंमें मरियम और ईसामसीहकी मूर्तियाँ पायी जाती हैं और मुसल्मानोंकी मस्जिदोंमें काबेका नमूना है, जिसका ध्यान करके सिजदा किया जाता है। सैकड़ों मुसल्मान दरगाहों और मजारोंके दर्शन करते हैं, उनपर फूल-मालाएँ चढ़ाते हैं और दीपक रखते हैं। यह भी एक प्रकारसे मूर्तिपूजा ही है।

ईश-प्रार्थनामें वैदिक-धर्मावलम्बी अपने भिन्न अङ्गोंका स्पर्श करते हुए उनके बलिष्ठ होनेकी कामना करते हैं और अन्तमें अपनेको प्रभुके समर्पण करते हैं। पारसियोंने इस क्रियामें उठना-बैठना और सम्मिलित किया, जिसकी नकल यहूदी एवं मुसल्मान करते हैं, ईसाई केवल घुटने टेकते हैं।

प्रत्येक धर्ममें सामूहिक प्रार्थनाका बड़ा महत्त्व है। सामूहिक भजन-कीर्तनमें भाव-समाधि उत्पन्न होती है। इसी आधारपर ईसाइयोंके और यहूदियोंके गिरजाघरोंमें तथा मुसल्मानोंकी मस्जिदोंमें क्रमशः रविवार, शनिवार और शुक्रवारको सामूहिक प्रार्थना होती है।

वैदिक **'एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति'** का पारसी **'नास्त इज़ाद मगर यज़्दां'** तथा मुसल्मानोंका **'ला इलाह इल्लिल्लाह'** प्रसिद्ध कलमा बन गया है।

पातञ्जल योगसूत्रके **'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'** के अनुरूप बुद्धने अपने भिक्षुओंके हेतु नियम बनाये और इसी आधारको लेकर क्राइस्टने अपने धर्मावलम्बियोंको शिक्षा दी।

ईश्वर सबके हृदयमें निवास करता है—

Heart is the Seat of God.

प्रार्थनामें हम कहते हैं—**'कुरु मे हृदयनिवासम्'**। महाभारतमें दुर्योधनने कहा है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

इसी भावको लेकर सूफ़ी कहता है—

मन नमे गोयम अनलहक,
यार मे गोयद बिगो।
चूं न गोयम, चूं मरा
दिलदार गोयद बिगो॥

अर्थात् मैं अनलहक (तत्त्वमसि) नहीं कहता, मेरा यार कहता है कि तू कह, फिर क्यों न कहूँ जब कि मेरा दिलदार कहता है कि तू कर। लफ्ज 'दिलदार' और 'हृदिस्थितेन देवेन'से एक ही भाव प्रकट होता है।

भक्त चाहे किसी धर्मका क्यों न हो—जबतक उसके दिलमें ईश्वरसे मिलनेकी प्रबल उत्कण्ठा, बेचैनी, तड़पन और दर्द उत्पन्न नहीं होते, तबतक उसको प्रभुके दर्शन नहीं होते। एक भक्त इसी प्रकार बेचैन होकर कहता है—

अय हकीकते मुन्तज़िर आ लिबासे मजाजमें।
हज़ारों सिज़दे तड़प रहे हैं, मेरी ज़िबीने नियाज़में॥

इस तड़पनका परिणाम निकला—दर्दने करवट ही बदली थी कि दिलकी आहसे दफातन परदा उठा और परदेदार आ ही गया। यह परदेदार अन्य कोई नहीं, ईश्वर ही था—

उरूज़े हुस्नको हैरतमें हम क्या-क्या समझते हैं।
कभी परदा समझते हैं, कभी जलवा समझते हैं॥

हम कहते हैं कि भवसागरको पार करना बड़ा कठिन है। इसी भावको लेकर सूफ़ी कहता है—

दरमियाने कारे दरिया तख्तबन्दम कर दई।
बाज़ मी गोई कि दामन तर मकुन हुशियार बाश॥

अर्थात्—हे भगवन्! तूने मुझे एक तख्तेपर ऐसे दरियामें डाल दिया है, जिसमें लहरें उठ रही हैं और फिर मुझसे कहता है कि होशियार हो जा, तेरा दामन तर न हो जाय! 'तर दामनी' पाप कमानेको कहते हैं। संसारमें किसी व्यक्तिका निष्पाप होना बड़ा कठिन है। इसी पापसे छुटकारा पानेके लिये प्रत्येक-धर्मावलम्बी ईश्वरसे प्रार्थना करता है। दिलका दुखाना महान् पाप है।

एक सूफ़ी कहता है—

काबा बिनगाहे खलीले आज़िरस्त।
दिल गुज़र गाहे जलीले अकबरस्त॥
दिल बदस्तावुर कि हज्जे अकबरस्त।
अज़ हज़ारां काबा एक दिल बेहतरस्त॥

अर्थात् काबा तो खलीले आजिर एक शिल्पकारकी कारीगरीका नमूना मात्र है और यह दिल उस परमपिता परमात्माका निवासस्थान है। इसलिये दिलकी हज करना बेहतर है; क्योंकि एक दिल हज़ारों काबोंसे बेहतर है।

सनातनधर्म ही सार्वभौम मानव-धर्म है

(लेखक—श्रीगंगाधर गुरुजी बी० ए०, एल्-एल्० बी०, ऐडवोकेट)

येन विश्वमिदं नित्यं धृतं चैव सुरक्षितम्।
सनातनोऽक्षरो यस्तु तस्मै धर्माय वै नमः॥
आयुःप्राणधनादिसर्वविषयो विद्युल्लिभश्चञ्चलः
संसारे परिवर्तिनि ध्रुवमिदं किंचिच्च नाचञ्चलम्।
धर्मः केवलमेव निश्चलपदं प्राप्नोति मृत्युञ्जय-
स्तस्मात् संततमेकनिष्ठमनसा सेवस्व धर्मामृतम्॥

दुःखभिन्न आनन्द-सुखभोगकी लिप्सा मनुष्योंकी जन्मगत प्रवृत्ति है, स्वभाव है। महर्षि याज्ञवल्क्यने ठीक ही कहा है—

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।
(बृहदारण्यक उप० २। ४। ५ एवं ४। ५। ६)

इस वैज्ञानिक युगमें आमोद-प्रमोदके लिये विविध उपकरण प्रस्तुत दीखते हैं। हम व्योमयानसे आकाशमें पक्षीकी तरह उड़ते, जलचरोंकी भाँति जलयानोंद्वारा जलमें विहार करते और स्थलयानोंसे शीघ्र सुदूरकी यात्रा भी कर लेते हैं। दूरस्थ बन्धुओंसे भी टेलिफोन आदिद्वारा बातचीत कर लेते तथा टेलिविजनद्वारा दूरस्थ बन्धुओंको देख लेते हैं। बाह्य प्रकृतिको वैज्ञानिकोंने जीत-सा लिया है। अब वे चन्द्रमण्डल जीतनेकी स्पर्द्धा कर रहे हैं। विज्ञानके द्वारा इस समय कुछ भी असाध्य नहीं दीखता। इतना होनेपर भी हम अन्तरसे शान्त-सुखी नहीं हैं। अधिक क्या, पूरे विश्वमें ही शान्तिका कहीं दर्शन नहीं होता। सर्वत्र युद्ध तथा शस्त्रास्त्रोंकी विभीषिका व्याप्त है। दुर्बल देश भी इस समय अण्वादि तीक्ष्णतम मारण-यन्त्रोंके उद्भावन-निर्माणमें तत्पर दीख रहे हैं। वस्तुतः इस भोगतृष्णाविवर्धनी भौतिक उन्नतिकी होड़में कभी भी प्राणी शान्ति-सुधाका पान नहीं कर सकेगा। कहा भी गया है—

तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता।
अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी॥*
(महाभा० शां० १। ११९)

इस तृष्णाके परित्यागमें ही व्यक्ति, देश तथा समाजका श्रेय है। व्यासजीने ठीक ही लिखा है—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥*

(ब्रह्मपुराण १२। ४८; लिङ्गपुराण ६७। १६; पद्मपुराण १। १९। २४९; महाभारत, आदिपर्व, ययाति-उपा० ७५; अनुशासन-पर्व २। २७; ९३। ४५)

बृहदारण्यक उपनिषद्में आया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य-शूद्रादि सभीके रक्षार्थ ब्रह्माने धर्मकी रचना की—

स नैव व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं। तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात् परं नास्ति। अतोऽबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञा। (बृ० उ० १। ४। १४)

धर्म सत्यरूप है—यह रामायण-महाभारतादिमें सुस्पष्ट है। यह सत्य १३ प्रकारका कहा गया है—सत्य, समता, दम, दान, अमात्सर्य, क्षमा, तितिक्षा, अनसूया, त्याग, ध्यान, आर्जव (सरलता), धैर्य और अहिंसा—ये १३ सत्यके ही रूप हैं। (महा०) भीष्मादिने धारण गुणयुक्त होनेसे ही इसे धर्म कहा है। भागवतमें इस धर्मके ३० लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं।†

सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, ज्ञान, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदर्शन, महात्माओंकी सेवा, विषयत्याग, मौन, आत्मचिन्तन, दान, सभी भूतोंमें भगवद्दर्शन, भगवद्यशः—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, भगवच्चरणोंकी सपर्या, पूजा, भगवच्चरणोंमें प्रणाम, दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण। इनसे सर्वात्मा भगवान् श्रीहरि संतुष्ट होते हैं। धर्म, जाति, गोत्र, वर्ण आदि ही मानववर्गके प्रकाशक हैं। ये अन्य पश्वादि जातियोंमें नहीं होते—

---

* तृष्णा सर्वाधिक पापमयी है और यह प्राणीको सदा उद्विग्न करती रहती है। इसके ही कारण घोर पाप तथा अधर्मका आचरण करना पड़ता है।

* जो कुबुद्धियोंके लिये दुस्त्यज है, जो शरीरके बुड्ढे हो जानेपर भी नहीं बुढ़ाती, जो प्राणान्तक रोग है, उस तृष्णाको तो छोड़नेमें ही कल्याण है।

† (श्रीमद्भागवत ७। ११। ८—१२)।

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥
(हितोपदेश)

स्वामी विवेकानन्दजी कहा करते थे कि अन्तर्हित देवत्वका प्रकाशक तत्त्व ही धर्म है। इसके विरुद्ध मानवताके विकास-पथमें कण्टक-भूत तत्त्व अधर्म है—

यो धर्मः स प्रकाशो यः प्रकाशश्च तत् सुखम्। (भृगुः)

इसी तरह जो अधर्म है, वह तम है; जो तम है, वह दुःख है। सत्यके विना प्रकाश सम्भव नहीं है। मेघावृत आकाशमें जिस प्रकार सूर्यप्रभा नहीं दीखती, उसी प्रकार छलपूर्ण जीवनमें सत्य प्रकाशित नहीं होता। विदुरने ठीक ही कहा है—

न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्। (महाभारत, विदुर-प्रजागरपर्व, ३४)

जहाँ धर्म विराजता है, वहीं जय होती है—

धर्मेण हन्यते व्याधिर्धर्मेण हन्यते ग्रहः।
धर्मेण हन्यते शत्रुर्यतो धर्मस्ततो जयः॥

अतः धर्मानुसरणमें ही शान्ति है, मुक्ति है। धर्मपरायण व्यक्तिको अपने सारे धर्म-कर्मोंको ब्रह्मार्पण करना चाहिये—ऐसा ईशोपनिषद्का मेघमन्द्रस्वरसे उपदेश है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(ईशोप० २)

समाज भी मानवका कर्मक्षेत्र है। अतः समाजमें शान्तिस्थापनकी प्रतिष्ठा सभीको अभीष्ट है। जिस देश या समाजमें धर्म-चरित्रसम्पन्न नियमानुवर्ती कर्तव्यपरायण सभ्य लोग रहते हैं, वहाँ सौभाग्यलक्ष्मी प्रकाशित होती है। वहाँ समता, सुख, समृद्धिकी वृद्धि होती है। अहिंसा, सत्य, संयम, दया, मैत्री, परोपकार, कर्मकुशलता, स्वार्थत्याग, मुमुक्षा आदि देवदुर्लभ गुण जिस देशके लोगोंमें रहते हैं, वह देश उन्नतिके शिखरपर जा पहुँचता है। पर जहाँके लोग विलासी, भोगपरायण, आलसी तथा स्वार्थी हो जाते हैं, वहाँ सुख-शान्तिकी कल्पना वैसी ही निरर्थक है, जैसी मरुभूमिमें गङ्गाजीकी और गगनमें प्रासाद-निर्माणकी कल्पना व्यर्थ है। वहाँ तो सत्त्वद्वेषी काम-क्रोध, लोभ, दमन, वैर, हिंसा आदिका ही पैशाचिक ताण्डवनृत्य दृष्टिगोचर होता है। गीतामें इन्हें ही नरकका द्वार कहा गया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(१६। १६)

पर-स्त्रीको माताके तुल्य, परद्रव्यको मिट्टीके तुल्य तथा समस्त भूतोंको आत्मवत् ही समझे—

मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पण्डितः॥

(हितोपदेश १। १३; पञ्चतन्त्र ३। ३९; पद्मपु० १। १९। ३५६; गरुडपु० १११। १२ इत्यादि)

पितामह भीष्मके द्वारा अक्रोध, क्षमा, सत्य, दान, शान्ति, शौच, सरलता आदि नौ सामान्य धर्म कहे गये हैं।*

मनुके अनुसार धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्म जनताके उन्नतिकारक हैं, शान्तिशृङ्खलाकी स्थापनामें सहायक हैं; इनका पालन नागरिकोंका धर्म है।

अमरकोशके अनुसार धर्मका अर्थ—पुण्य, यम, नीति (न्याय), स्वभाव, आचार एवं यज्ञ होता है। यमका अर्थ इन्द्रियसंयम तथा मृत्युपति धर्मराज भी है। ये मृत्युपति यम वस्तुतः संयमकी प्रतिमूर्ति हैं। उन्होंने यमीकी भोग-प्रार्थना ठुकरा दी थी…(द्रष्टव्य वेदवर्णित यम-यमी उपाख्यान) उनमें 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्' सिद्धान्त अक्षरशः चरितार्थ हुआ है। वे निरपेक्षतापूर्वक पुण्यात्मा एवं पापियोंपर दण्डधारण करते हैं, अतः यम हैं। इसी प्रकार दमनार्थक यम भी दस प्रकारके कहे गये हैं—

सत्यं क्षमाऽऽर्जवं ध्यानमानृशंस्यमहिंसनम्।
दमः प्रसादो माधुर्यं मृदुतेति यमा दश॥

इसी प्रकार स्वाभाविक विशेषता भी धर्म है—जैसे सूर्यका तेज या अग्निकी दाहिकाशक्ति। इसी प्रकार ज्ञान मनुष्यका स्वभाव है।

सनातन धर्म इहामुत्र-कल्याणकर है। यही मनुष्यको ब्रह्मतक प्राप्त कराता है। जिस नीति तथा धर्मके आचरणद्वारा परस्पर संघर्ष न हो, उसीका अनुष्ठान करना चाहिये।

---

* अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च॥
आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः।
(महाभारत)

इसी प्रकार शिक्षक, विद्यार्थी, नेता आदिको तथा पिता, माता, पुत्रादि—सबको अपने-अपने धर्मको समझकर पालन करना चाहिये। सभीको दूसरेके अधिकारोंकी रक्षा तथा स्वकर्तव्यका पालन करना चाहिये। कर्तव्यत्यागी तथा अधिकारलिप्सु होना समाज तथा देशकी शान्तिमें बाधक होता है। कर्तव्यपरायण होनेपर अधिकार स्वयं प्राप्त हो जाता है—

अधिकारं परित्यज्य कर्तव्यं कुरुते यदा।
कर्तव्ये तु सुसम्पन्नेऽधिकारो लभ्यते स्वतः॥

वर्णाश्रमव्यवस्था सनातन वैदिक धर्मकी विशेषता है। यह युक्तिसह तथा विज्ञानसिद्ध है। जैसे शरीरमें हाथ, पैर, नाक, कान, आँख आदिकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं, अपने-अपने कर्तव्य हैं, वैसे ही वर्णोंकी उपयोगिता है। समाजमें सर्वत्र ही कुछ लोग बुद्धिजीवी, बलजीवी, व्यापारजीवी एवं श्रमजीवी होते हैं। अतः चारों वर्णोंकी उपयोगिता अनिवार्य है। जिस प्रकार शरीरके स्वास्थ्य-सौन्दर्यकी रक्षाके लिये सब अङ्गोंके व्यायाम तथा पोषणकी आवश्यकता है, वैसे ही सामाजिक अभ्युत्थानके लिये भी चारों वर्णोंकी रक्षाका ध्यान रखना आवश्यक है। जैसे शरीरके ऊर्ध्व-अङ्गोंमें निम्न-अङ्गोंके प्रति घृणाकी भावना नहीं होती, वैसे ही कोई भी वर्ण घृणास्पद नहीं है। जैसे कभी-कभी हाथको पैरकी भी सेवा करनी पड़ती है, उसी प्रकार समयानुसार निम्न-वर्णोंकी सेवा करनेसे भी उच्चवर्णको कोई दोष नहीं लगता। अपने कुलक्रमागत स्वधर्मका कभी परित्याग नहीं करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने यथार्थ ही कहा है—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
(गीता १८।४८)

अतः सभी वर्णोंको स्वार्थका परित्याग करके जनता-जनार्दनकी सेवाके लिये अपने-अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

इसी प्रकार आश्रमधर्मकी भी परम उपादेयता है। ब्रह्मचर्य-धारणपूर्वक यदि बालक प्रथमावस्थामें विद्याध्ययन आदि नहीं करता तो आगे उसकी जीवनयात्रा ठीक नहीं चलती। इसी तरह मध्यावस्थामें धन-धर्मका अर्जन तथा अन्तिम दुर्बल निरुद्यमावस्थामें केवल भगवच्चिन्तन ही कर्तव्य रह जाता है। इस प्रकार यह आश्रम-व्यवस्था भी विज्ञानसिद्ध है। इनमें विपर्यास करनेसे जीवनमें कठिनाइयाँ अवश्य आयेंगी, असफलता ही मिलेगी।

अन्तमें मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि सारी वसुधा ही अपना कुटुम्ब है—वसुधैव कुटुम्बकम्। एक ही अमृत परमात्माके पुत्र होनेसे ज्येष्ठ-कनिष्ठके समान हम सभी एक ही परिवारके सदस्य हैं। सनातनधर्मी तो सदा ही सबके कल्याणकी ही कामना करते हैं।

इस तरह सनातनधर्म ही वास्तवमें कल्याणकारी धर्म है। वही सार्वभौम मानव-धर्म है। इसके बिना विश्व-शान्ति असम्भव है। अतः रक्षा एवं शान्तिकी कामना करनेवालोंको धर्मकी ही रक्षा करनी चाहिये—

धर्मे वर्धति वर्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा।
तस्मिन् ह्रसति हीयन्ते तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥
(महा० शा०)

'सभी प्राणी धर्मकी वृद्धि होनेपर बढ़ते तथा धर्मके घटनेपर क्षीण होते हैं, अतः धर्मको कभी लुप्त न होने दे।'

सनातनधर्ममें किसी प्रकारकी संकीर्णता नहीं है। वह वास्तविक श्रेय प्रदान करता है। उसमें विश्व-मैत्रीकी सच्ची भावना है। भगवान् इसकी वृद्धिद्वारा सबका सच्चा कल्याण करें, यह कामना करता हुआ मैं धर्मको नमस्कार करता हूँ—

मैत्रीसंस्थापको यश्च विश्वशान्तिविधायकः।
सनातनाय धर्माय तस्मै नित्यं नमो नमः॥

जो विश्वशान्तिविधायक तथा सर्वत्र मैत्रीकी स्थापना करनेवाला है, उस सनातन धर्मको प्रतिदिन सदा-सर्वदा नित्य-निरन्तर ही नमस्कार।



ब्रह्मचर्य-महिमा

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

['ब्रह्मचर्य-महिमा' पर श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणादिमें बड़े लंबे-लंबे प्रकरण चले हैं। उनमें इसकी उपयोगितापर मनोवैज्ञानिक ढंगसे प्रकाश डाला गया है। जिज्ञासु पाठकोंको तो वहीं देखकर अपनी जिज्ञासा शान्त करनी चाहिये। यहाँ बहुत संक्षेपमें उनका दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है।]

वैदिक साहित्यमें

वैदिक साहित्यमें ब्रह्मचर्यका अद्भुत महत्त्व देखनेमें आता है। ऋग्वेदमें दो तथा अथर्ववेदके ११ वें काण्डका ५वाँ सूत्र 'ब्रह्मचर्य-सूक्त' है। इसमें २६ मन्त्र हैं। इनमें ब्रह्मचारीकी अद्भुत महिमा है। वहाँ ब्रह्मचर्यको ही जगत् तथा विश्वसंचालन-कार्यका आधार माना है—

'ब्रह्मचारी'''स दाधार पृथिवीं दिवं च'।

(अथर्व० ११। ५। १)

ब्रह्मचारीको ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ माना है (११। ५। ५)। ब्रह्मचर्यके द्वारा ही राजा राष्ट्रका संरक्षण-संवर्धन कर सकता है। ब्रह्मचर्यके द्वारा ही देवता अमर हुए और उन्होंने मृत्युको जीता था—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत॥

(११। ५। १७–१९)

शतपथ ब्राह्मण ११। ३। ३ तथा गोपथ ब्राह्मण २। ६ ब्रह्मचारी-ब्राह्मण ही हैं। इनमें बतलाया गया है कि ब्रह्मने मृत्युके हाथ सारी प्रजाको दे दिया, किंतु एक ब्रह्मचारीको नहीं दिया—

ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजाः प्रायच्छत् तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत्।

(शतपथ ब्रा० ११। ३। ३। १, गोपथ)

ब्रह्मचारीको निरालस्य तथा नृत्य-गीतादि-परित्यागी होना चाहिये—

न गायनो न नर्तनो न सरणः (गोपथ २। ७)

छान्दोग्य० २। २३। १ में ब्रह्मचारीको अमर कहा गया है—**'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति'**। मुण्डकोपनिषद्में—ब्रह्मचर्यसे भगवत्प्राप्ति—परमात्मसाक्षात्कार कहा गया है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

दर्शन-शास्त्रोंमें

योगदर्शनमें ब्रह्मचर्यसे समस्त सिद्धियोंकी प्राप्तिकी बात कही गयी है। 'योगवार्तिक'कार श्रीविज्ञानभिक्षुने इसकी बड़ी विस्तृत व्याख्या की है। वाचस्पति मिश्रने केवल ब्रह्मचर्यसे अणिमा-महिमा आदि सिद्धियोंके तथा तारादि अष्ट सिद्धियोंके मिलनेकी बात लिखी है—

अणिमादीनुपचिनोति, सिद्धश्च तारादिभिरष्टाभिः सिद्धिभिरुहाद्याप नामभिरुपेतः।*

(तत्त्ववैशारदी व्याख्या—योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३८)

'सांख्यकारिका' २३ के माठरभाष्यमें ब्रह्मचर्य-शब्दकी सर्वोत्तम व्याख्या मिलती है।

यथा—

'स्त्रीपुरुषसंयोगे'''शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु यः सङ्गस्तदुदासः श्रोत्राद्युपरतिः असंकल्पश्च मनसः उपरतिः स अष्टाङ्गं ब्रह्मचर्यम्। एवं ह्याहुः संयोगशब्दस्पर्शरसरूपगन्धसंकल्प-स्मृतिधर्मफलत्यागाद्यष्टाङ्गं ब्रह्मचर्यमिति।

अथवा—

ब्रह्म बीजं रेतस्तच्चरति—तं न मुञ्चति इति ब्रह्मचारी।

अथवा—

ब्रह्म वेदं वा गुरुणा प्रदत्तं चरति।

अथवा—

ब्रह्मास्वयंभूस्तस्यार्थं दण्डकमण्डलुधारणरूप आकारो ब्रह्मवत् चरति इति वा। (ब्रह्मपरमात्मानं अभिमुखं वा चरति इति।)

इस तरह इसमें स्त्रीको सभी प्रकार भूल जाने, मनको पूर्ण विरक्त, उपरत, शून्य-शान्त करने, ईश्वर, वेदको स्मरण करने आदिको ब्रह्मचर्य बतलाया है।

पुराणोंमें

हरिवंशके ४५वें अध्यायमें ब्रह्मचर्यकी बड़ी महिमा है। उर्व मुनि ऋषियोंको फटकारते हुए कहते हैं कि

* सांख्यदर्शन, कारिकादिमें इनकी व्याख्या है।

सुचरित ब्रह्मचर्य ब्रह्माको भी विचलित कर सकता है— **ब्रह्माणमपि चालयेत्** । ब्रह्मचर्यमें ही धर्म एवं तपकी प्रतिष्ठा है । योगके बिना सिद्धि नहीं, सिद्धिके बिना यश नहीं; पर ब्रह्मचर्यके बिना तो योग-तप-यश कुछ भी नहीं । बिना योग-साधनाके सिर मुँड़ाना, बिना संकल्पके व्रतानुष्ठान करना और बिना ब्रह्मचर्यके तपः-स्वाध्यायादि धर्मानुष्ठानकी साधना करना दम्भमात्र ही है (हरिवंश० ४५) । * पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ४३ । ८२–९१ में भी इन श्लोकोंको दुहराया गया है । स्कन्दपुराण, रेवाखण्ड १९४ । २४-२५में ब्रह्मचर्यको ही सभी धर्म, साधन-सिद्धि, श्री एवं कीर्ति आदिका कारण बतलाया गया है ।

यथा—

मूलं हि सर्वधर्माणां ब्रह्मचर्यं परं तपः ।
मूलश्रीः प्रोच्यते ब्राह्मी ब्रह्मचर्यस्वरूपिणी ॥
सर्वयोगमयी पुण्या सर्वपापापहारिणी ।
शुभा समस्तसिद्धीनां हेतुः सेयं प्रकीर्तिता ॥

(स्कन्द० रेवा० १९४ । २४-२५)

श्रीमद्भागवत २ । ६ । १९ में इसे 'बृहद्व्रत' तथा ८ । ३ । १७ में 'अलोकव्रत' कहा गया है ।

पद्मपुराणके उत्तरखण्डका २२२वाँ अध्याय (मोर-संस्करण तथा वेंकटे० एवं बंगवाली भी; पूनाके संस्करणमें यह २७४ वाँ अध्याय है) केवल ब्रह्मचर्य-महिमापरक ही है । श्रीविष्णु-धर्मोत्तरपुराणमें तो ब्रह्मचर्यपर कई स्वतन्त्र अध्याय ही हैं । इनके अनुसार ब्रह्मचर्यसे बढ़कर कुछ नहीं है । शुद्ध ब्रह्मचारीकी सारी कामनाएँ शीघ्र ही पूर्ण होती हैं† । वह चाहे तो देवताको भी अदेवता और तुच्छातितुच्छ प्राणीको भी देवता बना दे सकता है—

यथाभीष्टमवाप्नोति ब्रह्मचर्येण मानवः ।

(विष्णुधर्म० ३ । २५८ । ४; ३ । २६१ । १–६)

वाल्मीकि-रामायण और महाभारतमें

वाल्मीकि-रामायणमें कान्तासम्मित-न्यायसे हनुमान्-लक्ष्मण आदि साधनहीन व्यक्तियोंकी समस्त-उपकरणसाधनोपेत रावण-मेघनादादि वैज्ञानिकोंपर विजय-प्राप्ति ब्रह्मचर्यका ही महिमा-प्रदर्शन है । वाल्मीकिके परमादर्श श्रीराम भी सदा ब्रह्मचर्यरत हैं, तभी लक्ष्मण-हनुमान् आदिकी उनमें ऐसी श्रद्धा-भक्ति है । हनुमान्जी स्वयं श्रीमुखद्वारा ही सीताजीसे निवेदन कर रहे हैं—

अर्चिष्मानर्चितोऽत्यर्थं ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः ।

(सुन्दरकाण्ड ३५ । १२)

(धर्माकूतादि व्याख्याकारोंने 'अत्यर्थ'के स्थानपर 'नित्य' पाठ रखकर रामको निरन्तर ब्रह्मचर्य-परायण लिखा है । महाभारतमें शान्तिपर्वके अधिकांश अध्यायोंमें ब्रह्मचर्य-महिमा है । (देखिये 'महाभारत-परिचय' गीताप्रेसमें हमारा लेख) शान्तिपर्वके अ० २१६, २४० आदिमें ब्रह्मचर्यद्वारा शीघ्र ही ब्रह्मसाक्षात्कार होनेकी बात कही गयी है—

तदा ब्रह्म प्रकाशते ।···
षण्मासान्नित्ययुक्तस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ इत्यादि ।

'योगवासिष्ठापर नाम 'महारामायण' ग्रन्थका तात्पर्य मानसनिरोध तथा श्रेष्ठतम ब्रह्मचर्यमें ही है । इस प्रकार इसके प्रत्येक श्लोकमें ही यही बात कही गयी है । ब्रह्मचर्यके सहारे सर्वथा निर्मनस्कता—अमनी-भावको प्राप्त होकर सर्वकामनाशून्य होकर पूर्ण वैराग्य एवं ज्ञानमें निरन्तर प्रतिष्ठित होकर ब्रह्मसायुज्य—जीवन्मुक्तिको तत्काल अनुभव कराना ही योगवासिष्ठ तथा महाभारतके मोक्षधर्मको अभीष्ट है । इन दोनोंमें बहुतेरे श्लोक भी परस्पर मिलते हैं ।

इसी प्रकार रावणादिके पराजयादिमें उनकी भोग-परायणता, अब्रह्मचर्य आदिको ही हेतु मानना चाहिये । महाभारतके राजधर्म तथा शुक्र, कामन्दक, सोमदेव तथा कौटल्य आदिके नीतिग्रन्थोंमें तो रावण, कराल, भोजक, दण्डक आदिके नामोल्लेखपूर्वक इसी दोषको उनके विनाशका कारण लिखा गया है—

---

* ब्रह्मचर्ये स्थितो धर्मो ब्रह्मचर्ये स्थितं तपः ।
ये स्थिता ब्रह्मचर्ये तु ब्राह्मणा दिवि ते स्थिताः ॥
नास्ति योगं विना सिद्धिर्नास्ति योगं विना यशः ।
नास्ति लोके यशोमूलं ब्रह्मचर्यात् परंतप ॥
यो निगृह्येन्द्रियग्रामं भूतग्रामं च पञ्चकम् ।
ब्रह्मचर्यं समाचरेत् किमतः परमं तपः ॥
अयोगकेशधारणमसंकल्पव्रतक्रिया ।
अब्रह्मचर्या चर्या च त्रयं स्याद्दम्भसंज्ञितम् ॥
क्व दाराः क्व च संयोगः क्व च भावविपर्ययः ।
(पद्म० सृ० ४३ । ८२–९१, हरिवंश० १ । ४५ । ३८–४२, पद्म० सृ० पूनासं० में ३८ । ८२–९१)

† इसीलिये समस्त मान्त्रिक प्रयोगोंमें तन्त्रादि साहित्यानुसार भी ब्रह्मचर्यकी परम उपयोगिता निरूपित है ।

रावणः परदारानप्रयच्छन्। भोजो ब्राह्मणकन्यामभि-मन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश। करालश्च वैदेहः।

(कौट० अर्थ० १।६।६-८)

नहुष, वेन, सुदाः, सुमुख आदिके उदाहरण भी इसी प्रकारके हैं—

वेनो विनष्टो विनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः।
सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च॥

(मनु० ७।४१)

प्रायः समस्त राजनीति-शास्त्रोंमें 'विनय' का अर्थ 'जितेन्द्रियता' ही किया गया है—**'विनयो हीन्द्रियजयः।'** यों भी सभी शास्त्रकारोंने भोगप्राप्तिकी अपेक्षा भोगत्यागको ही विशेष सुखकर और आनन्दकर माना है—

प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते।

(मनुस्मृति २।५)

न सुखं सार्वभौमस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।
सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः॥*

(महा० शा०)

स्मृतियोंमें

मनु० ५।२५९ तथा दक्षस्मृति ७।३१-३३ में ब्रह्मचर्यकी महिमा, लक्षण, परिमाणादि द्रष्टव्य हैं। वृद्धगौतम-स्मृति ३।१६ में आया है कि ब्रह्मचर्यसे आयु, तेज, बल, प्रज्ञा, लक्ष्मी, विशाल यश, परमपुण्य तथा भगवत्कृपा-प्रसाद, प्रीतिकी प्राप्ति होती है।

आयुस्तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महायशः।
पुण्यं च मत्प्रियत्वं च हन्यते* ब्रह्मचर्यया॥

(यह श्लोक महाभारत, अश्वमेधपर्व—कुम्भकोणम् संस्करणके १००।१६में भी इसी प्रकार प्राप्त होता है।)

आयुर्वेदमें

भारतीय आयुर्वेदमें तथा अन्यान्य सभी प्रकारकी चिकित्सा-पद्धतियोंमें भी ब्रह्मचर्यको सर्वस्व माना गया है। भावप्रकाश ३।१९८ में वीर्यनाशसे प्राणनाश लिखा है। अष्टाङ्गहृदयकार वाग्भटका कथन है कि ब्रह्मचर्य ही ओज, बल, तेज, तुष्टि, पुष्टि आदिका कारण है। इसके नाशसे उपर्युक्त वस्तुओंके क्षयके साथ प्राणोंका भी क्षय होता है। ब्रह्मचर्यसे ही प्रतिभा, स्फूर्ति, उत्साह, लावण्य, संहनन आदिकी उपलब्धि होती है। इसी प्रकार 'योग-रत्नाकर', 'चरक', 'सुश्रुत' आदिके भी वचन हैं।

कुछ और ऐतिहासिक उदाहरण

ऐतिहासिक उदाहरणोंकी चर्चा हम रामायण-महाभारत-वाले प्रसङ्गमें कर चुके हैं। हनुमान्‌जीको ब्रह्मचर्यकी प्रतिमूर्ति माना जाता है। सभी वानरोंके बीच अकेले इनका ही समुद्रोल्लङ्घन, अशोकवाटिका-विध्वंस, अगणित राक्षस-समूहका मर्दन, लंकादाह, अक्षयकुमार-वध, रावण-मेघनाद-प्रधर्षण, विचार-वार्तालाप आदिमें अद्भुत बुद्धि-कौशल-प्रदर्शन, पुनः समुद्रोल्लङ्घन, मधुवन-ध्वंसन और इतनेपर भी लेशमात्र भी श्रमशैथिल्यका अनुभव न होना महदाश्चर्यकी बात है। पर यह सब कुछ सत्य है और मुख्यतः उनके ब्रह्मचर्यका ही फल है। इसी प्रकार परशुरामद्वारा असंख्य बार अद्भुत पराक्रमी योद्धाओंका सफाया उनके ब्रह्मचर्यके कारण ही सम्भव हुआ। भीष्मका वार्द्धक्यमें भी युवाके समान युद्ध, शंकराचार्यकी अद्भुत प्रतिभा, मेधा, स्मृति तथा बौद्धधर्मका समुन्मूलन आदि कार्य ब्रह्मचर्यके ही चमत्कार थे।

---

* यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(कठ० २।३।१४, बृहदा० ४।४।७)

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः काम हतस्य ते॥
(श्रीमद्भा० ९।१९।१३)

विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते।
(श्रीमद्भा० ७।१०।९) इत्यादि भी।

यदि सर्वं परित्यज्य तिष्ठस्युत्क्रान्तवासनः।
अमुनैव निमेषेण तन्मुक्तोऽसि न संशयः॥
यथा करतले बिल्वं यथा वा पर्वतः पुरः।
प्रत्यक्षमेव तस्यालमजत्वं परमात्मनः॥
(योगवासिष्ठ ३।६७।१९, २४)

जाता चेदरतिर्जन्तोर्भोगान् प्रति मनागपि।
तदसौ तावतैवोच्चैः पदं प्राप्त इति श्रुतिः॥
(योगवासिष्ठ ३।६१।३४)

यतो यतो निरिच्छत्वं मुक्तैव ततस्ततः।
यावद्गतिर्यथाप्राणं हन्यादिच्छां समुत्थिताम्॥
(योगवाशिष्ठ, स० ६।२।३६, ४०)

* यहाँ हन्-धातुका प्रयोग गति अथवा प्राप्ति-अर्थमें हुआ है।

सनत्कुमार, सनत्सुजात, नारद, पराशर, व्यास और शुकदेव, कपिल, पञ्चशिख, बोढु आदि असंख्य ऋषि, मुनि, महात्मा ब्रह्मचर्यके कारण अद्भुत ग्रन्थ-निर्माणादि-विचक्षण होकर पूर्ण सिद्धि-लाभ कर चुके हैं। स्वामी दयानन्द, प्रोफेसर राममूर्ति आदिने भी अद्भुत कार्य किये थे। पहले पाश्चात्त्य देशोंमें भी ब्रह्मचर्यका बड़ा महत्त्व था। रोमन चर्चोंमें ऊपरसे नीचेतकके सभी पुजारियोंको ब्रह्मचर्यकी शपथ लेनी पड़ती थी। यूनानका स्पार्टा देश इसमें बहुत आगे बढ़ा था। वहाँके केवल ३०० ब्रह्मचारियोंने ईरानी बादशाह खुसरोके ३ लाख सैनिकोंका सामना किया और उन्हें आगे बढ़नेसे रोक दिया था। एथिक्सके विभिन्न ग्रन्थों तथा इन्साइक्लोपीडियाके 'Celibacy' शब्दमें इनके उदाहरण आदि देखने चाहिये।

श्रीविन्सेंट ए० स्मिथने भारतके एक श्रीकृष्णोपासक महानुभाव-सम्प्रदायका उल्लेख किया है। जो अपने विशिष्ट ब्रह्मचर्य-प्रेमके लिये विख्यात है, इनका प्रधान स्थान बरारमें रिद्धपुर नामक ग्राम है। इनकी दूसरी शाखा काबुलमें पायी जाती है—

श्रीस्मिथने यह भी लिखा है कि Mount Athes के Monk को ब्रह्मचर्यका इतना ध्यान था कि उसे जीवनमें कभी स्त्रीका दर्शनतक नहीं हुआ*। बौद्धधर्मके 'पात्तिमोक्ख' के २२७ वें नियमके अनुसार ब्रह्मचर्य-पालन करना पड़ता था (सूतविभंग)। चीन-जापानमें बौद्धधर्म एवं कन्फ्युसियस आदिके नियमोंके अनुसार इनका सामान्यतः आचरण होता रहा है।

ब्रह्मचर्य-धर्म और उसके आदर्श

(लेखक—एक गृहस्थ)

सनातनधर्मानुसार मनुष्य-जीवनका मुख्य लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार या परमात्मप्राप्ति है। यथा—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

(केनोपनिषद्, खण्ड २। ५)

अर्थात् 'यदि इस जन्ममें ब्रह्मको जान लिया, तब तो ठीक है और यदि इस जन्ममें न जाना तो भारी हानि है। बुद्धिमान् समस्त प्राणियोंमें उस ब्रह्मको प्राप्त करके इस लोकसे जाकर अमर हो जाते हैं।' इसी प्रकार अन्यत्र श्रुतिका वचन है—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

(श्वेताश्वतर० ३। ८)

'उस परमात्माको ही जानकर मनुष्य जन्म-मृत्युके बन्धनसे छूटता है, मोक्षका अन्य कोई रास्ता नहीं है।'

अब प्रश्न उठता है कि हम इस लक्ष्यको कैसे प्राप्त करें। इसके लिये ऋषि-मुनियोंके साधन-चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व) के अतिरिक्त श्रुतिने नित्य सत्य, नित्य तप, नित्य ज्ञान तथा नित्य ब्रह्मचर्य इत्यादि भी निम्नाङ्कित रूपमें निर्दिष्ट किये हैं—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

(मुण्डक० ३। १। ५)

अर्थात् यह आत्मा सर्वदा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जिसे दोषहीन योगीजन देखते हैं, वह ज्योतिर्मय शुभ्रात्मा शरीरके भीतर रहता है। जिस ब्रह्मचर्यका जीवन-लक्ष्य-प्राप्तिमें ऐसा विशेष महत्त्व है, उसके विषयमें ज्ञान आवश्यक है। अतः इसका दिग्दर्शन करानेका प्रयास किया जाता है—

* In India no such creature is conceivable as the monk of Mount Athes, who had never to his knowledge seen a woman. (Encyclopedia of Religion & Ethics)

'पुरुषके लिये अष्ट प्रकारका मैथुन न करना अर्थात् कुभावसे किसी भी स्त्रीका दर्शन, भाषण, स्पर्श, स्मरण, श्रवण, उसके साथ एकान्तवास, हँसी-दिल्लगी और सहवास आदिका सम्बन्ध न रखना 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है । इसी प्रकार स्त्रीके लिये पुरुषके विषयमें समझना चाहिये । न वाणीसे अश्लील वचन बोलना, न मनमें अश्लील भावोंको स्थान देना और न इस विषयका अनुमोदन करना । सभी स्थानों, सभी अवसरों, सभी देशोंमें तथा सभी प्राणियोंके साथ इस व्रतका पालन 'महाव्रत' कहलाता है । केवल तीर्थोंमें, एकादशी, पूर्णिमा, अमावस्या आदि तिथियोंमें तथा मनुष्य-समाजानुमोदित अवसरोंमें ही इस व्रतका पालन 'महाव्रत' नहीं कहलाता ।

ब्रह्मचर्य-व्रतका पूर्णरूपसे शास्त्रानुकूल पालन सदाचारकी आधारशिला है । देवताओं तथा बाल-ब्रह्मचारी भीष्म-पितामह आदि उच्च आदर्शयुक्त महानुभावोंने इस व्रतका पालन करके मृत्युको भी जीत लिया था । यथा—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।

श्रीभीष्मपितामहने तो ब्रह्मचर्यव्रतका उच्चादर्श हम सबके सामने रक्खा है । उन्होंने अपने स्वार्थका पूर्णरूपसे त्याग करके अपने पिताके हितमें आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया, बहुत कष्ट सहे, किंतु अपने पिताके स्वाभाविक तथा शास्त्रानुसार उत्तराधिकारी होते हुए भी राज्य लेनेकी इच्छातक नहीं की तथा जन्मभर विवाह नहीं किया । उनके इस त्यागके प्रभावसे उन्हें यह शक्ति प्राप्त हो गयी कि वे बाण-शय्यापर तबतक जीवित पड़े रहे, जबतक कि सूर्य उत्तरायण नहीं हुए और उन्होंने स्वयं मृत्युको प्राप्त होनेकी इच्छा नहीं की ।

ब्रह्मचर्यका आत्मिक उन्नति तथा ज्ञानसे गहरा एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा यह शारीरिक, मानसिक और सदाचार-सम्बन्धी तीनों उन्नतियोंका कारण है । अतः यह व्रत मनुष्य-जीवनका आधार है । कुछ पाश्चात्त्य-देशनिवासी 'योगाभ्यास तथा भोगाभ्यास' साथ-साथ करते हैं और कहते हैं कि भोगाभ्यास आत्मोन्नतिमें बाधक नहीं हो सकता । यह उनकी बड़ी भारी भूल है । छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ८ में स्पष्ट बतलाया गया है कि इन्द्र और विरोचनको प्रजापतिने आत्मज्ञानका उपदेश देनेसे पहिले तीन बार ३२-३२ वर्षके तथा एक बार ५ वर्षके ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करवाया था । जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यने अपने इस उपनिषद्-भाष्यमें ब्रह्मचर्य-व्रतका साधन आवश्यक बतलाया है ।

इन्द्रियोंके भोगोंमें हमारी भीतरी शक्तिका बहुत ही दुरुपयोग तथा क्षय होता है । अतः हमारी आत्मिक उन्नतिमें बड़ी बाधा पड़ती है । यदि हम अपनी शक्तिको भोगोंमें व्यय न करके आत्मिक उन्नतिमें लगायें तो महान् शक्ति-संचय कर सकते हैं । यह शक्ति-संचय ही आत्मोन्नतिका प्रधान साधन है । हमारी शक्तिका नाश कामेन्द्रियद्वारा सबसे अधिक होता है । अतः इस ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन शक्तिसंचयके लिये भी बहुत आवश्यक है ।

वीर्य सब रसोंका रस तथा चरम धातु है । हमारे शरीरमें ओज और कान्ति वही है । अतः यदि हम ओजस्वी, कान्तियुक्त तथा तेजस्वी रहना चाहते हैं तो वीर्यरक्षा करना हमारा परम कर्तव्य है । गृहस्थ भी शास्त्रानुसार ब्रह्मचारी कहला सकता है, यदि वह अपनी पत्नीके साथ संतानोत्पत्तिके निमित्त केवल ऋतुकालाभिगामी हो । परस्त्री-गमन महापाप है । तथा महाभारत आदि धर्मग्रन्थोंमें बतलाया गया है कि आयु क्षीण करनेवाले दुष्कर्मोंमें सबसे अधिक आयुक्षीण करनेवाला दुष्कर्म यही है । यह दुष्कर्म प्रायः कुसंगतिमें पड़नेसे होता है । कुसङ्गसे बचनेके लिये सत्सङ्गका प्राप्त करना आवश्यक है । आजकल ब्रह्मचर्यव्रतमें बाधक (१) कुसंगति, (२) दूषित वातावरण, (३) सिनेमा, (४) सहशिक्षा और (५) स्कूल-कालेजोंके गुरु-शिष्य-सम्बन्धमें महान् विकार तथा पाश्चात्त्य दूषित विचारोंका (धर्म-शास्त्रके विरुद्ध) प्रचार है ।

पाश्चात्त्य देशोंमें शुद्ध भावकी कुमारी कन्याओंका प्राप्त होना कठिन है । हमारे देशमें भी अब यही होने जा रहा है ।

परम पिता परमात्मासे विनीत प्रार्थना है कि वे हम सबको सद्बुद्धि दें, जिससे हम सदाचारी, तेजस्वी, बल-वीर्यवान् हों तथा संसारमें देशका मस्तक ऊँचा करें ।

(२)

(लेखक—श्रीपरमहंसजी, श्रीरामकुटिया)

आयुस्तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महद् यशः ।
पुण्यं च मत्प्रियत्वं च लभते ब्रह्मचर्यया ॥

(महाभारत)

ब्रह्मचर्यका शब्दार्थ समझना बहुत कठिन है । बहुत-से लोग इसका अर्थ इन्द्रियदमन, संयमका साधन न करते हुए

केवल विवाह न करना, जटाजूट बढ़ा लेना, वेष बनाकर इधर-उधर भटकना मात्रको ही ब्रह्मचर्य मानते हैं और अपनेको ब्रह्मचारी कहते हैं। यह भ्रम तथा आत्मप्रवञ्चना है। स्थूलार्थमें ब्रह्मचर्यका अर्थ 'वीर्यनिरोध' या 'कामदमन' ही है। ब्रह्मचर्यका पूरा अर्थ तो है—ईश्वरपरायणता अथवा ब्रह्मरूप वेदोंका अध्ययन-सेवन और सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें ऐकात्म्य।

हमारे शास्त्रोंमें वीर्यको बीज, वीरत्व, ओज, बल, तेज, शुक्र, पवित्रता, रेत, कान्ति, बिन्दु और भर्गादि नामोंसे अभिहित किया है।

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।
तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुरक्षणम्॥

'वीर्यपातसे मृत्यु और वीर्यधारणसे जीवन है, अतएव प्रयत्नपूर्वक वीर्यरक्षा करनी चाहिये।'

ब्रह्मचारी ही दीर्घायुष्य, तेज, बल, वीर्य, श्री, बुद्धि, कीर्ति, पुण्य और कर्म, ज्ञान तथा भक्तिको प्राप्त करके ब्रह्ममें लीन हो सकता है। इसके अभावसे प्राणी दुःखी, रोगी और अल्पायु होते हैं। भारतीय आयुर्वेदने स्वास्थ्यके लिये **'आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति त्रय उपस्तम्भाः'**—भोजन, नींद और ब्रह्मचर्यको ही प्रधान स्तम्भ माना है। मानसिक विकास भी ब्रह्मचर्यसे होता है। वीर्य एक महान् शक्ति है। अथर्ववेदमें भी कहा है—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।

'ब्रह्मचर्यरूप तपसे देवोंने मृत्युपर विजय प्राप्त की है।' वर्तमान युगके महापुरुष महात्मा गांधीजीने भी लिखा है—'आरोग्यकी कुंजी तो ब्रह्मचर्य है।'

श्रीविनोबा भावेजी लिखते हैं—'अद्भुत शक्ति एवं विलक्षण प्रभावका रहस्य ब्रह्मचर्य-धर्ममें है।' ब्रह्मचर्याश्रम हिंदूधर्मकी बड़ी विशेषता है। अंग्रेजीमें ब्रह्मचर्यके लिये शब्द ही नहीं है। ब्रह्मचर्य मनुष्य-जीवनरूपी वृक्षकी सर्वोत्तम खाद है। वृक्षकी तरह आत्मा और बुद्धिको भी जीवनके आरम्भसे अच्छी खुराक मिले, इसीलिये ब्रह्मचर्यधर्मकी रचना की गयी है।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वथा मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम्॥

वीर्यधारणार्थ मन, वचन और कर्मसे सब प्रकारसे सर्व-कालके लिये सब ओरसे मैथुनका त्याग करना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। धर्मग्रन्थोंमें मैथुनके आठ प्रकार बतलाये गये हैं—स्त्रीका स्मरण, कीर्तन, प्रेक्षण, उसके साथ केलि, गुह्यभाषण, समागमका संकल्प, अध्यवसाय और क्रिया। इन आठ प्रकारके मैथुनोंसे बचना ही ब्रह्मचर्य-धर्म है।

ब्रह्मचर्यकी तीन श्रेणियाँ मानी गयी हैं—(१) ऊर्ध्वरेता, (२) योगी और (३) ब्रह्मचारी। यह जगत् त्रिगुणमयी मायाका कार्य है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्। (गीता)

संसारमें सभी प्राणी इन त्रिगुणात्मक भावोंसे ही भावित हैं। अतएव ब्रह्मचारी भी तीन प्रकारके हैं। प्रथम श्रेणीवाले ब्रह्मचारियोंके वीर्यमें कम्पन या विकार सर्वथा होता ही नहीं। सनकादि, नौ योगीश्वर और कपिलदेवादि 'ऊर्ध्वरेता' ब्रह्मचारी कहे जाते हैं। दूसरी श्रेणीवाले ब्रह्मचारियोंके वीर्यमें कम्पन-विकार तो अवश्य उठते हैं; परंतु वे अपने कठोर संयम, बल, प्रज्ञा और योगसाधनादिके द्वारा उन कम्पन-स्पन्दनको—बिन्दुको ब्राह्ममें लीन कर देते हैं। नारद और भीष्म आदि ब्रह्मचारी इस दूसरी श्रेणीके माने जाते हैं।

तीसरी श्रेणीमें सभी साधक आ जाते हैं, जिसके लिये भगवान् कहते हैं—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

इसमें गृहस्थ भी ब्रह्मचारी माने गये हैं। जिनके वीर्यमें कम्पन-स्पन्दन आदि विकार उठते हैं, उन्हें ईश्वरके आदेशानुसार प्रजा उत्पन्न करनी होती है। **'प्रजनश्चास्मि कंदर्पः।'** उसे ब्रह्मकी ही उस ब्रह्मबिंदुसे होनेवाली—**'एकोऽहं बहु स्याम्'**—रूपा जो दिव्य संकल्पशक्ति है, उसकी प्रेरणासे संतानोत्पत्ति कार्यमें सम्मिलित होना पड़ता है। इसे प्राकृतिक वेग कहा जाय तो आपत्ति नहीं। जैसे पशु-पक्षी बारह मास विचरा करते हैं; जब ऋतुके अनुसार प्राकृतिक संकेत मिलता है, तभी वे सृजनकार्य किया करते हैं।

धन्य है पशु-पक्षियोंको, जो ईश्वरीय प्राकृतिक संकेतसे अभीतक उस सृजन-विज्ञानके रहस्यमें सुसंयत हैं। आजका मानव (स्त्री-पुरुष) तो विषयासक्तिवश संयमको खोकर मनमाना आचरण करने लगा है—

विवाहो न विलासार्थः प्रजार्थमेव केवलः।
तेजोबुद्धिबलध्वंसो विलासात्प्रभवेत्खलु॥

अतएव परित्यज्य विलासं मोहकारणम् ।
संनियम्येन्द्रियाण्याशु विचारेण सुखी भवेत् ॥

'स्त्री-पुरुष दोनोंको निश्चय जान लेना चाहिये कि विवाह विलासके लिये नहीं है, केवल प्रजोत्पत्तिके लिये है। विलाससे तो तेज, बल तथा बुद्धिका नाश होता है। अतएव तुरंत इन्द्रिय-संयम करके असली सुखको प्राप्त करना चाहिये।'

भारतमें ब्रह्मचर्यधर्म आज प्रायः सब प्रकारसे नष्ट-भ्रष्ट हो चला है। विद्यार्थी-जीवनका तो सारा क्रम ही मानो उलट-पुलट हो गया है। कहाँ गुरुकुलनिवासी ब्रह्मचारीका कठोर संयम-नियम और कहाँ आजके छात्रावासके विद्यार्थीका असंयमी जीवन! यहाँ ब्रह्मचर्यधर्मसे फिसल जानेके कुछ कारणोंका नीचे दिग्दर्शन कराया जाता है—

शृङ्गार—सूट-बूट, सजावट, तेल, साबुन, क्रीम, स्नो, पाउडर, लिपस्टिक आदि कृत्रिम सौन्दर्यकी वस्तुओंमें आसक्ति-कामना तथा स्कूल-कालेजोंमें होनेवाली सहशिक्षा ब्रह्मचर्यके नाशमें प्रधान कारण है। इसीसे ब्रह्मचर्यधर्ममें शृङ्गार करना मना है। शृङ्गारप्रिय मनुष्य कामरहित नहीं हो सकता। **'नाकामी मण्डनप्रियः।'**

कुविचार—दिमागमें जैसे विचार भरे जायँगे, उसी प्रकारकी क्रिया होगी। कुत्सित विचार कामवासनाको ही उत्तेजित करनेवाले हैं। असंयमपूर्ण मनोविनोद, सह-यौन-शिक्षा, गंदे साहित्यका पढ़ना, कुत्सित विचारोंके जन्मदाता हैं। इसलिये सदा संयम तथा नियम सिखानेवाले सत्साहित्यका अध्ययन करना चाहिये। पवित्र भावोंवाली गङ्गा-यमुना-सदृश साहित्य-नदीमें ही अवगाहन करना चाहिये।

कुसङ्ग—सङ्गका मनुष्यपर बहुत शीघ्र प्रभाव पड़ता है। असत्यवादी, असंयमी, बकवादी, दुष्ट, व्यभिचारी, दुर्व्यसनी और गंदे लोगोंकी संगतिसे जीवनमें भ्रष्टता तथा पापवासना आती है। ऐसे कुसङ्गसे बचे। भले ही लोग दकियानूसी, पुराण-पंथी अथवा भगतड़ा कहें। कुसङ्गका सेवन कभी न करे—**दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः।**

सिनेमा—छात्रोंके चरित्र-नाशमें सर्वप्रधान कारण हैं आजकलके सिनेमा। छात्रोंको सिनेमा देखनेका शौक ज्यादा होनेसे उनपर व्यापक घातक प्रभाव होता है। इसी कारण छात्रावस्थामें ९० प्रतिशत छात्र वीर्य-विकारसे पीड़ित रहते हैं। सिनेमा एक अप्रतिहत मीठा विष है, जो घर-घरमें प्रवेश कर चुका है।

साइकिल—साइकिलसे वीर्यप्रवाही प्रणालियोंमें एक रगड़ और दबाव होकर वीर्यमें विकार उत्पन्न होता है। इससे भी वीर्य-स्राव होना सहज हो जाता है।

अनियमितता—आजकल सभी लोग समयपर न तो उठते हैं, न समयपर खाते हैं। विश्राम आदिमें पूर्णरूपसे अनियमितताका साम्राज्य छाया हुआ है। सिनेमा और रेडियोने बिना खाये-पीये-सोये-जगते रहना सिखाया है, जिससे मानसिक और शारीरिक अवयवोंपर दुष्प्रभाव होता है। होटलमें खाना, चाय, चाट, केक, बिस्कुट, सिगरेट, डालडा, क्लबकी टी-पार्टी, मैच, पर्यटन और मांस, मद्य, अंडा आदि अभक्ष्य-भक्षण इत्यादिके फलस्वरूप आहार, विहार और आचारमें अनियमितता आ जाती है। स्वास्थ्य और ज्ञान-तन्तु नष्ट हो जाते हैं। खान-पानकी अशुद्धिसे बुद्धि तामसी हो जाती है।

आत्मदोष—भारत उष्णताप्रधान देश है। जलवायुके प्रभावसे लड़के-लड़कियोंमें प्रायः १२-१३ वर्षकी आयुमें युवावस्था प्रारम्भ हो जाती है। युवावस्थाके उदयके कारण शरीरके अवयवोंमें उत्तेजना उत्पन्न होता है। इसे सह-शिक्षाकी सुविधा मिल जाती है। अतएव क्षणिक आनन्दके लिये विभिन्न कुटेवोंके चंगुलमें फँसकर तथा व्यभिचारादि दोषोंके शिकार होकर ९० प्रतिशत विद्यार्थी वीर्य-नाशके रोगी हो जाते हैं।

घरका वातावरण—घरोंके असंयमपूर्ण तथा कलुषित वातावरणका बालकोंके मनपर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। वर्तमानमें सभी घरोंमें रेडियो, ग्रामोफोन, कैमरा, गंदे तथा संयमके विरोधी किस्से-उपन्यास, ताश, सिनेमा-सम्बन्धी मासिकपत्र, रंग-बिरंगी विभिन्न सजावटें आदि सामग्रियाँ मौजूद हैं और इनसे आनन्द प्राप्त करनेकी इच्छासे जब घरके सभी स्त्री-पुरुष मिलकर ऐसा गंदा हास्य-विनोद करते हैं, जिससे विषयवासनाको प्रोत्साहन मिलता है, तब कोमलमति बालकोंके हृदयपर इन सबकी गहरी अमिट छापका अङ्कित हो जाना क्या आश्चर्यकी बात है? परिणाममें ब्रह्मचर्य-पालनमें बहुत हानि पहुँचती है। बालकोंके सामने स्त्री-पुरुषोंको कभी हास्य-विनोद नहीं करना चाहिये। घरमें देवमन्दिर सजाकर भगवान्‌के अवतार (जन्मोत्सव) आदिके कार्यक्रम मनाये जायँ; भक्तों, वीरों, उदार पुरुषों, संयमी महानुभावों तथा आदर्श पुरुषोंकी जीवनी पढ़ी-सुनी

जाय। महापुरुषोंके आदर्श गुणोंका व्याख्यान करके बच्चोंको उधर आकर्षित करना चाहिये। कथा-संकीर्तन-भजनादि सत्सङ्गके द्वारा घरोंको सत्य, सदाचार और शान्तिके वातावरणसे सुसज्जित रखना चाहिये, जिससे बच्चोंके मनमें सुसंस्कार पड़ें और उनके लिये ब्रह्मचर्यका पालन सुगम हो। गृहस्थ-जीवनके उपर्युक्त कारणोंमें ही प्रधानतया ब्रह्मचर्यकी हानि संनिहित है।

असंयम—अकेली जननेन्द्रिय कभी वशीभूत नहीं हो सकती, यदि साथ-ही-साथ जीभ, कान, नाक, आँख, हाथ, पैर, मुख, चर्म और मनको भी ठीक संयममें न रक्खा जाय। जीभके स्वादके लिये भोजन करना, उच्छृङ्खल प्रेमके गाने सुनना, चटकीले-मटकीले कीमती वस्त्र पहनना, सुगन्धित तेल-इत्र लगाना, बिना विचारे माता-पिता-गुरुजनोंकी आज्ञा बिना मनमुखी कार्य करना, भारतीय वेष-भूषासे रहित पाश्चात्त्य पोशाक पहनना, निकम्मा फिरना, स्नान आदि न करना, खट्टा-चटपटा, तेज मसाले, मांस-अंडा, मछली-मदिरा आदि निषिद्ध वस्तुओंका सेवन करना, चाय-कॉफी आदि पीना और निषिद्ध व्यवहार करना—साथ ही अपनेको ब्रह्मचारी भी बनाये रखना सर्वथा असम्भव है। आज परिवार-नियोजनका जो प्रचार होता है, इससे भी असंयमकी ही वृद्धि होगी। यदि आदर्श परम्परासे स्त्री-पुरुष संयमी जीवन निभाते तो आज ऐसी नौबत ही नहीं आती। सुना है कि 'गर्भपात कानून' भी बनने जा रहा है। फिर तो असंयमता घर ही कर लेगी। परिणाम-स्वरूप ब्रह्मचर्य-धर्म समूल उखड़ जायगा!

प्रत्येक स्त्री-पुरुषको ब्रह्मचर्य-धर्मकी रक्षा करनी चाहिये। पुष्टवीर्य—संयमी बनना चाहिये। ब्रह्मचर्य-शक्तिसे महानता, यश तथा सच्ची समुन्नति होती है। ब्रह्मचर्यसे शारीरिक शक्ति, वाक्शक्ति, ज्ञानशक्ति, उत्साहशक्ति, स्मृतिशक्ति, विज्ञानशक्ति, दैवीशक्ति एवं ईश्वरीयशक्ति आदि शक्तियोंकी प्राप्ति तथा वृद्धि होती है। ब्रह्मचर्यके लिये कुछ अनुकूल नियम हैं, जो नीचे लिखे जाते हैं। ये ब्रह्मचर्यकी रक्षामें सहायक होंगे। अतः इन्हें पढ़कर समझना और धारण करना चाहिये—

१-महान् ध्येय—मनुष्य-जीवनका ध्येय है परमात्मा-की प्राप्ति, भगवत्प्रेमकी प्राप्ति या मोक्ष। इसके लिये विभिन्न पारमार्थिक साधनोंके साथ ही देश-सेवा, परोपकार, धर्मप्रचार आदि श्रेष्ठ साधन करने चाहिये। इसीमें मानवता है। जिसके जीवनका कोई ध्येय नहीं और जो वासना-तृप्तिको ही जीवनका लक्ष्य समझता है, वह व्यक्ति छात्र हो या बड़ी उम्रके स्त्री-पुरुष—किसीके कहनेसे, दबावसे या देख-रेखसे ब्रह्मचारी नहीं रह सकता। पवित्र और उच्चध्येयको बराबर जीवनके सामने रक्खें, तभी ब्रह्मचर्य-धर्ममें सफलता मिलेगी।

२-ईश्वरपरायणता—परमात्मा सर्वज्ञ, समर्थ और सर्वत्र हैं। वे हमारे भले-बुरे सभी कर्मोंको देखते हैं। वे हमारे हृदयमें विराजमान हैं। हम अपराध करते हैं और परिणाममें छल-बलके द्वारा राजदण्डसे बच जाते हैं, परंतु प्रभुकी दृष्टिसे नहीं बच सकते। वे राज्यसत्तासे अधिक कठिन दण्ड देते हैं। देखिये अंधे, पंगु, गूँगे, बहरे, रोगी, कोढ़ी, बाँझ, रङ्क, भिक्षुक, दीन, हीन, पीन, अङ्गक्षीण और पराधीन—ये सब अपने किये कुकर्मोंका ही कुफल भोगते हैं। इन्हें कोई नहीं टाल सकता। अतः ईश्वरपरायणताका,—जो ब्रह्मचर्यका लक्ष्य है, ठीक तौरसे भक्ति-भावसे सादर तथा सप्रेम सेवन करना चाहिये। भगवान्की कृपापर भरोसा करके भगवान्में चित्त लगानेसे सारे विघ्नोंके किले ढह जाते हैं—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि॥

३-राम-नामका जप—सभी महापुरुषोंका अनुभव है कि रामनामका जप विषय-वासनाको जीतनेके लिये 'रामबाण' उपाय है। श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार 'मनको वश करनेके कुछ उपाय' पुस्तकमें लिखते हैं कि 'जब कभी मनमें विषयवासना उत्पन्न होती है, तब तुम्हारा मन रामनाम-जपसे रहित होता है। रामनामके जपे बिना मनका मैल नहीं धुल सकता।' गायत्री-मन्त्रका तथा भगवान्के अन्य मङ्गलमय नामोंका जप भी श्रेष्ठ है। जो व्यक्ति श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तन्मय होकर नियमितरूपसे रामनामका जाप करता है, वह सफल होगा ही।

४-सात्त्विक भोजन—दूध, फल, अन्नादिका सात्त्विक सादा आहार ब्रह्मचर्यमें सहायता पहुँचाता है। ठीक नियमित समयपर उचित मात्रामें हल्का और सुपाच्य भोजन ब्रह्मचारीके लिये उपयोगी है। खटाई, मिठाई, अंडा, मांस, मछली, मदिरा, लहसुन, प्याज, चटपटी चीजें, राई, अचार, चाय, चटनी, गरम मसाला, उत्तेजक पदार्थ तथा बासी, जूँठा और अपवित्र भोजन नहीं करना चाहिये।

५-स्वाध्याय—छात्रोंके लिये जैसे मनोयोगपूर्वक पाठ्य

ग्रन्थोंका पढ़ना लाभदायक है; वैसे ही ब्रह्मचारीको वेद, शास्त्र, उपनिषद्, महाभारत, पुराण, गीता, रामायण, गुरु-ग्रन्थ तथा महापुरुषों-संतोंके लिखे ग्रन्थ एवं उनके जीवन-चरित्रका ज्ञानार्जनके लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना परम लाभदायक है। जो लड़के केवल परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके लिये पढ़ते हैं, उनका चरित्रहीन होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं। कोई पुस्तकें पढ़नेसे पुण्य-लाभ चाहे तो वह व्यर्थ है। कर्म, धर्म, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य-विवेककी प्राप्तिके द्वारा आत्मकल्याणकी इच्छासे जो ग्रन्थोंका अध्ययन किया जाता है, वही स्वाध्याय कहलाता है और ब्रह्मचर्य-धर्ममें वही सहायक है।

६-स्वास्थ्य-कामना—जो सौ वर्षकी आयुतक नीरोगी जीना चाहता है, उसे स्वास्थ्यका पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये। ब्रह्मचर्यसे स्वास्थ्यकी रक्षा होती है और स्वास्थ्यसे ब्रह्मचर्यकी। मनुष्यको युक्त वायु, आहार, विहार, आचार और विचारादिसम्पन्न होना चाहिये। सोना-जागना, चलना-बैठना, बोलना-सुनना, खाना-पीना—सभी युक्त होना चाहिये। व्रत, उपवास, मौन, फलाहार और जागरण भी जीवनके ठोस स्तर हैं; इनसे ब्रह्मचर्यका पालन हो सकेगा तथा बल, वीर्य, तेज और तप-पुण्य बढ़ेंगे।

७-कार्यव्यस्तता—मनुष्यके लिये कभी निकम्मा बैठना उचित नहीं। अवकाशके समय माता, पिता, गुरु, दीन-दुखी, रोगी, अनाथ, अबला, गौ, देश, ब्राह्मण, साधु-संन्यासी और समाजकी सेवामें लग जाना चाहिये। व्यर्थ गप्पें मारना, घूमना, नाटक-ड्रामा देखना, सैर-सपाटेमें जाना, ताश-चौपड़ खेलना, परनिन्दा-परचर्चा करना, चुगली-चोरी करना आदि छोड़कर समयको सदा सदाचरणमें लगाना ब्रह्मचर्यमें सहायक है।

८-मितव्ययता—सादगीसे रहना परमावश्यक है। आज फैशन-फैशनमें भारत ऋणी हो गया। जहाँ भारतदेश सोना-चाँदी, हीरा-मोती, दूध-दही, घी-शक्कर और ज्ञान-भक्तिका भंडार था, वहाँ आज कंगाली, भुखमरी और मूर्खता छायी है। इसका एक मुख्य कारण फिजूलखर्ची भी है। शौकीनी, विलासिता, फैशन, शूट-बूट-शर्ट, पेन, घड़ी, रूमाल, छड़ी, नवीन ढंगके कपड़े आदिके चक्रमें पड़ना हिंदू-संस्कृतिको खो बैठना है। खादी या देशी वस्त्रोंका भारतीय ढंगसे पहनना, निवासस्थान, आसन, बासन, भूषण और वेष भी भारतीय प्राचीन पूर्वजोंके द्वारा सेवित सादा कम-खर्चीला तथा स्वच्छ रखना, रीति-रिवाज-व्यवहारमें व्यर्थ खर्च न करना, आडम्बर तथा दिखावेसे बचना एवं सात्त्विक ढंगसे जीवन-यापन करना चाहिये। यातायातमें भी यथासाध्य यथासम्भव देखा-देखी अधिक खर्च न करके सादगीका ही व्यवहार करना चाहिये। सादगीसे ब्रह्मचर्यकी सिद्धि होती है। एक स्त्रीके होते अन्य स्त्रियोंसे सम्बन्ध या विवाह करनेकी तो कभी कल्पना-कामना ही नहीं करनी चाहिये। दुर्भाग्यकी बात है, कि 'कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः' के आसुरी दुष्परिणामसे आज संतान-पर-संतान उत्पन्न होती जा रही है। एक पुरुषको एक स्त्रीमें संतृप्ति नहीं है। मनुष्य व्यभिचारमें धन, मन और तन खो रहे हैं। जो खुद दुखी, रोगी और अल्पायु हैं, वे कभी मानव-समाजको सुखी, स्वस्थ और दीर्घजीवी नहीं बना सकते।

देशकी उन्नति केवल पढ़ाई-लिखाई और सजावटसे नहीं होती। उन्नतिका मूल-मन्त्र है—संयम और त्यागपूर्ण ब्रह्मचर्य-धर्म। प्राचीन समयमें भारत ब्रह्मचर्यके बलसे महान् था, यशस्वी था, बलवान्, विद्वान्, धनवान्, ज्ञानी और जीवन्मुक्त था। यह समुन्नति ब्रह्मचर्यके प्रतापसे थी। गृहस्थजीवनमें भी ईश्वरीय प्राकृतिक प्रेरणासे ऋतुकालोपरान्त केवल संतानोत्पत्तिके लिये एक बार ही सहवास करनेवाले एकनारी-व्रती तथा पतिव्रता स्त्री ब्रह्मचारी ही माने जाते हैं। ऐसे ब्रह्मचारी गृहस्थकी ही संतान बलवान्, बुद्धिमान्, यशस्वी एवं तेजस्वी होती थी। वीर्यवान्, स्वस्थ, संयमी, स्त्री-पुरुषके पुष्ट रज-वीर्यके कीटाणु रोगोंके सभी कीटाणुओंको नष्ट करनेकी शक्ति रखते हैं। वीर्यभ्रष्ट दुराचारी मनुष्यके शरीरमें रोगोंके कीटाणु बढ़ जानेसे वह रोगी होता है। उसका शरीर शुष्क, दुर्बल एवं निस्तेज हो जाता है; उसकी बुद्धि एवं सदाचार, धैर्य और सद्विचार नष्ट हो जाते हैं और इसके दुष्परिणामस्वरूप वह अपने अमूल्य मनुष्य-जीवनको भी खो बैठता है! कहा है—

सिद्धे बिन्दौ महादेवि किं न सिद्ध्यति भूतले।

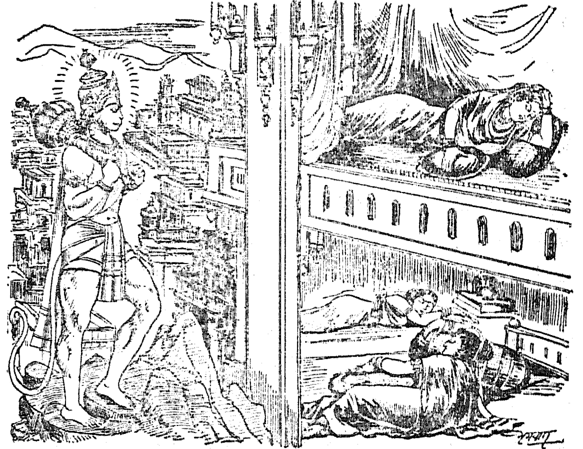
ब्रह्मचर्यके अभावसे कोई भी कार्य सफल नहीं होगा। अतएव प्रत्येक साधकके लिये ब्रह्मचारी बनना परमावश्यक है। हम ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं—'प्रभो! हमारे

भारतमें पुनः ऐसे ब्रह्मचारियोंका जन्म हो, जिससे कोई भी देश इस देशपर आक्रमण करनेकी कल्पना ही न करे। स्त्रियोंमें सतीत्व आ जाय। प्रत्येक मानव अर्थ, धर्म, काम और मोक्षके सन्मार्गका पथिक हो। भगवन्! सब स्त्री-पुरुषोंको सुमति प्रदान कीजिये, जिससे सभी सदाचारी, ब्रह्मचारी, वीर-व्रतधारी बनें।'

ब्रह्मचर्यधर्मके आदर्श उदाहरण

(१)

श्रीहनुमान्‌जी



'आज मेरा व्रत खण्डित हुआ!' बड़ा पश्चात्ताप, महान् दुःख। उस अन्तर्वेदनाकी कल्पना करना सर्वसामान्यके लिये सम्भव नहीं है। जिसने कोई व्रत, कोई नियम दीर्घकालतक पालन किया हो उससे किसी प्रमादसे अनजानमें वह नियम टूट जाय, तब उसे कुछ थोड़ा अनुभव होता है कि व्रत-भङ्गकी वेदना कैसी होती है।

'मैं मरणान्त प्रायश्चित्त करूँगा।' हनुमान्‌जीने लंकामें प्रवेश किया था रात्रिमें और उन्हें पता तो था नहीं कि रावणने श्रीजनकनन्दिनीको कहाँ रक्खा है। अतः वे राक्षसोंके घरोंमें घूमते फिरे। रावणका अन्तःपुर छान मारा उन्होंने। श्रीजानकीको ढूँढ़ना है तो स्त्रियाँ जहाँ रह सकती है, वहीं तो ढूँढ़ना पड़ता। वे राक्षसोंके अन्तःपुर थे, संयमियोंके नहीं। सुरापान एवं उन्मत्त विलास ही राक्षसोंका व्यसन था। वे अपनी उन्मद्-क्रीडाके अनन्तर निद्रा-मग्न हो चुके थे। लगभग प्रत्येक गृहमें अस्त-व्यस्त वस्त्राभरण, नग्न-अर्द्धनग्न, निद्रामें पड़ी युवतियाँ ही देखनेको मिलीं। उस अवस्थामें पर-स्त्रीको देखना सद्‌गृहस्थके लिये भी बहुत बड़ा दोष है। हनुमान्‌जी तो ब्रह्मचारी थे।

कोई अनर्थ हो, कुछ कर बैठें, इससे पूर्व जैसे हृदयमें प्रकाश हो गया। अन्तःस्थित रघुवंश-विभूषण अपने आश्रितोंकी रक्षा सदा ही करते हैं। हनुमान्‌जीके मनमें बात स्पष्ट हुई—'किसी नारीके सौन्दर्यपर तो मेरी दृष्टि नहीं गयी। मैं तो माता जानकीको ढूँढ़ रहा था। मेरे मनमें तो कहीं कोई विकार आया नहीं। ये जो स्त्रियोंके देह मुझे देखने पड़े—ये सब शव-जैसे ही तो हैं मेरी दृष्टिमें! तब मेरा व्रत-भङ्ग कैसे हुआ?'

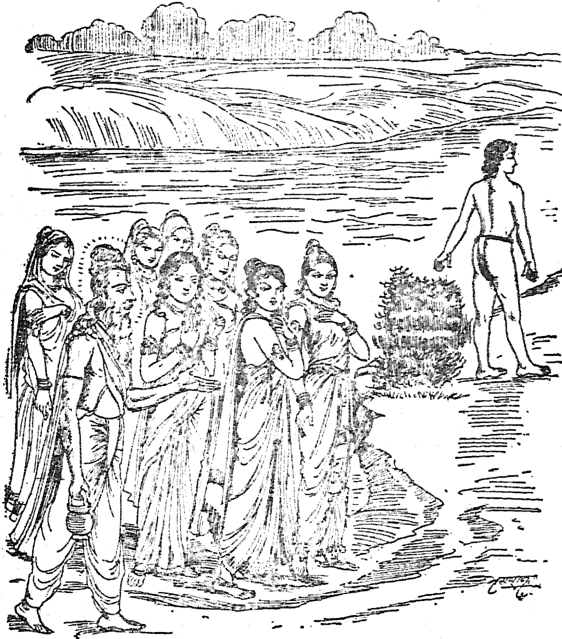
व्रतका मूल मन है, देह नहीं। हनुमान्‌जीके व्रतमें कोई त्रुटि नहीं आयी थी। उनके मनमें जो पश्चात्ताप जगा था, वह ब्रह्मचर्य-व्रतके प्रति उनकी जो प्रबल निष्ठा और सतत जागरूकता है, उसीका सूचक है। —सु०

(२)

श्रीशुकदेवजी

'देवियो! मेरा पुत्र युवा है। वह दिगम्बर था। वह जब इधरसे गया, तब आप सबने वस्त्र-धारण करना आवश्यक नहीं माना; किंतु मुझे आते देखकर आपने शीघ्रतापूर्वक वस्त्र पहिन लिये हैं, जब कि मैं वृद्ध हूँ और वस्त्र धारण किये हूँ। आप सबके

इस अद्भुत व्यापारका कारण क्या है?' भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासने यह बात स्वर्गकी देवियोंसे पूछी।



शुकदेवजी विरक्त होकर वनमें चले जा रहे थे। ऐसे सद्गुणी, भगवद्भक्त पुत्रके वियोगसे व्याकुल व्यासजी उनके पीछे 'पुत्र! पुत्र!' पुकारते दौड़े जा रहे थे। वनमें निर्मल जलका सरोवर था एकान्तमें। कुछ देवाङ्गनाएँ तटपर वस्त्र रखकर उसमें स्नान तथा जलक्रीड़ा कर रही थीं। शुकदेवजी उस सरोवरके समीपसे आगे बढ़ गये। उन्होंने न सरोवरकी ओर देखा और न देवियोंने उनकी ओर ध्यान दिया; किंतु जब व्यासजी आते दिखायी पड़े, तब सब देवियोंने जलसे झटपट निकलकर अपने वस्त्र पहन लिये और समीप आनेपर सबने हाथ जोड़कर व्यासजीको प्रणाम किया।

तवास्ति स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः।

'आप हमें क्षमा करें। पशुओंसे, अबोध बालकोंसे हम नारियोंको कोई लज्जा नहीं होती। जो जानता ही नहीं कि यह नारी है या पुरुष, उससे लज्जा करनेका कारण नहीं होता।' देवाङ्गनाओंने बतलाया। 'आप इतना तो जानते-समझते ही हैं कि ये नारियाँ हैं और ये पुरुष हैं; किंतु आपके पुत्रकी दृष्टिमें तो नारी-पुरुषका भेद ही नहीं आता। वे तो सर्वत्र एक ही चेतन तत्त्वको देखते हैं।'

ब्रह्मचर्यकी पूर्ण पराकाष्ठा है यह; जहाँ स्त्री-पुरुषकी भेद-दृष्टि ही मिट गयी है। मनमें कामके उत्थानका कोई आधार ही शेष नहीं है। इसीलिये श्रीशुकदेवजी परमहंसोंके भी परम गुरु कहे जाते हैं। —सु०

(३)

ब्रह्मचर्यधर्मके आदर्श उत्तङ्क

महर्षि आयोद धौम्यके एक शिष्य थे वेद और उनके शिष्य थे उत्तङ्क। वेदमुनिको राजा जनमेजय तथा पौष्यने अपना राजगुरु बनाया था। एक बार मुनिको कहीं बाहर जाना था। सदाकी भाँति उन्होंने उत्तङ्कसे कहा—'मेरी अनुपस्थितिमें तुम मेरे घरकी देखभाल करो और तुम्हारी गुरुपत्नीको जिस वस्तुकी आवश्यकता पड़े, उसका प्रबन्ध भी करना।'

उत्तङ्कको आदेश देकर गुरु चले गये। गुरुपत्नीके मनमें इस युवा ब्रह्मचारीकी परीक्षा लेनेकी इच्छा हुई। उन्होंने उत्तङ्कसे कहा—'मैं ऋतुस्नाता हूँ। तुम्हारे गुरुदेव हैं नहीं। उन्होंने अपनी अनुपस्थितिमें तुम्हें मेरी आवश्यकताएँ पूर्ण करनेकी आज्ञा दी है। मेरा ऋतुकाल व्यर्थ न जाय, ऐसा तुम्हें करना चाहिये।'

उत्तङ्क बोले—'माता! जैसे पुत्र माताके भरण-पोषण तथा सेवाका यथाशक्ति प्रयत्न करता है, वैसे ही आपकी सेवामें तत्पर रहना मेरा धर्म है। लेकिन कोई अनुचित बात आपको मुझसे नहीं करनी चाहिये। मैं अनुचित कर्म नहीं करूँगा। पुत्रके समान आप मुझे समझकर कृपा करें।'

लौटनेपर गुरु अपने शिष्यके संयम-सदाचारकी बात जानकर बहुत प्रसन्न हुए।

उत्तङ्क जब अध्ययन समाप्त करके जाने लगे, तब उन्होंने गुरुदक्षिणा देनेका हठ किया। गुरुपत्नीने उनसे राजा पौष्यकी रानीके कुण्डल माँगे। गुरुभक्त, तपस्वी, संयमीके लिये सृष्टिमें असाध्य क्या है। राजा पौष्यकी रानीने उन्हें अपने कुण्डल दे दिये। उन कुण्डलोंके लोलुप तक्षकसे सावधान भी कर दिया।

तक्षकने मार्गमें कुण्डल हरण कर लिये, किंतु पातालतक उसका पीछा किया उत्तङ्कने। देवराज इन्द्रकी स्तुति करके उनकी सहायता उपलब्ध की उन्होंने और नागोंको पराजित करके कुण्डल लाकर गुरुपत्नीको दिये। —सु०



(४)

ब्रह्मचर्य-धर्मके आदर्श भीष्मपितामह

देवव्रत भीष्मने अपने छोटे भाईके लिये काशिराजकी तीनों पुत्रियोंका स्वयंवर-सभामें हरण कर लिया। उनमेंसे अम्बिका और अम्बालिकाका विवाह विचित्र-वीर्यके साथ हो गया, लेकिन अम्बाने कहा—'मैंने पहले ही मनसे अङ्ग-नरेशका वरण कर लिया है। मैं स्वयंवर-सभामें उनको ही जयमाला डालनेवाली थी। मेरा हरण करके तुमने ठीक नहीं किया।'

भीष्मने आदरपूर्वक अम्बाको रथमें बैठाकर विदा कर दिया। वह अङ्गदेश गयी; किंतु उसे वहाँके नरेशने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा—'क्षत्रियके लिये विवाहयोग्य स्वजातिकी कन्याका हरण शास्त्रने उचित माना है। जब एकने तुम्हारा हरण कर लिया, मैं तुम्हें कैसे स्वीकार कर सकता हूँ। जिसने युद्धमें मुझे पराजित किया, उसका दिया दान मुझे स्वीकार नहीं।'

निराश होकर अम्बा लौट आयी। उसने भीष्मसे कहा—'तुमने मेरा हरण किया है, अतः तुम्हीं मुझे स्वीकार करो।'

भीष्म अपनी आजीवन ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञाके कारण उसे स्वीकार नहीं कर सकते थे। उनसे जब कोरा उत्तर मिल गया, तब अम्बा परशुरामजीकी शरणमें गयी। परशुरामजीने भीष्मको अस्त्र-विद्या सिखलायी थी। वे अम्बाको साथ लेकर आये। उन्होंने उससे विवाह करनेके लिये भीष्मसे कहा। भीष्म बोले—'अनुचित आज्ञा गुरुकी भी पालनीय नहीं होती।'

'यदि तुम मेरी आज्ञा नहीं मानते तो युद्ध करो!' क्रोधमें भरकर परशुरामजीने अपना धनुष चढ़ा लिया।

भीष्म अविचल बने रहे। उन्होंने कहा—'भयसे, लोभसे अथवा अन्य किसी भी कारणसे मैं धर्मका त्याग नहीं करूँगा।'

गुरु-शिष्यमें युद्ध छिड़ गया। दोनों दिव्यास्त्रोंके पूर्ण ज्ञाता थे। परशुराम यदि अमर थे तो भीष्मको भी पिताने इच्छामृत्युका वरदान दे रक्खा था और

माताने आशीर्वाद दिया था कि हाथमें धनुष रहते उन्हें कोई पराजित नहीं कर सकेगा। दिव्यास्त्रोंके परस्पराघातसे पृथ्वी काँपने लगी। अन्तमें ऋषियों-ने आकर परशुरामजीको शान्त किया। वे वहाँसे यह प्रतिज्ञा करके गये—'अब कभी क्षत्रियको अस्त्र-ज्ञान नहीं दूँगा।'

अम्बाने हताश होकर अपने देहकी अग्निमें आहुति दे दी। इसके कुछ वर्ष पश्चात् जब विचित्र-वीर्य संतानहीन मर गया, तब माता सत्यवतीने भीष्मसे कहा—'बेटा! तुम्हारे पिताका वंश नष्ट हो रहा है। तुम अब विवाह कर लो।'

भीष्मने उस समय भी अपना व्रत तोड़ना स्वीकार नहीं किया।

—सु०

अपरिग्रह तथा संतोष-धर्मके आदर्श

(१)

महर्षि लोमश

देवराज इन्द्रको एक बार बहुत उत्तम भवन बनवानेकी इच्छा हुई। उन्होंने देवशिल्पी विश्वकर्मा-को इस कार्यपर नियुक्त किया। देवराज इतना विशाल और उत्तुङ्ग भवन बनवाना चाहते थे, जिसकी कल्पना अबतक त्रिभुवनमें किसीने न की हो। उस अमित विस्तीर्ण भवनके एक-एक अंगुल स्थानमें अत्यन्त सूक्ष्म कलाका चित्रण वे चाहते थे।

विश्वकर्मा वर्षोंतक अपने अनुचरोंके साथ लगे रहे। वे अत्यन्त खिन्न एवं श्रान्त हो गये थे। एक बार जब देवर्षि नारद देवलोक आये, उन्होंने प्रार्थना की—'इस विपत्तिसे आप ही बचा सकते हैं। मैं और मेरे सब अनुचर थक चुके हैं। अपनी पूरी आयु (देवताओंकी आयु) में भी हम इस भवनको पूर्ण कर पानेकी आशा नहीं करते। जीवन इस करनी-बसुलीकी खटपटमें ही बीत जाय, ऐसे देवत्वसे कोई दूसरी योनि अच्छी।'

देवर्षिने आश्वासन दिया और वे इन्द्रके समीप गये। कोई भी जब अपने इच्छानुसार भवन बनवाने लगता है, तब दूसरोंको उसे दिखलानेका उसमें बहुत उत्साह होता है। इन्द्रने भी आग्रह-पूर्वक नारदजीको अपना वह विशाल भवन दिखलाया और पूछा—'आप तो तीनों लोकोंमें घूमते हैं, ऐसा विशाल और कलापूर्ण भवन आपने कभी कहीं देखा है?'

'मैंने तो नहीं देखा।' नारदजी बोले। 'लेकिन महर्षि लोमश दीर्घजीवी हैं, उन्होंने कभी देखा हो तो कह नहीं सकता।'

इतनेमें महर्षि लोमश भी सिरपर एक चटाई रक्खे आ पहुँचे। नारदजीने मन-ही-मन उनका स्मरण किया था और ऋषि तो मनकी भाषाको शब्दोंकी अपेक्षा अधिक समझते हैं। इन्द्रने महर्षिको प्रणाम किया। देवर्षिने पूछा—'आप सिरपर यह चटाई क्यों रखते हैं?'

एक कौपीन कटिमें और हाथमें कमण्डलु, उस चटाईके अतिरिक्त इतनी सामग्री लोमशजीके पास और थी। नारदजीका प्रश्न सुनकर बोले—'जीवन विनाशी है। इस थोड़ी-सी आयुके लिये संग्रह-परिग्रह तथा कुटिया बनानेकी खटपट कौन करे। यह चटाई ही मुझे पर्याप्त छाया दे देती है।'

'आपकी आयु और थोड़ी-सी?' इन्द्र चौंके।

'देखो न देवराज! मेरे इतने लोम तो टूट चुके!' लोमशजीने अपने वक्षके उस स्थानकी ओर संकेत किया, जहाँ एक रुपये बराबर स्थान रोमहीन था। 'जिस दिन सब रोम टूट जायँगे, लोमश मर



जायगा उस दिन। एक ब्रह्मा मरते हैं तो एक रोम टूट जाता है उनके सम्मानमें; और ये ब्रह्मा तो आये दिन मरते ही रहते हैं।'

'ब्रह्माके एक दिनमें चौदह इन्द्र बदल जाते हैं। ऐसे ३६० दिनके वर्षसे सौ वर्षकी ब्रह्माकी आयु है। एक ब्रह्माकी मृत्युपर महर्षि लोमशका एक रोम गिर जाता है और वे……।' देवराज इन्द्र सिर पकड़कर बैठ गये वहीं। उसी दिन उन्होंने विश्वकर्माका भवन-निर्माण रोक देनेकी आज्ञा दे दी। —सु०

(२)

साध्वी रबिया

साध्वी रबियाने अपने दैन्यपूर्ण पवित्र सत्य जीवनमें सदा आत्मसंतोष और आत्मनिर्भरताकी साधना की। परमात्मासे स्वार्थरहित निष्काम प्रेम था उनका। बारह सौ साल पहले तुर्कीके बसरा नगरमें जन्म लेकर उन्होंने सत्य, त्याग, दैन्य और स्वावलम्बनका पवित्र आदर्श प्रस्तुत किया लोगोंके सामने।

वे अपनी प्रत्येक परिस्थितिमें संतुष्ट रहती थीं। दैन्य उनकी सत्य-साधनाका प्राण था। एक समयका प्रसङ्ग है। बसराके एक प्रसिद्ध संत कभी-कभी उनसे मिलने आया करते थे। एक दिन उन्होंने रबियाकी कुटीके सामने एक धनी मनुष्यको रोते देखा। संतके द्वारा रोनेका कारण पूछे जानेपर उसने कहा कि 'रबिया-से हम लोगोंको सत्य जीवनकी पवित्र प्रेरणा मिलती है। वे बड़ी गरीबीमें अपना जीवन बिताती हैं। उनके कपड़े फटे-पुराने चिथड़े हैं, घरमें खानेके लिये कुछ भी अन्न नहीं है; यदि इतनी महान् आत्माका शरीर उठ जायगा तो हम अनाथ हो जायँगे, बसरा नगर श्रीहीन हो जायगा।' धनी व्यक्तिने संतको स्वर्ण-मुद्राओंसे भरी थैली दिखलायी और प्रार्थना की कि इसे रबियाद्वारा स्वीकृत करानेमें सहायता कीजिये।

'बहिन! इसे स्वीकार कर लो। शरीर रहनेपर ही परमात्माकी प्रीति और सत्यकी साधनामें मन लगता है।' संतने धनी व्यक्तिकी वकालत की—सोनेके सिक्कोंकी थैली स्वीकार करनेकी याचना की।

'भाई! जो लोग रात-दिन असत्कर्ममें लगे रहते हैं, सद्विवेकको ताकपर रखकर हिंसा, घृणा, चोरी, राग, द्वेष और बेईमानीका बोझा ढोते रहते हैं, मेरे स्वामी परमात्मा उनका पालन-पोषण करते ही हैं। तब क्या वे मुझे भूल सकते हैं? परमात्माकी राहपर चलनेवालोंको इस जीवन और इसके बाद-वाले जीवनके लिये उन्हें छोड़कर और किसी भी प्राणी या पदार्थका आश्रय नहीं लेना चाहिये। आत्मसंतोषके रास्तेपर चलकर समयका सदुपयोग करनेसे जीवन पवित्र हो उठता है। यही सत्पथ है।' साध्वी रबियाके उत्तरसे महात्मा बहुत प्रसन्न

हुए। उन्होंने उनके असाधारण संतोषकी सराहना की।

आत्मसंतोषके पथपर चलकर जीवन वितानेका अर्थ ही है—कुछ भी परिग्रह न करके अपने आपको परमात्माकी इच्छापर छोड़ देना। एक समयकी बात है, रबिया बीमार थीं। दो सज्जन उन्हें देखने आये। दोनों शान्त थे।

'भाई! कुछ कहना चाहते हैं तो कहिये। आपके मौनसे मुझे ऐसा लगता है कि आपलोगोंकी मुझसे कुछ कहनेकी इच्छा है।' रबियाने धीमे स्वरमें संकेत किया।

'अपने स्वास्थ्यके लिये परमात्मासे प्रार्थना करनी चाहिये।' सुफियाके शब्द थे।

'पर वे तो इसे जानते ही हैं कि मैं बीमार हूँ। जब उनकी इच्छा है कि मेरा शरीर रोगकी आगमें पवित्र हो जाय तो उनकी इच्छाके विरुद्ध प्रार्थना करना अशोभन है; क्या सच्चे प्रेमीका यही कर्तव्य है?' रबियाके आत्मसमर्पणपरक संतोषसे अतिथि आश्चर्यचकित हो गये। कितना पवित्र और समर्पित जीवन था साध्वी रबियाका।

—रा०

शौच-धर्मके आदर्श

बाबा मोकलपुर

वाराणसीसे गङ्गाजीके प्रवाहके साथ चलें तो कुछ मील दूर गङ्गाजीसे एक छोटी धारा पृथक् होकर एक छोटा द्वीप बनाकर फिर गङ्गामें मिल जाती है। इस द्वीपमें मोकलपुर नामका ग्राम है। उस ग्राममें बहुत दिनोंतक रहनेके कारण ही उनका नाम मोकलपुरके बाबा पड़ा था। उनका वास्तविक नाम तो किसीको ज्ञात नहीं था।

गाँवसे बाहर खेतमें एक फूसकी बड़ी-सी खुली झोपड़ी थी। खूब लिपी-पुती, स्वच्छ रहती थी वह झोपड़ी और उसमें एक तख्ता पड़ा था। पासमें एक छोटी कुटिया थी। उसमें भोजन बनाते थे वे और थोड़ा-सा आटा, दाल, नमक आदि मिट्टीकी हड्डियोंमें रहता था।

गोरा रंग, दुहरा शरीर, खूब ऊँचा चमकता भाल और श्वेत केशराशि। वार्धक्यके कारण शरीरमें कुछ झुर्रियाँ पड़ गयी थीं। वस्त्रके नामपर केवल एक कटिवस्त्र घुटनोंतकका और शीतकालमें दो कम्बल रखते थे। एक ही कौपीन थी उनके पास।

वे प्रायः सबको 'गुरु' कहते थे और ग्रामोंकी भोजपुरी भाषामें ही बोलते थे। उनकी पवित्रता अद्भुत थी। शौच जाते तो बड़ा भारी लोटा तथा भूमि खोदनेकी खन्ती ले जाते। गड्ढा खोदकर शौच जाते और उसे ढक आया करते थे। यदि कोई ऐसे स्थानमें बैठता कि उसके शरीरसे लगकर वायु उनकी ओर आती तो उसे दूसरी ओर बैठनेको कह देते थे।

ग्रामीण भाषामें अत्यन्त सरल ढंगसे तत्त्वज्ञानकी कठिन बातें वे जैसे समझा देते थे, उतने सरल, सूक्ष्म विवेचनका दर्शन बड़े-बड़े विद्वानोंमें भी मैंने नहीं पाया।

प्रायः लोग फल या उनके उपयोगकी वस्तु ले आते थे। उन वस्तुओंको वे रख तो लेते थे, किंतु पीछे किसी-न-किसीको बाँट देते थे। एक बार उन्होंने कहा था—'पवित्र कमाई है किसानोंकी, किंतु इनके मनमें कामना है। निष्काम भावसे कोई ही आता है।'

अन्न पवित्र हो, पवित्र धनसे आया हो और निष्काम भावसे दिया गया हो, तब पवित्र है—यह बात उनकी पीछे समझमें आयी। हाथका पिसा आटा, देशी खाँड़ उनके उपयोगमें आती थी। उनके शौचाचारमें एक विशेष बात थी—किसीका तिरस्कार नहीं, किसीकी अवमानना नहीं; किसीको उनसे कोई असुविधा न हो, इसका पूरा ध्यान रखते थे।

'यह मल-मूत्रका थैला है। यह कहीं शुद्ध हुआ करता है।' यह बात वे बार-बार कहते थे। 'शौचाचार' इसलिये कि इससे घृणा हो जाय।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। (योगदर्शन)

--सु०

संतोष-धर्मके आदर्श

महामना मालवीयजीके पिता

महामना पण्डित मदनमोहनजी मालवीयका कुल कई पीढ़ियोंसे श्रीमद्भागवतका विद्वान् होता आया था और वे परम भगवद्भक्त थे। प्रयागमें जहाँ श्रीमालवीयजीका घर है, उनके घरसे सटा घर था एक खत्री-परिवारका और वह सम्पन्न परिवार था। खत्री परिवारके बच्चोंमें उनके एक दौहित्र हैं श्रीशारदाप्रसादजी, मानस-संघके मन्त्री। वे अपने नानाके पड़ोसके नातेसे श्रीमालवीयजीको भी नाना ही कहते थे। उनके द्वारा सुना वर्णन ही यहाँ दिया जा रहा है।

महामनाके पिताजी अत्यन्त सरल-स्वभाव, भगवद्भक्त, संतोषी ब्राह्मण थे। स्वभावतः ऐसा घर सम्पन्न नहीं होता। यह परिवार तो बहुत ही अभावग्रस्त रहनेवाला था। अनेक बार ऐसा अवसर आता था कि महामनाकी माता पतिसे कहतीं—'घरमें कुछ भी नहीं है। हम दोनों तो उपवास कर लेंगे, किंतु बच्चोंका क्या होगा?'

पण्डितजीका एक ही उत्तर था—'भगवान् विश्वम्भर हैं, उनपर विश्वास रक्खो। कहीं भागवतकी कथा लगेगी तो व्यवस्था होगी।'

भागवतकी कथा कब लगेगी कहीं, कुछ ठिकाना नहीं था। अपनी ओरसे पण्डितजीको कथाके लिये किसीके पास जाना और कहना नहीं था। कोई यजमान श्रद्धापूर्वक कथाका आमन्त्रण दे तो जाय। घरमें उनका कड़ा आदेश था—'दान नहीं लेना चाहिये। दानका अन्न अधिकांश अपवित्र होता है। दान प्रायः लोग सकाम भावसे देते हैं। दाताको ब्राह्मणके तप-जपका पुण्य तो जाता ही है।'

महामनाजीकी मातासे वह पड़ोसका खत्री-परिवार प्रायः घरकी स्थिति पूछ लिया करता था। वे झूठ बोल नहीं पाती थीं। रात्रिको मकानकी छतसे उनके यहाँ आटा-दाल आदि पंद्रह-बीस दिन चल सके, इतना भेजा जाता तो वे बड़े संकोचसे उसे स्वीकार करतीं। उस समय भी वे डरती रहतीं—'पण्डितजीको पता लगेगा तो बहुत अप्रसन्न होंगे।'

पण्डितजी इतने भोले, अपने भजनमें इतने तल्लीन कि उन्हें इधर ध्यान देनेका अवकाश ही नहीं था। महाराज रीवाँने उन्हें आमन्त्रित किया एक बार भागवत सुनानेके लिये। पाँच सहस्र रुपये महाराजने कथाकी दक्षिणा दी, किंतु पण्डितजीने वहीं सब रुपये भिक्षुकोंको बाँट दिये। किसीने कहा—'आपने यह क्या किया? बच्चोंके लिये कुछ तो ले जाना था।'

बोले—'बच्चोंकी खोज-खबर विश्वम्भर रखता है। ब्राह्मणको इतने धनसे क्या प्रयोजन?' —सु०

संतोष ही परम सुख है

जिनसे तृष्णा कामना बढ़ती सतत अपार।
वे दुःखप्रद हैं सभी धन-जन-पद-अधिकार॥
बढ़ता जिससे नित नया सात्त्विक सुख निर्दोष।
एक परम सुख वह सदा मनका शुचि संतोष॥
आशा-तृष्णा है नहीं, नहीं कामना शेष।
जिसके मन संतोष-धन सो धनवान-विशेष॥

संतोष-धर्म

इच्छाके इंजिनपर ब्रेक लगाइये

(लेखक—श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, एल्० टी०)

चाणक्यने कहा है—'शान्तिके समान तप नहीं है, संतोषसे बढ़कर धर्म नहीं ।'

सुखके लिये संसारमें सब कहीं भारी चाह है; पर सुख मिलता है उसे, जो संतोष करना जानता है ।

जिज्ञासा स्वाभाविक है कि 'संतोष' है क्या । संतोषसे अभिप्राय है—'इच्छाओंका त्याग ।' सभी इच्छाओंका त्याग करके अपनी स्थितिपर संतोष करना ही सुखको प्राप्त कर लेना है ।

जीवनके साथ इच्छाएँ, कामनाएँ या आकाङ्क्षाएँ होंगी ही । परंतु यह भी सम्पूर्ण सत्य है कि सुखी जीवनके लिये हमारी इच्छा-शक्तिपर कहीं तो भी एक ब्रेक होना चाहिये । इच्छाके इंजिनमें ब्रेकको ही 'संतोष'की संज्ञा प्राप्त है ।

परिभाषाके रूपमें हम कह सकते हैं—'संतोष मनकी वह वृत्ति या अवस्था है, जिसमें मनुष्य पूर्ण तृप्ति या प्रसन्नताका अनुभव करता है, अर्थात् इच्छा रह ही नहीं जाती ।'

जीवनकी गतिके साथ सम्पत्ति और समृद्धिकी दौड़से वह सुख नहीं मिलता, जो संतोषरूपी वृक्षकी शीतल छाँहमें आनेपर अनायास मिल जाता है ।

हमें चाहिये कि हम प्रयत्न और परिश्रमके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाली प्रसन्नतापर संतोष करना सीखें । निष्काम कर्मयोग, इच्छाओंका दमन, लोभका त्याग अथवा इन्द्रियों-पर अधिकार—ये सब उपदेश संतोषकी ओर ले जानेवाले सोपान ही तो हैं ।

हमारी भारतीय संस्कृति तो संतोषपर ही आधारित या केन्द्रित है । श्रम-साधनाके अनन्तर जिसके मस्तिष्कमें संतोष आ समाया है, उसने राज्य और राज-मुकुटका वैभव प्राप्त कर लिया । सुकरातका कथन कितना अर्थभरा है—संतोष प्राकृतिक सम्पदा है, ऐश्वर्य कृत्रिम गरीबी ।'

संतोष सुखका सबसे बड़ा साधन है, जो मस्तिष्कके झुकावपर निर्भर करता है । इसीमें सुख मान लिया, तो विपुल व्याधियाँ भी कपूरकी भाँति उड़ जाती हैं ।

निष्कर्षरूपमें संतोषका आदर्श यही है कि हम इच्छाओं-को सीमित रखकर सचाई और ईमानदारीसे भरपूर श्रम करें और फलकी चिन्ता न करते हुए उसे परमेश्वर और परिस्थितियोंपर छोड़ रक्खें । प्रत्येक व्यक्तिमें समाजके लिये उपयोगी बननेका भाव होना चाहिये ।

उपयोगितामें हृदयको आह्लादमय करनेकी अपार शक्ति है । समाजके अनेक जीवोंके लिये उपयोगी बनकर ही हम सहजमें समस्त चिन्ताओंको निष्कासित कर सकते हैं । हमें इस बातका भली प्रकार बोध होना चाहिये कि सुखी होनेका अर्थ है—दूसरोंको सुखी बनाना ।

मन, वाणी और कर्मसे शुद्ध व्यक्तित्व ही सच्चे सुखकी रसधारमें सदैव स्नान करता है । अपनी एक कृति 'महकते मोती' में एक रूपक खड़ा करते हुए हमने कहा है—'आत्मामें सुख-सौन्दर्यकी विपुल वर्षाके लिये संतोष एक सजीला मेघ है । सुख और संतोष प्रायः साथ चलते हैं—संतोष मूल है और सुख उसका फल अथवा संतोष मेघ है और सुख उससे बरसनेवाला जल ।'

संसारके लिये सुखकी खोज कर रखनेवाले महापुरुषोंने संतोषपर विशेष बल दिया है । स्वभाव साधनेके लिये वह सर्वप्रथम सबल सहारा है । तभी तो मनु महाराजने कहा है—'आनन्दका मूल संतोष है ।' अबूकी भी समर्थन करते हैं—'पारसाई (पवित्रता) दुनियाकी ख्वाहिशों (अका-ङ्क्षाओं) पर लात मारनेसे हासिल होती है ।' शेख सादीने अनुमोदन किया है—'ख्वाहिशसे परहेज करना ही दौलत है ।' स्वामी रामतीर्थने भी जर्मन दार्शनिक शोपेनहारके स्वरमें स्वर मिलाते हुए कहा—'आनन्दको अपने भीतर पाना कठिन है, परंतु उसको अन्यत्र पाना तो असम्भव है ।' खलील जिब्रानका कथन है—'इच्छाओंका संघर्ष यह प्रकट करता है कि जीवन व्यवस्थित होना चाहता है ।' सूत्ररूपमें 'संतोष' विषयक अनेक सूक्तियाँ उसकी व्यापकता-को प्रकट करनेके साथ ही उसके आदर्शोंका निरूपण भी करती हैं ।

तप-धर्मके आदर्श

(१)

काशीके दो संत

श्रीविश्वनाथकी पुरी वाराणसी अनादिकालसे विद्वानों तथा सिद्धोंकी भूमि है। बीस-पचीस वर्ष पूर्वकी बात है, वहाँ दो संत रहते थे। एकने दशाश्वमेध-घाटसे ऊपर चलकर जहाँ श्रीविश्वनाथ-जीको जानेकी गली जाती है, वहाँ गलीके सामने सड़ककी दूसरी ओर एक हलवाईकी दूकानसे सटी एक पत्थरकी पटियापर आसन लगाया था। वह पटिया अभी है और वहाँ एक पीपलका वृक्ष भी समीप ही है।

उन महापुरुषका नाम-धाम जाननेका कोई उपाय नहीं था। वे प्रायः मौन रहते थे। पता नहीं कहाँसे वे आये एक दिन और उस पत्थरपर पैर फैलाकर, सड़ककी ओर मुख करके, दाहिने हाथका सहारा मस्तकको देकर आधे लेट गये। इसी आसनपर वे पूरे चौदह वर्ष स्थिर पड़े रहे।

अर्धोन्मीलित नेत्र, उलझे बढ़े केश, नग्नशरीर और स्थिरकाय व पड़े थे। ग्रीष्मकी प्रचण्ड लू, शीतका हड्डियोंको कम्पित करता वायु और वर्षाकी झड़ियाँ आती-जाती रहीं। चौदह वर्षमें अनेक बार आँधी आयी, ओले पड़े; किंतु उनका शरीर तो जैसे उस पत्थरका ही एक भाग बन गया हो। स्नानकी बात छोड़िये, उन्हें भोजन करते, जल पीते, शौच या लघुशङ्का जाते देखा नहीं गया। वे चौदह वर्ष बिना कुछ खाये-पिये उस शिलापर स्थिर पड़े रहे। वहीं उनका शरीर छूटा।

दूसरे संत दशाश्वमेध-घाटकी सीढ़ियोंपर रहते थे। काला वर्ण, लाल-लाल नेत्र, बिखरे और बड़े केश। वे भी दिगम्बर रहते थे। उन्होंने एक काला साँढ़ लोहेकी जंजीरसे वहीं बाँध रक्खा था। कोई कुछ देता था तो साँढ़के आगे रख देते थे। वह साँढ़ उस पदार्थमेंसे कुछ खा लेता तो वे भी खाते थे। साँढ़ न खाय तो कुत्तोंके लिये फेंक देते थे।

सर्दी, गरमी, वर्षाके लिये कोई छाया नहीं, कोई वस्त्र नहीं। वहीं सीढ़ियोंपर ही वे एक ओर बैठे, लेटे या खड़े रहते थे। देह-त्यागसे तीन दिन पूर्व उन्होंने साँढ़को खोल दिया। वह कहाँ गया, कुछ पता नहीं। उन तीन दिनोंमें उन्हें कई बार कहते सुना गया—'यह मकान गिरेगा। खुद भी मरेगा, मुझे भी मारेगा।'

मकानवालोंने मकान छोड़ दिया किंतु सब कुछ जानकर भी उस वीतराग देहातीत संतने उस स्थानका त्याग नहीं किया। वह मकान गिरा और वे उसके नीचे दब गये। —सु०

(२)

असुर गुडाकेश

गुडाकेशका जन्म सृष्टिके प्रारम्भमें हुआ था। असुर प्रायः जन्मसे ही सिद्ध होते हैं। गुडाकेशकी रुचि धर्म तथा भगवद्भक्तिमें थी। उसके मनमें तपस्याका संकल्प उठते ही यह बात आयी कि 'तपके समय चींटी, दीमक, मच्छर आदि क्षुद्र जन्तु देहकी ओर ध्यान आकर्षित करेंगे। यदि ध्यान देहकी ओर न जाय तो भी ये जन्तु देहका मेद-मांस दीर्घकालमें खा लेंगे और तब सृष्टिकर्ताका अनुग्रह शरीरको स्वस्थ बनानेके लिये स्वीकार करना ही होगा।' अतः उसने अपने शरीरको संकल्प-बलसे ताम्रमय बनाया और तप करनेमें लग गया। चौदह सहस्र वर्ष वह तपोनिरत रहा।

भगवान् नारायण गुडाकेशके तपसे प्रसन्न होकर उसके सम्मुख प्रकट हुए। अपने आराध्यको प्रत्यक्ष देखकर वह भक्तश्रेष्ठ आनन्दसे विह्वल हो गया। प्रभुके चरणोंपर गिर पड़ा। फिर उठकर नृत्य करने लगा। उसका आवेश जब कुछ शान्त हुआ, तब भगवान् बोले—'गुडाकेश! तुम मुझे बहुत प्रिय हो। तुम्हें जो कुछ अभीष्ट हो, माँगो।'

'करुणामय! आप प्रसन्न हैं तो यह वरदान दें कि मैं जहाँ जन्म लूँ, मेरी भक्ति आपके श्रीचरणोंमें बनी रहे।' गुडाकेशने माँगा।

'एवमस्तु ! और कुछ माँगो । तुम्हें वरदान देकर मैं आज अनुपम तृप्तिका अनुभव कर रहा हूँ ।' भगवान्‌ने फिर आग्रह किया ।

'आपके हाथसे छूटे चक्रसे ही मेरी मृत्यु हो ।' गुडाकेशने माँगा—'मेरा देह और उसके सब तत्त्व ताम्रमय बने रहें और वह ताँबा आपकी सेवामें प्रयुक्त हो । जो भी उसमें रक्खे जलसे आपका अर्चन करे, उसे आपकी प्रसन्नता प्राप्त हो ।'

'वैशाख शुक्ल द्वादशीको चक्र तुम्हें देहमुक्त करेगा ।' भगवान्‌को यह वरदान देना पड़ा । 'तुम्हारे शरीरका प्रत्येक द्रव्य ताम्र बना रहेगा और वह विश्वके बड़े उपकारका साधन होगा । उसमें रक्खे जलसे मेरी प्रीतिका सम्पादन होगा ।'

लोग मृत्युसे डरते हैं; किंतु गुडाकेश उस क्षणकी प्रतीक्षा उत्सुकतापूर्वक कर रहा था, जब वह निष्प्राण हो और उसका देह लोककल्याणका साधन बने । वह तिथि आयी तो उसने प्रार्थना की—

मुञ्च मुञ्च प्रभो चक्रं ज्वलद्वह्निसमप्रभम् ।
आत्मा मे नीयतां शीघ्रं निकृत्याङ्गानि सर्वशः ॥

'प्रभो ! कालाग्निके समान तेजोमय अपना चक्र छोड़िये ! छोड़िये ! शीघ्र मेरे अङ्गोंके टुकड़े-टुकड़े करके मेरे जीवको अपनी सेवामें स्वीकार कीजिये ।'



गुडाकेशकी प्रार्थना स्वीकार हुई । उसके शरीरके अङ्ग पृथ्वीमें बिखर गये । वह ताम्र ही समय पाकर सुपक्व होकर स्वर्ण तथा रजत भी बना और उसके मलसे शीशा, जस्ता आदि धातुएँ बनीं । ताम्रमें रक्खा जल परम पवित्र होता है और उससे पूजा करनेपर भगवान् अधिक प्रसन्न होते हैं; किंतु ताम्रपात्रको उच्छिष्ट करना दोष माना गया है ।

—सु०

(३)

तप एवं लोकहितका आदर्श—असुर गय

अद्भुत असुर था गय भी । असुरवंशमें उत्पन्न होनेपर भी उसमें आसुर-भावका लेश भी नहीं था । स्वभावसे अत्यन्त शान्त और भगवान् नारायणका परम भक्त था वह । उसके चित्तमें किसी प्रकारकी कोई कामना नहीं थी । लोगोंको दैहिक सुख प्रिय लगता है और असुर तो इन्द्रियाराम होते ही हैं; किंतु गयकी प्रीति थी तपस्या करनेमें । तप उसे प्रिय था । तपस्याका कोई फल भी प्राप्त होना चाहिये, यह बात उसके चित्तको छूती ही न थी ।

एक पैरपर खड़े होकर कई सहस्र वर्ष गय निर्जल, निराहार, स्थिर भगवान् नारायणका ध्यान करता रहा । उसके चित्तमें भगवान्‌की भुवनमनोहर मूर्ति नित्य प्रकट थी और उन आनन्दघनकी हृदयमें झाँकी करके गय सदा आनन्दमग्न रहता था । उसे भूख-प्यास या निद्राकी बाधा नहीं सताती थी । उसका शरीर भी दुर्बल नहीं पड़ रहा था । श्रम, थकावट और कष्टका कोई अनुभव उसे नहीं था ।

'इसे अभी मार दो, अन्यथा इस दैत्यका बल तपसे बढ़ जायगा और यह देवताओंको स्वर्गसे निकाल देगा ।' इन्द्रादि देवताओंने गयपर तब आक्रमण किया, जब अप्सराओंकी उन्मत्त क्रीड़ा और कामदेवके सब प्रयत्न व्यर्थ हो गये । गय तो किसीकी ओर देखता ही नहीं था । जैसे उसने अप्सराओंके नृत्य-गीतकी उपेक्षा कर दी थी, वैसे ही देवताओंके आघातकी उपेक्षा कर दी । किसीके

शरीरपर जैसे मक्खियाँ बैठें और उड़ जायँ। देवताओंका कोई अस्त्र-शस्त्र उसके ऊपर खरोंचतक नहीं कर सका।

'वरदान माँगो, वत्स!' देवताओंके निराश लौट जानेपर हंसवाहन ब्रह्माजी स्वयं पधारे। उन्होंने गयको पुकारा।

'आपका मङ्गल हो! आपकी कृपाके लिये आभार; किंतु मुझे कुछ नहीं चाहिये!' इस बार गयने केवल इतना अनुग्रह किया कि ब्रह्माजीकी ओर दृष्टि उठाकर देख लिया। सृष्टिकर्ताको भी असफल लौटना पड़ा।

कलियुगमें सत्त्वगुणकी शक्ति तथा सीमा थोड़ी होती है। अतएव कलिमें साधन शीघ्र फलदायी होता है। सत्ययुगमें सत्त्वगुण पूर्ण शक्तिमें रहता है। अतएव बहुत साधन-तप आदि करनेपर सृष्टिके अधिदेवता प्रभावित होते हैं। लेकिन फिर भी एक सीमा है सत्त्वगुणकी भी। उससे वह बढ़ जाय तो रजोगुण तथा तमोगुणको समाप्त करके प्रलय ला दे। गयका तेज तपसे बढ़ता जा रहा था। उस तेजसे सभी देवता, सूर्य, चन्द्र, अग्नि भी श्रीहत हो गये। सृष्टिके प्राणियोंमें क्रियाशीलता नष्ट होने लगी। भगवान् ब्रह्माको सृष्टि-रक्षाकी चिन्ता हुई।

'महाभाग! तुम तो मुझसे वरदान माँगते नहीं, आज मैं तुमसे याचना करने आया हूँ।' भगवान् नारायणकी शिक्षाके अनुसार ब्रह्माजीने कहा—'मुझे यज्ञ करना है और तुम्हारे शरीर-जैसा पवित्र स्थल उस यज्ञके लिये त्रिभुवनमें नहीं है।'

'मेरे देहपर मेरे आराध्यको संतुष्ट करनेके लिये आप यज्ञ करेंगे, इससे अधिक सौभाग्य मेरा क्या होगा?' ब्रह्माजीकी बात पूरी होनेसे पहले गय लेट गया भूमिपर—'आप इसपर यज्ञ करें।'

कुण्ड-वेदिकादि सभी बने और सैकड़ों वर्ष यज्ञ चला, किंतु गयका एक रोम भी नहीं जला। वह श्वास रोके स्थिर पड़ा रहा। यज्ञको समाप्त करना ही था। गय फिर उठ खड़ा होगा—इस भयसे ब्रह्माजीने भगवान् नारायणका स्मरण किया। भगवान्‌ने उसके विभिन्न अङ्गोंपर देवताओंको स्थापित किया और उसके हृदयदेशपर स्वयं गदा लेकर खड़े हुए।



'ब्रह्माजी! मैं उठना चाहूँ तो अब भी उठ सकता हूँ। इन सर्वलोकेश्वरने इतनी शक्ति मुझे दे रक्खी है।' गयने कहा। 'लेकिन मेरे आराध्य जबतक मेरे वक्षपर खड़े हैं, मैं उठूँगा नहीं। प्रभु हट जायँ तो मुझे कोई उठनेसे रोक नहीं सकेगा।'

'मेरे शरीरपर कहीं कोई कैसा भी पिण्डदान करे, उसके पितरोंको अक्षय तृप्ति प्राप्त हो!' यह वरदान गयने भगवान्‌से माँगा। पूरा गया-क्षेत्र उसके देहपर ही है।

—सु०

स्वाध्याय-धर्म

(लेखक—श्रीकन्हैयालालजी लोढा बी० ए०)

'स्वाध्याय' शब्द दो शब्दोंके मेलसे बना है—'स्व' और 'अध्याय'। 'स्व'का अर्थ है अपना और 'अध्याय'का अर्थ है अध्ययन करना। अर्थात् आत्मस्वरूपका अध्ययन करना ही स्वाध्याय है। अतः आत्मरमण करना तथा आत्मरमणमें सहायक सत्साहित्यका अध्ययन करना ही स्वाध्यायके प्रमुख अङ्ग हैं। केवल उन्हीं शास्त्रोंका अध्ययन, जो आत्म-स्वरूपका विवेचन करते हों, निज स्वरूपका बोध कराते हों, मनके राग-द्वेष आदि विकारोंके निवारणमें सहायक हों, स्वाध्यायमें स्थान पाता है। जो ग्रन्थ विषय-विकारोंके उत्तेजक, प्रेरक तथा वर्द्धक हों, पतनके गर्तमें डालनेवाले हों, काम, क्रोध, मद, मोह बढ़ानेवाले हों, चित्तको अशान्त तथा अशुद्ध करनेवाले हों, उनके अध्ययनका स्वाध्यायके क्षेत्रमें कोई स्थान नहीं है।

स्वाध्यायकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा गया है—**श्रुतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च।…अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च।**

यहाँ सदाचार, सत्य, तप, इन्द्रियदमन, मनके शमन आदि प्रत्येक सत्कार्यके साथ स्वाध्याय तथा प्रवचनपर बल दिया गया है। इस प्रकार प्रत्येक कार्यके साथ स्वाध्याय एवं प्रवचनको जोड़कर स्वाध्यायका जीवनमें कितना महत्त्व है, इस ओर संकेत किया गया है।

वस्तुतः स्वाध्याय वह धर्म या साधनापथ है, जिसका आश्रय ले साधक अपने अभीष्ट साध्यको प्राप्त कर लेता है। कारण, साधक जिस ग्रन्थका स्वाध्याय करता है, उसका सङ्ग उस ग्रन्थके प्रणेताके साथ हो जाता है। ग्रन्थ-प्रणेताने अपने जीवनमें जो अनुभव असीम त्याग, तप, संयम-साधनासे प्राप्त किये हैं, उनके अध्ययनका सुअवसर स्वाध्यायी साधकको सहज ही मिल जाता है। वह उनसे लाभ उठा बुराइयोंकी कँटीली झाड़ियों, पापोंके गड्ढों, भूलोंके भूलभुलैयोंसे अपनेको बचाता हुआ सद्गुणों तथा सदाचारके सुपथपर आगे बढ़ता चलता है और अपने गन्तव्य स्थल, लक्ष्यसिद्धिको प्राप्त कर लेता है।

उपनिषद्में गुरु शिष्यको उपदेश देता है—(१) **सत्यं वद, (२) धर्मं चर, (३) स्वाध्यायान्मा प्रमदः।** इन तीनों सूत्रोंको एक समान स्थान देकर सत्य बोलने तथा धर्मका आचरण करने जितना ही बल स्वाध्याय करनेमें प्रमाद न करनेपर भी दिया गया है। यह स्वाध्यायके महत्त्वका ही द्योतक है।

योगशिखोपनिषद्में कहा गया है कि 'जैसे लकड़ीमें स्थित अग्नि मन्थनके बिना प्रकट नहीं होती, उसी प्रकार हमारे भीतर ही विद्यमान ज्ञान-दीप स्वाध्यायके बिना प्रदीप्त नहीं होता। आशय यह है कि स्वाध्यायसे अज्ञान-अन्धकारका नाश हो ज्ञानका प्रकाश प्रकट होता है। ज्ञान-के प्रकाशसे ज्ञानी विकारोंको त्यागकर स्वरूपको प्राप्त होता है, जिससे उसकी अचिन्त्य आत्म-शक्तियोंका आविर्भाव होता है और वह परमात्माका दर्शन करके परमानन्दका अनुभव करता है।

स्वाध्यायका जितना महत्त्व आध्यात्मिक क्षेत्रमें है, उतना ही महत्त्व सामाजिक एवं व्यावहारिक क्षेत्रोंमें भी है। आज विश्वमें सामाजिक अव्यवस्था, राजनीतिक संघर्ष, वैचारिक मतभेद, पारिवारिक कलह, आर्थिक संकट आदि असंख्य समस्याएँ दिखायी पड़ रही हैं। इनका समाधान भी स्वाध्याय-धर्ममें निहित है।

व्यावहारिक क्षेत्रमें स्वाध्यायकी महिमाका वर्णन करते हुए संस्कृत-कविने कहा है—

मातेव रक्षति पितेवहिते नियुङ्क्ते
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्त्तिं
किं किं न साधयति स्वाध्ययनप्रवृत्तिः॥

(शुकनासोपदेश—बाणभट्ट)

अर्थात् स्वाध्याय माताके समान रक्षण तथा पोषण करता है, पिताके समान हित-प्रवृत्तिमें लगाता है, पत्नीके समान प्रसन्नचित्त बनाता है, लक्ष्मी एवं कीर्त्तिको प्राप्त कराता है। स्वाध्यायसे क्या-क्या सिद्धि नहीं मिलती ?

सद्ग्रन्थोंके स्वाध्यायके प्रभावसे अहंता, ममता, संकीर्ण

एवं स्वार्थपरक भाव मिट जाते हैं या शिथिल हो जाते हैं और नम्रता, सरलता, निर्लोभता, उदारता, वत्सलता एवं सहृदयताके भावोंका उदय होता है। उसका विश्व-वात्सल्य-भाव तो इतना विकसित हो जाता है कि वह पापी, दुराचारी, अज्ञानीसे भी घृणा नहीं करता । वह घृणा करता है पाप, अज्ञान एवं दुराचारसे। उसमें किसी भी प्राणीके प्रति द्वेष या बदला लेने, उससे अनुचित लाभ उठाने एवं स्वार्थसाधन करनेकी भावना नहीं रहती । वह अपराधीके अपराधका प्रतिकार अपकारके बदले उपकार करके, उसका हृदय परिवर्तन करके, करना चाहता है। वह दूसरोंके दुःखोंको बँटाता है एवं अपना सुख चारों ओर बाँटता है। उसका प्रत्येक कार्य सर्वहितकारी प्रवृत्तिसे अनुप्राणित होता है।

स्वाध्याय और सम्पत्ति

जिस परिवारमें ऐसे नर-नारी हों, उस परिवारका चतुर्मुखी हित होगा। उनके व्यक्तित्वके प्रभावसे परिवारके अन्य सदस्य भी स्वतः उपर्युक्त मानवीय गुणोंको अपनाने लगेंगे। फलतः वह परिवार सहृदयता, वत्सलता, सहकारिता, स्नेह एवं साम्यका आगार होगा और जिस परिवारका वातावरण इन गुणोंसे सुरभित हो, उस ओर धन, धान्य एवं सम्पदाके भ्रमर खिंचे चले आयें—इसमें संदेहको कोई स्थान ही नहीं है। परंतु यदि किसी दैवी प्रकोपसे कभी भौतिक धन-वैभवका अभाव भी हुआ, तब भी उस परिवारके पास सद्गुणोंका ऐसा अक्षय भंडार होगा, जिससे दुःखोंके दूर भागनेमें देर न लगेगी। विपत्ति कितनी ही बड़ी हो, परिस्थिति कितनी ही प्रतिकूल हो, वह परिवार पारस्परिक स्नेह और सहकारिता, आशा और विश्वासके बलसे, उसके दुःखद प्रभावसे अपनी रक्षा करनेमें सक्षम तथा समर्थ होगा। वे विपत्तियाँ एवं प्रतिकूल परिस्थितियाँ देखते-ही-देखते विलीन हो जायँगी, वे वहाँ पैर जमानेमें समर्थ न हो सकेंगी।

इसके विपरीत कोई परिवार भौतिक धन-वैभव एवं सुख-सामग्रियोंसे परिपूर्ण भी हो, परंतु उसमें दैवी सम्पद्—स्नेह, वत्सलता, सहिष्णुता, सेवाभावका अभाव हो, संकीर्णता, स्वार्थपरता आदि अवगुण हों—जिनका होना सत्साहित्य-के पठन-श्रवणके अभावमें बहुत सम्भव है, तो वह परिवार कलहका आगार होगा, जिसे जीता-जागता नरक ही कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

स्वाध्याय और पारिवारिक प्रेम

आजके परिवारोंके कलहका मूल कारण नारियोंमें स्वाध्यायका अभाव है। स्वाध्यायके अभावसे स्त्रियोंकी मनोवृत्तिमें संकीर्णता, स्वार्थपरता एवं असहिष्णुता आ जाती है। अतः क्षुद्र वस्तुओं एवं बातोंको लेकर कलह हो जाता है। अपशब्दोंकी बौछार होने लगती है। घरका वातावरण दूषित एवं दम घोटनेवाला बन जाता है और यह सर्वविदित है कि लक्ष्मी कलह या अभद्र वातावरणसे बहुत डरती है। वह ऐसे स्थानपर एक क्षण भी ठहरना पसंद नहीं करती। अतः कलहयुक्त वातावरणवाले परिवारसे लक्ष्मी चली जाती है और वह परिवार निर्धनतासे दुखी हो जाता है। यदि परिवारकी स्त्रियोंमें स्वाध्यायकी प्रणाली प्रचलित हो तो उपर्युक्त कलहकारी वातावरण बनने एवं लक्ष्मीके चले जानेकी स्थिति नहीं आ सकती तथा उस परिवारकी भावी संतान भी दूषित वातावरणके कुप्रभावसे बचकर सद्गुणी होगी, और वह परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्वके लिये सबसे बड़ी एवं सच्ची सम्पत्ति सिद्ध होगी।

स्वाध्याय और सामाजिक हित

स्वाध्यायसे जो लाभ पारिवारिक क्षेत्रमें हैं, वे ही लाभ सामाजिक जगत्‌में भी हैं। जिस समाजमें सद्ग्रन्थोंके पठन-श्रवणकी प्रणाली है, उस समाजके व्यक्तियोंके आचरणमें भी सद्गुणोंका व्यवहार देखा जाता है। धर्मग्रन्थोंमें वर्णित महापुरुषोंके आदर्श चरित्र एवं सूक्तियों, सुभाषितों तथा सिद्धान्तोंका उनपर जाने-अनजाने ही ऐसा प्रभाव पड़ता है कि उनके स्वभावमें सेवाभाव एवं कर्तव्य-परायणता, उदारता, सहिष्णुता, सहकारिता, समता, वत्सलता आ जाती हैं। इन्हीं गुणोंके सोतोंसे सींचनेके फलस्वरूप समाजका पौधा सरस रहता, बढ़ता, उन्नत तथा विकसित होता है। इन गुणोंके सोते मिलकर सम्पत्ति-सरितामें परिणत हो जाते हैं, जिसके जलसे सींचा जाकर समाजका उपवन सुख-सुविधासे हरा-भरा, धन-वैभवमें भरा-पूरा रहता है। यही नहीं, सद्ग्रन्थोंके अध्ययनके प्रभावसे वह समाज मद्यपान, मांसभक्षण, परस्त्रीसेवन, वेश्यागमन, धूम्रपान, द्यूत आदि दुर्व्यसनोंसे बचा रहता है। ये वे दुर्व्यसन हैं, जिनसे समाज पतनके गर्तमें गिरता है। जिस समाजमें ये दुर्व्यसन नहीं, उस समाजके उन्नत तथा समृद्ध होनेमें संदेहको कोई स्थान नहीं है। अतः स्वाध्यायशील

समाज दुर्गुणोंके अभावके कारण धन-वैभव आदि भौतिक समृद्धिसे और सद्गुणोंके कारण आत्मिक ऋद्धिसे सम्पन्न होगा।

स्वाध्याय और राष्ट्रिय चरित्र

राष्ट्रिय दृष्टिकोणसे भी स्वाध्यायका महत्त्व कम नहीं है। कारण, किसी भी राष्ट्रका उत्थान-पतन उसमें बसनेवाले मानव-समुदायके उत्थान-पतनपर निर्भर करता है। मानव-समाजका पतन उस समाजमें व्याप्त दुर्व्यसनोंपर तथा उत्थान दुर्व्यसनोंके त्याग, नैतिकता, परोपकारिता, उदारता, सेवाभाव आदि सद्गुणोंपर निर्भर करता है। जैसा कि पहले कहा गया है, इन सद्गुणोंके आविर्भाव एवं विकासमें सद्ग्रन्थोंके अध्ययनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः स्वाध्याय-शील वातावरणवाले राष्ट्रके उत्थान एवं सुख-समृद्धिकी वृद्धिमें शङ्काको कोई स्थान ही नहीं है।

स्वाध्याय मानवताका प्रकाशस्तम्भ

स्वाध्याय मानवसमाजकी प्रगतिके लिये पथप्रदर्शक प्रकाशस्तम्भका कार्य करता है। ऋषि-मुनियोंके सतत साधनासे अनुभूत ज्ञानके प्रकाशसे लाभ उठाकर, संकीर्ण स्वार्थपरक, विग्रहकारी प्रवृत्तियोंको छोड़कर मानवजाति युद्धोंके विपत्ति एवं विनाशसे आवृत गर्तोंमें गिरनेसे बच सकती है तथा महर्षियोंद्वारा प्रतिपादित मार्गपर चलकर प्रगतिका विद्युत्-रथ कार द्रुतगतिसे विना दुर्घटनाका शिकार हुए आगे बढ़ सकता है।

अभिप्राय यह है कि स्वाध्यायका क्षेत्र जितना विकसित होगा, मानवके विकासकी परिधि भी उतनी ही विस्तृत होगी। स्वाध्यायका जिन-जिन क्षेत्रोंमें जितने-जितने अंशोंमें प्रसार होगा, उन-उन क्षेत्रोंमें उतने-उतने ही अंशोंमें सुख, शान्ति एवं समृद्धिकी वृद्धि होगी। इसीलिये ऋषियोंने कहा है—

स्वाध्यायान्मा प्रमदः स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

(तैत्तिरीयोपनिषद्, शीक्षाध्याय प्रथम वल्ली, अनुवाक १०)

अर्थात् शिक्षा एवं स्वाध्यायमें प्रमाद न करें। सारांश यह कि स्वाध्याय-धर्म जीवनमें अत्यन्त आवश्यक है। इसे धारण करनेमें ही विश्वका कल्याण है।

धर्म मेरा

(रचयिता—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

धर्म एक,
वर्णित है बड़े-बड़े ग्रन्थोंमें।
(पाठ करें, न करें)
लेते हैं लोग उनका—
श्रद्धा-सम्मान सहित गौरवपूर्ण श्रीनाम।

धर्म वही,
(सुना, पढ़ा है मैंने)
आचरण करते थे उसका—
रघु, नल, युधिष्ठिर, भीष्म,
मूर्ति हैं उसकी साक्षात् श्रीराम।

धर्म एक,
(बचपनसे सुनता आया जिसे)
केवल प्रवचनका विषय वह।
वाणीमें आकर, प्रभावसे जिसके,
वीतराग, त्यागी, तपस्वियोंके बने—
बड़े-बड़े वैभवसम्पन्न शुभ धाम।

धर्म एक,
उद्घोष करके जिसका,
नामके जिसके नारे लगाके,
संकटमें जिसको बतलाके,
देशका विभाजन हुआ हाय!
होती हैं हत्याएँ, लूटपाट, अग्निकाण्ड, अनाचार,
धर्म यह ?
तब इससे होना अच्छा उपराम!

धर्म मेरा,
कैसे कहूँ ? पालन किया नहीं मैंने कभी धर्म।
पामर—अल्पवीर्य प्राण,
धर्मके पालनकी क्षमता न पायी मैंने।
लेकिन सुना है—
'जिसका न कोई भवमें, उसके तुम होते हो।'
इस नाते—केवल इसी नाते, कहता हूँ, मानता हूँ,
(धर्म यदि होवे यह)
धर्म मेरा—मेरे हो तुम श्याम!

स्वाध्याय-धर्मके आदर्श

श्रीदेवनाथसिंह

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ।

(योगदर्शन)

स्वाध्यायसे इष्टदेवताका साक्षात्कार होता है । यहाँ स्वाध्यायका अर्थ है—मन्त्र-जप । लेकिन एक अच्छे संतने अपने सहज ढंगसे स्वाध्यायकी जो व्याख्या की, वह भी भूलने योग्य नहीं है । वे कहते थे—'स्वाध्यायका अर्थ है 'स्व' अपना + अध्याय अर्थात् वह ग्रन्थ या मन्त्र जिसे तुमने अपनाया है, वह तुम्हारे अपने जीवनका एक अङ्ग—अध्याय हो जाय ।'

महर्षि वाल्मीकि पहिले डाकू थे । देवर्षि नारद-ने उनको इस अपकर्मसे पृथक् किया; किंतु 'राम' यह शब्द उनके मुखसे निकलता नहीं था । वे देवर्षिके उपदेशसे 'मरा-मरा' जपते बैठ गये । उनका अविचल आसन, नाममें उनकी लगन, उनकी तल्लीनता इतनी कि उनके शरीरपर दीमकोंने बाँबी बना ली । ब्रह्माने उनको दर्शन दिया । वल्मीक (बाँबी)से उठनेके कारण वे वाल्मीकि कहलाये । संस्कृतका प्रथम श्लोक उनके मुखसे निकला । वे आदिकविकी उपाधिके भाजन हुए ।

ऐसी निष्ठा इस युगमें देवनाथसिंहमें मैंने देखी । वे सर्वथा अनपढ़ थे । जमींदारोंके बच्चोंके लिये पढ़ाईकी आवश्यकता कम लोग मानते थे । वे राजपूत थे और घर छोटी जमींदारी थी । समय ठीक स्मरण नहीं है, किंतु पिछला योरोपीय महायुद्ध प्रारम्भ नहीं हुआ था । मैं ग्राम क्यों गया था, अब याद नहीं । वे एकान्तमें मिले और बोले—'मेरी इच्छा गीता पढ़नेकी है । अब किसी-से पढ़ने जानेमें लज्जा आती है । कोई उपाय बतलाइये ।'

उन्हें वर्णमालाके अक्षरोंकी भी पहिचान नहीं थी । मुझे वहाँ रुकना नहीं था । मैं उपाय क्या बतला सकता था । मैंने कहा—'गीता भगवान्‌की वाणी है । भगवान् और उनकी वाणीमें भेद नहीं है । आप प्रतिदिन गीताकी पुस्तकको प्रणाम कर लिया करें ।'

लगभग दो-तीन वर्ष पीछे वे फिर मिले । मुझे एकान्तमें ले जाकर बोले—'मैंने गीताके मोटे अक्षरोंकी पुस्तक तभी ले ली थी । नियमपूर्वक प्रतिदिन कई-कई बार गीताकी प्रत्येक पंक्तिपर अँगुली फेरता हूँ । अब अँगुली फेरते समय कुछ बोलनेकी इच्छा होती है । मेरी ही समझमें नहीं आता कि मैं क्या बोलता हूँ । आप सुनिये ।'

मैंने सुना और स्थान-स्थानपर अँगुली फेरनेको कहकर सुना । वे जहाँ अँगुली फेरते थे, वहाँ उस श्लोकका शुद्ध पाठ करते थे । यह लगन, यह स्वाध्याय, गीता उनके जीवनका अङ्ग बन गयी ।

पीछे उन्हें भाइयोंने पृथक् कर दिया । कन्याका विवाह किया उन्होंने और पुत्रपर अपनी पत्नीका भार छोड़ा । स्वयं तीर्थयात्रा करने निकल पड़े । घर-से प्रायः तीसरे महीने पैंतालीस रुपये मनीआर्डरसे मँगाते थे । मोटी खादीकी धोती, कुर्ता प्रायः मट-मैला-सा और एक झोलेमें चद्दर, लोटा, रस्सी—बस, इतना सामान था उनके साथ; कंधेपर एक कम्बल रहता था । पूरे भारतकी तीन बार पैदल तीर्थयात्रा उन्होंने की । सुना है कि इसी यात्रामें एक मन्दिरमें गीताके श्लोकोंपर अँगुली फेरते और श्लोक बोलते हुए उनका शरीर छूटा ।

—सु०

ईश्वरप्रणिधानके आदर्श

संत तुकाराम

श्रीतुकारामजी भगवत्प्रेममें निमग्न होकर जब कीर्तन करने लगते, तब उनके मुखसे ज्ञान, वैराग्य तथा भक्तिके गूढ़ रहस्योंके बोधक अभङ्ग निकलते थे। बड़े-बड़े विद्वान्, साधु इनका सत्सङ्ग करने आने लगे! इनके प्रति लोगोंमें श्रद्धा बढ़ गयी। पूनासे नौ मील दूर बाघौलीमें रहनेवाले कर्मनिष्ठ वेद-वेदान्तके एक पण्डित श्रीरामेश्वर भट्टको यह बहुत अनुचित लगा। उन्होंने स्थानीय अधिकारीसे कहा—'तुकाराम शूद्र होकर वेदोंका सार अपने अभङ्गोंमें बोलता है। उसे देहू छोड़कर चले जानेकी आज्ञा दी जानी चाहिये।'

यह समाचार तुकारामजीके पास पहुँचा तो वे स्वयं रामेश्वर भट्टके पास गये तथा उन्हें अभिवादन करके बोले—'मेरे मुखसे अभङ्ग श्रीपाण्डुरङ्गकी प्रेरणासे ही निकले हैं; किंतु आप ब्राह्मण हैं, भगवान्के मुखस्वरूप हैं, आपकी आज्ञा भगवान्की ही आज्ञा है। आप कहते हैं तो अब अभङ्ग नहीं बनाऊँगा। अबतक जो अभङ्ग बने हैं और लिख रक्खे हैं, उनका क्या करूँ, यह बतलानेकी कृपा करें।'

'उन्हें नदीमें डुबा दो।' रामेश्वर भट्टने झल्लाकर कहा।

तुकारामजी देहू लौट आये। अभङ्ग लिखी सब बहियाँ उन्होंने इन्द्रायणी नदीके ह्रदमें डुबा दीं। लेकिन इससे चित्तको बड़ा क्लेश हुआ। भगवान्का नाम, रूप, गुण, माहात्म्यादि भी बोलना, लिखना, एक शास्त्रज्ञ विद्वान्ने वर्जित कर दिया, अब जीवन रखनेका क्या प्रयोजन? जीवनमें पाण्डुरङ्गके अतिरिक्त दूसरा तो कोई आकर्षण था ही नहीं। वे पाण्डुरङ्ग मिले नहीं और उनकी चर्चापर प्रतिबन्ध लग गया! श्रीतुकारामजीने निश्चय किया—'अब तो वे विट्ठल मिलेंगे अथवा शरीर जायगा।'

श्रीविट्ठल-मन्दिरके सामने शिलापर तुकाराम जाकर बैठ गये। उन्होंने अन्न, जल तथा निद्रा भी छोड़ दी। पूरे तेरह दिन और तेरह रात्रि वे उसी शिलापर बैठे रहे। यह ईश्वरप्रणिधान—यह आराध्यमें चित्तकी उत्कट लगन। कबतक पाण्डुरङ्ग ऐसे प्रेम-हठीलेकी ओरसे उदासीन रहते। वे नवघनसुन्दर, पीताम्बरधारी, वनमाली बालक वेशमें प्रकट हो गये। धन्य हो गये तुकारामके नेत्र तथा जीवन!

'मैंने तुम्हारी अभङ्गोंकी बहियाँ इन्द्रायणीके ह्रदमें सुरक्षित रक्खी थीं। आज उन्हें तुम्हारे श्रद्धालुओंको दे आया हूँ।' उन लीलामयने यह समाचार सुनाया और अन्तर्हित हो गये। —सु०

अनित्य और दुःखरूप

क्षयान्ता निचयाः सर्वे पतनान्ताः समुच्छ्रयाः। संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥
उच्छ्रयान् विनिपातांश्च दृष्ट्वा प्रत्यक्षतः स्वयम्। अनित्यमसुखं चेति व्यवसेत् सर्वमेव च॥

(महाभारत अनुशासन० १४५)

सारे संग्रहोंका अन्त विनाश है, सारी उन्नतियोंका अन्त पतन है, संयोगका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है। उत्थान और पतनको स्वयं ही प्रत्यक्ष देखकर यह निश्चय करे कि यहाँका सब कुछ अनित्य और दुःखरूप है।

धृतिका स्वरूप

धृति कहते हैं—धैर्यको और धारण-शक्तिको। जगत्की निन्दा-स्तुतिमें, विपरीत परिस्थितियोंमें, बड़ी-से-बड़ी विपत्तियोंमें और बार-बार प्राप्त होनेवाली असफलताओंमें भी धैर्यवान् पुरुष न्याय-पथसे—धर्मके मार्गसे विचलित नहीं हुआ करते। यह धैर्य धर्मका ही एक स्वरूप है।

धारण-शक्ति तीन प्रकारकी होती है। भगवान्ने गीतामें अर्जुनको इसके तीन भेद बतलाये हैं—

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥

(१७। ३५)

'पार्थ! दुर्बुद्धि मनुष्य जिस धृतिसे स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मदको नहीं छोड़ता, इन्हें धारण ही किये रहता है, वह धृति तामसी है।'

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥

(१७। ३४)

'अर्जुन! (भोगोंकी) अत्यन्त आसक्तिसे फलकी इच्छावाला पुरुष जिस धृतिके द्वारा धर्म, अर्थ और कामको धारण किये रहता है, पार्थ! वह धृति राजसी है।'

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

(१७। ३३)

'पार्थ! जिस अव्यभिचारिणी धृतिसे पुरुष योगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है।' उपर्युक्त त्रिविध धृतिका आशय यह है—

जो बुद्धि अधर्मको धर्म, पापको पुण्य, अकर्तव्यको कर्तव्य—इस प्रकार सर्वत्र विपरीत निश्चय करती है तथा जीवनको विपरीत ही दिशामें—पतनोन्मुख या नरकोन्मुख ही चलाती है—ऐसी तामसी दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य या तो निद्रा, आलस्य, अकर्मण्यतामें जीवन खोता है या दूसरोंके अहितकी भावना और चेष्टामें—प्रकारान्तरसे अपने ही अनिष्ट-सम्पादनमें लगा रहता है। वह अपनी दुर्बुद्धिके कारण पद-पदपर अनेकों शत्रुओंका और प्रतिकूल स्थितियोंका निर्माण करता रहता है। इससे उसको प्राप्त धन, जन, मान, अधिकार आदि पदार्थोंके नाशका, मरणका, सुखके विनाश और दुःखप्राप्तिका भय निरन्तर लगा रहता है। वह विभिन्न प्रकारकी नयी-नयी बुरी चिन्ताओंसे सदा शोकाकुल रहता है और धन, जन, मान, अधिकार आदिके नाशसे विषादमें डूबा रहता है। साथ ही, धन-जन-मान-अधिकार आदिके प्राप्त होते ही उनके नशेमें चूर होकर उन्मत्तकी भाँति यथेच्छाचार करने लगता है। इन सब अनर्थोंमें ही उसकी धारण-शक्ति निरन्तर लगी रहती है। यह तामसी धृति है, जो सर्वथा त्याज्य है; क्योंकि यह अधर्ममयी ही है। अधर्म वही है जिससे अपना तथा दूसरोंका परिणाममें अहित हो।

रजोगुणका रूप ही है—'भोगासक्ति'। **'रजो रागात्मकं विद्धि'** और आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है—**'सङ्गात् संजायते कामः।'** अतः जिसका मन भोगोंमें अत्यन्त आसक्त है और भोगरूपी फलकी ही सदा आकाङ्क्षा करता है, ऐसा मनुष्य भोगोंको ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य मानकर यथेच्छ भोग-प्राप्तिके लिये ही सदा 'धर्म'का सेवन करता है, भोगके लिये ही अर्थका अर्जन करता है और भोगोंके उपभोगमें ही अटलरूपसे लगा रहता है। इसी धारणशक्तिसे वह भोग-कामनाओंसे अंधा हुआ समस्त ज्ञान-विज्ञानका इसीके लिये प्रयोग करता है; इन्हीं धन, पद, अधिकार, शरीरका आराम, इन्द्रियोंके विषय आदि भोगोंके लिये दलबंदी करता, चोरी-बेईमानी करता, लोगोंको धोखा देता, व्यापारमें नाना प्रकारकी बेईमानी करता, चीजोंमें मिलावट करता, घूस-रिश्वत लेता, भाँति-भाँतिके भ्रष्टाचार-अनाचार-दुराचार करता, वैर-विरोध तथा कलह-युद्धादिमें प्रवृत्त रहता और ऐसे काम कर बैठता है, जो परिणाममें आलस्य, प्रमाद, भय, शोक, विषाद, अशान्ति आदिकी उत्पत्ति करके उसके लोक-परलोकको दुःखमय बना देते हैं। इस प्रकारके कार्योंमें लगी हुई धारण-शक्ति राजसी है। यह भी त्याज्य ही है।

मानव-जीवनका एकमात्र उद्देश्य है—भगवत्प्राप्ति या आत्मसाक्षात्कार। इस भगवत्प्राप्तिकी अनन्य इच्छासे पुरुष भगवान्के साथ आभ्यन्तरिक संयोग किये हुए—**अध्यात्म-चेतसा**—मन, प्राण और इन्द्रियोंके द्वारा यथायोग्य यथाधिकार यथारुचि विभिन्न कार्योंका सम्पादन करता है। अर्थात् मनके द्वारा भगवत्प्राप्तिके अनुकूल साधनोंकी बात ही सोचता है, उन्हींको जीवनमें उतारता है और इन्द्रियोंके द्वारा सदा उन्हीं कार्योंमें लगा रहता है। एक क्षणके लिये

भी तनिक भी इस भगवत्प्राप्तिरूप उद्देश्य तथा इसीकी प्राप्तिके साधनरूप कर्मोंसे विचलित नहीं होता, सदा अटल रहता है, उसकी धारण-शक्ति सात्त्विकी है। ऐसा पुरुष सदा ऊँचा उठता रहता है—'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः।' उसके द्वारा जो कुछ भी कार्य होते हैं, सब उसके तथा जगत्के सभी प्राणियोंके लिये हितकर—कल्याणकर होते हैं। यह धृति ही परम धर्म है और इस धृतिके सम्पादनका प्रयत्न धर्म है।

परमार्थके साधक मात्र इस धृतिके उदाहरण हैं।

क्षमाका आदर्श

(१)

विष्णुभगवान् और भृगुजी

मनु महाराजने दस मानव-धर्म बताये हैं। उनमें क्षमा दूसरा धर्म है। समर्थ होते हुए भी अपना अनिष्ट—अहित करनेवालेके प्रति क्रोध न होना अक्रोध कहलाता है। पर इसमें प्रतिशोधकी भावना मनमें रह सकती है; पर क्षमामें प्रतिशोधकी कल्पना तो रहती ही नहीं, अपराधीका उपकार किया जाता है अथवा उसे उलटा महत्त्व दिया जाता है।

मानव अपने अहंकारके वश होकर दूसरेकी तनिक-सी भूलमें ही अपनी क्षमाशीलता खोकर भयानक बदला लेनेका संकल्प करने लगता है और इस अमङ्गल-संकल्पके साथ ही अनिष्टकी आशङ्का आरम्भ हो जाती है। इस वैर-भावनासे विपक्षीका अमङ्गल तो उसके प्रारब्धमें होनेपर ही होता है, पर अपना अनिष्ट अवश्य होता है। रात-दिन द्वेषकी अग्निमें हृदय जला करता है, सारी शान्ति समाप्त हो जाती है और येन-केन-प्रकारेण अपना अनिष्ट करके भी विपक्षीका अमङ्गल कर डालनेको मन व्यग्र हो उठता है। इस अमङ्गल-भावनामें ही बड़े-बड़े राष्ट्र और जातियाँ समाप्तप्राय हो जाती हैं, फिर एक मानवकी तो बात ही क्या है।

इसीके स्थानपर जब क्षमा आ जाती है, तब क्रोध, वैर, द्वेष, प्रतिशोध, प्रतिहिंसा आदि दुर्गुणोंके सूखे रेगिस्तानमें भी स्नेहकी एक अमिय-धारा फूट पड़ती है। शान्तिका साम्राज्य छा जाता है और सर्वत्र सुख-ही-सुख आ पहुँचता है।

स्वयं भगवान् विष्णुका जगत्के इतिहासमें क्षमाके लिये बड़ा ही ऊँचा स्थान है। एक छोटा-सा आख्यान है। एक बार महर्षि भृगु शिवलोक, ब्रह्मलोक आदिसे घूमते-घूमते और बड़े-बड़े देवताओंके क्रोधका परीक्षण करते-करते विष्णुलोकमें पहुँचे। उस समय भगवान् विष्णु लक्ष्मीजीकी गोदमें मस्तक रखकर लेटे हुए थे। भृगुजीने पहुँचते ही उनके वक्षःस्थलपर खूब जोरसे एक लात मार दी। लात लगते ही विष्णुभगवान् उठकर बैठ गये और महर्षिके चरण अपने करकमलोंमें लेकर सहलाने लगे।



सहलाते हुए बड़ी नम्रतासे बोले—'नाथ ! मेरा वक्षःस्थल तो बड़ा कठोर है और आपके चरण अत्यन्त सुकोमल हैं, कहीं चोट तो नहीं लग गयी ? आप मुझे क्षमा कर दें, आजसे मैं सदाके लिये आपका चरणचिह्न अपने वक्षःस्थलपर आभूषणकी भाँति सुसज्जित रक्खूँगा।' भगवान्‌के वक्षःस्थलपर नित्य विराजित चिह्नका नाम ही 'भृगुलता' है ।

भृगुजी तो उनकी क्षमाशीलताकी परीक्षा करने आये थे, पर भगवान् विष्णुका यह व्यवहार देखकर वे आश्चर्यचकित हो गये और गद्गद होकर भगवान्‌के चरणोंमें लोटकर प्रार्थना करने लगे–'नाथ ! आप चाहते तो मुझे कड़े-से-कड़ा दण्ड दे सकते थे। उसके स्थानपर आपने कैसा विलक्षण व्यवहार किया। धन्य है आपकी यह महानता; यह क्षमाका उच्च आदर्श।' इसपर भगवान् विष्णुने उनके चरण पलोटकर उनके हृदयपर ही क्या, सम्पूर्ण विश्वके धरातलपर एक ऐसी अमिट छाप लगा दी, जो क्षमाको सदा-सर्वदा बहुत ऊँचा स्थान देती रहेगी।

—राधा भालोटिया

(२)

प्रह्लादकी क्षमाशीलता

हिरण्यकशिपुका वध हो गया । भगवान् नृसिंहदेवका क्रोध शान्त नहीं होता । देवता-ऋषियोंने डरते-डरते भगवान्‌का स्तवन किया। अन्तमें देवताओंने भगवान् नृसिंहका क्रोध शान्त करनेके लिये लक्ष्मीजीको भेजा । वे भी भयवश लौट आयीं । फिर प्रह्लाद गये और भगवान्‌के चरणोंमें लोट गये । भगवान्‌का क्रोध शान्त हो गया। प्रह्लादने भगवान्‌की बड़ी विलक्षण स्तुति की, तब भगवान् नृसिंहने मनमाना वरदान माँगनेके लिये प्रह्लादको प्रलोभित किया। प्रह्लाद बोले–'मैं तो जन्मसे ही विषयासक्त हूँ, मुझे लुभाइये मत । मालूम होता है आप मेरी परीक्षा कर रहे हैं । पर आप परम दयालु हैं, आप मुझे भोगोंमें कैसे फँसा सकते हैं । भगवन् ! जो सेवक आपसे अपनी कामनाएँ पूरी कराना चाहता है, वह सेवक नहीं है; वह तो लेन-देन करनेवाला बनिया है—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥

(श्रीमद्भागवत ७ । १० । ४)

आप मुझे मुहमाँगा वर देना चाहते हैं तो यही दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज ही न अङ्कुरित हो; क्योंकि हृदयमें कामनाके उत्पन्न होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और सत्य—नष्ट हो जाते हैं।'

भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हो गये । प्रह्लादने सोचा था मेरे मनमें कोई कामना नहीं है; पर जब भगवान्‌ने माँगनेको कहा, तब यह भी विचार आया कि शायद कोई कामना छिपी हो और वस्तुतः एक बड़ी दिव्य कामना छिपी थी भी, जो प्रह्लाद-सरीखे क्षमाशील संत भक्तके हृदयमें ही उत्पन्न हुआ करती है। 'उमा संत की यहै बड़ाई। मंद करत सो करत भलाई !' प्रह्लादने कहा—'हे वर देनेवालोंके महान् ईश्वर ! मैं आपसे एक वर माँगता हूँ । मेरे पिताने आपके ईश्वरीय तेजको और सब लोकोंके गुरु तथा स्वामी आपको न जानकर आपकी बड़ी निन्दा की है । दीनवत्सल ! आपकी दृष्टि पड़ते ही वे मेरे पिता पवित्र हो चुके हैं; फिर भी मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ, इस शीघ्र न नाश होनेवाले भयानक अपराधसे मेरे पिताको आप शुद्ध कर दीजिये ।'

श्रीनृसिंह भगवान् भक्त प्रह्लादकी इस भक्त-जनोचित कामनाको सुनकर प्रसन्न हो गये और बोले—



त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ ।
यत् साधोऽस्य गृहे जातो भवान्वै कुलपावन ॥
यत्र यत्र च मद्भक्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
साधवः समुदाचारास्ते पूयन्त्यपि कीकटाः ॥

(श्रीमद्भागवत ७ । १० । १८-१९)

'निष्पाप प्रह्लाद ! जिसको तुम्हारे-जैसा कुलको पवित्र करनेवाला पुत्र प्राप्त हुआ, वे पिता स्वयं पवित्र होकर तर गये—इसमें तो कहना ही क्या है, उनकी इक्कीस पीढ़ियाँ तर गयीं। मेरे शान्त, समदर्शी और सुखपूर्वक सदाचारका पालन करनेवाले भक्तगण जहाँ निवास करते हैं, वे स्थान चाहे कीकट ही हों, पवित्र हो जाते हैं।'

यह है संत प्रह्लादकी क्षमाशीलता !

(३)

महारानी द्रौपदी

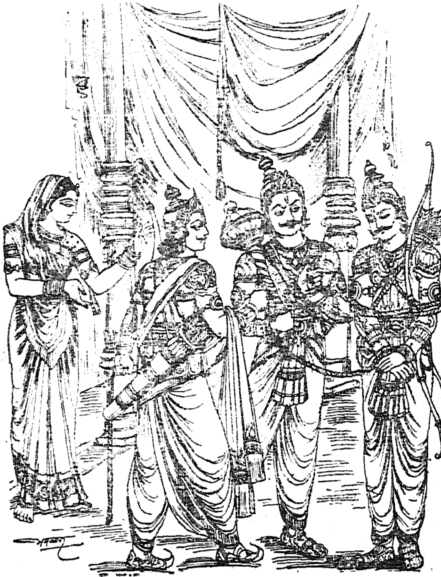
बड़ा दारुण दृश्य था। अश्वत्थामाने रात्रिमें पाण्डव-सेना-शिविरमें आग लगा दी थी और सोते हुए सैनिकोंमेंसे उन सबको मार दिया था, जिन्होंने भागनेकी चेष्टा की। महाभारतकी युद्धावशिष्ट सेना उस रात्रिमें समाप्त हो गयी। कौरवोंके पक्षमें कृपाचार्य, कृतवर्मा, अश्वत्थामा और विदुर बचे थे। दूसरे पक्षमें पाण्डव, श्रीकृष्ण तथा सात्यकि बचे और वे इसलिये बच गये कि उस दिन युद्धमें विजय प्राप्त करनेके पश्चात् श्रीकृष्ण पाण्डवों तथा सात्यकिको लेकर अन्यत्र चले गये थे। प्रातःकाल वे लौटे तो देखा, जली-अधजली लाशोंसे सम्पूर्ण शिविरभूमि पटी थी।

महारानी द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंके शरीर तथा मस्तक पृथक्-पृथक् पड़े थे, झुलसे हुए थे। नारियोंके आर्त-क्रन्दनसे आकाश-जैसे रो उठा था। द्रौपदीकी व्यथाका पार नहीं था। वे एक साथ पड़ी पाँचों पुत्रोंकी देह देखकर मूर्छित हो गयी थीं। अर्जुनने उन्हें धैर्य दिलाते हुए कहा—'इनके हत्यारे अश्वत्थामाका कटा मस्तक देखकर तब तुम आजका स्नान करना।'

श्रीकृष्णके साथ गाण्डीवधन्वा अपने रथमें बैठे। अश्वत्थामा भागा, किंतु उसका अश्व अर्जुनके दिव्य रथसे कैसे दूर जा सकता था। ब्रह्मास्त्रका प्रयोग भी द्रोणपुत्रको बचा नहीं सका। अर्जुनने उसे पकड़कर बाँध लिया और उसी बंदी-दशामें लाकर द्रौपदीके सम्मुख खड़ा कर दिया। भीमसेनने देखते ही दाँत पीसकर कहा—'इस दुष्टको तत्काल मार डालना चाहिये।'

देवी द्रौपदीने सबको रोककर कहा—'अरे, यह क्या किया आपने? छोड़िये, इन्हें अभी छोड़ दीजिये। मेरे पुत्र मारे गये हैं, इसलिये पुत्रकी मृत्युका कितना दुःख माताको होता है—मैं अनुभव कर रही हूँ। इनकी माता कृपी हमारी गुरुपत्नी हैं, उनको पुत्र-वियोगका दुःख नहीं होना चाहिये। जिनसे आपने अस्त्र-शस्त्र-संचालन सीखा, उन द्रोणाचार्यजीको

ही इस पुत्ररूपमें उपस्थित देखकर हम निष्ठुर कैसे हो सकते हैं ? इन्हें अभी छोड़ दीजिये ।'



जिसके पाँच पुत्र मारे गये, पुत्रोंके शव सामने पड़े हैं और उनके हत्यारेके प्रति इतनी कृपा, इतनी दया कि अपना पुत्रशोक भूलकर उस हत्यारेके लज्जावनत मुखको देख हृदय द्रवित हो गया, वे देवी द्रौपदी धन्य हैं !

द्रौपदीकी क्षमाकी विजय हुई । माताने ही पुत्र-घातीको क्षमा कर दिया तो दूसरा कौन दण्ड दे सकता था । श्रीकृष्णकी सम्मतिसे अश्वत्थामाके मस्तककी मणि लेकर अर्जुनने उसे छोड़ दिया ।

—सु०

(४)

क्षमा-धर्मा गांधीजी

बात जनवरी १९०८ की है । भारतवासियोंको ट्रान्सवालमें न बसने दिया जाय, इस सरकारी निर्णयके विरुद्ध सत्याग्रह-आन्दोलन महात्मा गांधीजीने छेड़ा था । विपक्षने षड्यन्त्र किया । गांधीजीका एक पुराना मुवक्किल था मीर आलम। वह उद्धत स्वभावका था । उसे बहकाया गया। बहकावेमें आकर वह गाँधीजीको मारनेको तैयार हो गया ।

एक दिन गांधीजी फॉन ब्राडिस स्कायर स्थित एशियाटिक ऑफिस जा रहे थे । अचानक मीर आलम लाठी लिये आया । उसने पूछा—'कहाँ जाते हो ?'

गांधीजी उसे बताने लगे कि वे कहाँ किस कामसे जा रहे हैं, किंतु वह यह सब सुनने तो आया नहीं था, उसने अकस्मात् लाठी मारी । पहली लाठी लगते ही गांधीजी 'हे राम' कहकर गिर पड़े । मुखके बल गिरे वे । पत्थरसे मुख टकराया। ऊपरका ओठ और ठुड्डी फट गयी, एक दाँत टूट गया । ललाट तथा नेत्रमें भी चोट आयी । मीर आलम तो मार डालनेके विचारसे आया था । उसने गिरे हुए गांधीजीपर और लाठियाँ चलायीं । लेकिन इतनेमें इसप मियाँ और थम्बी नायडू आ पहुँचे । उन्होंने शोर मचाया तो गोरे लोग आ गये ।

मीर आलम अकेला नहीं था । उसके साथ दो-एक और भी लोग थे । गोरे लोगोंको आते देख वे सब भागे; किंतु पकड़ लिये गये । गाँधीजी मूर्छित थे । उन्हें उठाकर पास ही मि० गिप्सनके कार्यालय पहुँचाया गया । होशमें आते ही उन्होंने पूछा—'मीर आलम कहाँ है ?'

लोगोंने कहा—'वे पकड़ लिये गये हैं ।'

गांधीजी—'उन्हें छूटना चाहिये ।'

बहुत चोट आयी थी । चिकित्सक तथा दूसरे लोग बहुत हठ कर रहे थे कि गांधीजीको चुपचाप पड़े रहना चाहिये; किंतु उन्होंने उसी समय एटर्नी-जनरलको तार भेजा—'मीर आलम और उसके साथियोंको छोड़ दिया जाय । उन्होंने मुझपर जो हमला किया, उसके लिये मैं उन्हें दोषी नहीं मानता । उनपर मुकदमा न चलाया जाय ।'

यह तार पाकर एक बार तो वे सब छोड़ दिये गये; किंतु जोहान्सबर्गके गोरे नागरिकोंने इसपर आपत्ति की । उन्होंने लिखा—'यह गांधीजीका व्यक्तिगत मामला नहीं है । दिनदहाड़े बीच सड़क-पर इस प्रकार आक्रमण करनेवालोंको दण्ड मिलना चाहिये ।'

कानून अपना काम करता है । अपराधी फिर पकड़े गये । गांधीजीने बहुत प्रयत्न किया उन्हें छुड़ानेका, किंतु न्यायालयने उन्हें तीन महीनेकी सख्त सजा दी ।

जेलसे छूटनेके महीने भर बाद मीर आलम एक सभामें गांधीजीसे मिला । उसने अपने अपराधकी क्षमा माँगी । वे परमोदार बोले—'मैंने तुम्हारे विरुद्ध कभी कुछ नहीं सोचा ।' —सु०

(५)

क्षमा-धर्मके आदर्श महाकवि जयदेव

गीतगोविन्दके रचयिता महाकवि जयदेव तीर्थ-यात्रा कर रहे थे । मार्गमें किसी राजाने उनका सम्मान किया और बहुत-सा धन दिया । धनके लोभसे डाकुओंने यात्री बनकर उनका साथ पकड़ा। वनमें पहुँचनेपर उन्होंने जयदेवजीके हाथ-पैर काटकर उन्हें एक कुएँमें फेंक दिया और धन लेकर चलते बने ।

कुआँ सूखा था । चेतना लौटनेपर महाकवि उस कुएँमें ही भगवान्‌के नाम और यशका कीर्तन करने लगे । गौड़ेश्वर राजा लक्ष्मणसेनकी सवारी उसी दिन उधरसे निकली । कुएँमेंसे मनुष्यका स्वर आता सुनकर राजाने अपने सेवकोंको आज्ञा दी कि वे उस मनुष्यको बाहर निकालें । जयदेवजी-को राजा अपने साथ राजधानी ले गये ।

महाभागवत तथा सरस्वतीके वरद पुत्र जयदेवजीकी विद्वत्ता, भगवद्भक्ति एवं संत-स्वभावका राजापर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने जयदेवजीको अपनी पञ्चरत्न-सभाका प्रधान बना दिया ।

बहुत पूछनेपर भी जयदेवजीने अपने हाथ-पैर काटनेवालोंके सम्बन्धमें कुछ नहीं बताया । इस घटनाको वे भगवान्‌का मङ्गल-विधान ही कहते थे ।

राजभवनमें एक बार कोई उत्सव पड़ा । साधु, ब्राह्मण, भिक्षुक बहुत बड़ी संख्यामें भोजन करने आये । उनमें वेश बदले वे डाकू भी आये, जिन्होंने जयदेवजीके हाथ-पैर काटे थे । लूले-पङ्गु जयदेवको पहचानकर और उन्हींको सर्वाध्यक्ष देखकर उनके तो प्राण ही सूख गये । जयदेवजीने भी उन्हें पहचान लिया । वे राजासे बोले– 'मेरे कुछ पुराने मित्र आये हैं । आप चाहें तो उन्हें कुछ धन दे सकते हैं ।'

नरेशने डाकुओंको समीप बुलाया, उनका खूब सत्कार किया, उनको बहुत-सा धन दिया । डाकू तो शीघ्र चले जाना चाहते थे वहाँसे । महाकवि जयदेवका मित्र समझकर राजाने उन्हें इतना अधिक धन दिया था कि उनको घरतक सुरक्षित भेजना आवश्यक जान पड़ा । कुछ सेवक उनके साथ भेज दिये ।

राजसेवकोंने मार्गमें कुतूहलवश पूछा—'हमारे सर्वाध्यक्षसे आपलोगोंका क्या सम्बन्ध है ?'

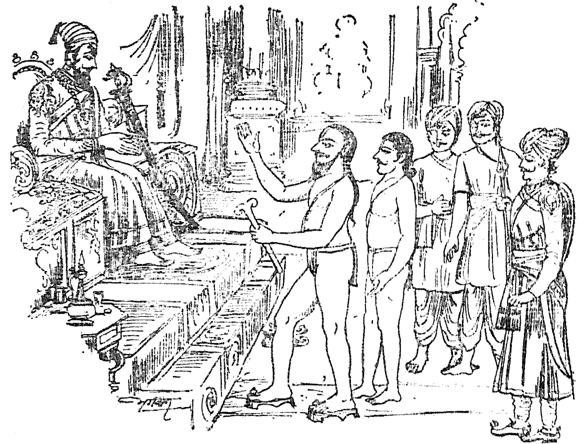
डाकू बोले—'तुम्हारा सर्वाध्यक्ष हमलोगोंके साथ एक राज्यका कर्मचारी था । इसने वहाँ ऐसा कुकर्म किया कि राजाने इसे प्राणदण्ड दिया; किंतु हमलोगोंने दया करके हाथ-पैर कटवाकर इसे जीवित छुड़वा दिया । हम भेद न खोल दें, इस भयसे उसने हमारा इतना सम्मान कराया है ।'

सृष्टिके नियामकके लिये अब इन भक्तापराधियों-का यह पाप असह्य हो गया । पृथ्वी फट गयी ।



डाकू उसमें समा गये। राजसेवक धन लेकर लौट आये। समाचार पाकर जयदेवजी अत्यन्त दुखी होकर बोले—'मैंने तो सोचा था कि ये दरिद्र हैं, धनके लोभसे पाप करते हैं, धन मिल जायगा तो पापसे बचेंगे; किंतु मुझ भाग्यहीनके कारण उन्हें प्राण खोने पड़े। प्रभु उन्हें क्षमा कर! उनकी सद्गति हो।'

इसी समय जयदेवजीके हाथ-पैर पहलेके समान हो गये। —सु०



(६)

क्षमा-धर्मके आदर्श समर्थ रामदास

समर्थ रामदास शिवाजी महाराजसे मिलने जा रहे थे। साथमें केवल एक शिष्य था। कुछ दूसरे श्रद्धालु भी साथ चल रहे थे। श्रीसमर्थ बिना पूछे एक तृण भी किसीका लिया जाय, इसे अपराध मानते थे। शिष्यके साथ वे आगे जा रहे थे। दूसरे श्रद्धालु थोड़े पीछे थे। मार्गमें गन्नेका खेत पड़ा। समर्थ चले जा रहे थे, किंतु पीछेके लोगोंने चूसनेके लिये गन्ने तोड़ लिये। समर्थको पता तब लगा, जब खेतका रखवाला पुकारता हुआ दौड़ा।

साथके लोग गन्ने लेकर भाग गये, किंतु श्रीसमर्थ खड़े हो गये। शिष्यसे उन्होंने कहा—'अपने साथ चलनेवाले अपराध करें तो उसमें अपना भी दोष होता है। अतः चुपचाप जो हो, सहन करो।'

गन्नेवालेको लगा कि इस साधुने ही अपने साथियोंको गन्ने लेकर भाग जानेको कहा होगा। उसने गालियाँ दीं और कोड़ेसे दोनोंको खूब पीटा। समर्थ रामदास उसके चले जानेपर छत्रपतिके पास गये। उनके पूरे शरीरपर कोड़ेसे लगी चोटके उभड़े चिह्न थे। शिवाजी महाराजने पूछ-ताछ की। श्रीसमर्थ नहीं बतलायेंगे, वे यह जानते थे; किंतु उन-जैसे निपुण शासकके लिये पता लगाना कठिन तो था नहीं। गन्नेके स्वामीको मराठे सैनिक पकड़ लाये। शिवाजीने पूछा—'इसे क्या दण्ड दिया जाय?'

समर्थ स्वामी बोले—'मुझे प्रसन्न करना है तो इसे वह गन्नेका खेत पुरस्कारमें दे दो। उसका कर इससे मत लेना।'

उनकी आज्ञाका पालन किया छत्रपतिने! —सु०

(७)

ब्राह्मण-गुरुकी क्षमा

भक्त काकभुशुण्डिजी किसी पूर्वजन्ममें शूद्र थे और एक बार शिव-मन्दिरमें उन्होंने समागत गुरुको उठकर प्रणाम नहीं किया था। यह एक नियम है और इसे सदा ध्यानमें रखना चाहिये कि गुरुजनोंका अपमान भीषण अपराध है और गुरुसेवा महान् पुण्यकार्य है। गुरुजनोंके अपराधीको भगवान् भी क्षमा नहीं करते। उनको तो देवतासे शाप ही प्राप्त होता है। पर दयालु गुरु या सच्चे स्वामीकी शिष्य और सेवकपर सदा, सहज ही, स्नेहपूर्ण कृपादृष्टि रहती है, जिससे उसका मङ्गल ही होता है।

शूद्रके द्वारा किये गये गुरु-अपमानको भगवान् शिवजी सहन नहीं कर सके—यद्यपि वह शूद्र स्वयं भी शंकरका भक्त था और वे भोलेबाबा तो शीघ्र ही प्रसन्न भी हो जाते हैं अपने भक्तोंपर। लेकिन गुरु-अपराधकी गुरुताका ख्याल करके उन्होंने शूद्र भक्तको अजगर हो जानेका शाप दे दिया—

बैठि रहेसि अजगर इव पापी। सर्प होइ खल मल मति ब्यापी॥
महाबिटप कोटर महुँ जाई। रहु अधमाधम अधगति पाई॥

गुरु तो स्वभावसे ही परम क्षमाशील थे। उन्हें क्रोध कभी आता ही नहीं था और न उनको अपने अपमानका ही रञ्चक मात्र भी भान था। भगवान् शिवके इस कठोर शापको सुनकर उनका करुणापूर्ण हृदय संतप्त हो उठा और उनके नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगा। वे हाहाकार करते हुए भगवान् शिवजीके चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम करके अपने शिष्यके लिये स्नेहसिक्त हृदयसे विनय करने लगे।



उन्होंने गद्‌गद स्वरमें भगवान् शंकरका स्तवन करके उन्हें प्रसन्न किया। तब भगवान् शंकरने प्रसन्न होकर आकाशवाणीद्वारा कहा—'ब्राह्मण! वर माँगो!' तब उन्होंने निवेदन किया—'भगवन्! आप कृपासागर हैं, मायावश भूले हुए जड जीवपर क्रोध न करके इसपर कृपा कीजिये और थोड़े ही समयमें आपका यह शाप अनुग्रह-रूप (वरदान) हो जाय और इसका परम कल्याण हो, कृपानिधान! यह कीजिये—

संकर दीन दयाल अब एहि पर होहु कृपाल।
साप अनुग्रह होइ जेहि नाथ थोरे हीं काल॥
एहि कर होइ परम कल्याना। सोइ करहु अब कृपानिधाना॥

भगवान् शंकरने क्षमाशील ब्राह्मणकी पर-हित-पूर्ण वाणी सुनकर आकाशवाणीद्वारा 'एवमस्तु' कहा और फिर वे बोले—'ब्राह्मण! यद्यपि इसने दारुण पाप किया था और मैंने शाप भी कोप करके ही दिया था, फिर भी तुम्हारी साधुतापर रीझकर अब मैं इसपर विशेष कृपा करूँगा। क्षमाशील परोपकारी पुरुष मुझे भगवान् रामके समान प्रिय है। मेरा शाप तो व्यर्थ नहीं जायगा—इसके हजार जन्म होंगे; पर इसको जन्मते-मरते जरा भी कष्ट-दुःख नहीं होगा, किसी भी जन्ममें इसका ज्ञान दूर नहीं होगा और इसे भगवान् रामकी भक्ति प्राप्त होगी।' इस प्रकार क्षमाशील गुरुने अपराधी शिष्यके प्रति शंकरके दिये हुए भयानक शापको मङ्गलमय वरदानके रूपमें बदलवा दिया।

कैसी अनुपम है उनकी क्षमाशीलता और उदारता। जिसने अपमान किया, उसका जरा भी अहित न हो जाय, वह दुखी न हो, वरं उसका परम मङ्गल हो—इस कामनासे शंकरजीसे क्षमा-प्रार्थना!! यह है सच्ची मानवता तथा क्षमाशीलता!

वास्तवमें यह तो एक मानवीय दुर्बलता है कि हम अपने अपराधीको जब दण्डभोग करते देखते हैं, तब हमारे मनमें एक शान्ति-सुखका अनुभव होता है। पर यह असुर-मानवके स्वभावका द्योतक है और आजके इस प्रतिहिंसा-परायण युगका यह लक्षण है। इसीसे आज क्षमाशील

महापुरुष मूर्खोंकी श्रेणीमें गिने जाते हैं। क्षमामें प्रतिहिंसाका तो समूल विनाश है ही। अपराधका कुपरिणाम भी श्रेष्ठ—सुखकर फलके रूपमें परिणत कर दिया जाता है। —राधा मालोटिया

शम (मनोनिग्रह)—संयम-पालनके आदर्श

अर्जुन

भगवान् व्यासके आदेशसे पाण्डवोंने नियम बनाया था कि द्रौपदीके साथ पंद्रह-पंद्रह दिन प्रत्येक भाई रहे। जब एक भाई द्रौपदीके साथ एकान्तमें हो, दूसरा वहाँ न जाय। इस नियमका उल्लङ्घन करनेवाला बारह वर्ष निर्वासित जीवन व्यतीत करे।

एक बार एक ब्राह्मण दौड़ता-पुकारता इन्द्रप्रस्थ राजसदन पहुँचा। दस्यु उसकी गायें हाँके जा रहे थे। संयोग ऐसा था कि उस समय अर्जुनके अतिरिक्त वहाँ कोई न था और अर्जुनका धनुष जिस कक्षमें था, वहाँ युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ बैठे थे। अर्जुन सिर झुकाये उस कक्षमें गये और धनुष उठाकर बाहर आ गये। रथपर बैठे गाण्डीवधारी-को देखते ही दस्यु भाग खड़े हुए। उन्हें दण्ड मिला और ब्राह्मणको उसकी गायें।

'आप अब मुझे आज्ञा दें!' कार्य समाप्त करके अर्जुनने देश-त्यागकी तैयारी की और धर्मराजसे विदा माँगी।



युधिष्ठिर बोले—'उस समय द्रौपदीके साथ मैं केवल भगवच्चर्चा कर रहा था। वैसे भी छोटे भाईको बड़े भाईके अन्तःपुरमें जानेसे दोष नहीं होता। ब्राह्मणकी गायें उसे दिलाना राजाका धर्म था। तुमने मेरे ही धर्मकी रक्षाके लिये यह किया है। अतः तुम्हें निर्वासन स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं है।'

अर्जुन बोले—'धर्मके पालनमें बहाना नहीं ढूँढ़ना चाहिये। भय, लोभ अथवा क्लेशके डरसे धर्मका त्याग अधर्म ही है। हमलोगोंने जो नियम बनाया, उसमें कोई अपवाद नहीं रक्खा है। अतः मुझे उसका पालन करना ही चाहिये।'

उन्होंने स्वेच्छासे निर्वासन स्वीकार किया और बारह वर्ष पर्यटन करते रहे।

× × ×

पाण्डव वनमें थे, तब भगवान् व्यासकी सम्मति-से अर्जुन तपस्या करके भगवान् शंकरसे पाशुपतास्त्र प्राप्त करने गये थे। उन्होंने पिनाक-पाणि प्रभुको अपने तप तथा पराक्रमसे प्रसन्न किया। पाशुपत तो मिला ही, देवताओंके अनेक अस्त्र और मिले। देव-राजने रथ भेजकर उन्हें स्वर्ग बुलवाया। वहाँ अर्जुनने असुरोंका दमन किया। इसके उपलक्ष्यमें देवसभामें अर्जुनका सत्कार किया गया। अप्सराओंने नृत्य किया। गन्धर्वोंने गायन किया।

देवराजने देखा कि अर्जुन बार-बार उर्वशीकी ओर देख रहे हैं। उन्होंने गन्धर्वराज चित्रसेनको आदेश दिया कि वे उर्वशीको अर्जुनकी सेवामें भेज दें। उर्वशी स्वयं अर्जुनके रूप तथा पराक्रमपर मोहित हो चुकी थी। स्वर्गकी सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी—उसने अपनी सम्पूर्ण कला अपना शृङ्गार करनेमें व्यय कर दी उस दिन। रात्रिमें अकेली अर्जुनके निवासपर वह पहुँची।



'माता ! कौन्तेय अर्जुन प्रणाम करता है ।' उर्वशीको देखते ही धनञ्जय उठे और अञ्जलि बाँधकर झुक गये। 'आपने इस असमयमें कैसे कष्ट किया ?'

उर्वशीने अभिप्राय बतलाया और कहा कि महेन्द्रके आदेशसे वह आयी है। अर्जुन बोले—'देवराज-को मेरा अभिप्राय समझनेमें भ्रम हुआ । हमारे कुलकी जननी हैं आप । भरतकुलकी माता आपको जानकर मैं बार-बार आपके चरण-दर्शन करता था उस समय ।'

'स्वर्गकी अप्सराएँ किसीकी माता या भगिनी नहीं हैं। वे प्रत्येक पुण्यात्माकी भोग्या हैं।' वासना-विवश उर्वशीने समझानेका बहुत प्रयत्न किया।

'जैसे मेरी माता कुन्ती हैं, माद्री हैं और शची हैं, वैसे ही आप मेरी माता हैं। पुत्रको आप आशीर्वाद दें।' उस एकान्तमें, उर्वशीका शृङ्गार तथा उसकी चेष्टा ही नहीं, विनय भी विजयको विचलित नहीं कर सकी।

'तुम नपुंसक रहो वर्षभर । स्त्रियोंको नृत्य-गीत सिखाओ ।' निराश-क्षुब्ध उर्वशीने शाप दे दिया । लेकिन धर्मका पालन कभी विपत्ति नहीं बनता। उर्वशीका शाप अर्जुनके लिये वरदान बन गया । अज्ञातवासके कालमें उसके कारण ही वे अज्ञात रह सके।

—सु०

मन-विजयी

जिसके मन बसते सदा काम, कोप, मद, मोह ।
लोभ, ईर्षा, द्वेष, छल, वैर, पापसंदोह ॥
रहता नित वह जन दुखी, करता नव-नव पाप ।
चिन्ता, दुःख, अशान्ति, भय—पाता वह बेमाप ॥
दया, अहिंसा, नम्रता, क्षमा, शान्ति, संतोष ।
ऋजुता, सेवा, शम, मनन, संयम, व्रत-हरितोष ॥
जिसके मन ये गुण सदा बसते, वह जन धन्य ।
'मन-विजयी' वह पुरुष शुचि पाता भक्ति-अनन्य ॥

शम (मनोनिग्रह)-धर्मके आदर्श—दो संत

श्रीअविनाशीजी महाराज

वाराणसीसे आठ-नौ मील दूर मधईपुर एक ग्राम है। वहीं उनकी जन्मभूमि थी और वे वहीं ग्रामसे बाहर एक आमके बगीचेमें कुटियामें रहते थे। इसलिये उन्हें लोग मधईपुरके बाबाके नामसे ही जानते थे। अनेक वर्षोंतक नर्मदा किनारे योग-साधना करके तथा देशमें भ्रमण करके जबसे वे लौटे थे, काला कम्बल तथा काली लँगोटी ही उनके वस्त्र थे। इसलिये कुछ लोग उन्हें कमलिया बाबा भी कहते थे।

उनके घरसे उनके बड़े भाई दिनके ग्यारह बजे रोटी, साग तथा तराजू-बाट लेकर आते थे। उनके सामने रोटी-शाक एक छटाँक तौलकर उनकी कुटियामें रख दिया जाता था। ये ही उनका चौबीस घंटेका आहार था। इसी समय वे कुछ देरको आनेवालोंसे मिलते थे। शेष समय उनकी कुटिया बंद रहती थी।

वे गाँजा पीते थे। धूनी उनकी सदा सुलगती रहती थी! सत्याग्रह-आन्दोलनके समय स्वयंसेवक उनके समीप पहुँचकर बोले—'महाराज! हमलोग तो गाँजा, भाँग, शराबकी दूकानोंपर सत्याग्रह करके जेल जा रहे हैं।'

'अच्छा!' महाराजने हाथकी चिलम फेंक दी—'अब चिलम हाथमें नहीं लूँगा।'

उनका धूम्रपान तो नहीं छूटा, किंतु वह विचित्र धूम्रपान था। आकके दो पत्तोंकी चिलम बनाते और उसमें बेरके चार पत्ते, बीचकी नस निकालकर रगड़-कर भर देते। बिना तम्बाकूके यही पत्तोंका धूम्रपान उनका चलता था और वह भी दिनमें एक-दो बार।

बामन बाबा

शरीर उनका कठिनाईसे साढ़े तीन फुट ऊँचा होगा। वैष्णव साधु थे। उन्हें बामन बाबा कहा जाता था। वाराणसीसे आगे जहाँ गङ्गा पश्चिम-वाहिनी होती हैं, बलुआबाजारके समीप ही गङ्गातट-पर उनकी कुटिया थी। एक शिवमन्दिर तथा उनके गुरुदेवकी समाधि थी वहीं।

उन दिनों पुलिसवाले कांग्रेस-स्वयंसेवकोंको कम गिरफ्तार करते थे। वे स्वयंसेवकोंको आश्रय देनेवाले लोगोंको बंदी बनाते थे। स्वयंसेवकोंके वस्त्र, वर्तन, भोजन-सामग्रीको उठा ले जाते अथवा नष्ट कर देते थे। फल यह हुआ कि कांग्रेस-स्वयंसेवकोंके लिये शिविरको स्थान मिलना कठिन हो गया था। ऐसे समय बामन बाबाने स्वयं एक स्वयंसेवकोंके नायकको बुलाकर कहा—'यहाँ शिविर रक्खो।'

'बाबा! आप गाँजा पीते हैं। हम सब गाँजा-भाँग बंद करानेके लिये सत्याग्रह कर रहे हैं। आपके यहाँ शिविर कैसे रह सकता है?' नायकने नम्रतापूर्वक कहा। बामन बाबा बहुत वृद्ध हो चुके थे। सम्पूर्ण शरीर झुर्रियोंसे भरा था। उनके यहाँ गाँजेकी चिलम केवल रातमें पाँच-छः घंटे ठंढी होती थी। इस वृद्धावस्थामें इतना अधिक नशा-सेवनका अभ्यासी उसे छोड़ सकेगा, ऐसी सम्भावना तनिक भी नहीं थी।

'ले, फेंक दी चिलम।' वे पीपलके नीचे गङ्गाके कगारपर बैठे थे। हाथकी चिलम उन्होंने गङ्गामें जो फेंकी, वह फेंक ही दी। फिर उन्होंने चिलम नहीं छुई। उनके यहाँ कई वर्ष कांग्रेस-स्वयं-सेवक रहे। —सु०

(२)

मनोनिग्रहके आदर्श—तपस्वी शेरफिन

महात्मा शेरफिन रूसी महात्माओंमें एक विशिष्ट स्थान रखते थे। वे तितिक्षा, वैराग्य, विनम्रता और तपस्या तथा सहनशीलताके धनी थे। उन्होंने आजीवन दैन्यका अभ्यास किया। उन्होंने रूसके एक धार्मिक परिवारमें सन् १७५९ ई० में जन्म लिया था। उन्नीस सालकी अवस्थामें उन्होंने सारव मठमें प्रवेशकर विनम्रतापूर्वक

साधारण-से-साधारण कार्य—भोजन बनाने, लकड़ी काटकर लाने तथा पानी भरनेके कामसे अपना वैराग्य सुदृढ़ किया । आज्ञापालन उनके जीवनका सबसे बड़ा सद्गुण था । वे जीवनभर मठमें निवास करते रहे ।

उनके जीवनका एक प्रसङ्ग है, जिससे उनकी सहनशीलताके अभ्यासका पता चलता है । वे ध्यानमें तल्लीन थे, शान्त थे । इतनेमें जान नामके एक नवदीक्षित व्यक्तिने उनका अभिवादन किया ।

'मैं हाथोंमें जंजीर बाँधना चाहता हूँ, शरीरपर केवल जानवरके बालसे बना एक पहिनावा रखना चाहता हूँ; मुझे आशीर्वाद दीजिये कि मैं अपने व्रतका पालन कर सकूँ ।' जानने अपने मनका उत्कट वैराग्य-भाव व्यक्त किया ।

'मठमें निवास करनेवाली तपस्विनी युवतियाँ मेरे पास आकर बालसे बने कपड़े और जंजीर पहननेका आशीर्वाद माँगती हैं । क्या यह उन लोगोंके लिये ठीक है ?' शेरफिनने अपने प्रश्नसे जानको विस्मित कर दिया, संतकी बात समझमें नहीं आयी जानके ।

'मुझे तो आपके आशीर्वादकी ही भूख है ।' जानने प्रार्थना की ।

'जबतक मन संयत न हो जाय, सहनशीलता और तितिक्षाका दृढ़ अभ्यास न हो जाय तबतक वैराग्यका उदय नहीं होता । मनुष्य सत्कर्मके पथपर इनके बिना नहीं चल सकता, जीवनमें सदाचार और मनोनिग्रहकी बड़ी आवश्यकता है ।' शेरफिनने जानपर कृपावृष्टि की ।

'आशीर्वाद दीजिये ।' शेरफिनने जानके कान पैंठकर कहा कि बाहरी वेष-भूषा कुछ भी महत्त्व नहीं रखती । जान शेरफिनके अद्भुत आचरणसे चकित हो उठा ।

'देखो ! यदि तुम्हें कोई कनेठी लगाये तो समझना चाहिये कि यह सबसे बड़ी जंजीर है आध्यात्मिकताके लिये । इससे जीवन संयत और पवित्र होता है, यह जंजीर लोहेकी जंजीरसे कहीं अधिक गुणकारी है । इससे मन बँध जाता है, शरीर वशमें हो जाता है, जब कि उससे केवल शरीरके कुछ अङ्गोंको वशमें किया जा सकता है ।' शेरफिनने स्नेह प्रकट किया ।

वे जानकी ओर बढ़े; ऐसा हाव-भाव प्रकट किया कि मानो उसके चेहरेपर थूकना चाहते हैं ।

'देखो ! यदि कोई तुम्हारे मुँहपर इस तरह थूकता है तो इसे सबसे अच्छा पहिनावा समझना चाहिये । अत्यन्त आभारपूर्वक इस पहिनावेका अभ्यास करना चाहिये । इससे मनमें सहज दैन्यका उदय होता है । इन बातोंसे जीवन वास्तविक मनोनिग्रहकी शक्तिसे भर जाता है । तपका फल है मनोनिग्रहकी प्राप्ति ।' शेरफिनने जानको सावधान किया । उसे सदाचारका ज्ञान हो गया, तपकी शक्तिका पता चल गया । संत शेरफिनने उसे सहनशीलता अपनानेकी सीख दी ।

—रा०

(२)

मनोनिग्रह-धर्मके आदर्श भिक्षु उपगुप्त

'तारुण्य-रसपानका यही समय है, काषाय-परिधानका त्याग करके जीवनका परम सुखोपभोग प्राप्त करनेमें विलम्ब करना अज्ञान माना जाता है, तरुण ! मेरी कामनाकी तृप्ति करके जीवन सफल बनाइये । ऐसा रसमय समय बार-बार नहीं आया करता ।' मथुराकी परम सुन्दरी वेश्या वासवदत्ताने बौद्ध भिक्षु उपगुप्तका ध्यान अपने रूप-वैभवकी मदिरासे आकृष्ट करना चाहा ।

'मुझे धर्म-भिक्षा चाहिये । काम-भिक्षाका समय अब नहीं रहा ! भगवान् तथागत तुम्हारा कल्याण करें ।' उपगुप्तने वासवदत्ताके रूप-मदकी उपेक्षा कर दी । वे आगे चल पड़े ।

वासवदत्ता विस्मित हो उठी । जिस रूप-रसके

लिये सैकड़ों धनिक उसके दरवाजेपर नाक रगड़ते थे, जिसके साथ केवल क्षणभर बात करनेके लिये नौजवान अपना सर्वस्व लुटानेको प्रस्तुत हो जाया करते थे, उसकी उपेक्षा कर दी तरुण संन्यासीने ! इससे बढ़कर दूसरा आश्चर्य था ही क्या ?

'मुझे धन नहीं चाहिये, भिक्षु ! मैं अपार सम्पत्ति और दास-दासियोंकी स्वामिनी हूँ। मुझे कृतार्थ कीजिये, अपना प्रेम प्रदान कर जीवनदान दीजिये।' वासवदत्ताने सोचा कि भिक्षुकी निर्धनता उसे यहाँतक आनेमें विघ्न डालती है।

'देवि ! यह प्रेम नहीं, काम है; यह जीवनदान नहीं, आत्मविनाश है। इससे जीवनमें वास्तविक श्रेयका उदय नहीं हो सकता।' भिक्षु उपगुप्तने सहृदयताके बदले कठोरताका परिचय दिया। वे स्वस्थ और सावधान हो उठे।

× × × ×

'वासवदत्ताको कठोर दण्ड मिलना ही चाहिये ! उसने धनके लोभमें अपने प्रेमका सौदा बाहरी धनी पुरुषके हाथ करके अपने दूसरे नौजवान प्रेमीकी हत्या कर अपने ही घरमें उसकी लाश छिपा दी। उसने ऐसा करके नागरिक मर्यादाका उल्लङ्घन किया है।'

न्यायालयने अपना निर्णय सुना दिया। वासवदत्ता-के हाथ-पैर और नाक-कान राजाज्ञासे काट लिये गये, उसे अङ्ग-भङ्गकर श्मशानमें भेज दिया गया। उसकी दारुण पीड़ासे दिशाएँ काँप उठीं। कौए और गीध उसका मांस खानेके लिये चारों ओर मँडरा रहे थे। शरीरसे रक्त बह रहा था। बड़ी करुण दशा थी उसकी। एक दयालु दासी उसकी सेवा कर रही थी।

'भिक्षु उपगुप्त !' दासीने वासवदत्ताके कानमें ये शब्द डाले ही थे कि वह तरुण संन्यासीके आगमनसे व्यथित हो उठी। काषाय वस्त्रमें उपगुप्त-का शरीर बड़ा सुन्दर लग रहा था; पर वासवदत्ता-के लिये तो उस समय वह वस्त्र ऐसा लग रहा था मानो चिताकी आग हो।

'चले जाइये ! मेरे पास न रूप है, न यौवनका रस है। इस श्मशानमें न धन है, न परिजन हैं। खाली हाथ लौट जानेमें ही आपका लाभ है।' वासवदत्ताने करवट बदली। उपगुप्तके नेत्रसे करुणाकी मन्दाकिनी उमड़ रही थी। हृदयसे प्रेम उमड़ रहा था।

'भिक्षाका यही समय है, देवि ! खाली हाथ अब नहीं लौट सकता। तुम्हें मेरी आवश्यकता है। उस समय तुम रूप और यौवनके मदसे उन्मत्त थी, तुम्हें धर्म-अधर्मका लेशमात्र भी ज्ञान नहीं था। तुम्हारे मनमें विषय-वासना थी। आज तुम धर्म-भावनाकी प्राप्तिके लिये छटपटा रही हो। यह तुम्हारे कल्याणका समय है; सद्धर्म, सद्ज्ञान और सद्भावना पानेका अधिकार है तुम्हें।' भिक्षु उपगुप्त-ने अपने करुणादानसे वासवदत्ताके मनमें नवजीवन-का संचार किया।

'मुझे धर्मोपदेश चाहिये, भिक्षु ! आपने मुझे विनाशके रास्तेसे खींचकर कल्याणके मार्गपर चलनेकी शिक्षा दी है। मेरा उद्धार कीजिये।' वासवदत्ताकी मनोवेदना कम हो गयी। उसके शरीरके घाव भरने-से लगे। भिक्षुके धर्म-उपदेशके अमृतसे उसके प्राण हरे-भरे हो गये। वासवदत्ताने धर्मकी शरण ली। भिक्षु उपगुप्तकी कर्तव्यनिष्ठा, सद्धर्मपरायणता और सहज करुणाने उसे नयी चेतना दी, नवजीवन दिया। उन्होंने उसे आत्म-शान्ति प्रदान की।

—रा०



दम (इन्द्रियसंयम)-धर्मके आदर्श

(१)

ब्राह्मणश्रेष्ठ

जो पक्षियोंको अन्न डालता रहेगा, उसीके आँगनमें कभी हंसके उतरनेकी भी सम्भावना हो सकती है। जो अतिथियोंका सत्कार करता रहता है, उसके घर कभी-न-कभी योगी, सिद्ध महात्मा भी आ ही जाते हैं।

वरुणा नदीके तटपर बसे अरुणास्पद ग्रामका वह ब्राह्मणश्रेष्ठ बहुत ही आतिथ्यपरायण था। उधर आनेवाले यात्री प्रायः उसका नाम दूरसे सुन लेते और उसीके घर ठहरते थे। एक बार ऐसे ही एक सिद्ध अतिथि उसके घर आ गये। उसके संयम तथा सत्कारसे प्रसन्न होकर उन्होंने ब्राह्मणको पैरोंमें लगानेके लिये एक सिद्ध लेप दिया। उस लेपको लगाकर मनुष्य दिनभरमें दो सहस्र योजनकी यात्रा कर सकता था।

अतिथि लेप देकर चले गये। ब्राह्मणके मनमें देवताओं एवं ऋषियोंकी पवित्र भूमि हिमालयको देखनेकी इच्छा बहुत दिनोंसे थी। अतः पैरोंमें लेप लगाकर वह चला तो उसने पाया कि वह लेपके प्रभावसे आकाशमार्गसे जा रहा है। हिमालयपर जाकर वह उतरा और भूमिपर घूमने लगा। उसके पास और लेप वहाँ नहीं है, इसका उसे ध्यान नहीं रहा। बर्फपर पैदल चलनेसे पैरोंमें लगा लेप धुल गया। इससे ब्राह्मणकी तीव्रगति नष्ट हो गयी। किंतु ब्राह्मणको इस बातका पता तब लगा, जब घूमते-घूमते वह थक गया और उसने घर लौटनेकी इच्छा की।

अब ब्राह्मणको बड़ा दुःख हुआ—'मैं घरसे बहुत दूर हूँ। वहाँ न पहुँचनेसे अपने गार्हपत्याग्निमें हवन नहीं कर सकूँगा। मेरे तो धर्म-कर्मके लोप होनेका अवसर आ गया।'

दुखी होकर ब्राह्मण वहाँ हिमालयके किसी सिद्ध, तपस्वी, योगीको ढूँढ़ने लगा, जो कृपा करके उसे घर पहुँचा दें। इस अन्वेषणमें कोई सिद्ध योगी तो मिले नहीं; वरूथिनी नामकी अप्सरा दीख पड़ी। ब्राह्मणको तो अपने कर्मनाशकी चिन्ता थी। वह अप्सराके समीप जाकर बोला—'देवि! मैं अपने प्रमादसे यहाँ विपत्तिमें पड़ गया हूँ। तीव्रगतिदायी सिद्ध लेप जो मैंने पैरोंमें लगाया था, यहाँ बर्फसे धुल गया। कोई ऐसा उपाय आप बतलाइये कि मैं सूर्यास्तसे पूर्व घर पहुँच सकूँ और मेरे कर्मका लोप न हो।'

अप्सरा उस संयमी तरुण ब्राह्मणपर आसक्त हो गयी थी। वह बोली—'तुम बहुत नासमझ लगते हो। धर्म-कर्म करके स्वर्ग जानेपर जिनकी प्राप्ति होती है, वह अप्सरा मैं तुम्हारे सामने हूँ और तुम मेरा तिरस्कार करके घर जाना चाहते हो? यह विचार छोड़ो और मेरे साथ यहाँ इच्छानुसार सुखोपभोग करो।'

'दुष्टे! दूर रह तू।' समीप आती अप्सराको ब्राह्मणने डाँटा—'पर-स्त्री मेरे लिये माताके समान है और पर-द्रव्य मिट्टीके समान। यदि सचमुच तेरा मुझपर कुछ भी प्रेम है तो मेरे शीघ्र घर पहुँचनेका उपाय बता।'



अप्सराने अनेक प्रकारसे अनुनय-विनय की; किंतु उसकी सब चेष्टा उस संयमी ब्राह्मणके सम्मुख व्यर्थ रही। ब्राह्मणने जलका स्पर्श किया और मन-ही-मन अग्निदेवका स्मरण किया—'अग्निदेव! आप ही कर्मोंकी सिद्धिके कारण हैं। आप ही प्राणियों तथा देवताओंके भी धारक-पोषक हैं। यदि मैंने आपकी सेवामें कभी प्रमाद न किया हो तो मुझे घर पहुँचकर आजके सूर्यास्तके दर्शन हों।'

ब्राह्मणके यह संकल्प करते ही उसके शरीरमें अग्निका प्रवेश हुआ। उसका देह तेजपुञ्ज हो गया। कुछ क्षणोंमें वह अपने घर पहुँच गया।

—सु०

(२)

सेठ सुदर्शन

राजपुरोहित तथा सेठ सुदर्शनमें प्रगाढ़ मैत्री थी। राजपुरोहितकी पत्नीने सेठके सदाचार-संयमकी परीक्षा लेनेके विचारसे मित्रकी बीमारीका संदेश भेजकर उन्हें एकान्तमें बुलाया। वहाँ पहुँचनेपर पुरोहित-पत्नीकी अमर्यादित चेष्टा देखकर और राजपुरोहितको न पाकर सेठ सुदर्शन यह कहकर तुरंत लौट पड़े—'बहिन! मुझे क्षमा करो।'

राजपुरोहितकी पत्नी जब चम्पानरेशकी रानीके समीप गयीं, तब धर्मचर्चाके प्रसङ्गमें उन्होंने सेठ सुदर्शनके संयम-सदाचारकी प्रशंसा की। रानीको अपने सौन्दर्यका गर्व था। उन्होंने पुरोहितपत्नीकी बातपर विश्वास नहीं किया। राजपुरोहितकी पत्नीने चलते-चलते कहा—'धर्मात्मापर संदेह करना पाप है। आप भले परीक्षा करके देख लें।'

बात लग गयी। रानीने दासीके द्वारा सेठ सुदर्शनको अन्तःपुरमें बुलवाया; लेकिन रानीके हाव-भाव, प्रलोभन एवं भय—सब व्यर्थ गये। ऐसे अवसरपर पराजित नारी विवेकभ्रष्टा सर्पिणी बन जाती है। रानीने आरोप लगाया—'यह सेठ छिपकर अन्तःपुरमें आया है। मुझे भ्रष्ट करनेकी इसने चेष्टा की है।'

नरेशने सुना तो वे क्रोधसे उन्मत्त हो उठे। सेठ सुदर्शन मौन बने रहे। ऐसा अपराध कोई नारी पुरुषपर लगाये तो पुरुषको मौन ही रहना चाहिये; क्योंकि उस समय उसके प्रतिवादपर कोई विश्वास करनेकी मनःस्थितिमें नहीं होता। राजाने आज्ञा दी—'इसे अभी शूलीपर चढ़ा दो।'



सेठ सुदर्शन शूलीपर चढ़ाये जाने लगे तो सबके सामने ही शूली सिंहासनमें बदल गयी। राजाने क्षमा माँगी। उन्होंने सेठ सुदर्शनसे रानीको भी क्षमा कराया।

—सु०

(३)

महाराज छत्रसाल

महाराज छत्रसाल प्रायः एकाकी नगरमें घूमते थे। वे प्रजासे उसके कष्टकी बात पूछते रहते थे। बड़ा भव्य शरीर था महाराजका! बड़े-बड़े नेत्र, चौड़ा ललाट, विशाल बाहु, सुदीर्घ वक्ष। उनके-जैसा सुन्दर सुगठित-शरीर पुरुष राज्यमें मिलना कठिन था। उनके इस सौन्दर्यपर एक स्त्री मोहित हो गयी। उसने कई बार मार्गमें महाराजके सम्मुख पड़कर अपने हाव-भावसे उन्हें आकर्षित करना चाहा, किंतु महाराज तो स्त्रियोंको सामने देखकर दृष्टि उठाते ही न थे। दूसरा कोई उपाय न देखकर एक दिन जब महाराज उसके द्वारके सामनेसे निकले,

तब वह द्वारपर आकर बोली—'मैं बहुत दुखिया हूँ।'

महाराजने सरलतासे पूछा—'आपको क्या कष्ट है, देवी ?'

उस नारीको तो छल करना था। अब भी महाराजने दृष्टि नीची कर रक्खी थी। वह बोली—'श्रीमान् मेरा कष्ट दूर करनेका वचन दें तो कहूँ।'

महाराजने कह दिया—'मुझसे सम्भव होगा तो आपका कष्ट दूर कर दूँगा।'

उस स्त्रीने अब अपनी भङ्गी विचित्र बनाकर कहा—'मुझे कोई संतान नहीं है। पति इसमें असमर्थ हैं। मुझे आपके समान पुत्र चाहिये।'



छत्रसाल स्तब्ध रह गये। उन्होंने सोचा ही न था कि कोई उनसे ऐसी बात भी कह सकता है। किंतु शीघ्र उन्होंने अपनेको स्थिर कर लिया। हाथ जोड़कर बोले—'आपको मेरे समान ही तो पुत्र चाहिये ? माता! आजसे यह छत्रसाल ही आपका पुत्र है।'

सचमुच महाराजने उसे राजमाताके समान स्वीकार किया। —सु०

(४)

नाम-परायण

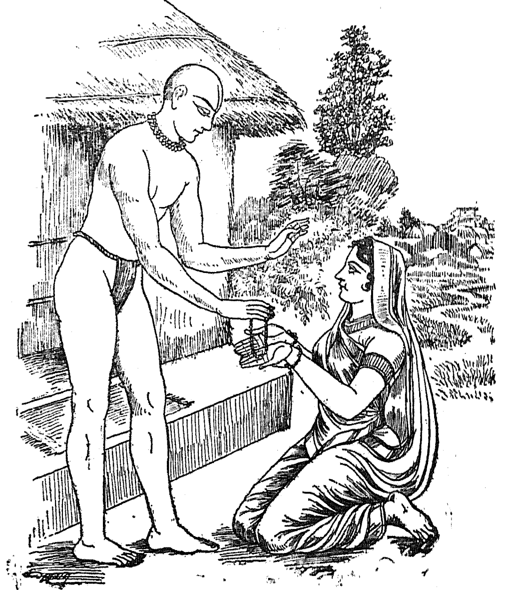
इन्द्रिय-विजयी भक्त हरिदासजी

भक्त हरिदासजी बंगाल यशोहर जिलेके बूड़न नामक ग्राममें एक गरीब मुसल्मानके घर उत्पन्न हुए थे। पूर्वसंस्कारवश श्रीहरिदासजीका बचपनसे ही श्रीहरिनाममें अनुराग था। हरिदासजी बड़े ही सदाचारी, इन्द्रियविजयी, क्षमाशील, शान्त प्रकृतिके, अटल विश्वासी साधु पुरुष थे। ये श्रीचैतन्य महाप्रभुसे बीस-पचीस वर्ष बड़े थे, परंतु इन्होंने महाप्रभुके चरणोंमें अपनेको समर्पण कर दिया था। कहते हैं कि ये प्रतिदिन तीन लाख हरिनामका जप जोर-जोरसे किया करते थे।

एक बार हरिदासजी वनग्राम गये थे। वहाँके रामचन्द्रखाँ नामक एक दुष्टहृदय जमींदारने इनकी साधना नष्ट करनेकी बुरी नीयतसे धनका लालच देकर एक सुन्दरी वेश्याको इनकी कुटियापर भेजा। ये हरिनाम-कीर्तनमें लीन थे। वेश्या अपनी प्रकृतिके अनुसार कुचेष्टा करने लगी, पर इनके तेजसे इन्हें छू न सकी और हरिदासजी इन्द्रियविजयी होनेके साथ ही नामाश्रयी भक्त थे। भगवन्नामका महान् बल था इनके पास। वेश्या रातभर बैठी रही। प्रातःकाल ये उठे, तब इन्होंने कहा—'देखो! मुझे नाम-जपके कामसे फुरसत नहीं मिली। इससे मैं तुमसे बात न कर सका। क्या करूँ।' वेश्या लौट गयी। रातको फिर आयी। पर यहाँ तो श्रीहरिदासजी अपने उसी नाम-कीर्तनके महान् कार्यमें संलग्न थे। इस दिन भी ऐसा ही हुआ। सबेरे हरिदासजीने फुरसत न मिलनेकी बात कह दी। तीसरे दिन जमींदारके कहनेसे फिर आयी, पर हरिदासजी तो अपनी साधनामें संलग्न थे।

चौथे दिन प्रातःकाल वह श्रीहरिदासजीके चरणोंपर गिर पड़ी। तीन रात हरिनाम सुन चुकी थी और एक सच्चे संतकी संनिधिमें बैठनेका पुण्य-सौभाग्य उसे मिला था, इससे उसका अन्तःकरण बहुत कुछ शुद्ध हो चुका था।

उसने सोचा 'यह आदमी मेरी ओर देखता ही नहीं। ऐसा इन्द्रियविजयी तो मैंने कहीं देखा ही नहीं। अवश्य ही इसको कोई महान् वस्तु प्राप्त है।' वेश्याका हृदय पलट गया। उसने गद्गद स्वरमें अत्यन्त विनीत भावसे कहा—'स्वामी! मैं घोर पापिनी हूँ, मेरा उद्धार करो।' हरिदासजीने उसे हरिनाम-दान तथा माला देकर कृतार्थ कर दिया। वह अपना सर्वस्व दीन-दुखियोंको लुटाकर तपस्विनी बन गयी। श्रीहरिदासजी तो उसी समय चले गये। तदनन्तर वह वहीं रहकर भजन करने लगी। भगवन्नामके प्रतापसे हरिदासजीका इन्द्रियविजय वेश्याको महान् संयमी और भक्तिमती बनानेमें समर्थ हो गया!



धी-धर्म

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवव्यापिनी।

केशरकी क्यारियाँ जिसकी वायुमें सौरभ भरती हैं, कश्मीरकी वह कमनीय भूमि काव्यकला एवं विद्वानोंकी भी कई शताब्दियोंसे क्रीड़ाभूमि रही है। कई-कई दिगन्त-दिग्विजयी भारतीके भव्य पुत्रोंने उस प्रकृतिकी प्रिय रङ्गस्थलीको भूषित किया है, किंतु अनन्त आकाशमें जो असीम आलोकके एकमात्र आवास हैं, उन भगवान् भास्करको भी अस्ताचल जाना पड़ता है। कश्मीरकी प्रतिभाका वह अद्भुत आलोक भी उस दिन तमसाच्छन्न हो उठा था। दिग्विजयी, शास्त्रार्थ-पञ्चानन, प्रतिपक्ष-प्रलयंकर प्रकाण्ड पण्डित पराजित लौटे थे उस दिन। शिष्योंको उन्होंने मार्गमें ही विदा कर दिया था। केवल दो नैष्ठिक गुरुभक्त साथ आये थे। ग्रन्थों तथा सामग्रियोंसे भरे शकट, विजयोद्घोषक वाद्य एवं परिकर, बहुमूल्य उपहारोंसे पूर्ण मञ्जूषाएँ तथा अश्व-गजादिका यूथ इस बार दूसरी यात्राओंके समान साथ नहीं आया था। वह सब वाराणसीमें ही विसर्जित हो गया, जीवनकी प्रथम पराजयके दिन ही।

'मैंने वाग्देवीकी आराधना की थी युवावस्थाके प्रारम्भमें ही, उन हंसवाहिनीने मुझे अपने आशीर्वादसे सनाथ किया; किंतु काशी विश्वनाथकी पुरी है। उस औढरदानी आशुतोषके आराधकोंके सम्मुख शारदाकी शक्ति भी कुण्ठित हो गयी, इसकी लज्जा मुझे नहीं है।' रजत केश, सुदीर्घ शरीर, पाटल वर्ण एवं विशाल भालसे मण्डित स्वयं शैव हैं। उनके ललाटका त्रिपुण्ड्र और कण्ठकी रुद्राक्षमाला आज आतङ्कके स्थानपर श्रद्धा उत्पन्न करनेवाली हो गयी है। उनमें जो पाण्डित्यका गर्व तथा औद्धत्य था, आज शमित होकर सौम्याकृति बन गयी है उनकी और उनके प्रशान्त मुखपर दीर्घ नेत्र जैसे किसी रहस्यको देख लेनेके प्रयत्नमें हैं।

पश्चात्ताप या खेदका लेश नहीं है मुखपर। जीवनमें जो विजयघोष सुननेका अभ्यासी रहा, भव जिसके चरणोंमें लुण्ठित होता रहा, जो सुरोंके समान स्तोत्रोंसे सम्मानित होता रहा, वह आज सम्पूर्ण राजसिकता विसर्जित करके अधिक भव्य हो गया है। उसने—उसकी सूक्ष्मदर्शिनी प्रज्ञाने देख लिया है कि उसकी प्रतिभा जहाँ पूर्ण वेगसे प्रधावित थी, वह प्रशंसा मृगमरीचिका मात्र निकली। उनको संतोष है—'भगवान् चन्द्रमौलिके अपने आवासका

चारु यश सुरक्षित रहना चाहिये था। मेरी धृष्टता ही थी कि मैं अन्नपूर्णाकी पुरीसे भी विजयपत्र चाहता था। काशी-के वृद्ध एवं विद्याधनी शास्त्रार्थमें नहीं आते, यह सुना था। उनके चरणोंमें मस्तक रखनेवाले श्रीविश्वनाथके सेवक तरुण मेरा गर्व नहीं सह सके, स्वाभाविक था और अन्ततः शारदा भी तो उन त्रिलोचनकी कृपाकणसे ही शक्तिशालिनी है। मुझ अनुचरका गर्वनाश करके उन्होंने कृपा ही की।'

'नहीं राजन्! यह वृद्ध अब राजसभाओंका सत्कार-सेवन करके तृप्त हो चुका। इसे आप अब अपने भस्माङ्ग-रागभूषित भवहारी आराध्यकी सेवाके लिये अवकाश दें।' महापण्डितने कश्मीर-नरेशकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। महाराज अपने महापण्डितकी इस पराजयको महत्त्व नहीं देते थे। वे चाहते थे कि राजसभा पहलेके समान उनसे सुशोभित हो। नरेशका यह प्रस्ताव भी कि महापण्डितके युवा पुत्र उनका स्थान स्वीकार करें, स्वीकृत नहीं हुआ।

'वत्स! विद्या वाग्देवीका वैभव है; किंतु वे शुभ्र कमलासना ही सर्वोपरि नहीं हैं।' उन प्रज्ञाके परम धनीने पुत्रको आदेश किया। 'पिताका अपूर्ण कार्य जो पूर्ण कर दिखाये, पुत्र होना उसीका सफल हुआ। मेरे पिताकी आकाङ्क्षा शास्त्रार्थ-जयी होनेकी थी। उसे पूर्ण करनेमें जीवन लगा दिया मैंने, किंतु ब्राह्मणत्व दूसरेको पराजय देनेमें नहीं है। धीकी प्राप्ति—विशुद्ध निर्मल धी ब्राह्मणका धन है, तुम उसे उपार्जित करो।'

× × ×

'वत्स! तुमने अपने अभिवादनसे कौटल्यको गौरवान्वित किया। जिनकी यशोगाथा हिमवान्के शुभ्र शिखरोंसे लेकर आसिन्धु भारतभूमिको पवित्र करती है, उनके सुमेधा पुत्र जिसके अन्तेवासी होने पधारें, वह धन्य हुआ।' मगधका चक्रवर्ती जिनके सम्मुख सेवकके समान करबद्ध खड़ा होता था, वे आचार्य चाणक्य गद्‌गद-कण्ठ कश्मीरसे आये युवकको अपनी भुजाओंमें बाँधे, वक्षसे लगाये थे। उन राजनीतिके परम चतुर, सदा शुष्क कहे जानेवालेके नेत्रोंसे विन्दु टपक रहे थे।

'आर्यावर्त आज आर्यकी बुद्धिसे श्रीसम्पन्न है!' विनम्र ब्राह्मण युवकने झुककर चरण-स्पर्श किया। ''पिताने मुझे 'धी' की प्राप्तिका आदेश दिया है और आज देशमें आर्य ही एकमात्र उसके ज्योतिःकेन्द्र हैं।''

उस अत्यन्त सुन्दर, शिष्ट, विद्वान् युवकको विश्रामकी आवश्यकता थी। सुदूर कश्मीरसे यात्रा करता वह मगध पहुँचा था। अपने उटजमें ही आचार्यने उसे आवास दिया। चाणक्यके शिष्य गुरुका इङ्गित न समझ सकें तो उनका शिष्यत्व कैसा। वे अपने नवीन सहपाठीकी सुव्यवस्था तथा सत्कारमें स्वतः लग गये।

'आर्य! धीका स्वरूप क्या?' गोमयोपलिप्त वेदिकापर मृगचर्म बिछाकर कृष्णवर्ण, दीर्घारुण-नेत्र, भारतीय नीति-शास्त्रकी साकार मूर्तिके समान आचार्य चाणक्य जब अपना प्रातःकृत्य करके, अग्निको आहुतियाँ देकर विराजमान हो गये, वह प्रलम्ब-वपु, आजानुबाहु, कमललोचन, पाटलगौर नवयुवा कश्मीरका आगत छात्र उनके सम्मुख वेदिकासे नीचे कुशासनपर आ बैठा। उसके नेत्र एवं मुख-की आकृति कहती थी कि जिज्ञासा उसमें सचमुच जागी है।

'कौटल्य दार्शनिक नहीं, नीतिज्ञ है, वत्स!' आचार्य चाणक्य गम्भीर हो गये। 'तुम्हारे नेत्र एवं भालकी रेखाएँ कहती हैं कि तुम्हारी प्रतिभा जब जागेगी, उसका आलोक जगतीको चमत्कृत कर देगा। तुम्हारे-जैसे मन्त्री पाकर मगध अपनेको अनायास कृतार्थ मानेगा। तुम राजनीतिमें रुचि लेते·····।'

'मैं तुम्हें निराश नहीं करूँगा।' दो क्षण चाणक्य मौन रहे। उन्होंने देख लिया कि उनका प्रयास असफल रहा है। उनका यह नवीन छात्र अभी राजनीतिकी ओर कोई आकर्षण नहीं रखता। अतः उसके प्रश्नका उत्तर दिया उन्होंने—''बिना दर्शनके कोई विद्या पूर्ण नहीं होती; अतः चाणक्य दर्शनसे अपरिचित है, ऐसा भी कहा नहीं जा सकता। धी एक वृत्त्यात्मक शक्ति है। वह पदार्थ नहीं है। अतः उसका रंग अथवा स्वरूप भी निश्चित नहीं है। मन ही जब विवेचन करता है, 'धी' कहलाता है और वह जिस तत्त्वको ग्रहण करके विवेचन करे, तदाकार हो जाना उसका स्वभाव है।''

'आर्य! धृष्टता क्षमा करें।' युवक दो क्षण मौन रह गया और आचार्यकी अनुमति दृष्टिके संकेतसे पाकर बोला—'राजनीतिके विवेचनका कार्य राजस नहीं है, आर्य!'

'कर्मकी समस्त प्रेरणा, समस्त कर्मचिन्तन राजस है।' बिना कुण्ठित हुए चाणक्य बोले। 'राज्यव्यवस्था तो राजस है ही। उसमें लगी बुद्धि राजस है और राजनीति तो राजस

ही नहीं, तामस भी है। उसमें हिंसा, छल आदि अनेक ऐसी बातें हैं, जो धर्मशास्त्रको स्वीकार नहीं हैं।'

'विशुद्ध घी···' युवकने पूछनेका उपक्रम मात्र किया।

'चाणक्य अर्थ एवं कामका विद्वान् है, वत्स!' आचार्यने बड़े स्नेहसे देखा उसकी ओर। 'तुम आज विश्राम करो। तुम्हारे उपयुक्त स्थलका विचार करूँगा। सत्त्वोन्मुख ब्राह्मण-कुमारको रजसूके कीचमें डालनेका अपकर्म कौटल्य नहीं करेगा।'

× × ×

राजनीतिके कठिनतम प्रश्न जिसके भालपर एक भी आकुञ्चन लानेमें समर्थ नहीं हुए थे, वे आचार्य चाणक्य भी गम्भीर बन गये थे। उनके सम्मुख भी कश्मीरका यह युवक समस्या था। वे एक साम्राज्यके सूत्रधार—अभीप्सु ब्राह्मण-युवकोंकी जिज्ञासाको समाधान प्राप्त हो, इसकी व्यवस्था क्या राज्यका कर्तव्य नहीं है? राज्य कितना भी शक्तिशाली और साधन-सम्पन्न हो, क्या यह व्यवस्था उसकी सामर्थ्य-सीमामें है?

कश्मीरसे कोरा हाथ हिलाते ही तो वह यहाँ नहीं आ गया था। कश्मीर ही कहाँ तपस्वी साधकों एवं सिद्धों-से रहित है? वैष्णवदेवी और अमरनाथका आकर्षण किसको वहाँ आकर्षित नहीं करता? स्वयं शिवाचार्य विद्यमान हैं वहाँ और उनका अनुग्रह प्राप्त है युवकके श्रद्धेय पिताको।

'प्रज्ञा और प्राणको एक करके साधक जब मूलाधारसे उठती परावाणीको जीवनमें अवतरित कर पाता है, उसके जन्म-जन्मके कलुष उस धवल धारामें धुल जाते हैं। प्राणों-में अवतरित परावाणी ही पिण्डमें जाह्नवीका अवतरण है।' श्रीशिवाचार्यके उपदेशको अयथार्थ कहनेका साहस कौन करेगा? लेकिन प्रत्येक जिज्ञासु किसी एक ही साधनका अधिकारी तो नहीं होता। जिज्ञासा कितनी भी तीव्र हो, वह साधनविशेषमें रुचि ही ले, आवश्यक तो नहीं है। शिवाचार्यने देख लिया था कि वह उनके कुलका नहीं है।

'मूलाधारमें साढ़े तीन कुण्डल लेकर, मुखमें पुच्छ दिये जो ज्योतिर्मयी नागमाता प्रत्येक प्राणीमें प्रसुप्त है, तेरा सौभाग्य कि वह तेरी कुलकुण्डलिनी उद्बुद्ध है और वह स्वाधिष्ठानका भेदन करके मणिपूरतक आ चुकी है।' योगी चन्द्रनाथ मिले थे मार्गमें और उन्होंने स्वतः परिचय किया था उससे। उन्होंने स्वयं उसके मेरुदण्डको अपने करस्पर्शसे झङ्कृत किया था। परीक्षणके पश्चात् बोले—'तू जन्मान्तरका साधक है। आज्ञाचक्रतक तेरी कुण्डलिनी मासार्धमें पहुँच जायगी यदि तू साधन प्रारम्भ करे। भ्रमर-गुहा होकर विन्दुवेध करते सहस्रारमें पहुँचकर शून्य-शिखरसे ऊपर सत्स्वरूपमें अवस्थित होनेमें भी तुझे अधिक समय अपेक्षित हो, ऐसी सम्भावना नहीं है।'

जिनका अनुग्रह पानेकी अच्छे साधक आकाङ्क्षा करते हैं, उन योगसिद्ध चन्द्रनाथकी सहायताका लोभ भी उसे आकर्षित नहीं कर सका। उसकी उदासीनतासे चकित चन्द्रनाथने नेत्र बंद किये और जब ध्यानसे उत्थित हुए तो शिथिल स्वरमें बोले—'तेरी उपेक्षा उचित है। तू इस कुलका है नहीं।'

'पता नहीं तू किस भ्रममें पड़ गया है।' अकस्मात् मिल गये थे उसे दिगम्बर घूमते यमुना-तटपर सिद्धाचार्य कुलशेखर और अट्टहास करते बोल उठे थे—'तू तो बत्तीस लक्षणोंसे सम्पन्न है। किसी वीरशैवने तुझे केवल इसलिये बलि नहीं बनाया कि उत्थित-कुण्डलिनी पुरुष पशु नहीं होता। वह शिवका स्नेहभाजन सेवक है। चण्डिका उसकी बलि स्वीकार नहीं कर पाती। तेरे लिये शक्ति मैं ला दूँगा, भुक्ति-मुक्तिप्रदायिनी त्रिपुराकी आराधना क्यों नहीं करता? चल आ!'

'मुझे क्षमा करें!' उसने नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया था। श्रीशिवाचार्यका सत्सङ्ग पिताके साथ वह कर चुका है। तन्त्रोंकी साधनाएँ उसने भले की न हों, उनके विवरणसे अपरिचित नहीं था। उसके चित्तमें उन साधनोंका स्मरण भी जुगुप्सा उत्पन्न करता था। अतः वह अवधूत कुलशेखरके समीपसे शीघ्र हट आया था।

'मुझे मोक्षाकाङ्क्षा नहीं है।' उसने कई सिद्धों, साधुओं-को यह उत्तर दिया है—'मेरा क्या होता है, इसकी चिन्ता मैं नहीं करता। पिताने मुझे एक आदेश दिया है। वह जीवन-में पूर्ण न भी हो तो भी मुझे संतोष रहेगा यदि मैं उसे प्राप्त करनेके प्रयत्नमें लगा रहा।'

पता नहीं उसका क्या रूप था। जिज्ञासा थी, पिताकी ख्याति थी अथवा उसकी तितिक्षा थी—क्या था; कुछ ऐसा अवश्य उसमें था, जो मिलनेवाले उत्कृष्ट विद्वानों, साधकों, सिद्धोंको उसकी ओर आकृष्ट कर लेता था। उसे महा-

पुरुषोंकी कृपा मार्गमें प्राप्त होती रही, यह उसने अपने लिये परम सौभाग्य माना। वह अश्रद्धालु नहीं था। इतनेपर भी वह उनमेंसे किसीकी कृपाका लाभ उठा नहीं सका।

आचार्य चाणक्यने नवीन आगन्तुकसे यह सब विवरण प्राप्त कर लिया था। कुशल राजनीतिज्ञ सम्पूर्ण परिस्थिति पहले जानना चाहता था। लेकिन परिस्थितिके परिचयने समस्याको सरल करनेमें कोई सहायता नहीं की। जिसे इतने उत्कृष्ट सिद्ध महापुरुष संतुष्ट नहीं कर सके, वह एक राजनीतिके ज्ञातासे संतुष्ट हो जायगा—इसकी सम्भावना भला कौन मानता; किंतु उसे भेजा कहाँ जाय? जिज्ञासु ब्राह्मणकुमारको निराश लौटा देना भी आचार्यका हृदय स्वीकार नहीं करता था।

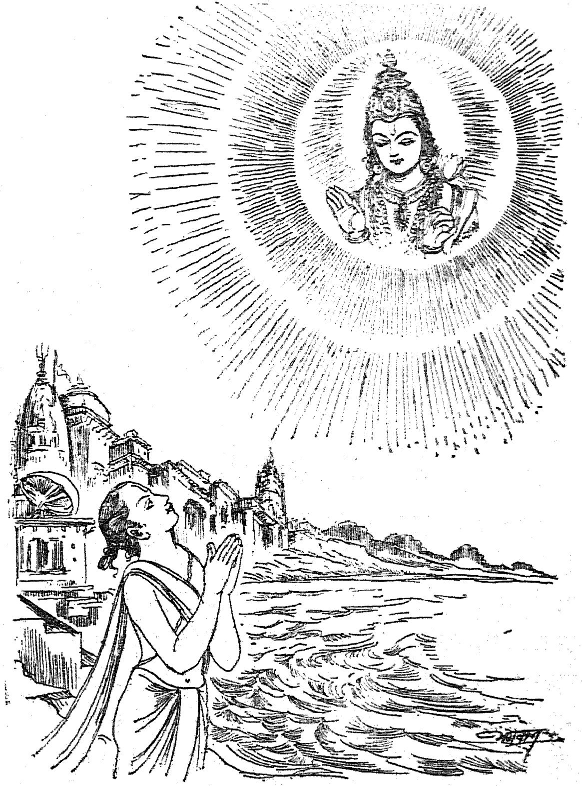
'मुझे लगता है कि तुमको अपने भीतरसे ही प्रकाश प्राप्त होगा।' बहुत मनन-चिन्तनके उपरान्त चाणक्य इस निष्कर्षपर पहुँचे थे। 'तुम कुछ काल यहाँ निवास करो और अपनेको शान्त बनाकर भीतरसे मार्ग-दर्शन पानेकी चेष्टा करो।'

× × ×

'अस्य गायत्री मन्त्रस्य विश्वामित्र ऋषिः गायत्री छन्दः सविता देवता'''। प्रातःसंध्याके लिये गंगातटपर ही वह बैठ गया था। अभी आर्द्र केशोंसे विन्दु टपक रहे थे। संध्याका संकल्प करके अङ्गन्यास बोलते-बोलते चौंक गया वह। मनमें मन्त्रका उत्तरार्ध जैसे स्वयं जाग्रत् हुआ—**'धियो यो नः प्रचोदयात्।'**

'बुद्धिके प्रेरक हैं भगवान् सविता।' प्रतिदिन तीन-तीन समय संध्या चल रही है बाल्यकालसे और अबतक इस तथ्यपर दृष्टि नहीं गयी? लेकिन केवल मन्त्र-जप अथवा मन्त्रपाठसे तो कोई ऋषि नहीं हो जाता। मन्त्र जब हृदयमें स्वयं प्रकाशित होता है, उस अद्भुत आलोकका वर्णन वाणी नहीं कर सकती। संध्या साङ्ग सम्पूर्ण हुई। किसी कर्ममें कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ; किंतु हुआ यह सब दीर्घकालीन अभ्यासके कारण। उसे पता नहीं लगा कि कैसे वे कर्म उसके द्वारा होते चले गये।

सूर्योपस्थान करके वह गङ्गा-तटपर स्थिर खड़ा हो गया था। उसकी वाणी मूक थी; किंतु उसका मौन स्तवन किसी शब्दकी अपेक्षा अधिक श्रद्धा-शबल हो गया था। आज उसके नेत्र भास्करकी ज्योतिसे विचलित नहीं



हो रहे थे। वह ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलको अपलक देखे जा रहा था। क्या? यह क्या? उसका शरीर पुलक-प्रपूरित हो गया। उसके नेत्रोंसे अश्रुधारा चलने लगी। उसने सुना था—शुक्लाम्बरपरिधान, शशिवर्ण, चतुर्भुज, सशङ्ख-चक्र-गदा-पद्महस्त श्रीनारायण अधिष्ठाता हैं सूर्यमण्डलके और वे अखिलेश्वर आज मन्द-मन्द मुस्कराते प्रत्यक्ष हो गये हैं। शत-शत-चन्द्र-ज्योत्स्ना-स्निग्ध उनकी नखचन्द्रिका''''''।

'धियो यो नः प्रचोदयात्।' अचानक कण्ठसे परावाणी प्रकट हुई और उसने देखा कि वे सूर्यमण्डलस्थ पुरुष तो अतसी-कुसुमावभास, पीताम्बर-परिधान, वनमाली बन गये हैं। उनका वह अमृतस्यन्दी स्मित—अणु-अणु उससे आप्लावित है।

'धी—मेधा, वह तो सहज सत्त्वरूपा है। सात्त्विक अहं उसका उद्भवकर्त्ता है। रजस् और तमस्‌का आश्रय लेकर तो वह विकृत होती है। अर्थ-काम उसके अपने क्षेत्र नहीं हैं। वह सत्त्वमयी—उसका क्षेत्र तो है सत्त्वमूर्ति धर्म।'

वह लावण्यैक-धाम मूर्ति अदृश्य हुई तो नेत्र स्वतः बंद हो गये। शरीर निस्पन्द हो गया; किंतु भीतर विवेककी ज्योतिमें अद्भुत, अचिन्त्य शब्दराशि व्यक्त होती चली गयी—'सत्त्वमूर्ति धर्मके परम प्राप्य हैं सच्चिदानन्दघन श्रीहरि। मेधा—धी निर्मल होती है उनके पादपद्मोंका पावन स्पर्श प्राप्त करके।'

× × ×

'आर्य! आज्ञा दें।' वह आचार्यके चरणोंमें विदा लेने आया था। उसने उनके चरणोंमें मस्तक रक्खा।

'तुम धीमान् हो वत्स! अच्युतके चरणोंमें लगी बुद्धि ही निर्मला है। वही धर्मात्मिका बुद्धि है।' आचार्य चाणक्य-की मेधाने भी तथ्यका साक्षात्कार कर लिया था। प्रसन्न-वदन, उज्ज्वलकान्तिमुख युवकको देखते ही वे समझ गये थे कि उनका यह अल्पकालिक अन्तेवासी अपने उद्देश्यको प्राप्त कर चुका है।

विद्या-धर्म

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

सा विद्या या विमुक्तये।

आज तो वह एक अच्छा नगर है—पर्वतीयपनगर होकर भी बहुत कुछ समतल; क्योंकि पर्वतके शिखरपर न होकर वह घाटीमें बसा है। आज उसे सोलन कहते हैं। कालका-शिमला मुख्यमार्गपर होनेके कारण अच्छा बाजार, बसोंके आवागमनका कोलाहल और हिमाचल प्रदेशका मुख्य नगर है यह। किंतु मैं आजकी बात नहीं कह रहा हूँ। बात तबकी है, जब यह बहुत साधारण स्थान था। शिमलाका तब पता नहीं था और न रेल और आजकी सड़कें थीं। तब यह एक छोटेसे पर्वतीय राज्यकी राजधानी था। पर्वतीय प्रदेशका यह राज्य कुछ अधिक प्रख्यात था तो अपने शौर्य अथवा वैभवके लिये नहीं; इनमें तो बहुत उत्कृष्ट थे इसके अनेक पड़ोसी। प्रख्यात था यह अपने आतिथ्यके लिये और इस आतिथ्यने अनेक तपस्वियोंको इसके वनों, गिरिशिखरोंमें ला बसाया था। उनकी सुविधाका ध्यान रखना राज्यका कर्तव्य था।

नगरसे लगभग कोसभर ही दूर है वह घाटी। दोनों ओर ऊँचा सिर उठाये चीड़ तथा अन्य वृक्षोंके हरित परिधानसे सुसज्जित शिखर और उनसे स्रवित होती जलधारा, जो घाटीको आर्द्र, हरित रखती है। लगता है, घाटी तीन ओरसे शिखरोंसे बंद है; किंतु वह उनके मध्य अपना टेढ़ा मार्ग बनाती चली ही जाती है।

उस दिन राज्यके युवक नरेश घाटीमें घूमने आ गये थे। इधर महीनोंसे वे खिन्न रहते हैं। उनका गौर मुख पीताभ हो गया है। बड़े-बड़े नेत्रोंकी पलकोंपर श्यामता झलकने लगी है। सुगठित काया कृश बनती जा रही है। भोजन, आखेट, मनोरञ्जन, कथा-कीर्तन, राज्य-निरीक्षण—जैसे किसीमें नरेशको कोई रस नहीं रह गया। वे कर्तव्य-पालनमें प्रमाद नहीं करते, किंतु कर्तव्य-पालन ही तो होता है। अन्तरका उल्लास जब सुप्त हो जाय, मनुष्यमें कर्तव्य-पालन क्या जीवनी-शक्ति जगा पाता है?

'श्रीमान्! आप ऐसे खिन्न क्यों हैं?' मन्त्रीका प्रयत्न असफल रहा है। जब राजमाता और रानी ही कुछ नहीं जान सकीं, मन्त्रीको क्या मिलना था प्रश्न करके।

'कोई विशेष बात नहीं है।' नरेश सबको टाल देते हैं। उनकी मनोव्यथाका पता नहीं लगता। आज मन्त्री उन्हें लेकर इस घाटीमें आये हैं। कदाचित् यहाँका सहज शान्त वातावरण थोड़ी देरके लिये नरेशको सुखी करे।

'महाराज! हम वहाँ बैठेंगे।' अचानक शिलापर शान्त बैठे राजाके समीप आकर मन्त्रीने आग्रह किया।

'क्यों?' नरेशके सूने नेत्रोंमें कोई उत्सुकता नहीं आयी। वे जहाँ बैठे हैं, प्रशस्त शिला है वह। समीपकी आर्द्र भूमिमें नन्हे पुष्प खिले हैं कोमल तृणोंपर और उसके आगे कलकल करती जलधार दौड़ी जा रही है। इस स्थानको छोड़कर एक विषम स्थलपर, चीड़के एक वृक्षके नीचे क्यों बैठनेका आग्रह मन्त्रीका है—यह वे समझ नहीं सके थे।

'आप वह दक्षिणावर्त लता देखते हैं?' मन्त्रीने उस

वृक्षकी ओर संकेत किया—'वह विशिष्ट भूमि है। वहाँ कुछ काल बैठें तो उस स्थलका प्रभाव ज्ञात होगा।' चीड़के एक वृक्षपर खूब मोटी, सघन पत्रोंसे भरी एक लता चढ़ी थी। लता उस वृक्षके काष्ठसे एक हो गयी थी। पहिले दूरतक सीधी चढ़ गयी थी वृक्षपर और तब दाहिनेसे बायें मोड़ लिये थे उसने दो-तीन।

राजामें कोई उत्सुकता नहीं जागी। किंतु मन्त्रीने इतनेसे हार नहीं मानी। वे अपने नरेशमें उत्सुकता जगाना चाहते थे। उत्सुकता जागे तो यह उनके मनकी उदासी दूर हो। वे समझाने लगे—'पृथ्वीकी गतिके साथ ही सृष्टिकी घूमनेवाली वस्तुओंका घूमना होता है। जैसे शङ्ख सब वामावर्त होते हैं, लताएँ भी वामसे दाहिने वृक्षोंको आलिङ्गित करती हैं। दक्षिणावर्त शङ्ख जैसे दुर्लभ है, वृक्षको दाहिनेसे वाम जाकर आलिङ्गन देती लता भी कम मिलती है। पृथ्वीकी गतिके विपरीत यह आवर्त वहाँ वस्तु अथवा स्थलकी विशेष शक्तिका सूचक है।'

सचमुच नरेशमें उत्सुकता जागी। वे शिलातलसे उठे। इससे पूर्व कि वे निर्दिष्ट स्थलपर बैठ जायँ, उन्होंने घाटीमें कुछ दूर तक जाकर वृक्षों, क्षुपों तथा तृणोंतकपर लिपटी बड़ी-छोटी लताओंको देखा। उन्हें आश्चर्य हुआ कि सर्वत्र, सब लताएँ एक ही ढंगसे लिपटनेको घूमती हैं।

× × ×

'अब हम कुछ देर मौन रहेंगे।' मन्त्रीने अपना उत्तरीय बिछा दिया था। वहाँ वृक्षके नीचे तृण थे। स्थल स्वच्छ नहीं था। नरेशने भी उत्तरीय उठा लेनेका आग्रह नहीं किया। वे जानते थे कि यह आग्रह अनावश्यक बात ही बढ़ायेगा। वे इस समय बोलनेके पक्षमें नहीं थे। बोलनेका उत्साह उनमें नहीं था। फिर भी वृक्षके नीचे बैठकर वे पूछना चाहते थे कि अब क्या करना है। लेकिन मन्त्रीने उन्हें पूछनेका अवसर नहीं दिया।

जो साधुओंका, साधकोंका सत्सङ्ग करता है, उनके सत्कारकी जिसमें श्रद्धा है, उसे सदाचार, शिष्टाचार तथा साधन-सम्बन्धी अनेक छोटी-बड़ी बातें अपने-आप ज्ञात हो जाती हैं—ऐसी अनेक बातें, ऐसे अनेक छोटे विवरण जो पुस्तकोंमें नहीं मिलते और जिनकी ओर लोगोंका ध्यान नहीं जाता। नरेश साधु-सत्कार-प्रिय थे। उन्हें बतलानेकी आवश्यकता नहीं थी कि आसन कैसे सुस्थिर होता है। वे सिद्धासनसे बैठे थे। उत्फुल्ल कमलके समान करतल गोदमें पड़े थे। मेरुदण्ड सहज सीधा और बैठनेके दो क्षण पश्चात् वक्रानाड़ी जब सरला बनी, शरीर खिंचकर सर्वथा सीधा हो गया। चिबुक किंचित् झुक आया कण्ठ-कूपके समीप और नेत्र शाम्भवी मुद्रामें सुस्थिर बन गये।

मन्त्रीने यह कुछ नहीं किया था। वे अपने कर्तव्यके प्रति सावधान थे। वे घाटीमें हैं—निर्जन घाटीमें। सायंकाल हो चुका है और गायें गृहोंको लौट चुकी हैं। उनके नेत्रोंकी अपेक्षा कर्ण अधिक सावधान हैं और वे जान-बूझकर ऐसे स्थलपर बैठे हैं, जहाँसे वायु सम्मुखसे न आये। नरेशकी ओर उनके नेत्र हैं; किंतु यदि कोई वनपशु धृष्टता करने दबे पैर आना चाहे, पीछेसे आता वायु उसकी गन्ध पहले पहुँचा देगा। निपुण शिकारीकी नासिका वनमें सबसे सक्रिय इन्द्रिय होती है। आधे क्षणमें मन्त्रीका खड्ग अपने कोशसे बाहर आ जायगा।

'तुम ठीक कहते हो, स्थल बहुत शान्त है और मनको सहज अन्तर्मुख करता है।' पर्याप्त समय लगा था नरेशको। जब चन्द्रमा पर्वतसे ऊपर उठ चुका था, घाटी उसकी ज्योत्स्नामें स्नान कर रही थी, उन्होंने नेत्र बहुत धीरे-धीरे खोले। उनका स्वर बहुत मन्द, किंतु अद्भुत गम्भीर था। उन्होंने धीरेसे गोदमें पड़े हाथोंको गति दी। लगता था, शरीरको सक्रिय करनेमें उन्हें प्रयास करना पड़ रहा है।

'मैं चरण दबा दूँगा!' नरेशने पैरोंको जिस प्रकार हाथोंकी सहायतासे हटाया था, उससे स्पष्ट था कि उनमें रक्तकी गति रुकनेसे सूनापन आया है। झनझनाहट होती होगी उनमें। अतः मन्त्री आगे आ गये। वैसे उन्हें पता था कि इस समय इस सेवाकी अपेक्षा सजग प्रहरी बने रहना अधिक आवश्यक है।

'नहीं' नरेशने रोका—'ये अभी ठीक हो जायँगे। महत्त्वकी बात यह है कि मुझे लगता है, मुझे किसी अच्छे विद्वान्‌की आवश्यकता है।'

'भारतवर्ष सदा भगवती सरस्वतीके वरद पुत्रोंकी क्रीड़ा-स्थली रहा है।' मन्त्रीने सोल्लास कहा—'अभी वसन्त ऋतुका आरम्भ हुआ है। आमन्त्रण पाकर ग्रीष्ममें हिम-शैलकी शीतल-शान्त वनस्थलीका आतिथ्य विद्वद्वर्गको प्रिय होगा।'

सिद्ध पुरुषकी शोध राजा करते तो स्वाभाविक होता। साधु नहीं, साधक नहीं, तपस्वी नहीं, मन्त्रज्ञ नहीं और ज्योतिषी भी नहीं; विद्वान् चाहिये उन्हें। यह किसीके लिये भी कम आश्चर्यकी बात नहीं थी। मन्त्रीने चलते-चलते मार्गमें पूछा—'किस शास्त्रके विद्वान्‌का आतिथ्य राजसदन करेगा, केवल यह आज्ञा अपेक्षित है।'

'विद्या धन है, इसे आप जानते हैं।' नरेश सहसा खड़े होकर मुड़ पड़े—'मुझे धनी नहीं चाहिये। धनमें मेरी रुचि नहीं है—भले वह विद्या-धन है। विद्या धर्म भी है न?'

'है श्रीमान्!' मन्त्रीने स्वीकार किया!

'वह विद्या-धर्म हो जिसके पास, वह विद्वान्!' राजा फिर मुड़कर चलने लगे। मन्त्रीको लग गया कि और पूछना अनावश्यक है। अब तो उसकी प्रतिभा और कुशलता कसौटीपर चढ़नेवाली है।

× × ×

कश्मीर, काशी, मिथिला, नवद्वीप तक ही मन्त्रीने दूत नहीं भेजे। उसने तीव्रगामी आरब्य अश्वोंकी व्यवस्था की और निपुण चरोंका शोधन किया पञ्चालके सुदृढ़-काय-साहसी शूरोंमेंसे। सोलन-नरेशके संदेश सुदूर दक्षिण एवं महाराष्ट्रके विद्या-केन्द्रोंकी ओर भी चल चुके थे।

वेद, स्मृति, दर्शन, इतिहास, पुराण, नीति आदिके विद्वान् बहुत थे एक-एक विद्याकेन्द्रमें। अनेक-अनेक शास्त्रोंके उद्भट विद्वान् भी कम नहीं थे। सरलता, सादगी, सौम्यता तथा प्रतिभाकी सचल मूर्तिके समान थे वे शारदाके सुपुत्र संस्कृतके विद्वान्; किंतु चर निराश लौट रहे थे। उन्हें दिग्विजयी विद्वानोंने भी मस्तक झुकाकर एक ही उत्तर दिया था—'विद्या-धन है हमारे समीप। शास्त्रार्थ करनेमें हम पीछे नहीं हटेंगे। शास्त्रोंका हमने अध्ययन किया है। किसीको उनका सम्यक् अध्ययन करा सकते हैं; किंतु विद्या-धर्म? वह हम नहीं जानते।'

'यत्किंचित् धर्माचरण यथाशक्ति करनेका हम प्रयास करते हैं।' यह उत्तर भी अनेक विद्वानोंने दिया—'किंतु विद्या धर्मके रूपमें जिनके पास हो, उनके चरण-दर्शनका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।'

तपस्वी, तितिक्षु, अपने वर्णाश्रम-धर्मका कठोरतासे पालन करनेवाले हिमालयके अङ्कमें ही दुर्लभ नहीं थे। उस समय आजके समान मनुष्य अर्थलोलुप, इन्द्रियाराम नहीं हुआ था। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सेवा आदि धर्मोंका आचरण करना सहज स्वाभाविक था व्यक्तिके लिये। इनकी उपेक्षा समाज-गर्हित थी। इनका आचरण कोई गौरवकी बात नहीं बनी थी तबतक। ऐसे समाजमें भी स्थान-स्थानपर लोकोत्तर धर्मात्मा थे। देवता भी जिनके चरण-दर्शन करके पवित्र हों, ऐसे धर्मात्मा दुर्लभ नहीं थे भारतमें; किंतु विद्या-धर्मका धनी दूतोंको कहीं मिल नहीं रहा था।

कुछ आये थे। उनमेंसे एककी ही चर्चा पर्याप्त है; क्योंकि प्रायः सभी इसी प्रकारके किसी-न-किसी कारणसे ससम्मान विदा कर दिये गये। वे आये थे और अपनी समझसे ठीक आये थे। गौरवर्ण, स्थूलताकी ओर चलती काया, चौड़ा ललाट, खल्वाटप्राय मस्तक, छोटे नेत्र, विरल भ्रूजाल—नरेशने उनका बड़े उत्साहसे सत्कार किया था। देखकर उनके प्रति मनुष्यकी श्रद्धाका होना स्वाभाविक था। नियमनिष्ठ उष्णस्थानीय ब्राह्मण प्रायः सूचिकाविद्ध वस्त्र धारण नहीं करते; किंतु उन्होंने इस पर्वतीय प्रदेशमें भी सिले वस्त्र पहिनना स्वीकार नहीं किया था। वैसे मूल्यवान् उत्तरीयका आच्छादन उनको शीतसे सुरक्षित रखनेके लिये पर्याप्त था।

'मैं जानता हूँ। मैं कर सकता हूँ।' चरको स्मरण नहीं कि उन्होंने किसी ज्ञानको अथवा किसी उचित कार्यकी क्रियापद्धतिको अपने लिये अज्ञात स्वीकार किया हो। उन्हें पाकर चर कितना प्रसन्न हुआ था।

'मुझे विद्वान् चाहिये। प्रमाण-पण्डितकी मुझे आवश्यकता नहीं है।' नरेश उस दिन खीझ उठे थे मन्त्रीपर। 'उसने पढ़ा बहुत है, यह सत्य है; किंतु उसने आचरण करना तो जाना ही नहीं है। प्रत्येक बातमें प्रमाण—प्रमाण और प्रमाण! मनुष्य बुद्धि क्या विक्रय कर चुका है कि केवल प्रमाणपर निर्भर करे।'

'उन्होंने स्वीकार किया था कि···' मन्त्रीने प्रार्थनाके स्वरमें कहा।

'कि विद्या-धर्म है उनका। राजा क्षुब्ध थे—'और तुमने इसे स्वीकार कर लिया। सत्यसे सौ योजन दूर रहनेका जिसका स्वभाव हो, असत्य जिसे असत्य जान ही न पड़े और प्रत्येक त्रुटिकी सुरक्षाके लिये जिसे बौद्धिक ब्रह्मज्ञान सूझे, तुम उसे पहचाननेमें भी अक्षम रहे।'

मन्त्रीने मस्तक झुकाया। वे कहते क्या? उनसे त्रुटि हुई थी। कोई तिरस्कार व्यक्त किये बिना सादर

विदा किया गया उनको; किंतु मन्त्री सावधान हो गये। इस कोटिके जो विद्वान् आये, उनको नरेशका साक्षात्कार प्राप्त करनेका अवसर उन्होंने नहीं दिया।

× × ×

नरेशको लगता था कि उनके भीतरकी ऊष्मा ही प्रकृतिमें व्याप्त हो गयी है। वैसे अब इस हिमालयके अङ्कके अधिवासी भी उष्णतासे व्याकुलताका अनुभव करने लगे थे। वर्षामें विलम्ब हो रहा था। ग्रीष्मऋतु व्यतीत हो जानेपर भी उष्णता अपने यौवनपर थी। अनेक जलस्रोत शुष्क हो चुके थे। नगरके निवासियोंको जलके लिये दूर-दूरके स्रोतोंका आश्रय था।

'कोई विद्वान् नहीं मिला!' निराश नरेश प्रातः-कृत्यसे निवृत्त होकर एकाकी ही चल पड़े। सहज भावसे उनके पैर चलते गये। वे उस हरित घाटीमें कब पहुँच गये, उन्हें पता ही न चला। चौंककर मस्तक उन्होंने तब उठाया, जब छोटी जलधारा पार करनेका अवसर आया।

'आप एकाकी? आइये!' एक कोई तरुण आज उस स्थानपर, उस वृक्षके नीचे बैठे थे, जहाँ बैठनेके विचारसे नरेश आज इधर आये थे। उन्होंने नरेशको कल नगरमें देखा था, इसलिये पहचाननेमें कठिनाई नहीं हुई।



'आप?' हाथ जोड़कर नरेशने अभिवादनका उत्तर दिया। शिष्टाचारके कारण ही प्रश्न मुखसे निकल गया था। बढ़े केश एवं श्मश्रु, मोटे वस्त्रकी मैली धोती, पास रक्खा मैला कुर्ता, मोटा जनेऊ ही बताता था कि वे कोई यात्री हैं और यहाँ स्नान करके अपना पूजा-पाठ करने बैठे हैं।

'तीर्थयात्री हूँ। कल आया आपके नगरमें। आज और विश्राम करके मणिकर्ण क्षेत्रकी ओर चल देना है।' उन्होंने भी कोई बहुत औपचारिक ढंग नहीं अपनाया। सीधे ही बोले—'विराजिये! खिन्न-से क्यों दीखते हैं आप?'

'कोई विद्वान् नहीं मिला मुझे।' बैठते हुए नरेशने बताया। आज एकाकी इस ग्रामीण-जैसे दीखते व्यक्तिके पास बैठनेमें उन्हें संकोच नहीं हुआ।

'मैं तो कठिनाईसे अक्षरोंको पढ़ पाता हूँ।' वे अपनी बात कहने लगे—'गीताका पाठ करना सीखा है किसी प्रकार। उसे भगवान्ने कहा है, यही मेरे लिये बहुत है। भगवान्की बात मनुष्यकी समझमें न आये, इसमें कोई दोष तो है नहीं। उनकी बात दुहरा लेता हूँ, यही क्या कम सौभाग्य है।'

'सचमुच आप सौभाग्यशाली हैं।' राजाके हृदयसे ये शब्द निकले। 'शान्ति और संतोष जिसे इतनी सरलतासे प्राप्त हो जायँ, उसका भाग्य महान् है।'

'मनुष्य-शरीर तो नाशवान् है। लोगोंको मरते देखकर मैंने यह समझ लिया है।' वे भोलेपनसे कह रहे थे। 'जितना पढ़ो, जितना समझो, उतनी बुद्धि उलझती जायगी। भगवान्ने जैसा बनाया है, उसमें संतुष्ट रहो। हो सके तो दो मुट्ठी अन्न दो दूसरोंको। दुखियाकी सेवा करो। भगवान्का नाम लो और उसपर भरोसा करो। उसके सहारेके बिना कोई मायासे कभी पार हुआ है?'

'उसके सहारेके बिना कोई मायासे कभी पार हुआ है?' राजाके मर्ममें गूँज उठा यह प्रश्न। जैसे प्रकाशने हृदयकी चिन्ता, क्लेश, अन्धकारको एक साथ बुहार फेंका।

'जीवन नश्वर है। देहका मोह ही माया है। इस मायासे पार होनेका मार्ग?' जिस दिन जिज्ञासा जागी थी नरेशके मनमें, वे रोगके कारण शय्या ग्रहण कर चुके थे। शरीर उठनेमें समर्थ हुआ तो आस-पास ही नहीं, दूर-दूरके संतों, साधकों, तपस्वियोंका दर्शन करने गये वे। वे नरेश थे, यह उन्हें अपना दुर्भाग्य लगा। दुर्गम शिखरोंपर

निवास करनेवाले वीतराग तापसोंने भी उनका स्वागत किया था और यह स्वागत उनके मनमें अश्रद्धा जगाता था।

'कोई मेरी व्यथा समझ पाता!' जिज्ञासा सच्ची थी, अतः भोग उत्पीड़क बन गये थे। वैभव काटने दौड़ता था। किससे कहें अपनी पीड़ा? कौन समझेगा उसे? सबसे बड़ी कठिनाई यह कि तपस्या, योग, वेदान्तका मनन—इन सबमें मनका आकर्षण नहीं था। जो संत जो कुछ करते हैं, वही तो बतलायेंगे।

'सा विद्या या विमुक्तये।' उस दिन इस घाटीमें इसी स्थानपर जब नरेश बैठे, भीतरसे जैसे किसीने यह वाक्य कहा था और वे विद्वान्‌की खोजमें लग गये थे। आज सम्मुख बैठे, मलिन वस्त्र, अपठित-प्राय, ग्रामीणके सम्मुख भरे नेत्र नरेशने भूमिपर मस्तक रख दिया। 'आज विद्वान् मिले मुझे और विद्या-धर्मका उपदेश भी।'

अक्रोध-धर्मके आदर्श

एकनाथजी

पैठणमें एकनाथ महाराजके स्थानसे गोदावरीजीके बीच एक धर्मशाला पड़ती थी। वहाँ एक यवन रहता था। वह स्नानार्थी हिंदुओंको बहुत तंग करता था। वे स्नान करके आते और वह उनपर थूक देता। लोगोंको बार-बार स्नान करना पड़ता था। इससे कभी-कभी कोई सज्जन चिढ़ जाते थे—चिढ़ना स्वाभाविक भी था, पर वह अपने स्वभावसे लाचार था।

खासकर एकनाथ महाराज जब-जब स्नान करके लौटते, वह ऊपरसे थूककी पिचकारी छोड़ता। कभी-कभी उन्हें चार-पाँच बार तक स्नान करना पड़ता था और वह उन्मत्तकी तरह थूकता रहता। पर एकनाथ महाराजकी शान्ति ऐसी विलक्षण थी कि वे परम प्रसन्न होकर माँ गङ्गामें बार-बार स्नान करते और अपना अहोभाग्य मानते कि आज अधिक बार पुण्यसलिला श्रीगोदावरीके अङ्कमें स्नान मिला।

एक दिन वे स्नान करके लौटे, संयोगसे वह यवन उस दिन वहाँ उपस्थित नहीं था। उसका नियम भङ्ग न हो, अतः नाथ उसकी प्रतीक्षामें वहाँ ठहर गये। कुछ देर रुके भी रहे; फिर उसके आगमनका कोई लक्षण न देखकर ही वहाँसे आगे बढ़े। इस प्रकार प्रायः वह उन्हें प्रतिदिन परीशान किया करता था। एक बार वह यवन पेड़पर चढ़कर ऊपरसे बार-बार उनपर थूकता ही गया। नाथ भी विलक्षण क्षमाशील थे—एक बार भी उनके मनमें जरा भी क्षोभ नहीं हुआ और मुखपर तनिक भी क्रोधका कोई चिह्न नहीं आया। न कहींपर भी अणुमात्र प्रतिरोधका भाव ही पैदा हुआ। हर बार ही वे उसी सहज भावसे स्नान करते और उन्मत्त यवनके थूकको हँसते हुए शिरोधार्य करते। एक सौ आठ बार इस प्रकार हुआ—वे बार-बार स्नान करते गये और मूढ़ यवन क्रोधसे भरकर थूकता गया। पर नाथकी शान्ति भङ्ग न हो सकी—उनकी सौम्यतामें तनिक भी शिथिलता न आ सकी। इस उन्मत्त क्रोधभरी मूर्खता और परम विवेकयुक्त अनुपम सहिष्णुताका बेजोड़ द्वन्द्व देखनेको वहाँ बहुत-से नर-नारी एकत्रित हो गये। आखिर यवन थक गया वह लज्जित होकर नाथ महाराजके चरणोंमें लोट गया और महाराजके विलक्षण महात्मापनकी स्तुति करने लगा।



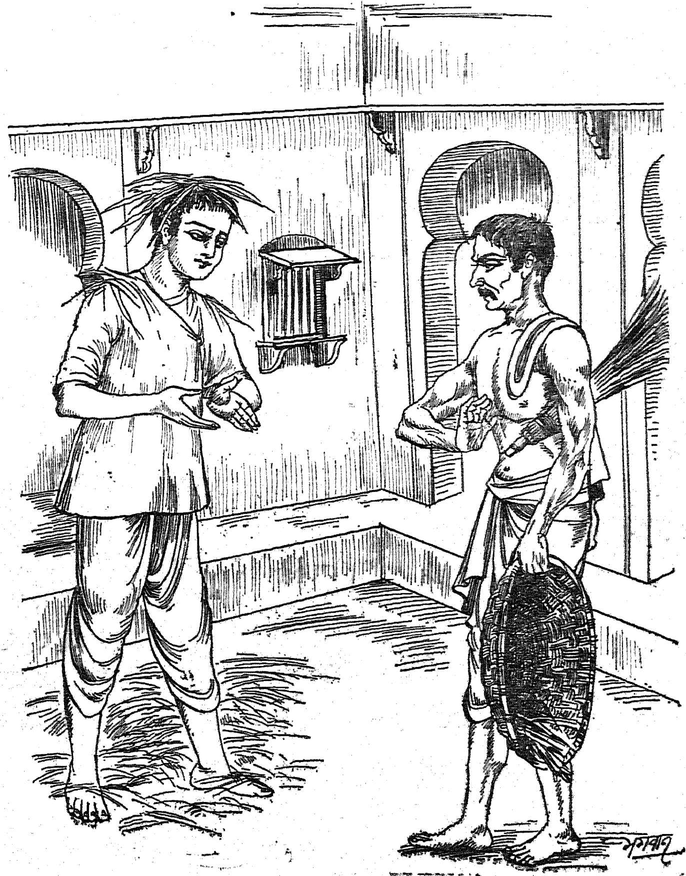
अक्रोधका ऐसा उदाहरण बहुत कम देखनेको मिलता है। एक सौ आठ बार उसने तंग किया और नाथ एक सौ आठ बार स्नान करते गये और इस क्षमाने उस मलिन मानवका हृदय ही पलट दिया—वह स्वयं ही अपनेको अपराधी मानकर नाथसे क्षमायाचना करने लगा। नाथने कहा—'भैया ! तू अपने स्वभावके वश था, पर तेरे कारण मुझे बार-बार गोदावरी-स्नानका पुण्य प्राप्त हो रहा था।'

सचमुच उपदेशसे जो पाठ हमलोग नहीं पढ़ा सकते, हमारे जीवनका थोड़ा-सा आचरण उसकी एक गहरी अमिट छाप छोड़ जाता है, जिससे स्वतः मन प्रभावित होता है। फिर अक्रोध तो जीवनका बड़ा ही ऊँचा सद्‌गुण है और क्रोध बड़ा ही नीच दुर्गुण है। जो क्रोधको जीत लेता है—वह स्वार्थ और परमार्थ दोनोंमें ही परम लाभ प्राप्त करता है। नाथका अक्रोध इसका ज्वलन्त उदाहरण है। —राधा भालोटिया

(२)

अक्रोधकी परीक्षा

एक जिज्ञासु एक बार एक संतके पास गया और बोला—'महाराज ! कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे मुझे प्रभुका साक्षात्कार हो जाय।' संतने उसे एक वर्षतक एकान्तमें भजन करनेकी आज्ञा दी। जिज्ञासु भजन करने लगा। संतकी कुटियामें एक भंगी सफाई करने आया करता था। वर्ष पूरा होनेके दिन संतने उससे कहा—'आज जब वह जिज्ञासु स्नान करके मेरे पास आने लगे, तब तुम अपनी झाड़ूसे थोड़ी गर्द उसपर उड़ा देना।' जिज्ञासु जब स्नान करके गुरुके पास चला, रास्तेमें भंगीने धूल उड़ा दी। अब तो क्रोधित होकर वह उसे मारने दौड़ा, भंगी भाग निकला। वह फिरसे स्नान करके शुचि वस्त्रोंको धारण करके गुरुके पास पहुँचा। कहा—'महाराज ! मैं एक वर्षतक स्वाध्याय करके आया हूँ।' गुरुने कहा—'अभी तो तुम साँपकी तरह काटने दौड़ते हो—तुम्हें भगवत्प्राप्ति कहाँ होगी ? जाओ ! एक वर्ष फिर भजन करो।' जिज्ञासु फिर भजनमें लीन हुआ। दूसरा वर्ष पूरा होनेपर वह ज्यों ही स्नान करके गुरुके पास जाने लगा, गुरुजीकी आज्ञासे भंगीने आज उसके झाड़ू छुला दी। इस बार उसने भंगीको दो-चार कड़ी बात कहकर छोड़ दिया। दुबारा स्नान करके वह जब गुरुके पास पहुँचा, तब गुरुने कहा—'अभी तो तुम्हारा मन सर्पकी तरह फुफकारता है—अभी समय लगेगा। फिर जाओ और एक वर्षतक भजन करो।' जिज्ञासु लौट गया और फिर एक वर्षतक उसने भजनमें मन लगाया। वर्ष पूरा होनेपर जब वह गुरु-चरणोंमें चला, तब सिखाये हुए भंगीने इस बार कूड़ेसे भरी टोकरी ही उठाकर उसके सिरपर उड़ेल दी। लेकिन आज वह क्रोधित



होनेके स्थानपर सच्ची दीनतामें भरकर भंगीके चरणोंपर गिर पड़ा और कहा—'भाई! तूने मेरा बड़ा ही उपकार किया है। तू नहीं होता तो मैं क्रोधको किस प्रकार जीत सकता, कैसे उसके चंगुलसे छूटता? मैं तेरा अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। तुझे धन्य है।' इसीलिये महाप्रभु श्रीचैतन्यने बताया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

क्षमा और निरहंकारके द्वारा ही इस क्रोधरूपी भयानक शत्रुपर भी विजय पायी जा सकती है। क्रोधके आगमन मात्रसे ही मनुष्यका कर्तव्याकर्तव्य-ज्ञान लुप्त हो जाता है और वह चाहे सो कर बैठता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

सचमुच क्रोध बहुत-से पापोंका मूल है। यह जितना दूसरोंके लिये दुःखदायी होता है, उससे अधिक अपनेको कष्ट देता है।

फिर, परमार्थके मार्गमें तो क्रोध एक भयानक प्रबल शत्रु है। जबतक क्रोध है, तबतक परमार्थमें उन्नति बड़ी कठिन है। जहाँ जरा-सी प्रतिकूलता सहन करना सम्भव नहीं, वहाँ प्रभु-प्रेममें सब कुछ फूँककर मस्त होनेकी आशा कहाँ की जा सकती है? यह तो एक ऐसी आग है, जो सारे शरीरमें ज्वाला फूँक देती है—और जिसका तन-मन इसमें धधक उठता है, उससे भजन कहाँ सम्भव है? अतः जगत् और परमार्थ दोनोंके लिये ही क्रोधका नाश परमावश्यक है।

—राधा भालोटिया

(२)

अक्रोध-धर्ममें निपुण वासुदेव

यह कथा जैनपुराणकी है—

एक बार श्रीबलदेवजी, वासुदेव और सात्यकि वनमें रह गये थे। उनके साथ उस समय कोई सेवक नहीं था। आखेट करने निकले तो सेनाके साथ थे; किंतु इनके तीव्रगामी अश्व बहुत आगे निकल आये थे। दूसरे सैनिक पीछे छूट गये थे। संध्या कब हुई, यह वनकी गहनतामें पता ही न लगा। रात्रिका अन्धकार फैल गया, तब यात्रा रोकनी पड़ी। उस समय न आगे जाना सम्भव रहा और न पीछे लौटना ही।

एक सघन वृक्षके नीचे तीनोंने रात्रि व्यतीत करनेका निश्चय किया। घोड़े बाँध दिये गये। उनकी पीठपर कसी जीनें बिछायी गयीं। रात्रि आधा प्रहर बीत चुकी थी। अन्तिम आधे प्रहर रात्रिके रहते प्रातःकृत्यको उठ जाना ही था। तीन प्रहर रात्रि व्यतीत करनी थी। घोर वनमें निश्चिन्त सोना बुद्धिमानी नहीं होती। एक-एक प्रहरमें एक-एक व्यक्ति बारी-बारीसे जागकर रक्षामें सावधान रहे, यह निश्चय हुआ।

पहले प्रहरमें बलदेव, वासुदेव सोये। सात्यकि रक्षापर बैठे। उसी समय एक पिशाच प्रकट हुआ। उसने कहा—'इन दोनोंको भक्षण कर लेने दो तो मैं तुम्हें छोड़ दूँगा!'

सात्यकिने डाँटा उसे। पिशाच कब दबनेवाला था। दोनों भिड़ गये। अद्भुत बात यह थी कि सात्यकि जितना क्रोध करते थे, पिशाचका बल और आकार बढ़ता जाता था। उसने कई बार सात्यकिको पटका। शरीर बहुत घायल हो गया, अत्यन्त थक गये सात्यकि; किंतु एक प्रहर किसी प्रकार पिशाचसे लड़ते रहे। प्रहर पूरा होते ही वह अदृश्य हो गया।

सात्यकिने बलदेवजीको जगाया और स्वयं सो गये। पिशाच फिर प्रकट हुआ। बलदेवसे भी उसने वे ही बातें कीं और उनसे भी उसका मल्लयुद्ध छिड़ गया। पिशाचका आकार बढ़ता गया। पूरे एक प्रहर युद्ध करके जब वह अदृश्य हुआ, बलदेवजीका शरीर थककर चूर हो चुका था। उन्हें भी बहुत चोट आयी थी।

रात्रिके तीसरे प्रहरमें वासुदेव उठे और बलदेवजी सो गये। पिशाचको प्रकट होना ही था। उसे देखते ही हँसकर वासुदेव बोले—'तुम अच्छे आये।

तुमसे युद्ध करते हुए एक प्रहर आनन्दसे बीत जायगा । निद्रा-आलस्य दोनोंसे बचे रहनेकी यह उत्तम युक्ति है । आओ, हम दोनों बाहुबल आजमायें ।'

पिशाच भिड़ तो गया; किंतु जब वह दाँत पीस-कर घूसे-थप्पड़ चलाता तो वासुदेव हँस पड़ते—'तुम अच्छे वीर हो ! तुममें उत्साह तो है ।'

इसका परिणाम यह हो रहा था कि वासुदेवके प्रत्येक हास्यके साथ पिशाचका बल घटता चला जा रहा था और उसका आकार छोटा होता चला जा रहा था । अन्तमें वह बहुत ही छोटे-से कीड़े-जितना रह गया । वासुदेवने उठाकर उसे पटुकेके छोरमें बाँध लिया ।

प्रातःकाल सात्यकिका घायल घुटना और सूजा मुख देखकर वासुदेवने पूछा—'तुम्हें क्या हुआ है ?'

'आपको वह पिशाच नहीं मिला ? बड़ा भयंकर था वह ।' सात्यकिने अपने साथ हुई घटना सुनायी। बलदेवजीने उसका समर्थन किया ।

वासुदेवने पटुकेके छोरसे खोलकर उसे सामने रख दिया और कहा—'यह रहा वह पिशाच । आप दोनोंने इसे पहिचाना नहीं । यह क्रोध है । आप दोनों जितना क्रोध करते गये, यह बढ़ता गया । इसका यही स्वरूप है । क्रोध न किया जाय तो इसका बल-विस्तार सब समाप्त हो जाता है ।'

उपेक्षासे उस कीटप्राय क्रोध-पिशाचको उन्होंने दूर फेंक दिया ।

—सु०

(४)

अक्रोधी सुकरात

महात्मा सुकरात (साक्रेटीज) का जन्म ईसा-जन्मसे ४६९ वर्ष पूर्व ग्रीस देशके 'एथेंस' नगरमें हुआ था । ये सच्चे सत्य-शोधक थे और इन्होंने अपनी साधनाके फलस्वरूप सत्यका साक्षात्कार भी किया था । इनका संत-जीवन था । इनकी पत्नीका नाम था—'जैन थिपी' । भाग्यकी बात—उसका स्वभाव बड़ा ही रूखा था । कहते हैं कि वह बड़ी कर्कशा थी । पर वह इनके लिये तो इनके संत-स्वभावको और भी सुदृढ़ करनेके लिये वरदान-स्वरूप थी । उसका बर्ताव-व्यवहार जितना ही विपरीत होता—कहते हैं, उतना ही इनका संत-स्वभाव विकसित होता ।



कहते हैं, एक दिन ये बाहरसे आये ही थे कि उसने गंदा पानी इनपर उँडेल दिया और फिर वह सामने आकर खड़ी हो गयी । इन्होंने हँसकर कहा—तूने बड़ा अच्छा किया । गरमीमें झुलसता आया था, ठंढा पानी डालकर सुशीतल कर दिया ! धन्य अक्रोध ।



धर्ममूर्ति महर्षि वाल्मीकि और उनके रामायणप्रतिपादित धर्म

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

वस्तुतः **'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्'** की दृष्टिसे हमारा वर्तमान सारा धार्मिक तथा संस्कृत भाषामें प्राप्त आजका साहित्य व्यासोच्छिष्ट अथवा पुराणोंपर ही आधृत है। किंतु **'बृहद्धर्मपुराण'**के—**'पठ रामायणं व्यासकाव्यबीजं सनातनम्'**से यह सुस्पष्ट सिद्ध है कि इन सभी पुराणों तथा शास्त्रोंका बीज एकमात्र महर्षि वाल्मीकिकी रामायण है। व्यासजी वस्तुतः महर्षि वाल्मीकिके ही पदचिह्नोंपर चलते हुए सिद्ध होते हैं। इनका वैदिक संस्कृतिपर पर्याप्त प्रभाव डालकर उसे परिष्कृत करना और इस तरह परम परिष्कृत वैष्णवधर्मकी प्रवृत्ति और प्रतिष्ठा इनके द्वारा सिद्ध होती है।*

महर्षि वाल्मीकि साक्षात् तपोमूर्ति थे। स्कन्दादि पुराणोंमें भगवान् व्यासद्वारा लिखित इनकी जीवनी [कई बार] प्राप्त होती है। इन्होंने सभी देवताओंकी आराधना, स्थापना की थी। इनके स्थापित कितने ही वाल्मीकेश्वर लिङ्गादिकी चर्चा पुराणोंमें है। अपने समयके ये अत्यन्त अद्भुत विख्यात धर्मात्मा महर्षि थे। अपनी रामायणका इन्होंने 'तप' शब्दसे ही आरम्भ किया है और धर्मकी महिमा इस ग्रन्थमें अद्भुत रूपसे स्थापित की है। यहाँ उनमेंसे थोड़े-से उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

वाल्मीकीय रामायणमें धर्मका स्थान

(धर्मविग्रह श्रीराम)

वाल्मीकिके राम साक्षात् धर्मके स्वरूप या मूर्तरूप हैं।† वे **'एष विग्रहवान् धर्मः' 'रामो विग्रहवान् धर्मः'** (३ । ३७ । १३) आदि वचन बार-बार लिखते हैं। मारीच आदि विरोधी राक्षस भी उन्हें सर्वोत्तम धर्मात्मा कहते हैं। शुक राक्षस रामको इङ्गित करता [दिखाता] हुआ रावणसे इस प्रकार परिचय देता है—

यस्मिन् न चलते धर्मो यो धर्मं नातिवर्तते।
यो ब्राह्ममस्त्रं वेदांश्च वेद वेदविदां वरः॥

(युद्ध० २८ । १९)

अर्थात् जिनसे धर्म कभी अलग नहीं होता और जो धर्मका कभी परित्याग नहीं करते, जो वेदोंके साथ धनुर्वेदके भी पूर्ण मर्मज्ञ हैं, वे इक्ष्वाकुओंके अतिरथी ये ही राम हैं।

उनसे भगवती सीता भी कहती हैं—

धर्मिष्ठः सत्यसंधश्च पितुर्निर्देशकारकः॥
त्वयि धर्मश्च सत्यं च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।

(अरण्य० ९ । ६—७)

अर्थात् आप परम धर्मात्मा, सत्यवादी और पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले हैं। आपमें धर्म, सत्य तथा समस्त सद्गुणोंकी प्रतिष्ठा है।

इसी प्रकार जब मेघनाद किसी प्रकार भी नहीं मरता, तब लक्ष्मणजी कहते हैं कि यदि राम ही वस्तुतः सबसे बड़े धर्मात्मा तथा योद्धा हों तो यह बाण मेघनादको मार डाले और तब वह बाण उसे मार डालता है—

धर्मात्मा सत्यसंधश्च रामो दाशरथिर्यदि।
पौरुषे चाप्रतिद्वन्द्वः तदैनं जहि रावणिम्॥

(युद्ध० ९० । ६९)

यह श्लोक वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्मरामायण, हनुमन्नाटक, महानाटक आदि अनेकानेक ग्रन्थोंमें आया है।

इसी तरह श्रीहनुमान्‌जी भगवान् श्रीरामका परिचय देते हुए पराम्बा भगवती सीतासे कहते हैं—

रक्षिता स्वस्य वृत्तस्य धर्मस्य च परंतपः॥
रामो भामिनि लोकस्य चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता।

(सुन्दर० ३५ । १०-११)

---

* रामायणं महाकाव्यमादौ वाल्मीकिना कृतम्।
तन्मूलं सर्वकाव्यानामितिहासपुराणयोः॥
संहितानां च सर्वासां मूलं रामायणं मतम्।
तदेवादर्शमाराध्य वेदव्यासो हरेः कला॥
चक्रे महाभारताख्यमितिहासं पुरातनम्।
तदेवादर्शमाराध्य पुराणान्यथ संहिताः॥
चकार भगवान् व्यासस्तथा चान्ये महर्षयः।

(बृहद्धर्मपुराण १ । २५ । २८—३१)

† धर्म तथा रामसम्बन्धी अत्यधिक जानकारीके लिये देखें कल्याण २४ । ४ में प्रकाशित हमारा 'रामो विग्रहवान् धर्मः' शीर्षक लेख।

वाल्मीकिके ही आधारपर बनाये हुए अपने प्रसिद्ध काव्यमें कविवर भट्टि लिखते हैं कि सीतावियोगादिमें भगवान् राम यद्यपि विक्षिप्त हो गये थे, तथापि उनकी संध्यादि तथा नित्य-नैमित्तिक धार्मिक क्रियाओंमें तिलमात्र भी ढील नहीं पड़ी थी—

तथाऽऽर्तोऽपि क्रियां धर्म्यां स काले नामुचत् क्वचित् ।
महतां हि क्रिया नित्या छिद्रे नैवावसीदति ॥
(अ० ६ । २४)

स रामः तेन प्रकारेण आर्तोऽपि क्वचिदपि धर्म्यां क्रियां काले यथोचितसमये नामुचत् न त्यक्तवान् । (जयमङ्गला)

धर्म-महिमा

यद्यपि वाल्मीकिरामायणमें धर्ममहिमाके वचन ही अधिकांश दीखते हैं, तथापि यहाँ थोड़े-से ही वचन उदाहरणके लिये सानुवाद दिये जा रहे हैं। भगवान् श्रीराम अयोध्याकाण्डके २१वें अध्यायमें लक्ष्मणजीको समझाते हुए कह रहे हैं—

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम् ॥
संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा ।
न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य तिष्ठता ॥
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम् ॥
(अयोध्या० २१ । ४१, ४२, ४४)

अर्थात् संसारमें धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है। सत्यकी भी धर्ममें ही प्रतिष्ठा है। मेरे पिताका यह वचन भी धर्मके आश्रित होनेसे अत्युत्तम है। वीर लक्ष्मण! धर्मात्मा पुरुषको माता-पिता अथवा ब्राह्मणके वचनोंके पालन करनेकी प्रतिज्ञा करके पुनः उसे प्रमादसे छोड़ देना, मिथ्या करना कदापि उचित नहीं है। अतः तुम भी धर्मका आश्रय लो; कठोरता छोड़ दो और मेरे विचारोंके अनुसार अपने विचार बनाओ।

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके समीक्षिता धर्मफलोदयेषु ।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे भार्येव वश्याभिमता सुपुत्रा ॥
(अयोध्या० २१ । ५७)

इसमें संशय नहीं कि धर्मसे ही त्रिवर्ग (अर्थ, काम, सदाचार) की सिद्धि होती है—जैसे साध्वी स्त्रीसे धर्म, सुख और पुत्रकी प्राप्ति होती है।

यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत ।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता ॥
(अयोध्या० २१ । ५८)

वस्तुतः एक तरफ जिसमें सब हो, पर धर्म न हो और एक तरफ जिसमें केवल धर्म हो और कुछ न हो तो केवल 'धर्म'का पक्ष ही ग्रहणकर उसीका अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि अर्थपरायण प्राणी अकारण ही सबका द्वेषी बन जाता है और भोगपरायण कामीकी भी कोई प्रशंसा नहीं करता।*

इसी प्रकार भगवती सीता रामको स्मरण दिलाती हुई कहती हैं†—

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम् ।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ॥
धर्मोऽत्र प्रचले ब्रह्मम् । (वाल्मी० अरण्यकाण्ड ९ । ३०)

अर्थात् धर्मसे ही धन मिलता है और धर्मसे ही सुख मिलता है। अधिक क्या, धर्मसे सब कुछ मिल जाता है। अतः इस विश्वमें धर्म ही सार-सर्वस्व ग्राह्य वस्तु है और मैं भी धर्मसे पृथक् नहीं हूँ।

इसी प्रकार और भी अगणित वचन हैं।‡

---

* क्षेमेन्द्रने भी अपनी चारुचर्यामें हरिश्चन्द्रकी उपमा देते हुए ऐसी ही सलाह दी है—

न त्यजेद्धर्ममर्यादामपि क्लेशदशां गतः । हरिश्चन्द्रो हि धर्मार्थी सेहे चण्डालदासताम् ॥ (चारु० १३)

† स्कन्दपुराण, काशीखण्ड (४६ । ३३-३७ तक) के ये वचन भी कुछ इसी प्रकारके हैं—

धर्मो हि रक्षितो येन देहे सत्वरगत्वरे । त्रैलोक्यं रक्षितं तेन किं कामार्थैः सुरक्षितैः ॥
रक्षणीयो यदि भवेत् कामः कामारिणा कथम् । क्षणादनङ्गतां नीतो बहूनां सुखकार्यपि ॥
अर्थश्चेत् सर्वथा रक्ष्य इति कैश्चिदुदाहृतम् । तत्कथं न हरिश्चन्द्रोऽरक्षत् कुशिकनन्दनात् ॥
धर्मस्तु रक्षितः सर्वैरपि देहव्ययेन च । शिबिप्रभृतिभूपालैर्दधीचिप्रमुखैर्द्विजैः ॥

‡ स्वायंभुव मनुको भी धर्मप्रवर्तक कहा जा सकता है। मनुसे ही 'मानव' शब्द बना है। इन्होंने धर्मकी पूरी व्याख्या की है। मनुसम्बन्धी विशेष जानकारीके लिये हमारा 'कल्याण' ३६ । १२ में 'मनुस्मृति' पर प्रकाशित निबन्ध देखना चाहिये।

धर्मप्राण भगवान् व्यासदेव और उनके पुराणप्रतिपादित धर्म

(लेखक—पण्डित श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

देवगुरु बृहस्पति, दानवाचार्य शुक्र, विदेहराजके गुरु याज्ञवल्क्य आदिने धर्मनिर्णायक, धर्मप्रतिपादक, धर्मलक्षण-निरूपक तथा धर्मस्रोतोंमें पुराणोंको ही एकस्वरसे सर्वप्रथम—आद्य स्थान प्रदान किया है—

यथा—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

यह श्लोक याज्ञवल्क्यस्मृति १ । ३, शिवपुराण-वायवीयसंहिता १ । २५*, विष्णुपुराण ३ । ६ । २८, शुक्रनीति १ । १५४, गरुड़पुराण १ । ९३ । ३–४, भविष्य, ब्राह्म २ । ६, विष्णुधर्म १ । ७४ । ३३ तथा बृहस्पति० आदि अनेक स्थलोंपर प्राप्त होता है ।

इस तरह पुराणोंमें यद्यपि सभी धर्मप्रमापक—निर्णायक और उसके स्रोत सिद्ध हैं, तथापि भगवान् व्यासदेवने धर्मके नामपर ही कई पुराणोंकी रचना की है । इनमें धर्मपुराण, बृहद्धर्मपुराण, शिवधर्मपुराण, विष्णुधर्मपुराण तथा विष्णु-धर्मोत्तरपुराण प्रमुख हैं—

तथा धर्मपुराणं च विष्णुधर्मोत्तरं तथा ।
शिवधर्मं विष्णुधर्मं वामनं वारुणं तथा ॥
नारसिंहं भार्गवं च बृहद्धर्मं तथोत्तमम् ।
एतान्युपपुराणानि सङ्ख्यावष्टादशैव तु ॥
(बृहद्धर्मपुराण, मध्यखण्ड २५ । २५–२६)

इसके अतिरिक्त महाभारतके राजधर्म, आपद्धर्म, मोक्ष-धर्म, दानधर्म (अनुशा०), वैष्णवधर्म, नारायणीयधर्म आदि पर्व एवं अवान्तर पर्व भी विशाल धर्मसागरके ही समान हैं । साथ ही स्कन्द, भविष्य एवं पद्मपुराणोंके अधिकांश खण्डोंमें भी धर्मशास्त्रोंका ही स्वरूप प्राप्त है । स्कन्दपुराणके पहले तीन खण्डोंमें अनेक मास-माहात्म्योंके साथ-साथ तीर्थ-व्रत, पीपल, आमलकी, तुलसी, गौ आदिकी महिमा ध्येय है । इसी प्रकार पद्मपुराण, सृष्टिखण्डके ४८ । ९६ के बादका सारा प्रकरण धर्मशास्त्रका है । इसमें ब्राह्मण-महिमा (प्रायः १ हजार श्लोकोंमें), गायत्री-महिमा, सदाचार, मातृ-पितृ-महिमा, सतीमाहात्म्य, श्राद्धविधि, अन्नदान, जलदान, नाना-दान-महिमा, रुद्राक्षमाहात्म्य, गङ्गा-महिमा, तुलसी-महिमा (६२ अध्याय) एवं ग्रन्थ-पूजा आदिका वर्णन है । इसी प्रकार भविष्य एवं पद्मपुराणके उत्तरखण्ड* सारे-के-सारे 'धर्मकोश' कहने योग्य हैं । इस तरह इसमें संदेह नहीं कि पुराण भी धर्म-शास्त्रोंके ही समान धर्मके अद्भुत विश्वकोश हैं । इससे भगवान् व्यासकी अति दिव्य चमत्कृत धर्मवत्सलताका किंचित् अनुमान करना शक्य होता है । इसके अतिरिक्त उनके (भगवान् वेदव्यासद्वारा विरचित लघुव्यासस्मृति, व्यासस्मृति) तथा बृहद्-व्यासस्मृतिके नामसे ३ स्मृतियाँ भी प्राप्त होती हैं, जो वस्तुतः बड़े कामकी हैं । यहाँ सबका परिचय देना तो किसी भी प्रकार शक्य नहीं दीखता । यदि उनकी संक्षिप्त सूची भी बनायी जाय तो बहुत-से पृष्ठ लग जायँगे । केवल बृहद्धर्म तथा विष्णुधर्मकी ही सूची बहुत बड़ी हो जायगी । शिवधर्मोत्तरपुराणका भी समादेश अनुमानतः लिङ्ग एवं शिवपुराणमें हुआ दीखता है । अन्यथा उनके शेष धर्म-पुराणोंका अब पता नहीं रह गया है । पर भगवान् व्यासने अपनी धार्मिक कथासूक्तियोंका बार-बार पुनः कथनोपकथन किया है । उदाहरणार्थ उनके विभिन्न पुराणोंमें मिलनेवाले कार्तिक-माहात्म्यादि प्रायः अक्षरशः एक ही हैं । वायुपुराण, ब्रह्माण्डपुराण प्रायः अक्षरशः परस्पर मिलते हैं । अतः कुछ लुप्त होनेपर भी उनका अंश अन्य धर्मपुराणों, उपपुराणोंमें प्राप्त होना चाहिये । इनमेंसे अकेले 'श्रीविष्णुधर्म'में ही ८०७ अध्याय हैं ।† यदि इसके धर्मोंके नामकी ही हम सूची दें तो ८०० के लगभग पंक्तियाँ चाहिये । इससे भगवान् व्यासदेवकी धर्मप्रियताका कुछ अनुमान किया जा सकता है ।

* यहाँ कुछ भिन्न पाठ है ।

* भविष्यके उत्तरखण्डमें प्रायः सभी व्रतोंका बहुत विस्तारसे वर्णन है । शेष संक्षेप है । पाद्मोत्तरमें व्रतोंका वर्णन संक्षिप्त तथा अन्य विस्तृत है ।

† स्मृतिचन्द्रिका (मद्राससंस्करण), अपरमाक तथा बल्लालसेनके दानसागरमें इस ग्रन्थोंके बहुत-से श्लोक हैं । शेष स्मृतियाँ कलकत्ता तथा आनन्दाश्रम पूनासे एक साथ प्रकाशित हैं ।

इसके अतिरिक्त १०० अध्यायोंका 'विष्णुधर्मशास्त्र' नामका एक दूसरा ग्रन्थ भी है । इसपर कई संस्कृतकी टीकाएँ भी मिलती हैं ।



महर्षि वाल्मीकि और महर्षि वेदव्यास

केवल विष्णुधर्मके तृतीय खण्डान्तर्गत हंसगीतामें जो ११६ (अ० २२७ से ३३४ तक) अध्याय हैं, यहाँ हम उनकी संक्षिप्त सूची देते हैं। इनमेंसे प्रत्येक अध्यायमें एक धर्मका कथन हुआ है। यथा २२७—वर्णधर्म, २२८—ब्रह्मचर्य—गार्हस्थ्यधर्म, २३०—भक्ष्याभक्ष्यनिरूपण, २३१—द्रव्यशुद्धि, २३२—शौच-स्नान-निरूपण, २३३—जपविधि, २३४—५—प्रायश्चित्त, २३७—दान-तप-वृद्धसेवादिका फल, २४१—धर्म-महिमा, २४३—मानदोष-वर्णन, २४४—मददोष, २४५—४८—लोभ-क्रोध-नास्तिक्य-दोष-वर्णन, अहंकार-दोष-दर्शन, २५१—५३—आशौच, असत्य, हिंसादि, मन, वचन, शरीरके दोष-पाप, २५४—ज्ञानमहिमा, २५५—धर्मप्रशंसा, २५६—गुरुसेवाफल, २५७—स्वाध्याय-महिमा, २५८—ब्रह्मचर्य-महिमा, २६२—यज्ञ-महिमा, २६३—शीलमहिमा, २६४—दमप्रशंसा, २६५—सत्यप्रशंसा, २६६—तपःप्रशंसा, २६७—शौर्यप्रशंसा, २६८, अहिंसा-प्रशंसा, हिंसा-दोष-कथन, २६९—क्षमागुणवर्णन, २७०—अनृशंसता, २७१—सदाचार, २७३—तीर्थमहिमा, तीर्थानुसरणफल, २७४—व्रतोपवास-प्रशंसा-फल—, २७५—श्रद्धामहिमा, २७६—प्राणायाम, २८१—८४प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि-फल, २८७—संकल्प, हवन-यज्ञ-वर्णन, २८८—देव-पितृ-पूजा-श्राद्ध-फल, २८९—अतिथि-सेवा, २९०—ब्राह्मण-महिमा-सेवा-निरूपण, २९१—गो-महिमा, २९२—दया-फल-निरूपण, २९३—४—दाक्षिण्य-मृदुभाषण-प्रशंसा, २९६—तडाग-निर्माण-फल, २९७—वृक्षारोपण, आराम (बगीचा)-निर्माण-फल, २९८—पौंसिलेकी उपयोगिता-पुण्य, २९९—त्रिविध धन, ३००—दानधर्मविचार, ३०२—अभयदान-फल, ३०३—वेदाध्यापन-धर्म, ३०४—देवालय-निर्माण-धर्म, ३०५—देवालयोपकरण-भूमि पूजावस्तु आदि, दानफल, ३०६—१३—गोदान, अन्न-दान, घृत-धेनु—तिल-जल—सुवर्ण-विविध-रत्न-दानफल, आसन-शय्या-वितान-छत्र-उपानट् (जूता)-रथ-अश्व-गज-कन्यादि-दान-फल, रूप-लावण्य, धन-सौभाग्यादिप्रद-क्षौम (रेशमीवस्त्र)-कार्पास-आविक (ऊनी) वस्त्रादि-दान-फल, ३१४—विविध अन्नदान—भोजन-दान-महिमा, ३१६—३२१—दानमें देश-पात्र-कालादिकी महिमा और फलतारतम्य, नक्षत्र, तिथियोंके विशेष परिणाम, ३२२—पातिव्रत्यादि-स्त्रीधर्म-निरूपण, ३२३—राजधर्मनिरूपण, ३२४—३८—व्यवहारदर्शन धर्मनिर्णय, न्याय-निर्णय, ३३९—वानप्रस्थ-धर्म, ३४०—यतिधर्म, ३४१—वैष्णवधर्म—भक्तिके विविध भेद, लेपन, चित्रकरण, पुष्पचयन, कीर्तन, जीर्णोद्धार, पाठ, स्तुति-शङ्ख-घण्टा-पताकादि-दान इत्यादिका वर्णन इन अध्यायोंमें हुआ है।

इसी प्रकार प्रायः इतने ही धर्मोंका वर्णन भगवान् व्यासदेवने महाभारतके शान्ति, अनुशासन और आश्वमेधिक पर्वोंमें किया है। उनमें सांख्य-योगादि अध्यात्मतत्त्वोंका भी विस्तारसे निरूपण हुआ है। इसी प्रकार भविष्योत्तर-पुराण, बृहद्धर्मपुराण, लिङ्गपुराण, शिवपुराण, ब्रह्मपुराणके कतिपय अध्यायोंकी सूची बनायी जा सकती है। यदि उन-उन विषयोंपर उन-उन अध्यायोंके महत्त्वपूर्ण श्लोकोंका केवल अनुवाद एकत्रकर उन विषयोंका प्रतिपादन कर दिया जाय तो बहुत अच्छे निबन्ध हो सकते हैं। पद्म-स्कन्द-बृहद्धर्म-वाराहादि पुराणोंमें इन उदाहरणोंको कथाके साथ समझाया गया है। कालमहिमापर भगवान् व्यासरचित इन पुराणोंमें कार्तिक-माहात्म्य, मार्गशीर्ष-माहात्म्य, माघ-माहात्म्य, वैशाख-मास-माहात्म्य, पुरुषोत्तम-मास-माहात्म्य आदि विविध ग्रन्थ धर्म-कथादियुक्त विचित्र, रोचक, आकर्षक एवं धर्मप्रेरक हैं। इसी प्रकार उनके काशीखण्ड, प्रभासखण्ड, रेवाखण्ड आदिमें सभी तीर्थों, नदियों, वन-अरण्यों, क्षेत्रों, स्थलोंकी कथा-आख्यानसहित रोचक महिमा है। साथ-साथ अगणित धर्मोपदेश हैं। इसी प्रकार व्रतादिपर भी अनेक पुराणोंमें असंख्य कथाएँ हैं।

इनके नामसे जो तीन स्मृतियाँ प्राप्त हैं, उनका भी स्मृतिसाहित्यमें बहुत बड़ा स्थान है। इनकी स्मृतियाँ भी प्रायः अन्योंकी अपेक्षा बहुत रोचक हैं।

'ब्रह्मसूत्र'में इन्होंने आत्मतत्त्व तथा उपनिषदोंके गहन विषयोंपर खुलकर विचार किया है। इस ग्रन्थपर जितनी टीकाएँ हैं, उतनी सम्भवतः संसारके किसी भी ग्रन्थपर नहीं हैं। कल्याणके 'वेदान्त' अङ्कका 'बादरायणका ब्रह्मसूत्र' शीर्षक लेख द्रष्टव्य। इसके अतिरिक्त वेदके एवं आरण्यकादि ग्रन्थोंके भी कुछ स्थलोंपर इनके द्वारा शब्दार्थ-धर्मार्थ-निर्णयके प्रसङ्ग आये हैं, * यथा तैत्तिरीय आरण्यक १।९।२ आदिमें। इस तरह यदि किसी एक ही व्यक्तिने वेद-वेदाङ्ग, दर्शन, धर्मशास्त्र,

* विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः।
(महाभारत० १।६४।१३०, कुम्भको० स०)

वस्तुतः जिस प्रकार धर्मरक्षार्थ भगवान्के अन्य अवतार हैं, वैसे ही भगवान् व्यासका भी। इसीलिये चौबीस अवतारोंमें इनकी भी गणना है—

कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं भुवि।
को ह्यन्यः पुरुषव्याघ्र महाभारतकृद् भवेत्॥
(महा० शां० ३४६।१२, मार्कण्डेयपुरा० १ आदि)

इन्होंने अद्भुत शाश्वत धार्मिक साहित्यके निर्माणद्वारा जगद्-रक्षामें पूर्ण सहयोग दिया है।

इतिहास तथा पौराणिक साहित्य-सागरके निर्माण-परिष्कार कार्यमें विशाल सहयोग प्रदानकर विद्वानोंको अत्यन्त चकित कर देनेका कार्य किया है, तो वे हमारे श्रीव्यासदेव ही हैं। और तदर्थ हमें कृतज्ञता-ज्ञापन करनेके लिये अत्यन्त श्रद्धासे उनके उपकारोंके लिये उनके चरणोंमें अवनत होना ही चाहिये; क्योंकि आजका हमारा सारा-का-सारा साहित्य उनकी इन रचनाओंके प्रभावसे अछूता नहीं है, बल्कि एक प्रकारसे उनका उच्छिष्ट ही है—चाहे वह किसी भी धर्मका और किसी भी देशका भी क्यों न हो। अतः—

'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वं' की उक्ति सर्वथा सत्य ही है।

हिंदू-धर्मके आधार-ग्रन्थ

हिंदूशास्त्र बहुत विस्तीर्ण है। धार्मिक ग्रन्थोंका बहुत बड़ा भाग विदेशी-विधर्मी आक्रमणकारियोंद्वारा नष्ट कर दिया गया। उनसे बचे-खुचे ग्रन्थोंका भी बड़ा भाग प्रकृतिके प्रकोपसे, लोगोंकी असावधानीसे, दीमक तथा कीड़ोंके खानेसे नष्ट हो गया। अब जो कुछ बचा है, उसमें भी सहस्रों ग्रन्थ लोगोंके घरोंमें पड़े हैं। उनका पता औरोंको नहीं है।

यह सब कुछ होनेपर भी यदि प्रकाशित तथा उपलब्ध ग्रन्थोंकी सूचीमात्र दी जाय तो एक बड़ा ग्रन्थ उस सूचीसे ही बनेगा। इसलिये बहुत संक्षिप्तरूपमें मुख्य-मुख्य ग्रन्थोंकी नामावली ही यहाँ दी जा रही है।

हिंदू-धर्मके आधार-ग्रन्थोंके मुख्य भाग ये हैं—१–वेद, २–वेदाङ्ग, ३–उपवेद, ४–इतिहास और पुराण, ५–स्मृति, ६–दर्शन, ७–निबन्ध, ८–आगम।

वेद

वेदके छः भाग हैं—१–मन्त्रसंहिता, २–ब्राह्मणग्रन्थ, ३–आरण्यक, ४–सूत्रग्रन्थ, ५–प्रातिशाख्य और ६–अनुक्रमणी।

वेद चार हैं—१–ऋग्वेद, २–यजुर्वेद, ३–सामवेद, ४–अथर्ववेद। किंतु ये चार वेदके विभाजन हैं। मूलतः वेद एक ही है। वेदोंका यह विभाजन करनेके कारण ही महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास कहे जाते हैं।

यज्ञोंमें चार मुख्य ऋत्विज होते हैं—होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। ऋग्वेदके ऋत्विजको होता, यजुर्वेदवालेको अध्वर्यु, सामवेदवालेको उद्गाता तथा अथर्ववेदके ऋत्विजको ब्रह्मा कहते हैं। ये क्रमसे चारों दिशाओंमें बैठते हैं।

त्रयी भी वेदोंका एक नाम है—वेदत्रयीका यह अर्थ है कि पहले प्रधान वेद तीन ही रहे—

स्त्रियामृक्सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी।

(अमरकोश १।६।३)

वेद अनादि हैं। उनका कोई निर्माता नहीं है। वे शाश्वत ईश्वरीय ज्ञान हैं। सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माके हृदयमें उन्हें भगवान्‌ने प्रकट किया। एक दूसरेसे सुनकर ही वैदिक मन्त्रोंका ज्ञान होता है, इसलिये वेदमन्त्रोंको श्रुति कहते हैं।

मन्त्रोंके छन्द, ऋषि, देवता तथा विनियोग निर्दिष्ट हैं। छन्दके द्वारा जाना जाता है कि उस मन्त्रका कैसे उच्चारण करना चाहिये। उनकी पूरी व्याख्या निरुक्त या व्याकरणसे नहीं होती। समाधिमें जिसने जिस मन्त्रका अर्थ-दर्शन किया, वह उस मन्त्रका ऋषि कहा जाता है। ऋषि मन्त्रद्रष्टा होते हैं।

वेदके प्रत्येक मन्त्रकी आनुपूर्वी नित्य है। मन्त्रोंके शब्दोंमें उलट-पलट सम्भव नहीं। मन्त्रोंका संकलन-क्रम बदल सकता है। इसलिये वेदपाठकी अनेक प्रणालियाँ हैं। इन्हें क्रम, घन, जटा, शिखा, रेखा, माला, ध्वज, दण्ड और रथ कहते हैं।

शाखाएँ—ऋषियोंने अपने शिष्योंको अपने सुविधानुसार मन्त्रोंको पढ़ाया। किसीने एक छन्दके सब मन्त्र एक साथ पढ़ाये। दूसरेने एक देवताके सब मन्त्र साथ पढ़ाये। तीसरेने मन्त्रोंको उनके विषय अथवा उपयोगके अनुसार रक्खा। इस प्रकार सम्पादन-क्रमसे एक वेदकी अनेक शाखाएँ हो गयीं।

ऋग्वेदकी २१ शाखाएँ कही जाती हैं। उनमेंसे शाकल-शाखा शुद्धरूपमें प्राप्त है। यजुर्वेदके दो प्रकारके पाठ हैं। एकको शुक्लयजुर्वेद तथा दूसरेको कृष्णयजुर्वेद कहते हैं। शुक्ल यजुर्वेदकी १५ तथा कृष्णयजुर्वेदकी ८६ शाखाएँ थीं। इनमेंसे शुक्लयजुर्वेदकी काण्व तथा माध्यन्दिनी शाखाएँ प्राप्त हैं। कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ, कापिष्ठल और श्वेताश्वतर–ये पाँच शाखाएँ मिलती हैं। सामवेदकी एक सहस्र शाखाओंका उल्लेख है, परंतु उनमें केवल तीन प्राप्त हैं—१–कौथुमी, २–जैमिनीया और ३–राणायनीया। उनमें भी कौथुमी शाखा तथा जैमिनीया ही पूर्णरूपमें मिलती हैं।

राणायनीयाका भी कुछ अंश प्राप्त है। अथर्ववेदकी तो शाखाओंमेंसे अब पैप्पलादी तथा शौनकीया शाखाएँ शुद्ध-रूपमें मिलती हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थ

वेदमन्त्रोंका यज्ञमें कैसे उपयोग हो, यह इनमें बतलाया गया है। इस समय जो ब्राह्मण-ग्रन्थ मिलते हैं, उनका विवरण इस प्रकार है—

ऋग्वेदके—१–ऐतरेय-ब्राह्मण और शाङ्खायन-ब्राह्मण (अथवा कौषीतकि-ब्राह्मण)

कृष्ण यजुर्वेदके—तैत्तिरीय-ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय-संहिताका मध्यवर्ती ब्राह्मण।

शुक्लयजुर्वेदका—शतपथ-ब्राह्मण (यह भी दो प्रकारका है—काण्वशाखावाला १७ काण्डोंका है और माध्यंदिन शाखाका १४ काण्डोंका है।)

सामवेदके—ताण्ड (पञ्चविंश) ब्राह्मण, २–षड्विंश-ब्राह्मण, ३–सामविधान-ब्राह्मण, ४–आर्षेय-ब्राह्मण, ५–मन्त्र-ब्राह्मण, ६–दैवताध्याय-ब्राह्मण, ७–वंशब्राह्मण, ८–संहितोपनिषद्-ब्राह्मण, ९–जैमिनीयब्राह्मण और १०–जैमिनीय-उपनिषद्ब्राह्मण।

अथर्ववेदका—गोपथब्राह्मण।

आरण्यक और उपनिषद्

ब्राह्मण-ग्रन्थोंके जो भाग वनमें पढ़ने योग्य हैं, उनका नाम आरण्यक है। इस समय प्राप्त उपनिषद् लगभग २७५ हैं। 'कल्याण' के उपनिषद्-अङ्कमें उनकी सूची दी गयी थी। तेरह उपनिषदें मुख्य मानी जाती हैं, जिनपर आचार्योंने भाष्य लिखे हैं। उनके नाम ये हैं—

१–ईश, २–केन, ३–कठ, ४–मुण्डक, ५–माण्डूक्य, ६–प्रश्न, ७–ऐतरेय, ८–तैत्तिरीय, ९–छान्दोग्य, १०–बृहदारण्यक, ११–श्वेताश्वतर, १२–कौषीतिकी और १३–नृसिंहतापिनी। इनमेंसे ईशावास्योपनिषद् यजुर्वेदकी मूल संहितामें ही है।

श्रौतसूत्र

वेदोंमें सूत्र भाग तीन प्रकारके हैं—१–श्रौतसूत्र, २–गृह्यसूत्र और ३–धर्मसूत्र। श्रौतसूत्रोंमें मन्त्र-संहिताके कर्मकाण्डको स्पष्ट किया गया है। इस समय निम्नलिखित श्रौतसूत्र उपलब्ध हैं—

ऋग्वेदके—१–आश्वलायन और २–शाङ्खायन श्रौतसूत्र।

कृष्णयजुर्वेदके—१–आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र, २–हिरण्यकेशीय (सत्याषाढ)-श्रौतसूत्र, ३–बौधायन-श्रौतसूत्र, ४–भारद्वाज, ५–वैखानस, ६–वाधूल, ७–मानव और ८–वाराह श्रौतसूत्र। तथा शुक्लयजुर्वेदका—१–कात्यायन (या पारस्कर) श्रौतसूत्र।

सामवेदके—मशकसूत्र, लाट्यायनसूत्र, द्राह्यायणसूत्र और २–खादिर आदि श्रौतसूत्र।

अथर्ववेदका—वैतान श्रौतसूत्र मिलता है।

गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र

जैसे श्रौतसूत्र चारों वेदोंके हैं, वैसे ही गृह्यसूत्र तथा धर्म-सूत्र और शुल्वसूत्र चारों वेदोंके होते हैं। तथा आपस्तम्ब शाखाके ही चारों प्रकारके हैं।

धर्मसूत्रोंमें धर्माचारका वर्णन होता है। गृह्यसूत्रोंमें कुलाचारका वर्णन रहता है।

ऋग्वेदके—१–आश्वलायन-गृह्यसूत्र तथा २–शाङ्खायन-गृह्यसूत्र हैं। इसका वसिष्ठ-धर्मसूत्र भी है, जिसपर संस्कृतमें कई टीकाएँ हैं।

कृष्णयजुर्वेदके—१–मानव-गृह्यसूत्र, २–काठक-गृह्यसूत्र, ३–आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, ४–बौधायन गृह्यसूत्र, ५–वैखानस-गृह्यसूत्र और ६–हिरण्यकेशीय-गृह्यसूत्र तथा इन्हीं नामोंके धर्मसूत्र भी प्राप्त हैं।

शुक्लयजुर्वेदका—पारस्कर गृह्यसूत्र (इसपर कर्क, जयराम, गदाधर आदि सात संस्कृत टीकाएँ प्राप्त हैं) तथा कात्यायन एवं विष्णु धर्मसूत्र प्राप्त हैं।

सामवेदके—१–जैमिनीय-गृह्यसूत्र, २–गोभिल-गृह्यसूत्र, ३–खादिर-गृह्यसूत्र, ४–द्राह्यायण-गृह्यसूत्र तथा ५–गौतम-धर्मसूत्र (इसपर मस्करिभाष्य तथा मिताक्षरावृत्ति प्राप्त हैं) तथा छान्दोगपरिशिष्ट मिलते हैं।

अथर्ववेदके—कौशिक, वाराह एवं वैखानस गृह्यसूत्र मिलते हैं। पर धर्मसूत्र प्राप्त नहीं है।

प्रातिशाख्य

प्रातिशाख्य एक प्रकारके वैदिक व्याकरण हैं। ये चारों ही वेदोंके उपलब्ध हैं। कात्यायन-शुल्वसूत्र यजुर्वेदके शुल्व-

सूत्रोंमें प्रधान है। इसमें ज्यामिति-शास्त्रका विस्तार है। भौतिक विज्ञानका वर्णन करनेवाले इन शुल्बसूत्रोंके लोपसे वैदिक भौतिक विज्ञान लुप्त हो गया।

अनुक्रमणी

वेदोंकी रक्षा तथा वेदार्थका विवेचन इन ग्रन्थोंका प्रयोजन है।

ऋग्वेदकी—१–आर्षानुक्रमणी—इसमें मन्त्रक्रमसे ऋषियोंके नाम हैं, २–छन्दोऽनुक्रमणी, ३–देवतानुक्रमणी, ४–अनुवाकानुक्रमणी, ५–सर्वानुक्रमणी, ६–बृहद्दैवत, ७–ऋग्विज्ञान, ८–बह्वृचपरिशिष्ट, ९–शाङ्खायन परिशिष्ट, १०–आश्वलायन-परिशिष्ट तथा ११–ऋक्प्रातिशाख्य प्राप्त हैं।

कृष्णयजुर्वेदकी—१–आत्रेयानुक्रमणी, २–चारायणीयानुक्रमणी और तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य प्राप्त हैं।

शुक्लयजुर्वेदके—१–प्रातिशाख्य-सूत्र, २–कात्यायनानुक्रमणी।

वेदाङ्ग

वेदके छः अङ्ग माने जाते हैं। इन अङ्गोंके बिना वैदिक ज्ञान अपूर्ण रहता है। १–वेदका नेत्र है ज्योतिष, २–कर्ण है निरुक्त, ३–नासिका है शिक्षा, ४–मुख है व्याकरण, ५–हाथ है कल्प और ६–पैर हैं छन्द।

शिक्षा

शिक्षामें मन्त्रके स्वर, अक्षर, मात्रा तथा उच्चारणका विवेचन होता है। इस समय प्रायः निम्नलिखित शिक्षा-ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

ऋग्वेदकी—पाणिनीय शिक्षा।
कृष्णयजुर्वेदकी—व्यासशिक्षा।
शुक्लयजुर्वेदके—याज्ञवल्क्य आदि २५ शिक्षाग्रन्थ हैं।
सामवेदकी—गौतमी, लोमशी और नारदीय शिक्षा।
अथर्ववेदकी—माण्डूकी शिक्षा।

व्याकरण

व्याकरणका काम भाषाका नियम स्थिर करता है। शाकटायन व्याकरणके सूत्र तथा आजका पाणिनीय व्याकरण यजुर्वेदसे सम्बद्ध-प्रतीत होते हैं। पहले शाकायादिके भी बहुत-से व्याकरण ग्रन्थ थे, जिनके सूत्र पाणिनीयमें हैं। पाणिनि-व्याकरणपर कात्यायन ऋषिका वार्तिक और महर्षि पतञ्जलिका महाभाष्य है। इसके पश्चात् इसपर व्याख्या, टीका तथा विवेचनात्मक ग्रन्थोंकी तो बहुत बड़ी संख्या है।

इनके अतिरिक्त सारस्वत-व्याकरण, कामधेनु-व्याकरण, हेमचन्द्र-व्याकरण, प्राकृत-प्रकाश, प्राकृत-व्याकरण, कलाप-व्याकरण, मुग्धबोध-व्याकरण आदि बहुत-से व्याकरण-शास्त्रके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इन सबपर भी भाष्य, टीका, विवेचन हैं।

निरुक्त

जैसे पाणिनीय व्याकरणके प्रचारसे अन्य प्राचीन व्याकरण लुप्त हो गये, वैसे ही निरुक्त-ग्रन्थ भी लुप्त हो गये। निरुक्त वेदोंकी व्याख्या-पद्धति बतलाते हैं। इन्हें वेदोंका विश्वकोष कहना चाहिये। अब केवल यास्काचार्यका निरुक्त मिलता है। इसपर बहुत-से भाष्य, टीकादि ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार कश्यप, शाकपूणि आदिके निरुक्त ग्रन्थोंका पता चलता है।

छन्द

इस समय वैदिक छन्दोंके निर्देशक मुख्यतः इतने ग्रन्थ उपलब्ध हैं—गार्ग्यप्रोक्त उपनिदानसूत्र (सामवेदीय), पिङ्गलनागप्रोक्त छन्दःसूत्र (छन्दोविचिति), वेङ्कट माधवकृत छन्दोऽनुक्रमणी और जयदेवका छन्दःसूत्र। लौकिक छन्दोंपर भी छन्दःशास्त्र (हलायुधवृत्ति), छन्दोमञ्जरी, वृत्तरत्नाकर, श्रुतबोध, जानाश्रयी छन्दोविचिति आदि अनेक ग्रन्थ हैं।

कल्प और ज्योतिष

कल्पसूत्रोंमें यज्ञोंकी विधिका वर्णन है। ज्योतिषका मुख्य प्रयोजन संस्कार तथा यज्ञोंके लिये मुहूर्त बतलाना और यज्ञस्थली, मण्डपादिका माप बतलाना है। व्याकरणके समान ज्योतिषशास्त्र भी व्यापक है। इस समय लगधाचार्यके वेदाङ्ग-ज्योतिषके अतिरिक्त सामान्य ज्योतिषके बहुतसे ग्रन्थ हैं।

नारद, पराशर, वसिष्ठ आदि ऋषियोंके बड़े-बड़े ग्रन्थोंके अतिरिक्त वराहमिहिर, आर्यभट्ट, ब्राह्मगुप्त और भास्कराचार्यके ज्योतिषके ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं।

उपवेद

प्रत्येक वेदका एक उपवेद होता है। ऋग्वेदका अर्थवेद, यजुर्वेदका धनुर्वेद, सामवेदका गान्धर्ववेद और अथर्ववेदका उपवेद आयुर्वेद है।

अर्थवेद

'बृहस्पतेः अर्थाधिकारिकम्' से बार्हस्पत्य अर्थशास्त्रका पता चलता है। पर आजका ग्रन्थ छोटा है। कौटल्यका

अर्थशास्त्र इस विषयका बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त सोमदेवभट्टका नीतिवाक्यामृतसूत्र, चाणक्यसूत्र, कामंदक, शुक्रनीति आदि ग्रन्थ भी हैं, जो पीछेके हैं।

धनुर्वेद

इस विषयके वैशम्पायनका धनुर्वेद (वैशम्पायन-नीतिप्रकाशिका), वृद्ध शार्ङ्गधर, युक्तिकल्पतरु, समराङ्गण-सूत्रधार आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

धनुर्वेदमें अस्त्र-शस्त्रोंके निर्माण तथा प्रयोगका वर्णन है। प्रयोग करके सीखनेका यह शास्त्र है। प्रयोगकी परम्परा बंद हो जानेसे इसका लोप हो गया।

गान्धर्ववेद

इसमें नृत्य तथा गायनका विषय है। राग-रागिनी, ताल-स्वर, वाद्य तथा नृत्यके भेदोपभेदोंका वर्णन इसका तात्पर्य है। गानविद्या प्राचीन कालसे चली आ रही है और उसके पुराने 'घराने' अब भी हैं; फिर भी सामगानकी अरण्यगान तथा गेयगान—इन दोनों प्रणालियोंका लोप हो गया है। प्राचीन गायन-शास्त्रके इस समय भी बहुत-से ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें मुख्य ये हैं—भरतमुनिका भरतनाट्य-शास्त्र (इसपर अभिनवगुप्तकी टीका है), दत्तिलमुनिका दत्तिलम्, शार्ङ्गदेवका संगीतरत्नाकर (इसपर मल्लिनाथ आदिकी टीकाएँ हैं) और दामोदरकृत संगीतदर्पण आदि।

आयुर्वेद

शरीर-रचना, रोगके कारण, लक्षण, ओषधि, गुण, विधान तथा चिकित्साका वर्णन यह शास्त्र करता है। आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें अश्विनीकुमारसंहिता, ब्रह्मसंहिता, भलसंहिता एवं आग्नीध्रसूत्रराज बहुत प्राचीन ग्रन्थ हैं। सुश्रुतसंहिता, धातुवाद, धन्वन्तरिसूत्र, मानसूत्र, सूपशास्त्र, सौभरिसूत्र, दाल्भ्यसूत्र, जाबालिसूत्र, इन्द्रसूत्र, शब्दकुतूहल तथा देवलसूत्र भी प्राचीन ग्रन्थ हैं। चरकसंहिता और अष्टाङ्गहृदय आदि भी प्राचीन ग्रन्थ ही हैं।

आयुर्वेदके सहस्रों ग्रन्थ हैं। उनमें मनुष्योंके अतिरिक्त अश्व, गौ, गज तथा अन्य पशु-पक्षियोंकी चिकित्साके उपायोंका भी वर्णन मिलता है।

इतिहास

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

इतिहास-पुराणमें ही वेदार्थका पूरा विवेचन हुआ है। अतएव इतिहास-पुराणका विचार किये बिना वेदोंका ठीक-ठीक अर्थ जाना नहीं जा सकता। इसीलिये इतिहास-पुराण-को वेदका उपाङ्ग कहा जाता है।

महर्षि वाल्मीकिकी वाल्मीकीय रामायण और भगवान् वेदव्यासका महाभारत—ये दो मुख्य इतिहास ग्रन्थ हैं। हरिवंशपुराण महाभारतका परिशिष्ट होनेसे इतिहास ही माना जाता है। इनके अतिरिक्त अध्यात्मरामायण, योगवाशिष्ठ आदि इतिहासके बहुत ग्रन्थ हैं।

पुराण

पुराण चार प्रकारके हैं—(१) महापुराण, (२) पुराण, (३) अतिपुराण (४) उपपुराण। इनमेंसे प्रत्येककी संख्या अठारह बतायी जाती है। सर्वसाधारणमें महापुराणोंको ही पुराणके नामसे जाना जाता है। इन महापुराणोंके नाम निम्न हैं—

१. ब्रह्मपुराण, २. पद्मपुराण, ३. विष्णुपुराण, ४. शिवपुराण, ५. श्रीमद्भागवत, ६. नारदीयपुराण, ७. मार्कण्डेयपुराण, ८. अग्निपुराण, ९. भविष्यपुराण, १०. ब्रह्मवैवर्तपुराण, ११. लिङ्गपुराण, १२. वाराहपुराण, १३. स्कन्दपुराण, १४. वामनपुराण, १५. कूर्मपुराण, १६. मत्स्यपुराण, १७. गरुडपुराण और १८. ब्रह्माण्डपुराण। पुराणोंमें वेदोंके सभी पूर्वोक्त विषय विस्तारसे प्रतिपादित हैं।

दर्शन

'दृश्यते यथार्थतया वस्तु पदार्थज्ञानमिति दर्शनम्' के अनुसार 'तत्त्व-ज्ञानसाधक' शास्त्रोंका नाम दर्शन-शास्त्र है।

सृष्टि तथा जीवके जन्म-मरणके कारण तथा गतिपर जो शास्त्र विचार करे, उसे दर्शन कहते हैं। मुख्य दर्शन छः हैं—१. वैशेषिक, २. सांख्य, ३. योग, ४. न्याय, ५. पूर्वमीमांसा और ६. उत्तरमीमांसा।

इनमेंसे प्रत्येकके कई भेद आचार्योंके मतोंके कारण हो गये हैं। इनमेंसे सांख्यदर्शनके मूल सूत्र-ग्रन्थपर संदेह किया जाता है। उसकी 'कारिका' ही मुख्य है। उत्तर-मीमांसादर्शन (ब्रह्मसूत्र) के भाष्यके रूपमें ही वैदिक सम्प्रदाय बने हैं। इस प्रकार इनमेंसे प्रत्येक दर्शनपर भाष्य, टीका एवं विवेचनके तो सहस्रों ग्रन्थ हैं ही, स्वतन्त्र ग्रन्थ भी कई सहस्र हैं।

स्मृति

हिंदूधर्म तथा हिंदूसमाजका मुख्य संचालन स्मृतियोंके द्वारा ही होता है। स्मृतियोंमें अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंका विवेचन है। इनमें वर्ण-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, वर्णाश्रम-धर्म, विशेष अवसरोंके कर्म, प्रायश्चित्त, शासन-विधान, दण्ड-व्यवस्था तथा मोक्षके साधनोंका वर्णन है।

इस समय प्रायः सौसे अधिक स्मृतियाँ उपलब्ध हैं। उनमेंसे यहाँ थोड़े-से ही, मुख्य-मुख्य स्मृतियोंके नाम दिये जा रहे हैं—मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, हारीत, औशनस, आङ्गिरस, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप, वशिष्ठ, प्रजापति आदि।

इनमें भी मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति अधिक विख्यात हैं। कलियुगके लिये पराशर-स्मृति मुख्य मानी गयी है।

निबन्ध-ग्रन्थ

ये भी एक प्रकारके स्मृति-ग्रन्थ ही हैं। यद्यपि इनकी रचना मध्यकालमें हुई, फिर भी ये स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं। स्मृतियों, पुराणोंमें जो धर्माचरणके निर्देश हैं, उनका ही इनमें बड़े विस्तारसे संकलन हुआ है। उनमें जो परस्पर वैभिन्न्य दीख पड़ता है या जो बातें स्पष्ट नहीं हैं, उनका स्पष्टीकरण तथा एकवाक्यता निबन्धकारोंने की है। विस्तार-पूर्वक प्रमाण देकर प्रत्येक विषयका इनमें विवेचन है। इसलिये धर्मशास्त्रके विद्वान् इन्हें स्मृतियोंके समान प्रमाण मानते हैं। मुख्य निबन्ध-ग्रन्थोंके नाम यहाँ दिये जा रहे हैं।

जीमूतवाहनके तीन ग्रन्थ हैं—दायभाग, कालविवेक, व्यवहारमातृका। शूलपाणिका 'स्मृतिविवेक' सम्पूर्ण नहीं मिलता। उसके चार खण्ड मिलते हैं। रघुनन्दनका स्मृति-तत्त्व विशाल अट्ठाईस भागका ग्रन्थ है। अनिरुद्धके तीन ग्रन्थ हैं—हारलता, आशौचविवरण, पितृदयिता। बल्लालसेनके चार ग्रन्थ हैं—आचारसागर, प्रतिष्ठासागर, अद्भुतसागर और दानसागर। ये ग्रन्थ बंगालके निबन्धकारोंके हैं।

श्रीदत्त उपाध्यायके तीन ग्रन्थ हैं—आचारादर्श, समय-प्रदीप, श्राद्धकला। चण्डेश्वरका विशाल ग्रन्थ है स्मृति-रत्नाकर, वाचस्पति मिश्रके विवाद-चिन्तामणि; अतिरिक्त ग्यारह ग्रन्थ हैं—आचारचिन्तामणि, आह्निकचिन्तामणि, कृत्यचिन्तामणि, तीर्थचिन्तामणि, व्यवहारचिन्तामणि, शुद्धिचिन्तामणि, श्राद्धचिन्तामणि, तिथिनिर्णय, द्वैतनिर्णय, शुद्धिनिर्णय और महादान—ये ग्रन्थ मैथिल निबन्धकारोंके हैं।

देवण्णभट्टकी स्मृतिचन्द्रिका विस्तृत ग्रन्थ है। हेमाद्रिका चतुर्वर्गचिन्तामणि धर्मशास्त्रका विश्वकोष ही है। माधवाचार्यके सात ग्रन्थ हैं—कालमाधव, पराशरमाधव, दत्तकमीमांसा, गोत्र-प्रवर-निर्णय, मुहूर्तमाधव, स्मृतिसंग्रह एवं व्रात्यस्तोमपद्धति।

नारायणभट्टके तीन ग्रन्थ हैं—त्रिस्थलीसेतु, अन्त्येष्टि-पद्धति और प्रयोगरत्नाकर। नन्द पण्डितके ग्रन्थ हैं—श्राद्धकल्पलता, शुद्धिचन्द्रिका, तत्त्वमुक्तावली और दत्तक-मीमांसा। कमलाकरभट्टके बाईस ग्रन्थोंमें निर्णयसिन्धु, शूद्र-कमलाकर, दानकमलाकर, पूर्तकमलाकर, वेदरत्न, विवाद-ताण्डव तथा प्रायश्चित्तरत्न मुख्य हैं। नीलकण्ठ भट्टका भगवन्तभास्कर तथा मित्रमिश्रका वीरमित्रोदय—ये बहुत बड़े ग्रन्थ हैं। लक्ष्मीधरका कृत्यकल्पतरु भी कई भागोंमें है। जगन्नाथ तर्कपञ्चाननका विवादार्णव कानूनकी दृष्टिसे महत्त्व-पूर्ण है। ये काशीके निबन्धकारोंके ग्रन्थ हैं।

इनके अतिरिक्त काशीनाथ उपाध्याय आदिके धर्म-सिन्धु, निर्णयामृत, पुरुषार्थचिन्तामणि आदि भी बहुत-से निबन्ध हैं।

भाष्य, टीकाएँ तथा साम्प्रदायिक ग्रन्थ

वैदिक ग्रन्थोंसे लेकर निबन्ध-ग्रन्थोंतकपर टीकाएं हुई हैं। उनमें भाष्य हैं, टीकाएँ हैं, कारिकाग्रन्थ हैं, संक्षिप्त सारसंग्रह हैं। इन भाष्य-टीकाओंपर भी टीकाएँ हैं। इन भाष्य और टीकाओंका स्वतन्त्ररूपमें बहुत महत्त्व है। इनके कारण स्वतन्त्र सम्प्रदाय चले हैं।

श्रीशंकराचार्यका अद्वैतवाद, श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टा-द्वैतवाद, श्रीनिम्बार्काचार्यका द्वैताद्वैतवाद, श्रीवल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैतवाद तथा श्रीमध्वाचार्यका द्वैतवाद सम्प्रदाय और गौडीयसम्प्रदायका अचिन्त्यभेदाभेदवाद—सब भाष्योंपर ही अवलम्बित हैं। इनके अतिरिक्त भी शैव, शाक्त आदि सम्प्रदाय भी भाष्योंपर ही प्रतिष्ठित हैं। इन भाष्योंपर प्रतिष्ठित मतोंके आधारपर संस्कृत तथा हिंदीमें प्रत्येक सम्प्रदायमें सैकड़ों ग्रन्थ लिखे गये हैं। इसी प्रकार न्याय, पूर्वमीमांसा आदि दर्शनोंके भी भाष्य हैं और उनके आधारपर उनके सम्प्रदाय हैं। उन सम्प्रदायोंमें भी सैकड़ों-

सहस्रों ग्रन्थ हैं। हिंदू-धर्म बहुत विशाल धर्म है। उसकी शाखाएँ ही सैकड़ों हैं। जैनधर्म, बौद्धधर्म, सिक्खधर्म आदि हिंदूधर्मकी ही शाखाएँ हैं। इसी प्रकार कबीरपंथ, राधा-स्वामीमत, दादूपंथ, रामस्नेही, प्रणामी, चरणदासी आदि बहुत-से सम्प्रदाय हिंदू-धर्मके भीतर हैं। जैनधर्मके ग्रन्थोंकी संख्या सहस्रोंमें है। बौद्ध धर्मके ग्रन्थ भी बड़ी संख्यामें हैं। सिक्ख, कबीरपंथी, दादूपंथी राधास्वामी, रामसनेही, प्रणामी आदि मतोंमें उनके गुरुओंके ग्रन्थ ही परम प्रमाण ग्रन्थ माने जाते हैं। उन सबकी संख्या भी बहुत बड़ी है।

आगम या तन्त्रग्रन्थ

वेदोंसे लेकर निबन्धग्रन्थों तककी परम्पराको 'निगम' कहा जाता है। इसीके समान जो दूसरी अनादि परम्परा है, उसे 'आगम' कहा जाता है।

आगमके दो भाग हैं—दक्षिणागम (समयमत) और वामागम (कौलमत)। सनातन धर्ममें निगम तथा आगम (दक्षिणागम) दोनोंको प्रमाण माना जाता है। श्रुतियोंमें ही दक्षिणागमका मूल है और पुराणोंमें उसका विस्तार हुआ है। इस आगम-शास्त्रका विषय है—उपासना।

वैष्णवागम

देवताका स्वरूप, गुण, कर्म, उनके मन्त्रोंका उद्धार, मन्त्र, ध्यान, पूजाविधिका विवेचन आगम ग्रन्थोंमें होता है। वैष्णवागम स्मृतिके समान प्रमाण माना जाता है। वैष्णवागममें पाञ्चरात्र तथा वैखानस-आगम ये दो प्रकारके ग्रन्थ मिलते हैं।

पाञ्चरात्र संहिताओंमेंसे केवल तेरह संहिताएँ मिलती हैं—१–अहिर्बुध्न्यसंहिता, २–ईश्वरसंहिता, ३–कपिञ्जल-संहिता, ४–जयाख्यसंहिता, ५–पराशरसंहिता, ६–पाद्मतन्त्र, ७–बृहद्ब्रह्मसंहिता, ८–भारद्वाजसंहिता, ९–लक्ष्मीतन्त्र, १०–विष्णुतिलक, ११–श्रीप्रश्नसंहिता, १२–विष्णुसंहिता, १३–सात्वतसंहिता।

शैवागम

भगवान् शंकरके मुखसे अट्ठाईस तन्त्र प्रकट हुए, ऐसा कहा जाता है। उपतन्त्रोंको मिलाकर इनकी संख्या २०८ होती हैं। इनमें भी ६४ मुख्य माने गये हैं। किंतु ये सब उपलब्ध नहीं हैं। शिवाचार्यके प्रामाणिक ग्रन्थ ये हैं—पाशुपतसूत्र, नरेश्वरपरीक्षा, तत्त्वसंग्रह, तत्त्वत्रय, भोग-कारिका, मोक्षकारिका, परमोक्षनिराशकारिका, श्रुतिसूक्ति-माला, चतुर्वेद-तात्पर्यसंग्रह, तत्त्वप्रकाशिका, सूतसंहिता, नादकारिका और रत्नत्रय।

वीरशैव-मतका प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्धान्तशिखामणि है। प्रत्यभिज्ञामार्गमें ९२ आगम प्रमाण माने जाते हैं। उनमेंसे मुख्य तीन हैं—सिद्धान्ततन्त्र, नामकतन्त्र एवं मालिनीतन्त्र। इन तीनोंको त्रिक कहते हैं। ये शिवसूत्रपर आधारित हैं। इनके अतिरिक्त स्पन्दसर्वस्व, शिवदृष्टि, परात्रिंशिका, त्रिवृत्ति, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, सिद्धित्रयी, शिवस्तोत्रावली, तन्त्रा-लोक आदि इस मतके प्रधान ग्रन्थ हैं।

शाक्तागम

इसमें सात्त्विक ग्रन्थोंको तन्त्र या आगम, राजसको यामल तथा तामसको डामर कहा जाता है। सृष्टिके प्रारम्भसे ही राजस, तामस स्वभावके प्राणी रहे हैं। दैत्य, दानव, असुर अथवा उनके समान स्वभावके मनुष्योंको भी साधन तो मिलना ही चाहिये। अतः उनके लिये इन राजस-तामस ग्रन्थोंका निर्माण हुआ। असुरोंकी परम्पराका मुख्य शास्त्र वामागम है।

शाक्तागममें भी ६४ ग्रन्थ मुख्य माने जाते हैं। ये सब प्राप्त नहीं होते। कौलोपनिषद्, अरुणोपनिषद्, अद्वैतभावोप-निषद्, कालिकोपनिषद्, भावनोपनिषद्, बह्वृचोपनिषद्, त्रिपुरोपनिषद् तथा तारोपनिषद् तन्त्रमतके प्रतिपादक माने जाते हैं। इनकी भी भाष्य-टीकाएँ हैं।

मिश्रमार्गके आठ ग्रन्थ हैं—चन्द्रक, ज्योत्स्नावती, कलानिधि, कुलार्णव, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, बार्हस्पत्य तथा दुर्वासस। समयाचारमें 'शुभागमपञ्चक' नामसे वाशिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन एवं सनत्कुमार संहिताएँ प्रमाण मानी जाती हैं।

वैसे तो शाक्ततन्त्रोंकी संख्या सहस्रसे भी अधिक है, किंतु उपलब्ध ग्रन्थोंमें मुख्य ये हैं—कुलार्णव, कुलचूडामणि, तन्त्रराज, शक्तिसंगमतन्त्र, कालीविलास, ज्ञानार्णव, नामकेश्वर, महानिर्वाण, रुद्रयामल, त्रिपुरारहस्य एवं दक्षिणामूर्तिसंहिता, प्रपञ्चसार। शारदातिलकमें तान्त्रिक रहस्योंका अच्छा संग्रह

है। मन्त्रमहार्णव ग्रन्थ तो तन्त्रका विश्वकोष ही है।

श्रीविद्याकी दो संतानपरम्परामें लोपामुद्रा-संतानपरम्परा लुप्त हो गयी।

इन आगमग्रन्थोंमें भी बहुतोंपर भाष्य, टीका, कारिका तथा सार-संक्षिप्त ग्रन्थ हैं। तन्त्रग्रन्थोंमें सूक्ष्म विद्याओंका बड़ा भारी भंडार है। कहा जाता है कि इन उपलब्ध ग्रन्थोंके अतिरिक्त कई सौ तन्त्रग्रन्थ नेपालमें सुरक्षित हैं। देशमें भी इन ग्रन्थोंकी संख्या बहुत अधिक ऐसी है, जो अज्ञात है।

सनातन हिंदू-धर्मके अपार विस्तारवाले वाङ्मयका यह अत्यन्त संक्षिप्त परिचय मात्र है।

सृष्टिका प्रथम धर्मोपदेश—तप

सृष्टि हुई नहीं थी। अनन्त अपार कारणाब्धि—कारण द्रव्य और उसमें सृष्टिके मूल अधिदेवताका उद्भव-मात्र। इसीको पौराणिक भाषामें कहते हैं कि कारणार्णव-शायी श्रीनारायणकी नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ और उस कमलपर सृष्टिकर्ता, चतुर्मुख, अरुणवर्ण ब्रह्माजी प्रकट हुए। सर्जनोन्मुख प्रकृतिकी साम्यावस्था भङ्ग हुई थी। सत्त्वके अधिदेवताकी योगनिद्रा टूटी और उन्होंने ही रजोगुणको स्वीकार करके ब्रह्माका रूप लिया। भगवान् नारायणकी ही दूसरी मूर्ति हैं—ब्रह्माजी।

रजोगुण क्रियोन्मुख है। रजस्के अधिदेवताको कुछ करना चाहिये। किंतु करें क्या? कैसे करें? असीम कारणवारि तथा आसनभूत ज्योतिर्मय लोकपद्म—न कोई उपकरण और न क्रियाका बोध। सृष्टि करना है; किंतु कैसी सृष्टि? किन उपकरणोंसे? किस प्रकार? कुछ ज्ञान नहीं था।

> स आदिदेवो जगतां परो गुरुः
> स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत।
> तां नाध्यगच्छद् दृशमत्र सम्मतां
> प्रपञ्चनिर्माणविधिर्यया भवेत्॥
> (श्रीमद्भागवत २।९।५)

'जगत्के परमगुरु आदिदेव ब्रह्मा अपने जन्मस्थान कमलपर बैठे सृष्टि करनेकी इच्छासे विचार करने लगे; किंतु सृष्टिके निर्माणके लिये वाञ्छित ज्ञानदृष्टि उन्हें प्राप्त नहीं हुई।'

> स चिन्तयन् द्व्यक्षरमेकदाम्भ-
> स्युपाशृणोद् द्विर्गदितं वचो विभुः।
> स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं
> निष्किञ्चनानां नृप यद् धनं विदुः॥
> (२।९।६)

'प्रलयसमुद्रमें एकाकी बैठे सृष्टिकी चिन्ता करते हुए अव्यक्त परमात्माके द्वारा उच्चरित वाणीका वह उपदेश दो बार सुना। व्यञ्जनोंमें सोलहवें 'त' तथा इक्कीसवें 'प' से बना वह उपदेश 'तप' वही है, जो निष्किञ्चन त्यागियोंका परम धन कहा गया है।'

ज्ञान अन्तरमें है; क्योंकि ज्ञानस्वरूप परमात्मा तो अपने भीतर ही है। अन्तःकरणकी शुद्धता एवं एकाग्रता अपेक्षित है उस ज्ञानस्वरूपका साक्षात्कार करनेके लिये और वह सृष्टि-कर्ताको भी अपेक्षित थी। उसकी प्राप्तिका साधन है—तप।

सृष्टिमें धर्मोपदेशके नामपर जो प्रथमोपदेश है, वह है—तप। सम्भवतः इसीलिये देवर्षि नारदने पार्वतीजीसे कहा था—

> तप अधार सब सृष्टि भवानी।
> करहु जाइ तप अस जियँ जानी॥

—सु०

सृष्टिकर्ताका अपनी प्रजाको धर्मोपदेश

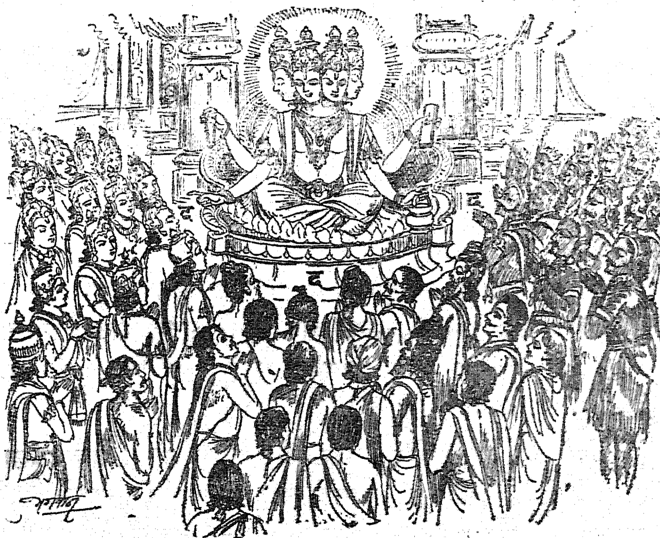
'भगवन् ! हम आपके अनुगत हैं । हमें आप हमारे धर्मका उपदेश करें !' देवताओंका समुदाय इन्द्रको आगे करके उस दिन ब्रह्मलोक पहुँचा था और उन्होंने प्रणिपातके अनन्तर लोकपितामहसे प्रार्थना की ।

पितामह प्रसन्न हुए । उनकी संतानमें कर्तव्यके प्रति, धर्मके प्रति जिज्ञासाका उदय तो हुआ । परंतु बहुत व्यस्त रहते हैं सृष्टिकर्ता । प्राणियोंके कर्मानुसार जीवन एवं उस जीवनके उपयुक्त भोग तथा परिस्थितिके निर्माणका कार्य छोटा तो नहीं है । अतः उन्होंने देवताओंकी ओर देखा और बोले—'द' ।

देवताओंने संतुष्ट होकर पितामहके चरणोंमें प्रणिपात किया और लौटने लगे तो ब्रह्माजीने पूछा—'तुमलोगोंने उपदेशको अवगत किया ?'

'किया भगवन् !' देवताओंने कहा । 'हम सब स्वर्गके रहनेवाले, अत्यन्त भोग-लोलुप, विलासी हैं । इसलिये आपने हमें दम—इन्द्रियदमनका आदेश दिया है ।'

'भद्रमस्तु !' सृष्टिकर्ता संतुष्ट हुए—'तुमने यथार्थ अवगत किया ।'



× × ×

'देवता स्वर्गसे ब्रह्मलोक गये थे । वे पितामहसे उपदेश ग्रहण करके आये हैं ।' असुरोंको समाचार प्राप्त हुआ । देवताओंसे उनकी सदाकी स्पर्धा—वे पीछे क्यों रहें । दैत्यराज विरोचनके नेतृत्वमें वे भी ब्रह्मलोक पहुँचे ।

'पद्मयोनि प्रभो ! हम सब आपकी संतान हैं ।' असुरोंने प्रार्थना की । 'कृपा करके हमें धर्मोपदेश करें ।'

ब्रह्माजीको विशेष प्रसन्नता हुई असुरोंमें धर्म-जिज्ञासा देखकर । भेद-भाव सृष्टिकर्तामें सम्भव नहीं और अनवकाश संक्षिप्त उपदेशको बाध्य कर ही रहा था । ब्रह्माजीने इस बार भी कहा—'द' ।

असुर भी संतुष्ट हो गये और प्रणाम करके लौटने लगे तो लोकस्रष्टाने पूछा—'वत्सगण ! तुमने उपदेशका मर्म पाया ?'

'पा लिया, प्रभु !' विरोचनने कहा । 'हम सब क्रूर-प्रकृति हैं, निर्दय हैं, असहिष्णु हैं । अतः आपने हमें दयाका—जीवोंपर सदय रहनेका उपदेश किया ।'

'तुम सबने ठीक मर्म पाया ।' ब्रह्माजी प्रसन्न हुए ।

× × ×

'भगवन् ! आपने हमें कर्मलोक प्रदान किया है ।' ऋषियोंको आगे करके मनुष्य भी ब्रह्मलोक पहुँचे और साष्टाङ्ग प्रणिपात करके उन्होंने प्रार्थना की—'हमारे लिये आप ही धर्मके मार्गद्रष्टा बनें ।'

'द !' ब्रह्माजीने मनुष्योंको भी वही उपदेश सुना दिया और जब वे संतुष्ट होकर अभिवादन करके लौटने लगे तब पूछा—'तुम सबने उपदेशको समझ लिया ?'

'समझ लिया, भगवन् !' मनुष्योंने बद्धाञ्जलि निवेदन किया—'हम सब स्वभावसे लोलुप, संग्रहकी प्रवृत्ति रखनेवाले हैं । अतः आपने हमें दान करनेका आदेश किया है ।'

'कल्याणमस्तु !' संतुष्ट पितामह बोले—'तुमने ठीक समझा ।'

धर्मका उपदेश अधिकारीके अनुसार ही तो सार्थक होता है ।

[उपनिषद्की कथा] सु०

आदर्श धर्मपालन

(१)

धर्ममूर्ति महाराज दिवोदास

भगवान् शंकर काशीसे कैलास गये और वहाँ आसन लगाकर समाधिमें स्थित हुए तो काल बीतता चला गया। समाधि भङ्ग तब हुई, जब काशीमें राजसिंहासनपर महाराज दिवोदास थे। आयुर्वेदके परमाचार्य और धर्मकी मानो साकार मूर्ति दिवोदास। उनके शासनमें सम्पूर्ण प्रजा संयम तथा धर्मका दृढ़तासे पालन करती थी। कायिक व्याधि सुचिकित्साके सम्यक् प्रबन्धसे राज्यसे निर्वासित हो गयी और धर्ममें स्थित लोगोंके मनको मानसिक व्याधि स्पर्श करती नहीं। सम्पूर्ण प्रजा सुखी, संतुष्ट, प्रसन्न थी। लोग भूल ही गये कि उनको आशुतोष विश्वनाथ अथवा अन्नपूर्णाकी भी कोई आवश्यकता है।

भगवान् शंकरको काशी बहुत प्रिय है। वे काशीमें निवास करनेको उत्सुक थे। काशी आकर वे रहते तो कोई बाधा नहीं थी; किंतु अपनी पुरीमें ही कोई अपनी बात पूछनेवाला न हो तो वहाँ जाकर रहना क्या सुखद होगा? शंकरजीको लगा कि दिवोदास हटें तो पुरी अपने रहने योग्य हो। किंतु दिवोदास हटें कैसे? धर्मनिष्ठाके कारण उनका स्पर्श न रोग कर सकते थे, न मृत्यु उन्हें या उनकी प्रजाको मारनेमें समर्थ थी।

शंकरजीने सूर्यको भेजा—'काशी जाकर कुछ करो दिवोदासको हटानेके लिये।'

सूर्यदेव ब्राह्मण बनकर काशी आये। दिवोदासमें कहीं कभी धर्मके प्रति प्रमाद दीखे तो कोई कुछ कर सके। उस महान् पुण्यात्माके आचरणमें कहीं कोई त्रुटि, कोई छिद्र निखिल-लोकद्रष्टा सूर्यको दिखायी नहीं पड़ा। इतनी सुरम्य, इतनी सात्त्विक, इतनी प्रशान्त पुरी है वाराणसी! सूर्य तो मुग्ध हो गये। उन्होंने राजासे निवासस्थान माँगा और बस गये वहीं। लोलार्क-क्षेत्र उनका अब भी निवास है।

भगवान् शिवने चन्द्रमाको भेजा, भैरवको भेजा, गणेशको भेजा और अम्बिकाको भेजा। एकके बाद एकको भेजते गये। जो काशी गया, समाचार देने लौटकर आया ही नहीं। उस धर्मपुरीने अपने आकर्षणमें उसको बाँध लिया। दूसरेकी बात जाने दीजिये, जब स्वयं अर्धाङ्गनिवासिनी अन्नपूर्णा नहीं लौटीं, तब भोलेबाबा व्याकुल हुए। उन्होंने भगवान् नारायणका स्मरण किया।

शंकरजीकी प्रेरणासे विष्णुभगवान् ब्राह्मण बनकर काशी आये। वे सीधे राजसभामें पहुँचे। राजाकी अर्चा-पूजा स्वीकार करनेके अनन्तर बोले—'राजन्! मैं न भिक्षाजीवी हूँ और न दानजीवी। आप अपनी पुरीमें कथा-वार्ता करनेकी अनुमति दें तो कुछ दिन देहनिर्वाह करते रहना चाहता हूँ।'

'महती कृपा आपकी!' राजा दिवोदासने प्रार्थना की—'आप राजसभामें ही कथा करें तो मेरे कान भी पवित्र हों!'

उन कथावाचकजीको तो यही अभीष्ट था। राजसभा कथामण्डप बन गयी। काशीमें कहाँ उस समय अपराध होते थे कि किसीको अभियोग सुनना-सुनाना था। कथावाचक स्वयं श्रीहरि हों तो कथाके माधुर्यका क्या कहना। एक ही विषय कथाका—वैकुण्ठके वैभव तथा उत्कृष्टताका वर्णन। प्रतिदिन वैकुण्ठकी बात सुनते-सुनते राजाके मनमें किंचित् स्पृहा जागी। पूछा एक दिन—'वैकुण्ठ मिलता कैसे है?'

'दूसरोंको कैसे भी मिलता हो, आप इच्छा करें तो पूरी प्रजाके साथ अभी पहुँच सकते हैं।' कथावाचकजी बोले। 'राजन्! यह मर्त्य धरा है। यहाँ दीर्घकाल अमर बने रहना भी सृष्टिकी मर्यादाका भङ्ग करके अधर्म करना ही है। आप वैकुण्ठ चलें!'



शास्त्रपर निष्ठा जाग्रत् करनेके लिये बौद्धधर्मका खुले शास्त्रार्थमें खण्डन करके सनातन धर्मकी महत्ताकी स्थापना आवश्यक थी। यह तभी हो सकता था, जब बौद्धधर्मका अध्ययन भली प्रकार किया जाय। उन दिनों प्रेस थे नहीं कि ग्रन्थ आजके समान सुलभ हों। बड़े विद्वानोंके पास ही तालपत्रादि-पर लिखे ग्रन्थ थे और बौद्ध-विद्वान् सनातनधर्मानुयायी बालकको पढ़ाते न थे। अतः युवक कुमारिलने बौद्धवेश बनाया, यद्यपि बौद्धधर्मकी दीक्षा उन्होंने ली नहीं थी। अपनेको बौद्धधर्मका अनुयायी प्रकट कर वे एक बौद्ध-विहारमें शिक्षा-ग्रहण करने लगे।

एक दिन बौद्धछात्र परस्पर सनातनधर्म तथा वेद-शास्त्रका परिहास कर रहे थे। कुमारिलसे वह सहा नहीं गया। उन्होंने उन छात्रोंका खण्डन किया। बात बढ़ गयी। छात्रोंने कहा— 'यदि वे शास्त्र तथा धर्म सच्चे हैं तो उनकी शक्ति दिखलाओ।'

राजाके स्वीकार करते ही भगवान् अपने रूपमें प्रकट हो गये। प्रजाके साथ दिवोदास वैकुण्ठ चले गये, तब भगवान् शंकर काशी आये। —सु०

(२)

शास्त्र-श्रद्धाके आदर्श श्रीकुमारिल भट्ट

'मुझे प्रायश्चित्त करना ही चाहिये! मैंने गुरुद्रोह किया है।' जब आचार्य कुमारिल भट्टने यह निश्चय किया, तब उनके सभी अनुगत चकित रह गये। पूर्वमीमांसा-कर्मशास्त्रके अपने समयके उस सर्वश्रेष्ठ भाष्यकारको समझानेकी धृष्टता कौन कर सकता था।

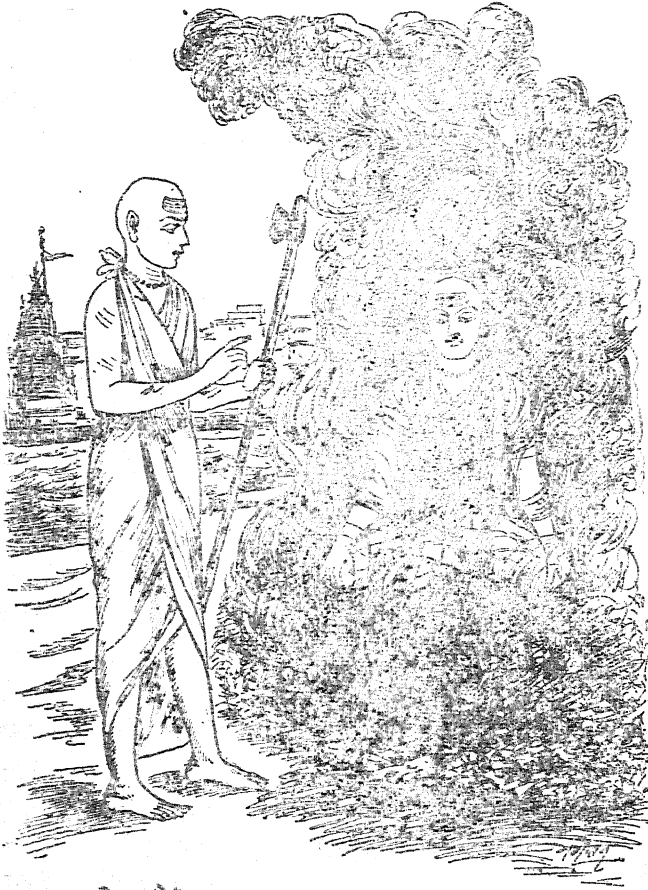
सनातनधर्म बौद्धधर्मके द्वारा तिरस्कृत हो चुका था देशमें और बौद्धधर्म भी वज्रयानी साधना तथा अनेक आडम्बरोंका आश्रयमात्र रह गया था। शास्त्रोंका—धर्मका उद्धार करनेके लिये, लोकमें

उस समय कुमारिल बौद्ध-विहारकी ऊँची परिखाके ऊपर बैठे थे। वे यह कहकर बाहरकी ओर नीचे कूद पड़े—'यदि धर्म तथा वेद सत्य हैं तो मेरी रक्षा कर लेंगे।'

चोट लगी, एक नेत्र चला गया; किंतु प्राण सुरक्षित रहे। कुमारिलने कहा—"मैंने 'यदि' धर्म तथा वेद सच्चे हैं, यह कहकर जो इनकी सत्यतामें शङ्का प्रकट की, उसका दण्ड है मेरे एक नेत्रकी हानि।"

विद्याध्ययन पूरा हो चुका था। कुमारिल बौद्ध नहीं हैं-यह प्रकट हो गया; किंतु उन प्रकाण्ड प्रतिभाशालीके साथ शास्त्रार्थमें कोई बौद्ध-विद्वान् टिका नहीं।

यह सब हुआ; किंतु कुमारिलका हृदय एक असह्य पीड़ासे व्याकुल रहने लगा। 'धर्मकी रक्षाके लिये सही, किंतु है तो यह गुरु-द्रोह ही। जिससे विद्या प्राप्त की, उसीका खण्डन किया।'



मण्डनमिश्र-जैसे उद्भट विद्वान् शिष्योंको जब आचार्य कुमारिल अपना सम्पूर्ण ज्ञान दे चुके, तब उन्होंने प्रायश्चित्तका निश्चय किया। प्राणान्त प्रायश्चित्त और वह भी तुषाग्नि (भूसीकी आग) में सुलग-सुलगकर तिल-तिल जलते हुए कई दिनोंमें मरना। श्रीशंकराचार्य जब शास्त्रार्थ करने पहुँचे, तब आचार्य कुमारिल प्रयागराजमें त्रिवेणी-तटपर भूसीके ढेरमें अग्नि लगाकर उसमें बैठ चुके थे। धन्य यह शास्त्र-श्रद्धा! धन्य यह धर्मनिष्ठा! —सु०

(३)

व्रतनिष्ठाके आदर्श राजा रुक्माङ्गद

'भगवन्! अयोध्याका आज अधिकांश पृथ्वीपर शासन है और उस राज्यमें मेरे दूतोंका प्रवेश वर्जित हो गया है।' यमराजने उस दिन सृष्टिकर्तासे प्रार्थना की। 'कर्मलोक पृथ्वीके अधिकांश प्राणी अमर बने रहेंगे तो मेरे कर्म-निर्णायक होनेका अर्थ क्या है? नरक और स्वर्ग दोनों रिक्त होते जा रहे हैं। जो प्राणी पृथ्वीपर जाता है, लौटकर आता ही नहीं। मेरे यहाँ तो अब कोई कार्य ही नहीं है।

तमोगुण या पाप ही प्रलयका हेतु नहीं होता। सृष्टिमें तो तीनों गुणोंमें समन्वय अपेक्षित है और इस समय वह समन्वय नष्ट हो गया था। अयोध्याके सिंहासनपर राजा रुक्माङ्गद थे। वे एकादशीव्रत बड़ी निष्ठापूर्वक करते थे।

इन्द्रियोंको वशमें करके एकादशीके दिन-रात केवल भगवान्‌का पूजन, कीर्तन, नामजप तथा कथा-श्रवण करना, काम-क्रोध-लोभादिका त्याग कर देना, असत्य, कटुवाणी एवं परनिन्दा न करना, धर्म तथा ईश्वरके द्वेषीसे बात न करना—ये जो एकादशीव्रतके नियम हैं, इनका बड़ी दृढ़तासे राजा रुक्माङ्गद स्वयं पालन करते थे। राजाज्ञाके कारण सम्पूर्ण प्रजा इस व्रत एवं नियमका पालन करती थी। परिणाम यह था कि यमदूत उस राज्यमें प्रवेश करनेमें ही समर्थ नहीं रह गये थे।

'कुछ तो करना ही होगा।' सृष्टिकर्ताने क्षणभर सोचा और एक परम सुन्दर नारीका निर्माण किया। वह रमणी स्रष्टाकी प्रेरणासे अयोध्या आयी। राजा उसके रूप-सौन्दर्यपर मोहित हो गये। जब राजाने उससे विवाह करना चाहा, तब बोली—'यदि आप मेरा अनुरोध कभी अस्वीकार न करनेकी प्रतिज्ञा करें तो मैं आपका वरण करूँगी।'

'नारि विष्णु माया प्रगट!' अतः राजाने बिना सोचे-विचारे उसकी बात मान ली और उससे विवाह कर लिया। किंतु जब एकादशी तिथि आयी, उस रानीने कहा—'आप आज व्रत मत कीजिये!'

राजा तो सुनते ही जैसे सूख गये। बोले—'देवि! तुम यह आग्रह मत करो। इसके बदले मेरे प्राण भी माँगो तो मैं दे सकता हूँ। तुम और कुछ माँगो, किंतु यह व्रत त्यागनेको मत कहो।'

'तब आप अपने इकलौते पुत्र कुमार धर्माङ्गदका मस्तक अपने हाथसे काटकर मुझे दीजिये !' क्रोधसे झुँझलाकर पैर पटकती उस मोहिनीने कहा।

'पिताजी ! शरीर तो अमर है नहीं। इसे जब एक दिन नष्ट होना ही है, माताको संतुष्ट करनेमें यह सार्थक हो। आप अपने सत्यकी रक्षा करें !'

राजकुमार वहीं थे। उन्होंने बड़ी नम्रतापूर्वक प्रार्थना की। 'पिताके व्रत तथा सत्यकी रक्षामें मेरा शरीर लगे, ऐसा सौभाग्य फिर कहाँ मुझे मिलेगा।'

'आपका पुत्र ठीक कहता है !' परम सती राजकुमारकी माता संध्यावलीने भी समर्थन किया। 'आप अपने सत्यकी रक्षा करें !'



धन्य भारतकी नारी ! पतिके सत्यकी रक्षाके लिये पुत्रके बलिदानका समर्थन करनेकी महान् शक्ति तुममें ही है। राजाने तलवार उठायी; किंतु यदि रुक्माङ्गद-जैसे व्रतनिष्ठको पुत्रवध करना पड़े, धर्माङ्गद-से पितृ-भक्तको अकाल मृत्यु प्राप्त हो, धरा यों ही बनी रहेगी ? धर्म, जो धराका धारक है, ध्वंसका कारण नहीं बनेगा ? धर्मराज एवं ब्रह्मा ही नहीं, स्वयं भगवान् नारायण, जो धर्मके परम प्रभु हैं, तत्काल प्रकट हो गये। रुक्माङ्गदको सशरीर, सपरिवार विमानमें अपने साथ वैकुण्ठ ले गये वे त्रिभुवनके स्वामी। —सु०

(४)

धर्मज्ञ तोता

एक विशाल वटवृक्ष था। उसके ऊपर बहुत-से पक्षी रात्रि-विश्राम करते थे। बहुतोंने उसपर घोंसले बनाये थे और बहुत-से उसके कोटरोंमें रहते थे। एक बार एक व्याधका विषबुझा बाण लक्ष्य-भ्रष्ट होकर उस वट-वृक्षमें लग गया। विष तीव्र था, उसके प्रभावसे वृक्षके पत्ते मुरझाने लगे। धीरे-धीरे वृक्ष सूख गया।

वृक्षके आश्रयमें रहनेवाले दूसरे पक्षी वृक्षके सूखनेपर अन्यत्र चले गये, किंतु उसके कोटरमें रहनेवाला एक तोता कहीं गया नहीं। उलटे उसने कोटरसे निकलना छोड़ दिया। जल तथा चुग्गा छोड़नेके कारण वह सूखकर दुबला हो गया। उसके सुन्दर पर झड़ने लगे। वह वृक्षके साथ प्राण देनेका निश्चय कर चुका था।

तोतेके त्याग, तप तथा धैर्यके कारण देवराज इन्द्रको उसपर दया आयी। वे वहाँ आये और बोले—'पक्षी ! इस वृक्षपर रहनेवाले दूसरे सब पक्षी चले गये। तुम्हारे रहने योग्य हरे-भरे सघन वृक्ष वनमें बहुत हैं। उनमें तुम्हारे निवास योग्य कोटर भी हैं। यह वृक्ष सूख चुका है। अब यह हरा नहीं होगा। अब तो किसी दिन इसे गिर जाना है। अतः तुम इसे छोड़कर किसी हरे वृक्षपर क्यों नहीं चले जाते ?'

तोता बोला—'देवराज ! मैं इसी वृक्षके कोटरमें उत्पन्न हुआ। इसीपर बढ़ा, इससे मैंने सर्दी, गरमी,

वर्षा और शत्रुओंसे रक्षा पायी। इसके फल खाकर मैं पुष्ट हुआ। अब जब यह बुरी दशामें है, इसे छोड़कर मैं अपने सुखके लिये कहाँ जाऊँ? मैंने इससे सुख भोगे, अब विपत्तिमें इसका त्याग नहीं करूँगा।'

इन्द्र प्रसन्न हुए। उन्होंने तोतेसे वरदान माँगनेको कहा। तोतेने कहा—'आप प्रसन्न हैं तो इस वृक्षको हरा-भरा कर दें।'

अमृत-वर्षा करके इन्द्रने वृक्षको हरा कर दिया।

—सु०

महाभारतमें धर्म

(लेखक—डा० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्याचार्य)

महाभारतकी प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृतिके प्रतिपादक ग्रन्थोंमें अनुपम है। यह एक उपजीव्य महाप्रबन्धात्मक काव्य होनेपर भी[1] मूलतः 'इतिहास' संज्ञासे अभिहित किया जाता है। इसके रचयिता महर्षि व्यासदेवने स्वयं इसे 'इतिहासोत्तम' बतलाया है, जिसका आश्रय लेकर कविकी प्रतिभा नये-नये काव्योंकी—गीतिकाव्यों तथा महाकाव्योंकी और नये-नये रूपकोंकी संघटनामें कृतकार्य हुई है। इतना ही नहीं, यह एक साथ एककालावच्छेदेन अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र है, इसकी तुलना इस वैचित्र्यके कारण किसी भी अन्य ग्रन्थसे हो ही नहीं सकती। फलतः यह अपनी विशिष्टताकी दृष्टिसे एकदम बेजोड़ है, अन्ततः अनुपमेय है—

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥
(आदिपर्व २। ३८३)

महाभारतमें धर्मका स्वरूप

फलतः महाभारतका धर्मशास्त्रीय स्वरूप आख्यानादिकोंके साथ आजकल जो उपलब्ध हो रहा है, वह भी नूतन निर्माण नहीं है। यह तो निश्चित है कि यह स्वरूप महाभारतके आदिम रूपमें—'जय' नामक पाण्डवोंकी विजयगाथाके वर्णनात्मक ग्रन्थमें मूलतः वर्तमान नहीं था; क्योंकि शतसाहस्री संहितामें ही आख्यानोंका अस्तित्व विद्यमान है। इसका प्रमाण महाभारतमें अनेकत्र मिलता है[1]। महाभारतमें आख्यानोंकी प्राचीनताका प्रमाण हमें कात्यायनके वार्तिक तथा पतञ्जलिके महाभाष्यसे भलीभाँति मिलता है। **'आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च ।'** (पाणिनिसूत्र ४। २। ६० पर कात्यायन-वार्तिक) के ऊपर अपने महाभाष्यमें पतञ्जलिने 'यवक्रीत', 'प्रियंगु' तथा 'ययाति'के आख्यानोंका उल्लेख किया है। इनमेंसे 'यवक्रीत' तथा 'ययाति'का आख्यान महाभारतमें क्रमशः वनपर्व (अ० १३५–१३८) तथा आदिपर्व (अ० ७६—८५) में आज उपलब्ध होता है। फलतः इन आख्यानोंसे संवलित महाभारतका प्रणयन पतञ्जलिसे (द्वितीय शती ई० पू०) पूर्वकालमें निष्पन्न हो चुका था। इतना ही नहीं, आश्वलायनके गृह्यसूत्र (ईस्वी पूर्व पञ्चम-षष्ठ शतीके लगभग) में तर्पणके अवसरपर भारत तथा महाभारत दोनों ग्रन्थोंके धर्माचार्योंका पृथक्-पृथक् तर्पण-विधानका निर्देश किया गया है **(सुमन्तु-जैमिनि-वैशम्पायन-पैल-सूत्र-भाष्य-भारत-महाभारत-धर्माचार्याः······तृप्यन्तु)**। फलतः महाभारतका धर्मशास्त्रीय रूप पर्याप्त पुराना है।

महाभारतमें 'धर्म'की बड़ी ही व्यापक तथा विशद कल्पना अङ्गीकृत की गयी है। इस विशाल विश्वके नाना विभिन्न अवयवोंको एक सूत्रमें, एक श्रृङ्खलामें बाँधनेवाला जो सार्वभौम तत्त्व है, वही धर्म है। धर्मके बिना प्रजाओंको एक सूत्रमें धारण करनेवाला तत्त्व दूसरा नहीं है। यदि धर्मका अस्तित्व इस जगत्‌में न होता तो यह जगत् कबका विशृङ्खल होकर छिन्न हो गया रहता। युधिष्ठिरके धर्म-

---

१. इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः॥
(महा० आदिपर्व २। ३८५)
इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः॥
(तत्रैव श्लोक ३८९)

१. इदं शतसहस्रं तु लोकानां पुण्यकर्मणाम्।
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम्॥
(आदि० १। १०१)

विषयक प्रश्नके उत्तरमें भीष्मपितामहका यह सर्वप्रथम कथन धर्मकी महनीयता तथा व्यापकताका स्पष्ट संकेत प्रदान करता है—

सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्ग्यः सत्यफलं तपः ।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया ॥
(शान्तिपर्व १७४ । २)

यह श्लोक बड़े महत्त्वका है । इसका आशय है कि सब आश्रमोंमें वेदके द्वारा धर्मका विधान किया गया है, जो वस्तुतः अदृष्ट फल देनेवाला होता है । सद्वस्तुके आलोचन (तपः) का फल मरणसे पूर्व ही प्राणीको प्राप्त होता है अर्थात् ज्ञान दृष्ट फल होता है । धर्मके द्वार बहुत-से हैं, जिनके द्वारा वह अपनी अभिव्यक्ति करता है । धर्मकी कोई भी क्रिया विफल नहीं होती—धर्मका कोई भी अनुष्ठान व्यर्थ नहीं जाता । अतः धर्मका आचरण सर्वदा तथा सर्वथा श्लाघनीय है ।

परंतु संसारकी स्थिति श्रद्धालु जनोंके हृदयमें भी श्रद्धाका उन्मूलन करती है । वनवासमें युधिष्ठिरको अपनी दुरवस्था-पर, अपनी दीन-हीन दशापर बड़ा ही क्षोभ उत्पन्न हुआ था । अपनी स्थितिका परिचय देकर वे लोमश ऋषिसे धर्मके तत्त्वकी जिज्ञासा करते दीख पड़ते हैं । वे पूछते हैं—'भगवन् ! मेरा जीवन अधार्मिक नहीं कहा जा सकता, तथापि मैं निरन्तर दुःखोंसे प्रताड़ित होता रहा हूँ । धर्म करनेपर भी इतना दुःखका उदय ? उधर अधर्मके सेवन करनेवाले सुख-समृद्धिके भाजन हैं । इसका क्या कारण है ?' इसके उत्तरमें धर्मकी महत्ता प्रतिपादित करनेवाले लोमश ऋषिके ये वचन ध्यान देने योग्य हैं—

वर्धत्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥
(वनपर्व ९४ । ४)

'अधर्मके आचरणसे मनुष्यकी वृद्धि जो दीख पड़ती है, वह स्थायी न होकर क्षणिक ही होती है । मनुष्य अधर्मसे बढ़ता है, उसके बाद कल्याणको देखता तथा पाता है । इतना ही नहीं, वह शत्रुओंको भी जीतता है, परंतु अन्तमें वह समूल नष्ट हो जाता है ।' अधर्मका आचरणकर्ता अकेले ही नाश नहीं प्राप्त करता, प्रत्युत अपने पुत्र-पौत्रादिके साथ ही वह सदा-सर्वदाके लिये नष्ट हो जाता है ।

मानव-जीवनका स्वारस्य धर्मके आचरणमें है—जो सकाम भावसे सम्पादित होनेपर ऐहिक फलोंको देता है और निष्काम भावसे आदृत होनेपर आमुष्मिक फल—मोक्षकी उपलब्धि कराता है । फलतः महान् फलको भी देनेवाले, परंतु धर्मसे विहीन कर्मका सम्पादन मेधावी पुरुष कभी न करे; क्योंकि ऐसा आचरण कथमपि हितकारक नहीं माना जा सकता—

धर्मादपेतं यत् कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम् ।
न तत् सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते ॥
(शान्ति० अ० २९३)

इस धर्मका साम्राज्य बड़ा ही विस्तृत, व्यापक तथा सार्वभौम होता है । इसके द्वार अनेकत्र परिदृष्ट होते हैं । यदि किसी सभामें न्यायके लिये व्यक्ति उपस्थित हो और उस सभाके सभासद्गण उसके वचनोंकी उपेक्षा करके न्याय करनेके लिये उद्यत नहीं होते तो उस समय व्यासजीकी दृष्टिमें धर्मको महान् पीड़ा पहुँचती है । ऐसे दो प्रसङ्ग बड़े ही महत्त्वपूर्ण तथा आकर्षक हैं—महाभारतके सभापर्व (अ० ६८) में द्रौपदीके चीरहरणके अवसरपर विदुरका वचन तथा उद्योग-पर्वमें कौरवसभामें दौत्यके अवसरपर श्रीकृष्णका वचन (अध्याय ९५) । विदुरजीका यह वचन कितना मार्मिक है—

द्रौपदी प्रश्नमुक्त्वैवं रोरवीति ह्यनाथवत् ।
न च विब्रूत तं प्रश्नं सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते ॥
(सभा० ६८ । ५९)

किसी राजसभामें आर्त व्यक्ति, जो दुःखोंसे प्रताड़ित होकर न्याय माँगनेके लिये जाता है, जलते हुए आगके समान होता है । उस समय सभासदोंका यह पवित्र कर्तव्य होता है कि वे सत्य-धर्मके द्वारा उस प्रज्वलित अग्निको शान्त करें । यदि कोई अधर्मसे विद्ध होकर धर्मसभामें उपस्थित हो तो सभासदोंका यह धर्म होता है कि वे उस काँटेको काटकर निकाल बाहर करें । यदि वे ऐसा नहीं करते तो उस सभाके वे सदस्य स्वयं ही अधर्मसे विद्ध हो जाते हैं । ऐसे समयके पाप-का विभाजन भी महाभारतकी सूक्ष्म धार्मिक भावनाका पर्याप्त अभिव्यञ्जक है । महाभारतका कथन है कि जिस सभामें निन्दित व्यक्ति निन्दित नहीं किया जाता, वहाँ उस सभाका श्रेष्ठ पुरुष आधे पापको स्वयं लेता है, करनेवालेको चौथाई पाप मिलता है और चौथाई भाग सभासदोंको प्राप्त होते हैं । न्यायान्यायकी इतनी सूक्ष्म विवेचना अन्यत्र शायद ही कहीं मिले । इस प्रसङ्गमें महाभारतके मूल श्लोक ध्यान देने योग्य

हैं; क्योंकि वे सूत्ररूपमें ही पूरे मन्तव्यका प्रकाशन करते हैं नपे-तुले शब्दोंमें, साफ-सुथरे संक्षिप्त वचनोंमें—

सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट्।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत॥
... ...

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥
अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम्॥

(सभा० अ० ६८। ६०, ७७-७८)

यही विवेचन उद्योगपर्वमें भी दृष्टिगोचर होता है। जब श्रीकृष्णचन्द्र धृतराष्ट्रकी सभामें संधि करानेके उद्देश्यसे स्वयं दौत्यकर्म स्वीकार करते हैं, 'विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण' वाला श्लोक वहाँ भी उद्धृत किया गया है (अध्याय ९५, श्लोक ५०)।

इस श्लोकके पीछे तथा आगे भी दो श्लोक नितान्त मार्मिक तथा तथ्य-प्रतिपादक हैं, जिनमेंसे प्रथम श्लोकका तात्पर्य यह है कि जहाँ सभासदोंके देखते हुए भी धर्म अधर्मके द्वारा और सत्य अनृतद्वारा मारा जाता है (हन्यते), वहाँ सभासदोंकी हत्या जाननी चाहिये—

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च॥
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः।

(उद्योग० ९५। ४८-४९)

तथा द्वितीय श्लोकका आशय इसीसे मिलता-जुलता है कि जो सभासद् अधर्मको देखते हुए भी चुपचाप बैठे रहते हैं और उस अन्याय या अधर्मका प्रतीकार नहीं करते, उन्हें वह धर्म उसी भाँति तोड़ डालता है जिस प्रकार नदी किनारेपर उगनेवाले पेड़ोंको अपने वेगसे तोड़कर गिरा डालती है—

धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान्॥
ये धर्ममनुपश्यन्तस्तूष्णीं ध्यायन्त आसते।

(उद्योग० ९५। ५१)

विराट-पर्वमें भी ऐसा ही प्रसङ्ग तब उपस्थित होता है, जब द्रौपदीके साथ किये गये कीचकके दुष्कृत्योंपर राजा विराट ध्यान नहीं देता तथा उसे अन्यायके रास्तेसे रोकनेका प्रयत्न नहीं करता। सैरन्ध्रीके नामसे महारानीकी परिचर्या करनेवाली अपमानिता द्रौपदी भरी सभामें राजा विराटको ललकारकर चुनौती देती है और कहती है—

न राजा राजवत् किंचित् समाचरति कीचके।
दस्यूनामिव धर्मस्ते न हि संसदि शोभते॥

(विराटपर्व १६। ३१)

'राजाका धर्म अन्यायीको दण्ड देना है, परंतु तुम राजा होकर भी कीचकके प्रति राजाके समान कुछ भी नहीं करते! यह तो डाकुओंका धर्म है। सभामें यह तुम्हें कथमपि नहीं शोभा देता।' कितनी उग्र है यह भर्त्सना। डाकू वही होता है, जो धर्माधर्मका विचार नहीं करता और उचित बातका आदर नहीं करता। अंग्रेजीमें इसे ही पुकारते हैं—'लॉ ऑव् दि जंगल' = जंगलका नियम—दस्युधर्म! उचितानुचितके विवेकसे हीन राजा अपने महनीय पदसे च्युत होकर केवल डाकूकी दशाको प्राप्त कर लेता है।

यह तो हुई सभा-धर्मकी चर्चा। महाभारतका समय बौद्ध-धर्म तथा ब्राह्मण-धर्मके उत्कट तथा घनघोर संघर्षका युग था। बौद्ध-धर्म अपने नास्तिक विचारोंके कारण जनसाधारणका प्रियपात्र बना हुआ था। उस युगमें ऐसे व्यक्ति, जिन्हें अभीतक मूछ भी नहीं जमी थी, घरद्वारसे नाता तोड़, माता-पिता तथा गुरु बन्धुजनोंसे अपना सम्बन्ध विच्छेदकर संन्यासीका बाना पहनकर जंगलमें तपस्या करने लगे थे।* महाभारतके प्रणेताके सामने यह समाज-ध्वंसकी अनिष्टकारिणी प्रथा अपना कराल मुख खोलकर खड़ी थी। विकट समस्या थी समाजको इस नाशकारी प्रवृत्तिसे बचानेकी। शान्तिपर्वके आरम्भमें इस संघर्षकी भीषणताका पूर्ण परिचय हमें प्राप्त होता है, युधिष्ठिर यहाँ वर्णाश्रम-धर्मकी अवहेलना करके निवृत्ति-मार्गके पथिकके रूपमें चित्रित किये गये हैं। वे अरण्यनिवासके प्राकृतिक सौख्य, सुषमा तथा स्वच्छन्दताका वर्णन बड़ी मार्मिकता तथा युक्तिके सहारे करते हैं। इस प्रसङ्गमें उनके वचन मञ्जुल तथा हृदयाकर्षक हैं (शान्तिपर्व, अध्याय ९)। मेरी दृष्टिमें, महाभारतयुद्धमें भूयसी नरहत्यासे विषण्णचित्त युधिष्ठिर मानवके शाश्वत मूल्योंकी अवहेलना करके संन्यास-जीवनके प्रति अत्यासक्तिके कारण बौद्धभिक्षुका प्रतिनिधित्व करते हैं और उन्हें अपने चारों अनुजोंके, श्रीकृष्ण तथा व्यासदेवके स्वस्थ

---

* केचिद् गृहान् परित्यज्य वनमभ्यागमन् द्विजाः।
अजातश्मश्रवो मन्दाः कुले जाताः प्रवव्रजुः॥
धर्मोऽयमिति मन्वानाः समृद्धा ब्रह्मचारिणः।
त्यक्त्वा भ्रातॄन् पितॄंश्चैव तानिन्द्रोऽन्वकृपायत॥
(शान्ति० ११। २-३)

उपदेश—वर्णाश्रम-धर्मके समुचित पालनके विषयमें यदि उचित समयपर न मिलते तो वे भी वही कार्य कर बैठते, जो उनके शताब्दियों पीछे कलिङ्गविजयमें सम्पन्न नरहत्यासे ऊबकर सम्राट् अशोकवर्धनने किया था। मनुस्मृतिमें भी इस संघर्ष तथा विरोधकी फीकी झलक हमें हठात् मिलती है इन शब्दोंमें—

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य सुतानपि।
अनिष्ट्वा शक्तितो यज्ञैर्मोक्षमिच्छन् पतत्यधः॥
(मनुस्मृतिः)

ऋणत्रयकी कल्पना

ऋणत्रयकी कल्पना वैदिक आचारका पीठस्थानीय है। अपने ऋषियों, पितरों तथा देवोंके ऋणोंका वेदाध्यापन, पुत्रोत्पादन तथा यज्ञ-विधानके द्वारा बिना निष्क्रय-सम्पादन किये संन्यासका ग्रहण विडम्बना है, धर्मसे नितान्त प्रतिकूल है। इसीलिये महाभारतका आदर्श मानव-जीवनके लिये है—वर्णाश्रम-धर्मका विधिवत् पालन। अन्य तीन आश्रमोंका निर्वाह करनेके कारण गृहस्थाश्रम ही हमारा परम ध्येय है। इसका उपदेश महाभारतमें नाना प्रकारोंसे नाना प्रसङ्गोंमें किया गया है, जिनमेंसे एक-दो प्रसङ्ग ही यहाँ संक्षेपमें संकेतित किये जाते हैं। इन विशिष्ट धर्मोंके अतिरिक्त महाभारतमें धर्मका सर्वस्व इस प्रख्यात पद्यमें निर्दिष्ट है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

अपने लिये जो वस्तु प्रतिकूल हो, वह दूसरोंके लिये कभी न करनी चाहिये—धर्मका यह मौलिक तत्त्व महाभारतकी दृष्टिमें धर्मका 'सर्वस्व' (समस्त धन) है और इसे ऐसा होना भी चाहिये। कारण यह कि इस जगत्के बीच सबसे प्रिय वस्तु तो आत्मा ही ठहरा। उसी आत्माकी कामनासे ही जगत्की वस्तुएँ प्यारी लगती हैं—स्वतः उन वस्तुओंका अपना कुछ भी मूल्य नहीं है। **'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'**—इस आत्मतत्त्वकी कसौटीपर कसनेसे इस उपदेशसे बढ़कर धर्मका अन्य उपदेश क्या कोई हो सकता है? इस लक्षणका निर्देश निषेधमुखेन किया जाना भी अपना महत्त्व रखता है। अपनी अनुकूल वस्तुओंका आचरण दूसरोंके साथ भले ही न किया जा सके, परंतु अपनेसे प्रतिकूलका आचरण तो दूसरोंके साथ कथमपि तथा कदापि होना नहीं ही चाहिये। बाइबलमें क्राइस्टका उपदेश भी इन्हीं शब्दोंमें किया गया है। इसी तथ्यका प्रतिपादन महाभारतमें अन्य शब्दोंमें भी उपलब्ध होता है—

परेषां यदसूयेत न तत् कुर्यात् स्वयं नरः।
यो ह्यसूयुस्तथा युक्तः सोऽवहासं नियच्छति॥
(पराशरगीता, शान्ति अ० २९०)

दूसरे व्यक्तियोंमें जिसकी हम निन्दा किया करते हैं, उसे हमें कभी स्वयं न करना चाहिये। इस कथनके भीतर जन-जीवनको उदात्त पथपर ले चलनेका बड़ा ही गम्भीर तत्त्व अन्तर्निहित है। समाजके प्राणी धर्मके इन सामान्य नियमोंका जितना ही आदर अपने जीवनमें करते हैं, उतना ही महत्त्वशाली होता है वह समाज—इस विषयमें दो मतोंकी गुंजाइश नहीं है।

शान्तिपर्वके ११वें अध्यायमें अर्जुनने प्राचीन इतिहासके रूपमें तापस-शक्रके जिस संवादका उल्लेख किया है, वह इस प्रसङ्गमें अवधार्य है। अजातश्मश्रु बाल-संन्यासियोंकी टोलीके सामने 'शक्र ते विघसाशी'की भूरि प्रशंसा की गयी। विघसाशीका फलितार्थ है—गृहस्थ। जो सायं-प्रातः अपने कुटुम्बियोंके अन्नका विभाजन करता है—अतिथि, देव, पितृ तथा स्वजनको देनेके बाद अवशिष्ट अन्नको स्वयं खाता है वही 'विघसाशी'के महत्त्वपूर्ण अभिधानसे वाच्य होता है (विघस—पञ्चमहायज्ञोंका अवशिष्ट अन्न, आशी—भोक्ता)।

सायं प्रातर्विभज्यान्नं स्वकुटुम्बे यथाविधि।
दत्त्वातिथिभ्यो देवेभ्यः पितृभ्यः स्वजनाय च।
अवशिष्टानि येऽश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिनः॥
(शान्ति० ११। २३-२४)

फलतः पञ्चमहायज्ञोंका विधिवत् अनुष्ठाता गृहस्थ ही सब आश्रमोंमें श्रेष्ठ माना गया है। **असामयिक वैराग्यसे उद्विग्न-चित्त युधिष्ठिरकी नकुलने गृहस्थाश्रमको छोड़ असमयमें निवृत्तिमार्गके पथिक होनेके कारण गहरी भर्त्सना की है।** उनके ये वाक्य बड़े ही महत्त्वके हैं—'हे प्रभुवर युधिष्ठिर! महायज्ञोंका बिना सम्पादन किये, पितरोंका श्राद्ध यथार्थतः बिना किये तथा तीर्थोंमें बिना स्नान किये, यदि प्रव्रज्या लेना चाहते हैं, तो आप उस मेघखण्डके समान नाश प्राप्त कर लेंगे, जो वायुके झोंकेसे प्रेरित किया जाता है। वह व्यक्ति तो **'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः'** के अनुसार दोनों लोकोंसे भ्रष्ट होकर अन्तरालमें ही झूला करता है। फलतः पूर्वोक्त कर्मोंका अनुष्ठान किये बिना संन्यासका सेवन महानिन्दनीय कर्म है—

अनिष्ट्वा च महायज्ञैरकृत्वा च पितृस्वधाम्।
तीर्थस्वनभिसम्प्लुत्य प्रव्रजिष्यसि चेत् प्रभो॥
छिन्नाभ्रमिव गन्तासि विलयं मारुतेरितम्।
लोकयोरुभयोर्भ्रष्टो ह्यन्तराले व्यवस्थितः॥
(शान्ति० १२ । ३३-३४)

गृहस्थाश्रमका माहात्म्य

गृहस्थाश्रमकी भूयसी प्रतिष्ठाका हेतु यह तथ्य है कि अन्य तीनों आश्रम गृहस्थाश्रमके ऊपर ही आश्रित तथा अवलम्बित हैं। अर्जुनने इस आश्रमकी स्तुतिमें अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्योंका उद्घाटन किया है (अध्याय १८)। उनका कथन है कि यदि याचमान भिक्षुकको गृहस्थ राजा दान नहीं देता तो वह अग्निके समान स्वतः ही उपशान्त हो जायगा अर्थात् इन्धन न डालनेसे अग्नि जिस प्रकार निर्वाणको प्राप्त कर लेता है, वही दशा दानसे वञ्चित भिक्षुककी होती है—उपशान्ति अर्थात् मृत्यु। अन्नके दानसे ही भिक्षुओंका जीवन-निर्वाह होता है और इसलिये राजाका (तथा सामान्यतः गृहस्थका) अन्न-दान देना एक नित्य विहित आचरण है। अन्नसे ही गृहस्थ होता है और गृहस्थसे ही भिक्षुओंका अस्तित्व है। अन्नसे प्राण बनता है और इसीलिये अन्नदाता प्राणदाता कहा जाता है। व्यावहारिक सत्य तो यह है कि भिक्षु गृहस्थसे निर्मुक्त होनेपर भी गृहस्थोंपर ही आश्रित रहता है। फलतः दान्त लोग गृहस्थोंसे ही अपना प्रभव (उदय) तथा प्रतिष्ठा (स्थिति) प्राप्तकर निश्चिन्ततासे अपना जीवन-यापन करते हैं। फलतः गृहस्थ-आश्रम ही भारतीय समाजका मेरुदण्ड है। वही हमारे समाजकी रीढ़ है, जो समाजके शरीरको उन्नत तथा स्वस्थ बनाये रहती है। मनुके भी एतद्विषयक सिद्धान्त महाभारतके इन मौलिक तथ्योंसे नातिभिन्न हैं—

न चेद् राजा भवेद् दाता कुतः स्युर्मोक्षकाङ्क्षिणः।
अन्नाद् गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तत एव च।
अन्नात् प्राणः प्रभवति अन्नदः प्राणदो भवेत्॥
गृहस्थेभ्योऽपि निर्मुक्ता गृहस्थानेव संश्रिताः।
प्रभवं च प्रतिष्ठां च दाता विन्दन्त आसते॥
(शान्ति० १८ । २७—२९)

हिंसाकी विवेचना

महाभारतके अनुसार गृहस्थ-जीवनके लिये हिंसाका ऐकान्तिक परित्याग न तो किया जा सकता है और न हिंसा कथमपि गर्हणीय ही है। मानव-जीवन हिंसाके ऊपर आधारित है। बड़े पशु छोटे पशुओंकी हिंसा करके ही अपना जीवन-निर्वाह करते हैं और अपना प्राण धारण करते हैं (शान्ति० १५ । २०—२५)। महाभारत हिंसाके उज्ज्वल पक्षको हमारे सामने रखता है जब वह कहता है कि 'दूसरोंके मर्मको बिना छेदे हुए, दुष्कर कार्यको बिना किये और अपने शत्रुको बिना मारे क्या मनुष्य कभी महती लक्ष्मीको पा सकता है?'

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥
(शान्ति० १५ । १४)

इतना ही नहीं, अपने शत्रुको जिसने नहीं मारा, उसे क्या कभी कीर्ति मिलती है तथा धन और प्रजाको क्या कभी वह पाता है? नहीं, कभी नहीं। इन्द्रने वृत्रवधके कारण ही महेन्द्रत्वको प्राप्त किया। लोक उन्हीं देवोंकी अर्चा-पूजा करता है, जिन्होंने शत्रुको मारकर अपना पद प्रतिष्ठित बनाया। रुद्र, स्कन्द, शक्र, अग्नि, वरुण तथा मनु आदि वे ही देव हमारी उपासनाके प्रिय विषय हैं, जिन्होंने अपने शत्रुओंको मार डाला तथा अपनी प्रतिष्ठा निरवच्छिन्न बना रखी। निष्कर्ष यह कि इस लोकमें कोई भी जीवित प्राणी अहिंसासे कभी जीवित नहीं रहता—उसे अपने जीवन-निर्वाहके निमित्त हिंसाका आश्रय लेना ही पड़ता है, यह लोकजीवनका ध्रुव सत्य है—

न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कंचिदहिंसया।
(शान्ति० १५ । २०)

यहाँ बौद्ध तथा जैन धर्मके अहिंसावादकी खरी आलोचना की गयी है। हिंसाका आश्रय करके दण्डका विधिवत् आश्रयण राजाका मुख्य अनिवार्य कर्तव्य होता है। इस १५वें अध्यायमें अर्जुनने दण्डकी भूयिष्ठ स्तुति प्रस्तुत की है, जो समाजके मङ्गल-साधनका एक प्रधान अङ्ग है। आज भारतवर्षको इस तत्त्वको समझने तथा मनन करनेकी कितनी आवश्यकता है! महात्मा गांधीके 'अहिंसा' सिद्धान्तका अन्यथा तात्पर्य लगाकर जो अधिकारीवर्ग आज भी अपने विरोधी राष्ट्रोंके आक्रमणोंका प्रतीकार करनेसे हिचकते हैं, उन्हें महाभारतका यह अध्याय (शान्तिपर्व अध्याय १५) गम्भीरतासे मनन तथा अनुशीलन करना चाहिये। उन्हें याद रखना चाहिये, अपने शत्रुओंसे विरोध करना प्रत्येक जीवका

कर्तव्य है, विशेषतः किसी भी देश तथा राष्ट्रके शासकका। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उशना नामक प्राचीन दण्ड-नीतिके आचार्यके अनुसार यह पृथ्वी उसे उसी प्रकार निगल जायगी, जिस प्रकार साँप बिलशायी चूहोंको निगल जाता है—

द्वावेव ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥[1]

हिंसाको गृहस्थ-जीवनके लिये महाभारत एक नितान्त आवश्यक तथा अनिवार्य साधन मानता है; यह मुक्ति तथा व्यवहार दोनों दृष्टियोंसे एक निर्भ्रान्त सत्य है।

मनुस्मृतिमें गृहस्थधर्म

महाभारतयुगीन धार्मिक संघर्षका एक सामान्य वर्ण-चित्र ऊपर प्रस्तुत किया गया है। वही संघर्ष मनुस्मृतिके कालमें भी पूर्णतया लक्षित होता है और यह होना स्वाभाविक ही है। मनुस्मृति ब्राह्मण-धर्मके पुनरुत्थानके निमित्त आवश्यक धार्मिक अनुष्ठानोंकी विवृति देनेवाली एक महनीय स्मृति है। इसका रचनाकाल विक्रमपूर्व द्वितीय शतक माना जाता है। ब्राह्मणवंशी सुंगोंके राज्यकालमें सम्राट् अशोकके वैदिक-मार्ग-द्वेषी धर्म तथा राजनीतिके विपुल प्रभावके विध्वंसनके निमित्त मौर्यके ब्राह्मण-सेनानी पुष्यमित्रने अन्तिम मौर्यनरेशको मारकर ब्राह्मणवंशकी स्थापना की थी। इसीलिये मनुस्मृतिके गृहस्थ-धर्मकी विपुल प्रतिष्ठाका आदर्श बहुशः व्याख्यात हुआ है। गोस्वामी तुलसीदासजीके समयमें भी इसी प्रकारका एक तुमुल संघर्ष लक्षित होता है। वर्णाश्रमाश्रयी हिंदू-समाजमें तथा निवृत्तिको ही एकमात्र आदर्श माननेवाले निर्गुणी संतों तथा योगियोंमें गोरखनाथ एवं उनके अनुयायियोंने समाजके आदर्शको केवल निवृत्तिमें प्रतिष्ठित कर उसके वैदिक रूपसे अधश्च्युत कर रक्खा था। इन निर्गुनिया संतोंके विशेष प्रभावके कारण भारतीय समाज आदर्शहीन होकर भ्रान्त तथा विक्षिप्त बन गया था। उस आदर्शसे भारतीय समाजको हटाकर वर्णाश्रम-धर्ममें प्रतिष्ठित करना गोस्वामीजीके इस महनीय प्रबन्ध-काव्यके प्रणयनका मुख्य हेतु मानना कथमपि इतिहास-विरुद्ध नहीं है। गोसाईंजीने इसीलिये गृहस्थाश्रमको इतनी प्रतिष्ठा प्रदान की और अपने इष्टदेव मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रको शील-सौन्दर्य तथा शक्तिके सामञ्जस्य-रूपमें पूर्णतः प्रतिष्ठित किया। मेरी दृष्टिमें तुलसीदासजीके सामने महाभारतमें व्याख्यात धर्मकी पूर्ण कल्पना सर्वदा जागरूक रही और परिवर्तित परिस्थितिको लक्ष्यकर उन्होंने उसी आदर्शको इस नये युगके लिये भी उपादेय माना—उसकी विस्पष्ट व्याख्या करके प्राचीन आदर्शका ही अपने नवीन ग्रन्थ 'रामचरितमानस' के द्वारा उपबृंहण किया।

निष्कर्ष यह कि महाभारतकी दृष्टिमें धर्म ही मानव-कल्याणका परम साधक तत्त्व है। त्रिवर्गका सार धर्म ही है। इसीलिये व्यासजीने भारत-सावित्रीमें इस शतसाहस्री संहिताका सार इस छोटे-से श्लोकमें कितनी विशदतासे प्रतिपादित किया है—'मैं अपनी भुजा उठाकर उच्च स्वरसे पुकार रहा हूँ; परंतु कोई भी मेरी बात नहीं सुनता। धर्मसे ही अर्थ उत्पन्न होता है और धर्मसे ही काम उत्पन्न होता है। अर्थ तथा कामका मूल निश्चित रूपसे धर्म ही है। तब उस धर्मकी उपासना क्यों नहीं करते?'

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

महाभारतका युद्ध भी धर्म तथा अधर्मके बीच उग्र संघर्षका काल्पनिक प्रतीक न होकर वास्तविकताका स्पष्ट निर्देश ही है। इसे समझनेके लिये महाभारतमें प्रभूत सामग्री भरी पड़ी है। दुर्योधन तथा उसके सहायक मन्युमय वृक्ष हैं तथा युधिष्ठिर और उनके सहयोगी धर्ममय वृक्ष हैं। कौरवोंके युद्धमें पाण्डवोंकी विजय अधर्मके ऊपर धर्मकी विजयका भव्य निदर्शन है। इस कल्पनाको ध्यानसे पढ़िये—

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रो मनीषी॥
युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च॥

(आदिपर्व १। ११०-१११)

महाभारतीय कथानकका अभिधेयार्थ इसी धर्मविजयकी

---

१. यह श्लोक महाभारतमें अनेक स्थानोंपर उद्धृत किया गया है। शान्तिपर्वके ५७वें अध्यायमें राजनीतिके तथ्योंका संक्षिप्त विवरण प्राचीन श्लोकोंके उद्धरणके साथ-साथ बड़ी मार्मिकताके साथ किया गया है। यह श्लोक 'उशना' के द्वारा प्रतिपादित बताया गया है—अ० ५७, श्लोक २-३।

अभिव्यञ्जनामें है। कहनेका तात्पर्य है कि महाभारत धर्मका केवल शाब्दिक प्रतिपादन नहीं करता, प्रत्युत वह अपने कार्योंसे, नाना घटनाओंसे, पाण्डवोंके विषम स्थितिमें निष्पादित कार्यसमूहोंसे धर्मका व्यावहारिक प्रतिपादन भी निरन्तर करता है। इसके विषयमें मत-द्वैविध्य हो नहीं सकता। इसीलिये यह ग्रन्थ-रत्न अपनी सुभग शिक्षा धर्मके चयनके निमित्त देता है; क्योंकि धर्म ही परलोक जानेवाले प्राणीका एकमात्र बन्धु है। अर्थ तथा स्त्री बन्धुके रूपमें सामान्यतः प्रतिष्ठित माने जाते हैं, परंतु निपुण व्यक्तियोंके द्वारा सेवित होनेपर भी ये दोनों न तो आप्तभाव—मित्रभावको ही प्राप्त करते हैं और न स्थिरता ही धारण करते हैं। विपरीत इनके, धर्म निश्चयेन हमारा आप्त पुरुष है तथा सर्वदा स्थायी नित्य तत्त्व है। फलतः धर्मकी उपासना ही कल्याणकामी मानवका एकमात्र कर्तव्य होना चाहिये। महाभारतका यही निर्भ्रान्त और अनिवार्य उपदेश है—

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥

(आदिपर्व २। ३९१)

धर्म-परिचय

[धर्मदेवताका संक्षिप्त जीवनवृत्त]

(लेखक—पण्डित श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

वेद-पुराणोंमें धर्मको ही सर्वलोक-सुखावह कहा गया है। ये यमराजसे सर्वथा पृथक् हैं; क्योंकि यमराज सूर्यपुत्र हैं। सूर्य कश्यपके, कश्यप मरीचिके और मरीचि ब्रह्माके पुत्र हैं। किंतु धर्म तो साक्षात् ब्रह्माके ही मानसपुत्र हैं। मत्स्यपुराण (३। १०) तथा महाभारत आदिपर्व (६६। ३१) के अनुसार इनकी उत्पत्ति ब्रह्माजीके दाहिने स्तनसे हुई थी—

स्तनं तु दक्षिणं भित्त्वा ब्रह्मणो नरविग्रहः।
निस्सृतो भगवान् धर्मः सर्वलोकसुखावहः॥ *

इनका वर्ण श्वेत है। इनके वस्त्र, कुण्डल, आभूषण, गन्ध, माल्यादि भी सभी श्वेत ही हैं—'**प्रादुर्बभूव पुरुषः श्वेतमाल्यानुलेपनः। ···श्वेतकुण्डलः।**'

(नृसिंहप्रासाद-ग्रन्थ, तत्त्वनिधि)

त्रयोदशी इनकी तिथि मानी गयी है—

अद्य प्रभृति ते धर्म! तिथिरस्तु त्रयोदशी।

(वाराहपुराण)

'तत्त्वनिधि' ग्रन्थमें इनकी तिथि एकादशी मानी गयी है और नमस्कार-ध्यानका मन्त्र इस प्रकार लिखा गया है—

श्रुतिवेद्यस्वरूपाय यागादिक्रतुमूर्तये।
भूरिश्रेयस्साधनाय धर्माय महते नमः॥

धर्मका परिवार

(धर्मदेवताकी धर्मपत्नियाँ)

महाभारत (१। ६६। १३—१५) के अनुसार इनकी स्त्रियोंकी संख्या दस है—

कीर्तिर्लक्ष्मीर्धृतिर्मेधा पुष्टिः श्रद्धा क्रिया तथा।
बुद्धिर्लज्जा मतिश्चैव पत्न्यो धर्मस्य ता दश॥

(महाभारत आदि० ६६। १५)

किंतु भागवत (६। ६। ४) में धर्मकी दूसरी दस पत्नियाँ तथा भागवत (४। १। ४८-४९) में तेरह पत्नियाँ कही गयी हैं। यथा—

भानुर्लम्बा ककुब्जामिर्विश्वा साध्या मरुत्वती।
वसुर्मुहूर्ता संकल्पा धर्मपत्न्यः सुताञ्छृणु॥

(श्रीमद्भागवत ६। ६। ४)

त्रयोदश अदाद् धर्माय—
श्रद्धा मैत्री दया शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः।
बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्तिर्धर्मस्य पत्नयः॥ *

(श्रीमद्भागवत ४। १। ४९)

---

* अन्यत्र इनके माता-पिताका नाम भावदेव तथा दया और कहीं श्रद्धादेवी भी बतलाया गया है। पाठक इसे आगे देखेंगे।

* पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ६, अग्निपुराण १७, वायुपुराण ६७, ब्रह्मपुराण अ० ३, विष्णुपुराण १। १५। १०६—१०, मत्स्य० ५। १३—१६ तथा ब्रह्माण्डपुराण २। ९। ५०—५३ तकमें भी

इसी प्रकार महाभारत, शान्तिपर्व (५९। १३२—३३) में इनकी पत्नी 'श्री' और इनका पुत्र 'अर्थ' बतलाया गया है।

धर्मदेवके पुत्र

महाभारत, आदिपर्वमें शम, काम और हर्षको इनका पुत्र कहा गया है (६६। ३२), जब कि इसी अध्यायके १७ वें श्लोकमें आठों वसुओंको इनका पुत्र माना गया है। (द्रष्टव्य नीलकण्ठी टीका) पर यह ठीक नहीं जँचता। भागवत ४। १ ब्रह्माण्ड० २।९।५० आदिमें शुभ, प्रसाद, अभय, सुख, मुद, स्मय, योग, दर्प, अर्थ, स्मृति, क्षेम और प्रश्रय—इनके पुत्र कहे गये हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी कुछ भिन्न नाम हैं।

धर्मदेवताका साक्षात्कार

धर्मदेवके दर्शन—साक्षात्कारके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें बहुधा चर्चा आयी है। वाल्मीकिरामायण, युद्धकाण्ड अ० ८३ (वङ्गोपशाखा अ० ६२, पाश्चात्त्य शाखा अ० ६१) में लक्ष्मणजी निर्विण्ण होकर कह रहे हैं कि 'प्रभो! जैसे और जड-चेतनात्मक जीव दीखते हैं, धर्मको हमलोगोंने उस प्रकार कहीं नहीं देखा है—मुझे लगता है कि धर्म नामकी कोई वस्तु नहीं है—

भूतानां स्थावराणां च जङ्गमानां च दर्शनम्।
यथास्ति न तथा धर्मस्तेन नास्तीति मे मतिः॥

(१५)

पद्मपुराण, भूमिखण्ड (३। ६) में ऐसी ही बात है—**'धर्म एवं यतो लोके न दृष्टः केन वै पुरा।'**

पर वाल्मीकिरामायण, पुराण आदिमें श्रीराम, ययाति, युधिष्ठिर आदिको धर्मविग्रह भी कहा गया है—

'रामो विग्रहवान् धर्मः' (वाल्मीकि० अरण्यकाण्ड, मारीचोक्ति)

दृष्टोऽस्माभिरसौ धर्मो दशाङ्गः सत्यवल्लभः।
सोमवंशसमुत्पन्नो नहुषस्य महागृहे।
हस्तपादमुखैर्युक्तः सर्वाचारप्रचारकः॥

(पद्मपुराण, भूमि० ८३। ७)

तथापि पुराणोंमें अनेक स्थानोंपर किन्हीं तपस्वी ऋषि-मुनियोंके सामने धर्मदेवताके विग्रहसहित प्रकट होनेकी बात भी सुस्पष्ट रूपसे आयी है। पद्मपुराण, भूमिखण्ड (१२। ५१) में सोमशर्मा अपनी विदुषी स्त्री सुमनासे पूछता है कि धर्मकी मूर्ति (आकार-प्रकार, रूप-रंग) किस प्रकारकी होती है और उनके कितने हाथ-पाँव हैं, यह मुझे बतलाओ—

कीदृङ्मूर्तिस्तु धर्मस्य कान्यङ्गानि च भामिनि।
प्रीत्या कथय मे कान्ते श्रोतुं श्रद्धा प्रवर्तते॥

इसपर सुमना कहती है—'ब्राह्मणश्रेष्ठ! इस विश्वमें धर्मदेवताके मूर्त विग्रहको तो किसीने देखा नहीं। वे सत्यात्मा होते हुए भी अदृश्यवर्त्मा हैं। उन्हें देवता-दानवोंने भी नहीं देखा; किंतु हाँ, अत्रिकुलोत्पन्न अनसूयानन्दन महर्षि दत्तात्रेयजीको सदा ही धर्मका साक्षात्कार होता रहा है।* और उनके भाई दुर्वासाजीको भी स्वरूपतः धर्मका दर्शन हुआ है।

प्रायः ये ही नाम हैं। सभीमें श्लोक भी प्रायः समान ही हैं। वह है—

मरुत्वती वसुर्यामी लम्बा भानुररुन्धती।
संकल्पा च मुहूर्ता च साध्या विश्वा च भामिनी।
धर्मपत्न्यः समाख्यातास्तासां पुत्रान्निबोधत॥

* साक्षात् धर्मविग्रह विष्णु-अवतार भगवान् दत्तात्रेयजीकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, बहुत ही कम होगी। इन्होंने प्रह्लाद, परशुराम, संवर्त, यदु, अलर्क तथा कार्तवीर्य अर्जुन आदिको मार्गदर्शन कराके कृतार्थ किया। कइयोंको तो स्पर्शमात्रसे आत्मदर्शन करा दिया। श्रीविद्याके ये आद्याचार्य हैं। इनके दर्शन अब भी होते हैं। ये 'स्मृतमात्रानुगन्ता' अथवा 'स्मर्तृगामी' कहे जाते हैं। इनका स्वयंका यह कथन है—

दत्तात्रेयो मुनिं प्राह मम प्रकृतिरीदृशी।
अभक्त्या वा सुभक्त्या वा यः स्मरेन् मामनन्यधीः॥
तदानीं तमुपागत्य ददामि तदभीप्सितम्।

(दत्तात्रेयवज्रकवच २३)

'द्रां' इनका बीजमन्त्र है। शाण्डिल्योपनिषद्, दत्तोपनिषद्, मार्कण्डेयपुराण अ० १७ से १९, ३५; ३८—ब्रह्मपुराण अ० ११७ तथा २१३; भागवत० स्क० ७। १५, स्क० ११; महाभारत अश्वमेध०, अनुशा० १५२-१५३ तथा १३८में इनके दिव्य चरित्र निरन्तर पठनीय हैं। मार्गशीर्ष शु० १४ को दत्तजयन्ती होती है। दासोपंत, महानुभाव, गोसाईं तथा गुरुचरित्र आदि इनके नामपर कई सम्प्रदाय हैं।

लोके धर्मस्य वै मूर्तिः कैर्दृष्टा न द्विजोत्तम ।
अदृश्यवर्त्मा सत्यात्मा न दृष्टो देवदानवैः ॥
अत्रिवंशे समुत्पन्नो अनसूयात्मजो द्विजः ।
तेन दृष्टो महाधर्मो दत्तात्रेयेण वै सदा ॥
दुर्वाससा च मुनिना दृष्टो धर्मः स्वरूपतः ॥
(पद्म० भूमि० १२ । ५२—५४)

एक अद्भुत कथा

एक बार महात्मा दत्तात्रेयजी और दुर्वासाजीने धर्मपूर्वक रहकर कठोर तपस्या आरम्भ की । ये लोग १० हजार वर्षतक वनमें रहकर बिना कुछ खाये-पीये केवल वायुके आधारपर तपस्या करते रहे । इन्होंने धर्मदेवताके दर्शनके लिये पुनः १० हजार वर्षतक पञ्चाग्निका साधन किया । पुनः निराहार होकर ये उतने ही वर्षोंतक जलके भीतर खड़े रहे । अबतक ये दोनों ही जन अत्यन्त दुर्बल हो गये थे । अन्तमें महर्षि दुर्वासाके मनमें धर्मके प्रति भीषण क्रोध उत्पन्न हुआ । अब उन महात्माके मनमें क्रोध उत्पन्न होते ही धर्मदेवता अपना स्वरूप धारणकर उनके सामने तत्काल साक्षात् आ पहुँचे । साथ ही उनके सहचर तप, ब्रह्मचर्य आदि भी मूर्तिमान् होकर उनके साथ-साथ वहाँ उपस्थित हुए । सत्य, ब्रह्मचर्य, तप तथा इन्द्रियसंयम—ये उत्तम विद्वान् ब्राह्मणोंका रूप धारण करके आये । दम और नियमने महाप्राज्ञ पण्डितोंका रूप बना रक्खा था । दानका रूप अग्निहोत्रीका था । क्षमा, शान्ति, लज्जा, अहिंसा और अकल्पना (निःसंकल्पावस्था)—ये सब भी वहाँ स्त्रीरूप धारणकर पहुँची थीं । बुद्धि, प्रज्ञा, दया, श्रद्धा, मेधा, सत्कृति और शान्ति भी स्त्रीरूप ही धारण किये हुई थीं । पञ्चयज्ञ तथा परम पावन छहों अङ्गोंसहित वेद भी अपना-अपना दिव्य रूप धारण किये हुए थे । वस्तुतः ये सब मुनिको पहलेसे ही सिद्ध हो चुके थे । इनके अतिरिक्त अश्वमेधादि यज्ञ तथा अग्न्याधान आदि पुण्य भी दिव्य रूप, लावण्य, आचरण तथा गन्ध-माल्यादिसे विभूषित वहाँ उपस्थित हुए ।

इस तरह सपरिवार-सपरिकर धर्मदेवता महर्षि दुर्वासाके पास आकर प्रत्यक्ष खड़े हुए और उनसे कहने लगे—'महर्षे ! आपने तपस्वी होकर भी क्रोध कैसे किया है ? क्रोध तो मनुष्यके श्रेय और तप दोनोंको ही नष्ट कर डालता है । इसे एक प्रकारसे सर्वनाशक ही समझना चाहिये । तपका फल परम उत्कृष्ट होता है । अतः आप कृपया स्वस्थ हो जायँ ।'

इसपर दुर्वासाजी बोले—इन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ पधारे हुए आप कौन हैं ? तथा ये श्रेष्ठ रूप एवं आभरणोंसे अलंकृत स्त्रियाँ कौन हैं ?

धर्मदेवता बोले—सर्वतेजोयुक्त दण्ड-कमण्डलुधारी ये जो आपके सामने ब्राह्मणरूपमें उपस्थित हैं, उन्हें आप 'ब्रह्मचर्य' समझें । इन पीतवर्णवाले तथा भूरी आँखोंसे युक्त तेजस्वी ब्राह्मणका नाम 'सत्य' है । तीसरे ये विश्वेदेवताओंकी आकृतिवाले 'तप' हैं । दीप्तिमान् दयालु स्वभाववाले ये 'दम' देवता हैं और जटाधारी तथा हाथमें तलवार लिये हुए ये 'नियम' हैं । हाथमें दतुवन, कमण्डलु लिये स्फटिकवर्णवाले ये 'शौच' हैं । ये सभी ब्राह्मणवेषमें हैं ।

इसी प्रकार स्त्रियोंमें यह शुश्रूषा है, जो परम साध्वी, सौभाग्यवती तथा सत्यसे विभूषित है । जिसका स्वभाव अत्यन्त धीर है, जिसके सभी अङ्गोंसे मानो प्रसन्नता झर (टपक) रही है, जिसका रंग गोरा है और जिसके मुखपर हास्यकी छटा विराजित है, वह पद्मनेत्रा, पद्महस्ता साक्षात् धात्री (सरस्वती) देवी है । परम शान्त तथा अनेक मङ्गलोंसे युक्त यह क्षमा देवी है । यह शान्ति देवी है, जो दिव्य आचरणोंसे युक्त परम शान्त दीखती है । परोपकार, मितभाषण आदि गुणोंसे युक्त यह अकल्पना देवी है । इसीके साथ क्षमा भी रहती है । इन दोनोंको एक साथ रहनेमें बड़ी प्रसन्नता होती है । यह श्यामवर्णवाली यशस्विनी अहिंसा है । अनेक श्रेष्ठ बुद्धियों एवं ज्ञानोंसे युक्त यह श्रद्धा देवी है । यह ध्यानमग्न, गौरवर्णके श्रेष्ठ वस्त्र-माल्यादिसे विभूषित मेधा देवी है, यह हाथमें पुस्तक-कमलपुष्प लिये प्रज्ञा देवी है ।* और लाखके समान रंगवाली पीले पुष्पोंसे अलंकृत परम शीलवती अत्यन्त वृद्धा भावदेवताकी भार्या और हमारी माता ये दया देवी हैं—और मैं स्वयं धर्म हूँ—

लाक्षारससमा वर्णा सुप्रसन्ना सदैव हि ।
पीतपुष्पकृता माला हारकेयूरभूषणा ॥
मुद्रिकाकङ्कणोपेता कर्णकुण्डलमण्डिता ।
पीतेन वाससा देवी सदैव परिराजते ॥
त्रैलोक्यस्योपकाराय पोषणायाद्वितीयका ।
यस्याः शीलं द्विजश्रेष्ठ सदैव परिकीर्तितम् ॥
सेयं दया सुसम्प्राप्ता तत्र पार्श्वे द्विजोत्तम ।
इयं वृद्धा महाप्राज्ञ भावभार्या तपस्विनी ॥
मम माता द्विजश्रेष्ठ धर्मोऽहं तव सुव्रत ।
(पद्मपुराण, भूमिखण्ड १२ । ९६—१००)

---

* इस तरह पद्मपुराणके अनुसार धर्मकी ये १० पत्नियाँ हैं ।



दुर्वासाके शापसे धर्मके तीन रूप—विदुर, युधिष्ठिर, चाण्डाल

इसपर दुर्वासाजीने कहा—'धर्मदेवता ! अब आप मेरे क्रोधका कारण सुन लें। आप देखते ही हैं कि मैंने दम, शौच आदि अनेक कायक्लेशकारी नियमोंके द्वारा लक्ष वर्षतक घोर तपस्या की है; किंतु मैं देखता हूँ कि आपकी मुझपर तनिक भी कृपा नहीं है। अतः मैं क्रुद्ध हुआ हूँ और आपको शाप देना चाहता हूँ ।'

इसपर धर्मदेवता बोले—'प्रभो ! यदि आपने शाप देकर मेरा नाश किया तो यह निश्चय ही समझ लें कि यह सारा लोक नष्ट हो जायगा। यह बात अवश्य है कि मैं दुःखमूलक ही हूँ—पहले मेरे अनुष्ठानमें साधकको भीषण क्लेशका अनुभव होता ही है; तथापि वह यदि मेरा परित्याग नहीं करता तो पीछे मैं उसे परम सुख भी अवश्य प्रदान करता हूँ। यदि कदाचित् साधक धर्मानुष्ठानमें प्राणतक छोड़ देता है तो मैं उसे परलोकमें महान् सुख देता हूँ।'

दुर्वासाने कहा कि 'यह उचित नहीं है कि अनुष्ठाताके धर्म करनेवाले उस शरीरको फल न मिलकर परलोकमें उसके मनोमय आदि अथवा जन्मान्तरमें अन्य शरीरोंको परिणाम प्राप्त हो। जैसे चौरादिके अपराधी अङ्गोंपर ही दण्ड दिया जाता है, वैसे ही साधकके उसी शरीरको सुख मिलना कैसे उचित नहीं है ? अतः आपके न्यायको मैं उचित न मान तीन शाप देना चाहता हूँ।'

धर्मदेवता बोले कि 'यदि आपने ऐसा ही निश्चय कर लिया है तो मैं आपको प्रणाम कर रहा हूँ। बस, आप मुझे कृपया राजा, दासीपुत्र और चण्डाल बनाकर अपने तीनों शापोंको चरितार्थ करें।'

इस प्रकार धर्मदेवता राजा होकर भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ 'धर्मराज युधिष्ठिर' हुए थे और दासीपुत्रके रूपमें वे ही 'विदुर'के रूपमें उत्पन्न हुए थे। और जब महर्षि विश्वामित्रने हरिश्चन्द्रको बहुत कष्ट पहुँचाया था, उस समय परम बुद्धिमान् धर्मदेवता उनके स्वामी 'चण्डालराज'के स्वरूपको प्राप्त हुए थे और उन्होंने राजा हरिश्चन्द्रको आश्रय प्रदानकर उनकी रक्षा की थी।

भरतानां कुले जातो धर्मो भूत्वा युधिष्ठिरः ।
विदुरो दासीपुत्रस्तु अन्यं चैव वदाम्यहम् ॥
यदा राजा हरिश्चन्द्रो विश्वामित्रेण कर्षितः ।
तदा चण्डालतां प्राप्तः स हि धर्मो महामतिः ॥*

(पद्मपुराण, भूमि० १२ । १२७–२८)

* (क) धर्म उवाच—

तवैनं भाविनं क्लेशमवगन्यात्मनमायया।
आत्मा श्वपाकतां नीतो दर्शितं तच्च चापलम् ॥
(मार्कण्डेयपुराण, हरिश्चन्द्रोपाख्यान ८ । २५३)

(ख) कोशोंमें 'धर्म'का एक अर्थ 'स्वभाव' भी बतलाया गया है। इस कथामें भगवान् रुद्रके अवतार, क्रोधभट्टारक महर्षि 'दुर्वासा'के जन्मजात स्वभावका भी कुछ चित्रण हुआ है। वस्तुतः इनका स्वभाव कुछ ऐसा ही था। जब ये माताके गर्भमें सात मासके थे, तब इन्हें कार्तवीर्यद्वारा अपने पिताका कुछ अपमान-सा प्रतीत हुआ। बस, फिर क्या था, ये गर्भसे बाहर कूद पड़े और उसे भस्म करनेपर तुल गये (मार्कण्डेयपुराण १७ । ८—१०)। अतः ये क्रोधके साथ उत्पन्न ही हुए थे—

गर्भवासमहायासदुःखामर्षसमन्वितः ।
दुर्वासास्तमसोद्रिक्तो रुद्रांशः समजायत ॥
(मा० १७ । १९)

इनकी स्वयंकी यह उक्ति है—

दुर्वाससं वासयेत् को ब्राह्मणं सत्कृतं गृहे ।
रोषणं सर्वभूतानां सूक्ष्मेणाप्यकृते कृते ॥
(महा० अनु० १५६ । १६)

ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें इनके द्वारा इन्द्र, साहसिक, कबन्ध, शकुन्तला, तिलोत्तमा, भानुमती आदिको शाप देनेकी बात है। मालाके अपमानपर इन्होंने इन्द्रको भी शाप देकर राज्य और स्वर्गसे भ्रष्ट कर दिया था। धर्मके ही समान एक बार काशीमें शीघ्र तप-फल न मिलनेपर ये काशीपुरीको भी शाप देनेको उद्यत हुए थे। इसपर वहाँका लिङ्ग अट्टहास कर उठा। इससे उसका नाम प्रहसितेश्वर लिङ्ग हुआ और दुर्वासाको वर भी मिला। (काशीखण्ड अ० ८५)

दुर्वासः स्मृति अथवा नारायणस्मृतिके आरम्भमें आता है कि 'नारायण' नामके एक ब्राह्मणने इनसे प्रायश्चित्त-विधि पूछी तो ये विनोद-परिहास समझकर उसीपर बहुत बिगड़ गये—

किमरे मूढ ! दुष्टात्मन् ! उपर्युपरि पृच्छसि !

अब तो वह बेचारा भयसे कटे वृक्षकी तरह इनके पैरोंमें गिर पड़ा। जब इन्हें विश्वास हो गया कि यह परिहास नहीं कर रहा है, तब फिर इन्होंने उसे पूरी स्मृति सुनायी। इन्होंने अपनी स्त्रीको भी शाप देकर भस्म करना चाहा था, फिर बहुत दुखी होने और

भैंसेके रूपसे महर्षि वत्सनाभकी रक्षा

स्कन्दपुराण, सेतु-माहात्म्य, अध्याय २५ में भी धर्मदेवताकी एक विचित्र कथा आती है। यह कथा महाभारत (कुम्भकोणम् सं०), अनुशासनपर्वके १३वें अध्यायमें भी आती है। पूर्वकालमें वत्सनाभ नामक मुनि सुमेरु पर्वतके पवित्र क्षेत्रमें घोर तपस्या कर रहे थे। उनके शरीरपर धीरे-धीरे वल्मीक छा गया, फिर भी वे नहीं हिले। पुनः एक बार सात दिनतक निरन्तर भयंकर मूसलाधार वर्षा होनेसे वह वल्मीकशिखर भी ध्वस्त हो गया। महर्षिके इस भयंकर क्लेशको देखकर धर्मदेवताको बड़ी दया आयी और उन्होंने उस समय महिष (भैंसे) का रूप धारणकर उन्हें आच्छादित कर रक्षा की और उनकी तपःसिद्धिमें सहायता पहुँचायी थी—

धर्मस्य चेतसि कृपा सम्बभूवातिभूयसी।
स धर्मश्चिन्तयामास वत्सनाभे तपस्वति ॥
प्रपतत्यतिवर्षेयं तपसो न निवर्तते।
अहोऽस्य वत्सनाभस्य धर्मैकायतचित्तता ॥

इति चिन्तयतस्तस्य मतिरेवमजायत।
अहं वै माहिषं रूपं सुमहान्तं मनोहरम् ॥
वर्षधारानिपातानां सोढारं कठिनत्वचम्।
स्वीकृत्य माहिषं रूपं स्थास्याम्युपरि योगिनः ॥
…धर्म एवं विनिश्चित्य धाराः पृष्ठेन धारयत्।

(स्क० ब्राह्म० सेतु० २५ । १९—२४)

पुनः वहीं धर्मदेवने महिषरूप त्यागकर वत्सनाभको भृगुपतनसे निवृत्तकर शङ्खतीर्थमें स्नान करनेका उपदेश देकर उनका परम कल्याण किया था।

धर्मके वृषरूपकी कथा

वेद, पुराण तथा स्मृतियोंमें धर्मके वृषरूपकी बात सर्वत्र आयी है—

वृषो हि भगवान् धर्मः।

(मनु० ८। १६, वृद्धगौतमस्मृति २१ । १३, भागवत १ । १६—१८ आदि)

चतुःशृङ्गो त्रिपाच्चैव द्विशिरा सप्तहस्तवान्। त्रिधैव बद्धो……। **'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे…… त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश'** (ऋग्वेद ४ । ५८ । ३, यजुर्वेद १७ । ९१, तैत्तिरीयारण्यक १० । १० । २, निरुक्त १३ । ७, स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ६६ । ७७, मीमांसादर्शन, तन्त्रवार्तिक पृ० १५५, व्याकरणमहाभाष्य २० आदि)* आदिमें धर्मका वृषरूप सुस्पष्ट है। पर इसकी विस्तृत कथा स्कान्द, सेतु-माहात्म्यके धर्मतीर्थ—धर्मपुष्करिणी प्राकट्य-कथा-वर्णनमें आती है। तदनुसार दक्षिणसमुद्रके तटपर साक्षात् धर्मदेवताने भगवान् शंकरका जप-ध्यान करते हुए घोर तपस्या की थी। जब भगवान् शंकरने प्रकट होकर वर माँगनेको कहा, तब आपने उनके वाहन बननेमें ही अपनी कृतार्थता व्यक्त की।

'तवोद्वहनमात्रेण कृतार्थोऽहं भवामि भोः।' (स्कन्द० ब्राह्म० सेतु० धर्मपुष्कर ३ । ६४) तबसे धर्मदेवताका वृष-नन्दीश्वर-बैलका स्वरूप हो गया और भगवान् शंकर उनपर आरूढ़ हो गये। तबसे उस तीर्थका नाम 'धर्मपुष्करिणी' पड़ा—

धर्मपुष्करिणीत्येषा लोके ख्याता भविष्यति।

स्मृतियों, भागवत १२ । ३, पद्मपुराण सृष्टि० आदिमें

आत्महत्यार्थ उद्यत होनेपर वह श्रीकृष्ण-कृपासे उनकी (कृष्णकी) बहन एकानंशाके रूपमें उत्पन्न होकर पुनः इनकी धर्मपत्नी बनी। इन्होंने श्रीरुक्मिणीजीको भी रथमें जोत दिया था और बहुत कोड़े लगाये थे।

(महा० अनु० १५९, शिवपुराण, शतरुद्रिय १९)

इसी प्रकार कलिङ्गराजके सैनिकोंको भस्मकर इन्होंने उसे भैंसा बना दिया। बादमें भगवान् कपिलकी कृपासे बदरीतीर्थमें स्नानकर वह स्वर्ग गया (पद्म० उत्तर०—२१६)।

शंकर-दिग्विजयके अनुसार मण्डन मिश्रकी स्त्री भारती भी इन्हींके शापसे हुई थी, जो पूर्वमें सरस्वती थी। सं० १४ । ६० के अनुसार इन्हींके शापसे पाण्ड्यनरेश तृणावर्त दैत्य हुआ था।

योगवासिष्ठके अन्तमें कथा आती है कि सात भाइयोंके भीषण तपके द्वारा राज्यफलको इन्होंने शापद्वारा विध्वंस करना चाहा था। पर ब्रह्माजीका निर्णय इनके अनुकूल नहीं हुआ।

महाभारत, वनपर्वके ८४वें अध्यायमें इनके द्वारा भीषण तपस्याकी बात आती है। इनसे सम्बद्ध वे स्थान धर्मतीर्थ तथा धर्मप्रस्थ कहलाते हैं। वनपर्वके ११४वें अध्यायमें वैतरणीके तटपर इनके द्वारा यज्ञ करनेका उल्लेख है। उद्योगपर्व १२८ । ४५—४६ में आता है कि इन्होंने ब्रह्माजीकी आज्ञासे दैत्यों और दानवोंको अपने पाशमें बाँध लिया और उन्हें वरुणके अधिकारमें दे दिया।

* आश्चर्य है कि यह श्लोक जितने ही स्थलोंपर आया है, उसके उतने ही प्रकारके अर्थ किये गये हैं। ऋक् ४ । ५८ । ३ में

इनके ४ पैर बतलाये गये हैं । उनमें कहीं तो सत्य, यज्ञ, तप, दान हैं; कहीं सत्य, ज्ञान, यज्ञ, दान हैं और कहीं सत्य, शौच, तप, दान हैं । इनमेंसे कलियुगमें केवल 'दान' बच जाता है—(भागवत० १ । १६–१९ अध्याय) *

प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान ।
येन केन बिधि दीन्हें दान करै कल्यान ॥
(मानस)

दानमेकं कलौ युगे ।

धर्मका दृष्ट और अदृष्ट फल

(लेखक—याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

भगवान् मनुने सामान्य धर्मका लक्षण इस प्रकार किया है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥
(२ । १)

'राग और द्वेषसे रहित वेदज्ञ विद्वानोंद्वारा अनुष्ठित कार्यको धर्म कहा जाता है ।'

महर्षि जैमिनिने धर्मका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

वेदविहितप्रयोजनवदर्थो धर्मः ।

'वेदविहित और फल देनेवाला अर्थ धर्म कहलाता है ।'

महर्षि कणादने धर्मका लक्षण यों किया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

'जिससे इहलोकमें अभ्युदय और परलोकमें मोक्षकी प्राप्ति हो, वह धर्म कहा जाता है ।'

वह धर्म दो प्रकारका कहा गया है—दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय । दृष्टजन्मवेदनीयको 'ऐहिक धर्म' और अदृष्टजन्मवेदनीयको 'पारलौकिक धर्म' कहते हैं । पुत्रेष्टियाग, हरिवंशपुराणश्रवण एवं संतानगोपाल-मन्त्रजपादि ऐहिक धर्म (दृष्टजन्मवेदनीय) कहे जाते हैं । श्रीसूक्तके द्वारा हवन, रोगनिवृत्त्यर्थ महामृत्युञ्जय-जपादि वैदिक ऐहिक अर्थात् इष्टफलप्रद कर्म—जो इसी जन्ममें फल देनेवाले हैं, उन्हें दृष्टफल धर्म कहते हैं ।

सोमयाग और दर्शपौर्णमासयागादि, संध्योपासनादि नित्यकर्म तथा पितृयागादि पारलौकिक धर्म (अदृष्टजन्मवेदनीय) कहे जाते हैं । इस प्रकार दृष्ट और अदृष्टफलोंकी दृष्टिसे धर्म भी द्विविध कहे गये हैं । धर्मके विषयमें मीमांसकोंका मत है कि यागादि कर्म ही धर्म हैं । अतः यज्ञ करनेवाले धार्मिक कहे जाते हैं । नैयायिकोंका मत है कि यागादि कर्म तो इसी जन्ममें नष्ट हो जाते हैं, वे कालान्तरमें होनेवाले स्वर्गादि फलोंका सम्पादन नहीं कर सकते । इसलिये उन कर्मोंसे जायमान पुण्यको ही 'धर्म' कहते हैं, जो सर्वदा चिरस्थायी रहता है । वह धर्म जबतक स्वर्गादि फल नहीं देता, तबतक जीवात्मामें स्थायीरूपसे संचित रहता है और वह धर्म जब नष्ट हो जाता है, तब पुनः उस प्राणीको मर्त्यलोकमें आना पड़ता है—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९ । २१) ।

वेदान्त-मतसे और सांख्यमतसे जीवात्मा निर्गुण है, अतः उसमें धर्म नहीं रह सकता । इसलिये इन दोनोंके मतसे धर्म मनुष्यके अन्तःकरणमें विद्यमान रहता है । धर्मकी तरह अधर्म भी अन्तःकरणमें रहता है तथा अनर्थरूप फल देकर ही नष्ट होता है ।

मनुष्य शास्त्रोंके अध्ययन करनेका अधिकारी है; क्योंकि उसको धर्माधर्मका विवेक रहता है । वह धर्मानुष्ठानसे अपना कल्याण-सम्पादन करता है और अधर्मसे बचनेकी चेष्टा करता है । धर्म और अधर्म—ये दोनों अत्यन्त प्रसिद्ध हो गये हैं, जिससे विशेष शास्त्रज्ञान न होनेपर भी इनका ज्ञान प्रत्येक मनुष्यको कुछ-न-कुछ रहता ही है । इसीलिये शुक्राचार्यजीने कहा है—

सायणने इसके अग्निपरक, सूर्यपरक, जलपरक, गोपरक, घृतपरक, यज्ञपरक तथा शब्दब्रह्मपरक अर्थके संकेत किये हैं । यजु० १७ । ९१ में महीधरने भी इसके तीन अर्थ किये हैं । निरुक्तमें शब्द-यज्ञपरक, मीमांसा १ । २ । ४ । ३८ के शाबरभाष्यमें यज्ञपरक, तन्त्रवार्तिकमें धर्म, यज्ञ, सूर्य तथा ज्योतिषपरक एवं काशीखण्डमें नन्दीपरक अर्थ किया गया है ।

* धर्मदेवताकी इस तरहकी और भी बहुत-सी कथाएँ महाभारत आदिमें हैं । शान्तिपर्वमें एक ब्राह्मणकी परीक्षा लेनेकी कथा है । वनपर्वमें पाण्डवोंकी अरणि लेकर धर्मदेवता भाग गये हैं । यों 'यम'को भी धर्म कहा गया है । पितृतर्पणमें १४ धर्म यमोंके नाम आते हैं ।

इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये।
आचाण्डालं मनुष्याणां समं शास्त्रप्रयोजनम्॥

'यह पुण्य (धर्म) है और यह पाप (अधर्म) है, इन दोनोंको जाननेके लिये ब्राह्मणसे लेकर चण्डालपर्यन्त-को शास्त्रका प्रयोजन समान ही मान्य है।'

मनुष्यका जीवन बहुत जन्मोंके पुण्योंसे प्राप्त होता है। मनुष्य-जन्मसे बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठ जन्म नहीं है। अतः मनुष्यको प्रमादको त्यागकर धर्मानुष्ठान यथासमय यथाशक्ति करना चाहिये। कहा भी है—

धर्मं शनैः संचिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन्॥
(मनु० ४। २३८)

'समस्त प्राणियोंको परलोकके सहायतार्थ धर्मका शनैः-शनैः उसी प्रकार संचय करना चाहिये, जिस प्रकार दीमक बामीको संचय कर लेती हैं।'

मनुष्यके पास धन-धान्यादि जो सम्पत्तियाँ रहती हैं, वे इसी जन्मकी साधिका हैं, जन्मान्तरकी नहीं। किंतु धर्म एक ऐसा अपूर्व साधन है, जो परलोकमें भी मनुष्यके लिये सहायक होता है।

मनुष्य अपने बाल-बच्चोंके रक्षार्थ अपनी सम्पत्तिको बैंक आदि खजानोंमें रखते हैं, वह भी इसी लोकमें काम देती हैं; किंतु परलोकके लिये यहाँ कोई बैंक या खजाना नहीं है, जिसमें द्रव्य जमा करनेसे परलोकमें द्रव्य प्राप्त हो सके। परलोकमें द्रव्यादि प्राप्त करनेके लिये केवल धर्माचरण ही एकमात्र साधन है। अतः भगवान्‌के चरणोंमें अनुराग रखते हुए भगवत्प्रसादार्थ पारलौकिक धर्मानुष्ठान करना चाहिये। पारलौकिक धर्मानुष्ठानोंको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित करनेसे वे प्रसन्न होते हैं और मनुष्यके समर्पित किये हुए सत्कर्मोंको सहर्ष स्वीकार करते हैं, जिससे मनुष्य जन्मान्तरमें विशेष लाभ प्राप्त करता है। इस विषयमें गीतामें भी कहा गया है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।
(१८। ४६)

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(९। २७)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(९। २६)

पौराणिकोंका मत है कि ईश्वरप्रसाद ही कर्मोंका फल है और वह कर्ताको फल देकर ही रहता है। अतः कर्मानुष्ठानका अधिकार मनुष्यको है और फल देना भगवान्‌के अधीन है।

गीतामें भी कहा गया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(२। ४७)

अतः वैदिक तथा स्मार्त कर्मोंका रहस्य जानना परमावश्यक है। इनका रहस्य जाने बिना किये गये कर्म यथेष्ट फलप्रद नहीं होते, प्रत्युत अनर्थ भी कर देते हैं। कर्मोंके यथार्थ रहस्यका ज्ञान ईश्वरमें श्रद्धा-भक्ति रखनेसे ही होता है। ईश्वरमें श्रद्धा-भक्तिके बिना किया हुआ कर्म व्यर्थ होता है। अतएव—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥
(१७। २८)

पौराणिकी कथा है कि एक बार दक्षप्रजापतिने 'यज्ञ' किया था। उस यज्ञमें देवगण सदस्य थे और महर्षिगण ऋत्विक् थे। यज्ञमें सभी प्रकारकी सामग्री पर्याप्त रूपमें एकत्रित थी; किंतु दक्षप्रजापतिकी भगवान् शंकरमें श्रद्धा-भक्ति नहीं थी, जिससे उनका यज्ञ नष्ट-भ्रष्ट हो गया और वह यज्ञ दक्षप्रजापतिके लिये मारणप्रयोगकी तरह आभिचारिक हो गया। इसलिये धर्मानुष्ठान भगवदनुरागपूर्वक करना चाहिये।

गीताके रहस्यको भलीभाँति न समझनेवाले कुछ लोगोंको भ्रम है कि भगवान्‌में अनुरक्त होकर कर्म करना भी 'निष्काम-कर्म' नहीं होता; क्योंकि भगवत्प्रसादकी कामना तो बनी ही रहती है। रहस्य यह है कि सांसारिक विषयोंकी

कामना करके कर्म करना 'सकाम कर्म' कहलाता है। भगवच्चरणोंमें अनुराग करना कामना नहीं कहलाता; क्योंकि वह कामना तो आगे चलकर भगवच्चरणोंमें विलीन हो जाती है। भगवान् वेदव्यासजीने भी कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(श्रीमद्भागवत ११। १४। २७)

इस प्रकार रागको बन्धनका हेतु कहा गया है; किंतु भगवान्‌में किया गया राग भगवत्प्राप्तिका साधन है, बन्धन नहीं। इसलिये मठ, मन्दिर, वापी, कूप, तड़ागादिका निर्माण भगवत्प्रीत्यर्थ करना कल्याणका साधन है और अपने लिये निर्माण करना बन्धनका कारण है। आज भी भगवत्परितोषार्थ राग-भोगादिके लिये धनिकवर्ग अपने धनको जो समर्पित करते हैं, वह वृद्धिङ्गत होकर जन्मान्तरमें उन्हें प्राप्त होता है। भगवान्‌के निमित्त अर्पित किया हुआ मूलधन भगवान्‌के खजानेमें सर्वदाके लिये जमा रहता है और उसी मूलधनके ब्याजसे भगवान् उस प्राणीकी सदा रक्षा करते हैं। यही परलोकमें सुख-प्राप्तिका साधन है, इसके सिवा और कोई दूसरा उपाय नहीं है। यही **'अदृष्टफलक धर्म'** कहा जाता है। **'दृष्टफलक धर्म'** के उदाहरण पूर्व दिये जा चुके हैं। अतः अत्यन्त सावधानीसे कर्माकर्म और विकर्मके रहस्योंको जानकर मनुष्यको अपने वर्णाश्रमानुकूल कर्म करने चाहिये। दूसरेका कर्म अनर्थ कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

(३। ३५)

आजकल मनुष्य भौतिकवादमें पड़कर दृष्टफल कर्मोंको भी नहीं करना चाहते; क्योंकि उनका शास्त्रीय वाक्योंमें विश्वास नहीं है। मनुष्योंके कर्म करनेके लिये शास्त्र ही प्रमाण हैं।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १७। १६)

अतः शास्त्रोंमें विश्वास करके दृष्ट-फलक कर्मसे प्रत्यक्ष फल देखकर मनुष्यकी अदृष्टफलक कर्ममें भी श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। इसलिये मनुष्यमात्रको प्रत्यक्ष फल देनेवाले कर्मोंको अवश्य करके देख लेना चाहिये कि शास्त्र यथार्थ कहते हैं या नहीं।

जिस प्रकार धन और संतति इत्यादिकी प्राप्तिके लिये जो धर्म (कर्म) वेदोंमें तथा स्मृतियोंमें लिखा मिलता है, उसके विधानके अनुसार सुयोग्य विद्वानोंके द्वारा कर्म कराके और स्वयं भी कर्म करके फल देखना आवश्यक है। प्रत्यक्षमें अधिक श्रद्धा होती है। जैसे हमलोग देशान्तरमें जाते हैं तो वहाँपर भी हमारा धन हमको मिल जाता है, उसी तरह यदि परलोकके लिये हम कुछ त्याग करते हैं तो वह हमको परलोकमें अवश्य प्राप्त होता है। और इस लोकमें रोगनिवृत्तिके लिये हम औषध तथा मन्त्र-जपादि करते हैं तो उससे हमारा रोग प्रत्यक्ष निवृत्त हो जाता है। इसी तरह परलोकके कष्टनिवारणार्थ यदि हम पवित्र पञ्चगव्यादिका सेवन तथा गायत्री-जपादि अनुष्ठान करते हैं तो हमारे ऐहलौकिक ही नहीं, पारलौकिक कष्ट भी अवश्य निवृत्त होते हैं। कर्मोंमें विलक्षण शक्ति है। उन शक्तियोंको परमेश्वर और परम ऋषि जानकर उनमें विश्वास रखना चाहिये।

कर्मोंमें शक्ति नहीं है, ऐसी व्यर्थकी कुकल्पना हमलोगोंको अपने तर्कसे नहीं करनी चाहिये। यह निश्चित है कि थोड़ा-सा भी किया गया विहित कर्म हमको महान् अनर्थोंसे बचाता है। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

(२। ४०)

इसलिये इहलोक और परलोक दोनोंके सुख-साधनार्थ शास्त्रोंमें कहा गया है कि जो मनुष्य प्रमादवश और पापोंके कारण धर्ममें श्रद्धा-विश्वास नहीं करते, वे आधि-व्याधि, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी प्रभृति विविध अनर्थोंको भोगते हैं। अतः देव-दुर्लभ मनुष्य-जन्म प्राप्तकर श्रेष्ठ पुरुषोंको धर्मानुष्ठानके द्वारा आत्म-कल्याण और देश-कल्याण करना चाहिये।

धर्मके विविध रूप

जो सबका धारण करे और जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है। सब लोग एक परिस्थितिमें नहीं रहते। एक ही व्यक्ति सदा एक-सी परिस्थितिमें नहीं रहता। पूरे समाज एवं देशमें भी परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं। मनुष्योंकी रुचि, अधिकार तथा मानसिक योग्यता भी एक-जैसी नहीं है। इसलिये कोई एक ही धर्मका निश्चित रूप, कोई एक ही साधन-सम्प्रदाय, कोई एक ही आचार-पद्धति सब देशों, सब लोगों और सब समयके लिये अभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिका कारण हो सके, यह सम्भव नहीं है। इसलिये धर्म नानारूपात्मक है। वह एक होकर भी अनेकरूप है। अनेकतामें एकत्वका दर्शन—यही सृष्टिके परम तत्त्वका दर्शन है।

जब एक ही साधन-प्रणाली, एक ही आचारसंहिता, एक ही जीवन-पद्धति अथवा उपासना-पद्धतिका आग्रह किया जाता है, तब वह बहुत शीघ्र विकृत होने लगती है। उसकी पद्धतियोंमें उसके अनुयायी छूट लेने लगते हैं और उसकी उपेक्षा करने लगते हैं। आज करोड़ों वर्ष व्यतीत होनेपर भी सनातन धर्म केवल जीवित ही नहीं है, समस्त विकृतियों तथा बाह्य आघातोंके निरन्तर थपेड़े सहनेपर भी उसमें अपने अधिकारानुरूप धर्मका आचरण करनेवालोंकी एक बड़ी संख्या है, जब कि विश्वमें एक ग्रन्थ, एक गुरु, एक उपासना-पद्धतिको ही धर्म माननेवाले अनेक सम्प्रदाय जन्मे और नष्ट हो गये। जो आज जीवित हैं, उन अपनेको धर्म कहनेवाले सम्प्रदायोंमें उनके अनुयायियोंकी दृढ़तासे नियम-पालन करनेवालोंका अनुपात सनातन धर्मकी अपेक्षा बहुत कम रह गया है।

धर्म सार्वभौम है, सबके लिये है तो उसका समयानुकूल तथा साधककी परिस्थिति तथा अधिकारके अनुरूप भिन्न-भिन्न रूप भी होगा। इसलिये प्रत्येक युगके विशेष-विशेष धर्म हैं। प्रत्येक वर्ण एवं आश्रमके भिन्न-भिन्न धर्म हैं। प्रत्येकके अधिकारके अनुसार भिन्न-भिन्न धर्म हैं। धर्मके इन विविध रूपोंका नामोल्लेख करनातक सम्भव नहीं है।

इन असंख्य विविधताओंके होते हुए भी बहुत-सी मौलिक एकताएँ होती हैं। जैसे मनुष्योंके रंग तथा आकृतियाँ, उनके कद, उनका वजन भिन्न-भिन्न होनेपर भी उनकी आकृतिमें समानता है, जिसके कारण सब मनुष्य कहलाते हैं। उसी प्रकार सभी मनुष्योंके पृथक्-पृथक् आचरणोंमें भी एक समानता होती है। सबके अभ्युदय-निःश्रेयसके साधनोंमें जो समत्व है, उसे दृष्टिमें रखकर सबके लिये धर्मके—कर्तव्यकर्मके जो मुख्य-मुख्य भेद हैं, उनकी ही चर्चा यहाँ की जा रही है।

नित्यकर्म—यह सबसे मुख्य अङ्ग है धर्मकृत्यका। कहा गया है कि नित्यकर्मके करनेसे कोई पुण्य नहीं होता, न करनेसे पाप होता है। जैसे स्नान करना है। सामान्य स्नान करनेसे शरीरको कोई नयी शक्ति मिलती ही है, यह कहा नहीं जा सकता; किंतु स्नान न करनेसे शरीर मलावृत रहता है और रोगकी ओर जाता है। इसी प्रकार नित्यकर्म-का अर्थ है प्राकृतिक एवं शास्त्रीय रीतिसे दैनिक मानसिक स्वच्छताका कार्य।

प्रकृति स्वभावसे विकारोन्मुख है। कोई भी भवन बनाइये, बंद रखिये; किंतु उसमें थोड़ी-बहुत धूलि-गंदगी एकत्र होती ही है। दैनिक स्वच्छता भवनके लिये, तनके लिये जैसे अपेक्षित है, वैसे ही मनके लिये भी अपेक्षित है। मनको भी सूक्ष्म शरीरका अङ्ग माना गया है। वह भी प्राकृतिक तत्त्व है। अतः मन कोई ऐसा कभी नहीं बनेगा कि उसकी स्वच्छता-का प्रयास बंद कर दिया जाय तो वह स्वच्छ बना रहेगा। यह प्रयास तो करते ही रहना होगा।

केवल स्वच्छताका प्रयास ही नहीं, दैनिक रूपसे पोषण भी आवश्यक है। आप कार्य न करें, चुपचाप पड़े रहें तो भी हृदय काम करता है। रक्त दौड़ता है। अतः शरीरको अपनी शक्ति बनाये रखनेके लिये दैनिक भोजन आवश्यक होता है। इसी प्रकार मनको भी सशक्त रखनेके लिये शुद्ध आहार चाहिये प्रतिदिन। आप शुद्ध आहार नही देंगे तो वह मनमाना आहार ग्रहण कर लेगा और तब बीमार हो जायगा। उसमें मानसिक रोग जड़ पकड़ लेंगे।

स्नान, संध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव आदि कर्म नित्य-कर्म हैं द्विजातिके लिये। इनमें भी संध्यादिकी पद्धति भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक सम्प्रदायने अपने अनुयायियोंके लिये नित्यकर्म निश्चित किये हैं। प्रातःकाल उठकर प्रार्थना करनेसे लेकर शयन करनेतकके लिये नित्यकर्म है। आप संध्या करते हैं या नमाज पढ़ते हैं, इसमें तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य इसमें है कि आपके सम्प्रदायके अनुसार जो आपका

नित्यकर्म है, उसका पालन आपको नियमपूर्वक करना चाहिये। यह मनकी स्वच्छता, स्वस्थता तथा सशक्तताके लिये आवश्यक है।

नैमित्तिक कर्म—मनुष्यके जीवनमें बहुत-से निमित्त आते हैं, जब उसे अपनी दैनिक चर्यामें परिवर्तन करना पड़ता है। उस समय उसे उस निमित्त-विशेषको दृष्टिमें रखकर कार्यक्रम बनाना पड़ता है। धार्मिक दृष्टिसे जब ऐसे विशेष निमित्त आते हैं, तब विशेष धार्मिक कर्म आवश्यक होते हैं।

घरमें संतान होती है, विवाह पड़ता है, कोई विशेष अतिथि आता है, कोई मरता है। ऐसे समय आप अपने कार्यालय, दूकान आदिके सामान्य काममें अन्तर करते हैं या नहीं? इन अवसरोंपर आपके चित्तमें विशेष उत्साह, शोक या चाञ्चल्य होता है। अतएव चित्तके परिष्कारके लिये भी इन अवसरोंपर विशेष आचरण होना चाहिये।

निमित्त स्थानके कारण आते हैं—जैसे आप तीर्थयात्रा करें तो तीर्थस्थान विशेष निमित्त हैं। काल निमित्त बनता है—जैसे एकादशी, अमावस्या, पूर्णिमा, शिवरात्रि आदि। जब प्रकृति-विशेष अवस्थामें होती है, व्यक्ति अथवा घटनाएँ निमित्त बनती हैं। इन निमित्तोंके अनुसार हमारा जीवन, हमारा मन अभ्युदय एवं निःश्रेयसके पथपर ठीक स्थिर रहे, वेगसे बढ़े, इसके जो विधान हैं, वे नैमित्तिक कर्म हैं।

यात्रामें आँधी वेगकी हो और प्रतिकूल हो तो नौका घाटपर लाकर रोक देनी पड़ती है। वायुका वेग अनुकूल हो तो पाल चढ़ा देना पड़ता है। इसी प्रकार नैमित्तिक कर्मके विधान प्रतिकूल निमित्तकी बाधासे रक्षा तथा अनुकूल निमित्तकी शक्तिसे अधिकाधिक लाभ उठानेके लिये निश्चित हुए हैं।

सामान्य धर्म—सबके लिये साधारण रूपसे व्यवहार करनेके कुछ नियम होते हैं। जैसे भारतमें सामान्य नियम है कि मार्गपर अपने बायें हाथकी ओरसे सवारी चलायी जाय। इसी प्रकार सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सेवा, संतोष, मन-इन्द्रियसंयम, ईश्वरमें श्रद्धा आदि सामान्य धर्म हैं। इनका आचरण सबको ही करना चाहिये। ये सबके लिये आचरणीय एवं नित्य मङ्गलमय हैं। श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादजीको देवर्षि नारदने धर्मोपदेश करते हुए तीस लक्षणयुक्त सार्ववर्णिक, सार्वभौम मानवधर्म बताया है।

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥

(श्रीमद्भागवत ७। ११। ८—१२)

१—सत्य, २—दया, ३—तपस्या, ४—पवित्रता, ५—कष्ट-सहिष्णुता, ६—उचित-अनुचितका विचार, ७—मनका संयम, ८—इन्द्रियोंका संयम, ९—अहिंसा, १०—ब्रह्मचर्य, ११—त्याग, १२—स्वाध्याय, १३—सरलता, १४—संतोष, १५—समदर्शिता, १६—सेवा, १७—धीरे-धीरे सांसारिक भोगवृत्तिका त्याग, १८—मनुष्यके लौकिक सुख-प्राप्तिके प्रयत्न उलटा ही फल देते हैं—यह विचार, १९—मौन, २०—आत्मचिन्तन, २१—प्राणियोंमें अन्नादिका यथायोग्य विभाजन तथा उनमें, विशेषकर मनुष्योंमें अपने आराध्यको देखना, २२—महापुरुषोंकी परमगति भगवान्‌के रूप, गुण, लीला, माहात्म्यका श्रवण, २३—भगवन्नाम-गुण-लीलाका कीर्तन, २४—भगवान्‌का स्मरण, २५—२६—भगवत्सेवा तथा पूजा-यज्ञादि, २७—भगवान्‌को नमस्कार करना, २८—भगवान्‌के प्रति दास्यभाव, २९—सख्यभाव और ३०—भगवान्‌को आत्मसमर्पण—इन तीस लक्षणोंवाला धर्म सभी मनुष्योंके लिये कहा गया है। इसके पालनसे सर्वात्मा भगवान् संतुष्ट होते हैं।

विशेष धर्म—मनुष्य होनेके साथ प्रत्येक मनुष्यकी एक विशेष परिस्थिति भी समाजमें है और उस परिस्थितिके अनुसार उसके विशेष कर्तव्य भी होते हैं। आप देशके सामान्य नागरिक हैं, इसलिये नागरिकताके सामान्य कर्तव्यका पालन तो आपको करना ही है। इसके साथ ही आप किसीके पिता, किसीके पुत्र, किसीके पति, किसीके भाई भी हैं। समाजमें आपके दूसरे सैकड़ों सम्बन्ध हैं और उन सम्बन्धोंके अनुसार विभिन्न कर्तव्य, विभिन्न दायित्व आपके हैं। उनका निर्वाह भी आपको करना है।

यह नहीं भूलना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसीका आदर्श है। उसके पुत्र, मित्र, सेवक उसका अनुकरण करते हैं। इसलिये हमारा अपना आचरण केवल हमको ही प्रभावित नहीं करता। उसका हमारे समीपस्थों—

आश्रितोंपर भी प्रभाव पड़ता है। हम अनेकों दूसरोंके अभ्युत्थान या पतनका भी निमित्त अपने आचरणसे बनते हैं। इसलिये हमें अपने कर्तव्य-निर्वाहके प्रति बहुत सतर्क रहनेकी आवश्यकता है।

मनुष्यकी जो समाज, परिवार, राष्ट्रमें विशेष-विशेष स्थिति है, उसके कारण उसके विशेष-विशेष धर्म बन जाते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रका धर्म अपने-अपने वर्णोंके अनुसार। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासीका धर्म अपने-अपने आश्रमके अनुसार। पुरुष, स्त्रीका धर्म अपने शरीरके अनुसार। बालक, युवा, वृद्धका धर्म शरीरकी अवस्थाके अनुसार। माता, पिता, पुत्र, भाई, बहिन, मित्र, गुरु, शिष्य आदिके धर्म अपने सम्बन्ध एवं स्थितिके अनुसार होते हैं।

सैनिकका धर्म एक और प्रशासकका दूसरा। न्यायाधीशका धर्म भिन्न और वकील या व्यापारीका भिन्न। इस प्रकार समाजमें आपकी जो परिस्थिति है, जहाँ, जिस समय, जिस रूपमें, जिस पदपर आप हैं, उसके अनुसार आपका विशेष धर्म निश्चित होता है। एक ही व्यक्तिका धर्म पत्नीके प्रति भिन्न है, पुत्रीके प्रति भिन्न है और माताके प्रति भिन्न है।

काम्यकर्म या धर्म—जबतक हम कुछ नहीं चाहते, जीवन अपनी सामान्य गतिसे चलता रहता है। लेकिन जब हम कुछ पदार्थविशेष या परिस्थितिविशेष प्राप्त करना चाहते हैं, हमको विशेष उद्योग करना पड़ता है और हमारी सफलता उद्योगके सर्वथा ठीक-ठीक होनेपर निर्भर करती है। उद्योगमें त्रुटि होनेपर उद्योग अपूर्ण सफल होगा, असफल होगा या विपरीत फल देगा—कुछ कहा नहीं जा सकता।

काम्यकर्म अनिवार्य नहीं हैं। उनके न करनेसे कोई दोष, कोई पाप नहीं होता। जैसे वार-व्रत हैं। सब वार-व्रत किसी-न-किसी कामनासे किये जाते हैं। अतः कोई रविवार, मङ्गल या किसी अन्य वारका व्रत नहीं करता, यह कोई दोष नहीं है। उस वार-व्रतका जो लाभ है, उस लाभको प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो व्रत कीजिये। काम्यकर्म करनेसे अपना लाभ देता है।

इसमें यह स्मरण रखना चाहिये कि काम्यकर्ममें श्रद्धा तथा विधिका सम्यक् पालन आवश्यक है। 'हम विधि नहीं जानते थे। अमुक भूल अनजानमें हो गयी।' इसकी छूट काम्यकर्म—सकाम धर्मानुष्ठानमें नहीं है। जैसे रोग हुआ या मकान बनवाना है तो दवाकी ठीक जानकारी, ठीक उपयोग, मकानके बनानेका पूरा कौशल जानना अनिवार्य है। बिना जाने या प्रमादसे त्रुटि होगी तो वह अपना फल दिखायेगी। इसी प्रकार सकाम धर्मानुष्ठानमें विधि न जानने या भूल-प्रमादवश त्रुटि होगी तो भी आपका श्रम व्यर्थ जा सकता है या वह उलटा फल भी दिखा सकता है।

आपद्धर्म—मनुष्य सदा सामान्य परिस्थितिमें नहीं रहता। रोग, शोक, विपत्ति आदि आती ही रहती हैं। अतः विधान किया है शास्त्रने ऐसी परिस्थितिमें निर्वाहका। उस समय नित्य अथवा विशेष धर्ममें कुछ छूट दी गयी है; किंतु उतनी ही छूट, जिसके बिना जीवनधारण सम्भव न हो।

एक बार अकाल पड़ा। एक ऋषि भूखसे मरणासन्न थे। प्राणरक्षाके लिये उन्होंने शूद्रसे उसके उच्छिष्ट उबाले उड़द लिये। शूद्रने जल देना चाहा तो ऋषिने कहा—'तुम्हारा उच्छिष्ट जल लेनेसे मैं धर्मभ्रष्ट हो जाऊँगा। जल मुझे अन्यत्र भी मिल सकता है। प्राण-रक्षाके लिये मैंने उड़द लिये कि प्राण रखकर धर्म-पालन तथा आराधना करूँगा।'

यह दृष्टान्त आपद्धर्मकी मर्यादाको बहुत स्पष्ट करता है। किंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि आपद्धर्म धर्म नहीं है। अत्यन्त विवशतामें केवल प्राणरक्षाके लिये धर्ममें किंचित् शिथिलताकी वह छूट है। उस समय वह शिथिलता स्वीकार करनेमें दोष नहीं है; किंतु आपद्धर्म न स्वीकार करके विपत्तिमें, प्राण-संकटमें भी धर्मपर पूर्णतः स्थिर रहना विशेष प्रशस्त—महान् पुण्यप्रद माना गया है।



शरणागत-रक्षण धर्मके आदर्श

(१)

महाराज शिवि

देवराज इन्द्रने उशीनर-नरेश शिविकी धर्म-निष्ठाकी प्रशंसा स्वर्गमें सुनी और उनके मनमें तेजोद्वेष जागा। शिविकी परीक्षा लेनेका उन्होंने निश्चय किया। इन्द्र स्वयं बाज बने और अग्निदेवको कपोत बननेको प्रस्तुत कर लिया। पूरा कार्य-क्रम बनाकर वे पृथ्वीकी ओर चले। देवताओंके नरेश तथा सर्वपूज्य हव्यवाह अग्नि पक्षी बने; किंतु जिसमें पक्षपात है, वही तो पक्षी है और देवता धर्मके पक्षपाती हैं। धर्मनिष्ठकी परीक्षा लेनेका संकल्प उनके लिये अशोभन नहीं है।

महाराज शिवि अपने राजसदनमें प्रातःकालीन संध्या-पूजन समाप्त करके सुखपूर्वक बैठे थे। इतनेमें एक कबूतर डरा-घबराया बड़े वेगसे उड़ता आया और उनकी गोदमें बैठकर उनके वस्त्रोंमें छिप जानेकी चेष्टा करने लगा। कबूतर काँप रहा था। महाराजने उसे स्नेहसे कर-स्पर्श दिया तो वह अपने आपमें सिकुड़कर दुबक गया। इतनेमें ही एक बाज उड़ता आया और सामने बैठकर स्पष्ट मनुष्य-भाषामें बोला—'यह मेरा आहार है। प्रजापालकको किसीका आहार नहीं छीनना चाहिये। आप इसे मुझे दे दें।'

नरेश बोले—'यह मेरी शरण आया है। शरणागतकी रक्षा करना धर्म है। इसका त्याग मैं नहीं कर सकता।'

'मैं क्षुधातुर हूँ और पक्षी मेरा नैसर्गिक भोजन है।' बाजने कहा। 'आप मेरा आहार छीनकर मुझे मृत्युके मुखमें देनेका पाप कर रहे हैं। मैं इतना थक गया हूँ कि अब दूसरा शिकार भी नहीं कर सकता।'

'आवश्यक नहीं है कि तुम इस पक्षीका ही भोजन करो।' शिविने उत्तर दिया। 'तुम्हारे आहारकी व्यवस्था की जा सकती है।'

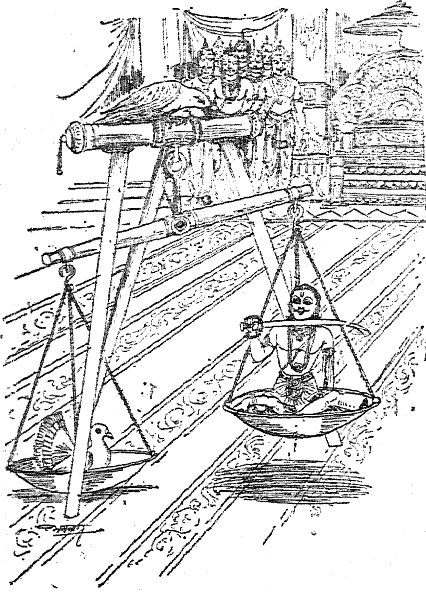
'आप जानते हैं कि मैं मांसाहारी प्राणी हूँ। फल, अन्न, शाक या दूध मेरा भोजन नहीं है।' बाज बोला। 'मुझे भोजन देनेके लिये किसी प्राणीको आप मरवायेंगे ही और वह भी आपके राज्यका, आपका रक्षणीय प्राणी ही होगा। तब इस कपोतसे ही आपको क्यों मोह है? मैं मृत प्राणीका अपवित्र मांस तो खाता नहीं हूँ।'

'किसी अन्य प्राणीका मांस मैं तुम्हें नहीं दूँगा।' शिविके स्वरमें निष्कम्प निश्चय था। 'तुम मेरे मांससे अपनी क्षुधा-तृप्ति कर सकते हो! मैं जीवित हूँ और मेरा मांस अपवित्र है, यह तुम नहीं मानते होगे।'

'आपका शरीर सम्पूर्ण प्रजाकी रक्षाके लिये आवश्यक है। अतः आपका यह निर्णय समझदारीका नहीं है।' बाजने कहा। 'फिर भी मुझे कोई आपत्ति नहीं है। आप इस कपोतकी तौलके बराबर मांस मुझे दे दें। अधिकका लोभ मैं नहीं करता और इससे कममें मेरा काम नहीं चलेगा।'

काँटा-तराजू मँगाया गया। कबूतर एक पलड़ेपर बैठा। दूसरा कोई महाराजके शरीरपर आघात करनेका साहस भला कैसे करता, स्वयं नरेशने ही तलवार उठायी और अपना बायाँ हाथ भुजासहित काटकर पलड़ेपर रख दिया; किंतु आश्चर्य, कबूतर अभी बहुत भारी था। राजाने क्रमशः दोनों पैर घुटनोंतक और फिर कटिसे नीचेतक दोनों जाँघें काटकर पलड़ेपर रख दीं; किंतु कबूतर अब भी भारी ही बना रहा।

'यह सब व्यर्थ है!' शिविने तलवार फेंक दी। उनका अवशिष्ट धड़ रक्तसे लथपथ हो रहा था। उन्होंने एक हाथसे आभूषण तथा वस्त्र, मुकुट आदि उतारे और बोले—'तुम मेरे पूरे शरीरको यथेच्छ खाकर अपनी क्षुधा मिटा लो!'



शिवि स्वयं किसी प्रकार लुढ़ककर पलड़ेपर चढ़ गये थे। उन धर्मप्राणकी तुलना करने—समता करनेकी शक्ति भी उस छद्म-कपोतमें नहीं थी। कपोतका पलड़ा हल्का पड़कर ऊपर उठ गया।

'राजन्! आपका कल्याण हो!' सहसा बाज और कपोत देवराज इन्द्र तथा अग्निके रूपमें प्रकट हो गये। राजा शिविका शरीर स्वस्थ सर्वाङ्गपूर्ण हो गया। इन्द्रने कहा—'आपका धर्म महान् है!'

—सु०

(२)
आश्रितरक्षा-धर्मके आदर्श—युधिष्ठिर

श्रीकृष्णचन्द्रके लीला-संवरणका समाचार मिलते ही धर्मराजने परीक्षित्का राजतिलक किया, अपने सब वस्त्राभूषण उतार दिये। मौनव्रत लेकर, केश खोले, बिना किसीको कोई संकेत-आदेश दिये वीर-संन्यास लेकर वे राजभवनसे निकले और उत्तर दिशाकी ओर चल पड़े। उनके शेष चारों भाइयों तथा द्रौपदीने उनका अनुगमन किया।

न भोजन, न जल और न किसीकी ओर देखना। धर्मराज चुपचाप चलते गये। पैरोंमें काँटे चुभे या छाले पड़े, यह ध्यान ही नहीं था। विश्राम भी कहीं नहीं किया उन्होंने। हस्तिनापुरसे गङ्गाके किनारे-किनारे हरिद्वार, ऋषिकेश और आगे चलते गये। फिर अलकनन्दाका किनारा पकड़ लिया। बद्रीनाथधाम पीछे छूट गया। सत्पथ पार करके स्वर्गारोहणकी दिव्य भूमि आयी। द्रौपदी, नकुल, सहदेव, अर्जुन, भीम—ये क्रम-क्रमसे गिरने लगे—गिरते गये। जो जहाँ गिरा, फिर उठा नहीं। युधिष्ठिर न रुकते थे, न गिरनेवाले भाइयोंकी ओर देखते ही थे। जो गिरा, फिसला, उसे अलकनन्दाके प्रवाहने आत्मसात् कर लिया।

भीमसेन सबसे अन्तमें गिरे। युधिष्ठिर स्वर्गारोहणके उच्चतम शिखरपर, चतुःस्तम्भ पर्वतोंके मध्य जहाँ नारायणपर्वतके चरणोंसे अलकनन्दा तथा भागीरथीके मूल हिमस्रोत (ग्लेशियर) प्रारम्भ होते हैं, पहुँचे। उस समय भी युधिष्ठिर अकेले नहीं थे। उनके पीछे-पीछे हस्तिनापुरसे ही एक कुत्ता चला आ रहा था और वह अब भी उनके साथ था। उनके समान ही भूख, प्यास, विश्राम त्यागकर निरन्तर अनुगामी बना आया था वह।

'आप विमानमें विराजें।' सहसा देवराज इन्द्र विमान लेकर उस दिव्य भूमिपर उतरे और उन्होंने युधिष्ठिरसे सशरीर स्वर्ग चलनेको कहा।

'मेरे भाइयों और द्रौपदीको भी तो ले चलें आप।' अब युधिष्ठिरने भाइयोंका स्मरण किया।

'वे पहले ही वहाँ पहुँच गये।' इन्द्रने बतलाया।

'इस श्वानको भी विमानमें बैठाइये।' धर्मराजने कहा।

'आप धर्मज्ञ हैं। आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। श्वान अपवित्र प्राणी है। स्वर्गमें उसका प्रवेश सम्भव नहीं। इसने मेरा दर्शन कर लिया, यही इसके लिये बहुत है।' देवराज कुत्तेको विमानमें नहीं चढ़ाना चाहते थे।

युधिष्ठिरने कहा—'यह मेरा आश्रित है। मेरी भक्तिके कारण ही इतनी दूर आया है। आश्रितका त्याग अधर्म है। मैं इसे छोड़कर स्वर्ग नहीं जाऊँगा।'

इन्द्रने समझाया—'स्वर्गकी प्राप्ति तो पुण्योंका

फल है। यह पुण्यात्मा ही होता तो इस अधम योनिमें क्यों जन्म लेता?'

'स्वर्ग जानेके लिये इसे पुण्य ही तो चाहिये?' युधिष्ठिरने स्थिर स्वरमें कहा। 'मैंने अपने आधे पुण्य इसको दिये।'

'युधिष्ठिर! धन्य हो तुम।' कुत्ता सहसा धर्मके स्वरूपमें प्रकट हो गया। —सु०

(३)

पतिधर्मके आदर्श अर्जुन और शरणागत-वत्सला सुभद्रा

महर्षि गालव जलमें खड़े होकर संध्या कर रहे थे। उन्होंने सूर्यको अर्घ्य देनेके लिये अञ्जलि उठायी तो ऊपर विमानसे जाते चित्रसेन गन्धर्वके पानकी पीक उनकी अञ्जलिमें गिर पड़ी। बड़ा क्रोध आया ऋषिको, किंतु शाप देकर अपने तपको क्षीण कर लेना उन्होंने ठीक नहीं समझा। वहाँसे सीधे श्रीकृष्णचन्द्रके समीप द्वारका गये।

'कल सूर्यास्तसे पूर्व मैं उस आपका अनादर करनेवाले प्रमत्तको मार दूँगा!' ब्रह्मण्यदेव श्रीकृष्णने प्रतिज्ञा करके ऋषिको शान्त किया और उनका यथोचित सत्कार किया।

महर्षि गालव विदा हुए और देवर्षि नारद द्वारका आ पहुँचे। उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रसे ही उनकी प्रतिज्ञाका पता लग गया। अनजानमें हुए अपराधके लिये गन्धर्वको प्राणदण्ड प्राप्त हो, यह देवर्षिको अच्छा नहीं लगा। वे द्वारकासे चले तो गन्धर्व चित्रसेनके पास ही पहुँचे। वह तो नारदजीसे श्रीद्वारकानाथकी प्रतिज्ञा सुनते ही मानो सूख गया। श्रीकृष्णने प्रतिज्ञा कर ली तो त्रिलोकीमें उसे कौन बचा सकता है।

'अब अपने प्राण बचानेकी चिन्ता करो!' देवर्षिने कहा।

'चिन्ता करनेको अब रह क्या गया?' गन्धर्व सम्पूर्ण निराश हो गया था। फिर भी उसने एक बार प्रयत्न करके देखा। इन्द्र, यम, वरुण आदिकी कौन कहे, ब्रह्मा तथा शंकरजीने भी उसे टके-सा कोरा उत्तर दे दिया। फिर लौटकर उसने देवर्षिको ढूँढ़ा।

'यमुना-तटपर जाओ। रात्रिमें कोई स्त्री दीखे तो उच्चस्वरसे रोना। जबतक तुम्हारा दुःख दूर करनेकी प्रतिज्ञा न कर ले, बतलाना मत।' देवर्षिने मार्ग सुझाया।

'देवि! तुम्हें यह बतलाने आया हूँ कि आज आधी रातको यमुना-स्नान करके किसीका दुःख दूर किया जाय तो उसका अक्षय फल देनेवाला मुहूर्त है।' गन्धर्वको उपदेश करके नारदजी इन्द्रप्रस्थ आये और उन्होंने सुभद्राको यह धर्मका उपदेश किया।

आधी रातको देवी सुभद्रा दो-चार सेविकाओंके साथ यमुना-स्नान करने पहुँचीं। वहाँ उन्होंने गन्धर्वकी रुदन-ध्वनि सुनी। स्नान करके उसके पास गयीं। बड़ा उत्साह था मनमें कि किसीका दुःख दूर करनेका सुअवसर भी अनायास हाथ लगा। बहुत पूछा; किंतु गन्धर्व एक ही रट लगाये था—'मेरी विपत्ति कोई दूर नहीं कर सकता। आप राजसदन पधारें। मैं तो यहाँ प्राण त्यागने ही आया हूँ।'



'मैं श्रीकृष्णभगिनी मध्यम पाण्डवपत्नी सुभद्रा तेरे दुःखको दूर करनेकी प्रतिज्ञा करती हूँ। तू अपनी विपत्ति तो बता।' सुभद्राने आग्रहपूर्वक कहा।

गन्धर्वने अब विपत्ति बतलायी। प्रतिज्ञा तो की जा चुकी थी। वे उसे साथ ले आयीं। उनसे सब बातें सुनकर अर्जुनने कहा—'तुमने प्रतिज्ञा की तो वह मेरी ही प्रतिज्ञा है।'

देवर्षि नारद सूर्योदयके साथ द्वारका पहुँचे। उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा—'आपकी बहिनने चित्रसेन-को अभय दे दिया है। अब गाण्डीवधन्वाकी रक्षामें है वह। उसके विरुद्ध अस्त्र उठानेसे पूर्व विचार कर लें।'

लीलामयने नारदजीको ही दूत बनाया। उनको अर्जुनने कहा—'मेरी शक्ति, मेरे सर्वस्व श्रीकृष्ण हैं, किंतु मैं उनके बलपर ही उनसे युद्ध करूँगा। शरणागतका त्याग मैं नहीं कर सकता।'

देवर्षि समाचार लेकर लौटे। युद्धके अतिरिक्त तो अब कोई उपाय न था। बड़ा तुमुल युद्ध हुआ! द्वारका और इन्द्रप्रस्थके लोग दर्शक ही रह सकते थे इन अभिन्न मित्रोंके संग्राममें। दिव्यास्त्रोंकी झड़ी लग गयी। बड़े-बड़े महारथियोंने जिन महास्त्रोंके केवल नाम सुने थे, वे प्रयुक्त हुए और प्रशमित कर दिये गये। न शार्ङ्गधन्वाके कर शिथिल होते थे, न गाण्डीवधारीका त्रोण खाली होता था।

अन्तमें श्रीकृष्णने चक्र उठाया तो अर्जुनने धनुषपर पाशुपतास्त्र चढ़ा लिया। दोनों अमोघ, दोनों प्रलय करनेमें समर्थ; किंतु मध्यमें भगवान् गङ्गाधर त्रिलोचन शिव प्रकट हो गये। उन्होंने संकेतसे ही अर्जुनको शान्त किया और हाथ जोड़कर श्रीकृष्णसे बोले—'लीलामय! पार्थने अपनी प्रतिज्ञा कभी तोड़ी नहीं और भक्तके सम्मुख आपने अपनी प्रतिज्ञाको कभी महत्त्व दिया नहीं, अतः आज भी आपको भक्तका हठ रखना है।'

'आप जिसपर अनुग्रह करना चाहें, उसका अनिष्ट कैसे सम्भव है।' श्यामसुन्दरने भगवान् शंकरको मस्तक झुकाया और आगे बढ़कर अर्जुनको गलेसे लगा लिया। गन्धर्व चित्रसेनको उन्होंने भी अभय दे दिया।

'तुम सब परस्पर मिलकर मेरे अपराधीके रक्षक बन गये हो।' महर्षि गालवने जो देखा कि श्रीकृष्णने भी गन्धर्वको अभय कर दिया तो क्रुद्ध हुए। उन्होंने कमण्डलुका जल हाथमें लिया—'तपस्वी ब्राह्मणकी शक्तिका तुम्हें अभी पता लग जायगा। मैं इस अधम गन्धर्व तथा उसके सब आश्रयदाताओं-को भस्म कर दूँगा।'

'यदि मैं अपने पतिके प्रति एकनिष्ठा हूँ तो आप शापका जल भूमिपर गिरा नहीं सकते!' स्वभावसे तेजस्विनी सुभद्राने ऋषिकी ओर देखकर कहा। ऋषिने हाथका जल भूमिपर डालना चाहा; किंतु वह तो उनके हाथमें जैसे चिपक गया था।

'महर्षि! सतीके साथ स्पर्धा करनेकी शक्ति मुझमें भी नहीं है।' भगवान् शंकरने गालवको झिड़क दिया। 'अब आपका यह दक्षिण कर तो इस शापजलसे अपवित्र हो गया। यह किसी शुभ कार्यके योग्य नहीं रहा। किंतु देवी सुभद्राको अधिक रुष्ट न करके प्रस्थान करनेमें ही आपकी कुशल है।'

महर्षि गालव लज्जित होकर विदा हो गये। —सु०

(४)

शरणागतरक्षण धर्मके आदर्श राणा हमीर

बहुत थोड़ा अपराध था उस मंगोल सरदारका। वह बादशाहका मुँहलगा था। अपनी वीरता और ईमानदारीके कारण बहुत सम्मानित था। लेकिन उस दिन वह जरा कड़ा मजाक कर बैठा था। क्रूर तथा कुटिल बादशाह अलाउद्दीन आपेसे बाहर हो गया। बादशाहके तेवर चढ़े देखकर वह तुरंत खिसक गया महलसे। अलाउद्दीनको वह खूब पहचानता था। इसलिये दिल्ली छोड़कर तुरंत भाग खड़ा हुआ।

बादशाहने उसे पकड़नेको सिपाही भेजे। उसके भागनेका समाचार पाकर वह क्रोधसे पागल होकर चीखा—'उसे वह जहाँ हो, पकड़ना पड़ेगा। मौतकी सजा है उसके लिये।'

मंगोल सरदार दिल्ली छोड़कर भागा। अनेक स्थानोंपर गया, किंतु उसे शरण देकर बादशाहसे शत्रुता लेनेका साहस किसीमें नहीं था। भटकता हुआ वह रणथम्भौर पहुँचा। वहाँके राणा हमीरने उसका स्वागत करके कहा—'आप मेरे यहाँ सुख-पूर्वक रहें।' राजपूत सिर देकर भी शरणागतकी रक्षा करते हैं।

बादशाह अलाउद्दीनको यह समाचार मिला। उसने राणा हमीरके पास संदेश भेजा—'शाही अपराधीको शरण देना तख्तकी तौहीन करना है। रणथम्भौरकी ईंट-से-ईंट बजा दी जायगी; नहीं तो हमारे अपराधीको लौटा दो।'

राणा हमीरका उत्तर सीधा था—'ऐसा नहीं हो सकता कि कोई आर्त मनुष्य प्राणरक्षाके लिये राजपूतकी शरण आये तो क्षत्रिय उसे निराश कर दे। राज्य-नाश अथवा प्राणभयसे हम धर्म नहीं छोड़ेंगे। जो विपत्तिसे दुखीको बचाये नहीं, वह क्षत्रिय कैसा?'

सरदार लोग राणासे सहमत नहीं थे। उनका कहना था—'बादशाहसे शत्रुता लेना ठीक नहीं। यह भगोड़ा सरदार मुसल्मान है। यह अन्तमें अपने लोगोंसे मिल जायगा।

राणा हमीर झुक जाते तो 'हमीर-हठ' विख्यात कैसे होता? वे बोले—'मेरा धर्म यह नहीं है कि शरणागत कौन है, क्या किया उसने अथवा आगे क्या करेगा—इसका विचार करूँ। लोभ अथवा भय-से मैं कर्तव्यका त्याग नहीं करूँगा।'

अलाउद्दीनने राणाका उत्तर पाकर भारी सेना भेज दी; किंतु रणथम्भौरका दुर्ग लोहेका चना सिद्ध हुआ। शाही सेनाके छक्के छुड़ा दिये राजपूतोंने। कई बारका आक्रमण व्यर्थ गया तो सेनाने दुर्गपर घेरा डाल दिया। पाँच वर्षतक घेरा डाले बादशाहकी सेना पड़ी रही। उसके सैकड़ों सैनिक मारे गये; किंतु उसे बराबर सहायता मिलती गयी।

रणथम्भौरके दुर्गमें भोजन समाप्त हो गया। सैनिक घटते ही जा रहे थे। मंगोल सरदारने कई बार राणासे कहा कि उसे बादशाहके पास जाने दिया जाय, उसके कारण राणा और विनाश न करायें; किंतु राणाने उसे हर बार रोक दिया—'आपको एक राजपूतने शरण दी है। प्राण रहते आपको वहाँ नहीं जाने दूँगा।'

दुर्गमें उपवास चल रहा था। एक बड़ी चिता बनायी गयी दुर्गके प्राङ्गणमें। दुर्गके भीतरकी सब नारियाँ उस प्रज्वलित चितामें प्रसन्नतापूर्वक कूद-कर सती हो गयीं। पुरुषोंने केशरिया वस्त्र पहिने और दुर्गका द्वार खोलकर शत्रुपर टूट पड़े। उनमेंसे एक भी उस युद्धमें जीता नहीं बचा। केवल वह मंगोल-सरदार पकड़ा गया। अलाउद्दीनने उससे पूछा—'तुमको छोड़ दूँ तो क्या करोगे।'

सरदार बोला—'हमीरकी संतानको दिल्लीका तख्त देनेके लिये तुमसे जिंदगी भर तलवार बजाऊँगा।'

क्रूर अलाउद्दीन भला उसे जीवित छोड़ सकता था?

—सु०

कठोर वाणीसे मर्माघात मत करो

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेद् रुशतीं पापलोक्याम्॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति राज्यहानि।
परस्य वा मर्मसु ये पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु॥

(महाभारत अनु० १०४। ३१-३२)

दूसरोंके मर्मपर आघात न करे, क्रूरतापूर्ण बात न बोले, औरोंको नीचा न दिखाये। जिसके कहनेसे दूसरोंको उद्वेग होता हो, ऐसी रुखाईसे भरी हुई बात पापियोंके लोकोंमें ले जानेवाली होती है। अतः वैसी बात कभी न बोले।

वचनरूपी बाण मुँहसे निकलते हैं, जिनसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोकमें पड़ा रहता है। अतः जो दूसरोंके मर्मस्थानोंपर चोट करते हैं, ऐसे वचन विद्वान् पुरुष दूसरोंके प्रति कभी न कहे।

सत्य सनातन विश्व-धर्म

[The True Eternal Universal Faith]

(लेखक—दासपतित)

श्रीभगवान्का शाश्वत भागवत-धर्म एक है। वह अखण्ड है, सार्वभौम है, अविनाशी, अनादि और अनन्त है। वह भगवान्से सदा अभिन्न है। वह स्वयं भगवत्स्वरूप ही है। उस शाश्वत अमृतमय धर्मप्रवाहमें जो भी किसी भी प्रकार आ पड़ता है, वह भगवान्को प्राप्त करके ही रहता है, वह भगवान्को प्राप्त हो चुका—ठीक वैसे ही जैसे बम्बईको जानेवाली गाड़ीमें जो बैठ गया, वह बम्बई पहुँच ही चुका, पहुँचकर ही रहेगा। यही शाश्वत भागवत-धर्म अनेक नाम-रूपोंसे प्रसिद्ध होते हुए भी अपने मूल रूपमें सदा एक अखण्ड बना रहता है। देश-काल-पात्रानुसार इसीकी आंशिक प्रसिद्धि ही विभिन्न सम्प्रदायोंका रूप धारण किया करती है। इसी एक शाश्वत धर्मकी घोषणा समय-समयपर अनादिकालसे आजतक अनेक महर्षि-मुनि, अवतार, पैगम्बर और धर्माचार्य आदि करते चले आये हैं। संसारके सब धर्म, मत, सम्प्रदाय इत्यादि इसीके अभिन्न अङ्ग हैं। यह सबका प्राण है, सबका सामञ्जस्य करता है, सबको स्वीकार करता है और सबका मित्र है। यही सत्य सनातन विश्वधर्म—The True Eternal Universal Faith है।

परिभाषा—जो सत्य है अर्थात् तर्क और विज्ञानकी कसौटीपर खरा उतरता है, अनुभवसिद्ध तथा विश्वके सब धर्मोंद्वारा अनुमोदित है, वही सत्य है। जो अपौरुषेय है, अनादिकालसे अखण्ड रूपमें चला आया है, वही सनातन है और जिसका विश्वके किसी धर्म, अवतार, आचार्य और पैगम्बर आदिसे कोई विरोध नहीं है, जो सबका सम्मान करता है, जो सम्पूर्ण विश्वको आश्रय देता है, वही विश्व-धर्म या सार्वभौम-धर्म है। यही इस सत्य, सनातन विश्व-धर्मकी परिभाषा हुई। अब तो कोई भी धर्म विश्व-धर्म होनेका दावा कर सकता है। पर इस प्रकारके सत्य, सनातन विश्व-धर्म अर्थात् शाश्वत भागवत-धर्मके दर्शन हमें सर्वप्रथम वेदोंमें, वेदान्तदर्शनमें और भगवद्गीतामें ही होते हैं।

धर्मकी अनिवार्य आवश्यकता—जो इस चराचर सृष्टिको धारण किये हुए है, वही धर्म कहलाता है अर्थात् जिसके द्वारा यह सब अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त होता है, वही धर्म है। तब फिर ऐसे धर्मसे विमुख होकर कौन रह सकता है? मानव-जीवनमें संतुलन स्थापित करनेके लिये धर्मकी नितान्त आवश्यकता है। अपने-अपने अधिकारके अनुसार जीवनमें धर्मका समावेश करनेपर ही सामञ्जस्य और संतुलन स्थापित होकर शान्ति प्राप्त हो सकती है, अन्यथा नहीं।

देश-काल-पात्रानुसार धर्मका रूपान्तर—जिस शाश्वत वैदिक विज्ञानका विकास करके आज भौतिकवाद इतना उन्नत हो गया है, उसी वैदिक अध्यात्मवादका समयोचित विकास करके हमें अध्यात्मवादको इतना ऊँचा उठाना होगा कि वह भौतिकवादको अपने काबूमें कर ले। पूर्वकालमें हमने ऐसा किया भी था। राम और रावण इसके ऐतिहासिक वैज्ञानिक प्रमाण हैं। ऐसा किये बिना केवल भौतिकवाद, संशयवाद, साम्यवाद और नास्तिकवाद और फिर विषयलिप्सावादको केवल कोसते रहनेसे काम न चलेगा। हमें कर्म-क्षेत्रमें आना पड़ेगा। कठिन परिश्रम, तप और त्यागका अनुष्ठान करके प्रखर आत्मशक्ति जगानी होगी, जिसके प्रकाशमें भौतिकवाद अपने-आप म्लान पड़ जायगा और 'भूप राज तज होहिं बिरागी'—की उक्ति चरितार्थ होने लगेगी। जिस प्रकार जर्मनीने कठिन परिश्रम करके विज्ञानकी उन्नति की, उसी प्रकार हम भारतीय भी कठिन तप करके अध्यात्मवादकी उन्नति कर सकते हैं। ऐसा हम करते आये हैं। यह हमारी बपौती है।

आजका धर्म—आज विश्वको जिस ज्ञानिक, सार्वभौम प्रत्यक्ष धर्मकी आवश्यकता है, उसकी पूर्ति केवल हमारा सत्य, सनातन विश्व-धर्म ही कर सकता है। इसके सक्रिय विश्वव्यापी प्रचार-प्रसारके लिये हर भारतीयको कटिबद्ध हो जाना चाहिये। अपने-अपने अधिकार और योग्यताके अनुसार इस सत्य, सनातन विश्व-धर्मको विश्वव्यापी बनानेमें यथाशक्ति सहयोग देनेका दृढ़ संकल्प आज ही कर लेना चाहिये।

पाश्चात्त्य देशोंमें धर्म-पिपासा—आजकल हम भारतीय आम तौरपर पाश्चात्त्योंके प्रति यह दोषारोपण करते हैं कि वे अधार्मिक हैं, धर्मको नहीं मानते। किंतु

बात ऐसी नहीं है। पाश्चात्योंने केवल बहुत बड़े अनुपातमें कट्टर पंथवादी, साम्प्रदायिक ईसाई धर्मका परित्याग अवश्य किया है; किंतु आज उनकी धर्मपिपासा संसारमें सर्वाधिक बढ़ी हुई है, धर्मके लिये सब प्रकारका त्याग करनेको वे तैयार हैं, किंतु उन्हें चाहिये वैज्ञानिक धर्म। ऐसा धर्म उन्हें कौन बताये ? उन्हें भारतसे बड़ी आशा थी; किंतु स्वतन्त्र भारत तो आज पाश्चात्योंकी जूठन चाटनेपर, उनका अनुकरण करके उनका उलटा चेला बननेपर उतारू हो चुका है। परिणामतः पाश्चात्य धर्मपिपासु दिनोंदिन हताश होते जा रहे हैं।

विश्वकल्याण किस बातमें है—भौतिकवादी पाश्चात्योंकी यह धर्म-पिपासा मिटानेमें ही आज विश्वका कल्याण है, अन्यथा वे महान् प्रयत्नशील कर्मठ पुरुष भीषण पुरुषार्थके द्वारा जडोन्नति करके विश्वको चौपट कर डालेंगे !

भारतका हित—हर राष्ट्रकी कोई-न-कोई वास्तविकता और विशेषता हुआ करती है। उसे ही अपनाये रहनेमें उस राष्ट्रका हित है। उसीमें उसका जीवन निहित रहता है। इस परम पुनीत विश्वगुरु भारतकी विशेषता और वास्तविकता धर्म, अध्यात्मवाद, सभ्यता और संस्कृतिमें है। इसे अपनाये रहनेमें ही हमारा हित है। इसे छोड़कर हम अवश्यमेव विनाशको प्राप्त हो जायँगे, हम कहींके भी न रहेंगे और वैसा हो भी रहा है। यदि शीघ्रातिशीघ्र हमें अपना हित करना है तो शीघ्रातिशीघ्र हमें अपने जन्मजात जगद्गुरु-पदपर आरूढ़ हो जाना चाहिये। सम्पूर्ण विश्वको हमारे प्रचण्ड अध्यात्मवादसे मुग्ध करके उसमें दीक्षित कर देना चाहिये। इसीमें हमारा परम हित है।

वर्तमान धर्म-संकट और उससे बचनेके उपाय—यों तो संसारके सभी धर्म आज भौतिकवादकी अभिवृद्धिके कारण संकटग्रस्त हैं, किंतु हिंदू-धर्म सबसे अधिक है। इसके तो कोई रक्षक ही नहीं हैं, जो हैं वे अत्यन्त कमजोर हैं। कारण इसका केवल एक ही है। हमारी श्रद्धा पश्चिमोन्मुखी हो गयी है। हम पाश्चात्योंके अन्धानुकरण करनेवाले अनुचर भक्त हो गये हैं। अतः 'खग जानै खग ही की भाषा' की उक्तिके अनुसार यदि पाश्चात्य लोग धार्मिक हो जायँ तो हम भी हो जायँ। इसलिये हमें चाहिये कि हम पाश्चात्योंको अधिक-से-अधिक संख्यामें हमारे अनुयायी बनायें। उनके सक्रिय सहयोगसे ही भारतमें धार्मिक पुनर्जागरण हो सकता है, अन्यथा नहीं। विना ऐसा किये आजका धर्म-संकट बहुत उपाय करनेपर भी मिटनेका नहीं !

अन्ताराष्ट्रीय धर्मदूत-संघ—एक दिन वह था, जब भारतने प्रचण्ड धर्मदूत-ओज (Missionary Spirit) जाग्रत् करके सम्पूर्ण विश्वको भारतीय धर्मोंमें दीक्षित कर दिया था। वह हमारे उत्कर्षका उच्चतम युग था। आज हम उसी धर्मदूत ओज (Missionary Spirit) को खोकर दीन, हीन, म्लान हो गये हैं। आज भारत स्वतन्त्र है, अतः हमें पुनः प्रचण्ड धर्म-प्रचार-ओज जाग्रत् करना होगा। हमें अन्ताराष्ट्रीय धर्मदूत-संघोंकी स्थापना करके संसारके सम्पूर्ण देशोंमें योग्य धर्मदूतों (Missionaries) को भेजना होगा। हमारा जो राष्ट्रीय उत्थान हमारे हजारों वैज्ञानिक और सिपाही नहीं कर सकते, वह केवल कुछ थोड़े-से ही धर्मदूत कर सकेंगे।

हरिनाम और भगवद्गीताका विश्वव्यापी प्रचार—हरिनाम-प्रचारकी महिमासे हमारे ग्रन्थ भरे पड़े हैं। गीताके प्रचारकी महिमा भगवान्ने स्वयं गीतामें बतायी है, कितनी अधिक है वह। पर हम वैसा कहाँ कर रहे हैं, हमारा साधु-समाज और साधक-समाज कहाँ इधर ध्यान दे रहा है। भारतीयो ! उठ खड़े होओ ! विश्वभरमें हरिनामकी गूँज उठा दो। भारतके घर-घरमें और विश्वके कोने-कोनेमें भगवद्गीताका संदेश सुना दो। तुम भगवान्के वचनानुसार उनके सबसे अधिक प्रिय होओगे; फिर तुम्हारी रक्षा और सहायता वे क्यों न करेंगे, अवश्य करेंगे। तुम अवश्य सफल होओगे। उठ खड़े होओ, शीघ्रातिशीघ्र कटिबद्ध हो जाओ। सम्पूर्ण विश्वको 'सत्य-सनातन विश्वधर्म'में दीक्षित कर दो। भगवान्का नाम और उनका प्रिय संदेश गीता सब संसारको सुना दो और इस प्रकार सहज ही भगवान्के सर्वाधिक प्रियजन बन जाओ। इसीमें तुम सबका कल्याण है। इसीमें भारतका सर्वाधिक हित है और इसीमें विश्वका वास्तविक कल्याण है। यही आज भगवान्की सबसे बड़ी सेवा है, जिसकी आज उन्हें और सम्पूर्ण मानवजातिको अत्यन्त आवश्यकता है। यही सत्य-सनातन विश्वधर्मका सक्रिय प्रचार है।

धर्मका सत्य-स्वरूप

(लेखक— राजयोगी डॉ० स्वामी श्रीबालदत्तानन्दजी एम्० डी०, एच्० एम्० डी०, एम्० बी०, आइ० एम्० एस्०)

अव्यक्त स्वरूपसे मैंने व्यक्त रूप धारण किया, फिर मैं वासना-का शिकार हुआ और पञ्चमहाभूतोंके महाप्रासादमें आकर फँस गया। यहाँ आधि, व्याधि और उपाधियोंद्वारा पछाड़ा गया, उन्होंने मुझे अभिभूत कर दिया। तब मुझमें सद्विवेक-बुद्धि जाग्रत् हुई। फिर भावनाओंमें उफान आने लगी। विचार-रश्मिने उनका मन्थन किया और उनमेंसे जो ज्ञानरूप नवनीत सत्त्वके फेनके साथ ऊपर आया, वही आप सबको खाद्यरूपमें भेंट कर रहा हूँ। मात्र जबर्दस्ती किसीसे न की जायगी। जिनमें सदिच्छा हो, उन्हें ही यह पचेगा, पसंद पड़ेगा। वे इसे अवश्य ग्रहण करें, भरपेट खाकर तृप्त हों, किसी तरहका संकोच न करें। संकोचसे हानि होगी। संकोच प्रगतिका शत्रु और विपरीत गतिका मित्र है।

अपने आस-पास चारों ओर फैले प्रकृति-सौन्दर्यपर दृष्टि दौड़ाइये। उसकी प्रतिक्षणकी हलचलपर सतर्कतासे ध्यान दीजिये। उसकी बदलती अवस्थासे क्षणभर एकरूप बनिये और उसकी परिवर्तित अनुपम स्थितिका बारीकीसे अवलोकन कीजिये।

वह देखिये, पूर्वकी ओरसे धीरे-धीरे मन्थर गतिसे ऊपर उठ रहा सूर्यबिम्ब! वह देखिये, तरु-लताओंपर स्वच्छन्द डोलनेवाली रम्य कलिकाएँ! नींदसे जगे व्यक्तिके अर्धोन्मीलित नेत्रद्वयकी तरह बड़ी स्वस्थतासे धीरे-धीरे वे अनेक पँखुड़ियाँ खोले जा रही हैं। क्षणभरमें उन पँखुड़ियोंके बीच छिपा परिमलयुक्त परागकुम्भ अब सुस्पष्ट दीखने लगा। उसमें भरे सुधामृतका आकण्ठ प्राशन करनेके लिये गुञ्जार करते हुए आनेवाला वह अलि-पटल! सभी कुछ एक ही क्षणमें!

सुगन्ध दीखती नहीं। उसकी अनुभूति केवल श्वासोंको ही होती है! फिर भी कितना मस्त और मतवाला बनाने-वाले हैं वे पराग-कण और उनका वह परिमल, जिससे मलिन मनको सद्भावनाका आकार प्राप्त होता है और वह अपनी मस्तीमें झूमने लगता है! पर क्षणभरमें जाने कहाँसे गुञ्जार करते भ्रमर आते हैं और वे चराचरको हँसाने-खिलानेवाले फूलोंके परिमलयुक्त मकरन्द बिन्दुओंका पान करके तत्काल जिस रास्ते आये, उसी रास्ते गुंजार करते हुए ही निकले जा रहे हैं। हम केवल आँखें मूँद डोलते ही रहते हैं।

यह सारा क्या है? इससे हमें क्या शिक्षा मिलती है? कैसा बोध मिलता है? प्रत्येकके कर्तव्य-कर्म भिन्न-भिन्न हैं, प्रत्येक धर्म भिन्न-भिन्न! कारण, धर्म ही हर-एकसे कर्म-कर्तव्य करा लेता है। धर्मके हाथों कर्मकी सार्वभौम सत्ता है। धर्मके कारण ही एक बार नियतकर्म तबतक, जबतक कि वह साकार स्वरूपमें बना हुआ है, बदल नहीं सकता।

माताके उदरसे जन्म ग्रहण करनेवाला प्रत्येक जीव अपने साथ धर्म लेकर ही जन्मता है। जन्म लेना भी एक धर्म ही है। बिना ज्योतिके प्रकाश नहीं। बिना अग्निके धूम नहीं। इसी तरह बिना धर्मके कर्म नहीं। पहले धर्म और उसके बाद कर्म।

धर्म चराचरकी प्रत्येक वस्तुमें अदृश्यरूपमें निवास करता है। धर्मके बिना कोई क्षणभर भी जी नहीं सकता। जिसमें धर्म नहीं, वह पार्थिव है। जहाँ धर्मका आगत-स्वागत नहीं, वह भूमि भी श्मशानवत् है!

श्मशान सभीके लिये समष्टिरूपसे देखनेका एक महान् आदर्श केन्द्र है। वहाँ पहुँचनेपर रंक और रावमें पूर्ण साम्ययोगका दर्शन होता है। वहाँ किसीकी द्वैतबुद्धि ही नहीं रहती। उस पवित्र भूमिमें सभी जीवोंको अद्वैत-भावनाका परिपाठ पढ़ाया जाता है। केवल वह पाठ सबके जीवनपर अन्तिम क्षणके बाद, यह भी उतना ही सत्य है! हाँ, वहाँ जानेके लिये लोग डरते अवश्य हैं और यही भय अधर्मका द्योतक है।

किसीकी निन्दा नहीं। किसीसे द्वेष नहीं। न कोई बड़ा है, न कोई छोटा ही है। कहीं आवाज नहीं, कहीं शोरगुल नहीं। कितना रम्य और कितना प्रशान्त है वह स्थल! कोई भी आये और अग्नि माताकी पवित्र गोदमें शयनकर धीरे-धीरे महानिद्राका अपरिमेय आनन्द लूट ले! किसीको वहाँ रोक नहीं। किसीको वहाँ अटकाव नहीं। इतना अवश्य है कि आजतक माया-मोहके इस

असार वातावरणमें जीव पञ्चभूतोंकी जो पोशाक पहनता है, जो अपने-अपने स्वार्थवश धूलि-धूसरित हो गयी है, अग्निमाता उसे पसंद नहीं करती। कारण, वह ठहरी अत्यन्त पवित्र, अत्यन्त शुचिभूत! माया-मोहके अनेक संतापोंसे तपकर, प्रत्यक्ष अनुभव लेकर, असार जीवनसे ऊबकर सदाके लिये चिरविश्रामार्थ आये हुए दुखी-जीवोंको क्या वह यों ही अपने पवित्र, विशुद्ध अङ्कपर चिरविश्रामार्थ स्थान देती है? पहले ही जीवनभर कर्तव्य-कर्म करके यह बेचारा जीव थक जाता है। उस समय निद्रामाता उसका संगोपन करती है। किंतु जब यह जीवात्मा अधिक थक जाता है और फिर विश्रामका सुख चाहता है, तब खोजनेपर भी अग्नि-माताकी गोदके सिवा वैसा एकान्त, नितान्त स्थल कहीं नहीं मिलता। इसलिये वह उस स्थितिमें निर्जीव रूप धारण करता है, अचेतन बनता है। उसे अग्निमाताके पास जो जाना है। किंतु उस समय उसमें एक कदम चलनेकी भी शक्ति नहीं रहती। ऐसे समय मृत्यु उसे मूर्छित कर देती है। उसीके ज्ञाति-बान्धव उसे उठाकर ले जाते हैं और यह पूर्ण विश्वास हो जानेपर कि अब यह होशमें नहीं आ सकता और न किसी तरह हलचल ही कर पायेगा, श्मशानमें अग्नि-माताके हवाले कर देते और वापस लौट जाते हैं। फिर वह जीवात्मा अग्नि-माताकी गोदमें मत्था टेककर विश्राम लेता है। उसे गाढ़ निद्रामें सोया और मृत्युसे पूर्व मूर्छित किया देख ममतामयी अग्नि-माता अपने कुसुम-कोमल करसे उसके ऊपरका वह सारा परिधान निकाल डालती है, जिसे वह लज्जाके संरक्षणार्थ पहने रहता है और जो वासनामय देहके पञ्चभूतसे बने सुन्दर वस्त्र कहे जाते हैं। फिर वह माता उसपर अपनी ज्वाला-छाया फैलाकर इस पार्थिव, असार संसारका सदाके लिये नाता तुड़ाकर उसे ऐसी नयी दुनियामें ले जाती है, जहाँ उसे अद्वैत, शाश्वत, चिर सुख-समाधान और शान्ति मिलती है।

सारांश, यह सब धर्मकी अनुज्ञासे ही हुआ करता है। अङ्कुरकी सम्पूर्ण वृद्धिके लिये मृत्तिका, पानी और पवन—तीनोंको सर्वथा, सर्वाधिक ध्यान रखना पड़ता है। फिर बीजसे अङ्कुर फूटकर एक महत्-शाख—शाखीके रूपमें, महावृक्षके रूपमें रूपान्तरण होता है। उसे बहुसंख्य पुष्प और फल आते हैं और पुनः पूर्ववत् बीज-निर्माण होता है। यह सारा चक्रनेमि-क्रमसे घूमनेवाला सृष्टिचक्र तभीतक चलता है, जबतक उसमें धर्म विराजमान हो। उसके बाद तो उसे भी अग्नि-माताकी ही गोद गहनी पड़ती है।

वृक्ष कहते ही शाखा, पत्ते, फूल, फलोंसे सम्पन्न उसका ढाँचा सामने खड़ा हो जाता है। ये सारे उसके अङ्ग वृक्षका धर्म हैं। कली खिलनेपर उसका सुन्दर फूलमें रूपान्तरण होकर उसके पराग-कणोंका परिमल आसमन्तात् फैलाना पुष्पोंका धर्म है। अर्थात् प्रत्येकके तत्तत्-कर्मानुसार अपने-अपने धर्मकी तरह-तरहकी अर्थ-गर्भ व्याख्याएँ की जा सकती हैं। कारण, धर्मका जन्म ही कर्मके उदरसे होता है। प्रत्येकके कर्तव्य-कर्मसे ही उसका गुण या धर्म निर्धारित किया जाता है।

वास्तवमें जो सत्य है, उसे 'सत्य' माननेके लिये हम तैयार ही नहीं होते। आप ही बतायें, निसर्गके नियम आजतक कोई बदल सका है? क्या कभी किसीने पूर्वका सूर्य पश्चिमकी ओर उगते हुए देखा है? क्या कभी आपने सुना है कि उसने अपने उदयका समय बदल दिया? कभी मध्यरात्रिमें, निशीथमें, तो कभी सायंकाल प्रदोषमें उसे किसीने देखा है? अपने जन्मसे इस क्षणतक किसने ऐसी अद्भुत घटना देखी है? चन्द्रकी कलाएँ धारणकर सूर्य-सा स्वयं प्रकाशित होते हुए पूर्णिमाके शीतल प्रकाशको बिखेरते हुए कभी किसीने सूर्यको प्रदोषमें उदित और प्रभातमें डूबते देखा है? अपनेको लगानेवाले आजके बुद्धिवादी वैज्ञानिक यह कीमिया दिखाते तो रात्रिको पक्षपातका यह अवसर ही न मिल पाता कि वह गरीबोंकी झोंपड़ियोंमें 'ब्लैक-आउट' कर देती, टिम-टिमाते दीप जलाती और श्रीमानोंके प्रासादोंमें बटन दबाते ही प्रकृष्ट प्रकाश छा देती! ऐसे करोड़ों प्रश्न हैं, जिनका उत्तर आजतक कोई नहीं दे पाया और भविष्यमें भी न दे सकेगा।

धर्म हमें कहता है कि भले ही आप कितना ही झूठ बोलें, कल्पना करें, आत्मश्लाघा बघारें कि 'हमने यह किया, वह किया', पर मूलतः आपने कुछ भी नहीं किया! धर्म हमें पुकार-पुकारकर पूछता है कि क्या आप रक्त बना सके? मांस बना सके? अस्थि बना सके? टूटे हुए और विलग हुए अवयवोंको जोड़कर पुनः उनमें चेतना ला सके? मिट्टी, पानी, हवा, निसर्गकी हर किसी चीजको क्या आप बना पाये? दूध बना पाये? मृतकोंको जीवन दे सके? इतना ही नहीं, जिस पञ्चभूतके रम्य प्रासादमें आप जन्मसे मरनेतक डेरा जमाये बैठे हैं, क्या उसे आपने

बनाया ? क्या किया आपने ? 'मैं कौन हूँ—आत्मा या देह, ब्रह्म या विश्व, ईश्वर या परमेश्वर ?' इस सत्यकी शोध करते समय मुझे लगता है कि 'मैंने किया, सारा मैंने किया'—इस मिथ्या अहंके सिद्धान्तका पल्ला पकड़कर आप केवल दाम्भिकता-भरा घमंड दिखाते हैं। अकारण अज्ञानमें पचकर सत्-चित् यानी **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** के पवित्र स्थलकी ओर जानेको—सत्यका राजपथ न पकड़कर चिल्लाते फिरते हैं कि 'मैंने किया, सारा मैंने किया, अखिल विश्व मेरी सत्तासे चल रहा है'—और अन्तमें जन्म-जन्म दुःखके गहरे गड्ढेमें जा गिरते हैं। बस, इसके सिवा और कुछ भी नहीं !

इतना तो सत्य ही है कि सभी प्रयत्नवादी हों, कारण कर्तव्य-कर्म स्वयं करनेसे मानव स्वयं सिद्ध बनता है। इसका यह अर्थ नहीं कि उस कर्मका सब कुछ हम ही करते हैं। कुछ हमें पूर्ति करनी पड़ती है, तो कुछ धर्म अर्थात् प्रकृति करती है। उदाहरणार्थ, उचित समयपर खेत जोतकर बीज बोना मानवका कर्तव्य है। उसके बाद मानवीय कर्तव्य पूर्ण हो जाता है। अब केवल ऊपर-ऊपरसे देख-रेखका काम ही शेष रहता है। हवा, पानी और मिट्टी बादमें प्रकृतिके नियमानुसार उस कठोर बीजमें अपने सहवाससे मृदुता ला देते हैं। उसे भलीभाँति सब तरहसे मथ देते हैं। तुरंत अङ्कुर फूटता है। फिर पौधा और पौधेसे पेड़ बनता है। फिर कली आती, फूल खिलते हैं। मान लीजिये, कपासका बीज बोनेसे कपास पैदा होता है। अर्थात् बीजको मिट्टीरूपी मशीनमें डालनेके बादसे फली आनेतक और उससे कपास निकलनेतकके अपने-आप होनेवाले सारे काम स्पष्ट है कि निसर्ग ही, प्रकृति ही करती है। मानवको केवल देख-रेख ही रखनी पड़ती है। कपास पैदा होनेके बाद उससे धागा और धागेसे तरह-तरहके रंग-बिरंगे कपड़े तैयार करनेका काम मानवका होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सब कुछ निसर्ग या प्रकृति ही करती है। इसी निसर्ग या प्रकृतिका दूसरा नाम है—'धर्म'। निसर्गको विसर्ग देते ही उसमेंसे धर्मका सप्तविधरूप प्रकट होता है। जन्मसे मरनेतक हमें धर्म ही शिक्षा देता है, कुशल और निर्भीक बनाता है। धर्मसे ही हमलोग जीते हैं। धर्मके कारण ही हमारे अवयव हलचल करते हैं। जिस दिन धर्म हमारा साथ छोड़ देता है, वह हमारा अन्तिम दिन है !

अन्तःकरणमें शुभ वासनाओंका उदय होना ही वास्तविक आध्यात्मिक सौन्दर्य है। इसी सौन्दर्यमें हमें सच्चे धर्मका दर्शन मिल सकता है। मैं-तूका संकोच मिटाकर अखिल विश्व ही जब आत्मरूप बन जाता है, तब वह किसी समतल मैदान-सा भासने लगता है। उसमें ऊबड़-खाबड़पन या ऊँचा-नीचापन नहीं दीखता। सूर्य आसमानसे नीचे टूट पड़े, चन्द्रमा मिट्टीमें—धूलमें मिल जाय या आकाशमण्डलके नक्षत्र लुप्त हो जायँ तो आपको आश्चर्य लगने-जैसा क्या है ? चन्द्र, सूर्य, तारोंका नाश हो सकता है, पर आपका नाश कभी सम्भव नहीं। कारण, सूर्य, देश और सर्व कालको एकमात्र आधार आपका ही है। यह ध्यानमें रखते हुए कि मैं अविनाशी आत्मा हूँ, किसी भी प्रसङ्गमें न घबराते हुए पर्वतकी तरह अचल रहें। श्वासोच्छ्वासकी क्रिया चालू रहते मनसे सद्धर्मका विचार करते जायँ। यदि अन्तरमें आप यह दृढ़ भावना किया करें कि श्वास लेते हुए हम अखिल विश्वको भीतर खींच रहे हैं और उच्छ्वासके साथ उसे पुनः बाहर निकाल फेंके जा रहे हैं तो निसर्गसे आपका तादात्म्य होने लगेगा। फिर आप और विश्व—यह पृथक्भाव नहीं रहेगा। तब आपको एकतानता प्राप्त होगी और इसी अवस्थामें आपको वास्तविक धर्मका विराट् दर्शन हुए बिना नहीं रहेगा। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अवस्थापर पहुँचनेका यह प्रथम सोपान है।

'धर्म' बाजारमें बिकनेकी वस्तु नहीं कि उठाया तराजू और दे दी जाय—तौलकर ! धर्मको अन्तरकी अनुभूतिसे पहचानना पड़ता है।

धर्मका अर्थ है—आत्मानुभूति, आत्मसंयमन और आत्म-साक्षात्कार ! चतुर्विध पुरुषार्थोंमें धर्मको ही प्राधान्य दिया गया है। चारों पुरुषार्थोंका श्रीगणेश ही धर्मसे होता है।

अखिल विश्व-ब्रह्माण्डके एक-एक व्यक्तिका जीवन धर्मकी शक्तिसे प्रारम्भ होता है। धर्म ही सबका जीवन है, आत्मा है। इस धर्मका सत्यस्वरूप पहचाननेके लिये प्रथम चित्त स्थिर करना पड़ता है। फिर आसन लगाकर सहज समाधिकी दृढ़ स्थिति प्राप्त करनी होती है। इसी समाधि-अवस्थामें स्थिर रहते प्रत्येकको निस्संदेह धर्मके समग्र वास्तव स्वरूपका दर्शन हुए बिना नहीं रहेगा।

धर्म क्या है ?

(लेखक—श्रीधनंजयजी भट्ट 'सरल')

धर्म जितने भी हैं, सबकी नींव वास्तवमें विश्वासपर है, तर्कपर नहीं । इसलिये धर्मसम्बन्धी बातोंमें तर्कको सर्वथा स्थान न देकर यह बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये कि धर्म सब बड़े-बड़े बुद्धिमानोंके बुद्धितत्त्वका निचोड़ है ।

धर्म मनुष्य-जीवनकी आचारसंहिता है, जो हमें कर्तव्य-पालनकी शिक्षा देता है या व्यष्टि-जीवनको समष्टिमें विलीन करनेका उपदेश देता है । धर्म वैसा ही है, जैसा आकाश । जैसे घटाकाश, मठाकाश कहनेसे आकाश अनेक नहीं होता, वैसे ही विभिन्न नाम होनेसे धर्म अनेक नहीं हो सकता । जैसे घटाकाश, मठाकाश आकाशके सिकुड़े हुए रूपोंके नाम हैं वैसे ही धर्मके विभिन्न नाम एक ही धर्मके सिकुड़े हुए रूपोंके नाम हैं ।

धर्मकी परिभाषा

धर्म वह वस्तु है जिसको सभी मनुष्य, सभी समाज, सभी मतावलम्बी सर्वोत्कृष्ट मानते हैं । धर्म वह वस्तु है, जिसे सभी मत-मतान्तर सुखकी प्राप्तिका हेतु समझते हैं । धर्म वह वस्तु है, जिसके लिये सभी सम्प्रदायवाले उपदेश देते हैं कि संसारकी अच्छी-से-अच्छी वस्तुको छोड़कर धर्म धारण करो । सभी ज्ञानी महात्मा, चाहे वे किन्हीं धर्मग्रन्थोंको माननेवाले हों, यही शिक्षा देते हैं कि धर्मसे अच्छी संसारमें कोई वस्तु नहीं है । कोई-कोई तो यह भी कहते हैं कि धर्म धारण करनेसे मनुष्य देवता बन जाता है । सभी महापुरुषों-संतोंने धर्मकी महिमा गायी है और धर्मके लिये ही अपना जीवन बलिदान किया है । गीता, वेद, उपनिषद् आदि अनन्त कालसे हमें धर्मका ही उपदेश दे रहे हैं ।

धर्मका सिद्धान्त

धर्मका सिद्धान्त है—अपनेको स्वाधीन रखना, चोरी न करना, किसी जीवको कदापि दुःख न देना, भूलकर भी हिंसा न करना, झूठ न बोलना, दूसरेकी स्त्री, बहन या बेटीको माँके समान समझना, प्राणीमात्रको अपने समान समझना, क्रोध न करना, लालचसे हमेशा दूर हटे रहना, सहनशील बनना, दूसरा कोई यदि तुम्हें कुछ कहे भी तो उसे सहन कर लेना, संकट आ जानेपर धीरज धारण किये रहना, प्राणीमात्रमें किसीसे द्वेष न करना, अभिमानमें आकर ऐसा कृत्य न करना जिससे किसीके हृदयको चोट पहुँचे, मीठे-हितकर वचन बोलना, अपनी थोड़ी हानि उठानेसे किसीको बहुत बड़ा लाभ होता हो तो उससे मुँह न मोड़ना, इत्यादि । ये ही सब धर्मके सिद्धान्त और उसूल माने गये हैं, जो समाजके जीवनको पुष्ट रखनेवाले और समाजको उसी तरह पोषण करनेवाले हैं, जैसे पेड़की जड़में जल सींचनेसे पेड़ हरा-भरा रहकर फलता-फूलता रहता है । जिस समय मनुष्यमें ये गुण पूरी तरह विद्यमान थे वही सत्ययुग था । ज्यों-ज्यों मनुष्यके स्वभाव और व्यवहारमें अन्तर पड़ता गया और वे सब बातें कम होती गयीं, त्यों-त्यों युगका भी ह्रास होता गया और वह त्रेता और द्वापरके नामसे कहलाया जाने लगा । इस समय ये उत्तम गुण मनुष्यमें बिल्कुल कम हो गये हैं, इसलिये वर्तमान समयको हम कलियुग कहने लगे हैं ।

प्राचीन कालकी धर्म-व्यवस्था

हमारे यहाँ भी उस युगके समय जब हम धर्मके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करते थे, राम, युधिष्ठिर, बुद्ध, अर्जुनके समान वीर प्रतापी और महात्मा होते थे और सीता, सावित्री, गार्गीके समान बुद्धिमती, विदुषी स्त्रियाँ होती थीं । ऐसे ही माता-पिताके पुष्ट रज-वीर्यसे वीर पुरुषार्थी पुत्र उत्पन्न होते थे, जो इस समयकी तरह बनावटी परछाईं देखकर डर जानेवाले न थे । उनका धर्म पुरुषार्थी होना, सत्यपर अटल रहना, जन्मभर एकपत्नीव्रत-धारी होना, आस्तिकतापर पूर्ण विश्वास रखकर परमात्माको न भूलना, परोपकारमें तत्पर रहना, अपने कुटुम्ब तथा देश-के लोगोंसे भाईके समान व्यवहार करना और दीनोंपर दया रखना था । पर इस समय हमलोग ऐसे हो चले हैं कि हमें सत्य-असत्यका कुछ ज्ञान ही नहीं रहा और मिथ्यावादपर ही सर्वथा कमर कसे हुए हैं । जहाँ कोई अपना स्वार्थ हो, वहाँ तो झूठका कहना ही क्या । जहाँ कोई मतलब न हो, वहाँ भी चित्तको प्रसन्न रखने और मर्यादिक बननेके लिये ही झूठ बोलते हैं ।

धर्म एक कार्यान्वित जीवन है

धर्म एक कार्यान्वित जीवन है । जीवनमें जो कुछ है,

जो कुछ भी सार है, वही धर्म है। धर्म केवल आत्मा-परमात्माका सम्बन्ध स्थापित करनेवाला ही नहीं है, बल्कि हमारे सभी कर्म, सभी व्यवहार, क्रोध, करुणा, दया, स्नेह, त्याग, तप, तितिक्षा आदिका बोधक है और इसीके ही सहारे सभी मानव-व्यापार—व्यवहार होते हैं और सभी मानववृत्तियाँ अपना कार्य करती हैं। केवल यही एक ऐसा मार्ग है, जहाँ हम सब एक हो जाते हैं और सभी मानवजातिको एक ही रंगमें रँगा हुआ और एक ही सूत्रमें सबको बँधा हुआ देखते हैं।

धर्म ही संसारकी सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। वह मनुष्यके महत्त्व और कीर्तिको पराकाष्ठातक पहुँचाती है। धर्म करनेवालेको इस जगत्में अर्थ और सुख तो मिलता ही है, साथ ही परलोकमें भी अभ्युदय और इष्टकी प्राप्ति होती है और अन्तमें मोक्ष-लाभ होता है। परंतु वास्तविक धर्मका पालन लोहेके चने हैं। इसलिये परिणाम कल्याणमय होनेपर भी धर्मनिष्ठको धर्मके मार्गपर चलनेके लिये आरम्भमें क्षति अवश्य उठानी पड़ती है।

धर्मका अर्थ

जो वस्तु धारणायुक्त अर्थात् मनुष्यको संयुक्त रखनेवाली हो वही धर्म है। जीवोंके प्रभव अर्थात् कल्याणके लिये धर्मका विधान किया गया है, अतएव जो वस्तु प्रभवसंयुक्त हो, जिससे प्रजाका कल्याण हो, उसीको निश्चयपूर्वक धर्म समझना चाहिये। चोरी, अन्याय, वध इत्यादिसे मनुष्यको क्लेश न हो, इसीलिये धर्मका विधान किया गया है। जो वस्तु अहिंसायुक्त हो अर्थात् प्रजाके क्लेश और दुःखोंको दूर करनेवाली हो, उसीको निश्चयपूर्वक धर्म समझना चाहिये और जो मनुष्य नित्य सबका भला चाहता है, मन, वचन, कर्मसे सबके हितमें लगा रहता है वही धर्मका जाननेवाला है। धर्मात्मा वही है, जिसकी आत्मा निष्पाप और जिसका चरित्र विमल हो। उनको उबलता हुआ तेलका कड़ाहा भी बर्फके समान ठंडक पहुँचाता और पापात्मा जिसका अन्तःकरण मलिन है, उसे जूहीका हार भी जलते हुए अङ्गारकी-सी व्यथा देता है।

धर्मकी व्याख्या

धर्मकी परिभाषा करते हुए कणादने कहा है—

'जिससे इस लोकमें अभ्युदय, सर्वाङ्गीण उन्नति हो और मानव-जीवनके लक्ष्य निःश्रेयस न्यास—मोक्षकी प्राप्ति हो, वही धर्म है।' मनुने धर्मके दस लक्षण—धृति, क्षमा आदि बताये हैं।

महाभारतमें मानवकी निम्नाङ्कित दस प्रवृत्तियोंको धर्मका मूल माना गया है। तप, त्याग, श्रद्धा, यज्ञ, क्रिया, क्षमा, शुद्धभाव दया, सत्य और संयम।

पुराणमें भी मानवताके इन्हीं गुणोंको धर्मका अङ्ग माना गया है। श्रीमद्भागवतके अनुसार विद्या, दान, तप और सत्य—धर्मके चार पाद हैं। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें धर्मकी परिभाषा करते हुए दैवी सम्पत्तिके नामसे अभय आदि २६ स्वरूप बतलाये हैं। (१६ । १–४)।

अपने भक्तोंका स्वभाव-गुण बताते हुए भगवान्‌ने धर्म्यामृतके नामसे भक्तिके लक्षण कहे हैं, जो धर्मकी बड़ी मार्मिक व्याख्या है (देखिये गीता १२ । १३–२०)।

वाल्मीकि-रामायणमें तत्कालीन धर्माचरणका श्रीरामने इस प्रकार उल्लेख किया है—

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः॥

गोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

धर्मसे लाभ

धर्मसे बढ़कर संसारमें कोई लाभ नहीं है। स्त्री, पुत्र, मित्र आदि मनुष्यको सुख नहीं देते अपितु इनमें आसक्ति-ममता होनेके कारण मनुष्य परम सुखसे वञ्चित हो अधर्म करने लगता है।

धर्मकी उपयोगिता बताते हुए मनुने कहा है—

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति च।

अर्थात् संसारमें सच्चा साथी धर्म है। अतः हमें सदैव साथ देनेवाले धर्मका ही पालन करना चाहिये। जिन वस्तुओंका हम सदैव चिन्तन करते हैं, जिनके प्राप्त करनेको कठिन परिश्रम और अनेक प्रकारके कष्ट सहते हैं, वे वस्तुएँ भी अन्तमें हमारा साथ नहीं देतीं। मृत्युके समय क्लेशसे तड़पते हुए जीवकी रक्षा उपर्युक्त वस्तुएँ नहीं कर सकतीं। जिन भाई-बन्धुओं, नौकरों, मित्रों और परिवारवालोंके लिये

हम सर्वस्व-त्याग करनेको उद्यत रहते हैं, अन्त समय वे भी असमर्थ ही रहते हैं। यमदूत उनके देखते-देखते ही जीवको कष्ट देते हुए ले जाते हैं। मोटर, बँगले, मील, कारखाने, दूकान, आफिस—कोई भी जीवको रोक नहीं पाते। जिसके लिये हम नाना प्रकारके अन्याय करके धनोपार्जन करते हैं, वह वैभव व्यर्थ पड़ा रह जाता है। अन्त समयमें केवल धर्म ही साथ देता है और वही साथ जाता है। इसलिये जो सर्वदा हमारा साथ दे, लोक-परलोक दोनोंमें ही हमारी रक्षा करे, उस धर्मको ही सच्चा साथी बनाना चाहिये और उसीके लिये सब कुछ त्याग करना चाहिये। धर्मके लिये 'भूप राज तज होहिं बिरागी'—राजा विरागी बनते हैं।

धर्मकी उपयोगिताको आचार्य क्षेमेन्द्रने इस प्रकार व्यक्त किया है—

विदेशेषु धनं विद्या व्यसनेषु धनं मतिः।
परलोके धनं धर्मः शीलं सर्वत्र वै धनम्॥

धर्म-साधनके उपाय

धर्मका सबसे बड़ा साधन आत्ममर्यादा है। आत्म-मर्यादाका सोपान आत्मगौरव है और आत्मगौरवका आधार सदाचार है। आत्ममर्यादा एक ऐसा धन है, जो सम्पद् और विपद् दोनोंमें सदा समान बना रहता है। इस ऐश्वर्यसे जो समृद्ध हैं, वे अभ्युदयकी मोह-मदिरासे मतवाले नहीं होते। जनकनन्दिनी जानकीजी इसका आदर्श स्वरूप हो गयी हैं, जिनका हिमालय-सा अचल हृदय और सागर-सा गम्भीर मन वनवासका दुःख सहते हुए भी आत्ममर्यादासे विमुख न हुआ। रावणके अनेक प्रलोभन-पर भी पातिव्रतकी मर्यादाको उन्होंने न छोड़ा। दमयन्ती, सावित्री आदि कितनी स्त्रियाँ इसी आत्ममर्यादाके पालनसे ही ललनागणोंमें सर्वश्रेष्ठ हो गयी हैं। पुरुषोंमें श्रीराम और युधिष्ठिर तथा आबालब्रह्मचारी भीष्म इसी मर्यादा-पालनके कारण सर्वमान्य हुए। आत्ममर्यादा ही धर्मका प्रधान अङ्ग है और **'धर्मो रक्षति रक्षितः'** अर्थात् धर्मकी जो रक्षा करता है, उसकी धर्म स्वयं रक्षा करता है—इसका तात्पर्य भी आत्ममर्यादाकी ही रक्षा है। धर्मका तात्पर्य मनुष्यको ऐसी विधि बताना है, जिससे वह संसारमें रहकर जीवन-के घोर संग्राममें अपने भीतर और बाहरके शत्रुओंपर विजय पाते हुए मनुष्यमात्रकी उन्नतिमें दत्तचित्त हो, सब प्रकारके बन्धनोंसे छूटकर पूर्ण स्वतन्त्रता और मोक्षको प्राप्त करे। वास्तवमें मोक्ष ही मनुष्यकी उन्नतिरूपी सीढ़ीकी अन्तिम पैड़ी है। परंतु जो लोग यह समझते हैं कि मनुष्यके लिये निर्धारित कर्तव्यकर्मको छोड़कर हम मोक्ष प्राप्त कर लेंगे, वे धर्मकी मर्यादाको नहीं समझते और अन्तमें असफल ही होते हैं।

दम-धर्मकी श्रेष्ठता

क्रोधो हन्ति हि यद् दानं तस्माद् दानात् परं दमः।
अदृश्यानि महाराज स्थानान्ययुतशो दिवि॥
ऋषीणां सर्वलोकेषु याहीतो यान्ति देवताः।
दमेन यानि नृपते गच्छन्ति परमर्षयः॥

(महाभारत अनुशासन० ७५। १६-१७)

दान करते समय यदि क्रोध आ जाय तो वह दानके फलको नष्ट कर देता है; इसलिये उस क्रोधको दबानेवाला जो दम-नामक गुण है, वह दानसे श्रेष्ठ माना गया है। महाराज! नरेश्वर! सम्पूर्ण लोकोंमें निवास करनेवाले ऋषियोंके स्वर्गमें सहस्रों अदृश्य स्थान हैं, जिनमें दमके पालनद्वारा महान् लोककी इच्छा रखनेवाले महर्षि और देवता इस लोकसे जाते हैं; अतः 'दम' दानसे श्रेष्ठ है।

धर्मो रक्षति रक्षितः

धर्माचरणका प्रभाव

काशीके धर्मनिष्ठ ब्राह्मण धर्मपालका पुत्र प्रारम्भिक अध्ययन समाप्त करके उच्च शिक्षा प्राप्त करने तक्षशिला गया था। वहाँ एक समय आचार्यके युवा पुत्रकी मृत्यु हुई तो वह बोल पड़ा—'अरे, यहाँ तो युवक भी मरते हैं!'

उसके सहपाठियोंको उसके वचन बहुत बुरे लगे। जब सब लोग शोकमग्न हों, कोई इस प्रकारकी बातें करे तो बुरा लगना ही था। लोगोंने व्यंग किया—'तुम्हारे यहाँ क्या मृत्यु तुमसे सलाह लेकर वृद्धोंके लिये ही आती है?'

'हमारे कुलमें तो सात पीढ़ियोंमें कोई युवा मरा नहीं।' उसने अपनी बात दुहरा दी।

बात आचार्यतक पहुँची। उनको भी बुरा लगा। कुछ कार्यवश उन्हें काशी जाना ही था, परीक्षा लेनेका निश्चय कर लिया। जब वे काशी पहुँचे तो अपने साथ मरे बकरेकी थोड़ी हड्डियाँ भी लेते गये। वे हड्डियाँ धर्मपालके सामने डालकर रोनेका अभिनय करते हुए आचार्यने कहा—'हमें यह सूचित करनेमें बहुत दुःख हो रहा है कि आपका पुत्र अचानक मर गया।'

ब्राह्मण धर्मपाल हँसा—'आप किसी भ्रममें पड़ गये हैं। मरनेवाला निश्चय कोई दूसरा होगा। हमारे कुलमें सात पीढ़ियोंसे कभी कोई युवा नहीं मरा।'

आचार्यने उसी खिन्न स्वरमें कहा—'अबतक कोई युवा नहीं मरा तो आगे भी नहीं मरेगा, ऐसा नियम तो है नहीं। मृत्युका क्या भरोसा। वह वृद्ध, युवा, बालक—किसीका ध्यान नहीं रखती।'

'देखिये! हम सावधानीसे अपने वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हैं, अधर्मसे दूर रहते हैं, सत्सङ्ग करते हैं और दुर्जनोंकी निन्दा न करके उनके सङ्गसे बचते हैं। दान देते समय वाणी तथा व्यवहारमें नम्रता रखते हैं। साधु, ब्राह्मण, अभ्यागत, अतिथि, याचक एवं दीनोंकी यथाशक्ति सेवा करते हैं। हमारे घरकी स्त्रियाँ पतिव्रता हैं और पुरुष एकपत्नी-व्रती तो हैं ही, संयमी हैं। यमराजके लिये भी हमारे यहाँ किसीको अकालमें—युवावस्थामें मारना सम्भव कैसे हो सकता है?' ब्राह्मण धर्मपालने बड़े विश्वाससे अपनी बातका समर्थन किया।

'आप ठीक कहते हैं। आपका पुत्र जीवित तथा सुरक्षित है।' आचार्यने अपने आचरणका कारण स्पष्ट किया।

'धर्म जिसकी रक्षा करता है, उसे मार कौन सकता है?' ब्राह्मणने कहा। 'हम सब धर्मकी रक्षा करते हैं, अतः धर्म हमारी रक्षा करेगा—इसमें हमारे घरके किसी सदस्यको कभी संदेह नहीं होता।'

—सु०

काम-क्रोधादिमें रत लोग भगवान्‌को नहीं जान सकते

तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥
लोभ कें इच्छा दंभ बल काम कें केवल नारि।
क्रोध कें परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि॥
काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुखरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे भव कूप॥

(दोहावली)

कलियुगका प्रधान धर्म—दान

[विश्वको भारतीय संस्कृतिकी एक विशिष्ट देन]

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने लिखा है—

प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान ॥*

धर्मके चार पद—पैर कौन हैं, इसपर यद्यपि भागवत (१२ । ३) आदिमें किंचित् भिन्न मत भी हैं, तथापि सर्वाधिक सम्मतियाँ मनुजीके इस निम्नलिखित मतकी ओर ही प्राप्त हैं—

**तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥**

यह श्लोक मनु १ । ८६, पद्मपुराण सृष्टिखण्ड १८ । ४४०, पराशरस्मृति १ । २३, लिङ्गपुराण १ । ३९ । ७, भविष्यपुराण १ । २ । ११९ तथा बृहत्पाराशर-स्मृति १ । २२ । २३ आदिमें भी इसी प्रकार पाया जाता है। शतपथ-ब्राह्मण तथा बृहदारण्यकके अन्तर्गत 'द' की आख्यायिकामें भी मनुष्यका प्रधान धर्म दान बतलाया गया है। शास्त्रोंके अनुसार दानसे बढ़कर कोई भी धर्म नहीं—

दानधर्मात् परो धर्मो भूतानां नेह विद्यते।

राजनीति-ग्रन्थोंमें भी यह सामादि चार उपायोंमें एक प्रधान उपाय है और सामके बाद इसे ही स्थान दिया गया है। (कूर्म०) महाभारत, अनुशासन० दानधर्म तथा अग्निपुराण आदिके अनुसार दान परम श्रेयस्कर है। इससे सभी वशीभूत हो जाते हैं, शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, दानसे सारे क्लेश मिट जाते हैं—

**दानेन भूतानि वशीभवन्ति
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानाद्
दानं हि सर्वव्यसनानि हन्ति ॥**

* गोस्वामीजीका यह वचन उपनिषद्के प्रसिद्ध वचन 'श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्' आदिपर आधृत है, यद्यपि किन्हीं उपनिषदोंमें 'अश्रद्धया अदेयं' पाठ भी है।

भर्तृहरिने कहा है कि दान, भोग और नाश—ये ही धनकी तीन गतियाँ हैं। इनमें प्रथम गति श्रेष्ठ, शेष नेष्ट तथा नष्ट हैं—

**दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति धनस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥**

(नीतिशतक)

**यत् स्यादन्योन्यभोगाय तदेव सफलं मतम्।
अन्यथा तु विनाशोऽस्य भाव्येवेति सुनिश्चितम् ॥**

(शार्ङ्ग० ५०)

गोस्वामीजी भी यही कहते हैं—

सो धन धन्य प्रथम गति जाकी। धन्य पुन्य रत मति सोइ पाकी ॥

(मानस, उत्तरकाण्ड)

**आयासशतलब्धस्य प्राणेभ्योऽपि गरीयसः।
गतिरेकैव वित्तस्य दानमन्या विपत्तयः ॥**

(पञ्चतन्त्र)

सनातन धर्ममें दानधर्मपर असंख्य ग्रन्थ हैं। महाभारतके अनुशासनपर्वका दूसरा नाम ही 'दानधर्म' पर्व है। इसके कुम्भकोणम्-संस्करणमें १७४ तथा पूना-संस्करणमें १६८ अध्याय हैं। इसके अतिरिक्त भी महाभारतके सभी पर्वोंमें 'दान' पर पर्याप्त विवेचन है। वाल्मीकिके राम तो लेते ही नहीं, सदा दान ही करते हैं—

**दद्यान्न प्रतिगृह्णीयान्न ब्रूयात् किंचिदप्रियम्।
अपि जीवितहेतोर्वा रामः सत्यपराक्रमः ॥**

(वाल्मीकीय सुन्दर० २९)

इसके अतिरिक्त हेमाद्रि, वीरमित्रोदय, कृत्यकल्पतरु, अपरार्क—आदिके दानखण्ड बहुत प्रसिद्ध हैं। बल्लाल सेनका 'दानसागर' एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। (यह एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्तासे प्रकाशित है।) भविष्योत्तरपुराणका अधिकांश भाग दानधर्म ही है। अपरार्कने इसका बहुत अंश ले लिया है। विष्णुधर्मोत्तरमें भी कई अध्याय हैं। पद्म० सृष्टि० तथा स्कन्दपुराणमें भी इसपर बहुत-सी रोचक कथाएँ हैं।

स्कन्दपुराणके मही-सागर-संगमकी कथामें नारदजीका चरित्र इस सम्बन्धमें अवश्य ध्येय है। वहाँ दानके २ हेतु, ६ अधिष्ठान, ६ अङ्ग, ६ फल, ४ प्रकार और ३ नाशक बतलाये गये हैं। श्रद्धा, भक्ति—ये दो हेतु; धर्म, काम, अर्थ, व्रीड़ा, भय तथा हर्ष—ये ६ अधिष्ठान तथा दाता, ग्रहीता, देयवस्तु, देश, काल और श्रद्धाको षडङ्ग बतलाया गया है। दुष्फल, निष्फल, हीन, तुल्य, विपुल और अक्षय—ये दानके छः परिणाम बतलाये गये हैं। * अन्न, दधि, मधु, गौ, भूमि, सुवर्ण, अश्व, गज और अभय—ये उत्तम दान हैं। अपने मुँहसे कहने, पश्चात्ताप करने आदिसे भी दानका फल नष्ट होता है †। प्रियवचन एवं श्रद्धासहित दानको दुर्लभ माना गया है—

दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम्।
वित्तं त्यागनियुक्तं दुर्लभमेतच्चतुष्टयं लोके॥
(हि० १। १६९)

विशेष जानकारीके लिये तत्तन्निबन्धग्रन्थोंको देखनेका कष्ट करें।

धर्म ही जीवनका आधार

(रचयिता—श्रीमहावीरप्रसादजी अग्रवाल)

धर्म है जन-जीवन-आधार।
धर्मसे चलता यह संसार॥
धर्मसे चालित है ब्रह्माण्ड।
धर्मसे पालित है ब्रह्माण्ड॥
धर्म है जीवन-पथका लक्ष्य।
धर्म है सब सत्योंका सत्य॥
धर्म है प्रभुकी पावन मूर्ति।
धर्म है जीवनकी क्षति-पूर्ति॥
धर्म है मुरलीधरकी तान।
धर्म धनुधरका शर-संधान॥
धर्म है सूरदास-अरदास।
धर्म है तुलसीका विश्वास॥
धर्म कबिराकी औघड़ चाल।
धर्म मीराँका गिरिधरलाल॥
धर्म जब होता तमसाच्छन्न।
प्रसारें प्रभु प्रकाश प्रसन्न॥
धर्म हित धरें ईश अवतार।
धर्मकी नाव लगावें पार॥
धर्मके लिये वार निज प्राण।
किया करते जन जगती-त्राण॥

धर्मसे मिटता तन-मन-ताप।
धर्मसे मिल जाते प्रभु आप॥
धर्म है स्नेह, साम्य, सौभाग्य।
धर्मका मार्ग सुगम, सुश्लाघ्य॥
धर्ममें सब जगती अनुरक्त।
धर्ममें शक्ति, मुक्ति औ भक्ति॥
धर्म है जहाँ, वहाँ भगवान।
धर्म है जहाँ, वहाँ उत्थान॥
धर्मसे विजय, भूति औ वित्त।
धर्मसे निर्मल होता चित्त॥
धर्मसे मिटता भव-जंजाल।
धर्मसे डरे कालका व्याल॥
धर्म बिन सूना सब व्यवहार।
धर्म बिन बढ़ता अत्याचार॥
धर्ममें मानवताका त्राण।
धर्ममें जन-जनका कल्याण॥
धर्म-धुर धरता जब-जब देश।
तभी होता नव-नव उन्मेष॥
धर्मपर बढ़े नित्य अनुराग।
धर्मसे पावें सब सुख-भाग॥

* इस सम्बन्धमें कल्याण ३८। १२ में प्रकाशित हमारा 'दुर्भिक्ष-निवारण' लेख देखना चाहिये।

† स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्डमें यह बहुत विस्तारसे है, अवश्य देखना चाहिये। सं० स्कन्दपुराणाङ्क में भी इसका हिंदी-अनुवाद है।

दान-धर्मके आदर्श

(१)

दैत्यराज विरोचन

दैत्यराज भक्तश्रेष्ठ प्रह्लादके पुत्र थे विरोचन और प्रह्लादके पश्चात् ये ही दैत्योंके अधिपति बने थे। प्रजापति ब्रह्माके समीप दैत्योंके अग्रणीरूपमें धर्मकी शिक्षा ग्रहण करने विरोचन ही गये थे। धर्ममें इनकी श्रद्धा थी। आचार्य शुक्रके ये बड़े निष्ठावान् भक्त थे और शुक्राचार्य भी इनसे बहुत स्नेह करते थे।

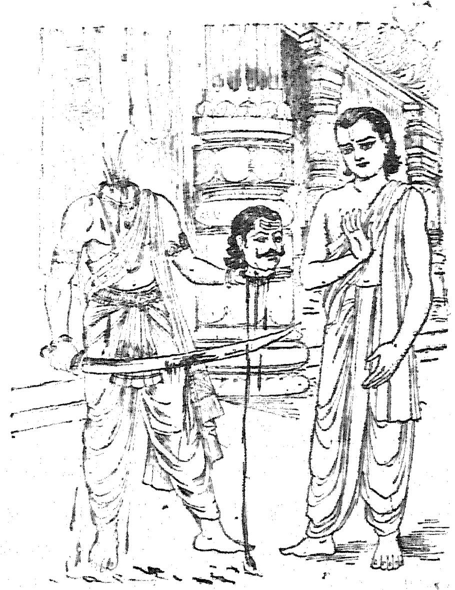
अपने पिता प्रह्लादजीका विरोचनपर बहुत प्रभाव पड़ा था। इसलिये ये देवताओंसे कोई द्वेष नहीं रखते थे। संतुष्टचित्त विरोचनके मनमें पृथ्वीपर भी अधिकार करनेकी इच्छा नहीं हुई; स्वर्गपर अधिकार करना; भला, वे क्यों चाहते। वे तो सुतलके दैत्यराज्यसे ही संतुष्ट थे।

शत्रुकी ओरसे सावधान रहना चाहिये, यह नीति है और सम्पन्न लोगोंका स्वभाव है अकारण शङ्कित रहना। अर्थका यह दोष है कि वह व्यक्तिको निश्चिन्त और निर्भय नहीं रहने देता। असुरों एवं देवताओंकी शत्रुता पुरानी है और सहज है; क्योंकि असुर रजोगुण-तमोगुणप्रधान हैं और देवता सत्त्वगुण-प्रधान। अतः देवराज इन्द्रको सदा यह भय व्याकुल रखता था कि यदि कहीं असुरोंने अमरावतीपर आक्रमण कर दिया तो परम धर्मात्मा विरोचनका युद्धमें सामना करना देवताओंकी शक्तिसे बाहर है, उस समय पराजय ही हाथ लगेगी।

शत्रु प्रबल हो, युद्धमें उसका सामना सम्भव न हो, तो उसे नष्ट करनेका प्रबन्ध पहिले करना चाहिये। इन्द्र आक्रमण करके अथवा धोखेसे विरोचनको मार दें तो शुक्राचार्य अपनी संजीवनी विद्याके प्रभावसे उन्हें जीवित कर देंगे और आजके प्रशान्त विरोचन क्रुद्ध होनेपर देवताओंके लिये विपत्ति बन जायँगे। अतएव देवगुरु बृहस्पतिकी मन्त्रणासे इन्द्रने ब्राह्मणका वेश बनाया और सुतल पहुँचे।

विरोचनने अभ्यागत ब्राह्मणका स्वागत किया। उनके चरण धोये, पूजा की। इसके पश्चात् हाथ जोड़कर बोले—'मेरा आज सौभाग्य उदय हुआ कि मुझ असुरके सदनमें आपके पावन चरण पड़े। मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?'

इन्द्रने बहुत-बहुत प्रशंसा की विरोचनकी दान-शीलताकी और विरोचनके आग्रहपर बोले—'मुझे आपकी आयु चाहिये।'



दैत्यराजका सिर माँगना व्यर्थ था; क्योंकि गुरु शुक्राचार्यकी संजीवनी कहीं गयी नहीं थी। किंतु विरोचन किंचित् भी हतप्रभ नहीं हुए। उन्होंने प्रसन्नतासे कहा—'मैं धन्य हूँ। मेरा जन्म लेना सफल हो गया। मेरा जीवन स्वीकार करके आपने मुझे कृतकृत्य कर दिया।'

विरोचनने अपने हाथमें खड्ग उठाया और मस्तक काटकर दूसरे हाथसे ब्राह्मणकी ओर बढ़ा दिया। वह मस्तक लेकर इन्द्र भयके कारण शीघ्र स्वर्ग चले आये। विरोचनको तो भगवान्ने अपना पार्षद बना लिया। —सु०

(२)

महादानी दैत्यराज बलि

आचार्य शुक्र अपने महामनस्वी शिष्यपर परम सुप्रसन्न थे। उन्होंने सर्वजित् यज्ञ कराया था और उस यज्ञमें अग्निने प्रकट होकर बलिको रथ, अश्व, धनुष, अक्षय भोग तथा अभेद्य कवच दिये थे। इन दिव्य उपकरणोंसे संनद्ध बलिने असुर-सेनाके साथ जब स्वर्गपर आक्रमण किया, तब देवताओंको अपना घर-द्वार छोड़कर भाग जाना पड़ा। इन्द्र उस समय तेजःसम्पन्न बलिके सामने पड़नेका साहस नहीं कर सकते थे।

शतक्रतु इन्द्र होता है, यह सृष्टिकी मर्यादा है। सौ अश्वमेध यज्ञ किये बिना जो शक्तिके बलसे अमरावती अधिकृत कर लेगा, सृष्टिका संचालक उसे वहाँ टिकने नहीं देगा। बलिने स्वर्गपर अधिकार कर लिया तब शुक्राचार्यको अपने शिष्यका वैभव स्थायी बनानेकी चिन्ता हुई। स्वर्गलोक कर्मलोक नहीं है। अतः बलिको समस्त परिकरोंके साथ लेकर आचार्य नर्मदाके उत्तर तटपर आये और उससे अश्वमेध यज्ञ कराना प्रारम्भ किया। निन्यानबे अश्वमेध यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण हो गये और अन्तिम सौवाँ यज्ञ चलने लगा।

इसी कालमें देवमाता अदितिकी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उनके यहाँ वामनरूपसे अवतार ग्रहण किया। उपनयन सम्पन्न हो जानेपर मौञ्जी मेखला पहिने, छत्र, दण्ड तथा जलपूर्ण कमण्डलु लिये भगवान् वामन बलिकी यज्ञशालामें पधारे। उन सूर्योपम तेजस्वीको देखकर सब ब्राह्मण तथा असुर उठ खड़े हुए। बलिने उनको आसन देकर चरण पखारे और चरणोदक मस्तकपर चढ़ाया। पूजाके अनन्तर बलिने कहा—'विप्रकुमार! मुझे लगता है कि ऋषियोंकी सम्पूर्ण तपस्या आपके रूपमें मूर्तिमान् होकर मुझे सनाथ करने आज मेरे यहाँ आयी है। आप अवश्य किसी प्रयोजनसे पधारे हैं। अतः जो इच्छा हो, बिना संकोचके माँग लें।'

वामनने बलिके कुल-पुरुषोंके शौर्य-पराक्रम, दानशीलताकी प्रशंसा करके अन्तमें कहा—'विरोचन-नन्दन! जिसकी भूमिपर कोई तप, साधनादि करता है, उस भूमिके स्वामीको भी उस तप आदिका भाग प्राप्त होता है। इसलिये मैं अपने लिये अपने पैरोंसे तीन पदमें जितनी भूमि माप सकूँ, उतनी भूमि आपसे चाहता हूँ।'

बलि हँसे। नन्हेसे वामन, नन्हे-नन्हे सुकुमार चरण। बलिको लगा कि ये, भला, भूमि कितनी माप सकेंगे। वे बोले—'आप अभी बालक हैं, भले आप कितने भी विद्वान् हों। मैं त्रिलोकीका स्वामी हूँ। मेरे पास आकर आपको भूमि ही माँगनी है तो कम-से-कम इतनी भूमि लीजिये कि उससे आपकी आजीविका भली प्रकार चल सके।'

वामन बड़ी गम्भीरतासे बोले—'राजन्! तृष्णाका पेट भरा नहीं करता। मैं यदि थोड़ी भूमिपर संतोष न करूँ तो सप्तद्वीपवती पृथ्वी तो क्या, त्रिलोकी भी क्या तृष्णाको तुष्ट कर सकेगी? अतः अपने प्रयोजनसे अधिक मुझे नहीं चाहिये।'

'अच्छा लो! जितनी चाहते हो, उतनी भूमि दूँगा।' बलिने कहा और भूमिदानके लिये संकल्प करनेको कमण्डलु उठाया।

'ठहरो!' शुक्राचार्य इतने समयतक बड़े ध्यानसे वामनको देख रहे थे। उनकी दृष्टिने श्रीहरिको इस छद्मरूपमें भी पहिचान लिया। अतः वे बोले—'बलि! मुझे तो लगता है कि दैत्यकुलपर महान् संकट आ गया है। ये विप्रकुमार नहीं, साक्षात् विष्णु हैं। तुमने दानका संकल्प किया तो पृथ्वी इनके एक पदको होगी। दूसरा पद ब्रह्मलोक पहुँचेगा और तीसरे पदको स्थान ही नहीं होगा। अपनी जीविकाका उच्छेद करके दान नहीं किया जाता। तुम इन्हें यह भूमि-दान मत दो।'

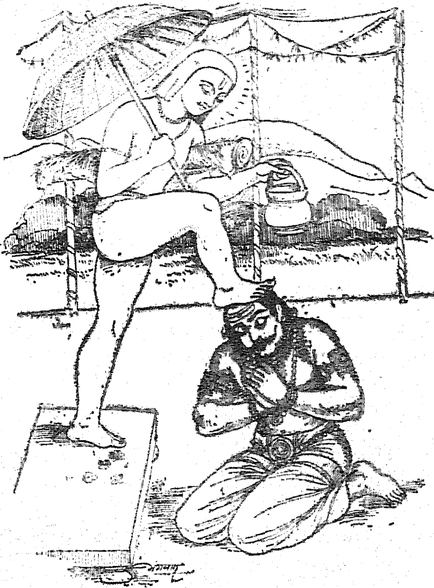
'आपकी बात मिथ्या नहीं हो सकती।' दो क्षण सोचकर बलिने कहा। 'परंतु यज्ञके द्वारा जिन यज्ञपुरुषकी आराधना आप मुझसे करा रहे हैं, वे ही मेरे यहाँ भिक्षुक बनकर पधारे तो क्या मैं उन्हें निराश कर दूँ? 'दूँगा' कहकर प्रह्लादका पौत्र अस्वीकार कर दे, यह नहीं होगा। सत्पात्र-

के आनेपर उसे अर्थदान न करना युद्धमें प्राण देने-से भी कठिन है। ये कोई हों और कुछ भी करें, मैं इन्हें कृपण बनकर दानसे वञ्चित नहीं करूँगा।'

'तू अब भी मेरी बात नहीं मानता, इसलिये तत्काल ऐश्वर्यभ्रष्ट होगा।' क्रोधमें आकर शुक्राचार्यने शाप दे दिया; किंतु बलिको उससे दुःख नहीं हुआ। उन्होंने प्रसन्न मनसे वामनको भूमिदानका संकल्प किया। संकल्प लेते ही भगवान् वामनने विराट्‌रूप धारण कर लिया।

'तुझे गर्व था कि तू त्रिलोकीका स्वामी है। पृथ्वी मेरे एक पदसे तेरे सामने माप ली गयी और मेरा दूसरा पद तू देखता है कि ब्रह्मलोक-तक पहुँच गया है।' विराट्‌स्वरूप भगवान्‌ने कृत्रिम क्रोध दिखलाते हुए कहा। 'अब मैं तीसरा पद कहाँ रक्खूँ? तूने मुझे ठगा है। जितना तू दे नहीं सकता, उतनेका संकल्प कर दिया तूने। अतः अब तुझे कुछ काल नरकमें रहना होगा।'

'देव! सम्पत्तिसे सम्पत्तिका स्वामी बड़ा होता है। यदि आप समझते हैं कि मैंने आपको ठगा है तो यह ठीक नहीं। मैं अपना वचन सत्य करता हूँ। यह मेरा मस्तक है। आप अपना तीसरा पद इसपर रक्खें!' स्वस्थ, प्रसन्न, दृढ़ स्वरमें बलिने कहा और मस्तक झुका दिया।



भगवान्‌ने बलिके मस्तकपर अपना पद रक्खा। बलि निहाल हो गये। बलिके न चाहनेपर भी असुरोंने वामनपर आक्रमण करनेकी चेष्टा की; किंतु भगवान्‌के पार्षदोंने उन्हें मारकर भगा दिया। भगवान्‌के संकेतपर बलिको गरुड़ने बाँध दिया। प्रह्लादजी पधारे और उन्होंने बलिके ऐश्वर्य-ध्वंस होनेको भगवत्कृपा माना; वे बोले—'प्रभो! धन तथा पदके मोहसे विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। आपने इसके धन-वैभवको छीनकर इसका महान् उपकार किया है।'

किंतु सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी व्याकुल हो गये। उपस्थित होकर, हाथ जोड़कर उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो! बलिको बन्धन प्राप्त होगा तो धर्मकी मर्यादा नष्ट हो जायगी। आपके श्रीचरणों-में श्रद्धापूर्वक चुल्लूभर जल तथा दो तुलसीदल देनेवाला आपका धाम प्राप्त कर लेता है और बलिने तो आपको शत्रुपक्षका जानकर भी अव्यग्रचित्त-से त्रिलोकीका राज्य आपके चरणोंमें चढ़ाया है।'

'ब्रह्माजी! प्रह्लादका यह पौत्र मुझे बहुत प्रिय है।' भगवान्‌ने कहा। 'मैं जिसपर कृपा करता हूँ, उसका धन-वैभव छीन लिया करता हूँ; क्योंकि जब मनुष्य धनके मदसे मतवाला हो जाता है, तब मेरा तथा सब लोगोंका तिरस्कार करने लगता है। जिसको कुलीनता, कर्म, अवस्था, रूप, विद्या, ऐश्वर्य और धन आदिका घमंड न हो, समझना चाहिये कि उसपर मेरी बड़ी कृपा है। यह बलि मेरा ऐसा ही कृपापात्र है। गुरुके शाप देने, धन छीने जाने और मेरे द्वारा कृत्रिम रोषसे भी आक्षेप किये जानेपर यह विचलित नहीं हुआ। धर्मकी यह दृढ़ता इसे मेरे अनुग्रहसे प्राप्त है। अब यह सुतलका राज्य करेगा और अगले मन्वन्तरमें मैं इसे इन्द्र बनाऊँगा। तबतक सुतलमें इसके द्वारपर गदा लिये मैं स्वयं द्वारपाल बनकर उपस्थित रहूँगा।'

'प्रभो! दयाधाम! मुझ अधम असुरपर यह अनुग्रह?' बलिका कण्ठ गद्‌गद हो गया। 'मुझ-से कहाँ आपकी अर्चना हुई? मैंने तो केवल आपके चरणोंमें प्रणाम करनेका प्रयत्नमात्र किया था।'

'आपके शिष्यके यज्ञमें जो दोष रह गये, जो त्रुटि है, उसे अब आप दूर करा दें।' भगवान्ने शुक्राचार्यको आदेश दिया।

'जहाँ यज्ञपुरुष स्वयं संतुष्ट होकर विराजमान हैं, वहाँ त्रुटि कैसी? यज्ञिय त्रुटि तो आपके नामकीर्तन-मात्रसे दूर हो जाती है। फिर भी मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।' शुक्राचार्यने यज्ञका अपूर्ण कार्य यह कहकर सम्पूर्ण कराया।

बलि असुरोंके साथ सुतल चले गये। इन्द्रको स्वर्गका राज्य मिला। बलिके इस महादानके कारण संसारमें उत्कृष्ट त्यागको बलिदान कहा जाने लगा। —सु०

(३)
महादानी कर्ण

एक बार इन्द्रप्रस्थमें पाण्डवोंकी सभामें श्रीकृष्णचन्द्र कर्णकी दानशीलताकी प्रशंसा करने लगे। अर्जुनको यह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने कहा—'हृषीकेश! धर्मराजकी दानशीलतामें कहाँ त्रुटि है जो उनकी उपस्थितिमें आप कर्णकी प्रशंसा कर रहे हैं?'

'इस तथ्यको तुम स्वयं समयपर समझ लोगे।' यह कहकर उस समय श्रीकृष्णने बातको टाल दिया।

कुछ समय पश्चात् अर्जुनको साथ लेकर श्यामसुन्दर ब्राह्मणके वेशमें पाण्डवोंके राजसदनमें आये और बोले—'राजन्! मैं अपने हाथसे बना भोजन करता हूँ। भोजन मैं केवल चन्दनकी लकड़ीसे बनाता हूँ और वह काष्ठ तनिक भी भीगा नहीं होना चाहिये।'

उस समय खूब वर्षा हो रही थी। युधिष्ठिरने राजभवनमें पता लगा लिया, किंतु सूखा चन्दन काष्ठ कहीं मिला नहीं। सेवक नगरमें गये; किंतु संयोग ऐसा कि जिसके पास भी चन्दन मिला, सब भीगा हुआ मिला। धर्मराजको बड़ा दुःख हुआ; किंतु उपाय कुछ भी न था।

उसी वेशमें वहाँसे सीधे श्रीकृष्ण और अर्जुन कर्णकी राजधानी पहुँचे और वही बात कर्णसे कही। कर्णके राजसदनमें भी सूखा चन्दन नहीं था और नगरमें भी नहीं मिला। लेकिन कर्णने सेवकोंसे नगरमें चन्दन न मिलनेकी बात सुनते ही धनुष चढ़ाया। राजसदनके मूल्यवान् कलाङ्कित द्वार चन्दनके थे। अनेक पलंग चन्दनके पायेके थे। कई दूसरे उपकरण चन्दनके बने थे। क्षणभरमें बाणोंसे कर्णने उन सबको चीरकर एकत्र करवा दिया और बोला—'भगवन्! आप भोजन बनायें।'

वह आतिथ्य प्रेमके भूखे गोपाल कैसे छोड़ देते। वहाँसे तृप्त होकर जब बाहर आ गये, तब अर्जुनसे बोले—'पार्थ! तुम्हारे राजसदनमें भी द्वारादि चन्दनके ही हैं। उन्हें देनेमें पाण्डव कृपण भी नहीं हैं। किंतु दानधर्ममें जिसके प्राण बसते हैं, उसीको समयपर स्मरण आता है कि पदार्थ कहाँसे कैसे लेकर दे दिया जाय।'

× × ×

'आज दानशीलताका सूर्य अस्त हो रहा है।' जिस दिन कर्ण युद्धभूमिमें गिरे, सायंकाल शिबिरमें लौटकर श्रीकृष्ण खिन्नमुख बैठ गये।

'अच्युत! आप उदास हों, इतनी महानता क्या कर्णमें है?' अर्जुनने पूछा।

'चलो! उस महाप्राणके अन्तिम दर्शन कर आयें। तुम दूरसे ही देखते रहना।' श्रीकृष्ण उठे। उन्होंने वृद्ध ब्राह्मणका रूप बनाया। रक्तसे कीचड़ बनी, शवोंसे पटी, छिन्न-भिन्न अस्त्र-शस्त्रोंसे पूर्ण युद्धभूमिमें रात्रिकालमें शृगालादि घूम रहे थे। ऐसी भूमिमें मरणासन्न कर्ण पड़े थे।

'महादानी कर्ण!' पुकारा वृद्ध ब्राह्मणने।

'मैं यहाँ हूँ, प्रभु!' किसी प्रकार पीड़ासे कराहते कर्णने कहा।

'तुम्हारा सुयश सुनकर बहुत अल्प द्रव्यकी आशासे आया था!' ब्राह्मणने कहा।

'आप मेरे घर पधारें!' कर्ण और क्या कहते?

'मुझे जाने दो! इधर-उधर भटकनेकी शक्ति मुझमें नहीं!' ब्राह्मण रुष्ट हुए।

'मेरे दाँतोंमें स्वर्ण लगा है। आप इन्हें तोड़कर ले लें!' कर्णने सोचकर कहा।

'छिः! ब्राह्मण अब यह क्रूर कर्म करेगा!' ब्राह्मण और रुष्ट हुए।

किसी प्रकार कर्ण खिसके। उन्होंने पास पड़े एक शस्त्रपर मुख पटक दिया। शस्त्रसे टूटे दाँतोंका स्वर्ण निकाला; किंतु रक्तसना स्वर्ण ब्राह्मण कैसे ले। धनुष भी चढ़ानेकी शक्ति विप्रमें नहीं थी। मरणासन्न, अत्यन्त आहत कर्णने हाथ तथा घायल मुखसे धनुष चढ़ाकर वारुण अस्त्रके द्वारा जल प्रकट कर स्वर्ण धोया और दान किया। श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। अन्तिम समय कर्णको दर्शन देकर कृतार्थ करने ही तो पधारे थे लीलामय श्यामसुन्दर! उनके देवदुर्लभ चरणोंपर सिर रखकर कर्णने देहत्याग किया! —सु०

(४)
दानधर्मकी महिमा

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम पञ्चवटीमें निवाससे पूर्व जब प्रथम बार महर्षि अगस्त्यके आश्रमपर पहुँचे तो उनका सत्कार करके महर्षिने विश्वकर्माका बनाया एक दिव्य आभूषण उन्हें देते हुए कहा—'यह धारण करनेवालेको निर्भय रखता है, उसे अनेक आपत्तियोंसे बचाता है।'

क्षत्रियके लिये दान लेना उचित नहीं है। श्रीरामने तो वनमें तपस्वी वेषमें रहनेका व्रत लिया था, किंतु महर्षिके आग्रहपर उनका प्रसाद मानकर वह आभूषण लेकर उन्होंने श्रीजानकीको दे दिया। आभूषण स्वीकार करते हुए उन्होंने पूछा—'यह आपको कैसे प्राप्त हुआ?'

अगस्त्यजीने बतलाया—'मैं एक बार वनमें यात्रा कर रहा था। एक विशाल वनमें पहुँचनेपर मुझे एक योजन लंबी झील मिली। सुन्दर स्वच्छ जल था उसका और उसके किनारे एक आश्रम भी था; किंतु आश्रममें कोई नहीं था। उस वनमें मुझे कोई पशु-पक्षी नहीं दीखा। ग्रीष्म ऋतु थी। मैं यात्रासे थका था। अतः मैं उस आश्रममें एक रात्रि रहा। प्रातःकाल मैं स्नानके लिये उस झीलकी ओर चला तो मार्गमें एक शव मिला। हृष्ट-पुष्ट देह देखकर मैंने समझा कि यह तपस्वीका शव नहीं है। इतना सुन्दर, सुपुष्ट व्यक्ति उस वनमें कहाँसे आया, यह मैं सोचने लगा। इतनेमें एक विमान आकाशसे उतरा। उससे निकलकर एक देवोपम मनुष्यने झीलमें स्नान किया और फिर उस शवका मांस मुखसे ही काटकर उसने भरपेट खाया। मुझे यह देखकर बड़ी ग्लानि हुई।'

'तुम कौन हो? यह घृणित आहार तुम क्यों करते हो?' जब वह व्यक्ति विमानमें बैठने लगा, तब मैंने उससे पूछा।

उस व्यक्तिने कहा—'कभी मैं विदर्भ देशका राजा श्वेत था। राज्यसे वैराग्य होनेपर तप करने मैं इस आश्रममें आया। दीर्घकालतक तप करके मैंने देहत्याग किया। तपके प्रभावसे मुझे ब्रह्मलोक मिला; किंतु वहाँ भी मुझे क्षुधा पीड़ित करने लगी।'

भगवान् ब्रह्माने कहा था—'श्वेत! पृथ्वीपर दान किये बिना इस लोकमें कोई वस्तु मिलती नहीं। तुमने किसी भिक्षुकको भिक्षा तक नहीं दी। केवल अपने देहको नाना प्रकारके भोगोंसे पुष्ट किया। देहको ही सुखाकर तुमने तप किया। तपका फल तो तुम्हारा इस लोकमें आना है। तुम्हारा देह पृथ्वीपर पड़ा है। वह पुष्ट और अक्षय कर दिया गया है। तुम उसीका मांस खाकर क्षुधा मिटाओ। अगस्त्य ऋषिके मिलनेपर तुम इस घृणित भोजनसे परित्राण पाओगे।'



'तबसे यह देह मेरा आहार है। मेरे प्रतिदिन भक्षणसे भी यह घटता नहीं।' श्वेतने बतलाया।

'मैं ही अगस्त्य हूँ।' मैंने उसे बतलाया, तब वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने बड़े आग्रहसे यह आभूषण मुझे दिया। मुझे इसका क्या करना था, किंतु उसके उद्धारके लिये मैंने उसका यह दान स्वीकार कर लिया।'

महर्षि अगस्त्यने आभूषणकी यह कथा श्रीरामको सुनायी। —सु०

(५)

दानधर्मके आदर्श राजा हर्षवर्धन

तीर्थराज प्रयागमें गङ्गा-यमुनाके संगमपर पता नहीं कबसे जब बृहस्पति मिथुन राशिपर आते हैं (प्रायः बारहवें वर्ष) कुम्भ महापर्व होता है। उससे आधे कालमें अर्धकुम्भीका पर्व माना जाता है। यद्यपि कुम्भपर्व भारतमें चार स्थानोंमें पड़ता है, किंतु अर्धकुम्भी प्रयागमें ही मानी जाती है। इस प्रकार प्रति छठे वर्ष प्रयागमें कुम्भ अथवा अर्धकुम्भीका पर्व पड़ जाता है।

भारतसम्राट् शिलादित्य हर्षवर्धन इस कुम्भ या अर्धकुम्भी पर्वके आनेपर प्रयाग अवश्य आते थे। सम्राट्की ओरसे मोक्षसभाका आयोजन होता था। सनातन-धर्मी विद्वान् साधु तो आते ही थे, देशके सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् तथा भिक्षु भी आते थे। सम्राट् सबके ठहरने और भोजनादिकी व्यवस्था करते थे। एक महीने निरन्तर धर्मचर्चा चलती थी।

यह स्मरण रखनेकी बात है कि हर्षवर्धनने अपनेको कभी राजा नहीं माना। वे अपनेको अपनी बहिन राज्यश्रीका प्रतिनिधि ही मानते थे। तपस्विनी राज्यश्रीका कहना था—'प्रयागकी यह पावन भूमि तो महादानकी भूमि है। इसमेंसे कुछ भी घर लौटा ले जाना अत्यन्त अनुचित है।'

वह मोक्षसभाका प्रथम आयोजन था। हर्षने सर्वस्व-दानकी घोषणा कर दी थी। राज्यश्रीने भी सब दान कर दिया था। धन, रत्न, आभूषण, वस्त्र, वाहन आदि सब कुछ दान कर दिया गया। शरीरपरके पहिननेके वस्त्रतक राज्यश्रीने सेवकोंको दे दिये। लेकिन उसे तब चौंकना पड़ा जब उसके भाई सम्राट् हर्ष केवल धोती पहिने, बिना उत्तरीयके अनाभरण उसके सम्मुख आये और बोले—'बहिन! हर्ष तुम्हारा राज्य-सेवक है। यह अधोवस्त्र नापितको दे देनेका संकल्प कर चुका है। अपने इस सेवकको एक वस्त्र नहीं दोगी?'

राज्यश्रीके नेत्र भर आये। उसके शरीरपर भी एकमात्र साड़ी बची थी। उसने ढूँढ़ा तो एक पुराना वस्त्र शिविरमें पड़ा मिल गया। वह इसलिये बच गया था कि फटकर चिथड़ा हो चुका था। किसीको देनेयोग्य नहीं रहा था। वह चिथड़ा हर्षने ले लिया और उसे लपेटकर धोती नापितको दे दी।

इसके पश्चात् तो यह परम्परा ही बन गयी। प्रति छठे वर्ष हर्षवर्धन सर्वस्व-दान करते थे और बहिन राज्यश्रीसे माँगकर एक फटा चिथड़ा लेते थे। कटिमें वह चिथड़ा लपेटे वह भारतका सम्राट् नग्नदेह कुम्भकी भरी भीड़में पैदल बहिनके साथ जब विदा होता था, उस महादानीकी शोभा क्या सुरोंको भी स्वप्नमें मिलनी शक्य है?

वह चिथड़ा भी हर्षके पास रह नहीं पाता था। प्रयागके उस संगम-क्षेत्रसे बाहर निकलते ही कोई-न-कोई नरेश आगे आ जाता—'सम्राट्! आपने सर्वस्व-दान किया है। आपका यह कटिवस्त्र पानेकी कामना लिये आया है यह आपका सेवक!'

राजाओंके स्नेहपूर्वक मिले उपहार तो सम्राट्को स्वीकार करने ही थे। वह कटिवस्त्र जिसे मिलता, वह अपनेको कृतार्थ एवं परम सम्मानित मानता। —सु०

(६)

दानशीलता-धर्मके आदर्श—विद्यासागर

श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर बहुत ही सादे वेशमें रहते थे। एक दिन कलकत्तेमें वे कहीं जा रहे थे। मार्गमें एक व्यक्तिको बहुत खिन्न देखकर उन्होंने उसके दुःखका कारण पूछा। पहले तो उसने बतलाना नहीं चाहा। बहुत पूछनेपर उसने

बतलाया—'मुझे अपनी पुत्रीके विवाहमें ऋण लेना पड़ा था। रुपये देनेका प्रबन्ध हो नहीं पा रहा है और महाजनने दावा कर दिया है। अब तो जेल काटना ही भाग्यमें है।'

विद्यासागरने उसका नाम-पता पूछ लिया। उसके साथ सहानुभूति प्रकट की और चले गये। मुकदमेकी तारीखपर वह अदालतमें गया तो पता लगा कि उसकी ओरसे किसीने रुपये जमा कर दिये हैं। मुकदमा समाप्त हो गया है। रुपये किसने जमा किये, यह सोच पाना उसके लिये सम्भव नहीं था। मार्गमें देहाती-जैसे दीखनेवाले पुरुषका यह काम होगा, ऐसा अनुमान वह कैसे कर सकता था।

विद्यासागरका स्वभाव ही था कि वे अभावग्रस्त, दीन-दुखियोंका पता लगा लिया करते थे और उनको प्रायः इस प्रकार सहायता देते थे कि सहायता पानेवाला यह न जान सके कि उसे किसने सहायता दी है। यही तो सर्वोत्तम दान है। —सु०

हमारा धर्म और शिक्षा

(लेखक—साहित्यभूषण श्रीभगवानसिंहजी चन्देल, 'चन्द्र')

हमारा भारतवर्ष सदैवसे ही धर्मप्राण देश रहा है; क्योंकि 'धर्म' ही मानवका संरक्षण और पोषण करता है। धर्मका नाश करनेपर धर्म-परित्यागीका विनाश ही हो जाता है। हमारे आचार्योंका भी इस सम्बन्धमें यही कथन है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

धर्म क्या है ?

"जिससे इस संसारमें उन्नति हो और परलोकमें कल्याणकी प्राप्ति हो सके, वही 'धर्म' है।" ये महर्षि कणादके वचन हैं।

'धर्म'से लोक और समाजका कल्याण सम्भव होता है। धर्मरहित समाज उच्छृङ्खल बन जाता है। धर्म ही हमको भगवत्प्रेमकी ओर प्रेरित करता है। उसीके अनुवर्तनसे अनुशासित होकर हम स्वेच्छाचारितासे सुरक्षित रह सकते हैं। इसीलिये हमको ईशोपनिषद् इस प्रकार आदेश प्रदान करता है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थात् इस दृश्य जगत्में जो कुछ भी है, वह सब ईश भगवान् परब्रह्म परमात्मासे ओतप्रोत है। इस संसारका उपभोग त्याग-भावसे ही करो। कभी किसीका धन मत छीनो।

जीओ और जीने दो

उक्त प्रकारका आदर्श-वाक्य हमारे भारतका एक मुख्य साधना-तत्त्व रहा है। इसी कारण हमारे देशने किन्हीं विदेशी और विजातीय राष्ट्रोंपर सेना लेकर आक्रमण करनेकी नीतिको स्वीकार नहीं किया, किसी जाति अथवा राष्ट्रको भयाकुल और संत्रस्त करके धन-सम्पत्तिका अपहरण करना उपयुक्त नहीं समझा। इसके विपरीत आजकी भौतिकवादी सभ्यता, जो स्वेच्छाचारिताको प्रोत्साहन देकर अन्यान्य राष्ट्रोंका स्वत्वापहरण करना धर्म मान रही है, घोर पाप है। इस प्रकारकी अधर्म-नीति संसारके लिये एक महान् अनर्थकारी अभिशाप प्रमाणित हो रही है। वर्तमानमें जिसको लोग 'स्वतन्त्रता' कहते हैं, वह वास्तवमें स्वतन्त्रता न होकर स्वच्छन्दता ही है। इस प्रकारकी उच्छृङ्खल स्वतन्त्रतासे न तो व्यक्तिगत उन्नति हो सकती है और न समाज एवं राष्ट्रका यथार्थ कल्याण ही सम्भव है। इस प्रकारकी उद्दण्डतापूर्ण दुष्प्रवृत्तिसे मानवताका विनाश अवश्य ही संनिकट उपलब्ध होगा।

हमारे देशने संसारके कल्याणार्थ विश्व-बन्धुत्व और विश्व-प्रेमकी कल्पनाके शुभ संदेश मानव-जातिको प्रदान किये हैं। हमारे धर्मने 'जीओ और जीने दो'—इस सिद्धान्तको व्यावहारिक रूप देकर संसारके सामने एक भव्य और नव्य संदेश प्रस्तुत किया है। देखिये, वेद—भगवान् इसी संदेशका उद्घोष करते हुए कहते हैं—

मानव और वेद

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

(ऋग्वेद १०। १९१। २)

अर्थात् तुम सब मिलकर रहो। तुम अपने धर्ममें निरत रहो। एक बात बोलो। अपने मनमें उन बातोंकी एक ही व्याख्या करो। एकचित्त होकर जिस प्रकार देव तुम्हारे प्रदान किये हुए हव्यको ग्रहण करता है, उसी प्रकार अपने सभी विरोधोंको परित्याग करके उसके समान ही हव्यभागका आदर करो।

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि॥
(ऋग्वेद १०। १९१। ३)

अर्थात् सबका मन्त्र एक हो। उसकी उपलब्धि भी सबके लिये समान हो। अन्तःप्रदेश, विचार-धारा और ज्ञानावलोकन सभीके लिये समान सुलभ हो। तुम्हारे हृदयोंमें दूसरोंका हित-साधन करनेके लिये एक ही प्रकारका सिद्धान्त निवास करता हो। तुम्हारे मनोंमें ईश्वराराधनार्थ आहुति-दानकी एक समान भावना निवास करती हो।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
(ऋग्वेद १०। १९१। ४)

अर्थात् तुम सबकी चेष्टा एक समान हो। तुम सबका निश्चय एक समान हो। तुम्हारे हृदय एक हों। तुम सबका हृदय एक समान ही उदारता रखता हो। तुम सबका एक समान रहन-सहन हो।

आदर्श समाजका पथ

उक्त आदर्श एक ऐसे समाजका है, जो सब प्रकारसे एकरूपताके आधारपर अपना आचार-विचार बनाता है और धर्मके महाप्रसादसे जन-कल्याणकारी पथकी यात्राके लिये प्रयाण करनेकी सद्भावना रखता है। ऐसे समाजमें आपाधापीके लिये हाय-हाय नहीं होती। पारस्परिक कोई विरोध-भाव नहीं होता। एक व्यक्ति दूसरेको नीचे गिराकर मत्स्य-न्यायके दूषित संदेशके सम्बन्धमें कहींसे कोई प्रोत्साहन प्रदान नहीं करता। आजके विश्वकी संकटापन्न अवस्थाको अवलोकन करते हुए वर्तमानकालीन स्थितिमें मानवीय सद्गुणोंको सीखने-सिखानेका प्रयास किया जाना नितान्त ही आवश्यक हो रहा है। सबसे पूर्व हमारे भारतवर्षको ही इस दिशामें पहल करना है।

कहनेके लिये हमारा देश स्वाधीन अवश्य है; किंतु धर्माचरणके दृष्टिकोणसे हम आज भी पराधीन हैं! आज भाषा, वेष-भूषा, आचार-विचार, खान-पान इत्यादिके विषयमें हमने भौतिकवादी पाश्चात्त्य संसारका अन्ध-भक्तिके साथ अनुसरण करना ही अपना आदर्श—लक्ष्य बना रक्खा है! इस प्रकारकी दुष्प्रवृत्तिसे हमें सुरक्षित बनना होगा। हम जानते हैं कि संसारके अन्यान्य राष्ट्रोंके साथ ही हमको भी उद्ग्रीवी बनकर जीवित रहना हमारा एक दायित्वपूर्ण कर्त्तव्य है। स्वाधीन राष्ट्रोंकी विचार-धाराके अनुसार हम भी इस संसारमें मानव-कल्याणकारी विश्व-साम्राज्यके संचालन और परीक्षणार्थ एक महान् स्वप्नका आभास पा रहे हैं!

हमें अपने धार्मिक विश्वासके अनुसार ही, किसी देश और जातिके प्रति कोई ईर्ष्या अथवा घृणाभाव नहीं है। हम अपने धर्म, संस्कृति और राष्ट्रकी रक्षा करते हुए समुचित रूपमें, अपने मान-सम्मान और धर्मका आश्रय प्राप्त करके ही राष्ट्रोत्थानकी दिशामें प्रगतिशील रहना चाहते हैं। हम अपनी विगत शताब्दियोंकी दासता-जन्य आसुरी शिक्षा-दीक्षाका दुर्वह भार उतार फेंकनेके लिये व्यग्र बन रहे हैं। हम चाहते हैं कि सत्य, दया, न्याय, अहिंसा, उदारता, स्वावलम्बन, शौर्य, सत्साहस और सद्विवेक इत्यादि मानवी गुणोंको धारण करके, एक नवीन क्रान्तिको जन्म प्रदान किया जाय। हमारी यथेष्ट प्रगतिमें आजकी दूषित शिक्षा हमारे मार्गका रोड़ा बनकर हमें अग्रगामी पथकी ओर अग्रसर नहीं होने दे रही है। अतः इस विकृति-मूलक शिक्षाका बहिष्कार हमारे देशसे शीघ्रातिशीघ्र होना ही अनिवार्य है।

यह धर्महीन शिक्षा!

आजकी भौतिकवादी शिक्षा, मनुष्यको केवल सांसारिक सुख-उपभोग करनेका ही साधन प्रदान करती है। इस शिक्षाका लक्ष्य धर्म और संस्कृतिसे कुछ भी सम्पर्क नहीं रखता। इस कुशिक्षाका, बस, केवल यही एक लक्ष्य है—

यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अर्थात् जबतक जीओ, सुखपूर्वक जीओ; मनमाना आचार-व्यवहार पालन करो। धर्म-कर्मका कोई भी विवेक रखनेकी आवश्यकता नहीं है। सुखोपभोगके लिये चाहे

जितना ऋणी क्यों न बनना पड़े, कोई चिन्ता नहीं है; क्योंकि कदाचित् फिर इस प्रकारका स्वच्छन्दतापूर्ण व्यवहार कर सकनेका सुअवसर प्राप्त हो अथवा न हो।

आज हमारे देशमें अर्थ-चक्र बहुत बुरी प्रकारसे परिचालित हो रहा है। इसीके दुष्प्रभावसे गाँव-शहर, शिक्षित-अशिक्षित, पुरुष-स्त्री, शासकीय-अशासकीय, सेवक-किसान, श्रमिक, व्यापारी, ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य और हरिजन इत्यादि सभी कोई—सभी स्थानपर और सभी समय—छल-छिद्र, बेईमानी, भ्रष्टाचार, मिलावट, चोरी, जुआ, शराब, व्यभिचार और अनेकानेक घृणित कृत्योंद्वारा 'धनार्जन' करनेके लिये कटिबद्ध बन रहे हैं। इस प्रकार हमारे देशके इस घोर अधर्माचरणको कुशिक्षाका ही दूषित परिणाम कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं है। अंग्रेजी शिक्षाने हमारे देशके नवयुवक और युवतियोंके मन-मस्तिष्कको इतना कुण्ठित बना दिया है कि हम स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात् भी उन्मादित अवस्थामें कालयापन कर रहे हैं? कितने परिताप और पश्चात्तापका विषय है कि जिस देशमें लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी और पण्डित जवाहरलाल नेहरू-जैसे त्यागी नेताओंने आजादीके लिये अनेकों कष्ट सहन किये हैं और देशके हजारों व्यक्तियोंने अपने आत्मबलिदानसे भारत-माताके चरणोंमें सर्वस्व समर्पण कर दिया है, आज हम उन सभी बलिदानोंको ठुकराकर रोजी-रोटीके टुकड़ोंके लिये मर रहे हैं!

भूतकालीन शिक्षा

हमारी भारतीय शिक्षाका लक्ष्य पूर्णतया सात्त्विक प्रवृत्तिको प्रश्रय प्रदान करनेका रहा है। संसारमें जीवित रहनेका अधिकार तो सभीका है, किंतु यह अधिकार उच्छृङ्खल जीवन व्यतीत करनेके लिये नहीं है। हमारा लक्ष्य यह हो कि हम मानवीय सत्कर्मोंका पालन करते हुए अपने धार्मिक सिद्धान्तोंका कभी भी विस्मरण न करें। देखिये भूतकालीन शिक्षा अपना कितना उच्चादर्श रखती थी—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

अर्थात् 'विद्यासे नम्रता प्राप्त होती है। नम्रताद्वारा पात्रताकी उपलब्धि होती है। पात्रताद्वारा ही धनार्जन किया जा सकता है। इस प्रकारके सत्प्रयाससे प्राप्त किये गये धनद्वारा धर्म-सम्पादन होता है और उससे वास्तविक सुखोपलब्धि होती है।'

नवीन शिक्षाद्वारा क्रान्ति

हमारे स्वाधीन देशके अंदर विविध प्रकारके कार्य-क्रम प्रसारित हो रहे हैं। अनेक प्रकारकी राष्ट्रोद्धारक पंचवर्षीय योजनाओंका कार्यान्वयन हो रहा है। भारतके कोने-कोनेसे हिंदी राष्ट्रभाषा और प्रान्तीय भाषाओंके द्वारा जन-मानसका नूतन संस्करण होनेकी आवाज उठायी जा रही है। हम उस घड़ीकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, जब देशमें साम्प्रदायिकताकी सीमासे बाहर रहकर केवल भारत-राष्ट्रोत्थानके लक्ष्यसे यहाँकी शिक्षा-दीक्षाका पुनर्निर्माण हमारी भारत-सरकार करनेके लिये उद्यत बनेगी। जबतक भारतीय धर्मके उन्नत सिद्धान्तोंके साथ पाश्चात्त्य संसारके उपयुक्त दृष्टिकोणका पारस्परिक समन्वय होकर शिक्षा-सिद्धान्त निर्धारित नहीं किये जायँगे, तबतक हमारा राष्ट्र प्रगति नहीं कर सकेगा। हम पूर्व-पश्चिमके भँवरजालमें ग्रसित हैं। अतः आइये, हम सब अपनी सरस्वतीदेवीकी पूजा वेदध्वनिसे करनेके लिये प्रस्तुत हों और संतत राष्ट्रके जीवनको इस नूतन क्रान्तिद्वारा परितोष प्रदान करें।

घोर अविद्या, अविद्या, विद्या

घोर अविद्या जो मानवको कर दे पापोंमें संलग्न।
असुर-भाव भर रखे त्याज्य जो अर्थ-काममें नित्य निमग्न॥
वह भी निश्चय विषम अविद्या जो मनमें भरकर अज्ञान।
वैध-भोगरत रखे, भुला प्रभुको जो उपजा कर अभिमान॥
विद्या वह जो दैवी-सम्पद्से भर दे, कर प्रभुका दास।
सदा रखे प्रभु-सेवामें जो मिटा द्वन्द्व—सारे अभिलाष॥

सामान्य-धर्म और विशेष-धर्म

धर्म दो प्रकारके हैं—सामान्य और विशेष*। सामान्य धर्म सर्वलोकोपकारी, शास्त्रसम्मत, सबके लिये यथायोग्य अधिकारानुसार आचरणीय और सर्वथा वैध होता है। वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, पिता-माता, पति-पत्नी, पुत्र-सखा, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा आदिके विभिन्न आदर्श व्यक्ति-धर्म भी—सब सामान्य धर्ममें आ जाते हैं। इसमें शास्त्र-विरुद्ध विचार और आचार सर्वथा निषिद्ध हैं। अपने-अपने क्षेत्र तथा अधिकारानुसार शुभका ग्रहण तथा अशुभका परित्याग सावधानीके साथ किया जाता है। पिता, पति, गुरु, राजा आदिकी सेवा पूर्णरूपसे की जाती है, संतानका पालन-पोषण, पत्नीका सुख-हित-साधन, शिष्यका प्रिय-हित-साधन, प्रजाका पालन भी पूर्णरूपसे किया जाता है। पर यह सब होता है शास्त्रसम्मत। पिताकी, पतिकी, गुरुकी और धर्मात्मा राजाकी आज्ञा वहींतक स्वीकार की जाती है, जहाँतक उस आज्ञाके पालनसे उन आज्ञा देनेवाले पूजनीय जनोंका अहित न हो, भले ही अपने लिये कुछ भी त्याग करना पड़े। पर जो आज्ञा शास्त्रविरुद्ध होती है, जिसके अनुसार कार्य करनेसे आज्ञा देनेवालोंका भी अहित होता है, वह आज्ञा नहीं मानी जाती। जैसे पिताकी आज्ञासे पुत्रका चोरी, डकैती, खून करना; पतिकी आज्ञासे पत्नीका पर-पुरुषसे मिलना या पतिके व्यभिचारादि कुकर्मोंमें सहायक होना। इसी प्रकार पिता, पति, गुरु, राजा, मित्र, देश एवं जातिके लिये भी बड़े-से-बड़ा त्याग करके वही कार्य किये जाते हैं, जो वैध—शास्त्र-सम्मत होते हैं और ऐसा ही करना भी चाहिये। जो शास्त्र-विधिका त्याग करके मनमाना आचरण करते हैं, उनको परिणाममें न सफलता मिलती है, न सुख मिलता है और न परम गति ही प्राप्त होती है (गीता १६। २३)।

जो निज-सुखके लिये—इन्द्रियोंकी वासना-तृप्ति या काम-क्रोध-लोभवश अवैध कर्म—शास्त्र-विरुद्ध आचरण करते हैं, वे तो प्रत्यक्ष पाप करते ही हैं; परंतु जो दूसरोंके लिये भी शास्त्र-विपरीत आचरण करते हैं, वे भी पापी हैं। अतएव शास्त्र-विरुद्ध आचरण किसी भी समय किसी भी हेतुसे किसीके भी लिये नहीं करना चाहिये। यही सर्वसाधारणके लिये पालनीय सनातन धर्म है।

पर एक विशेष धर्म होता है, जिसमें निज स्वार्थका त्याग तो होता ही है, प्रिय-से-प्रिय सम्बन्धियों, वस्तुओं और परिस्थितियोंका त्याग भी सुखपूर्वक कर दिया जाता है। एक परम धर्मके लिये सभी छोटे-छोटे धर्मोंका त्याग हो जाता है। इसी प्रकार आत्मीय-स्वजनोंका त्याग भी होता है।

> पिता तज्यौ प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
> बलि गुरु तज्यौ, कंत ब्रज बनितनि, भये जग मंगलकारी॥

भगवान्से द्रोह रखनेवाले पिताकी बात प्रह्लादने नहीं मानी, विभीषणने बड़े भाई रावणका त्याग कर दिया। भरतने रामविरोधिनी मातासे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया, बलिने गुरु शुक्राचार्यकी बात न मानकर वामनभगवान्को दान किया और व्रजाङ्गनाओंने अपने-अपने पतियोंको छोड़ दिया। पर ये कोई भी पापी नहीं हुए, न परिणाममें इन्होंने दुःख ही भोगा, वरं सारे संसारके लिये इनका चरित्र कल्याणकारी हो गया।'

इनमें प्रह्लाद तथा बलिका त्याग तो बड़े धर्मके लिये छोटे धर्मका त्याग है। विभीषणका त्याग कुछ विशेष धर्मका है; क्योंकि उसमें रावणसे द्रोह किया गया है। भरतका त्याग उससे भी ऊँचा विशेष धर्मका है; क्योंकि उसमें माताके प्रति भरतका क्रोध है तथा उनके प्रति अपशब्दोंके प्रयोगके साथ ही उनका बहिष्कार है। श्रीगोपाङ्गनाओंका त्याग सर्वथा विशुद्ध विशेष धर्मका है, जिसमें स्व-सुख-वाञ्छासे रहित केवल प्रियतम-सुखार्थ लोक-वेद-मर्यादाका—शास्त्रका प्रत्यक्ष उल्लङ्घन है। जहाँ कोई स्व-सुख-कामना है, जहाँ शुभ-अशुभका ज्ञान है और जहाँ कर्तव्य-अकर्तव्यका बोध है, वहाँ शास्त्र-उल्लङ्घनरूप विशेष धर्मका आचरण नहीं हो सकता। बड़े धर्मके लिये छोटे धर्मका त्याग बुद्धिमानी है, विशेष लाभका परिचायक है। पर जहाँ धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, कर्तव्य-अकर्तव्य, शुभ-अशुभका कोई बोध ही नहीं है, **जहाँ केवल विशुद्ध अनुराग है, वहाँ केवल 'एक'मात्र सम्बन्ध**

* मनुस्मृतिमें कथित धृति, क्षमा आदिके सदृश मानवमात्रके लिये पालन करनेयोग्य धर्मोंको 'सामान्य धर्म' और वर्णधर्म, आश्रमधर्म, व्यक्तिधर्म आदिको 'विशेष धर्म' माना जाता है—यह सर्वथा ठीक और माननीय है। यहाँ इस लेखमें 'सामान्य धर्म' और 'विशेष धर्म' पर दूसरे दृष्टिकोणसे विचार किया गया है।



भगवान्‌का आवाहन

रह जाता है। उसीका अनन्य चिन्तन होता है। उसीकी एकान्त स्मृति रहती है, जीवनका प्रत्येक स्तर और प्रत्येक कार्य सहज-स्वाभाविक ही उसी 'एक'से सम्बन्धित हो जाता है। जहाँ अपना जीवन, अपना कार्य है ही नहीं, वहीं इस विशेष-धर्मका पूर्ण प्रकाश हुआ करता है और इसका एकमात्र सर्वोच्च उदाहरण है—'महाभाग्यवती श्रीगोपाङ्गना'।

भगवान्‌ने स्वयं अपनेको उनका चिर ऋणी माना है और उनके लिये कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।

वे मेरे मनवाली, मेरे प्राणवाली हैं और मेरे लिये उन्होंने अपने सारे दैहिक सम्बन्धों तथा कर्मोंको छोड़ दिया है। अर्थात् वे मेरे ही मनसे मनस्विनी हैं, मेरे ही प्राणोंसे अनुप्राणित हैं और केवल मुझसे ही सम्बन्ध रखकर मेरे ही कर्म किया करती हैं।

इनसे निम्नकोटिके भी बहुत-से उदाहरण हैं। एकमात्र पितृभक्तिके लिये परशुरामजीके द्वारा माताका वध, भ्रातृभक्त लक्ष्मणका पिता दशरथ आदिपर क्रोध, पतिभक्ता शाण्डिलीका पतिको वेश्यालय ले जाना, पतिव्रता ओघवतीका पतिके आज्ञानुसार अतिथिको देह समर्पण कर देना आदि। इन सभीमें उनके धर्मकी रक्षा हुई है। वे पापसे बचे ही नहीं, पापकर्म-सम्पादनसे भी प्रायः बचा लिये गये हैं। ऐसे ही गुरुभक्तिके, आतिथ्यके, मातृभक्तिके, देशभक्तिके बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। पर इस विशेष धर्मका आचरण विशेष परिस्थितिमें पहुँचे हुए परम सदाचारी, त्यागी, विरागी, एकनिष्ठ व्यक्तियोंके द्वारा ही सम्भव है। देखादेखी न तो इसका आचरण करना चाहिये, न उससे लाभ ही है, वरं उलटे हानि हो सकती है। पाप तो पल्ले बँध जाते हैं, निष्ठा रहती नहीं, इससे पतन ही हो जाता है। यहाँ विशेष-धर्मके चार उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

(१)

प्रेमधर्मकी विशिष्ट सजीव प्रतिमाएँ श्रीगोपाङ्गना

श्रीगोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्णप्रेमरूप 'अनन्य विशेष धर्म'की सजीव मूर्तियाँ थीं। उनका चित्त-मन, बुद्धि-अहंकार—सब कुछ प्रियतम श्रीकृष्णके समर्पित हो चुका था। शारदीय पूर्णिमाकी उज्ज्वल-धवल सुधा-शीतल रात्रिमें प्रकृतिकी अपरिसीम शोभा-सुषमासे संयुक्त रमणीय अरण्यमें भगवान् श्रीकृष्णने रसमयी रासक्रीड़ा करनेका—दिव्य प्रेमरसास्वादनरूप निज स्वरूपानन्द-वितरणका संकल्प करके मधुर मुरलीकी मधुमयी तान छेड़ी, बड़े ही मधुर स्वरमें श्रीगोपाङ्गनाओंका आवाहन किया। गोपाङ्गनाएँ तो 'श्रीकृष्णगृहीतमानसा' थीं ही। मुरलीकी मधुर ध्वनिने उनकी प्रेमलालसाको अदम्यरूपसे बढ़ा दिया। वे सब उन्मत्त होकर चल दीं—

मुरलीके मधु स्वरमें सुनकर प्रियतमका रसमय आह्वान।
हुईं सभी उन्मत्त, चलीं तज लज्जा, धैर्य, शील, कुल, मान॥
पति, शिशु, गृह, धन, धान्य, वसन,
भूषण, गौ, कर भोजनका त्याग।
चलीं जहाँ जो जैसे थीं, भर मनमें प्रियतमका अनुराग॥

जो गोपियाँ गाय दुह रही थीं; वे दुहना छोड़कर; जो चूल्हेपर दूध औटा रही थीं; वे उफनता हुआ दूध छोड़कर; जो भोजन बना रही थीं; वे अधूरा ही बना छोड़कर; जो भोजन परस रही थीं, वे परसना छोड़कर; जो छोटे-छोटे बच्चोंको दूध पिला रही थीं, वे दूध पिलाना छोड़कर; जो पतियोंकी सेवा-शुश्रूषा कर रही थीं, वे सेवा-शुश्रूषा छोड़कर; जो स्वयं भोजन कर रही थीं, वे भोजन छोड़कर प्रियतम श्रीकृष्णके पास चल दीं। जो अपने शरीरमें अङ्गराग, चन्दन और उबटन लगा रही थीं और जो आँखोंमें अञ्जन आँज रही थीं, वे इन सब कामोंको अधूरा छोड़कर—यहाँतक कि वस्त्रोंको भी उलटे-पलटे (ओढ़नी पहन तथा घाघरा ओढ़कर) पहनकर तुरंत चल पड़ीं। किसीने एक दूसरीको न बताया, न कुछ कहा। कहतीं-बतातीं कैसे ? मन-इन्द्रियाँ तो सब श्रीकृष्णमें तन्मय थीं। वे सब प्रियतम श्रीकृष्णके समीप पहुँच गयीं।

श्रीकृष्णने उनके विशेष धर्म—एकमात्र प्रेम-धर्मकी परीक्षाके लिये अथवा उनके प्रेमधर्मकी महिमाका विस्तार करनेके लिये उन्हें भाँति-भाँतिके भय दिखलाये, गृहस्थीके कर्त्तव्य तथा समस्त जनोंके अवश्य पालन करने योग्य सामान्य धर्मकी महत्त्वपूर्ण बातें समझायीं और उनसे लौट जानेका अनुरोध किया। भगवान् बोले—

'महाभागाओ ! तुम्हारा स्वागत है; कहो तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? इस समय तुम क्यों आयीं ? व्रजमें कुशल तो है न ? देखो—घोर रात्रि है, भयानक जीव-जन्तु घूम रहे हैं; तुम सब लौट जाओ। घोर जंगलमें रातके समय रुकना ठीक नहीं। तुम्हारे माता-पिता, पति-पुत्र, बन्धु-

बान्धव तुमको न देखकर भयभीत हुए ढूँढ़ रहे होंगे । तुमने वनकी शोभा देख ही ली । अब जरा भी देर न करके तुरंत लौट जाओ । तुम सब कुलीन महिलाएँ हो, सती हो । जाओ, अपने पतियोंकी सेवा करो । देखो, तुम्हारे छोटे-छोटे बच्चे रो रहे होंगे और गायोंके बछड़े रँभा रहे होंगे । बच्चोंको दूध पिलाओ, गौओंको दुहो । मेरे प्रेमसे आयी हो सो उचित ही है । मुझसे सभी जीव प्रेम करते हैं । परंतु कल्याणी गोपियो ! स्त्रियोंका परम धर्म ही है पतियोंकी, उनके भाई-बन्धुओंकी सेवा करना और संतानका पालन-पोषण करना । जिन स्त्रियोंको श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति अभीष्ट हो, वे एक पातकी (भगवद्विमुख) पतिको छोड़कर बुरे स्वभाववाले, भाग्यहीन, वृद्ध, मूर्ख, रोगी और निर्धन पतिका भी त्याग न करके उसकी सेवा करे । कुलीन स्त्रियोंके लिये उपपतिकी सेवा करना सब तरहसे निन्दनीय, लोकमें अकीर्ति करनेवाला, परलोकको बिगाड़नेवाला और स्वर्गसे वञ्चित करनेवाला है । इस अत्यन्त तुच्छ क्षणिक कुकर्ममें कष्ट-ही-कष्ट है । यह सर्वथा परम भय—नरक-यातना आदिका हेतु है । मेरा प्रेम तो दूर रहकर कीर्तन-ध्यानसे प्राप्त होता है । अतएव तुम तुरंत लौट जाओ ।'

श्रीकृष्णका यह भाषण सुनकर गोपियाँ एक बार तो बड़ी चिन्तामें पड़ गयीं, पर पवित्र प्रेमका स्मरण आते ही उन्होंने कहा—'प्रियतम ! तुम हमारे मनकी सब जानते हो । हमारे तो एकमात्र धर्म-कर्म सब कुछ तुम ही हो; तुम्हारे चरणकमलोंको छोड़कर हम कहाँ जायँ और कहीं जाकर भी क्या करें ।' भगवान्ने उनकी परम त्यागमयी तथा अनन्य भावमयी—रसमयी प्रीतिका आदर किया और उन्हें पहलेसे ही अपना रक्खा है—इसका प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया । श्रीगोपाङ्गनाएँ इस विशेष धर्मकी प्रत्यक्ष जीवित प्रतिमाएँ हैं । उनका भाव और मनोरथ है—

स्वर्ग जायँ या पड़ी रहें हम घोर नरकमें आठों याम ।
यश पायें या कहलायें व्यभिचारिणि-कुलटा, हों बदनाम ॥
सुख पायें या घिरी रहें हम नित दुःखोंमें ही अविराम ।
देखे बिना न रह सकतीं पल हम मोहन-मुख-चन्द्र ललाम ॥

पड़े पैर-हाथोंमें बेड़ी-कड़ी, बँधे बन्धन विकराल ।
पीना पड़े हलाहल विष, फिर पड़े खिंचानी कच्ची खाल ॥
रहे झूलती जीवन-ऊपर नित भीषण दुःखोंकी माल ।
भूलें नहीं भूलकर, पलभर, हम प्राणप्रियतम नँदलाल ॥

तन-धन-परिजन रहें, जायँ या, मिटे-रहे सुन्दर संसार ।
धर्म-कर्म-लज्जा-कुलमर्यादाका हो चाहे संहार ॥
मिटे मान-सम्मान, मिले अपमान, छिनें सारे अधिकार ।
उतरें नहीं हृदयसे पलभर चित्त-वित्त-हर नन्दकुमार ॥

आयें काले काले बादल, आये भीषण झंझावात ।
घन गरजे, घन बरसे पत्थर, बार-बार हो विद्युत्-पात ॥
कष्ट-अशान्ति-क्लेश सब आकर करें नित्य नूतन उत्पात ।
डूबी रहें मधुरतम प्रियकी मधुमय स्मृतिमें हम दिन-रात ॥

पुण्य बने या लगे पाप भीषण, हो चाहे कर्म-अकर्म ।
हो अतिशय यातना घोर, सब मिट जायें वाञ्छित सुख-शर्म ॥
चुभती रहे शूल उर संतत, बिंधता रहे सदा ही मर्म ।
छूटें नहीं कभी मनमोहन—यही परम सुख, यही सुधर्म ॥

प्रियतम स्वयं न चाहें चाहे, चाहे करें नहीं स्वीकार ।
विनय-प्रार्थना करनेपर भी मिले मार, चाहे दुत्कार ॥
पहरेदार भले बैठा दें, बंद करा दें सारे द्वार ।
तनिक न दोषदृष्टि हो, पल-पल प्रिय-पद बढ़े प्रेम अविकार ॥

(२)

पितृभक्त परशुराम

महर्षि जमदग्नि परम तपस्वी थे। उनकी पत्नी थी राजा प्रसेनजित्की पुत्री रेणुका । रेणुका बड़ी धर्मशीला-पतिव्रता थीं । एक दिन वे स्नान करने गयी थीं । स्नान करके लौटते समय दैवयोगसे उन्होंने जलक्रीड़ा करते हुए राजा चित्ररथको देख लिया । जल विहार-रत राजाको देखते ही क्षणभरके लिये उनके मनमें कुछ क्षोभ हो गया । पर वे इस मानस विकारसे अत्यन्त घबरा गयीं और बहुत डरती-डरती तुरंत आश्रममें लौट आयीं । जमदग्नि मुनिने अपनी सिद्धिके बलसे सारी बातें जान लीं और रेणुकाको मानस पापके कारण ब्राह्मतेजसे च्युत हुई देखकर बहुत धिक्कारा !

रेणुकाके पाँच पुत्र थे—रुक्मवान्, सुषेण, वसु, विश्वावसु और परशुराम । परशुराम उस समय नहीं थे । जमदग्निने क्रमशः अपने चारों पुत्रोंसे कहा कि 'तुम अपनी इस माताको तुरंत मार डालो ।' किंतु वे इस आज्ञाको न मान सके और चुपचाप सहमे हुए-से खड़े रह गये । तब मुनिने शाप देकर उन चारोंको विचारशक्तिसे शून्य पशु-पक्षियोंके सदृश जड-बुद्धि बना दिया । इसके बाद परशुराम आये । परशुराम बड़े तेजस्वी और महान् पराक्रमी थे और थे पिताके अनन्य

भक्त। वे पिताकी आज्ञाका पालन करना ही अपना एकमात्र धर्म मानते थे। जमदग्निने परशुरामसे कहा—'पुत्र! अपनी इस पापिनी माताको तू अभी मार डाल और मनमें किसी प्रकारका खेद मत कर।' परशुरामजीने पिताकी आज्ञा पाते ही उसी क्षण फरसा लेकर माताका मस्तक काट दिया।

रेणुकाके मरते ही जमदग्निका क्रोध सर्वथा शान्त हो गया और वे प्रसन्न होकर कहने लगे—'बेटा! तूने मेरी बात मानकर वह काम किया है, जिसे करना बहुत कठिन है। इसलिये तू अपनी मनमानी सब चीजें माँग ले।' पिताकी बात सुनकर विचारशील परशुरामजीने कहा—'पिताजी! मेरी माता जीवित हो जायँ और उन्हें मेरेद्वारा मारे जानेकी बात याद न रहे। उनके मानस पापका सर्वथा नाश हो जाय। मेरे चारों भाई पूर्ववत् स्वस्थ, बुद्धिमान् हो जायँ। युद्धमें मेरा सामना करनेवाला कोई न हो और मैं दीर्घ आयु प्राप्त करूँ।' जमदग्निजीने वरदान देकर परशुरामजीकी सभी कामनाएँ पूर्ण कर दीं। इस प्रकार पितृ-आज्ञा-पालनरूप विशेष धर्मके पालनसे परशुरामजी पापसे ही मुक्त नहीं हुए, वरं उच्च स्थितिको प्राप्त हो गये।

(३)

भ्रातृभक्त लक्ष्मण

भगवान् श्रीरामके वनगमनकी बात सुनकर लक्ष्मणजीको बड़ा क्षोभ हुआ और वे इसे पिता दशरथ एवं माता कैकेयीका अन्याय मानकर उन्हें दण्ड देनेको तैयार हो गये। उन्होंने कहा—'भाईजी! मैं पिताकी और जो आपके अभिषेकमें विघ्न डालकर अपने पुत्रको राज्य देनेके लिये प्रयत्नमें लगी हुई है, उस कैकेयीकी सारी आशाको जलाकर भस्म कर दूँगा—

अहं तदाशां धक्ष्यामि पितुस्तस्याश्च या तव।
अभिषेकविघातेन पुत्रराज्याय वर्तते॥

(वा० रा० अयोध्या० २३। २३)

फिर जब राम वन जाने लगे, तब तो लक्ष्मण रो पड़े और श्रीरामजीके पैर पकड़कर बोले—'भैया! मैं आपके विना यहाँ नहीं रह सकता। अयोध्याका राज्य तो क्या है—मैं आपके बिना स्वर्ग जाने, अमर होने या देवत्व प्राप्त करने तथा समस्त लोकोंका ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी भी इच्छा नहीं रखता।'

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना॥

(वा० रा० अयोध्या० ३१। ५)

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी उस समयका वर्णन करते हुए लक्ष्मणजीकी उन्हें साथ ले चलनेके लिये विनीत प्रार्थनाका स्वरूप इस प्रकार बतलाते हैं—भगवान् राम जब लक्ष्मणको नीतिका उपदेश करके घर रहनेका अनुरोध करते हैं, तब लक्ष्मण अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं, प्रेमवश उत्तर नहीं दे पाते और अकुलाकर चरण पकड़ लेते हैं तथा कहते हैं—

नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ॥
दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥
नरबर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरनरत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥

इसके पहले जनकपुरमें धनुषयज्ञके अवसरपर भगवान् श्रीरामके वहाँ समुपस्थित रहते जब जनकजीने 'वसुन्धराको वीर-विहीन' बता दिया, तब लक्ष्मणजीने उसे श्रीरामका अपमान समझा और वे जनकका तिरस्कार कर बैठे। फिर परशुरामजीके साथ जो खरी-खोटी चर्चा हुई, उससे भी स्पष्ट होता है कि लक्ष्मणजी श्रीरामका किसी प्रकार तनिक-सा भी तिरस्कार नहीं सह सकते।

चित्रकूटमें जब भरतजीके सदल-बल आनेकी बात सुनी, तब राम-प्रेमवश वहाँ भी आप उत्तेजित हो उठे। भगवान् रामने अयोध्यामें भी, यहाँ भी लक्ष्मणको समझाया, सँभाला; पर लक्ष्मणजी अपने विशेष धर्म भ्रातृ-प्रेमके लिये सब कुछ करनेको तैयार थे।

(४)

पतिपरायणा शाण्डिली

नाम तो था शैब्या, किंतु शाण्डिल्य गोत्रमें उत्पन्न होनेके कारण लोग उन्हें शाण्डिली कहते थे। उनका विवाह

प्रतिष्ठानपुरके कौशिक नामके ब्राह्मणसे हुआ था। विधाता-का विधान भी कैसा है—शाण्डिली परम सुन्दर, शीलवान् एवं धर्मनिष्ठ थां और कौशिक अपने दुष्कर्मोंके कारण कोढ़ी हो गया था। इतनेपर भी उसकी इन्द्रियलोलुपता मिटी नहीं थी।

पतिकी सेवा ही नारीका परम धर्म है—यह निश्चय रखनेवाली वे महनीया कोढ़ी पतिके घाव धोतीं, उसके पैरोंमें तेल लगातीं, उसे नहलातीं, वस्त्र पहिनातीं और अपने हाथसे भोजन करातीं। लेकिन ब्राह्मण कौशिक क्रोधी था। वह अपनी पत्नीको डाँटता-फटकारता रहता था।

एक दिन उस कोढ़ी ब्राह्मणने घर बैठे-बैठे मार्गसे जाती वेश्याको देख लिया। उसका चित्त बेचैन हो गया। स्वयं तो कहीं जा सकता नहीं था, निर्लज्जतापूर्वक पत्नीसे ही उसने अपनेको वेश्याके पास ले चलनेको कहा। पतिव्रता पत्नीने चुपचाप पतिकी बात स्वीकार कर ली। कमर कस ली और पर्याप्त शुल्क ले लिया; क्योंकि अधिक धन पाये बिना तो वेश्या कोढ़ीको स्वीकार करनेवाली नहीं थी। इसके बाद पतिको कंधेपर बैठाकर वे घरसे चलीं।

संयोगकी बात, उसी दिन माण्डव्य ऋषिको चोरीके संदेहमें राजाने शूलीपर चढ़वा दिया था। शूली मार्गमें पड़ती थी। अन्धकारपूर्ण रात्रि, आकाशमें मेघ छाये, केवल बिजली चमकनेसे मार्ग दीखता था। पतिको कंधेपर बैठाये शाण्डिली जा रही थीं। शूली शरीरमें चुभी होनेसे माण्डव्य ऋषिको वैसे ही बहुत पीड़ा थी, अन्धकारमें दीख न पड़नेके कारण कंधेपर बैठे कौशिकके पैर शूलीसे टकरा गये। शूली हिली तो ऋषिको और पीड़ा हुई। ऋषिने क्रोधमें शाप दे दिया—'जिसने इस कष्टकी दशामें पड़े मुझे शूली हिलाकर और कष्ट दिया है, वह पापात्मा, नराधम सूर्योदय होते ही मर जायगा।'

बड़ा दारुण शाप था। सुनते ही शाण्डिलीके पद रुक गये। उसने भी दृढ़ स्वरमें कहा—'अब सूर्योदय ही नहीं होगा।'

प्राणका भय बड़ा कठिन होता है। मृत्यु सम्मुख देख-कर कौशिक ब्राह्मणकी भोगेच्छा मर गयी। उसके कहनेसे शाण्डिली उसे लेकर घर लौट आयीं। किंतु समयपर सूर्योदय नहीं हुआ तो सारी सृष्टिमें व्याकुलता फैल गयी। धर्म-कर्म—सबका लोप होनेकी सम्भावना हो गयी। देवता व्याकुल हो गये। ब्रह्माजीकी शरण ली देवताओंने। ब्रह्माजीने उन्हें महर्षि अत्रिकी पत्नी अनसूयाजीके पास भेजा। देवताओंकी प्रार्थनासे अनसूयाजी उस सतीके घर पधारीं।

'देवि! आपने पधारकर मुझे कृतार्थ किया। पतिव्रताओंमें आप शिरोमणि हैं। आपके आनेसे मेरी श्रद्धा पति-सेवामें और बढ़ गयी। मैं और मेरे पतिदेव आपकी क्या सेवा करें?' शाण्डिलीने अनसूयाजीको प्रणाम करके उनकी पूजा की और उनसे पूछा।

'तुम्हारे वचनसे सूर्योदय नहीं हो रहा है। इससे धर्मकी मर्यादा नष्ट हो रही है। तुम सूर्योदय होने दो; क्योंकि पतिव्रता नारीके वचनको टालनेकी शक्ति त्रिलोकीमें दूसरे किसीमें नहीं है।' अनसूयाजीने कहा।

'देवि! पति ही मेरे परम देवता हैं। पति ही मेरे परम धर्म हैं। पतिसेवा छोड़कर मैं दूसरा धर्म-कर्म नहीं जानती।' शाण्डिलीने कातर प्रार्थना की।

'डरो मत! सूर्योदय होनेपर ऋषिके शापसे तुम्हारे पति प्राणहीन तो हो जायँगे; किंतु मैं उन्हें पुनः जीवित कर दूँगी।' अनसूयाजीने आश्वासन दिया।

'अच्छा ऐसा ही हो!' ब्राह्मणीने कह दिया। तपस्विनी अनसूयाजीने अर्घ्य उठाया और सूर्यका आवाहन किया तो तत्काल क्षितिजपर सूर्यबिम्ब उठ आया। सूर्य उगते ही ब्राह्मण कौशिक प्राणहीन होकर गिर पड़ा।

'यदि मैंने पतिको छोड़कर संसारमें और कोई पुरुष जाना ही न हो तो यह ब्राह्मण जीवित हो जाय। रोगहीन युवा होकर पत्नीके साथ दीर्घकालतक सुख भोगे।' अनसूयाजीने यह प्रतिज्ञा की। ब्राह्मण तुरंत जीवित होकर बैठ गया। उसके शरीरमें रोगके चिह्न भी नहीं थे। वह सुन्दर, स्वस्थ युवा हो गया था। —सु०

सर्वधर्मान् परित्यज्य

(१)

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें अर्जुन मोहग्रस्त होकर जब धनुष-बाण छोड़कर रथके पिछले भागमें बैठ गये, तब भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा—'भैया अर्जुन ! तुझे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे हो गया ? यह न तो श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा आचरित है, न स्वर्गदायक है और न कीर्ति ही करनेवाला है । पार्थ ! तू नपुंसकताको मत प्राप्त हो; तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती । परंतप ! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर तू युद्धके लिये उठ खड़ा हो ।'

इससे भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें ही युद्धके लिये आज्ञा दे दी; परंतु अर्जुन तैयार नहीं हुए और उन्होंने अपनी मानसिक स्थितिके कारणोंका निर्देश करते हुए कहा कि 'मेरे लिये जो कल्याणकारक निश्चित साधन हो, वह मुझे बतलाइये । मैं आपका शिष्य हूँ; शरणागत हूँ । मुझ दीनको आप शिक्षा दीजिये ।—**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।**

अर्जुन भगवान्के प्रिय सखा थे, आहार-विहारमें साथ रहते थे; पर न तो कभी अर्जुनने शरणागत होकर कुछ पूछा, न भगवान्ने ही कुछ कहा । आज कहनेका अवसर उपस्थित हो गया । परंतु भगवान् कुछ कहते, इससे पहले ही अर्जुनने अपना मत प्रकट कर दिया, 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—'**न योत्स्ये**' । अर्जुन यदि यह न कहते तो शायद भगवान्ने गीताके अन्तमें जो '**सर्वधर्मान् परित्यज्य**' का सर्व-गुह्यतम उपदेश दिया है, अभी दे देते; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुन अत्यन्त प्रिय थे । उनका सारा भार वे उठा लेना चाहते थे । वे स्वयं साध्य-साधन बनकर अर्जुनको निश्चिन्त कर देना चाहते थे । परंतु भगवान्की कृपा तथा मङ्गल-विधानसे ही अर्जुन बोल उठे—और इससे अर्जुनको शरणागतिके लिये पूर्णरूपसे प्रस्तुत न देखकर भगवान्ने कर्म, भक्ति, ज्ञानकी त्रिविध सुधाधारा बहायी । नहीं तो, शायद जगत् इस महान् गीता-ज्ञान-सुधा-रससे वञ्चित ही रहता ! अस्तु !

भगवान्ने गीतामें गुह्य-से-गुह्य ज्ञानका उपदेश किया । जगत्के विविध क्षेत्रोंके सभी अधिकारियोंके लिये महान् दिव्य शिक्षा प्रस्तुत हो गयी । ज्ञानयोगी, भक्तियोगी, कर्म-योगी ही नहीं, संसारके विविध उलझनोंमें फँसे हुए तमोग्रस्त सभी लोगोंके लिये गीता दिव्य प्रकाशस्तम्भ बनकर सभीको उनके अधिकारानुसार पथ-प्रदर्शन करने लगी । इसीसे अरण्यवासी विरक्त साधुके हाथमें भी गीता रहती है और क्रान्तिकारी युवकके हाथमें भी गीता है । दोनों ही उससे प्रकाश पाते हैं । गीताके उपदेशमें बीच-बीचमें भगवान्ने अत्यन्त रहस्यमय गुह्यतम बातें भी कहीं—जैसे '**राजविद्या राजगुह्य**'-रूप नवम अध्यायमें स्वयं सारे योगक्षेमका भार उठानेकी प्रतिज्ञा करते हुए अन्तमें स्पष्ट कह दिया—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(९ । ३४)

'तू मुझ (श्रीकृष्ण)में मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको नमस्कार कर । इस प्रकार अपनेको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा ।'

भगवान्ने अपनेसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़नेके लिये यह 'राजगुह्य—गुह्यतम' आदेश दे दिया । पर अर्जुन कुछ नहीं बोले । तदनन्तर चौदहवें अध्यायके अन्तमें भगवान्ने अपनेको 'ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा' बतलाकर अर्जुनका ध्यान खींचा, इसके पश्चात् पंद्रहवें अध्यायमें बहुत स्पष्ट शब्दोंमें अपनेको 'क्षर' (नाशवान् जडवर्ग क्षेत्र) से सर्वथा अतीत और अविनाशी 'अक्षर'—जीवात्मासे या '**अक्षरं ब्रह्म परमम्**' (गीता ८ । ३) के अनुसार ब्रह्मसे उत्तम बतलाकर कहा—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥
(१५ । १९-२०)

'भारत ! जो मूर्ख नहीं है, वह ज्ञानी पुरुष मुझ (श्रीकृष्ण) को ही 'पुरुषोत्तम' जानता है और वही सर्वज्ञ है; इसलिये वह सब प्रकारसे निरन्तर मुझ (श्रीकृष्ण)को ही भजता है । निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार यह गुह्यतम शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया । इसको तत्त्वसे जानकर पुरुष बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है ।'

यहाँ भगवान्‌का स्पष्ट संकेत है कि 'अर्जुन! तू मुझ पुरुषोत्तमके ही सब प्रकारसे शरण हो जा। इससे तू कृत-कृत्य हो जायगा।' पर अर्जुन कुछ नहीं बोले। तदनन्तर १६वें अध्यायसे १८वें अध्यायके ५३वें श्लोकमें विविध ज्ञानका वर्णन करके ५४ तथा ५५के श्लोकोंमें 'पराभक्ति' की बात कहकर भगवान्‌ने फिर अपनी ओर लक्ष्य कराया। पर जब अर्जुन फिर भी कुछ नहीं बोले, तब जरा डाँटकर रूखे स्वरमें और अपनेको अलग-से हटाते हुए भगवान्‌ने कहा—

'यदि अहंकारके कारण तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा। तू जो अहंकारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तेरा यह निश्चय मिथ्या है। तेरी प्रकृति ही तुझे युद्धमें लगा देगी। कौन्तेय! जिस कर्मको तू मोहके कारण नहीं करना चाहता, उसको अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा विवश होकर करेगा।'

इसके बाद भगवान्‌ने अपना सम्बन्ध बिल्कुल हटाकर अन्तर्यामी ईश्वरकी ओर लक्ष्य कराते हुए अर्जुनसे कहा—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥

(गीता १८। ६१–६३)

'अर्जुन! शरीररूप यन्त्रपर आरूढ़ सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी ईश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है, तू सर्वभावसे उस ईश्वरकी ही शरणमें जा। उसकी कृपासे तू परमशान्ति और शाश्वत स्थानको प्राप्त होगा। इस प्रकार मैंने तो यह **'गुह्याद् गुह्यतर'** गुह्योंसे भी गुह्य ज्ञान तुझसे कह दिया। अब इसपर भलीभाँति विचार करके तू जैसा जो चाहता है सो कर।'

भगवान्‌के इन शब्दोंसे स्पष्ट यह ध्वनि निकलती है—मानो वे अर्जुनसे कह रहे हैं कि 'अर्जुन! तूने कहा था कि मैं आपके शरण हूँ और मैंने यही समझकर तेरा सारा भार वहन करना भी चाहा, तुझे कई प्रकारसे समझाया, संकेत किया, स्पष्ट शब्दोंमें भी अपनी महत्ता बतलाकर तुझे अपनी ओर आकृष्ट करनेका प्रयत्न किया, पर मैं नहीं कर पाया। मैंने अपनी महत्ताके अतिरिक्त तुझको और जो कुछ कहा है—बताया है, वह भी कम महत्त्वका नहीं है। वह भी गोपनीय-से-गोपनीय है। मालूम होता है तुझे तेरा अन्तर्यामी भ्रमा रहा है; अतएव अब तू मेरी नहीं, उस अन्तर्यामीकी ही शरणमें जा, वही तुझे शान्ति देगा। मैं तो जो कुछ कह सकता था, कह चुका; अब तेरी जैसी इच्छा हो, वही कर; मेरी कोई जिम्मेवारी नहीं है।'

अर्जुनने भी समझा कि 'भगवान् जो कुछ कह रहे हैं, ठीक है। इतना समझाने-सिखानेपर भी मैं अबतक नहीं समझा। इनकी महत्ता जानकर भी मैंने नहीं जानी। इसीसे तो हताश-से होकर मेरे परम आश्रय प्रियतम प्रभु आज मुझे दूसरेका आश्रय लेनेके लिये कह रहे हैं। इसीलिये तो आज्ञा-आदेश न देकर मुझे इच्छानुसार करनेकी **(यथेच्छसि तथा कुरु)** बात कह रहे हैं। मैं कितना मूर्ख हूँ!' इस प्रकार समझकर अर्जुन अत्यन्त विषादग्रस्त हो गये और मन-ही-मन पश्चात्ताप करते हुए भगवान्‌की ओर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे देखने लगे। वाणी बंद हो गयी। शरीर अवश-सा होकर गिरने लगा। यह सब इसीसे सूचित होता है कि **'यथेच्छसि तथा कुरु'** कहनेके बाद अर्जुनके बिना कुछ कहे ही भगवान्‌का रुख बदल गया और वे अत्यन्त स्नेहभरे शब्दोंमें अपनी ओरसे पुनः अपनी महान् महत्ताकी बात कहने लगे। मालूम होता है अर्जुनकी विषादयुक्त मुखाकृति देखकर भगवान्‌का स्नेह उमड़ आया। भगवान् तो यही परिस्थिति लाना चाहते थे, जिसमें अर्जुन सर्वतोभावसे शरणागत हो जाय, वह ऐसी स्थितिमें आ जाय, जिसमें वह भगवान्‌को ही एकमात्र साध्य-साधन—सब कुछ मानकर अपनेको पूर्ण रूपसे समर्पण कर दे। भगवान्‌ने अर्जुनके हावभावसे यह निश्चित-रूपसे जान लिया कि अब 'शक्ति' ग्रहण करनेके लिये शिष्य पूर्ण रूपसे प्रस्तुत है और इसीलिये तुरंत शक्तिपात करके उसे शक्तिमान् बना दिया। भगवान्‌ने कहा—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

'भैया! तू सर्वगुह्यतम मेरे परम श्रेष्ठ वचनको फिर भी सुन। तू मेरा दृढ़ इष्ट है—अतिशय प्रिय है; अतएव तेरे ही हितके लिये यह कह रहा हूँ।' अभिप्राय यह कि भगवान् अर्जुनको उदास देखकर उन्हें गले लगाकर अब वह बात

कहना चाहते हैं, जो 'सर्वगुह्यतम' है। गुप्त (गुह्य), गुप्तोंमें भी गुप्त (गुह्यतर), उसमें भी गुप्त (गुह्यतम) बात हुआ करती है; पर यह तो गुह्यतममें भी सबसे अधिक गुह्यतम—'सर्वगुह्यतम' है, जो अत्यन्त अन्तरङ्गता हुए बिना कही जा सकती ही नहीं। तू मेरा प्रिय ही नहीं, ऐसा प्रिय है कि उसमें कभी अन्तर पड़ नहीं सकता। इसीसे तेरे ही हितके लिये यह बात कह रहा हूँ—और यह ऐसी बात है कि जो सबसे श्रेष्ठ है; पहले भी इसे कह चुका हूँ, तूने ध्यान नहीं दिया। अब तू फिरसे सुन।' इस प्रकार कहकर मानो भगवान्ने वे जो कुछ कहना चाहते हैं, उसकी भूमिका बाँधी है। अथवा अब अगले दो श्लोकोंके रूपमें जो महान् दिव्य रत्न प्रदान करना चाहते हैं, उन्हें सुरक्षित रखनेके लिये मञ्जूषाके नीचे-का हिस्सा दिखाया है। इसमें वे रत्न रखकर, फिर उसके ऊपरका ढक्कन देंगे ६७ वें श्लोकके रूपमें। वे अमूल्य परम गोपनीयोंमें गोपनीय रत्न क्या हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६५-६६)

'तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको ही प्रणाम कर। यों करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा—यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। तू सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मुझ परम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोच मत कर।'

भगवान्ने इन शब्दोंके द्वारा अर्जुनसे कहा है कि 'अबतक जो बात कही, वह तो गुप्तसे गुप्त होनेपर भी प्रायः सबको कही जा सकती थी। अब यह ऐसी बात है, जिसका सम्बन्ध तुझसे और मुझसे ही है। तू क्यों किसी बखेड़े-झगड़ेमें पड़ता है? मन लगाने योग्य, भक्ति-सेवा करने योग्य, पूजा करने योग्य और नमस्कार करने योग्य समस्त चराचर विश्वमें और विश्वसे परे भी यदि कोई है तो वह एकमात्र मैं ही हूँ। लोग मुझे न जान-मानकर इधर-उधर भटकते रहते हैं। मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि जो यों मान लेता है, वह मुझ ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठास्वरूप मुझ भगवान्को पाता है। तू मेरा प्रिय है—अन्तरङ्ग इष्ट है। इसीसे अपना निजका यह महत्त्वपूर्ण रहस्य तुझे बतलाया है। तू यही कर। अबतक जो कुछ धर्म मैंने बतलाये हैं, उन सबकी तुझे आवश्यकता नहीं; छोड़ उन सबको। सब धर्मोंका परम आश्रय तो मैं हूँ, तू एकमात्र मेरी शरणमें आ जा। धर्मोंके त्यागसे पापका भय हो तो तू डर मत, जरा भी चिन्ता न कर—तुझे सारे पापोंसे मैं छुड़ा दूँगा। असल बात तो यह है—जैसे सूर्यके सामने अन्धकार नहीं आ सकता, वैसे ही मेरी शरणमें आये हुएके समीप पाप-ताप आ ही नहीं सकते। तू निश्चिन्त हो जा।'

अर्जुनने इसकी मूक स्वीकृति दी—मुखमण्डलपर विलक्षण आनन्दकी छटा लाकर। तब भगवान्ने कहा—देख भैया! यह अत्यन्त ही गोपनीय रहस्यकी बात है—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

(१८। ६७)

'यह सर्वगुह्यतम तत्त्व किसी भी कालमें जो तपरहित हो—जो सर्वत्यागरूपी कष्ट सहनेको न तैयार हो, जो मेरा भक्त न हो, जो सुनना न चाहता हो और जो मुझमें दोष देखता हो—उससे कभी कहना ही मत।'

इस श्लोकके द्वारा मानो भगवान्ने रत्नोंकी पेटीके ढक्कन लगा दिया। अतएव इस श्लोकमें जो 'सर्वधर्मत्याग'-की आज्ञा है, वह ठीक इसी अर्थमें है। इस प्रकार सर्वधर्मत्याग करके शरणागत हो जानेवाला पुरुष सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है, किसी भी ऊहापोहमें न पड़कर वह अपने शरण्यके कथना-नुसार सहज आचरण करता है। सहज रूपमें ही शरण्यके अनुकूल आचरण करना उसका एकमात्र धर्म होता है। वह और किसी धर्मको जानता ही नहीं। सब धर्मोंको भुलाकर वह इस एक ही धर्मका अनन्य सेवन करता है। यह **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'** श्लोक ही भगवद्गीताका अन्तिम उपदेश है। अब अर्जुन इस तत्त्वको जान-मान गये हैं। उनका मुख-मण्डल एक परम स्निग्ध उज्ज्वल दीप्तिसे चमचमा उठा है। तब भगवान् पुनः निश्चय करनेके लिये उनसे पूछते हैं, 'क्यों अर्जुन! मेरे इस सर्वगुह्यतम उपदेशको तूने पूरा मन लगा-कर सुना? और इसे सुनकर तेरा मोह दूर हुआ?' अर्जुन उत्तरमें कहते हैं—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥

(१८। ७३)

'अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया, मैंने स्मृति प्राप्त कर ली। अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आप जो कहेंगे, वही करूँगा।'

इस श्लोकमें अर्जुनके द्वारा शरणागतिकी स्वीकृति है। अथवा यही शरणागतिका स्वरूप है। अर्जुन कहते हैं—मेरे मोहका नाश हो गया (**नष्टो मोहः**)। मैं अहंकारवश कह रहा था कि युद्ध नहीं करूँगा! वह मोह था। अब मुझे स्मरण हो आया कि मैं तो आप यन्त्रीके हाथका यन्त्रमात्र हूँ (**स्मृतिर्लब्धा**)। पर यह मोहनाश और स्मृतिकी प्राप्ति भी मेरे पुरुषार्थसे नहीं हुई, यह आपकी शरणागतवत्सलतारूप कृपासे हुई है (**त्वत्प्रसादात्**) और इस कृपाकी भी मैंने साधनसे उपलब्धि नहीं की, अच्युत! आप अपने विरदसे कभी च्युत नहीं होते, अतः स्वभावसे ही आपने कृपा की है। अब मैं यन्त्ररूपमें स्थित हो गया (**स्थितोऽस्मि**)। मेरे सारे संशय-भ्रम मिट गये (**गतसंदेहः**)। अब तो बस, आप जो कुछ कहेंगे, वही करूँगा (**करिष्ये वचनं तव**)।' यही 'शरणागति-धर्म' है।

और सचमुच अर्जुन इस शरणागतिके सिवा और सब धर्मोंके ज्ञानको भूल गये। इसका पता लगता है तब, जब अश्वमेधपर्वमें अर्जुन भगवान्से उन धर्मोंको फिरसे सुनना चाहते हैं और कहते हैं कि 'मैं उनको भूल गया।' उस समय भगवान् उन्हें उलाहना देते हुए कहते हैं कि "मैंने उस समय तुम्हें 'गुह्य' ज्ञान सुनाया था जो स्वरूपभूत शाश्वत-धर्म था।"

श्रावितस्त्वं मया 'गुह्यं' ज्ञापितश्च सनातनम्।
धर्मं स्वरूपिणं पार्थ सर्वलोकांश्च शाश्वतान्॥

यहाँ 'गुह्य' शब्दसे यह ध्वनित होता है कि भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने श्रेष्ठ वचन (**परमं वचः**) के रूपमें जो 'सर्वधर्मत्याग' करके अनन्य शरणागतिका 'सर्वगुह्यतम' उपदेश किया था, उसे अर्जुन नहीं भूले थे। वे तो उसी 'गुह्य'को भूल-से गये थे, जिसका त्याग करनेके लिये भगवान्ने कहा था। इसीसे यहाँ 'गुह्य' शब्द आया है।

अतएव यही निष्कर्ष निकलता है कि इस श्लोकमें सब धर्मोंको त्यागकर अनन्य शरणागतिका ही उपदेश है और यही गीताका मुख्य तात्पर्य है!

(२)

(लेखक—प्राचार्य श्रीजयनारायणजी मल्लिक, एम्० ए० [द्वय स्वर्ण-पदक-प्राप्त, डिप० एड०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

उपर्युक्त वाक्य भगवान्ने गीताके अन्तमें अर्जुनसे कहा है। इसमें सभी श्रुतियों और सभी शास्त्रोंका सार अन्तर्निहित है। इस चरम श्लोकमें एक ऐसा संकेत है, जो सभी दुःखों और पापोंसे मानवताको बचाकर उसे परमात्माके समीप पहुँचा देता है। संसार-सागरसे पार होनेके लिये भगवान्ने पहले अर्जुनको कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग बतलाये। इन मार्गोंकी जटिलता देखकर अर्जुन भयभीत हो गये। कर्मयोगके लिये अनासक्त एवं निष्काम तथा निर्लिप्त होकर कर्म करना आवश्यक है। यह होगा कैसे? ज्ञानयोगके लिये स्थितप्रज्ञ होना आवश्यक है, पर स्थितप्रज्ञ हम होंगे कैसे? भोग-वासनासे प्रेरित विषय-सुखमें लिपटी हुई हमारी बुद्धि कैसे स्थिर होगी? वाक्य-ज्ञानसे, लम्बी-लम्बी वक्तृता देनेसे और शास्त्रार्थ करनेसे हमारा मन जड-शरीरके सुख-भोगका मोह छोड़कर अव्यक्त आत्माका अन्वेषण नहीं कर सकता। इन्द्रियाँ बलपूर्वक मनको विषय-भोगकी ओर घसीटती हैं, फिर ज्ञानयोगमें हम सफल कैसे होंगे?

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।

भक्तियोगमें कर्म और ज्ञान—दोनोंका समन्वय है। भगवन्निमित्त कर्म करनेसे कर्म भी अनासक्त हो जाता है और भगवान्का आधार पाकर बुद्धि भी स्थिर हो जाती है। भक्तियोगमें कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों सहायक हैं; पर भक्तियोगकी सफलताके लिये सदैव परमात्माका मनन और चिन्तन आवश्यक है। तैलधारावत् भगवान्का ध्यान होना चाहिये।

मन ते सकल बासना त्यागै। केवल राम चरन लय लागै॥
तन ते कर्म करहु बिधि नाना। मन राखहु जहँ कृपा निधाना॥

यह सत्य है कि भक्ति कर्म और ज्ञान दोनोंसे सुलभ है; पर भक्तिके लिये भी यह आवश्यक है कि परमात्माका ध्यान कभी टूटने न पाये। कौन जानता है कि मरनेके समय जब हम बेहोश हो जायँगे, हमें परमात्माका ध्यान लगा ही रहेगा। जीवन-कालमें भी तो मन भगवान्की ओर नहीं जाता।

मो सम कौन कुटिल खल कामी ।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो, ऐसौ नमक हरामी ।
भरि-भरि उदर विषय कौं धायौ, जैसैं सूकर ग्रामी ॥

इन्हीं कठिनाइयोंको देखकर अर्जुन कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोगसे भी भयभीत हो गये । ये सभी मार्ग संयम और सदाचारका सम्बल लिये भगवान्की ओर चले जाते हैं; पर विषय-वासनासे पीड़ित मानव विघ्न-बाधाओंके डरसे इन मार्गोंपर चलनेसे अपनेको असमर्थ पाता है । श्रीयामुनाचार्यने कहा है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे ।
अकिंचनोऽनन्यगतिः शरण्यं
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ॥
(आलवन्दारस्तोत्रम्)

परा-भक्तिका सबसे सुगम रूप प्रपत्ति है । जब जीव कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा अन्य सभी साधनोंमें अपनेको असमर्थ और निस्सहाय पाता है, तब उसके समक्ष केवल एक ही उपाय रह जाता है—भगवान्के चरणोंपर अपने-आपको न्योछावर कर देना । इसीका नाम प्रपत्ति है—इसीका नाम शरणागति है । इसी शरणागतिकी ओर भगवान्ने ऊपरके चरम श्लोकमें संकेत किया है ।

'प्रपत्ति' भगवान्से मिलनेका सर्वोत्तम साधन है । प्रपत्तिका अर्थ है—भगवान्के प्रति अनन्य और अकिंचन-भावसे शरणागत हो जाना तथा भगवान्के चरणोंमें अपने-आपको समर्पित कर देना । 'भक्त' समझता है कि **'ममैवासौ'** अर्थात् भगवान् मेरे हैं तथा भक्ति, साधना एवं सेवाके द्वारा मैंने भगवान्को अपना लिया है । **'प्रपन्न'** समझता है कि **'तस्यैवाहम्'** अर्थात् मैं भगवान्का हूँ, मैंने भगवान्के चरणोंमें अपने-आपको सौंप दिया है । अब मेरा तन, मन, धन—सब कुछ भगवान्का है । प्रपन्न आर्त्त, दीन और अकिंचन हो जाता है, वह किसी दूसरेका भरोसा नहीं करता । वह अपना पिता, माता, बन्धु-बान्धव-सब कुछ एकमात्र भगवान्को ही समझता है—

पिता त्वं माता त्वं दयिततनयस्त्वं प्रियसुहृत्
त्वमेव त्वं मित्रं गुरुरपि गतिश्चासि जगताम् ।

'तुम्हीं पिता हो, तुम्हीं माता हो, तुम्हीं स्त्री-पुत्र हो, तुम्हीं प्रिय सुहृद् हो, तुम्हीं मित्र हो, तुम्हीं इस जगत्में गुरु हो और तुम्हीं गति हो ।'

प्रपन्न अपनेको भगवान्की ही वस्तु और उन्हींका किंकर समझता है—**'त्वदीयस्त्वद्भृत्यः'** । भगवान्के अनुकूल कैंकर्य करना ही प्रपन्नका धर्म है ।

भक्त और प्रपन्नमें वही अन्तर है, जो 'सेवक' और 'पत्नी'में पाया जाता है । सेवक भी अपने स्वामीके आज्ञानुसार सभी कैंकर्य करता रहता है, पर पत्नीका तो पति सर्वस्व ही है । मालिकके छोड़ देनेपर भी नौकर अपना निर्वाह कर लेता है । पर पतिके परित्याग करनेपर पत्नी कहाँ जाय ? क्या करे ? पत्नीको तो पतिके अतिरिक्त और कोई शरण ही नहीं है । पत्नीने तो अपने आपको पतिके चरणोंमें सौंप दिया है, पति उसे जिस अवस्थामें भी रक्खे, वह रहनेको तैयार है । पति ही उसका उपाय है, पति ही उसका अवलम्ब है । पतिके अतिरिक्त वह अन्य किसीको नहीं जानती । उसको अपनी कोई निजी इच्छा नहीं रहती, पतिकी प्रसन्नता ही पत्नीका आधार है । इसी प्रकार प्रपन्नका भी आधार, अवलम्ब और उपाय एकमात्र भगवान् ही हैं । भगवान् उसे जिस अवस्थामें रक्खें, वह उसीमें संतुष्ट रहता है । वह सुखमें रहे या दुःखमें, वह भगवान्को कभी नहीं भूलता । विपत्ति पड़नेपर भी वह भगवान्को नहीं कोसता ।

पत्नी चाहे कितनी ही साध्वी क्यों न हो, वह सदा-सर्वदा अपने दोषोंको ही देखती रहती है, अपनेको अपराधिनी ही समझती है और पतिके पद-रजकी ही कामना करती है । इसी प्रकार प्रपन्न भी भगवान्से कहता है—

अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे ।
अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात्कुरु ॥

प्रपन्नके लिये नीचानुसंधान आवश्यक है । जबतक हम अपनेको अनन्त अपराधी, निराधार और आर्त्त नहीं समझेंगे, तबतक प्रपत्तिकी भावना हमारे अन्तःकरणमें नहीं आ सकेगी । पत्नी कभी यह नहीं सोचती कि मेरा गुजारा कैसे होगा । पतिने जब हाथ पकड़ ही लिया है, तब फिर सोच क्यों ? और पत्नीकी प्रतिष्ठाकी रक्षा करना पतिका धर्म है, जो वह स्वयं जानता है । प्रपन्न भी अपनी रक्षाका भार भगवान्को देकर स्वयं निश्चिन्त हो जाता है । **'रक्षिष्यतीति विश्वासः ।'** पत्नीको विश्वास है कि स्वामी

बिना कहे भी रक्षा करेंगे ही; उसी प्रकार प्रपन्न भी समझता है कि भगवान् बिना कहे भी बन्धनसे मुक्त करेंगे ही। पत्नी अपनी रक्षाके निमित्त अपने पतिको छोड़कर अन्य किसी उपायका अवलम्बन नहीं करती, उसी प्रकार प्रपन्न भी अपने मोक्षके लिये भगवान्को छोड़कर अन्य किसी उपायका ग्रहण नहीं करता। प्रपन्न यदि भगवान्को छोड़कर अपनी रक्षाके लिये यन्त्र, मन्त्र, ओझा, डाइन, भूत-प्रेत तथा देवान्तरकी शरण ग्रहण करता है तो उसकी प्रपत्तिकी भावना ही नष्ट हो जाती है। भगवान्की प्राप्तिमें भगवान् ही उपाय हैं। मनुष्य सदैव भूल करता रहता है। वह तो कमजोरीका पुतला है। उसके हृदयमें वासना-सर्पिणी फुफकार मारा करती है। उसके अन्तःकरणमें तृष्णाका हाहाकार है—भोग-वासनाका विषभरा मधुर नर्त्तन है। वह क्या करे? वह भी सोचता है कि इन्द्रियोंको जीतना चाहिये, पापसे मनको हटाना चाहिये; पर उसका संकल्प बहुत क्षीण और दुर्बल रहता है। उसकी प्रवृत्ति व्यतीत कर्मोंका रस पीकर बलवती हो गयी है, वह बलपूर्वक इन्द्रियोंको विषयोंकी ओर ले जाती है। दुर्बल मानव क्या करे? भोगवासना अपने संकेतपर मनुष्यको नचाती रहती है—

इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥

वह किस प्रकार अपने बलपर भगवान्को पानेकी आशा करे? तिमिरमयी रजनीमें संकीर्ण पिच्छल पथपर वह प्रकाशकी ओर जानेकी चेष्टा करता है, दोनों ओर खाइयाँ हैं और पैर फिसलनेका डर है। ऐसी परिस्थितिमें भगवान् ही रक्षक हैं और वे ही पार लगा सकते हैं। शक्तिहीन मानव पाप करता है, दुःख भोगता है, पछताता है और फिर पाप नहीं करनेकी प्रतिज्ञा भी करता है, किंतु प्रलोभनके भँवरमें पड़कर वह अपनी प्रतिज्ञा भूल जाता है और फिर उसी पापगर्तमें डूब जाता है। वह जीवनकी झोलीमें फूल चुनने आया है, पर केवल कंकड़-कण्टक भर लेता है। वह ठीक ही सोचता है—

ऐसा निन्दित कर्म नहीं है,
जिसे न शतशः कर आया हूँ।
जीवनकी झोलीमें प्रभुवर!
कंकड़-कण्टक भर लाया हूँ॥

लिये धूलकण काम-क्रोधके
यौवनकी आँधी चलती है।
जीवन-रस, मादकमधु पीकर
जहरीली नागिन पलती है॥
तिमिरमयी नीरव रजनीमें
भ्रान्त पथिक-सा भटक रहा हूँ।
कानन-शिलाखण्डपर कर्मों-
की गठरी मैं पटक रहा हूँ॥
पथ पिच्छल है, अन्धकारमें
खाईमें गिरनेका भय है।
अन्तस्तलमें छिपी वासनाका
अभिनय मादक मधुमय है॥
काञ्चन और कामिनीकी
क्रीड़ासे थका व्यथित जीवन है।
दुर्बल, शक्ति-हीन हूँ—फिर भी
प्रबल कामनाका नर्त्तन है॥
सदा वासना मेरे अन्त-
स्तलमें प्रभु क्रीड़ा करती है।
माया शुभ्र वसन धारणकर
मेरा मन मन्थन करती है॥

यदि हम इस भरोसे बैठे रहें कि जिस दिन हमारे सारे कर्म पवित्र हो जायँगे, जिस दिन हमारा जीवन अनासक्त और निर्लिप्त हो जायगा, उस दिन अपने-आप मोक्ष मिल जायगा, तो यह हमारी भूल होगी। अपने-आप न तो कभी वासनाका हनन होगा और न कभी मोक्ष ही मिलेगा। वासना तो प्रारब्ध और क्रियमाण—दोनों कर्मोंको बाँधनेवाली कड़ी है। न्यायके बलपर मोक्षकी आशा करना दुर्लभ है। वासनाके विराट् अन्धकारमें विवेकका टिमटिमाता हुआ प्रकाश क्षणिक और चञ्चल है। प्रलोभनोंके निकट भोग-सामग्रियोंके बीचमें हमारा संकल्प स्थिर नहीं रह पाता। विषयोंके प्रबल झंझावातमें ज्ञानकी कमजोर दीपशिखा काँपने लगती है और कभी-कभी बुझ भी जाती है। हमारा बाह्य रूप तो सुन्दर, पवित्र और आकर्षक रहता है; पर हमारे अन्तर्जगत्में तृष्णा, स्वार्थ और भोग-लिप्साका ताण्डव नृत्य जारी रहता है, हम हंसके रूपमें कौएका हृदय लिये हुए संसारकी आँख बचाकर दुष्कर्म भी कर लेते हैं और अपने यश तथा प्रतिष्ठापर जरा भी आँच नहीं आने देते। संसार हमें महात्मा तथा साधु समझ ले, पर भगवान् तो

अन्तर्यामी हैं, वे हमारे सभी छिपे अपराधोंको देख लेते हैं। इसीलिये श्रीस्वामी यामुनाचार्यजीने कहा है—

न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके
सहस्रशो यन्न मया व्यधायि।

प्रपत्तिका आधार भगवत्कृपा है। न्यायके अधिकारसे नहीं, भगवत्कृपाके बलपर हम मोक्षके अधिकारी हो सकते हैं। अपने बलपर निष्काम कर्मके द्वारा हमारा मोक्ष प्राप्त करना अत्यन्त ही कठिन है; क्योंकि हमारे कर्मोंका सर्वथा निष्काम होना आसान नहीं है। इसलिये जबतक हम अनन्य, अकिंचन होकर दीन-हीन-अपराधीकी तरह काँपते हुए भगवान्‌के चरणोंमें आत्मसमर्पण नहीं कर देंगे और शरणागतिके द्वारा भगवान्‌की प्राप्तिमें भगवान्‌को ही उपाय नहीं समझ लेंगे, तबतक उद्धार होना असम्भव-सा है।

प्रपत्तिमें अनन्यशेषत्व, अनन्यशरणत्व और अनन्य-भोग्यत्वका होना आवश्यक है। 'अनन्यशेषत्व'का तात्पर्य है—भगवान्‌को छोड़कर अन्य किसीका दासत्व स्वीकार नहीं करना। 'अनन्यशरणत्व'का लक्ष्य है—भगवान्‌को छोड़कर अन्य किसीकी शरणमें नहीं जाना। 'अनन्यभोग्यत्व'का अर्थ है—भगवान्‌को छोड़कर अपनेको अन्य किसीका भोग्य नहीं समझना। पर अनन्यताका यह अर्थ नहीं है कि परमात्माके अतिरिक्त हम किसी अन्य देवताकी आराधना तो नहीं करते, पर कामिनी और काञ्चनके हाथ अपनेको बेच डालते हैं। अनन्यताका तात्पर्य है कि परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी-को भी हृदयमें स्थान नहीं दें, चाहे वह कोई देवता हो या मनुष्य, चाहे कोई रूपवती युवती हो या काञ्चनका भंडार। हमारे हृदयमन्दिरमें जब एकमात्र प्रभुका ही आधिपत्य रहता है, तब अनन्यता सार्थक होती है। हमारी ममताके एकमात्र विषय वे ही हों।

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

शरीरसे हम जो भी कर्म करते रहें, पर मनको भगवान्‌में लगाये रक्खें। विना प्रेमके भगवान् नहीं मिलते।

तन ते कर्म करहु बिधि नाना। मन राखहु जहँ कृपानिधाना॥
मन ते सकल बासना भागी। केवल राम चरन लय लागी॥
मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग जप नेम बिरागा॥

जिस प्रकार पत्नी पतिकी सेवा प्रेमसे करती है, भार समझकर नहीं, उसी प्रकार प्रपन्न भी भगवत्कैंकर्य बड़े प्रेम-से और प्रसन्नतासे करता है, भार समझकर नहीं। प्रपन्न भगवान्‌से कहता है—

कोटिन मुख कहि जात न प्रभु के एक एक उपकार।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं, दीजै परम उदार॥
विषय-वारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
तातें सहिय बिपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक॥
कृपा-डोरि, बनसी पद-अंकुस, परम प्रेम मृदु चारो।
यहि बिधि बेगि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो॥

प्रपत्ति भगवान्‌को प्रसन्न करनेका सबसे सुलभ साधन है। लङ्कामें विभीषण जब भगवान्‌की शरणमें आ रहे थे और सोचते आते थे—

देखिहउँ जाइ चरन जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥
जे पद परसि तरी रिषिनारी। दंडक कानन पावनकारी॥
जे पद जनकसुताँ उर लाए। कपट कुरंग संग धर धाए॥
हर उर सर सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई॥

जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ॥

इस प्रकार मनोरथ करते हुए विभीषण आये। वानरों-ने भगवान्‌को सूचना दी, भगवान्‌ने सेनापति सुग्रीवसे राय पूछी। उसी समय सुग्रीवने भगवान्‌से कहा—

जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥

किंतु भगवान् तो शरणागतवत्सल हैं। उन्होंने उत्तर दिया—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥

भगवान्‌की प्रतिज्ञा है—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

भगवान्‌का व्रत है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

"एक बार भी जो मेरे शरणागत हो जाता है और कह उठता है कि 'नाथ! मैं आपका ही हूँ,' उसको मैं सब भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यही मेरा व्रत है।"

जीव अपने पापको देखकर डर जाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—कई मार्गोंको देखकर कुछ उलझनमें भी पड़ जाता है। वह नहीं सोच पाता कि भगवान्के पास पहुँचनेका सबसे सुगम राजपथ कौन-सा है।

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥

ऐसी ही किंकर्तव्यविमूढ़ स्थितिमें भगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'सब धर्मोंके आश्रयको छोड़कर तुम एक मेरी शरणमें आ जाओ, मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तुम चिन्ता मत करो।'

प्रपत्ति ही भगवत्प्राप्तिका सबसे सुलभ साधन है। प्रपत्तिमें जीव अपना भार भगवान्को दे देता है और स्वयं निश्चिन्त होकर उनका कैंकर्य करता है।

कर्मयोगका आदेश है कि हम आसक्ति और फलाभिलाषा छोड़कर निष्कामभावसे कर्म करें। कर्म करनेपर भी हमारे मनमें कोई विकार, कोई लहर उत्पन्न न हो। हम सिद्धि-असिद्धिमें सम रहें। यह भी वास्तवमें तभी हो सकता है जब हम अपने-आपको भगवान्के चरणोंमें सौंप दें। जब हमने भगवान्के चरणोंपर आत्म-समर्पण कर दिया, तब तो फिर अपने लिये—भोग-वासनाकी तृप्तिके लिये कोई कर्म ही नहीं करना है; जो कुछ करना है, सब केवल भगवन्निमित्त ही करना है। प्रपन्नके कर्मोंका ध्येय भगवान्की प्रसन्नता है। फिर हमारा अपना क्या रहा? शरीर, मन, आत्मा—सभी कुछ तो भगवान्को दे दिया; फिर हमें जो कुछ करना है, सब कुछ भगवान्की प्रीति और प्रसन्नताके लिये ही करना है और सब कुछ उन्हींके आज्ञानुसार करना है। इस प्रकार वासना अपने-आप मर जाती है, प्रपन्नका सारा जीवन ही भगवत्कैंकर्य हो जाता है। शरीर-रक्षाके निमित्त, परिवारके भरण-पोषण, समाज-रक्षा एवं लोक-कल्याणके लिये कर्म करना सभी भगवत्कैंकर्य है। जब हम भोग-बुद्धिसे प्रवृत्ति और वासनासे प्रेरित होकर केवल स्वार्थ-सिद्धिके लिये कर्म करते हैं, तब वही कर्म बन्धन है; और जब हम कर्तव्यसे प्रेरित होकर कैंकर्य-बुद्धिसे भगवान्की प्रसन्नताके लिये कर्म करते हैं, तब वह कर्म अपने-आप निष्काम और निर्लिप्त हो जाता है और बन्धनका कारण नहीं बनता।

प्रपन्नके लिये सबसे बड़ा आदेश है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।

१—भगवान्के अनुकूल कर्म करना—जिस कार्यसे भगवान्की प्रसन्नता हो, उसी कार्यको करनेकी चेष्टा। जिस प्रकार पत्नी अपने पतिके इच्छानुसार अपना जीवन बना डालती है, उसी प्रकार प्रपन्न भगवान्के अनुकूल अपना जीवन बना डालता है।

२—भगवान्के प्रतिकूल सभी कर्मोंका सर्वथा त्याग—जो कर्म दूषित और अपवित्र हैं, जो कर्त्तव्य और शिष्टाचारके विरुद्ध केवल प्रवृत्ति और भोग-वासनासे प्रेरित होते हैं, जिनसे अपना या पराया, समाजका और विश्वका कल्याण नहीं होता, वे कर्म भगवान्की इच्छाके प्रतिकूल हैं और उनका बहिष्कार होना चाहिये।

प्रपत्तिका मुख्य अङ्ग है—आत्मसमर्पण अर्थात् अपने-आपको भगवान्के चरणोंमें सौंप देना। फिर प्रपन्नको यह अधिकार ही नहीं रह जाता कि वह अपने समय, धन तथा शक्तिका अपव्यय या दुरुपयोग करे। वह एक क्षण भी भगवत्कैंकर्यसे विमुख नहीं रह सकता। श्रीयामुनाचार्य स्वामीने कहा है—

न देहं न प्राणान्न च सुखमशेषाभिलषितं
न चात्मानं नान्यत्किमपि तव शेषत्वविभवात्।
बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा
विनाशं तत्सत्यं मधुमथन विज्ञापनमिदम्॥

सचमुच वह शरीर, वह प्राण, वह सुख, वह आत्मा, वह चाहे जो कुछ भी हो, यदि ये सभी पदार्थ भगवत्कैंकर्यके बाहर हों, तो प्रपन्न उन्हें एक क्षणके लिये भी नहीं सह सकता।'

समय, शक्ति और धनका दुरुपयोग प्रपन्नके लिये महान् अपचार है। अपने समयको, अपनी शक्तिको और अपने धनको ऐसे कार्योंमें लगाना, जिनसे न तो अपना और न किसी अन्यका उपकार होता हो, इनका अपव्यय है, उसी प्रकार जैसे ताश खेलकर या व्यर्थके गप-शपमें, या अन्य व्यसनोंमें समय लगाना समयका अपव्यय है। समयका अपव्यय न तो लाभप्रद है और न अधिक हानिप्रद; किंतु ऐसे कार्योंमें समय, शक्ति और धनको लगाना, जिनसे अपना या समाजका अनिष्ट होता हो—जैसे निन्दा, हिंसा, द्वेष, कपट, चोरी, व्यभिचार इत्यादि—इनका सर्वथा

दुरुपयोग है। प्रपन्नके लिये समय, शक्ति तथा धनका अपव्यय एवं दुरुपयोग—दोनों ही वर्जित हैं। प्रपन्नका जो समय है, प्रपन्नकी जो शक्ति है, प्रपन्नका जो धन है—वह तो अपना नहीं है, वह तो सर्वथा भगवान्‌को समर्पित है। फिर उसको कोई अधिकार नहीं रह जाता कि वह समयके एक क्षणका भी, शक्तिके एक क्षणका भी, धनके एक अणुका भी दुरुपयोग कर सके। धनका वह न्याय तथा धर्मके अनुकूल उपार्जन करता है भगवान्‌के निमित्त—भगवत्कैंकर्यके लिये। नारीका वह शास्त्रोक्त सेवन करता है—भोग-वासनाकी तृप्तिके लिये नहीं, किंतु भगवान्‌के आज्ञापालनार्थ संतानोत्पत्तिके लिये। पत्नी तो वस्तुतः जीवन-संगिनी तथा कर्त्तव्य-पथकी सहायिका है। बच्चोंका प्यार, परिवारका भरण-पोषण, समाजकी सेवा—सभी तो भगवत्कैंकर्य हैं।

प्रपत्ति वस्तुतः भगवत्प्राप्तिका सबसे सुलभ साधन है। इसी प्रपत्तिके आधारपर गीतामें कहा गया है—

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

प्रपत्तिका कितना सुन्दर रूप श्रुतियोंमें वर्णित है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳहि देवमात्मबुद्धिप्रसादं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। १८)

इसी शरणागतिका संदेश भगवान् श्रीकृष्णने गीताके चरम श्लोकमें संसारके कल्याणके निमित्त हमें प्रदान किया है। शरणागत होनेपर हमें अभयका वरदान मिल जाता है और उसके बाद हमारा कर्त्तव्य रह जाता है केवल भगवत्कैंकर्य—भगवान्‌के निमित्त जीवनके सारे कर्मोंको भगवदाज्ञा समझकर करते जाना और उन्हींको समर्पित कर देना। पर भगवत्कैंकर्य करनेके लिये हमें भगवान्‌का स्वरूप जानना आवश्यक है। भगवान् विश्वरूप हैं। 'सीयराम मय सब जग जानी।' अतः भगवान्‌की सेवा संसारकी सेवा है। पीड़ित व्यथित मानवताकी सेवा भगवान्‌की सेवा है। राष्ट्रकी, देशकी और मानवमात्रकी गरीबी, अशिक्षा तथा रोगको दूर करना, गिरे हुएको उठानेकी चेष्टा, मानवताको असत्से सत्की ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर एवं मृत्युसे अमरत्वकी ओर लानेका प्रयास भगवत्सेवा ही है।

जब यह सारा संसार ही ईश्वरका रूप है, जब सर्वत्र ही ईश्वरका वास है, तब हम किसके साथ द्वेष और घृणा रक्खें और कौन-सा ऐसा एकान्त स्थल है, जहाँ हम छिपकर पाप और दुष्कर्म कर सकें? भगवद्वस्तु समझकर हमें अपने शरीरकी रक्षा करनी है और शरीर-रक्षाके निमित्त अपनी इन्द्रियोंको भी यथोचित भोजन देना है। पर त्याग-पूर्वक भगवत्प्रसाद समझकर संसारके भोगमें हम अपना भाग ले सकते हैं, किंतु दूसरेके अधिकारको एवं जो धन तथा भोग अन्यके लिये निर्धारित हैं, उन्हें हमें अपनी स्वार्थ-सिद्धि तथा भोग-वासनाकी तृप्तिके लिये हड़पना नहीं है। इस प्रकार कर्म करनेसे कर्म हममें लिप्त नहीं होगा।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईशावास्योपनिषद् २)

भगवान्‌का जो परब्रह्मरूप है, वह इन्द्रियोंसे अगोचर है। ऐसे पर-वासुदेवकी सेवा शरीरसे और इन्द्रियोंसे नहीं हो सकती। वह परब्रह्म माया-मण्डलसे परे विरजाके पार त्रिपाद्विभूतिमें वर्तमान है—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

—ऋग्वेद, दशम मण्डल

वे श्रीमन्नारायण तमके परे हैं।

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

—शुक्लयजुर्वेद, पुरुषसूक्त

इस श्रीमन्नारायण भगवान्‌की सेवा उनका ध्यान, चिन्तन और मनन है। शरीरसे सारे कर्मोंको करते हुए भगवान्‌में अनवरत मनको लगाये रखना, उनके साथ हृदयका एकाकार हो जाना परब्रह्मका कैंकर्य है। परमात्माके इस प्रकारके साक्षात्कारसे हृदयकी गाँठें आपसे आप खुल जाती हैं।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

(मुण्डकोपनिषद् २। २। ८)

प्रपन्न बलपूर्वक अपनी इन्द्रियोंका निग्रह नहीं करता, परमात्माके ध्यानसे उसके अन्तःकरणसे अपने-आप आसक्ति और कर्मोंका रस मिट जाता है। इसी परब्रह्मका कैंकर्य भगवान्‌की शरणागतिमें और भगवान्‌के चरणोंमें अपने-आपको अकिंचन और निःस्पृह भावसे समर्पित कर देना है

भगवान्‌का दूसरा रूप अन्तर्यामी रूप है, जो हमारे तथा सभी प्राणियोंके अन्तःकरणमें तथा सर्वत्र वर्तमान हैं। इनकी सेवा निम्नलिखित तीन रूपोंसे की जा सकती है—

(१) अन्तर्यामी भगवान् हमारे अन्तःकरणमें वर्तमान हैं, अतः अपने अन्तःकरणको पवित्र रखना, ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, काम, क्रोध, लोभ इत्यादिकी गंदगीसे अपने मनको स्वच्छ तथा निर्मल रखना अन्तर्यामी भगवान्‌का कैंकर्य है।

(२) अन्तर्यामी भगवान् सर्वत्र हैं, अतः कोई भी ऐसा स्थल नहीं है, जहाँ मनुष्य छिपकर पाप या दुष्कर्म कर सके।

(३) अन्तर्यामी भगवान् सभी प्राणियोंके अन्तःकरणमें वर्तमान हैं, अतः प्रत्येक नर-नारीका शरीर परमात्माका मन्दिर हुआ। परमात्मा प्रकाशके समूह हैं और जीवात्मा प्रकाशका एक कण है। अतः संसारके सभी प्राणी परमात्माके साकार रूप हैं। अतः सभी प्राणियोंकी सेवा परमात्माकी ही सेवा है। किसीके साथ द्वेष रखना, किसीकी बुराई सोचना, मनसे, वचनसे और कर्मसे किसीको पीड़ा पहुँचाना, किसीकी निन्दा करना और अमङ्गल चाहना अन्तर्यामी भगवान्‌की अवहेलना मात्र है। पीड़ितोंकी सेवा, मानवताका कल्याण, पथ-भ्रष्टोंको सच्चे मार्गपर लाना, भूखेको अन्न, प्यासेको जल, रोगीको औषध और मूर्खोंको विद्या देना अन्तर्यामी भगवान्‌का कैंकर्य है।

भगवान्‌ने गीतामें प्रपन्नोंके लिये दिनचर्या बना दी है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ९। २७)

यहाँ केवल मैं दो आदेशोंको लेता हूँ। भगवान् कहते हैं कि 'तुम जो कुछ करो और जो कुछ खाओ, सब मुझको अर्पित कर दो।' अर्थात् बिना भगवान्‌को अर्पित किये न तो हम कोई अन्न खा सकते हैं और न कोई कर्म कर सकते हैं। इसका तात्पर्य है कि भगवत्प्रसादके रूपमें हम वही अन्न खा सकते हैं, जो भगवान्‌को अर्पित हो सके, अर्थात् जो पवित्र हो तथा शरीरको सबल और स्वस्थ बना सके। उसी प्रकार हम वही कर्म कर सकते हैं, जो पवित्र हो और मानव-कल्याणके निमित्त किया जाय। अपवित्र अन्न और अपवित्र कर्म तो भगवान्‌को अर्पित नहीं हो सकते, अतः प्रपन्न उन्हें ग्रहण भी नहीं कर सकता। इस प्रकार प्रपन्नके जीवनमें आहार और आचरणकी शुद्धता आपसे आप आ जाती है।

अतः भगवान्‌ने जो अर्जुनको उपदेश दिया—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

इसीमें सभी धर्मोंका सार, सभी शास्त्रोंका आशय छिपा हुआ है।

(३)

गीताका चरम श्लोक—एक व्याख्या

(प्रे०—पूज्यचरण आचार्य श्रीराघवाचार्यजी महाराज)

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायके ६६वें श्लोकमें भगवच्छरणागतिमार्गका विधान किया है उनके शब्द हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

श्रीवैष्णव सम्प्रदायमें यह श्लोक 'चरम श्लोक'के नामसे प्रसिद्ध है। आचार्य श्रीपराशर भट्टने अष्टश्लोकीके अन्तिम दो श्लोकोंमें इसकी व्याख्या की है। पहला श्लोक है—

मत्प्राप्त्यर्थतया मयोक्तमखिलं संत्यज्य धर्मं पुन-
र्मामेकं मदवाप्तये शरणमित्यार्तोऽवसायं कुरु।
त्वामेवं व्यवसाययुक्तमखिलज्ञानादिपूर्णो ह्यहं
मत्प्राप्तिप्रतिबन्धकैर्विरहितं कुर्यां शुचं मा कृथाः॥

इस श्लोकके अनुसार भगवान्‌का कथन यह है कि 'यदि तुम मुझको प्राप्त करना चाहते हो तो मैंने अबतक जो कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोगके रूपमें धर्मका उपदेश किया है, उसको छोड़ दो। आर्तभावनासे युक्त होकर मुझ एकको ही मेरी प्राप्तिके लिये उपायके रूपमें वरण करो। यह निश्चय कर लो कि मैं (भगवान्) ही तुम्हारे लिये उपाय हूँ। तुम जानते हो कि मैं ज्ञान आदि समस्त कल्याण-गुणोंसे परिपूर्ण हूँ। मुझे उपाय मान लेनेपर मैं उन सारे पापोंसे तुमको मुक्त कर दूँगा, जो मेरी प्राप्तिके विरोधी हैं। तुम किसी प्रकारका शोक मत करो।'

दूसरा श्लोक है—

निश्चित्य त्वदधीनतां मयि सदा कर्माद्युपायान् हरे
कर्तुं त्यक्तुमपि प्रपत्तुमनलं सीदामि दुःखाकुलः ।
एतज्ज्ञानमुपेयुषो मम पुनस्सर्वापराधक्षयं
कर्तासीति दृढोऽस्मि ते तु चरमं वाक्यं स्मरन्सारथे ॥

इस श्लोकमें आचार्य भगवान्को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि 'हे भगवन् ! मैंने यह निश्चय कर लिया है कि मैं सदा तुम्हारे अधीन हूँ; कर्मयोग आदि उपायोंमेंसे किसीको अपनाने या छोड़नेमें असमर्थ हूँ । शरणागति करनेमें भी मैं अपने आपको असमर्थ पा रहा हूँ । दुःखमें व्याकुल होकर मैं क्लेश पा रहा हूँ । ऐसी स्थितिमें हे पार्थसारथे ! मुझे आपके 'सर्वधर्मान्परित्यज्य······' श्लोकका स्मरण आता है । आप ही मेरे उपाय (साधन) हैं । यह ज्ञान प्राप्त हो जानेसे मुझे विश्वास हो गया है कि आप मेरे सारे पापोंको नष्ट कर देंगे । अतः मेरा दुःख दूर हो गया है । मैं निर्भय हो गया हूँ ।

(४)

(लेखक—पं॰ श्रीसुधाकरजी त्रिवेदी 'इन्द्र')

भगवद्गीताके १८ वें अध्यायके ६६ वें श्लोकमें जो **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'** पद है, वह शङ्कनीय है । क्या उसका अर्थ 'सब धर्मोंको त्यागकर' है ? क्या भगवान्ने अर्जुनको यही आदेश दिया था कि हे अर्जुन ! तू सब धर्मोंको त्यागकर मेरी शरणमें आ जा । यद्यपि गीताके टीकाकारोंने इस श्लोकके गूढ़ार्थपर प्रकाश डाला है, किंतु उस कथनको प्रमाणित नहीं किया ।

'गीता-सतसई'का अनुवाद करते समय इन पंक्तियोंके लेखकको इसका प्रामाणिक गूढ़ार्थ उपलब्ध हुआ । पाठकोंकी सेवामें उसका दिग्दर्शन कराया जा रहा है । पूरा श्लोक निम्नलिखित है । यथा—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

इस श्लोकके **'धर्मान्'** तथा **'परित्यज्य'** इन दो शब्दोंपर ही विचार करना है । प्रथम 'धर्म' शब्दको लीजिये । गीताकारने धर्म-शब्दकी परिभाषा अनेकार्थक की है । गीतामें 'धर्म' शब्दकी व्याख्या मुख्यतः तीन साधनोंके लिये प्रयुक्त हुई है । उदाहरणके लिये तीन निम्नाङ्कित श्लोक देखिये—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

उपर्युक्त तीनों श्लोकोंमें तीन गूढ़ार्थ हैं । प्रथम श्लोक दूसरे अध्यायका ४० वाँ है; उसमें कर्मयोगका उल्लेख है । द्वितीय श्लोक नवें अध्यायका तीसरा है; उसमें 'ज्ञानयोग' तथा तीसरा श्लोक चौदहवें अध्यायका २७ वाँ है, उसमें 'भक्तियोग' का उल्लेख है । यहाँपर धर्म-शब्दकी त्रिविध परिभाषा है । प्रोक्त तीनों ही श्लोकोंमें 'धर्म' शब्दका प्रयोग किया गया है ।

इतना स्पष्टीकरण होनेपर भी श्लोकका भावार्थ संदिग्ध ही है । वस्तुतः इस (१८ । ६६) श्लोकमें 'परित्यज्य' शब्द ही विशेष रहस्यमय है; जिसका रहस्योद्घाटन किया जा रहा है ।

'परित्यज्य' या त्यागकी परिभाषा गीताके द्वारा ही प्रमाणित है; यथा—

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥

अर्थात्—समस्त कर्मोंके फलके त्यागको ही बुद्धिमान् लोग 'त्याग' कहते हैं । देखी आपने 'परित्यज्य' या त्यागकी परिभाषा ? परित्याग या त्याग फलाशाका त्याग अर्थात् निष्काम होना है ।

इस प्रकार **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'**·············· इस संदिग्ध या तिलकी ओट पहाड़वाले पूरे श्लोकका तात्पर्य निम्न दोहेमें अनूदित है—

सर्व 'कर्मफल धर्म' तजि, ले मम शरण अवार ।
मुक्त करौं सब पापसे, मत कर सोच-बिचार ॥

निष्कर्ष यह है कि भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन ! तू कर्म, ज्ञान तथा भक्तिरूप सभी धर्मोंको त्यागकर अर्थात् उनकी फलेच्छा छोड़कर निष्काम बनकर मेरी शरणमें आ जा, मैं तुझको सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा; तू चिन्ता मत कर, शरणमें तो आ ।'

'धर्मान्' अर्थात्—धर्मोंका या सारे धर्मोंका परित्याग करनेके लिये नहीं कहा गया कि धर्म-कर्म ही छोड़ दे, प्रत्युत उनकी फलाशाका त्यागना ही गीताकारको अभीष्ट है ।

सामान्य-धर्म और विशेष-धर्म तथा इनके आदर्श

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी)

सामान्य-धर्मका परिचय

सामान्य धर्म वह है; जिसे सर्वसाधारण लोग करते हैं, जैसे कि माता-पिता एवं गुरुवर्गकी आज्ञाओंका पालन एवं स्वजनोंके साथ बर्ताव तथा उचित प्रतिकार-रूपमें युद्ध करना एवं पितृकर्म आदि गृहस्थोंके कर्तव्योंका पालन करना । इस सामान्य धर्मके द्वारा सकामतासे लौकिक सुख एवं स्वर्ग आदिकी प्राप्ति तथा निष्कामतासे परम्परया ज्ञानोपासनाद्वारा मोक्ष-सुख भी प्राप्त होता है । अतएव इसमें—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।

(महा० कर्ण० ६९ । ५८)

—इस धर्मके अर्थकी पूर्ण सार्थकता है । श्रीजनकजीने इसी कर्मयोगके द्वारा ज्ञानकी परम अवस्था प्राप्त की है, यथा—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ॥

(गीता ३ । २०)

सामान्य धर्मके आदर्श श्रीरामजी

इस सामान्य धर्मका आदर्श-संस्थापन भगवान्‌ने अपने श्रीरामावतारसे किया है; यथा—

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

(४ । ८)

'धर्म-संस्थापनके लिये मैं युग-युगमें अवतार लेता हूँ ।' तथा—

चारित्रेण च को युक्तः (वाल्मीकि० १ । १ । ३)

'किसका चरित्र (सर्वसाधारण) लोगोंके ग्रहण करने योग्य है ?' श्रीवाल्मीकिजीके इस प्रश्नपर श्रीनारदजीने श्रीरामजीको ही कहा है; तथा—

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ।

(श्रीमद्भागवत ५ । १९ । ५)

भगवान् श्रीरामजीका मनुष्यावतार केवल रावण आदि राक्षसोंका वध करनेके लिये ही नहीं हुआ, प्रत्युत मनुष्योंको धर्मकी शिक्षा देनेके लिये हुआ है ।

एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः ।
स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरत् ॥

(श्रीमद्भाग० ९ । १० । ५५)

श्रीरामजी पवित्र और एकपत्नीव्रतधारी होकर जिस गृहस्थ-धर्मका राजर्षियोंने आचरण किया था, उसका उपदेश देनेके लिये आचरण करने लगे ।

श्रीरामजीने जहाँ-तहाँ अपने सामान्य धर्मकी शिक्षा दी है—

(१) सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी । जो पितु मातु बचन अनुरागी ॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा । दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥

(रा० च० मानस, अयो० ४१)

(२) धन्य जनमु जगतीतल तासू । पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू ॥
चारि पदारथ करतल ताकें । प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें ॥

(रा० च० मानस, अयो० ४६)

(३) मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभायँ ।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर नतरु जनमु जग जायँ ॥

(रा० च० मानस अयोध्या० ७०)

(४) निसिचर निकर सकल मुनि खाए । सुनि रघुबीर नयन जल छाए ॥
निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह ।

(रा० च० मानस, अरण्य० ९)

श्रीकैकेयीजीने श्रीरामजीकी वनयात्रा 'होत प्रात' ही माँगी थी । तदनुसार शीघ्र जानेका उसने श्रीरामजीसे अनुरोध किया । उसपर श्रीरामजीने माता कौसल्याको और पाणिगृहीता पत्नीको समझानेके लिये उससे सहेतु अनुरोध करके प्रहरभरका समय लिया और चौदह वर्षके बाद लौटने-पर एक प्रहर पश्चात् श्रीअवध आये; इसीलिये श्रीभरतजीके धैर्यके लिये प्रथम ही श्रीहनुमान्‌से अपने आनेका समाचार दे दिया, ऐसा श्रीवाल्मीकीय रामायणमें है । फिर श्रीसीताजीके आग्रहपर उन्हें साथ ले ही गये; क्योंकि अग्निसाक्षीसे पाणिगृहीता पत्नीका त्याग सामान्य धर्ममें अनुचित था ।

सामान्य-धर्मकी व्यावहारिक आशङ्काओंके समाधान

सामान्य-धर्ममें कहा गया है—

यस्मिन्यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥

(महा० शान्ति० १०९ । ३०)

जो मनुष्य जिस विषयमें जैसा व्यवहार करता हो, उससे वैसा व्यवहार करना धर्म है। कपटीको कपट व्यवहारोंसे बाधित करना चाहिये और साधु आचरणवालेके साथ वैसा सदाचरण करना चाहिये। तात्पर्य यह कि यदि कोई लाठीसे प्रहार करता हो तो उसे लाठीसे रोकना सामान्य-धर्ममें उचित ही है। आगे ऐसे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) श्रीरामजीने युद्धार्थ आये हुए आक्रमणकारी राक्षसोंका प्रतिकार-रूपमें युद्ध करके वध किया ही है।

(२) श्रीरामचरितमानस अरण्य० १६में विधवा शूर्पणखाके 'तात अब लगि रहिउँ कुनारी।' ऐसे मिथ्या कथनके प्रत्युत्तरमें श्रीरामजीने भी वैसा ही 'अहइ कुआर मोर लघु भ्राता।' कहा है। अतः वैसा करना दूषित नहीं है।

(३) श्रीमद्भगवद्गीता १८। ५९-६०में अर्जुनको उनकी प्रकृतिके अनुकूल उनकी क्षत्रिय-धर्मकी वृत्ति दिखाकर उन्हें सामान्य-धर्मके अनुसार युद्धार्थ आये हुए प्रतिपक्षियोंसे हिंसात्मक युद्ध ही करवाया है, जो उपयुक्त ही है।

(४) महा० कर्ण० ९१। ४–६ में श्रीकृष्णभगवान्ने कर्णके धर्म दिखाकर अर्जुनसे भूमिमें फँसे हुए अपने रथको निकालनेका समय माँगनेपर उसके किये हुए पूर्वके अपकारोंका स्मरण कराकर बदलेमें अर्जुनके द्वारा उसका वध करवाया है।

(५) महा० कर्ण० ६९। ६३–६५ में कहा गया है कि यदि झूठी शपथ खानेसे कोई चोरोंके बन्धनोंसे छूटे तो दोष नहीं, किंतु चोरोंको धन न दे; देनेसे नरक होता है।

(६) महा० शान्ति० १६५। ३० तथा कर्ण० ६९। ६२ में कहा गया है कि हास्यरसके प्रत्युत्तरमें मिथ्या कथनका दोष नहीं होता।

(७) मनु० ८। ३५०-३५१ में लिखा है कि आततायी-का बिना विचार किये वध कर डालना चाहिये, उस वधमें दोष नहीं होता।

इन दृष्टियोंसे सामान्य धर्मके व्यावहारिक कार्योंमें कठिनाइयाँ नहीं रहतीं। हाँ, अपनी ओरसे किसीके प्रति अन्याय एवं मिथ्या कथन कभी नहीं होना चाहिये।

विशेष धर्मका परिचय

अनन्य भावसे ईश्वर-शरणागतिको विशेष धर्म कहते हैं। इसमें मुमुक्षु माता-पिता आदि समस्त सम्बन्धियोंके द्वारा चर जगत्में एवं अचर जगत्में व्याप्त एक ईश्वरको ही अपना सब प्रकारसे संरक्षक जानकर उसीको आत्मसमर्पण कर उसकी उपासनाद्वारा अपना उभय-लोकमें कल्याण चाहता है। इस निष्ठामें मुमुक्षु सामान्य-धर्मको पालनीय और विशेष धर्मको अवश्य पालनीय मानता है। जहाँ दोनोंमें विरोध पड़ता है, वहाँ सामान्य-धर्मकी उपेक्षा करके विशेष-धर्मको सम्पन्न करता है, किंतु विशेष-धर्ममें न्यूनता नहीं आने देता। इसके अवशिष्ट लक्षण आगे विशेष धर्मके आदर्शके चरित्रोंसे ज्ञात होंगे।

विशेष-धर्मके आदर्श श्रीलक्ष्मणजी

श्रीलक्ष्मणजीने शिशुपनसे ही श्रीरामजीको स्वामी मानकर उनमें अपनी अनन्य भक्ति-निष्ठा रखी है। यथा—

बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥
(रा० च० मानस बाल० १९७)

बचपनसे ही श्रीरामजीको अपना हितैषी और स्वामी मानकर श्रीलक्ष्मणजीने उनके चरणोंमें प्रीति मानी है। तथा—

"……परम धरम रत निरमल करम बचन अरु मन के।
……चातक चतुर राम स्याम घन के॥"
(विनय-पत्रिका ३७)

अर्थात् यहाँ श्रीगोस्वामीजीने श्रीलक्ष्मणजीको 'विशेष-धर्म' का पर्यायी 'परम धरम रत' कहा है और साथ ही उनकी मन, वचन और कर्मगत निर्मलता भी कही है एवं इनको श्रीरामरूपी श्यामघनके चतुर चातक कहकर इनकी अनन्य-भक्ति-निष्ठा भी कही है। इसीसे ये श्रीराम-वनयात्रा-के प्रसङ्गसे वियोग-सम्भावनापर व्याकुल हो उठे, यथा—

मीनु दीन जनु जल तें काढ़े।
(रा० च० मा० अयो० ६९)

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव।
मुहूर्त्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥
(वाल्मी० २। ५। ३१)

श्रीलक्ष्मणजीने श्रीरामजीसे कहा है कि "मैं और श्रीसीता-

जी आपसे पृथक् रहकर मुहूर्तभर भी नहीं जी सकते उसी प्रकार जैसे जलसे पृथक् कर देनेपर मछलियाँ नहीं जी सकतीं।'

श्रीलक्ष्मणजी अपनी विशेषधर्म-निष्ठाके साथ-साथ सामान्य-धर्मका भी पालन करते थे। जब स्वामी श्रीरामजीने वन-यात्राका निश्चय किया और श्रीलक्ष्मणजीने सुना, तब वे व्याकुल हो उठे, उनका शरीर काँपने लगा, शरीर पुलकित हो गया और आँसू गिरने लगे। तब उन्होंने अधीर होकर स्वामीके चरण पकड़कर साथ चलनेकी चेष्टा प्रकट की।

इसपर स्वामी श्रीरामजीने अपने सामान्यधर्मकी दृष्टिसे उन्हें माता-पिता एवं स्वामीकी शिक्षा धारणकर घरपर रहनेको कहा, तब श्रीलक्ष्मणजीने अपनी विशेषधर्मकी दृष्टिसे आलोचना करते हुए कहा है—

नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ॥
दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥
नर बर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥
(रा० च० मा० अयो० ७२)

विशेष—'नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह'—हे नाथ! मैं दास हूँ और आप स्वामी हैं, यदि आप मेरा त्याग ही करेंगे तो फिर मेरा क्या वश? अर्थात् मेरा दासत्व और आपका स्वामित्व नित्य सिद्ध है, यह सम्बन्ध निरुपाधिक है। यथा—

स्वत्वमात्मनि संजातं स्वामित्वं ब्रह्मणि स्थितम्।

जीवात्मामें वस्तु (धन) का भाव है और ब्रह्ममें उसके स्वामी (धनी-भोक्ता) का भाव है। अतः जीवमात्रका ब्रह्मसे नियत 'स्व-स्वामि' सम्बन्ध है। तथा—

दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः।
नान्यथा लक्षणं तेषां बन्धे मोक्षे तथैव च॥

सभी जीवात्मा परमात्माके स्वतःसिद्ध दास हैं, उन जीवों-के बद्ध और मुक्त अवस्थामें अन्य प्रकारके लक्षण नहीं हो सकते। भाव यह कि मैं अपने नियत अधिकारानुसार इन चरणोंकी सेवा ही चाहता हूँ; इसपर परम समर्थ स्वामी आप यदि त्याग ही करेंगे तो मेरा वश ही क्या?

इसपर यदि स्वामी कहें कि 'मैंने तो तुम्हें अच्छी ही शिक्षा दी है, मैं स्वयं उसी सामान्य धर्मपर आरूढ़ हूँ, तो उसकी महत्ता स्वीकार करते हुए और अपनी विशेष धर्मकी वृत्तिके समक्ष उसका निराकरण करते हुए कहते हैं—'दीन्हि मोहि सिख नीकि······' सामान्यधर्मकी शिक्षा तो अच्छी ही है; पर मैं अपनी कायरतासे इसे भारका रूप एवं श्रमसाध्य मानकर डरता हूँ और अगम समझता हूँ। इस प्रकार उन्होंने स्वामीके स्वाभिमत धर्मका समर्थन किया। आगे उसके अधिकारियों-का वर्णन करते हैं—

'नर बर धीर······' भाव यह कि सामान्य धर्मका निर्वाह करनेमें आप (श्रीरामजी) के समान समर्थ लोग ही सफल हो सकते हैं। वे ही वेदवर्णित सामान्यधर्म और राजनीतिके अधिकारी हैं, वे सामान्यधर्म-मार्गके बड़े-बड़े कष्ट धैर्यसे सहन करनेमें समर्थ हो सकते हैं। 'मैं सिसु प्रभु सनेह···' अपनेको शिशु कहकर अनन्याश्रय, असमर्थ एवं उपायशून्य सूचित किया कि ऐसे ही लोग विशेष धर्म (शरणागति) के अधिकारी होते हैं। यहाँ वैदिक धर्म एवं माता-पिताकी सेवा आदि सामान्यधर्म सुमेरु गिरि और राजनीति मन्दराचल-के समान हैं, मराल (हंस) के समान असमर्थ मैं इनको नहीं उठा सकता।

हंसकी उपमासे यह भी सूचित किया कि जो हंसवत् विवेकी हैं, वे श्रीरामस्नेहमें ही जीवन रखते हैं; तब उन्हें उक्त धर्म और नीति मेरु-मन्दरके समान भार प्रतीत होते हैं। अतः इन व्यवहारोंसे वे डरते हैं। हंस विवेक-निपुणतामें शोभा पाता है, बोझा ढोनेमें नहीं।

श्रीलक्ष्मणजी बचपनसे ही राम-स्नेह करते हैं, इससे इन्हें ऐसी सदसद्विवेकिनी बुद्धि प्राप्त है। अतः ये विशेष-धर्मके उत्तम अधिकारी हैं।

ऊपर 'नतरु तात होइहि बड़ दोषू।'
(रा० च० मा० ७०)

—से श्रीरामजीने सामान्यधर्म (माता-पिताकी सेवा आदि) के त्यागपर बड़ा दोष कहा था, उसके प्रति कहते हैं—'गुरु पितु मातु···जहँ लगि जगत···मोरें सबइ एक तुम्ह···'—गुरु, पिता-माता आदि समस्त चर जगत्के द्वारा आपने ही प्रेरणा करके मेरे संरक्षण आदिके बर्ताव कराये हैं। अतः

उन रूपोंके द्वारा आपने ही मेरे सभी उपकार किये हैं। अतः मैं अन्यको कुछ न जानकर आपको ही सब कुछ मानता हूँ। मेरी दीनतापर दया-दृष्टि करके मेरे हृदयके भाव जान लीजिये। मैं सबके मूलरूप मानकर आपको ही आत्म-समर्पण करता हूँ। अतः आप मेरी इस विशेष-धर्म-निष्ठाको सफल करें।

भाव यह कि यदि मैं गुरु, पिता आदिकी सेवा न कर सकनेपर इन सबके मूलरूप आपकी सेवामें आत्म-समर्पण कर दूँगा तो इनके सेवा-त्यागका दोष मुझे न लगेगा। यथा—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥

(श्रीमद्भागवत ४। ३१। १४)

'जैसे जड़के सींचनेसे वृक्षके सभी अङ्ग एवं प्राणोंके तृप्त होनेसे इन्द्रियाँ सचेत होती हैं, वैसे ही श्रीहरिका पूजन करनेसे सभीका पूजन हो जाता है (अर्थात् भगवान् सबकी आत्मा हैं, उन्हें आत्म-समर्पण करके तृप्त करनेपर सबकी तृप्ति हो जाती है)'—यह श्रीनारदजीने प्रचेताओंसे कहा है।

इसपर यदि स्वामी कहें कि यह सामान्य-धर्म भी तुम्हारे समान श्रेष्ठ लोगोंके लिये ही है, तब तुम उनकी अवहेलना क्यों करते हो? इसपर सामान्य-धर्मके अधिकारियोंका वर्णन करते हैं—

'धरम नीति उपदेसिअ ताही।······'—उक्त सामान्य-धर्म एवं राजनीतिका उपदेश उसे देना चाहिये, जिसे जगत्में कीर्ति-स्थापन, ऐश्वर्य-प्राप्ति एवं परलोकमें सद्गतिकी काङ्क्षा हो; क्योंकि ये उस धर्म और नीतिके फल हैं; तथा—

मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥
साधक एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी॥

(रा० च० मानस अयोध्या० ३०५)

भाव यह कि मुझे सामान्य धर्मके फलोंकी आकाङ्क्षा नहीं है। अतः मैं केवल आपके चरणोंका स्नेह ही चाहता हूँ। इससे विशेष धर्मका ही अधिकारी हूँ, यही आगेकी अर्द्धालीसे स्पष्ट करते हैं—

मन क्रम बचन चरन रत······'—जब उक्त रीतिसे मैं मन, वचन और कर्मसे सामान्य धर्मसे मुँह मोड़कर केवल आपके चरणोंका ही स्नेही हूँ और फिर आप 'कृपासिंधु' हैं तो क्या ऐसे अनन्य भक्तका त्याग किया जाता है? भाव यह कि ऐसे भक्तका तो कोई निष्ठुर भी त्याग नहीं करता। तथा—

भीतिप्रदानं शरणागतस्य
स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः।
मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र
भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे॥

(महा० महाप्रस्थानिक० ३। १६)

हे इन्द्र! शरणागतोंको भय देना, स्त्रीवध, ब्राह्मण-धन-हरण और मित्रद्रोह—ये चार पाप हैं; मैं भक्त-त्यागके पापको भी वैसा ही मानता हूँ' ऐसा श्रीयुधिष्ठिरजीने कहा है; तथा—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

(श्रीमद्भागवत ११। ५। ४१)

'जिसने सारे कृत्योंका त्याग करके सर्वात्मना भगवान्की शरणागति कर ली है, वह देव, ऋषि, आप्तपुरुष और पितरोंका न ऋणी है और न दास है।' ऐसे विशेष धर्म-निष्ठोंके द्वारा उनके वृत्ति-विरोधी सामान्य-धर्मसे आराध्योंकी उपेक्षा भी देखी जाती है।

विशेष-धर्मनिष्ठ श्रीलक्ष्मणजीने जब देखा कि स्वामी श्रीरामजी वन जा रहे हैं, तब उपर्युक्त विचारके अनुसार इन्होंने गुरु, पिता और माता आदिसे आज्ञातक नहीं माँगी, धर्मपत्नीको भी कुछ न कहा; क्योंकि उनकी अस्वीकृतिपर इनके विशेष-धर्मसे विरोध पड़ता। माताके यहाँ तो स्वामी श्रीरामजीकी आज्ञासे गये; क्योंकि स्वामी श्रीरामजीको उपासना-शक्ति श्रीसुमित्राजीसे इन्हें विशेष धर्म-निष्ठाकी शिक्षा दिलानी थी, यथा—

गुरु पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअ सकल प्रान की नाईं॥
राम प्रान प्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सब ही के॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानिअहिं राम के नाते॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू॥

भूरि भाग भाजन भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जो तुम्हरे मन छाँड़ि छल कीन्ह राम पद ठाउँ॥ से
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई। तक।
(रा० च० मानस अयोध्या० ७३-७५)

इसपर इनकी प्रशंसा ही हुई है, जैसा कि भरतजीने कहा है—

(१) जीवन लाहु लखन भल पावा। सब तजि राम चरन मन लावा॥
(रा० च० मानस अयोध्या० १८१)

(२) अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम्।
भ्रातरं देवसंकाशं यस्त्वं परिचरिष्यसि॥
महत्येषा हि ते बुद्धिरेष चाभ्युदयो महान्।
एष स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि॥
(वाल्मीकि० २। ४०। २५-२६)

श्रीलक्ष्मणजीने अपने विशेष धर्मकी दृष्टिसे अपने इष्ट श्रीरामजीके अपमानपर मार्जन करते हुए सामान्य-धर्मसे सम्मान्योंकी उपेक्षा भी की है, इनपर भी वे प्रशंसित ही हुए हैं। यथा—

(१) श्रीरामचरितमानस, धनुष-यज्ञ-प्रसङ्गमें श्रीरामजीके प्रति अपमानपरक श्रीजनकजीके वचनोंमें उनपर कुछ आक्षेपात्मक वचन कहे थे। सामान्य-धर्मकी दृष्टिसे एक बड़े-बूढ़े राजर्षिके सम्मानकी अवहेलना हुई है, पर वे इसपर प्रशंसित ही रहे हैं।

(२) वहींपर श्रीपरशुरामजीने इनके स्वामी श्रीरामजीके सम्मानकी अवहेलना की है, तब इन्होंने उनसे उचित प्रतिवाद किये हैं—'बोले परसु धरहि अपमाने।' पीछे सावधान होनेपर परशुरामजीने इनकी प्रशंसा ही की है।

(३) श्रीराम-वनवासपर पिताके द्वारा स्वामीका घोर अपमान समझकर पिताजीको भी कठोर वचन कहे हैं। जब पीछे जाना कि पिताजीने श्रीराम-शपथकी परवशतामें वैसा किया है, अन्यथा श्रीरामजीका ही अकल्याण होता, तब उसपर पश्चात्ताप किया है; यथा—

प्रेम निधि पितु को कहे मैं परुष बचन अघाइ।
पाप तेहि परिताप तुलसी उचित सहे सिराइ॥
(गीतावली उ० ३०)

(४) श्रीभरतजीके दल-बलसमेत चित्रकूट जानेपर इन्हें श्रीराम-विरोधी जान लक्ष्मणजीने उनके अपमानपर भी बहुत कठोर वचन कहे हैं। जब आकाशवाणीसे उनका भाव जाना, तब वे बहुत लज्जित हुए। उसपर श्रीरामजीने इनके उक्त नीतिपरक वचनोंपर प्रशंसा ही की है।

(५) समुद्रतटपर श्रीविभीषणजीके मतपर श्रीलक्ष्मणजीने श्रीरामजीका अपमान माना था; क्योंकि आगे रावणने उसीको लेकर श्रीरामजीके बल-बुद्धिकी निन्दा की है, तब वहाँ स्वामीपर भी उन्हींकी प्रतिष्ठा-रक्षाके लिये कुछ कठोर वचन (महा० शान्ति० १। ९। ८२-८४ के आधारपर) कहे थे। उसपर श्रीरामजीने विहँसकर इन्हें आश्वासित किया था।

इसमें गुप्त रहस्य था। श्रीविभीषणजी ऐश्वर्य जानकर शरण हुए थे। पर सम्मुख बैठनेपर वे माधुर्यमें मुग्ध हो गये। तब श्रीरामजीके कुलगुरु सागरके द्वारा वे श्रीराम-बल-पौरुष देखना चाहते थे, कुलगुरु सागर भी रावणका पड़ोसी होनेसे उसका बल जानता था, उसका भी श्रीरामपर वात्सल्य था, इससे उसने तीन दिनतक न आकर अवहेलना करके राम-बल-पौरुष देख सुखी हो मार्ग दिया था—

देखि राम बल पौरुष भारी। हरषि पयोनिधि भयउ सुखारी॥
(रा० च० मानस सुन्दर० ५९)*

यदि उसका उक्त भाव न होता तो अपमानित होनेपर वह लज्जित होता। इन्हीं भावोंको लेकर श्रीगोस्वामीजीने इनके यशको रघुपति-कीर्तिका बढ़ानेवाला कहा है—

बंदउँ लछिमन पद जलजाता।......
रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयउ जस जाका।
(रा० च० मानस बाल० १६)

श्रीलक्ष्मण-मूर्च्छापर श्रीरामजीने भी कहा है—

सेवक सखा भगति भायप गुन चाहत अब अथये हैं।
निज करनी करतूति तात तुम्ह सुकृती सकल जये हैं॥
(गीतावली, लङ्का ५)

---

* इन पाँचों स्थलोंके विवेचनसे श्रीलक्ष्मणजीके सूक्ष्म विचार मेरे ग्रन्थ 'व्याख्यान-निबन्धागार' के २७वें निबन्ध 'विशेष-धर्मके आदर्श श्रीलक्ष्मणजी' में विस्तारसे लिखे गये हैं। यहाँ विस्तार-भयसे सूक्ष्म ही लिखे गये हैं।

वात्सल्य-धर्म

(लेखक—श्रीबद्रीप्रसादजी पंचोली, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न)

'धर्म' शब्दसे प्राकृतिक धर्म, शारीरिक धर्म तथा सामाजिक धर्मकी व्यञ्जना होती है। यह शब्द 'धृञ्—धारणे', 'धृङ्—अवस्थाने' अथवा 'डुधाञ्—धारणपोषणयोः' धातुओंसे व्युत्पन्न माना गया है। ऐसा ज्ञात होता है कि इन धातुओंसे व्युत्पन्न तीन पृथक्-पृथक् शब्द कभी प्रचलित रहे होंगे, जिनके सस्वर उच्चारण अर्थभेद कराते रहे होंगे। कालान्तरमें स्वरभेदपरसे दृष्टि हट जानेपर समाजमें तीनोंके स्थानपर एक श्लिष्ट रूप प्रचलित हो गया। तब पदार्थकी अवस्थितिमें सहायक तत्त्व, पदार्थके धारक तत्त्व तथा समाजद्वारा निर्धारित सामाजिक मर्यादा—ये तीनों अर्थ एक ही 'धर्म' शब्दसे व्यञ्जित होने लगे।

धर्म-शब्दका प्रयोग ऋग्वेदमें सर्वप्रथम देखनेको मिलता है। एक मन्त्रमें यज्ञके साथ धर्मका उल्लेख हुआ है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्[1]।

यहाँ दो यज्ञोंकी ओर संकेत है, जिनमेंसे द्वितीय यज्ञ देवताओंद्वारा प्रवर्तित है, जो प्रथम धर्म या धारक तत्त्वोंका कारणभूत है। प्रथम यज्ञ प्रजापतिका कामप्र[2] या संकल्परूप यज्ञ है, जिसे वह सप्त ऋषि-प्राणों तथा पितृ-प्राणोंकी सहायतासे क्रियात्मक रूप प्रदान करता है। स्वयम्भू प्रजापति, परमेष्ठी प्रजापति, सूर्यरूप इन्द्र, सोम तथा अग्नि—इन पाँच रूपोंसे वह कामप्र यज्ञका प्रवर्तन करता है[3]। इस कामप्र यज्ञसे ही त्रिषधस्थ—आदित्यात्मक एकादश, वायुरूप एकादश तथा अग्निरूप एकादश देवता उपर्युक्त द्वितीय यज्ञको प्रवर्तित करते हैं। प्रथम धर्मका सम्बन्ध इस यज्ञसे है। इस यज्ञका उद्देश्य है—प्रजापतिका स्वयंको बहुत रूपोंमें प्रकट करना। नामरूपात्मक जगत्के माध्यमसे ही वह ऐसा कर सकता है। इसलिये प्रथम धर्म नामरूपात्मक जगत्के मन, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी नामक सात मूल-तत्त्व हैं, जिन्हें प्रजापतिकी असीम सत्ताको छन्दित—सीमित कर देनेके कारण छन्द भी कहा गया है। पञ्चभूतोंका पञ्च-ज्ञानेन्द्रियसे विषय-विषयि-सम्बन्ध है। ये सब धारक तत्त्व हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्डकी कार्य-प्रणाली समानान्तर चलती है। ब्रह्माण्डके सूर्यादि तथा पिण्डके इन्द्रियरूप देवोंका अपने कार्यके माध्यमसे प्रजापति-प्रवर्तित यज्ञमें सहायक होना ही ऋग्वेदके उपर्युक्त मन्त्रके अनुसार धर्म-संज्ञासे अभिधेय है।

प्रजापतिके यज्ञ और उसमें योग देनेवाले देवताओंके धर्मों या कर्तव्योंका उल्लेख वेदादिमें अनेकधा हुआ है। उनके द्वारा मानवसमाजकी विभिन्न संस्थाओं तथा उनके कार्योंका निर्धारण हुआ है। भगवद्गीतामें कहा गया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्[4]॥

प्रजापतिने यज्ञके रूपमें इस विश्वको ही उत्पन्न किया था, जिसमें सूर्यादि देवगण कर्मरत रहते हुए आहुति दिया करते हैं। यह यज्ञ प्रजापतिके काम या संकल्पका दोहन करनेवाला हुआ। इसीलिये प्रजापतिने प्रजाओंसे कहा कि 'इस यज्ञद्वारा वे भी वृद्धिको प्राप्त होंगी।' यह यज्ञरूप सृष्टि प्रजाओंकी अभीष्ट-कामधेनु कही गयी है। अथर्ववेदके अनुसार इसीमें समस्त देवशक्तियोंका निवास है[5]। जब मनुष्य यज्ञभावनासे कर्म करता हुआ स्वयं देवताओंको इष्ट-भोग प्रदान करता है, तब वे यज्ञभावित देव भी उसे अभीष्ट प्रदान किया करते हैं[6]। देवशक्तियोंके कामोंके अनुकरणपर अपने कर्तव्योंका निर्धारण करके उनमें लग जाना ही देवोंको इष्टभोग प्रदान करना है। क्षत्रियका ऐन्द्र तथा ब्राह्मणका आग्निक कर्म है[7]। अतः इन कामोंसे इन्द्र

---

१. ऋग्वेद १। १६४। ५०, १०। ९०। १६

२. स परमेष्ठी पितरम् अब्रवीत् कामप्रं वा अहं यज्ञमदर्शं तेन त्वा याजयानीति—शतपथ ११। १। ६। १७

३. ता वा एताः पञ्चदेवता एतेन कामप्रेण यज्ञेनायजन्त। —शतपथ ११। १। ६। २०

४. श्रीमद्भगवद्गीता ३। १०

५. अथर्ववेद—९। ७ तुलनीय महाभारत आश्वमेधिकपर्व १०३। ४५—५९, पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ५०। १५५—६४, भविष्यपुराण उ० अ० १५६। १६—२०, स्कन्दपुराण, रेवाखण्ड ८३। १०४—१२

६. श्रीमद्भगवद्गीता ३। १२

७. ऐन्द्रो धर्मः क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामथाग्निकः। —महाभारत, शान्तिपर्व १४१। ६४

और अग्नि तुष्ट होते और यज्ञभावित हो जानेसे अभीष्ट फल प्रदान करते हैं।

सृष्टिकर्ममें प्रवृत्त होनेवाले देवगण एक ही शक्तिके विविध रूप माने गये हैं। सृजनको वेदोंमें गतिका पर्याय माना गया है। अतः उसे गो भी कहा गया है [८]। विविध देवोंके साथ गोका सम्बन्ध उल्लिखित है [९]। है तो यह गो एक ही, परंतु सृजनकी प्रवृत्तिके आधारपर इसके विविध रूप वर्णित हैं। कामधेनु, पृश्नि, बृहती, वशा, ब्रह्मगवी, विराज, वासवी, सोम्या, ऐन्द्री, पारमेष्ठिनी, वार्हस्पत्या, स्वायम्भुवी आदि नामोंसे गोके स्वरूपपर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। इस गोको ऋग्वेदमें देवमाता, देवस्वसा तथा देवदुहिता-के रूपमें उपस्थित किया गया है [१०]। अदिति नामसे प्रसिद्ध इस देवमाताका वात्सल्य ही इस जगत्‌के रूपमें प्रकट हो रहा है। देवगण यज्ञमें प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा इस महाधेनुके वात्सल्यसे ही पाते हैं। गीताके उपर्युक्त कथनमें स्पष्ट संकेत मिलता है कि सृष्टिरूपिणी कामदुघा अभीष्ट सिद्ध करनेवाली है। वत्सला कामधेनुकी यह विचार-परम्परा ऋग्वेदसे आज-तक साहित्यमें व्याप्त है और इसने भारतीय सामाजिक संस्थाओंके विकास तथा वैयक्तिक साधनाके मार्गको निश्चित स्वरूप प्रदान करनेमें महत्त्वपूर्ण योग दिया है। महाधेनुका आध्यात्मिक वात्सल्य व्यावहारिक क्षेत्रमें मानवधर्मका अभिन्न अङ्ग बन गया है और भारतीय साधना और समाजव्यवस्थाके मूलाधारके रूपमें उसको प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। प्रस्तुत निबन्धमें 'वात्सल्य-धर्म' का इस रूपमें अध्ययन करनेकी चेष्टा की गयी है।

महाधेनु

तान्त्रिकोंकी महात्रिपुरसुन्दरी अथवा महामाया, शाक्तोंकी महाविद्या, महावाणी, महालक्ष्मी अथवा महाकाली, वैष्णवों-की उद्भव-स्थिति-संहारकारिणी श्रीदेवी (जिसके सीता, राधा आदि रूप हैं) तथा वैदिक वशा, बृहती, अदिति, ब्रह्मगवी आदि एक ही सृजनशक्तिके विविध रूप हैं, जिसे महाधेनु भी कहा जा सकता है। मातृत्वमें धेनुका सर्वोपरि स्थान है। ऋग्वेदमें तो उसके मातृत्वका उद्घोष है ही, अथर्ववेदमें उसे मातृत्वका आदर्श माना गया है [११]। यह भी कहा गया है कि जैसे मांसाहारीका मन मांसमें, सुरासेवीका सुरामें, जुआरीका जुआमें तथा समर्थ पुरुषका मन स्त्रीमें निरत होता है, इन सबसे अधिक गोका चित्त वत्समें निरत होता है [१२]। महाभारतके अनुसार गौएँ सब भूतोंकी माता और सुखप्रदा होती हैं—

मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः [१३]।

गोके इस आदर्श मातृत्वको दृष्टिमें रखकर ही आदि-सृजक-शक्तिको गोके प्रतीकके माध्यमसे वैदिक साहित्यमें प्रस्तुत किया गया ज्ञात होता है। इसे ही अन्य सृजक-शक्तियोंकी (गौओंकी) जननी अद्वितीय उषा भी कहा गया है, जो स्वयं गोरूप है [१४]। उसका वत्स सूर्य है [१५]। पुराणोंमें भी सब गौओंका एकत्व उनकी माता सुरभिमें देखा जाता है [१६]। ऋग्वेदके अनुसार ऋतके सदनमें वह एक धेनु अग्निकी परिचर्या करती है [१७]। अपने अन्य धेनुरूपोंके साथ वह एक धेनु ही सबका पालन करती है [१८]। यद्यपि विविध देवशक्तियोंके साथ वह अपने विविध-रूपोंसे ही सहयोग करती है, इस विभिन्नतामें भी एकता विद्यमान है और अन्ततोगत्वा एक धेनु ही ऋषि, धाम, यज्ञ आदि नाना रूपोंमें व्यक्त होती है और उसके बाहर कुछ भी नहीं है [१९]। वह सृजक-देवकी सामर्थ्य मात्र ही नहीं है, वरं उससे अभिन्न भी है [२०]।

---

८. देखो लेखकका शोध-प्रबन्ध 'ऋग्वेदमें गोतत्त्व' राज० विश्वविद्यालय, १९६४

९. वहीं, 'गो व अन्य देवता' नामक अनुच्छेद द्रष्टव्य।

१०. माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः।—ऋग्वेद ८। १०१। १५

११. तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव।—अथर्ववेद ३। २३। ४

१२. अथर्ववेद ६। ७०। १, मन्त्र २ व ३ भी द्रष्टव्य।

१३. महाभारत, अनुशासनपर्व ६९। ७

१४. गवां जनित्री।—ऋग्वेद १। १२४। ५; माता गवाम्, —ऋग्वेद ४। ५२। २, ३, ७। ७७। २

१५. ऋग्वेद ३। ५८। १ तथा १। ११३। २

१६. सुरभी च गवां प्रसूः। देवीभागवतपुराण ९। १। १२४, ९। ४९। २

१७. ऋग्वेद ३। ७। २

१८. वही ३। ३८। ७

१९. 'वैदिक दर्शन'—डा० फतहसिंह, पृष्ठ २४७ पर अथर्ववेद ८। ९। २६ के आधारपर निकाला गया निष्कर्ष।

२०. 'मा या गावः स जनास इन्द्रः।'—ऋग्वेद ६। २८। ५

महाधेनु शब्दका प्रयोग यहाँ धेनुरूप महत्-तत्त्वके लिये हुआ है। जगत्‌की आदि-सृजनावस्थाका नाम महत् है। इस अवस्थामें प्रकृतिकी साम्यावस्थामें प्रथम बार चैतन्यके स्पन्दनके कारण गति उत्पन्न होती है। इसी कारण इसे गो कहा गया है। पं० मधुसूदन ओझाके अनुसार गति और स्थिति भाव ही जगत्‌के मूल हैं, जिनमें अग्नि गति-तत्त्व है और सोम स्थिति-तत्त्व है। इन दोनोंका योगरूप रजोभाव ही आपस् है[२१]। अथर्ववेदके अनुसार आपस्-तत्त्व और अघ्न्या—गो अभिन्न हैं[२२]। यहाँ गोको वरुणसे भी अभिन्न कहा गया है। डा० फतहसिंहने वरुणको महत्-तत्त्व ही माना है[२३]। इस प्रकार गो, वरुण, आपः आदि सृष्टिकी प्रथम सृजमान स्थितिकी वैदिक संज्ञाएँ हैं। वह जगत् वरुणका साम्राज्य है, गोका वत्स है और आपोमय है। सृष्टिकी यह प्रथम सृजक-शक्ति ही अनेक रूपोंसे नित्य सृजनमें योग दिया करती है। इसीलिये इसे महाधेनु कहा गया है।

ऋग्वेदके अनुसार महत्-तत्त्व देवोंका असुरत्व है और सभी देवोंमें वह एक ही है[२४]। इसे परवर्ती साहित्यमें देवीमायाके नामसे जाना गया ज्ञात होता है। शतपथ-ब्राह्मणमें कहा गया है कि प्रजापतिके मुखसे बल स्रवित हुआ, जो गो या वृषभ बन गया[२५]। पद्मपुराणके अनुसार ब्रह्माके मुखसे निकलनेवाला यह तेज महत्-रूप था—

पुरा ब्रह्ममुखाद्भूतं कूटं तेजोमयं महत्[२६]।

वायुपुराणके अनुसार चतुर्मुखी जगत्-जननी प्रकृति ही गो हैं—

चतुर्मुखी जगद्योनिः प्रकृतिर्गौः प्रकीर्तिता[२७]।

चतुर्मुख ब्रह्मा महत्-तत्त्वसे अभिन्न है और महाधेनुका ही नाम है।

महाधेनुका वात्सल्य

वेदोंमें सृजक-शक्तिको वाक् भी कहा गया है जो धेनुसे अभिन्न है[२८]। सारा संसार वाक्-शक्तिका ही विलास है। वह धेनु है और मन उसका वत्स है। उसके चार स्तन हैं—स्वाहाकार, स्वधाकार, वषट्कार तथा हन्तकार, जिनसे वह देवों, पितरों तथा मनुष्योंका पोषण करती है—

वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्या द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः[२९]।

इस कथनसे स्पष्ट है कि देव, पितर तथा मनुष्योंको जन्म देकर इस महाधेनुने अपने वात्सल्यका विषय बनाया है। असुर या प्राणोंका असत् रूप इन तीनोंके पहलेका है। यज्ञरूप जगत्‌के द्वारा देवोंने असुरोंपर विजय प्राप्त की। असत् प्राणोंका 'सत्' रूप ही जगत् है। सृजनका प्रारम्भ महाधेनुके वात्सल्यके प्रदर्शनके रूपमें हुआ।

ऋग्वेदमें गोको देवमाता अदिति कहा गया है[३०]। वह सभी देवोंकी माता है, परंतु रुद्रों, मरुतों, आदित्यों आदिकी माताके रूपमें उसका विशेषरूपसे उल्लेख मिलता है[३१]। ये देवता गौकी प्रेरणा प्राप्त करके विश्व-यज्ञमें भाग लेते हुए महाधेनुके वात्सल्यके अधिकारी बनते हैं।

ऋग्वेदमें यह स्पष्ट किया गया है कि ऋतकी धेनुने उत्पन्न होते ही इस संसारको दूहा—ऋतस्य धेनुः अदुहज्जायमानः[३२]। अथर्ववेदमें वशा, विराज, ब्रह्मगवी तथा शतौदना नामक गौओंका उल्लेख मिलता है। इनमेंसे वशा सृजक-शक्तिरूप गोकी वह अवस्था कही जा सकती है, जब वह प्रलयके समय सृजनमें असमर्थ—वन्ध्या रहती है[३३]। आगे वह अपने इस वन्ध्या-स्वरूपको त्यागकर गर्भिणी हो जाती है। कबीरदासने कहा है कि यह कामधेनु

२१. रजोवाद—पं० मधुसूदन ओझा, पृ० ८–९

२२. अथर्ववेद ७। ८३। २

२३. वैदिक-दर्शन, पृ० ८८—८९

२४. 'महद्देवानामसुरत्वमेकम्'—ऋग्वेद ४। ५५। १–२२ महत्—'महि वृद्धौ' धातुसे व्युत्पन्न होनेसे ब्रह्म या ब्रह्माका पर्यायवाची है।

२५. शतपथ १२। ७। १। ४

२६. पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ५०। १। २५

२७. वायुपुराण २३। ५५

२८. ऋग्वेद—८। १००।१०, ११ तथा ८। १०१। १५-१६

२९. बृहदारण्यकोपनिषद् ५। ८। १

३०. ऋग्वेद ८। १०१। १५

३१. 'ऋग्वेदमें गोतत्त्व'—पञ्चम अनुच्छेद

३२. ऋग्वेद १०। ६१। १९

३३. देखो—'वशा और उसका स्वरूप'—बद्रीप्रसाद पंचोली, वेदवाणी १७। २।

गर्भिणी रहनेपर अमृत स्रवण करती है, परंतु प्रसव होनेके उपरान्त दूध नहीं देती[३४]। यह वशा धेनुका ही परवर्ती रूप ज्ञात होता है। ब्रह्मगवी वशाके सृजक रूप बार्हस्पत्या गोका नाम है[३५]। विराज गो सम्राज व स्वराज नामक सृजक-शक्तियोंकी राजसत्ताका नाम है। शतौदना प्रकृतिरूपी गोकी उस अवस्थाका नाम है, जब वह विविध रूपोंसे सृष्टिमें अन्नरूपमें व्याप्त हो जाती है। पुराणोंमें इसे शतरूपा कहा गया ज्ञात होता है। डा० फतहसिंहने अदिति, पृथिवी, वाग्देवी और प्रकृतिको अभिन्न माना है और अदितिके भक्षक और पोषक रूपोंका उल्लेख भी किया है[३६]।

स्पष्ट है कि गो नामकी एक ही शक्ति—गति अपने सृजन, पालन और प्रलय रूपोंसे विभिन्न नामोंसे जानी जाती है। उसका सृजक रूप समस्त विश्वको वात्सल्य प्रदान करता है—अपने पोषक रूपसे। सोम्या गोके नामसे सुज्ञात यह शक्ति ही परम वत्सला होनेसे सबका पोषण करनेवाली कामधेनु कही गयी है। डा० वासुदेवशरण अग्रवालके अनुसार यह विश्वधायस् धेनु है, जिसका काम ही दूध है और विश्व ही उससे तृप्त होनेवाला वत्स है[३७]।

वात्सल्यकी समाजमें प्रतिष्ठा

भारतीय जीवनमें व्याप्त विचारों एवं विश्वासोंके आधार वेद हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवालके अनुसार उसी मधुमय उत्ससे भारतीय अध्यात्म-शास्त्रके निर्झर प्रवाहित हुए हैं[३८]। वेदोंमें प्रतीकात्मक शैलीके द्वारा सृष्टिके गूढ़ रहस्योंको व्यक्त किया गया है। गोके प्रतीकद्वारा वहाँ सृष्टिरूपी वत्सकी माता अनन्त प्रकृतिकी ओर संकेत किया गया है। परवर्ती कालमें इस गो प्रतीकको समाजमें दो तरहसे प्रतिष्ठा हुई। प्रथमतः वात्सल्य-प्राप्तिके हेतु गोतत्त्वकी उपासनाका समारम्भ हुआ। द्वितीयतः गो एवं वत्सका सम्बन्ध सामाजिक जीवनकी एक विशिष्ट परम्पराका वाचक बन गया और उसके अनुकरणपर विशिष्ट समाजतन्त्रका विकास हुआ। ऋग्वेदमें साधारणतः गो-शब्द प्रतीकके रूपमें प्रयुक्त हुआ है, परंतु कहीं-कहीं उसे वस्तु-प्रतीक भी माना जा सकता है[३९]। कालान्तरमें शब्दकी प्रतीकात्मकता गौण हो गयी और श्लिष्ट अर्थोंद्वारा ऐसे स्थानोंपर काम चलाया जाने लगा। ऐसे समयमें गो-पशु भी समाजमें मातृत्व और प्रजननका प्रतीक बनकर पूजाका अधिकारी बन गया। पुराणोंकी कतिपय निम्न उक्तियोंमें पशु-गोके विषयमें भारतीय जनताके विचार द्रष्टव्य हैं—

१—गावः प्रतिष्ठा भूतानां गावः स्वस्त्ययनं परम्।
अन्नमेव परं गावो देवानां हविरुत्तमम्[४०]॥
२—गावः पवित्रं परमं गावो माङ्गल्यमुत्तमम्।
गावः स्वर्गस्य सोपानं गावो धन्याः सनातनाः[४१]॥
३—गावः पवित्रा माङ्गल्या गोषु लोकाः प्रतिष्ठिताः[४२]।
४—एभिर्घृताः सदा लोकाः प्रतिष्ठन्ति स्वभावतः[४३]।
५—सर्वदेवमयः साक्षात्सर्वसत्त्वानुकम्पकः[४४]।
६—देवी गौर्धेनुका देवाश्चादिदेवी त्रिशक्तिका।
प्रसादाद्यस्य यज्ञानां प्रभवो हि विनिश्चितः[४५]।
७—गावामग्रेषु तिष्ठन्ति भुवनान्येकविंशतिः[४६]।
८—नमोऽस्तु विश्वमूर्तिभ्यो विश्वमातृभ्य एव च[४७]।

महाभारतमें भी गौके विषयमें ऐसे ही विचार मिलते हैं—

१—यया सर्वमिदं व्याप्तं जगत्स्थावरजंगमम्।
तां धेनुं शिरसा वन्दे भूतभव्यस्य मातरम्[४८]॥
२—देवानामुपरिष्टाच्च गावः प्रतिवसन्ति वै[४९]।
३—गावः प्रतिष्ठा भूतानां तथा गावः परायणम्।
गावः पुण्याः पवित्राश्च गोधनं पावनं तथा[५०]।
४—यज्ञाङ्गकथिता गावो यज्ञ एव च वासवः[५१]।

---

३४. कबीर-ग्रन्थावली—पदावली पद १५२।

३५. देखो 'ब्रह्मगवी'—बद्रीप्रसाद पंचोली, वैदिकधर्म (पारडी) अगस्त १९६५।

३६. 'वैदिक दर्शन' पृ० १०१। २। अत्तीति अदितिः तथा अद्यते इति अदितिः—इन निर्वचनोंसे अदितिके इन रूपोंकी ओर संकेत मिलता है।

३७. 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति'—भूमिका, पृ० १९

३८. 'उरुज्योति' भूमिका, पृ०क

३९. 'ऋग्वेदमें गो-तत्त्व'—गो प्रतीकके रूपमें—नामक अनुच्छेद द्रष्टव्य।

४०. अग्निपुराण (मनसुखराय मोर संस्करण), २९२। १२।

४१. अग्निपुराण २९२। १३।

४२. अग्निपुराण २९२। १४।

४३. पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ५०। १३०

४४. वही ५०। १३२

४५. वही ५०। १३५

४६. मत्स्यपुराण २७७। १२

४७. वही २७७। १२

४८. महाभारत, अनुशासनपर्व ८०। १५

४९. वही ८१। ४

५०. वही ८१। १२

५१. वही ८३। १७

इन विचारोंसे स्पष्ट है कि पशुओंमें गौको पूजनीय स्वीकार किया गया और आध्यात्मिक साधनामें उसे प्रतीकके रूपमें विशिष्ट स्थान प्राप्त हो गया। भारतकी बौद्ध, जैन और वैदिक परम्परामें गोको इसी रूपमें स्वीकार किया गया है।

वैदिक परम्परामें वात्सल्य

वैदिक परम्परामें समस्त श्रेष्ठ कर्म यज्ञ कहे जाते हैं— **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**[52]। आचरणपूर्वक विशिष्ट मेधाका विकास यज्ञका मुख्य उद्देश्य है। यज्ञको मेध कहनेका यही कारण ज्ञात होता है। 'यज्' और 'मेधृ' धातुओंका मेल करना अर्थ है। अतः इन धातुओंसे व्युत्पन्न 'यज्ञ' और 'मेध' शब्दोंको पर्यायवाची मानना सर्वथा उपयुक्त है।

अश्वमेध, गोमेध और पुरुषमेधका वैदिक यज्ञोंमें विशिष्ट स्थान है। ये तीनों समाजकी विशिष्ट संरचनाके परिचायक हैं। अश्व, गो तथा पुरुष समाज-संगठनकी विशिष्ट परम्पराओंके लिये प्रयुक्त पारिभाषिक संज्ञाएँ हैं। पुरुष-यज्ञकी समाजशास्त्रीय व्याख्या डा० फतहसिंहने 'वैदिक समाजशास्त्र—मूलाधार' तथा 'वैदिक समाजशास्त्रमें यज्ञकी कल्पना' नामक ग्रन्थोंमें की है। गोमेधपर इन पंक्तियोंके लेखकने अपने कई लेखोंमें विचार प्रकट किये हैं। इन सभी यज्ञोंका उद्देश्य—मेधाप्राप्ति आचरणद्वारा सिद्ध होता है। इस प्रकार यज्ञका आधार आचरण माना जा सकता है। वाल्मीकि-रामायणमें अश्वमेधयाजी सगरको अश्वचर्यामें लीन कहा गया है[53]। श्रीमद्भागवतपुराणमें गोचर्याका वर्णन भी मिलता है[54]। अश्वचरी तथा गोचरी वृत्तिके लोगोंके ही कदाचित् बौद्ध-ग्रन्थ 'चूलनिद्देस'में अश्वव्रतिक व गोव्रतिक कहा गया है। अश्वचरी वृत्ति केवल विजेता क्षत्रियोंद्वारा ही अपनायी गयी, परंतु गोचरी वृत्ति सर्व-साधारणमें ही विशेषरूपसे प्रचारित हुई। यही कारण है कि यह वृत्ति अब भी भारतमें जीवित है। इस वृत्तिका आदर्श वात्सल्य है और प्राप्तव्य गोका परमपद। परवर्ती साहित्यमें इस वृत्तिका जो रूप मिलता है, उसकी वेद-संहिताओंसे पुष्टि हो जाती है।

ऋग्वेदमें आदिशक्तिका गोके रूपमें वर्णन मिलता है—

> **हिङ्कृण्वन्ती वसुपत्नी वसूनां**
> **वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।**
> **दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं**
> **सा वर्धतां महते सौभगाय ॥**[55]

इस मन्त्रमें वत्सके प्रति गमन करनेवाली वासवी गौका वर्णन है तथा वत्सका मनसे सम्बन्ध भी ध्वनित होता है। कुछ लोगोंने इस मन्त्रके प्रथम एवं तृतीय चरणोंके प्रथमाक्षरोंके संयोगसे हिंदू-शब्दकी निष्पत्ति मानी है। इस प्रकार हिंदू-शब्दका अर्थ गौ (प्रकृति) का दोहन करनेवाला होगा। अथर्ववेद तथा पुराणोंमें स्पष्ट ही प्रकृतिरूपी गोके दोहनका वर्णन मिलता है। ऋग्वेदमें इसी वत्सला गौको सहवत्सा,[56] वत्सिनी,[57] नित्यवत्सा[58] आदि विशेषणोंसे विभूषित किया गया है। ऋग्वेदमें वत्स तथा पुनर्वत्स ऋषियोंका उल्लेख भी मिलता है। पुनर्वत्स-शब्दका अर्थ है—जो पुनः वत्स बन जाय—'A weaned calf that begins to suck again' ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ इस क्रमसे संन्यासके रूपमें ब्रह्मचर्यको अपना लेना ही पुनर्वत्सकी कल्पनाका मूल है। पुनर्वत्स ऋषिद्वारा दृष्ट सूक्तके एक मन्त्रमें इस व्यवस्थाका पृश्निसे तीन सरोवरोंके दोहनके रूपमें उल्लेख मिलता है[59]। समाजकी इस व्याख्याको आश्रम-व्यवस्था कहा गया है। आश्रम-शब्दका अर्थ है—जिसमें श्रम व्याप्त हो (**आसमन्तात् श्रमः यस्मिन्**)। वत्स कदाचित् संवत्स है, जिसका अर्थ है—पूर्ण वत्स। एक मन्त्रमें संवत्सका उपमानके रूपमें प्रयोग मिलता है[60]। सम्पूर्ण जीवनको वत्सके रूपमें बिताता हुआ संन्यासी या बाल-ब्रह्मचारी ही संवत्स कहा जा सकता है। वत्स-दृष्ट सूक्तके अनुसार पर्वतोंके प्रान्तमें, नदियोंके संगम-स्थलपर कर्म-सामर्थ्यसे विप्र उत्पन्न होता है[61] और वह प्रज्ञावान् (चिकित्वान्) होकर ऊर्ध्वलोकमें गमन करता है,[62] जहाँ वे प्रथम शक्तिदाता इन्द्रकी निवासप्रद ज्योतिको देखते हैं[63]। मर्त्य प्राणी इस मेधमें इन्द्रका ही वरण करते हैं[64]। इन्द्र गोसे अभिन्न है—**इमा या गावः स जना स**

५२. शतपथब्राह्मण १। ५। ४। ५

५३. रामायण, बालकाण्ड ३९। ६

५४. श्रीमद्भागवतपुराण ११। १८। २९

५५. ऋग्वेद १। १६४। २७

५६. ऋग्वेद १। ३२। ९

५७. ऋग्वेद ७। १०३। २

५८. अथर्ववेद ७। १०९। १

५९. ऋग्वेद ८। ७। १० इस मन्त्रमें सरोवरोंके नाम वत्स, कबन्धादि हैं।

६०. संवत्स इव मातृभिः—यथा संवत्स अपनी मातासे मिलता है, ऋग्वेद ९। १०५। २

६१. ऋग्वेद ८। ६। २८

६२. ऋग्वेद ८। ६। २९

६३. ऋग्वेद ८। ६। ३०

६४. ऋग्वेद ८। ६। ४४

इन्द्रः[६५]। इसे मन और हृदयसे प्राप्त किया जा सकता है। मन और हृदयसे इन्द्रको प्राप्त करना ही यहाँ 'मेध' कहा गया है। यह शब्द परवर्ती साहित्यमें भी इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि वत्स-दर्शन वैयक्तिक साधना-द्वारा वात्सल्य-प्राप्तिपर तथा पुनर्वत्स-दर्शन सामाजिक साधनाद्वारा वात्सल्य-प्राप्तिपर बल देता है। वात्सल्य-प्रदात्री शक्ति गो है। इन्द्रादि उसी सृजक-शक्तिके पुं-रूप हैं। आश्रमव्यवस्थाके अनुकूल श्रम करता हुआ साधक शममें या शमीमें स्थित होता है, जिसमें गो जन्म ग्रहण करती है— शम्या गोर्जगार[६६]। डा० फतहसिंहके अनुसार सूक्ष्मतम शरीरकी शक्ति शमी, सूक्ष्म शरीरकी शची तथा स्थूल शरीरकी शक्ति श्रमके रूपमें अभिव्यक्त होनेवाली है। शची इन्द्र-पत्नी है और प्राणमय कोशकी शक्ति है। मनोमय कोशमें उसका सूक्ष्मरूप शमीके रूपमें इन्द्ररूप गौको जन्म दिया करता है। उसका वात्सल्य पाना ही साधकका अभीष्ट होता है।

इस संक्षिप्त विवेचनके आधारपर हम यह सोचनेके लिये स्वतन्त्र हैं कि ऋग्वेदमें शरीरस्थित चैतन्य-सत्ताको असीमसे ससीम बनाने और इस प्रकार मित करनेवाली सृजक-प्रकृतिको माता कहा गया है और वह ससीम सत्ता— जीव संसारमें खूँटेसे बँधा हुआ वत्स है। प्रलयरात्रिसे ही वह अपनी मातासे अलग रहा है। जब सृजनावस्थाके उषाकालमें विशिष्ट प्रक्रियासे वह इस गोका वात्सल्य प्राप्त करता है, तब उसका परिचय गोके माध्यमसे उसकी गतिके प्रेरक असीम चैतन्य-तत्त्वसे भी हो जाता है। यह प्रेरक-तत्त्व गतिरूप ब्रह्माण्डकी नाभि है, जिसे प्राप्त करके साधक नाभानेदिष्ठ (नाभिके निकटतम) हो जाता है।[६७]

गोका सम्बन्ध ज्योतिसे माना गया है। अदितिकी अवध्र-ज्योतिका उल्लेख मिलता है[६८]; उरुज्योति,[६९], अमृतं ज्योतिः[७०], महि ज्योतिः[७१], गूढ ज्योतिः[७२] आदिका सम्बन्ध भी गोसे ज्ञात होता है। निरुक्तके अनुसार गो रश्मिवाचक भी है और सम्भवतः वह चैतन्य पुरुषकी ज्योतिको वहन करनेवाली है। उपर्युल्लिखित नाभि और अमृतज्योति अभिन्न हैं। इस गोके माध्यमसे अमृतज्योति प्राप्त कर लेनेवाले साधकको ही सम्भवतः परवर्ती साहित्यमें पुङ्गव या ऋषभ विशेषण दिया गया है, जो बादमें श्रेष्ठता-वाचक बन गया। पुरुषर्षभ, मुनिपुङ्गव, पुरुषपुङ्गव, त्रिदश-पुङ्गव, नरपुङ्गव आदि शब्दोंमें इन विशेषणोंको देखा जा सकता है। रामायणमें वसिष्ठको अनेकधा मुनिपुङ्गव कहा गया है। भवभूतिने उन्हें उत्तररामचरितमें 'आविर्भूतज्योतिः' कहा है[७३], । दिव्यशक्तिको साधनाद्वारा प्राप्त करनेवाला दूसरेके प्रति वत्सल होनेमें समर्थ है। नरपुङ्गव राम भ्रातृवत्सल[७४], रिपुवत्सल[७५] और पितृवत्सल[७६] तक कहे गये हैं। पार्थिवर्षभ दशरथ पुत्रवत्सल हैं[७७] तथा जनक धर्मवत्सल[७८]। समाजमें वात्सल्य-धर्मकी प्रतिष्ठा सर्वसाधारणके वत्सवत् आचरण तथा सिद्ध पुरुषोंके गोवत् आचरणके कारण होती है। सिद्ध पुरुष समाजमें गोचरी-वृत्ति अपनाकर वत्सवत् आचरण करनेवाले सामान्यजनोंके प्रेरणा-स्रोत बनकर सामाजिक मर्यादाओंके प्रतिष्ठापक बनते हैं।

वैयक्तिक साधना एवं सामाजिक-व्यवहारमें वात्सल्यका उद्भव वत्स एवं वत्सलके सम्मिलनसे होता है। आध्यात्मिक जगत्में विज्ञानमय कोशकी पराशक्ति ही वत्सला गो है, जो त्रिविधरूपसे मनोमयकोश, प्राणमयकोश तथा अन्नमयकोशमें इच्छा, ज्ञान और क्रियाके रूपमें व्याप्त रहती है। समाजमें गोचरी-वृत्तिमें लीन सिद्ध पुरुष ही साधारण व्यक्तियोंके प्रति वात्सल्य प्रकट करनेमें समर्थ है।

वत्सको वात्सल्यका अधिकारी बननेके लिये अपने स्वरमें अभावकी सांकेतिक अनुभूति, मातृ-वियोगकी पीड़ा, पुन-र्मिलनकी उत्कण्ठा, आशा, विश्वास और कारुणिकताकी समुचित अभिव्यक्तिको समाविष्ट करना होता है। संगीतमें ऋषभस्वर गोस्वर अथवा चातकस्वरके समान माना गया

६५. ऋग्वेद ६। २८। ५
६६. ऋग्वेद १०। ३१। १०
६७. 'वैदिक समाजशास्त्रमें यज्ञकी कल्पना,—पृ० २६
६८. ऋग्वेद ७। ८२। १०, ८३। १०
६९. ऋग्वेद ७। ५। ६, ९०। ४
७०. ऋग्वेद ७। ७६। ४
७१. ऋग्वेद ३। ३१। ४
७२. ऋग्वेद ७। ७६। ४
७३. उत्तररामचरित ४। १८
७४. रामायण, अ० का० ६। २३
७५. वही २१। ६
७६. वही १२। १२
७७. वही. बालकाण्ड ७३। २४ अयोध्याकाण्ड १८। १२
७८. वही, बालकाण्ड ७०। ९

है[७९]। चातकके समान कारुणिकता वत्सके स्वरमें ही प्राप्त होती है। इसलिये सम्भवतः ऋषभस्वर वत्सके समान करुणा जगानेवाला माना गया होगा। गोमें वात्सल्य वत्सके स्वरसे ही जागता है। डा० वासुदेवशरण अग्रवालके अनुसार गोके शरीरमें कोई ऐसी रसायनशाला है, जो जलको दूधमें बदल देती है। परंतु वत्सके बिना ऐसा होना सम्भव नहीं है[८०], वत्सवत् आचरण करनेवाला व्यक्ति श्रम-साधनाद्वारा अपने मनको संयत करके स्वयंको वात्सल्यका अधिकारी बना लेता है। एक मन्त्रके अनुसार मनरूप वत्स संयत होकर परम स्थानसे अग्रणी अग्निको वाणीद्वारा प्राप्त करनेकी इच्छा करता है[८१]।

वत्स तथा वत्सलके सम्मिलनके लिये की जानेवाली शारीरिक तथा मानसिक साधना ही 'मेध' कही जाती है। गोमेध-शब्दका प्रयोग ऋग्वेदमें नहीं मिलता।

ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें वर्णित गोमेध

गोमेधको गवालम्भ भी कहा गया है; क्योंकि इसमें गोको प्रतीकरूपमें ग्रहण किया जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें गोसव तथा गवामयनके रूपमें गोमेधका वर्णन मिलता है। इन दोनोंका उद्देश्य भी वही है, जिसकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है।

गोसव-शब्द 'षु—प्रसवैश्वर्ययोः'—अथवा 'षुञ्-अभिषवे' धातुसे व्युत्पन्न है; इसलिये इसका अर्थ है—गौओंका प्रसव, गौओंके ऐश्वर्यसे युक्त होना, गौओंका दोहन करना। गोसवको स्वाराज्य-यज्ञ कहा गया है—**अथैष गोसवः स्वाराज्यो वा एष यज्ञः**[८२]। परमेष्ठी प्रजापतिका नाम स्वाराज्य है[८३] और उन्हींका यह यज्ञ है। गोसवमें प्रतिष्ठा-तत्त्व या दिक्-तत्त्वको उपासनाका विषय बनाया जाता है। प्रतिष्ठाका आधार पोषण है। समस्त पोषकतत्त्वोंका सूक्ष्म रूप वेदोंमें आपस्तत्त्व माना गया है। आपोमण्डलके अधिष्ठाता ऋतदेव विष्णु हैं। इस यज्ञमें विष्णुकी उपासना की जाती है[८४]। ऋग्वेदके अनुसार विष्णुके परमपद अर्थात् परमेष्ठी-मण्डलमें भूरिशृङ्गा गौएँ निवास करती हैं[८५]। यज्ञमें इस मन्त्रके भावोंके अनुसार समृद्धिके लिये अयुत—दश सहस्र गौएँ एकत्र की जाती हैं और साधना-समाप्तिके उपरान्त उनको दान कर दिया जाता है[८६]। ये गौएँ सम्भवतः प्रतिव्यक्ति एकके हिसाबसे १०००० यज्ञमें भाग लेनेवाले विद्वानोंको दुग्धादि प्रदान करनेके लिये होती थीं। इन आगन्तुकोंकी संगतिमें यजमान स्वर्ग-सुखका अनुभव करके अपने सामाजिक गौरव तथा प्रशासनिक-पदादिको भुलाकर आत्म-दक्षिण हो जाता है। इस निरभिमानताके फलस्वरूप वह विद्वत्समाजका वात्सल्य पा लेता है। इस प्रकार विष्णुकी उपासना करते हुए समाजके प्राज्ञ-वर्गका वात्सल्य पाकर उत्कृष्ट सामाजिकसंगठनमें बँध जाना ही 'गोसव' का उद्देश्य है।

गवामयनमें काल-ब्रह्मकी उपासना की जाती है जो संवत्सर पर्यन्त चलती है अथवा संवत्सरके प्रतीकके रूपमें स्वीकृत नव दिनोंतक चलती है। इनमेंसे आठ दिन आठ दिशाओंके प्रतीक हैं तथा नवम स्वर्गलोकका प्रतीक है। ये दिन हैं—विश्वजित्, ज्योति, गो, आयु, विष्णुवत्, आयु, गो, ज्योति तथा अभिजित्। गवामयनमें शरीरगत मन, प्राण और वाक्के द्वारा चलनेवाले चेतनाके यज्ञको काल-ब्रह्मके साथ संयुक्त किया जाता है, जिससे आयु, गो तथा ज्योति नामक तत्त्व, जिन्हें त्रिकद्रुक कहा जाता है, परमज्योतिकी उपलब्धिमें सहायक बन जायँ। कालब्रह्मकी उपासनाका यह नववासरीय क्रम ही शिवके प्रलयंकर महाकाल रूपकी उपासनाका प्राग्रूप प्रतीत होता है, जो नवरात्रमें शक्ति-संयुक्त अथवा अकेले शिवकी ही की जाती है। शिवको ऋषभवाहन माना जाता है। वे स्वयं ऋषभरूप हैं और पुङ्गव होनेके कारण वात्सल्य प्रदान करनेमें समर्थ हैं। अर्द्धनारीश्वरशिवमें वत्सला-शक्ति भी समाविष्ट है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि गोसव एवं गवामयनमें प्रतिष्ठा-ब्रह्म एवं काल-ब्रह्मकी उपासना करते हुए साधकको

---

७९. 'शब्दकल्पद्रुम' प्र० खण्ड पृ० २८७

८०. 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' भूमिका, पृ० १९

८१. ऋग्वेद ८। ११। ७ इस मन्त्रमें सायणने वत्सको ऋषि-विशेषका नाम माना, जो अग्निके मनको अपनी ओर खींचते हैं, परंतु बृहदारण्यकोपनिषद्में मनको 'वत्स' कहा गया है। अतः यहाँ वत्स और मनको विशेषण-विशेष्यके रूपमें स्वीकार करना सर्वथा संगत है। वदति इति वत्सः निरुक्तिको भी मन्त्रमें प्रयुक्त गिरा-शब्दसे समर्थन प्राप्त होता है।

८२. ताण्ड्य-महाब्राह्मण १९। १३। १

८३. वहीं १९। १३। ३

८४. देखो—'गोसव, लेख—पंचोली, टंकार-पत्रिका ६। ७

८५. ऋग्वेद १। १५४। ६

८६. ताण्ड्य-महाब्राह्मण १९। १३। ६

वत्सवत् जीवन व्यतीत करते हुए स्वयंको वत्सल-शक्तियोंके स्नेहका पात्र बनाना होता था।

जैन और बौद्ध परम्परामें वात्सल्य

जैन एवं बौद्ध परम्पराओंको सामान्यतः वेद-विरोधी माना जाता है; परंतु इन दोनों परम्पराओंने भी वैदिकजीवन-दृष्टि तथा याज्ञिकभावनाको अपनाया है। दोनोंमें ही यज्ञका आध्यात्मिक रूप ग्राह्य माना गया है, जिसका वर्णन उपनिषद् और आरण्यकोंमें मिलता है। बुद्धने गौओंको माता-पिताके समान या अन्य जाति-भाइयोंके समान परम मित्र, अन्नदात्री, बलदात्री, वर्णदात्री तथा सुखदात्री माना है[८७]। वे पाद या विषाणसे किसीकी हिंसा नहीं करतीं और घड़ा भरकर दुग्ध प्रदान किया करती हैं[८८]। बुद्ध-शब्दका एक पर्यायवाची 'ऋषभ' भी प्रचलित रहा है[८९]। बुद्धने आर्यप्रवेदित धर्मकी ओर संकेत किया है[९०]। सम्भवतः ऐसे स्थलोंपर उनका संकेत वैदिकधर्मकी ओर ही रहा है। इस प्रकार बुद्धका ऋषभत्व गोचरीवृत्तिसे ही सिद्ध होना सम्भव है। आर्योंके गोचरमें लीन होनेकी बातका बुद्धने स्वयं उल्लेख किया है[९१]। श्रमद्वारा यह सब साध्य है। अतः यह मार्ग श्रमण-मार्ग कहा गया है।

जैन-परम्परामें वात्सल्यको सम्यक्-जीवनके आठ अङ्गोंमें प्रमुख स्थान प्राप्त है। ये आठ अङ्ग हैं—निःशंकित, निःकाङ्क्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थिति-करण, वात्सल्य और प्रभावना।[९२] इनमें प्रभावना, पूर्ण सिद्धा-वस्थाका नाम है और वात्सल्य उसका साधन है। इसे सम्यक्-चारित्रसे अभिन्न माना जा सकता है।[९३] उपर्युक्त आठमेंसे प्रथम चार निषेधात्मक हैं। पञ्चम अङ्ग इन्द्रियोंको बाह्य-विषयोंसे खींचकर अन्तर्मुखी बनानेसे सम्बद्ध है। स्थिति-करण सम्यक्-दर्शनसे तथा प्रभावना सम्यक्-ज्ञानसे अभिन्न है। अतः स्पष्ट है कि वात्सल्यका जैनधर्मके रत्नत्रयमें प्रमुख स्थान है। वात्सल्यका जैनधर्ममें वही स्थान है, जो बौद्धमतमें करुणाको, इस्लाममें भ्रातृभावनाको, वैदिकपरम्परामें विश्व-बन्धुत्व तथा सर्वभूतहितकामनाको, ईसाई-मतमें दयालुताको, पारसी-मतमें परोपकारको तथा तान्त्रिक-मतमें आत्मबलिको है।[९४]

वात्सल्यकी परिभाषा देते हुए स्वामीकुमारने कहा है—

जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए।
पियवयणं जंपन्तो वच्छल्लं तस्स भवस्स[९५]।

यहाँ भक्ति, प्रियवचन, श्रद्धा तथा तदनुकूल आचरण—ये चार बातें वात्सल्यके अधिकारी बननेके लिये आवश्यक मानी गयी हैं। आचार्य अमृतचन्द्रके अनुसार निरन्तर अहिंसामें, शिव-सुख-लक्ष्मीकी प्राप्तिके कारणभूत धर्ममें एवं सधर्मी बन्धुओंमें वात्सल्यका अवलम्बन लिया जाना चाहिये—

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिष्वपि परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्[९६]।

जैन-साधक अपने इष्टदेवके वत्सल रूपका आह्वान करते रहे हैं—

त्वं नाथ दुःखिजनवत्सल हे शरण्य
कारुण्यपुण्यवसते वशिनां वरेण्य।
भक्त्या न ते मयि महेश दयां विधाय
दुःखाङ्कुरोद्दलनतत्परतां विधेहि[९७]।

जैनधर्ममें परमेष्ठी ऋषभादि माने गये हैं, परंतु इस बातको भुला नहीं दिया गया है कि वात्सल्य मातृशक्तिसे ही पूर्णता पाता है। इसीलिये तीर्थंकरोंकी भी आराध्या देवियोंकी सत्ता मानी गयी है। ऐसी देवियोंमें चक्रेश्वरी सबसे प्रधान है। यह मूलतः वैष्णवीशक्ति है। अन्य देवियाँ चक्रेश्वरीकी ही विभूतियाँ हैं। जैन-साधक वत्स बनकर इन्हीं मातृशक्तियों-का वात्सल्य प्राप्त करते हैं। जैन साधु गोचरी-वृत्तिका पालन करते हुए अपनी तपोज्योतिको समाजमें विकीर्ण किया करते हैं[९८]।

पुराणोंमें वात्सल्य

विष्णुपुराणके अनुसार वात्सल्यसे सम्पूर्ण संसारकी अर्चना

८७. सुत्तनिपात, चूलवग्ग, ब्राह्मण-धम्मिक सुत्त १३-१४
८८. वही २६
८९. धम्मपद ३९। ४२
९०. सुत्तनिपात, चूलवग्ग, किसीलसुत्त ७
९१. 'आर्याणां गोचरेरताः'—धम्मपद २। २
९२. चारित्रपाहुड़ (आचार्य कुन्दकुन्द) ७
९३. 'जैनधर्ममें वात्सल्य' पंचोली, श्रमणोपासक, बीकानेरके दीपावली (१९६५) अङ्कमें प्रकाश्य।
९४. 'गोचरी-वृत्ति' पंचोली, श्रीछोटेलाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थमें मुद्र्यमाण (जयपुर)
९५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४२०
९६. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २९
९७. कल्याणमन्दिर-स्तोत्र, ३९
९८. 'गोचरी-वृत्ति' नामक लेख द्रष्टव्य।

हो जाती है—**वात्सल्येनाखिलं जगत्**[99]। यहाँ वात्सल्य गृहस्थ-धर्मके रूपमें उल्लिखित है। मुनि-जीवन अपना लेनेपर गोचरी वृत्ति अपनानेकी ओर भी संकेत मिलता है। श्रीमद्भागवत-पुराणमें वैदिकोंके गोचरीमें विचरण करनेका वर्णन मिलता है—**गोचर्यां नैगमश्चरेत्**[100]। पुराणोंमें ज्ञानकी तीखी तलवारसे विषयबन्धनोंको काटकर भूमिपर विचरण करते हुए गोचरी वृत्ति अपनानेका उपदेश मुनियोंको दिया गया है,[101] तो अनेक व्रतोंके माध्यमसे सामान्य जनोंको वत्स-जीवन अपनानेकी प्रेरणा भी दी गयी है। गोपद्मव्रत,[102] गोवत्सद्वादशीव्रत,[103] गोवर्धन-पूजा,[104] गो-त्रिरात्रव्रत[105], गोपाष्टमी[106], पयोव्रत[107] आदिका उल्लेख पुराणोंमें मिलता है। कई कथाओंद्वारा लोगोंकी इस ओर प्रवृत्ति जगानेका प्रयत्न भी दिखायी पड़ता है।

तान्त्रिक तथा भक्ति-सम्प्रदायोंमें वात्सल्य

अनेक दृष्टिकोणोंसे देखी हुई वस्तुके सत्यको आत्म-साधनाके द्वारा नवीन और अपने ही दृष्टिकोणसे देखना तन्त्र-साधनाका उद्देश्य है। कुछ लोग तन्त्र-मार्गको अवैदिक मानते हैं। वस्तुतः दार्शनिकोंके अद्वैतवादका साधनागत रूप ही तन्त्रके नामसे जाना जाता है। तान्त्रिकोंके अनुसार स्वतन्त्रता जीवनका साधनामय स्वरूप है और उसका उद्देश्य है—स्वराज्य। स्वतन्त्रताका मार्ग योगसाधनाका मार्ग है। योगसाधनामें जीव अपने पशुभावको पराजित करके दिव्यत्व-की प्राप्तिके लिये सचेष्ट होता है। इस कार्यमें वह परमपुरुष—शिवकी अर्द्धाङ्गिनी—उमाकी सहायता चाहता है और इसके लिये वह शरीरस्थ चैतन्य-केन्द्रोंको कुण्डलिनी जगाकर प्रभावित करता है। शिवकी इस शक्तिको महावाणी, महाविद्या आदि कई नामोंसे जाना जाता है—

महाविद्या महावाणी भारती वाक् सरस्वती।
आर्या ब्राह्मी कामधेनुर्वेदगर्भा च धीश्वरी[108]॥

महाशक्तिके विविध नामोंसहित पराक्रमोंका वर्णन 'देवीभागवत पुराण' आदिमें देखा जा सकता है। ये देवियाँ एक ही शक्तिके विविध रूप हैं और इनका वात्सल्य प्राप्त हुए बिना योगसिद्धि मिलना सम्भव नहीं है।

तान्त्रिक मार्गमें वामाचार बढ़ जानेपर सात्त्विक उपासना-को भक्तिके रूपमें पृथक् स्थान मिला। सभी भक्तोंने अपने इष्टदेवोंके भक्तवत्सल रूपोंको ही उपासनाका विषय बनाया। इसीलिये सूरदास-जैसे भक्तशिरोमणिद्वारा श्रीकृष्णके चरितका लोकरक्षक पक्ष उपेक्षित रह गया। तुलसीदासने व्यापक दृष्टिकोणको सामने रखकर रामको भक्तवत्सल,—लोकवत्सल और धर्मवत्सलके रूपमें काव्यका विषय बनाया। तुलसीने भी रामभक्तिको अपर्याप्त मानकर रामके साथ उनकी उद्भव-स्थिति-संहार-कारिणी वल्लभा सीताको अपनी उपासनाका लक्ष्य बना लिया है। 'बसहिं राम-सिय मानस मोरे'—उनकी भक्ति-साधनाका यही उद्देश्य रहा है। सूरके श्रीकृष्ण भी राधाके बिना अधूरे ज्ञात होते हैं। इन सारे भक्त कवियोंने अपने इष्टदेव एवं इष्टदेवीसे सदैव 'वात्सल्य'की आकाङ्क्षा की है।

लोक-जीवनमें वात्सल्यकी प्रतिष्ठा

समाजके विश्वास और विचारोंका प्रभाव लोक-जीवनपर भी पड़ा। समाजका प्राज्ञवर्ग गोचरी वृत्तिका आचरण करने लगा और सामान्यजन वत्सवत् आचरण करके वात्सल्यके पात्र बननेका प्रयत्न करने लगे। समाजकी वैचारिक एकताको इससे बड़ा बल मिला। समाजके प्रज्ञाबल तथा कर्मबलका समायोजन राज्य-तन्त्रके समानान्तर गणतन्त्रके विकासमें सहायक हुआ। भारतमें इन दोनों व्यवस्थाओंका बिना किसी प्रतिस्पर्द्धाके साथ-साथ विकास हुआ[109]। बुद्ध और महावीरने तो आध्यात्मिक गणतन्त्रोंकी स्थापनाका अपूर्व स्वप्न देखा[110]। जैन साधुओंको श्रावक अब भी नित्य गोचरीके लिये आमन्त्रित करता है। पिता, माता, गुरु, धर्मोपदेशक, समाजसेवी, संन्यासी आदि समाजमें वत्सल हैं और पुत्र, शिष्य, रोगी, सामान्य गृहस्थ आदि वत्स। इस प्रकार समाजके संघटनका आधार ही वात्सल्य बना हुआ है।

राष्ट्रीयता और वात्सल्य

राष्ट्रीयताका सम्बन्ध राजमान जनसमाजकी अपनी भूमिसे

९९. विष्णुपुराण ३। ९। १०।
१००. भागवतपुराण ११। १८। २९।
१०१. भागवतपुराण ११। २८। १७
१०२. भविष्योत्तरपुराण
१०३. वही।
१०४. हेमाद्रि
१०५. कूर्मपुराण
१०६. कूर्मपुराण
१०७. श्रीमद्भागवतपुराण
१०८. मार्कण्डेयपुराण, देवीमाहात्म्य, प्राधानिक-रहस्य १६
१०९. 'प्राचीन भारतमें गणतान्त्रिक शासनव्यवस्था'—पंचोली, शोधपत्रिका, उदयपुर १५। १
११०. 'बर्द्धमान महावीरद्वारा प्रचारित आध्यात्मिक गणराज्य और उसकी परम्परा'—पंचोली, मुनि हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ, ब्यावर।

होता है। इस भूमिके साथ आत्मीयताका सम्बन्ध स्थापित करके जब सारे भूमिवासी एकताके सूत्रमें बँधकर अपने प्राणोंके पुष्प समर्पित करनेके लिये कृतसंकल्प हो जाते हैं, तभी उनमें सच्ची राष्ट्रीयताका आविर्भाव होता है। भूमिसे आत्मीयताका भाव स्थापित करनेके लिये भारतीयोंने उसके साथ मातृत्वकी भावनाको संयुक्त किया है—**माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**[१११]। इस मन्त्रको भारतीय राष्ट्रीयताका बृहदुद्घोष या मैग्नाकार्टा माना जा सकता है। भारतमें पृथ्वी भौतिक सत्तामात्र नहीं मानी गयी है। वरं गो, अदिति, पूषा, इला, मही आदि[११२] नामोंसे अभिधेय दिव्य-सत्ताके रूपमें स्वीकार की गयी है। वह भौतिक समृद्धि, आध्यात्मिक शान्ति और दिव्य वर्चस्व प्रदान करनेमें समर्थ कामदुघा है[११३]। इसीलिये कहा गया है—**'उपसर्प मातरं भूमिम्'** अर्थात् मातृ-भावसे भूमिको प्राप्त होओ[११४]। स्पष्ट है कि भूमिका वात्सल्य प्राप्त करनेके लिये भी भारतीय सचेष्ट रहे हैं और दिव्य राष्ट्र-की कल्पना भारतीयोंकी रुचिका विषय रहा है।

वात्सल्य-धर्म

ऊपर हम यह देख चुके हैं कि आदि-सृजकशक्ति 'गो' है और इस सृष्टिके समस्त पदार्थ उसीसे प्रादुर्भूत हुए हैं। उन पदार्थोंमें भी अनेक रूप धारण करके वह सृजक-शक्ति व्याप्त होती है तथा इस प्रकार नित्य सृजन चला करता है। इस प्रकार वह सृष्टिकी प्रतिष्ठाका मूल कारण तो है ही, पदार्थोंके धारक तत्त्वोंके रूपमें भी वही गतिमान् है। अन्नरूप बनकर वही प्राणियोंकी पोषिका बनती है। सारा संसार उसीके वात्सल्यका विस्तार है। अथर्ववेद तथा पुराणोंमें उसके दोहनका वर्णन मिलता है, जिससे उसके वात्सल्यका भी परिचय मिल जाता है। सृजक-शक्तिके धारण, पोषण एवं प्रतिष्ठा आदि कार्योंका मूल वात्सल्य है। अतः उसे धर्म कहना उचित है। आधिदैविक सृष्टिका यह वात्सल्य मानव-समाजके विकासमें बहुत ही प्रेरणादायक सिद्ध हुआ है। वह सामाजिक मर्यादाका आदर्श बन गया है और इस प्रकार उसे मानव-धर्मके एक महत्त्वपूर्ण गुणके रूपमें आचरणका विषय बना लिया गया है। मनरूपी वत्सको संयत करके प्राणरूपी वृषभ तथा वाक्रूपी गोके वात्सल्यका पात्र बनाकर परम-तत्त्वको पा लेना एवं परमपदमें, जिसे आत्मा या आर्योंका गोचर भी कहा जाता है, रमण करना वैदिक दृष्टिकोणसे वैयक्तिक साधनाका विषय है। इसी तरह समाजमें गोचरी वृत्तिमें लीन लोगोंका, जो समाजके प्रज्ञाबलके प्रतीक हैं, वत्सवत् आचरण करते हुए सामान्यजनों,—जो समाजकी क्रियाशक्तिके प्रवर्तक हैं,—के साथ वात्सल्यकी दृष्टिसे संगम कराना भारतीय सामाजिक साधनाका उद्देश्य रहा है। भारतीय जीवन-साधनाकी यह विशेषता वैदिक तथा जैनादि अवैदिक परम्पराओंमें समानरूपसे प्राप्त है।



आसुर-मानव और उसकी गति

मनसा कर्मणा वाचा प्रतिकूला भवन्ति ये। तादृशानासुरान् विद्धि मर्त्यास्ते नरकालयाः॥
हिंसाश्चौराश्च धूर्ताश्च परदाराभिमर्शकाः। नीचकर्मरता ये च शौचमङ्गलवर्जिताः॥
शुचिविद्वेषिणः पापा लोकचारित्रदूषकाः। एवंयुक्तसमाचारा जीवन्तो नरकालयाः॥
लोकोद्वेगकराश्चान्ये पशवश्च सरीसृपाः। वृक्षाः कण्टकिनो रूक्षास्तादृशान् विद्धि चासुरान्॥

(महाभारत अनुशासन० १४५)

जो मनुष्य मन, वाणी और क्रियाद्वारा सदा सबके प्रतिकूल ही आचरण करते हैं, उनको असुर समझो। उन्हें नरकमें निवास करना पड़ता है। जो हिंसक, चोर, धूर्त, परस्त्रीगामी, नीच कर्मपरायण, शौच तथा मंगलाचारसे रहित, पवित्रतासे द्वेष रखनेवाले, पापी और लोगोंके चरित्रपर कलंक लगानेवाले हैं—ऐसे आचारवाले अर्थात् आसुरी-स्वभाववाले मनुष्य जीते-जी ही नरकमें पड़े हुए हैं। जो लोगोंको उद्वेगमें डालनेवाले, पशु, साँप-बिच्छू आदि जन्तु तथा रूखे और कँटीले वृक्ष हैं, वे सब पहले आसुर स्वभावके मनुष्य ही थे—ऐसा समझो।



१११. अथर्ववेद १२। १। १२। ११२. निरुक्त १। १ में पृथिवीके नाम द्रष्टव्य। ११३. अथर्ववेद १२। १। ६१।
११४. अथर्ववेद १८। ३। ४९।

श्रीधर्म-तत्त्व-मीमांसा

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

धर्मकी व्युत्पत्ति और अर्थ

'धृञ्—धारणे' धातुसे **'अर्तिस्तुसु'** '**मन्**' इस उणादि सूत्रद्वारा 'मन्' प्रत्यय होनेपर 'धर्म' शब्द बना है। (माधवीया धातुवृत्ति० १ । ८८४ सिद्धान्त चं० पृ० २७१ दशपादी उणादि वृ० पृ० १४) । मत्स्यपुराण १३४ । १७, महाभारत, कर्णपर्व ६९ । ५७-५८, शान्तिप० १०९ । १८–१९ आदिमें भी यही कहा गया है—

धर्मेति धारणे धातुर्माहात्म्ये चैव पठ्यते ।
धारणाच्च महत्त्वेन धर्म एष निरुच्यते ॥
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥

कोशकारोंने धर्म,पुण्य, न्याय और आचारादिको पर्याय माना है—

धर्मः पुण्ये यमे न्याये स्वभावाचारयोः क्रतौ ।
(मेदिनी २५ । १६ विश्व-प्रकाश, अमर-कोश आदि)

धर्मका स्वरूप, परिभाषा और लक्षण

'विश्वामित्र-स्मृति' कहती है—

यमार्याः क्रियमाणं तु शंसन्त्यागमवेदिनः ।
स धर्मो यं विगर्हन्ते तमधर्मं प्रचक्षते ॥

अर्थात् आगमवेत्ता आर्यगण जिस कार्यकी प्रशंसा करते हैं, वह तो धर्म तथा जिसकी निन्दा करते हैं, वह अधर्म है।

मनु (२ । १ में) कहते हैं—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥

मीमांसाकी 'ललाम' टीकामें गागाभट्टका कथन है—**अलौकिकश्रेयः साधनत्वेन विहितक्रियात्वं हि धर्मत्वम्।** मूलमीमांसा १ । १ । २ में वेदोक्त प्रेरणाको धर्म माना गया है। वैशेषिकदर्शनके प्रशस्तपादभाष्यमें ईश्वरचोदनाको धर्म कहा है—**तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेः** (ग्रन्थ-प्रयोजन-प्रकरण २)। इसके भाष्यविवरणमें **ढुण्ढिराजने लिखा है—ईश्वर-चोदना ईश्वरेच्छाविशेषः** ।* उदयनाचार्य ईश्वरचोदनाका अर्थ वेद करते हैं। वैशेषिकसूत्रवृत्तिमें भरद्वाज महर्षिने 'अभ्युदय'का अर्थ सुख किया है। पर इनकी 'उपस्कार' व्याख्यामें शंकरमिश्रने 'अभ्युदय'का अर्थ तत्त्वज्ञान किया है। गीताभाष्यके आरम्भमें आचार्य शंकरने प्रवृत्ति-निवृत्ति लक्षणोंसे धर्मको द्विविध माना है। वैशेषिक-व्याख्यादिमें भी इसका समर्थन है * 'लक्षणकोश' तथा सिद्धान्त-लक्षण-संग्रहमें धर्मके अनेक लक्षण प्रभाकरादिके मतानुसार दिये गये हैं; पर लोगाक्षिभास्करादि अधिकांशने वेदोक्त योगादिको ही धर्म माना है। (द्रष्टव्य पृष्ठ १०४)

* राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं ॥

धर्मके स्रोत तथा प्रमापक

मनु तथा याज्ञवल्क्यके अनुसार वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, उभय मीमांसा तथा वेदविद् संतोंके शील एवं सदाचार धर्मके स्रोत तथा प्रमापक हैं—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥
(याज्ञ० १ । ३)

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥
(मनु० २ । ६)

विधि तथा श्रद्धापूर्वक वेद-पुराणोंके अधिगन्ता विद्वान्को मनुने शिष्ट कहा है और उनके आचारको शिष्टाचार कहकर प्रमाण माना है—

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥
(मनु० १२ । १०९)

सम्प्रदाय, कुलाचार एवं देशाचार

मनु आदिके अनुसार सम्प्रदाय-क्रमागत तथा कुल-क्रमागत धर्म आचरणीय हैं। यथा—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन् न रिष्यते ॥
(मनु० ४ । १७८)

* द्र० वैशेषिकसूत्रभाष्यादि० १ । १ । २, यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

देवलके अनुसार देशाचार भी मान्य है। यथा—

येषु देशेषु ये देवा येषु देशेषु ये द्विजाः।
येषु देशेषु यच्छौचं धर्माचारश्च यादृशः।
तत्र तान् नावमन्येत धर्मस्तत्रैव तादृशः॥
यस्मिन् देशे पुरे ग्रामे त्रैविद्यनगरेऽपि वा।
यो यत्र विहितो धर्मस्तं धर्मं न विचालयेत्॥

(स्मृतिचन्द्रिका, संस्कारकाण्ड, पृ० २५में देवल-वचन)

युगानुरूप धर्म

मनु० अध्याय १। ८६, पद्मपुराण १। १८। ४४०, पराशरस्मृति १। २३, लिङ्गपुराण १। ३९। ७ भविष्यपुराण १। २। ११९ आदिमें युगानुरूप धर्म इस प्रकार बतलाया गया है—

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥

अर्थात् सत्ययुगमें तपकी, त्रेतामें ज्ञानकी, द्वापरमें यज्ञकी और कलियुगमें दान-धर्मकी प्रधानता होती है। इसी प्रकार कलियुगमें स्वल्पानुष्ठानसे ही विशेष धर्मकी प्राप्ति कही गयी है। (देखिये ३९वें वर्षके विशेषाङ्कमें हमारा—'और युगन ते कमलनयन कलिजुग अधिक कृपा करी' शीर्षक लेख) यथा—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन यत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत् कलौ॥

(बृहत्पा० स्मृ०, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराणादि)

युगानुरूप तीर्थ

कलियुगमें गङ्गाकी विशेष महिमा कही गयी है। यथा—

पुष्करं तु कृते सेव्यं त्रेतायां नैमिषं तथा।
द्वापरे तु कुरुक्षेत्रं कलौ गङ्गां समाश्रयेत्॥

(स्मृतिचन्द्रिका पृ० २८ पर विष्णुधर्मोत्तरका वचन)

योनियोंके अनुरूप धर्म

वामनपुराणके ११वें अध्यायमें ऋषियोंने सुकेशसे धर्मका तत्त्व कहा है। तदनुसार यज्ञ और स्वाध्याय देवताओंके धर्म हैं। दैत्योंका धर्म युद्ध, शिवभक्ति तथा विष्णुभक्ति है। ब्रह्मविज्ञान, योगसिद्धि आदि सिद्धोंके धर्म हैं। नृत्य, गीत, सूर्यभक्ति—ये गन्धर्वोंके धर्म हैं। ब्रह्मचर्य, योगाभ्यासादि पितरोंके धर्म हैं। जप, तप, ज्ञान, ध्यान और ब्रह्मचर्य ऋषियोंके धर्म हैं। इसी प्रकार दान, यज्ञ, दया, अहिंसा, शौच, स्वाध्याय, भक्ति आदि मानव-धर्म हैं—

स्वाध्यायो ब्रह्मचर्यं च दानं यजनमेव च।
अकार्पण्यमनायासो दया हिंसाक्षमादयः॥
जितेन्द्रियत्वं शौचं च माङ्गल्यं भक्तिरच्युते।
शंकरे भास्करे देव्यां धर्मोऽयं मानवः स्मृतः॥*

(वामनपुराण ११। २३—२४)

इसी प्रकार वहाँ गुह्यक, राक्षस, पिशाचादिके भी धर्म बतलाये गये हैं।† पुनः मानवधर्मको विस्तारसे बतलाया गया है और अधर्मसे होनेवाले नरकोंको भी बतलाया गया है। (अ० १२)‡

धर्म-सर्वस्व-सार

महाभारतादि अनेक स्थलोंमें धर्म-सर्वस्व-सार इस प्रकार बतलाया गया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

(यह श्लोक श्रीविष्णुधर्म० ३। २५३। ४४, पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड १९। ३५५-६ पूनासं०, महाभारत, शान्तिपर्व २५९, अनुशासनपर्व ११३। ८ तथा पञ्चतन्त्र ३। १८२ आदि अनेकानेक स्थलोंपर बहुत-से दूसरे ऐसे ही श्लोकोंके साथ प्राप्त होता है।)

अर्थात् धर्मका सार सुनिये और सुनकर उसे हृदयमें धारण भी कर लीजिये। वह है यह कि अपने आपको जो बुरा लगे, उसे दूसरेके लिये भी न करें। (जो अपनेको भला लगे, उसे ही करें।)

---

* मनु० ६। ९१ के धर्म-प्रकरणानुसार तथा अग्नि, वायुपुराण, नारदपरि० उप०, याज्ञवल्क्य-स्मृति आदिके अनुसार मानव नहीं संन्यासीका धर्म दीखता है।

† भट्टिकाव्य १ में भी राम-मारीचादि संवादमें विभिन्न योनियोंके धर्मकी कुछ चर्चा है।

‡ इसी प्रकार वर्णधर्म, आश्रमधर्म, स्त्रीधर्म आदिपर वहाँ बहुत-सी बातें हैं, जो अन्य निबन्धोंमें मिल सकेंगी।

आतिथ्य-धर्मके आदर्श

(१)

महर्षि मुद्गल

एक बात स्पष्ट समझ लेने योग्य है कि अधिकांश ऋषि-मुनि गृहस्थ ब्राह्मण थे। वे वीतराग, तपस्वी तथा भजन-निष्ठ होनेके कारण प्रायः जनपद-से दूर झोपड़ियोंमें रहते थे। अध्ययन-अध्यापन करते थे।

महर्षि मुद्गलने शिलोञ्छ-वृत्ति अपना रक्खी थी। कृषक जब खेतसे अन्न काटकर ले जा चुके तो जो अन्न खेतमें गिरा रह गया, उसे 'शिल' कहते हैं और अन्नके बाजारमें दूकानें बंद हो जानेपर जो कुछ दाने गिरे-पड़े रह गये, उन्हें 'उञ्छ' कहते हैं। मुद्गलजी तथा उनके परिवारके लोग समयके अनुसार ये 'शिल, अथवा उञ्छ'के दाने चुन लाते थे और इसीसे उनकी आजीविका चलती थी। इसमें भी उन्होंने नियम कर रक्खा था कि ३४ सेरसे अधिक अन्न कभी नहीं रक्खेंगे।

विषयी पुरुष भोगप्रिय होते हैं। ऋषि एवं ऋषि-परिवार तो तपस्वी था। जीवनका एक-एक क्षण मूल्यवान् है, उसे भगवान्के स्मरण-भजनमें लगना चाहिये। अतः भोजन तो महर्षि मुद्गलके परिवारमें केवल अमावस्या और पूर्णिमाको होता था। उस समय भी चूल्हा-चौकाकी खटपटमें समय व्यर्थ न जाय, इसके लिये एकत्र अन्नका सत्तू भून-पीसकर रख लिया जाता था। अमा या पूर्णिमाको सत्तू खा लिया और भजनमें लगे रहे। शरीर-धारणके लिये इतना आहार पर्याप्त था।

'भगवन्! इस कंगालका आतिथ्य ग्रहण करके इसे कृतार्थ करें!' एक अमावस्याको महर्षि दुर्वासा मुद्गलजीकी झोपड़ीपर पधारे तो मुद्गलने उनके चरण धोये, आसन दिया, पूजा की और आहार-ग्रहणकी प्रार्थना की।



'मैं क्षुधापीड़ित ही आया हूँ!' दुर्वासाने प्रार्थना स्वीकार कर ली। इतना शुद्ध सात्त्विक आहार, इतने स्नेह-श्रद्धासे प्राप्त हो तो क्षुधा तो नित्य-तृप्त सर्वलोकमहेश्वर तकको लग आती है। दुर्वासा-जी भोजन करने बैठे और जितना सत्तू था, सब साफ कर गये। सुप्रसन्न विदा हुए। मुद्गलजीको तो भजनकी भूख थी, अब अन्न एकत्र करनेके लिये खटपट कौन करता? भोजन टाल दिया गया अगले पर्वके लिये और सब लोग भजनमें लग गये। लेकिन दुर्वासाजीको यह सत्तू इतना स्वादिष्ट लगा कि वे अगले पर्वपर भी आ पहुँचे। इस प्रकार वे ६ पर्व—अमावस्या एवं पूर्णिमाके आते रहे। महर्षि मुद्गल उनका उसी उत्साह तथा श्रद्धासे आतिथ्य करते रहे। पूरे तीन महीने उनके परिवारने अनाहार किया।

'महाभाग! आप विमानमें बैठें। स्वर्ग आप-को पाकर अपनेको धन्य मानेंगे।' देवदूत विमान

लेकर मुद्गलजीको सशरीर स्वर्ग ले जानेके लिये आये; किंतु धन्य ऋषिका विवेक एवं त्याग। उन्होंने देवदूतोंसे स्वर्गका विवरण विस्तारपूर्वक पूछा और अन्तमें कह दिया—'मैं नहीं जाता वहाँ। वहाँ भी अतृप्ति, असंतोष, अपनेसे अधिक भोग एवं पद-प्राप्तके प्रति ईर्ष्या, असूयादि हैं तो वहाँ जानेसे लाभ? वहाँ तो दुःख, अभाव साथ ही लगे हैं।'

ऐसे त्यागीको तो परमपद प्राप्त होना ही था।

—सु०

(२)

महाराज मयूरध्वज

महाभारतका महायुद्ध समाप्त हो चुका था। सम्राट् युधिष्ठिरने अश्वमेध-यज्ञ करनेके लिये अश्व छोड़ा था। उसी समय रत्नपुरके नरेश परम धार्मिक एवं भगवद्भक्त राजा मयूरध्वजने भी अश्वमेध-यज्ञ प्रारम्भ किया था और उस यज्ञका अश्व भी छूटा था। उस अश्वकी रक्षा राजकुमार ताम्रध्वज कर रहे थे। युधिष्ठिरके यज्ञीय अश्वकी रक्षा करते हुए अर्जुन मणिपुर पहुँचे तो रत्नपुरका यज्ञीय अश्व भी वहाँ पहुँचा। फलस्वरूप दोनों दलोंमें युद्ध छिड़ गया।

अर्जुन समझते थे कि 'मुझ-सा वीर कोई नहीं है और मेरी भक्ति इतनी प्रबल है कि श्रीकृष्ण उसके वशमें हैं। मेरे-जैसा भक्त भला कौन होगा।'

भगवान् तो गर्वहारी हैं। अपने भक्तोंके चित्तमें वे गर्व रहने नहीं देते। मणिपुरके इस युद्धमें गाण्डीवधन्वा अर्जुन पराजित हो गये। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों युद्धमें मूर्छित हो गये। राजकुमार ताम्रध्वज दोनों अश्वोंको पिताके समीप ले गये। मन्त्रीने बड़े उत्साहसे इस विजयका समाचार दिया।

'तू मेरा पुत्र नहीं, शत्रु है!' प्रसन्न होनेके स्थानपर मयूरध्वज अत्यन्त क्षुब्ध तथा दुखी हुए। 'साक्षात् भवभयहारी श्रीहरिके दर्शन प्राप्त करके भी तू उनकी सेवामें नहीं गया और घोड़ा ले आया। उन भक्तवत्सलके अनुग्रहभाजन युधिष्ठिरके यज्ञमें तूने बाधा दी। तू इतना भी नहीं समझता कि यज्ञ पूर्ण कर लेना मेरा उद्देश्य नहीं है। मैं तो इन यज्ञोंके द्वारा उन्हींकी पूजा करता हूँ। उनकी प्रसन्नता ही मुझे इष्ट है।'

उधर युद्धभूमिमें मूर्छा टूटनेपर अर्जुन बहुत दुखी हुए। अश्वके बिना धर्मराजका यज्ञ अपूर्ण रहेगा, यह चिन्ता उनको व्याकुल किये थी। उनके बलका गर्व तो नष्ट हो चुका था; किंतु भक्तिका गर्व अभी नष्ट होना शेष था। श्रीकृष्णने उन्हें आश्वासन दिया। स्वयं ब्राह्मणका वेश बनाया और धनञ्जयको शिष्य बनाकर साथ लिया। एक माया-सिंह भी साथ ले लिया और रत्नपुर पहुँचे।

'स्वस्ति राजन्!' पहुँचते ही आशीर्वाद दिया मयूरध्वजको।

'भगवन्! यह आप अनुचित आचरण क्यों करते हैं! ब्राह्मणको प्रणाम करनेपर ही आशीर्वाद देना चाहिये। मैं तो आपका सेवक हूँ। आज्ञा करें।' मयूरध्वजने श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके निवेदन किया।

'राजन्! हम आपके अतिथि हैं और बड़ी महत्त्वाकांक्षा लेकर आये हैं!' ब्राह्मणवेशधारी श्रीकृष्णने कहा। 'इधर मैं अपने पुत्रके साथ आ रहा था। यह भूखा सिंह उसे खा ही लेता; किंतु मेरे बहुत अनुनय करनेपर यह मान गया कि यदि आपकी पत्नी तथा पुत्र आपके शरीरको आरेसे चीरकर देहका दाहिना भाग दें तो उसे खाकर यह तृप्त हो लेगा।'

'मेरा परम सौभाग्य कि नाशवान् देह ब्राह्मणके काम आ सकेगा!' मयूरध्वजने तुरंत स्वीकार कर लिया।

'मैं महाराजकी अर्धाङ्गिनी हूँ!' रानीने कहा। 'सिंह! मुझे खा ले तो नरेशका आधा अङ्ग उसे मिला माना जायगा।'

'देवि! आप सत्य कहती हैं; किंतु' ब्राह्मणने आपत्ति प्रकट की। 'रानी पुरुषका वामाङ्ग है और सिंहको नरेशका दक्षिणाङ्ग चाहिये।'

'पुत्र पिताका ही स्वरूप होता है। मैं महाराज-का स्वरूप हूँ और दक्षिणाङ्ग भी।' राजकुमारने कहा। 'सिंह मेरा भक्षण करे। महाराज जीवित रहें।'

'भद्र ! तुमने सुना है कि तुम और तुम्हारी माता आरेसे चीरें तो वह अङ्गार्ध सिंहका भोज्य होगा।' ब्राह्मणने कहा। 'तुम पिताके प्रतीक हो; किंतु अपना अङ्ग तुम स्वयं चीर तो नहीं सकते।'

राजाके मन्त्रियों, सभासदों आदिने बहुत आपत्ति की; किंतु नरेशने उन्हें यह कहकर चुप रहनेपर विवश कर दिया कि—'जो मेरे हितैषी हैं, जो मेरा कल्याण चाहते हैं, उन्हें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।'



आरा लगाया गया। 'माधव, गोविन्द, मुकुन्द' कहते महाराज मयूरध्वज आरेके नीचे शान्त, स्थिर बैठ गये। उन्होंने मुकुट उतार दिया था। रानी तथा राजकुमारने आरा पकड़ा। राजा मयूरध्वजका मस्तक चिरने लगा। रक्तकी धारा चल पड़ी। साथ ही उनके वाम-नेत्रसे दो विन्दु अश्रु ढुलक पड़े।

'मैं दुःखपूर्वक दिया गया दान स्वीकार नहीं करता !' ब्राह्मण रुष्ट हुए।

'भगवन् ! मेरे वाम नेत्रसे अश्रु आये हैं।' मयूरध्वजने कहा। 'इस वाम भागको यह दुःख है कि वह अभागा रह गया। शरीरका दक्षिण भाग आपकी सेवामें लगकर सार्थक हो रहा है और वाम भाग उससे वञ्चित रह जाता है।'

'तुम धन्य हो !' सहसा शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी नवजलधर सुन्दर श्रीकृष्णका रूप प्रकट हो गया। आरा उठाकर उन्होंने फेंक दिया। उनका कर-स्पर्श होते ही मयूरध्वजका शरीर स्वस्थ हो गया। अर्जुन अपने वेशमें दीखने लगे और सिंह अदृश्य हो गया। भगवान्‌ने वरदान माँगनेको कहा।

'आपके चरणोंमें मेरी अविचल भक्ति हो।' मयूरध्वज प्रभुके चरणोंपरसे उठते हुए बोले। 'एक प्रार्थना है और दयासागर ! आप भक्तोंकी इतनी कठिन परीक्षा फिर न लें।'

'एवमस्तु !' श्रीकृष्णसे दूसरा कुछ सुननेकी सम्भावना ही कैसे की जा सकती है ?

'मेरे अपराध क्षमा करें देव !' पार्थ चरण पकड़ने झुके तो राजाने उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया। अर्जुनका गर्व नष्ट हो चुका था।

'आप अपना यज्ञिय अश्व ले जायँ।' मयूरध्वज-ने स्वतः कहा। 'धर्मराजसे इस राजकुमारकी धृष्टताके लिये क्षमा चाहता हूँ मैं। सम्राट्-पदके वही अधिकारी हैं। उन श्रीकृष्णके जनका अनुगत होनेमें मेरा गौरव ही है।'

सत्कृत होकर अपने नित्य सारथिके साथ धनञ्जय अश्व लेकर रत्नपुरसे विदा हुए। —सु०

(३)

श्रीकृष्णका अतुलनीय अतिथि-सत्कार

महर्षि दुर्वासा एक बार यह कहते घूम रहे थे—'मुझे निवासके लिये स्थान चाहिये। मुझे कोई अपने यहाँ ठहरायेगा ? किंतु तनिकसे भी अपराधपर मुझे क्रोध आता है, यह बात पहले सोच-समझ लेनी चाहिये !'

बड़ी-बड़ी जटाएँ, हाथमें बिल्वदण्ड और चीरवसनधारी क्षीणकाय, प्रसिद्ध तपस्वी होनेके

साथ सुप्रसिद्ध क्रोधी महर्षि दुर्वासाको कौन अपने यहाँ ठहराये? किसे अकारण विपत्ति बुलानेकी धुन चढ़ी है? तीनों लोकोंमें किसीने दुर्वासाजीको अपने यहाँ रखनेकी इच्छा नहीं की। घूमते हुए महर्षि द्वारका पहुँचे। जो त्रिलोकीके परमाश्रय हैं, पापी-पुण्यात्मा, क्षमाशील-क्रोधी सब जिनके चरणोंमें आश्रय पाते हैं, उनके द्वारसे एक आश्रय ढूँढ़ता ऋषि निराश लौट जाय, यह कैसे सम्भव था? श्रीकृष्णने दुर्वासाजीको आदरपूर्वक बुलाया और अपने निज सदनमें निवास दिया।

दुर्वासाजीका ढंग संसारसे पृथक् था। वे कभी कई सहस्र मनुष्योंका भोजन अकेले खा लेते और कभी छोटे शिशु जितना खाते। कभी घरसे निकल जाते तो लौटते ही नहीं, अथवा रात्रिमें आकर भोजन माँगते। लेकिन विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति, संहार जिनकी सामान्य क्रीड़ा है, वे योगमाया जिनकी सेवामें करबद्ध उपस्थित रहती हैं, उनके लिये दुर्वासाजी कोई असुविधा कैसे उत्पन्न कर सकते थे? ऐसी क्या व्यवस्था है जो इच्छा होते ही उपस्थित न मिले।

एक दिन महर्षिने अपने ठहरनेके स्थानपर सब सामग्रियोंमें आग लगा दी। वहाँ जो कुछ प्राणी-पदार्थ थे, सब जलकर भस्म हो गये और वे दौड़े-दौड़े आकर बोले—'वासुदेव! मैं अभी खीर खाना चाहता हूँ।'

'आप आसन ग्रहण करें!' श्रीकृष्णचन्द्र सहसा उठ खड़े हुए। उन्होंने आदरपूर्वक दुर्वासाजीके चरण धोये। उन्हें आसन दिया। महारानी रुक्मिणीने स्वर्णपात्रमें खीर परोस दी।

'अब इस जूठी खीरको तुरंत अपने अङ्गोंपर पोत लो।' दुर्वासाजीने ढेर-सी खीर जूठी छोड़ दी और आज्ञा दी।

'जैसी आज्ञा!' श्रीकृष्णने खीर पूरे शरीरमें लगा ली। रुक्मिणीजी खड़ी-खड़ी देख रही थीं। दुर्वासाने आज्ञा देकर उनके शरीरमें भी खीर पुतवा दी।

सारे शरीरमें खीर लिपटी हुई थी ऐसी रुक्मिणीसे कहा—'तुम रथमें जुतो; मैं उसपर बैठूँगा।' महर्षिने आज्ञा दी। रुक्मिणीको मुनिने रथमें जोत दिया। उसी रथपर वे बैठे और चाबुक फटकारने लगे। राजसदनसे बाहर खुले राजपथपर महारानी रथमें जुती रथ खींच रही थीं। यादवोंको बड़ा क्लेश हुआ; किंतु कोई बोलनेका साहस कैसे करे?

रुक्मिणीजी जब अत्यन्त श्रमित होकर बार-बार लड़खड़ाने लगीं तब सहसा दुर्वासा रथसे कूद पड़े और दक्षिण दिशाकी ओर पैदल भागने लगे। श्रीकृष्ण भी बिना रास्तेके दौड़ते हुए दुर्वासाजीके पीछे-पीछे उसी तरह सारे शरीरमें खीर लिपटे हुए ही दौड़ने लगे और बोले—'भगवन्! प्रसन्न होइये!' तब दुर्वासा खड़े हो गये और बोले—'महाबाहो वासुदेव! तुमने क्रोधको जीत लिया है। तुम सम्पूर्ण विश्वको प्रिय होगे। तुमने पूरे शरीरमें खीर लगायी, अतः तुम्हारा शरीर समस्त अस्त्र-शस्त्रोंसे अभेद्य रहेगा; किंतु तुमने पैरके तलवेमें खीर क्यों नहीं लगायी? ये तुम्हारे पादतल निर्भय नहीं बन सके।'

'कल्याणी! तुमको रोग तथा जरा स्पर्श नहीं करेगी। तुम्हारी अङ्गकान्ति कभी म्लान नहीं होगी। तुम्हारा यश त्रिभुवनको पवित्र करेगा।' महर्षिने रुक्मिणीजीको आशीर्वाद दिया और वहीं अदृश्य हो गये। —सु०

(४)

दुर्गादास

बादशाह औरंगजेबने जोधपुर-राज्यको हस्तगत करनेकी बहुत चेष्टा की; किंतु वह अपने प्रयत्नोंमें सफल नहीं हुआ। महाराज जसवन्तसिंहके उपकार वह भूल चुका था। किसीके उपकार और सम्बन्ध स्मरण रखना उसके स्वभावमें ही नहीं था। राजनीतिमें वह निष्ठुर था और अपने धर्ममें अत्यन्त संकीर्ण—दुराग्रही। किंतु जसवन्तसिंहके बालक पुत्र अजीतसिंहका स्वत्व-रक्षक बनकर जो राठौर वीर दुर्गादास जोधपुरमें तलवार

निकाल चुका था, उससे बादशाहकी चल नहीं पाती थी ।

बादशाहने अपने पुत्रको सेनाके साथ दुर्गादासका दमन करने भेजा । वह लगभग घिर चुका था; किंतु उसने जब मित्रताकी प्रार्थना की, दुर्गादासने उसे अस्वीकार नहीं किया । यह समाचार बादशाहको मिला तो उसने पुत्रके विरुद्ध सेना भेज दी । पितासे शत्रुता करना भी पुत्रको अच्छा नहीं लगा । वह ईरान चला गया । शाही सेनाको दुर्गादासके हाथों पराजय प्राप्त हुई ।

शाहजादा ईरान जाते समय अपने पुत्र बुलन्द-अख्तर तथा पुत्री सफायतुन्निशाको जोधपुर ही छोड़ गया था । यात्रामें बच्चोंको लेकर वह कहाँ भटकता । बादशाहको यह समाचार भी मिला । शाही सेना हारकर लौट चुकी थी । बादशाहने अपना प्रतिनिधि बनाकर ईश्वरदास नागरको जोधपुर भेजा ।

दुर्गादासने अपना मन्तव्य स्पष्ट किया—'शाही बच्चोंको मैं स्वयं सुरक्षित दिल्ली पहुँचा दूँगा; किंतु बादशाहको अजीतसिंहको जोधपुर-नरेश स्वीकार करना चाहिये ।'

बादशाहके पास दूसरा उपाय नहीं रहा था । उन्होंने शर्त स्वीकार कर ली । दुर्गादास जितने वीर थे, उतने ही नीति-कुशल थे । औरंगजेब-की बात विश्वास करने योग्य नहीं है, यह वे जानते थे । वे अकेली पुत्रीको लेकर दिल्ली गये; किंतु पुत्रको उन्होंने जोधपुर रहने दिया । बादशाहके लिये यह चेतावनी थी कि 'यदि तुमने धोखा किया तो तुम्हारा पौत्र हमारे सरदारोंके हाथमें है ।'

उस समय औरंगजेब दिल्लीसे दूर ब्रह्मपुरी-में था । पौत्रीने पहुँचकर उसके कदमोंमें सिर झुकाया तो प्यारसे उसे पास बैठाकर वह बोला-'बेटी ! तुम सोलह वर्षकी हो गयी । अबतक तुम्हें अपने मजहबका पता नहीं है । काफिरोंके साथ तुम्हें रहना पड़ा । अब कुरान पढ़नेमें मन लगाओ ।'

पौत्रीने कहा—'बाबाजान, मैंने तो कुरान पढ़ा है । चाचा दुर्गादासजीने मुझे पढ़ानेके लिये एक मुसलमान औरत लगा दी थी । आप पूछ देखिये, मुझे कुरानकी पूरी आयतें याद हैं ।'

'ओह ! हिंदुओंकी बहुत-सी बातें ऐसी हैं कि उनमें उनका मुकाबला शायद फरिश्ते ही कर सकें ।' बादशाह पौत्रीकी बात सुनकर प्रसन्न हो गया ।

'यह हमारा कर्तव्य था जहाँपनाह !' यह कहते हुए उसी समय दुर्गादासने आकर प्रणाम किया । वे कह रहे थे—'हमारा किसी धर्मसे द्वेष नहीं । अपने स्वामीकी रक्षाके लिये हम तलवार उठाते हैं, किंतु दिल्लीके अन्यायी बादशाहसे हमारी दुश्मनी है, किसी धर्मसे अथवा आपके बच्चोंसे नहीं है ।'

बादशाह बोला—'दुर्गादास ! तुम फरिश्ते हो ।' उसने राठौड़ शूरमाको सम्मानपूर्वक बैठाया । अजीतसिंहको जोधपुर-महाराज माननेका फरमान लिख दिया । —सु०

(५)

आतिथ्यरूप धर्मका फल

प्रतिष्ठानपुरके राजा सातवाहन आखेटके लिये वनमें जाकर अपने सैनिकोंसे पृथक् होकर मार्ग भूल गये । वनमें भटकते समय उन्हें एक भीलकी झोपड़ी दीखी । भूखे-प्यासे राजा उस झोपड़ीपर पहुँचे । वनवासी भील राजाको क्या पहिचाने; किंतु उसने अतिथिका स्वागत किया । दूसरा कुछ तो उसके पास था नहीं, उसने जल तथा सत्तू दिया । वह सत्तू खाकर राजाने भूख मिटायी ।

भीलकी झोपड़ी छोटी थी । शीतकालकी रात्रि थी । संयोगवश वर्षा भी प्रारम्भ हो गयी । भील-ने अतिथिको झोपड़ीमें सुलाया और स्वयं बाहर वर्षामें भीगता रहा । उसे सर्दी लगी और वह रात्रिमें ही मर गया ।

प्रातःकाल सैनिक अपने नरेशको ढूँढ़ते पहुँच गये । बड़े सम्मानसे भीलकी अन्तिम क्रिया राजाने करायी । भीलकी पत्नीका पता लगाकर उसे बहुत धन दिया । यह सब करके राजा नगर लौट तो आये;

किंतु चित्तको शान्ति नहीं मिली। उनको यह चिन्ता रात-दिन सताने लगी—'मेरे कारण उस भीलकी मृत्यु हुई।'



राजाको चिन्तासे दुर्बल होते देखकर महापण्डित ज्योतिर्विद् वररुचि उनको लेकर नगरसेठके घर गये। नगरसेठका नवजात पुत्र राजाके सामने लाया गया तो पण्डितजीके आदेशपर बोल उठा—'राजन्! मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँ। आपको सत्तू देनेके कारण मैं यहाँ नगरसेठका पुत्र बना और उसी पुण्यके प्रभावसे मुझे पूर्वजन्मका स्मरण है।' —सु०

(६)

महाराणा प्रताप और उनकी कन्या

हिंदूकुल-सूर्य महाराणा प्रतापने चित्तौड़का त्याग कर दिया था और महारानी, नन्हे राजकुमार तथा राजकुमारीके साथ अरावलीके वनमें शरण ली थी। अकबरकी शक्तिशाली सेना पीछे पड़ी थी। गुफामें, नालोंमें, वनमें—कभी कहीं और कभी कहीं रात्रि व्यतीत करनी पड़ती थी। वनमें न कन्द थे और न फल। खाये जा सकें, ऐसे पत्ते भी नहीं मिलते थे। घासके बीज पत्थरोंपर पीसकर रोटी सेंकती थीं स्वयं महारानी और वह भी कई-कई दिनपर मिलती थी। पूरा परिवार सूखकर कंकाल हो गया था।

इन्हीं विपत्तिके दिनोंकी बात है। कई दिनोंतक लगातार उपवासके पश्चात् घासके थोड़े बीज एकत्र हुए। उन्हें पीसकर एक रोटी बनायी जा सकी। महाराणा और महारानीको उपवास करना ही था। दोनों बच्चोंको आधी-आधी रोटी दी गयी। राजकुमार बहुत अबोध था। उसने अपनी आधी रोटी उस समय खा ली। राजकुमारी भी बच्ची ही थी; किंतु परिस्थिति समझती थी। उसने अपने भागकी रोटी पत्थरके नीचे दबाकर रख दी। छोटे भाईको फिर भूख लगे तो उसे देना आवश्यक था।

वहाँ वनमें भी एक अतिथि महाराणाके पास आ गये। राणाने उन्हें पत्ते बिछाकर शिलापर आसन दिया। पैर धोनेको जल दिया। अब वे इधर-उधर देखने लगे। मेवाड़के स्वामीके पास आज अतिथिको जल पीनेके लिये देनेको ज्वारके दो दाने भी नहीं थे। लेकिन उनकी पुत्रीने पिताका भाव समझ लिया। वह अपने भागका रोटीका वह आधा टुकड़ा पत्तेपर रखकर लायी और अतिथिके सामने रखकर बोली—'हमारे पास आपका सत्कार करने योग्य आज कुछ नहीं है। आप इसीको स्वीकार करें।'

अतिथिने वह रोटी खायी, जल पीया, विदा हो गये। उनके जानेके थोड़ी ही देर पीछे वह बालिका मूर्छित होकर गिर पड़ी। निरन्तर उपवाससे वह दुर्बल हो चुकी थी। वह उसकी अन्तिम मूर्छा थी। वह आधी रोटी उसका जीवन थी, जिसे उसने छोटे भाईको देना चाहा था और अतिथिको अर्पित किया। उसके भ्रातृ-प्रेम एवं आतिथ्य-धर्मको धन्य है। —सु०

(७)

आतिथ्यधर्मी कपोत

गोदावरी-उद्गमके समीप एक व्याध आखेटके लिये ब्रह्मगिरिके वनोंमें गया था। दिनभरमें उसने

बहुत-से पशु-पक्षी मारे। अनेक पक्षियोंको जीवित पकड़कर पिंजड़ेमें उसने बंद किया। आखेटके लोभमें उसे वनमें ही देर हो गयी। संध्या हो चुकी थी; आकाशमें घटा घिर आयी। इतना अन्धकार हो गया कि वनसे निकल जाना सम्भव नहीं रहा। बड़े वेगसे वर्षा होने लगी, ओले पड़ने लगे; वायुका वेग तीव्र हो गया। व्याध शीतसे काँपने लगा। उसके वस्त्र भींग गये थे। सर्दीसे ठिठुरता वह एक घने वृक्षके नीचे पहुँचा। वहीं उसने रात्रि-विश्राम करना निश्चित किया।

उस वृक्षपर एक कपोत-कपोतीका नीड़ था। कपोती उस दिन चारा चुगने गयी और शामको लौटी नहीं थी। कपोत वर्षा, ओले आदिके कारण उसे ढूँढ़ने नहीं जा सका था। अब अन्धकार होनेपर वह उसके लिये बहुत चिन्तित था। कपोती लौटती कहाँसे; वह व्याधके जालमें पड़ गयी थी और अब उसके पिंजड़ेमें बंद थी।

वृक्षके नीचे पहुँचकर व्याधने जाल और पिंजड़ा रख दिया था। पिंजड़ेमें बंद कपोतीने वृक्षपर नीड़में बैठे अपने लिये कपोतको रोते सुना। वह बोली—'आप मुझसे इतना प्रेम करते हैं, यह जानकर मैं बहुत प्रसन्न हो रही हूँ; किंतु धर्मज्ञ! आप मेरी एक प्रार्थना सुनें। यह व्याध आज अचानक हमारा अतिथि हो गया है। सर्दीसे यह कष्ट पा रहा है। आप कहींसे तृण तथा अग्नि लाकर इसका कष्ट दूर करें।'

कपोतने कपोतीकी बात सुनी। अपनी प्रियाको पिंजड़ेमें पड़ी देखकर उसे दुःख तो बहुत हुआ; किंतु वह धैर्य धारण करके उड़ा। उसने एक-एक करके तिनके लाकर वहाँ गिराये। अपना घोंसला भी उसने गिरा दिया। फिर उड़कर दूर गया और लुहारोंके यहाँ जलती अग्निमेंसे एक जलती पतली टहनी उठा लाया। उसे उसने तिनकोंमें डाल दिया। अग्नि प्रज्वलित हो गयी। व्याधने हाथ-पैर सेंके और अपने कपड़े सुखाये। उसका जाड़ेका कष्ट दूर हुआ।

कपोती बोली—'व्याध! तुम मुझे अग्निमें भूनकर अपनी क्षुधा मिटा लो।'

यह सुनकर कपोतने कहा—'ऐसा करना उचित नहीं है। तुम तो अब इस व्याधका आहार बन चुकी हो। घर आया अतिथि अपना उपार्जित आहार करे, यह हमारे लिये धर्मकी बात नहीं होगी। इसके आहारकी व्यवस्था मैं करता हूँ।'

यह कहकर कपोत उड़ा। उसने तीन बार अग्निकी परिक्रमा की और उसमें कूद पड़ा। कबूतर-को ऐसा करते देखकर व्याधको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह अपनेको धिक्कारने लगा। उसने धनुष, जाल आदि फेंक दिये तथा पिंजड़ा खोलकर सब पक्षियोंको स्वतन्त्र कर दिया। उसके मनमें वैराग्य हो गया।

कपोती स्वतन्त्र हो गयी; किंतु उसने सोचा—'पतिके बिना मेरा जीवन व्यर्थ है।' वह भी उसी अग्निमें गिर गयी।

अतिथि-सत्कारके इस महान् पुण्यसे कपोत-कपोती दोनों मरकर भगवान्‌के धामको गये। ऐसे धर्मात्मा पक्षियोंके सङ्गसे व्याधकी भी हिंसावृत्ति मिट गयी थी। तप करके वह शुद्ध हो गया और मृत्यु होनेपर वह भी स्वर्गको गया। —सु०

धन्य कपोत-कपोती दंपति।
रही अतिथि-सेवाहित जिन कैं पावन त्याग-सुरूपा संपति॥
देख दुखित हिम पीड़ित ब्याधा पिंजरे परी कपोती सन्मति।
बोली—'नेकु न करौ दुःख तुम मोहूँ बद्ध देख—मेरे पति!॥
परी पींजरे पूर्व कर्मबस, ब्याधा बन्यौ निमित्त मूढ़मति।
सीत-छुधा तें ब्यथित अतिथि यह परयौ आय दर पै दैवी गति'॥
करौ अतिथि-सेवा याकी अब लखि या में पूरन अग-जग-पति।'
सुनत कपोत चौंच भरि ल्यायौ अगिनि लुहार भवन तें द्रुतगति॥
पालव राखि जराई अगिनी ताप तें भई सीतकी निर्वृति।
बिहँग महात्मा लखि ब्याधा कौं छुधा व्यथित पुनि भयो दुखित अति
परयौ तुरंत अगिनिमें जलभुन बनन अहार ब्याध कौ सुक्रिति।
ब्याध दुखी हो खोल्यौ पिंजरो, उड़ी कपोती पतिप्राना सति॥
परी तुरंत अगिनि, पति सँग भइ भसम, मिली सुरदुर्लभ सद्गति।
आयौ देव-बिमान सुसज्जित, चढ़े दिब्य धर देह पक्षि-पति॥

दया-धर्मका स्वरूप

परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्ये रिपौ तथा।
आपन्ने रक्षितव्यं हि दयैषा परिकीर्तिता ॥
(अत्रिस्मृति ४१)

दूसरोंमें हो, बन्धु-बान्धवोंमें, मित्रोंमें या द्वेष रखनेवालोंमें अथवा चाहे वैरियोंमें हो—किसीको भी विपत्तिग्रस्त देखकर उसकी रक्षा करना 'दया' कहलाता है।

नहि प्राणैः प्रियतमं लोके किंचन विद्यते।
तस्मात् प्राणिदया कार्या यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥
(महाभारत, अनुशासन० १४५)

संसारमें प्राणोंके समान प्रियतम दूसरी कोई वस्तु नहीं है। अतः समस्त प्राणियोंपर दया करनी चाहिये। जैसे अपने ऊपर दया अभीष्ट होती है, वैसे ही दूसरोंपर भी होनी चाहिये।

अमित्रमपि चेद् दीनं शरणैषिणमागतम्।
व्यसने योऽनुगृह्णाति स वै पुरुषसत्तमः ॥
कृशाय कृतविद्याय वृत्तिक्षीणाय सीदते।
अपहन्यात् क्षुधां यस्तु न तेन पुरुषः समः ॥
(महाभारत, अनुशासन० ५९। १०-११)

शत्रु भी यदि दीन होकर शरण पानेकी इच्छासे घरपर आ जाय तो संकटके समय जो उसपर दया करता है वही मनुष्योंमें श्रेष्ठ है।

विद्वान् होनेपर भी जिसकी महान् आजीविका क्षीण हो गयी है तथा जो दीन, दुर्बल और दुखी है, ऐसे मनुष्यकी जो भूख मिटा देता है, उस पुरुषके समान पुण्यात्मा कोई नहीं है।

दया देखती नहीं जाति, कुल, मनुज, पक्षि, पशु, मित्र, अमित्र।
देश, धर्म, निज, पर, बान्धव, अरि, उच्च, नीच, धनवान, दरिद्र ॥
बुध, जड, बाल, वृद्ध, नारी, नर भेद-भाव विरहित सर्वत्र।
अपना दुःख बना देती पर-दुःख, जगाती भाव पवित्र ॥
लग जाता फिर मानव उस निज-दुःख मिटानेमें तत्काल।
करता पूर्ण प्रयत्न, शक्तिभर, स्वाभाविक, न बजाता गाल ॥
रहता निरभिमान वह, प्रभुकी इसे मानता कृपा विशाल।
अपना दुःख मिटाकर, अपने ही हो जाता परम निहाल ॥

ममता ही मृत्यु है

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्। ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥
लब्ध्वा हि पृथ्वीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम्। ममत्वं यस्य नैव स्यात् किं तया स करिष्यति ॥
अथवा वसतः पार्थ वने वन्येन जीवतः। ममता यस्य द्रव्येषु मृत्योरास्ये स वर्तते ॥
(महाभारत आश्व० १३। ३, ६-७)

'मम' (मेरा)—ये दो अक्षर ही मृत्युरूप हैं और 'न मम' (मेरा न)—इन तीन अक्षरोंका पद सनातन ब्रह्मकी प्राप्तिका कारण है। 'ममता' मृत्यु है और 'ममता न होना' सनातन अमृतत्व है।

चराचर प्राणियोंसहित ,सारी पृथ्वीको पाकर भी जिसकी उसमें ममता नहीं होती, वह उसको लेकर क्या करेगा! (उसका उस सम्पत्तिसे कोई अनिष्ट नहीं हो सकता) किंतु हे कुन्तीनन्दन! जो वनमें रहकर जंगली फल-मूलोंसे ही जीवन निर्वाह करता है; पर यदि उसकी भी द्रव्योंमें ममता है तो वह मृत्युके मुखमें ही विद्यमान है।

दया-धर्मके आदर्श

(१)

दयामूर्ति परोपकारी राजा*

एक पुण्यात्मा राजाको किसी कारणसे देवदूत नरकके मार्गसे ले जाने लगे तो राजाके शरीरको छूकर आये हुए वायुके स्पर्शसे नरकोंकी भयानक यन्त्रणा भोगते हुए दीन-दुखी आर्त प्राणियोंकी व्यथा दूर होने लगी और उन्होंने पुकार-पुकारकर राजासे ठहर जानेको कहा। तब राजा वहीं ठहर गये और देवदूतोंसे बोले—'भाई ! मेरे शरीरको स्पर्श करनेवाले वायुसे यदि इन प्राणियोंको सुख पहुँचा हो तो मुझे वहीं ले चलो जहाँ ये आर्त प्राणी हैं। संसारमें वे ही सुकृती पुरुष हैं जो परहितके लिये पीड़ित रहते हैं। वे ही संत हैं जो दूसरोंके दुःख दूर करते हैं और दुखी-जनोंके पीड़ा-विनाशके लिये अपने प्राणोंको तृणके समान समझते हैं। ऐसे परहित-निरत संतोंसे ही इस पृथ्वीका धारण हो रहा है, केवल अपने मनका सुख तो नरकके समान है। इस संसारमें आर्त प्राणियोंका दुःख-नाश किये बिना यदि सुखकी प्राप्ति होती हो तो उसकी अपेक्षा मर जाना—नरकमें गिरना अच्छा है। जिसका मन संकटमें पड़े हुए प्राणियोंकी रक्षा करनेमें नहीं लगता—उसके यज्ञ, दान और तप इहलोक तथा परलोकमें भी कल्याणके साधक नहीं होते।'

इसपर देवदूतोंने कहा—'महाराज ! आप बड़े पुण्यात्मा हैं। अभी आपको लेनेके लिये स्वयं धर्मराज और इन्द्र आ रहे हैं, आप इनके साथ चले चलिये।'

धर्मराजने आकर कहा—'राजन् ! अब आप इस विमानपर शीघ्र चलिये।' राजा बोले—'यहाँ नरकमें हजारों प्राणी कष्ट भोग रहे हैं और मुझे लक्ष्य करके आर्तभावसे त्राहि-त्राहि पुकार रहे हैं, इन्हें छोड़कर मैं नहीं जाऊँगा। आप मुझमें यदि बहुत पुण्य मानते हैं तो मेरा जो कुछ पुण्य है, उसके द्वारा ये यातनामें पड़े हुए सब पातकी प्राणी नरकसे छुटकारा पा जायँ—

तस्माद् यत् सुकृतं किंचिन्ममास्ति त्रिदशाधिप।
तेन मुच्यन्तु नरकात् पापिनो यातनां गताः॥

(मार्कण्डेयपुराण १५। ७६)

इन्द्रने कहा—'राजन् ! आपके इस पुण्यदान-रूप उदार कर्मसे आपका पुण्य और बढ़ गया तथा आपने और भी ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया। देखो, ये पापी जीव नरकसे मुक्त हो गये।'

इसी समय राजापर पुष्पवृष्टि होने लगी और स्वयं भगवान् विष्णु उन्हें विमानमें बैठाकर दिव्य-धाममें ले गये—'विमानं चाधिरोप्यैनं स्वलोक-मनयद्धरिः।'

और जितने भी पापी जीव थे, वे सब नरक-यन्त्रणासे छूटकर चले गये।

न दयासदृशो धर्मो न दयासदृशं तपः।
न दयासदृशं दानं न दयासदृशः सखा॥
दुःखितानां हि भूतानां दुःखोद्धर्ता हि यो नरः।
स एव सुकृतिर्लोके ज्ञेयो नारायणांशजः॥
न स्वर्गे नापवर्गेऽपि तत्सुखं लभते नरः।
यदार्तजन्तुनिर्वाणदानोत्थमिति नो मतिः॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ९८। १५,१७,२३)

दयाके समान न धर्म है, न दयाके समान तप है, न दयाके समान दान है और न दयाके समान कोई सखा है। जो मनुष्य दुखी जीवोंका उद्धार करता है, वही संसारमें सुकृती—पुण्यात्मा है, उसको नारायणके अंशसे उत्पन्न समझना चाहिये। हम लोगोंकी ऐसी धारणा है कि मनुष्य आर्त प्राणियोंके दुःख दूर करनेपर वह सुख प्राप्त करता है, जिसके सामने स्वर्ग तथा मोक्षसम्बन्धी सुख भी कुछ नहीं है।

(२)

दया-धर्मकी मूर्ति महामना मालवीयजी

स्वर्गीय महामना पण्डित मदनमोहनजी मालवीय

* पद्मपुराण, पातालखण्ड तथा मार्कण्डेयपुराण—दोनोंमें ही मिलती-जुलती कथा आती है।

बचपनसे ही दयालुताकी मूर्ति थे। एक बार प्रयागमें उनके मुहल्लेके एक कुत्तेके कानके पास घाव हो गया। पीड़ा तथा मक्खियोंके तंग करनेसे कुत्ता इधरसे उधर भागता फिरता था। उसके घावसे दुर्गन्धि आती थी। अतः वह कहीं बैठने जाता तो लोग उसे भगा देते थे।

मालवीयजीकी दृष्टि कुत्तेपर पड़ी। उन्होंने अपना काम छोड़ा और भागे औषधालय गये। वैद्यजीने दवा देकर चेतावनी दी—'मदन! ऐसे कुत्ते प्रायः पागल हो जाते हैं। पास जानेपर काट लेते हैं। तुम यह खतरा मत उठाओ!'



वहाँ ऐसी सम्मतिपर कौन ध्यान देने चला था। मालवीयजीने एक बाँसमें कपड़ा लपेटा, उसमें दवा लगायी और कुत्तेको ढूँढ़ने लगे, कुत्ता एक गलीमें बैठा था। मालवीयजी दवा लगाने लगे तो वह गुर्राया, उसने दाँत दिखाये, काटने-झपटनेका भी ढंग किया; किंतु मालवीयजी भली प्रकार दवा लगाये बिना हटनेवाले नहीं थे। औषध लग जानेपर कुत्तेकी पीड़ा कम हुई। वह शान्त बैठ गया, तब मालवीयजीका चित्त शान्त हुआ। —सु०

(३)

राजा भोजके राजकवि

गरमीके दिन थे, प्रचण्ड सूर्य अग्निवर्षा कर रहा था! पृथ्वी तवेके समान जल रही थी। राजा भोजके राजकवि ऐसी दोपहरीमें किसी आवश्यक कार्यसे पैदल ही निकल पड़े थे। धारा नगरीके राजपथपर घरकी ओर लौटते समय उन्होंने एक दुर्बल व्यक्तिको लड़खड़ाकर चलते देखा। उसके पैरोंमें छाले पड़ चुके थे। नंगे पैर वह चल रहा था। बार-बार दौड़नेका प्रयत्न कर रहा था।

कोमलहृदय कविसे यह देखा नहीं गया। वे उसके समीप गये और अपने पैरोंका जूता उन्होंने उसे दे दिया। राजकविका सुकुमार शरीर, कोमल चरण; किंतु अपने कष्टका उन्हें ध्यान ही नहीं आया।

उधरसे महावत राजाके हाथीको ला रहा था। महाकविको उसने देखा तो हाथीपर चढ़ा लिया। संयोगसे राजा भोज भी रथपर बैठे मार्गमें मिल गये। उन्होंने हँसीमें पूछा—'आपको यह हाथी कैसे मिल गया?' कविने उत्तर दिया—

उपानहं मया दत्तं जीर्णं कर्णविवर्जितम्।
तत्पुण्येन गजारूढो न दत्तं वै हि तद्गतम्॥

'राजन्! मैंने अपना पुराना, फटा जूता दान कर दिया, उस पुण्यसे हाथीपर बैठा हूँ। जो धन दान नहीं किया गया, उसे व्यर्थ समझो।'

राजाने वह हाथी उन्हें दे दिया।

—सु०

(४)

नाग महाशय

श्रीरामकृष्ण परमहंसके अनुगतोंमें श्रीदुर्गाचरण नागका नाम 'नाग महाशय' प्रसिद्ध है। उनका सेवा-भाव अद्भुत था। एक बार उन्होंने एक गरीबको अपनी झोपड़ीमें भूमिपर सोते देखा। अपने घर

जाकर बिछौना उठा लाये और उसपर उसे सुलाया।

एक बार शीतकालमें एक रोगी ठंढसे सिकुड़ा दीख गया। नाग महाशयने अपनी ऊनी चद्दर उसपर डाल दी। स्वयं रातभर उसके पास बैठे उसकी सेवा करते रहे।

कलकत्तेमें प्लेग पड़ा तो निर्धनोंकी झोपड़ियोंमें जाकर उनकी सेवा करनेवाले केवल नाग महाशय थे। एक झोपड़ीमें पहुँचे तो एक मरणासन्न रोगी गङ्गाकिनारे पहुँचानेके लिये रो रहा था। नाग महाशयने अकेले उसे कंधेपर उठाया और गङ्गा-तटपर ले गये। जबतक उसका शरीर छूट नहीं गया, उसे गोदमें लिये बैठे रहे। देह छूट जानेपर उसका संस्कार करके तब लौटे। प्लेग छूतका रोग है; किंतु अपने प्राणोंका मोह नाग महाशयकी सेवामें कभी बाधक नहीं बना।

एक दिन घरपर एक अतिथि आ गये। जाड़ेके दिन थे और जोरोंसे वर्षा हो रही थी। घरमें चार कमरे थे, जिनमें तीन इतने चूते थे कि बैठनेका भी स्थान नहीं था। एक कोठरी सूखी थी। रात्रिमें अतिथिको उसमें शयन करा दिया। स्वयं पत्नीसे बोले—'आज अपने बड़े सौभाग्यका दिन है। भगवान्‌का स्मरण करनेमें आजकी रात्रि व्यतीत की जाय।'

पूरी रात पति-पत्नीने बैठकर भजन करते बिता दी।

नाग महाशयके गाँवमें घरका छप्पर छाया जा रहा था। मजदूर ऊपर काम कर रहे थे। गरमीके दिन थे। दुपहरका समय था। नाग महाशयने मजदूरोंको धूपमें जलते देखा, उनसे रहा नहीं गया। वे छाता लेकर ऊपर पहुँचे और उन मजदूरोंपर छाता तानकर खड़े हो गये। मजदूर बेचारे बड़े



संकोचमें पड़कर बार-बार मना करने लगे, पर वे माने ही नहीं। दया जो उमड़ पड़ी थी!

(५)

अब्राहम लिंकन

श्रीअब्राहम लिंकन उस समय अमेरिकाके प्रेसिडेंट चुने जा चुके थे। वे एक दिन अपनी मोटर स्वयं चलाते हुए राज्य-सभाके अधिवेशनमें सम्मिलित होने जा रहे थे। रास्तेमें एक सूअर एक कीचड़भरे गड्ढेमें फँसा दीखा। वह कीचड़से निकलना चाहता था; किंतु दलदलमें फँसता जा रहा था। लिंकनने गाड़ी रोक दी और कीचड़में उतर गये। सूअरको निकालकर ही वे गाड़ीमें बैठे।

राज्य-सभाकी बैठकका समय हो चुका था। प्रेसिडेंट उन कीचड़से लथपथ वस्त्रोंमें ही पहुँचे। उनकी इस दशाका कारण जानकर जब लोग उनकी प्रशंसा करने लगे तो बोले—'इसमें प्रशंसाकी क्या बात है? कीचड़में फँसे सूअरको देखकर मुझे जो दुःख हुआ, उसे दूर करनेको मैंने यह किया। भलाई तो मैंने अपनी की; क्योंकि उसे बाहर निकालते ही मेरा दुःख दूर हो गया।'

प्राणिमात्रके दुःखमें दुखी होकर उनको दुःखसे छुड़ानेकी चेष्टा करनेकी जो अन्तःप्रेरणा है, उसीका नाम दया है।



मानवका परम धर्म—परोपकार

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

जगत्‌में अनन्त प्राणी हैं, उनमें मानव ही सबसे श्रेष्ठ है। महर्षि व्यासने भी यही कहा है कि मनुष्यसे बढ़कर और कोई प्राणी नहीं है। धर्म और अधर्म, पाप और पुण्यके सम्बन्धमें जितना विचार मनुष्यने किया है, उतना देवोंने भी नहीं किया है। पशु-पक्षियोंका जीवन प्राकृतिक-सा है, उनमें मानव-जैसी कोई विशेषता नहीं होती। देवोंका जीवन विलासमय है, उन्हें भी आत्मचिन्तनका अवसर नहीं मिलता। नरकमें रहनेवाले नारकी तो प्रतिसमय दुःखसे व्याप्त रहते हैं। उन्हें धर्माराधनका अवकाश ही नहीं है। केवल मनुष्य ही ऐसा बच जाता है जो धर्म और अधर्मके सम्बन्धमें गम्भीरतासे विचार करता है और पापको छोड़कर एवं पुण्य तथा धर्मको अपनाकर परमात्मा तक बन सकता है।

भारतीय धर्म एवं संस्कृतिके महान् उन्नायकोंमें महर्षि व्यासका नाम सर्वत्र प्रसिद्ध है। पाप और पुण्यकी जैसी संक्षिप्त और तल-स्पर्शी व्याख्या उन्होंने एक श्लोकमें की है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। वे कहते हैं—

> **अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।**
> **परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥**

पाप और पुण्यकी ऐसी संक्षिप्त और सुगम परिभाषा अन्य कोई नहीं मिलेगी। दो टूक बात कह दी गयी है कि पुण्य चाहते हो तो परोपकार करो और परपीड़न करोगे तो पापका फल भोगनेके लिये तैयार हो जाओ।

सभी व्यक्ति चाहते हैं कि उन्हें सब तरहका सुख मिले। धन, कुटुम्ब, नीरोग शरीर, दीर्घायु आदि सुख पुण्यसे ही प्राप्त होते हैं। पापका परिणाम कष्टदायक है। इसलिये पाप करनेवाले व्यक्ति भी पापोंके परिणामसे बचनेकी सोचते हैं पर यह मानी हुई बात है कि 'जैसा करोगे, वैसा भरोगे।' जैसा बीज बोया जायगा, उसका फल भी वैसा ही मिलेगा। आक और धतूरेको बोकर कोई व्यक्ति आमके फल और गुलाबके फूल प्राप्त करना चाहेगा तो उसे मिल नहीं सकते। इसीलिये 'महाभारत'में कहा है कि यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि लोग पापोंके परिणामसे बचना चाहते हैं पर पाप-प्रवृत्तियोंको छोड़नेके लिये तैयार नहीं होते। पुण्यके परिणामस्वरूप सुखको सभी चाहते हैं पर परोपकार आदि पुण्य-कार्योंमें प्रवृत्त नहीं होते। चाहते कुछ और हैं और प्रवृत्ति करते हैं उसके विपरीत। यही महान् आश्चर्य है!

परोपकार बाह्यदृष्टिसे दूसरेके उपकारको कहा जाता है; पर वास्तवमें तो उससे अपना ही उपकार अधिक होता है; क्योंकि परोपकारसे पुण्यकी प्राप्ति होती है और पुण्यसे सभी प्रकारके सुख मिलते हैं। जिसका उपकार किया जाता है उसे तो थोड़ा और तात्कालिक आराम मिलता है पर करनेवालेको तो बहुत अधिक और लम्बे कालतक सुख मिलता रहता है।

पाप क्या है और पुण्य क्या है? मनुष्यके अच्छे और बुरे किये हुए काम ही तो हैं। अच्छेका फल अच्छा और बुरेका फल बुरा मिलेगा ही; इसमें दो मत नहीं हो सकते। अब प्रश्न यही है कि कौन-से काम अच्छे हैं और कौन-से बुरे? इसकी व्याख्या व्यासजीने कर ही दी है कि दूसरेको कष्ट पहुँचाना पाप है। कष्ट अनेक प्रकारसे पहुँचाया जा सकता है। इसलिये किन-किन कार्योंद्वारा थोड़ा या अधिक कष्ट दूसरोंको मिलता है—इसपर ध्यान देना होगा! जैन-धर्ममें मन, वचन, कायाद्वारा करने, कराने और अनुमोदन करने—इस प्रकार नव-विधकी प्रवृत्तियोंसे पाप और पुण्यका बन्ध होता है—बतलाया गया है।

जैन धर्ममें १८ प्रकारके पाप-स्थानक बतलाये गये हैं। (१) हिंसा, (२) झूठ, (३) चोरी, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान (झूठा कलङ्क देना), (१४) पैशुन्य (चुगली करना), (१५) रति-अरति (अच्छे और बुरेकी भावना राग और घृणा), (१६) परिवाद (निन्दा), (१७) माया—मृषावाद (कपटपूर्वक झूठ बोलना—झूठको छिपानेका प्रयत्न) और (१८) मिथ्यात्व शल्य (वस्तु जिस रूपमें है उससे अन्यथा समझना मिथ्या मान्यता)। इन सब पापोंमेंसे हम कौन-सा पाप, किस समय कर रहे हैं, इसका ध्यान रखना आवश्यक है। मन, वचन और शरीरद्वारा कोई भी पाप-प्रवृत्ति हो रही हो तो उसे रोकना चाहिये।

आज नहीं तो कल, इस भवमें नहीं तो अगले जन्ममें पापका परिणाम—दुःख भोगना ही पड़ेगा, यह न भूलें।

पुण्य किसी भी प्राणीको दुःख और कष्टसे बचाने, उसकी सुख-सुविधाका उपाय करनेसे होता है। जिस व्यक्तिको जिस तरहकी सहायताकी आवश्यकता हो उसे अन्न, पानी, वस्त्र, स्थान, औषध आदि देना, सत्-शिक्षा, सत्-परामर्श देकर उसे उन्नत बनाना—ये सब पुण्यके काम हैं। जितनी भी शुभ प्रवृत्तियाँ हैं—पुण्य हैं और अशुभ प्रवृत्तियाँ पाप हैं। हम शुभमें प्रवृत्त हों और अशुभसे बचें, यही व्यास-वचनका सारांश है।

परोपकार, इस विश्वकी व्यवस्था ठीकसे चले इसके लिये भी बहुत आवश्यक है; क्योंकि प्राणियोंका जीवन एक दूसरेके सहयोगपर ही आश्रित है। यदि माता अपने पुत्रका पालन न करे, तो बच्चेकी क्या स्थिति हो? हम जब दूसरोंका सहयोग या उपकार पाते ही रहते हैं तो दूसरोंका उपकार करना भी हमारा कर्तव्य हो जाता है। वैसे प्रकृति और पशु-पक्षी आदि प्राणियोंका भी हमपर बहुत कुछ उपकार हो रहा है। इसीलिये कहा गया है कि इस शरीरका धारण अपने पोषण एवं संरक्षण तक ही सीमित न रखकर दूसरेके लिये भी यह कुछ काममें आये, इसका लक्ष्य रहना चाहिये। किसी कविने कहा है—

> निर्गुणस्य शरीरस्य प्रतिक्षणविनाशिनः।
> गुणोऽस्ति सुमहानेकः परोपकरणाभिधः॥

अर्थात् यह शरीर तो प्रतिक्षण नाश हो रहा है और जीवात्मा निकल जानेके बाद इस शरीरको जला दिया जायगा। अतः यह गुणरहित है। इससे जो भी कुछ दूसरोंकी भलाई हो जाय, वही अच्छा है। इस शरीरसे परोपकारद्वारा महान् गुण प्राप्त कर लेना ही शरीर-धारण करनेकी सार्थकता है।

किसी राजस्थानी कविने भी कहा है—

> सरवर तरवर संत जन, चौथो बरसण मेह।
> परोपकार के कारणे, इण चारों धारी देह॥

शरीरकी तरह अपनी बुद्धि आदि अन्य शक्तियोंका उपयोग भी दूसरोंके सुख और उत्थानमें होना चाहिये। अपने लिये तो सभी जीते हैं पर जो दूसरोंके लिये जीता है उसीका जीवन सार्थक है। कहा भी है—

> आत्मार्थं जीवलोकेऽस्मिन् को न जीवति मानवः।
> परं परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति॥

सत्-पुरुष वही है जो बिना किसी स्वार्थके सदा परहितमें लगे रहते हैं। एक संस्कृत श्लोकमें कहा गया है कि सूर्य किसकी आज्ञासे प्रजाका अन्धकार दूर कर रहा है? वृक्ष पथिकोंको क्यों छाया दे रहे हैं? मेघको वर्षा करनेकी किसने प्रार्थना की? अर्थात् स्वभावसे ही इनके द्वारा परोपकार हो रहा है। इसी तरह सत्-पुरुष भी अपनी आत्म-प्रेरणा या स्वभावसे ही दूसरोंके हितमें लगे रहते हैं। उनमें यदि यह गुण न हो तो अन्य जनोंसे उनकी विशेषता ही क्या—

> कस्यादेशात् क्षपयति तमः सप्तसप्तिः प्रजानां
> छायाहेतोः पथि विटपिनामञ्जलिः केन बद्धः।
> अभ्यर्थ्यन्ते नवजलमुचः केन वा वृष्टिहेतो-
> र्जात्यैवैते परहितविधौ साधवो बद्धकक्षाः॥

नदियाँ स्वयं पानी नहीं पीतीं, वृक्ष स्वयं फल नहीं खाते, मेघ अन्न नहीं खाते, दूसरोंके लिये ही इनका जीवन है। इसी तरह सत्-पुरुषोंकी सम्पत्ति परोपकारके लिये ही होती है। वृक्ष परोपकारके लिये ही फलते हैं, नदियाँ परोपकारके लिये बहती हैं, गायें परोपकारके लिये ही दूध देती हैं। यह शरीर परोपकारके लिये ही है।

> पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः
> स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
> खादन्ति सस्यं न च वारिवाहाः
> परोपकाराय सतां विभूतयः॥
> परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः
> परोपकाराय वहन्ति नद्यः।
> परोपकाराय दुहन्ति गावः
> परोपकारार्थमिदं शरीरम्॥

शास्त्रोंमें कहा है परोपकाररहित मनुष्योंका जीवन धिक्कारका पात्र है; क्योंकि पशु कहलानेवाले प्राणियोंका भी चमड़ा मनुष्यका उपकार करता है—

> परोपकारशून्यस्य धिङ् मनुष्यस्य जीवितम्।
> यावन्तः पशवस्तेषां चर्माप्युपकरिष्यति॥

अर्थात् परोपकार न करनेवाले मनुष्योंका जीवन पशुओंसे भी गया-बीता है। अन्यत्र कहा गया है कि परोपकारसे जो पुण्य उत्पन्न होता है वह सैकड़ों यज्ञोंसे भी उत्पन्न नहीं होता—

**परोपकारः कर्तव्यः प्राणैरपि धनैरपि ।
परोपकारजं पुण्यं न स्यात् क्रतुशतैरपि ॥**

जिनके हृदयमें सदा परोपकारकी भावना जाग्रत् रहती है, उनकी आपदाएँ नाश हो जाती हैं और उन्हें पग-पगपर सम्पत्ति मिलती रहती है—

**परोपकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम् ।
नश्यन्ति विपदस्तेषां सम्पदः स्युः पदे पदे ॥**

क्षेमेन्द्र कविने तो यहाँतक कहा है कि सब गुणोंसे परोपकार महान् गुण है और उसके-जैसा पुण्यका कोई भी कार्य दिखायी नहीं देता—

**शीलं शीलयतां कुलं कलयतां सद्भावमभ्यस्यतां
व्याजं वर्जयतां गुणं गणयतां धर्मे धियं बध्नताम् ।
शान्तिं चिन्तयतां तमः शमयतां तत्त्वश्रुतिं शृण्वतां
संसारे न परोपकारसदृशं पश्यामि पुण्यं सताम् ॥**

जैसा कि पहले कहा गया है वास्तवमें परोपकार करनेपर उपकार तो स्वयंका ही होता है; क्योंकि दुःख और सुख जैसा हम दूसरेको देते हैं, वैसा ही सुख-दुःख उसीके परिणामस्वरूप हमें भी प्राप्त होता है । दक्षस्मृतिमें यही बात कही गयी है—

**सुखं वा यदि वा दुःखं यत्किंचित् क्रियते परे ।
यत्कृतं च पुनः पश्चात् सर्वमात्मनि तद्भवेत् ॥**

तुलसी-रामायणमें भी कहा गया है कि परहितके समान कोई धर्म नहीं है । परोपकारके सम्बन्धमें कुछ अन्य अनुभवी सत्पुरुषोंके वचन नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं—

अगर तू किसी एक आदमीकी भी तकलीफको दूर करे तो यह ज्यादा अच्छा काम है बजाय इसके कि तू हज्जको जाय और रास्तेकी हर मंज़िलपर एक-एक हजार रकअत नमता पढ़ता जाय । —सादी

मैंने अमर जीवन और प्रेमको वास्तविक पाया और यह कि मनुष्य निरन्तर सुखी बना रहना चाहता है तो उसे परोपकारके लिये ही जीवित रहना चाहिये । —रवीन्द्रनाथ

किसी बच्चेको खतरेसे बचा लेनेपर हमें कितना आनन्द आता है । परोपकार इसी अनिर्वचनीय आनन्द-प्राप्तिके लिये किया जाता है ।

परोपकार करनेकी एक खुशीसे दुनियाकी सारी खुशियाँ छोटी हैं । —हरबर्ट

परोपकारी लोग हमेशा प्रसन्नचित्त रहते हैं ।
—फादर टेलर

वह वृथा नहीं जीता जो अपना धन, अपना तन, अपना मन, अपना वचन दूसरोंकी भलाईमें लगाता है ।
—हिंदू-सिद्धान्त

संत लोग परोपकार करते वक्त प्रत्युपकारकी आशा नहीं रखते ।

परोपकारी अपने कष्टको नहीं देखता; क्योंकि वह पर-दुःखजनित करुणासे ओतप्रोत होता है । —तुकाराम

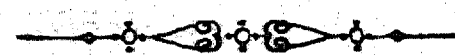
अगर आदमी परोपकारी नहीं है तो उसमें और दीवारपर खिंचे हुए चित्रमें क्या फर्क है ? —सादी

अपने हितके लिये दूसरेका हित करना जरूरी है ।
—श्रीब्रह्मचैतन्य

आज परोपकारकी भावना लुप्त-सी होती जा रही है । लोगोंने अपने स्वार्थको इतनी प्रधानता दे दी है कि दूसरेके नुकसानकी बात वे सोचते ही नहीं । यह स्थिति धर्म और अध्यात्मप्रधान भारतके लिये बहुत ही शोचनीय और लज्जाजनक है । इसलिये परोपकारकी भावनाको पुनः जीवित-जाग्रत् करना अत्यन्त आवश्यक है ।

संक्षेपमें कहा जाय तो परोपकार मानवका धर्म है । ध्यान रहे किसीका उपकार करके हममें अभिमान न आये तथा प्रतिफलकी इच्छा नहीं रहे ।

प्रेम और करुणाका जो स्रोत अभी चंद व्यक्तियोंतक सीमित है, उसका दायरा बढ़ाते चले जायँ । जिन्हें व्यक्ति अपना मान लेता है—उन कुटुम्ब-परिवारवालोंका वह जितना ध्यान रखता है, उतना अन्योंका भी रखने लगे तो संसारके दुःख-दर्द-अशान्तिमें बहुत कमी हो जाय । आत्मीयताका विस्तार करते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तक पहुँचा जाय । सेवाका क्षेत्र बढ़ाते चले जायँ—यही मानव-जन्मकी सफलता है ।



परहित सरिस धर्म नहिं भाई

(लेखक—श्रीसुरेन्द्रकुमारजी 'शिष्य' एम्० ए०, एम० एड्०, साहित्यरत्न)

एक क्षणके लिये महर्षि दधीचि स्तब्ध रह गये, देवोंने उनके समक्ष विकट माँग जो पेश की थी। भला अबतक किसीने कभी अपनी अस्थियोंका दान भी किया है? अस्थि-दानकी कल्पना ही मानवकी नस-नसको कँपा देनेवाली है। अपनी अस्थियाँ भी भला रुपये, पैसे, वस्त्र, अन्न, हाथी, घोड़े, गौ-सदृश वस्तु हैं क्या, जिन्हें कोई दानवीर हाथ ऊँचा करके याचकको सहर्ष दान कर दे? यह तो साक्षात् मृत्युका आवाहन है। मौतकी कल्पनामात्रसे ही कौन जीवधारी भयभीत नहीं हो जाता?

दूसरे ही क्षण एक उदात्त भावनासे महर्षिका हृदय देदीप्यमान हो रहा था। मेरी अस्थियोंसे देवोंकी सुरक्षा सम्पन्न हो, इससे बढ़कर भी इन अस्थियोंका कोई उपयोग हो सकता है क्या? सामान्यरूपसे मरनेपर जिन अस्थियोंको कोई छूना भी पसंद न करेगा, वही घृणित अस्थियाँ देवराजके करकमलमें सदा सुशोभित रहेंगी। मेरी इन अस्थियोंसे देवकल्याण होता रहेगा। मैं मरकर भी देवसमाजका हित-साधन कर सकूँगा। मैं जीवित न रहूँगा, न सही, पर मेरी अस्थियाँ तो समाजमें सुव्यवस्थाकी स्थापनामें सहायक होती रहेंगी। स्वार्थ-साधन न सही, परमार्थ-साधन तो होगा। अस्तु, भले ही मौत जन-जनको भयभीत करनेवाली हो, पर मैं तो परोपकारके लिये मृत्युका वरण करनेको सहर्ष प्रस्तुत हूँ।

यह उदात्त भावना कौन-सी थी, जिसने दधीचिके हृदय-से प्राणोंका मोह दूर किया? जिसने उन्हें प्राणोंका बलिदान करनेकी प्रेरणा दी। जिसने उन्हें सामान्य मानवकी कोटिसे उठाकर महामानवके उच्चासनपर सुशोभित कर दिया। जिसने उन्हें स्वार्थकी संकीर्ण परिधिसे निकालकर परमार्थकी ओर अग्रसर किया? क्या यही धर्मका वास्तविक स्वरूप है? क्या यही मानवमात्रका परम धर्म है? क्या यह भावना आज दिग्भ्रमित विश्वको कोई दिव्य संदेश सुना सकती है? प्रश्न विचारणीय है। इसके निराकरण-हेतु हमें धर्मके शुद्ध स्वरूप-को समझना होगा।

वैसे तो धर्मकी गति गहन है। विविध मत, सम्प्रदाय, पंथादिके झमेलेमें सर्वमान्य धार्मिक सिद्धान्तका निरूपण दुरूह हो जाता है। अवश्य ही सभी धर्मोंका चरम लक्ष्य एक ही है। किंतु जहाँ उस लक्ष्यतक पहुँचनेवाले मार्गोंका प्रश्न आता है, वहाँ इतनी विभिन्नता देखी जाती है कि सामान्य नागरिक धार्मिक वितण्डावादोंकी भूलभुलैयामें दिग्भ्रमित हो जाता है।

इस दशामें इस वैज्ञानिक युगमें एक सर्वमान्य धार्मिक सिद्धान्तकी आवश्यकता ज्वलन्त प्रश्न बनकर खड़ी होती है, जो न केवल सभी धर्म, सम्प्रदाय, मत-मतान्तरके अनुयायियोंको निर्विरोध रूपसे मान्य हो, वरं साथ ही वैज्ञानिक कसौटीपर भी खरा उतरनेसे विचारशील व्यक्तियोंको तर्कसङ्गत प्रतीत हो एवं युगानुरूप जीवनदर्शनके अनुकूल हो।

एक सामान्य कसौटी, जिसपर सब लोग सहमत हो सकें, सम्भवतः यह हो सकती है कि हमें मानव-कल्याण करना है। सभी लोग अपने-अपने तरीकेसे मानव-कल्याणके लिये सचेष्ट भी हैं। कहा जा सकता है कि सभी मत-मतान्तर किसी-न-किसी रूपमें मानव-कल्याणके लिये ही प्रयत्नशील हैं। केवल मानव-कल्याण ही क्यों, अपने उदाररूपमें उनके लक्ष्यका विस्तार जीवमात्रकी कल्याण-कामनापर आधारित रहता है।

महर्षि दधीचि इसी प्राणिमात्रके कल्याणकी भावनासे ही तो अनुप्राणित हुए थे। इसी दिव्य भावनाके लिये ही तो उन्होंने अपने 'स्व' का बलिदान विराट्के लिये किया था। इस उत्कृष्ट भावनाकी संज्ञा है परोपकार। प्राणिमात्रके हितकी कामना, मन, वाणी, शरीरसे यथाशक्ति दूसरे जीवोंकी सेवा-सहायता करना, किसीका अहित-चिन्तन न करना एवं मन, वचन-कर्मसे किसीको पीड़ा न पहुँचाना आदि कार्योंको परोपकार शब्दसे व्यक्त किया जाता है। दूसरे शब्दोंमें विश्व-कल्याणमें रत होनेका पर्यायवाची शब्द ही परोपकार है।

वस्तुतः परोपकार व्यापक शब्द है। सेवा, त्याग, प्रेम, सहृदयता, कष्टसहिष्णुता आदि इसके अङ्ग हैं। इन सम्पूर्ण गुणोंके समवायकी संज्ञा ही परोपकार है। शुद्धरूपमें ईश्वर-प्रेमकी अभिव्यक्ति भी परोपकारद्वारा ही होती है। जगत्के प्राणिमात्रमें ईश्वरके दर्शन करके उनकी सेवामें तत्पर होनेको ही तो भगवान् रामने अपनी अनन्य भक्तिकी संज्ञा दी है।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

ऋषि तिरुवल्लुर भी कहते हैं—'ईश्वरभक्तिका अर्थ है—प्राणिमात्रके प्रति प्रेमभावनाका बाहुल्य ! सब आत्माओंमें समाये हुए ईश्वरसे प्रेम करनेका एकमात्र माध्यम यही हो सकता है कि प्राणिमात्रके दुःखको दूर करने और उन्हें सुखी बनानेके लिये अपनेसे जो कुछ हो सके, उसको अधिकाधिक तत्परताके साथ करते रहा जाय ।'

ईश्वरभक्तिकी यह परिभाषा इतनी तर्कसङ्गत एवं सर्वमान्य प्रतीत होती है कि न केवल विविध धर्मानुयायी अपने सिद्धान्तोंमें परिवर्तन किये बिना प्राणिमात्रकी सेवाके इस व्रतको ग्रहण कर सकते हैं, प्रत्युत ईश्वरके अस्तित्वसे सहमत न होनेवाले व्यक्ति भी मानव-कल्याणके नाते इस परोपकार-व्रतके व्रती बन सकते हैं । इस प्रकार सभी मतानुयायी बिना किसी हिचकिचाहटके परोपकारको परम धर्मके रूपमें स्वीकार कर सकते हैं ।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि परोपकारसे आत्माको असीम तृप्तिका अनुभव होता है । वैज्ञानिक विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणीको कष्टमें देखकर हमारे हृदयको पीड़ा पहुँचती है एवं हम अपने हृदयकी उस पीड़ाको दूर करनेके लिये उस कष्टमें ग्रस्त प्राणीकी सेवाहेतु सचेष्ट हुआ करते हैं । इस प्रकार वस्तुतः किसी प्राणीको संकटसे बचा लेने, रोगीकी सेवा-शुश्रूषा करने या भूखेको भोजन कराने आदि कार्योंसे हमारी आत्माकी ही आन्तरिक पीड़ा दूर होकर हमें अन्तःकरण-की शान्ति प्राप्त हुआ करती है ।

अतएव चाहे हम ईश्वरको मानें या न मानें, परोपकारको आत्माका सहज स्वभाव मान लेना बुद्धिवादके अनुकूल ही ठहरता है । भले ही हम अपनी अत्यधिक व्यस्तताके बहाने अहंभाव आदि अपने हृदयकी दुर्बलताओंसे परास्त होकर या अर्थसंकटकी दुहाई देकर लोकसेवा-कार्यको टालते रहें; किंतु फिर भी हम परोपकारकी महत्ताकी उपेक्षा करके यह नहीं कह सकते कि परोपकारकी भावना पिछड़े युगकी चीज थी, बीते जमानेकी बात थी; आजके बुद्धिजीवी वातावरणके अनुकूल नहीं है, आदि-आदि ।

प्रकृति भी मानो अपनी निःस्वार्थ सेवाद्वारा मानवजातिको परोपकारका पाठ पढ़ानेमें संलग्न है । सूर्य अपनी ऊष्माद्वारा जीव-जगत्को जीवनदान देनेमें निरन्तर रत रहता है । पृथ्वी प्राणियोंके उत्पात सहन करके भी उन्हें अपनी गोदमें आश्रय देती है । चन्द्रमा, वायु, बादल, वृक्ष, नदियाँ आदि प्रकृतिके नाना उपादान किसी-न-किसी रूपमें संसारके कल्याणमें सचेष्ट हैं । किसीने अपनी सेवाके बदले जीवोंसे कोई माँग पेश नहीं की है । गाय, बैल, घोड़े, कुत्ते आदि मानवेतर प्राणी भी नाना प्रकारसे मानवजातिकी सेवा सम्पन्न कर रहे हैं । इसीलिये नीतिकार इन्हें परोपकारी विभूति मानकर इनकी गणना परोपकारी संतोंके रूपमें करता है ।

परोपकारी प्राणीको ही संत कहा जाता है; क्योंकि संतका यह सहज स्वभाव होता है कि वह परोपकार किये बिना नहीं रह सकता । बाह्य वेशभूषा नहीं, प्रत्युत हृदयकी परोपकार-मयी निर्मल भावना ही संत कहे जानेका अधिकार प्रदान करती है । ऐसे परोपकारी जीव, चाहे तिलक-माला धारण करें या न करें, वे अपने उदार स्वभावके कारण संत संज्ञाके अधिकारी हैं । महात्मा गाँधी इसी श्रेणीके सच्चे संत थे ।

नदीमें बहनेवाले बिच्छूको बचानेवाले संतका दृष्टान्त तो सुविदित ही है जो बिच्छूके काटनेपर भी यही कहकर बार-बार उसे बचाता रहा कि बिच्छूका स्वभाव डंक मारना है एवं मेरा स्वभाव जीवरक्षा करना है । अस्तु, इस अद्भुत-से लगनेवाले कार्य-व्यापारमें कोई विशेषता नहीं, प्रत्युत हम अपना-अपना कार्य ही सम्पन्न कर रहे हैं । गोस्वामी तुलसी-दासके शब्दोंमें—

पर उपकार बचन मन काया । संत सहज सुभाउ खगराया ॥
संत बिटप सरिता गिरि धरनी । परहित हेतु सबन्ह कै करनी ॥
परहित लागि तजइ जो देही । संतत संत प्रसंसहिं तेही ॥

यह उद्धरण स्पष्ट प्रकट करता है कि परोपकारी प्राणी केवल संत कहे जानेका ही अधिकारी नहीं, प्रत्युत संतों-द्वारा अभिवन्दनीय बन जाता है । वह किसी भी जाति, वर्ग, सम्प्रदायका क्यों न हो, वही यथार्थमें महामानव है । वह महामानव मरकर भी अमर हो जाता है । परोपकारके लिये मृत्युका वरण करनेवाला दधीचि-जैसा महामानव क्या कभी मरा करता है ? कदापि नहीं । यदि ऐसा महामानव मर गया होता तो आज उसकी गौरव-गाथा हम क्यों गा रहे होते ?

परहितके लिये प्राणोंका बलिदान कर देनेवाला प्राणी क्या घाटेमें रहता है ? कदापि नहीं । भारतकी राजलक्ष्मी सीताको आततायी रावणके द्वारा अपहृत होते देखकर उस जगद्विजयी लंकाधिपसे मोर्चा लेनेवाला जटायु जानता था कि इस मुकाबलेमें निश्चितरूपसे मेरी मृत्यु है, किंतु मृत्यु-

भयने उसे परमार्थ-पथसे विचलित नहीं किया। परोपकारार्थ स्वयं आहूत इस युद्धकी बलिवेदीपर जटायुको अपने प्राणोंकी आहुति देनी पड़ी। पर क्या वह घाटेमें रहा? उसे तो वह देव-दुर्लभ सद्गति प्राप्त हुई, जो सुकृती, ज्ञानी, योगियोंको भी नहीं प्राप्त हुआ करती। यह सद्गति देकर भी भगवान् राम यही कह रहे थे कि मैंने कुछ कृपा करके यह गति तुम्हें प्रदान नहीं की है, प्रत्युत तुम्हारे परोपकार-कर्मसे यह शुभ गति तुम्हारा सहज स्वत्व बन गयी है। परोपकारी जीवको भी भला कोई वस्तु दुर्लभ रह जाती है क्या?

जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात कर्म निज तें गति पाई॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

परोपकारके लिये आत्मबलिदान करनेवाले ऐसे महा-मानवोंकी गौरव-गाथासे भारतका इतिहास देदीप्यमान है। नागोंकी प्राणरक्षाके लिये अपने जीवनका दान करनेवाले जीमूतवाहन, कबूतरकी प्राणरक्षाके लिये अपने शरीरका मांस देनेवाले नरेश शिवि, याचकके लिये अपने शरीरका कवच-कुण्डल दान करनेवाले उदार कर्ण, गौरक्षाके लिये अपना शरीर समर्पित करनेवाले नरेश दिलीप, स्वयं भूखकी ज्वालासे तड़पते हुए भी भूखी आत्माओंको देखकर अपने अन्नजलका दान करनेवाले उन महाराज रन्तिदेवके नाम क्या कभी मानवताके इतिहाससे भुलाये जा सकेंगे; जो भगवान् द्वारा वर-याचनाकी आज्ञा पानेपर भी यही माँगते हैं कि मैं अष्टसिद्धियाँ, स्वर्ग, मोक्षादि कुछ नहीं चाहता। मेरी यही कामना है कि मैं समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर उनका दुःख स्वयं भोगा करूँ।

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥
(श्रीमद्भागवत ९। २१। १२)

आधुनिक युगमें भी ऐसे परोपकारी महापुरुषोंसे भारत-भूमि खाली नहीं रही है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागरद्वारा अनाथ रोगीकी सेवा, महामना मदनमोहन मालवीयद्वारा रास्तेमें कराहते घिनौने रोगी कुत्तेकी मरहमपट्टी, महात्मा गाँधीद्वारा परचुरे शास्त्री आदि कुष्ठरोगियोंकी सेवा, आचार्य विनोबाभावे-द्वारा परकल्याणार्थ गाँव-गाँव पैदल जाकर भूदान-कार्य आदि परोपकार-व्रतके ऐसे ज्वलन्त उदाहरण हैं, जो हमें परसेवा-व्रती बननेकी जीवंत प्रेरणा प्रदान करते हैं। परोपकारव्रत किसी देशविशेषकी ही बपौती नहीं है। डेविड लिविंगस्टनका अपने देश इंग्लैंडसे हजारों मील दूर अफ्रीकाकी नरभक्षी नीग्रो जातियोंके बीच बसकर उनमें मानवताका प्रसार करना क्या हमें परमार्थ-व्रती बननेका पाठ नहीं पढ़ाता?

हममेंसे हर व्यक्ति समाजका ऋणी भी तो है। क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं कि हम समाजके उस ऋणको चुकानेके लिये प्रयत्नशील बनें? अपने इस सहज कर्तव्यके नाते भी परोपकार मानवके लिये वरणीय है; क्योंकि मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो अपने जीवनके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, विकास, सुख-साधनादिके लिये न केवल अपने पूर्वपुरुषोंके परिश्रम एवं अध्यवसायका ऋणी है, प्रत्युत मानवेतर प्राणियोंसे भी वह नाना रूपोंमें सुख-सुविधाएँ ग्रहण करता है। अतः प्रत्येक मानवका यह प्रमुख कर्तव्य है कि कम-से-कम अपने ऋणसे उऋण होनेके लिये ही परोपकारकी परम्पराको कायम रक्खे।

यदि परोपकारकी सद्वृत्ति मानवके अन्तःकरणको आलोकित नहीं करती तो उसके अनेक कर्मकाण्ड, पूजा-प्रक्रियाएँ निरर्थक रहेंगी। उसे ईश्वरभक्त कहना तो बहुत दूर है, परहित-यज्ञकी भावनासे रहित वह स्वार्थी मानव गीताके शब्दोंमें चोरकी संज्ञासे पुकारा जायगा।

इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ३। १२)

मनुष्यके चरित्रकी परीक्षा उसके परोपकारी कृत्योंके आधारपर ही होती है, न कि व्यक्तिगत वैभव-अर्जनपर। जो मनुष्य सबके दुःख दूर करनेमें जितना प्रयत्नशील होता है, वह उतना ही सभ्य, सुसंस्कृत एवं उच्च विचारवाला माना जाता है; क्योंकि परोपकारका विशद भाव ही मानवकी अन्तरात्माकी महानताकी कसौटी है।

भर्तृहरि उन्हें धन्य मानते हैं जो परोपकारके यज्ञमें अपने जीवनको समिधा बनाकर आहुति कर देते हैं। ऐसे महामानव अपनी हानि उठाते हुए भी परोपकारमें रत रहा करते हैं। भले ही उनकी कोठरीमें एक ही व्यक्तिके सोनेका स्थान है, पर स्थान माँगनेवालेकी पुकारपर वे कभी भी लेटे न रहेंगे, प्रत्युत बैठकर दोनोंके लिये स्थान कर लेंगे। फिर तीसरे याचकके आनेपर वे खड़े होकर उसके लिये भी अवकाश निकाल लेंगे। इन महापुरुषोंके हृदय इतने विशाल होते हैं कि उनकी परिधिसे किसीको बाहर नहीं

किया जा सकता। उनके हृदयमें दिव्य पुष्पक विमानकी तरह आगन्तुकके लिये स्थान बना ही रहता है।

सामान्य श्रेणीके व्यक्ति इतना त्याग तो नहीं कर पाते; फिर भी वे अपनी व्यक्तिगत हानि बचाते हुए ही परसेवामें दत्तचित्त रहा करते हैं। भर्तृहरिको उनसे कोई शिकायत नहीं है। हम इतना ही कर सकें, तब भी गनीमत समझनी चाहिये।

इन परोपकारी जीवोंके विपरीत आसुरी वृत्तिवाले पुरुष अपने स्वार्थके लिये दूसरोंकी हानि करनेमें नहीं चूका करते। किंतु आश्चर्यकी हद तो तब हो जाया करती है, जब ऐसे भी व्यक्ति पाये जाते हैं, जो बिना कारण ही दूसरोंकी हानि करनेमें आगापीछा नहीं सोचा करते। भर्तृहरि ऐसे नारकीय प्राणियोंका नामकरण करनेमें अपनेको असमर्थ पाकर हत-बुद्धि हो जाते हैं।

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

परोपकारसे उपकृत व्यक्तिको तो तत्काल लाभ पहुँचता ही है, साथ ही उपकार करनेवाला व्यक्ति भी आत्मसंतोष एवं आत्मतृप्तिको वरण करता है। इस प्रकार परोपकारसे मनुष्यकी आध्यात्मिक क्षुधा तृप्त होती है। परोपकारी व्यक्ति-के चरित्रमें सत्त्वगुणी तत्त्वोंका समावेश बढ़ता जाता है, जिससे एक दिन वह आध्यात्मिकताके उच्चतम आदर्शोंका स्पर्श करने लगता है। अस्तु, परोपकार आध्यात्मिक सद्गुणोंका मूल है।

मानवजीवनकी सार्थकता परहितके लिये आत्मबलिदान करनेकी भावनामें ही निहित है। यही मानवका परम धर्म है। मानवताके इस उच्चतम आदर्शको अपने जीवनमें व्यवहृत करनेमें विलम्ब करना पाशविकतामें आबद्ध रहना है।

परोपकारके इस कर्तव्यपालनके मार्गमें हम प्रायः दो बाधाएँ गिनाया करते हैं—'भाई! हमारी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है। हम परोपकार करना तो चाहते हैं, लेकिन धना-भावमें हम किसीकी सहायता करें तो कैसे करें?' या 'हमारे पास बिल्कुल समय ही नहीं बचता, हम लोकसेवाका कार्य किस समय करें?'

विचार करनेपर ये दोनों दलीलें थोथी सिद्ध होती हैं। हम बिना धनके ही अनेक प्राणियोंकी सहायता करके उन्हें कष्टसे मुक्त कर सकते हैं। संसारमें ऐसे अनेक दुखी होते हैं जो प्रेम एवं सद्भावनाकी दो बातोंके लिये तरसते रहते हैं। क्या हम यह नहीं कर सकते कि उनको सान्त्वना देकर, उनसे प्रेमके दो मधुर वचन बोलकर, उन्हें साहस, धैर्य, कष्ट-सहिष्णुताका पाठ पढ़ाकर उनकी कष्ट-मुक्तिमें सहायक बन जायें?

संसारमें अनेक व्यक्ति अविवेकसे आत्माका पतन करनेवाले असत् कर्मोंमें लगे रहकर अपनी ही मूर्खतावश स्वयं कष्ट भोगा करते हैं। क्या हम उनमें सद्ज्ञानका प्रसार करके उनका विवेक जाग्रत् नहीं कर सकते? क्या इसमें भी धन व्यय होता है? ज्ञानदानसे बढ़कर तो संसारमें कोई दान ही नहीं है। फिर हम सद्ज्ञानके प्रसारमें कृपणता क्यों करते हैं? हम पिछड़े वर्गके लोगोंमें साक्षरताका प्रसार करके क्या मानवताकी सेवा नहीं कर सकते?

ज्ञानदान तो आज देशकी सबसे बड़ी आवश्यकता भी है। अज्ञानी लोगोंका प्रजातन्त्र तो अभिशाप ही हुआ करता है। क्या हम इस अभिशापको दूर हटानेमें अपना योगदान नहीं दे सकते? फिर हम क्यों हाथ सिकोड़े बैठे रहते हैं?

हमारी दूसरी दलील समयके अभावका रोना तो और भी थोथा बहाना है। हम नित्य न जाने कितना समय व्यर्थकी बातों, गपबाजी, कोरे मनोरञ्जनमें व्यतीत किया करते हैं। क्या इसमेंसे कुछ समय बचाकर मानवसेवाका कार्य नहीं कर सकते? किसी अपाहिजको उसके ठिकानेपर पहुँचा देना, किसी अनजानको उसके वाञ्छित स्थानका मार्ग बता देना, किसी रोगीको अस्पताल पहुँचा देना आदि अनेकों ऐसे कार्य हैं, जो हम अपने दैनन्दिन जीवनमें बिना किसी अड़चनके करते रह सकते हैं। इतने छोटे-छोटे कार्योंके लिये भी समयकी कमीका रोना निरर्थक प्रलाप है। हमारे घरपर किसीके बीमार हो जानेपर हमें उसकी तीमारदारीके लिये कहाँसे समय मिल जाता है? यदि हम उस कार्यके लिये अपने व्यस्त जीवनमेंसे समय निकाल सकते हैं तो पर-हितके लिये भी घंटे-आध घंटेका समय निकाल लेना कठिन कार्य नहीं है।

यह बात दूसरी है कि हम अपने स्वार्थके संकीर्ण दायरेमें ही इतने जकड़े रहते हैं कि परमार्थके लिये अपना समय लगाना ही नहीं चाहते। तब हम साफ-साफ क्यों नहीं कह

देते कि 'हमें परोपकारसे कोई मतलब नहीं, हम तो घोर स्वार्थी व्यक्ति हैं।'

किंतु हम इस कटु सत्यको स्वीकार नहीं करना चाहते। उचित भी है। हम पशुदेह-धारी नहीं, मानवदेह-धारी हैं। स्वार्थी मानव तो पशुसे भी गया-बीता माना जाता है। हमें पशु-श्रेणीमें गिना जाना लेशमात्र भी पसंद नहीं है। फिर तो हमारे सामने एक ही विकल्प रह जाता है; वह यही है कि हम परोपकारके लिये कुछ-न-कुछ समय अवश्य निकालें।

यदि हमें सच्चे अर्थोंमें मानव कहे जानेका अधिकारी बनना है एवं मानवताको विनाशसे बचाना है तो आइये, इसी क्षण परोपकार-व्रतके व्रती बननेका संकल्प ग्रहण कर लें। गोस्वामी तुलसीदासजीके इस आदर्श मन्त्रको हम आजसे ही अपना पथ-प्रदर्शक बना लें—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

सर्वत्र आत्म-दर्शन ही सत्य धर्म है

(लेखक—श्रीजगन्नाथ गुरु पुरुषोत्तम बुवा महाराज)

सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वरने सभी देवताओंके बीच सर्वप्रथम संकल्पमात्रसे ब्रह्मदेवकी सृष्टि की और उसके बाद वह चराचर सृष्टिमें प्रवृत्त हुआ। इस प्रकार सृष्टिकी उत्पत्तिके मूलमें जो परब्रह्म परमात्मा या चैतन्य तत्त्व है, उसीको 'एकं सत्' कहा गया है। वह 'सत्' या परब्रह्म तत्त्व निराकार और अव्यय है। ज्ञानेन्द्रियों या कर्मेन्द्रियोंके द्वारा उसे कोई जान नहीं सकता। वह सर्वोपाधिरहित, वर्ण-भेदरहित, अत्यन्त सूक्ष्म, अक्षय, अनादिसिद्ध होकर भी सभी प्राणियोंके बीच अन्तरात्माके रूपमें व्याप्त है। वह स्वयंप्रकाशरूप होकर मनुष्यकी हृदय-गुफामें अङ्गुष्ठमात्र-प्रमाण ज्योतिःस्वरूपसे स्थित हो भूत, भविष्य और वर्तमानपर शासन करनेवाला स्वतन्त्र शासक है—इस प्रकार कठोपनिषद्‌में वर्णन आता है। वह आत्मा या परमात्मा सर्वकर्ता होते हुए भी अकर्ता है। उसे सर्वथा प्रकटरूपमें जानना सामान्य बुद्धिकी सामर्थ्यसे परे है। परमेश्वरकी कृपासे जिन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हो, वे महात्मा ही ज्ञान-दृष्टिसे उसे जान सकते हैं। विशुद्ध अन्तःकरण मानव सर्व-भोगोंसे विरक्त होकर निर्मल चित्तसे निरन्तर परमेश्वरका ध्यान कर सकता और उसीके स्वरूपमें लीन हो सकता है।

यह परब्रह्म-तत्त्व सृष्टिके समस्त चेतन, अचेतन वस्तुमात्रमें चैतन्यरूपसे या प्रकाशरूपसे व्याप्त है। सृष्टिकी सभी वस्तुएँ चित् और जडके मिश्रणसे उत्पन्न हैं, फिर भी कुछमें जडांश अधिक तो कुछमें चेतनांश अधिक दिखायी पड़ता है। मानव-प्राणीमें जितना चिदंश दीखता है, पशु-पक्षीमें उससे कम, उससे भी कम वनस्पति-कोटिमें और मिट्टी, पत्थर आदिमें सबसे कम चिदंश दिखायी देता है। मानवमें भी यह चिदंश यानी आत्मतत्त्व न्यूनाधिक मात्रामें दीखता ही है। किंतु यह भेद आत्माका न होकर सात्त्विक, राजस, तामस प्रकृतिके भेदसे है। सर्वत्र व्यापक आत्म-तत्त्व स्वच्छ दर्पणमें सूर्य-प्रतिबिम्बकी तरह सात्त्विक-प्रकृतिके अन्तःकरणमें स्पष्ट प्रतिफलित होता है। जंग लगे लोहेमें सूर्यका प्रतिबिम्ब प्रतिफलित नहीं होता, यह जैसे सूर्यका दोष नहीं, इसी प्रकार राजस-तामस क्षेत्रमें आत्म-ज्योतिका प्रकाश कम दीखता है।

गुरुद्वारा उपदिष्ट ज्ञान प्रज्ञावान् शिष्य ही ग्रहण कर पाता है, जब कि मूढ शिष्य रीता ही रह जाता है। यह गुरुका दोष नहीं। इसी तरह आत्मतत्त्वके प्रतिबिम्बको यथास्थित रूपमें या तर-तम-भावमें ग्रहण करना मानवकी प्रकृतिपर ही निर्भर होता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'परमेश्वर या आत्म-तत्त्व सर्वव्यापक है'—यह ज्ञान होना ही वास्तविक आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान है। सर्वभूतोंमें सम भावना ही मोक्षका साधन है। पर यह समबुद्धि हो कैसे? शास्त्रोंमें बताया गया है कि सृष्टिकी उत्पत्ति परमेश्वरकी अध्यक्षतापर ही निर्भर है, इसलिये परमेश्वर सब प्राणियोंमें निरपवादरूपमें व्याप्त है और आत्मा परमात्माका ही अंश है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।

सर्वभूतोंमें परमेश्वरका, आत्मारामका अधिष्ठान समान ही है। भूतप्राणीमात्रका सामान्य मृत्युसे या प्रलयसे विनाश दीख पड़ता है। परंतु तदन्तर्गत आत्मतत्त्वका कभी विनाश नहीं होता। जिसे यह ज्ञान हो जाय, कहना होगा कि उसे ही वास्तविक ज्ञान हुआ। ऐसे समबुद्धि मानवको सब भूतोंमें सदैव ईश्वर दीखने लगता है, अतएव वह मोक्ष-धाममें पहुँच जाता है। सर्वत्र सम आत्माका दर्शन होनेसे वह सबको अपनी ही तरह समझता है। फलतः उससे किसीकी कायिक, वाचिक या मानसिक हिंसा नहीं हो पाती। दूसरेका दुःख ही अपना दुःख और दूसरेकी हिंसा ही अपनी हिंसा है। इतनी एकता रग-रगमें व्याप्त हो जानेपर मानव जैसे अपने दुःख और हिंसाको टालता है, वह समदर्शी आत्मज्ञ भी वैसे ही पर-दुःख और पर-हिंसासे सदैव बचता है। ऐसे समदर्शीके लिये सचमुच मोक्ष दूरकी वस्तु हो ही कैसे सकती है? मोक्ष तो उसके लिये करामलकवत् हो जाता है।

मेरी, पड़ोसीकी या अन्य किसी प्राणीकी देह भिन्न होनेपर भी उनमें निवास करनेवाला आत्मा तो एक ही है। जैसे एक ही सूर्यका भिन्न-भिन्न बिम्बग्राही पदार्थोंमें प्रतिबिम्ब पड़नेपर भी वस्तुतः सूर्य एक ही होता है। एक ही स्वर्णके भिन्न-भिन्न अलंकार बनानेपर भी वस्तुतः स्वर्ण एक ही होता है। ठीक इसी प्रकार कार्य-कारण, जल-लहरियाँ, वस्त्र-तन्तु और ब्रह्म-ब्रह्माण्डका सम्बन्ध समझना चाहिये। इसी तरह प्रत्येक देहका आत्मा एक ही परमात्माका अंश है। भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उपाधिभेदसे भिन्न दीखनेवाला यह आत्मा मूलतः एक ही है। एक ही विश्वरूप परमात्माके सब अवयव हैं। इस रहस्यको ठीक-ठीक समझकर सबके प्रति आत्मभाव रखना ही सच्चा आत्मज्ञान है।

यह आत्मा परमात्माका ही अंश होनेसे देहके साथ नहीं मरता। यह अनादि है। परमात्माके गुणोंका वर्णन जैसे असम्भव है, वैसे ही आत्माका भी गुण-वर्णन कठिन है। अतएव वह निर्गुण है, नित्य और शाश्वत होनेसे अविकारी है। उसमें उत्पत्ति, लयादि षड्भाव-विकार नहीं। वह अजर, अमर है। इस प्रकार गुणोंवाले आत्माको परमात्मस्वरूप ही कहना पड़ेगा। इसीलिये सद्गुरु महाराज कहते हैं—

संसारमें ईश्वरकी पूजाका यदि कोई साधन है तो वह है—'आत्मपूजा'। आत्माकी सार्थकता करनी हो तो सृष्टिके प्राणिमात्रमें समदृष्टि रखिये। 'आत्मौपम्य बुद्धि' से सबके साथ व्यवहार कीजिये। अपने मनका सारा मैल, कपट समूल नष्ट कर और सदैव यह बुद्धि रखकर कि 'हम सभी एक ही परमात्माकी संतान हैं', प्रत्येक प्राणीकी सेवा कीजिये। यही सच्चा धर्म है। केवल जीवोंको, पशु-पक्षियोंको मारनेसे ही उनकी हिंसा नहीं होती। प्रत्युत 'मारो' कहकर उनका जी दुखानेपर भी जीव-हिंसा होती है। मनसे किसीकी अहितकामनासे भी हिंसा होती है। उससे नैतिक अधःपतन तो होता ही है और तब जीवात्मा परमात्माके साक्षात्कारसे पराङ्मुख भी हो जाता है। मानवको वाणी बोलनेके लिये दी है यह सच है। पर वह बुरे, कठोर, असत्य वचन बोलनेके लिये कभी नहीं है। सत्य, नम्र और मृदुतायुक्त हित-भाषणके लिये ही परमात्माने हमें वाणी दी है। उसे हम सत्य, मृदु, नम्र और हितकारिताका रूप देकर ही सच्चे अर्थमें 'सार' बना सकते हैं।

इसलिये स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी प्राणीको तन, वचन, मनसे किसी प्रकार कष्ट न पहुँचाना धर्मका आद्यतत्त्व है। इसी आद्यतत्त्व सत्य-धर्मके यथावत् अनुष्ठानके लिये प्रत्येक व्यक्ति आचरण कर सके, ऐसे नियम भी 'धर्म' माने जाते हैं, जिनमें कतिपय ये हैं—'सबमें एक ही आत्मा है—यह समझकर सत्कार्यमें प्रत्येककी सहायताके लिये तैयार रहना, बिना किसी हेतुके निष्काम भावसे पीड़ितोंकी सेवा करना, सभीके कल्याणकी निरन्तर कामना करना, जनता-जनार्दनकी सेवामें सदैव तत्पर रहना, परोपकार करना।'—ये ही महत्तम कार्य हैं। इस आत्म-धर्मका पालन करते समय कोई आपको कितना ही कष्ट, दुःख दे, तो भी उधर ध्यान न देकर आपको अपना कर्तव्य करते रहना चाहिये। यही हम मानवोंका सच्चा धर्म है।

परोपकार-धर्मके आदर्श

(१)

महर्षि दधीचि

'वृत्रासुरके निधनका एक ही उपाय है।' देवताओंकी प्रार्थनापर भगवान् नारायण प्रकट हुए भी तो उन्होंने एक अटपटा मार्ग बतलाया—'महर्षि दधीचिकी अस्थियोंसे विश्वकर्मा वज्र बनायें तो उस वज्रसे वह असुर मारा जा सकता है।'

वृत्रासुरने स्वर्गपर अधिकार कर लिया था। इन्द्रादि देवता युद्ध करने गये तो उनके सब अस्त्र-शस्त्र उसने निगल लिये। अब देवता तो निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहे थे और वृत्रके संरक्षणमें दैत्योंने अमरावतीको अपना निवास बना रखा था। त्रिलोकी असुरोंके अत्याचारसे संतप्त थी। देवता ब्रह्मलोक गये ब्रह्माजीके समीप और सृष्टिकर्ताको साथ लेकर भगवान् नारायणकी स्तुति करने लगे।

'दधीचिकी अस्थि!' देवताओंका मुख लटक गया। उन महातापसकी तपस्यासे भयभीत इन्द्रने पहिले तपोभङ्गके लिये अप्सराएँ भेजी थीं, कामदेवको भेजा था और इस उद्योगके असफल होनेपर दधीचिको मार देने तकका उद्योग किया था। इन्द्र, वरुण, यम आदि सबने अपने आघात किये थे और किसी प्रकारका प्रतिकार किये बिना दधीचि अविचल बने रहे। उनके तेजसे ही लोकपालोंके दिव्यास्त्र व्यर्थ हो गये थे। अब उन्हीं महर्षि दधीचिकी अस्थि चाहिये—भला, उनकी अस्थि कैसे मिलेगी? उन्हें मारना सम्भव होता तो क्या कम उद्योग किया था इन्द्रने पहिले उन्हें मार देनेका।

'वे परम धर्मात्मा हैं। उनसे याचना करनेपर अपना देह वे प्रसन्नतापूर्वक दे देंगे!' भगवान् नारायणने देवताओंका नैराश्य देखकर उन्हें समझाया और वे अदृश्य हो गये।

'तात! हम सब विपत्तिमें पड़ गये हैं। आपके समीप याचना करने आये हैं। हमको आपके शरीरकी अस्थियाँ चाहिये।' देवता गये महर्षि दधीचिके आश्रममें और उन्होंने महर्षिसे प्रार्थना की।

वे ही इन्द्र, वे ही देवता, जिन्होंने दधीचिकी तपस्या भंग करने तथा उनको मार देनेका कोई उद्योग ऐसा नहीं जो अपने वश भर न किया हो और आज भी महर्षिसे उनकी अस्थि माँगने आये थे; किंतु ऋषिके ललाटपर एक सूक्ष्म संकुचन भी नहीं आया! उनके अन्तरने कहा—'सृष्टिमें सात्त्विकताकी विजय होनी चाहिये। संसारके प्राणियोंको असुरोंके उत्पीडनसे परित्राण मिलना चाहिये। इसका जो निमित्त बन सके—वही धन्य है।'



'यह शरीर तो नश्वर है। एक दिन जब यह मुझे छोड़ देगा, तब मैं इसे क्यों पकड़े रहनेका आग्रह करूँ?' महर्षिने कहा। 'इससे आप सबकी सेवा हो सके तो इसकी सार्थकता स्वतः सिद्ध है। मेरे प्रभुकी कृपा कि उन्होंने मुझे यह सुअवसर दिया।'

महर्षि समाधि लगाकर बैठ गये। योगके द्वारा उन्होंने प्राणोत्सर्ग किया। जंगली गायोंने उनके शरीरका मेद-मांस चाट लिया। अस्थियोंसे

विश्वकर्माने वज्र बनाया और उस वज्रसे इन्द्रने वृत्रासुरको मारा। —सु०

(२)

गीधराज जटायु

श्रीराम मायासे स्वर्णमृग बने मारीचके पीछे धनुष चढ़ाये चले और वह उन्हें दूर वनमें ले गया। वहाँ बाण लगनेपर भी उसने 'हा लक्ष्मण !' की पुकार की। यह आर्तस्वर सुनकर श्रीवैदेहीका धैर्य स्थिर नहीं रहा। उनके आग्रहसे इच्छा न होनेपर भी कुमार लक्ष्मणको बड़े भाईके पास जाना पड़ा। दुरात्मा रावण तो इस अवसरकी प्रतीक्षामें ही था। वह साधुवेशमें श्रीरामकी पर्णकुटीपर आया; किंतु पीछे अपना रूप प्रकट करके बलपूर्वक उसने वैदेहीको उठाकर रथमें बैठा लिया। अपने आकाशगामी रथसे वह शीघ्रतापूर्वक वहाँसे भागा।

श्रीजनकनन्दिनी राक्षसके हाथमें पड़कर आर्तक्रन्दन करती जा रही थीं। वह करुण चीत्कार कर्णमें पड़ा पक्षिराज जटायुके। वे बहुत वृद्ध हो चुके थे। सत्ययुगके प्रारम्भमें उनका जन्म हुआ था। लेकिन उदात्तप्राण प्राणी किसीको विपत्तिमें देखकर अपनी शक्ति; अपने संकटका विचार करने तो नहीं बैठते।

धावा क्रोधवंत खग कैसें। छूटै पबि पर्बत कहँ जैसें॥

पूरे वेगसे टूटे वे त्रिलोकविजयी रावणके ऊपर और उनका वह प्रचण्ड वेग सुरासुरजयी दशग्रीव भी एक बार सँभाल नहीं सका।

धरि कच बिरथ कीन्ह महि गिरा।

केश पकड़कर रथसे रावणको नीचे फेंक दिया उन्होंने और श्रीजानकीको झपट लिया। उन विदेहतनयाको सुरक्षित रखकर उन्होंने फिर आक्रमण किया राक्षसपर। रावणका रथ टूट चुका था। घोड़े मार दिये गये थे। जटायुके पंजे तथा चोंचके आघातने उसे क्षत-विक्षत कर डाला था। 'लोकप जाकें बंदीखाना।' वह रावण व्याकुल-संत्रस्त हो गया। किंतु जटायु वृद्ध थे। रावणने अन्तमें खड्गसे उनके पंख काट दिये और वे भूमिपर गिर पड़े। उस समय भी उन्होंने श्रीरामको सीता-हरणका संदेश देनेके लिये प्राणोंको रोक रक्खा किसी प्रकार।

मारीचको मारकर भाईके साथ श्रीरघुनाथ लौटे। जनकनन्दिनी कुटीमें नहीं मिलीं तो उनके वियोगमें विह्वल उनका अन्वेषण करते आगे बढ़े। इसी अवस्थामें जटायु मिले उन्हें। जटायुका त्याग; उनका पराक्रम ऐसा था कि मर्यादा-पुरुषोत्तम नरनाट्य भूल गये। वे स्पष्ट बोले—'तात ! आप शरीरको रक्खें। मैं आपको अभी स्वस्थ कर देता हूँ।'

जटायु इसे कैसे स्वीकार कर लें। सम्मुख श्रीराम साक्षात् खड़े हों; मृत्युके लिये ऐसा मङ्गलपर्व क्या पुनः आना था। वे शिव-विधि-वन्दित-चरण; सर्वेश्वर रक्तसे लथपथ जटायुको गोदमें लेकर बैठे थे। उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा गिर रही थी। 'जटायु की धूरि जटान सों झारी' श्रीरामने और स्वीकार किया कि सर्वसमर्थ होनेपर भी पक्षिश्रेष्ठको कुछ देनेमें वे समर्थ नहीं।

तात कर्म निज तें गति पाई।

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

शरीर त्यागकर जटायु भगवद्धाम गये दिव्य देहसे और श्रीरामने चिता बनाकर उनके शरीरकी उत्तर-क्रिया सम्पन्न की। पिताका सम्मान दिया उन्हें। —सु०

(३)

देवी कुन्ती

लाक्षाभवनमें पाण्डवोंको जला देनेका षड्यन्त्र दुर्योधनने किया था; किंतु महात्मा विदुरकी सहानुभूति तथा पूर्वसावधानीके कारण पाण्डव बच गये। माता कुन्तीके साथ वे एक सुरंगद्वारा चुपचाप वनमें निकल गये। जब राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके पक्षमें थे और उनके पुत्र कौरव पाण्डवोंको नष्ट करनेपर तुले थे, पाण्डवोंके लिये बिना विशेष सहायक प्राप्त किये प्रकट होना उचित नहीं था। वे वनके मार्गसे एकचक्रा नगरी पहुँचे और वहाँ अपने काम आदि छिपाकर रहने लगे।

एकचक्रा नगरीके समीप वनमें बक नामका एक अत्यन्त बलवान् राक्षस रहता था। नगरवासियोंने राक्षसके भय तथा अत्याचारसे घबराकर उससे संधि-कर ली थी। संधिके नियमानुसार नगरके प्रत्येक घरसे बारी-बारीसे एक-एक मनुष्य उस राक्षसके लिये भोजन लेकर प्रतिदिन जाता था। दुष्ट राक्षस उस भोजन-सामग्रीके साथ लानेवालेको भी खा लेता था। यही एकचक्रा नगरी थी, जहाँ पाण्डव एक ब्राह्मणके घर टिके थे।



नगरके प्रत्येक घरकी जब बारी आती थी राक्षसको भोजन भेजनेकी तो इस ब्राह्मण-परिवारकी भी बारी आती ही थी। इस घरकी बारी आयी तो घरमें रोना-पीटना मच गया। परिवारमें ब्राह्मण, उसकी पत्नी, पुत्र तथा कन्या थी। उनमेंसे प्रत्येक अपनेको राक्षसका भोजन बनाकर दूसरोंके प्राण बचाना चाहता था। रुदनके साथ यह विवाद चल रहा था। प्रत्येक चाहता था उसे राक्षसके पास जाने दिया जाय।

युधिष्ठिर भाइयोंके साथ भिक्षा करने बाहर गये थे। केवल भीमसेन तथा कुन्तीदेवी घरपर थीं। ब्राह्मण-परिवारकी बातें सुनकर उनका हृदय भर आया। उन्होंने जाकर ब्राह्मणसे कहा—'आप सब क्यों रोते हैं? हम सब आपके आश्रय-में रहते हैं। आपकी विपत्तिमें सहायता करना हमारा कर्तव्य है। आप चिन्ता न करें। मैं अपने एक पुत्रको राक्षसका भोजन लेकर भेज दूँगी।'

'ऐसा कैसे हो सकता है? आप सब हमारे अतिथि हैं। अपने प्राण बचानेके लिये अतिथिका प्राण लेने-जैसा अधर्म हम नहीं करेंगे।' ब्राह्मणने प्रस्ताव अस्वीकार किया।

कुन्तीदेवीने समझाया कि उनके अत्यन्त बलवान् पुत्र भीमसेन राक्षसको मार देंगे। ब्राह्मण किसी प्रकार मानते न थे। अन्तमें कुन्तीने कहा—'आप मेरी बात नहीं मानेंगे, तो भी मेरी आज्ञासे मेरा पुत्र तो आज राक्षसके पास जायेगा ही। आप उसे रोक नहीं सकते।'

ब्राह्मण विवश हो गया। माताकी आज्ञासे भीमसेन वनमें जानेको उद्यत हो गये। युधिष्ठिर भाइयोंके साथ लौटे तो अन्तमें उन्होंने भी माताकी बातका समर्थन किया। बैलगाड़ीमें भोजन-सामग्री भरकर भीम निश्चित स्थानपर गये। वहाँ उन्होंने बैल खोल दिये। स्वयं भोजनकी पूरी सामग्री खा ली। युद्धमें उन्होंने राक्षसको मारकर एकचक्रा नगरी-को सदाके लिये निर्भय कर दिया।

भीमसेनको भेजते समय कुन्तीदेवीने कहा था—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—किसीपर भी विपत्ति आये तो अपने प्राणोंको संकटमें डालकर उसकी रक्षा करना बलवान् क्षत्रियका धर्म है। ये लोग ब्राह्मण हैं, निर्बल हैं और हमारे आश्रयदाता हैं। इनकी रक्षामें कदाचित् प्राण जायँ भी तो तुम्हारा क्षत्रिय-कुलमें जन्म लेना सार्थक ही होगा। क्षत्राणी ऐसे ही अवसर-के लिये पुत्रको जन्म देती है।' —सु०

(४)

कोसलराज

काशीनरेशने कोसलपर आक्रमण कर दिया था। कोसलके राजाकी चारों ओर फैली कीर्ति उन्हें असह्य हो गयी थी। युद्धमें उनकी विजय हुई। पराजित नरेश वनमें भाग गये थे; किंतु प्रजा उनके वियोगमें व्याकुल थी और विजयीको अपना सहयोग नहीं दे रही थी। विजयके गर्वसे मत्त काशीनरेश प्रजाके असहयोगसे क्रुद्ध हुए। शत्रुको सर्वथा समाप्त करनेके लिये उन्होंने घोषणा करा दी—'जो कोसलराजको ढूँढ़ लायेगा, उसे सौ स्वर्ण-मुद्राएँ पुरस्कार-में मिलेंगी।'

इस घोषणाका कोई प्रभाव नहीं हुआ। धनके लोभमें अपने धार्मिक राजाको शत्रुके हाथमें देनेवाला अधम वहाँ कोई नहीं था।

कोसलराज वनमें भटकते घूमने लगे। जटाएँ बढ़ गयीं। शरीर कृश हो गया। वे एक वनवासी दीखने लगे। एक दिन उन्हें देखकर एक पथिकने पूछा—'यह वन कितना बड़ा है? वनसे निकलने तथा कोसल पहुँचनेका मार्ग कौन-सा है?'

नरेश चौंके! उन्होंने पूछा—'आप कोसल क्यों जा रहे हैं?'

पथिकने कहा—'विपत्तिमें पड़ा व्यापारी हूँ। मालसे लदी नौका नदीमें डूब चुकी। अब द्वार-द्वार कहाँ भिक्षा माँगता भटकता डोलूँ। सुना है कि कोसलके राजा बहुत उदार हैं। अतएव उनके पास जा रहा हूँ।'

तुम दूरसे आये हो। वनका मार्ग बीहड़ है। चलो, तुम्हें वहाँतक पहुँचा आऊँ।' कुछ देर सोचकर पथिकसे राजाने कहा।

पथिकके साथ वे काशिराजकी सभामें आये। अब उन जटाधारीको कोई पहचानता न था। काशिराजने पूछा—'आप कैसे पधारे?'

उन महत्तमने कहा—'मैं कोसलका राजा हूँ। मुझे पकड़नेके लिये तुमने पुरस्कार घोषित किया है। अब पुरस्कारकी वे सौ स्वर्णमुद्राएँ इस पथिक-को दे दो!'



सभामें सन्नाटा छा गया। सब बातें सुनकर काशिराज अपने सिंहासनसे उठे और बोले—'महाराज! आप-जैसे धर्मात्मा, परोपकार-निष्ठको पराजित करनेकी अपेक्षा उसके चरणाश्रित होनेका गौरव कहीं अधिक है। यह सिंहासन अब आपका है। मुझे अपना अनुचर स्वीकार करनेकी कृपा कीजिये!'

व्यापारीको मुँहमाँगा धन प्राप्त हुआ। कोसल और काशी उसी दिन मित्रराज्य बन गये। —सु०

(५)

महाराज मेघवाहन

महाराज मेघवाहन दिग्विजय करने निकले थे। समुद्रतटीय वनसे वे जा रहे थे कि उनके कानोंमें एक चीत्कार पड़ी—'मेरी रक्षा करो! कोई मेरे प्राण बचाओ!'

महाराजका रथ सेनासे आगे निकल आया था। अतः वे खड्ग लेकर रथसे कूद पड़े। सारथिको रथ

वहीं रोके रहनेके लिये कहकर वनमें प्रवेश किया उन्होंने। सघन वनके भीतर एक चण्डिकामण्डप मिला। देवीकी पूजा हो चुकी थी और एक शबर-सेनापति पुरुष-बलि देनेको उद्यत था। जिसकी बलि दी जा रही थी, वही व्यक्ति चीत्कार कर रहा था। उसने महाराजको देखते ही कातर कण्ठसे पुकार की—'भद्रपुरुष! मेरी रक्षा करो।'

'डरो मत! सुरक्षित हो तुम!' महाराजने उसे आश्वासन दिया। और शबर-सेनापतिकी ओर मुड़े—'मेघवाहनके राज्यमें दूसरेपर अत्याचार करनेका साहस करनेवाला तू कौन है? तुझे प्राणोंका भय नहीं है?'

शबर-सेनापति देखते ही समझ गया था कि ये स्वयं सम्राट् मेघवाहन न भी हों तो उनके कोई बहुत बड़े अधिकारी अवश्य होंगे। उसने नम्रता-पूर्वक उत्तर दिया—'मेरा पुत्र रुग्ण है। मरणासन्न हो गया है वह। देवताओंने उसके रोगमुक्त होनेका उपाय नर-बलि बतलाया है। मैं पुत्रकी प्राणरक्षाके लिये यह देवाज्ञाका पालन कर रहा हूँ। मेरे पुण्यकार्यमें आपको बाधक नहीं बनना चाहिये।'

'असहाय प्राणीका वध महापाप है। मोहान्ध होकर तुम इस पापमें प्रवृत्त हुए हो।' महाराजने कहा।

'आपके लिये जैसा यह अपरिचित है, मेरा पुत्र भी है। मैं पुत्रमोहमे ग्रस्त साधारण प्राणी हूँ; किंतु आप इसकी रक्षाके लिये मेरे पुत्रको मृत्युके मुखमें फेंक रहे हैं, यह कौन-सा पुण्य है? उस बालकने आपका क्या बिगाड़ा है?' शबर-सेनापतिने अभीतक बलि देनेका शस्त्र नीचे नहीं रक्खा था। वह कह रहा था—'मैं और मेरे परिवारके कई व्यक्तियोंका जीवन उस बालककी रक्षापर निर्भर है। आप एकको बचानेके प्रयत्नमें अनेककी हत्या अपने सिर ले रहे हैं।'

वध्यपुरुष बड़ी दीनता-याचनाभरी दृष्टिसे देख रहा था महाराजकी ओर। कई क्षण मौन रहकर महाराजने विचार किया। सोचकर वे बोले—'तुम्हें तो किसीकी भी बलि देनी है। मेरा कर्तव्य इस पुरुष तथा तुम्हारे पुत्र—दोनोंके प्राणोंकी रक्षा है। तुम इसे छोड़ दो और मेरी बलि देकर देवताको संतुष्ट करो!'



महाराजने हाथका खड्ग फेंक दिया। वे मुकुट उतारकर बलिस्थानपर पहुँच गये। बलिके लिये बँधे पुरुषको उन्होंने खोल दिया और स्वयं वहाँ खड़े होकर मस्तक झुका दिया।

'राजन्! आपके प्राण पूरी प्रजाकी रक्षाके लिये आवश्यक हैं। आप यह क्या कर रहे हैं? राजाको प्रजा, धन, परिवारकी चिन्ता त्यागकर अपनी प्राणरक्षा करनी चाहिये—यह नीति है।' शबर-सेनापतिने समझानेका प्रयत्न किया।

'तुम नीतिकी बात ठीक कहते हो किंतु धर्म नीतिसे बहुत श्रेष्ठ है। मैं प्राणभयसे धर्म नहीं त्याग सकता। तुम शस्त्र उठाओ!' मेघवाहनने फिर सिर झुकाया।

'महाराज मेघवाहनकी जय हो! आप धन्य हैं।' शबर-सेनापति तो कोई था ही नहीं। वहाँ तो

लोकपाल वरुण खड़े थे आशीर्वाद देते हुए। महाराजकी धर्म-परीक्षाके लिये उन्होंने ही यह नाटक रचा था। —सु०

(६)

शिवाजी और ब्राह्मण

बादशाह औरंगजेबने शिवाजीको दिल्ली बुलवाया भेंट करनेके लिये और वहाँ पहुँचनेपर उसने उनको बंदी बना लिया। ऐसे विश्वासघाती शत्रुके साथ नीति अपनाये बिना निस्तार नहीं था। शिवाजीने बीमारीका बहाना किया। ब्राह्मणोंको मिठाईके टोकरे दान करने लगे। एक दिन स्वयं तथा उनके पुत्र सम्भाजी मिठाईके टोकरोंमें छिपकर बैठे और औरंगजेबके जालसे निकल गये।

मार्गमें शिवाजी बीमार हो गये। उनके साथ उनके दो विश्वस्त सेवक थे—तानाजी और येसाजी। तीव्र ज्वरमें यात्रा करना निरापद नहीं था। मुर्शिदाबादमें बहुत प्रयत्न करनेपर इन गुप्तवेश-धारियोंको विनायकदेव नामक एक ब्राह्मणने अपने यहाँ आश्रय देना स्वीकार किया। शिवाजीको लगा कि स्वस्थ होकर यात्रा करने योग्य होनेमें पर्याप्त समय लगेगा, अतः उन्होंने साथियोंसे आग्रह किया—'आप दोनों सम्भाजीको लेकर महाराष्ट्र चले जायँ, राज्यकी सुरक्षा एवं ठीक प्रशासन आवश्यक है। मैं स्वस्थ होकर आऊँगा।'

साथियोंको विवश होकर यह आदेश मानना पड़ा। लेकिन तानाजीने कुछ दूर जाकर येसाजीसे कहा—'आप सावधानीसे सम्भाजीको ले जायँ। मैं यहीं गुप्तरूपसे स्वामीकी देख-रेख रक्खूँगा।'

छत्रपति शिवाजीने अपना वेश बदल रक्खा था। ब्राह्मण विनायकदेव उन्हें गोस्वामी जानता था। वह अत्यन्त विरक्त स्वभावका था। माताके साथ रहता था। उस विद्वान् ब्राह्मणने विवाह किया ही न था। भिक्षा ही आजीविकाका साधन थी। परिग्रहकी प्रवृत्ति उसे छू नहीं गयी थी। जितनेसे एक दिनका काम चले, उतनी ही भिक्षा प्रतिदिन लाता था। एक दिन भिक्षा कम मिली। ब्राह्मणने भोजन बनाकर माता तथा शिवाजीको खिला दिया और स्वयं भूखा रह गया।

छत्रपति शिवाजीके लिये अपने आश्रयदाताकी यह दरिद्रता असह्य हो गयी। उन्होंने सोचा—'दक्षिण जाकर धन भेजूँगा; किंतु इसका क्या विश्वास कि वह यहाँतक सुरक्षित पहुँच ही जायगा। फिर यह बात प्रकट होनेपर यवन बादशाह बेचारे ब्राह्मणको क्या जीवित रहने देगा?'



अन्तमें छत्रपतिने ब्राह्मणसे कलम-दावात, कागज लेकर एक पत्र लिखा और उसे वहाँके सूबेदारको दे आनेको दिया। पत्रमें लिखा था—'शिवाजी इस ब्राह्मणके घर टिका है। इसके साथ आकर पकड़ लें। लेकिन इस सूचनाके लिये ब्राह्मण-को दो हजार अशर्फियाँ दे दें। ऐसा नहीं करनेपर शिवाजी हाथ आनेवाला नहीं है।'

सूबेदार जानता था कि शिवाजी बातके धनी हैं और उनकी इच्छाके विरुद्ध उन्हें पकड़ लेना हँसी-खेल नहीं है। शिवाजीको दिल्ली-दरबारमें उपस्थित करनेपर बादशाहसे पुरस्कारमें एक सूबातक मिल सकना सम्भव था। इसलिये दो सहस्र अशर्फियाँ

लेकर वह ब्राह्मणके घर गया और वह थैली वहाँ देकर शिवाजीको अपने साथ ले चला।

ब्राह्मणको अबतक कुछ पता नहीं था। अब सूबेदार उसके अतिथि गोस्वामीको अपने साथ लेकर चला तो ब्राह्मण बहुत दुखी हुआ। अचानक उसे गोस्वामीके साथी तानाजी दीखे। वह उनके पास गया। उनसे उसने गोस्वामीके सूबेदारद्वारा पकड़कर ले जानेकी बात सुनायी। तानाजीने बताया—'वे गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक छत्रपति शिवाजी थे। मैं उनका सेवक हूँ।'

ब्राह्मण तो यह सुनते ही मूर्छित हो गया। चेतना लौटनेपर सिर पीट-पीटकर रोने लगा—'वे मेरे अतिथि थे। मुझ अधमकी दरिद्रता दूर करनेके लिये उन्होंने अपने-आपको मृत्युके मुखमें दे दिया! मुझ पापीके द्वारा ही वे शत्रुके हाथों दिये गये।'

ब्राह्मण बार-बार हठ करने लगा कि दो सहस्र अशर्फियाँ तानाजी ले लें और उनसे किसी प्रकार छत्रपतिको छुड़ायें। तानाजी पहले ही पता लगाकर आये थे कि सूबेदार कल किस समय, किस मार्गसे शिवाजीको दिल्ली ले जायगा। ब्राह्मणको उन्होंने आश्वासन दिया। सूबेदार जब छत्रपतिको लेकर सिपाहियोंके साथ रात्रिमें चला, वनमें पहुँचते ही तानाजीने अचानक आक्रमण कर दिया। उनके साथ पचास सैनिक थे। शिवाजीको उन्होंने सूबेदारके हाथसे छुड़ा लिया। —सु०

(७)

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

बंगालमें अकाल पड़ा था। लोग भूखसे व्याकुल होकर भागने लगे थे। ऐसे अवसरपर भिक्षा माँगना मनुष्यके लिये स्वाभाविक हो जाता है। बर्दवानमें ईश्वरचन्द्र विद्यासागरके समीप एक अत्यन्त दुर्बल, फटे चिथड़े लपेटे बालक आया। उसने प्रार्थना की—'महाशय! कृपा करके एक पैसा दीजिये। मैं और मेरी माता भूखी हैं।'

विद्यासागरने पूछा—'यदि मैं तुम्हें चार पैसा दूँ तो क्या करोगे?'

'दो पैसेसे भोजन लूँगा। दो पैसे माताको दूँगा।' बच्चेने कहा।

'यदि तुम्हें दो आने दिये जायँ?' विद्यासागर बोले।

लड़केको लगा कि उससे परिहास किया जा रहा है। वह विश्वास ही नहीं कर सकता था कि कोई दो आने उसे देगा। उसने लौटनेका उपक्रम करते कहा—'मुझ दरिद्रसे परिहास करना आपको उचित नहीं है। पैसा नहीं देना हो तो मत दीजिये।'

'मैं परिहास नहीं करता।' विद्यासागरने लड़केका हाथ पकड़ लिया और बोले—'सचमुच तुम्हें मैं चार आने दूँ तो उसका क्या करोगे?'

'चार आने?' लड़केने आश्चर्यसे देखा। क्षणभर सोचकर बोला—'तब तो मेरी विपत्ति ही कट जायगी। दो आनेका भोजन लूँगा अपने और माँके लिये। दो आनेके आम लेकर बेचूँगा। उससे मेरी जीविका चल निकलेगी।'

विद्यासागरने उसे एक रुपया दिया। लड़का प्रसन्न होकर चला गया। विद्यासागरजीको यह घटना, भला, क्या स्मरण रहती; किंतु दो वर्ष पीछे वे फिर बर्दवान गये। उन्हें देखते ही एक युवकने दूकानसे उठकर प्रणाम किया और अपनी दूकानमें चलनेकी प्रार्थना की। विद्यासागरने जब कहा कि वे उसे नहीं पहचानते, तब उसके नेत्रोंमें आँसू उमड़ पड़े। उसने विद्यासागरसे रुपया पानेकी घटना सुनायी। रुपया पाकर वह फेरीवाला बन गया था। धीरे-धीरे उसने श्रम करके अब दूकान खोल ली थी। विद्यासागर उसे उत्साहित करनेके लिये उसकी दूकानमें गये और देरतक बैठे रहे।

× × ×

उन दिनों ईश्वरचन्द्र विद्यासागर स्वर्मा टाँडमें रहते थे। एक दिन उन्हें ढूँढ़ता एक व्यक्ति आया और बोला—'मैं कई दिनोंसे आपसे मिलनेके प्रयत्नमें था। कलकत्तेतक भटक आया हूँ।'

विद्यासागर बोले—'देखिये, भोजन तैयार है। चलिये, पहले भोजन कर लीजिये। फिर हम दोनों बातें करेंगे।'

यह बात सुनते ही उसके नेत्रोंसे टप-टप आँसू गिरने लगे। विद्यासागरने रोनेका कारण पूछा तो बोला—'मुझे तो आपकी दयालुतासे रोना आया। गरीबको कौन पूछता है। कई दिनसे भटक रहा हूँ। पानी पीनेकी बात दूर, किसीने बैठनेतकको नहीं कहा और आप हैं कि··· ।'

'इसमें हो क्या गया ?' विद्यासागरने उसे बीचमें ही रोक दिया। 'अपने घर आये अतिथिका सत्कार सबको करना ही चाहिये। आप झटपट चलकर भोजन करें।'

बड़े सम्मानसे उन्होंने उसे भोजन कराया। पीछे पूछा कि वह उनके पास किस कामसे आया है। —सु०

(८)

कन्नड़ कृष्ण नायर

नारायण नायर त्रावणकोर राज्यके तोरूर ग्राममें एक महाजनके हाथीके महावत थे। एक दिन हाथी पागल हो गया। उसने अपने महावत-को उठाकर भूमिपर पटक दिया और अपने दाँत-से उनकी पीठमें चोट की। संयोग अच्छा था, हाथीको दूसरे लोगोंने वशमें कर लिया। नारायण नायर मूर्छित हो गये थे। उन्हें अस्पताल पहुँचाया गया।

हाथीका दाँत पीठमें भीतरतक घुस गया था। घाव बड़ा था। डाक्टरने कहा—'इसमें टाँके लगाना कठिन है। किसी जीवित मनुष्यका डेढ़ पौंड ताजा मांस मिले तो उसे घावमें भर-कर टाँका लगाया जा सकता है।'

परिवार, परिचित, मित्र—कोई नहीं निकला, जो अपने देहका लगभग तीन पाव मांस देना चाहे। लेकिन समाचार फैला तो एक सम्पन्न युवक दौड़ा अस्पताल आया। उसने डाक्टरसे कहा—'मेरा मांस लेकर रोगीके प्राण बचाइये।'

बिना किसी सम्बन्धके दूसरेके लिये मांस-दान करनेवाले ये महानुभाव थे—कन्नड़ कृष्ण नायर। उनकी जाँघसे मांस लेकर डाक्टरने रोगीका घाव भरा। नारायण नायरके प्राण बच गये। कन्नड़ कृष्णको भी जाँघका घाव भरने-तक अस्पतालमें रहना पड़ा। —सु०

(९)

माँग

बर्माके इवेबू गाँवके पास एक बड़ा बाँध आस-पासके किसानोंने बनाया था। वर्षा समाप्त होनेपर उस बाँधके पानीसे खेत सींचे जायँगे, यह आशा उचित ही थी। लेकिन उस वर्ष वर्षा एक दिन बहुत अधिक हुई, नदी उमड़ पड़ी। यदि नदीका जल किनारा तोड़कर बाँधमें चला जाय तो बाँध टूट जायगा। बाँसके टट्टरसे बने घरवाले गाँवोंमें प्रलय ही आ जायगी। इस खतरेसे सावधान करनेके लिये चौकीदारने हवामें गोली चलायी। गाँवके लोग बाँधकी रक्षामें जुट गये। मिट्टी, पत्थर, रेत, लकड़ी, बाँस बाँधके किनारे डालकर उसे सुदृढ़ किया जाने लगा।

माँगको बाँधके निरीक्षणका काम दिया गया। वह घूमता हुआ देख रहा था। एक स्थानपर लंबा पतला छेद उसे दीखा, जिससे नदीका जल भीतर बाँधमें आ रहा था। थोड़े क्षण भी लगे तो उमड़ती नदी वहाँ बाँध तोड़ देगी—यह वह समझ गया। किसीको पुकारनेका समय नहीं था। वह स्वयं छेदको अपने शरीरसे दबा-कर खड़ा हो गया।

माँगको जलमें खड़े होना पड़ा था। वर्षा हो रही थी और हवा पूरे वेगपर थी। उसका शरीर अकड़ने लगा। भयंकर दर्द होने लगा हड्डियोंमें। वेदनासे मूर्छित हो गया, किंतु शरीर जलके वेगके कारण बाँधसे सटा रहा।

'माँग कहाँ गया ?' गाँवके लोगोंने थोड़ी देरमें उसकी खोज की। उसे बाँध देखकर उन लोगोंको सूचना देनी थी। लोग स्वयं बाँध देखने चल पड़े। उन्हें बाँधसे सटा माँग दीखा; किंतु वह मूर्छित था। उसके शरीर हटाते ही नदीका जल बाँधमें जाने लगा। दूसरा मनुष्य वह छेद दबा-कर खड़ा हुआ। लोगोंने वहाँ बाँधको सुदृढ़ किया। माँगको उठाकर गाँव पहुँचाया गया। —सु०

(१०)

मैडम ब्लैवट्स्की

मैडम ब्लैवट्स्कीका जन्म रूसके दक्षिण भागमें इकटरीनसलो स्थानमें सन् १८३१ ई०में एक समृद्ध परिवारमें हुआ था। उन्होंने थियॉसफी समाजकी स्थापनामें अमित योग दिया था और लोगोंमें निर्मल अध्यात्मशक्तिके प्रति श्रद्धा जगायी।

उनके जीवनका एक मार्मिक प्रसङ्ग है, जिससे उनके परहित-चिन्तनपर प्रकाश पड़ता है। अपनी विचारधाराके प्रचारके लिये वे अमेरिकाके न्यूयार्क नगरमें जा रही थीं। उन्होंने प्रथम श्रेणीका टिकट लिया था और हावरमें जहाजपर चढ़ने ही जा रही थीं कि देखा, एक स्त्री अपने दो बच्चोंको साथ लिये सिसककर रो रही है। ब्लैवट्स्कीने रोनेका कारण पूछा।

'बहिन ! मेरे पतिने मुझे अमेरिका बुलानेके लिये रुपये भेजे थे। जहाजके एक धोखेबाज एजेंटने मुझे नकली टिकट देकर मेरे पैसे ठग लिये। मैंने उसको बहुत खोजा, पर वह दीखता ही नहीं। मेरे टिकट साधारण श्रेणीके थे।' स्त्रीने अपनी विवशता प्रकट की। ब्लैवट्स्कीका कोमल हृदय उसकी वेदनासे द्रवित हो उठा।

'बहिन ! बस इतनी ही बात है ? इसके लिये रोने-धोनेसे लाभ ही क्या है।' करुणामयी ब्लैवट्स्कीने मुसकराकर कहा। स्त्रीको अपने बच्चों-सहित पीछे-पीछे आनेका संकेत किया। वह ब्लैवट्स्कीकी सद्भावनासे आशान्वित हो उठी।

ब्लैवट्स्की जहाजके एजेंटके पास गयीं, उन्होंने अपना प्रथम श्रेणीका टिकट बदल दिया, उसके स्थानपर साधारण श्रेणीके चार टिकट ले लिये।

'आओ, बहिन ! जहाज खुलना ही चाहता है। हम शीघ्रतासे अपने स्थानपर चले चलें।' ब्लैवट्स्कीके पीछे-पीछे स्त्री अपने दोनों बच्चे लेकर जहाजपर चढ़ गयी। ब्लैवट्स्कीने साधारण स्थान-पर खड़ी होकर न्यूयार्ककी यात्रा पूरी की। —रा०

परोपकार धर्म और परापकार अधर्म है

परम श्रेष्ठ जन सखुद हानि सह अपनी, करते पर-उपकार।
श्रेष्ठ मनुज, जो निज हितकी रक्षा कर, करते पर-उपकार॥
मध्यम जन, जो निज हित करते, पर-हितका करते न विचार।
अधम मनुज, जो स्व-हित समझकर, पर-हितका करते संहार॥
नीच मनुज, जो स्व-हित बिना भी करते संतत पर-अपकार।
महानीच जन, अहित स्वयंका भी कर, करते पर-अपकार॥

× × × ×

धर्म वही है, होता जिससे सदा-सर्वदा पर-उपकार।
उससे ही होता निश्चय अपना भी सहज सत्यउपकार॥
वह अधर्म है, जिससे होता तनिक दूसरेका अपकार।
उससे अपना भी निश्चय ही होता सहज अमित अपकार॥
बुद्धिमान-जन इसीलिये नित करते रहते पर-उपकार।
क्योंकि उसीसे ही होता है उनका भी अपना उपकार॥
संत अहित-कर्त्ताका भी हैं कभी नहीं करते अपकार।
अपना भूल हिताहित, करते स्वाभाविक सबका उपकार॥
संत न कभी जानते कहते—'मैं करता हूँ पर-उपकार'।
रविके सहज प्रकाश-दान सम सबको नित देते उपकार॥

सेवक-धर्मके आदर्श

(१)

भक्त हनुमान्‌जी

सुनु कपि तोहि उरिन मैं नाहीं।

—मर्यादापुरुषोत्तमको यह स्वीकार करना पड़ा। सेवाकी मानो साकार प्रतिमा हैं—श्रीपवनकुमार। सीता-शोधके लिये समुद्र-पार करते समय जब जलमग्न मैनाक पर्वत ऊपर उठा और उसने विश्राम कर लेनेकी प्रार्थना की, तब हनुमान्‌जीने उसे उत्तर दिया—

राम काज कीन्हे बिनु मोहि कहाँ बिश्राम।

उनका एक-एक श्वास, उनका जीवन ही जैसे 'रामकाज'के लिये है। एक कथा संत-समाजमें कही जाती है—अयोध्यामें जब मर्यादापुरुषोत्तम-का राज्याभिषेक हो गया, हनुमान्‌जी वहीं रहने लगे। उन्हें तो श्रीरामकी सेवाका व्यसन ठहरा। रघुनाथजीको कोई वस्तु चाहिये तो हनुमान्‌जी पहिलेसे लिये उपस्थित। रामजीको कुछ प्रिय है तो ये उसे तत्काल करने लग गये। किसी कार्य, किसी पदार्थके लिये संकेततक करनेकी आवश्यकता नहीं होती। सच्चे सेवकका लक्षण ही है कि वह सेव्यके चित्तकी बात जान लिया करता है। वह समझता है कि मेरे स्वामीको कब क्या चाहिये और कब क्या प्रिय लगेगा।

हनुमान्‌जीकी तत्परताका परिणाम यह हुआ कि भरतादि भाइयोंको भी प्रभुकी कोई सेवा प्राप्त होना कठिन हो गया। सब उत्सुक रहते थे कि उन्हें कुछ तो सेवाका अवसर मिले; किंतु हनुमान् जब शिथिल हों, तब तो। अतः सबने मिलकर गुप्त मन्त्रणा की, एक योजना बनायी और श्रीजानकीजी-को अपनी ओर मिलाकर उनके माध्यमसे उस योजनापर श्रीरामजीकी स्वीकृति ले ली।

हनुमान्‌जीको कुछ पता नहीं था। वे सरयू-स्नान करके प्रभुके समीप जाने लगे तो रोक दिये गये—'सुनो हनुमान्! महाराजाधिराजकी सेवा सुव्यवस्थित होनी चाहिये। आजसे सेवाका प्रत्येक कार्य विभाजित कर दिया गया है। प्रभुने इस व्यवस्थाको स्वीकृति दे दी है। जिसके लिये जब जो सेवा निश्चित है, वही वह सेवा करेगा।'

'प्रभुने स्वीकृति दे दी है तो उसमें कहना क्या है।' हनुमान्‌जी बोले। 'यह व्यवस्था बता दीजिये। अपने भागकी सेवा मैं करता रहूँगा।'

सेवाकी सूची सुना दी गयी। उसमें हनुमान्‌जी-का कहीं नाम नहीं था। उनको कोई सेवा दी नहीं गयी थी; क्योंकि कोई सेवा ऐसी बची ही नहीं थी, जो हनुमान्‌को दी जाय। सूची सुनकर बोले—'इससे जो सेवा बच गयी, वह मेरी।'

'हाँ, वह आपकी।' सब सोचते थे कि सेवा तो अब कोई बची ही नहीं है।

'प्रभुकी स्वीकृति मिलनी चाहिये!' पूरी सूचीपर स्वीकृति मिली तो इस व्यवस्थापर भी तो स्वीकृति चाहिये। हनुमान्‌जीने बात प्रभुकी स्वीकृति लेकर पक्की करा ली।

'प्रभुको जब जम्हाई आयेगी, तब उनके सामने चुटकी बजानेकी सेवा मेरी!' हनुमान्‌ने जब कहा, सब चौंक गये। इस सेवापर तो किसीका ध्यान गया ही नहीं था। लेकिन अब तो स्वीकृति मिल चुकी प्रभुकी। राजसभामें प्रभुके चरणोंके समीप उनके श्रीमुखकी ओर नेत्र लगाये हनुमान्‌जी दिनभर बैठे रहे। रात्रि हुई, प्रभु अन्तःपुरमें पधारे और हनुमान्‌जी पीछे-पीछे चले। द्वारपर रोक दिये गये तो हट आये।

यह क्या हुआ? श्रीरामजीका तो मुख ही खुला रह गया। वे न बोलते हैं न संकेत करते हैं, मुख खोले बैठे हैं। जानकीजी व्याकुल हुईं। माताओंको, भाइयोंको समाचार मिला। सब व्याकुल, किसीको कुछ सूझता नहीं। अन्तमें गुरु वसिष्ठ बुलाये गये। महर्षिने आकर इधर-उधर देखा और पूछा—'हनुमान् कहाँ हैं?'

ढूँढ़ा गया तो राजसदनके एक कंगूरेपर बैठे दोनों हाथोंसे चुटकी बजाये जा रहे हैं और नेत्रोंसे

अश्रु झर रहे हैं, शरीरका रोम-रोम खड़ा है। मुखसे गद्गद स्वरमें कीर्तन चल रहा है—'श्रीराम जय राम जय जय राम !'

'आपको गुरुदेव बुला रहे हैं !' शत्रुघ्नकुमारने कहा तो उठ खड़े हुए। चुटकी बजाते हुए ही नीचे पहुँचे।

'आप यह क्या कर रहे हैं ?' महर्षिने पूछा।

'प्रभुको जम्हाई आये तो चुटकी बजानेकी मेरी सेवा है।' हनुमान्‌जीने कहा। 'मुझे अन्तःपुरमें आनेसे रोक दिया गया। अब जम्हाईका क्या ठिकाना, कब आ जाय। इसलिये मैं चुटकी बराबर बजा रहा हूँ, जिससे अपनी सेवासे वञ्चित न रह जाऊँ।'

'तुम चुटकी बराबर बजा रहे हो, इसलिये श्रीरामको तुम्हारी यह सेवा स्वीकार करनेके लिये बराबर जृम्भण-मुद्रामें रहना पड़ रहा है।' महर्षिने रोगका निदान कर दिया। 'अब कृपा करके इसे बंद कर दो।'

हनुमान्‌जीने चुटकी बंद की तो प्रभुने मुख बंद कर लिया। अब पवनकुमारने कहा—'तो मैं यहीं प्रभुके सामने बैठूँ ? और सदा सर्वत्र प्रभुके सामने ही जब-जब प्रभु जायँ तब उनके श्रीमुखको देखता हुआ साथ बना रहूँ; क्योंकि प्रभुको जम्हाई कब आयेगी, इसका तो कोई निश्चित समय है नहीं।'

प्रभुने धीरेसे श्रीजानकीजीकी ओर देखा। तात्पर्य यह था कि 'और करो सेवाका विभाजन ! हनुमान्‌को सेवा-वञ्चित करनेकी चेष्टाका सुफल देख लिया ?'

'यह सब रहने दो।' महर्षि वशिष्ठने व्यवस्था दे दी। 'तुम जैसे पहिले सेवा करते थे, वैसे ही करते रहो।'

अब भला, गुरुदेवकी व्यवस्थाके विरुद्ध कोई क्या कह सकता था। उनका आदेश तो सर्वोपरि है।

—सु०

(२)

आदर्श सेवाके मूर्तिमान् स्वरूप श्रीहनुमान्‌जी

(लेखक—श्रीहृदयशंकरजी 'पागल')

हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी ॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई ॥

आइये, अब हम कुछ क्षणके लिये भगवान्‌के अनन्य चरणानुरागी, सेवक-श्रेष्ठ श्रीहनुमान्‌जीके आदर्शमय पावन चरित्रका अवलोकन करें। प्रस्तुत दृश्य उस समयका है, जब भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने भाइयों तथा प्रिय सेवक श्रीहनूमान्‌जीके सङ्ग अमराईमें विश्रामके हेतु पधारे हैं। उपवनमें पहुँचकर श्रीभरतलालने अपना पीताम्बर जमीनपर बिछा दिया, प्रभु उसपर विराजे और सभी भाई उनकी सेवामें निरत हो गये। सभीने प्रभुकी एकाकी सेवाका कार्य-सम्पादन प्रारम्भ किया, किंतु पवनसुत तो एक असामान्य सेवक ठहरे न ! अतः इन्होंने ऐसे कार्यका चयन किया, जिसमें भक्त तथा भगवान् दोनोंकी सेवाका सुयोग सुलभ होता रहे। यही है इनके चरित्रकी विशेषता। औरोंकी सेवासे अकेले प्रभु सुख पा रहे हैं, पर इनकी सेवा समस्त व्यक्तियोंको अनुप्राणित कर रही है। निम्न चौपाइयाँ उक्त कथनकी प्रामाणिकताके लिये पर्याप्त होंगी—

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अवँराई ॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई ॥
मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥

इन्होंने भगवान्‌को पंखा झलनेका कार्य चुना, जिससे इनकी सेवा सबको मिलती रहे।

मानसमें चार पात्र श्रीलखनलाल, श्रीभरतलाल, श्रीहनुमतलाल और भगवान् श्रीशंकर प्रभुके महान् सेवकोंमें गिने जाते हैं। इसका निर्णय स्वयं भगवान् शंकरने ही किया है। वे औरोंको भक्त तो अवश्य मानते हैं, पर हनुमान्‌के समान 'भाग्यवान् भक्त' और किसीको नहीं बताते। इसका प्रधान कारण है कि स्वयं प्रभु तथा जगज्जननी माँ जानकीने श्रीहनुमान्‌जीको जितना स्नेह दिया और हृदयके

जिस भागमें बैठाया; वहाँतक शायद और कोई पहुँच ही न सका। वाटिकामें रखी सीताको खोजते हुए जब हनुमान्‌जी अशोक-वाटिकामें माँके समक्ष उपस्थित होते हैं और प्रभु-कथाके माध्यमसे अपना परिचय देकर अपनेको प्रभुका दास प्रमाणित कर देते हैं, तब देव-दुर्लभ माँके उस दुर्लभ अनुग्रहको प्राप्त करते हैं; जिसको प्राप्त कर लेनेके पश्चात् सृष्टिमें कोई चीज ऐसी रह नहीं जाती; जीव जिसकी कामना करे। यों तो सारी सृष्टि ही उनकी संतान है, सबपर उनका ममत्व और स्नेह समरूपमें ही रहता है किंतु उनका विशेष आशिष्-पूर्ण वचन पवनपुत्रके प्रति उनके अतिशय स्नेह-की प्रगाढ़ता और असीमताका परिचय देता है।

आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना। होहु तात बल सील निधाना॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥
करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना। निर्भर प्रेम मगन हनुमाना॥
बार बार नाएसि पद सीसा। बोला बचन जोरि कर कीसा॥
अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता। आसिष तव अमोघ बिख्याता॥

इस प्रकार एक ही साथ प्रभु-प्रेम, शील तथा गुणनिधान एवं अजर-अमर होनेकी दिव्य अमोघ आसीससे विभूषितकर माँने मानो स्नेहवश सभी कुछ दे दिया। माँका वात्सल्य यहाँ उमड़ा हुआ दिखायी पड़ता है और उस उमड़े हुए स्नेह-समुद्र-की इतनी निकटता प्राप्त करनेवालेके समान वास्तवमें कोई पुण्यवान् और महान् हो ही नहीं सकता।

उनकी महानताके परिचयका दूसरा स्थल है जब वे प्रभुके समक्ष माँ जानकीकी खोजका संवाद, उनकी वास्तविक स्थितिका परिचय और चूड़ामणि भेंट करते हैं। प्रभु लौकिक दृष्टिसे सीताका संवाद पानेके लिये अति विह्वल हो रहे हैं और सीताकी स्मृतिमें व्याकुल, मौन होकर बैठे निर्निमेष भावसे पृथ्वीको देख रहे हैं। उसी समय श्रीहनुमान्‌जीका आगमन होता है। श्रीजाम्बवंतजीसे सीता-खोजकी खबर लग जाती है। अब प्रभु हनुमान्‌जीको देखते ही हृदयसे लगा लेते हैं। कपिनायक उनको सारे समाचार सुनाते हैं। उस समय प्रेम-विह्वल होकर प्रभु श्रीहनुमान्‌जीको वह प्रेमपूर्ण व्यवहारका दान करते हैं, जो शायद अन्यत्र किसीको प्राप्त नहीं होता। भगवान् कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥

श्रीहनुमान्‌जी प्रेम-व्याकुल हो प्रभुके चरणोंपर गिर जाते हैं और फिर कितनी सतर्कता बर्तते हैं, यह दर्शनीय है।

दो०—सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥

बार बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा॥
प्रभु कर पंकज कपि कें सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥
सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर॥

भक्त हनुमान् भगवान्‌के चरणोंपर प्रेमविह्वल अवस्थामें पड़े हैं और उसी हालतमें पड़े रहना पसंद करते हैं; क्योंकि प्रभुके उठानेपर भी वे उठते नहीं हैं। उठें भी तो कैसे? जीवके लिये सचमुच ही वह घड़ी अत्यन्त महत्त्वकी होती है, जब उसके गिरनेपर कोई उसे उठानेवाला होता है। साधारण सहायकको पाकर भी हम उसको अति उपकारी मानते हैं; किंतु जिसे भगवान् स्वयं अपने हाथ फैलाकर उठानेको प्रस्तुत हैं, उससे बड़ा भाग्यवान् व्यक्ति और हो ही कौन सकता है? हनुमान्‌जीका मस्तक भगवान्‌के चरणोंपर है और प्रभुका कल्याण-मय कर-कमल उनके सौभाग्यशाली शीर्षपर! भक्त तथा भगवान्‌के इस अनन्यविलक्षण प्रेम-व्यवहारको देखकर जगद्गुरु, बुद्धिविशारद, भूतभावन भगवान् शंकर,—जो प्रभुके अनन्य प्रेमी हैं और निरन्तर उन्हींके गुणगानमें रत रहते हैं, मग्न हो जाते हैं। उन्हें आत्म-विस्मृति-सी हो जाती है और कथाका प्रवाह रुक जाता है। माँ पार्वती देखती हैं कि इस विभोर अवस्थासे इनका अपने-आप जगना असम्भव है, तब वे जगाती हैं। ध्यान-मुद्रा टूटनेपर उन्हें ख्याल आता है और वे सावधान होकर पुनः कथा प्रारम्भ करते हैं। अस्तु! गिरनेके बाद फिर प्रभु

हनुमान्‌के मस्तकपर हाथ रखकर जब कहते हैं—पुत्र! उठ जाओ, तब प्रभुका उदारतापूर्ण वरदहस्तका आश्रय प्राप्तकर वे उठ बैठते हैं। तुलसीदासजीकी भाषामें हनुमान्‌जी सोचते हैं—

दो०—तुलसी तृन जल कूलको निरबल निपट निवाज।
कै राखै कै सँग चलै बाँह गहेकी लाज॥

सेवक हनुमान् प्रभुके इस पावन शीतल आश्रयको पाकर पूर्ण आश्वस्त हो गये और उन्हें असीम तोष प्राप्त हुआ। यह है उनके चामत्कारिक सेवकभावकी विशेषता।

(३)

सुप्रिया

'मृतप्राय बालक विहारके दरवाजेपर क्षुधासे पीड़ित होकर अन्तिम साँस ले रहा है, भन्ते।' भिक्षु आनन्दने जेतवन विहारमें धर्मप्रवचन करते हुए भगवान् बुद्धका ध्यान आकृष्ट किया। आनन्दका हृदय करुणासे परिपूर्ण था। उन्होंने निवेदन किया कि समस्त श्रावस्ती नगरी अकालग्रस्त है। लोग भूखसे तड़प-तड़पकर राजपथपर अन्नदानकी याचना कर रहे हैं, लोगोंके शरीरमें मांस और रक्त नामकी वस्तुका अभाव हो चला है। केवल अस्थिमात्र शेष है। चारों ओर भुखमरीका नंगा नाच हो रहा है। अनेक प्रकारके रोग फैलते जा रहे हैं। कठोर हृदय अन्न-व्यवसायियोंने अन्न गोदाममें भर लिया है, उन्हें भय है कि जनता अन्न लूट लेगी। आनन्दने अकालसे बचनेका उपाय पूछा।

'उपाय है' तथागतने आनन्दका समाधान किया। धर्मप्रवचनमें सम्मिलित व्यवसायियोंकी मण्डलीने बहाना बनाना आरम्भ किया। किसीने कहा कि हमारे खलिहान और गोदाममें अन्न नहीं है; किसीने बात बनायी कि श्रावस्ती-ऐसी विशाल नगरीमें घर-घर अन्नकी पूर्ति करना असम्भव है।

'क्या इस भयंकर दुर्भिक्षसे जनत्राण करनेवाला श्रावस्तीमें कोई प्राणी नहीं रह गया?' शास्ताने चिन्ता प्रकट की।

'है—वह प्राणी मैं हूँ। मैं आपकी आज्ञासे जन-सेवाव्रत ग्रहणकर लोगोंको अकालसे मुक्त करूँगी।' भगवान् तथागतके शिष्य सेठ अनाथपिण्डदकी कन्या सुप्रियाके कण्ठमें करुणरसका संचार हो उठा।

'इतने बड़े जनसमूहकी भूख-ज्वाला शान्त किस तरह कर सकोगी तुम?' तथागतने सुप्रियाकी परीक्षा ली।

'मैं श्रावस्तीके राजपथपर अपना भिक्षा-पात्र लेकर अन्नदानके लिये निकल पड़ूँगी। आपकी सहज करुणासे सिञ्चित यह भिक्षा-पात्र कभी खाली नहीं रह सकता।' सुप्रियाके उद्गारसे भिक्षु आनन्दका हृदय गद्गद हो उठा। भगवान् तथागतने उसको अपने करुणापूर्ण आशीर्वादसे प्रोत्साहन दिया।

श्रावस्तीके सबसे बड़े धनी सेठ अनाथपिण्डदकी कन्या सुप्रिया भिक्षा-पात्र लेकर राजपथपर निकल पड़ी। नगर-निवासियोंका हृदय द्रवित हो उठा। उसका भिक्षा-पात्र क्षणभरके लिये भी खाली नहीं रह सका। पात्रको अन्नसे परिपूर्ण रखनेके लिये लोग उसके पीछे-पीछे जन-सेवा-भावनासे प्रेरित होकर चलने लगे। सुप्रियाने अकालग्रस्त प्राणियोंको मृत्युके मुखमें जानेसे बचा लिया। रोग और महामारीने श्रावस्तीकी सीमा छोड़ दी। उसने दीन-दुखियोंकी सेवा और रोगियोंकी परिचर्या तथा शुश्रूषामें अपने जीवनका सदुपयोग किया। आदर्श लोकसेविका थी सुप्रिया। उसने निष्काम जनसेवा-व्रतकी आजीवन साधना की। —रा०

(४)

महात्मा सेरापियो

सेरापियोकी सेवा-वृत्ति उच्च कोटिकी थी। उन्होंने ईसाकी चौथी शताब्दीमें मिस्र देशको अपनी उपस्थितिसे गौरवान्वित किया था। वे बड़े सरल और उदार थे। संत सेरापियो सदा मोटे कपड़ेका चोगा पहनते थे और समय-समयपर दीन-दुखियोंकी सहायताके लिये उसे बेच दिया करते थे। कभी-कभी तो आवश्यकता पड़नेपर अपने-आपको भी कुछ समयके लिये बेचकर गरीबोंकी सहायता करते थे।

एक समयकी बात है। उन्हें फटे-हाल देखकर उनके मित्रको बड़ा आश्चर्य हुआ।

'भाई! आपको नंगा और भूखा रहनेके लिये कौन विवश कर दिया करता है? आपने यह कैसा वेश बना रक्खा है?' उनके मित्रकी जिज्ञासा थी।

'यह बात पूछनेकी नहीं, समझनेकी है। दीन-दुखी असहाय प्राणियोंकी विपत्तिसे रक्षा करना बहुत बड़ी मानवता है। मानवके प्रति मानवका पवित्र धर्म है यह! मैं बिना उनकी सहायता किये रह ही नहीं पाता। जबतक मैं उन्हें सुखी और संतुष्ट नहीं देख लेता, तबतक मेरा मन अत्यन्त अशान्त रहता है! मेरे धर्म-ग्रन्थका मुझे यह आदेश है कि अपना सब कुछ बेचकर भी गरीब और असहायोंकी सेवा करनी चाहिये। मुझे ऐसा करनेमें बड़ी शान्ति मिलती है।' महात्मा सेरापियोने मित्रका समाधान किया।

'मैं आपके विचारोंकी सराहना करता हूँ। मैं आपका वह धर्म-ग्रन्थ देखना चाहता हूँ, जिसने आपको निष्काम सेवाका परमोत्कृष्ट भाव प्रदान किया है।' मित्रकी उत्सुकता थी।

'भाई! असहायों और गरीबोंकी सेवा तथा सहायताके लिये मैंने उसको भी बेच दिया है। जो ग्रन्थ सेवाके लिये सारी वस्तु बेच देनेका आदेश देता है; पासमें कुछ न रहनेपर समय आनेपर उसे बेच देनेमें आपत्ति ही क्या हो सकती है। उसकी सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि वह दूसरोंके काम आ जाय और सबसे बड़े लाभकी बात तो यह है कि जिसके पास वह ग्रन्थ रहेगा, उसे भी परोपकार और सेवाका पवित्र ज्ञान मिलेगा, उसके जीवनमें सद्‌गुणोंका विकास होगा।' संत सेरापियोने मित्रको सेवाका पवित्र आदर्श बताया। —सु०

(५)

निष्काम सेवाके पवित्र आदर्श—दैन्यमूर्ति संत फ्रान्सिस

संत फ्रान्सिस मध्यकालीन यूरोपमें सत्यनिष्ठा, दैन्यप्रियता, निष्कामसेवा, त्याग और दयाके मूर्तिमान् सजीव उदाहरण थे। उन्होंने इटलीके असिसाई नगरमें सन् ११८२ ई०में जन्म लिया था। उनका परिवार बड़ा सुखी और समृद्ध था, पर उन्हें इस वातावरणमें वास्तविक आत्मशान्तिका दर्शन नहीं हुआ। दीनताका जीवन अपनाकर सत्पथपर चलना उन्होंने अपना कर्तव्य समझा। उन्हें असिसाई नगरमें भिक्षा माँगते देख लोग उनको अपमानित करते थे, कुत्तेकी तरह दुरदुराते थे। कहा करते थे कि शर्म नहीं आती, बड़े घरके होकर माँगते हो? पर फ्रान्सिसने किसी भी कीमतपर अपनी जीवनसङ्गिनी—दीनता-रमणीका परित्याग नहीं किया!

निस्संदेह दीनता उनकी जन्मजात सम्पत्ति थी। अपने लिये कुछ भी शेष न रखकर परमात्मापर पूर्ण निर्भर हो जाना दैन्यका उच्चतम रूप है। दरिद्र-नारायणकी सेवासे आत्मगत दैन्य पुष्ट होता है। फ्रान्सिसके विरक्त जीवनके पहलेकी एक घटना है। उस समय भी वे उदारता और दानशीलतामें सबसे आगे थे। कोई भिखारी उनके सामनेसे खाली हाथ नहीं जा पाता था। एक समय वे अपनी रेशमी कपड़ेकी दूकानपर बैठे हुए थे। उनके पिता दूकानके भीतर थे। फ्रान्सिस एक धनी ग्राहकसे बातें कर रहे थे कि अचानक दूकानके सामने एक भिखारी दीख पड़ा। बातमें उलझे रहनेके कारण फ्रान्सिसको उसका ख्याल नहीं रह गया, वह चला गया।

'कितना भयानक पाप हो गया मुझसे!' वे दूकान छोड़कर भिखारीकी खोजमें निकल पड़े। दूकानपर लाखोंकी सम्पत्ति थी, खुली पड़ी रह गयी। चिन्ता तो थी भिखारीकी।

आखिर भिखारीको ढूँढकर बड़ी नम्र भाषामें उससे कहा—'भैया! मुझसे बड़ी भूल हो गयी। रुपये-पैसेका सौदा ही ऐसा है कि आदमी उसमें उलझकर अंधा हो जाता है। आपने मुझे सेवाका अवसर दिया और मैं चूक गया।' फ्रान्सिसने अपने पासके सारे रुपये उसे दे दिये और कोट पहना दिया।

फ्रान्सिसने संतोषकी साँस ली, दरिद्रनारायणकी निष्काम सेवासे वे धन्य हो उठे।

संत फ्रान्सिसकी एक उपाधि है—'कोढ़ियोंके भाई।' एक समय वे घोड़ेपर सवार होकर अपनी गुफामें जा रहे थे। थोड़ी दूरपर सड़कपर उन्हें एक कोढ़ी दीख पड़ा। उन्हें पहचाननेमें देर न लगी; क्योंकि कोढ़ियोंको उन दिनों विशिष्ट कपड़ा पहनना पड़ता था, जिससे लोग उन्हें दूरसे ही पहचानकर दूसरा रास्ता पकड़ लें। संत फ्रान्सिसने घोड़ेको मोड़ना चाहा, पर उनका दयापूर्ण कोमल हृदय हाहाकार कर उठा कि ऐसा करना पाप है। कोढ़ी भी अपना ही भाई है। भाई तो भाई ही है, फिर उससे घृणा करना, उसकी सेवासे विमुख होना अधर्म है। फ्रान्सिस चल पड़े कोढ़ीकी ओर। निकट जानेका साहस नहीं होता था; कोढ़ीका चेहरा विकृत था, अङ्ग-प्रत्यङ्ग फूट गये थे, कहींसे सड़ा रक्त निकल रहा था तो कहींसे पीब चू रहा था। मवादसे भयानक दुर्गन्ध आ रही थी। संत फ्रान्सिस उसके सामने खड़े थे, देख रहे थे। मनने समझाया कि इसे सहायता चाहिये। संतने अपने सारे पैसे कोढ़ीके सामने डाल दिये। चलनेवाले ही थे, घोड़ा मुड़ ही चुका था कि हृदयने धिक्कारा—भाईके प्रति ऐसा व्यवहार उचित नहीं कहा जा सकता। इसे पैसेकी आवश्यकता नहीं है। यह सेवाका भूखा है—अङ्ग-प्रत्यङ्गमें भयानक पीड़ा है, कोमल अँगुलियोंका स्पर्श चाहता है यह।

फ्रान्सिस अपने आपको नहीं रोक सके। घोड़ेसे उतर पड़े।

'भैया! आपने मुझे अपने सेवाव्रतका ज्ञान करा दिया। मैं भूल गया था। आपने कितना बड़ा उपकार किया मेरा।' फ्रान्सिसने कोढ़ीका हाथ पकड़कर चूम लिया। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सहलाकर अपनी कोमल अंगुलियोंको पवित्र कर लिया। कोढ़ीके घाव उनकी सेवासे ऐसे दीख पड़े मानो वे अमृतसे सींचे गये हों। संत फ्रान्सिसकी निष्काम सेवा-भावना कितनी पवित्र थी! 'कोढ़ियोंके भाई' नाम उनके लिये कितना सार्थक है! —रा०

(६)

राठौरशूर दुर्गादास

जोधपुरनरेश महाराज जसवन्तसिंहने मुगल-बादशाहोंकी सत्ता सुरक्षित रखनेमें कितना योग दिया, इसे इतिहासकार जानते हैं; किंतु उन्हीं परमहितैषीका जब स्वर्गवास हो गया, तब बादशाह औरंगजेबने उनके अबोध पुत्र अजीतसिंहका उत्तराधिकार अस्वीकार कर दिया।

औरंगजेबने जसवन्तसिंहके दीवान आशकरण-के वीर पुत्र दुर्गादासको आठ हजार स्वर्णमुद्राओं-का उत्कोच इसलिये देना चाहा कि वे विधवा महारानी तथा नन्हे राजकुमारकी रक्षासे हट जायँ। दुर्गादासकी तलवारने बादशाहकी सैनिक शूरताको व्यर्थ कर दिया था और उस राठौर-शूरकी स्वामिभक्तिके सम्मुख यह कूट प्रयत्न भी व्यर्थ रहा।

'राजकुमार अजीतसिंह दिल्ली आ जायँ। शाही इन्तजाममें उनकी शिक्षा और पालन होगा।' औरंगजेब अपने भाइयों तथा पितातकसे जो व्यवहार कर चुका था, उसे देखते हुए उसकी इस घोषणापर राजपूत सरदार कैसे विश्वास करते? कुमार अजीतसिंह दुर्गादासकी देख-रेख-में सुरक्षित रहे, पले और बड़े हुए। दुर्गादासने उन्हें अपने पराक्रमसे मेवाड़का अधिपति बनाया।

दुर्गादास बड़े कठोर संरक्षक थे। बालक अजीतसिंह परिश्रमी, न्यायपरायण हों और उनमें विलासिता, प्रमाद-जैसे कोई दुर्गुण न आयें—इस विषयमें वे बहुत सावधान रहते थे। सिंहासन प्राप्त करनेके पश्चात् एक दिन राजसभामें अजीतसिंहने उनसे कहा—'आपने मेरा अभिभावक बनकर मुझे इतने दुःख दिये, मेरी इतनी ताड़ना की कि उसे सोचकर मुझे अब भी कष्ट होता है। उस कठोर व्यवहारके लिये मैं आपको दण्ड दूँगा। मिट्टीका करवा लेकर जोधपुरकी गलियोंमें भिक्षा माँगिये।'

'जो आज्ञा!' पूरी राजसभामें सन्नाटा छा गया था। जिस शूरके नामसे दिल्लीका बादशाह काँपता है, जिसने प्राणपर खेलकर अजीतसिंहकी प्राणरक्षा की और उन्हें इस योग्य बनाया, उसे यह दण्ड? लेकिन दुर्गादासकी भौंहोंपर बल नहीं

पड़ा। उन्होंने सिर झुकाकर राजाज्ञा स्वीकार कर ली।

थोड़े ही दिन बीते थे कि महाराज अजीतसिंह घोड़ेपर बैठकर नगर घूमने निकले। साथमें अनेक सरदार थे, सैनिक थे। उन्होंने देखा कि एक धनीके द्वारपर हाथमें फूटा करवा लिये दुर्गादास खड़े हैं। उनके शरीरपर फटे वस्त्र हैं। महाराजने घोड़ा रोककर पूछा—'आप प्रसन्न हैं?'

दुर्गादासने हाथ जोड़कर कहा—'बहुत प्रसन्न हूँ। राजधानीमें प्रजा समृद्ध है। लोग उत्तम वस्त्र पहिनते हैं, अच्छे पात्रोंमें उत्तम भोजन करते हैं। मेरे लिये इससे बड़ा प्रसन्नताका कारण दूसरा क्या हो सकता है? इससे क्या होता है कि मेरे शरीरपर चिथड़े हैं, मेरे पास फूटा करवा है? मुझे कभी भोजन मिलता है और कभी नहीं मिलता? यदि मैंने आपको बचपनमें कठोर नियन्त्रणमें न रक्खा होता तो आज मैं इस सम्मुखके भवनके स्वामीकी अपेक्षा अधिक सम्पन्न होता; किंतु उस दशामें राजधानीकी यह प्रजा उस अवस्थामें होती, जिसमें आज मैं हूँ।'

'आप मेरे पिताके समान हैं। मुझे क्षमा करें!' महाराज अजीतसिंह घोड़ेपरसे कूद पड़े। अपने अभिभावकका हाथ पकड़कर उनके साथ वे पैदल ही राजभवन गये। —सु०

(७)
संयमराय

स्वतन्त्र भारतके अन्तिम हिंदूनरेश पृथ्वीराज चौहान युद्धभूमिमें मूर्छित पड़े थे। उनका शरीर घावोंसे क्षत-विक्षत हो रहा था। चारों ओर शव, कटे-फटे अङ्ग तथा घायल सैनिकोंका क्रन्दन गूँज रहा था। युद्ध करती सेना पीछे हट चुकी थी। सैकड़ों गीध युद्धभूमिमें उतर आये थे और अपना पेट भरनेमें लग गये थे। उनके लिये मरे और मरनेको पड़े, अर्धजीवित बराबर थे। इन गीधोंका एक झुंड पृथ्वीराजकी ओर बढ़ रहा था।

पृथ्वीराजके अङ्गरक्षक संयमराय उनसे थोड़ी ही दूरपर पड़े थे। वे मूर्छित नहीं थे, किंतु इतने घायल थे कि उनके लिये खिसकना भी असम्भव था। गीधोंको पृथ्वीराजकी ओर बढ़ते देखकर उनके मनमें आया—'मैं अङ्गरक्षक हूँ, जीवित हूँ और मेरे देखते उस अङ्गको गीध नोचें तो मुझे धिक्कार है।'

तलवार पास पड़ी थी। संयमरायने उठा लिया उसे और अपने हाथसे अपने शरीरका मांस टुकड़े-टुकड़े काटकर गीधोंकी ओर फेंकने लगे। गीध इन मांसके टुकड़ोंको खानेमें लग गये।

पृथ्वीराजके सैनिक राजाको न पाकर ढूँढ़ने निकले। पृथ्वीराज मिल गये, बचा लिये गये। संयमराय भी मिल गये, किंतु तबतक मृत्युके पास पहुँच चुके थे। उनका शरीर भले बचाया न जा सका, उनकी उज्ज्वल कीर्ति तो अमर है। —सु०

(८)
सेवकधर्मका यह आदर्श

समर्थ स्वामी रामदासजी वृद्ध हो गये थे। उनके मुखमें एक भी दाँत नहीं रहा था। लेकिन प्रसाद लेनेके पश्चात् पान खानेका उनको पुराना अभ्यास था। अब उन्हें पनबट्टेमें कूटकर पान दिया जाता था। एक दिन पानमें चूना अधिक हो गया। उसे खानेसे श्रीसमर्थके मुखमें छाले हो गये। वे परम सहिष्णु कुछ बोले नहीं; किंतु जिसकी पान देनेकी सेवा थी, वह बहुत दुखी हुआ।

'गुरुदेवको ऐसा कष्ट फिर नहीं होना चाहिये!' यह वह सोचने लगा। उसे एक उपाय सूझ गया। सेवा चलती रही, लेकिन एक दिन किसीने उसे देख लिया। देखनेवालेको बड़ी ग्लानि हुई कि वह सेवक स्वयं ताम्बूल मुखमें चबाकर तब उसे श्रीसमर्थको देता है। उसने छत्रपति शिवाजीको समाचार दिया।

क्रोधमें भरे शिवाजी समर्थके समीप आये। उन्होंने गुरुदेवको ताम्बूल देनेवाले सेवककी अशिष्टता बतायी तो श्रीसमर्थ ऐसे बन गये, जैसे

कुछ जानते न हों। उन्होंने सेवकको बुलवाया। छत्रपति शिवाजी ही उससे बोले—'गुरुदेवको जिस पनवट्टेमें कूटकर तुम ताम्बूल देते हो, उसे ले आओ।'

सेवक चला गया। लौटा तो उसके हाथमें रक्तसे सना थाल था। वह स्वयं रक्तसे लथपथ था। थालमें काटकर अपना पूरा जवड़ा उसने रक्खा था। थाल रखकर वह गुरुके चरणोंमें गिर पड़ा। उसके प्राण प्रयाण कर गये। शिवाजी सिर झुकाये थे। उनके नेत्रोंसे अश्रु टपक रहे थे। —सु०

(९)

पन्ना धाय

राणा संग्रामसिंह वीरगति प्राप्त कर चुके थे। चित्तौड़के सिंहासनपर उनके बड़े पुत्र विक्रमादित्य बैठे; किंतु उनकी अयोग्यताके कारण राजपूत सरदारोंने उन्हें गद्दीसे हटा दिया। राणा साँगाके छोटे पुत्र उदयसिंह राज्यके उत्तराधिकारी घोषित किये गये, किंतु वे अभी छः वर्षके बालक थे। अतएव दासीपुत्र बनवीरको उनका संरक्षक तथा उनकी ओरसे राज्यशासनका संचालनकर्ता बनाया गया; क्योंकि महारानी करुणावतीका भी स्वर्गवास हो चुका था।

राज्यका लोभ मनुष्यको मनुष्य नहीं रहने देता। बनवीर भी इस लोभसे पिशाच बन गया। उसने सोचा कि यदि राणा साँगाके दोनों पुत्र मार दिये जायँ तो चित्तौड़का सिंहासन उसके लिये निष्कण्टक हो जायगा। एक रातको नंगी तलवार लिये वह अपने भवनसे उठा। उसने विक्रमादित्यकी हत्या कर दी।

राजकुमार उदयसिंह सायंकालका भोजन करके सो चुके थे। उनका पालन-पोषण करनेवाली पन्ना धायको बनबीरके बुरे अभिप्रायका कुछ पता नहीं था। परंतु रातमें जूठे पत्तल हटाने बारिन आयी, तब उसने पन्नाको बनवीरद्वारा विक्रमादित्यकी हत्याका समाचार दिया। वह उस समय वहीं थी और वहाँका यह कुकृत्य देखकर किसी प्रकार भागी हुई पन्नाके पास आयी थी। उसने कहा—'वह यहाँ आता ही होगा।'

पन्ना चौंकी और उसे अपना कर्तव्य स्थिर करनेमें क्षणभर भी नहीं लगा। उसने बालक राणा उदयसिंहको उठाकर बारिनको दिया। 'इन्हें लेकर चुपचाप निकल जाओ। मैं तुम्हें वीरा नदीके तटपर मिलूँगी।'

उदयसिंह सो रहे थे। उन्हें टोकरेमें लिटाकर, ऊपरसे पत्तलें ढककर बारिन राजभवनसे निकल गयी। इधर पन्नाने अपने पुत्र चन्दनको कपड़ा उढ़ाकर उदयसिंहके पलँगपर सुला दिया। दोनों बालक लगभग एक ही अवस्थाके थे। अपने बालक स्वामीकी रक्षाके लिये उस धर्मनिष्ठा धायने अपने कलेजेके टुकड़ेका बलिदान देना निश्चय कर लिया था।

नंगी रक्तसनी तलवार लिये बनबीर कुछ क्षणोंके बाद ही आ धमका। उसने पूछा—'उदय कहाँ है ?'

धायने अँगुलीसे अपने सोते पुत्रकी ओर संकेत कर दिया। तलवार उठी और उस अबोध बालकका सिर धड़से पृथक् हो गया। बनवीर चला गया। लेकिन कर्तव्यनिष्ठ पन्ना धायके मुखसे न चीख निकली, न उस समय नेत्रोंसे आँसू गिरे। उसे तो अभी अपना धर्म निभाना था। उसका हृदय फटा जाता था। पुत्रका शव लेकर वह राजभवनसे निकली।

वीरा नदीके तटपर उसने पुत्रका अन्तिम संस्कार किया और मेवाड़के नन्हे निद्रित अधीश्वरको लेकर रात्रिमें ही मेवाड़से बाहर निकल गयी। बेचारी धाय ! कोई उसे आश्रय देकर बनबीरसे शत्रुता नहीं लेना चाहता था। वह एकसे दूसरे ठिकानोंमें भटकती फिरी। अन्तमें देयराके आशाशाहने आश्रय दिया उसे।

बनवीरको उसके कर्मका दण्ड मिलना था, मिला। राणा उदयसिंह जब सिंहासनपर बैठे, पन्ना धायकी चरणधूलि मस्तकपर चढ़ाकर उन्होंने अपनेको धन्य माना। पन्ना चित्तौड़की सच्ची धात्री सिद्ध हुई। —सु०

(१०)

कर्तव्यनिष्ठ सेवक

ईरानके शाह अब्बास अपने एक पदाधिकारीके यहाँ भोजन करने पधारे। वहाँ बहुत मद्यपान करनेसे वे स्वयं तथा उनके साथके सब लोग उन्मत्त हो उठे। नशेमें झूमते शाह उठे और उस अधिकारीके जनानखानेकी ओर बढ़े। जनानेके दरवाजेका पहरेदार इस तरह दरवाजा रोककर खड़ा हुआ कि शाहको रुकना पड़ा। उन्होंने डाँटा—'हट सामनेसे। जानता है किसे रोक रहा है? तेरा सिर उड़ा दूँगा।'

पहरेदार—'ईरानके शाहन्शाहको कौन नहीं पहचानेगा; लेकिन मैं अपने कर्तव्यपर खड़ा हूँ। अपने मुल्कके मालिकपर मैं हाथ नहीं उठा सकता; फिर भी जबतक जिंदा हूँ, हुजूर भीतर नहीं जा सकेंगे। मुझे मारकर मेरी लाशपर पैर रखकर भीतर जा सकते हैं। मैं अपने मालिककी इज्जतके साथ आपकी हिफाजतमें भी खड़ा हूँ। हुजूर अगर भीतर जाते हैं तो बेगमें हथियार उठा लेंगी। कोई गैर आदमी उनकी बेइज्जती करे तो वे सह नहीं सकेंगी, फिर वह आदमी ईरानका शाह ही क्यों न हो।'

शाह अब्बासका नशा अपने प्राण-भयसे दूर हो गया। वे लौट गये। दूसरे दिन दरबारमें उस अधिकारीने शाहसे माफी माँगी और बतलाया कि 'उसने उस पहरेदारको निकाल दिया है।' शाह बोले—'चलो! यह ठीक हुआ। अब तुमसे उसे माँगना नहीं पड़ेगा। वह कहाँ है? बुलाओ उसे। मैं उसको अपने अङ्ग-रक्षकोंका सरदार बनाना चाहता हूँ। ऐसा वफादार सेवक मुश्किलसे मिलता है।' —सु०

(११)

भूदेव मुखोपाध्याय

अपने पिता श्रीविश्वनाथ तर्कभूषणकी स्मृतिमें श्रीभूदेव मुखोपाध्यायने 'विश्वनाथ फंड' स्थापित किया। इस फंडमें अपनी एक लाख, साठ हजारकी पूरी सम्पत्ति उन्होंने दान कर दी। इस फंडसे देशके सदाचारी, विद्वान् ब्राह्मणोंको प्रतिवर्ष पचास रुपये बिना माँगे घर बैठे मनीआर्डरसे भेजे जाते थे।

'एजुकेशन गजट'में देनेके लिये इस फंडकी प्रथम वार्षिक वृत्तिका विवरण एक कर्मचारीने बनाया। उसमें लिखा था—"इस वर्ष जिन विद्वानोंको 'विश्वनाथ-वृत्ति' दी गयी, उनकी नामावली।"

वह विवरण देखकर श्रीभूदेवजी कर्मचारीपर अप्रसन्न हुए। "तुम्हें विवरणका शीर्षक देने भी नहीं आता? शीर्षक इस प्रकार लिखो—'इस वर्ष जिन-जिन विद्वानोंने विश्वनाथ-वृत्ति स्वीकार करनेकी कृपा की, उनकी नामावली।" —सु०

धर्म जीवनमें उतारनेकी वस्तु है, लिख रखनेकी नहीं

धर्मका अध्ययन करनेवाले तथा धर्म-वाक्योंको कागजपर लिखकर रखनेवाले एक सज्जनको एक दिन निर्जन पथमें डाकुओंने घेर लिया।

'भाई! आप मेरी सारी वस्तुएँ ले लें; पर कागज न लें। इन कागजोंपर मैंने धर्मके मुख्य-मुख्य सिद्धान्त लिख रक्खे हैं। इनके द्वारा समय-समयपर मुझे बड़ा प्रकाश मिलता है। मेरे कागज लौटा दें।' उक्त सज्जनने डाकुओंके सरदारसे यह विनम्र प्रार्थना की।

'तो आजतक तुमने जीवनमें धर्मकी क्या-क्या बातें पढ़ीं—सीखीं। कागजोंको काले रंगकी स्याहीसे रँग देना धर्म-सिद्धान्तका समझना नहीं है। धर्मकी बातें कागजपर लिखनेकी नहीं, हृदयमें उतारकर आचरण करनेकी हैं। तुम कोरे कागजकी तरह कोरे ही रह गये।' डाकुओंके सरदारने कागज लौटाकर उनकी बड़ी भर्त्सना की।

'भाई! तुम सच कहते हो, धर्मका आचरण ही जीवनका यथार्थ श्रेय है। मेरी आँख खुल गयी।' उन्होंने विनम्रतापूर्वक सरदारके प्रति आभार प्रकट किया और धर्म-तत्त्वोंको जीवनमें उतारनेका संकल्प किया।

मानसमें धर्मकी परिभाषा

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

श्रीरामचरितमानसमें शंकर भगवान्‌का वचन है—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥

इस स्थानपर यह प्रश्न होता है कि 'वह कौन-सा धर्म है जिसकी हानि होनेपर कृपानिधान पृथ्वीपर अवतरित होनेका कष्ट स्वीकार करते हैं? क्या प्रभु किसी धर्मविशेषकी हानिपर अवतार धारण करते हैं?' यदि ऐसा मानें तो करुणानिधानमें पक्षपातका दोषारोपण हो जाता है। प्रभु किसी जाति या देशविशेषके हितार्थ अवतार नहीं धारण करते—'राम जनमु जग मंगल हेतू।' करुणामय जगत्पिता हैं। अतएव उनकी कोई बात भाषा, जाति, देश अथवा अन्य किसी भेदसे सीमित नहीं है। जो असीम है, उसकी सीमा कैसी?

हमारे वेद तथा उपनिषद् किसी एक सम्प्रदायकी अपनी निधि नहीं हैं। वे हिंदू इसलिये कहलाते हैं कि उनका प्रादुर्भाव उस संस्कृतिमें हुआ, जिसकी परम्परा हिंदू-संस्कृतिमें सुरक्षित है। वे भारतीय इसलिये कहलाते हैं कि उनका यह दृष्टिकोण कि वसुधापर सब प्राणी एक ही कुटुम्बके हैं विशेष प्रकारसे भारतीय दृष्टिकोण है। अन्यथा हमारे अलौकिक वेद तथा उपनिषद् न हिंदू हैं न भारतीय। वे मानवताकी निधि हैं, वे मानव-जगत्‌के कल्याणके पक्षमें हैं, उनका ध्येय जीवमात्रका परम हित है। इस अलौकिक परम्परामें श्रीरामचरित-मानसका सृजन हुआ। इस कारण जिस धर्मकी हानिको अवतारका हेतु मानसमें बतलाया है, वह धर्म एकजातीय या एकपक्षीय नहीं हो सकता। हर-एक मानवका हृदय अयोध्या है, अतएव मानसकी कथा ऐसे राम-सीताकी कथा है, जिनकी अयोध्या नगरी प्रत्येक मनुष्यके हृदयस्थ है। इसलिये मानस 'एपिक ऑफ ह्युमैनिटी' है—मानवताका महाकाव्य है—अनुपम है, एक है, अद्वितीय है।

धर्मको हमारे जीवनमें बड़ा ऊँचा स्थान दिया गया है। ऋषियोंने कहा है कि धर्म वह है जो जगत्‌को धारण करता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जगत्‌को कौन-सा धर्म धारण करता है? क्या बौद्धोंका धर्म धारण करता है? या यहूदियोंका? या ईसाइयोंका? या अन्य कोई? निश्चय ही वह और कोई धर्म है, जो जगत्‌की स्थितिका आधार है; क्योंकि वह धर्म सर्वव्यापक होगा, सार्वभौमिक होगा, उन सब धर्मोंसे पुराना होगा, जिनको मनुष्यने बनाया है। जो धर्म जगत्‌का आधार है, उसका जन्म जगत्‌की सृष्टिके समकालीन रहा होगा, अनादि होगा।

जगत्‌के जीवन-स्रोत सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, आकाशादि हैं। यदि सूर्य अपना कार्य न करें, या वायु या आकाशादि अपना धर्म छोड़ दें तो जगत्‌की स्थिति डाँवाडोल हो जाय। जगत्‌का आधार वह धर्म है, जिसका अनुसरण ये सब करते हैं। **'स्वलक्षणधारणाद् धर्मः।'** अपने-अपने लक्षणके अनुसार, अपने-अपने गुणके अनुसार कार्य करना स्वधर्म है। स्वलक्षणोत्पन्न स्वधर्म श्रेष्ठ धर्म है। ऐसे स्वलक्षणानुकूल धर्मका पालन भगवान्‌के आदेशका प्रतीक है; क्योंकि यह धर्म उन गुणोंके अनुकूल है, जो प्रभुने हमें जन्मके साथ प्रदान किये हैं।

इस सम्बन्धमें यह भी विचारणीय है कि जगत्‌में हमारा स्थान क्या है और हमारा स्वलक्षणानुसार क्या धर्म है। जिसने थोड़ी अंग्रेजी पढ़ी है, उसने रोबिन्सन क्रूजोका नाम सुना होगा। इस उपन्यासमें रोबिन्सन क्रूजोका जहाज समुद्र-में टक्कर खाकर एक निर्जन टापूके पास टूट जाता है और क्रूजो उस टापूपर कुछ दिन एकदम अकेला रहता है। यदि ईश्वर चाहते तो इस पृथ्वीको और बड़ी बनाकर प्रत्येक व्यक्तिको एक-एक टापूपर जन्म दे देते, जिसमें वह निर्जन स्थानमें रहकर जीवन काट लेता; परंतु ईश्वरने ऐसा नहीं किया। उन्होंने हमारा समूहोंसे नाता बनाया; परिवार, कुल, जाति, देशके सम्बन्धोंसे हमें बाँधा, मनुष्य-को एक सामाजिक प्राणी बनाया। हम संसारमें अकेले नहीं रहते। हम अनेक पारस्परिक सम्बन्धोंसे बँधे हैं, जिनके हितकी रक्षा हमारा धर्म है। आहार, निद्रा, मैथुनवाले जीवनसे उच्च स्तरके जीवन-यापनकी क्षमता रखनेके कारण मनुष्य पशुकी श्रेणीसे उठकर मानवकी श्रेणीमें आता है और इसी कारण वह सामाजिक पशुसे मानवीय समाजका अङ्ग बन

जाता है। मनुष्यका जीवन केवल भौतिक जीवन नहीं है। उसका नैतिक जीवन भी है; आध्यात्मिक जीवन भी है। मनुष्यकी प्रकृति—जिसको मनन करनेकी शक्ति प्रभुने प्रदान की है—स्वभावतः नैतिक है; इसलिये इसका स्वलक्षण नैतिक है और मनुष्यका जीवन मुख्यतः सामाजिक है। यदि मनुष्यके स्वलक्षण और जीवनके विशिष्ट गुणोंका हम एकीकरण करें तो हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि नैतिक मनुष्यको अपने सामाजिक जीवनमें स्व-अर्थका ध्यान कम और पर-अर्थका ध्यान अधिक रखना चाहिये। सुखी, कल्याणप्रद जीवनका रहस्य परहित है; क्योंकि परहित हमारे स्वलक्षणानुकूल है और परहितद्वारा ही हम अपने विविध सम्बन्धभरे जीवनको सफल कर सकते हैं।

श्रीरामचरितमानसमें करुणानिधान प्रभुने अपने प्राण-समान प्रिय भाइयों और प्रिय पवनकुमारको धर्मका तत्त्व समझानेके लिये धर्मकी यही परिभाषा की है—

पर हित सरिस धरम नहिं भाई।

सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथ्वी आदि, जो जगजीवनके आधार हैं, निरन्तर परहितनिरत हैं। सूर्य अपने लिये नहीं तपते, चन्द्रमा अपने लिये अमृत-वर्षा नहीं करते, जलद अपने लिये पानी नहीं बरसाते, पृथ्वी अपने लिये फल-अन्न, पुष्प-पत्र नहीं उत्पन्न करती, जल और वायु अपने प्राणकी रक्षाके लिये नहीं बहते—ये सब परहितमें संलग्न हैं। इनके जीवन-में अथक, अबाधगतिसे परहित व्याप्त है। ये स्वलक्षणानुसार परहित करके धर्म-पालन करते हैं और जगत्-धारणके कारण बने हुए हैं। स्वलक्षणानुकूल स्वधर्मद्वारा परहितपालन वह धर्म है, जो सृष्टिका आधार है। यह धर्म आजका नहीं, वर्ष, दो-वर्ष पुराना नहीं; कुछ शताब्दियों पहलेका नहीं है। यह धर्म सृष्टिके जन्म-समयसे है। सृष्टिके आदिमें इसका आरम्भ हुआ था। यह धर्म पुराना है, जाति-देश-कालके परे है—सनातन है।

इस धर्मकी जब हानि होती है, तब पृथ्वी भी अपना धैर्य खो बैठती है; क्योंकि असुर बढ़ जाते हैं और वे सर्वत्र फैलकर अपना साम्राज्य स्थापित कर देते हैं। आसुरी राज्य-में हिंसाका अन्त नहीं रहता, सब स्वार्थरत होकर परद्रोही हो जाते हैं। प्राणियोंके जीवनको अकथ दुःख-निमग्न देखकर धरणी अकुला पड़ती है। मानसमें दो स्थलोंपर राक्षसोंके लक्षण स्पष्ट किये गये हैं—बालकाण्डमें और उत्तरकाण्डमें। बालकाण्डमें लिखा है—

जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव बिप्र गुरु मान न कोई॥

× × ×

बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति॥

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट पर धन पर दारा॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी॥

उत्तरकाण्डमें कहते हैं—

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥
जहँ कहु निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निरदय कपटी कुटिल मलायन॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥

× × ×

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥

मानसमें जिस प्रकार साधु, संत, विप्र और सज्जन पर्यायवाची शब्द हैं,* उसी प्रकार खल, असंत, असुर और निशाचर एकार्थी हैं। ऊपरके उद्धृत अंशोंका सार यही है कि असुर, राक्षस, मनुजाद अत्यन्त स्वार्थपरायण हैं। अपने छोटे-से अर्थके साधनके निमित्त या स्वार्थ-साधन न भी हो तो केवल दूसरेका दुःख देखनेके लिये ही वे क्रूरतम हिंसा करनेमें संकोच नहीं करते। 'परहित'-धर्मके विनाशमें वे हर समय संलग्न रहते हैं।

परहित घृत जिन्ह के मन माखी।

इसलिये करुणानिधान प्रभुके लिये कहा गया है—

मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृन्दैकदेवम्।

प्रभु खल-वध-निरत हैं; क्योंकि खलोंके कारण, राक्षसों-के कारण उस 'परहित'-धर्मकी हानि होती है, जिसके द्वारा जगत् धारण किया जाता है। अतएव जगत्‌की रक्षाके हेतु असुर-वध वाञ्छनीय है। ऐसा ही करनेसे अनादिकालसे प्रचलित धर्मकी रक्षा सम्भव है।

* देखिये 'श्रीरामचरितमें ब्राह्मणकी परिभाषा'—'कल्याण', वर्ष ३०, अङ्क ११।

करुणानिधानके अवतरण-फलका निशाचर-वध नकारात्मक पक्ष है। इसका दूसरा पक्ष है—संतोंकी, साधुओंकी, विप्रोंकी, सज्जनोंकी रक्षा। शंकरभगवान्‌का वचन है—

तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

'सज्जन' अर्थात् परहित-रत व्यक्ति, जो परहितके लिये सहर्ष कष्ट सहन करें।

साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा।

और फिर आगे मानसकार कहते हैं—

संत सरल चित जगत हित।

इसलिये संतोंकी, सज्जनोंकी रक्षा करनेसे परहितधर्मकी पुष्टि होती है, अभिवृद्धि होती है।

श्रीरघुनाथजीने श्रीमुखसे अपने प्रिय भ्राताओं और पवनकुमारको शिक्षा दी कि—

परहित सरिस धरम नहिं भाई।

—जिसका अर्थ यह है कि 'परहित'-विचारसे जैसी जग-मङ्गलकी रक्षा होती है, वह और किसी प्रकार नहीं होती। 'परहित'की प्रवृत्तिसे ही हम मानव-पशुसे उठकर मानव-प्राणीके स्तरपर पहुँचते हैं। पूजा, पाठ, जप, तप, दान, कथा-श्रवणादि सब गौण हैं। प्रधान है—परहितकी वृत्ति। परहितकी भूमिकामें इनको अपने सब पुण्य-कर्म करने अपेक्षित हैं। जग-मङ्गलका मूल स्रोत यह है। जगत्‌को यही धारण करता है। परहित परम धर्म है।

परहित-धर्म त्याग देनेसे महान् तपस्वी दशशीश राक्षस हो गया, लोगोंको रुलानेवाला हो गया, रावण हो गया। 'परहित' ही वास्तवमें सब धर्मोंके ऊपर, सब धर्मोंके अंदर और सब धर्मोंका आधार है। यह प्रकृतिका धर्म है, यही मनुष्यका धर्म है, यही सार्वभौमिक धर्म है, यही सनातन धर्म है।

श्रीरामचरितमानसमें धर्म-तत्त्व-निरूपण

(लेखक—वैद्य पं० व्यापकजी रामायणी, मानसतत्त्वान्वेषी)

धर्मशब्द 'धृञ् धारणे' धातुसे **'अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन्।'**—इस पाणिनीय व्याकरणके उणादि सूत्रसे 'मन्' प्रत्यय लगनेपर सिद्ध होता है। इसी धात्वर्थको लक्ष्यमें रखकर—**'धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।'** (महाभारत कर्ण० ६९। ५८), **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** तथा **'चोदनालक्षणार्थो धर्मः'** कहकर दार्शनिकोंने 'धर्म' शब्दका महत्त्व प्रदर्शित किया है। भाव यह है कि जो संसारकी स्थितिका कारण है तथा प्राणियोंकी लौकिक उन्नति और मोक्षका हेतु है और वर्णाश्रम-धर्मावलम्बियोंद्वारा जिसका अनुष्ठान किया जाता है, उसे धर्म कहते हैं।

मनुजीने भी अपनी स्मृतिमें कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
(२। १२)

वेद-सम्मत स्मृति और सदाचारमें वर्णित तथा अपनी आत्माको भी जो प्रिय हो, वह धर्मका साक्षात् लक्षण है। **पुनः छान्दोग्य श्रुतिका भी कथन है—**

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।
(२। २३। १)

अर्थात् यज्ञ, पठन-पाठन और दान—ये धर्मके तीन आधार (स्तम्भ) हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य भी कहते हैं—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥
(आचाराध्याय १। ८)

अर्थात् जिस योगक्रियाद्वारा आत्माका साक्षात्कार किया जाता है, वही परमधर्म है। पुनः मनुजीने धर्मके दस लक्षण कहे हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

महाभारत, उद्योगपर्वमें कहा गया है कि यज्ञ, अध्ययन, दान, तप और सत्य, धृति, क्षमा, अलोभ—यह धर्मका अष्टविध मार्ग है। इनमें प्रथम यज्ञादि तो दम्भके लिये भी किये जा सकते हैं; किंतु दूसरे सत्यादि तो महात्माओंके अतिरिक्त अन्य पुरुषोंमें नहीं ठहर सकते। (३५। ५६। ७)। **मत्स्यपुराणमें धर्मराजके प्रति सती सावित्रीने यज्ञ, तप, दान,**

दम, क्षमा, ब्रह्मचर्य, सत्य, तीर्थानुसरण (तीर्थयात्रासेवन), स्नान, स्वाध्याय, सेवा, साधु-सङ्ग, देवपूजन, गुरुसेवा, ब्राह्मणपूजा, इन्द्रिय-निग्रह, धृति, संतोष, आर्जव आदि धर्मके १९ लक्षण और भागवत-महापुराणमें धर्मके तीस लक्षणतक बताये गये हैं। (दे० भाग० ७। ११। ८-१२ तक)

'नानापुराणनिगमागमसम्मत' रामचरितमानसमें इन सभी प्रकारके धर्म-लक्षणोंकी बड़ी ही हृदयग्राही विशद व्याख्या की गयी है।

मीमांसकोंका कथन है—**'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** अर्थात् अखिल धर्मका मूल वेद है। वेदप्रतिपादित कर्म ही धर्म है।

जप तप व्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥

वेदकी आज्ञा दो प्रकारकी है—१-विधिपरक और २-निषेधपरक। विधिका ग्रहण और निषेधके त्याग करनेका विधान है। धर्मसे ही धन और सुखकी प्राप्ति होती है। यथा—

तिमि सुख संपति बिनहिं बुलाएँ। धर्मसील पहिं जाहिं सुभाएँ॥

जथा धर्मसीलन्ह के दिन सुख संजुत जाहिं॥

वेद सर्वेश्वर भगवान्‌की श्रीमुख-वाणी हैं। यथा—

मारुत स्वास निगम निज बानी॥ **'श्रुतिस्स्मृती ममैवाज्ञे'**

अतः शास्त्रसम्मत धर्माचरण करना, ईश्वरकी आज्ञा मानना मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य है। भगवान् श्रीरामजीने कहा है—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

धर्म-पालनके लिये हमारे पूर्वजोंने महान् संकट सहकर अपने शरीर और प्राण देकर भी अनुपम आदर्श उपस्थित किया है—

सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धर्म हित कोटि कलेसा॥
रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धर्म धरेउ सहि संकट नाना॥

सत्यसे बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है—**'नास्ति सत्यात्परो धर्मः'**

धर्म न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥

सत्य ही सब धर्मोंका मूल है—

सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए॥

अहिंसाको परम धर्म माना गया है—**'अहिंसा परमो धर्मः।'** 'परम धर्म श्रुतिबिदित अहिंसा।'.....सत्य और अहिंसा मनुष्य-मात्रके अनुकरणीय धर्म हैं, जिनमें किसी भी वर्ण एवं आश्रमकी रुकावट नहीं है।

वेद-शास्त्रोंने मानवजीवनको दो परिधियोंके बीच आबद्ध कर रक्खा है—वर्ण और आश्रम। सुराज्यमें इनकी पूर्ण रक्षा (प्रतिष्ठा) की जाती है।

बर्नाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग॥

महर्षि श्रीवशिष्ठजीने वर्णाश्रमधर्म पालन न करनेवालोंको शोचनीय कहा है—

(देखिये अयोध्या० दो० १७१। ३-१७२,४ तक)

इस प्रकार विहितका अनुष्ठान करनेकी बात कहकर फिर निषेधका परिवर्जन कहा है—

जे अघ मातु पिता सुत मारें। गाइ गोठ महिसुर पुर जारें॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हें॥
तजि श्रुति पंथ बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जग छलहीं॥

जे परिहरि हरि हर चरन भजहिं भूत गन घोर।
तिन्ह कै गति मोहि देहु बिधि जौं जननी मत मोर॥

इन सबका निषेध कहा गया है—**'भूलि न देहिं कुमारग पाऊ।'** निम्न दोहोंमें राजा-प्रजाका धर्म कहा है—

मुखिया मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥
(२। ३१५)

राज धर्म सरबस इतनोई। जिमि मन माहिं मनोरथ गोई॥

सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिब होइ।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ॥
(२। ३०६)

निम्न पंक्तियोंमें मित्र-धर्म कहा है—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

निम्न पंक्तियोंमें साधन-धर्मका निरूपण हुआ है—

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई॥
नाना कर्म धर्म ब्रत नाना। संजम दम जप तप मख नाना॥
भूत दया द्विज गुरु सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥

... ...

जप तप नियम जोग निज धरमा। श्रुति संभव नाना सुभ करमा॥
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धरम कहत श्रुति सज्जन॥

आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥

अनसूया-सीता-संवाद (अरण्य० ४। ५) में नारिधर्मका विस्तृत निरूपण हुआ है।

धर्मके जितने भी अङ्गोपाङ्ग (स्थूल-सूक्ष्म भेद) हैं, उन सभीका रामचरितमानसमें यथास्थान निरूपण किया गया है। ग्रामके देवी-देवताओंका पूजन बाह्य-धर्म है। तप बल बिप्र सदा बरिआरा॥ करहिं जाइ तप सैल कुमारी॥ में देहधर्मका वर्णन है। 'राम नाम बिनु गिरा न सोहा' में इन्द्रिय-धर्मका—

तथा—

मनहुँ न आनिअ अमरपति रघुबर भगत अकाज॥

तथा—

अस संसय आनत उर माहीं। ग्यान बिराग सकल गुन जाहीं॥

—में अन्तःकरणधर्मका निरूपण किया गया है।

व्यक्तिगत धर्म, कुल-धर्म, समाज-धर्म, लोक-धर्म तथा विश्व-धर्मके निरूपणसे रामचरितमानस ओतप्रोत है। अन्तमें विभीषणजीके प्रति भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने विश्व-विजयी २४ लक्षणात्मक धर्मका इस प्रकार निरूपण किया है—

सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज[१] धीरज[२] तेहि रथ चाका। सत्य[३] सील[४] दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल[५] बिबेक[६] दम[७] परहित[८] घोरे। छमा[९] कृपा[१०] समता[११] रजु जोरे॥
ईस[१२] भजन सारथी सुजाना। बिरति[१३] चर्म संतोष[१४] कृपाना॥
दान[१५] परसु बुधि[१६] सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान[१७] कठिन कोदंडा॥
अमल[१८] अचल[१९] मन त्रोन समाना। सम[२०] जम[२१] नियम[२२] सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र[२३] गुरु[२४] पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन्ह कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥
महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥

(लंका० ७९। ५-८० क तक)

यह निर्विवाद सत्य है कि हमारा हिंदू-(मानवका) धर्म, आचार-विचार एवं रीति-रिवाज—सभी कुछ वेदोंके आधारपर ही स्थित है। पर वेदोंको हमारे-जैसे अल्पज्ञ कलियुगी कितने लोग समझ सकते हैं! और विशेष उल्लेखनीय बात यह भी है कि वेदोंके अधिकांश अंश इस समय उपलब्ध भी नहीं हैं, लोप हो चुके हैं। इस कठिनाईको बहुत काल पूर्व ही हमारे पूर्वजों (ऋषियों) ने जान लिया था, इससे वेदोंके सार-तत्त्वको लेकर इतिहास, पुराण तथा धर्म-शास्त्रोंकी रचना कर दी थी, जिनके स्वाध्यायसे वेदोंका वास्तविक ज्ञान हमारे अंदर सदा बना रहे, कभी तिरोहित होने न पाये। किंतु समयके फेरसे संस्कृत-भाषाका लोप होता चला गया और इतिहास-पुराणोंकी भाषा भी हमलोग समझनेमें असमर्थ हो गये, जिससे धर्मका ज्ञान लोप होने लगा। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजको हमारी दीन-दशापर दया आयी और कृपा करके 'नानापुराण-निगमागम-सम्मत' अभूतपूर्व अलौकिक रामचरितमानसकी मातृभाषामें रचना की, जिससे धर्म-कर्मके सभी गुप्त-प्रकट तत्त्वोंको भगवान् धर्ममूर्ति श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रके माध्यमसे सर्वसाधारण व्यक्ति (मनुष्यमात्र) के लिये भी सुलभ कर दिया।

राम भगत अब अमिअँ अघाहूँ।
कीन्हे सुलभ सुधा बसुधाहूँ॥

अधर्मका नाश हो! धर्मकी जय हो! प्राणियोंमें सद्भावना हो! विश्वका कल्याण हो! हर हर महादेव शम्भो!

शुभकर्मका शुभ और अशुभका अशुभ फल मिलता है

यत् करोति यदश्नाति शुभं वा यदि वाशुभम्। नाकृतं भुज्यते कर्म न कृतं नश्यते फलम्॥
शुभकर्मसमाचारः शुभमेवाप्नुते फलम्। तथा शुभसमाचारो ह्यशुभं समवाप्नुते॥

(महाभारत अनुशासन० ९६)

मनुष्य जो शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसका वैसा ही फल भोगता है। बिना किये हुए कर्मका फल किसीको नहीं भोगना पड़ता है तथा किये हुए कर्मका फल भोगके बिना नष्ट नहीं होता है।

जो शुभ कर्मका आचरण करता है, उसे शुभ फलकी ही प्राप्ति होती है और जो अशुभ कर्म करता है, वह अशुभ फलका ही भागी होता है।

धर्म और परलोक

(लेखक—व्याकरणाचार्य पं० श्रीरघुवीर सिं०-वाचस्पति)

न किल्बिषमत्र नाधारोऽस्ति
न यन्मित्रैः सममममान एति ।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत्
पक्तारं पक्वः पुनराविशाति ॥
(अथर्व० १२ । ३ । ४८)

गौतममुनिप्रणीत न्यायदर्शनका भाष्य करते हुए वात्स्यायन मुनिने लिखा है—

येन प्रयुक्तः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् । यमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा कर्मारभते । तेनानेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्या व्याप्ताः । तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्तते । समीह-मानस्तमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा तमर्थमाप्नोति जहाति वा ।

भाव यह है कि सभी प्राणी, सभी कर्म तथा सभी विद्याएँ प्रयोजनसे परिपूर्ण हैं । प्रयोजन होनेपर ही मनुष्य किसी वस्तुको छोड़ता या ग्रहण करता है ।

प्रयोजनका इतना महत्त्व होनेपर निश्चित है कि धर्मका भी कुछ-न-कुछ प्रयोजन अवश्य ही होगा, तभी तो हमारे शास्त्रोंने आदेश दिया है—

'युवैव धर्मशीलः स्यात्'—युवावस्थामें ही धर्म-कार्य कर डालने चाहिये; पता नहीं फिर हो सकें या नहीं । भर्तृहरिने तो यहाँतक कह दिया—**'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः'** अर्थात् धर्महीन पुरुष पशुओंके सदृश ही है ।

हमें देखना चाहिये कि जिस धर्मका इतना महत्त्व बतलाया गया है कि पचीस वर्षोंतक तपकी भट्ठीमें तपे हुए ब्रह्मचारीको भी स्नातक होनेपर आचार्य यही कहता है—**'धर्मं चर । सत्यं वद ।'** धर्मका आचरण कर, सत्य बोल । अतः विचारना चाहिये कि धर्मका प्रयोजन क्या है । मीमांसा-दर्शनकारने धर्मकी परिभाषामें ही धर्मका प्रयोजन भी बतला दिया है । मुनिने लिखा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

सूत्रके द्वारा धर्मका प्रयोजन स्पष्ट है कि धर्मसे इस लोकमें भी सुख मिलता है तथा मोक्षप्राप्ति भी होती है । अर्थात् धर्मका परलोकसे अटूट सम्बन्ध है । हम जिस प्रकारका भी धर्म या पाप, शुभ या अशुभ कर्म करेंगे, वही हमारे साथ परलोकमें जायगा । अन्य कुछ भी साथ चलनेवाला नहीं है । महाभारतके उद्योगपर्व (४० । १६) में इसी तत्त्वको इस प्रकार समझाया गया है—

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते
वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र
पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥

भाव यह है कि 'मरनेके बाद धन किसी दूसरेके काम आता है, शरीर अग्निमें भस्म हो जाता है, इसके साथ न धन जाता है न शरीर । साथ जाते हैं केवल पाप तथा पुण्य—धर्म तथा अधर्म ।'

सम्भवतः कोई समझे कि परलोकमें धर्मकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि सभी कर्मोंका लेखा-जोखा परमात्माके पास नहीं रहता । अतः धर्मका क्या प्रयोजन ? इस प्रकारके लोगोंको सावधान करता हुआ वेद कहता है—**'न किल्बिषमत्र'**—इस कर्मफलमें कोई त्रुटि नहीं हो सकती । कर्म करनेमें जीव स्वतन्त्र है, किंतु फल भोगनेमें तो सर्वथा परतन्त्र बनना ही पड़ेगा । **'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'** के अनुसार परमात्मा प्रत्येक कार्यका द्रष्टा है । मनुष्य चाहे कितना भी छिपकर कार्य करे, किंतु **'राजा तं वेद वरुण-स्तृतीयः'** के अनुसार वह वरुण भगवान् सबका भेद जानता है । अतः कर्मफलमें त्रुटि सम्भव नहीं ।

त्रुटि हो भी किस प्रकार सकती है ? सिफारिश या रिश्वत देकर ही घटा-बढ़ी करायी जा सकती है । किंतु सिफारिश करायँगे किससे ? क्या कोई गुरु या पैगम्बर हमारी सहायता कर सकेगा ? नहीं । कदापि नहीं । वेद कहता है—**'नाधारोऽस्ति'**—कर्म-फलमें घटा-बढ़ी करानेका कोई भी सहारा नहीं है । पोपकी तरह भूमिपर ही स्वर्ग तथा नरकके टिकट देकर कोई भी किसीके कर्मफलको नहीं हटा सकता ।

जाने दीजिये, सिफारिश न सही, मित्रोंके साथ तो हम स्वर्ग जा सकते हैं । माता-पिताकी कमाईपर बच्चे मौज उड़ाते हैं । इसी प्रकार पुण्यात्मा मित्रोंकी सहायतासे हम स्वर्ग पा लेंगे । किंतु इस प्रकारके आशावादियोंको वेद सावधान करता है—

'न यन्मित्रैः सममभ्रान एति'

यह भी सम्भव नहीं है कि हम मित्रोंके साथ स्वर्ग जा सकें। अपने कर्मोंसे ही स्वर्ग एवं नरक जाना होगा। दूसरा सहायक कोई भी नहीं है। कर्मफलके बारेमें आगे लिखा है—

अनूनं पात्रं निहितं न एतत्।

यह हमारा कर्मफलरूपी पात्र भरा हुआ है। इसमें कुछ भी न्यूनता नहीं आयी। यह तो उसी पके हुए पदार्थके समान है जो—

पक्तारं पक्वः पुनराविशाति।

जिस प्रकार पकानेवालेको पकाया पदार्थ फिर आ मिलता है, उसी प्रकार हमारा कर्मफल भी हमें प्राप्त हो जाता है। कर्मफलकी उपमा गो-वत्ससे देते हुए महाभारतमें लिखा है—

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥

'जिस प्रकार हजारों गौओंमेंसे बछड़ा अपनी माताको जा पकड़ता है, उसी प्रकार पूर्वकृत कर्म कर्ताको ही प्राप्त होता है।'

इस प्रकार स्पष्ट है कि यदि यहाँपर हम धर्मकार्य करेंगे तो परलोकमें भी धर्म हमारे साथ चलेगा। अन्यत्र भी इसी बातको कहा गया है—**'धर्मस्तमनुगच्छति'** (मरनेवालेके साथ धर्म ही जाता है)। धर्मसे ही निःश्रेयसकी सिद्धि होती है। अतः यदि हमें लौकिक अभ्युदयके साथ निःश्रेयसकी सिद्धि भी करनी है तो अवश्य ही धर्म कमाना पड़ेगा।

जब धर्म-संकट आता है

'युधिष्ठिर! धर्मका सूर्य अस्त होने जा रहा है। तुम्हें जो कुछ जानना हो, इस समय पितामहसे जान लो!' ये शब्द हैं शर-शय्यापर पड़े भीष्मपितामहके लिये श्रीकृष्णके।

'युधिष्ठिर! धर्मका ठीक-ठीक तत्त्व श्रीकृष्णके अतिरिक्त त्रिलोकीमें और कोई नहीं जानता।' ये शब्द शर-शय्यापर पड़े भीष्मपितामहके हैं।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।

धर्मका तत्त्व बहुत गूढ़ है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि धर्म हैं और असत्य, हिंसा, चोरी आदि पाप हैं—यह बात सभी धर्म-सम्प्रदाय मानते हैं। इन्हें साधारण जन भी समझते हैं, भले इनका पालन वे न करते अथवा न कर पाते हों। किंतु इतना स्पष्ट होते हुए भी धर्मका रहस्य बहुत दुरधिगम्य है।

जीवनमें ऐसे अवसर बहुत बार आते हैं—धर्मात्मा पुरुषके जीवनमें ऐसे अवसर आते हैं, जब निर्णय करना कठिन हो जाता है कि धर्म क्या है। आज जब लोगोंका जीवन स्वेच्छाचार-प्रधान हो गया है, जीवनमें धर्मकी महत्ता ही नहीं रही है, यह बात बहुत साधारण जान पड़ती है। किंतु जीवनमें जब धर्माचरण होता है, जब मन अधर्मसे डरता है, तब यह बात समझमें आती है कि प्रत्येक समय धर्मको ठीक पहचान लेना कितना कठिन है।

धर्मराज युधिष्ठिर जूएमें अपना सम्पूर्ण राज्य हार गये। उन्होंने क्रम-क्रमसे अपने भाइयोंको दावपर लगाया और स्वयंको भी लगाया। प्रत्येक बार वे हारते गये। अन्तमें द्रौपदीको उन्होंने दावपर लगाया और उस दावको भी हार गये। दुर्योधनके आदेशसे दुःशासन द्रौपदीको भरी सभामें केश पकड़कर घसीट लाया। विदुर, भीष्म, कृपाचार्य-जैसे धर्मज्ञ उस सभामें थे। द्रौपदीने रो-रोकर पूछा—'आप सब धर्मका निर्णय करके बतायें मैं हारी गयी या नहीं।'

पति अपनी पत्नीका नित्य स्वामी है, अतः द्रौपदीपर धर्मराजको स्वत्व प्राप्त है। वे उसे दावपर लगा सकते थे। इस दृष्टिसे विचार करनेवाला पक्ष दुर्योधनका पक्ष था और उसे सर्वथा भ्रान्त पक्ष नहीं कह सकते। किंतु एक दूसरा पक्ष भी था। युधिष्ठिर पहले स्वयंको दावपर लगाकर हार चुके थे। जब वे स्वयंको हार चुके, उनकी कहीं कोई वस्तु नहीं रह गयी। उनको द्रौपदीको दावपर लगानेका अधिकार ही कहाँ रह गया था? अनधिकार उन्होंने कोई दाव लगाया तो वह उचित कैसे हुआ? इतना विकट प्रश्न था कि उस सभामें कोई इसका निर्णय नहीं कर सका। द्रौपदीकी पुकारका उत्तर किसीने नहीं दिया।

'जहाँ सत्य बोलना अनर्थकारी होता हो, वहाँ चुप रहना चाहिये।' यह बात प्रायः सुनी जाती है। कहीं एक दृष्टान्त पढ़ा है। घटना सत्य हो या न हो, उसमें तथ्य है। एक गाय वधिकोंके हाथसे रस्सी तुड़ाकर किसी प्रकार भागी। वह वनमें एक पर्वतीय गुफामें घुस गयी। वहाँ गुफाके

समीप कोई मुनि आसन लगाये बैठे थे। गायका पीछा करते वधिक पहुँचे और उन्होंने पूछा—'आपने इधर भागकर आती गाय देखी है ? वह कहाँ गयी ?'

मुनिने गायको गुफामें जाते देखा था। इस तथ्यको बता देनेसे तो अनर्थ होता। वे कुछ बोले नहीं। कोई संकेत भी उन्होंने नहीं किया। वधिकोंने समझा कि वे मौनव्रत लिये हैं; अतः उन्होंने गुफामें देखा और गायको पकड़ ले गये। उन मुनिको कुछ सिद्धियाँ प्राप्त थीं। वे तत्काल नष्ट हो गयीं। अपने गुरुके समीप वे गये तो गुरुने कहा—'तुझे गोवधमें सहायक होनेका पाप लगा है। झूठ बोलकर तू गौके प्राण बचा सकता था। वह तूने नहीं किया। अब तुझे प्रायश्चित्त करना चाहिये।'

प्रयागके अबसे बारह वर्ष पूर्व पड़नेवाले कुम्भकी बात है। हम सबने वहाँ जानेका निश्चय किया था। सरकारने नियम बनाया था कि हैजेका टीका लगाये बिना कोई मेला-क्षेत्रमें न जाय। स्थान-स्थानपर मार्गोंमें टीका लगानेवाले नियुक्त थे और टीकेकी जाँच करनेवाले भी। उनको धोखा देकर ही भले कोई मेलेमें चला जाय, वैसे जाना कठिन ही था। पीछे तो सरकारने ही यह प्रतिबन्ध हटा दिया।

एक श्रद्धेय हैं हम सबके। कोई दवा, कोई इन्जेक्शन किसी भी रोगमें न लेनेका उनका नियम है। भोजनमें जलके सम्बन्धमें, वस्त्रमें वे शुद्धाशुद्धका बहुत ध्यान रखते थे। जो हैजा होनेपर भी दवाके नामपर तुलसीदल तक स्वीकार न करे, वह हैजेका अपवित्र टीका लेगा, यह कल्पना कैसे की जा सकती है। परिस्थिति ऐसी बन गयी थी कि उनका मेलेमें जाना भी टाला नहीं जा सकता था।

'हैजेके टीकेका झूठा सर्टिफिकेट किसी डाक्टरसे लेकर बहुत लोग मेलेमें जाते हैं।' मेरे एक परिचितने बताया। इस बातका मुझे पता न हो, ऐसा नहीं था; किंतु यह प्रस्ताव रखना मुझे किसी प्रकार उचित नहीं लग रहा था।

'यह स्थूल शरीर नाशवान् है। इसमें कोई अपवित्रता प्रवेश करती है तो वह देहके साथ नष्ट हो जायगी।' बात चलनेपर उन श्रद्धेयने कहा। 'बहुत ग्लानि रहेगी मनमें और सम्भवतः जीवनभर रहेगी; इसकी सीमा तो है लेकिन मन तो सूक्ष्मशरीरमें है। मनमें आये दोष तो मरनेके बाद भी साथ जाते हैं। अतः मिथ्या सर्टिफिकेट लेकर या निरीक्षकोंको वञ्चित करके मनमें जो असत्यका दोष आयेगा, वह तो मरनेसे भी नहीं दूर होगा। झूठा सर्टिफिकेट लेनेकी अपेक्षा तो टीका लगवाना ही अच्छा है। फिर वह कितना भी अशुद्ध क्यों न हो।'

दो बुराइयोंमेंसे एकको चुनना अनिवार्य हो जानेपर किसे चुना जाय—यह निर्णय करनेके लिये कितनी सूक्ष्म तथा सतर्क विचारदृष्टि अपेक्षित है, यह घटना बतलाती है।

'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा'

—धर्मराज युधिष्ठिरने यह कहा था और जान-बूझकर कहा था। जब उन्होंने 'अश्वत्थामा हतः' कहा, लोगोंने शङ्ख बजाना प्रारम्भ कर दिया। युधिष्ठिरके आगेके शब्द शङ्खध्वनिमें डूब गये। द्रोणाचार्यने उन्हें सुना ही नहीं। इस असत्य-भाषणके फलस्वरूप युधिष्ठिरको सशरीर स्वर्ग जानेपर भी नरक-दर्शन करना पड़ा।

युधिष्ठिरको यह छलवाक्य क्यों बोलना पड़ा ? इसलिये कि द्रोणाचार्य युद्ध-धर्मका उल्लङ्घन करते ही जा रहे थे। वे उनपर भी दिव्यास्त्रका खुला उपयोग कर रहे थे, जो दिव्यास्त्रके ज्ञाता नहीं थे। यह निहत्थोंको मारनेके समान बात थी। अथवा लाठी लिये लोगोंपर तोपके गोले बरसानेकी उपमा इसे दी जा सकती है। द्रोणाचार्यके हाथमें शस्त्र रहे, तब-तक वे मारे नहीं जा सकते थे और अपने एकमात्र पुत्र अश्वत्थामाकी मृत्युका समाचार ही उनसे शस्त्र-त्याग करा सकता था। द्रोणको अधर्मसे रोकने और उनके द्वारा अधर्मपूर्वक होनेवाले संहारको रोकनेके लिये युधिष्ठिरको श्रीकृष्णने वह छलवाक्य कहनेपर विवश किया।

अब इस घटनापर तनिक गम्भीरतासे विचार करें। युधिष्ठिर यह छलवाक्य न कहते तो क्या होता ? वे नरक-दर्शनसे बच जाते, यह आप कह सकते हैं। किंतु श्रीकृष्णके आदेश-भङ्गका दोष करते वे। अपने पक्षके, अपने आश्रित दिव्यास्त्र-ज्ञानरहित लोगोंके विनाशको रोकनेका दायित्व उन-पर था। इस दायित्वका निर्वाह न करनेके कारण उन सब लोगोंकी मृत्युमें जो पाप हो रहा था, आंशिकरूपसे उसके भागी होते। द्रोणाचार्यको उनका व्रत—उनकी मर्यादा कि जबतक हाथमें शस्त्र रहेगा, वे मारे न जायँगे—इसे भङ्ग करके मारना पड़ता। आचार्य मारे तो जाते ही, असम्मानित होकर मारे जाते। नरक-दर्शनका थोड़ा भय उठाकर भी इन सब अनर्थोंसे युधिष्ठिर बच गये, यहाँतक हमारी दृष्टि जाय,

तब भीष्मपितामहकी यह बात समझमें आ सकती है कि धर्मके यथार्थ रहस्यको केवल श्रीकृष्ण ही जानते हैं ।

हमलोगोंके अपने जीवनमें भी ऐसे अनेक अवसर आते हैं । जब ठीक-ठीक कर्तव्य न सूझे; दो धर्मोंमेंसे कौन-सा अपनाया जाय—यह निर्णय अपनी बुद्धि न कर सके, तब क्या किया जाय ?

अपनेसे अधिक बुद्धिमान्, सदाचारी, धर्मात्मा पुरुषकी सम्मति ली जाय और उनके आदेशका पालन किया जाय । लेकिन सम्मति ली जाय धर्मपर निष्ठा रखनेवाले पुरुषकी । केवल विद्वान्-बुद्धिमान् इस सम्बन्धमें सम्मति देनेका अधिकारी नहीं है ।

अनेक बार तत्काल निर्णय करना पड़ता है । सम्मति लेनेका समय नहीं होता और सम्मति ली जाय, ऐसे कोई पुरुष भी समीप नहीं होते । यदि ऐसी अवस्था आ जाय तो मुझे एक महात्माने एक उपाय बतलाया था । वही उपाय मैं यहाँ बतला रहा हूँ—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

गीताके इस श्लोकको नेत्र बंद करके, एकाग्रचित्तसे पार्थसारथि श्रीकृष्णको सम्मुख मानकर सात बार पाठ कीजिये । आपको क्या करना चाहिये, यह बात सूझ जायगी । भगवान् आपको प्रकाश देंगे । —सु०

लक्ष्योन्मुखता ही परम धर्म

(लेखक—श्रीराधेश्यामजी बंका एम्० ए०)

सबसे पहले 'काव्येर उपेक्षिता' की आवाज कवीन्द्र रवीन्द्रने उठायी और वही आवाज प्रतिध्वनित हुई हिंदी-साहित्यमें आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदीके द्वारा । द्विवेदीजीने कहा कि रामसाहित्यके प्रणेता सीताजीका भूरि-भूरि गुण-गान करते हैं । साध्वी सीताने पतिका साथ देनेके लिये अवधका भोग-विलास त्यागा और अपने प्राणाराम रामके साथ वनके सुख-दुःखोंको समान रूपसे सहन किया । उन पतिपरायणा सीताका गुण-गान होना भी चाहिये, पर उर्मिलाको लोग क्यों भूल जाते हैं ? उर्मिला काव्य-जगत्से क्यों उपेक्षित है ? क्या उर्मिलाका तप और त्याग सीतासे कम है ? पतिपरायणा उर्मिलाने अपने पतिके मनकी इच्छा रखनेके लिये वनमें साथ रहनेका सुख भी त्याग दिया । अवधके राजमहलमें रहकर भी 'वन-वासिनी' ही रही । अनेक दृष्टियोंसे उर्मिलाका जीवन सीताकी अपेक्षा अधिक आदर्श है, अधिक अनुकरणीय है; परंतु आदर्श और अनुकरणीय होकर भी उर्मिला कवियोंसे उपेक्षित रही है, भले वे रामचरितमानसके रचयिता गोस्वामी तुलसीदासजी ही क्यों न हों । काव्यकी उपेक्षिताओंकी आवाज पहले उठी बँगला साहित्यमें और फिर उठी हिंदी साहित्यमें और यह आवाज असर कर गयी हिंदी साहित्यके राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरणजी गुप्तके हृदयपर । काव्यकी उपेक्षिताओंको प्रकाशमें लाना ही मानो उनके जीवनका लक्ष्य हो गया । गुप्तजीने अपने जीवनका एक सुनहला सपना बना लिया—जो-जो उपेक्षिताएँ हैं, उन-उनपर महाकाव्य या खण्ड-काव्य लिखना । गुप्तजीके महाकाव्य 'साकेत'की नायिका उर्मिला है । बौद्धधर्मके प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्धके पूर्वाश्रमकी पत्नी यशोधरा न केवल पतिपरित्यक्ता थी, अपितु काव्यकी उपेक्षिता भी थी । उस यशोधराकी जीवन-साधनापर गुप्तजीकी काव्य-साधना चली और उसका फल था 'यशोधरा' खण्डकाव्य । गुप्तजीने गोस्वामी तुलसीदास-जीकी पत्नी रत्नावलीपर 'रत्नावली'की रचना की, चैतन्य महाप्रभुकी पत्नी विष्णुप्रियापर 'विष्णुप्रिया' लिखी । गुप्तजीकी दृष्टि अपने जीवनके लक्ष्यपर टिकी थी—काव्यकी उपेक्षिताओंको प्रकाशमें लाना । गुप्तजीकी कार्यशक्ति, भावशक्ति और विचारशक्ति, सभी कुछ अपने सपनेको साकार करनेमें लगी थी और आज गुप्तजीकी हिंदी साहित्यको सबसे बड़ी देन है—उन्होंने काव्यकी उपेक्षिताओंको ऊपर उठाया ।

यह उदाहरण था साहित्यिक जगत्का, दूसरा उदाहरण लें आध्यात्मिक जगत्का । गीताप्रेस जहाँसे यह 'कल्याण' पत्रिका प्रकाशित होती है, उस गीताप्रेसके मूल-संस्थापक हैं दिवंगत सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका । प्रायः लोग आपको

सेठजीके नामसे पुकारा करते हैं । बचपनमें ही संतोंका साथ मिला और संतोंके साथसे गीताके अध्ययन एवं मननका अवसर सुलभ हुआ । संत-सहवासने और गीता-स्वाध्यायने एक बात किशोर जयदयाल गोयन्दकाके मनमें बैठा दी । जीवन वही श्रेष्ठ है, जो गीताके अनुसार ढला हो । अब गीतोक्त सिद्धान्तोंके अनुसार जप-ध्यान-पूजन-संयम चलने लगा । जीविकोपार्जनके लिये किया जानेवाला व्यापार भी उन्हीं सिद्धान्तोंपर आधारित था । आजके तथाकथित नेताओंके समान वे यह नहीं मानते थे कि 'प्राइवेट लाइफ' और 'पब्लिक लाइफ' अलग-अलग हैं । उनकी करनी-कथनीमें पूर्णतः एकात्मता थी । साधनसम्पन्न जीवनको ईश्वर-साक्षात्कार होनेमें क्या देर लगी ? ईश्वरका साक्षात्कार होनेपर श्रीसेठजीको ऐसा लगा कि भगवान् गीता-प्रचारका आदेश दे रहे हैं । बस, गीता-प्रचार ही उनके जीवनका लक्ष्य हो गया । इस उद्देश्यको गीताके दो श्लोकोंने और भी परिपुष्ट कर दिया—

> **य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।**
> **भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥**
> **न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।**
> **भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥**
> (१८ । ६८-६९)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है । उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई होगा भी नहीं ।'

श्रीसेठजी स्वयं प्रतिदिन गीताजीका पाठ करते । वे अपने मित्रोंको प्रेरणा देते कि सभीके जीवनके केन्द्रमें गीता प्रतिष्ठित हो । साधकोंको शुद्ध और सही पाठकी गीता नहीं मिलती थी । अतः हर साधकके पास शुद्ध पाठ और सही अर्थकी गीता पहुँचानेके लिये गीता छापनेका संकल्प किया और इसके लिये गोरखपुरमें गीताप्रेसकी स्थापना की । गीताके अनुसार साधना करनेवालोंकी साधना तीव्रतर बनानेके लिये स्वर्गाश्रम, ऋषिकेशमें माँ गङ्गाके किनारे गीता-भवनका निर्माण किया, जहाँ वर्षमें गर्मीके चार मास प्रवचन-भजनकी सुविधा है । कलकत्तेमें गोविन्दभवनकी स्थापना की, जहाँपर गीताके प्रवचनकी व्यवस्था है । गीताके मर्मका सरल भाषामें उद्घाटन करनेके लिये 'गीता-तत्त्व-विवेचनी' लिखी, जो गीताप्रेससे प्रकाशित है । कहनेका तात्पर्य, जिस गीतासे उनका जीवन समुन्नत हुआ, जिस गीतासे उन्होंने ईश्वर-साक्षात्कार किया, जिस गीताके प्रचारकी प्रेरणा गीतासे मिली और जिस गीताके प्रचारके लिये ईश्वरादेश मिला, उस गीताका प्रचार ही उनके जीवनका सपना बन गया और गीताप्रेससे अबतक पाँच करोड़से भी अधिक गीता प्रकाशित हो चुकी है । गीताका इतना प्रचार इसीलिये वे कर सके कि उनको एक धुन थी । रात-दिन इसीके लिये सोचना, इसीके लिये करना ।

श्रीगुप्तजीका और श्रीसेठजीका उदाहरण साहित्यिक और आध्यात्मिक क्षेत्रका है और ये ऐसे उदाहरण हैं कि जिन्हें अपने क्षेत्रमें सफलता मिली, सराहना मिली । ऐसे अनेक उदाहरण अन्य-अन्य क्षेत्रोंके भी दिये जा सकते हैं; परंतु सभी लक्ष्योन्मुख प्रयत्नशील व्यक्तिको सफलता मिले, यह आवश्यक नहीं ।

भारतके प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार भगतसिंहका एक सपना था—'भारतको अंग्रेजोंकी दासतासे मुक्त करना है । युवकोंमें क्रान्तिका जोश भरना, अंग्रेजी शासनको उलट देनेकी प्रेरणा देना, देश-भक्तिकी भावनाका प्रसार करनेवाले साहित्यको मित्रोंमें बाँटना—यही उनका काम था । वे हर भारतीयसे कहते थे, **'शठे शाठ्यं समाचरेत्'**—ईंटका जवाब ईंटसे, पत्थरका जवाब पत्थरसे और लाठीका जवाब लाठीसे दो । जिन अंग्रेजोंने भारतीय भूमिपर भारतीयोंके रक्तको बहाया और अब भी भारतीयोंके रक्तको चूस रहे हैं, उन अंग्रेजोंसे खूनका बदला खूनसे लेना है । अंग्रेजोंका और अँगरेजियतका भारतमें नामोनिशान न रहे ।' इस 'क्षात्र' तेजको भला अंग्रेजी शासन कैसे सह पाता ? और भगतसिंह फाँसीके तख्तेपर लटका दिये गये । भगतसिंहके जीवन-कालमें उनके जीवनका सपना पूरा नहीं हो सका, भगतसिंहके जीते-जी भारतको स्वतन्त्रता नहीं मिल सकी; पर उनकी लक्ष्योन्मुखता और लक्ष्यके प्रति उनकी सतत जागरूकता भगतसिंहके जानेके बाद अनेक 'भगतसिंह' उत्पन्न कर गयी और उनका सपना पूरा होकर रहा ।

यदि लक्ष्यकी पूर्ति नहीं हो सकी तो कोई बात नहीं । आपके पीछे कोई आ रहा है, जो आपके सपनेको साकार कर देगा । महामना पं० मदनमोहनजी मालवीयके जीवन-कालमें काशी हिंदू-विश्वविद्यालयका उतना विस्तार नहीं हो सका, जितना व्यापकरूप उसका आज है । काशी हिंदू-

विश्वविद्यालयका तो अभी और भी विकास-विस्तार होगा। हाँ, आपके लक्ष्यमें इतना वजन जरूर हो कि दूसरोंको आकर्षित कर सके। महान् लक्ष्य अवश्य महान् आत्माओंको आकर्षित कर लेगा और लक्ष्य महान् तभी होगा, जब वह ईश्वरीय लक्ष्यके अनुरूप हो। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि 'जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मका विस्तार होता है, तब धर्मकी स्थापनाके लिये और संतोंकी रक्षाके लिये मैं अवतार लेता हूँ।' रामायणमें भगवान् रामके अवतारका हेतु बतलाया गया है—

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।

संतकी रक्षा, धर्मकी स्थापना, विप्रको सुविधा, गायका पोषण, देवाराधन आदि—ये सब भगवान्‌के अवतारके प्रयोजन हैं। जब ये ही सब हमारे जीवनके प्रयोजन होंगे, इन्हींके लिये जब हमारे जीवनका प्रत्येक कार्य होगा, असम्भव है कि सफलता न मिले। महान् प्रयोजनके लिये ईश्वर भी सहायक होता है। हमारा महान् प्रयोजन ईश्वरीय प्रयोजन है। यदि सफलता नहीं मिलती तो विश्लेषण करना चाहिये कि ईश्वरीय प्रयोजनसे हमारा प्रयोजन, हमारा लक्ष्य कहीं विपरीत तो नहीं है? यदि ईश्वरीय प्रयोजनको पूर्ण करनेके लिये हमारा सम्पूर्ण प्रयास है तो सफलता सुनिश्चित है। यदि कार्य अधूरा रह गया तो दो बात हो सकती है। हो सकता है कि हमारा पुनर्जन्म हो और हम अपने अगले जन्ममें अपना सपना साकार करें। अथवा ईश्वरीय विधानसे हमारा महान् प्रयोजन महान्-आत्माओंको आकर्षित करे और वे 'पीछे आनेवाले' महान् लक्ष्यको पूरा करें। लक्ष्य पूरा होता है या नहीं; यह कार्य हमारा नहीं। यह कार्य तो भगवान्‌का है। हमारा कार्य तो इतना ही है कि हमारी दृष्टि लक्ष्यपर रहे। लक्ष्यकी ओर हम सतत उन्मुख रहें। यही हमारे लिये परम धर्म है। शेष तो भगवान् स्वतः सँभाल लेंगे।

आयुर्वेद और धर्मशास्त्र

(लेखक—पं० श्रीहरिवक्षजी जोशी तीर्थत्रय)

जनसाधारणकी दृष्टिमें आयुर्वेद और धर्मशास्त्र पृथक्-पृथक् विषयके प्रतिपादन करनेवाले दो भिन्न-भिन्न शास्त्र हैं; परंतु जरा गम्भीर अध्ययन करनेवाले इस बातसे पूर्ण परिचित हैं कि ये दोनों शास्त्र एक ही उद्देश्यके प्रतिपादक हैं, दोनोंका उद्देश्य है मानव-जीवनको इस लोकमें सुखी, समृद्ध, नीरोग बनाकर पूर्ण शतवर्षकी आयु प्राप्त कराना एवं अन्तमें जन्म-मरणके चक्करसे छुटकारा दिलाकर मुक्त करा देना।

आयुर्वेद, संसारमें प्रचलित और अत्यन्त उन्नत मानी जानेवाली चिकित्सापद्धतियोंके सदृश, केवल पाञ्चभौतिक स्थूलशरीरकी भौतिक स्थूल यन्त्रोंसे परीक्षा करके उसके विकारको औषधों या यन्त्रोंकी सहायतासे हटा देनेकी चेष्टाको अधूरी चिकित्सा-पद्धति मानता है।

क्योंकि आयुर्वेद शरीर और मन तथा जीवात्मा—इन तीनोंके संयोगको जीवन मानता है—

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

(च० सू० १। १८)

'सत्त्व (मन), आत्मा, शरीर—ये तीनों एक दूसरेके सहारेसे त्रिदण्डके सदृश संयुक्त होकर रहते हैं तभीतक यह लोक है। इसीका नाम जीवन या आयु है।'

स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः॥

(च० सू० १। १९)

'सत्त्व-आत्मा-शरीरकी संयुक्तताको ही पुरुष कहते हैं, यह संयुक्त पुरुष ही चिकित्साका अधिकरण है—समस्त आयुर्वेद इसके हितके लिये ही प्रकाशित हुआ है।'

इन तीनों अर्थात् शरीर, 'मन' आत्माकी संयुक्तावस्थाके रहते हुए भी आत्मा निर्विकार होनेसे सुख-दुःख और रोग-आरोग्यका आश्रय नहीं हो सकता। क्योंकि—

निर्विकारः परस्त्वात्मा······द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः।

(च० सू० १। २८)

'आत्मा निर्विकार, पर और द्रष्टा है, दृश्यके गुण-दोषसे द्रष्टा कभी लिप्त नहीं होता।'

सुख-दुःख, रोग और आरोग्यका आधार शरीर और मन ही है।

शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः ।
तथा सुखानां योगस्तु सुखानां कारणं समः ॥
(च० सू० १ । २७)

'शरीर और मन—ये दोनों ही व्याधियोंके आश्रय माने गये हैं तथा सुख (आरोग्य) के आश्रय भी ये ही हैं ।'

आहार आचार-विचार-व्यवहारका सम उचित प्रयोग ही सुखोंका कारण है । वास्तवमें सच्चा सुख आरोग्य है । रोग ही दुःख है—

सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥

रोगको हटाने या उत्पन्न न होने देनेकी विधि बतलाना आयुर्वेद और धर्मशास्त्र दोनोंका समान उद्देश्य है ।

रोग या दुःखके कारण

अविकृत वात, पित्त, कफ शरीरको धारण करते हैं और जब ये मिथ्या आहार-विहारसे विकृत हो जाते हैं, तब शरीरका नाश कर देते हैं । इसी प्रकार रजोगुण और तमोगुण मनके दोष हैं । ये जब विकृत होते हैं, तब मनको रुग्ण बना देते हैं । शारीरिक और मानसिक दोषोंकी सम अवस्था ही आरोग्य या सुख है । इन दोषोंकी विषमता ही रोग या दुःख है—

रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता ।
वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः ॥
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ।
(च० सू० १ । २८)

विकृत हुए शारीरिक दोषोंको और मानस दोषोंको समान अवस्थामें स्थापित कर देना ही आयुर्वेद और धर्मशास्त्रका लक्ष्य है । चरकने शारीरिक और मानसिक रोगोंकी निवृत्तिका उपाय इस प्रकार बतलाया है—

प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः ।
मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥
(च० सू० १ । २९)

'शारीरिक रोग दैव और युक्तिके आश्रित औषध-प्रयोगोंसे शान्त होते हैं और मानस रोग ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि आदि मानस उपायोंसे शान्त होते हैं।'

जिसका मन और शरीर दोनों प्रसन्न हैं, वही स्वस्थ है ।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

'जिसके शारीरिक दोष सम हों, अग्निबल सम हो, धातुओं और मलोंकी क्रिया समान हो, आत्मा, इन्द्रिय और मन प्रसन्न रहता हो, वह पुरुष ही स्वस्थ है ।' यह नियम है कि स्वस्थ शरीरमें ही मन स्वस्थ रहता है और जिसका मन स्वस्थ है, उसीका शरीर स्वस्थ रहता है ।

मन अस्वस्थ और शरीर स्वस्थ या शरीर स्वस्थ और मन अस्वस्थ कभी नहीं रह सकते; दोनों अन्योन्याश्रित हैं । अतः दोनोंका उपचार बतलाना आयुर्वेदका लक्ष्य है । यही कारण है कि—

आहार, आचार-विचार, व्यवहार-दिनचर्यामें आयुर्वेद और धर्मशास्त्र एकमत हो जाते हैं । दोनोंका लक्ष्य है—मानवको सुख प्राप्त कराना ।

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
सुखं च न विना धर्मात् तस्माद्धर्मपरो भवेत् ॥
(वा० सू० २ । २)

'सब प्रकारके प्राणियोंकी प्रवृत्ति सुखके लिये ही होती है, सुख धर्मपालन किये विना नहीं मिलता । अतः सुख चाहनेवालेको धर्मपरायण रहना चाहिये ।'

अधार्मिक पुरुष सुखी नहीं रह सकता ।

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥
(मनु० ४ । १७०)

'जो पुरुष अधार्मिक है, जिसका झूठ बोलना ही धनागमका साधन है, जो मन-वाणी-शरीरसे दूसरोंकी हिंसा करता है या प्राणवियोग करता है, वह इस लोकमें कभी सुखी नहीं रह सकता ।'

धर्माचरणमें कष्ट उठाना पड़े, तो भी उठाओ । अधार्मिक पुरुषोंकी आपातरमणीय उन्नति देखकर अधर्ममें मन मत लगाओ; क्योंकि अधार्मिकोंकी उन्नति अचिरस्थायी है, पतन शीघ्र और अवश्यम्भावी है—

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानां पश्यन्नाशु विपर्ययम् ॥
(मनु० ४ । १७१)

अधार्मिक पुरुषोंका धन, मान, सुख, भोग-विलास शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, अधर्मका वृक्ष समय आनेपर अवश्य अनिष्ट फल देता है ।

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥
(मनु० ४ । १७२)

'पृथ्वीमें बोये हुए बीज सद्यः फल नहीं देते; पर समय आनेपर धीरे-धीरे बढ़ते हुए जब वृक्षके रूपमें विकसित होते हैं, तब ही उनके फल लगते हैं । ऐसे ही अधर्मके वृक्षका स्वभाव है, वह तत्काल फल नहीं देता; जब बढ़कर फलता है तब कर्ताके मूलका ही छेदन कर देता है ।'

अधर्मसे मनुष्य एक बार बढ़ता है, अन्तमें समूल नष्ट हो जाता है—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलं च विनश्यति ॥
(मनु० ४ । १७४)

'अधर्मसे मनुष्य पहले तो एक बार बढ़ता है, फिर मौज-शौक-आनन्द भी करता है और अपने छोटे-मोटे शत्रुओंपर धनकेबलसे विजय भी प्राप्त कर लेता है, किंतु अन्तमें वह देह, धन और संतानादिसहित समूल नष्ट हो जाता है ।' इसीलिये मनुजी कहते हैं—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ॥
(मनु०)

'जो धन धर्मविरुद्ध कर्मोंसे मिलता हो, जो भोग धर्म-रहित हो—उन दोनोंका त्याग कर दे; क्योंकि उनका परिणाम बुरा होगा ।'

दुराचारी पुरुष दीर्घजीवी नहीं होता

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥
(मनु० ४ । १५७)

'दुराचारी पुरुष लोकमें निन्दित माना जाता है, निरन्तर दुःख भोगता है, व्याधिग्रस्त रहता है और अल्पायु होता है।'

सदाचारी पुरुष ही शतायु होता है

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्धालुरनसूयुश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥
(मनु० ४ । १५८)

'सब शुभ लक्षणोंसे हीन पुरुष भी यदि सदाचारी हो, ईश्वर तथा धर्मशास्त्रपर श्रद्धा रखनेवाला हो, परदोष देखने-कहनेवाला न हो तो वह सौ वर्षतक जीता है ।'

सौ वर्ष जीना मानव-जीवनकी पूर्ण सफलता है ।

एतद्वा मनुष्यस्य अमृतत्वं यत् सर्वमायुरेतिवसीयान् भवति ॥
(ताण्ड्य० ब्रा०)

य एवं शतं वर्षाणि जीवति यो वा भूयांसि जीवति स एतदमृतं प्राप्नोति ।
([illegible] ब्रा०)

सार यह है कि वेदों और ब्राह्मणग्रन्थोंमें १०० वर्ष और इससे अधिक नीरोग और सम्पन्न होकर जीनेको मनुष्यकी पूर्णता और मोक्षका हेतु कहा है; 'जीवेम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम् ।' इन दो प्रार्थनाओंमें ही मानव-जीवनकी सफलताका बीज अन्तर्निहित है ।

सदाचारके अनुपालनसे आगन्तुक रोग नहीं होते

ईर्ष्याशोकभयक्रोधमानद्वेषादयश्च ये ।
मनोविकारास्तेऽप्युक्ताः सर्वे प्रज्ञापराधजाः ॥
त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः ।
देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम् ॥
आगन्तूनामनुत्पत्तावेष मार्गो निदर्शितः ।
प्राज्ञः प्रागेव तत्कुर्याद्धितं विद्याद्यदात्मनः ॥
(च० सू० ७ । ५५–५७)

'ईर्ष्या, शोक, भय, क्रोध, मान, द्वेष आदि सब मनके रोग हैं, जो प्रज्ञापराधसे उत्पन्न होते हैं । प्रज्ञापराधोंका त्याग, इन्द्रियोंका उपशम, धर्मशास्त्रोंके तथा आयुर्वेदके उपदेशोंको याद रखना, देश-काल-आत्माका विज्ञान, सद्वृत्तका अनुवर्तन—ये सब आगन्तुक व्याधियोंसे बचनेके उपाय हैं । बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि रोग उत्पन्न होनेके पहिले ही आत्महित-के इन उपायोंका पालन करे, जिससे आगन्तुक रोग हों ही नहीं ।'

आयुर्वेदमें आयुकी रक्षाके उपाय

हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम् ।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम् ॥
संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम् ।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतैः ॥
इत्येतद्भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम् ॥
(च० वि० ३, ८, ९, १०)

'मङ्गलमय स्वास्थ्यप्रद शान्त देशोंमें निवास करना, ब्रह्मचर्यका पालन, ब्रह्मचारियोंकी सेवा, धर्मशास्त्रोंकी कथाओं-का श्रवण करना, जितात्मा महर्षियोंके चरित्रोंका श्रवण-पठन-

मनन करना, जिन धार्मिक सात्त्विक पुरुषोंकी ज्ञानवृद्ध वयोवृद्ध धार्मिक पुरुष प्रशंसा करें, उनके साथ निरन्तर रहनेकी चेष्टा—आयुके परिपालनके ये सब उत्तम भेषज हैं।'

महामारी और युद्धसे होनेवाले जनपदोद्ध्वंसका कारण भी अधर्म ही है

महामारीके समय देश, काल, जल और वायु दूषित होकर सामूहिक रूपसे नरसंहार हो जाता है तथा देश-के-देश उजड़ जाते हैं। देश, काल, जल और वायुमें एक साथ विकृति उत्पन्न होनेका कारण सामूहिक अधर्माचरण ही है।

सर्वेषामप्यग्निवेश! वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते यत् तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं चासत्कर्म पूर्वकृतम्, तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव। तद् यथा—यदा वै देशनगरनिगमजनपदप्रधाना धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां प्रवर्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रिताश्च पौरजनपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्द्धयन्ति। ततः सोऽधर्मः प्रसभं धर्ममन्तर्धत्ते ततस्तेऽन्तर्हितधर्माणो देवताभिरपि त्यज्यन्ते। तेषां तथाविधान्तर्हितधर्माणामधर्मप्रधानानामपक्रान्तदेवतानामृतवो व्यापद्यन्ते। तेन नापो यथाकालं देवो वर्षति न वा वर्षति, विकृतं वा वर्षति, वाता न सम्यगभिवान्ति, क्षितिर्व्यापद्यते, सलिलान्युपशुष्यन्ति, ओषधयश्च स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिम्, तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पर्शाभ्यवहार्यदोषात्॥

'अग्निवेश! इन वायु आदिका सबका एक साथ ही दूषित होनेका मूल कारण अधर्म है। अधर्मका मूल असत्कर्म है। अधर्म और असत्कर्मका मूल प्रज्ञापराध है। जब देश-नगर-निगमके प्रधान अधिकारी पुरुष धर्मका उल्लङ्घन करके अधर्ममें प्रजाके साथ बर्ताव करते हैं, तब इनके आश्रित-उपाश्रित नीचेके कर्मचारी और पुर तथा जनपदके निवासी एवं व्यापारी उस अधर्मकी वृद्धि करते हैं। वह अधर्म धर्मको बलपूर्वक अन्तर्हित कर देता है। जब मनुष्योंका धर्म अन्तर्हित हो जाता है और उनमें अधर्मकी प्रधानता हो जाती है, तब उनके रक्षक आधिभौतिक-आध्यात्मिक देवता उन्हें त्याग देते हैं। ऋतुओंका स्वभाव बदल जाता है। मेघ यथाकाल नहीं बरसता अथवा बरसता ही नहीं, या विकृत वर्षा करके जलप्लावन कर देता है, वायु विकृत होकर बहता है, पृथ्वी व्यापन्न हो जाती है, जल सूख जाते हैं, ओषधियाँ अपने स्वभावको छोड़कर विरुद्ध गुणवाली हो जाती हैं, विकृत वायु आदिके संस्पर्श एवं विकृत खाद्यपदार्थोंके आहारसे देश-के-देश एक साथ महामारीके फैलनेसे उजड़ जाते हैं।'

युद्धजन्य नरसंहारका हेतु भी अधर्म ही है

शस्त्रप्रभवस्यापि जनपदोद्ध्वंसस्याधर्म एव हेतुर्भवति। येऽतिप्रवृद्धलोभरोषमोहमानास्ते दुर्बलानवमत्यात्मस्वजनपरोपघाताय शस्त्रेण परस्परमभिक्रामन्ति।

(च० वि० ३। १३)

'शस्त्रप्रभव अर्थात् युद्धसे होनेवाले सामूहिक नरसंहारसे भी देश उजड़ जाते हैं। उसका हेतु भी अधर्म ही है। जब मनुष्योंमें मर्यादातीत अत्यन्त लोभ, रोष, मोह, मान बढ़ जाते हैं, तब प्रबल शक्तिशाली शक्तिके, धनके बलसे दुर्बल और दीन पुरुषोंका तिरस्कार करते हैं, फिर वे अपने-पराये सब पुरुषोंका नाश करनेके लिये शस्त्रास्त्रोंसे आक्रमण करते हैं। इस प्रकार युद्धसे होनेवाले जनपदोद्ध्वंसका मूल कारण भी अधर्म ही है।'

अभिशापसे होनेवाले नरसंहारका हेतु भी अधर्म ही है

अभिशापप्रभवस्याप्यधर्म एव हेतुर्भवति। ये लुप्तधर्माणो धर्मादपेतास्ते गुरुवृद्धसिद्धर्षिपूज्यानवमत्याहितान्याचरन्ति। ततस्ताः प्रजा गुर्वादिभिरभिशप्ता भस्मतामुपयान्ति॥ (च० वि० ३। १४)

'अभिशापसे भी होनेवाले जनपदोद्ध्वंसका कारण भी अधर्म ही है। जब मनुष्योंकी धार्मिक भावना लुप्त हो जाती है, धन और शक्तिका मद बढ़ जाता है, तब वे पूज्य गुरु, वृद्ध, सिद्ध, ऋषिजनोंका तिरस्कार करते हैं और उनके अभिशापसे यादवोंकी तरह एक साथ समूल नष्ट हो जाते हैं।'

यह निश्चित सिद्धान्त है कि रोग, दुःख और अकाल-मृत्यु आदि असदाचार या पापका फल है। समाजमें यह जब सामूहिक रूपसे बढ़ जाता है, तब यह सामूहिक विनाश करता है, व्यक्तिगत पाप व्यक्तिको ही नष्ट करता है, दीर्घकालीन असाध्य बीमारियोंके द्वारा, धन-मान-विनाशके द्वारा कष्ट पहुँचाता है। मनुष्यकी आयु साधारणतः १०० वर्षकी मानी गयी है, आयुकी समाप्तिपर निधन निश्चित है; पर इससे पहले मरना उसके अपने अपराधोंका फल है।

आयुर्वेदका सिद्धान्त है कि १०१ मृत्यु हैं, जिनमें मनुष्यकी एक मृत्यु तो निश्चित है, वह किसी उपायसे टाली नहीं जा सकती। शेष १०० मृत्युओंको अकालमृत्यु कहा



धर्मरूप धर्मराज



यमरक्षक यमराज

जाता है, वे आयुर्वेदोक्त एवं धर्मशास्त्रोक्त सद्वृत्तके अनुष्ठानसे टल जाती हैं।

एकोत्तरं मृत्युशतमथर्वाणः प्रचक्षते।
तत्रैकः कालसंज्ञस्तु शेषास्त्वागन्तवः स्मृताः॥१८॥

सार यह है कि आगन्तुक मृत्युएँ हितोपचारसे हटायी जा सकती हैं। 'हितोपचारमूलं जीवितमतो विपर्ययान्मृत्युः'—चरकका सिद्धान्त है कि जीवनका मूल हितोपचार है, अहितोपचार ही मृत्युका कारण है। हम यहाँ चरकोक्त हितोपचारोंका थोड़ा-सा निदर्शन करा देते हैं। शेष स्वयं पाठक चरक सू० स्थानके ८ वें अध्यायमें देखें।

तत् सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश। (च० सू० ८)

अब हम सम्पूर्ण सद्वृत्त—सदाचारका उपदेश करेंगे। देव, गौ, ब्राह्मण, सिद्ध, आचार्यकी अर्चना करना, प्रतिदिन अग्निहोत्र करना, प्रशस्त औषधका सेवन और रत्न धारण करना, दोनों समय स्नान-संध्या करना, प्रसन्न रहना, मिलनेवालोंसे प्रथम स्वयं कुशल-प्रश्न करना, पितरोंका पिण्डदान-श्राद्ध-तर्पण करना, हित-मित-मधुर भाषण और हित-मित-मधुर आहार यथासमय करना, निश्चिन्त, निर्भीक, क्षमावान्, धार्मिक, आस्तिक होकर रहना—इत्यादि अनेक सद्वृत्त हैं। जिनका संक्षेपमें वाग्भटने एक ही श्लोकमें वर्णन कर दिया है—

नित्यं हिताहारविहारसेवी
समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावा-
नाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥१॥

'प्रतिदिन हित आहार-विहार करनेवाला, सोच-समझकर कार्य करनेवाला, विषयोंमें अनासक्त, दान देनेवाला, हानि-लाभमें सम रहनेवाला, सत्यपरायण, क्षमावान्, आप्त पुरुषोंकी सेवा करनेवाला, उनकी शिक्षाके अनुसार चलनेवाला पुरुष ही नीरोग और शतायु होता है।'

सार यह है कि आयुर्वेदने जिन आहार-विहार-आचारोंको रोगोत्पादक बतलाया है, धर्मशास्त्रोंने उन्हें पापजनक कहा है। यही आयुर्वेदका स्वस्थ-वृत्त है।

स्वस्थवृत्तं यथोद्दिष्टं यः सम्यगनुतिष्ठति।
स समाशतमव्याधिरायुषा न वियुज्यते॥
(च० सू० ८। १०)

नृलोकमापूरयते यशसा साधुसम्मतः।
धर्मार्थावेति भूतानां बन्धुतामुपगच्छति॥११॥
परान् सुकृतिनो लोकान् पुण्यकर्मा प्रपद्यते।
तस्माद् वृत्तमनुष्ठेयमिदं सर्वेण सर्वदा॥१२॥

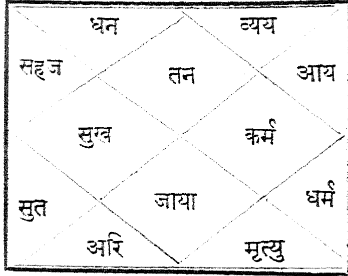
'जो इस आयुर्वेदोक्त सद्वृत्तका सम्यक् पालन करता है, वह १०० वर्षतक नीरोग रहकर जीता है, नरलोकको यशसे पूरित करता है, सुकृतियोंके पुण्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त करता है, धर्म और अर्थको प्राप्त होता है और सब प्राणियोंकी बन्धुताको प्राप्त होता है। अतः इसका सब मनुष्योंको पालन करना चाहिये।'

अपनेको सदा धर्मकी कसौटीपर कसता रहे

हित-मित-सत्य-मधुर नित बोले, हित-मित-मधुर करे आहार।
नित्य रहे निर्भीक, मान-मदरहित, रखे मन शुद्ध विचार॥
नियमित हों जीवन, इन्द्रिय-मन हों संयत, हो शुद्धाचार।
विषयासक्ति-रहित, समतायुत, क्षमावान हो सहज उदार॥
सेवाभाव-समन्वित जीवन हो, सबका चाहे कल्याण।
रहे अडिग नित धर्म-शीलसे, हो शरीर चाहे म्रियमाण॥
विपद्ग्रस्तको आश्रय दे, कर दे उसका विपत्तिसे त्राण।
प्रभु-शरणागत रहे, स्वयंको कसता रहे धर्मकी शाण॥

जन्माङ्गसे धर्मविचार

(लेखक—ज्योतिषाचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न)



भारतकी संस्कृति और सभ्यताका मूल 'धर्म' ही है। धर्म बिना कोई जीवन नहीं। जहाँ 'धर्म' नहीं, वहाँ सब व्यर्थ है। 'धर्मनिरपेक्षता'की बात करना केवल भ्रम है। मानवके अन्तर्गत यदि धर्म नहीं तो वह मानव नहीं, दानव है। जितने भी महामानव हुए, सभी धार्मिक प्रवृत्तिके थे। यहाँपर धर्मकी व्याख्या नहीं करनी है। किंतु मानवजीवनके आवश्यक पोषक तत्त्वोंमें धार्मिक भावना भी एक तत्त्व है, जिसे भारतके सभी आचार्योंने माना है; उसे ही यहाँ उपस्थित करना है। ज्योतिषविज्ञानमें फलितज्योतिष प्रधान अङ्ग माना गया है। फलितज्योतिषमें जन्माङ्गसे फलाफल-विचार एक बृहत् और वैज्ञानिक परम्परा है। जन्माङ्गमें बारह स्थान होते हैं। उन बारह स्थानोंमें धर्म भी अपना एक स्थान रखता है। शरीरके पोषणके लिये 'कर्म'की प्रधानता मानी गयी है। शरीरके पालनमें 'धन' सहायक होता है। 'भाई' का स्थान भी अत्यन्त महत्त्वदायक होता है। 'सहोदर' बहुत भाग्यसे मिलते हैं। इसे तुलसीदासजीने भी स्वीकार किया है। 'सुख'की चाहना 'मानव' ही नहीं, पशु-पक्षी भी करते हैं। समस्त देशके मानव 'पुत्र'के जन्मके लिये लालायित रहते हैं। 'रोग' और 'दुश्मनों'से किसीका छुटकारा नहीं। महाराज युधिष्ठिर जो 'अजातशत्रु' थे, उनके भी रक्तका प्यासा दुष्ट दुर्योधन था। 'स्त्री' तो जीवनके संचालनमें अर्द्धाङ्ग मानी गयी है। जीवनका एक दिन 'अन्त' होता ही है। 'मृत्यु' एक दिन सबका वरण करती है। अपनी 'आय' बढ़ानेके लिये मानव जीवनपर्यन्त उत्सुक रहता है। 'व्यय' भी जीवन-संचालनके लिये अनिवार्य है। यह सब कुछ होते हुए भी 'धर्म' बिना जीवन 'जीवन' नहीं। जन्माङ्गमें तन, धन, भाई, सुख, पुत्र, अरि, स्त्री, मृत्यु, धर्म, कर्म, आय और व्यय—बारह स्थान होते हैं। ये बारह स्थान बारह राशियोंके आधारपर प्रचलित हुए हैं। बारह राशियाँ सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त हैं।

यह निश्चित है कि धर्मका स्थान जन्माङ्गमें नवम है। जन्माङ्गसे जीवके धर्म और अधर्म दोनोंका विचार किया जाता है। धर्मकी प्रधानता नवम स्थानमें नियत करके आचार्योंने नवम स्थानसे धर्मके आधारपर यज्ञ, तप, शुभकर्म, पुण्यार्चन, भाग्य, प्रसन्नता आदिका भी विचार किया है। इन सबका आधार केवल 'धर्म' ही है। जन्माङ्गसे फल-विचार करनेमें कई आवश्यक बातोंको ध्यानमें रखना पड़ता है। फलविचारकी दृष्टिसे सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध, गुरु आदि नवग्रह और मेष, वृष, मिथुन आदि बारह राशियोंका परस्पर सम्बन्ध भी देखा जाता है। इसके बाद 'स्थानबल' में तन, धन आदि बारह स्थानोंका बल भी देखा जाता है। विचारकोंने यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि ग्रहोंका स्वभाव मानवोंकी भाँति ही उपयोगी होता है। इसी आधार-पर ग्रहोंका 'चेष्टाबल' और 'दृष्टिबल' भी माना गया है। मानवको 'स्त्री' अत्यन्त प्यारी मानी गयी है। 'स्त्री'का स्थान सप्तम स्थान है। सप्तम स्थानमें दृष्टिबलकी प्रधानता होती है। इसी प्रकार पञ्चम स्थान पुत्र और विद्या दोनोंका है। 'विद्या' तो 'बुद्धि'की सहायिका होती है। विद्या और बुद्धिसे हीन मानव धार्मिक विचारोंसे रहित होता है। इसी आधारपर पञ्चम स्थानसे भी 'धर्म' सम्बन्धी विचार होता है। धर्मके संचालनके लिये पञ्चम भावकी गतिविधिसे सहायता मिलती है। पञ्चमभावसे ईश्वरमें भक्ति और नवम भावसे धर्मका विचार होता है। पञ्चम और नवमके अधिपतियोंके अन्योन्याश्रय-सम्बन्धसे 'धर्म'में दृढ़ता और आस्था पनपती है या स्थायी होती है। दोनों भावेशों-के बलाबल एवं शुभ गुणादिके तारतम्यसे धार्मिक विचारोंमें स्थिरता या अस्थिरता आती है। धार्मिक विचारके अन्तर्गत 'उपासना' भी है। कौन जातक किसकी उपासना करेगा या उपासनामें उसकी प्रवृत्ति होगी या नहीं—यह सब विचार भी होता है। उपासक देवी या देवकी उपासना करेगा, इसका भी ज्ञान ग्रहोंके बलाबलसे हो जाता है।

उपासनाकी प्रवृत्ति

(१) ग्रहोंके विचारमें शनि नवम स्थानमें रहकर

विचित्र स्थिति उत्पन्न करते हैं। शनि नवम स्थानमें रहकर जातकको सर्वदर्शनविमुक्त बनाता है, जातक राजा होकर भी धार्मिक विचारमें अग्रसर होता है, सच्चा उपासक बनता है।

(२) यदि पञ्चम स्थानमें पुरुष-ग्रह बैठा हो और किसी पुरुष-ग्रहकी दृष्टि उसपर पड़ रही हो तो जातक पुरुष-देवताका उपासक बनता है।

(३) यदि पञ्चम भावकी राशि सम (वृष, कर्क आदि) राशि हो; उसमें चन्द्रमा या शुक्र बैठा हो तो जातक किसी देवीका उपासक होता है।

(४) सूर्य पञ्चमस्थ हो या पञ्चम भावपर सूर्यकी पूर्ण दृष्टि हो तो जातक सूर्यकी उपासनामें अग्रसर होता है। चन्द्रमाका ऐसा योग माता पार्वतीका उपासक बनाता है। पञ्चममें मङ्गलकी स्थिति और बलाधिक्य कुमार कार्तिकेयकी उपासनाकी ओर अग्रसर करता है। बुधका योग या पञ्चमपर बुधकी दृष्टिका बल जातकको भगवान् विष्णुकी उपासनामें प्रवृत्त करता है। गुरुका योग शंकरभगवान्‌की उपासनामें दृढ़ बनाता है। इस प्रकार पञ्चममें शनि या राहु या केतु विराजमान हों, या इनमें किसी एककी पूर्ण दृष्टि पञ्चम भावपर हो तो जातक अन्य देवोंमें किसीकी उपासना करता है। पूर्वमें लिखा जा चुका है कि नवमस्थ शनि एक विचित्र धार्मिक प्रवृत्तिका परिचायक बनता है। वही शनि पञ्चम भावमें भी रहकर विचित्र भावनावाली धार्मिक प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। उदाहरणके लिये धर्मपरिवर्तन करना, अवधूत बन जाना इत्यादि स्थितियाँ हैं।

(५) नवम स्थानका स्वामी बली होकर लग्न या चतुर्थ या स्त्री या कर्मस्थानमें विराजमान हो और लग्नेशकी दृष्टि लग्नपर पड़ती हो या दशमेश, गुरुके नवांश या त्रिंशांश या द्रेष्काणका हो तो ऐसा जातक महाधनी होकर भी कट्टर धार्मिक होता है।

(६) यदि नवम स्थानका स्वामी उच्च राशिमें हो और उसपर शुभ ग्रहकी दृष्टि पड़ती हो तथा नवम स्थानमें भी शुभ ग्रह विराजमान हों तो जातक धार्मिक जगत्‌में अग्रसर बनता है।

(७) नवमेश पूर्ण बली हो और नवमेशपर गुरुकी पूर्णदृष्टि हो और लग्नेशपर भी गुरुका दृष्टि-बल पहुँचता हो, ऐसी स्थितिमें जातक महान् धार्मिक होता है।

(८) लग्नके स्वामीपर या लग्नपर नवमेशकी पूर्ण दृष्टि हो तथा नवमेश केन्द्र या त्रिकोणगत हो तो जातक धार्मिक और दानी होता है।

(९) नवमाधिपति यदि सिंहांशका हो और उसपर लग्नेशकी अथवा दशमेशकी दृष्टि हो तो जातक पूर्णरूपसे धर्मात्मा और दानी होता है।

(१०) नवमेश चतुर्थ-भावस्थ हो, दशमेश केन्द्रगत हो और द्वादशेश गुरुके साथ हो तो जातक धर्मशील और दानशील दोनों होता है।

(११) ऊपर लिखे योगके साथ ही बुध यदि उच्चका हो और नवमाधिपतिकी उसपर पूर्ण दृष्टि हो तो जातक धर्मात्मा और उपकारी होता है।

(१२) जन्माङ्गमें गुरु बुध या मङ्गलके साथ हों तो ऐसा जातक धर्मपूर्ण कामोंमें अग्रसर रहता है।

(१३) दशमेश यदि दशमभावमें ही हो, या दशमेश चार शुभद वर्गोंका हो, या दशमेश केन्द्र या त्रिकोणस्थित हो तो जातक 'धर्म' में दृढ़ रहता है।

(१४) यदि दशमेश बुध हों और जातकके गुरु भी बली हों या चन्द्रमा तृतीय-भावगत हों तो जातक धर्मशील होकर यश प्राप्त करता है।

(१५) नवमेश यदि बृहस्पतिके साथ हों और षड्वर्गोंमें बली हों, या लग्नेशपर गुरुकी पूर्ण दृष्टि हो तो जातक धर्मपरायण होता है।

(१६) बुध दशमस्थ होकर गुरुके साथ हो तो जातक धर्मात्मा होकर यश प्राप्त करता है।

(१७) दशमेशके साथ बुध भी दशम-भावगत हो तो जातक धर्ममें तत्पर हो जाता है।

परोपकार भी धर्म है

महर्षि व्यासने लिखा है कि परोपकार ही पुण्य है और पुण्यार्चन ही धर्मार्चन है। परोपकारी जनोंके आचरणका विचार जन्माङ्गके नवम, द्वितीय, चतुर्थ और दशम भावसे होता है। आप महान् व्यक्तियोंके जन्माङ्गोंकी यदि तुलना करें तो महात्मा गांधी, महामना मालवीय, महात्मा रामकृष्ण परमहंस, महर्षि विवेकानन्द आदिके जन्माङ्गमें परोपकारी योग पड़ा है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जायगा कि ये महात्मा

महान् धर्मात्मा भी थे। पृथक्-पृथक् उनके जन्माङ्गसे यहाँ विचार-विनिमय तो नहीं हो सकता, किंतु धर्माचरणका प्रत्येक लक्षण कुछ-न-कुछ ऊपर उल्लिखित महान् पुरुषोंके जन्माङ्गमें अवश्य घटित होता है। परोपकारी लक्षणोंके कुछ उद्धरण निम्न प्रकारसे हैं—

(१) यदि लग्नेश और द्वितीयेश उच्च राशिमें स्थित हों, उनपर शुभ ग्रहोंकी दृष्टि पड़ती हो तो जातक परोपकारी और धर्मशील होता है।

(२) दशम स्थानसे कीर्तिका भी ज्ञान किया जाता है। दशम स्थान कर्मका भी स्थान है। सुकर्म करनेवाला सुयश भी प्राप्त करता है। यदि दशमेश द्वितीय भावमें स्थित हों तो वह जातक महान् यशका अर्जन करता है।

(३) गुरु यदि द्वितीयेश होकर द्वितीय भावमें ही विराजमान हो, या द्वितीय स्थानका स्वामी बुध हो या शुक्र हो, शुक्र उच्चस्थ, या अपने मित्रके घरमें हो या चतुर्थ भावमें हो तो ऐसा जातक अपने उत्तम आचरणोंसे जनताकी रक्षा करता है।

(४) यदि दशमके स्वामी द्वितीय भावके स्वामी होकर उच्चस्थ हों या उत्तम वर्गके हों तो जातक परोपकारी और धर्मात्मा होता है।

(५) दशमाधिपति बुध हो और उसपर शुभग्रहकी दृष्टि पड़ती हो तो जातक अपने उत्तमोत्तम आचरणोंसे जनवर्गका कल्याण करता है।

(६) द्वितीयाधिपति यदि उच्चका हो या मित्रगृहमें स्थित हो, या अपने घरका हो, और द्वितीयेश जिस स्थानमें हो, उस स्थानके स्वामीको पाँच वर्गोंका बल हो और उसपर गुरुकी पूर्ण दृष्टि हो तो ऐसा जातक अपने उत्तम कर्मोंके बलपर यश प्राप्त करता है।

धार्मिक अनुष्ठानोंके कर्ता

किसी भी धर्मके अनुयायियोंमें धार्मिक भावनाके साथ ही धार्मिक अनुष्ठानोंके प्रतिपादनकी भी बात निहित रहती है। अनुष्ठान कर्मकाण्डका एक विकसित रूप है। कर्मकाण्डका तात्पर्य कर्ममें दृढ़ता दिखाना है। जो कर्ममें विश्वास नहीं कर सकता, उसे ईश्वरकी प्राप्ति होनी कठिन है। जन्माङ्गसे कर्मनिष्ठता ही नहीं, धार्मिक अनुष्ठानोंके प्रतिपादनका भी विचार होता है।

(१) यदि दशम (कर्म) के स्वामी कोई शुभग्रह हों और वह चन्द्रमाके साथ हों और राहु-केतुसे पृथक् हों तो जातक धार्मिक अनुष्ठानोंका कर्ता होता है।

(२) बुध यदि नवममें हो, या उच्चमें हो और राहु और केतुसे पृथक् हो, दशमाधिपति नवम भावमें हो तो जातक धार्मिक अनुष्ठानोंका विधायक होता है।

(३) दशमाधिपति उच्चस्थ हो, बुधके साथ हो तो जातक धार्मिक अनुष्ठानोंमें अग्रणी बनता है।

(४) लग्नाधिपति यदि दशमभावस्थ हो, दशमाधिपति नवमभावस्थ हो और ये दोनों पापग्रह (रवि, मङ्गल, शनि, राहु और केतु) न हों तथा पापग्रहोंकी दृष्टिसे वञ्चित हों और शुभ ग्रहोंकी दृष्टि हो तो जातक उत्तम तथा धार्मिक अनुष्ठानोंका सम्पादन करता है। इसी प्रसङ्गमें यह भी विचारणीय है कि यदि कर्मेश षष्ठ, अष्टम या द्वादशभावमें स्थित हो, या बुधके स्थानमें राहु दशम भावमें स्थित हो और दशम-भावगत हो, (यह तब होगा, जब बुध लग्नस्थ हो) तो शुभ एवं धार्मिक अनुष्ठानोंमें सद्यः बाधा भी उपस्थित हो जाती है।

(५) जन्माङ्गमें दशमाधिपति और लग्नाधिपति एक साथ हों, या दशम और लग्नके एक ही पति हों (यह तब सम्भव है जब लग्न कन्या या मीनकी हो) तो जातक अपने बाहुबलसे धन उपार्जित करके धार्मिक अनुष्ठानको सम्पन्न करता है।

धार्मिक अनुष्ठानोंमें धनकी उपादेयता

इस प्रसङ्गमें यह विचार करना है कि अनुष्ठान या धार्मिक कृत्योंमें धनका खर्च तो निश्चित ही है, इस महर्घताके युगमें तो धन ही सब कुछ बना हुआ है। यज्ञादि कर्म तो दूरकी बात है, साधारण शुभ कृत्योंसे भी जनवर्ग दूर होता जा रहा है। हाँ, कोई-कोई धर्मात्मा अवश्य हैं, जो अपने बलपर या अन्यान्य उपायोंसे धार्मिक अनुष्ठानोंको करते हैं या कराते हैं और प्रेरणा देते हैं। जन्माङ्गद्वारा इन सबका विचार होता रहता है।

(१) जन्माङ्गमें यदि शनि दशमेशके साथ हो तो यज्ञकर्ता शूद्रोंसे धन लेकर यज्ञादि अनुष्ठान सम्पन्न करता है।

(२) यदि दशमेश राहु या केतुके साथ हो तो जातक अपने शिष्योंसे धन लेकर धार्मिक कृत्योंको सम्पादित करता है।

(३) यदि दशमेश गुरुके साथ हो तो जातक राजासे धन लेकर धार्मिक कार्य सम्पन्न करता है या कराता है।

(४) यदि दशमाधिपति सूर्य हो तो पिताकी अर्जित सम्पत्तिसे पुत्र धार्मिक अनुष्ठान करता है।

(५) यदि दशमाधिपति चन्द्रमा हो तो माताकी सम्पत्तिसे धर्मकार्य सम्पादित होता है।

(६) यदि दशमेश मङ्गल हो तो भाईकी सम्पत्तिसे धर्मकृत्य पूरा किया जाता है।

(७) यदि बुध दशमेश होता है तो चचेरे भ्राताकी सम्पत्तिसे धर्मके कार्योंमें सहायता मिलती है।

(८) जब नवमेश और पञ्चमेश दोनोंका परस्पर उत्तम सम्बन्ध हो तो जातकके लिये प्रेरणादायक होता है। ऐसा जातक यज्ञादि कर्मोंमें ख्याति प्राप्त करता है।

धार्मिक जीवनका प्रारम्भ और त्याग

भारतीय संस्कृति-सभ्यतामें मानवताका प्रधान गुण सत्य और त्याग भी है। बिना त्यागके जीवनमें निखार नहीं आता। बिना त्यागके धर्मका स्थान भी सारहीन है। साधारणतया यह देखा जाता है कि जन्माङ्गमें पाँच, छः या सात ग्रह एक ही स्थानमें हों तो वह जातक धार्मिक भावनासे ओतप्रोत रहकर पवित्र जीवन व्यतीत करता है। इन ग्रहोंमें इतना अवश्य देखना पड़ता है कि कोई ग्रह बली या शुभ-दृष्ट है या नहीं, उन ग्रहोंमें कोई दशमाधिपति है या नहीं। यदि उनमें कोई बली ग्रह होता है तो वह जातक त्यागी होता है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक ग्रह बली होकर धार्मिक जीवनमें विभिन्न प्रकारसे प्रभाव दिखलाता है। यहाँ प्रत्येक ग्रहोंके सम्बन्धमें संक्षिप्तमें विचार उपस्थित किया जा रहा है।

(१) पाँच या पाँचसे अधिक ग्रह एक साथ नवम स्थानमें हों और उनमें सूर्य बलवान् हो तो जातक ईश्वरमें लीन रहकर धार्मिक जीवन व्यतीत करता है और वह सूर्य, गणेश या शक्तिकी उपासना करता है।

(२) तथाकथित स्थितिमें यदि चन्द्रमा बली हो तो जातक शैवमतावलम्बी बनकर धार्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(३) मङ्गलके प्रभावसे जातक धार्मिक विचारोंसे प्रभावित होकर भिक्षावृत्ति अपनाकर संन्यस्त जीवन व्यतीत करता है।

(४) बुधके प्रभावसे जातक मतान्तरसे विष्णुभक्त होता है, तान्त्रिक होता है।

(५) गुरुके प्रभावसे जातक धर्मशास्त्रका ज्ञाता बनता है।

(६) शुक्रके प्रभावसे जातक महान् यशस्वी धर्मात्मा बन जाता है। इस प्रकार यदि पाँच, छः या सात ग्रह नवम (धर्म) तथा पञ्चम (भक्ति) और दशममें बैठ जाते हैं तो जातक अपनी धर्मभावना और धार्मिक कृत्योंसे पूज्य बन जाता है।

(७) शनि यदि ऐसे अवसरपर बलवान् रहता है तो जातक पाखण्ड-व्रतको माननेवाला बनता है। इस विचारमें अस्त ग्रह प्रभावहीन होते हैं। ग्रहयुद्धमें पराजित ग्रह अपना प्रभाव नहीं दिखला पाते। बली ग्रहोंका दृष्टिबल भी इसमें बहुत सहायक बनता है।

धार्मिक चेतनाका प्रादुर्भाव

जीवनके किसी भी भागमें धार्मिक चेतनाका प्रादुर्भाव हो जाता है। अधिकतर देखा जाता है कि कोई बचपनसे ही धार्मिक प्रवृत्तिका होता है। कोई युवाकालमें किसी घटनासे प्रभावित होकर धर्मकी ओर आकृष्ट हो जाता है। कोई-कोई युवावस्था बीत जानेपर धर्मकी ओर अग्रसर होते हैं। इन सबमें ग्रहोंका प्रभाव अपना महत्त्व रखता है। ग्रह अपनी महादशामें, अन्तर्दशामें अपना बल प्राप्त होनेपर विशेष फल दिखलाने लगता है। यह स्थिति 'राजयोग', 'राजभङ्ग-योग' एवं अन्यान्य योगोंके लिये भी मान्य है।

(१) यदि लग्नेशपर अन्य किसी ग्रहकी दृष्टि न पड़ती हो और लग्नपतिकी दृष्टि शनिपर पड़े तो जातक धार्मिक भावनासे अत्यन्त प्रभावित होकर गृह त्याग देता है।

(२) यदि शनिपर किसी ग्रहकी दृष्टि न पड़ती हो और शनिकी दृष्टि लग्नेशपर पूर्णरूपेण पड़ रही हो तो जातक धार्मिक भावनासे प्रभावित होकर घर-द्वार छोड़ देता है।

(३) शनिकी दृष्टि यदि निर्बल लग्नपर भी पड़े तो वह जातक घर-द्वारकी मोहमाया छोड़कर धार्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(४) चन्द्रमा किसी राशिका होकर शनि या मङ्गलके द्रेष्काणमें हो और चन्द्रमापर किसी अन्य ग्रहकी दृष्टि न होकर शनिकी दृष्टि हो तो जातकका जीवन धर्मप्रधान होता है।

गृहसम्बन्धी कार्योंसे जातक सम्बन्ध छोड़ देता है और धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगता है।

(५) जन्मेश यदि बलहीन हो, उसपर शनि अपनी पूर्ण दृष्टिसे अवलोकन कर रहा हो तो जातक धार्मिक भावनाके कारण माया-मोहके बन्धनको तोड़कर धार्मिक एवं पवित्र जीवन व्यतीत करता है।

(६) जन्मकालीन चन्द्रमा जिस राशिमें हो और उसके पति (जन्म-राश्याधिपति) पर यदि किसी ग्रहकी दृष्टि न हो किंतु जन्मराश्याधिपतिकी दृष्टि शनिपर पड़ती हो तो ऐसे जातकके ऊपर बली शनि अथवा जन्मराशीशका प्रभाव विशेषरूपसे पड़ता है और इन बली ग्रहोंके दशान्तरमें जातक गृह-प्रपञ्चोंसे छुटकारा प्राप्त करके धार्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(७) जन्माङ्गमें चन्द्रमा शनि अथवा मङ्गलके नवांशमें हो और उसपर शनिकी दृष्टि हो तो जातकके मनमें सहसा धार्मिक भावनाका उत्थान होता है और वह माया-मोहके जालसे छूटकर धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगता है।

(८) चन्द्रमा जन्माङ्गमें यदि शनिके द्रेष्काणमें हो और उसपर शनिकी दृष्टि हो तो जातक धार्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(९) जन्माङ्गमें शनि नवमस्थान (धर्मभाव) में हो, उसपर किसी भी ग्रहकी दृष्टि न हो और ऐसा जातक चाहे राजवंश-परम्परामें भी क्यों न जन्मा हो, उसे धर्ममय जीवन बिताना ही पड़ता है।

(१०) चन्द्रमा धर्मस्थानमें स्थित हो और वह किसी भी ग्रहद्वारा दृष्ट न हो तो जातक राजाके घरमें उत्पन्न होकर भी धर्मात्मा बन जाता है।

(११) जन्माङ्गमें शनि अथवा लग्नाधिपतिकी दृष्टि चन्द्रमापर पड़ती हो तो जातक धार्मिक जीवन बितानेके लिये अग्रसर होता है। उदाहरणके लिये आदिगुरु शंकराचार्यका जन्माङ्ग देखा जा सकता है।

(१२) जन्माङ्गमें चन्द्रमा और मङ्गल एकराशिगत हों, चन्द्रमा शनिके द्रेष्काणमें हो और उस चन्द्रपर शनिकी दृष्टि पड़ती हो तो जातक धार्मिक जीवन व्यतीत करनेके लिये बाध्य होता है।

(१३) यदि जन्माङ्गमें लग्नेश बृहस्पति या मङ्गल या शनि हो, उस लग्नके स्वामीपर शनिकी दृष्टि पड़ती हो और गुरु नवम भावमें हो तो जातक धर्मात्मा बन जाता है।

(१४) लग्नेशपर यदि कई ग्रहोंकी दृष्टि पड़ती हो और उन ग्रहोंमें किसी भी ग्रहकी राशिमें दृष्टि डालनेवाले ग्रह स्थित हों तो जातक धर्मात्मा होता है।

(१५) जन्माङ्गमें कर्मेश अन्य चार ग्रहोंके साथ हो और वे केन्द्र या त्रिकोणमें विराजमान हों तो जातक महान् धर्मात्मा होकर जीवन्मुक्त हो जाता है।

(१६) जन्माङ्गमें सूर्य शुभ ग्रहके नवांशमें होकर धर्म-भावप्रद ग्रहोंपर दृष्टि डालता हो और वह उच्च या परमोच्चका हो तो जातक जन्मसे ही धर्मात्मा हो जाता है। (आदिगुरु शंकराचार्यके जन्माङ्गको देखो।)

(१७) जन्माङ्गके कर्मभावमें तीन बली ग्रह हों और सभी उच्चके हों या स्वगृही हों और दशमेश भी बलवान् हो तो जातक धार्मिक जीवन व्यतीत करता है।

अध्यात्म-योग

जन्माङ्गसे अध्यात्म-योगका भी विचार होता है। अध्यात्मवादी धर्मात्मा ही होते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीरामानुजाचार्य आदि इसी कोटिमें आते हैं।

(१) जन्माङ्गमें यदि कर्मेश शुभ ग्रह हो, उच्चके हो या स्वगृही हो अथवा मित्रगृही हो तो ऐसा जातक आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है। स्वामी रामतीर्थके जन्माङ्गमें यह योग पड़ा था।

(२) यदि जन्माङ्गमें कर्मेश शुभ ग्रह हो या धर्मेश और एकादशेश शुभ ग्रह हों या दशमेश शुभ ग्रहके नवांशमें हो तो जातक आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(३) यदि जन्माङ्गमें दशमेश पाँच शुभ वर्गोंका हो या सात उत्तम वर्गोंका हो तो और लग्नेश बली हो तो जातक आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(४) जन्माङ्गमें बलवान् चन्द्रमा केन्द्रस्थ हो, उसपर किसी भी शुभ ग्रहकी दृष्टि हो तो जातक इस संसारमें आध्यात्मिक जीवन बिताता है। (देखें, श्रीचैतन्य महाप्रभुकी जन्मकुण्डली।)

(५) दशमभावमें मीनराशिमें स्थित बुध हो या मङ्गल विराजमान हो तो ऐसे जन्माङ्गका जातक अध्यात्म-योगका उपदेशक होता है।

(६) जन्माङ्गमें धर्मेश बलवान् हो, साथ ही शुभ ग्रह हो, उसपर गुरु या शुक्रकी शुभ दृष्टि हो या धर्मेश गुरु या शुक्रके साथ हो तो जातक धार्मिक जीवनसे संसारमें प्रसिद्ध हो जाता है।

(७) दशमेश धर्मभावस्थ हो और धर्मेश बलवान् हो या बृहस्पति या शुक्रसे दृष्ट हो तो जातक आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(८) यदि लग्नाधिपति नवम भावमें और कर्मेश धर्मभावमें हों और दशमेशपर पाप-ग्रहोंकी दृष्टि न पड़ती हो और शुभ ग्रहोंकी दृष्टि पड़ती हो और दशमेश शुभ ग्रहके नवांशमें हो तो जातक धर्मचेता होता है।

(९) जन्माङ्गमें यदि दशमेश सात शुभ वर्गोंका हो और दशमेश चन्द्रमा हो; सूर्य पाँच शुभ वर्गोंका हो तो जातक महान् आत्मावाला होता है।

(१०) यदि मेषके अन्तिम नवांशमें जन्म हो अर्थात् जन्म मेषराशिमें हो; जन्म-लग्नका नवांश धनका हो; लग्नमें गुरु और शुक्र हों; चन्द्रमा धनस्थानमें हो; मङ्गल पाँच शुभ वर्गोंका हो तो जातक महान् धर्मात्मा होता है।

(११) कर्क लग्नमें जन्म हो; बृहस्पति उसमें बैठा हो; शनि सिंहराशिका हो; चन्द्रमा वृषराशिमें हो; शुक्र मिथुन राशिका हो और सूर्य एवं बुध स्थिरराशिमें हों तो जातक अध्यात्मवादी और धर्मात्मा होता है।

इस प्रकार फलित ज्योतिषके ग्रन्थोंमें धार्मिक जनों और जन्माङ्गके आधारपर धार्मिक तत्त्वोंका विचार किया जाता है।

धर्म और विज्ञान

(लेखक—प्राध्यापक श्रीहिमांशुशेखर झा, एम्० ए०)

(१)

धर्म और विज्ञानमें कोई मौलिक विरोध नहीं है। दोनों-की प्रक्रियाओंमें अन्तर इतना ही है कि जहाँ विज्ञान बाह्य जगत्‌की आधार-शिलापर स्थित जिज्ञासाके प्रासादमें बैठकर सत्यकी खोज करता है, वहाँ धर्म अन्तर्जगत्‌में प्रतिष्ठित होकर सत्यका साक्षात्कार करता है।

जडवादियोंके एक बहुत बड़े समुदायने समूचे संसारमें यह भ्रम फैला रक्खा है कि विज्ञान धर्मका विरोधी है। किंतु वास्तविकता यह है कि धर्मकी निन्दा करनेवाले और विज्ञानकी प्रशंसाके पुल बाँधनेवाले इन जडवादियोंको न तो विज्ञानका ज्ञान है और न धर्मका ही परिचय! वे न तो धार्मिक चेतनाका अर्थ समझते हैं और न वैज्ञानिक प्रक्रियाओंका। यही कारण है धर्म और विज्ञानकी गलत व्याख्या करके वे सामान्य लोगोंके बीच भ्रम फैलाते रहते हैं।

अब तो संसारके श्रेष्ठ वैज्ञानिक भी यह स्वीकार करने लगे हैं कि विज्ञान और धर्ममें कोई झगड़ा नहीं है प्रत्युत वे एक दूसरेके पूरक हैं। आधुनिक युगके सबसे बड़े वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टाइनको धर्ममें पूर्ण विश्वास था और वे धर्म और विज्ञान दोनोंको एक दूसरेके लिये आवश्यक समझते थे। उन्हींके शब्दोंमें—'धर्मके बिना विज्ञान लँगड़ा है और विज्ञानके बिना धर्म अंधा[1]।'

विज्ञान धर्मका विरोध नहीं करता और यदि वह ऐसा करना चाहे भी तो उसे कोई आधार नहीं मिलेगा। वैज्ञानिक खोज और धार्मिक जिज्ञासा दोनों एक ही सत्यको उद्घाटित करनेकी चेष्टाएँ हैं। माध्यमगत विभिन्नताओंके आधारपर दोनोंकी मौलिक एकरूपतापर प्रश्न-चिह्न नहीं लगाये जा सकते। चाहे धर्म हो अथवा विज्ञान—दोनों सत्य-पर ही आधारित हैं। यह दूसरी बात है कि उनके विकासके क्षितिज भिन्न-भिन्न हैं और उनके आयामोंमें अन्तर है। किंतु इससे उनकी मौलिक एकरूपतापर कोई आघात नहीं पहुँचता। एक ही पेड़में दो शाखाएँ भिन्न-भिन्न दिशाओंमें रह सकती हैं और उनके बाहरी रूपमें भी काफी अन्तर हो सकता है, परंतु दोनोंके फलोंमें कोई अन्तर नहीं रहता। उसी तरह धर्म और विज्ञान जिज्ञासारूपी पेड़की दो शाखाएँ हैं और दोनोंका फल एक ही है और वह है—'सत्य-की उपलब्धि'।

पूर्वाग्रहोंसे आक्रान्त जडवादियोंका मत है कि ईश्वर

1. Science without religion is lame and religion without science is blind. —Einstein

और विज्ञान दोनोंका एक साथ अवस्थान असम्भव है। किंतु यह बात बिल्कुल निराधार और व्यर्थ है। सच तो यह है कि विज्ञान ईश्वरीय सत्ताका सबसे बड़ा प्रमाण है। जिन लोगोंको विज्ञान और धर्म दोनोंमें किसीका ज्ञान नहीं है, वे ही यह मिथ्या प्रचार करते हैं कि विज्ञान ईश्वरकी सत्ताको नहीं मानता। ऐसे जडवादियोंको चाहिये कि वे सर्वप्रथम विज्ञान और धर्मका गहराईसे अध्ययन करें और उसके बाद अपने विचार लोगोंके सामने रक्खें। यह ध्रुव है कि एक बार यदि उन्हें पूर्ण ज्ञान हो गया तो उनके हृदयमें किसी प्रकारकी शङ्का नहीं रहेगी और वे धर्म तथा विज्ञानको एक समझने लगेंगे।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक उ० २। २। ८)

अर्थात् ब्रह्मका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर हृदयकी गाँठ टूट जाती है, सभी शङ्काएँ दूर हो जाती हैं और कर्मोंका भी क्षय हो जाता है।

जडवादियोंको चाहिये कि वे पहले धर्म अथवा विज्ञानके सहारे ब्रह्मको समझनेका प्रयास करें। जब उन्हें ब्रह्मका बोध हो जायगा, तब वे यह मान लेंगे कि वैज्ञानिक और धार्मिक जिज्ञासाओंका मूल स्रोत एक ही है और उनके परिणामोंमें भी कोई अन्तर नहीं है।

हमारे धर्मग्रन्थोंमें विभिन्न लोकोंकी बात आती है और ब्रह्मको अण्डाकार माना गया है। इन दोनों तथ्योंको संसारके सामने पहले-पहल हमारे ऋषियोंने ही रक्खा। आज वैज्ञानिक बन्धु भी मानने लगे हैं कि धरतीके अलावा अनन्त ब्रह्माण्डमें अन्यान्य लोक हैं और उनमें प्राणियोंके रहनेकी भी सम्भावना है। वैज्ञानिकोंने हमारे धर्म-ग्रन्थोंमें प्रयुक्त 'ब्रह्माण्ड' शब्दको भी स्वीकार कर लिया है। इस तरहके और भी कई भेद खुलते जा रहे हैं और एक ऐसा समय निकट भविष्यमें अवश्य उपस्थित होगा, जब धार्मिक सिद्धान्तोंकी सत्यताको वैज्ञानिक-जगत् पूरी तरह स्वीकार कर लेगा। वैज्ञानिक जिज्ञासा धार्मिक चेतनासे विच्छिन्न नहीं है, प्रत्युत उसीका एक अनिवार्य अङ्ग है। विज्ञान अपनी अतिविकसित अवस्थामें धर्मसे एकाकार हो जायगा—इसमें तनिक भी संदेह नहीं। ब्रह्माण्डके सम्बन्धमें जो नयी-नयी खोजें आज हो रही हैं, उनके बारेमें हमारे त्रिकालदर्शी मनीषियोंने हजारों साल पहले ही संकेत कर दिये थे। आज आवश्यकता इस बातकी है कि हम पूर्ण धार्मिक निष्ठा और वैज्ञानिक स्फूर्तिसे सम्पन्न होकर उन संकेतोंको समझ सकनेकी योग्यता प्राप्त कर लें। अगर हमने ऐसा कर लिया तो इस संसारको स्वर्ग बना लेनेमें देर नहीं लगेगी। विज्ञान और धर्मके सम्बन्धसे ही यह अनुष्ठान पूरा हो सकता है।

जडवादियोंके द्वारा उत्पन्न संशयकी समस्त शृङ्खलाओंको तोड़नेमें आजका मानव सक्षम होता जा रहा है। विज्ञानने उसे इस दिशामें सहायता ही पहुँचायी है। संशयवादकी लौह दीवारें वैज्ञानिक मान्यताकी जिस आधार-भूमिपर खड़ी हैं, वह अब नीचेसे खिसकने लगी है। जडवादके विशाल प्रासादकी प्रत्येक ईंटमें कम्पन शुरू हो गया है; क्योंकि उसे आधार प्रदान करनेवाले भौतिक उपलब्धियोंके समस्त शिलाखण्ड टूटकर विखरनेकी स्थितिमें आ रहे हैं।

ऐसी दशामें जडवादी चिन्तकके लिये यह आवश्यक हो गया है कि वह अपने मूल्योंमें परिवर्तन लाये और धर्म तथा विज्ञानको एक-दूसरेके लिये आवश्यक समझे। सम्भवतः जडवादियोंकी धर्मके प्रति अश्रद्धाका सबसे बड़ा कारण धर्ममें निहित कोई मौलिक दोष नहीं, प्रत्युत धर्मके बारेमें उनकी जानकारीका अभाव है। अर्थलोलुप और पाखण्डी धर्मयाजकों और स्वार्थी सम्प्रदायोंके द्वारा धर्मके नामपर किये जानेवाले अत्याचारोंको ही धर्मका यथार्थ रूप मान-समझ लेनेके कारण जडवादियोंको ईश्वरकी सत्तामें अश्रद्धाकी अनुभूति हुई। किंतु उन्हें यह समझना चाहिये कि धर्मके नामपर होनेवाला कुकृत्य धर्म नहीं है। धर्म क्या है, इस सम्बन्धमें 'महाभारत' में कहा गया है—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत्।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥

(वनपर्व १३१। ११)

अर्थात् जो धर्म दूसरे धर्मको बाधा पहुँचाये, दूसरे धर्मसे लड़नेके लिये प्रेरित करे, वह धर्म नहीं, वह तो कुमार्ग है। सच्चा धर्म तो वह है, जो धर्मविरोधी नहीं होता।

विज्ञानके साथ भी यही बात है। वैज्ञानिक आविष्कारोंके मूलमें सृष्टिको जानने और उसकी शक्तियोंको ढूँढ़ निकालनेकी प्रवृत्ति रहती है। लेकिन सांसारिकतामें डूबे हुए स्वार्थान्ध व्यक्ति और सत्ताएँ विज्ञानका दुरुपयोग करते हैं और समाजको हानि पहुँचाते हैं। इसमें विज्ञानका क्या दोष है?

इसलिये यह आवश्यक है कि विज्ञान और धर्मका सुन्दर समन्वय हो। भौतिकवादी चिन्तकोंको धार्मिक निष्ठाके महत्त्वको समझना होगा और धार्मिक चेतनासे सम्पन्न व्यक्तियोंको वैज्ञानिक उपलब्धिकी आवश्यकताका अनुभव करना होगा। विज्ञान और धर्मके समन्वय और सदुपयोगसे ही संसारका कल्याण हो सकता है।

समन्वय हिंदू-धर्म और भारतीय संस्कृतिका प्राण है। अब तो संसारके प्रसिद्ध वैज्ञानिक भी समन्वयकी आवश्यकतापर जोर देते हैं। कई लब्धप्रतिष्ठ वैज्ञानिकोंने यह स्वीकार किया है कि मानव-समाजके कल्याणके लिये विज्ञानके साथ-साथ धर्मकी भी आवश्यकता है।

धर्म और विज्ञानका समन्वय मानव-समाजके लिये एक आवश्यकता ही नहीं; बल्कि एक अनिवार्यता भी है। विज्ञान स्वयं आगे बढ़कर धर्मके साथ एकाकार हो जायगा; क्योंकि दोनोंका उद्देश्य मानव-कल्याण ही है और दोनों सत्यपर आधारित हैं। जडवादी दर्शनकी भ्रममूलक व्याख्याएँ इस विराट् समन्वयको नहीं रोक सकतीं। कारण यह है कि स्वयं विज्ञान अपनी अतिविकसित अवस्थामें जडवादी संशयका समूल नाश कर देगा और धार्मिक चेतनासे संयुक्त होकर पृथ्वीको स्वर्ग बनानेमें लग जायगा। अमेरिकाके प्रख्यात वैज्ञानिक डॉ० अलेक्सिस कैरेलने भी इस सत्यकी उद्घोषणा की है कि विज्ञान जडवादके मूलको नष्ट कर देगा। आधुनिक वैज्ञानिक विकासने जडवादके गढ़ोंपर भीषण प्रहार किये हैं और अब वह धर्म तथा विज्ञानके बीच दीवार बनकर खड़ा नहीं रह सकता।

हमें उस समयकी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिये, जब विज्ञान और धर्म एक साथ मिलकर मानव-कल्याणका मार्ग आलोकित करेंगे।

(२)

(लेखक—श्रीनृपतकुमारजी लोढा 'निर्मल')

Science and religion are not opposed, they are not enemies, they are not neutral but they are allies.

Dr. T. A. Flewing. F. R. S.

'धर्म और विज्ञान'—ये दोनों जीवनकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रधान समस्याएँ हैं। इन्हीं पहेलियोंको सुलझाते-सुलझाते मानवता बौखला-सी गयी है। अतः इन दोनों प्रश्नोंके तारतम्यको समझते समय यदि हमें विरोधाभास दिखायी दें तो इसमें आश्चर्यकी बात नहीं है। इसपर कविका यह कहना अक्षरशः ठीक है—

> हजार साइंस रंग लाये, हजार कानून हम बनायें;
> खुदाकी कुदरत यही रहेगी, हमारी हैरत यही रहेगी।

अर्थात् यह स्पष्ट होता है कि धर्म और विज्ञानके बीच कोई विरोध नहीं है। एक दूसरेको पूर्ण और समीचीन बनाता है। विज्ञान हमारी धार्मिक कल्पनाओं और विश्वासोंको शुद्ध, परिमार्जित और संस्कृत बनाता है तथा धर्म विज्ञानको सदा इस अज्ञानकी याद दिलाते रहकर उसे नम्र बनाये रखता है और उसके ऊपर कविता और आदर्शवादका रंग चढ़ाता रहता है। विज्ञान धर्मको रञ्जित और संस्कृत करता है और धर्म विज्ञानको। धर्म और विज्ञान दोनों प्रकृतिकी एकताकी पुष्टि करते हैं। विज्ञानकी यह आधारभूत धारणा है कि प्रकृति बोधगम्य है, धर्मका अन्तर्ज्ञान भी यही है। दोनोंको एक दूसरेकी आवश्यकता है और विश्वमें दोनों समानरूपसे आवश्यक हैं। विज्ञान और धर्मका विरोध ऊपरी और दिखाऊ है, यथार्थ और आन्तरिक नहीं। धर्म और विज्ञान दोनोंकी उत्पत्ति 'कः', 'किम्' और 'का' से होती है। अन्तर केवल यही है कि धर्मतत्त्वके प्रकाशक आचार्योंका प्रश्नवाचक अंगुलि-निर्देश अन्तरतरकी ओर रहता है और विज्ञानतत्त्वके आचार्योंका प्रश्न-चिह्न बहिर्जगत्के दृश्यमान पदार्थोंपर खुदा हुआ होता है। लेकिन दोनोंका उद्देश्य एक ही है। सत्य-तत्त्वकी खोजका लक्ष्य विज्ञान और धर्म दोनोंके सामने है। सर आलीवर लॉज (Sir Oliver Lodge) ने ठीक ही लिखा है—

'The region of religion and the region of a completed science are one.' अर्थात् धर्मका क्षेत्र और पूर्ण विज्ञानका क्षेत्र एक ही है।

यदि मन बहिर्जगत्की गुत्थियोंके सुलझानेमें अटक गया तो वह विज्ञानके प्रासाद-प्राङ्गणमें विचरण करने लगता है और यदि वह अन्तर्जगत्के तत्त्व-निरीक्षणमें रम गया तो वह धर्मकी कुटीरमें प्रविष्ट हो जाता है। वास्तवमें धर्म और विज्ञानकी प्रेरणाशक्ति एक प्रकारकी है। विज्ञान और धर्मका उदय आश्चर्यमूलक जिज्ञासासे होता है। बिना विज्ञानके धर्म नहीं ठहर सकता और बिना धर्मके विज्ञान अधूरा है।

विरोध—उसका कारण

अब प्रश्न उठता है 'कि यदि धर्म और विज्ञानका लक्ष्य एक ही है तो फिर विरोधाभास कैसा ?' शुरूमें जब लोग कोई धर्मको और कोई विज्ञानको जीवनकी महत्त्वपूर्ण और प्रधान समस्या मानते हुए चले हैं, तब फिर जीवनसम्बन्धी समस्याओंमें विरोध और वैपरीत्यका आभास दृष्टिगोचर होना अनिवार्य है। कारण यह है कि मनुष्य अपूर्ण है और सत्य पथका पथिक होकर भी वह सत्यकी नित्यताके सर्वाङ्ग स्वरूपको नहीं, केवल आंशिक रूपको देख पाता है। इसलिये अपने-अपने सत्यके अधूरे मापदण्डको लेकर सत्यान्वेषणके पथिक एक दूसरेसे भिड़ जाया करते हैं। विज्ञानी लोग भौतिक जगत्की परिसीमाके बाहर नहीं निकलते। हमारे ज्ञानकी पूर्णता, हमारे सत्य-शोधनका अधूरापन, हमारी अनुदारता और प्रचारका हमारा उत्साह हमें अंधा बना देता है। इसीलिये आजतक हम विज्ञान और धर्मका एकीकरण नहीं कर पाये हैं।

धर्म और विज्ञानके इस विरोधका नतीजा यह निकलता है कि विज्ञानी धर्मके नामसे और धार्मिक विज्ञानके नामसे छनकते हैं। यह तो प्रकट ही है कि विज्ञान बुद्धिप्रधान और धर्म भावप्रधान है और जब बुद्धिप्रधान सिद्धान्त भावरहित हो जाता है, तब उसका रूप महानाशकारी हो जाता है। दूसरी ओर वैज्ञानिक विचारों और शोधित सत्य तत्त्वोंसे विरहित धर्मका हाल यह है कि वह अपनी प्रतिकर्तव्यतासे पराङ्मुख हो गया है। धर्म आजकल उकठ कुकाठू हो रहा है। परंतु यह धर्मका असली रूप नहीं है।

रूसके प्रसिद्ध विद्वान् और तपस्वी कौण्ट लियो टालस्टॉय (Count Leo Tolstoy) ने अपनी पुस्तक 'What is Religion ?' (धर्म क्या है ?) में लिखा है—

'धर्मका युग चला गया। विज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी बातपर विश्वास करना मूर्खता है। जिस किसी वस्तुकी हमको आवश्यकता है, वह सब विज्ञानसे प्राप्त हो जाती है। मनुष्यके जीवनका प्रदर्शक केवल विज्ञान ही होना चाहिये।' यह विचार या कथन उन वैज्ञानिकों या उन साधारण मनुष्योंका है, जिनको विज्ञानकी तो गन्ध भी नहीं लगी, परंतु जिनका वैज्ञानिकोंपर विश्वास है और जो वैज्ञानिकोंके स्वरमें स्वर मिलाकर कहते हैं कि धर्म एक अनावश्यक ढोंग है और हमारे जीवनका प्रदर्शक केवल विज्ञानको ही होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि हमारे जीवनका प्रदर्शक किसीको भी न होना चाहिये; क्योंकि विज्ञानका स्वयं इतना ही उद्देश्य है कि उन सब वस्तुओंका अध्ययन करे, जो वर्तमान हैं। इसलिये विज्ञान कभी जीवनका पथ-प्रदर्शक हो ही नहीं सकता।

टालस्टॉय महाशयने अपनी पुस्तक 'धर्म क्या है ?' में एक विचित्र बात और दिखलायी है। वह यह कि जब कभी वैज्ञानिकों अथवा उसके अन्धविश्वासी अनुयायियोंने धर्मको बहिष्कृत करनेका यत्न किया तब वे धर्मको बहिष्कृत न कर सके किंतु एक नीच कोटिके धर्मके उपासक हो गये। इससे यह बात सिद्ध होती है कि वर्तमान कालमें पाश्चात्त्य देशोंमें धर्मको बहिष्कृत करनेका बहुत कुछ उद्योग होता रहा है।

फ्लिण्ट (Flint) ने अपनी 'आस्तिकता' नामकी पुस्तकमें लिखा है—

'वस्तुतः धर्म एक विशाल शक्ति है। सचमुच यह मानवी जीवन और मानवी इतिहासके समानान्तर चलता है।…… कला-कौशल, साहित्य, विज्ञान, दर्शनशास्त्र—सभीपर उनकी प्रत्येक अवस्थामें धर्मका प्रभाव देखा गया है।

लंदनके Browning Hall में सन् १९१४ में Science Week के अन्तर्गत 'धर्म और विज्ञानका सम्बन्ध' विषयका अवलोकन करके आजसे वर्षों पूर्व Sir Francis Bacon ने अपने निबन्ध 'Atheism' में इन शब्दोंमें निर्दिष्ट किया है—

'A little philosophy (or science) inclineth man's mind to Atheism, but depth in philosophy (or science) bringeth man's mind about to religion.' बेकनके इन शब्दोंमें एक सचाई है, जिसका समर्थन बड़े जोरदार शब्दोंमें कर सकते हैं। उपर्युक्त पंक्तियोंको दृष्टिगत रखते हुए हम इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि वास्तवमें धर्म और विज्ञानका कोई विरोध नहीं। हाँ, मानवीय ज्ञानकी अपरिपक्वावस्थामें धर्म और विज्ञानके बीच ३६ के ३ और ६ का सम्बन्ध दिखायी देता है। परंतु वास्तवमें दोनोंके एक दूसरे पूरक हैं।

किसी वस्तुको देखकर मनुष्यके हृदयमें स्वाभाविक रीतिसे दो प्रश्न उठते हैं— एक 'How?' और दूसरा 'Why?' अर्थात् यह वस्तु कैसे बनी और क्यों बनी ? इन्हीं दोनों प्रश्नों-के उत्तरमें धर्म और विज्ञानकी सीमा समाप्त हो जाती है और कहना पड़ता है—

Science deals with the How, not with the Why of things.

आधुनिक विद्वानोंके अनुसार तीन शब्दोंकी व्याख्या की गयी है—

1. Science is Systematized Knowledge.
2. Realized Science is Philosophy.
3. Realized Philosophy is Religion.

यही विज्ञान अपनी चरम स्थितिपर पहुँचकर धर्मके आगे सिर झुकाता है। अर्थात् जहाँ विज्ञान और दर्शनकी सीमा समाप्त हो जाती है, वहाँ धर्मका प्रारम्भ होता है और वह धर्म इस विज्ञानका विरोधी या नाशक नहीं, बल्कि वह है—

Crowning Stone of Science.

(३)

(लेखिका—कुमारी श्रीउमावती विद्यालंकृता, शास्त्री, साहित्यरत्न)

आजका युग हृदयशून्य तर्कप्रधान बुद्धिवादका वैज्ञानिक युग है। इसमें सभी कुछ कोरे तर्ककी ही कसौटीपर कसा जाता है, जिस कारण हम सत्यसे बहुत दूर भटक जाते हैं। व्याकरणकी रीतिसे वर्ण-व्यत्यय करनेपर तर्कसे कर्त शब्द बनता है, जिसका अर्थ काटना है। इसने मानवकी तरल-सरल सरस-सुखद सर्वभूतहित-भावनापर तीव्र कुठाराघात करके उसे मसल दिया है, जिसके परिणामस्वरूप मानव दानवसे भी बदतर हो गया है। नित्यप्रति होनेवाले गृह-युद्ध, राष्ट्र-विप्लव, राज्य-विस्तार-लोलुपता, स्थावर-जंगम जगत्में विक्षोभ इत्यादि विभीषिकाएँ इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अब इस बातकी नितान्त आवश्यकता है कि हम स्वस्थ हृदय और मस्तिष्कसे विज्ञान और धर्मपर सर्वाङ्गीण विचार करके तदनुसार आचरण करें और यह रत्नगर्भा वसुधा स्वर्ग बन जाय।

शरीर और आत्माके सम्बन्धके सदृश ही धर्म और विज्ञानका पारस्परिक सम्बन्ध है। मानवताका अभ्यन्तर अर्थात् आत्मा धर्म है, और बाह्य अर्थात् शरीर विज्ञान है। ये दोनों एक दूसरेके पूर्ण सहयोगी हैं। आत्मवान् शरीर श्रेय और प्रेयका साधक बनकर मानवको उसके श्रेष्ठ लक्ष्यपर पहुँचा देता है और आत्मारहित वही शरीर सड़-गलकर पूयभावको प्राप्त हुआ असंख्य रोगोंका जनक बनकर नरके लिये नारकीय यन्त्रणाका ही हेतु बनता है। सचित् अशरीरी निराकार आत्मा साधन (शरीर)-विहीन होकर, पंगुवत् गतिहीन हुआ अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें असमर्थ हो जाता है। मानवताकी शरीर-यात्राके लिये धर्म नेत्रोंका और विज्ञान चरणोंका कार्य करता है। दोनों मिलकर ही इसे गन्तव्यतक पहुँचानेमें समर्थ हो सकते हैं। इस प्रकार धर्म और विज्ञानके इस मङ्गलमय समन्वयमें ही विश्वका परम हित निहित है।

धर्मसे आत्मशक्तिका विकास होता है, बन्धन दूर होते हैं, अखण्ड आनन्द और अमृतत्व प्राप्त होता है और विज्ञानसे उपभोगके साधनोंकी तो प्राप्ति होती है पर शान्ति नहीं उपलब्ध होती। विकट यात्राको सरल बनानेके लिये धर्म और विज्ञान दोनों ही हमारे लिये परमावश्यक हैं।

मीमांसा करनेपर यही तथ्य प्रत्यक्ष होता है कि धर्म और विज्ञान प्रभुके अमर मङ्गलमय वरदान हैं, अतः ये किसीकी बपौती और किसी सीमामें भी सीमित नहीं हैं। ये दोनों ही अपरिच्छिन्न स्वरूपवाले, विश्वमात्रके हितकारी हैं। दोनों दो घनिष्ठ मित्रोंके सदृश दो तन और एक प्राण हैं। अतः इनमें विरोधिताका दर्शन हमारी दूषित बुद्धिका ही परिणाम है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि धर्म और विज्ञान एक दूसरेसे पृथक् रह ही नहीं सकते; क्योंकि सायंस—विज्ञान सृष्ट्युत्पत्तिके नियमोंका ज्ञापक है और धर्म उन नियमोंका नियन्ताके साथ सम्बन्ध दर्शाता है। अतः उनका सम्बन्ध-विच्छेद करना जान-बूझकर मृत्युका ही आलिङ्गन करना है।

सारांश यह है—

धर्म

१—मानवताकी आत्मा है।
२—मानवताका अनुभूतिप्रधान हृदय है।
३—आध्यात्मिक अवस्थाओंका परीक्षक और निरीक्षक है।
४—सृष्टि-उत्पत्तिका कारण बतलाता है।
५—सृष्टि-नियमोंका नियन्ताके साथ सम्बन्ध दिखलाता है।
६—आत्मसाक्षात्कारपरक है।
७—संस्कृति है।
८—विद्या है।
९—श्रेय है, निःश्रेयस है।
१०—अमृतत्वका प्रदाता है।

विज्ञान

१—मानवताका शरीर है ।

२—तर्कपर अवलम्बित मानवताका मस्तिष्क है ।

३—बाह्य पदार्थोंका परीक्षक और निरीक्षक है ।

४—सृष्टि-उत्पत्तिकी रीतिका बोधक है ।

५—सृष्टि-नियमोंका ज्ञापक है ।

६—प्रत्यक्ष प्रमाणपर आधारित है ।

७—सभ्यता है ।

८—अविद्या है ।

९—प्रेय है, अभ्युदय है ।

१०—शरीर-यात्राके लिये भोग्यसामग्रीका दाता है, अभ्युदयका देनेवाला है ।

दोनोंका उद्देश्य विश्वमें सौम्यता तथा शान्तिका साम्राज्य स्थापित करना है, अनेकताको एकतामें खोजना और विश्वमें एकताको प्रकट करना है, आस्तिकतामें समा जाना है और अन्तमें मानवको निर्द्वन्द्व सत्य-सुन्दर-शिवकी त्रिवेणीके अमृत-रससे सींचकर पूर्ण मङ्गलमयी जगन्माताके मधुर क्रोडका परमानन्द लाभ कराना है ।*

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

(४)

(लेखक—श्रीयुत डी० एस० जार्डिया)

'विज्ञान प्रकृतिके रहस्योंका वह सुसंगठित एवं व्यवस्थित ज्ञान है, जिसे हम प्रयोगोंके आधारपर प्राप्त करते हैं ।' यह है विज्ञानकी परिभाषा, जो वैज्ञानिकोंद्वारा दी गयी है । आजकलके अधिकांश नागरिक विज्ञानके भक्त हैं; पर उनका मन वैज्ञानिक हो, ऐसी बात नहीं है । कुछ थोड़े-से ही विज्ञानके सच्चे सेवी कहे जा सकते हैं; शेषको सत्यप्राप्तिकी कोई आकाङ्क्षा नहीं है ।

वे विज्ञानके द्वारा केवल भौतिक सुख असीमित मात्रामें चाहते हैं । उनकी दृष्टिमें धर्म और आध्यात्मिकताका कोई मूल्य नहीं है । फिर जो अर्धशिक्षित हैं, उनकी नजरमें वह मङ्गलकारी प्रेरक शक्ति है । वे सोचते हैं उसके पालनसे संसारमें सुख-शान्तिका वास रहेगा । एक ओर जहाँ कुछ लोग पुराने कुसंस्कारोंको ही धारण किये रहना चाहते हैं, वहाँ दूसरी ओर ये आधुनिक भारतीय, जिनकी दृष्टिमें धर्म, अध्यात्म, नैतिकता कुछ नहीं है, जिनके हृदयमें इनको कोई स्थान नहीं है, बेरोक-टोक वासनामय सुखभोग चाहते हैं और हो सके तो आध्यात्मिक और सामाजिक प्रतिष्ठानोंको भी नष्ट कर देना चाहते हैं । उनकी दृष्टिमें संयम-नियम आदि पिछड़े लोगोंकी रूढ़ियाँ हैं । अमेरिकी तथा रूसी सभ्यता ही उनका आदर्श है । उनका कहना है कि यदि ईश्वरका अस्तित्व होता तो विज्ञान उसे कभीका सिद्ध कर देता । पर मैं उनसे पूछता हूँ कि क्या वैज्ञानिक सर्वज्ञ हो गये हैं ? अतः जबतक वे सर्वज्ञ नहीं हो जाते, तबतक उनके अनुयायियोंको यह कहनेका अधिकार नहीं है कि ईश्वर नहीं है । हाँ, वे यह अवश्य कह सकते हैं, हमें नहीं मालूम वह है या नहीं ।

विज्ञान ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध कर सके या न कर सके, इससे ईश्वरके अस्तित्वमें कोई अन्तर नहीं पड़ सकता । न पाश्चात्त्य सभ्यता ही हमारा कदापि आदर्श है । हाँ, उनसे हमें सिर्फ विज्ञान ही लेना है और उसके भी उस भागका उपयोग करना है, जो हमारे लिये लाभदायक सिद्ध हो । हमें अपनेको पूर्णतः मशीनके गुलाम नहीं बना देना होगा । फिर अगर आधुनिक वैज्ञानिककी दृष्टिसे भी कोई देखे तो भी मनोविज्ञानके आधारपर यह कहा जा सकता है कि उनकी सामाजिक व्यवस्थामें बहुत-सी त्रुटियाँ हैं । हाँ, उनमें कुछ अच्छी बातें अवश्य हैं, जो हममें, हमारी सभ्यतामें पहलेसे थीं, उनको हमें फिर अपना लेना होगा ।

विज्ञान हो या धर्म, दोनोंका लक्ष्य सत्य-दर्शन, सत्य-प्राप्ति और उसको धारण करना है । आधुनिक कुव्यवस्थाका कारण हमारा धर्मग्रन्थ और दर्शनका अध्ययन छोड़ देना है, जो प्राचीन कालमें ब्राह्मण किया करते थे; क्योंकि बिना धर्मके दर्शन नास्तिकतामें और बिना दर्शनके धर्म अन्ध-विश्वासमें बदल जाता है । वेदोंमें यही बार-बार पूछा गया है कि किसके जान लेनेपर सब जाना जाता है । इसका उत्तर भी उन्होंने दिया है—हमें हंसके समान बनना चाहिये; क्योंकि इतना समय हमारे पास कहाँ है कि हम जगत्‌की एक-एक वस्तुका विश्लेषण करके सर्वज्ञ हो सकें; अतः सामान्यीकरणकी आवश्यकता है । भौतिक विज्ञान अभी सामान्यीकरण (Generalization) में लगा है, पर हमारे ऋषिगण

* यह लेख बहुत विस्तृत था । स्थानाभावसे लेखका कुछ ही अंश प्रकाशित किया जा रहा है । बहुत-से लेखोंमें ऐसा ही करना पड़ा है । लेखकगण कृपया क्षमा करें । —सम्पादक

बहुत पहले ही यह कर गये हैं। भौतिक विज्ञानमें कोई सिद्धान्त 'आज' प्रतिपादित और समर्थित होता है और 'कल' फेल हो जाता है। पहले आइन्स्टीन और न्यूटनने अरस्तू आदि पिछले पाश्चात्त्य दार्शनिकों और वैज्ञानिकोंके सिद्धान्त गलत सिद्धकर नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। अब डा० नारलीकरने उनके सिद्धान्तोंकी भी कब्र खोद दी है और गुरुत्वाकर्षण और सृष्टिके सम्बन्धमें नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि पदार्थ शून्यसे कैसे उत्पन्न हुआ है। (How matter is created out of nothing) (यहाँ शून्यका मतलब ऐसे पदार्थसे है, जिसके गुण दृश्यमान पदार्थोंके गुणके समान नहीं हैं।) उनका यह निर्णय सत्यके निकटतम है और भारतीय दर्शनका समर्थन करता है।

धर्म वही है, जो हम सबको धारण किये है और उसे जान लेना या धारण कर लेना ही हमारा धर्म है। फिर धर्म या ईश्वर-प्राप्तिकी साधना भी साधारण अवस्थामें हमारे लिये धर्म होगी; क्योंकि वह ईश्वरके प्रति आकर्षण या प्रेमके कारण ईश्वरके लिये की जाती है। उस समय जो आकर्षण या प्रेम कार्य करता है या व्यक्त होता है, वह भी स्वयं ईश्वरस्वरूप है। इस तरह ईश्वर हमें कृपापूर्वक अपनी ओर ले जाता है। क्या इस जगत्में ऐसा कोई स्थान या पुरुष है, जो हमें सब दुःखोंसे मुक्त कर सके, जिससे हमें चिरकाल-तक शान्ति मिले ? विज्ञान फौरन 'नहीं' कर देगा, पर धर्म इसका समाधान करेगा, वही हमें ज्योति देगा और हमें नयी दिशामें ले जाकर शाश्वत सुखकी ओर अग्रसर करायेगा। विज्ञान तर्क-वितर्कपर आधारित है, पर वह प्रत्यक्ष अनुभूति-पर। विज्ञानके सिद्धान्त करवट बदल सकते हैं पर धर्मके सिद्धान्त सृष्टिके आदिसे स्थिर हैं।

धर्म ही हमारे जीवनकी परिभाषा दे सका है। अतः वही हमारा आदर्श होगा। पर जो भौतिक विज्ञानको आदर्श मानते हैं, उन्हें सब रीति-रिवाज त्याग देने और अनन्त भौतिक सुखके लिये प्राणपणसे प्रयत्न करना होगा; क्योंकि जितने भारतीय संस्कृतिके रीति-रिवाज हैं, उनकी व्याख्या अभीतक विज्ञानने नहीं की है ! फिर अगर मेरे भाईका गला काटनेसे मेरी स्वार्थ-सिद्धि होती है तो मैं वैसा क्यों न करूँ ? फिर त्याग, प्रेम और निःस्वार्थ-परताकी क्या आवश्यकता है; इसका आधुनिक उपयोगिता-वादी और शान्तिवादी क्या उत्तर देंगे ? वे कहेंगे ये अच्छी बातें हैं; पर इसके आगे वे कुछ न कह पायेंगे। पर हमारे पास इसका उत्तर है कि ये केवल सुन्दर ही नहीं, सत्यपर आधारित हैं। हम अगर एक पत्थर ऊपर फेंकें तो वह कुछ दूरतक ऊपर जायगा और फिर वापिस पृथिवीपर लौट आयेगा; इसी तरह हम भगवान्के यहाँसे आये हैं और फिर हमें उन्हींमें जाकर मिल जाना है। अन्यथा यदि ऐसा न हो तो फिर 'यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्……' ही हमें अपने जीवनमें चरितार्थ करना होगा।

'यह कहना कि बेरोक-टोक सुख-भोग ही धर्म है' निस्संदेह ईश्वर एवं मनुष्य-प्रकृतिके प्रति अपराध है। किसी भी जातिके प्राण कहीं-न-कहीं अवश्य सुरक्षित रहते हैं और तबतक वह जाति अजेय रहती है। भारतका प्राण 'धर्म' ही रहा है और जबतक धर्म भारतका प्राण रहेगा, तबतक कोई उसे नष्ट नहीं कर सकता। स्वामी रामकृष्ण परमहंसने दिखा दिया था कि धर्म प्रत्यक्ष अनुभूतिपर आधारित है, तर्क-वितर्कपर नहीं।

हमारी शिक्षा अभावात्मक है, करीब-करीब बेजान है। हमारी शिक्षा और जीवनमें विज्ञानकी आवश्यकता है। हमें अभी भौतिक स्तरपर भी भारतको समृद्धिशाली बनाना है पर उसके उपयोगकी नीति हमारी होगी। हमें अपनी शिक्षा-व्यवस्थामें परिवर्तन करना होगा। शिक्षा ऐसे व्यक्तियों-द्वारा दिलानी होगी, जो स्वयं आदर्शस्वरूप हों। इसके साथ ही हमें आश्रम-धर्ममेंसे कम-से-कम ब्रह्मचर्य-आश्रमकी पुनःप्रतिष्ठा करनी होगी, अपनी बुराइयोंको निकाल देना होगा और नयी कुरीतियोंके लिये हमारी सभ्यतामें कोई स्थान न होगा। हमारी शिक्षा भी वेदान्तयुक्त विज्ञानकी होगी और फिर इसके ज्ञानी युवक भारतको समृद्ध बना, स्वर्णयुग लायँगे एवं भारत फिर अपनी खोयी हुई महिमाको प्राप्त कर लेगा।

निर्लोभता-धर्मके आदर्श

(१)

तुलाधार

छोटा-सा गाँव था और उसकी एक झोपड़ीमें एक शूद्र-परिवार रहता था। वे दम्पति भगवद्भक्त, सत्यवादी, वैराग्यवान् तथा लोभहीन थे। पत्नीको अपने अभाव, अपने कष्टकी चिन्ता भले न हो, पतिको भी दो मुट्ठी अन्न ठिकानेसे न दे सके--इसका दुःख अवश्य था; किंतु वह साध्वी कुछ कहती न थी। उसके पति तुलाधार परम संतोषी थे। अन्न कट जानेपर खेतमें गिरे दाने चुन लाना और उसीसे निर्वाह करना उन्होंने अपनी वृत्ति बनायी थी।

तुलाधारके पास वस्त्रके नामपर फटी धोती और गमछेके स्थानपर एक फटा चिथड़ा था। वे जहाँ प्रतिदिन स्नान करते थे, वहाँ दो नवीन उत्तम वस्त्र एक दिन उन्हें रक्खे दिखायी दिये। दूसरेका वस्त्र भला, वे क्यों लेने लगे थे।

दूसरे दिन स्नान करने पहुँचे तो वहाँ एक डलिया रक्खी थी। उसमें गूलर-जैसे बड़े-बड़े स्वर्णके डले भरे थे। वहाँ कोई था नहीं। तुलाधारने सोचा—'धन तो अनर्थोंकी जड़ है। उससे अहंकार, भय, चिन्ता और संशय आदि दोष मनमें आ जाते हैं। लोभीको शान्ति मिल नहीं सकती। धन पापमें प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। मनुष्यका पतन करनेवाले धनसे विचारवान्को दूर रहना चाहिये।'

दूसरी ओर, तुलाधारकी परीक्षाके यत्न करनेवाले ये प्रभु ज्योतिषी बनकर उसके ग्राममें पहुँच गये। दूसरोंका भूत-भविष्य बतलाते देख तुलाधारकी पत्नी पहुँची तो बोले—'तेरा पति तो मूर्ख है। अनायास प्राप्त लक्ष्मीका तिरस्कार करता है। तब दरिद्रताके अतिरिक्त तुझे क्या मिलनेवाला है।'

पत्नी घर आयी। पतिसे पूछा तो उन्होंने स्वर्ण दीखनेकी बात बता दी। पत्नी उन्हें लेकर ज्योतिषी पण्डितके पास गयी। ज्योतिषीजीने धनकी प्रशंसा प्रारम्भ की—'धनसे लोकमें सुख-सम्मान मिलता है। रोग-विपत्तिमें धन सहायक होता है। धनसे यज्ञ, पूजन, दान होता है। दुखी-दरिद्रोंकी सहायता धनसे होती है। अतः धन परलोकको भी बनानेवाला है।'



'हाथमें कीचड़ लगाकर फिर उसे धोना क्या बुद्धिमानी है?' तुलाधारने कहा। 'धन जिन्हें भाग्यसे मिला है, उनके लिये भी उसे दान, सेवा, त्यागमें ही लगाना उत्तम है! धनमें स्पर्धा, वैर, अविश्वास, भय आदि अनेक दोष हैं। मायाका प्रकटरूप धन है। वह आता है तो मन मतवाला हो जाता है। झूठ, छल, कपट, अनाचार, दर्प, हिंसा आदि अनेक दुर्गुण सूझने लगते हैं। यह तो दुर्गतिका हेतु है। मेरे लिये परस्त्री माताके समान है और परद्रव्य विषके समान है। मैं धन नहीं लूँगा।'

तुलाधार परीक्षामें ठीक उतरा। भगवान् तो उसे दर्शन देने आये ही थे। जो उनके द्वारा प्रदत्त सुख-दुःखमें संतुष्ट रहकर उनके भजनमें लगा है, वह तो उनका निज-जन है। तुलाधारको उन्होंने अपने स्वरूपका दर्शन कराके कृतार्थ किया।

—सु०

(२)
राँका-बाँका

बड़े विरक्त, अत्यन्त अपरिग्रही, भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास करनेवाले भक्त थे राँकाजी। जैसे वे, वैसी उनकी पत्नी बाँका। दोनों प्रतिदिन जंगलमें जाकर सूखी लकड़ियाँ काटकर ले आते थे। उन्हें बेचनेपर जो कुछ मिलता, उसके द्वारा अतिथि-सत्कार भी करते और अपना जीवन-निर्वाह भी। लीलामय प्रभु कभी-कभी अपने लाड़ले भक्तोंकी परीक्षा उनकी कीर्तिका विस्तार करनेके लिये कराया करते हैं। उन सर्वसमर्थने स्वर्ण-मुहरोंसे भरी थैली वनके उस मार्गमें डाल दी, जिधर ये भक्त-दम्पति लकड़ी काटने जा रहे थे।

राँकाजी पत्नीसे कुछ आगे चल रहे थे। मन भगवान्‌के चिन्तनमें लगा था। पैरको ठोकर लगी तो देखा कि एक थैली स्वर्ण-मुहरोंसे भरी खुली पड़ी है। जल्दी-जल्दी उसे धूलिसे ढकने लगे। इतनेमें बाँकाजी पास आ गयीं। उन्होंने पूछा—'आप यह क्या कर रहे हैं?'

राँकाजीने उत्तर टाल देना चाहा, किंतु पत्नीके आग्रह करनेपर बोले—'मुहरोंसे भरी थैली पड़ी है। स्वर्ण देखकर तुम्हारा मन इन्हें लेनेको न करे, इसलिये इन्हें ढक रहा था।'



बाँकाजी हँस पड़ीं 'वाह, धूलिपर धूलि डालनेसे क्या लाभ। स्वर्ण और धूलिमें भेद ही क्या है। आप अकारण यह भ्रम मत कीजिये।'

—सु०

(३)
नामदेव

परिसा भागवतको पारस मिल गया था। उनकी पत्नी नामदेवजीकी पत्नी राजाईकी सहेली थी। नामदेव तो निष्परिग्रह भक्त थे। अपनी सहेलीकी निर्धनता देखकर परिसा भागवतकी पत्नी एक दिन राजाईको अपने घर ले गयी। उसने उसे पारसका महत्त्व बतलाकर कहा—'किसीसे कहना मत, मैंने बहुत स्वर्ण बना लिया है। तुम इसे घर ले जाकर लोहेको स्पर्श कराओ, पर्याप्त स्वर्ण बनाकर मणि शीघ्र लौटा देना।'

राजाई मणि ले आयी। उसने थोड़ा-सा लोहा पारससे स्पर्श कराके स्वर्ण बनाया और उसे बेचकर भोजनका सामान ले आयी। नामदेव घर आये तो उत्तम व्यञ्जन बनते देखकर उन्होंने पत्नीसे पूछा—'ये पदार्थ कहाँसे आये?' पत्नीने सब बातें बता दीं। सुनकर बोले—'मणि मुझे दो! यह भोजन अपने कामका नहीं है। इसे भूखे लोगोंको दे देना।'

मणि लेकर नामदेव चले गये। उसे उन्होंने चन्द्रभागामें फेंक दिया। स्नान करके भजन करने बैठ गये। मणि लौटनेमें देर हुई तो परिसा भागवतकी पत्नी राजाईके पास आयी। राजाई चन्द्रभागा-तटपर पहुँची तो नामदेव बोले—'मैंने उसे चन्द्रभागाको दे दिया।'

राजाईसे समाचार पाकर परिसा भागवतकी पत्नी घर दौड़ी गयी। उससे मणिकी बात सुनकर परिसा भागवत क्रोधमें भरे नामदेवके पास पहुँचे। नामदेवजीने उनकी डाँट सुनकर कहा—'आप भगवद्भक्त हैं। पारस तो लोभकी मूर्ति है, यह समझकर मैंने उसे चन्द्रभागामें फेंक दिया। भक्तको स्वर्णसे दूर रहना चाहिये। स्वर्णमें कलिका निवास है। इतनेपर भी आपको मणि लेनेका आग्रह है तो मणि लीजिये!'

जलमें उतरकर नामदेवने अञ्जलि भर कंकड़ निकाले। लोहेका स्पर्श करके परिसा भागवतने देख लिया कि वे सब पारस हैं। वे नामदेवके चरणोंपर गिर पड़े। नामदेवने सब कंकड़ चन्द्रभागामें फेंक दिये। —सु०

(४)
श्रीसनातन गोस्वामी

'तुम वृन्दावनमें श्रीसनातन गोस्वामीके पास जाओ! उनके समीप पारस है और वे तुम्हें दे देंगे।' स्वप्नमें भगवान् शंकरने दर्शन देकर यह आदेश किया।

गौड़ देशके बर्दवानका वह ब्राह्मण निर्धन था, दरिद्रताने दुखी किया था उसे। जहाँ हाथ फैलाये, वहीं तिरस्कार मिले। शास्त्रज्ञ, स्वाभिमानी ब्राह्मण—उसने संकल्प किया कि जिस थोड़े-से स्वर्णपर संसारके धनी फूले फिरते हैं, उस स्वर्णको वह मूल्यहीन करके धर देगा। ढेरियाँ लगा देगा स्वर्णकी। पारस प्राप्त करेगा वह।

पारस कहाँ मिलेगा? ढूँढनेसे तो वह मिलनेसे रहा। देगा कौन उसे? लक्ष्मीके किंकर देवता क्या पारस दे सकेंगे? ब्राह्मणने भगवान् आशुतोषकी शरण ग्रहण की। जो विश्वको विभूति देकर स्वयं भस्माङ्गराग लगाते हैं, वे कपाली ही कृपा करें तो पारस प्राप्त हो। कठिन व्रत, निरन्तर पञ्चाक्षर जप, दृढ़ रुद्रार्चन-निष्ठा—भगवान् त्रिलोचन कबतक संतुष्ट नहीं होते। ब्राह्मणकी बारह वर्षकी उत्कट तपस्या सफल हुई। भगवान् शिवने स्वप्नमें दर्शन दिया।

'सनातन गोस्वामीके पास पारस है? वे दे देंगे उस महान् रत्नको?' ब्राह्मणको मार्गका कष्ट प्रतीत ही नहीं हो रहा था। 'भगवान्ने कहा है तो अवश्य दे देंगे।' यही विश्वास उसे लिये जा रहा था।

'आपके पास पारस है?' वृन्दावनमें पूछनेपर वृक्षके नीचे रहनेवाले कृशकाय करवा-कौपीनधारी, गुदड़ी रखनेवाले एक साधुके पास जानेको लोगोंने कहा तो वह बहुत निराश हुआ। 'ये कंगाल सनातन गोस्वामी!' ऐसे व्यक्तिके पास पारस होनेकी किसे आशा होगी। लेकिन यहाँतक आया था तो पूछ लेना उचित लगा।

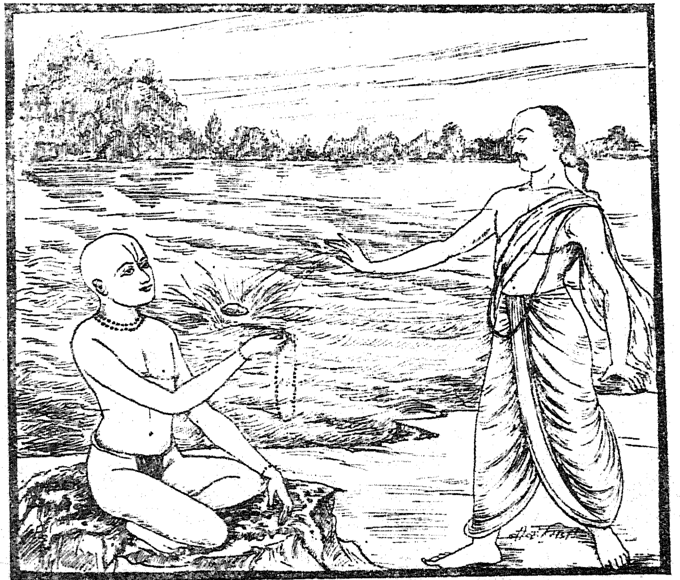
'मेरे पास तो नहीं है। मैं उसका क्या करता!' सनातनजीने कह दिया। 'एक दिन श्रीयमुना-स्नानको जा रहा था तो पैरोंसे टकरा गया। मैंने उसे वहीं रेतसे ढक दिया, जिससे किसी दिन स्नान करके लौटते छू न जाय। उसे छूकर तो फिर स्नान करना पड़ता। तुम्हें चाहिये तो वहाँसे निकाल लो।'

स्थान बता दिया गया था। रेत हटानेपर पारस मिल भी गया। परीक्षा करनेके लिये लोहेका टुकड़ा पहलेसे साथ लाया था ब्राह्मण! वह पारससे स्पर्श करानेपर स्वर्ण हो गया। पारस ठीक मिल गया। ब्राह्मण लौट पड़ा; किंतु शीघ्र चित्तने कहा—'उन संतको तो यह प्राप्त ही था। वे कहते हैं कि यह छू जाय तो उन्हें स्नान करना पड़े।'

'आपको अवश्य इस पारससे अधिक मूल्यवान् वस्तु प्राप्त है!' ब्राह्मण लौट आया सनातनजीके पास।

'प्राप्त तो है!' सनातन अस्वीकार कैसे कर देते।

'मुझे वही प्रदान करनेकी कृपा करें!' ब्राह्मणने प्रार्थना की।



'उसकी प्राप्तिसे पूर्व पारसको यमुनामें फेंकना पड़ेगा।' सनातनजीने कहा।

'यह गया पारस!' ब्राह्मणने पूरी शक्तिसे उसे यमुनाके प्रवाहमें फेंक दिया। भगवान् शिवकी दीर्घकालीन उपासनासे उसका चित्त शुद्ध हो चुका था। संतके दर्शनने हृदयको निर्मल कर दिया था। अधिकारी बन गया था वह। सनातन गोस्वामीने उसे श्रीकृष्ण-नामकी दीक्षा दी—वह श्रीकृष्ण-नाम, जिसकी कृपाका कण कोटि-कोटि पारसका सृजन करता है। —सु०

(५)

संत तुकाराम

संत तुकारामजीकी भक्ति, वैराग्य तथा धर्म-परायणताकी कीर्ति सुनकर छत्रपति शिवाजीने उन्हें लानेके लिये अपने सेवक भेजे। साथमें हाथी, घोड़े, पालकी आदि भेजे कि संत जिस सवारीको पसंद करें, उसीपर बैठकर पधारें। सेवकोंने तुकारामजीके यहाँ जाकर प्रार्थना की—'महाराज छत्रपति आपके दर्शनोंको उत्सुक हैं। चलनेकी कृपा करें।'

तुकारामजी बोले—'मुझे चलना होगा तो ईश्वरके दिये दो पैर मेरे पास हैं। इन पशुओं अथवा पालकी-वाहकोंका भार क्यों बनूँगा मैं। लेकिन छत्रपतिको मेरी ओरसे निवेदन करना कि मैं उनकी मङ्गल-कामना करता हूँ। मैं यहाँ श्रीविट्ठलकी सेवामें लगा हूँ। वे मुझे यहीं रहने दें, यह मुझपर उनकी बड़ी कृपा होगी।'

राजसेवक लौट गये। जिसने सुना, उसीने कहा—'तुका कितना गवाँर है। घर आये राज-वैभवको इसने ठुकरा दिया! कोई भला, घर आयी लक्ष्मीको धक्का देता है?'

छत्रपति महाराज शिवाजीको सेवकोंसे जब संदेश मिला, तब वे स्वयं तुकारामजीके दर्शन करने आये। संतके दर्शन करके छत्रपतिने उनको प्रणामके अनन्तर स्वर्णमुद्राओंसे भरी एक थैली निवेदन की। तुकारामजी बोले—'आप धर्मके रक्षक, गो-ब्राह्मणके प्रतिपालक होकर मुझे इस मायाके बन्धनमें क्यों डालते हैं? यह तो भक्तिमें बाधा देनेवाली है। कृपा करके इस धनको लौटा ले जायँ!'

अत्यन्त दरिद्र घर था तुकारामजीका। पंढरपुरमें उनकी झोपड़ीमें वस्त्रके नामपर चिथड़े थे और भिक्षाद्वारा उनका निर्वाह होता था। लेकिन धनके प्रति उनकी ऐसी निःस्पृहता तथा भगवान्में दृढ़ भक्ति देखकर छत्रपति भावविभोर हो गये। फिर तो शिवाजी प्रायः तुकारामजीसे सत्सङ्ग करने आया करते थे। —सु०

(६)

अलोभ-धर्मका आदर्श श्रावस्ती-नरेश और ब्राह्मणकुमार

कौशाम्बीके राजपुरोहितका पुत्र था अभिरूप कपिल। आचार्य इन्द्रदत्तके पास अध्ययन करने श्रावस्ती आया था। आचार्यने उसके भोजन करनेकी व्यवस्था नगरसेठके यहाँ कर दी थी। लेकिन वहाँ वह भोजन परोसनेवाली सेविकाके रूपपर मुग्ध हो गया। दोनोंमें परिचय हुआ। वसन्तोत्सव आनेपर सेविकाने उससे उत्तम वस्त्र तथा आभूषण माँगे।

अभिरूप कपिलके पास तो वहाँ कुछ था नहीं। सेविकाने ही बतलाया—'यहाँके नरेशका नियम है कि प्रातःकाल उन्हें जो सर्वप्रथम अभिवादन करता है, उसे दो माशे स्वर्ण प्रदान करते हैं।'

महाराजको सर्वप्रथम प्रातःकालीन अभिवादन तो राजसदनमें रहनेवाले सेवक ही कर सकते हैं। अभिरूप कपिलने एक युक्ति सोची। वह राजसदनमें रात्रिमें ही प्रविष्ट हो गया, किंतु नरेशके शयन-कक्षमें प्रविष्ट होनेकी चेष्टा करते समय प्रहरियोंने पकड़ लिया उसे। चोर समझा गया वह। प्रातःकाल राजसभामें महाराजके सम्मुख उपस्थित किया गया।

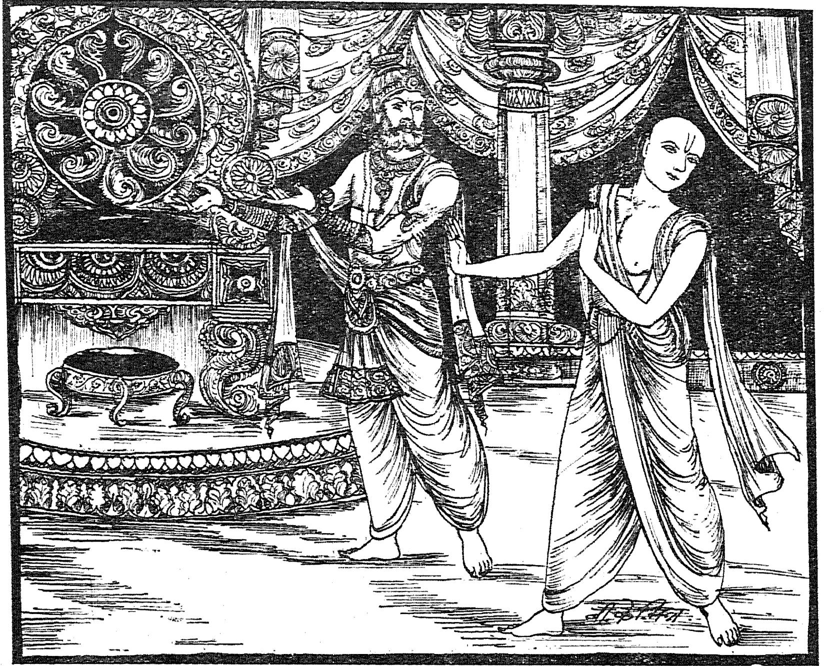
महाराजके पूछनेपर सब बातें उसने सच-सच कह दीं। उस ब्राह्मणकुमारके सत्य तथा भोलेपनपर संतुष्ट होकर राजाने कहा—'तुम जो चाहो सो माँगो। जो माँगोगे, तुम्हें मिलेगा।'

'मैं सोचकर कल माँगूँगा।' अभिरूप कपिलने

कह दिया। उसे एक दिनका समय मिल गया। घर लौटकर वह सोचने लगा—'दो माशे स्वर्ण तो बहुत कम है—सौ स्वर्णमुद्राएँ ? लेकिन वे कितने दिन चलेंगी ? सहस्र मुद्राएँ ? नहीं, लक्ष मुद्राएँ ?'

वह सोचता रहा, किंतु तृष्णा कहीं संतुष्ट होना जानती है ? उसे आधा राज्य भी अपर्याप्त जान पड़ा। दूसरे दिन महाराजके सम्मुख उपस्थित होनेपर उसने कहा—'आप अपना पूरा राज्य मुझे दे दें।'

श्रावस्तीनरेश निःसंतान थे। किसी योग्य व्यक्तिको राज्य देकर वे वनमें तप करने जानेका विचार पिछले कई महीनोंसे कर रहे थे। यह विप्रकुमार उन्हें योग्य प्रतीत हुआ। अतः उसकी माँग सुनकर वे प्रसन्न होकर बोले—'द्विजपुत्र ! तुमने मेरा उद्धार कर दिया। तृष्णारूपी सर्पिणीके पाशसे मैं सहज छूट गया। कामनाओंका अथाह कूप भरते-भरते मेरा तो जीवन ही समाप्त हो चला था। विषयोंकी तृष्णारूपी दलदलसे प्राणी निकल सके, यही उसका सौभाग्य है। तुमने मुझे ऐसा अवसर दिया, इसका मैं आभार मानता हूँ। यह सिंहासन तुम स्वीकार करो।'



अभिरूप कपिल चौंक गया। उसने उसी समय निश्चय करके कहा—'महाराज ! कृपा तो आपने मुझपर की। तृष्णा-सर्पिणीने तो मुझे बाँध ही लिया था। विषय-तृष्णाके दलदलमें अब मैं नहीं पड़ूँगा। मुझे न राज्य चाहिये, न दो माशा स्वर्ण और न स्त्री।'

वह वहाँसे चला तो बहुत प्रसन्न, बहुत निर्द्वन्द्व था। —सु०

धन अनर्थ तथा दुःखका मूल

अर्थवन्तं नरं नित्यं पञ्चाभिघ्नन्ति शत्रवः। राजा चोरश्च दायादा भूतानि क्षय एव च।
अर्थमेवमनर्थस्य मूलमित्यवधारय।
अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां तु रक्षणे। नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्॥

(महाभारत अनुशासन० १४५)

धनवान् मनुष्यपर सदा पाँच शत्रु चोट करते हैं—राजा, चोर, उत्तराधिकारी भाई-बन्धु, अन्यान्य प्राणी तथा क्षय। प्रिये ! इस प्रकार तुम अर्थको अनर्थका मूल समझो।

धनके उपार्जनमें दुःख होता है, उपार्जन किये हुए धनकी रक्षामें दुःख होता है, धनके नाशमें और व्ययमें भी दुःख होता है, इस प्रकार दुःखके भाजन बने हुए धनको धिक्कार है।

गौका धार्मिक और आर्थिक महत्त्व

(लेखक—पं० श्रीमूलनारायणजी मालवीय)

जिस प्रकार भारतवर्ष धर्मप्राण देश है, उसी तरह यह कृषिप्रधान भी है । यहाँ केवल गौ ही एक ऐसा प्राणी है, जिसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सभी प्राप्त होते हैं । हिंदुओंके जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त जितने भी संस्कार हैं, सब धर्मसे ओतप्रोत हैं । गौका सम्बन्ध हमारे सभी कार्योंसे जुड़ा हुआ है । हिंदूके धार्मिक ग्रन्थोंमें जहाँ गौको **'सर्वदेवमयो देवि'** कहा गया है, वहीं आर्थिक दृष्टिसे भी इसे **'अन्नमेवपरं गावः'** माना जाता है । जिस अवसरपर धार्मिक हिंदू अपने पितरोंका श्राद्ध करता है, उस अवसरपर गोग्रास देनेके समय यह अवश्य करके उच्चारण करता है—

सौरभेय्यः सर्वहिताः पवित्राः पुण्यराशयः ।
प्रतिगृह्णन्तु मे ग्रासं गावस्त्रैलोक्यमातरः ॥

ऊपरकी इन दोनों पंक्तियोंमें जितने विशेषण गौके लिये आये हैं, उतने किसीके लिये नहीं कहे गये हैं ।

गौकी पवित्रता तो इसीसे जानी जाती है कि जितनी भी भारतीय पुनीत नदियाँ हैं, सब इसके मूत्रमें निवास करती हैं ।' **'मूत्रे गङ्गादयो नद्यः'** आर्थिक पहलूसे देखा जाय तो गोमूत्र उदर, मुख, नेत्र और कर्ण आदि रोगोंकी एक मुख्य औषध है । सबसे विलक्षणता इसमें यह है कि कैसा भी विष क्यों न हो, इसमें तीन दिनोंतक पड़े रहनेसे शुद्ध हो जाता है ।

गोमूत्रे त्रिदिनं स्थाप्य विषं तेन विशुध्यति ।

हिंदुओंके यहाँ जितने भी कार्य होते हैं, उनमें सबसे पहले गृहकी शुद्धि गोमयके लेपनसे होती है । गोबरमें लक्ष्मीका निवास होता है । प्रमाण मिलता है—

लक्ष्मीश्च गोमये नित्यं पवित्रा सर्वमङ्गला ।
गोमयालेपनं तस्मात् कर्तव्यं पाण्डुनन्दन ॥

गोबरमें अनेकों प्रकारके गुण हैं । आज योरोपीय विज्ञानवेत्ता भी मानते हैं कि गोबरमें प्लेग और हैजेके कृमि मारनेकी विचित्र शक्ति है । भूमिकी उर्वराशक्तिकी वृद्धिके लिये गोबर एक बहुत उपयोगी वस्तु है । इससे बढ़कर दूसरी खाद नहीं होती । खलिहानमें जिस समय अन्नकी राशि रक्खी जाती है, आज भी गोबरका गोला बनाकर किसान उसमें रखते हैं । कितने ऐसे व्रत हैं, जिनमें गोमूत्र और गोबरका प्राशन किया जाता है । कार्तिकमें तो गोवर्धन बनाते ही हैं । गणेशजीकी गोबरका गोला बनाकर उसमें उपासना की जाती है ।

स्पष्टरूपसे पढ़नेको यह मिलता है कि जिस समय नन्दिग्राममें भगवान् श्रीरामजीके वनगमनसे लौट आनेकी प्रत्याशामें श्रीभरतजी थे, उस समयका इनका आहार गोमूत्रमें पके हुए यवका दलिया था । मुझे इस बातका भी पता है कि गोबरसे निकले हुए गेहूँ और जौके आटेकी रोटी खानेसे बाँझ स्त्री भी गर्भवती हो जाती है ।

श्रीमद्भागवतपुराणके पढ़नेवाले जानते हैं कि जिस समय पूतना अपने स्तनोंमें विष लगाकर भगवान् बालकृष्णको अपना दुग्ध पिलानेकी चेष्टामें थी, उस समय भगवान्ने उसके स्तनमें मुख लगाकर पूतनाका प्राण हरण कर लिया । पूतना प्राणपीड़ासे पीड़ित होकर गोकुलके गोष्ठमें जा गिरी । राक्षसीका चीत्कार सुन व्रजाङ्गनाएँ वहाँ दौड़कर आयीं और पूतनाके वक्षःस्थलपर खेलते हुए बालकृष्णको गोदमें उठा लिया । माता यशोदाने इनके चारों ओर गोपुच्छ घुमाया और गोमूत्रसे स्नान कराया, गोरजका सब अङ्गोंमें मर्दन किया तथा समस्त शरीरमें गोबर लगाकर भगवान् केशव आदिके द्वादश नामोंसे इनकी रक्षा की—

गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गोरजसार्भकम् ।
रक्षां चक्रुश्च शकृता द्वादशाङ्गेषु नामभिः ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ६ । २०)

भारतीयोंमें सदासे यज्ञ करनेकी परम्परा रही । ऋषियोंद्वारा यज्ञका सम्पादन तो होता ही था, क्षत्रिय राजा भी अपनी-अपनी कामनाओंकी पूर्तिके लिये यज्ञ करते थे । ब्राह्मण और गौ एक कुलके माने जाते हैं । ब्राह्मण मन्त्र धारण करता है और गौ हवि । यज्ञमें जो घृत छोड़ा जाता है, वह गौका ही होता है ।

ब्राह्मणश्चैव गावश्च कुलमेकं द्विधाकृतम् ।
एकत्र मन्त्रास्तिष्ठन्ति हविरन्यत्र तिष्ठति ॥

वेदमें **'मधु चारु गव्यम्'** आया है। श्रीमद्भागवतमें उद्धवसे अपनी विभूतिका वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि **'गव्यमाज्यं हविष्वहम्'**। महाभारतमें तो स्पष्ट शब्दोंमें लिखा गया है—

गावः श्रेष्ठाः पवित्राश्च पावना जगदुत्तमाः।
ऋते दधिघृताभ्यां च नेह यज्ञः प्रवर्तते॥

'गौएँ संसारमें उत्तम, श्रेष्ठ, पवित्र तथा पवित्र करनेवाली हैं, जिनके दही और घीके बिना इस लोकमें यज्ञ नहीं हो सकता।'

मानवोंके लिये गायें बन्धुके समान हैं और मनुष्य गायके बन्धु हैं। जिस घरमें गाय नहीं, वह घर बन्धुशून्य है। कहा गया है—

गावो बन्धुर्मनुष्याणां मनुष्या बान्धवा गवाम्।
गौश्च यस्मिन् गृहे नास्ति तद् बन्धुरहितं गृहम्॥

एक बार पूज्य महामना मालवीयजी प्रयागमें श्रीगङ्गा-किनारे गोरक्षापर अपना मधुर भाषण दे रहे थे और दूध-की प्रशंसामें एक श्लोक भैंसके दूधके गुणोंपर बोल गये। श्रोताओंमें एकने कहा कि 'महाराज! गोदुग्धके सम्बन्धमें आपके क्या विचार हैं?' महामना मालवीयजी महाराजने कहा कि 'वह तो अमृत है। गोदुग्धकी तुलना किसी भी दूधसे नहीं हो सकती। पञ्चामृत जिसमें दूध, दही, घृत, शर्करा और मधु रहता है, उससे भगवान्‌को स्नान कराया जाता है।'

हिंदुओंके यहाँ जब बालक पैदा होता है, तब सर्व-प्रथम माताका दुग्ध पान करानेसे पहिले गोमाताका दूध दिया जाता है। अन्तिम समयमें जिस समय शरीरको भस्मीभूत करते हैं, उस समय चिताका सिञ्चन गोदुग्ध छिड़ककर ही किया जाता है। गौ-जाति दूधसे, घृतसे, दहीसे, गोबरसे तथा चामसे, हड्डियों, बालों और सींगोंसे भी उपकार करती है। ठीक ही लिखा है—

पयसा हविषा दध्ना शकृताप्यथ चर्मणा।
अस्थिभिश्चोपकुर्वन्ति वालैः शृङ्गैश्च भारत॥

इतना ही नहीं, गौमें एक गोरोचन हुआ करता है जो गायके मरनेके बाद प्राप्त होता है, उसका गुण कस्तूरीसे भी अधिक माना गया है।

भारतीयोंका एक प्राचीन विधान है कि मनुष्य अपने पापोंका प्रायश्चित्त करना चाहे तो उसे सर्वप्रथम 'पञ्चगव्य' पीना चाहिये। वसिष्ठसंहितामें आया है—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
पञ्चगव्यमिदं प्रोक्तं महापातकनाशनम्॥

गोदुग्धके सम्बन्धमें नीचेका श्लोक कितना अधिक महत्त्व रखता है—

नो चेद् गवां यदि पयः पृथ्वीतलेऽस्मिन्
संवर्द्धनं न च भवेद्विधिसंततीनाम्।
यो जायते विधिवशेन तु सोऽपि रूक्षो
निर्वीर्यशक्तिरहितोऽतिकृशः कुरूपः॥

इसका भाव यह है कि यदि पृथ्वीतलपर गोदुग्ध न होता तो ब्रह्माकी सृष्टिकी वृद्धि न होती। यदि दैववश कोई मनुष्य उत्पन्न होता भी तो रूखा, सूखा, निर्बल, शक्तिरहित, अति कृश और कुरूप होता।

कविकुलगुरु कालिदासका नन्दिनीके द्वारा दिलीप-से कहलाया हुआ यह वाक्य बड़ा महत्त्व रखता है—

न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम्।

अर्थात् मुझे केवल दूध देनेवाली मत समझो, प्रसन्न हो जानेपर सभी कामनाओंको पूरी करनेवाली भी जानो।

भगवान् श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव द्वापरके अन्तमें हुआ था। भगवान्‌ने गोपालनका आदर्श लोगोंके सामने रक्खा। मुझे तो श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌की त्रिमूर्तिके दर्शन—एक 'वत्सपाल' दूसरे 'गोपाल' और तीसरे 'गोविन्द'के रूपमें जिस समय हुए, उस समय गौका माहात्म्य, उसकी वास्तविकता और उपयोगिताका जीता-जागता चित्र मेरे सामने पूर्णरूपसे प्रकट हो गया। आज मैं देखता हूँ कि एक ओर बिना दूधके गोवत्स अकालमें ही कालके मुखमें समा जाते हैं तो दूसरी तरफ मनुष्य-जातिके शिशुओं और बालकोंको दुग्धके दर्शनतक नहीं होते। वर्तमान समय-में क्षुधासे पीड़ित गौएँ इधर-उधर मारी-मारी बिलखती हुई फिरती दिखलायी देती हैं तो दूसरी तरफ मानवोंके मुखोंसे 'हा अन्न! हा अन्न!' का करुण चीत्कार सुनायी पड़ रहा है।

यह तो प्रत्यक्ष है कि गोवध और गोपालनकी असुविधाओंके कारण भारतमें भयंकर-से-भयंकर दुःख

उपस्थित हो गये हैं और अशान्तिका साम्राज्य छाया है। इसीलिये इस देशके ऋषि-मुनि कहा करते थे—'**गवां हितं स्वात्महिताद् वरिष्ठम्**' अर्थात् गौका हित अपने हितसे भी अधिक श्रेष्ठ है। मेरे गोलोकवासी स्नेही मित्र श्रीशोभाराम-जी धेनुसेवककी यह वाणी मुझे आज भी पूर्णरूपसे स्मरण है—

लोक और परलोक शान्ति-सुख जिस गौपर निर्भर है।
कैसी बीत रही है उसपर, इसकी किसे फिकर है ?

गोसेवा-धर्म और उसके आदर्श

(लेखक—श्रीमुकुन्दपतिजी त्रिपाठी एम्० ए०, रत्ननालीय)

भारतीय संस्कृति गो-प्रधान है। हमने गायको माताकी श्रेणीमें रक्खा है—'**गावस्त्रैलोक्यमातरः**'। यह हमारी संस्कृतिकी समस्त आधारभूत विशेषताओं एवं महत्त्वाकाङ्क्षाओंका पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है एवं पाश्चात्त्य संस्कृतियोंके प्रतीकोंसे सर्वथा भिन्न है। भारतीय संस्कृति सत्त्वगुणप्रधान एवं अध्यात्मोन्मुखी है। शान्ति, अहिंसा, शुचिता, त्याग एवं सहनशीलता इसके जीवन्त आदर्श हैं। वस्तुतः गौ इन सभी स्पृहणीय आदर्शोंकी साकार मूर्ति है। पाश्चात्त्य संस्कृतियाँ हिंसावादी, संघर्षप्रिय एवं भोगप्रधान हैं; अतः उनके प्रतीक भी वैसे ही हैं—जैसे फ्रांसका प्रतीक युद्धरत मुर्गा, अमेरिका एवं जर्मनीका गरुड़ (Eagle), इंगलैंडका सिंह तथा शिकारी कुत्ता आदि।

हमारे शास्त्रोंमें सर्वत्र ही गो-वन्दनाका, गोसेवा-धर्मका उल्लेख है।

ऋग्वेदमें गौकी महत्ता प्रदर्शित करता हुआ ऐसा अभिलेख है—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां
स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः।

हमारी संस्कृति अन्धकारसे प्रकाशकी ओर, असत्से सत्की ओर एवं मृत्युसे अमरत्वकी ओर प्रयाण करनेवाली है। '**तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सद्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय**' के गीत हम गाते हैं और इन महान् लक्ष्योंकी संसिद्धिमें गौ सर्वाधिक सहायिका है। रुद्रदेवोंकी माताके रूपमें यह समस्त संसारमें कल्याणका प्रसार करनेवाली, वसुओंकी पुत्रीके रूपमें समृद्धिदात्री तथा आदित्योंकी बहनके रूपमें अन्धकारसे प्रकाश-लोककी ओर ले जानेवाली है। साक्षात् अमृतनाभि होनेसे यह अमरत्वका वरदान बिखेरती है।

वस्तुतः हमारे जीवनके सभी आदर्श गोपालनके साथ जुड़े हुए हैं। गाय हमारे परिवारका अङ्ग बनकर आती है। हम उसके बछड़ेके साथ खेलते हुए, उसे दुलारते-पुचकारते हुए बड़े होते हैं।

जीवनके महान् लक्ष्यों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इस पुरुषार्थचतुष्टयकी संसिद्धिमें यह सर्वाधिक सहायिका है। धर्मसाधनमें इसकी महत्ता परोक्ष एवं प्रत्यक्ष दोनों रूपोंमें झलकती है। गोदुग्ध सर्वाधिक संतुलित सात्त्विक आहार है। वस्तुतः ऐसा अनुपम स्वास्थ्यवर्द्धक पदार्थ कोई नहीं है—'**अमृतं क्षीरभोजनम्**' की मान्यता सर्वांशतः सही है। संसारमें नानाविध आत्माएँ खेल रही हैं, धर्म हमारे सफलतापूर्वक खेलनेके लिये आवश्यक विधि-विधानोंकी व्यवस्था करता है। यह अभ्युदय और मोक्षके मार्ग खोलता है—'**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः**'। सबल मानव-शरीर धर्माचरणके सर्वाधिक आवश्यक स्तम्भोंमें है—'**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**'। सबल स्वस्थ-शरीर ही समस्त कल्याण-परम्पराओंका साधक एवं उपभोक्ता बन सकता है—'**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**'। आयुर्वेद घीको जीवनपोषक पदार्थोंमें प्रमुख स्थान देता है—'**आयुर्वै घृतम्**'। दधि एवं नवनीतकी उपादेयता तो सर्वत्र विदित ही है। गव्य पदार्थोंका सेवनमात्र शरीरका संतुलित विकास करा सकता है। गौके अङ्ग-प्रत्यङ्ग, उसके रोम-रोममें हम देवताओंका वास मानते हैं। अतः गो-सेवा और गो-भक्ति प्राणिमात्रका जन्मजात संस्कार है। यह भाव प्रदर्शित करते हुए कल्याणके ही अङ्क ६ वर्ष ३८ में एक बड़ी ही भावपूर्ण सचित्र कविता छपी है जिसे उद्धृत करनेका लोभ मैं नहीं संवरण कर पा रहा हूँ—

हरि-हर-विधि, शशि-सूर्य, इन्द्र, वसु, साध्य, प्रजापति, वेद महान्।
गिरा, गिरिसुता, गङ्गा, लक्ष्मी, ज्येष्ठा, कार्तिकेय भगवान्॥
ऋषि, मुनि, ग्रह, नक्षत्र, तीर्थ, यम, विश्वेदेव, पितर, गन्धर्व।
गोमाताके अङ्ग-अङ्गमें रहे विराज देवता सर्व॥

वस्तुतः गौ मूर्तिमती पवित्रता है। भीषण-से-भीषण पापकर्मसे मुक्तिके लिये लौकिक धर्म पञ्चगव्य एवं पञ्चामृत-का विधान करता है। यज्ञोंके मूलभूत उपादान गो-सम्भूत ही हैं।

हमारे शास्त्रोंमें गौका महत्त्व प्रदर्शित करानेवाली एक बड़ी ही उदात्त कल्पना है। यहाँ मरती हुई आत्माके सम्मुख गायको खड़ी करके उसकी पूँछ पकड़ाकर गोदान कराया जाता है। इसका आन्तरिक तात्पर्य यह है कि मरणशील व्यक्तिके सम्मुख गायका स्वरूप खड़ा करके उसकी प्रयाणशील आत्माको गायके महान् गुणों—परोपकारिता, सहनशीलता, पवित्रता, विनम्रता आदिकी एवं देवत्वकी स्मृति जगाकर उन्हें दूसरे जन्मोंमें अपनानेकी प्रेरणा दी जाती है; क्योंकि भारतीय संस्कृति पुनर्जन्ममें आस्था रखती है। हम—**'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्'** के विश्वासी हैं।

गोधन हमारी समस्त ऐहिक समृद्धिका मूल है। धनोंमें इसे सर्वोत्कृष्ट माना गया है। हमारी जीवन-व्यवस्था कृषि-प्रधान है और कृषिके आधारस्तम्भ बैल (गो-पुत्र) ही हैं। उन्हींके श्रम-सीकरोंसे स्नात होकर हमारे खेत धान-गेहूँकी लहलहाती बालियोंसे झूम उठते हैं। पृथ्वीकी उर्वराशक्ति बढ़ानेके लिये गोबरसे बढ़कर कोई खाद नहीं है। वस्तुतः जीते हुए और मरकर भी गौ मानव-कल्याण ही करती है। गौके मूत्र एवं पित्तका उपयोग नानाविध असाध्य रोगोंके निदानमें होता है। इस प्रकार यह घोर उपयोगितावादी (Utilitarians) के लिये भी विविध कामनाओंकी सिद्धि करनेवाली है। 'पूतों फलना, दूधों नहाना' हमारी भौतिक समृद्धिके मापदण्ड हैं। वृषभ नन्दी ही यथार्थतः शिव (कल्याणमूर्ति) के वाहन हैं एवं संसारमें आनन्द बरसानेवाले हैं। हमारे पूर्वपुरुषोंको इस मौलिक विवेक (Basic wisdom) की पकड़ थी। फलतः हमारे यहाँके आदर्श पुरुष हुए श्रीकृष्ण, बलदाऊ—जिन्होंने चक्रवर्त्ती कहलानेकी जगह 'गोपाल' एवं 'हलधर' कहलाना ही पसंद किया। अपने जीवनका प्रमुख भाग गो-सेवामें ही लगाया। बलदाऊजीने तो गोमाताके सच्चे सपूत होनेका धर्म जीवन-भर निबाहा। हलको ही अपना आयुध बनाकर लगे वे अन्याय एवं अधर्मके कण्टकोंको उलाट-पुलाटकर निर्मूल बना पुण्यक्षेत्रको धर्मशस्यकी उपजके लिये उपयुक्त बनाने। परम पराक्रमी महाराज पृथुने भी गोसेवा-धर्मकी महत्ता समझते हुए आजीवन गोसेवा-धर्म, गोरक्षा-व्रतका पूरी निष्ठासे पालन किया। हमारे सर्वाधिक महान् गोभक्त हुए राजा दिलीप, जिनकी गोसेवा अद्वितीय तथा अनुपम है, जिसका वर्णन करते हुए विश्वकवि कालिदासकी कल्पना मुखर हो उठी है:—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां
निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां
छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥
(रघुवंश, द्वितीय सर्ग)

वस्तुतः यह छायाकी तरह अनुकरण उस युगकी विवेकशीलता एवं धर्मबुद्धिका परिचायक है। बार-बार सिंह उन्हें परावृत्त करनेकी चेष्टा-विचेष्टा करता है, उनको स्मृति दिलाता है—उनके एकच्छत्र राजा होनेकी, उनकी नयी अवस्था तथा सुन्दर शरीरकी—

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं
नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्
विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥

किंतु राजाका ध्येय अटल है, उनकी बुद्धि स्थिर है। अतः वे रंचमात्र भी विचलित नहीं होते। श्रीरामचन्द्रजीने यह परम्परा अक्षुण्ण रक्खी; क्योंकि वे तो साक्षात् मर्यादापुरुषोत्तम ही ठहरे। गोसेवा उनका कुलधर्म और राजधर्म ही थी। साथ ही गो (धरित्री) पर अत्याचारोंको दूर करने ही तो वे भूतलपर आये थे।

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ॥

वस्तुतः गो-ब्राह्मणप्रतिपालकत्व समस्त हिंदू राजाओंका प्रथम कर्तव्य रहा। यवनोंके अत्याचारोंके विरुद्ध हिंदू राज्य-की स्थापनाका स्तुत्य प्रयास करनेवाले छत्रपति शिवाजी तथा बंदा वैरागीने भी गोरक्षा-धर्मको सर्वप्रमुख स्थान दिया। गोमातापर किसी तरहका भी अत्याचार करनेवालोंके लिये कठोरतम दण्ड-विधानोंकी व्यवस्था की गयी। समाजके प्रत्येक अङ्गमें, लोक-चेतनाके हर स्तरपर गो-भक्ति-के आदर्श स्पष्ट अङ्कित रहे हैं। समस्त संसारकी हितैषणासे अनुप्राणित, साधनाकी लौ जगाकर ज्ञानब्रह्मका साक्षात्कार कर तत्त्वमसिका गान करनेवाले ऋषियोंके जीवनमें भी गोपालनका

आदर्श उदाहरण मिलता है। वस्तुतः साधनाकी ज्योति गौ-की सहायतासे ही प्रज्वलित रह सकती थी। वही तो समस्त देवता, पितरों और अतिथियोंका सत्कार सम्पन्न करनेवाली थी। वशिष्ठ और जमदग्निके उपाख्यान इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

संतशिरोमणि समर्थ गुरु रामदासजीने भी गोसेवा-धर्मका पालन पूरी निष्ठा एवं आस्थासे करते हुए लोगोंके सामने गो-भक्तिका आदर्श रक्खा। संतोंका तो स्वभाव ही होता है समस्त लोकका कल्याण करना—

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना
न हेतुनान्यानपि तारयन्तः॥
(विवेकचूडामणि ३९)

गृहस्थके दरवाजेपरका तो शृङ्गार ही गोधन है। वह भौतिक समृद्धिका सर्वाधिक उत्तम साधन माना जाता रहा है। गीतामें भौतिक समृद्धिके प्रमुख साधनोंके रूपमें मानते हुए इसे देशके वैभववाहक अङ्ग वैश्यका स्वाभाविक कर्म बताया गया है—**'कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्'** वैश्य गोरक्षामें नियत रहें और इसमें अगर अड़चन आये तो—**'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः'** की गौरवशाली परम्परावाले क्षत्रिय प्राणोंका भी उत्सर्ग करनेको सदा समुद्यत रहें, यही हमारी गौरवमयी सामाजिक व्यवस्था थी। हमारी गो-भक्तिकी भावना हृदयकी गहराइयोंमें जमी हुई है। जहाँ-जहाँ गायके खुर पड़ते हैं, वहाँकी धूलि उसके पुण्य प्रभावसे पवित्र हो जाया करती है। इसका आकलन कालिदासने मार्मिक रूपसे किया है—

अपांसुलानां धुरि कीर्तनीया
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी।
तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुं
श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥

वनसे चरकर लौटती हुई गायोंके खुरोंसे उड़ती हुई धूलसे समस्त ग्रामका ढक जाना हमारे सौभाग्य और श्रीका सूचक था। हमारे गाँवकी सम्मिलित भूमिका एक निर्दिष्ट अंश गोचरके रूपमें अलग कर दिया जाता था। वस्तुतः गौ हमारे परिवारकी अभिन्न सदस्य मानी जाती है। हम श्राद्ध करते समय पितरोंको अन्न देते हैं, उसी तरह गौओंके लिये भी गोबलि देकर उनकी तृप्तिकी कामना करते हैं। प्रत्येक गृहस्थ-परिवारमें गो-ग्रास निकालनेकी परम्परा प्रचलित है। गाय-बछड़ोंके प्रति हमारा अनन्य प्रेम प्रदर्शित करनेवाला त्योहार बछु-बारस, गोपाष्टमी, चतुर्थी, प्रतिपदा, पूर्णपोली, अमावस आदि हमारी आन्तरिक श्रद्धाके परिचायक हैं। इन अवसरोंपर हम उनका शृङ्गार करते हैं, उनके आवास-स्थानोंको साफ-सुथरा बना दीवाली मनाते हुए अच्छे पक्वान्नोंसे उन्हें तृप्त करते हुए अपने हृदयके निश्छल प्रेमकी सहज अभिव्यक्ति करते हैं।

किंतु आजकी भौतिक और घोर उपयोगितावादी पाश्चात्त्य सभ्यताका अन्धानुकरण करके बहुसंख्यक भारतवासी अपने इस सनातन धर्मसे स्खलित हो गये हैं। उनकी आस्थाका दीपक मन्द हो चुका है और वे जीवनका मर्मज्ञान गँवा, गो-हत्या-जैसे पापके महापङ्कमें फँस गये हैं। यही मूल स्रोत है हमारी भीषण दरिद्रताका। यही कारण है हमारी विश्वविश्रुत सम्पन्नतापूर्ण स्थिति—'माँगे पथिक यदि नीर तो वह दूधसे ही तृप्त हो' (हर्षकालतक)—से आजकी घोर विपन्न अवस्थामें पतनका। जबतक समस्त भारतमें एक बार फिर जन-जनके मानसमें गो-भक्तिकी ज्योति जगाकर गोरक्षा और गो-सेवाका आन्दोलन नहीं उठाया जाता, तबतक इस देशकी अर्थव्यवस्था सुदृढ़ नहीं बन सकती।

वस्तुतः गोसेवा-धर्मके आदर्शोंको ही अपनाकर हम समृद्धि एवं आधुनिक जीवनके विचित्र रोग (Strange Disease of modern life) से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। हमारे शुभ एवं पुण्य कर्मोंमें यह सर्वप्रमुख है। पहले तो सेवा-धर्म ही महान् है, जीवनकी सफलताका रहस्य है।

सुवर्णपुष्पितां पृथ्वीं विचिन्वन्ति नरास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

यह वसुन्धरा सोनेके फूलोंसे लदी हुई है, जिसका चयन करनेमें शूर, कृतविद्य और सेवा-धर्मके मर्मज्ञ ही समर्थ होते हैं अतः जिस पुण्यजीवकी कृपासे यह धरती स्वर्णप्रथित होती है, उसकी सेवाके धर्मकी महत्ताका अनुमान पाठक स्वयं करें। जबतक हर प्राणीके अंदर हमारी यह सनातन एवं पुरातन स्पृहा—

गावो मे पुरतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे सर्वतः सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

—नहीं जग उठती, तबतक हमारी सारी विकास-योजनाएँ अमरबेलिकी तरह निरर्थक एवं निराधार हैं!

गो-सेवाका आदर्श

महाराज विक्रमादित्य

परदुःखकातर, परमोदार शकारि विक्रमादित्य प्रजाके कष्टका पता लगानेके लिये प्रायः घूमते ही रहते थे। इसी प्रकार अकेले घोड़ेपर बैठे एक बार जा रहे थे। मार्ग वनमेंसे जाता था। संध्या हो चुकी थी। शीघ्र वनसे निकल जानेके विचारसे उन्होंने घोड़ेके एड़ लगायी। इतनेमें एक गायके डकरानेकी ध्वनि सुनायी पड़ी। सम्राट्ने घोड़ेको शब्दकी दिशामें मोड़ा।

वर्षा ऋतु थी। नदीमें बाढ़ आयी तो नालोंमें भी जल चढ़ आया। बाढ़ उतर चुकी थी; किंतु नालोंमें एकत्र पङ्कने दलदल बना दिया था। ऐसे ही एक नालेके दलदलमें एक गाय फँस गयी थी। उसकी चारों टाँगें पेटतक कीचड़में डूब चुकी थीं। हिलनेमें भी असमर्थ होकर वह डकरा रही थी।

महाराज विक्रमादित्यने घोड़ेको खोल दिया। वस्त्र उतार दिया। दलदलमें उतरकर गायको निकालनेका प्रयत्न करने लगे। स्वयं कीचड़में लथपथ हो गये। किंतु अकेले गायको निकाल लेना सम्भव नहीं था। अन्धकारने कामको और भी कठिन कर दिया।

गायकी डकराहट सुनकर एक सिंह उसे खाने आ पहुँचा। घोड़ा खुला था, अतः सिंहकी गन्ध मिलते ही भाग गया। अब विक्रमादित्यने तलवार उठायी। गायकी सबेरेतक रक्षा करना आवश्यक था। उस अन्धकारमें सिंहसे युद्ध करना भी कठिन था। सिंह आक्रमण कर रहा था और वे उसे रोक रहे थे।

समीप ही एक बड़ा वटवृक्ष था। उसपरसे एक शुकका शब्द सुनायी पड़ा—'राजन्! गायकी तो मृत्यु आ गयी है। वह अभी नहीं मरेगी तो कलतक दलदलमें डूबकर मर जायगी। आप उसके लिये व्यर्थ क्यों प्राण दे रहे हैं? अभी यह सिंह अकेला है। थोड़ी देरमें सिंहनी तथा दूसरे वनपशु आ सकते हैं। अतः आप यहाँसे शीघ्र कहीं सुरक्षित स्थानपर जाइये। इस वटवृक्षपर चढ़ जानेसे भी आप सुरक्षित हो सकते हैं।'

महाराजने कहा—'शुक! मेरे प्रति तुम्हारी जो कृपा है, उसके लिये आभार; किंतु मुझे तुम अधर्मका मार्ग मत दिखलाओ। अपने प्राणोंकी रक्षाका प्रयत्न तो कीट-पतंग भी करते हैं। दूसरोंकी रक्षामें जो जीवन दे सके, उसीका जीवन धन्य है। जिसमें दया नहीं है, उसके सब पुण्यकर्म व्यर्थ हैं। मेरे प्रयत्नका कुछ लाभ होगा या नहीं, यह देखना मेरा काम नहीं है। मुझे तो अपनी शक्तिके अनुसार प्रयत्न करना चाहिये। इस गौकी रक्षा मेरा धर्म है। मैं प्राण देकर भी इसे बचानेका प्रयत्न करूँगा।'

पूरी रात सम्राट् विक्रमादित्य गायकी रक्षामें लगे रहे; किंतु सूर्योदयसे पूर्व ही जब झुटपुटा हुआ, उनके सामने सिंह देवराज इन्द्रके रूपमें खड़ा हो गया। शुक बनकर बोलनेवाले धर्म भी अपने रूपमें आ गये। साक्षात् भूदेवी गाय बनकर राजाकी परीक्षा लेनेमें सम्मिलित थीं। उन्होंने भी अपने दिव्य रूपके दर्शन दिये। —सु०

गौ लक्ष्मीकी जड़ और सर्वपापनाशिनी है

गावो लक्ष्म्याः सदा मूलं गोषु पाप्मा न विद्यते। अन्नमेव सदा गावो देवानां परमं हविः॥
निविष्टं गोकुलं यत्र श्वासं मुञ्चति निर्भयम्। विराजयति तं देशं पापं चास्यापकर्षति॥

(महाभारत अनुशासन० ५१। २८, ३२)

गौएँ लक्ष्मीकी जड़ हैं उनमें पापका लेश भी नहीं है। गौएँ ही मनुष्योंको अन्न और देवताओंको श्रेष्ठ हविष्य प्रदान करती हैं। गौओंका समुदाय जहाँ बैठकर निर्भयतापूर्वक श्वास लेता है, उस स्थानकी शोभा बढ़ जाती है और वहाँका सारा पाप नष्ट हो जाता है।

परमार्थ

[कहानी]

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

(१)

काम क्रोध मद लोभ की जब लग मन में खान।
तब लग पंडित मूरखौ दोनों एक समान॥

मशीनपर फर्मा कस दिया गया था। प्रिंटर छापनेके लिये मशीनको गति देनेवाला ही था कि एक बुलंद आवाज आयी—'उतार दो फर्मेको, छापना बंद करो। दूसरा कम्पोज होगा।'

पण्डित देवकीनन्दन वक्ता, लेखक, कवि और छोटी-छोटी पुस्तिकाओं-पर्चोंके प्रकाशक थे। प्रभावशाली वक्ता बननेके लिये वे सिसरो, डिमास्थेनीज, बर्क, ब्राइट, ग्लैडस्टन, लोकमान्य तिलक, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, महामना मालवीयजी आदि देशी-विदेशी सुवक्ताओंकी वक्तृत्व शैलियोंका अध्ययन करनेके सिवा भगवती वाणी महारानीकी प्रार्थना भी प्रतिदिन किया करते थे। इसीसे उनकी वक्तृत्वशक्ति ऐसी बढ़ गयी थी कि घंटोंतक श्रोता शान्तिसे उनका भाषण सुना करते थे। पण्डितजी भाषण प्रारम्भ करनेके पहले इस मङ्गलाचरणको बड़े प्रेमसे बोलना कभी नहीं भूलते थे—

सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली, उर माल।
यहि बानिक मो मन बसौ सदा बिहारीलाल॥
(बिहारी-स० २)

धनवानोंकी वर्षग्रन्थियोंपर एवं सार्वजनिक उत्सवों, कविसम्मेलनों, मुशायरोंमें उनकी कविताओंका पाठ, व्याख्यान, व्यंग-विनोद आदि हुआ ही करते थे, जिनसे प्राप्त होनेवाले अर्थसे उनकी गृहस्थीका निर्वाह होता था। कुछ राजा-महाराजा, जमींदार, जागीरदारोंसे उनका खासा परिचय था, जहाँसे कई बार उनकी प्रशस्तियाँ सुना-सुनाकर वे काफी निधि इनाममें लाये थे।

सेठ गोपीलाल नगरके माने-सन्माने साहूकार, कई कारखानोंके स्वामी और जनतामें तथा राजदरबारमें मान्यता-प्राप्त व्यक्ति थे। वे साहित्यप्रेमी और तीन-चार भाषाओंके ज्ञाता थे और कवि-कोविदों, गुणियोंका सम्मान करके उनके साथ काव्यालोचना करते हुए प्रसन्न होते थे। पं० देवकीनन्दनका इनसे काफी परिचय था। सेठजीकी प्रशंसामें कविताएँ रचकर उन्हें सुनाया करते, जिससे उन्हें समय-समयपर आर्थिक सहायता प्राप्त हो जाती थी। इसके पण्डितजी आदी हो गये थे और जब-तब रुपयोंकी माँग करने सेठजीके पास पहुँच जाया करते थे। जब रुपया नहीं मिलता तो क्रोधित हो सेठजीके विरुद्ध भाँति-भाँतिकी बातें सोचने लग जाते थे। स्वार्थ-साधनमें विघ्न पड़नेसे यही होता है। कामना ही प्रतिहत होकर क्रोध बनती है।

एक बार सेठकी वर्षग्रन्थिपर इन्होंने एक प्रशंसात्मक सचित्र पुस्तिका छपनेको प्रेसमें दी। इस उपलक्ष्यमें काफी रकम पानेकी इच्छासे कई बार सेठजीके द्वारपर चक्कर लगाया, प्रूफ भी दिखाया। पर सेठ इनकी बार-बारकी माँगसे तंग आ गये थे। अतः इस बार खाली मीठी-मीठी बातोंमें ही इन्हें टला दिया। फिर भी पण्डितजी बहुत दिनोंतक अर्थ-प्राप्तिकी आशा लगाये ही रहे। अन्तमें सब तरह निराश हो क्रोधावेशमें प्रेससे फर्मा हटवाकर सेठजीकी प्रशंसाके बदले बुराइयाँ छपवाकर उन्होंने सब जगह वितरण कर दीं और इस क्रमको अर्सेतक जारी रक्खा, इस खयालसे कि सेठ इसे अपनी प्रतिष्ठामें धक्का लगना सोचकर मेरी खुशामद करेंगे—मजबूर होकर रुपये देंगे। परंतु सेठजीने इसका जरा भी प्रतिकार नहीं किया और न कोई रकम पण्डितजीको दी। इस असफलतासे पण्डितजीको सुप्रसिद्ध शायर 'मीर' के शब्दोंमें थोड़ा स्वाभिमान आ गया—

'मीर' बंदों से काम कब निकला।
माँगना है जो कुछ, खुदासे माँग॥

(२)

बच्चा दूध पिलानेसे चुप हो गया। इसके पूर्व जहाँ वह अकेला अनाथ अवस्थामें पड़ा था, इतना रो रहा था कि देखा नहीं जाता था। इसके माता-पिता अज्ञात थे। किसीने दयावश उसे लाकर सेठ गोपीलालके यहाँ रख दिया था। बच्चेका पालन-पोषण वहीं हुआ। वह बड़ा हुआ, शिक्षित बना। उसके पुण्य जागे।

इधर पं० देवकीनन्दनने संतान-प्राप्तिकी लालसामें कई उपाय किये। बड़ी मुश्किलसे उनकी पत्नीने कन्याको जन्म दिया। कन्याका लाड-प्यारमें बचपन बीता; बड़ी होकर सयानी हुई, विवाहके योग्य बनी। उसका विवाह करनेको रुपये कहाँसे आयें। खुशामदद्वारा अर्थ-प्राप्तिसे तो गृहस्थीका निर्वाह ही बड़ी कठिनाईसे होता था। पत्नीसमेत पण्डितजी रात-दिन इसी चिन्तामें मग्न रहने लगे। उन्होंने अपने सारे परिचित धनवानोंकी प्रशस्तियाँ रचकर उन्हें सुनायीं, सिफारिशें पहुँचायीं; किंतु समयकी बात है कि उनकी रुपयोंकी माँग सभीने ठुकरा दी। सेठ गोपीलालसे तो वे बेतरह रुष्ट हो ही गये थे।

ज्योतिषाचार्य नारायणप्रसादके पास जाकर देवकीनन्दनने अपनी पुत्रीकी ग्रह-दशा और उसके विवाहके बारेमें प्रश्न किया। ज्योतिषीजीने 'श्रीसूक्त'का पाठ करना बताया। पण्डितजी हँसकर बोले—'अजी……' ज्योतिषीजी बीचमें ही कह उठे—'आप नास्तिक कबसे बन गये? आपके यहाँ तो भगवत्-सेवा वर्षोंसे चली आ रही है। जब आपको अपने पुरुषार्थपर गर्व है, तब मेरे पास पूछने ही क्यों आये? परंतु याद रखिये कि ईश्वर-प्रार्थनामें बड़ा भारी बल है। वह चाहे सकाम हो अथवा निष्काम, दोनों स्थितियोंमें पूर्ण होता है। अतः मेरी सलाह मानकर 'सब तज हरि भज' के अनुसार भगवान् श्रीलक्ष्मीनारायणकी आराधना, पूर्ण विश्वास और श्रद्धा-भक्तिके साथ बिना नागा एकान्तमें बैठ, चित्तको एकाग्रकर किया करें। प्रयत्न भी होता रहे। 'दवा और दुआ' दोनों रोगीको नीरोग करते हैं।' देवकीनन्दनकी चेतना जागी और उन्होंने श्रद्धासहित पाठ करना शुरू कर दिया।

एक दिन पं० देवकीनन्दनके परिचित एक वृद्ध महाशयने उनसे पूछा—'आपको कन्याके विवाहकी चिन्ता रात-दिन सताती रहती है। आप सेठ गोपीलालसे अर्थके लिये प्रार्थना क्यों नहीं करते? पहले तो आप उनकी प्रशंसा करते अघाते न थे। अब ऐसी क्या दुश्मनी हो गयी?'

पण्डितजीने नाक-भौंह सिकोड़ते हुए कहा—'अजी, मैं ऐसे सेठकी परवा नहीं करता, जो बुराइयोंका पुतला हो और अपने वायदेको पूरा करना सीखा ही न हो।'

वृद्ध महाशय मानवी मनोवृत्तियोंसे परिचित थे। पण्डितजीकी बात सुनकर मन-ही-मन हँसे। फिर बोले—'बुरा मत मानना; पण्डितजी! ये बुराइयाँ क्या सेठजीमें पहले नहीं थीं, जब आपने अनेक पर्चे छपवाकर उनकी खूब प्रशंसाएँ फैलायी थीं? भाई, आवश्यकता ऐसी चीज है कि उसके सामने कट्टर स्वाभिमानको भी पीछे रखना पड़ता है। आप चलो मेरे साथ सेठजीके पास। वे मँजे हुए इन्सान तो हैं ही, पर क्षमाशीलता भी उनमें है।'

मुनीम रसिकलाल पण्डित देवकीनन्दनको साथ लेकर सेठ गोपीलालके पास गये। सेठजीने इनका बड़ा आदर-सत्कार किया। स्वयं ही बोले—'मुझे अच्छी तरह याद है, पण्डितजीके पास अपनी पुत्रीके विवाहके लिये पैसा नहीं है। ये मेरे पास आये ही नहीं। यह लो १०००) रुपये। कम पड़े तो और ले लेना। मैं यह रुपया वापस नहीं लूँगा। मुझे कारोबारके द्वारा भगवान् बहुत देते हैं। इस निधिका सदुपयोग न करूँ तो धरे-धरे इसमें कीट लग जायगा। लक्ष्मीका सदुपयोग तो तत्काल कर ही लेना चाहिये। मैंने धन-धान्य-सम्पन्न कई पुरुषोंको देखा है कि जीवनमें उन्होंने संगृहीत लक्ष्मीको नहीं भोगा और कालके गालमें चले गये। आज दूसरे लोग उन्हींकी सम्पदासे मौज उड़ा रहे हैं। इन पण्डितजीने मेरे विरुद्ध पर्याप्त विष-वमन किया है—मेरे यहाँकी महिलाओंको भी झूठा कलङ्क लगाकर बदनाम करनेसे नहीं छोड़ा है, जिसकी बात सोचनेसे ही दिल दहल जाता है। परंतु इनकी करनी इनके साथ है।

> जो तोकूँ काँटा बुए, ताहि बोय तू फूल।
> तोकूँ फूल के फूल है, वाको है तिरसूल॥

मैं तो इस सिद्धान्तका आदमी हूँ। किसीकी गाली सहन करना ही सच्चे मानवकी पहचान है। गाली देनेवाला आगे चलकर स्वयं ही पश्चात्ताप करता हुआ एकान्तमें अविरल अश्रुधारा बहाता रहता है। मैंने उत्तमोत्तम पुस्तकोंके अध्ययनसे यही निष्कर्ष निकाला है। मानव ठोकरें खाकर ही सच्ची मानवता प्राप्त करता है।'

पण्डित देवकीनन्दन बड़े उदास मनसे रुपये लेकर घर आये। उनके मनमें लहर आयी—'उस लड़केको विवाहित करनेका स्वार्थ तो सेठजीका इसमें है ही।'

(३)

प्रमदाका विवाह उसी लड़केके साथ धूमधामसे हो गया, जिसे सेठ गोपीलालने पाल-पोसकर योग्य बना दिया था

देवकीनन्दन इस चिन्तासे मुक्त होकर संतोषका अनुभव करने लगे। उन्हें स्वप्नमें भी ऐसी सफलता मिल जानेकी आशा नहीं थी। वे मान रहे थे इसे अनहोनी। मुनीम रसिकलालने कहा—'पण्डितजी! आप केवल क्रोधके वशीभूत थे। मनुष्य प्रायः इंसानियतसे दूर रहता है। किंतु सेठ गोपीलालकी तरह जो त्याग, क्षमा और सद्व्यवहारका आश्रय लिये हुए हो; उसे हम सर्वोत्तम मानव कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। अब आप भी अपने कृत्योंकी ओर ध्यान दीजिये।'

इतना सुनते ही पण्डितजीकी आँखोंसे अश्रु-धारा बह चली। मानवता जाग उठी।

पिछली रात्रिमें फकीरोंकी एक टोली हाथमें प्रकाश लिये नगरमें फेरी लगाती-लगाती उस मुहल्लेमें आयी। वे सब मिलकर राजस्थानी बोलीमें गा रहे थे—

'एरे मन लोभी! थारो काई पतियारो रे—एरे मन…'
तू तो कहे म्हारे महल-अटारियाँ,
जंगलमें घर न्यारो रे।
हाँरे मन झूठा थारो काँई पतियारो रे—हाँरे मन……'

नीरव निशामें गानेकी मधुर ध्वनि देवकीनन्दनने बिस्तरमें ही सुनी। इस शिक्षाप्रद और विरक्ति-भरे गायनको सुनकर वे मुग्ध हो उठ बैठे और इसे मनमें बार-बार दोहराने लगे। विकल होकर कह उठे—'हाय, मैंने पैसेके लोभमें आकर प्रतिष्ठित सेठकी कैसी-कैसी झूठी प्रशंसाएँ तथा झूठी बुराइयाँ सर्वत्र फैलायीं। नीच कामना-स्वार्थ और वैरी क्रोधके वशमें होकर मैं नितान्त अंधा बन गया था। अपना-पराया, अच्छा-बुरा न सोचकर सर्वाधार श्रीभगवान्से भी निडर हो गया था। धिक्कार है मेरी मानवताको। 'जफर' ने ठीक ही कहा है—

'जफर' आदमी उसको न जानियेगा,
हो चाहे कितना ही साहबे फहमो जका।
जिसे ऐशमें यादे खुदा न रही,
जिसे तैशमें खौफे खुदा न रहा॥

—विना विचारे किया हुआ दुष्कृत्य जीवनभर मेरी छातीमें सालता रहेगा। अब क्या करूँ?'

पण्डित देवकीनन्दनको ऐसा घोर पश्चात्ताप करते देखकर एक भगवत्-प्रेमी सज्जनने उनको सलाह दी कि आप चित्त-मन लगाकर भगवान्का भजन करें, इसीसे आपकी आत्माको शान्ति मिलेगी। वे असंख्य मानवोंके जन्म-जन्मान्तरके असंख्य पापों-दोषोंका नाश कर देते हैं। परंतु विश्वासपूर्वक भगवान्का ध्यान करके उनके पावन-पवित्र शुभ नामोंका रटन करनेसे ही यह सब होता है। महर्षि वाल्मीकिके लिये आप जानते ही हैं—

उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥
(तुलसीदासजी)

विष्णुयामल-तन्त्रमें रुद्रके प्रति भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि "जो लोग 'जगन्नाथ' नामसे मेरा कीर्तन करेंगे, उनके सैकड़ों अपराधोंको मैं क्षमा कर दूँगा—इसमें संदेह नहीं है।" *

इस नेक सलाहके साथ ही प्रेमीजीने एक प्राचीन देवस्थानका जीर्णोद्धार करवानेकी बात भी उनसे कह दी।

× × ×

पं० देवकीनन्दन प्रसन्न होकर उसी देवालयमें जा पहुँचे, जो अति प्राचीन था। कहते हैं, श्रीगणपति भगवान्की आराधना और उनसे कार्यसिद्धिके लिये प्रार्थना करनेके हेतु वहाँके राजा-रानी भी किसी जमानेमें इस मन्दिरमें आया करते थे। स्थान बड़ा सुन्दर और चमत्कारिक था। उसे हर प्रकारसे उन्नत करनेका देवकीनन्दन रात-दिन प्रयत्न करने लगे। जीर्णोद्धार करवानेके साथ उन्होंने चंदेसे पक्की सड़क बनवायी। रेलवे विभागसे कई दिनोंतक पत्र-व्यवहार करके एवं स्वयं रेलके अधिकारियोंसे मिलकर वहाँ रेल रुकवानेका प्रबन्ध किया और स्टेशन बनवानेका निश्चय कराया, जिससे अब वहाँ प्रतिवर्ष मेलेमें हजारों यात्री दूर-दूरसे आकर दर्शनोंका लाभ उठाते हुए अपनेको भाग्यशाली मानते हैं। प्रतिदिन भी यात्रियोंकी भीड़ लगी रहती है। मन्दिरके प्राङ्गणमें पण्डितजी काम, क्रोध, मद, लोभ और विशेषतः स्वार्थकी अनेक बुराइयाँ अपने भाषणोंमें बताकर उन्हें सन्मार्गपर चलनेकी प्रेरणा देते थे, जिससे उनमें भगवद्भक्ति, नामस्मरण, कीर्तन, यज्ञ-होमादिका बहुत प्रचार हुआ। स्वधर्मका पालन करना उन्होंने सीखा।

(४)

इस प्रकार पण्डितजीका जीवन भगवान्की सेवा-पूजा, भजन-स्मरण, सामूहिक कीर्तन करने एवं अभ्यागतोंको अन्न-वस्त्र,

* जगन्नाथेति नाम्ना मे कीर्तयिष्यन्ति ये नराः।
अपराधशतं तेषां क्षमिष्ये नात्र संशयः॥

पशुओंको चारा, कबूतरोंको चुगा, रोगियोंको औषध-दान दिलवानेमें बीतने लगा। वैद्यों-डाक्टरों, वकील-बैरिस्टरों, पटेल-पटवारियों, जमींदार-जागीरदारों, सेठ-साहूकारों, अदालत-कचहरियों और गृहस्वामियोंके द्वारा सताये गये असहाय, दीन, अपढ़ और निर्धन मनुष्योंको पण्डितजी निःस्वार्थ-भावसे सहयोग देकर उन्हें यथाशक्ति सहायता दिलवाते और उन्हें न्याय दिलवानेका पूरा-पूरा प्रयत्न करते थे। विघ्नविनाशक श्रीगणपतिभगवान्‌का नया चोला चढ़वानेका महोत्सव उन्होंने भावुक सम्पन्न पुरुषोंद्वारा अथक परिश्रम करके समारोहपूर्वक सम्पन्न करवाया। उस क्षेत्रमें पण्डितजीकी प्रेरणासे गाँव-गाँवमें भजन-मण्डलियाँ कायम हुईं, जिनमें अनेकों ग्रामवासी सम्मिलित होकर भगवत्-भक्तिका लाभ उठाने लगे।

इतना करनेपर भी पं० देवकीनन्दनके मनमें एक चिन्ता काँटेकी भाँति चुभती रहती थी। 'सेठ गोपीलालजीने मेरे साथ मानवोचित सद्व्यवहार करते हुए कितना उपकार किया है! यदि मैं इस जन्ममें उनके १०००) रु० न दे पाया, तब यह जन्म तो धिक्कार है ही—अगला जन्म भी नहीं सुधरेगा। पर यह भारी निधि लौटाना मेरी सामर्थ्यके बाहर है। थोड़ी-सी खेतीसे गृहस्थीका निर्वाह ही होता है। मन्दिरके चंदेकी निधिमेंसे तो एक पैसा भी मेरे काममें खर्च करना महापाप है।' यह सोचकर पण्डितजी मन मसोसकर रह जाते थे। परंतु फिर भी हिम्मत करते थे—

हारिये न हिम्मत, बिसारिये न हरिनाम।
जाहि बिधि राखै राम, ताही बिधि रहिये॥

एक-एक पलके संग्रहसे दिन बनता है, दिन जाते-जाते वर्ष और वर्ष बीतते-बीतते युग। कौड़ी-कौड़ी जोड़नेसे धन जुटता है, रोज-रोज मुट्ठी आटा धर्मार्थ निकालनेसे मासमें ३, ४ सेर आटा इकट्ठा हो जाता है। एक पृष्ठ रोज पढ़नेसे महीनेमें ३० और वर्षमें ३६० पृष्ठ पढ़े जा सकते हैं। प्रतिदिन एक भगवत्-प्रार्थना करनेसे मासमें ३० और सालमें ३६० आवृत्तियाँ हो जाती हैं। मैं भी इसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा पैसा बचाऊँगा। गृहस्थीके व्ययमें भी कमी करूँगा। कहा भी है—

जो अपनो जेबसे दर्याफ्त करके खर्च करता है।
उसे इफ़लासका मुँह देखना "दानिश" नहीं पड़ता॥

मैं इन्हीं सिद्धान्तोंका पालन करते हुए रुपया एकत्र-कर सेठजीका १०००) रु० अवश्य चुकाऊँगा। यह मेरी पक्की प्रतिज्ञा है और सर्वान्तर्यामी, घट-घटवासी, आनन्द-कन्द व्रजचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्रभगवान् मेरी इस दृढ़ प्रतिज्ञा-को अवश्य ही पूरी करेंगे—ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। मेरी नीयत साफ़ है। पर अब किसीकी झूठी प्रशंसामें अपनी वाणी, लेखनी और प्रतिभाका कभी भी दुरुपयोग नहीं करूँगा। मैंने अभीतक लोभवश व्यक्ति-पूजा की है, भगवान्‌की पूजा भुलाकर महान् अपराध किया है। अब हे भगवन्! मुझे क्षमा करते हुए सद्बुद्धि दें और दयापूर्वक अपनी चरण-शरणमें ले मेरा उद्धार करें। यही आपसे हाथ जोड़कर, पदारविन्दोंमें सिर नवाकर—सच्चे हृदयसे प्रार्थना करता हूँ।' देवकीनन्दन यही भावना करते रहे।

दयानिधान दीनबन्धु भगवान्‌की दयासे हुआ यही कि कुछ वर्ष बीतनेपर पं० देवकीनन्दनके पास धीरे-धीरे रुपया १०००) इकट्ठा हो गया। जिसे लेकर वे सेठ गोपीलालके भवनपर गये। मनमें बड़ा हर्ष हो रहा था कि आज मैं ऋणमुक्त हो जाऊँगा। परंतु सेठजीने रुपया देखते ही यह कहकर लेनेसे साफ इन्कार कर दिया कि मैं तो इस निधिको न लेनेका पहले ही वचन दे चुका हूँ। अब रुपये लेकर उस वचनबद्धताको कभी भंग नहीं होने दूँगा।' पण्डितजीने बहुत ही आग्रह-निहोरे किये, किंतु सेठजीने उनकी एक भी बात नहीं मानी। अन्तमें दोनोंने मिलकर निश्चय किया कि इस निधिको ऐसी किसी धार्मिक संस्थामें दान दे दिया जाय कि जहाँ विधवाओंका, अनाथ बच्चोंका, परित्यक्ता नारियोंका, अंधे-बहरे-लूले-लँगड़ोंका पालन-पोषण ईमानदारीके साथ होता हो और वे सब रात-दिन भगवद्भजन करते रहें। नगरमें ही उन्होंने ऐसी एक संस्थाको यह एक हजार रुपया सहर्ष दे दिया।

इस संस्थामें एक घटना घटी। दो गुंडे एक चारित्र्यवान् उच्च कुलकी विधवाको येन-केन-प्रकारेण विधर्मी बनाकर जबरन् उसके साथ विवाह करनेकी साजिश बहुत दिनोंसे अनेक प्रयत्नोंके साथ कर रहे थे। उस विधवाको फुसलाने-के लिये उन्हें ऐसे सूत्र भी मिल गये थे, जो अर्थ-प्राप्तिके लालचमें आकर किसी कार्यके निमित्त अथवा भोजन-सामग्री लेकर आश्रममें पहुँचते और भोजन परोसते समय मौका पाकर उस विधवाको तरह-तरहके प्रलोभन देकर आश्रमसे निकल भागनेकी युक्तियाँ सुझाया करते थे। पं० देवकीनन्दनने जाँचकर इस काण्डको सत्य पाया। फिर तो उन्होंने निश्चय कर लिया कि चाहे जीवन न रहे, परंतु विधवाको धर्मभ्रष्ट कभी नहीं होने दूँगा। इस निश्चयके अनुसार उन्होंने किसी भी सूत्रसे उसका आश्रममें आना-जाना, प्रबन्धकोंको सावधान करके, बंद करवा दिया। इससे

गुंडे बड़े उत्तेजित हुए, अपनी नीचतापर उतर आये। एक दिन अवसर पाकर उन्होंने पण्डितजीको मार्गमें जाते घातक हमला करके घायल कर दिया, और वे जबर्दस्ती आश्रममें घुसकर उस विधवाको ले जानेकी चेष्टा करने लगे। पुलिस आयी। मुकद्दमा बन गया। पण्डितजी चिकित्सा करानेसे चंगे हो गये। परंतु मुकद्दमा लड़नेको पैसा कहाँ! निदान उन्होंने सेठ गोपीलालजीसे अर्थ-प्राप्तिकी याचना की। सेठजीने पर्याप्त धन देकर पण्डितजीकी जीत करवायी और एक विधवाका धर्म बचाया। इसके पश्चात् नगरके गुंडे पण्डितजीसे भयभीत रहने लगे।

उन दोनों गुंडोंको भगवान्ने सद्बुद्धि प्रदान की। दो मासतक वे अपनी काली करतूतपर आँसू बहाते रहे। फिर निश्चय करके पण्डितजीके समक्ष क्षमा-याचना करने आये। पण्डितजी अहर्निश श्रीभगवान्के भजनमें लीन रहते थे। सामने दोनोंको इस प्रकार पश्चात्तापके साथ रुदन करते देखकर उनको **'क्षमा वीरस्य भूषणम्'** पद याद आ गया। हृदयमें दया-धर्मका उद्रेक हुआ और झटपट आसनसे उठकर उन्होंने दोनोंको छातीसे लगा लिया। तीनोंकी आँखोंसे अश्रुओंकी अविरल धारा प्रवाहित हो रही थी। यह दृश्य देखकर लोग दंग रह गये। इसके पश्चात् दोनों कुमार्गी युवक पं० देवकीनन्दनके सदुपदेशके अनुसार धर्मके सत्पथपर चलते हुए अन्य कुमार्गियोंको भी सन्मार्गपर लानेका रात-दिन प्रयत्न करने लगे। उनके प्रयत्नसे कई दुष्कर्मी युवक सन्मार्गपर चलकर धर्मका पालन करनेमें तत्पर हो गये। इस प्रकार उनका सारा जीवन धर्मका पालन करनेमें तथा मानवसेवा, सत्यनिष्ठा, संयम, निःस्वार्थता और लोकोपकारमें रत रहते हुए दयासिन्धु आनन्दकन्द, व्रजचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्का भजन-स्मरण करनेमें व्यतीत हुआ।

उस विधवा बहिन—व्रजकिशोरीजीने अपने शीलकी रक्षा हो जानेसे प्रभुको अनेकशः धन्यवाद दिये और दृढ़ भक्तिके साथ उनकी सेवा-पूजामें अधिकाधिक दत्तचित्त रहने लगी। उसने हृदयसे युवक राजेन्द्र, वीरेन्द्र और पं० देवकीनन्दनको सहोदर भ्राताके समान धर्मके भाई बना लिया और वह जीवनपर्यन्त शुभकामनाओंके साथ इनके राखी बाँधती रही। धर्मके भाई भी बहन-भाईके आदर्शकी रक्षा करनेमें सदा तत्पर रहे।

श्रद्धा-विश्वास-धर्मके आदर्श—जार्ज मूलर

जार्ज मूलर श्रद्धा-विश्वासके मूर्त स्वरूप थे। उनमें अपने विश्वासकी शक्तिपर अडिग निष्ठा थी। उनके जीवनकी सफलताका रहस्य है विश्वास। जर्मनीके ब्रिस्टल नगरमें उनका जन्म हुआ था। अपने तिरानबे सालकी अवस्थामें क्षणमात्रके लिये भी वे विश्वासके पथसे विचलित नहीं हुए।

उनके अटल विश्वासका एक प्रसङ्ग है। एक समय उन्हें निश्चित समयपर एक विशेष कार्यक्रममें सम्मिलित होनेके लिये कैनेडाके क्वेबक नगरमें पहुँचना था। समुद्रका मार्ग अत्यन्त घने कोहरेसे आच्छन्न था। जहाजका कप्तान चौबीस घंटेतक कोहरेके साफ हो जानेकी प्रतीक्षा करता रहा। जहाज किसी भी हालतमें खोलना ठीक नहीं समझा गया। मूलरको निश्चित समयपर पहुँचना था।

'कप्तान! मुझे शनिवारको ठीक तीसरे पहर क्वेबक पहुँच जाना चाहिये। मेरा विश्वास है कि मैं अवश्य पहुँचूँगा। आजतक मुझे विश्वासने रास्ता दिखाया है। उपाय यही है कि हम परमात्मासे प्रार्थना करें कि कोहरा साफ हो जाय और जहाज चल पड़े।' मूलरने विश्वासका भरोसा दिलाया।

'मूलर महोदय! क्या आप देखते नहीं हैं कि बाहर कोहरेसे कितना अन्धकार फैल गया है। अगणित प्राणियोंके प्राण जानेकी आशंका है।' कप्तानने जहाज खोलना अस्वीकार कर दिया। सोचने लगा कि न जाने किस पागलसे पाला पड़ गया है।

'कप्तान! मेरी दृष्टि इस समय कोहरेपर नहीं है, परमात्माकी कृपापर है। मेरा दृढ़ और अटल विश्वास है कि कोहरा अवश्य साफ हो जायगा और मैं निश्चित समयपर क्वेबक पहुँच ही जाऊँगा।' मूलर तत्काल भीतरके कक्ष—केबिनमें चले गये।...

पाँच मिनटके बाद ही उन्होंने कप्तानसे कहा कि 'मेरा विश्वास है कि कोहरेका अन्धकार मिट गया है, आप बाहर निकलकर देख लें।' कप्तानने जहाजके बाहरी मंचपर आकर देखा कि मूलरकी बात एकदम ठीक है। वह कोहरा साफ हो गया और प्रकाश आ गया है। वह आश्चर्यचकित हो गया। जहाज खोल दिया गया। जार्ज मूलर अपने अडिग विश्वासके बलपर परमात्माकी कृपाज्योतिके सहारे निश्चित समयपर क्वेबक पहुँच गये।

निस्संदेह वे श्रद्धा-विश्वासके अप्रतिम आदर्श थे जडविज्ञानसे प्रभावित इस वर्तमान युगमें।

प्रभुमें जिसका हो अचल, शुचि श्रद्धा-विश्वास। कभी न होता वह विफल, कभी न कहीं निराश॥

—रा०

धर्मको जीवनचर्यामें लानेसे ही स्व-पर-हित है

(लेखक—श्रीइन्द्रलालजी शास्त्री जैन 'विद्यालंकार')

जब हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और अधर्मयुक्त परिग्रह—ये पाँच सर्वसम्मतिसे पाप माने जाते हैं, तब इनके विरोधी—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये स्वयमेव धर्म सिद्ध हो जाते हैं। जब इन पाँचोंसे निरपेक्षता हो जाती है, तब पाप-कार्योंका अनर्गल प्रसार और विस्तार हो जाता है और जब इनका प्रसार या विस्तार हो जाता है, तब उसके फलस्वरूप आधिदैविक और आधिभौतिक दोनों ही प्रकारके दुःख भी मिलना अनिवार्य है। जबतक जन-मानसमें इन पाँच धर्मोंका स्थायी प्रवेश न हो, तबतक धर्म-धर्म पुकारनेसे या पर्युषणादि पर्व मनानेसे भी आटोप—आडम्बरके अतिरिक्त कोई लाभ नहीं।

धर्मको जीवनचर्यामें उतारनेसे ही उसकी सफलता है। परंतु अंग्रेजोंने भारतमें प्रविष्ट होकर या शासन करके लोगोंके जीवनसे धर्मको अलग कर दिया और यह काम लौकिक है और यह काम धार्मिक है, यह भेद विज्ञानने खड़ा कर दिया। इसके अतिरिक्त यह भी लोगोंको समझाया और गले भी उतार दिया कि कोई भी काम समझनेके पहले मत करो। साथ-साथ ही समझनेके लिये साधनभूत शिक्षाको अपने हाथमें कर लिया। इसीलिये आज उस शिक्षा-दीक्षासे दीक्षित अपनी शिक्षा-दीक्षाके माध्यमसे ही विचारता और करता है।

भारतवर्षसे अंग्रेज तो चले गये, परंतु इतने वर्षोंके निवास और शासनने अपनी अंग्रेजियतकी गहरी अमिट छाप छोड़ गये, जिससे आज प्रत्येक भारतवासी रूप-रंगमें भारतीय होते हुए भी लार्ड मैकालेकी भविष्यवाणीके अनुसार अंग्रेजियतमें ढल गया और ढलता जा रहा है। भारतीय शासनमें भी धर्म केवल उपासना या उसकी पद्धतिमें रह गया और जीवनचर्याको सर्वथा लौकिक बनाया जाकर उससे धार्मिकताको अलग कर दिया गया। साथ ही अहिंसादिको धर्म न माना जाकर वैदिक, अवैदिक, इस्लाम, बौद्ध, जैन आदिको धर्मका रूप दिया जाकर राज्यको धर्म से निरपेक्ष बना दिया गया। जनताकी धर्म-निरपेक्षताके बिना लोकतन्त्रीय शासन कैसे धर्मनिरपेक्ष हो सकता है? अतः जनता भी धर्मनिरपेक्ष बनती जाती है। यह धर्मनिरपेक्षता शासनदृष्टिसे वैदिकादि धर्मोंसे निरपेक्ष हो तो कोई बात नहीं; परंतु अहिंसादि धर्मोंसे भी वह निरपेक्ष हो गयी एवं होती जाती है। शासकोंकी दृष्टिमें भी अहिंसा-सत्य आदिकी कोई स्थिति नहीं।

यदि जीवनचर्यामें अहिंसा-सत्यादिको उतारनेका प्रयत्न इस भारतीय शासनकालमें किया जाता तो इतनेसे दिनोंमें ही इस लोकतन्त्रकी दुरवस्था न होती; परंतु शासन-सत्ताने आगे होकर अपनेको एवं जनताको वास्तविक धर्मसे अनियन्त्रित कर दिया।

भारतवर्ष सदैव धर्मप्राण रहा है। मांसभक्षणादि जो हिंसादि पाँच पापोंके साधन हैं, पहले भारतमें कुछ अन्त्यज जातियोंमें ही प्रचलित थे; परंतु अब तो इन पापकार्योंका भारी प्रसार हो गया है। शासन-सत्ता पशु-पक्षियोंको मारकर खाने-खिलानेपर तुली हुई है। जिन घरों, कुलों और जातियोंमें मांसका नाम लेना भी घोर पाप समझा जाता था, उनमें भी मांस-भक्षणादिका प्रसार होता जा रहा है। असत्यको राज-नीतिका प्रमुख अङ्ग माना जाता है। चोरी अपने रूपमें तो ज्यों-की-त्यों है ही, रिश्वतखोरीके रूपमें भी द्रौपदीके चीरकी तरह बढ़ती ही जा रही है। व्यभिचार यहाँतक बढ़ गया है कि इसे पाप ही नहीं समझा जाता और परिवार-नियोजनकी आड़में तीन संतान होनेके बाद गर्भपातको भी वैध करार दिये जानेकी योजना बन रही है। परिग्रह अपनी सीमाको पार कर गया है, धनिक अतिधनिक और दीन अतिदीन बन गया और बनता जा रहा है। मँहगाई, अपरिमित व्यय, फैशनपरस्ती, चटक-मटक, तड़क-भड़क, सिनेमा आदिने न्यायोपात्त-धनत्वपर करारी चोट मार दी है जिससे न्यायोपात्त-धनत्व एक शास्त्रकी चीज बनता जाकर व्यावहारिकतासे विलुप्त होता जा रहा है। हमारे शास्त्र, साधु-संत, मुनिराज, त्यागी-तपस्वी भ्रष्टाचारसे मुक्ति अपरिग्रहसे बतलाते हैं; है भी ऐसा ही। परंतु परिग्रहको घटानेके स्थानमें बढ़ाया ही जा रहा है और जो वास्तवमें परिग्रहसे दूर हैं, उनको संकीर्ण, दकियानूस, समयानभिज्ञ आदि कहा जाता है।

भारतीय शासकोंके सामने इस समय भौतिक उत्थान है; उनके शिक्षक-दीक्षक, परामर्शदाता, आदेशदाता आदि सभी अभारतीय और भौतिक हैं। उनकी शिक्षा, संस्कृति,

सभ्यता, आचार-विचार—सभी अभारतीय हैं। तभी उनके मुखसे अन्नकी बचतमें मांसाहार करनेकी योजना प्रस्तुत होती है। उत्तरप्रदेशकी कांग्रेसने कहा है कि सात दिनमें एक दिन अन्न न खाया जाय। अप्रत्यक्षरूपसे एक सप्ताहमें एक दिन मांस खानेका ही यह आदेश है।

वाशिंगटन-अमेरिकाका ४-९-६४ का समाचार ५-९-६४ की राजस्थान-पत्रिकामें छपा है कि 'एशियामें खाद्यान्न-संकटको दूर करनेके लिये अमेरिकाने मछलीका आटा तैयार करनेकी योजना बनायी है। इस मछलीके आटेको २ अरब लोगोंके पेटमें पहुँचाया जायगा। यह आटा भारतमें भी आयेगा एवं भारतमें भी मछलियोंको मारकर सुखाकर बनाया जायगा और इसे सभी खायँगे एवं अनाज न मिलनेपर खाना ही पड़ेगा—' वैसे ही जैसे आज देशी शुद्ध घी न मिलनेपर या मिलावटपूर्ण मिलनेपर वनस्पति डालडा खाते हैं। बाजारू आटा खानेवालेको शुद्ध गेहूँके आटेके नामसे उसमें मछलीका आटा मिला हुआ मिलेगा, अमांसभोजी व्यापारी व्यवसायी मिलावट करके बेचेंगे—जिससे वे खूब धनार्जन करेंगे। ऐसी अवस्थामें पर्युषणपर्वका सार अहिंसा-धर्म कैसे टिकेगा, यह विचारणीय समस्या है। यहाँ एक मुनिमहाराजने वेजिटेबल डालडा घी न खानेवालेके हाथसे खानेका निश्चय किया तो वे लोगोंके कोपभाजन बन गये। उसके त्यागको अव्यावहारिक बतलाकर उन्हें हतप्रभ करनेकी चेष्टा है।

वास्तवमें अहिंसादि धर्मका प्रत्येक जीवनचर्या और प्रत्येक दैनिक व्यवहारमें उपयोग किया जाय। उसकी रक्षा ही समस्त शिक्षा-दीक्षा, आचार-विचार-परम्परा रहे, तभी धर्म-धारणके नामकी सफलता है। आचरणके विना ज्ञानका कोई महत्त्व नहीं, प्रत्युत वह निस्सार है; क्योंकि 'ज्ञानं भारः क्रियां विना' करनीके विना कथनी निस्सार है।

रिश्वतखोरी रोकनेके लिये भारतके गृहमन्त्री श्रीनन्दाजी कृतसंकल्प हैं; परंतु जबतक कार्यसाधक समर्थ कारण बने रहेंगे तबतक वे चाहे जितनी सदाचार-समितियाँ स्थापित करें, उनका संकल्प कभी पूरा नहीं होगा। रिश्वतखोरी साम, दान, भेद, दण्ड—इन चार उपायोंमें अब चौथे उपायसे साध्य हो गयी है। वह कठोर दण्डके विना कभी हल न हो सकेगी। 'दण्डः शास्ति कलौ प्रजाः'—कलिकालमें दण्डसे ही शासन चल सकता है। वह नहीं है, है तो अत्यन्त शिथिल। साथ ही कानून और उसके ज्ञाता भी ऐसे हैं, जो अपराधके फलसे मुक्ति दिलानेमें सफल हो जाते हैं। फिर ऐसे अपराध क्यों बनते हैं, यह कभी सोचा नहीं गया, प्रत्युत उनके साधनोंको बढ़ावा ही दिया गया। अतएव अपराधके साधनोंको मिटाये विना एवं अपराधियोंको कठोर दण्ड दिये विना कभी सफलता नहीं मिल सकती।

भगवान्‌के उपदेश, धर्मके उपदेश, संतोंके प्रवचन आदिके ठहरनेके लिये पात्रकी आवश्यकता है। जैसे सिंहनीका दूध सुवर्ण-पात्रमें ही ठहरता है, उसी प्रकार सदाचार, उपदेश मांस-मदिरादि आठ अभक्ष्य अपेय अकर्तव्योंके त्यागियोंके हृदयपर ही ठहर सकते हैं। इसलिये सरकार और जनताका कर्तव्य है कि इन अकर्तव्योंसे स्वयं बचें और सबको बचायें। कहा भी है—

> अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
> सद्धर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः॥

अर्थात् मांस-मदिरा आदि पाप और अपराधके आयतन आठ वस्तुओंके त्याग करनेपर ही मानव धर्मदेशना सुननेका पात्र होता है; क्योंकि इनके त्यागसे ही बुद्धि शुद्ध होती है। मलिन बुद्धिमें सद्धर्मदेशना टिक नहीं सकती। इसीलिये धर्मको जीवनचर्यामें उतारने, उसे प्रत्येक व्यावहारिक कार्यमें समाविष्ट करनेसे ही सफलता है; अन्यथा वह केवल प्रदर्शन, आटोप, आडम्बर एवं रूढ़िपालन मात्र है। साधु-संतोंका कर्तव्य है कि वे अन्यान्य अव्यावहारिक त्यागोंके गोरखधंधेमें न पड़कर मद्य, मांस, मधु, वेजिटेबिल घी, बाजारका आटा, बनी हुई मिठाई आदि चीजोंके उपयोगका त्याग करायें।

धर्मात्मा पुरुष क्या करे ?

> **क्षान्तेन्द्रियेण दान्तेन शुचिनाचापलेन वै। अदुर्बलेन धीरेण नोत्तरोत्तरवादिना॥**
> **अलुब्धेनानृशंसेन ऋजुना ब्रह्मवादिना। चारित्रतत्परेणैव सर्वभूतहितात्मना॥**
> **अरयः षड् विजेतव्या नित्यं स्वं देहमाश्रिताः। कामक्रोधौ च लोभश्च मानमोहौ मदस्तथा॥**

पराशरने कहा—मनुष्यको चाहिये कि संयतेन्द्रिय, मनोनिग्रही, पवित्र, चञ्चलतारहित, सबल, धैर्यशील, उत्तरोत्तर वाद-विवाद न करनेवाला, लोभहीन, दयालु, सरल, ब्रह्मवादी, सदाचारपरायण और सर्वभूतहितैषी होकर सदा अपने ही देहमें रहनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह और मद—इन छः शत्रुओंको अवश्य जीते।

धर्म और मनोविज्ञान

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल एम्० ए०)

धर्मका मनोविज्ञानसे क्या सम्बन्ध है और मनोविज्ञान कहाँतक धर्मकी बातोंका समर्थन करता है और उन्हें मानव-जीवनके लिये हितकर बताता है, इन प्रश्नोंका निर्णय करनेके पूर्व यह जानना आवश्यक है कि 'धर्म' शब्दका अर्थ क्या है। यदि इसके विषयमें स्पष्ट ज्ञान न हो तो हम एक अर्थमें धर्मकी सत्यता अथवा उपयोगिता सिद्ध करेंगे और धर्मके किसी दूसरे ही अर्थमें उसे ठीक समझ लिया जायगा।

संस्कृत भाषाका 'धर्म' शब्द 'मजहब' अथवा 'रिलीजन' का पर्यायवाची नहीं है। 'धर्म' शब्दका उपयोग मजहबके लिये भी होता हो, परंतु उसका उपयोग मानव-कर्तव्यके लिये मानव-पुरुषार्थके लिये भी होता है। हितोपदेशमें, मनुस्मृतिमें और भगवद्गीतामें 'धर्म' शब्द कर्तव्यका बोधक है। धर्म मानवको पशुओंसे भिन्न करता है, उसके दस लक्षण हैं और धर्मसंस्थाओंकी रक्षाके लिये ही भगवान्‌का अवतार होता है। यहाँ 'धर्म' शब्द मानव-कर्तव्यका बोधक है। यदि संसारसे कर्तव्यका भाव उठ जाय तो मानव-समाजका जीवित रहना ही सम्भव न हो। धर्मके इस अर्थमें केवल यही प्रश्न मनोविज्ञानमें उठ सकता है कि मनुष्यकी कर्तव्यबुद्धि उसके भीतरी जन्मजात स्वभावका अङ्ग है या वह बाहरसे लादी गयी है। क्या मनुष्यकी शिक्षा-दीक्षा उसकी कर्तव्यबुद्धिको केवल प्रस्फुरित करती है अथवा वह उसका निर्माण ही करती है? यदि किसी मनुष्यमें कर्तव्यके भाव न हों तो वह दुखी रहेगा अथवा सुखी?

उक्त प्रश्नोंका उत्तर विभिन्न मनोवैज्ञानिकोंने विभिन्न प्रकारसे दिया है। इनपर विचार करनेके पूर्व धर्मके दूसरे अर्थपर भी विचार करना आवश्यक है। धर्मका दूसरा अर्थ 'पुरुषार्थ' है। यह चार पुरुषार्थोंमेंसे एक है। मानव-स्वभावकी पूर्णता इन चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्तिसे होती है। अर्थ और काम व्यक्तिगत जीवनके पुरुषार्थ हैं और धर्म सामाजिक जीवनका पुरुषार्थ है। जो व्यक्ति धर्ममें पिछड़ा रहता है अर्थात् जो दूसरोंकी सेवामें अपनेको नहीं लगाता, वह समाजमें सम्मान नहीं पाता। स्वामी श्रीशरणानन्दके अनुसार संसारके पूँजीवादी देशोंमें प्रथम दो पुरुषार्थोंकी ही प्रबलता है, रूसमें धर्मकी प्रबलता है। पूँजीवादी देशोंका मानव आधा मानव है और रूसका मानव तीन चौथाई है। उनका धर्म-शब्दका यह अर्थ लगाना और फिर उसकी मानव-जीवनमें आवश्यकता दर्शाना मनोवैज्ञानिक सूझके अनुसार ठीक है। मानव-व्यक्तित्वकी पूर्णता व्यक्तिगत तत्त्वों और सामाजिक तत्त्वोंकी दृढ़तापर निर्भर करती है। जो व्यक्ति व्यक्तिगत स्वार्थोंमें ही रत है, वह पशु-स्तरका ही है। केवल मानवमें ही यह शक्ति है कि वह दूसरे लोगोंके हितको अपने हितके समान माने और उनकी पूर्तिके लिये चेष्टा करे। इससे वह समाजके सम्मानका भागी होता है और उसे सामाजिक सुरक्षा प्राप्त होती है।

धर्म-शब्दका तीसरा अर्थ मजहब है। मजहब प्रायः एक ही व्यक्तिका चलाया होता है। उसकी वाणीको देववाणी मान लिया जाता है। उसपर कोई शङ्का करना घोर पाप माना जाता है। यह व्यक्ति अपने समयके समाजका नेता होता है। अतएव मजहबकी अधिक बातें मानव-मानवके आपसी सम्बन्धके बारेमें रहती हैं और ये बातें मानव-कर्तव्यका समाधान करती हैं। अतएव संसारके मजहबकी पुस्तकें कर्तव्य-प्रदर्शक होती हैं। ये बातें प्रायः ईश्वरकी आज्ञाके रूपमें मानी जाती हैं, अतएव मजहब कर्तव्यपरायणताको दृढ़ बनाता है।

परंतु मजहब केवल सामाजिकता ही नहीं सिखाता, वह मनुष्यको अभौतिक सत्तासे भी मिलानेकी चेष्टा करता है। इस अभौतिक सत्ताको ईश्वर, देवी, देवता, भूत, प्रेत इत्यादि कहा जाता है। इनकी प्रसन्नताके लिये अनेक प्रकारकी ऐसी क्रियाएँ की जाती हैं, जो वैज्ञानिक-बुद्धिसे निरर्थक मानी जायँगी। कुछ मजहबोंकी पूजा-पाठ, होम-यज्ञकी बातें अनोखी होती हैं और कुछकी नैतिकताविहीन भी होती हैं।

सभी प्रकारके विज्ञान मजहबोंके इस अङ्गके विरोधी हैं और मनोविज्ञानी भी मजहबोंकी बतायी पूजा-पाठको भोलेभाले लोगोंके संतोषकी वस्तु मानते हैं। वे कहते हैं—'जैसे बालकोंको गुड़ियोंका खेल और बैताल-पचीसी अच्छी लगती है, उसी प्रकार समाजके भोले लोगोंको पूजा-पाठ करना और पौराणिक गाथाओंका सुनना अच्छा लगता है।' पर यदि ये चीजें सामाजिक जीवनसे हटा दी जायँ तो इनकी कमीकी पूर्ति किस

प्रकारसे होगी, वह और अधिक हानिकारक होगी। फिर ये बातें मनुष्यको नैतिक बन्धनोंमें भी बाँधे रखती हैं। जब समाजसे ईश्वर, देवी, देवता आदिके अस्तित्वमें विश्वास उठ जाता है, तब साधारण पुरुषकी पाशविक वृत्तियोंको नियन्त्रणमें रखनेके लिये कोई प्रबल तत्त्व ही नहीं रह जाता। केवल राज्यदण्डका भय मनुष्यको नैतिक आचरणपर सुदृढ़ रखनेके लिये पर्याप्त नहीं है। बल्कि बाहरी सत्ताका भय वास्तवमें नैतिकताके प्रतिकूल है। आन्तरिक सत्ताका भय ही सच्ची नैतिकता है। यदि किसी मनुष्यका विश्वास है कि ईश्वर उसे सदा सभी जगह देखता है और उसके भले-बुरे कार्मोका मूल्याङ्कन करता है तो उसका नैतिक आचरणपर सुदृढ़ रहना सरल होता है। दूसरे अपनी सेवाका तुरंत मूल्य पानेके लिये भी वह उतावला नहीं होता।

मनोविज्ञानके प्रमुख पण्डितोंने मजहबी धर्मके विषयमें जो राय दी है, वह विचारणीय है। विलियम जेम्सने धर्मकी बातोंकी सत्यतापर निर्णय न देकर यह कहा है कि धर्म मनुष्यकी भावात्मक आवश्यकता है। ईश्वर है अथवा नहीं, परंतु ईश्वरका विचार मनुष्यको सुरक्षाकी अनुभूति कराता है। इससे वह अपने जीवनके कार्मोको शान्ति और लगनके साथ करता रहता है और मरते समय भी शान्तिसे मर जाता है। डाक्टर फ्रायडने मजहबोंको मानवकी व्यापक विक्षिप्तता (General sycheo-neurosis of the human race) बतलाया है। उसने अपनी फ्युचर आव ऐन इल्यूजन (Future of an Illusion) नामक पुस्तकमें कहा है कि 'मजहब एक प्रकारका पागलपन है, जिसका अन्त विज्ञानके आलोककी वृद्धिसे अनायास ही हो जायगा।' टेन्सलेने मजहबोंके देवी-देवताओंको अचेतन मनकी प्रक्षेपण (Projection)-क्रियाका परिणाम कहा है। उनका कथन है कि यह बात उतनी सही नहीं है कि ईश्वरने मनुष्यको बनाया है, जितनी यह बात सही है कि मनुष्यने ईश्वरको बनाया है। परंतु यह देवी-देवता आदिके निर्माणकी क्रियाका ज्ञान मानवको नहीं रहता; क्योंकि यह उसके अचेतन मनका कार्य है, न कि उसके चेतन मनका। जब किसी व्यक्तिको अपनी इस अचेतन क्रियाका ज्ञान हो जाता है, तब वह क्रिया ही नष्ट हो जाती है।

सम्भवतः कबीरने अचेतन मनकी इस क्रियासे विज्ञ होकर ही कहा था—

अवधू छाँड़हु मन विस्तारा।
सो पद गहहु जाहि ते सद्गति, पारब्रह्म ते न्यारा॥
न कछु महादेव, नहीं मोहम्मद,
हरि-हिजरत कछु नाहीं।

निरभयरामकी निम्नलिखित पंक्तियोंमें भी यह विवेक पाया जाता है—

अब मोहि फिर फिर आवत हाँसी॥
सुख-समूह हो सुख को ढूँढ़े, जलमें मीन पियासी।
सबही तो हैं आतमचेतन, अज, अखंड, अविनासी॥
निश्चय करे न निज, स्वरूप को
भागत मक्का कासी।
निरभयराम गम किरपासे काटी लख चौरासी॥

उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट है कि मजहबोंकी सामान्य गाथाएँ मनुष्यके अचेतन मनद्वारा निर्मित हुई हैं। इन अचेतन मनकी क्रियाओंको प्रक्षेपण (Projection) और आदर्शीकरण (Idealization) कहा जाता है। मजहबोंमें बताये गये भूत, प्रेत, शैतान, देवी-देवता आदि तत्त्व भौतिक विज्ञानके अन्वेषणके पदार्थ नहीं हैं, परंतु ये मानवकी अनुभूतियोंके रूपमें सत्य हैं। ये सभी पदार्थ मनुष्यके भी भीतरी मन (अचेतन मन) में हैं। इनका बाह्यीकरण अचेतन मनके प्रक्षेपण अथवा आदर्शीकरणसे होता है।

स्वामी विवेकानन्द अपने तात्त्विक विचारमें अपने समयके आगे थे। उन्होंने मजहबोंकी सभी बातोंका समर्थन यह जानकर किया है कि वे केवल प्रक्षेपणमात्र हैं। उन्होंने पूजा-पाठ, मन्दिर, मूर्ति, धूप-दीप, शङ्ख, झालर आदिको धार्मिक आस्थाके लिये उतना ही आवश्यक कहा है जितना किन्डरगार्टनमें जानेवाले बालकोंके लिये उनके खिलौने आवश्यक हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि कोई व्यक्ति बुद्धिसे तो पर्वताकार हो सकता है, परंतु आध्यात्मिक विकासमें वह बच्चा हो सकता है (A man may be intellectually a giant, but spiritually he may be a child.)। अतएव किसी व्यक्तिकी किसी विशेष मजहबी बातोंमें समयके पूर्व श्रद्धाको बिगाड़ देना ठीक नहीं है। इससे उसके जीवनका कोई विशेष अनिवार्य अङ्ग आधारहीन हो सकता है।

हमने अपनी मानसिक चिकित्साके प्रयोगोंमें देखा है कि जिन लोगोंमें धार्मिक भावनाएँ प्रबल होती हैं, उन्हें

जितनी जल्दी किसी प्रकारके मानसिक रोगसे मुक्त किया जा सकता है, उतनी जल्दी उन लोगोंको मानसिक रोगोंसे मुक्त नहीं किया जा सकता जिनमें इन भावनाओंको बचपनसे ही नहीं डाला गया। संसारके एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक और मानसिक चिकित्सक चार्ल्स युंगका कथन तो यह है कि जिन लोगोंमें सुदृढ़ धार्मिक आस्था रहती है, उन्हें मानसिक रोग नहीं होते और किसी भी रोगीका मानसिक रोग तबतक पूरी तरह नहीं जाता, जबतक वह एक ठोस जीवन-दर्शन नहीं प्राप्त कर लेता। उनका यह भी कथन है कि संसारके सभी मानसिक चिकित्सक मिलकर जितने मानसिक रोगोंकी चिकित्सा कर पाते हैं, उससे अधिक चिकित्सा संसारके निकम्मे-से-निकम्मे मजहबके द्वारा होती है।

यदि चार्ल्स ंगके उपर्युक्त कथनमें कोई सत्यता है तो क्या हम नहीं कह सकते कि वर्तमान कालमें मानसिक रोगोंकी बाढ़ मजहबोंमें विश्वास समयसे पूर्व हट जानेके कारण हो गयी है। जब मनुष्यका भीतरी मन सुशिक्षित हो जाता है, तब उसे इन बाहरी साधनोंकी आवश्यकता नहीं रहती; परंतु जबतक यह बच्चा ही बना हुआ है, अर्थात् जब उसकी इच्छाएँ स्वार्थपरायण हैं, तबतक उसे मजहबकी सामान्य बातोंकी आवश्यकता रहती है। जब मनुष्यका चेतन मन तो शिक्षित हो जाता है, परंतु अचेतन अशिक्षित ही बना रहता है, तब यदि धार्मिक श्रद्धाएँ समाप्त हो गयीं तो मनुष्यका मानसिक संतुलन सुधारनेके लिये कोई साधन नहीं रहता। यदि ऐसा व्यक्ति धन कमानेमें लगता है तो वह बुद्धिकी प्रखरताके कारण संसारभरका स्वामी बननेकी चेष्टा करता है और जब उसे इसमें सफलता नहीं मिलती, तब वह पागल हो जाता है। उसे इस पागलपनसे निकालनेका कोई सहज साधन नहीं रहता।

धर्म (मजहबके अर्थमें) मनुष्यके भावात्मक विकासका साधन है। वह निर्बलका सहारा है। जिसको कोई सहारा नहीं, वह धर्मके आधारपर जी लेता है। स्वामी शरणानन्दने बताया कि उनकी आँखें पंद्रह वर्षकी अवस्थामें चली गयीं। अब यदि वे नास्तिक होते तो उन्हें आत्महत्या करनेके सिवा और कोई मार्ग नहीं था। परंतु ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास रहनेके कारण वे समाजके लिये उपयोगी कार्य कर सके। यदि मीराँबाईने श्रीकृष्णकी भक्तिमें अपने-आपको खो न दिया होता तो वह मेलेन्कोलिया (विषाद रोग) अथवा हिस्टीरिया (उन्माद) रोगकी शिकार बनती। यही दशा तुलसीदासकी होती। पत्नीद्वारा अपमानित व्यक्तिको स्वयंका जीवन भार हो जाता है।

धार्मिक साधनामें मूर्ति-पूजा, यज्ञ-होमतक ही नहीं सीमित है। ये साधनाएँ वास्तवमें धर्मकी प्रारम्भिक बातें हैं। इनकी अपने स्थानपर मनोवैज्ञानिक उपयोगिता है। परंतु इनकी पूर्ति तत्त्वज्ञानमें होती है अथवा मनपर विजय प्राप्त करनेमें होती है। यह धार्मिक जीवनकी पराकाष्ठा है।

उपर्युक्त विचार ऐसे मनोवैज्ञानिकोंका है जो मनोवैज्ञानिकके अतिरिक्त दार्शनिक भी हैं। परंतु इस प्रकारके मनोवैज्ञानिक इने-गिने ही हैं और उनके विचारोंका प्रचार भी बहुत कम है। सामान्य मनोवैज्ञानिक मजहबोंकी सभी बातोंको व्यर्थ समझता है। उसकी दृष्टि भौतिक वैज्ञानिकोंके समान बहिर्मुखी होती है। अब मनोविज्ञानकी पुरानी विधिको अर्थात् अन्तर्दर्शनको निकम्मी माना जाने लगा है। अब बहिर्मुखताको मनोविज्ञानमें उसी प्रकार प्रधानता दी जाती है, जैसी दूसरे विज्ञानोंमें। इस दृष्टिसे मजहब अथवा धर्म अन्धविश्वासोंका परिणाम है। पर यह है मनोविज्ञानकी अपूर्ण रूप-रेखा।

धर्मका सबसे महत्त्वका भाग साधनाओंका है। पर आधुनिक मनोविज्ञान इन साधनाओंके विषयमें न तो कोई चर्चा करता और न इनकी आवश्यकता ही समझता है। आधुनिक मनोविज्ञान मनुष्यके व्यवहार सुधारनेके उपाय बताता है, उसे अपने वशमें करनेके मार्ग बताता है, चाहे वह बच्चा हो अथवा प्रौढ़, अकेला हो अथवा समूहमें। स्वयंको वशमें करनेके विभिन्न उपायोंकी चर्चा आधुनिक मनोविज्ञानमें नहीं पायी जाती। अतएव मनोविज्ञानसे धर्मका मेल नहीं खाता; परंतु सभी विद्याओंकी समाप्ति दर्शनमें है, मनोविज्ञान भी दर्शनकी ओर बढ़ने लगा है। यदि यह प्रगति जारी रही तो धर्मकी बहुत-सी बातोंका समर्थन मनोविज्ञानके द्वारा होगा।

डाक्टर फ्रायडने न केवल मजहबोंको भ्रमजाल अथवा पागलपन कहा है, वरं उन्होंने तो नैतिकताको भी बाहरसे लादी गयी वस्तु बताया है। इसकी प्रबलताके कारण ही अनेक प्रकारके मानसिक रोग होते हैं। किसी प्रकारका मत जब मनुष्यके स्वभावका अङ्ग बन जाता है, तब वह उसकी सहज सुखकी प्रवृत्तिका अवरोध करता है। इसीसे मानसिक रोग होते हैं। अतएव मानसिक रोगोंके निराकरणके लिये

नैतिक बुद्धिका शिथिल करना आवश्यक होता है। इससे दमित वासनाका रेचन होता है और मनुष्य आरोग्य प्राप्त करता है। पर वस्तुतः यह फ्रायडकी विचार-भ्रान्ति ही है।

डाक्टर फ्रायडको निराशावादने घेर लिया था। उन्होंने अपनी सभ्यताके असंतोष (Discontents of Civilization) नामक पुस्तकमें बताया है कि यदि नैतिक प्रतिबन्ध समाजमें न रहें तो मानव-समाज बर्बर अवस्थामें पहुँच जायगा और कहते हैं कि तब पागलोंकी संख्या बढ़ेगी। अतएव दोनों तरफ दुःख-ही-दुःख है। उन्हें मानवके उद्धारका कोई मार्ग न सूझा। इससे सिद्ध है कि वे स्वयं द्विविधामें पड़े हैं; कुछ भी निश्चय नहीं कर पाते।

उनकी असफलता हमें आगे बढ़नेके लिये प्रेरित करती है। भौतिक दृष्टिपर आधारित मनोविज्ञान अधूरा ही है। यह बहिर्मुखी चिन्तनपर आधारित है। सम्पूर्ण मनोविज्ञानके लिये अन्तर्मुखी चिन्तन अनिवार्य है। संसारके गम्भीर धर्म इसी प्रकारके चिन्तनके परिणाम हैं।

'धर्म' शब्दका दुरुपयोग

(लेखक—महामहिम डा० श्रीसम्पूर्णानन्दजी, राज्यपाल, राजस्थान)

मनुष्यको इस बातका बड़ा अभिमान है कि 'मैं भाषाका स्वामी हूँ। जब चाहता हूँ, तब बोलता हूँ, और अपने भावोंके अनुरूप शब्दोंका चयन करता हूँ।' बात बिल्कुल ऐसी तो नहीं है। मनुष्यके चित्तमें जितने प्रकारके भाव उठ सकते हैं, उतने शब्द तो किसी भी भाषामें नहीं हैं। सर्वदा अपने मनोऽनुकूल शब्द नहीं मिल पाते। बहुधा ऐसे शब्दोंका व्यवहार करना पड़ता है, जो अपने विवक्षित अर्थके आस-पास होते हैं। शब्दकी व्युत्पत्ति कुछ भी रही हो, वह सबसे पहिले चाहे जिस अर्थमें प्रयुक्त किया गया हो, पर ज्यों-ज्यों उसका प्रचार बढ़ता है और वह पुराना होता जाता है, उसके साथ 'आसपास' वाले अर्थोंका परिवार बढ़ता जाता है। बोलनेवालेको इनमेंसे कोई एक ही अभीष्ट होगा, पर शेष सब भी साथमें प्रतिध्वनित होते रहते हैं और यह श्रोताकी मनःस्थितिपर निर्भर करता है कि वह किस ध्वनितार्थको पकड़ेगा। यदि किसी कारणविशेषसे इन आंशिक अर्थोंमेंसे किसी कालविशेषमें किसी एकको प्रधानता मिल जाय तो यह भी सम्भव है कि वह शेषको दबा ले और उनको व्यक्त करनेके लिये कोई उपयुक्त शब्द ही न मिले। फिर तो यदि उनकी ओर लक्ष्य करना हो तो स्यात् लंबे वाक्यसे काम लेना होगा। परंतु वाक्यमें वह सजीवता नहीं होती जो प्रायः शब्दोंमें मिलती है।

मैं शब्दशास्त्रपर निबन्ध लिखने नहीं बैठा हूँ। ये सब विचार तो एक विशेष शब्दके सम्बन्धमें सोचते-सोचते उठ खड़े हुए। वह शब्द है—'धर्म'।

मैं नहीं जानता कि वेदमन्त्र पृथ्वीपर कबसे चले आ रहे हैं। परंतु यह निश्चित है कि 'धर्म' शब्द वेदोंमें भी आया है—**'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्', 'अतो धर्माणि धारयन्'** आदि। तबसे उस वाङ्मयमें, जिसको 'हिंदू' विशेषण दिया जा सकता है, यह शब्द चला आ रहा है। जैन और बौद्ध आचार्योंकी रचनाओं और उपदेशोंमें भी बराबर इसका व्यवहार होता रहा है। धर्मकी सर्वत्र प्रशंसा की गयी है। व्यासदेव कहते हैं—अर्थ और काम धर्मपर ही आश्रित हैं। मनुका आदेश है **'न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्'** अर्थात् धर्मका पालन करते हुए कष्ट पानेपर भी मनमें अधर्मको स्थान न दे। यह शब्द इतना सुबोध समझा गया कि बहुधा विद्वानों और साधु-महात्माओंने इसकी परिभाषा करनेका प्रयत्न भी नहीं किया और परिभाषा यदि की भी गयी तो बहुत ही व्यापक जैसे—**'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'**—'जिससे अभ्युदय और मोक्षकी सिद्धि हो वह धर्म है' या मनुके शब्दोंमें **'धारणाद्धर्म इत्याहुः'** 'जो विश्वको धारण करता है, वह धर्म है।' इन वाक्योंकी व्याख्या करनेमें पुस्तकालय-के-पुस्तकालय लिखे जा सकते हैं। संक्षेपमें कहीं-कहीं धर्मके जो लक्षण बताये गये हैं उनमेंसे एकको उदाहरणके लिये लें—

> **अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया तपः।**
> **ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशः क्षमा धृतिः॥**
>
> (मत्स्यपुराण)

इस स्थलपर अद्रोह, अलोभ, दम, भूतदया, तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, अनुक्रोश, क्षमा और धृतिको धर्मका मूल कहा गया है। लोकव्यवहारमें भी ऐसा ही देखा जाता है।

सत्यवादी, दयालु, परोपकारी व्यक्तिको धर्मात्मा और हिंसा-वृत्तिवाले तथा लोभीको अधर्मी कहा करते हैं। विचारणीय बात यह है और इसी बातकी ओर मैं विशेषरूपसे ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि धर्मकी परिभाषामें ईश्वरोपासनाका नामतक परिगणित नहीं है। हो भी नहीं सकता था; क्योंकि यदि ऐसा होता तो बौद्ध और जैन इस शब्दका व्यवहार ही नहीं करते। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वरोपासना धर्मबाह्य या धर्मविरुद्ध है। पर वह धर्मका समानार्थक नहीं है। धर्मका अङ्ग भले ही हो, परंतु धर्मका सर्वस्व नहीं।

आजसे लगभग एक हजार वर्ष पहलेतक धर्म शब्दका इस प्रकार व्यवहार करनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई; परंतु जब यहाँ इस्लामके संदेशवाहक पहुँचे, तब अड़चन उत्पन्न हुई। वे लोग भी सत्य आदिका समर्थन करते थे; परंतु उनकी ओरसे जो उपदेश दिया जाता था, उसमें ईश्वरोपासना-का सबसे बड़ा स्थान था। कोई कितना भी अच्छा व्यक्ति क्यों न हो, परंतु यदि वह ईश्वरकी उपासनाको, और वह भी उस प्रकार जो इस्लामसे सम्मत है, प्रथम स्थान न दे तो वह प्रशंसाका पात्र नहीं हो सकता था। इसी दृष्टिकोणसे एक बार मौलाना मुहम्मद अलीने कहा था कि 'भले ही महात्माजीमें सब गुण हों, परंतु मैं किसी भी मुसल्मानको उनसे ऊँचा समझूँगा।' अरबीमें धर्मका कोई यथार्थ पर्याय नहीं है। जब देशमें ईसाई आये, तब भी यही परिस्थिति उत्पन्न हुई। उनके सामने भी एक विशेष प्रकारसे ईश्वरकी उपासना करना सबसे महत्त्वकी चीज थी। ईसाईके पास भी धर्मके अर्थमें कोई शब्द नहीं था और हिंदूके पास मजहब या रेलीजनके लिये कोई शब्द नहीं है। कभी-कभी इस अर्थमें सम्प्रदाय शब्दका व्यवहार कर दिया जाता है, परंतु यह शब्द यथार्थ नहीं है। शिया और सुन्नी—मुसल्मानोंके दो सम्प्रदाय हैं। रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टैंट—दो पृथक् ईसाई सम्प्रदाय हैं। परंतु शिया और सुन्नीका मजहब एक है, रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टैंटका रेलीजन एक है। इस्लाम-धर्मके अनुयायियोंका देशमें कई सौ वर्षोंतक राज्य रहा। शासकका पक्ष बलवान् होता ही है। फलतः मुसल्मानों-ने धर्मके लिये अरबी या फारसीमें कोई पर्याय न ढूँढ़ा, न बनाया; शासित हिंदुओंको ही मजहबके लिये शब्द ढूँढ़ना पड़ा और दुर्भाग्यसे उन्होंने धर्म शब्दको ही इस कामके लिये चुना। इस्लाम मजहबके जोड़में 'हिंदू-धर्म' ऐसा व्यवहार होने लगा। वही व्यवहार आज 'क्रिश्चियन रेलीजन' के युगमें भी होता चला आ रहा है। जहाँतक साधु-संतों और विद्वानोंकी बात है, धर्म-शब्दने अपना पुराना अर्थ खोया नहीं है। साधारण जनता भी इस शब्दके व्यापक अर्थसे पराङ्मुख नहीं हुई है। फिर भी कुछ-न-कुछ संकीर्णता तो आ ही गयी है।

स्वतन्त्रताकी प्राप्तिके बाद इस शब्दपर अनर्थका पहाड़ टूट पड़ा। हमारे संविधानमें यह स्वीकार किया गया कि भारत सेक्युलर राज्य होगा और सेक्युलरके लिये दुर्भाग्यसे 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द चुना गया। अच्छा होता यदि अरबीका मजहब शब्द अपना लिया गया होता। हिंदी जीवित भाषा है, उसने विदेशोंसे बहुत-से शब्द लिये हैं। वह मजहबको भी पचा सकती थी। सेक्युलरके लिये मजहब-निरपेक्ष कहना ठीक होता। अरबी और संस्कृतसे बना यह गंगाजमुनी शब्द ही विवक्षित अर्थको ठीक-ठीक व्यक्त कर सकता था। धर्मनिरपेक्ष कहनेसे अंधेर हो गया। अभीतक तो धर्म-शब्द अपने पुराने अर्थके साथ-साथ मजहबके नये अर्थको ढोता जा रहा था। अब सरकारी व्यवहारमें आनेमें उसका पुराना अर्थ पीछे पड़ गया। सरकारी कागजोंमें, नेताओंके भाषणोंमें, समाचारपत्रोंमें—सर्वत्र धर्मको मजहबके संकीर्ण अर्थमें प्रयुक्त किया जा रहा है और उसके व्यापक अर्थके लिये कोई दूसरा शब्द देख नहीं पड़ता। यह कोई नहीं पूछता कि जब हम यह कहते हैं कि हम धर्मके प्रति निरपेक्ष हैं तो क्या हम उस सत्य और अहिंसाकी ओर निरपेक्ष हैं, जिसकी रट महात्माजी यावज्जीवन लगाते गये ? क्या हम अलोभ, जीवदया, क्षमा-जैसे सद्गुणोंको अब सक्रिय रूपसे प्रश्रय नहीं देना चाहते ? यदि इनसे विमुख नहीं होना है तो इन सबके लिये सामूहिक रूपसे कौन-सा शब्द है ?

निरपेक्षता उसी चीजकी ओरसे होती है, जो अनुपयुक्त समझी जाती है। धर्म-निरपेक्षताका नाम लेते-लेते चित्तपर यह भाव बैठता जाता है कि धर्म बुरी चीज है। नयी पीढ़ी यही शिक्षा ग्रहण कर रही है। मजहबसे तो वह यों ही बहुत दूर है, धर्म-शब्द भी छूटता जाता है और धर्मका नाम लेना भी 'दकियानूसी ख्याल'—प्रतिगामिताका प्रमाण माना जाता है। भारतीय संस्कृति ऐसे पर्यावरणमें पली थी, जिसको धार्मिकके सिवा किसी और शब्दसे अभिव्यक्त नहीं कर सकते। धर्मकी ओरसे जो मनोभाव उत्पन्न किया जा रहा है, वह हमको उस संस्कृतिकी ओरसे भी हटाता जा रहा है। मुझे उस समयकी एक घटना याद है, जब मैं उत्तरप्रदेशमें

शिक्षामन्त्री था और मौलाना आजाद केन्द्रीय शिक्षामन्त्री थे। एक सज्जनने ······वे आज भी प्रतिष्ठाके पात्र हैं, अतः उनका नाम लेना उचित न होगा······मौलाना साहबसे यह शिकायत की कि मैं स्कूलोंमें ऐसी पाठ्य-पुस्तकको 'प्रोत्साहन दे रहा हूँ, जिनमें मजहबी बातें भरी हैं। उदाहरणके लिये यह लिखा गया था कि एक पुस्तकमें हरिश्चन्द्रकी कथा लिखी गयी है। मेरी समझमें हरिश्चन्द्रकी कथाको यदि इस प्रकार लिखा जाय कि उससे धार्मिक पुट दूर कर दिया जाय तो सारी कथा निर्जीव हो जायगी। मैंने मौलाना साहबको जो उत्तर दिया, उससे वह बात वहीं-की-वहीं समाप्त हो गयी; परंतु एक हिंदूनामधारी विद्वान्‌ने ऐसी आपत्ति उठायी थी, यही विचारणीय बात है।

इस बातपर हमको गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। मजहब अच्छी चीज हो या बुरी, परंतु राज्यके लिये मजहब-के प्रति निरपेक्षताकी नीति कल्याणकारी है; किंतु इस प्रसङ्गमें धर्म-शब्दका व्यवहार करना भयानक है।

भारतीय संस्कृतिकी दुहाई देनेका फैशन है, परंतु आज उस संस्कृतिकी आधारशिलाके नामतकका बहिष्कार-सा हो रहा है। भले ही किसी पीठके शंकराचार्य धर्मका नाम ले लें और डा० राधाकृष्णन्-जैसे कुछ व्यक्ति आध्यात्मिकता और धर्मकी प्रशस्तिका गान कर दें। ऐसे लोगोंको ऐसी बात करनेकी अनुमति है; परंतु यों धर्मकी ओरसे निरपेक्ष रहना ही कल्याणकारी समझा जाता है।

हम धर्म-शब्दके प्राचीन अर्थसे कितनी दूर चले गये हैं! कुछ दिनोंके बाद प्राचीन साहित्यका अर्थ समझना कठिन हो जायगा। उसमें पदे-पदे धर्म-शब्द आया है, ऐसे प्रसङ्गोंमें इसका व्यवहार हुआ है, जहाँ पूजा-पाठकी कोई चर्चा नहीं है; केवल नैतिकता, नैतिक गुणोंकी प्रशंसा है। ऐसी बातें तो सार्वभौम होती हैं। परंतु इनका समर्थन करना भी बुरा हो गया, यह देखकर लोगोंको आश्चर्य होगा।

भारतको मजहब और धर्मके सम्बन्धमें वही नीति अपनानी चाहिये, जो इस देशमें पहिले भी मान्य थी। धर्मका आदर होना चाहिये। धर्म-शब्दको सम्मान दिया जाना चाहिये। मजहबको भी न तो बहिष्कारका विषय समझना चाहिये, न हँसीका। जीवनमें उसका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। परंतु किसी मजहब-विशेषके अनुयायियोंको राज्यकी दृष्टिमें ऊँचा या नीचा कोई स्थान-विशेष नहीं मिलना चाहिये। न तो किसी मजहबवालेको शिक्षा या व्यापार या राजसेवामें कोई सुविधा दी जानी चाहिये, न असुविधा। राज्यकी दृष्टिसे इससे अधिक निरपेक्षताकी आवश्यकता नहीं है और इसके लिये धर्म-जैसे प्राचीन शब्दके अर्थको भ्रष्ट करनेकी आवश्यकता भी नहीं है।

'अर्थ' नामक 'अनर्थ'

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः। लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥
अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये। नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः। भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्। तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥

(श्रीमद्भागवत ११। २३। १६—१९)

जैसे थोड़ा-सा कोढ़ सुन्दर रूपको बिगाड़ देता है, वैसे ही तनिक-सा भी लोभ यशस्वियोंके शुद्ध यश और गुणवानोंके प्रशंसनीय गुणोंको नष्ट कर देता है। धन कमानेमें, कमा लेनेपर धनको बढ़ानेमें, धनकी रक्षा करनेमें, धनके खर्चमें, धनके नाशमें और धनके उपभोगमें—सर्वत्र परिश्रम, भय, चिन्ता और चित्तके भ्रमका ही भोग करना पड़ता है। चोरी, हिंसा, असत्य-भाषण, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा-लंपटता, जूआ और शराब—ये पंद्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनके कारण ही उत्पन्न होते और रहते हैं। अतएव कल्याण चाहनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह स्वार्थ और परमार्थके विरोधी 'अर्थ' नामक इस 'अनर्थको' दूरसे ही छोड़ दें।

धर्म और सेकुलरिज्म

(लेखक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी बी० ए०, बी० एल्०)

हमारे शास्त्रकारोंने बार-बार लिखा है कि ८४ लाख योनियोंमें मनुष्य-योनि ही एक ऐसी योनि है, जिसके द्वारा भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है । शेष ८३९९९९९ योनियाँ केवल भोग-योनियाँ हैं, जिनमें प्रारब्धके अनुसार केवल फल भोगना होता है । उन-उन शरीरोंसे भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती; इसलिये जैसा श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है—'बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा'; 'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा' इत्यादि। इसलिये यह मनुष्य-शरीर पाकर हमारा बहुत उत्तरदायित्व है और हमें यह बार-बार विचार करना चाहिये कि हम क्या करें, क्या हमारा काम मनुष्योचित है; किंतु हमारा दुर्भाग्य है कि इस विषयपर हम तनिक भी चिन्तन नहीं करते ।

जैसी व्यवस्था आज व्यक्तिगत और हमारे समाजकी है, उससे तो यही ज्ञात होता है कि मनुष्ययोनिको भी एक भोग-योनि ही मानना पड़ेगा; क्योंकि जन्मसे लेकर मृत्यु-पर्यन्त हम केवल अपने अर्थ-चिन्तनमें ही अपना सारा समय व्यय करते हैं और जीवनका लक्ष्य क्या है और क्या होना चाहिये, इस विषयपर तनिक भी विवेचना नहीं करते । हमारे शास्त्रकार तो चिल्ला-चिल्लाकर कह गये हैं—

> आहारनिद्राभयमैथुनं च
> सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
> धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
> धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

इसका अर्थ तो स्पष्ट है, कि अन्य सब बातें पशुओं और मनुष्योंमें सामान्य हैं, केवल धर्म ही एक विशेष वस्तु है जिसके पालनसे मनुष्य यथार्थ मनुष्य बन सकता है; अन्यथा वह पशुके समान है, उसमें और पशुमें कोई अन्तर नहीं है । धर्म ही पशुसे मनुष्यको ऊपर उठाता है और जीवनपर्यन्त साथ देकर मृत्युके बाद भी धर्म ही मनुष्यकी आत्माके साथ जाता है; इसलिये धर्म एक विशेष गहन वस्तु है और इसपर कर्तव्याकर्तव्यके भावसे भी हर एक व्यक्तिको विचार करना अत्यावश्यक है । लेकिन आज हमारे समाजका दुर्भाग्य है कि ऐसी जीवनोपयोगी वस्तुपर कहीं विचार नहीं होता और न शिक्षाप्रणालीमें ऐसा कोई पाठ्यक्रम तैयार किया जाता है, जिसके विवेचनद्वारा मनुष्य पशुसे यथार्थ मनुष्य बने ।

उल्टे, यहाँ तो धर्मनिरपेक्ष राज्य है; धर्मनिरपेक्षका क्या मतलब ? क्या हमारे आधुनिक राज्यकर्णधारोंने यही भाव समझा है कि धर्म-निरपेक्षतामें मानवधर्म भी न बताया जाय ? मानवधर्म सब मजहबी धर्मोंसे ऊपर है और यह किसी मजहब या धर्मसे अकेले सम्बन्ध नहीं रखता । इस विचारसे भी हमारे राष्ट्रकर्णधारोंको हर विद्यालयमें मानवी-धर्मके, जो सब मजहबी धर्मोंसे ऊपर है और किसी एक धर्मविशेषका अङ्ग नहीं है, पठन-पाठनकी व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे व्यक्ति पशुसे मनुष्य बन सके, नहीं तो जैसी देशकी दशा हो रही है, उसके देखनेसे यह स्पष्ट विदित हो रहा है कि हम मनुष्य होते हुए पशु ही नहीं, दानव हैं दानव ।

दानवताके विकराल रूप हैं—भ्रष्टाचार, दुराचार, अत्याचार, अनाचार, व्यभिचार, स्वेच्छाचार । इन सबसे कोई भी स्थान रिक्त नहीं है । जहाँ-जहाँ दृष्टि डालिये, ऊपरसे नीचेतक इन्हीं दानवोंके अंश कम या विशेष मात्रामें फैले हुए पाये जायँगे । आज परमार्थका स्थान दम्भ, सेवाका स्थान स्वार्थ-साधन, कर्तव्यका स्थान चकमेबाजी, भक्ति-ज्ञानका स्थान आडम्बर, दानका स्थान चोरी, बाजारका स्थान काला बाजार, नफाका स्थान लूट, शुद्धताका स्थान मिलावट आदिने इस तरह पैसारूपी पिशाच ले लिया है । सर्वत्र फैल गया है । जबसे शासनसूत्र हमारे हाथमें आया है, ऊपर उठना तो दूर, दिनोंदिन हमलोगोंका नैतिक पतन हो रहा है और इसका एकमात्र कारण है हमारे बीच धर्मके मूल सिद्धान्तोंका—जिसपर मानवता स्थित है—प्रचार न होना ।

हमारी धर्मनिरपेक्षताका यह भाव नहीं कि मानवी धर्मों-को शासन न अपनाये । महाराज अशोकके राज्यमें, जिनका आधिपत्य एक तरहसे जापानतक फैल गया था, जगह-जगह पक्के खम्भे या स्तूप बनाकर उनपर धर्मके सिद्धान्त लिखवाये गये थे, जिससे उनके द्वारा धर्मके मूल तत्त्वोंकी ओर सबका ध्यान आकर्षित हो और उससे जनता सीखे और समझे । किंतु आजकल तो धर्म-निरपेक्षताकी नीतिमें हम ऐसे बन गये हैं और बने जा रहे हैं कि धर्मके मूलतत्त्वोंको भी, जो मानवताकी आधारशिला हैं, जानना और समझना

भूल गये और दिन-प्रति-दिन हम दानवताकी ओर अग्रसर होते जा रहे हैं।

हमारे महर्षियोंने धर्मका अर्थ कोई पूजा-पाठ या कर्म-काण्ड नहीं बतलाया। बल्कि उन लोगोंने तो उसका इतना विशाल और व्यापक अर्थ बतलाया है कि जिससे हमारी उन्नति; हमारा अभ्युदय हो, वही धर्म है। इसमें कहीं संकीर्णता या अन्य किसी तर्ककी गुंजाइश नहीं है और इस धर्मके लक्षण भी वे ही बतलाये हैं, जो मानवताके मूलभूत सिद्धान्त हैं।

धैर्य, क्षमा, अपनी वृत्तियोंका दमन, मनसे किसीकी बुराई न करना, शरीरकी स्वच्छता, अपनी इन्द्रियोंपर शासन, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये धर्म अर्थात् मानवधर्मके दस अङ्ग हैं। इनपर जितना भी विचार किया जाय, एक-एक अङ्गपर एक-एक पुस्तक लिखी जा सकती है; लेकिन यहाँ तो संक्षेपमें यही कहना है कि हमारा धर्म व्यापक और मानवतापर आधारित है; इसका सही प्रचार करना ही वास्तविक धर्म-निरपेक्षता है और इसके न प्रचार करनेसे ही हमारे समाज-की उत्तरोत्तर अवनति हो रही है। हमारे पूर्वजोंने धर्मके एक-एक अङ्गको अपने जीवनमें चरितार्थ करके, केवल वाणी-से ही नहीं, अपने आचरणोंसे उसे बतला और दिखाकर जनकल्याण किया है; लेकिन आज शासनकी उदासीनतासे हम इन उन्नतिशील मानवी धर्म और उसके अङ्गोंको भूल रहे हैं। हमारे देशमें इन तत्त्वोंके प्रचारकोंकी कमी नहीं है, लेकिन इस धर्मनिरपेक्षताकी नीतिने ही शासनद्वारा प्रोत्साहन न मिलनेसे सबको उदासीन बना दिया है। हमारा कर्तव्य है कि हम कम-से-कम इन मानवी गुणोंको अपनायें और उनपर चलकर अपना जीवन सफल बनायें।

धर्ममें शासनका हस्तक्षेप अवाञ्छनीय

(लेखक—पं० श्रीराजारामजी शास्त्री)

शास्त्रोंमें चार पुरुषार्थ बताये गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। देशकालानुसार कहीं धर्मकी प्रधानता रहती है, तो कहीं अर्थ-कामकी। पुराणोक्त भारतवर्षकी सीमाके अनुसार (क्योंकि आजकल भारतकी सीमा घटते-घटते बहुत थोड़ी रह गयी है) सम्पूर्ण भारत कर्मभूमि है, जब कि अन्य देश भोगभूमि। यह प्रधानता भारतको इसलिये मिली है कि चार पुरुषार्थोंमें सर्वप्रथम धर्मको स्थान दिया गया है, अन्य देशोंमें अर्थ-कामको प्रधानता दी गयी है। इसीलिये भारतको धर्मप्रधान देश कहा गया है। धर्म भारतकी आत्मा है।

यों तो धर्मका सम्बन्ध अर्थ, काम और मोक्ष—तीनोंसे है; पर धर्मका विशेष फल मोक्ष है। **'धर्मस्य ह्यापवर्गस्य'**। इसीलिये धर्मविरहित अर्थ कामतक ही सीमित रह जाता है, मोक्ष नहीं दिला सकता। जिन देशोंमें अर्थकी प्रधानता है, वहाँ काम अधिक है, धर्म और मोक्ष गौण हैं। यदि प्राणी मानव-जन्म लेकर भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सका तो उसने जीवन व्यर्थ ही गँवाया। वह **'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्'** के चक्करमें पड़ा रहेगा। भारतकी यही विशेषता है कि यहाँ धर्मको प्रधानता दी गयी है। अतः धर्माविरुद्ध काम और अर्थका सेवन करता हुआ भी मानव यहाँ मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

भारतवासियोंको मोक्ष प्राप्त करते देख अन्य मानवोंकी तो बात ही क्या, देवतातक ईर्ष्या करने लगे—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।

पश्चात् देवता स्वयं निर्णयके स्वरमें कहते हैं कि जिस स्थानपर विजय प्राप्त करनेके बाद कल्पकी आयु भी मिल जाय, परंतु पुनर्जन्म हो तो वह स्थान किस कामका? अतः भारतमें एक क्षणकी आयु ही श्रेष्ठ है, जो मोक्ष प्राप्त करवा सकती है।

**कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः॥**

भारतकी समतामें अन्य देश और लोकोंकी निन्दा तो दूर रही, स्वयं अपने देवलोककी निन्दा करते हुए देवता कहते हैं—

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः
सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥

देवता अपने भाग्यको कोसते हुए भारतभूमिकी प्रशंसा तो करते ही हैं, साथ ही भारतमें ज्ञान-क्रिया-द्रव्योंसे युक्त मानव-जातिमें जन्म लेनेके बाद भी जो पुनर्जन्मसे छुटकारा नहीं पाते, उनको धिक्कारते हुए कहते हैं—

प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो
ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसम्भृताम्।
न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते
भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम्॥

अतः भारतकी धर्मप्रधानताको देवताओंतकने स्वीकार किया है। राजा या राज्यव्यवस्थाकी आवश्यकता ही इसलिये है कि वह प्रजाके धर्मपालनमें किसी प्रकारकी अड़चन न आने दे। यदि राजा या राज्यव्यवस्थाके रहते प्रजा अपने धर्मका पालन नहीं कर सकती तो राजा या राज्य-व्यवस्थाकी क्या आवश्यकता है? राज्यव्यवस्थाके रहते यदि प्रजामें अनाचार, अत्याचार, धर्महीनताका नग्नताण्डव हो तो राज्यव्यवस्थाका व्यर्थका दिखावा क्यों? आज तो राज्यके द्वारा सनातन धर्ममें हस्तक्षेप प्रतिदिन हो रहा है। क्या इसको राज्यव्यवस्थाके नामपर स्वेच्छाचारिता नहीं कहा जा सकता?

आजसे अठारह वर्ष पूर्व हम परतन्त्र थे। देशवासियोंने स्वतन्त्रताके लिये तन, मन, धन और परिवारोंको उत्सर्ग किया। स्वतन्त्रता हमें प्राणोंसे भी अधिक प्यारी क्यों है? इसलिये कि जो विजातीय हमें परतन्त्र करते हैं, वे हमारी संस्कृति-धर्मको समाप्त कर अपनी संस्कृति, धर्म और भाषा हमपर थोपते हैं। इसीलिये मुस्लिम शासकोंका सामना छत्रपति शिवाजी, महाराणा प्रताप आदिने किया था तो अंग्रेज शासकोंका हिंदुत्वनिष्ठ कांग्रेस आदि संस्थाओंने किया था। अस्तु,

हम स्वतन्त्र हुए, इसलिये कि हम अब अपने धर्मका पालन स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकेंगे। कांग्रेसके हाथमें राज्यकी बागडोर गत अठारह वर्षोंसे है। पर स्वतन्त्र होते ही वह अपनेको धर्मनिरपेक्ष कहने लगी, जिसका अर्थ वे ही करते हैं कि हम (राज्य) किसीके धर्ममें हस्तक्षेप नहीं करेंगे। सभी जातिके लोग अपने-अपने धर्मका पालन अपनी-अपनी आस्थासे करें। पर परिणाममें कथनी-करनी-में बड़ा अन्तर दिखायी दे रहा है।

कांग्रेस-शासनने किसी भी अन्य जातिके धर्ममें हस्तक्षेप नहीं किया है, पर हिंदूधर्ममें पूर्णरूपसे हस्तक्षेप किया है। इसीलिये स्वामी श्रीकरपात्रीजी-जैसे महापुरुषोंको वर्तमान शासनका डटकर सामना करना पड़ रहा है। हिंदूधर्मके लिये तो कांग्रेसी शासन विदेशी शासनसे भी भयानक सिद्ध हुआ है। धर्मनिरपेक्षताकी आड़में हिंदूधर्मका नाश ही शासकोंका मानो मुख्य लक्ष्य-सा अवतकका रहा है।

हिंदूधर्म अर्थात् सनातन धर्म। सनातन धर्मकी जड़ है वर्णाश्रम-व्यवस्था। शास्त्र वर्णाश्रमके विषयमें कहते हैं—

अतः पुंभिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥

मनुष्योंको वर्णाश्रम-धर्मानुकूल अपने-अपने धर्मका पालन करनेसे सिद्धि मिलती है और भगवान् प्रसन्न होते हैं। परंतु वर्तमान सरकार वर्णव्यवस्थाके हाथ धोकर पीछे पड़ी है। गौ, ब्राह्मण, मन्दिर-व्यवस्था, विवाह-व्यवस्था आदिका नाश करनेमें अपनी सम्पूर्ण शक्तिका उपयोग कर रही है। शास्त्रों-स्मृतियोंका तिरस्कार, तीर्थस्थलों-में वधशालाओंका निर्माण, समय-समयपर विशिष्ट नेताओंके अंट-संट धर्मविरुद्ध वक्तव्य—कई ऐसे कार्य हैं कि आज अपने ही कहे जानेवाले शासनसे धर्म खतरेमें आ गया है। यह कार्य सर्वथा अवाञ्छनीय है।

भगवान् श्रीरामके लिये नारदने वाल्मीकिसे कहा है कि वे—

रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता।

अर्थात् वे जीवमात्रके और धर्मके चारों ओरसे रक्षक थे, जब कि आजकी सरकार अहिंसाकी दुहाई देकर भी जीवमात्रके हिंसाप्रचारक एवं धर्मनाशक कार्य कर रही है।

भगवान् वेदव्यासजी जिस चिन्तासे चिन्तित थे, वही चिन्ता आज हम सनातनियोंको हो रही है। वे कहते हैं—'मैं दोनों हाथ उठाकर कह रहा हूँ, फिर भी मेरी कोई सुन ही नहीं रहा है। धर्मसे अर्थ-कामकी प्राप्ति होती है, फिर भी उसका सेवन क्यों नहीं करते?'

गत अठारह वर्षोंसे इस धर्मनिरपेक्षताका दुष्परिणाम हम भोग रहे हैं; फिर भी सरकार इस ओर ध्यान देना तो दूर रहा, और भी अधिक आँखें बंद कर रही है। क्या सरकार वेदव्यास और उनके अनुयायियोंकी सुनेगी? सरकारको यह समझना चाहिये कि धर्मकी रक्षासे हमारी, हमारे देशकी या यों कह लें कि विश्वकी रक्षा होगी। धर्मके नाशसे विश्वका नाश होगा। भगवान् हमारे नेताओंको सद्बुद्धि दें कि वे विश्वकल्याणके लिये धर्ममें हस्तक्षेप न करें।

धर्म और समाजवाद

(लेखक—वैद्य श्रीगुरुदत्तजी एम्० एस-सी०, आयुर्वेद-वाचस्पति)

आज संसारमें समाजवादकी धूम है । भू-मण्डलका कोई भी देश ऐसा नहीं, जहाँ समाजवादके प्रशंसक और उसके अनुसार समाजको चलने देनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य न हों । सभी देशों, सभी जातियोंमें ऐसे लोग पाये जाते हैं—जिनके विचारमें समाजवादके बिना मानव-समाजका कल्याण सम्भव नहीं ।

ऐसा ही विचार भारतवर्षमें 'धर्म'के विषयमें था । भारतके प्राचीन इतिहास और शास्त्रोंमें झाँका जाय तो धर्म-शब्दकी महिमा भी इतनी मिलेगी, जो आजकलके समाजवादसे भी कहीं बहुत अधिक थी, कम नहीं कही जा सकती । उदाहरणके रूपमें—

धर्ममेवानुवर्तस्व न धर्माद् विद्यते परम् ।
धर्मे स्थिता हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम् ॥

(म० भा०, शां०, ९२ । ६)

अर्थात् हे राजन् ! तुम धर्मका पालन करो । धर्मसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं । धर्ममें स्थित रहकर तो पूर्ण पृथ्वी जीती जा सकती है ।

इसी ग्रन्थमें और भी लिखा है—

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
धर्मेण देवा ववृधुर्धर्मे चार्थः समाहितः ॥
धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते ।
कामो यवीयानिति यं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥
तस्माद् धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना ।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथाऽऽत्मनि ॥

(महा० शा० १६७ । ७–९)

'धर्मके आश्रयसे ही ऋषियोंने संसार पार किया था । धर्मपर ही सम्पूर्ण लोक टिके हुए थे । धर्मसे ही देवताओंकी उन्नति हुई थी और धर्ममें ही अर्थकी स्वीकृति है ।

'राजन् ! धर्म ही श्रेष्ठ गुण है । अर्थको मध्यम जानो और काम सबकी अपेक्षा लघु है । अतः मनको वशमें करके धर्मको प्रधान आश्रय बनाना चाहिये और सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये, जैसा हम अपने लिये चाहते हैं ।'

इस तुलनासे कुछ लोग यह कहने लगे हैं कि आजका समाजवाद ही प्राचीन भारतका धर्म है अर्थात् वे यह कहते हैं कि समाजवाद ही धर्म है । उनके इस कहनेमें कारण यह भी है कि धर्मकी भाँति समाजवाद भी पूर्ण मानव-समाजके कल्याणके लिये पर्याप्त समझा जाता है ।

हमारे इस लेखका प्रयोजन यह है कि हम इन लोगोंके इस दावेका निरीक्षण करें और देखें कि धर्म जैसा प्राचीन भारतीय वाङ्मयमें अथवा शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है, वह ही समाजवाद है अथवा नहीं । हम यह भी देखनेका प्रयत्न करेंगे कि क्या धर्म और समाजवाद दो समानान्तर रेखाओंमें चलनेवाले व्यवहार हैं, जो मानव-समाजके कल्याणके लिये हैं, अथवा ये दोनों परस्पर विरोधी भावनाएँ और व्यवहार हैं । ऐसा करनेके लिये हम सबसे पहले धर्म और समाजवादके अर्थोंकी विवेचना करेंगे । इसके साथ ही इन दोनों शब्दोंके अन्तर्गत व्यवहारका विश्लेषण करेंगे और अन्तमें यह भी देखेंगे कि दोनों विचारोंका प्रभाव मानव-समाजपर किस प्रकारका हुआ है ।

विवेचना करनेपर यह बात स्पष्ट हो जायगी कि धर्म और समाजवादका किस प्रकारका सम्बन्ध है । सबसे पहले हम 'धर्म' शब्दके विषयमें ही लिखना चाहते हैं । कठिनाई यह आ गयी है कि धर्म-शब्दकी भारतमें अपार महिमा देखकर कुछ लोगोंने इस शब्दका दुरुपयोग भी किया है । जब जिसको कोई बात प्रिय प्रतीत हुई, तब उसने उसका पालन करानेके लिये उसको धर्मका नाम दे दिया ।

यह ठीक है कि उस कार्यको धर्मका नाम देनेवालेके मनमें किसी प्रकारका स्वार्थ अथवा किसीके अहित-चिन्तनका विचार नहीं होगा । परंतु ऐसी साधारण-सी बातोंको भी धर्मका नाम देना, जैसे दिवालीके दिन जूआ खेलना अथवा किसी विशेष दिन किसी भी अपरिचित अथवा परिचितको गालियाँ देना, उपयुक्त नहीं कहा जा सकता ।

कभी कुछ ऐसा भी हुआ है कि किसी एक कालमें लाभकारी बातोंको धर्म कहा गया, परंतु काल व्यतीत होने अथवा मानव-ज्ञानमें उन्नति हो जानेसे वह कार्य निरर्थक प्रतीत होने लगा । प्रथा चल जानेसे उसको धर्म ही मानना

धर्म-शब्दकी महिमाको कम करनेवाला व्यवहार सिद्ध हुआ है।

ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जब किसीने किसी प्रथाको धर्मका नाम दे दिया। वह प्रथा उस समय इस अवस्थामें सुविधाजनक और लाभकारी रही होगी; परंतु कालके व्यतीत हो जानेसे उससे अधिक सुविधाजनक उपाय मिल जानेपर भी उस प्रथाको अभी भी धर्म मानना धर्मकी महिमाको कम करनेवाला ही है।

धर्म

हमारा तो यह कहना है कि ये कार्य, प्रथाएँ अथवा रस्मो-रिवाज धर्मकी परिधिमें नहीं आते। शास्त्रमें धर्मकी जो व्याख्या की गयी है, उससे इन कामोंका अथवा प्रथाओंका सम्बन्ध नहीं है। कुछ लोगोंने इनको धर्मका नाम इसलिये दिया कि वे समझते थे कि इनके करनेसे उस समय मनुष्यको सुख-सुविधा और लाभ होगा। एक अन्य प्रकारका भ्रम भी धर्मके विषयमें उपस्थित हो गया है।

भारतमें और भारतसे बाहर भी कुछ सम्प्रदाय चले। उन सम्प्रदायोंके प्रवर्तकोंने अपनी विचार-धाराको चलने देनेके लिये और उसकी महिमाको बढ़ानेके लिये सम्प्रदायको धर्मका नाम दे दिया।

प्रत्येक सम्प्रदायमें एक विचार-धारा होती है। उस विचार-धारासे जीवनके लिये कुछ प्रेरणा मिलती रहती है। वह प्रेरणा करणीय कर्म मानी जाती है; परंतु धर्मका नाम तो उस सम्प्रदायकी विचारधाराको दिया जाता है।

उदाहरणके रूपमें एक विचार-धारा यह है कि परमात्माकी भक्ति करनेसे मनुष्य मोक्ष अथवा स्वर्गको प्राप्त करता है। यह विचारधारा भक्तिमार्गके नामसे जानी जाती है। कुछ लोग भक्तिमार्गको कल्याणका मार्ग इतना नहीं मानते, जितना ज्ञानमार्गको मानते हैं। ज्ञानमार्गमें भी अन्तिम ध्येय मोक्ष-प्राप्ति ही है।

इन दोनों मार्गोंमें कर्मका विधान भी है। परंतु विशेषता विचारधारामें है। परम उद्देश्यकी प्राप्ति ज्ञानसे होगी अथवा भक्तिसे होगी, इसपर मतभेद रहता है। इसी कारण इनको मार्ग कहा है। अर्थात् ये सम्प्रदायके सूचक हैं। धर्म तो करने योग्य कर्म ही होगा। इसलिये सम्प्रदायमें जो विचार है, उनको धर्मका अङ्ग नहीं माना जा सकता। हाँ, उसमें जो कर्म है, यदि वह धर्मकी सीमाके अंदर रहकर किया जायगा, तब धर्म माना जा सकता है। इस सीमाका हम आगे चलकर वर्णन करेंगे।

विचार-धाराएँ बुद्धिकी देन हैं। बुद्धियाँ मनुष्योंमें भिन्न-भिन्न होती हैं। यही कारण है कि सम्प्रदायोंकी विचार-धाराएँ प्रायः भिन्न-भिन्न होती हैं और वे कभी-कभी परस्परविरोधी भी होती हैं। परंतु धर्म जो धर्मकी परिधिमें आयेगा, वह एक दूसरेका विरोधी नहीं हो सकता। धर्म धर्मका विरोध नहीं कर सकता। इसलिये धर्म और सम्प्रदायमें अन्तर है। सम्प्रदायमें विचार प्रधान है। धर्ममें कर्म प्रधान है। धर्म-कर्ममें और कर्म-धर्ममें विरोध नहीं है। विचारोंमें विरोध हो सकता है। इसलिये किसी सम्प्रदायका नाम धर्म नहीं रक्खा जा सकता, न रक्खा जाना ही चाहिये।

हमारा अभिप्राय यह नहीं कि विचार करना और विचार किया हुआ मार्ग बताना अर्थात् किसी पंथ, मत, रिलिजन, मजहबका दर्शन ठीक बात नहीं है। ऐसा हम नहीं कहते। इस विषयमें हम इस लेखमें कुछ लिखना भी नहीं चाहते। यहाँ तो हमारा लिखनेका प्रयोजन केवलमात्र इतना कहनेसे है कि धर्म रिलिजनसे अर्थात् मजहब, पंथ, मतवादसे एक पृथक् बात है।

उदाहरणके रूपमें बौद्धमत उपयुक्त शब्द है। इसमें एक विचारधारा है, जिससे मानव-कल्याणका दावा किया जाता है। इस विचार-धाराके अनुरूप कुछ करणीय कर्म भी हैं। ये कर्म सम्भवतः अन्य विचारधाराओं अर्थात् सम्प्रदायोंमें भी करणीय माने गये हैं। इसपर भी विचार-धाराओंमें भेद होनेसे ये सम्प्रदाय ही हैं। इसी प्रकार सब मत-मतान्तरोंके विषयमें कहा जा सकता है।

धर्म-शब्द क्या है? इसके क्या अर्थ हैं? धर्मकी रूप-रेखा क्या है? क्या हम इसकी रूपरेखाको कुछ निश्चिन्तता, कुछ स्थिरता दे सकते हैं? ये प्रश्न हैं। जब हम इस बातको समझ जायँगे कि धर्म अर्थात् आचरणकी एक ऐसी रूपरेखा बनायी जा सकती है, जो स्थिर है, निश्चित है और जिसके विषयमें भ्रम होनेकी सम्भावना नहीं, तभी हम धर्म और समाजवाद पर्यायवाचक हैं, समानरूपसे मानव-कल्याणके करनेवाले हैं अथवा परस्परविरोधी हैं, इसका निर्णय कर सकेंगे।

धर्मके विषयमें हमारे विचारमें तो एक सीमातक स्पष्टता विद्यमान है। मनुस्मृतिमें लिखा गया है—

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥
(मनु० २। ९-१०)

अर्थात् जो पुरुष श्रुति और स्मृतिमें लिखे हुए धर्मपर चलते हैं, वे संसारमें यश प्राप्त करते हैं और अन्तमें अर्थात् मृत्युके उपरान्त आनन्दका भोग करते हैं, जो भोग सर्वोत्तम है।

श्रुतिका अर्थ वेदोंसे है और स्मृतिका अर्थ धर्मशास्त्रोंसे है। इनमें निर्विवाद रूपसे धर्मकी व्याख्या की गयी है।

अर्थात् धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसको जो भी व्यक्ति चाहे और जिस प्रकार भी चाहे, लिख दे और वर्णन कर दे। भारतके प्राचीन वाङ्मयमें इस बातका स्पष्ट उल्लेख है कि धर्म वह है, जो श्रुतिमें वर्णन किया गया है और जिसका उल्लेख स्मृतिशास्त्रमें उपस्थित है।

जो कुछ इनमें वर्णन नहीं किया गया, उसको हिंदूधर्म-शास्त्रके अनुसार धर्म नहीं माना जाता—यह कथन भी अभी इतना निश्चित नहीं, जितना हम धर्मके विषयमें मानते हैं। यह ठीक है कि श्रुति और स्मृतिमें वर्णित धर्म है और जो धर्म इनमें वर्णन नहीं किया गया, वह धर्मका नाम नहीं रख सकता; परंतु इससे धर्म-कार्यकी रूपरेखा अभी भी स्थिर नहीं हुई।

मनुस्मृतिमें इसी बातको और स्पष्ट करनेके लिये लिखा है—

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
(मनु० ६। ९१-९२)

लिखा है—द्विजोंमें, चारों आश्रमोंमें जो आचरण व्यवहारमें लाने योग्य है, उसमें धर्मकी रूपरेखा इस प्रकार है। धर्मके दस लक्षण हैं—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और क्रोध न करना।

ये बातें द्विजोंको अपने चारों आश्रमोंमें अर्थात् जन्मसे मरणपर्यन्त पालन करनी चाहिये।

यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिये। ये धर्मके लक्षण अर्थात् धृति, क्षमा, दम इत्यादि केवल द्विजोंके लिये ही क्यों लिखे गये हैं? ये यहाँ शूद्र वर्णके लोगोंके लिये क्यों नहीं लिखे गये? इस विषयमें हमारा यह मत है कि ये द्विजोंके आचरण करने योग्य माननेसे स्वयमेव शूद्रोंके आचरण करने योग्य बन जाते हैं। शूद्र तो कहते ही उसको हैं, जो अपने स्वामीके आदेशानुसार कार्य करनेवाला हो। उसके पाप-पुण्यका उत्तरदायित्व उसके स्वामीपर ही होता है, ऐसा महाभारतमें भी लिखा है—

यतो हि सर्ववर्णानां यज्ञस्तस्यैव भारत।
अग्रे सर्वेषु यज्ञेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते ॥
(महा० शा० ६०। ४०)

'हे भरतनन्दन! ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंका जो यज्ञ है, वह सेवा करनेके कारण शूद्रका भी है ही, उसे भी उसका फल मिलता ही है; अतः उसे पृथक् यज्ञ करनेकी आवश्यकता नहीं। सम्पूर्ण यज्ञोंमें पहले श्रद्धारूप यज्ञका ही विधान है।'

जब स्वामीके धर्मके लक्षण बता दिये गये और उसके सम्बन्धमें यह कह दिया गया कि इन कार्योंको करता हुआ ही वह धर्म करता हुआ माना जायगा, तब उसके अधीन कार्य करनेवाले उसके सेवक भी उसके धर्मका फल पायँगे। हमारा अभिप्राय यह है कि मनुस्मृतिके उक्त श्लोकोंमें जब यह लिखा गया है कि द्विज अपने चारों आश्रमोंमें दस लक्षणवाले धर्मका पालन करे तो इसका अभिप्राय यह है कि पूर्ण मनुष्यसमाज उक्त धर्मका पालन करे।

इन बातोंके अतिरिक्त भी, जिनका उल्लेख मनुस्मृतिके उक्त श्लोकमें किया गया है, कुछ कार्य ऐसे हो सकते हैं, जो देश, काल, आयु एवं परिस्थितिके अनुसार करनेयोग्य माने जा सकते हैं। परंतु जब शास्त्रका यह आदेश है कि उक्त दस लक्षणवाले धर्मका पालन करना आवश्यक है, अनिवार्य रूपमें उनका पालन होना चाहिये, तब यह मानना पड़ेगा कि अन्य प्रकारके करणीय कर्म जो देश, आयु, अवस्था, परिस्थितिके अनुकूल निश्चित किये जायँ, वे उक्त दस लक्षणवाले धर्मके विपरीत नहीं हो सकते। धृति, क्षमा, दम इत्यादि धर्मके लक्षण बताये गये हैं। इनकी अनुकूलता रखते हुए ही, संसारमें मनुष्य अपने कार्यको चलनेकी दृष्टिसे अनेक प्रकारके नियम-उपनियम बना सकता है। उन

नियमों-उपनियमोंके बनानेमें उसको इस बातका ध्यान रखना होगा कि धर्मके उक्त दस लक्षणोंका विरोध कभी न हो।

उदाहरणके रूपमें भारतमें संसद् है। संसद्‌को पूर्ण अधिकार प्राप्त है कि वह भारतमें रहनेवाले मानवोंके जीवनको चलानेके लिये कानून बनाये। स्थिति तथा आवश्यकताके अनुसार मनुष्यके पालन करनेके लिये जो उचित हो; उसके अनुसार वह नियम-उपनियम कानून बना सकती है; परंतु वे नियम उन दस लक्षणवाले धर्मका विरोध करनेवाले न हों। मान लें संसद् निर्णय लेती है कि देशकी आर्थिक स्थितिके विषयमें एक घोषणा कर दी जाय। उस घोषणासे आर्थिक स्थितिका मिथ्या रूप प्रकट होता है। संसद् एक सर्वोच्च अधिकार-सम्पन्न संस्था है, परंतु धर्म इससे भी ऊपर है और धर्मके दस लक्षणोंमें 'सत्य' एक लक्षण है। अतएव यदि संसद् कुछ ऐसी बातका निर्णय करती है, जो वस्तु-स्थितिका सत्य दर्शन करानेके स्थानपर मिथ्या दर्शन कराती है, तो संसद् अधर्मयुक्त व्यवहार करती है, भले ही वह असत्य भाषण सामयिक रूपमें कल्याणकारी दिखायी देता हो। इसी प्रकार अन्य धर्मोंके विषयमें देख लेना चाहिये।

एक मालिक है। वह अपने कर्मचारियोंको कम बोनस देनेके विचारसे अपने लाभ-हानिका चिट्ठा मिथ्या बनाता है। यह सम्भव है कि कर्मचारियोंका वेतन पहिले ही अधिक हो और उनको बोनस देनेकी कुछ आवश्यकता न हो। तब भी यह लाभ-हानिका चिट्ठा जब मिथ्या है तो वह कार्य अधर्मयुक्त माना जाना चाहिये। यह भी सम्भव हो सकता है कि इस मिथ्या-चिट्ठेसे देशका कल्याण होनेवाला हो; परंतु अनिवार्य रूपसे पालन करने योग्य धर्मके दस लक्षणोंमेंसे एकके विपरीत होनेसे यह चिट्ठा अधर्मयुक्त ही मानना होगा। धर्मके लक्षण जो मनुस्मृतिमें दिये गये हैं, जिनका उल्लेख छठे अध्यायके उक्त श्लोकमें है, धर्मकी रूप-रेखाको बाँधते हैं। वे एक रेखा ऐसी बाँधते हैं, जिसके बाहरका आचरण धर्म नहीं रहता। वह अधर्म हो जाता है। यदि ऐसा होता कि किसी समयमें, किसी अवस्थामें, किसी आयुमें अथवा किसी परिस्थितिमें अथवा किसी स्थानपर कोई ऐसी बात भी धर्म हो सकती, जो इन दस लक्षणोंको न रखती हुई अथवा इनका विरोध करती हुई कही जा सकती है, तो मनुस्मृतिमें इतना स्पष्ट न लिखा जाता कि प्रत्येक आश्रममें ये करणीय धर्मके लक्षण हैं। हमारा मत स्पष्ट है कि ये दस लक्षण धर्मकी सीमा बाँधते हैं।

इन दस लक्षणोंवाले धर्मके पालनसे न केवल इस संसारमें कल्याणकी आशा की गयी है, वरं मोक्ष-प्राप्ति करानेमें भी इनको सबल साधन माना गया है।

यदि यह बात है तो फिर धर्मके अर्थ इस प्रकारके अस्पष्ट और भिन्न नहीं हैं, जो जनसाधारणमें पाये जाते हैं और न मज़हब, मत, पंथ, रिलिजन इत्यादि ही धर्मके पर्यायवाचक हो सकते हैं।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या प्रचलित रीति-रिवाज जो करणीय हैं और जिनको समाजने करनेके योग्य माना है, वे भी धर्म कहे जा सकते हैं या नहीं। इसका उत्तर यही है कि यदि वे रीतिरिवाज धर्मके उपर्युक्त दस लक्षणोंके अनुकूल हैं तो धर्म हैं, नहीं तो अधर्म हैं। समाजके संचालनके लिये नियमोपनियमोंका निर्माण या परिवर्तन इसी मापदण्डपर होना चाहिये कि वह धर्मके दस लक्षणोंमेंसे किसीका विरोधी न हो, वरं उनके अनुकूल हो।

हमारा कहना तो यह है कि प्रत्येक कालमें, प्रत्येक देशमें, प्रत्येक परिस्थितिमें और प्रत्येक व्यक्तिके साथ बदलती परिस्थितिमें व्यवहारमें परिवर्तन हो सकते हैं। परंतु उन परिवर्तनोंमें देखनेकी बात यह होगी कि उन परिवर्तनोंसे दस लक्षणवाले धर्मका विरोध होगा अथवा उस धर्मका पालन होगा। यह है मापदण्ड, जिससे हम प्रत्येक कार्यके धर्मयुक्त अथवा अधर्मयुक्त होनेका निर्णय कर सकते हैं।

व्यापक धर्मके दस लक्षणोंके दो विभाग किये जा सकते हैं। एक है धृति, दम, शौच, धी और विद्या। ये व्यक्तिगत धर्म हैं अर्थात् इनका सीधा सम्बन्ध कर्ताके अपने साथ होता है। किसी भी दूसरे व्यक्तिपर इनके करने अथवा न करनेका प्रभाव नहीं होता।

दूसरे विभागमें हैं क्षमा, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह, सत्य और अक्रोध। ये सामाजिक धर्म कहाते हैं। इनका सम्बन्ध कर्ताके अपने साथ तो होता ही है, साथ ही दूसरोंके साथ भी होता है। ये धर्म तो व्यवहारमें लाये ही नहीं जा सकते, जबतक दूसरा व्यक्ति उपस्थित न हो। उदाहरणके रूपसे क्षमा तो तब ही कार्यरूपमें आयेगी, जब कोई क्षमाका पात्र होगा। इसी प्रकार अस्तेय (चोरी न करना) तभी कार्यरूपमें आ सकेगा, जब किसी दूसरेका धन-सम्पद् चुरानेके लिये दिखायी देगा। इसी प्रकार इस श्रेणीके अन्य धर्मोंके विषयमें समझ लेना चाहिये।

व्यक्तिगत धर्म अर्थात् धृति, दम इत्यादि व्यक्तिके द्वारा स्वेच्छा और स्वतन्त्रतासे पालन करने योग्य है। इनके विषयमें कोई संसद, विधानसभा अथवा पंचायत किसी प्रकारके नियम, उपनियम अथवा कानून नहीं बना सकती। दूसरी श्रेणीके धर्म सामाजिक हैं अर्थात् दूसरोंके साथ सम्बन्ध रखनेवाले हैं। इनके विषयमें संसद् इत्यादि नियम, कानून इत्यादि बना सकती हैं। ये कानून इन धर्मोंके उल्लङ्घन करनेवाले नहीं हो सकते। हाँ, इनके पालन न करनेवालोंको दण्ड इत्यादि व्यवस्थासे पालन करनेपर विवश करनेके लिये ही होंगे। व्यक्तिगत धर्मोंमें उल्लेखनीय धर्म हैं—धी और विद्या। धीका अर्थ है बुद्धिको विकास देना। मनुष्य एक बुद्धिशील प्राणी है।

इस विषयमें यह जानना रुचिकर होगा कि कुछ लोग मनुष्यको सामाजिक जीव मानते हैं। अँगरेजीमें कहावत है—'Man is a social animal.'—'मनुष्य एक सामाजिक जीव है।' हम ऐसा नहीं मानते। मनुष्य सामाजिक जीव नहीं है। सामाजिकता तो कुछ इतर जीवोंमें मनुष्यसे अधिक पायी जाती है। एक छत्तेकी मधुमक्खियाँ इस बातका विशिष्ट उदाहरण हैं। मनुष्य तो युद्ध भी करता है और मित्रता भी। यह विरोध भी करता है और सहानुभूति भी रखता है। यह दूसरोंसे सहयोग भी करता है और असहयोग भी। वास्तवमें मनुष्यकी मित्रता-शत्रुता, युद्ध-संधि, सहानुभूति-विद्वेष इत्यादि बुद्धिके अधीन हैं। इस कारण मनुष्य एक बुद्धिशील प्राणी ही कहा जा सकता है। मनुष्यके उक्त परस्परविरोधी व्यवहार उसकी बुद्धिकी विभिन्नताके कारण ही होते हैं। इतर जीव-जन्तुओंमें बुद्धि निम्न कोटिकी होती है। वह स्थिर और अविकसित होती है। इसी कारण बुद्धिको विकास देना मानव-धर्मोंमें एक विशेष धर्म है। इसी प्रकार विद्याकी बात है। विद्या बुद्धिसे भिन्न है। बुद्धि एक यन्त्र है, जो मनुष्यका पथ-प्रदर्शन करती है। और ज्ञान (विद्या) तो जाननेकी बात है। इससे मनुष्य अपना और समाजका कल्याण कर सकता है।

धर्मके विषयमें एक और बात उल्लेखनीय है। वह यह कि धर्म स्वतः पालन करने योग्य है। समाज सामाजिक धर्मोंके न पालन करनेवालोंके लिये दण्डका विधान करता है और दण्डके भयसे कुछ लोग अधर्माचरणसे बचते हैं; परंतु ऐसे बचनेवालोंको सामाजिक दण्डसे तो मुक्ति मिल जाती है किंतु धर्मसे होनेवाले कल्याणके वे भागी नहीं हो सकते।

सामाजिक दण्डद्वारा किसीके अधर्माचरणसे समाजके अन्य घटक तो बच जाते हैं, परंतु अधर्माचरणकी इच्छा करनेवाला व्यक्ति सामाजिक दण्डके भयसे धर्मके पालनका लाभ नहीं उठा सकता। उसको केवलमात्र लाभ यही होता है कि वह सामाजिक दण्डसे बच जाता है।

समाजवाद

'समाजवाद' शब्द भारतीय वाङ्मय अथवा शास्त्रमें नहीं मिलता। यह शब्द यूरोपमें निर्माण किया गया है। इस कारण इसके अर्थ भारतीय शास्त्रमें नहीं मिलेंगे। इसकी परिभाषा समझनेके लिये हमको यूरोपके इतिहास और दर्शनशास्त्रका अध्ययन करना होगा।

सोलहवीं शताब्दीतक पूर्ण यूरोपमें ईसाई मज़हबका व्यापक प्रचार हो चुका था। ईसाई-मतमें परमात्माका स्वरूप कुछ ऐसा वर्णन किया गया है, जिसको तत्कालीन वहाँके दार्शनिक नहीं मान सके। उनको ईसाई-मतसे प्रतिपादित परमात्मा, आत्मा और भूमण्डल युक्तियुक्त प्रतीत नहीं हुए। अतः उस कालके दार्शनिकोंने ईसाई-मतके विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया। इस विद्रोहको 'पुनरुत्थान'के नामसे जाना जाता है। इस 'पुनरुत्थान'में परमात्माके अस्तित्वपर संदेह किया गया और ईसाई-मतावलम्बी उनके विद्रोहका उत्तर नहीं दे सके। अतः यूरोपमें ईसाई-मतके विरुद्ध दार्शनिकोंने जडवादका प्रचार आरम्भ कर दिया।

इस जडवादका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव यह हुआ कि राजा-महाराजा, जमीदार-रईस सर्वथा उच्छृङ्खल हो गये और वे अपनी प्रजा तथा अपने किसानोंपर अन्याययुक्त शासन करने लगे।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि दार्शनिकोंका मानसिक विद्रोह राजा-महाराजाओंके विरुद्ध व्यावहारिक रूपमें प्रकट हुआ। इसका प्रदर्शन 'फ्रान्सकी क्रान्ति'के नामसे विख्यात है।

यह विद्रोह अभी चल ही रहा था कि विज्ञान और तकनीकी उन्नतिके कारण यूरोपमें एक नयी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। कल-कारखाने बने और उनके मालिक उद्योगपति बन गये।

दार्शनिकोंके जडवादका प्रभाव इन उद्योगपतियोंपर भी हुआ और वे भी अपने अधीन कर्मचारियोंके साथ न्याय नहीं कर सके। कल-कारखानोंके कारण कर्मचारियोंके परिश्रमकी उपज सैकड़ों गुना बढ़ गयी और उद्योगपति इस बढ़े हुए उत्पादनका लाभ स्वयं ही लेने लगे। कर्मचारियोंको उसका उचित भाग नहीं दिया।

अतः ईसाई-मतमें प्रतिपादित परमात्मा-आत्मा इत्यादिके विरुद्ध विद्रोह राजा-महाराजाओंके विपरीत, जमीदारोंके विपरीत और अब उद्योगपतियोंके विपरीत भी चलने लगा।

कुछ दार्शनिक और उनके प्रभावमें स्थित कार्यकर्ता यह यत्न करने लगे कि समाजकी इस विषमताको दूर किया जाय। इस प्रकारका प्रयत्न करनेवालोंमें तीन नाम विख्यात है—१–सेन्ट-साइमन, २–फरारा और ३–रॉबर्ट ओवन। ये लोग और कुछ इन्हींके विचारवाले यह यत्न करते रहे कि उद्योगपतियों और कर्मचारियोंमें तालमेल बैठाया जाय। ऐसा करनेके लिये वे अनेक प्रकारकी युक्तियाँ और कार्य बताते रहे। इन युक्तियों और कार्योंको उन्होंने समाजवादका नाम दिया। इनके समाजवादमें कर्मचारियोंकी अति निर्धनताकी अवस्थाको दूर करनेकी प्रेरणा ही थी। इसके साथ उद्योगपतियोंके पास अतुल धन-सम्पत्ति एकत्रित होती देख निर्धनोंकी अकिंचनता और भी अधिक अखरती थी।

समाजकी इस दुर्व्यवस्थामें मूलकारण अनीश्वरवाद अर्थात् जडवाद (Materialism) ही था। प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ भी शक्ति अथवा धन प्राप्त कर लेता था, वह यह समझने लगता था कि संसारका भोग करना न केवल उसका अधिकार है वरं उसके लिये अत्यावश्यक भी है। जन्म और मरणके भीतर जीवन ही सब कुछ है। इसके पूर्व और उपरान्त कुछ नहीं था और कुछ नहीं रहेगा। इस प्रवृत्तिसे मालिकोंकी दृष्टिमें न्यायकी कुछ भी कीमत नहीं रही। अतः जब कुछ दार्शनिकों और सुधारकोंने धनी और निर्धनमें विषमता दूर करनेका यत्न किया, तब कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। संसारसे ऊपर कोई ऐसी शक्ति, जो अधर्मका फल दे सकती, दार्शनिक सिद्ध नहीं कर सके और सांसारिक शक्ति (राज्य) सर्वव्यापक और सर्वज्ञ न होनेसे भयका कारण नहीं थी।

ऐसे समयमें कार्ल मार्क्स और उसके साथी एंजल इस क्षेत्रमें आ उपस्थित हुए। ये भी नास्तिक थे। इन्होंने मालिक और मजदूर तथा जमींदार और किसानमें विषमता देखी और इसमें कारण तथा इसको दूर करनेके उपाय विचार किये। इन दोनों विचारकोंने यह समझा कि—

१—आदिसृष्टिसे मनुष्य-समाजमें दो वर्ग चले आते हैं। एक सम्पत्ति रखनेवाला वर्ग है और दूसरा सम्पत्तिविहीन—अकिंचन वर्ग है। इनको वे क्लासिज़ (Classes) कहते हैं। सम्पत्ति रखनेवाले वर्गको ये 'बूर्जुआ' (Bourgeois) का नाम देते हैं और सम्पत्तिविहीनको 'प्रोलिटेरियेट' (Proletariate) का नाम दिया है।

२—इन दोनों वर्गोंमें सदासे संघर्ष चलता आया है। सम्पत्तिविहीन सम्पत्ति प्राप्त करनेका यत्न करते रहे हैं और सम्पत्तियुक्त वर्ग इस यत्नका विरोध करते रहे हैं।

३—सम्पत्तियुक्त वर्ग सम्पत्तिविहीन वर्गका शोषण (Exploitation) करते रहे हैं, अर्थात् सम्पत्तिविहीनके परिश्रमका फल छीनते रहे हैं।

४—आर्थिक विषमताको मिटानेका उपाय वर्गविहीन समाज निर्माण करनेसे ही सम्भव है। सम्पत्तियुक्त वर्गको सर्वथा विलीन कर देना चाहिये और केवल सम्पत्तिविहीन वर्ग ही रहने देना चाहिये।

५—यह अर्थात् वर्गविहीन समाज तबतक नहीं बन सकता, जबतक राज्य सम्पत्तिविहीन वर्गके हाथमें न आ जाय। इसको वे सम्पत्तिविहीनोंकी तानाशाही (Dictatorship of the Proletariate) का नाम देते हैं। इसको करनेके लिये पुराने आर्थिक ढाँचेको आमूल-चूल विनष्ट करनेकी सम्मति देते हैं

कार्ल मार्क्स और उसके साथी उक्त विवेचनाको वैज्ञानिक समाजवादका नाम देते हैं। अपनेसे पहिले सुधारकोंके समाजवादको वे अवैज्ञानिक समाजवाद कहते हैं।

इनकी उक्त विवेचनाकी घोषणा सन् १८४८में की गयी थी और धीरे-धीरे संसारके सब समाजवादी सिद्धान्त-रूपमें वैज्ञानिक समाजवादको स्वीकार कर बैठे हैं। वैज्ञानिक समाजवादमें केन्द्रिय विचार है—संसारकी पूर्ण सम्पत्तिको व्यक्तियोंके अधिकारसे निकालकर समाजके अधिकारमें ले आना। समाजकी प्रतिनिधि संस्था है—राज्य। अतएव उक्त

केन्द्रिय विचारका अर्थ हो जाता है, देशकी पूर्ण सम्पत्तिका राष्ट्रियकरण ।

शेष बातें जो वैज्ञानिक समाजवादमें वर्णन की गयी हैं, वे राष्ट्रियकरणको लागू करनेके उपाय मात्र हैं तथा इस राष्ट्रियकरणमें कारण है ।

सम्पत्तिमें दो अङ्ग हैं—एक प्राकृतिक शक्तियाँ और पदार्थ । दूसरे मानव-परिश्रम ।

प्राकृतिक पदार्थ तो प्रकृति अथवा परमात्माकी मनुष्यको निःशुल्क देन है । अर्थात् ये मनुष्यको अनायास ही प्राप्त होते हैं । इन पदार्थोंमेंसे कुछ तो ज्यों-के-त्यों ही प्रयोगमें आते हैं । जैसे जल, वायु, प्रकाश—ये पदार्थ मनुष्यको अनायास ही प्राप्त होते हैं और वह इनका भोग बिना प्रतिकारके करता है । प्रकृति कुछ अन्य पदार्थ भी देती है, जिनका प्रयोग मनुष्य तबतक नहीं कर सकता, जबतक वह उनका उपयोगी रूप न बना ले । उदाहरणके रूपमें खनिज पदार्थ हैं । इनमेंसे लोहा, चाँदी, ताँबा, राँगा इत्यादि पदार्थ निकालकर शुद्ध करनेपर ही प्रयोगमें आ सकते हैं । अन्न भी तो भूमिसे मानव-परिश्रमसे ही प्राप्त होता है ।

समाजवाद प्राकृतिक पदार्थों और मानव-परिश्रम, दोनोंको समाजकी सम्पत्ति मानता है और इनपर समाजका आधिपत्य स्थापित करना चाहता है । इससे प्राप्त पदार्थोंका वितरण भी समाजके अधिकारमें ही रखना चाहता है ।

आज समाजवादका मूलविचार यही है कि किसी देशकी पूर्ण सम्पत्ति (प्राकृतिक पदार्थ और मानव-परिश्रम) समाज (राज्य) के अधिकारमें हो और उस सम्पत्तिका वितरण भी वही करे ।

वास्तवमें वैज्ञानिक समाजवाद, जिसका दूसरा नाम कम्यूनिज्म है, राष्ट्रियकरणकी धुरीपर ही चलता है । रूसमें लेनिनने इस समाजवादको व्यावहारिक रूप दिया है । व्यावहारिक रूप देनेमें करोड़ों देशवासियोंकी हत्या करनी पड़ी है और लाखोंको कांसेंट्रेशन कैम्पोंमें बंदी बना मृत्युके घाट उतारना पड़ा है । इसके साथ ही रूसमें और उसके पश्चात् चीनमें इस वैज्ञानिक समाजवादको चालू रखनेके लिये विचारपर भी नियन्त्रण रखना आवश्यक हो गया है । न तो बाहरसे किसी पुस्तक, समाचारपत्र अथवा विचारकको बिना राज्यकी स्वीकृतिके देशमें आने दिया जाता है, न देशके भीतर कोई पुस्तक, पत्र-पत्रिका अथवा विचारक भी बिना राज्यकी स्वीकृतिके कुछ बोल-लिख सकते हैं ।

भू-मण्डलके अन्य देशोंमें समाजवादी वह सब कुछ करनेको, जो रूस और चीनमें हुआ है और हो रहा है, नहीं कहते; कदाचित् कहनेका साहस नहीं रखते । वह सब कुछ मानव-प्रकृतिके इतना विपरीत हुआ है कि उसके करनेकी बात कहते हुए स्वयं लज्जा अनुभव करते हैं । इसपर भी वैज्ञानिक समाजवादके केन्द्रीय विचार, राष्ट्रीकरणका सब समर्थन करते हैं । यह उनका लक्ष्य है ।

भारतवर्षमें भी आरम्भमें तो समाजवाद शब्दको भी विकृत करके स्वीकार किया गया । आवड़ीमें पं० जवाहरलाल नेहरूने भारतमें एक सोशलिस्टिक राज्य (Socialistic State) स्थापित करनेकी बात कही थी । उन्होंने सोशलिस्ट-शब्दका स्पष्ट प्रयोग नहीं किया । यद्यपि आवड़ीसे पहले, यहाँतक कि स्वराज्यप्राप्तिसे भी पहले, पं० जवाहरलाल नेहरू अपनेको कम्यूनिज्म अर्थात् वैज्ञानिक समाजवादका अनन्य भक्त प्रकट कर चुके थे, फिर भी वे आवड़ीमें समाजवाद-शब्दका भी स्पष्ट प्रयोग नहीं कर सके । सात वर्ष पीछे भुवनेश्वरमें उन्होंने समाजवाद-शब्दका स्पष्ट प्रयोग किया था और यहाँपर उन्होंने यह भी कहा कि देशका पूर्ण उत्पादन और उत्पादनका वितरण राज्यके हाथमें लेनेका वे यत्न करेंगे । हमारे कहनेका अभिप्राय यह है कि विशेष परिस्थितियोंके कारण समाजवादी रूस और चीनका-सा आर्थिक ढाँचा लानेकी बात छिपा लेते हैं, परंतु उनका ध्येय सदा वही रहता है । भारतमें भुवनेश्वरके उपरान्त यदि चीनका हिमालयपर आक्रमण न होता और पं० जवाहरलालजीका देहावसान न हो जाता तो सोशलिस्टिकसे सोशलिस्ट हुआ समाजवाद कम्यूनिज्मकी ओर और बढ़ गया होता । समाजवादी अपने 'वाद'को आकर्षक बनानेके लिये कुछ समाज-कल्याणकी बातें केवल समाजवादसे ही सम्भव बताते हैं—उदाहरणके रूपमें निःशुल्क शिक्षा, निःशुल्क चिकित्सा, वृद्धावस्थामें पेंशन इत्यादि ।

इनके साथ वे यह भी कहते हैं कि आर्थिक विषमता अर्थात् कुछ लोगोंका अतुल धन-सम्पद् रखना और कुछका निपट अकिंचन होना समाजवादसे ही दूर हो सकता है । उनका समाजवादसे अभिप्राय राष्ट्रियकरणसे ही है । वे कहते हैं कि बिना देशकी पूर्ण सम्पत्ति और देशवासियोंके पूर्ण परिश्रमसे प्राप्त पूर्ण उत्पादन और उस उत्पादनके पूर्ण वितरणको राज्यके-हाथमें दिये उक्त कल्याणकारी कार्य सम्भव नहीं हैं ।

इतिहास और युक्ति समाजवादियोंके इस दावेको निराधार बताते हैं। भारतवर्षमें तो निःशुल्क शिक्षा और निःशुल्क शिक्षाकी पद्धति बहुत प्राचीनकालसे प्रचलित थी। वृद्धावस्थामें निर्वाहका प्रबन्ध भी भारतके वर्णाश्रम-धर्मसे पूर्णरूपेण सिद्ध होता है। मनुष्य-मनुष्यकी आयमें विषमता ही एक बात है, जिसके विषयमें कोई व्यवस्था तो नहीं थी, परंतु इस विषमताको दूर करनेके लिये दया-धर्मकी प्रथा थी। आज भी संसारमें समाजकल्याणकी प्रायः सब बातें उन देशोंमें भी प्रचलित हैं, जो आर्थिक दृष्टिसे उन्नत हैं और समाजवादी नहीं हैं। निःशुल्क शिक्षा तथा चिकित्सा, वृद्धावस्थाकी पेंशन इंगलैंड आदि देशोंमें चल रही है। हमारा यह कहना है कि समाज-कल्याण समाजवादसे एक पृथक् बात है। समाजवाद तो केवल समाजके उत्पादन-यन्त्र और वितरण-यन्त्रपर राज्यके अधिकारका ही नाम है। इसके अतिरिक्त और सब बातें इस राष्ट्रियकरणके बिना भी हो सकती हैं और होती देखी जाती हैं।

समाजवाद और धर्म

ऊपर हमने धर्म और समाजवादकी पृथक्-पृथक् विवेचना की है। हमने यह बताया है कि धर्म दो प्रकारके हैं—१ व्यापक और २ सामयिक। व्यापक धर्म तो स्थिर और स्थायीरूप रखते हैं। सामयिक धर्म समय और परिस्थितिके अनुसार रूप बदलते रहते हैं, परंतु सामयिक धर्म कभी भी व्यापक धर्मोंका विरोध नहीं कर सकते।

व्यापक धर्म दस हैं। इनमें पाँच व्यक्तिगत धर्म हैं और पाँच सामाजिक। व्यक्तिगत धर्म मुख्यतः कर्ताके अपने साथ सम्बन्ध रखते हैं। सामाजिक धर्म कर्ताके अपने साथ सम्बन्ध रखनेके अतिरिक्त समाजके दूसरे घटकोंके साथ भी सम्बन्ध रखते हैं।

व्यापक समाज-धर्म है—१ क्षमा, २ अस्तेय, ३ इन्द्रिय-निग्रह, ४ सत्य और ५ अक्रोध। इन धर्मोंके विषयमें समाज नियम-उपनियम तथा कानून बना सकता है। ये कानून इन धर्मोंका विरोध अथवा अवहेलना करनेके लिये नहीं होने चाहिये। वरं इन धर्मोंका विरोध करनेवालोंको दण्ड देनेके लिये होने चाहिये। दण्ड तो केवल समाजके अन्य घटकोंकी रक्षाके निमित्त है। कर्ता जो अधर्माचरण करता है, वह समाजसे दण्ड पाये अथवा न पाये, अधर्मका फल पाता ही है। अधर्म करनेकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य दण्डके भयसे अधर्म न करनेपर भी अधर्मी ही हो जायेगा और फल पायेगा ही।

समाजवाद, जैसा कि हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं, मूलरूपमें समाजके पूर्ण उत्पादन-यन्त्र और वितरण-यन्त्रको समाजके अधीन कर देनेका नाम है। अतः श्रमिकके साथ जो अन्याय मालिक अथवा जमींदार करता है, उसका निराकरण समाजवादसे नहीं होता। समाजवादके बिना जैसे श्रमिककी आयका एक विशिष्ट भाग मालिक अथवा जमींदार ले जाता है, इसको समाजवादी-व्यवस्थामें राज्य ले जायेगा। यदि मालिक श्रमिकका भाग लेनेसे अस्तेय-धर्मका विरोधी माना जाता है तो राज्य भी इसी अधर्माचरणका भागी हो जायेगा।

यह बात सब अर्थशास्त्री, कार्ल मार्क्स इत्यादि भी मानते हैं कि एक श्रमिकके श्रमसे उत्पन्न आय श्रमिकके जीवन-मरणसे अधिक होती है अर्थात् एक श्रमिक जितना अपने परिश्रमसे पैदा करता है, उससे कममें ही वह निर्वाह कर सकता है। इस अधिक आयको अंग्रेजीमें Surplus Value (अवशिष्ट आय) कहते हैं। कल-कारखानोंके बन जानेसे यह Surplus Value बहुत बढ़ गयी है और प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह किसका अधिकार है? इसमें धर्मकी व्यवस्था तो यह है कि परिश्रमसे उत्पन्न पूर्ण मूल्य उत्पन्न करनेवाले श्रमिकोंका ही है। यह न तो मालिकका है और न राज्यका ही। इसका वितरण भी श्रमिकके ही हाथमें होना चाहिये।

यह ठीक है कि राज्य चलानेके लिये राज्यको धनकी आवश्यकता होती है और इस कारण प्रत्येक व्यक्तिको जो राज्यकी सुरक्षामें रहता है, राज्यको कर देना होता है। एक श्रमिक भी अपनी आयमेंसे राज्यको कर देता है। इसी प्रकार राज्य अपना कार्य चलानेके लिये देशकी प्राकृतिक उपजपर अपना अधिकार बना लेता है। भूमिका स्वामित्व भी राज्य अपना मानता है। इन प्राकृतिक उपजों तथा भूमिको राज्य-कर लेनेके उपरान्त ही व्यक्तिके प्रयोगमें आने देता है। व्यक्ति इन प्राकृतिक पदार्थों तथा भूमिपर परिश्रमका प्रयोग करके उपयोगी पदार्थ निर्माण करता है। अतः जब वह राज्यको कर दे देता है तो उत्पादनपर उसका अधिकार होना चाहिये। इस उत्पादनमेंसे अपने जीवन-निर्वाहके लिये व्यय करनेके बाद जो 'सरप्लस' बच जाता

है, वह उसका अपना है और उसके वितरणपर उसका ही अधिकार होना चाहिये। यदि यह Surplus (अवशिष्ट मूल्य) कोई मालिक ले अथवा कोई राज्य ले ले तो यह चोरी होगी अथवा डाका होगा। इसको सामाजिक धर्ममें अस्तेय-धर्मका विरोध कहेंगे। यह अधर्माचरण होगा।

संक्षेपमें निष्कर्ष यह है कि राज्य अथवा कोई मालिक जब भी श्रमिकके परिश्रमकी Surplus Value को लेता है तो वह श्रमिककी चोरी करता है अथवा उसके धनपर डाका डालता है। इस Surplus आयको व्यय करनेका अर्थात् वितरण करनेका अधिकार धर्मसे श्रमिकका ही है।

इसपर दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं। एक तो यह कि किसी श्रमिकके श्रमका क्या मूल्य है? और दूसरे श्रमिक अपनी Surplus आयको किस प्रकार व्यय करे अथवा उसका वितरण करे? श्रमिकके श्रमका मूल्य लगाना अर्थशास्त्रका एक अति जटिल काम है। हम इसका इस लेखसे सम्बन्ध नहीं समझते। इसपर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि जो कोई भी श्रमका मूल्य निश्चय करे और जितना भी मूल्य निश्चय करे, वह श्रमिकका ही है। निस्संदेह यह श्रमिककी आवश्यकताओंको पूर्णकर शेष मूल्य (Surplus Value) रक्खेगा ही। इस Surplus Value को वितरण करनेका अधिकार श्रमिकका ही होना चाहिये।

समाजवादी कहते हैं कि जब राज्य किसी श्रमिकको जीवन-निर्वाहके लिये देता है तो वह उसके श्रमका बदला ही देता है, परंतु प्रत्येक अवस्थामें श्रमिककी आय उसके खर्चसे अधिक होती है। इसको लेनेवाला तो तस्कर ही समझा जायगा।

समाजवादी कहता है कि श्रमका मूल्य और वस्तुओंका मूल्य निश्चय करना एक अति जटिल प्रश्न है। राज्य इस झंझटमें नहीं पड़ सकता। राज्य तो एक ही बात कर सकता है कि वह सबका सब कुछ लेकर उसको वितरित कर दे। इसका अभिप्राय तो यह निकलता है कि समाजवादी शासन इतना दुर्बल है कि वह मूल्योंकी व्यवस्था नहीं कर सकता। यह तो इस प्रकार हो जायगा जैसे किसी नगरमें चोरियाँ अधिक होने लगें तो वहाँका शासन यह व्यवस्था दे दे कि वह चोरोंका प्रबन्ध नहीं कर सकता, इसलिये पूर्ण नगरकी धन-सम्पदा उसको मिल जाय और वह सबके खाने-पीनेका प्रबन्ध कर देगा।

चोरोंके भयसे सब कुछ सरकारी बैंकमें जमा करा देना तो ठीक हो सकता है, परंतु उसके वितरणका अधिकार बैंकके मैनेजरके हाथमें दे देना और सम्पत्तिके स्वामीके हाथमें न रहने देना न्यायसंगत नहीं है।

शेष प्रश्न रह जाता है इस Surplus Value के वितरणका। धर्मयुक्त व्यवस्था तो यही हो सकती है कि जिसकी जो वस्तु है, वह उसके वितरणका अधिकार रखता है।

जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, मनुष्य बुद्धिशील प्राणी है, सम्प्रदाय बुद्धिकी देन है। कोई भी बुद्धिशील प्राणी किसी-न-किसी सम्प्रदायको अर्थात् विचारधाराको मानेगा ही और वह अपनी Surplus आयको अपने विचारानुकूल व्यय करनेकी इच्छा करेगा। यह अधिकार वह किसी दूसरेको नहीं दे सकता। कोई मनुष्य अपनी Surplus आयको वेदाध्ययनमें व्यय करे अथवा कुरानकी तलावतमें व्यय करे; किसी देवालय अथवा विद्यालयपर लगाये अथवा मस्जिद-गिरिजाघरपर लगाये—यह आय करनेवालेका अधिकार होना चाहिये। कोई दूसरा, भले ही वह राज्य हो, उसको बलपूर्वक लेकर किसी भी काममें व्यय करे तो वह धर्मसंगत नहीं हो सकता।

कुछ लोग एक व्यक्तिके अपनी Surplus आयसे किसी दूसरेके परिश्रमको मोल लेनेपर आपत्ति करते हैं। इसमें उनकी आपत्ति यह है कि परिश्रम मोल लेनेवाला श्रमिकका शोषण (Exploitation) कर सकता है। हम समझते हैं कि यदि कोई ऐसा अर्थात् शोषण करता है तो वह राज्यकी दुर्बलताके कारण ही कर सकता है। इसको दूर करनेका उपाय राज्यको सबल बनाना है, न कि मनुष्यके स्वाभाविक कर्मोंमें बाधा डालना।

एक शब्दमें यह कहा जा सकता है कि समाजवाद अस्तेय-धर्मका विरोधी है, अतः यह एक अधर्मयुक्त व्यवस्था है, अयोग्य और निर्बुद्धि लोगोंका अधर्मयुक्त प्रयास मात्र है।

हमने इस लेखमें समाजवाद अर्थात् राष्ट्रियकरणसे नैतिक पतनका उल्लेख नहीं किया। अनैतिकता उत्पन्न करना भी अधर्माचरण है। इसपर भी लेखमें संक्षेप और स्पष्टताके लिये इतना ही पर्याप्त माना है।

महाकवि भारविके काव्यमें राजधर्म

(लेखक—श्रीयुगलसिंहजी खीची एम्० ए०, बार-एट-लॉ, विद्यावारिधि)

भारविका कवियोंमें वरिष्ठ स्थान है । प्रसिद्ध उक्ति है—**'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्'** अर्थात् कालिदासने उपमाओंके प्रयोगमें और भारविने भावोंकी भव्यतामें कमाल कर दिया । आप्टेके संस्कृत-अंग्रेजी कोषके अनुसार दोनों कवियोंके नाम ई० सन् ६३४ के शिलालेखमें साथ-साथ मिले हैं । जर्मन विद्वान् याकोबीने वियेना ओरिएन्टल जर्नल (३-२-१४४) में लिखा है कि भारवि छठी शताब्दीके आरम्भमें हुए; दूसरा मत यह है कि वे सातवीं शताब्दीके आरम्भमें पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मा और नरसिंहवर्माकी छत्रछायामें काञ्चीपुरमें निवास करते थे । उनका ग्रन्थ 'किरातार्जुनीय' अन्तरङ्ग प्रमाण प्रस्तुत करता है कि उन्हें राज्यशासनका सम्यक् ज्ञान था । अतः अनुमान है कि उनका सम्पर्क किसी राजासे हुआ होगा । पण्डितोंमें इस प्रकारकी किंवदन्ती प्रचलित भी है ।

श्रीमद्भगवद्गीता और किरातार्जुनीयके सादृश्यके विषय विचारणीय हैं । दोनोंका उद्देश्य छल-बलसे दुर्योधनद्वारा छीनी हुई भूमिको पुनः प्राप्त करना है । श्रीकृष्ण आध्यात्मिक ज्ञानके द्वारा अर्जुनको रणक्षेत्रमें लोहा लेनेके लिये कटिबद्ध करते हैं । भारवि राजनीतिके सिद्धान्त बतलाकर पाण्डवोंको युद्धकी तैयारीमें लगाता है । गीतामें ७०० श्लोकोंवाले १८ अध्याय हैं तो भारविने अपने महाकाव्यको १८ सर्गोंमें समाप्त किया है । दोनोंके ही वचन समस्त संसारके लिये कल्याणकारक हैं और भारतकी वर्तमान परिस्थितिमें संजीवनी-शक्तिके स्रोत हैं ।

'किरातार्जुनीय'के कथानककी पृष्ठभूमिपर उस समयके भारतकी दशाकी झलक स्पष्ट दिखायी देती है । महाविपत्तिका काल था । जिन हूणोंने समृद्ध रोमन साम्राज्यको उजाड़ दिया था, उनका टिड्डीदल शस्य-श्यामला भारतभूमिपर उतर रहा था । उस समय देश अनेक छोटे-छोटे राज्योंमें बँटा हुआ था । हूणोंने ऐसे अनेक राज्योंपर छल और बलसे अधिकार कर लिया । उनका राजा मिहिरकुल, जिसकी राजधानी स्यालकोट जिलेके साकल नामक नगरमें थी, बड़ा ही कपटी, अन्यायी और पापात्मा था । जिस कश्मीर-नरेशने उसे आश्रय दिया था, उसीका राज्य छल करके छीन लिया । गान्धार-नरेशको धोखेसे मरवाकर उसने राजवंशको निर्मूल कर दिया । उस कालमें उसने सिन्धुनदीके किनारे लाखों मनुष्योंका वध कराया । प्रसिद्ध इतिहास-लेखक गिबन अपने ग्रन्थ 'रोमन साम्राज्यका ह्रास और पतन'में हूणोंके बारेमें लिखता है कि उनकी असाधारण कुरूपता, भद्दी चेष्टाएँ, तीक्ष्ण स्वर, चपटी नाक और धुसी हुई काली छोटी आँखोंके कारण वे नरपिशाच-से प्रतीत होते थे । हूणोंसे छुटकारा पानेके लिये मालवा-नरेश यशोधर्मन् और मगध-नरेश बालादित्यके नेतृत्वमें देशी राजाओंने एक संघ रचा और मिहिरकुलको हराकर भगा दिया । भारविने श्रीहीन, पद-दलित देशके लिये अपने महाकाव्यमें मुक्ति-मन्त्र बतलाकर अमर कीर्ति अर्जित की है ।

इस महाकाव्यका कलेवर लघु है, पर टीकाकार मल्लिनाथने भारविके वचनको नारिकेल फलकी उपमा देते हुए रसिक पाठकोंके लिये उसे रसगर्भनिर्भर बतलाया है । अब कथाका सार और प्रेरणाप्रद श्लोक दिये जाते हैं । दुर्योधनके छलसे जुएमें अपना राज्य खोकर पाण्डव द्वैत-वनमें निवास कर रहे हैं । जिस अरण्यवासी मित्रको दुर्योधनके शासनका वृत्तान्त जाननेके लिये भेजा गया था, वह राजदूत लौटकर युधिष्ठिरको यथार्थ स्थितिसे अभिज्ञ कराता हुआ कहता है—

क्रियासु युक्तैर्नृप चारचक्षुषो
न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः ।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा
हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥

(१ । ४)

'हे राजन् ! कार्यमें लगाये हुए नौकरोंका यह कर्त्तव्य है कि वे अपने स्वामियोंको, जो कि नेत्रद्वारा नहीं किंतु अपने दूतोंद्वारा ही देखते हैं, (झूठी बातें कहकर) न ठगें । इसलिये मेरा कहना आपको चाहे अच्छा लगे या बुरा आप मुझे क्षमा करें; क्योंकि हितकर और मनोहर वचन दुर्लभ होता है ।'

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं
हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः ।

सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं
नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः ॥
(१ । ५)

'जो मन्त्री स्वामीको सही बात नहीं बतलाता, वह खराब है और जो हितकी बात नहीं सुनता, वह स्वामी अच्छा नहीं होता। जहाँ राजा और मन्त्री एक दूसरेके अनुकूल होते हैं, वहीं सम्पत्ति सब प्रकारसे निवास करती है।'

दुरोदरच्छद्मजितां समीहते
नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः ।
(१ । ७)

'(आपकी) जिस भूमिको दुर्योधनने छल करके जुएमें जीता है, उसे वह नीतिसे जीतना चाहता है।'

चीन और पाकिस्तान यही नीति भारतके प्रति अपना रहे हैं। जिस भूमिको सहसा आक्रमण करके ले लिया है, उसपर पहलेसे ही अपना अधिकार वे बतलाते हैं।

महीभृतां सच्चरितैश्चरैः क्रियाः
स वेद निश्शेषमशेषितक्रियः ।
महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभिः
प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः ॥
(१ । २०)

'कृतकृत्य दुर्योधन सदाचारी गुप्तचरोंद्वारा (दूसरे) राजाओंके सभी कार्योंको जानता है; परंतु ईश्वरकी इच्छाके सदृश उसका हितकर और महाफलप्रद उद्योग कार्यसिद्धिके द्वारा ही जाना जा सकता है।' श्रीरघुवंशमें कालिदासका भी कथन है कि नीतिज्ञ शासकके इरादोंका अनुमान फल या परिणामसे ही किया जा सकता है—'**फलानुमेयाः प्रारम्भाः**'। जो शासक राजनयमें निपट अनाड़ी होते हैं, वे भाषणोंकी भरमारसे अपने इरादोंको जाहिर कर देते हैं, चाहे उनसे बादमें कुछ करते न बन पड़े।

जब वह वनेचरोंका अधिप गुप्तचर चला गया, तब युधिष्ठिरने भाइयोंके सामने द्रौपदीको सारे समाचार सुनाये। और तो चुप रहे; पर द्रौपदी, जिसका रोम-रोम कौरवोंके अपमानों और अपकारोंसे जलता रहता था, अपनी मनोव्यथाको रोकनेमें असमर्थ होकर युधिष्ठिरके मन्यु और उत्साहको उद्दीप्त करनेवाले वचन कहने लगी। बड़ी ही जोशीली बातें हैं—

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं
भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधा-
नसंवृताङ्गान् निशिता इवेषवः ॥
(१ । ३०)

'वे मूर्ख पराजयको प्राप्त होते हैं, जो छल करनेवाले शत्रुओंके प्रति छलसे काम नहीं लेते। जिस प्रकार तीखे तीर अरक्षित शरीरमें घुस जाते हैं, उसी प्रकार ऐसे लोगोंको दिलमें प्रवेशकर धूर्तजन मार डालते हैं।' कौटल्यका यह सूत्र है—'**शठे शाठ्यं समाचरेत्** ।' यह भी उक्ति है—'**आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः** ।' यह नीति नहीं है कि कुटिलोंके साथ सरलताका व्यवहार किया जाय।

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां
भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना
न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥
(१ । ३३)

'जिसका क्रोध कभी निष्फल नहीं जाता और जो (औरोंको) आपत्तियोंसे बचाता है, अन्य मनुष्य ऐसे पुरुषके वशमें स्वयं ही जाते हैं। परंतु जो जन कभी क्रोध नहीं करता, उसका आदर न तो स्नेहीद्वारा होता है और न शत्रुद्वारा ही।'

विहाय शान्तिं नृप धाम तत्पुनः
प्रसीद संधेहि वधाय विद्विषाम् ।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः
शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ॥
(१ । ४२)

'हे राजन् ! इसलिये शान्तिको छोड़कर शत्रुओंका नाश करनेके लिये फिर उसी तेजको धारण कीजिये। शत्रुओंकी उपेक्षा करके शान्तिद्वारा केवल निःस्पृह मुनि सिद्धि प्राप्त करते हैं, न कि राजा लोग।' कारण यह है कि मुनियोंका निवृत्ति-मार्ग और शासकोंका प्रवृत्ति-मार्ग होता है।

द्रौपदीके गम्भीर वचनोंकी प्रशंसा करते हुए आवेशमें आकर भीमसेन कहने लगे—

विधुरं किमतः परं परै-
रवगीतां गमिते दशामिमाम् ।
अवसीदति यत् सुरैरपि
त्वयि सम्भावितवृत्तिपौरुषम् ॥

'हे राजन् ! शत्रुओंके द्वारा ऐसी निन्दित दशामें पहुँचाये जानेपर भी, जिस पुरुषार्थका आदर देवता भी करते हैं, वह आपमें नहीं दिखायी देता; इससे बढ़कर कष्टकारक क्या हो सकता है ?'

भीमसेन आधुनिक राजनीतिका मूल मन्त्र इस प्रकार बतलाते हैं—

प्रभवः खलु कोशदण्डयोः
कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नयः ।

कोश और सेनाके सम्बन्धमें सफल वही राजनीति होती है, जिसमें पाँचों अङ्गोंपर निश्चित निर्णय कर लिया गया है। कामन्दकके अनुसार पञ्चाङ्ग ये हैं—(१) सहाय—मित्रदेश, (२) साधन—सेना, (३) उपाय—साम, दान, दण्ड, भेद, (४) देशकालका विभाग अर्थात् कहाँ और कब युद्ध करना और (५) विनिपात-प्रतीकार, पतनका प्रतीकार। अन्तमें वे युधिष्ठिरसे निवेदन करते हैं—

तदलं प्रतिपक्षमुन्नते-
रवलम्ब्य व्यवसायवन्ध्यताम् ।
निवसन्ति पराक्रमाश्रया
न विषादेन समं समृद्धयः ॥

'इसलिये उन्नतिकी बाधक अकर्मण्यताका सहारा छोड़ दीजिये; क्योंकि समृद्धि पराक्रमके ही साथ रहती है, न कि विषादके साथ ।'

भीमसेनके क्रोधको शान्त करनेके लिये युधिष्ठिर कहने लगे—

सहसा विदधीत न क्रिया-
मविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥

'किसी कामको सहसा नहीं कर बैठना चाहिये। बिना विचारे काम करना महान् आपत्तियोंका घर है। सम्पत्ति विचारकर काम करनेवालोंको अपनाती है; क्योंकि वह गुणोंसे प्यार करती है ।'

वे शान्ति और सहिष्णुताको धारणकर प्रतीक्षा करनेका उपदेश देते हैं। सहसा व्यासदेव वहाँ आ पहुँचते हैं। वे मध्यम मार्ग यह बतलाते हैं कि न तो सहसा आक्रमण करना और न हाथ-पर-हाथ धरे बैठना चाहिये; किंतु युद्धद्वारा अपनी भूमि वापस लेनेके लिये शस्त्रास्त्रका बल बढ़ाना चाहिये। स्टालिन कहा करता था—'God is on the side of big battalions' जिसके पास सैन्यबल है, उसके साथ ईश्वर है ! कहा भी है **'वीरभोग्या वसुन्धरा ।'** वे अर्जुनको सलाह देते हैं कि वह कठिन तपके द्वारा देवताओंसे दिव्यास्त्र प्राप्त करें ।

द्रौपदीके प्राणप्रद वचनोंसे उत्साहित होकर अर्जुन हिमालयमें जाकर कठिन तपस्या करने लगते हैं। परीक्षा लेनेके लिये इन्द्र अनेक प्रलोभन उन्हें विचलित करनेके निमित्त प्रस्तुत करते हैं, पर वे तपपर डटे रहते हैं। वृद्ध तपस्वीके वेषमें इन्द्र स्वयं उपस्थित होकर अनेक युक्तियोंके द्वारा संसारको मिथ्या बताकर मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं। अर्जुन कहते हैं कि मैं अपमानका परिशोध करना चाहता हूँ, न कि मोक्ष या सुख। लक्ष्मी और यश मनुष्यका तभी-तक साथ देते हैं, जबतक वह शक्तिके द्वारा मानकी रक्षा कर सकता है। मैं शत्रुओंका नाश करके अपने कुलकी राज्यलक्ष्मी-का उद्धार नहीं कर लेता, तबतक स्वर्ग मेरे सम्मुख उपस्थित हो जाय तो मैं उसे विघ्न समझूँगा। इन वीरताभरे वचनोंसे देवराज इन्द्र गद्गद हो गये और उन्होंने शिवको तुष्ट करनेके लिये तपस्याका आदेश दिया। इस महाकाव्यका ११वाँ सर्ग बहुत मार्केका है।

शिवाराधनका तप और भी कठिन था। अर्जुनकी घोर तपस्यासे परम प्रभावित होकर मुनि शिवके पास गये और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। वे ताड़ गये कि अर्जुन दिव्यास्त्र प्राप्त करनेके लिये यह उद्योग कर रहा है; पर वे परीक्षा लेना चाहते थे कि वह पात्र है या नहीं। उन्होंने एक माया रची। एक भयंकर वाराह अर्जुनके सामने आया और पीछेसे किरातके वेषमें शिव भी आ पहुँचे। दोनोंने एक साथ ही तीर चलाये, जिनके प्रहारसे वह मरकर धराशायी हुआ। पर झगड़ा यह उठ खड़ा हुआ कि शिकारको कौन ले। तकरार होते-होते तलवारसे वार होने लगे। एक ओर अकेला अर्जुन, दूसरी ओर शिव अपने गणोंके साथ; पर क्षत्रिय रणसे हटना नहीं जानता। जब शस्त्रोंसे कुछ असर नहीं हुआ, तब अर्जुन अस्त्रोंका प्रयोग करने लगा। गणोंमें हाहाकार मच गया और वे लगे भागने। शिवने निज दिव्य शक्तिसे उसके तरकसमेंसे तीर गायब कर दिये और उसके कवचको काटकर फेंक दिया और उसका अरक्षित शरीर बाणोंकी मारसे लहू-लुहान हो गया। शिवके पास सब कुछ है, पर अर्जुन निहत्थे हैं।

तब दोनोंमें मल्लयुद्ध होने लगा। दिशाएँ चोटोंके शब्दसे गूँजने लगती हैं और देवता यह दृश्य देखकर भयभीत हो जाते हैं। परीक्षा समाप्त होती है। देवता अपने-अपने अस्त्र और शिव प्रसन्न होकर पाशुपतास्त्र अर्जुनको प्रदान करते हैं। शिवका आशीर्वाद—**'जय रिपुलोकम्'** प्राप्तकर वे कृतकार्य होकर युधिष्ठिरके पास लौट आते हैं।

'किरातार्जुनीय' वह साहित्य है, जिसके विषयमें जवाहरलालजी नेहरूने अपने एक लेखमें इस प्रकार विचार प्रकट किये हैं—मुझे भाषाके सौन्दर्यसे, उसके शब्दोंकी संगतिसे और शब्दोंमें भरे जादू और ताकतसे प्रेम रहा है। जो भाषा शक्तिशाली और जोरदार होती है, उसके इस्तेमाल करनेवाले लोग भी वैसे ही होते हैं। भारविकी भाषा इसी कसौटीपर कसी हुई है। पतित, पददलित और अत्याचार-पीड़ित राष्ट्रोंको वह उपदेश देता है कि छली और कपटी शत्रुपर छल और कपटसे विजय प्राप्त होती है, तभी शक्ति आती है और रिपुको हराकर अपहृत भूमिको प्राप्त करनेसे ही अपमानका परिशोध होता है। भारविके ऐसे ओजस्वी विचारोंके सम्बन्धमें जर्मन कवि नोवेलिसकी उक्ति—'तत्त्ववेत्ता नया जीवन देता है' (The philosopher revivifies) सार्थक होती है।

धर्म और रणनीति

(लेखक—श्रीविश्वनाथ केशव कुलकर्णी हजरदारकर)

'रण' का अर्थ है युद्धभूमि, समराङ्गण। दो राष्ट्रोंके बीच सशस्त्र युद्धको 'संग्राम' कहते हैं और दो व्यक्तियोंके बीच होनेवाला सायुध झगड़ा 'मारकाट' है। योग्य या अयोग्य किसी भी मार्गसे जब अपनी अभीष्ट वस्तुका प्राप्त होना असम्भव हो जाता है, तब झगड़ा-टंटा, लड़ाई, घोषित या अघोषित युद्ध शुरू हो जाता है। फिर दो दल बनकर प्रत्येक दलमें उसके हितू-सम्बन्धी एकत्र हो जाते हैं और इस तरह युद्ध या महायुद्ध चल पड़ता है। दुष्टनिर्दलन भी युद्धका एक हेतु है।

इसी समय धर्मका प्रश्न उपस्थित होता है। यहाँ 'धर्म' शब्दसे वैदिक, इस्लाम, ईसाई आदि विशेष धर्म अभिप्रेत नहीं हैं। प्रत्युत युद्ध्यमान उभय राष्ट्रोंद्वारा पालनीय कतिपय निश्चित या अनिश्चित नियम ही यहाँ 'धर्म' शब्दसे लिये जाते हैं। त्रेतायुगमें जो राम-रावण-युद्ध हुआ, उसके लिये अन्य उपमान न मिलनेसे कवियोंने उस महायुद्धकी उपमा उसीसे दे दी। वे कहते हैं—

रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।

उससे पूर्व राम और वालीका युद्ध हुआ और रामने वालीको मारा। उस समय वाली कहने लगा—'आपका वैरी न होते हुए आपने मुझे मारा' आदि। इसपर श्रीरामचन्द्रने कहा—'जो स्वयं अधर्माचरण करता है, वह यह क्यों चाहे कि दूसरा धर्मानुसार ही आचरण करे। तूने राजधर्म त्यागकर अनीतिका आश्रयण किया। छोटे बन्धुकी भार्या अपनी पुत्रवधू-जैसी होते हुए भी तूने उसकी विडम्बना की। इसलिये तेरा वध धर्म ही है। धर्म अति सूक्ष्म है। वह यों सहज स्थूल दृष्टिसे नहीं जाना जा सकता।'

उसके बाद महाभारतीय युद्धकी घटना सामने आती है। पाण्डवोंको राज्यका न्यायोचित भाग देना न पड़े, इसलिये कौरवोंने उनको नामशेष करनेके अनेक उचित-अनुचित प्रयत्न किये; किंतु वे सभी असफल रहे। भगवान् श्रीकृष्णका दौत्य भी असफल हुआ। जब कौरवोंने सूईकी नोकभर भूमि भी देनेसे अस्वीकार कर दिया, तब घोषित युद्ध प्रारम्भ हो गया। कौरवोंने भगवान् श्रीकृष्णसे उनकी सेना अपने लिये माँग ली, तो पाण्डवोंने स्वयं भगवान्को ही अपने पक्षमें आनेका निमन्त्रण दिया। श्रीकृष्ण पाण्डवोंके पक्षमें अवश्य आये, किंतु इस शर्तपर कि मैं युद्धमें कभी शस्त्र नहीं उठाऊँगा, केवल युक्तिकी चार बातें बताया करूँगा। उन्होंने अर्जुनका सारथि बनना स्वीकार किया।

श्रीकृष्णने युक्तिकी चार बातें बतायीं, इसलिये अन्तमें पाण्डव विजयी हुए।

युद्धभूमिमें उतरनेपर जब अर्जुनने देखा कि हमारे इष्ट-मित्र ही समराङ्गणमें खड़े हैं, तब उसे मोह हो गया और वह कहने लगा कि मैं यह युद्ध नहीं करूँगा। श्रीकृष्णने उसे युक्तिकी बातें समझाकर युद्धके लिये उन्मुख कर दिया। श्रीकृष्णकी बतायी वे बातें ही श्रीमद्भगवद्गीता है।

फिर भीष्मपितामहने कौरवोंका सैनापत्य स्वीकारकर युद्ध प्रारम्भ किया। किंतु जब उनका प्रभाव काम नहीं देने लगा, तब दुर्योधनने उन्हें बहुत कुछ भला-बुरा सुनाकर उकसाया। भीष्मने प्रतिज्ञा की कि कल पृथ्वीको निष्पाण्डव करके छोड़ूँगा। भीष्मकी वह घोर, सत्य प्रतिज्ञा ठहरी! उस दिन श्रीकृष्ण युद्ध-समाप्तिके बाद रात्रिमें द्रौपदीको साथ लेकर भीष्मके शिविरमें गये। स्वयं बाहर खड़े रहे और द्रौपदीसे भीतर जाकर भीष्मको प्रणाम कर आनेको कहा। कङ्कणकी ध्वनि सुनकर भीष्मने 'सौभाग्यवती भव' आशीर्वाद दे डाला। श्रीकृष्णकी यह युक्ति बादमें भीष्मपितामहके ध्यानमें आ गयी।

स्त्रियोंसे भीष्म नहीं लड़ते, भीष्मके द्वारा यह ज्ञात होनेपर और प्रत्यक्ष उनका वध सम्भव न होनेसे यह आवश्यक हो गया कि शिखण्डीको आगे करके भीष्मका वध कराया जाय।

उन दिनों प्रत्यक्ष युद्ध सूर्यास्तके बाद बंद हो जाता था और सूर्योदय होनेतक उभय पक्ष एक दूसरेसे मिलते और बातचीत भी करते। भीष्मने लड़ाईमें इतना पौरुष दिखाया कि श्रीकृष्ण 'शस्त्र न उठाऊँगा' अपनी इस प्रतिज्ञाको भंगकर सुदर्शन चक्र उठाकर दौड़ पड़े। किंतु भीष्मने यह कभी नहीं कहा कि आपने यह अधर्म किया।

इसके बाद द्रोणाचार्यकी घटना सामने आती है। वे ठहरे अप्रतिम! सीधे रास्ते उनका वध सम्भव नहीं, इसलिये 'अश्वत्थामा हतः—'अश्वत्थामा मारा गया' (द्रोणपुत्र अश्वत्थामा या उस नामका एक हाथी) इस अर्थकी खबर फैला दी गयी। धर्मराजने 'नरो वा कुञ्जरो वा' कहा, पर भीष्मको सुनायी न पड़े; इसलिये रणवाद्योंकी प्रचण्ड ध्वनि करवा दी गयी। द्रोणाचार्यको लगा कि मेरा एकमात्र पुत्र अश्वत्थामा मर गया और उन्होंने शस्त्र-संन्यास लेकर अपना वध करवा डाला।

कर्णार्जुन-युद्ध-प्रसङ्ग तो अत्यन्त घन-घोर कहा जायगा। शत्रुके संकटमें फँसनेपर उसका पूरी तरह लाभ उठाना धर्म ही है। रथका चक्र जमीनमें धँस जानेसे कर्ण उसे ऊपर उठानेमें लगा था कि भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको उसे मारनेका आदेश दे दिया। उस समयका कर्ण-श्रीकृष्ण-संवाद बड़ा ही मार्मिक है।

अर्जुनसे कर्ण कहता है 'महाधनुर्धर पार्थ! जमीनमें धँसे रथ-चक्रको ऊपर उठानेतक क्षणभर ठहर जाओ। दुर्भाग्यसे मेरा यह चक्र अकस्मात् भूमिमें धँस गया। मैं इस समय विलक्षण संकटमें पड़ गया हूँ। इसलिये इसे ऊपर उठानेतक मुझपर बाण-प्रहार मत करो। निन्द्य जनों-सरीखा आचरण तुम्हें शोभा नहीं देता। कौन्तेय! रणकर्ममें तुम विश्वप्रसिद्ध हो। इसलिये पाण्डव! तुम्हारे हाथों विशिष्ट ही काम होना चाहिये, किसी प्रकारका निन्द्य कार्य नहीं। अर्जुन! साधुव्रतचारी शूर पुरुष कैदी, युद्ध-विमुख, कृताञ्जलि, न्यस्तशस्त्र, याचक, बाणहीन, भग्नकवच, भग्नायुध, भ्रष्टायुध वीरों या ब्राह्मणोंपर कभी शस्त्र नहीं उठाते। पाण्डव! तुम सभी लोकोंमें अत्यन्त शूर और साधुशील हो। तुम सभी युद्धधर्मोंको जानते हो। वेदान्त-सिद्धान्त तुम्हें भलीभाँति अवगत हैं। तुम दिव्यास्त्रवेत्ता हो और युद्धमें तुम्हारा कार्तवीर्य-सा अमित विक्रम है। तुम रथाधिष्ठित हो, जब कि मैं भूमिपर खड़ा हूँ। वैसे मैं तुमसे या श्रीकृष्णसे भी नहीं डरता। तुम क्षत्रिय-कुलोत्पन्न होकर महान् कुलवर्धक हो। इसलिये जबतक मैं यह रथचक्र ऊपर नहीं उठा लेता, तबतक मुझपर शरप्रहार मत करो—यह मैं तुम्हें बार-बार कहता हूँ।'

इसपर अर्जुनका सारथ्य करनेवाले भगवान् वासुदेवने कहा—

'राधेय! आज तुम्हें धर्म याद आ रहा है, मैं यह अहोभाग्य मानता हूँ। नीच पुरुष व्यसन-समुद्रमें निमग्न हो जानेपर प्रायः दैवका स्मरण किया करते हैं। पर उन्हें अपना निन्द्य कर्म याद नहीं आता। रे कर्ण! दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि और तुम—चारों मिलकर एकवस्त्रा द्रौपदीको सभामें खींच ले आये, उस समय तुम्हें यह तुम्हारा धर्म स्मरण नहीं आया? कर्ण! शकुनिने अनक्षज्ञ (पाँसा खेलना न जाननेवाले) धर्मराजको कपटसे द्यूतमें जीत लिया, तब तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? वनवासके बारह वर्ष और अज्ञातवासका एक वर्ष बितानेके बाद भी तुमलोगोंने पाण्डवोंको उनका राज्य नहीं लौटाया, तब तुमलोगोंका धर्म कहाँ गया था? कर्ण! भीमसेनको जब दुर्योधनने तुम्हारी सलाहपर विषमिश्रित अन्न खिलाया और उसके शरीरपर सर्प डलवाये, तब तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? राधेय! वारणावतमें पाण्डव लाक्षागृहमें सोये थे, तब तुमलोगोंने उस घरमें आग लगवा दी; तब तेरा धर्म कहाँ चला गया था? रजस्वला द्रौपदीके दुश्शासनके हाथ लगनेपर सभामें तुम खिलखिलाकर हँसते

रहे, तब तुम्हारा धर्म कहाँ गया था? नीच लोगोंने निरपराधा द्रौपदीका अनेक प्रकारसे अपमान किया और पासमें रहते हुए भी तुम उसे खुली आँखों देखते रहे। उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ गया था? 'सारे पाण्डव नष्ट हो गये, सदाके लिये नरकमें गिर पड़े। अब तू दूसरे पतिका वरण कर ले।' यह कहकर उस गजगामिनीका जब तुमने अपमान किया था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? राधासुत! राज्यलुब्ध होकर तुमने जब शकुनिकी राह पाकर पाण्डवोंको द्यूतके लिये निमन्त्रित किया, तब तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? जब युद्धमें तुम्हारे-जैसे अनेक महारथियोंने मिलकर अकेले बालक अभिमन्युका वध कर डाला था, तब तुम्हारा धर्म कहा चला गया था?

'जब उस समय तुमलोगोंने धर्मकी ओर झाँककर भी नहीं देखा, तब अब 'धर्म-धर्म' कहकर कण्ठशोष करनेसे क्या लाभ है? कर्ण! आज तुम धर्मकी कितनी ही बातें करो, पर जीवित नहीं रह सकते। महाराज नलको पुष्करने द्यूतमें जीत लिया। फिर भी उन्होंने अपने पराक्रमसे पुनः राज्यश्री और कीर्तिका अर्जन कर लिया। इसी तरह पाण्डव भी अपने पराक्रमसे और सोमकोंकी सहायतासे बड़े-बड़े शत्रुओंका सफाया करके अपना राज्य वापस ले लेंगे। इस धर्मरक्षित; नरवर पाण्डवके द्वारा कौरवोंका सर्वनाश हुए बिना रह नहीं सकता।'

उपर्युक्त सम्भाषण भगवान् श्रीकृष्णद्वारा कथित त्रिकालाबाधित 'धर्म और रणनीति' नहीं तो क्या है!

अब इधरका जमाना देखिये। औरंगजेबने शिवाजी और संभाजीको कपटसे आगरेके किलेमें कैद कर रक्खा। दोनोंका वह अघोषित युद्ध चल रहा था। तब छत्रपति शिवाजीने युक्ति सोची। मेवा-मिठाईके टोकरोंमें बैठकर वे वहाँसे निकल आये। शाइस्ताखाँ कपटसे शिवाजीपर चढ़ आया, तब शिवाजीने भी एकाकी उसपर हमला बोल दिया। बेचारेको अपनी अङ्गुलियाँ कटवाकर भाग जाना पड़ा। निश्चित शर्तोंको भंगकर अफजलखाँने शिवाजीको मार डालनेका प्रयत्न किया तो प्रतापगढ़पर शिवराजको उसे मार डालना पड़ा।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

—श्रीकृष्णके श्रीमुखसे निर्गत यह वाग्धारा रणनीतिका सिद्धान्त नहीं तो क्या है!

सन् १८५७ में भारतीयोंद्वारा छेड़े गये प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्रामको ही लीजिये। शत्रुसेनामें फूट डालना रणनीतिका धर्म-तत्त्व है। इसलिये भेदनीति अपनायी गयी। किंतु समयसे पूर्व वह शुरू हो जानेसे दाव बिगड़ गया।

सन् १९०६-१९०७ का वर्ष! उस समय भी भारतीय देशभक्त युवकोंने स्वतन्त्रताके लिये आन्दोलन किया। उस समय सेनाग्रणी स्वातन्त्र्यवीर श्रीविनायक दामोदर सावरकर पकड़े गये। विलायतमें बंदी बनाकर उन्हें भारत लाया जा रहा था, तब अभूतपूर्व साहस दिखाकर वे जहाजके झरोखेका काँच फोड़ समुद्रमें कूद पड़े और पहरेदारोंकी बंदूकोंके वार बचाते हुए तैरते-तैरते फ्रांसके किनारेपर आ लगे। उनका यह कार्य सर्वथा धर्म ही रहा।

सर विन्सेंट चर्चिल भी इसी तरह शत्रुके पहरेसे निकले और अफ्रीकासे विलायत पहुँचे। ऐसा पलायन भी रणनीतिका एक शिष्टानुगृहीत तत्त्व है। अतएव यह भी धर्म ही है।

सन् १९४२ को भारतीय स्वातन्त्र्यके अन्तिम अघोषित युद्धको लीजिये। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस भी इसी तरह अंग्रेजोंकी नजरबंदीकी परवा न करके कलकत्तेसे गुप्तरूपसे निकल पड़े और अंग्रेजोंके शत्रुओंकी सहायतासे स्वातन्त्र्य-सेनाका संगठन करके अंग्रेजोंपर चढ़ाई कर दी। उन्हें अंग्रेजोंके शासनाधीन बहुत-सी भारतीय सेनाको फोड़ लेना पड़ा। तब कहीं भारत अंग्रेजोंके जालसे छूटकर स्वतन्त्र हो पाया।

जब भारतीय सेनापर निर्भर हो भारतपर शासन चलाना अंग्रेजोंके लिये कठिन हो गया, तब कहीं उन्हें भारतको स्वतन्त्र करना पड़ा। यह घोषणा तत्कालीन ब्रिटिश मन्त्री मेजर ऐटलीने वहाँकी पार्लमेंटमें की थी। अनत्याचारी असहकारिता भी रणनीतिका एक धर्म-तत्त्व माना जा सकता है।

सारांश, जैसेको तैसा, सीधे-से-सीधा, और उद्धत-से-उद्धत—यह रणनीतिका प्रसिद्ध तत्त्व है। मराठोंका इतिहास बताता है कि श्रीअहल्याबाई होलकर शस्त्र हाथोंमें ले राघोबा दादाके विरुद्ध खड़ी हो गयी, तब तुरंत उन्होंने यह कहकर चढ़ाई करनेका विचार स्थगित कर दिया कि स्त्रियोंके साथ लड़ाई करना धर्म नहीं है।

'युद्धमें विजयके हेतु किये जानेवाले प्रायः सभी प्रयास युक्त माने जाते हैं'—यह सिद्धान्त सर्वविश्रुत ही है।

१. हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

२. अपने शत्रुका शत्रु अपना मित्र होता है।

३. शत्रुसेनामें गुप्तचरी और फूट डालना।

४. सदैव सभी मित्र नहीं होते। कभी मित्र शत्रु बन जाते हैं तो कभी शत्रु भी मित्र। यही तो राजनीति है, जिसके लिये संस्कृतके आचार्य कहते हैं—

वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा।

बताया गया है कि मित्र भी जब शत्रु बनकर समराङ्गण-में उतर पड़ता है, तब वह भी तत्काल वध्य ठहरता है। यही बात एक मराठी कविने अपने काव्यमें कही है—

मित्र होती शत्रु केव्हाँ। शत्रु करिती मैतरी।
राजनीती ही खरी॥
मित्र जेहो शत्रु मृणुनी। येइ समरी जाणुनी।
वध्य तो ही तत्क्षणीं॥

ये और ऐसे कितने ही रणनीतिके तत्त्व हैं, जो सभी धर्मोंमें माने गये हैं।

आज भारतको अर्जुनकी तरह बार-बार व्यामोह होता रहता है। ऐसे समयमें भगवान् श्रीकृष्णकी भगवद्गीताका बार-बार पारायण करके उसमें बताये त्रिकालाबाधित सिद्धान्तों-का अनुसरण करना चाहिये। यही उसके लिये श्रेयोमार्ग होगा।



धर्म और दण्डनीति

(लेखक—डा० के० सी० वरदाचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

धर्मशास्त्रोंमें बताया गया है कि सारे संघर्षोंको चार उपायोंसे समाप्त करना चाहिये। उनके नाम हैं—साम, दान, भेद और दण्ड। अन्तिम उपायको तभी उपयोगमें लाना चाहिये, जब पहले तीनोंका पूरी तरहसे प्रयोग कर लिया गया हो और संघर्षको सुलझानेमें वे असमर्थ सिद्ध हो चुके हों।

यह स्पष्ट है कि पहले तीनों प्रबोध, प्रेम अथवा स्नेह-प्रधान हैं और अन्तिम उपाय बलप्रधान। इन तीनों-चारों उपायोंका उपयोग व्यक्तिगत, सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रोंमें भी हो सकता है।

नैतिक धरातलपर विग्रह-विमोचनके लिये यह आवश्यक है कि उचित-अनुचित या भले-बुरेके मापदण्डका ज्ञान हो। यह ठीक है कि लड़नेवालोंके मनमें इसका स्पष्ट चित्र नहीं हो सकता तथा इस बातकी अधिक सम्भावना है कि विरोध व्यक्तियों या केवल सिद्धान्तोंको लेकर ही हो। इस प्रकार विग्रह-विमोचनकी पूर्वावस्यकताओंमें एक यह है कि विरोध करनेवालेको अपने समान ही महत्त्व दिया जाय और समस्या सुलझानेके लिये ऊँचे-नीचे और बड़े-छोटेको एक समान समझा जाय। उदाहरणके लिये न्यायालयमें वादी और प्रतिवादीके साथ समान व्यवहार किया जाता है और उनके तर्कों तथा अभियोगोंपर न्यायकी दृष्टिसे समानतापूर्वक विचार किया जाता है। संयुक्त राष्ट्रसंघमें आकार, धर्म और शासन-प्रणालीकी विभिन्नता होते हुए भी सभी राष्ट्रोंके साथ समान व्यवहार किया जाता है; क्योंकि शान्ति और युक्तिमत्ता अविभाज्य अथवा एक तथा सारे विश्वकी सम्पत्ति है। समानता या समत्वसे यही अभिप्राय है। समत्व अथवा न्यायके धरातलपर समानताके इस ज्ञानसे ही समत्वकी भावनाका उदय होता है, जिसका अर्थ है समता अर्थात् परस्पर समानताका व्यवहार। यह तुष्टीकरण नहीं है वरं युक्तिसंगत विचारोंद्वारा न्यायोचित ढंगसे दोनों पक्षोंकी माँगोंके निर्णयमें निहित वास्तविकता है। किसी पक्षको दूसरेके समक्ष दीनताका बोध नहीं होना चाहिये। इस उपायसे दीन भावनाके कारण उत्पन्न मानसिक जटिलताका निराकरण हो जाता है।

दे-लेकर अथवा हर्जाना या दानके द्वारा समझौता करा के संघर्षको बचा लेना ही दूसरा उपाय या साधन है। दानका अर्थ शुचिता भी किया जाता है (सांख्यतत्त्वकौमुदी ५१, शुद्धिर्विवेकज्ञानस्य, 'दैप् शोधने', धातुपाठः भ्वादि ९४९)। जैसा कि दूसरे महायुद्धसे संसार सीख चुका है, विरोधीका तुष्टीकरण शान्ति प्राप्त करनेका कदाचित् सर्वोत्तम साधन नहीं है। नेविल चैम्बरलेनके प्रयत्नोंका परिणाम यही हुआ कि हिटलरकी माँगें बढ़ती गयीं। अतएव दानका अर्थ उपहार और तुष्टीकरण नहीं है वरं हमारे मनोभावोंकी पवित्रता और वास्तविक समानता तथा शान्ति स्थापित कराने-के लिये पर्याप्त त्याग है। यह दाम चुकाकर शान्ति मोल लेना नहीं है, वरं वास्तविक शान्ति एवं दोनों पक्षोंके बीच पूरा-

पूरा कुशल-क्षेम स्थापित करनेके हितमें किया हुआ यथार्थ और आवश्यक समन्वय है।

प्रलोभन अथवा गुप्तचरोंद्वारा शत्रुदलमें फूट पैदा कर देना ही भेद नामक तीसरा उपाय है। उसके मत ठीक हैं ऐसी अपनी दृढ़ भावनाके विषयमें विरोधी व्यक्ति या पक्षका मन डावाँडोल कर देना ही इसका काम है। उन मतोंकी सत्यता अथवा औचित्यपर संदेहका आवरण चढ़ा दिया जाता है, विवादमें प्रस्तुत किये गये विपक्षीके तर्कोंका बड़ा हितकारी उपयोग यह है वे हमको फिरसे सोचने-विचारनेकी बात सिखाते हैं। जब मूलभूत मान्यताओंकी सत्यताको ललकारा जाता है तब मनुष्य झगड़ेके सम्पूर्ण कारणोंपर फिरसे विचार करता है और एक न्यायोचित समाधानपर पहुँचता है। पर भेद है जो बाध दिखाने अथवा मुँहतोड़ और दृढ़तर तर्कोंके द्वारा मूर्त होता है; क्योंकि अन्ततोगत्वा प्रत्येक व्यक्ति अबाधित ज्ञान चाहता है। इस प्रकार युक्तियुक्त विवेचन, सर्वसम्मत ऊहा-पोहोंमें, सभामें, शासन-समितिमें, अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघमें आवृत नहीं, अनावृत कूटनीति चलती है। आवृत कूटनीतिका तो उद्देश्य होता है मतभेदोंको साधन बनाकर प्रलोभन, भ्रष्टाचार या ऐसे उपायोंसे जो बुद्धि और सामञ्जस्यके लिये एकदम घृणास्पद हैं—पथभ्रष्ट कर देना।

जब ये सब अर्थ सिद्ध हो जायँ, केवल तभी विरोधीकी बुद्धि ठीक करनेके लिये दण्ड अथवा बल-प्रयोगको काममें लाना चाहिये। ये भी भिन्न-भिन्न प्रकारके तथा भिन्न-भिन्न मात्रामें दबाव डालनेवाले होते हैं। इनका उद्देश्य होता है न्याययुक्त वितरणके द्वारा सामञ्जस्य स्थापित करनेके लिये प्रतिपक्षीकी बुद्धि ठीक करना, जिससे सम्बन्धित सबके बीच समानता और शुचिता तथा चारों ओर युक्तियुक्तता एवं एकरूपता स्थापित हो। बलप्रयोग बलप्रयोगके लिये नहीं है वरं धर्मस्थापन तथा सबके अथवा दोनों पक्षोंके न्यायकी धरातलपर रहनेके लिये है। यह सच है कि बलप्रयोगके अवसरपर संचालन करनेवाला हाथ उसीका होना चाहिये जिसकी गम्भीर, तत्पर और प्रबुद्ध दृष्टि देख सकती है कि सार्वभौम अर्थमें सर्वदा सबके लिये न्याययुक्त क्या है?

इस प्रकार साम, दान, भेद, दण्ड वे उपाय हैं जिनसे युद्धकी समस्याको हल किया जाता है। युद्धके रूपमें दण्ड तभी अनिवार्य होता है जब कि विरोधीको ठीक करनेका कोई और उपाय रह ही नहीं जाता और विचारों, आवेगों—लोलुप-प्रवृत्तियों एवं आवश्यकताओंके संघर्षको मिटानेके अन्य सारे उपायोंके नितान्त निर्वीर्य हो जानेपर ही युद्धकी नैतिकता बहुत कुछ निर्भर करती है।

मनुष्यको कितना चाहिये ?

एकोऽपि पृथिवीं कृत्स्नामेकच्छत्रां प्रशास्ति च। एकस्मिन्नेव राष्ट्रे तु स चापि निवसेन्नृपः॥
तस्मिन् राष्ट्रेऽपि नगरमेकमेवाधितिष्ठति। नगरेऽपि गृहं चैकं भवेत् तस्य निवेशनम्॥
एक एव प्रदिष्टः स्यादावासस्तद्गृहेऽपि च। आवासे शयनं चैकं निशि यत्र प्रलीयते॥
शयनस्यार्धमेवास्य स्त्रियाश्चार्धं विधीयते। तदनेन प्रसङ्गेन स्वल्पेनैवेह युज्यते॥
सर्वं ममेति सम्मूढो बलं पश्यति बालिशः। एवं सर्वोपयोगेषु स्वल्पमस्य प्रयोजनम्॥
तण्डुलप्रस्थमात्रेण यात्रा स्यात् सर्वदेहिनाम्। ततो भूयस्तरो भोगो दुःखाय तपनाय च॥

जो राजा अकेला ही समूची पृथ्वीका एकच्छत्र शासन करता है, वह भी किसी एक ही राष्ट्रमें निवास करता है। उस राष्ट्रमें भी किसी एक ही नगरमें रहता है। उस नगरमें भी किसी एक ही घरमें निवास होता है। उस घरमें भी उसके लिये एक ही कमरा नियत होता है। उस कमरेमें भी उसके लिये एक ही शय्या होती है, जिसपर वह रातमें सोता है। उस शय्याका भी आधा ही भाग उसके पल्ले पड़ता है। उसका आधा भाग उसकी रानीके काम आता है। इस प्रसङ्गसे वह अपने लिये थोड़े-से ही भागका उपयोग कर पाता है। तो भी वह मूर्ख गवाँर सारे भूमण्डलको अपना ही समझता है और सर्वत्र अपना ही बल देखता है। इस प्रकार सभी वस्तुओंके उपयोगोंमें उसका थोड़ा-सा ही प्रयोजन होता है। प्रतिदिन सेरभर चावलसे ही समस्त देहधारियोंकी प्राणयात्राका निर्वाह होता है। उससे अधिक भोग दुःख और संतापका कारण होता है। (महाभारत, अनु० प० १४५)

धर्म और राजनीति

(लेखक—आचार्य श्रीविश्वप्रकाशजी दीक्षित 'बटुक')

(१)

पाश्चात्त्य भौतिकवादी शिक्षामें पोषित बुद्धिका सामान्य व्यक्ति आज यही कहता है कि 'धर्म और राजनीतिका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनोंकी दो विपरीत दिशाएँ हैं। राजनीतिका धर्मसे कोई नाता नहीं जोड़ा जा सकता। एक धर्मप्राण व्यक्ति राजनीतिकुशल नहीं हो सकता' आदि-आदि। किंतु यदि धर्म और राजनीतिकी परिभाषाओं और सीमाओंपर गम्भीरतासे विचार किया जाय, तो पता चलेगा कि धर्मसे पोषित राजनीति ही सच्ची नीति है; अन्यथा वह दुर्नीति और कपटाचरणसे पोषित कूटनीतिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

किसी वस्तु या व्यक्तिकी वह वृत्ति ही धर्म है, जो उसमें सदा रहे, उससे कभी अलग न हो। किसी मान्य ग्रन्थ, आचार्य या ऋषिद्वारा निर्दिष्ट वह कर्म ही धर्म है जो पारलौकिक सुखकी प्राप्तिके अर्थ किया जाय। वह वृत्ति या आचरण ही धर्म है, जो लोक या समाजकी स्थितिके लिये आवश्यक हो। वह आचार ही धर्म है, जिसके द्वारा समाजकी रक्षा और सुख-शान्तिकी वृद्धि हो। सत्कर्म, सुकृति और सदाचार ही धर्म है। आपसी व्यवहारसम्बन्धी नियमका पालन, जो किसी राजा या मध्यस्थद्वारा कराया जाय, धर्म है। न्याय-व्यवस्था ही धर्म है। नीति ही धर्म है।

मानवके लिये नरक—अधोगतिके मुख्य कारणोंमें विलासिता, भोगासक्ति, फूट, अतिमानिता, स्वार्थपरता हैं। इनके चक्करमें पड़कर अधोगतिके गर्तमें गिरते हुए मनुष्योंको जो धारण करता, अर्थात् पकड़ लेता है, वही धर्म है। प्रजाको धारण करे, वही धर्म है। इस प्रकार धर्मका क्षेत्र बहुत विशाल और व्यापक है।

राजनीति राज्यकी वह नीति है, जिसके अनुसार प्रजाका शासन, पालन और अन्य राज्योंसे व्यवहार होता है। इस लक्षणमें धर्मका विरोध कहीं भी प्राप्य नहीं है। प्रजाको धारण करनेवाली नीति ही राजनीति है; और राजनीति ही धर्म है। इस प्रकार दोनोंमें जो पारस्परिक मैत्री है, अन्योन्याश्रयका सम्बन्ध है, उसकी मर्यादा कौन मिटा सकता है?

आजका औसत राजनीतिज्ञ धर्मका नाम सुनकर नाक-भौं सिकोड़ता और राजनीतिको धर्मसे बचाकर चलानेकी घोषणा करता है। फल स्पष्ट है। आजकी राजनीति धर्मको मानकर नहीं चलती। फलतः विश्वव्यापक अशान्ति विद्यमान है। आज सर्वत्र वर्गवाद, कालाबाजार, घूसखोरी, पदलोलुपता, देश-हितकी उपेक्षा, स्वार्थ-साधनमें तत्परता आदि अधर्मोंका प्राबल्य है और इसीसे संसार अशान्त तथा दुखी है। इस अशान्त तथा दुखी संसारका धिन्वन-पीडन (धिन्वनाद्धर्मः) धर्म ही कर सकता है। धर्मसे ही विश्वमें शान्ति स्थापित हो सकती है। अशान्त शस्त्र-बलसे नहीं।

शुद्ध तथा शान्त साध्यके लिये साधन भी शुद्ध तथा शान्त ही आवश्यक होता है। धर्म-बलके विना केवल शस्त्र-बल तथा कानून-बलसे स्थायी शान्ति कदापि नहीं हो सकती। अशान्तिका उद्गम-स्थल परस्पर कलह तथा बाह्य आचरण है। कलहका मूल कारण है—स्वार्थपरता। धर्मका स्वरूप है—**'परोपकारः पुण्याय।'** अर्थात् परस्पर एक-दूसरेका उपकार ही उन्नतिका कारण होता है। उपकारमें पालनका भाव निहित है। राजनीतिके द्वारा पालनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इस प्रकार जो राजनीति धर्मको लेकर नहीं चलेगी, वह पालनका भाव खो बैठेगी। फलतः प्रजाका रक्षक प्रजाका भक्षक बन बैठेगा।

धर्मकी संस्थापनाके हेतु अवतार लेनेवाले राजनीति-विशारद महाराज श्रीकृष्णने धर्मकी जो व्यवस्था गीतामें दी है, राजनीति उससे कहाँ भिन्न है? राजनीतिका अर्थ-शास्त्रसे अविच्छेद्य सम्बन्ध है। महाराज श्रीकृष्णने वर्ण-व्यवस्थाका वर्णन करते हुए गुण-कर्मका सम्बन्ध बताया है। गुण-कर्मानुसार वर्ण-विभाग हुआ है। वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन ब्राह्मणका कर्म है गो-पालन तथा कृषि और वाणिज्य वैश्यका धर्म है। संकटसे रक्षा अथवा देशकी व्यवस्था ठीक रखनेका काम क्षत्रियका है और इन सबको अपने-अपने कार्यमें सहायता देनेका कार्य चतुर्थ वर्णका है। अर्थ-शास्त्रकी दृष्टिसे इसे श्रम-विभाजन भी कह सकते हैं।

राजनीति शासकद्वारा संचालित है। राजा या शासक वही है, जो प्रजाका पालन करे। प्राचीन शास्त्रोंको अध्ययन करनेसे ज्ञात होता है कि क्षत्रिय राजा वेणुके पुत्र महाप्रतापशाली परम धार्मिक पृथु अपनी प्रजाके सुख और शान्तिकी सब प्रकारसे व्यवस्था करते थे। इसीलिये उनको सबसे पहले राजाकी उपाधिसे आभूषित किया गया था। राजा वही है, जो प्रजाका अनुरञ्जन करे। वे सदा ही प्रजाका अनुरञ्जन करते थे। इसीलिये उनको राजा कहा जाता था।

प्रजाको धर्मपक्षमें परिचालित करनेके लिये शासकको—जिसके हाथमें राष्ट्रके शासनकी बागडोर है, उस पार्टीको—स्वयं धर्मपथका आश्रय लेना चाहिये; क्योंकि शासकका आचार-विचार-व्यवहार ही प्रजाके लिये अनुकरणीय होता है और उसकी व्यवस्था ही प्रजाके लिये शिरोधार्य होती है। वस्तुतः धर्म-रक्षाके लिये ही शासक-वर्ग बनाया गया है। भगवान् श्रीरामचन्द्रने धर्मका अवलम्बन करके राज्य किया था। इसी कारण उनकी प्रजामें दुर्भिक्ष, व्याधि, अकाल-मृत्यु, पर-पीड़न, चोरी, हिंसा आदिका नाम भी नहीं था।

वास्तवमें राष्ट्रका यथार्थ-रीतिसे परिचालन करनेके लिये राजनीतिके सूत्रधर राष्ट्रपतिको ही सर्वप्रथम धर्मका आश्रय ग्रहण करना चाहिये। इसी कारण शास्त्रमें देखा जाता है कि राज्याभिषेकके पहले राजाके लिये गुरु-ग्रहण कर्त्तव्य होता है; क्योंकि गुरु ही धर्मका उपदेष्टा है। गुरु स्वयं राजनीतिविद् होता है। वशिष्ठजी एक साथ ही रघुवंशके गुरु, पुरोहित और मन्त्री भी थे। महाभारतमें बताया गया है कि राष्ट्रकी राजनीतिका संचालन करनेवाले विभिन्नविभागके सचिवोंको जैसे धार्मिक होना आवश्यक है, उसी प्रकार मन्त्रियोंको भी पुण्यात्मा और धार्मिक होना आवश्यक है।

हम ऊपर कह आये हैं कि राजनीतिका अर्थ-नीतिसे गहरा सम्बन्ध है। राज्य-रक्षाके लिये अर्थ-संग्रहकी आवश्यकता है, इसमें संदेह नहीं। इसी उद्देश्यसे प्रजासे राजाके राजस्व-ग्रहण करनेकी व्यवस्था होती है, परंतु प्रजा कहीं कर-भारसे पीड़ित न हो, इसपर विशेष ध्यान देकर ही करकी मात्रा निर्धारित करनी चाहिये। इस विषयमें धर्म-शास्त्रोंमें सुन्दर-सुन्दर उपमाएँ देखनेमें आती हैं।

कर-ग्रहण करनेमें राजाको 'मालाकार-वृत्ति'का ही आश्रय लेना चाहिये। अर्थात् माली जिस प्रकार वृक्षको पीड़ित या विनष्ट न करके पुष्प-चयन करता है, राजा भी उसी प्रकार प्रजाको पीड़ित या विनष्ट न करके कर-ग्रहण करे। 'अङ्गारक-वृत्ति' अवलम्बन करना शासकको उचित नहीं। अर्थात् जैसे कोयला तैयार करनेके लिये वृक्षको काटकर और ध्वंस करके काष्ठ-संग्रह किया जाता है, शासकको प्रजासे उस प्रकार कर-संग्रह करना ठीक नहीं। दुग्ध-प्राप्तिकी आशासे गायका स्तन काटनेसे जैसे गायकी मृत्यु हो जाती है और दूधकी प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार प्रजाको कर-भारसे पीड़ित करनेपर समूचा राष्ट्र ही विनष्ट हो जाता है। 'गरुड़-पुराण'में कहा गया है कि सूर्य जिस प्रकार जल खींचकर जीवके उपकारके लिये, उसे पुनः वारि-धाराके रूपमें बरसा देता है, राष्ट्रपतिको भी उसी प्रकार राजस्व ग्रहण करके प्रजाके हितार्थ ही उसको व्यय कर देना चाहिये। अर्थकी इतनी विशद व्याख्या करके हमारे धर्माचार्योंने धर्मका सीधा सम्बन्ध राजनीतिसे जोड़ दिया है।

दण्डविधान भी राजनीतिका एक पक्ष है। दण्ड-विधानके निमित्त नीति (कानून) तैयार करना भी आवश्यक है। कानूनका निर्माण भी पहले धर्मानुसार होता था। 'बृहस्पति और शुक्रकी नीतियाँ' इस विषयमें प्रमाण हैं। इन धर्माचार्योंने 'धिग्-दण्ड' 'अर्थ-दण्ड', 'काय-दण्ड' तथा 'प्राण-दण्ड' आदिकी व्यवस्था दी है। निर्णय करते समय इसपर विशेष ध्यान दिया जाता था कि कहीं निर्दोष व्यक्ति किसी तरह भी दण्डित न हो जाय और दोषी प्रमाणित होनेपर राजा अपने पुत्रको भी दण्ड देनेमें आपत्ति नहीं करता था। आज राजनीतिसे धर्मका सम्बन्ध तोड़ दिया गया है, इसीलिये दण्डकी विडम्बना हो रही है। दण्ड दिये जाते हैं और अपराधों तथा अपराधियोंकी संख्यामें वृद्धि हो रही है। वास्तवमें समस्त जीवलोक राजधर्मके द्वारा ही संचालित और प्रतिपालित होता है। इसीसे मानव-समाजका आदर बढ़ता है। वास्तविक धर्म-रक्षाके लिये राज-धर्म और राजनीति-रक्षाके लिये धर्म आवश्यक है। महान् राजनीतिज्ञ महात्मा चाणक्यने अपने अर्थ-शास्त्रमें प्रजाको सुख देनेवाली

राजनीतिका धर्मसे अटूट सम्बन्ध बताते हुए कहा है—**'सुखस्य मूलं धर्मः'**। अपनी कूटनीतिके कारण ही जिसका नाम कौटिल्य पड़ा, वह भी राजनीतिमें धर्मकी सत्ता स्वीकार करता है। अग्निपुराणमें कहा गया है कि 'आधि-व्याधिसे ग्रस्त तथा आज या कल ही नष्ट होनेवाले इस शरीरके लिये कौन राजा धर्म-विरुद्ध आचरण करेगा ?'

वैदिक ऋषियोंने भी राज्य-शासनमें धर्मकी स्थापना स्वीकार की है। विभिन्न प्रकारकी शासन-प्रणालियोंमें शासनका आधार धर्म ही माना गया था। वेदोंके अध्ययनसे पता चलता है कि ऋषियोंके तपसे राष्ट्र-भावकी उत्पत्ति हुई थी। ऋषियोंकी तपस्यासे जिस राष्ट्रियताकी उत्पत्ति हुई, वह राष्ट्रियता धर्म-नियम-पालनके बिना कदापि विकसित नहीं हो सकती। वैदिक राजनीतिज्ञोंका सिद्धान्त था कि ब्रह्मचर्यरूप तप करके ही राजा और राष्ट्रपुरुष राज्यपालन-व्यवहारके अधिकारी होते हैं—**'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।'** ब्रह्मचर्य-पालनमें धर्म-नियम आ गये हैं। वैदिक राजनीतिमें इन्द्रियलोलुप, स्वार्थी, उच्छृङ्खल, द्वेष-दम्भसे युक्त, दुष्कृत्य-रत, हिंसा-रत, आसुरी वृत्तियोंसे अभिभूत व्यक्तियोंके लिये स्थान ही नहीं था। राजसूत्रके धारण करनेवाले राजाओंसे लेकर वैदिक स्वराज्यके मताधिकारी तक धर्मका अनुसरणवाले होते थे। उस समय व्यापक दृष्टिवाले, मित्रवत् व्यवहार करनेवाले, ज्ञानी, विद्वान्, आत्मसंयमी और सत्य ज्ञानवालोंको ही मताधिकार दिया जाता था। किंतु आज राजनीतिका धर्मसे सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया गया है। इसीलिये आज विविध ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न होनेपर भी कठिनाइयोंसे मुक्ति नहीं मिल पा रही है। दुःख और क्षोभ बढ़ता ही जा रहा है और धर्मकी यों ही अवहेलना होती रही तो दुःख तथा क्षोभ और भी बढ़ेंगे ही !

(२)

(लेखक—श्रीभागवतनारायणजी भार्गव, संसद्-सदस्य (राज्यसभा)

वस्तुतः मानव-जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें, समाज-निर्माणके हर स्तरमें और राष्ट्रके उन्नयनमें सर्वत्र धर्म और बुद्धिकी परमावश्यकता है। धर्मविहीन मनुष्य-समाजका और राष्ट्रका उत्थान कभी नहीं हो सकता। धर्मविहीनता सबको पतनकी ओर ले जाती है।

राजनीतिमें तो धर्मकी वैसी ही अनिवार्यता है, जैसे शरीर-पोषणके लिये अन्न-जल अनिवार्य हैं। राजनीतिका अर्थ है—राजाकी नीति या शासनकी नीति। राजनीतिका सम्बन्ध राष्ट्रके प्रत्येक क्षेत्र तथा स्तरसे है। शासनकी नीतिके अनुसार प्रत्येक विभागका अधिकारी वर्ग काम करता है, प्रत्येक विभागके संचालनमें उसका प्रभाव पड़ता है। कुछ लोग समझते हैं कि राजनीतिसे धर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह बात मिथ्या है, तथ्योंसे परे है।

महात्मा गांधीजीने ईश्वर और धर्मका अवलम्बन लेकर ही स्वतन्त्रताका राजनीतिक आन्दोलन सन् १९२०-१९४२ तक चलाया। उनके जितने व्याख्यान राजनीतिक मंचसे होते थे, वे ईश्वर-श्रद्धा और धर्माचरणपर आधारित होते थे। उनकी श्रीमद्भगवद्गीतापर पूर्ण श्रद्धा थी और उसीके उपदेशोंके आधारपर असहयोग और सत्याग्रह-आन्दोलन सफल हुए और भारत स्वतन्त्र हुआ। रामराज्यकी पुकार गांधीजीने ही पहले लगायी थी, परंतु जब देश स्वतन्त्र हो गया और गांधीजीने सत्ताका लोगोंपर दूषित प्रभाव देखा तब उन्होंने कहा—'धर्म मुझे प्रिय है और मेरी सबसे पहली शिकायत यह है कि भारत धर्महीन होता जा रहा है। यहाँ मैं हिंदू या मुसल्मान या ईसाई या पारसी धर्मका विचार नहीं कर रहा हूँ बल्कि उस धर्मका विचार कर रहा हूँ जो सब धर्मोंके मूलमें है। हम परमात्मासे विमुख होते जा रहे हैं !'

आजके युगमें तो प्रायः लोगोंको धर्मसे ही नहीं, धर्म-शब्दसे ही चिढ़ हो गयी है। पाश्चात्त्य सभ्यता, संस्कृति, शिक्षा और पाश्चात्त्य विचारधाराका जिनके जीवन-पटलपर दूषित प्रभाव पड़ चुका है वह अमिट-सा दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण हमें अपना सब कुछ बुरा और हेय लगता है और पराया सब अच्छा तथा श्रेय।

धर्मका अर्थ मजहब या रिलीजन नहीं है। मजहब और रिलीजनका अर्थ बहुत संकुचित है। धर्मका अर्थ बहुत व्यापक और विस्तृत है।

> **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।**
> **धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।**
> **धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥**

शासकको अथवा राजनीतिक संचालकको धृति, क्षमा, दम आदि मनुकथित दस धर्मोंको अवश्य ग्रहण करना चाहिये। अन्यथा शासक प्रजाका हित नहीं कर सकता।



प्रेमधर्मरूप सौन्दर्य-माधुर्य-सिन्धु भगवान् श्रीकृष्ण

धर्मका समावेश विश्वकी राजनीतिसे उठ गया है। यही कारण है कि सर्वत्र विघटनकारी तत्त्वोंका प्रादुर्भाव हो रहा है। द्वेष, वैमनस्य, भ्रष्टाचार, अनाचार, व्यभिचार, दम्भ, प्रवञ्चना, असत्य और हिंसाका विकराल आधिपत्य बढ़ रहा है। प्राचीनकालमें शासक कह सकता था—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

क्या आज विश्वका कोई भी शासक यों कह सकता है? उन दिनोंके सुराज्यमें जिन दोषोंका सर्वथा अभाव था, वे दोष आजके संसारमें भरपूर हैं; क्योंकि आज हम धर्मका बहिष्कार करते हैं! इस विपरीतताका कारण यह है कि लोग भौतिकवादको ही अपना गुरु और अपना सर्वस्व मानते हैं, भोगवादके पङ्कमें फँस गये हैं, अध्यात्मवाद और त्यागवादसे घृणा करते हैं। यदि शासनमें तथा राजनीतिके हर स्तरमें धर्मका पुट दे दें तो समाजका कायापलट हो जाय। मद, मदिरा, मांस, मोहिनी और विलासिताका परित्याग करके इन्द्रियनिग्रह, शम, दम, सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार और 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'की भावनाएँ हृद्गत करें और उनको व्यावहारिक रूपसे अपने दैनिक जीवनमें उतारें तो देशका कल्याण हो। शासक यदि शुद्ध जीवन, आत्मसंयम और धर्मपूर्ण प्रजारञ्जनका व्रत ले लें, तो पृथ्वीपर रामराज्य आ सकता है। नास्तिकता और धर्म-विहीनतासे तो रावण-राज्य ही आ जानेकी आशंका होती है। जिस राजनीतिके अन्तर्गत श्रीरामने कहा था—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

उसी धर्ममय राजनीतिको या राज्यनीतिको लानेकी आवश्यकता है; परंतु दुःख है कि राजनीतिको धर्मसे अलग रखनेकी ही योजनाएँ हमें सूझती हैं। कुछ लोग कहते हैं कि "धर्म तो निजी जीवनकी चीज है, आप हमारा निजी जीवन क्यों देखते हैं, हमारा सार्वजनिक जीवन देखिये कितना ऊँचा है। दिन-रात जनताकी सेवामें पिसे जाते हैं निजी जीवन चाहे जैसा हो। 'प्राइवेट लाइफ' और 'पब्लिक लाइफ' से क्या सम्बन्ध!" ये हैं घोर पतनके लक्षण। यदि ऊँचे लोगोंका निजी जीवन असत् होगा तो नीचेके लोग उसको प्रमाण मानकर वैसा ही करेंगे।

राजनीतिमें यदि धर्मका समावेश पग-पगपर हो जाय तो देशमें न दुर्भिक्ष हो, न गोवध हो, न शिक्षा धर्मविहीन हो, न चिकित्सामें लोगोंको मांस-मज्जा-आँतोंकी बनी ओषधि मिले। देशमें सिनेमासे जो हानि नवयुवक-नवयुवतियोंकी और सारे समाजकी हो रही है, अश्लील साहित्य और चित्रोंसे जो क्षति पहुँच रही है—वह बंद हो। अर्थ और अधिकारकी लिप्साका अन्त हो तो भ्रष्टाचार भी मिटे, विद्यार्थियोंकी अनुशासन-हीनता मिटे, स्त्री-पुरुषोंमें सच्चरित्रता आवे, जन-जन धर्मावलम्बी और स्वावलम्बी बने, देशको किसी शत्रुका भय न रहे और हम सब प्रकारसे अभय हो जायँ। मानव-धर्मका विस्तार हो, शासक और शासित परहित-रत होकर राष्ट्रके उन्नायक बनें और वास्तविक रामराज्यके दर्शन कर सकें। वह रामराज्य कैसा था—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना॥
एकनारिब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥

यतो धर्मस्ततो जयः

प्रेमधर्मरूप-सौन्दर्य-माधुर्यसिन्धु भगवान् श्रीकृष्ण

जय नँदनंदन प्रेम-विवर्धन सुषमासागर नागर स्याम।
जय कांता-पट-कांति-कलेवर मन्मथ-मन्मथ रूप ललाम॥
जय गोपीजन-मन-हर मोहन राधावल्लभ नव-घनरूप।
जय रस-सुधा-सिंधु सुचि उछलित रासरसेस्वर रसिक अनूप॥
जय मुरली धर अधर गान-रत जय गिरिवरधर जय गोपाल।
मग जोहत बीतत पल जुग सम दै दरसन अब करौ निहाल॥

धर्मयुद्ध

[मामनुस्मर युध्य च]

(लेखक—श्रीशिवानन्दजी शर्मा, एम्० ए०)

इस चराचरात्मक संसारमें सर्वत्र ईश्वर व्याप्त है जैसे कि 'फिनामिनन' (Phenomenon) में 'नाउमिनन' (Novmenon) व्याप्त रहता है। सभी 'विशेषों' में एक 'सत्ता-सामान्य' अनुस्यूत है । जगत् गतिशील है, जीवनवान् है, यद्यपि कहीं जीवन प्रकट, स्फुट है और कहीं गुप्त । स्थूल सृष्टि मानो अन्तर्निहित ईश्वरका बाह्य आवरणमात्र है । स्थूल सृष्टिके मध्यमें अथवा उसके पृष्ठमें उसका मूलाश्रय परमात्मा विराजमान है । हमें विश्वमें जो कुछ भी हलचल दीख पड़ती है, उस सबके पीछे सबके आधारभूत प्रभुकी चैतन्य सत्ता एवं शक्तिका अनन्त अविच्छिन्न प्रवाह है । जैसे समुद्रादिमें ऊपर भयावह तूफान हो; किंतु नीचे तहपर गम्भीर, शान्त, शक्तिमय जलधाराका अबाध प्रवाह होता है, वैसे ही इस दृश्यमान जगत्के मोहक आवरणके नीचे भी अखण्ड चैतन्य सत्ताका आनन्दस्वरूप, गम्भीर, शान्त एवं शक्तिमान् प्रवाह है । वही तो दिव्य प्रवाह ईश्वर है। जैसे स्थूल मानवदेहमें सूक्ष्म रूपसे आत्मा व्याप्त है, वैसे ही ब्रह्माण्डमें भी सूक्ष्मरूपेण परमात्मा व्याप्त है। सर्वत्र बसनेवाला होनेसे ही उसका नाम 'वासुदेव' है । '**भगवान् वासुदेवो हि सर्वभूतेष्ववस्थितः ।**' यह सब वासुदेव ही है । '**वासुदेवः सर्वमिति**' सर्वत्र रमण करनेवाला वही लोकाभिराम 'राम' है । वह प्रभु सभी गतिशीलता, क्रियाकलाप, 'फ्लक्स' का मूलाधार—स्रोत, स्रष्टा होकर भी उससे अस्पृष्ट है, दूर है, द्रष्टामात्र है । परात्पर ब्रह्म ऐसा चित्र-विचित्र है ।

जीवका कल्याण तभी है, जब वह इस शक्तिपुञ्ज प्रभुके साथ ज्ञानात्मक, भावात्मक, आध्यात्मिक एकताका सम्बन्ध स्थापित करके इस प्रकार जीवननिर्वाह एवं कर्म करता है कि वह भी प्रभुकी भाँति कर्मसे लिप्त न हो । गीतामें भगवान् श्रीकृष्णका वाक्य है—'**न मां कर्माणि लिम्पन्ति ।**' ईशावास्य उपनिषद्में भी हमें निर्लिप्त होकर आचरण करनेका उपदेश दिया गया है—'**एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।**' कर्म करते हुए भी तटस्थ रहना ही जीवन-यापनकी श्रेष्ठ कला है, उसका साफल्य है ।

गम्भीर शान्ति एवं शक्ति प्रभुका लक्षण है । जहाँ शान्ति, वहीं शक्ति । शान्ति एवं शक्ति एक ही वस्तुके दो पहलू हैं । स्थितप्रज्ञ व्यक्ति भी परम ब्रह्मकी भाँति अन्तस्तलमें परम शान्त, गम्भीर एवं सशक्त होता है । वह दुःखोंमें अनुद्विग्न तथा सुखोंमें विगतस्पृह होता है और वीतराग होनेके कारण भय-क्रोधसे ऊपर उठकर स्थित होकर भी व्यवहार करता है । वह जानता है कि क्रोधसे उत्तेजनामय चित्त-क्षोभ होता है, बुद्धिकी प्रखरता विनष्ट होती है, मूढ़ता आती है तथा स्मृति-विभ्रम होकर विनाश हो जाता है । आत्माके प्रकाश एवं प्रसादसे सब दुःखोंका नाश होता है, अन्तःकरण निर्मल होता है, मनका दुःख-सुखरूपी मैल कट जाता है । ब्राह्मी स्थितिमें बुद्धिके स्थिर होनेपर इन्द्रियाँ तथा मन संयमित हो जाते हैं । ब्राह्मी स्थिति अथवा स्थितप्रज्ञतामें मनुष्य समरस हो जाता है; जहाँ न राग है, न द्वेष, न भय और न क्रोध । वहाँ तो अजस्र शान्ति, शक्ति तथा सहज प्रसन्नता रहती हैं । जैसे हिमाद्रिके उत्तुङ्ग शृङ्गपर चढ़कर भूतलके क्रियाकलाप क्षुद्र प्रतीत होते हैं, वैसे ही ब्रह्मस्थित व्यक्तिको भी लौकिक दुःख-सुख क्षुद्र प्रतीत होते हैं ।

'**समोऽहं सर्वभूतेषु**' (भगवान् सभी प्राणियोंमें समान रूपसे रहते हैं) का सिद्धान्त माननेवाला व्यक्ति भला क्यों किसीका विरोध करे, क्यों किसीसे लड़े, क्यों किसीका अपमान करे ? वह तो प्राणिमात्रमें प्रभुका दर्शन करनेके कारण सभीका सत्कार करता है, सभीसे प्रेम करता है, सभीकी सेवा करता है और यही प्रभुकी पूजा है । सीय राममय सब जग जानी । करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥ उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध । निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

भक्त-हृदय जानता है कि जैसे ब्रह्माण्डरूपी देहमें परमात्माका आवास है, वैसे ही मानव-कलेवरमें आत्माका आवास है । यह आत्मा उस परमात्माका सनातन अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।**' ब्रह्माग्निका स्फुलिङ्ग है, ब्रह्मसिन्धुका एक विन्दु है । अतएव भगवत्तत्त्वको जाननेवाला व्यक्ति प्राणिमात्रके सत्कारद्वारा

उसमें स्थित अनन्त ब्रह्माण्डनायक प्रभुका समादर करता है। वह निष्काम आचरण करनेवाला सुजन स्वधर्माचरण करता है तथा प्रत्येक श्वासोच्छ्वासको परमार्थमें ही लगाता है। वह लौकिक सुख-दुःखकी स्थितिमें उनसे प्रभावित न होकर समरस तो होता है किंतु वह शुष्क एवं नीरस नहीं हो जाता। प्रभुके प्रति भक्तिरस ही प्राणियोंके प्रति प्रेमरस-का रूप ग्रहण करता है। परोपकार करना उसका स्वभाव हो जाता है। वह कठोरतापर मृदुतासे, कटुतापर प्यारसे, अपराध-पर क्षमादानसे, अपकारपर उपकारसे एवं पापपर पुण्यसे विजय पानेका प्रयास करता है। अहिंसा, सत्य उसके आयुध हैं, जिनके द्वारा वह हिंसा, पाप, अत्याचार, अनाचार, दुराचार एवं असत्यसे सफल युद्ध करता है। वह व्यक्तिगत मान-अपमानके हेतु या किसी भी लौकिक-पारलौकिक स्व-सुखकी कामनासे युद्ध नहीं करता, अपितु सिद्धान्तोंकी, मूल्योंकी रक्षाके हेतु ऐसा करता है। वह पापसे घृणा करता है, पापीसे नहीं। वह ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, हिंसाभावसे प्रेरित कभी नहीं होता अपितु अन्याय, असत्यका दमन करना उसके लिये मानो जगतीतलसे अन्धकारको हटाना है।

आध्यात्मिक दृष्टिसे यह समीचीन है कि पूर्णतः लोक-विरक्त परम संत तो चरम सीमातक केवल सात्त्विक आयुधों-का ही प्रयोग करते हैं किंतु लोक-व्यवहारस्थित कोई उदात्त पुरुष क्या करे? श्रीरामभद्र लोकनायकके रूपमें लोकमर्यादाका पालन करते थे। इसी कारणसे ही मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम आदर्श मानव थे। वे उदात्त, शीलवान्, करुणार्द्र, समुज्ज्वल, निष्कलुष, निष्कपट, गम्भीर, प्रियदर्शन, सरल एवं सुभग थे और उनके पावन हृदयमें कोमल एवं मार्मिक अनुभूतियोंकी अन्तस्सलिला छिपी हुई थी। किंतु सरस, सहृदय, करुणामय, सहिष्णु एवं क्षमाशील होते हुए भी वे दृढ़तापूर्वक सत्यसंध एवं कर्तव्यनिष्ठ थे, पराक्रमी एवं वीर थे, तेजस्वी एवं ओजस्वी थे। वे कुसुमसे भी अधिक सुकोमल थे तथापि वज्रसे भी अधिक कठोर थे—**'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।'** भगवान् राम मानव-शक्तियोंके चरम विकासके श्रेष्ठ प्रतीक हैं। रामका व्यक्तित्व पूर्ण है और मानवताको शाश्वत प्रेरणा देता रहा है।

'अति कोमल रघुबीर सुभाऊ।' जब सदय हृदय रामने राक्षसोंके द्वारा साधुओं एवं जनताकी प्रपीड़ना देखी तो उन्हें उसके निराकरणका उपाय करना पड़ा; क्योंकि 'ताटस्थ्य' का अर्थ निष्क्रियता नहीं है, बल्कि फलमें अनासक्ति है। रामने जनरक्षाके हेतु प्रण किया। 'निसिचर हीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह।' रामने राक्षसोंका हनन तब किया, जब सात्त्विक ऋषिगणके उपदेशका भी उनपर कोई प्रभाव न हुआ। दण्ड देना भी प्रभुका विधान होता है। जब मत्त गयन्द विनाश-लीला करता है, तब उसका उपाय अंकुश ही होता है। माताकी भाँति जनहितमें प्रभु धर्म-शासनके हेतु, मर्यादा-पालन-हेतु पवित्र दृष्टिसे, प्रेमभावसे दण्ड भी देते हैं।

जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥

> जदपि प्रथम दुख पावइ, रोवइ बाल अधीर।
> ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥
> तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
> तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि।

इस प्रकारसे दुर्दमनीय राक्षसको दण्ड देनेके हेतु युद्ध करना भी धर्म होता है। जब कोई वीर पुरुष व्यक्तिगत ईर्ष्या, द्वेष, घृणा एवं क्रोधसे ऊपर उठकर सिद्धान्तों एवं मूल्यों अथवा निरपराध व्यक्ति, जन-समुदाय एवं धर्मकी रक्षाके हेतु युद्धरत होता है, तो वह युद्ध 'धर्मयुद्ध' है। बलका प्रयोग घृणाको छोड़कर भी हो सकता है। शौर्यप्रदर्शन तो मनको शान्त रखकर, क्रोधका त्याग करके भी होना सम्भव है। यदि युद्ध केवल हिंसापूर्ण मार-काटके लिये, बर्बरतापूर्ण अत्याचारके लिये, प्रलयोपम विध्वंसके लिये, मिथ्या दर्पकी तुष्टिके लिये तथा पर-स्वाप-हरणके लिये हो तो वह निश्चय ही पापमय है। ऐसा युद्ध न केवल विनाशकारी ही होता है, अपितु विजय देकर भी पतनकारक होता है; क्योंकि कोई व्यक्ति, जाति अथवा देश घृणापर आधारित होकर जीनेसे कभी सुख तो पा ही नहीं सकता, अपितु अचिर ही स्वयं ध्वस्त हो जाता है। नीट्शेका अनुयायी हिटलर 'भौतिक बलके द्वारा आनन्द-प्राप्ति'का दुःस्वप्न देखता था। भौतिक बलके उपासक बममें 'सौन्दर्य' देखनेका भ्रम करते हैं। मुसोलिनी आधुनिक युगमें युद्धके ही हेतु युद्ध करनेके लिये कुख्यात हुआ। चाणक्यकी उक्ति है—**'कुर्यात् हिंसने प्रतिहिंसनम्।'** विवश होकर प्रत्युत्तरमें हिंसा करनी चाहिये। किंतु प्रभु श्रीरामने धर्मरक्षार्थ धर्मयुद्ध किया और जहाँ फटकारसे ही काम चल गया, वहाँ युद्धको बचाया।

समुद्रके द्वारा करुणानिधानके विनयकी अवहेलना होनेपर श्रीरामको कहना पड़ा—'भय बिनु होइ न प्रीति' तथा सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपन सन सुंदर नीती॥ ममता रत सन ग्यान कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी॥ क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बएँ फल जथा॥

प्रभुके शर-संधान करनेपर उदधिके उरमें ज्वाला जाग्रत् हो गयी और तब समुद्र विकल होकर विप्ररूप धारण करके, अभिमान त्याग करके कनकथालमें मणियाँ भरकर प्रभुके सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। नीतिवाक्य है—

काटेहिं पइ कदरी फरइ कोटि जतन कोउ सींच।
बिनय न मान खगेस सुनु डाटेहिं पइ नव नीच॥

राम तो कोमलचित्त थे, तुरंत समुद्रको क्षमा कर दी उन्होंने किंतु उसे क्षमापात्र बनाकर क्षमादान किया, अन्यथा क्षमा तो कायरता थी। मर्यादा-पुरुषोत्तमके मनमें हिंसाभाव, शत्रुभाव तो था ही नहीं।

महाभागा राज-राजेश्वरी देवी सीताका हरण करनेवाले रावणको भी मर्यादापुरुषोत्तमने प्रेमसे ही सन्मार्गपर लानेका प्रयत्न किया। तदर्थ अंगदको रावणके पास दूतरूपमें प्रेषित किया। अंगदने कहा—'हे रावण! तुम उत्तम कुलमें उत्पन्न होकर कुमार्गगामी हो गये। भय त्यागकर प्रभुकी शरण जाओ। क्षमादान मिलेगा।' किंतु ज्ञानलवदुर्विदग्धको तो ब्रह्मा भी रञ्जित नहीं कर सकते। अंगदने बल-परिचय भी दिया और नीतिका वर्णन भी किया; किंतु रावण तो तब मलिन-बुद्धि था। अंगदसे पूर्व इसी प्रकारसे हनुमान् भी असीम बलका परिचय दे चुके थे और नीतिवर्णन कर चुके थे तथा रामजीकी ओरसे क्षमादानका आश्वासन भी दे चुके थे। 'गए सरन प्रभु राखिहैं तव अपराध बिसारि'। अंगदने बलपरिचय-हेतु ही यह स्पष्ट कर दिया था कि हनुमान् तो सुग्रीवके केवल अनुचरमात्र हैं 'सो सुग्रीव केर लघु धावन'। अंगदने रावणके मुकुटतक उठाकर फेंक दिये। सत्यकी प्रतिष्ठा एवं अत्याचारका दमन करनेके हेतु रामको तब प्रत्यञ्चापर बाण चढ़ाना ही पड़ा। जब नीतिप्रयोग निष्फल सिद्ध हुआ, तब साधुताके परित्राणके लिये, पापके विनाशके लिये, धर्मकी संस्थापनाके लिये मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीमद्राघवेन्द्र रामको बलप्रयोगके द्वारा रावणका वध करना पड़ा, किंतु रामके हृदयमें हिंसाभाव तनिक भी न था। रामने कभी घृणा, ईर्ष्या, वैरको हृदयमें स्थान ही नहीं दिया था और उन्होंने बलका प्रयोग भी शत्रुभावको छोड़कर सद्भावसे प्रेरित होकर ही किया था। इसी कारणसे श्रीरामने विभीषणको रावणके क्रियाकर्म करनेका आदेश दिया और रावणके भाईको ही रावणकी लंका दे दी। यह था 'धर्मयुद्ध'का आदर्श।

इसी प्रकारसे महाभारतमें यादवेन्द्र भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने स्वयं दौत्य-कर्म स्वीकारकर अत्यधिक प्रयत्न किया जिससे कि युद्ध न हो। दुर्दान्त दुर्योधन मोहान्ध था। विवश होकर पाण्डवोंको संग्रामभूमिमें आना पड़ा और स्वयं श्रीकृष्णने अर्जुनके सारथि बनकर पाण्डव-विजयमें योगदान दिया; किंतु रणक्षेत्रमें ही व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णने अर्जुनको गीताका उपदेश देकर जीवनके सच्चे लक्ष्य और वहाँतक पहुँचनेका सच्चा मार्ग दिखा दिया। कौन किसे मारता है? आत्मा अजर, अमर, अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य है, वह नित्य, सर्वगत, अचल, स्थिर और सनातन है, तुम उसे नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानो। जो ऐसा जानता है, वह कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है?

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥

(श्रीमद्भगवद्गीता २।२१)

आत्मवित्को मृत्युसे क्या भय? भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको बार-बार **'नैवं शोचितुमर्हसि'** (शोक न कर) ऐसा उपदेश दिया। जन्मनेवालेकी मृत्यु निश्चित है फिर मरनेका क्या शोक? **'तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।'** 'धर्मयुद्धसे अधिक कल्याणकारक योद्धा वीरके लिये अन्य क्या है? स्वधर्मपालन ही श्रेष्ठ होता है। अर्जुन! तुम सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयको समान समझकर (केवल धर्मरक्षार्थ या भगवत्प्रीत्यर्थ) युद्ध करो तो तुम्हें पाप नहीं लगेगा।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(श्रीमद्भगवद्गीता २।३०)

वस्तुतः समभावमें स्थित होकर लाभ-हानिकी चिन्ता न करके युद्ध करना पाप तो नहीं ही है और यदि वह धर्मयुद्ध केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही हो तो भगवत्प्राप्तिका साधन होता है।

प्रज्ञाके प्रतिष्ठित होनेपर तथा इन्द्रियों, मन एवं बुद्धिके

संयमित एवं सुनिर्मल होनेपर धर्मरक्षा तथा धर्मपालनके लिये युद्ध करना मानो प्रभुकी लीलामें सक्रिय योग देना है। प्रभु तो महान् चित्रकार हैं। जब चित्रकार एक चित्र बनाकर उसे मिटाता है तो हमें बुरा प्रतीत होता है, क्लेश होता है; किंतु कुछ समयमें वह चित्रकार उसी स्थानपर पुनः पहलेकी अपेक्षा अधिक सुन्दर चित्र बना देता है। ऐसे ही महान् कलाकार प्रभु बार-बार विनाशलीलाके द्वारा मानो नवीन सृजन—विकास कर रहे हैं। विनाश तो सृजन एवं विकासका आवश्यक अङ्ग है। प्रभुके इस महान् सृजन-कार्यमें दण्ड, विनाश एवं मृत्युको भी एक स्थान है।

प्रभुभावसे जीवमात्रके प्रति प्रेम, समादर, उपकार, सेवा और त्याग आदिका भाव होना ही चाहिये और अचलप्रतिष्ठ एवं सम (राग-द्वेष, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि द्वन्द्वोंसे दूर) होकर कर्तव्यपालन-हेतु प्रभु-प्रेरणाको मानते हुए स्वधर्मरूप कर्म भी करते रहना चाहिये। अन्तः-करण पवित्र होनेपर आवश्यकतानुसार जैसा जहाँ जो कर्तव्य हो, समत्वभावसे वह कर्म करना उचित है। पाप, दुष्टता-दमनके लिये वेदोपदेश है कि दुष्टताको शस्त्रादिसे निर्मूलकर सौजन्य-वृद्धि; सुख-वृद्धि करें। गीतामें सौमनस्य तथा शौर्यका—अध्यात्म तथा लोकव्यवहारका कैसा सुन्दर सामञ्जस्य है! भगवान् कहते हैं—'**मामनुस्मर युध्य च**। मेरा स्मरण करो और कर्तव्यनिर्वाह-हेतु अधर्म एवं पापसे युद्ध भी करो।' यह युद्ध प्रेमके द्वारा अथवा आवश्यकता होनेपर बल-प्रयोगके द्वारा भी करना चाहिये; किंतु लक्ष्य सदैव पवित्र एवं एक ही हो—स्वधर्मके द्वारा भगवान्‌की सेवा—'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः**।' फिर कर्म तो बनता है कर्तापन-के अहंकारसे। भगवान् कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १८। १७)

'जिसके अन्तःकरणमें कर्ताभाव (मैं कर्ता हूँ) नहीं है और जिसकी बुद्धि अलिप्त, अनासक्त है वह सबको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है, न बँधता ही है।' कर्तृत्वाभिमान न होनेपर और निःस्वार्थ होनेपर पुरुषद्वारा लोकदृष्टिमें की हुई हिंसा वास्तवमें हिंसा नहीं होती; क्योंकि वह कर्म वस्तुतः कर्म ही नहीं होता।

शरीरमें अहंता-ममता करनेवालेको नरककी प्राप्ति

अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम्।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत्॥
मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ।
देहे चेत् प्रीतिमान् मूढो भविता नरकेऽपि सः॥

(नारदपरिव्राजकोपनिषद् ३। ४६—४८)

रोगोंके घर इस शरीरमें हड्डियोंके खंभे लगे हैं। स्नायुकी डोरियोंसे यह बँधा है। मांस और रक्त इसपर थोप दिया गया है। यह चमड़ेसे मढ़ा है। सदा मल-मूत्रसे भरा रहता है। इसमेंसे दुर्गन्ध निकलती रहती है। रज-वीर्यसे उत्पन्न होनेके कारण यह रजस्वल (रजोगुणसे पूर्ण) है, अनित्य है। कब नष्ट हो जाय—पता नहीं। यह पञ्चभूतोंका निवासस्थान है। इसमें अहंता-ममताको त्याग देना चाहिये। जो मूर्ख मनुष्य मांस, रक्त, पीब, मल, मूत्र, स्नायु, मज्जा और हड्डियोंके समुदाय इस शरीरमें प्रेम करता है, वह नरकसे भी अवश्य प्रेम करेगा। अर्थात् उसे नरकमें निवास करना पड़ेगा।

रणभूमिमें वीरका धर्म और उसका फल

यस्तु स्वं नायकं रक्षेदतिघोरे रणाङ्गणे। तापयन्नरिसैन्यानि सिंहो मृगगणानिव ॥
आदित्य इव मध्याह्ने दुर्निरीक्ष्यो रणाजिरे ॥
निर्दयो यस्तु संग्रामे प्रहरन्नुद्यतायुधः। यजते स तु पूतात्मा संग्रामेण महाक्रतुम् ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

जो अत्यन्त घोर समराङ्गणमें मृगोंके झुंडोंको संतप्त करनेवाले सिंहके समान शत्रुसैनिकोंको ताप देता हुआ अपने नायक (राजा या सेनापति) की रक्षा करता है, मध्याह्नकालके सूर्यकी भाँति रणक्षेत्रमें जिसकी ओर देखना शत्रुओंके लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है तथा जो संग्राममें शस्त्र उठाये निर्दयतापूर्वक प्रहार करता है, वह शुद्धचित्त होकर उस युद्धके द्वारा ही महान् यज्ञका अनुष्ठान करता है।

वर्म कृष्णाजिनं तस्य दन्तकाष्ठं धनुः स्मृतम्। रथो वेदिर्ध्वजो यूपः कुशाश्च रथरश्मयः ॥
मानो दर्पस्त्वहङ्कारस्त्रयस्त्रेताग्नयः स्मृताः। प्रतोदश्च स्रुवस्तस्य उपाध्यायो हि सारथिः ॥
स्रुग्भाण्डं चापि यत् किंचिद् यज्ञोपकरणानि च। आयुधान्यस्य तत् सर्वं समिधः सायकाः स्मृताः ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

उस समय कवच ही उसका काला मृगचर्म है, धनुष ही दाँतुन या दन्तकाष्ठ है, रथ ही वेदी है, ध्वज यूप है और रथकी रस्सियाँ ही बिछे हुए कुशोंका काम देती हैं। मान, दर्प और अहंकार—ये त्रिविध अग्नियाँ हैं, चाबुक स्रुवा है, सारथि उपाध्याय है, स्रुक्-भाण्ड आदि जो कुछ भी यज्ञकी सामग्री है, उसके स्थानमें उस योद्धाके भिन्न-भिन्न अस्त्र-शस्त्र हैं। सायकोंको ही समिधा माना गया है।

हन्यमानेष्वभिन्नत्सु शूरेषु रणसंकटे। पृष्ठं दत्त्वा च ये तत्र नायकस्य नराधमाः ॥
अनाहता निवर्तन्ते नायके चाप्यनीप्सति ॥
ते दुष्कृतं प्रपद्यन्ते नायकस्याखिलं नराः। यच्चास्ति सुकृतं तेषां युज्यते तेन नायकः ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

जब घोर संग्राममें शूरवीर एक-दूसरेको मारते और मारे जाते हों, उस अवसरपर जो नराधम सैनिक पीठ देकर सेनानायककी इच्छा न होते हुए भी बिना घायल हुए ही युद्धसे मुँह मोड़ लेते हैं, वे सेनापतिके पूर्ण पापोंको स्वयं ही ग्रहण कर लेते हैं और उन भगोड़ोंके पास जो कुछ भी पुण्य होता है, वह सेनानायकको प्राप्त हो जाता है।

यस्तु प्राणान् परित्यज्य प्रविशेदुद्यतायुधः। संग्राममग्निप्रतिमं पतंग इव निर्भयः ॥
स्वर्गमाविशते ज्ञात्वा योधस्य गतिनिश्चयम् ॥ (महाभारत, अनुशासन० १४५)

जो अपने प्राणोंकी परवा छोड़कर पतंगकी भाँति निर्भय हो हाथमें हथियार उठाये अग्निके समान विनाशकारी संग्राममें प्रवेश कर जाता है और योद्धाको मिलनेवाली निश्चित गतिको जानकर उत्साहपूर्वक जूझता है, वह स्वर्गलोकमें जाता है।

तस्मात् संग्राममासाद्य प्रहर्तव्यमभीतवत्। निर्भयो यस्तु संग्रामे प्रहरेदुद्यतायुधः ॥
यथा नदीसहस्राणि प्रविष्टानि महोदधिम्। तथा सर्वे न संदेहो धर्मा धर्मभृतां वरम् ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

अतः संग्राम-भूमिमें पहुँच जानेपर निर्भय होकर शत्रुपर प्रहार करना चाहिये। जो हथियार उठाकर संग्राममें निर्भय होकर प्रहार करता है, धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ उस वीरको निस्संदेह सभी धर्म प्राप्त होते हैं—ठीक उसी तरह, जैसे महासागरमें सहस्रों नदियाँ आकर मिलती हैं।

राजाका धर्म और उसका फल

स्वचक्रपरचक्राभ्यां धर्मैर्वा विक्रमेण वा। निरुद्योगो नृपो यश्च परराष्ट्रविघातने ॥
स्वराष्ट्रं निष्प्रतापश्च परचक्रेण हन्यते ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

जो राजा धर्म या पराक्रमद्वारा स्वचक्र (अपनी मण्डलीके लोगों) तथा पर-चक्र (शत्रुमण्डलीके लोगों) से प्रजाकी रक्षा नहीं करता एवं जो राजा पराये (शत्रु) राष्ट्रपर आक्रमण करनेके विषयमें सदा उद्योगहीन बना रहता है; उस प्रतापहीन राजाको शत्रुओंद्वारा नष्ट कर दिया जाता है।

यत् पापं परचक्रस्य परराष्ट्राभिघातने। तत् पापं सकलं राजा हतराष्ट्रः प्रपद्यते ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

दूसरे चक्रके राजाको दूसरेके राष्ट्रका विनाश करनेपर जो पाप लागू होता है; वह समूचा पाप उस राजाको भी प्राप्त होता है; जिसका राज्य उसकी दुर्बलताके कारण शत्रुओंद्वारा नष्ट कर दिया जाता है।

स्वस्य राष्ट्रस्य रक्षार्थं युध्यमानस्तु यो हतः। संग्रामे परचक्रेण श्रूयतां तस्य या गतिः ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

जो राजा अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये युद्धमें जूझता हुआ शत्रुमण्डलके द्वारा मारा जाता है; उसे जो गति मिलती है; उसको श्रवण करो।

विमाने तु वरारोहे अप्सरोगणसेविते। शक्रलोकमितो याति संग्रामे निहतो नृपः ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

वरारोहे ! संग्राममें मारा गया नरेश अप्सराओंसे सेवित विमानपर आरूढ़ हो इस लोकसे इन्द्रलोकमें जाता है।

यावन्तो रोमकूपाः स्युस्तस्य गात्रेषु सुन्दरि। तावद्वर्षसहस्राणि शक्रलोके महीयते ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

सुन्दरि ! उसके अङ्गोंमें जितने रोमकूप होते हैं, उतने ही हजार वर्षोंतक वह इन्द्रलोकमें सम्मानित होता है।

तस्माद् यत्नेन कर्तव्यं स्वराष्ट्रपरिपालनम्। व्यवहाराश्च चारश्च सततं सत्यसंधता ॥
अप्रमादः प्रमोदश्च व्यवसायेऽप्यचण्डता। भरणं चैव भृत्यानां वाहनानां च पोषणम् ॥
योधानां चैव सत्कारः कृते कर्मण्यमोघता। श्रेय एव नरेन्द्राणामिह चैव परत्र च ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

इसलिये राजाको यत्नपूर्वक अपने राष्ट्रकी रक्षा करनी चाहिये। राजोचित व्यवहारोंका पालन; गुप्तचरोंकी नियुक्ति, सदा सत्यप्रतिज्ञ होना; प्रमाद न करना; प्रसन्न रहना; व्यवसायमें अत्यन्त कुपित न होना; भृत्यवर्गका भरण और वाहनोंका पोषण करना; योद्धाओंका सत्कार करना और किये हुए कार्यमें सफलता लाना—यह सब राजाओंका कर्त्तव्य है। ऐसा करनेसे उन्हें इहलोक और परलोकमें भी श्रेयकी प्राप्ति होती है।



रणभूमिमें वीरका धर्म और उसका फल

यस्तु स्वं नायकं रक्षेदतिघोरे रणाङ्गणे। तापयन्नरिसैन्यानि सिंहो मृगगणानिव ॥
आदित्य इव मध्याह्ने दुर्निरीक्ष्यो रणाजिरे ॥
निर्दयो यस्तु संग्रामे प्रहरन्नुद्यतायुधः। यजते स तु पूतात्मा संग्रामेण महाक्रतुम् ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

जो अत्यन्त घोर समराङ्गणमें मृगोंके झुंडोंको संतप्त करनेवाले सिंहके समान शत्रुसैनिकोंको ताप देता हुआ अपने नायक (राजा या सेनापति) की रक्षा करता है, मध्याह्नकालके सूर्यकी भाँति रणक्षेत्रमें जिसकी ओर देखना शत्रुओंके लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है तथा जो संग्राममें शस्त्र उठाये निर्दयतापूर्वक प्रहार करता है, वह शुद्धचित्त होकर उस युद्धके द्वारा ही महान् यज्ञका अनुष्ठान करता है।

वर्म कृष्णाजिनं तस्य दन्तकाष्ठं धनुः स्मृतम्। रथो वेदिर्ध्वजो यूपः कुशाश्च रथरश्मयः ॥
मानो दर्पस्त्वहङ्कारस्त्रयस्त्रेताग्नयः स्मृताः। प्रतोदश्च स्रुवस्तस्य उपाध्यायो हि सारथिः ॥
स्रुग्भाण्डं चापि यत् किंचिद् यज्ञोपकरणानि च। आयुधान्यस्य तत् सर्वं समिधः सायकाः स्मृताः ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

उस समय कवच ही उसका काला मृगचर्म है, धनुष ही दाँतुन या दन्तकाष्ठ है, रथ ही वेदी है, ध्वज यूप है और रथकी रस्सियाँ ही बिछे हुए कुशोंका काम देती हैं। मान, दर्प और अहंकार—ये त्रिविध अग्नियाँ हैं, चाबुक स्रुवा है, सारथि उपाध्याय है, स्रुक्-भाण्ड आदि जो कुछ भी यज्ञकी सामग्री है, उसके स्थानमें उस योद्धाके भिन्न-भिन्न अस्त्र-शस्त्र हैं। सायकोंको ही समिधा माना गया है।

हन्यमानेष्वभिघ्नत्सु शूरेषु रणसंकटे। पृष्ठं दत्त्वा च ये तत्र नायकस्य नराधमाः ॥
अनाहता निवर्तन्ते नायके चाप्यनीप्सति ॥
ते दुष्कृतं प्रपद्यन्ते नायकस्याखिलं नराः। यच्चास्ति सुकृतं तेषां युज्यते तेन नायकः ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

जब घोर संग्राममें शूरवीर एक-दूसरेको मारते और मारे जाते हों, उस अवसरपर जो नराधम सैनिक पीठ देकर सेनानायककी इच्छा न होते हुए भी बिना घायल हुए ही युद्धसे मुँह मोड़ लेते हैं, वे सेनापतिके पूर्ण पापोंको स्वयं ही ग्रहण कर लेते हैं और उन भगोड़ोंके पास जो कुछ भी पुण्य होता है, वह सेनानायकको प्राप्त हो जाता है।

यस्तु प्राणान् परित्यज्य प्रविशेदुद्यतायुधः। संग्राममग्निप्रतिमं पतंग इव निर्भयः ॥
स्वर्गमाविशते ज्ञात्वा योधस्य गतिनिश्चयम् ॥ (महाभारत, अनुशासन० १४५)

जो अपने प्राणोंकी परवा छोड़कर पतंगकी भाँति निर्भय हो हाथमें हथियार उठाये अग्निके समान विनाशकारी संग्राममें प्रवेश कर जाता है और योद्धाको मिलनेवाली निश्चित गतिको जानकर उत्साहपूर्वक जूझता है, वह स्वर्गलोकमें जाता है।

तस्मात् संग्राममासाद्य प्रहर्तव्यमभीतवत्। निर्भयो यस्तु संग्रामे प्रहरेदुद्यतायुधः ॥
यथा नदीसहस्राणि प्रविष्टानि महोदधिम्। तथा सर्वे न संदेहो धर्मा धर्मभृतां वरम् ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

अतः संग्राम-भूमिमें पहुँच जानेपर निर्भय होकर शत्रुपर प्रहार करना चाहिये। जो हथियार उठाकर संग्राममें निर्भय होकर प्रहार करता है, धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ उस वीरको निस्संदेह सभी धर्म प्राप्त होते हैं—ठीक उसी तरह, जैसे महासागरमें सहस्रों नदियाँ आकर मिलती हैं।

राजाका धर्म और उसका फल

स्वचक्रपरचक्राभ्यां धर्मैर्वा विक्रमेण वा। निरुद्योगो नृपो यश्च परराष्ट्रविघातने ॥
स्वराष्ट्रं निष्प्रतापश्च परचक्रेण हन्यते ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

जो राजा धर्म या पराक्रमद्वारा स्वचक्र (अपनी मण्डलीके लोगों) तथा पर-चक्र (शत्रुमण्डलीके लोगों) से प्रजाकी रक्षा नहीं करता एवं जो राजा पराये (शत्रु) राष्ट्रपर आक्रमण करनेके विषयमें सदा उद्योगहीन बना रहता है; उस प्रतापहीन राजाको शत्रुओंद्वारा नष्ट कर दिया जाता है।

यत् पापं परचक्रस्य परराष्ट्राभिघातने। तत् पापं सकलं राजा हतराष्ट्रः प्रपद्यते ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

दूसरे चक्रके राजाको दूसरेके राष्ट्रका विनाश करनेपर जो पाप लागू होता है; वह समूचा पाप उस राजाको भी प्राप्त होता है, जिसका राज्य उसकी दुर्बलताके कारण शत्रुओंद्वारा नष्ट कर दिया जाता है।

स्वस्य राष्ट्रस्य रक्षार्थं युध्यमानस्तु यो हतः। संग्रामे परचक्रेण श्रूयतां तस्य या गतिः ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

जो राजा अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये युद्धमें जूझता हुआ शत्रुमण्डलके द्वारा मारा जाता है; उसे जो गति मिलती है, उसको श्रवण करो।

विमाने तु वरारोहे अप्सरोगणसेविते। शक्रलोकमितो याति संग्रामे निहतो नृपः ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

वरारोहे ! संग्राममें मारा गया नरेश अप्सराओंसे सेवित विमानपर आरूढ़ हो इस लोकसे इन्द्रलोकमें जाता है।

यावन्तो रोमकूपाः स्युस्तस्य गात्रेषु सुन्दरि। तावद्वर्षसहस्राणि शक्रलोके महीयते ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

सुन्दरि ! उसके अङ्गोंमें जितने रोमकूप होते हैं, उतने ही हजार वर्षोंतक वह इन्द्रलोकमें सम्मानित होता है।

तस्माद् यत्नेन कर्तव्यं स्वराष्ट्रपरिपालनम्। व्यवहाराश्च चारश्च सततं सत्यसंधता ॥
अप्रमादः प्रमोदश्च व्यवसायेऽप्यचण्डता। भरणं चैव भृत्यानां वाहनानां च पोषणम् ॥
योधानां चैव सत्कारः कृते कर्मण्यमोघता। श्रेय एव नरेन्द्राणामिह चैव परत्र च ॥

(महाभारत, अनुशासन० १४५)

इसलिये राजाको यत्नपूर्वक अपने राष्ट्रकी रक्षा करनी चाहिये। राजोचित व्यवहारोंका पालन, गुप्तचरोंकी नियुक्ति, सदा सत्यप्रतिज्ञ होना, प्रमाद न करना, प्रसन्न रहना, व्यवसायमें अत्यन्त कुपित न होना, भृत्यवर्गका भरण और वाहनोंका पोषण करना, योद्धाओंका सत्कार करना और किये हुए कार्यमें सफलता लाना—यह सब राजाओंका कर्त्तव्य है। ऐसा करनेसे उन्हें इहलोक और परलोकमें भी श्रेयकी प्राप्ति होती है।



वही हमारा धर्म सनातन

(रचयिता—श्रीश्यामजी वर्मा एम्० एस्-सी०, एम्० ए० (त्रय),
साहित्यरत्न, आयुर्वेदरत्न)

वेदोंमें है मूल, पुराणोंमें जिसकी व्याख्या है,
उपनिषदोंमें जिसका चिन्तन और सरस आख्या है।
स्मृतियोंमें जिसकी मङ्गल-स्मृति सफल विधान बनी है,
जिसकी असिधारा वीरोंका चिर आह्वान बनी है।
राम, कृष्णका जीवन जिसकी शाश्वत परिभाषा है,
वही हमारा धर्म सनातन धरतीकी आशा है॥ १॥

द्रष्टा ऋषियोंने भूतलको जिसका ज्ञान दिया था,
ऋषभ, तथागत, महावीरने जिसका गान किया था।
रामायण, जय-काव्य सभी हैं जिसकी विजय सुनाते,
जिसके सेवाहित परमेश्वर स्वयं धरापर आते।
जो जीवनको सरस, धराको स्वर्ग बना देता है,
वही हमारा धर्म सनातन जयी काल-जेता है॥ २॥

जिससे पृथक् मनुजताका कुछ भी अस्तित्व नहीं होता है,
नरसे नारायण बनना भी संभव जिससे ही होता है।
पशु-पक्षी, जड-जंगम सबका जिसने पूरा ध्यान रखा है,
देश-अवस्था-काल-पात्र लख मानव-कर्म-विधान रखा है।
ज्ञान-भक्ति-सत्कर्म-समन्वित बहती जिसकी सुरसरि-धारा,
वही हमारा धर्म सनातन, पावन हिंदू-धर्म हमारा॥ ३॥

संतोंने तिल-तिल जल करके, सतियोंने हो करके स्वाहा,
वीरोंने निज शीश चढ़ाकर जिसका अक्षय गौरव चाहा।
जिसके हित सम्राटोंने तज राजभवनको पर्णकुटी ली,
जिसकी रक्षामें यतियोंने धूनी तज दी, खड्ग उठा ली।
रक्षक जिसकी शिवा-भवानी, है तुलसीने जिसको गाया,
वही हमारा धर्म सनातन, कल्पवृक्ष-सी जिसकी छाया॥ ४॥

हार नहीं मानी है जिसने अनाचार-झंझावातोंसे,
जिसकी सदा शक्ति ही बढ़ती रही शत्रुके आघातोंसे।
भगवा ध्वजा गर्वसे जिसकी अम्बरमें ऊँची लहराई,
भौतिकतासे जन्य पापने जिससे हार सदा ही खाई।
प्रेय-श्रेयका उत्तम साधन, अर्थ-काम-कैवल्य प्रदाता,
वही हमारा धर्म सनातन, वही विश्वका भाग्यविधाता॥ ५॥

आर्यधर्म और संस्कृतिके प्रति गणराज्य-संविधानकी दृष्टि

(लेखक—श्रीकस्तूरमलजी बाँठिया)

अंग्रेजियत यानी पाश्चात्य संस्कृतिके गाँव-गाँव प्रचार-प्रसारके इस युगमें, जब भारतीय परम्पराके ऐसे गुणगान कि—'भविष्यका निर्माण करते समय किसी भी देशको अपना भूतकाल नहीं भुला देना चाहिये और भारतवर्षको तो निश्चय ही नहीं; क्योंकि उसकी परम्परा असाधारण समृद्ध और विविध रही है'—सुनता हूँ और हमारे सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्यके संविधान—(जिसका १७ वर्षके इस अल्पकालीन जीवनमें ही १७ बार संशोधन करना हमारी कांग्रेस सरकारके लिये आवश्यक हो गया,) की इस दृष्टिसे परीक्षा करता हूँ तो मुझे उपर्युक्त गुणगान निरी दम्भोक्ति और प्रवञ्चना ही लगता है। मेरा विश्वास है कि मेरा-सा अनुभव करनेवालोंकी संख्या देशमें अभी तो अधिक होगी। अतः धर्म और संस्कृतिकी दृष्टिसे इस संविधानका मूल्याङ्कन करना उचित है और यही मैं यहाँ प्रयत्न करूँगा।

सर्वथा ही विदेशी आधारोंका यह संविधान

संविधान-निर्माता उपसमितिके प्रधान डॉ० भीमराव आंबेडकरजीने कहा था कि 'भारतमें लोकतन्त्रात्मक परम्पराएँ बहुत पुरानी नहीं हैं, बल्कि वे अभी थोड़े कालकी हैं और उसका प्रभाव ऊपर-ऊपर ही पड़ा है।' फिर भी प्रत्येक वयस्कको मुक्त मताधिकार देकर इस देशको संसारके अग्रणी देश इंगलैंड और अमरीकाके बराबर बैठानेका जो साहस किया गया है, उसका भला-बुरा परिणाम तो समय ही बतायेगा। आज तो इतना ही कहा जा सकता है कि इस लोकतन्त्रका भार जनताके लिये असह्यतम होता जा रहा है, जिससे उसकी कमर टूट जानेका पूरा-पूरा भय बना हुआ है! अस्तु,

पहले हम इसके आधारोंका परिचय करें, जो संवीय-प्रकाशनविभागकी अंग्रेजी पुस्तिका 'इण्डियाज कांस्टीट्यूशन' के पृष्ठ १६ पर इस प्रकार दिये हैं—'भारतीय संविधानकी अधिकांश धाराओंका आधार सन् १९३५का भारत-संघ-विधान है। 'मौलिक अधिकारों' का अध्याय अमरीका (यू० एस० ए०) के और 'राजनीतिके निर्देशक सिद्धान्तों-का अध्याय आयर (आयरलैंड) के संविधानसे प्रेरित है। संघ-शासनकी संरचना सन् १९३५के भारत-संघ-विधान और कनाडाके संविधानपर हुई है। समवर्ती सूची यद्यपि सन् १९३५के भारत-संघ-विधान और आस्ट्रेलियाके संविधानके आदर्शपर है, परंतु उनसे कहीं अधिक व्यापक एवं विस्तृत वह है। इसका कैबीन्नेट शासनका सिद्धान्त ब्रिटिश संविधानका ऋणी है।

स्पष्ट है कि अंग्रेजोंका थोपा हुआ सन् १९३५का पुराना भारत-संघ-विधान ही नये नामसे उन्हीं कांग्रेसी नेताओंने अन्य नेताओंका सहयोग लेकर सन् १९५० में देशपर नये नामसे थोप दिया कि जिसका, वकौल श्रीजवाहरलालजीके ही, देशमें तब सर्वव्यापक विरोध हुआ था और राष्ट्रीय कांग्रेसने जिसको सर्वथा अग्राह्य घोषित कर दिया था। एक समयका अग्राह्य विष समय पाकर कैसे स्वागतार्ह अमृत बन जाता है, इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है! उस अमृतको अमरीका और राष्ट्र-मण्डलके सदस्योंके संविधानोंकी अमृत-बूँदें टपकाकर जहाँ खूब ही स्वादिष्ट बनाया कहा गया है, वहाँ उसमें भारतीय परम्पराकी एक बूँद भी नहीं टपकने पाये, यह सावधानी बरती तो गयी, फिर भी एक बूँद तो टपकानी ही पड़ी; क्योंकि वह भी अंग्रेज-शासकोंसे विरासत-रूपमें मिली हुई थी। निर्माताओंने इससे 'एक पंथ दो काज'की उक्तिके अनुसार यह कहते हुए कि ''प्राचीन भारतकी बच रही अत्युत्कृष्ट जनतन्त्रात्मक संस्था 'पंचायत' को देशके संविधान-की रचनामें स्थान देकर भारतीय संविधानको 'राष्ट्रीयता' का लक्षण दे दिया है''—जहाँ अपनी लज्जा बचायी, वहाँ भारतीयोंपर भारी एहसान भी जता दिया। इसके लिये वे जहाँ प्रशंसनीय हैं, वहाँ यह भी सत्य है कि दलबंदीका विष पंचायतोंमें उड़ेलकर उन्हें तटस्थ सेवाके उस महाव्रतसे दूर भी कर दिया जानेवाला है, जिसके बलपर ही वे अबतक जीवित रहीं।

इस समय सन् १९३० की 'स्वाधीनता घोषणा'के वे शब्द हमें स्मरण हो आते हैं जो कहते हैं कि 'अंग्रेजी सरकारने भारतवासियोंकी स्वतन्त्रताका ही अपहरण नहीं किया है बल्कि उसने आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे भारतवर्षका नाश कर दिया है।' क्या यह नाश कानून और रवैयेद्वारा ही नहीं हुआ था? यदि

यह सत्य माना जाता है तो फिर संविधान सम्पूर्णतया उन्हीं विदेशी आधारोंपर क्यों बनाया गया ? और इस विषयमें उसके पारित किये जाते समय भी किसी संविधान-सभाके सदस्यने ऐसा क्यों नहीं कहा कि 'हम भारतीय हैं, अंग्रेज नहीं, तो उनका ही बनाया हुआ विधान कुछ विदेशी मुलम्मा चढ़ाकर स्वीकार करें। हमारी और अंग्रेजोंकी प्रकृति और परम्परामें बहुत भेद है। उन्होंने अपनी परम्परा और नीति हमपर लादनेके लिये ही १९३५का भारत-संघ-विधान हमारे सिर थोपा था और हमने उसे तब अग्राह्य भी घोषित कर दिया था। उसका परिणाम ही तो हम आज विभाजित भारतके रूपमें भुगत रहे हैं! हम ऐसे संविधानको स्वीकार नहीं कर सकते। हमें अपनी परम्पराके अनुरूप अपना नया संविधान बनाना चाहिये। तभी हम उन्नति कर सकेंगे और जिसे अंग्रेजोंने नाश कर दिया था, उसे फिरसे प्राप्त कर सकेंगे।'

हमारे इस संविधानने हमारी निपट मानसिक गुलामीका इतना स्पष्ट इजहार पाश्चात्त्योंको दे दिया कि अपनी संस्कृतिके अभिमानी यूरोपियन अभिमानसहित, यदि यह कहें कि 'एशिया और अफ्रीकासे हमारी सत्ता भले ही गायब हो गयी, पर सांस्कृतिक नेतृत्व तो हमारा ही है। हमारा अनुकरण ही तो दुनिया करती है। हम किसीका अनुकरण नहीं करते। सारी दुनियाको जागृतिक दृष्टि हमने दी है। लोग हमसे ही विचार लेते हैं। हमें अभी तक कोई नहीं दे सका।'—तो वे जरा भी अनुचित नहीं कहते हैं। सच्चे स्वाभिमानीके लिये तो इतना संकेत ही पर्याप्त है। पिछले १७ वर्षका इतिहास किस-किस क्षेत्रमें क्या-क्या प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित करता है, इसीका हम कुछ खास मदोंमें संक्षेपसे यहाँ विचार करें।

राष्ट्रवादिता प्रति अन्तर्राष्ट्रवादिता

राष्ट्रीयता और राष्ट्रभाषाका चोली-दामनका साथ है। जो भी राष्ट्र इन वर्षोंमें स्वतन्त्र हुए, सबने विदेशी भाषाका व्यवहार त्याग दिया, हालाँकि उनकी भाषाएँ हमारी राष्ट्रभाषा-जितनी भी विकसित नहीं थीं। जिनसे अन्य देशोंने स्वतन्त्रताका आदर्श पाठ सीखा था, वे भारतवर्ष और पाकिस्तान दोनों ही अंग्रेजीका दामन ही नहीं पकड़े हुए, परंतु उसे किसी-न-किसी बहाने अधिकतम कालके लिये स्थायी करनेपर उतारू हैं। कम-से-कम भारतवर्ष तो उतारू है ही। इसका क्या कारण है?

मौलाना आजादने अपनी 'इण्डिया विन्स फ्रीडम' शीर्षक अंग्रेजी आत्मकथामें लिखा है कि 'जवाहरलाल सदा ही भारतीयोंमें सबसे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओंसे अत्यन्त प्रभावित होनेवाले व्यक्ति हैं, वे राष्ट्रीयकी अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोणसे ही सब समस्याओंको देखते हैं।' यह मौलानाने जवाहरलालजीपर स्पेन, जर्मनी और इटलीमें चल रहे फैसिस्टोंके उग्र आन्दोलनसे हो रही प्रतिक्रियाको देखते-देखते ही कहा था, जब कि भारतवर्ष तो परतन्त्र ही था और कुछ भी कर नहीं सकता था। क्या आश्चर्य कि स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद नेहरूजी इतने शीघ्र जगमान्य अन्तर्राष्ट्रीयतावादी हो गये?

महात्माजी भी नेहरूजीके इस विमोहसे चिन्तित रहते थे। इसीलिये ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने एक समय स्पष्ट शब्दोंमें कहा था कि 'बिना राष्ट्रवादी हुए किसीका अन्तर्राष्ट्रवादी होना असम्भव है। अन्तर्राष्ट्रीयता तभी सम्भव है जब कि राष्ट्रीयता वास्तवमें स्थापित हो जाती है।' देशमें सच्ची राष्ट्रीयता स्थापन करनेके लिये ही महात्माजी अंग्रेजीका स्थान भारतीय भाषाओंको शीघ्रतम देना-दिलाना चाहते और बार-बार इस बातकी ओर देशका और अपने साथियोंका ध्यान खींचते रहे थे। उन्होंने तो, 'यदि मैं डिक्टेटर बना दिया जाऊँ तो, तत्काल अंग्रेजीके स्थानमें हिंदी प्रयोग सभी क्षेत्रोंमें करा देनेकी घोषणा कर दूँ'—एक बार यहाँ तक कह दिया था।

जवाहरलालजी भाषाके इस तथ्यके कायल तो अवश्य ही थे, परंतु अन्तर्राष्ट्रीयता उनपर इस हदतक हावी थी कि उनके एकछत्र नेतृत्व-कालमें ऐसे ही कारणोंसे स्वातन्त्र्य-संग्रामके वर्षोंकी राष्ट्रीय भावना स्वप्नवत् होती गयी। वह राष्ट्रीयता उन वर्षोंमें भी अंग्रेजीद्वारा नहीं, हिंदीद्वारा ही जगी और पनपी थी। यही हिंदी उसे कायम ही नहीं, परिपुष्ट भी करती रहती, परंतु देशका दुर्भाग्य कि अंग्रेजी उत्थापनकी संविधान-प्रदत्त पंद्रह वर्षकी अवधि जैसे-जैसे समाप्तिकी ओर आती गयी, वैसे-वैसे अंग्रेजीकी उपयोगिता-पर उनकी ओरसे अधिक एवं बार-बार जोर दिया जाता रहा और उसके गिरते स्तरके लिये आँसू भी बहाये जाते रहे। १९६२ में जब राष्ट्र-मण्डलीय प्रधान-मंत्रियोंके सम्मेलनके लिये नेहरूजी लन्दन पहुँचे तो अन्तर्राष्ट्रीय पत्रप्रतिनिधियोंने उन्हींसे यह घोषणा करवा ही ली कि 'हमलोगोंके लिये अंग्रेजी बाह्य संसारकी प्रमुख खिड़की है। हम उस खिड़की-

को बंद करनेका दुस्साहस नहीं कर सकते; करेंगे तो हमारा भविष्य खतरेमें पड़ जायगा।' तब देशमें बंगालियों और मद्रासियोंद्वारा अंग्रेजीको संविधानकी भाषाविषयक धारामें स्थान दिलानेका आन्दोलन जोरोंपर चल रहा था।

देश लौटनेपर इसलिये उन्होंने यह जाहिर कर ही दिया कि उनकी सरकार अंग्रेजीको 'सह-भाषा' का स्थान देनेकी दृष्टिसे संविधानमें संशोधन करेगी। अधिकांश जनताका तीव्र विरोध देखकर तबके गृहमन्त्री श्रीशास्त्रीजीने 'भाषा-विधेयक' संसद्द्वारा पारित कराकर, नेहरूजीके इस लक्ष्यकी सिद्धि करा दी। दीर्घदृष्टिसे सोचनेपर कहना पड़ता है कि इसने देशकी राष्ट्रीयताको भारी ठेस पहुँचायी है। अंग्रेजीको यद्यपि इस तरह देशमें अमरत्व प्राप्त हो गया है; फिर भी पिछले दिनों इस विषयको लेकर हुए उग्र आन्दोलनकारी अंग्रेजी-अल्पमतियोंके तुष्टीकरणके लिये अब प्रधानमन्त्री शास्त्रीजी उपर्युक्त 'भाषा-विधेयक'में अपना इच्छित संशोधन करनेको कटिबद्ध हैं। इससे स्पष्ट होता है कि राष्ट्र एवं राजभाषाका प्रश्न हमारे देशमें अब विशुद्ध राजनीतिक हो गया है और आजके कांग्रेसी शासक उसे इस दलदलमेंसे उबारनेमें या तो असमर्थता अनुभव करते हैं या स्वयं चाहते नहीं हैं; क्योंकि आज दलीय दृष्टिसे वे भरपूर आक्रान्त हैं, राष्ट्रीयतासे नहीं। जहाँ सरकार बना सकनेवाला विरोधी दल है ही नहीं, वहाँ तो निर्दली सरकारद्वारा ही ऐक्य संरक्षित हो सकता है और स्थायी प्रगति भी। अन्यथा वह दलकी तानाशाही ही कही जायगी, चाहे उसे हम व्यक्तिविशेषकी न कहें!

शासक-दलकी निर्धारित नीतियोंका पालन, यदि शासकदल स्वयं कर्तव्यनिष्ठ हो तो, सर्वत्र नौकरशाह ही कराते हैं। परंतु दुर्भाग्यसे भारतके नौकरशाहीकी परम्परा अंग्रेजीपरस्त है और कांग्रेस शासकोंकी वर्तमान नीतिकी ओटमें अब वह खुलकर यह प्रचार करने लगा है कि देशमें सहायक भाषाके रूपमें अंग्रेजीकी ही सर्वाधिक जानकारी है।' इसी जुलाईमें यह घोषणा 'शिक्षा-आयोग' के महामन्त्री श्री जे० पी० नायकने सन् १९६१ की जनगणनाके भाषा-विषयक अङ्कोंके आधारपर की है। क्या यह 'शिक्षा-आयोग' की भावी सिफारिशोंका पूर्वाभास है? पर महामन्त्री-की यह घोषणा एकदम भ्रान्त और अयथार्थ है। ऐसा हिंदीके प्राचीनतम मासिक 'सरस्वती'के इसी अगस्तके सम्पादकीय मन्तव्यमें जनगणनाके उन्हीं अङ्कोंके समुचित विश्लेषणद्वारा दिखा दिया गया है। सबसे विस्मयकारी सूचना तो यह है कि जनगणनाके अनुसार मद्रास-राज्यके प्रमुख नगर मद्रासको केन्द्र बनाकर विगत ५० वर्षसे 'दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार सभा' समस्त दक्षिणमें हिंदीका प्रचार कर रही है; उस राज्यमें भी अहिंदी हिंदी-भाषियोंकी कुल संख्या ९९,८१८ ही है; यानी प्रचारका प्रतिवर्ष औसत संख्याफल एक हजार भी नहीं आया है। प्रकारान्तरसे जनगणनाध्यक्षने उपर्युक्त सभाकी भारी असफलता भी घोषित कर दी है। इस सभाके कार्यकर्ता अधिकांश दाक्षिणात्य ही हैं और जब वे इस चुनौतीका सप्रमाण उत्तर देंगे तो प्रकट हो ही जायगा कि जनगणनाध्यक्ष और उनकी भाषा-गणना-प्रणाली राजनीतिक रंगसे रँगी तो नहीं है? इस संविधानका प्रत्यक्ष प्रभाव तो नहीं; परंतु उसकी अनुपालना कराने और करनेकी जिनपर जिम्मेदारी थी, उनकी स्खलना अथवा उसके प्रति निष्ठाका अभाव तो यह बताता ही है और यह भी कि इस एक प्रवृत्तिसे देशमें अंग्रेजियतके साथ-साथ पाश्चात्य संस्कृतिके पवित्र चरणोंके प्रसारको अकथनीय सहायता ही पहुँची है।

भारतको 'धर्म-निरपेक्ष' राज्य क्यों कहा गया है?

संविधानके आमुखमें तो भारतको 'सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' ही कहा गया है। किसी धारा, उपधारा अथवा शीर्षक-उपशीर्षकमें भी 'सैक्यूलर स्टेट' शब्द जिसको 'धर्म-निरपेक्ष' नया ही अर्थ दिया गया है, नहीं उपलब्ध है। इसका कुछ गहराईसे विचार करनेके पहले संस्कृति और नैतिकता अर्थात् धर्मके पारस्परिक सम्बन्धका संक्षेपमें विचार कर लेना उचित है। इन दोनोंका भी वैसा ही चोली-दामनका साथ है, जैसे भाषा और राष्ट्रीयताका। संस्कृति खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचारको कहते हैं और इनपर धर्म या नीतिका प्रभाव पड़ता है। जैसे धर्म वैसे ही नीति संसारमें अनेकरूपिणी हो गयी है। परंतु विशुद्ध धर्म और विशुद्ध नीतिमें जरा भी अन्तर नहीं है। 'जीओ और जीने दो'—ही संसारमें सच्चा धर्म और सच्ची नीति है। धर्म या नीतिसे निरपेक्ष तो कोई हो ही नहीं सकता; क्योंकि यह स्वभाव है जो कि व्यक्तियोंका ही हो सकता है। न कि किसी देश या शासनका। धर्मान्धताका ही दूसरा नाम है—सम्प्रदाय और व्यक्तिको ही वस्तुतः सम्प्रदाय-निरपेक्ष या तटस्थ होना है। सम्प्रदाय-निरपेक्ष व्यक्तियोंका

देश स्वतः सम्प्रदायनिरपेक्ष हो जाता है। परंतु सम्प्रदाय धर्ममें ही नहीं, जीवनकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें स्वार्थियोंद्वारा खड़े कर लिये जाते हैं। ये राजनीतिक दल—जैसे कि उदार, अनुदार, डेमोक्रैट-रेडिकल रिपब्लिकन, समाजवादी, साम्यवादी नाजीवादी, फैसिस्टवादी, मजदूरवादी, पूँजीवादी आदि सम्प्रदाय नहीं तो क्या हैं ? क्या इन्होंने पिछले ४०–४५ वर्षोंमें ही तथाकथित सम्प्रदायोंद्वारा सदियोंमें हुए नरसंहारको मात नहीं कर दिया है ? क्या कलकत्ता, नोआखाली, बिहार, पंजाब आदिमें हुए सन् १९४७ के नरसंहार मूलतः राजनीतिक नहीं थे ? संसारमें नरसंहार राजनीतिज्ञोंने ही कराये हैं, सच्चे धार्मिकोंने नहीं ? भाड़ेके सैनिक जैसे मिलते हैं, वैसे ही भाड़ेके धर्मगुरु क्यों नहीं मिलेंगे ? संसारको नरसंहारसे बचानेके लिये सर्वत्र सच्चे धर्म और सच्ची नीतिका प्रशिक्षण बच्चों-बूढ़ों और जवानों—सभीको प्रतिक्षण दिये जानेकी आवश्यकता है और आज-जितनी आवश्यकता तो पहले कभी भी नहीं रही; क्योंकि पिछले पचास वर्षोंकी, असाधारण ही नहीं, इतिहासातीत वैज्ञानिक प्रगतिने दो-तीन हजार वर्षकी उपलब्धियोंको भुलाकर मानवीय जीवनके मूल्याङ्कनका मानदण्ड एकदम ही बदल दिया है। विज्ञानकी दृष्टिमें आज मानव मूल्यहीनसे मूल्यहीन हो गया है और होता जा रहा है। आज हमारे नेतागण देशमें 'सैक्यूलर' उर्फ 'धर्म-निरपेक्ष' राज्यकी स्थापना कर फूले नहीं समा रहे हैं; हालाँकि उनके हाथसे भी आये दिन नरसंहार छोटे पायेपर भी होता ही रहा है। आइये, हम इस घोषणाकी असलियत देखें। यह संविधान समर्थित नहीं, तो उसकी किस धाराकी ऐसी परिभाषा या व्याख्या कर हमारे नेता जनताको भ्रान्त करनेका प्रयत्न कर रहे हैं ? भारतीय परम्पराको इससे हानि पहुँची है या लाभ ? यदि हानि, तो उसे रोकनेका अधिकार हमें क्या संविधानसे प्राप्त है ? इन कितने ही प्रश्नोंका अब हम संक्षेपमें उत्तर खोजें।

प्रत्येक व्यक्तिको धार्मिक स्वतन्त्रता है

हमारे संविधानके आमुखमें भारतीय नागरिकोंको न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुता-(जस्टिस, लिबर्टी, ईक्वालिटी और फैटर्निटी)-की सुरक्षाका आश्वासन दिया गया है। इन आश्वासनोंकी परिपालनाके लिये सात प्रकारके 'मौलिक अधिकार' गिनाये गये हैं, जिनमेंसे दो यानी 'धार्मिक स्वतन्त्रता' और 'सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक स्वतन्त्रता' के अधिकारोंकी यहाँ चर्चा करनी है। पहले धार्मिक स्वतन्त्रताका अधिकार ही लें, जिसका उल्लेख संविधानकी धारा २५ से २८ तकमें किया है, जिनको यहाँ अंग्रेजीमें ही उद्धृत करनेकी क्षमा चाहता हूँ; क्योंकि अभीतक इसी भाषामें ये प्रामाण्य हैं। साथ ही मैंने आगेकी २९ और ३० धारा भी उद्धृत कर दी है, जिनकी समीक्षा यथास्थान मुझे करनी है।

The Constitution of India

(As modified upto the 1st May 1955)

RIGHT TO FREEDOM OF RELIGION

Freedom of conscience and free-professing practice and propagation of religion.

25. (1) Subject to public order, morality and health and to the other provisions of this part, all persons are equally entitled to freedom of conscience and the right freely to profess, practise and propagate religion.

(2) Nothing in this article shall affect the operation of any existing law or prevent the State from making any law—

(a) regulating or restricting any economic, financial, political or other secular activity which may be associated with religious practice;

(b) providing for social welfare and reform or throwing open of Hindu religious institutions of a public character to all classes and sections of Hindus.

Explanation I.—The wearing and carrying of KIRPANS shall be deemed to be included in the profession of the Sikh religion.

Explanation II.—In sub-clause (b) of clause (2), the reference to Hindus shall be construed as including a reference to persons professing the Sikh, Jain or Buddhist religion, and the reference to Hindu religious institutions shall be construed accordingly.

Freedom to manage.

26. Subject to public order, morality and health, every religious denomination or any section thereof shall have the right—

(a) to establish and maintain institutions for religious and charitable purposes;

(b) to manage its own affairs in matters of religion;

(c) to own and acquire moveable and immoveable property;

and (d) to administer such property in accordance with law.

Freedom as to payment of taxes for promotion of any particular religion.

27. No person shall be compelled to pay any taxes, the proceeds of which are specifically appropriated in payment of expenses for the promotion or maintenance of any particular religion or religious denomination.

Freedom as to attendance at religious instruction or religious worship in certain educational institutions.

28. (1) No religious instructions shall be provided in any educational institution wholly maintained out of State Funds.

(2) Nothing in clause (1) shall apply to an educational institution which is administered by the State but has been established under any endowment or trust which requires that religious instruction shall be imparted in such institution.

(3) No person attending any educational institution recognized by the State, or receiving aid out of State funds shall be required to take part in any religious instruction that may be imparted in such institution or to attend any religious worship that may be conducted in such institution or in any premises attached thereto unless such person or, if such person is a minor, his guardian has given his consent thereto.

CULTURAL AND EDUCATIONAL RIGHTS

Protection of interests of minorities.

29. (1) Any section of the citizens residing in the territory of India or any part thereof having a distinct language, script or culture of its own shall have the right to conserve the same,

(2) No citizen shall be denied admission into any educational institution maintained by the State or receiving aid out of State funds on grounds only of religion, race, caste, language or any of them.

Right of minorities to establish and administer educational institution.

30. (1) All minorities, whether based on religion or language, shall have the right to establish and administer educational institutions of their choice.

(2) The State shall not, in granting aid to educational institutions, discriminate against any educational institution on the ground that it is under the management of a minority, whether based on religion or language.

धारा २५ । २ ए में 'सैक्यूलर' शब्द किस सामान्य या विशेष अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, यह ठीक-ठीक समझनेके लिये अंग्रेजी कोशसे इसका व्युत्पत्तिसहित अर्थ जानना आवश्यक है; क्योंकि देशकी ९९ प्रतिशत जनता अंग्रेजी नहीं जानती, जिनके लिये यह संविधान बनाया गया है। जो एक प्रतिशत जनता अंग्रेजी जानती कही जा सकती है, उसमें भी अंग्रेजी भाषाके पूर्ण निष्णातोंकी संख्या तो अर्द्ध प्रतिशतसे अधिक हो ही नहीं सकती। इस 'सैक्यूलर' शब्दकी व्युत्पत्ति 'दी कनसाइज ऑक्सफर्ड डिक्शनरी' में इस प्रकार दी है—

"In senses lay, worldly, from Old French *seculer*. From Latin *saecularis* (saeculum, generation, age, perhaps from stem of serere sat-sow.)"

यहाँ तो पहली व्युत्पत्तिवाला इस शब्दका अर्थ ही लागू होगा, न कि दूसरीवाला और इस पहली व्युत्पत्तिके संदर्भमें उक्त कोशमें इस शब्दके निम्न अर्थ दिये हैं—

"Concerned with the affairs of the world, worldly, not sacred, not monastic, not ecclesiastical, temporal, profane, lay."

जिनके हिंदी पर्याय या अर्थ हैं—ऐहिक, लौकिक, अपूत, अयाजकीय, अनाध्यात्मिक, वैषयिक, सांसारिक, व्यावहारिक। अब आप इस धाराकी उपधारा (२) को विचारिये जो यह विधान करती है कि—

इस धाराकी कोई बात किसी विद्यमान विधानको न तो प्रभावित करेगी और न राज्य (स्टेट) को ऐसा विधान बनानेसे रोकेगी जो—

(ए) किसी आर्थिक, राजनीतिक अथवा अन्य लौकिक प्रवृत्तियोंको, जो धार्मिक आचरणसे सम्बन्धित हों, नियमन अथवा सीमाबद्ध करनेवाली होंगी।

यह उपधारा (ए) भारतवर्षमें प्रचलित सभी धर्मोंपर समान रूपसे लागू होती है। परंतु उपधारा (बी) का एकमात्र लक्ष्य है 'सार्वजनिक हिंदू-धर्म-संस्थाएँ' और वह कहती है कि—

'सार्वजनिक लक्षणोंवाली हिंदू-धार्मिक संस्थाओंके सामाजिक कल्याण और सुधारके लिये अथवा हिंदुओंके सभी वर्गों-उपवर्गोंके लिये उन्हें मुक्तद्वार करनेका कानून बनानेसे रोकेगी।'

इस धाराकी पृष्ठभूमिमें विचार करनेपर हमारे गणराज्यको 'सैक्यूलर स्टेट' यानी धर्म-निरपेक्ष कहना व्यर्थकी भ्रान्ति पैदा करता है। जिस मुँहसे जन-जनकी धार्मिक स्वतन्त्रताकी घोषणा की गयी है, उसी मुँहसे हिंदुओंकी धार्मिक संस्थाओंके लिये मनचाहा कानून बनानेका सर्वाधिकार प्राप्त कर लेना अथवा उस धर्मकी धार्मिक संस्थाओंका तमाम हिंदुओंके लिये मुक्तद्वार करनेका कानून बनाना, चाहे ऐसे लोग उस सम्प्रदायविशेषको माननेवाले नहीं भी हों, हिंदुओंकी धार्मिक स्वतन्त्रता छीन लेना ही तो है। सच पूछा जाय तो इस उपधाराकी आवश्यकता ही नहीं रही जब कि संविधानकी धारा १७ द्वारा अस्पृश्यताका व्यवहार निषिद्ध ही नहीं, दण्डनीय भी घोषित कर दिया गया है। अस्पृश्यता जहाँ भी हो, सर्वत्र उस धाराके अनुसार दण्डनीय हो गयी है और अस्पृश्यके सिवा किसी हिंदू अथवा अन्य जातिके

व्यक्तिका अमुक सीमातक हिंदू-मन्दिरमें प्रवेश निषिद्ध था ही नहीं तो उनके मुक्तद्वारका कानून बनानेका उपर्युक्त अधिकार प्राप्त करना कैसे उचित हो सकता है ?

इस सम्बन्धमें यह भी द्रष्टव्य है और उपर्युक्त अंग्रेजी पुस्तिकामें धार्मिक सहिष्णुताकी परम्पराके अनुरूप (ट्रे टू दी ट्रेडीशन ऑफ रिलीजस टॉलरेशन) कहते हुए स्वीकार भी किया गया है कि धार्मिक स्वतन्त्रता तो भारतवर्षमें सदा ही रही है। यदि ऐसा न होता तो यहाँ यहूदी, ईसाई, पारसी और मुसल्मान रह ही नहीं सकते थे। ईसाई यहाँ दूसरी शताब्दीमें और पारसी आठवीं शतीमें आये ईरानसे, जब कि मुसल्मान वहाँके राजाको पराजितकर प्रजाको मुसल्मान बलात्कारसे बनाने लगे। कदाचित् यहूदी ही यहाँ सबसे पहले ईसापूर्वकी उन शतियोंमें आये होंगे जब कि फिलीस्तीनसे उन्हें भागना पड़ा था। मुसल्मानोंमें पहले ई० ७१०के लगभग मुहम्मद इब्नकासिम आया और उसने सिन्धु-घाटीको मुलतानतक विजयकर अपना राज्य स्थापित कर लिया। परंतु दिल्लीमें मुसल्मानी राज्यकी स्थापना तो कुतुबुद्दीनसे ११वीं शती ईसवींसे ही हुई और मुसल्मान भारतवर्षको अपना घर मानकर बसने लगे। राज बदलते गये और हिंदू भी कभी जोर-जुल्मसे तो कभी स्वतः स्वार्थसाधनके लिये मुसल्मान बनते गये, परंतु आपसमें जातीय मनमुटाव कभी नहीं हुआ। हाँ, हिंदू उन्हें शक, हूण आदि जातियोंकी तरहसे अवश्य ही आत्मसात् नहीं कर सके। जिसके कारणोंको जानना यहाँ आवश्यक नहीं है। धर्ममें हस्तक्षेपकी शिकायत तो हिंदू और मुसल्मानों—दोनोंको पहले-पहल अंग्रेजी राज्यमें अंग्रेजोंके प्रति ही हुई और यह भी सन् १८५७के भारत-स्वातन्त्र्य-संग्रामका एक कारण बन गयी थी और इसीलिये यहाँका शासन हस्तगत करते समय सन् १८५८में महारानी विक्टोरियाने यह घोषणा की थी कि 'किसी मनुष्यको अपने धर्मके कारण तंग नहीं किया जायगा और न कोई पक्षपात ही दिखाया जायगा।'

यह बात दूसरी है कि उक्त घोषणाकी अनुपालनामें अंग्रेज शासकोंने, कारण जो भी हो, ढील दिखायी अथवा कभी किसीके साथ तो कभी दूसरेके साथ पक्षपात भी दिखाया। परंतु इसका स्पष्ट प्रमाण तो हमें लार्ड कर्जनके कालसे मिलता है। सन् १८८५में अंग्रेजोंके प्रोत्साहन और सहयोगसे 'इंडियन नैशनल कांग्रेस'की स्थापना हुई, जिसमें हिंदू, मुसल्मान, ईसाई, पारसी सभी धर्मवाले सम्मिलित हुए और इसके वार्षिक अधिवेशनोंमें पहले-पहले वायसराय भी सम्मिलित होते रहे थे। इसके मञ्चपरसे भारतवासियोंके राजनीतिक अधिकारों और राजकाजमें सहयोगी बनाये जानेकी माँग की जाने लगी और प्रतिवर्ष ऐसी माँगोंका क्षेत्र भी व्यापक और विस्तृत होने लगा। सन् १८९९ में लार्ड कर्जन वाइसराय होकर आये। ये दूरदृष्टिके राजनीतिज्ञ थे और इन्होंने १९०३में बंगालका विभाजन हिंदू-मुसल्मानोंको पृथक्-पृथक् करनेकी दृष्टिसे किया। इस विभाजनका विरोध बंगालके हिंदू-मुसल्मानोंने ही मिलकर नहीं किया, अपितु सारे देशके मुसल्मान और हिंदुओंने मिलकर भी किया। इस सम्मिलित विरोधमें दराड़ पटकनेको कर्जनके उत्तराधिकारी लार्ड मिंटो प्रयत्नशील हुए और चाहे सन् १९११में बंगालका यह विभाजन रद्द कर दिया गया हो, परंतु दोनोंमें यानी हिंदू-मुसल्मानमें साम्प्रदायिक चुनाव-प्रतिनिधित्व एवं सेवाओंमें अनुपातका चारा फेंककर दोनोंको परस्परविरोधी बनानेका सतत प्रयत्न तबसे होता रहा। जैसे अंग्रेजी राज्यकी जड़ उखड़ती प्रतीत होने लगी, वैसे-वैसे भारतकी अखण्डताकी जड़ें भी उनके द्वारा खोदी जाने लगीं और मुसल्मानोंसे उन्हें इसमें सहयोग मिलता रहा। मुस्लिमलीग श्रीजिन्नाके हाथमें आयी, तबसे तो पाकिस्तानके स्वतन्त्र राष्ट्रकी माँग भारतीय मुसल्मानोंकी ओरसे श्रीजिन्ना करने लगे और कांग्रेसद्वारा यह माँग स्वीकृत करानेके लिये ही ता० १६ अगस्त १९४६ को 'डाइरेक्ट एक्शन' दिन मनानेकी श्रीजिन्नाने घोषणा कर दी और इसकी अंग्रेज शासकोंद्वारा प्रान्तीय शासन-स्वातन्त्र्यके बहाने उपेक्षा हुई और उस दिन कलकत्तेमें नादिरशाही नरसंहार होने दिया गया। हिंदुओंका दूसरे ही दिन प्रत्युत्तर पाकर वह नरसंहार कुछ दिनोंमें शान्त तो हुआ परंतु प्रतिक्रिया देशमें जहाँ-तहाँ बहुत महीनोंतक चलती ही रही। क्या अंग्रेजोंकी धार्मिक तटस्थता-निरपेक्षताका ऐसा उदाहरण संसारमें दूसरा मिल सकता है ? उन तटस्थ अंग्रेज शासकोंकी धार्मिक-तटस्थ राजनीतिका कटुतम फल, आज भारत-विभाजनके १७ वर्ष बाद भी दोनों ही खण्ड भुगत रहे हैं और न जाने कबतक भुगतते रहेंगे; क्योंकि पाकिस्तानी नेताओंने अपने अस्तित्वका नारा ही इस वैमनस्यको बना लिया है और वे भारतके विरुद्ध घृणाका प्रचार करते रहते हैं। अब तो उन्होंने भारतपर अन्यायपूर्ण आक्रमण ही कर दिया है।

साम्प्रदायिकता या धर्मान्धता सरकारी कानूनसे नष्ट नहीं होती। यह अत्यन्त खेदकी बात है कि सब कुछ जानते-समझते हुए भी हमारे धाता-विधाताओंने साम्प्रदायिकताको हिंदू-धर्मकी प्रकृति ही मान लिया है, जो सर्वथा असत्य है। संसारमें सरकारें चाहे जितने मञ्चसे धर्म या वादनिरपेक्षताका ऐलान करें और बहुमतियोंके प्रति कठोरतम बर्ताव करती भी रहें, जैसे कि भारत-संघ-सरकार पिछले १७ वर्षसे भारतके बहुमती हिंदुओंपर करती रही है; परंतु जिनका स्वार्थ है और ऐसे स्वार्थवाले हिंदू या मुसल्मान ही नहीं, अपितु अनेक विदेशी भी हैं, वे इस आगको शान्त कभी भी होने नहीं दे सकते और देंगे भी नहीं। जैसे संसारमें युद्ध भड़कानेवाले शस्त्रास्त्र-निर्माता हैं और अप-टू-डेट शस्त्रास्त्र बनानेवाले संसारमें अनेक निजी कारखाने भी हैं, वे धन कमानेके लिये एक दूसरे देशको अप-टू-डेट शस्त्रास्त्र खरीदनेको उकसाते रहकर युद्ध छिड़वा देते ही हैं, जो फिर पारस्परिक सहायता-संधियोंके कारण विश्व-युद्धका रूप ले ही लेता है। जैसे कि पिछले दो विश्वयुद्धोंमें हुआ था। वैसे ही सम्प्रदायवादके दंगे भी शान्त नहीं होनेवाले हैं; क्योंकि ऐसे चरोंकी—भेड़ियोंकी आजके अर्थप्रधान युगमें कमी तो हो ही नहीं सकती। अब तो युद्ध ही प्रारम्भ हो गया है।

हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि संसारको धर्मयुद्धोंकी परम्परा यूरोपवालोंकी ही देन है। ईसाइयों और मुसल्मानोंमें यह युद्ध लगभग १५० वर्षतक यानी ११ से १२वीं शतीमें चला था, हालाँ कि ईसाई देशोंमें मुसल्मान कभी ऐसे नहीं बसे, जैसे कि भारतवर्षमें बसे, फले-फूले और बढ़े हुए हैं। यहूदियोंपर अत्याचार तो हिटलर-कालमें पराकाष्ठाको ही पहुँच गये थे। क्या बीसवीं सदीसे पहलेके भारतीय इतिहासमें ऐसे किसी भी धार्मिक युद्धका उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है, हालाँ कि निष्पक्ष लिखे इतिहास बहुत ही कम प्राप्त हैं*। भारतवर्षमें तो सदा सबको मनचाहा धर्म माननेकी ही नहीं, जन्मके धर्मको त्यागकर मनचाहा नया धर्म स्वीकार कर लेने तककी स्वतन्त्रता रही है। ऐसे परिवर्तनोंसे ही मुसल्मान और ईसाइयोंकी संख्या यहाँ बढ़ी और बढ़ रही है, स्वाभाविक प्रजनन-शक्तिद्वारा ही नहीं। परिवारके व्यक्तियोंके भिन्न-भिन्न धर्म पालनेके उदाहरण भी भारतीय इतिहाससे अनेक प्रस्तुत किये जा सकते हैं। परंतु मुसल्मान-धर्मने तो ऐसी स्वतन्त्रता कभी किसीको दी ही नहीं। ईसाई-धर्म भी अपनी ही सम्प्रदायोंमें अभी-अभी ऐसी उदारता कहीं-कहीं दिखाने लगा है, पर फिर भी उदाहरण बहुत कम मिलेंगे। ईसाइयोंमें तो भिन्न सम्प्रदायोंके युवक-युवती विवाहके बन्धनमें बहुत ही कम बँधने दिये जाते हैं। हिंदू-धर्ममें तो आज भी जैन और हिंदू, शैव और वैष्णव आदि सम्प्रदायेतर ब्याह होते हैं। मुसल्मान-ईसाईसे हिंदू ब्याह इसलिये नहीं करते कि उनमें न तो वैसी सहिष्णुता पायी जाती है और न परधर्मियोंसे हिलमिल जानेकी वृत्ति ही।

हिंदू-धर्मपर ज्यादतियाँ हुईं, आज भी हो रही हैं, परंतु इसने शिकायत नहीं की। यदि आज कुछ-कुछ शिकायत सुनी जाती है तो इसका कारण ईसाइयोंकी धर्मपरिवर्तन करानेकी उग्र प्रवृत्ति ही है, जिसकी महात्माजीने भी एक समय निन्दा की थी। मुसल्मान और ईसाइयोंकी ऐसी धर्म-परिवर्तनकी प्रवृत्तियोंके उत्तर रूपमें ही आर्यसमाजने शुद्धिकी प्रवृत्ति चलायी। परंतु इस तथ्यसे कोई भी इन्कार नहीं करता कि किसीको भी प्रलोभन देकर अथवा जबरन् धर्म-परिबर्तन कराना हिंदू-धर्मकी प्रकृति है ही नहीं। उसने सदा ही माना और आज भी यही मानता है कि धर्म वैयक्तिक वस्तु है। हिंदूधर्ममें जो धर्मके दस लक्षण कहे हैं, वे सार्वत्रिक हैं, केवल उसके ही नहीं और वे लक्षण हैं—धृति, क्षमा, दम, चोरी न करना, मन-वाणी और शरीरकी पवित्रता, इन्द्रियोंका संयम, सुबुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध। क्या इनकी उपेक्षा करनेवालेका ऐहिक जीवन भी सुखी हो सकता है? जो राज्य अपनेको धर्म-निरपेक्ष कहे, क्या वह भी अपनी प्रजामें इनकी विरोधी बातोंकी उपेक्षा करता है? फिर चोरी, व्यभिचार आदिको दण्डनीय अपराध कहना और मानना ही क्यों चाहिये? यदि उसकी दृष्टिमें ऐसे अपराध अवश्य दण्डनीय हैं तो उसे जिस तरह वह वैज्ञानिक शिक्षाको जनताके लिये परमावश्यक मानकर न केवल पूर्ण सचेष्ट ही है अपितु करोड़ों रुपये प्रतिवर्ष व्यय करता है, उसी तरह उसे बचपनसे ही उपर्युक्त जीवन-प्रवृत्तियोंके प्रशिक्षणको अपना परमावश्यक कर्तव्य मानना और उसके लिये सभी श्रेणियोंके विद्यालयोंमें प्रबन्ध करना ही चाहिये। प्रजाकी

* मुहम्मद गोरीने सोमनाथ-मन्दिरका ध्वंस सन् १०३३ में किया था। परंतु गुजरातके सोलंकियोंके ऐतिहासिक काव्य 'द्वयाश्रय'में इसका जिक्र हेमचन्द्रने किया ही नहीं; क्योंकि इससे परस्पर वैमनस्यकी परम्परा ही बन जाती और यह हेमचन्द्रको स्वीकार कैसे होता?

सुख-समृद्धिको तो संसार राजधर्म स्वीकार करता ही है। भारतवर्षका गणराज्य भी यह स्वीकार करता है। धर्मका सम्प्रदायवादी चाहे जो अर्थ करें, परंतु उपर्युक्त दस बातोंका समीचीन प्रशिक्षण देते हुए, राज्य प्रजामेंसे साम्प्रदायिकताका विष इतना शीघ्र उन्मूलन करनेमें सफल हो जायगा कि जो सफलता कड़े-से-कड़े कानून बनाकर भी उसे कदापि नहीं मिल सकती।

समय पक गया है कि धर्म-निरपेक्षताकी ओटमें सरकार हिंदू-बहुमतियोंको लाञ्छित और प्रताड़ित करनेकी शुष्क राजनीतिका त्याग कर दे; क्योंकि वह उस साम्प्रदायिकताको सदा जीवित रक्खेगी कि जिसे नाश करनेको वह परमाभिलाषी है। उपर्युक्त शिक्षणसे भ्रष्टाचार और अनेक असामाजिक प्रवृत्तियोंकी जड़ें भी सूखने लगेंगी। कौन साम्प्रदायिक है, यह भारत-सरकारके अनेक उच्चतम अधिकारी जानते हैं। परंतु उनमें 'कालेको काला' कहनेका सत्साहस नहीं; क्योंकि वह दलीय राजनीतिका दामन ही पकड़े रहना चाहता है और जबतक वह यह दामन पकड़े रहेगा, साम्प्रदायिक विष भी देशमें कायम ही नहीं, परंतु फैलता भी रहेगा, इसमें जरा भी संदेह नहीं है।

यह भी कह देना आवश्यक है कि सरकारकी तुष्टीकरण नीति ही इसको पनपा रही है। मौलाना आजादने अपनी आत्मकथामें स्पष्ट लिखा है कि महात्माजीने श्रीजिन्नाके प्रति तुष्टीकरणकी नीति अपनाकर मृतप्राय सम्प्रदायवादको ऐसा प्राणवान् जीवन दिया कि अखण्ड भारतके विभाजनके प्रति संघर्षकी उनकी शक्ति ही सम्पूर्ण सत्त्वहीन हो गयी। उधर पं० नेहरूका आदर्शवाद भी उसे समय-समयपर सींचता रहा। यदि मौलाना आजाद सेनाहीन सेनापति नहीं होते तो वे, बहुत सम्भव है कि, भारत-विभाजनके विरुद्ध खुला संघर्ष छेड़ देते, जिसके लिये वे मुसल्मानोंद्वारा अपमान और लाञ्छना बराबर मध्यस्थ वृत्तिसे सहते रहे थे। उनका एक मात्र और अन्तिम संबल, सहारा और भरोसा महात्माजीका था। परंतु जब वही गिर पड़ा तब उन्होंने भी भवितव्यताके आगे अपना सिर झुका दिया। फिर तो सम्प्रदायवादको देशमें 'अमर पट्टा' मिलना ही था और हमारे संविधान-निर्माताओंने यह पट्टा जिन शब्दोंमें लिखा और सौंपा, अब वह देखिये।

'सैक्यूलर स्टेट' यानी सम्प्रदायवादको अमर पट्टा

संसारमें शायद ही कोई देश हो, जहाँ एकसे अधिक बोलियाँ नहीं बोली जाती हों और जहाँ एकसे अधिक कौमें नहीं रहती हों। जिसका भारतवर्ष १९४७ तक साम्राज्य था, उस इंगलैंडमें, जिसे आजकल 'यूनाइटेड् किंगडम' कहते हैं, एंग्लो-सैक्सन जातिके अलावा भी जातियाँ रहती हैं और अंग्रेजीके अलावा बोलियाँ भी बोली जाती हैं। लंदन नगरके ईस्ट एंडमें काक्नी, वेल्समें व्येल्श बोली बोली जाती है। व्येल्शमें तो कदाचित् गद्य-पद्य साहित्य भी है। परंतु कहीं भी ऐसा नहीं माना या कहा जाता कि ये अंग्रेज नहीं और इनका राष्ट्र यूनाइटेड किंगडम नहीं है। दुर्भाग्यसे हमारे देशमें ही जन्मे और बड़े हुए, एक-सा खाते-पहनते और एक-सी भाषा बोलते, पर धर्मसे मुसल्मान लोगोंको किसीने उकसाकर यह कहनेकी प्रेरणा दी कि 'हम भारतीय नहीं; भारतीय तो केवल हिंदू ही हैं।' ऐसा कहनेवालोंको, जिनकी संख्या करोड़ोंकी थी, फिर भी अल्पमति (माइनारिटी) मानकर बराबर ही उत्तेजित किया गया और जहाँ मुसल्मानोंकी संख्या हिंदुओं आदिसे अधिक थी, उन प्रान्तों या प्रदेशोंको एक पृथक् देश-धर्मके नामपर 'पाकिस्तान' बना दिया गया, जैसे कि ईसाई, यहूदी और मुसल्मानों—तीनोंके एक ही देशके एक भागको 'इजराइल' नाम देकर यहूदी देश बना दिया गया है, जहाँ कि यहूदियों और अरबोंमें झगड़े घुसपैठके उसी तरह हो रहे हैं जैसे कि पाकिस्तान और हिंदुस्तानमें।

बात यहीं तक रह जाती तो भी संतोष मान लिया जाता। परंतु अल्पमतियोंको भारतीय नहीं मानना और उन्हें संविधान विशेष अधिकार देकर संस्कृति, बोली और धर्म आदिकी विभिन्नता बताकर अपने पृथक् अस्तित्वका दावा करते रहनेका पूरा-पूरा अधिकार दे देना, संसारकी एक विचित्र बात ही कही जानी चाहिये। यह आविष्कार अंग्रेजी-मस्तिष्कका ही था। महान् आश्चर्यकी बात है कि संविधान बनानेवाले भारतीयोंने पाकिस्तानके बनाये जानेपर भी कोई सबक नहीं सीखा और ऐसी भावनाको संविधानमें स्थान दिया। इसके स्वीकृत किये जानेपर संविधान-सभाके एक सदस्यने ठीक ही कहा था कि 'आजसे भारतवर्षमें बसनेवाले अल्पमतियोंके नये युगका प्रारम्भ हो गया है।' इसी कारण दक्षिणमें द्रविडस्थान और उत्तर-पश्चिममें सिखिस्तानकी माँगें की जा रही हैं। संविधानकी इस विषयकी धाराएँ २९ और ३० दोनों ही पृष्ठ ६ में देखी जा सकती हैं।

आश्चर्यकी बात तो यह है कि 'माइनारिटी' यानी अल्पमतियोंको स्वतन्त्र अस्तित्वका यह अधिकार देते समय

'माइनारिटी' शब्दकी परिभाषा और व्याख्या कुछ भी नहीं दी गयी है। हिंदुओंकी संख्यासे कुछ भी कम; परंतु फिर भी करोड़ोंकी संख्यावाले अहिंदूसे लेकर कुछ सौकी संख्यावाले-तक इन धाराओंसे लाभान्वित होनेकी माँग पेश कर सकते हैं। सिख, जैन और बौद्ध—ये तीनों ही हिंदूधर्मका अङ्ग घोषित कर 'माइनारिटी' के उन अधिकारोंसे सर्वथा वञ्चित कर दिये गये हैं। क्या यह अहिंदू-धर्मियोंमें सम्प्रदायवादको खुला प्रोत्साहन देना नहीं है? और खासकर तब, जब कि संघीय-प्रकाशन विभागकी पुस्तिका 'इंडियाज कांस्टीटयूशन' में अभिमानके साथ घोषित किया गया है—

'धार्मिक सहिष्णुताकी परम्पराका अनुसरण करते हुए और वस्तुनिष्ठ (आबजैक्टिव) प्रस्तावकी उदारताको मान देते हुए (यह प्रस्ताव पं० नेहरूने संविधान-सभाके उद्‌घाटन दिनको ही प्रस्तुत किया था); 'भारतका संविधान सबको धार्मिक स्वतन्त्रताकी गारंटी देता है। सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य एवं अन्य व्यवस्थाओंके सिवा सब लोगोंको धर्माधर्म-विवेककी स्वतन्त्रता और स्वतन्त्रतापूर्वक धर्म मानने, पालने और प्रचार करने (प्रोफेस, प्रैक्टिस और प्रोपैगेट) का अधिकार है।' कम-से-कम ईसाई तो जिनके प्राथमिकसे लेकर उच्च शिक्षातकके महाविद्यालय और छोटेसे लेकर बड़े विशिष्ट चिकित्साके अस्पताल देशमें यत्र-तत्र सर्वत्र हैं और जिनको हिंदू-अहिंदू सभी सदासे उपयोग करते रहे हैं और स्वतन्त्रताके बादसे तो इनके विद्यालयोंको, अंग्रेजी माध्यमसे प्रशिक्षण देनेके कारण, प्राथमिकता मिल रही है, अपने धर्मका शिक्षण ये विना झिझक देते हैं; क्योंकि ऐसा अधिकार संविधान धारा २८ (३) के अनुसार इन्हें प्राप्त है और उनमें प्रवेश पानेके इच्छुक लोग इसकी लिखित सहमति भी दे देते हैं। जहाँ उस धाराका अनुवाद देना समीचीन होगा। ईसाइयोंके लिये हैं—ऐसा कहकर उन्हें धारा ३० (२) के अनुसार सरकारी सहायता भी पर्याप्त मिलती है।

'किसी ऐसी शिक्षासंस्थामें जो कि राज्यमान्य है अथवा राज्यसे अनुदान प्राप्त करती है, किसीको उस संस्थामें दिये जानेवाले धार्मिक शिक्षणमें अथवा उसमें या उससे संबद्ध किसी अन्य भवनमें की जानेवाली अर्चा-पूजामें भाग लेनेको बाध्य नहीं किया जा सकेगा। यदि उसने अथवा उसके अभिभावकने यदि वह अवयस्क हो तो, ऐसी स्वीकृति नहीं दे दी है।'

इतना ही नहीं; सरकार भी उन संस्थाओंमें जिनका प्रवन्ध उसको सौंप दिया गया है और जो किसी ऐसे न्यास अथवा दान (एन्डौमेंट) द्वारा स्थापित हैं, जिनके अनुसार उनमें धार्मिक शिक्षण दिया जाना ही चाहिये, वैसा धार्मिक शिक्षण देते रहनेको बाध्य है। (मूल धाराके शब्दोंके लिये देखिये पीछे धारा २८ (२) ।)

उपर्युक्त धाराओंके संदर्भमें यह स्पष्ट है कि सिवा विशुद्ध सरकारी संस्थाओंके सर्वत्र साम्प्रदायिक धार्मिक शिक्षण भी दिया जा सकता है। इन धाराओंका पूर्ण लाभ ईसाई संस्थाएँ उठा रही हैं और फलस्वरूप उनके विद्यालयोंमें पढ़नेवाले हिंदू बालक-बालिका और युवक-युवतियाँ प्रारम्भसे ही ईसाई और पाश्चात्त्य संस्कारोंसे अभिसिंचित होते-होते उन्हींके रूप बनते जा रहे हैं। इसकी न तो माता-पिताओं अथवा अभिभावकोंको ही चिन्ता है और न हमारी सरकारको ही; क्योंकि उसके द्वारा तो शीघ्रातिशीघ्र पाश्चात्त्य संस्कारोंमें भावी संतानोंको ढाल देनेका निश्चय ही किया हुआ है। अतः हिंदुओंको भी अपने विद्यालयोंमें नैतिक शिक्षण देना ही चाहिये।

कई कारणोंसे आज इस संविधानको रद्द कर भारतीय परम्परा और संस्कारोंके अनुरूप नया संविधान जल्दी-से-जल्दी बनाये जानेकी माँग बुलंद हो रही है। परंतु जनमत पूर्ण जाग्रत् होनेपर ही यह सम्भव होगा। जनमत जाग्रत् हो इसीलिये संविधानकी हानिकर कुछ धाराओंकी ओर ध्यान दिलाया गया है और इसके लिये कुछ विस्तारसे लिखा गया है। दुराचारका मूल संविधानमें है। 'चोरको ही नहीं, चोरकी माँको मारनेसे ही चोर पैदा नहीं हो पायँगे।' अतः इस ओर अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिये, यही निवेदन है।

धर्महीन मनुष्य

धर्महीन जीवन पशु-जीवन घोर तामसिकता-भरपूर।
धर्महीन नर असुर-दैत्य बन रहता मिथ्या मदमें चूर॥
धर्महीन नर नीच स्वार्थवश नित्य बना रहता अति क्रूर।
धर्महीन नरसे रहते नित पुण्यकर्म—सुख-शान्ति सुदूर॥

भौतिकवाद और अध्यात्मवाद

(लेखक—श्रीगोपीचन्दजी धाड़ीवाल, बी० एस्-सी०, एल्-एल्० बी०)

धर्म वह वस्तु है, जो हमारे जीवनमें मार्गदर्शकका काम दे। मार्गदर्शकका कार्य हमें अपने ध्येयपर पहुँचानेका है। हमारा ध्येय सिवा सुखके और हो ही क्या सकता है? और सुख जन्मसे लेकर मृत्युतक ही नहीं; यदि हमारा अस्तित्व मृत्युके पश्चात् भी कोई हो, तो वहाँ भी हमें सुख प्राप्त हो और वह सुख ऐसा कि जो शुद्ध अमिश्रित ही नहीं, शाश्वत हो। मार्गदर्शकका कार्य तो प्रत्येक क्षण मार्ग बतलाना होता है। इस सत्य-धर्मका सम्बन्ध हमारे पूरे जीवनसे और उसके प्रत्येक क्षणसे है, न कि केवल अमुक समय या क्षणसे ही। उसका सम्बन्ध तो हमारे जन्म-जन्मान्तरसे भी है। जब हम कहते हैं कि धर्म इस लोक और परलोक—दोनों ही लोकोंमें सुख देता है तो इसका यही अर्थ हो सकता है कि वह प्रत्येक क्षण हमारी प्रत्येक क्रियामें हमें सावधान करता है कि हम ऐसी भूल नहीं करें जो दुःखका कारण बने।

मनुष्यकी प्रथम आवश्यकता उदरपूर्ति है। उदरपूर्ति न होना दुःख है। इसलिये उदरपूर्तिके साधन जुटाना मनुष्यका स्वाभाविक और प्रथम कर्तव्य है। पर इन साधनोंके जुटानेमें मनुष्य कुछ भूलें करनेके कारण दुःखको भी आमन्त्रित कर लेता है। धर्म उसको उन भूलोंसे बचनेके लिये सावधान करता है, जिससे वह दुःखोंसे बच सके। धर्म उन साधनोंमें बाधक बनकर दुःखका कारण नहीं बनता; किंतु उसको मार्ग बतलाता है कि वह साधन जुटानेमें दुःखके कारण उत्पन्न न कर ले। उदरपूर्तिकी तरह अन्य आवश्यकताओंकी पूर्तिमें भी धर्म बाधक नहीं होता, किंतु वह चेतावनी देता है और मार्गदर्शक बनता है, जिससे मनुष्य दुःख उत्पन्न न कर ले।

समय बदलता है, यह कोई इनकार नहीं कर सकता। इसके साथ-साथ मनुष्यकी आवश्यकताएँ भी बदलती हैं—यह भी हम अपने अनुभवसे जानते हैं। फिर उन आवश्यकताओंको पूरा करनेके उपाय भी बदलते हैं। मनुष्य यदि इस फेर-बदलके अनुसार अपने साधन और उपाय नहीं बदले तो न वह अपनी उदरपूर्ति ही कर सकेगा और न अन्य आवश्यकताएँ ही और इसका परिणाम उसके लिये दुःखकर ही होगा। धर्म इस फेर-बदलमें बाधक नहीं होता, परंतु वहाँ भी वह उसे सावधान करेगा कि दुःखके बीज वह न बोये।

उदरपूर्ति दिन-दिन कठिन होती जा रही है, जीवनकी दुष्करता बढ़ती जाती है और जीवन-साधन उपलब्ध करनेमें प्रतिद्वन्द्वता और कठिनाइयाँ भी बढ़ती जाती हैं, यह प्रत्येक व्यक्तिके अनुभवकी बात है। अतीतकालकी ओर हम देखते हैं तो हमें पता लगता है कि तब जीवन इतना कठिन नहीं था। जीवनमें इतनी समस्याएँ भी नहीं थीं, जितनी आज हैं। प्राचीन परम्पराकी कथाएँ और कहानियाँ एवं आधुनिक शोध-खोज भी इसीकी साक्षी देते हैं।

अब यदि हम आजसे करोड़ों वर्ष पहलेके मनुष्यके जीवनकी कल्पना करें तो यह मान सकते हैं कि उसका जीवन बहुत सादा और सरल था। उसके सामने विकट समस्याएँ नहीं थीं। ऐसी दशामें यह मान्यता बेबुनियाद नहीं हो सकती कि एक समय ऐसा था जब मनुष्यको अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये कुछ भी चेष्टा नहीं करनी पड़ती थी। कल्पवृक्षोंद्वारा उसकी आवश्यकताएँ पूरी हो जाती थीं। मनुष्य कार्य करनेके लिये नहीं था, किंतु कल्पवृक्षोंद्वारा दी गयी सामग्रीका भोग करनेको था। यह संसार उस समय भोग-भूमि था, न कि कर्मभूमि।

ऊपर हम वर्तमानसे अतीतकी ओर विचार ले गये हैं। अब हम अतीतसे वर्तमानकी ओर आयें। भोगभूमि-कालमें और आजके यन्त्र-युगमें जो अन्तर है, वह यकायक नहीं, शनैः-शनैः ही हुआ है। यह तो हम समझ ही सकते हैं। इसको हम कालका स्वभाव या प्रकृतिका नियम कह सकते हैं। इस अतीतकालका इतिहास तो उपलब्ध हो नहीं सकता, पर हम कल्पना कर सकते हैं कि कल्पवृक्ष आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेमें जब असफल होने लगे होंगे और आवश्यकताएँ एवं मनुष्य-संख्या बढ़ने लगी होंगी, तब मनुष्यको जीवित रहनेके लिये नये साधन ढूँढ़ने पड़े होंगे। आज भी यही हो रहा है। जनसंख्या बढ़ रही है। नयी-नयी आवश्यकताएँ उत्पन्न हो रही हैं और मनुष्य उन्हें पूरी करनेकी लगातार चेष्टा करता आ रहा है। इसका कारण यही है कि प्रकृति परिवर्तनशील है। कल्पवृक्ष यानी भोग-भूमि-युगमेंसे निकलकर संसार कर्मभूमि-युगमें आया और फिर जैसा कि इतिहासज्ञ कहते हैं, पाषाण-युग, लोह-युगमें होता

हुआ मनुष्य यन्त्रयुगमें आया और अब वह अणु-युगमें प्रवेश कर रहा है।

पारम्परिक मान्यताके अनुसार जब कल्पवृक्ष यथेष्ट मात्रामें आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेमें विफल होने लगे और मनुष्योंकी संख्या बढ़ने लगी तो एक विकट समस्या उपस्थित हो गयी। आपसमें छीना-झपटी और क्लेश-कंकास होने लगे। प्रकृतिमें हर रोगकी दवा है। मनुष्य विकासशील है। सदा मार्ग निकालता रहता है। मनुष्यने समाजका निर्माण किया और जो समाजके नेता बने वे कुलकर कहलाये। उन्होंने समाजके नियम और दण्डनीति बनायी, जिससे मनुष्य नियमित जीवन पालन करके सुख-शान्तिसे रह सके।

पर समय भी अपने प्रवाहसे चलता रहा और कल्पवृक्ष बिल्कुल ही लोप होने लगे, अर्थात् उदरपूर्तिके साधन ही लोप होने लगे। यह नयी समस्या कुलकरोंके वशकी नहीं रही। तभी प्रकृतिने एक महान् वैज्ञानिक उत्पन्न किया जिसका नाम 'ऋषभ' था। ऋषभने सारी परिस्थितिको समझा, कालके स्वभावको समझा। उसने देखा कि काल इसी तरह नयी-नयी विकट समस्याएँ पैदा करता रहेगा। उसने दूर भविष्यको देखा। उसने देखा कि मनुष्योंकी संख्या और आवश्यकताएँ बढ़ती जायँगी और केवल प्रकृतिके भरोसे ही मनुष्य बैठा रहेगा तो अनर्थ होने लगेगा। आपसमें छीना-झपटी, वैमनस्य, क्लेशसे जीवन दुखी और अशान्त हो जायगा। उसने देखा कि संसार भोगभूमि नहीं रहकर कर्म-भूमि-कालमें प्रवेश कर चुका है। उसने देखा कि मनुष्यको अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये स्वयंको कर्म करना पड़ेगा; क्रियाशील, कर्मण्य और पुरुषार्थी बनना पड़ेगा। जो अकर्मण्य रहेगा, वह नष्ट हो जायगा। उसे अपने-आप आवश्यकतापूर्तिके साधन जुटाने पड़ेंगे। अतः उसने मनुष्य-को पुरुषार्थ करना सिखाया। असि, मसी, कसी अर्थात् कृषि और उद्योग सिखाये ताकि मनुष्य अपने ही परिश्रमसे अपने आवश्यक साधन जुटाये। उसने मनुष्यको कला सिखायी, सामाजिक जीवनका पाठ पढ़ाया, न्याय और नीति सिखायी और दोष करनेवालोंके लिये दण्डनीति बनायी। उसकी इस पुरुषार्थ करनेकी नीतिपर चलकर ही मनुष्य आज जीवित है। वह बदलते कालके साथ बदलती आवश्यकताओंकी पूर्ति नित्य नयी शोध-खोजद्वारा करता रहा है और पाषाण-युगसे होता हुआ आज वह यन्त्र-युगमें आकर, अब अणु-युगमें प्रवेश कर रहा है। वह इसी प्रकार आगे भी नयी-नयी आवश्यकताओंकी नयी-नयी तरहसे पूर्ति करता रहेगा। मनुष्य-समाजका कोई भी अङ्ग इस मार्गको छोड़कर पुरुषार्थहीन अथवा अकर्मण्य होकर बैठेगा तो उसका विनाश हो जायगा। इसके उदाहरणोंकी कमी नहीं है।

उस महान् वैज्ञानिकने इस कालकी प्रगतिमें एक भय भी देखा। उसने मनुष्यकी प्रकृतिको समझा। उसमें उसने स्वार्थ, ईर्ष्या, लोभ, तृष्णा, राग-द्वेष इत्यादि प्रवृत्तियाँ देखीं, जो समाजकी सुख-शान्तिको और व्यक्तिकी सुख-शान्तिको नष्ट करके संसारमें दुःखका प्रचार करती हैं। उसने देखा कि ज्यों-ज्यों काल आगे बढ़ेगा, मनुष्य अपनी आवश्यकताओं-के लिये नये-नये साधनोंका विकास करेगा और नये-नये उद्योग-धंधे स्थापित करेगा। इस विकासके साथ उसकी सामाजिक कुप्रवृत्तियाँ भी बढ़ेंगी और उसके परिणामस्वरूप संसारमें अशान्ति बढ़ेगी, युद्ध होंगे और मनुष्यके दुःख बढ़ेंगे और उसके विनाशके कारण उपस्थित होंगे। उसने जो सोचा, वह संसारमें प्रत्यक्ष नजर आ रहा है।

ऋषभ एक महान् वैज्ञानिक ही नहीं था, वह एक महान् करुणामय आत्मा भी था। वह कालकी इस भविष्य-गतिको देख उदासीन होकर बैठा नहीं रहा। वह अकर्मण्य नहीं था, वह कायर नहीं था। वह महान् पुरुषार्थी और पराक्रमी था। उसने अपनी सारी शक्ति इस समस्याका हल ढूँढ़नेमें लगा दी। वह वर्षोंतक इस विचारमें मग्न रहा और इसी मग्नतामें उसने अपने सुख-दुःख और घर-कुटुम्बको ही नहीं, निज शरीर तककी सुध-बुध छोड़ दी। इस कठोर तपके परिणामस्वरूप उसे प्रकाश मिला, शुद्ध पूर्णज्ञान—केवल ज्ञान प्राप्त हुआ और सुखका मार्ग दृष्टिगोचर हुआ।

उसने देखा कि मनुष्य क्या, सभी प्राणी केवल जड पदार्थके पिण्ड ही नहीं हैं, किंतु उनमें जो चेतना है, वह इस बातका प्रमाण है कि उनमें एक अन्य तत्त्व भी है। उसने देखा कि स्वभावतः वह तत्त्व पूर्णतः ज्ञानमय है और पूर्ण सुख उसका स्वभाव है। वह जरा-मृत्यु आदिके दुःखोंसे भी मुक्त है। परंतु किन्हीं कारणोंसे वह शुद्ध अवस्थामें नहीं है। उसमें अशुद्धियाँ लगी हुई हैं और इसी कारणसे वह पूर्ण सुख एवं पूर्ण ज्ञानसे वञ्चित है। उसने उन अशुद्धियोंके कारण जाने और उनसे मुक्त होनेके उपाय जाने। उसने देखा पुरुषार्थ करनेसे मनुष्य उनसे मुक्त हो

सकता । उन अशुद्धियोंसे बचनेका उपाय भी उसने देखा और यही सब बातें उसने संसारको बतायीं ।

उसने बताया कि यह सब मनुष्यके कार्योंकी—क्रियाओं-की प्रतिक्रियाएँ मात्र हैं । मनुष्य जब कोई ऐसा काम करता है—मनसे, वचनसे या शरीरसे, जो किसी अन्य प्राणीके लिये अहितकर हो, तो उसकी प्रतिक्रिया उसके लिये अहितकर ही हो सकती है । यह प्रतिक्रिया सहन करते समय यदि वह यह भूल जाय कि यह उसकी ही भूलका फल है और फिर उत्तेजित होकर वह दूसरेका अहित सोचे या करे तो दुःखोंकी एक शृङ्खला, क्रिया और प्रतिक्रियाकी शृङ्खला उत्पन्न होकर संसारमें दुःखोंका वातावरण उत्पन्न करती है । इसे किसीके भी अहित करनेको, किसीके लिये दुःखका कारण बननेको अथवा किसीको किसी भी प्रकारसे दुखी करनेको उसने 'हिंसा'का नाम दिया । अर्थात् संसारमें दुःखोंका कारण उसने हिंसाको ही बतलाया । चाहे मनद्वारा हो, चाहे वचनद्वारा और चाहे क्रिया अथवा कार्यद्वारा वह हो । और ऐसे कार्य न करना, अर्थात् 'अहिंसा' का पालन करना ही दुःखोंकी शृङ्खलासे बचनेका उपाय है । उसने बताया कि हिंसाकी शृङ्खलाकी प्रतिक्रिया इस जन्ममें ही समाप्त नहीं हो जाती, किंतु वह आत्माको भी कलुषित कर देती है, जिसके कारण वह प्रतिक्रिया जन्म-जन्मान्तरतक होती चली जाती है और उससे बचनेका केवल एक उपाय है—'अहिंसा' ।

उसने मनुष्यको खेती, उद्योग-धंधे इत्यादिके लिये पुरुषार्थ करनेको कहा था । उसने कर्मण्य बननेकी शिक्षा दी थी । ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् उसने उन कार्योंको पापमूलक कहकर निषेध नहीं किया; क्योंकि वे तो जीवनके लिये अनिवार्य हैं । किंतु उसने यह शिक्षा दी कि प्रत्येक कार्य करते समय 'अहिंसा'-तत्त्व सामने रक्खो । पर वह यह भी जानता था कि 'अहिंसा'का पालन अकर्मण्यता नहीं है, कायरता नहीं है और आसान भी नहीं है । उसके लिये पराक्रम और आत्मबल—महान् आत्मबलकी आवश्यकता है । उसने ऐसा आत्मबल प्राप्त करनेका उपाय बताया—'संयम, आत्म-संयम, स्व-अनुशासन, आत्म-नियन्त्रण । यह संयम भी बातोंसे आनेकी वस्तु नहीं; किंतु साधनाके द्वारा प्राप्त करनेकी वस्तु है और इस साधनाका नाम 'तप' है । इस प्रकार उसने दुःखोंसे बचनेका उपाय अहिंसा, संयम और तप बताया । उसने कहा—मनुष्य अपने जीवन-यापनकी कुछ भी प्रवृत्तियाँ करे, उनपर यदि वह इन तीन तत्त्वोंद्वारा नियन्त्रण रक्खेगा तो दुःखोंसे बचेगा और पूर्ण नियन्त्रण रखनेपर शाश्वत अमिश्रित सुख अर्थात् मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण अथवा परमात्म-पद प्राप्त करेगा ।

इस प्रकार संसारके कल्याणके लिये ऋषभने दो धाराएँ प्रवाहित कीं । एक तो मनुष्यको अपनी आवश्यकता-पूर्तिके लिये पुरुषार्थ करनेकी, जिसे हम 'भौतिकवाद' कह सकते हैं और दूसरी उस भौतिकवादकी धाराको अहितकारी रूप धारण करनेसे बचानेके लिये, उसपर नियन्त्रण रखनेके लिये अहिंसा, संयम और तपकी, जिसे हम 'धर्म' कह सकते हैं और यही थी 'अध्यात्मवाद'की धारा । पहली धाराका सम्बन्ध हमारे शरीरसे है, जब कि दूसरीका हमारी आत्मासे । और शरीर एवं आत्माका संघटन ही हमारा जीवन है । यह तो प्रकट ही है कि जबतक हमारे शरीर और आत्माका सम्बन्ध है हमारे लिये ये दोनों ही आवश्यक हैं । संसारका प्रथम मार्गदर्शक होनेके नाते ऋषभ प्रथम तीर्थङ्कर कहलाया । यह भारतका ही सौभाग्य था कि जहाँ केवल एक ही नहीं, समय-समयपर जब भी भौतिकतापर धर्मका नियन्त्रण शिथिल हुआ और संसार कुमार्गपर जाने लगा, तीर्थङ्करका जन्म हुआ । इस प्रकार कुल २४ तीर्थङ्करोंका प्रादुर्भाव हुआ है और उनमेंसे अन्तिम २४वें तीर्थङ्कर जो वर्धमान-महावीरके नामसे लोकविश्रुत हैं, आजसे लगभग २५०० वर्ष पहले हुए । ये सब तीर्थङ्कर अहिंसा-संयम-तपके प्रचारद्वारा संसारके कल्याणका मार्ग दिखाते रहे । भारतमें अन्य भी कई महान् आत्माएँ हुई हैं और वे सभी अहिंसाको परम धर्म मानती आयी हैं । पर जिस विशालरूपमें जैन-तीर्थङ्करोंने अहिंसा-संयम-तपका विकास किया, वह विलक्षण है । महावीरके उपदेश तो आज भी ग्रन्थरूपमें प्राप्त हैं । उनकी परम्पराको माननेवाले और अनुकरण करनेवाले त्यागी साधु और गृहस्थ भी मौजूद हैं ।

इन सबसे पता चलता है कि वर्धमान-महावीरने इस अहिंसा-संयम-तपको केवल दर्शन या सिद्धान्त रूपमें ही जनताके सामने नहीं रक्खा, किंतु उसपर आचरण करनेको बहुत महत्त्व दिया । उनकी अहिंसा केवल मनुष्योंतक ही सीमित नहीं थी, पर प्रत्येक जीवधारी, प्रत्येक प्राणी जिनमें पशु-पक्षीका ही समावेश नहीं होता है, किंतु पेड़-पौधे, जल-अग्नि, वायुतक भी आ जाते हैं । इन्हीं महावीरके अनुयायियोंको भारतमें निरामिष भोजनके प्रचार और

जनतामें दया, करुणाके विचारोंके अस्तित्वका श्रेय है जो संसारके किसी देशमें नहीं मिलते । इसी अहिंसा-विचारधाराके बलपर महात्मा गांधीके नेतृत्वमें देश ब्रिटिश-जैसी जबरदस्त शक्तिकी अधीनतासे मुक्त हुआ और तब भी उसके साथ सद्भावना कायम रख सका । आज संसारको विनाशसे बचानेवाली शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और नान-अलाइन्मेंटकी नीति भी इसी अहिंसापर आधारित है । इसी अहिंसा-संयम-तपके कारण भारतमें त्यागियोंका दर्जा शक्तिशाली राजाओंसे भी ऊँचा रहा और भौतिकता वह श्रेय नहीं पा सकी जो अन्य देशोंमें उसे मिला । इसी भावनाके कारण भारत अन्य देशोंमें शोषणके मार्गपर उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, पूँजीवादके मार्गपर नहीं चला, उस कालमें भी, जब कि भौतिक उन्नतिमें भी वह सारे संसारसे आगे था । उसने तो संसारको शान्तिका संदेश ही दिया था ।

संसारका दुर्भाग्य है कि वह धर्मका, अहिंसा-संयम-तपका नियन्त्रण संसारके अन्य भागोंमें नहीं रहा और इसका दुष्परिणाम भी संसारके सामने है !

प्राचीन कालमें यूनान, रोम, मिस्र इत्यादि कई देशोंने भौतिक उन्नति की, अपने साम्राज्य फैलाये, समृद्धि प्राप्त की और उसके भोगनेमें—भोगविलासमें अन्धे हो गये । फलतः उनका पतन हुआ । महान् विजयी सिकन्दरको आज कौन पूछता है, जब कि भारतके महान् त्यागियोंसे आज भी संसार प्रेरणा पाता है ।

वर्तमान कालमें पाश्चात्य देशोंमें अहिंसा-संयम-तपसे अनियन्त्रित कितना भौतिक विकास हुआ । संसारकी अन्य जातियोंको नष्ट करनेवाले उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, पूँजीवाद इत्यादि हिंसक वाद उत्पन्न हुए । उनकी प्रतिक्रियाएँ समाजवाद, साम्यवाद आदि हिंसक वादोंके रूपमें हुईं और हिंसक क्रान्तियाँ भी हुईं और हो रही हैं, जिनके फलस्वरूप मनुष्यके हृदयमेंसे स्वाभाविक करुणा-मैत्रीके भाव नष्ट हो रहे हैं एवं नये-नये वैज्ञानिक उपकरणोंद्वारा शक्तिशाली देश एक दूसरेको नष्ट करनेकी धमकियाँ दे रहे हैं और सारा संसार विनाशके भयसे काँप रहा है । इधर शान्ति-रक्षाके लिये औपचारिक अन्ताराष्ट्रीय संस्थाएँ—'लीग आफ नेशन्स' जो असफल हो चुकी और युनाइटेट नेशन्स जो उसी दशा रक्खी जाती है । मनुष्य भूलता है कि शान्ति इन कामचलाऊ उपायोंसे नहीं आ सकती । उसके लिये धर्मको—अहिंसा-संयम-तपरूपी शाश्वत सत्योंको ही आधार बनाना चाहिये और मनुष्यको समाजके हृदयमें यही बीज बोने चाहिये ।

वैयक्तिक क्षेत्रमें भी धर्मका अभाव मनुष्यके दुःखका कारण बन रहा है । भौतिक उन्नतिसे धन प्राप्त होता है । परंतु धर्मके नियन्त्रणके बिना धन दुःखका कारण बनकर वह असीम लोभ और तृष्णा उत्पन्न कर मनुष्यके हृदयमेंसे नैतिकता ही नहीं, मनुष्यताका ही लोप कर देता है । धन-प्राप्तिके लिये कोई भी कार्य या अकार्य त्याज्य नहीं और उसके भोगनेके लिये कोई भी कृत्य दुराचार नहीं है । दान, परोपकार, मैत्री, त्याग, सेवा-जैसे भाव लोप होते जा रहे हैं और स्वार्थ, कपट, झूठ, चोरी, अप्रामाणिकता इत्यादि-का प्रचार बढ़ता जाता है । पति-पत्नीका सम्बन्ध-जैसा विशेष घनिष्ठ और पवित्र सम्बन्ध भी आज अपना मूल्य खो रहा है । विचारकों और दार्शनिकों तकके विचार भी अपनी निरपेक्षता और स्वतन्त्रता खोने लगे हैं । जो बातें सदा और सभी देशोंमें हेय मानी जाती थीं, उन्हींको आज संसार जीवनका साधारण आचार मानने लगा है और आत्म-संयम, जो कि इन बुराइयोंसे मनुष्यको बचानेका मुख्य साधन है, अप्राकृतिक और हानिकारक माना जाता है । रोग ही संक्रामक होते हैं, स्वास्थ्य नहीं । बुरी आदतें आसानीसे लग जाती हैं, पर छूटती नहीं हैं । इसी प्रकार कुप्रवृत्तियाँ बहुत शीघ्र और आसानीसे प्रचार पाती हैं और बहुसंख्यामें लोगोंपर उसका प्रभाव हो जाता है; तब वह साधारण और स्वाभाविक बात गिनी जाने लगती है । उसकी बुराई समझनेका विवेक तक नष्ट हो जाता है और वे बुराइयाँ स्वाभाविक बातोंकी तरह मनुष्यसमाजमें घर कर लेती हैं । पर किसी बुराईको समझनेका विवेक नष्ट हो जानेपर उसका जहर तो नष्ट नहीं हो सकता । इसीलिये आज हम देखते हैं कि मनुष्यके जीवनमें अशान्ति, चिन्ता, निराशा इत्यादि बढ़ते जाते हैं, जिससे मानसिक और शारीरिक रोग बढ़ते हैं और दूसरी ओर अपराध और आत्महत्याएँ प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही हैं । यह है धर्मके नियन्त्रणसे शून्य भौतिक धाराका परिणाम । यदि भौतिक उन्नतिके साथ सबके हित अर्थात् अहिंसाका आदर्श होता और कुप्रवृत्तियोंसे बचनेके लिये

आत्म-संयमपूर्ण आचरण होता और तप-साधनाके द्वारा उस आचरणकी पुष्टि होती रहती तो संसार कितना सुखी होता।

संसार तभी सुखी हो सकेगा, जब वह अपना जीवन-दर्शन पक्की नींव अर्थात् शाश्वत सत्य सिद्धान्तोंपर बनायेगा न कि सामयिक उपयोगितापर। यह शाश्वत सिद्धान्त अहिंसा-संयम-तप है। यही धर्म है। अध्यात्मवादका निचोड़ यही है कि भौतिक धारापर धर्मकी धाराका नियन्त्रण रक्खा जाय।



धर्मका मर्म

(रचयिता—श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-एट्-ला)

धर्म भव-मङ्गलका आधार,
धर्म मुख्य अङ्ग ये चार।
ईशमें भक्ति, सत्य व्यवहार,
दीनपर दया, अन्य उपकार॥ १॥

अभ्युदयका जिसमें आभोग,
मोक्षका खुलता जिससे द्वार।
सिखाता जो समताका योग,
धर्मका यही परम है सार॥ २॥

धर्मके आदिस्रोत हैं वेद,
मुक्ति मिलती जब होता ज्ञान।
चित्तके मिटते सब भ्रम-भेद,
जीवका तब होता कल्यान॥ ३॥

देहमें अमर आत्मा जान,
लोकहित करना तन बलिदान।
त्यागका यह आदर्श महान,
धर्म-पालनका वरद विधान॥ ४॥

कपटसे मजहबका ले नाम,
समर कर करते नर-संहार।
अघी वे होते हैं बदनाम,
निगलता उन्हें नरकका द्वार॥ ५॥

मिटाने साधु-जनोंका त्रास,
दुष्ट दलका करने परिहार।
धर्मका रचने पूर्ण विकास,
ईश्वर लेते हैं अवतार॥ ६॥

नित्य निर्भय जन रहते वहीं,
धर्ममें जिन्हें सतत विश्वास।
जहाँ है धर्म नित्य जय वहीं,
अधर्ममें ही भय करता वास॥ ७॥

जगत् है जगदीश्वरका कार्य,
दुःख हरि हरने करते कर्म।
कार्य नित करना है अनिवार्य,
कर्म ही वेदविहित है धर्म॥ ८॥

शक्तिका जब होता है ह्रास,
शान्ति तब कर देती निष्कास।
धर्म है दोनोंका सहवास,
सिखाता यह भारत इतिहास॥ ९॥

देशपर होता अरि-अभियान,
दिलोंमें जोश भरे उद्दाम।
समरमें लड़ते वीर जवान,
धर्म देता है शुभ परिणाम॥ १०॥

धर्मका धारण कर परित्राण,
देश-रक्षा करनेके काज।
समरमें योद्धा देते प्राण,
सभी करते हैं उनपर नाज॥ ११॥

विश्वमें व्यापक है भगवान,
उसीकी पूजा है शुभ कर्म।
सकल मानव हैं बन्धु समान,
'युगल' है यही धर्मका मर्म॥ १२॥



धर्मसंस्थापनार्थाय

(लेखक—श्रीअशोकजी कौशिक)

'हिंदू-धर्मने कभी अपने आपको किसी विशिष्ट नामसे विभूषित इसलिये नहीं किया कि इसने कभी किसी दृष्टिगत बन्धनको स्वीकार ही नहीं किया। हिंदू-धर्मने कभी किसी सार्वभौम सत्ताकी स्पृहा नहीं की। हिंदू-धर्मने कभी किसी एक सिद्धान्तको एकान्ततः अविभ्रान्त नहीं माना। हिंदू-धर्मने कभी किसी संकीर्ण साधना अथवा **'एकमेवाद्वितीयम्'** मुक्तिद्वारका प्रतिपादन नहीं किया। यह धर्म कोई एक सम्प्रदाय अथवा एक उपासनापद्धति कभी नहीं रहा। यह तो मानव-आत्माद्वारा की गयी अध्यात्म-आराधनाकी सतत स्पृहमान परम्परा ही रहा है। यह एक बृहद् और अनेकपक्षीय तथा अनेकस्तरीय अध्यात्म-साधना एवं अध्यात्म-अन्वेषणको सदा स्वीकार करता रहा है। अतएव इसको यह अधिकार है कि यह अपने-आपको 'सनातन धर्म'के नामसे प्रज्ञापित करे। इस नामके अतिरिक्त कोई अन्य नाम कभी इस धर्मको ज्ञात भी नहीं रहा।'

योगिराज श्रीअरविन्दद्वारा की गयी सनातन धर्मकी उपर्युक्त व्याख्या जान लेनेके बाद धर्मके विषयमें किसी प्रकारकी आशंका अथवा संदेहके लिये स्थान नहीं रह जाता। भारत शताब्दियोंतक दासताकी श्रृङ्खलाओंमें निबद्ध रहा है। विदेशी साम्राज्यद्वारा शासित देशका सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि उसकी पराजित प्रजाका मानस शनैः-शनैः विजेता-वर्गकी सभ्यता-संस्कृति ही नहीं, अपितु उसके धर्मके प्रति भी आस्थावान् होता जाता है। विजेता भी यही प्रयत्न करता है कि विजित उसके सर्वस्वको अपना भी सर्वस्व स्वीकार कर ले और अंग्रेजोंके मनमें तो यह बात स्थिर हो गयी थी कि भगवान्‌ने भारतवर्षका कल्याण करनेके लिये ही उन्हें इस देशका आधिपत्य प्रदान किया है। इससे प्रेरित होकर अंग्रेज तथा अन्य अनेक विदेशी विद्वानोंने हमारे धर्मको ध्वस्त करनेमें अपनी शक्ति, सामर्थ्य एवं साधनोंका अपव्यय किया।

सौभाग्यसे यह देश आज विदेशी साम्राज्यकी दासतासे तो मुक्त हो गया है किंतु विदेशी विद्वान् अभी भी भारतीय परम्पराका उच्छेद करनेमें व्यस्त हैं। और ऐसे तथाकथित विद्वानोंकी संख्यामें निरन्तर वृद्धि ही होती जा रही है। इन विद्वानोंके हाथोंमें पड़कर भारतके सनातन धर्म, सभ्यता और संस्कृतिकी जो दुर्गति हुई है और हो रही है, वह भी सर्वथा अवर्णनीय है। इस दयनीय दशासे खिन्न होकर साहित्यसम्राट् स्वर्गीय बंकिमचन्द्र चटर्जीने एक बार कहा था—'भारतके सनातन आर्यधर्मके प्रति आस्थावान् व्यक्तिके लिये यह महापातक है कि वह भारतके धर्म, संस्कृति तथा इतिहासके विषयमें किसी भी पाश्चात्त्य लेखकका कोई लेख पढ़े।' आज भी विदेशोंके अनेक विद्यालय तथा विश्व विद्यालयोंमें ऐसे विभागोंकी स्थापना हो रही है, जहाँ तथा कथित प्राच्यविद्याका अध्ययन-अध्यापन होता है और इस देशके ही अनेक विद्यार्थी प्रतिवर्ष उस विद्याको आत्मसात करनेके लिये वहाँ जाते हैं। यह तथाकथित शिक्षित समुदाय जब इस देशमें लौटकर आता है तो यहाँ विद्यालयोंमें आकर अपने उसी पाश्चात्त्य दृष्टिकोण भारतीयोंको भारतीय प्राच्यविद्याका प्रशिक्षण प्रदान करता है। इस सुशिक्षा (!) का परिणाम यह है कि आ हिंदू-समाजका शिक्षितवर्ग भी अध्यात्म-आराधनाके नाम पाश्चात्त्य पूजा-पद्धति, विशेषतया ईसाइयतका ही गुणगा करता है। उसकी यह धारणा बन गयी है कि अध्यात आराधनाकी किसी भी निश्चित प्रक्रियाके लिये यह अनिव है कि वह एक ही पैगम्बरका आश्रय ले और एक ही ध ग्रन्थको प्रमाण माने। उनके विचारमें इस दृष्टिसे हिंदू- इस कसौटीपर काञ्चन सिद्ध नहीं होता; क्योंकि वह तो अ अवतार, ऋषि, मुनि, आचार्य तथा अनेकानेक धर्म-ग्रन्थों प्रमाण मानता है। भारतीय अध्यात्म-आराधनाको समझने यह पद्धति पक्षपातपूर्ण है। हिंदू-धर्म विविध अध्या परम्पराओंका समुदायमात्र नहीं, यह तो एक सर्वथा सं समन्वय है—**'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'** इसे जो नहीं दे पाता, उसकी दृष्टि संकीर्ण है। योगिराज श्रीअरविन्दके शब्दोंमें—'पाश्चात्त्य बुद्धिद्वारा प्रदत्त किसी भी परिभाष आश्रय लेकर हिंदू-धर्मकी वर्णना नहीं की जा सकती। अ पूर्ण रूपमें यह धर्म सब प्रकारकी अध्यात्म-आराधना त अध्यात्म-अनुभूतिका स्वतन्त्रतात्मक तथा सहिष्णुता-परा समन्वय रहा है। एक ही सत्यको सब ओरसे देखनेके क इसने किसी भी दृष्टिका बहिष्कार नहीं किया। इसने अ

आपको किसी विशिष्ट नामद्वारा विभूषित नहीं किया और न अपने-आपको किसी प्रकारकी विभेद-बुद्धिद्वारा सीमाबद्ध ही किया। अपने परिवारमें परिभुक्त विभिन्न परम्पराओंको विशिष्ट नाम धारण करते रहनेकी सुविधा देकर भी, यह स्वयं अनामी, अरूपी, सर्वतोमुखी तथा अनन्त बना रहा, उस ब्रह्मके अनुरूप जो युगयुगान्तरमें इसकी अध्यात्म-आराधनाका आधार रहा है। इसकी परम्परामें प्रतिष्ठित धर्मग्रन्थों, उपासना-प्रणालियों तथा अन्यान्य प्रतीकोंके न्यायसे यह अध्यात्म-परम्परा अन्य अध्यात्म-परम्पराओंसे सर्वथा विभिन्न है। किंतु अपने स्वरूपमें यह एक सम्प्रदाय-गत अध्यात्म-परम्परा बिल्कुल नहीं है। यह तो एक बृहत् तथा अनेकान्त-अध्यात्म संस्कृतिका ऐसा समन्वय है जो सदा ही प्रगति-परायण तथा आत्मविस्तारकी ओर उन्मुख रहा है।'

हमारी भारतीय परम्परामें धर्मके विषयमें बुद्धिको कभी प्रमाण नहीं माना गया है। धर्मके विषयमें हमारी परम्परा सदा शास्त्रका ही उल्लेख करती आयी है; क्योंकि सत्त्वशुद्धि और अध्यात्म-साक्षात्कारके पूर्व बुद्धि सदा अविद्यामें विद्यमान रहती है। धर्मशास्त्रोंकी सृष्टि करनेवाले सभी सिद्ध पुरुष थे। उन ऋषि-मुनियोंने प्रत्येक पदार्थ एवं प्रक्रियाके स्वरूपका साक्षात्कार करके ही धर्मके विविध विधि-विधानोंकी व्यवस्था दी थी। महाभारतमें यक्षके प्रश्नके उत्तरमें धर्मराजने कहा था—**'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।'** धर्मका तत्त्व मनुष्यके हृदयरूपी गुहामें निगुह्यमान है और उस गुहाके प्रवेशद्वारको अध्यात्म-साधनाद्वारा अनावृत किये बिना धर्मका तात्पर्य स्पष्ट होना सहज सम्भाव्य नहीं। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि बुद्धिद्वारा गम्य ज्ञान संकल्पको प्रेरणा देता है, किंतु संकल्प यदि शुद्ध न हो तो वह प्रेरणा प्रवृत्तिका रूप धारण नहीं कर सकती। प्रज्ञा एवं प्रवृत्तिके इसी पृथक्करणको सुयोधनके कथनके रूपमें इस प्रकार स्पष्ट किया है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।

'मैं धर्मको जानता तो हूँ; किंतु उस ओर मेरी प्रवृत्ति नहीं होती और मैं अधर्मको भी जानता हूँ; किंतु उससे मैं निवृत्त नहीं हो पाता हूँ।' उपनिषद्में स्पष्ट कहा गया है—**'नैषा तर्केण मतिरापनेया।'** अथवा **'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।'** श्रीमद्भगवद्गीतामें भी इसी प्रकार कहा है—**'यो बुद्धेः परतस्तु सः।'** अतएव भारतीय तत्त्वशास्त्रके विषयमें यह भलीप्रकार समझ लेना चाहिये कि उसकी बुद्धिवादी व्यवस्था एवं व्याख्या अध्यात्म-साक्षात्कारके अनन्तर ही हुई है। हमारे सभी तत्त्वशास्त्री सिद्धपुरुष रहे हैं। बुद्धिके प्रकाण्ड-से-प्रकाण्ड पण्डितको कभी इस देशमें सिद्धपुरुषके समतुल्य नहीं माना गया और अध्यात्म-साधनाद्वारा सिद्ध होनेवाले संतों, भक्तों तथा गुरुओंका सम्मान उनके द्वारा बिना किसी तत्त्वशास्त्रकी रचना हुए ही इस धरतीपर होता रहा है।

भारतके सनातन आर्य-धर्म, सनातन सभ्यता-संस्कृतिके तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये यह नितान्त आवश्यक है कि अध्यात्म-साधनाका आश्रय लिया जाय। जन-मानसमेंसे भले ही साधनाका लोप हो गया हो, किंतु साधु-संतोंमें अभी भी प्रायः उसकी परम्परा विद्यमान है। अतः जन-साधारणके जीवनमें भी अध्यात्म-साधनाके प्रति आस्थाके लिये सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि उनमें साधु-संतोंके प्रति आदर-सत्कारकी भावना बढ़े। आज भारतके जन-मानसमें साधु-संतोंके प्रति श्रद्धाका लोप होता जा रहा है और जबतक भारतके सनातन धर्ममें श्रद्धा रखनेवाले सत्पुरुष साधु-संतोंका सत्संग खोजकर उनको फिरसे समाजमें सुप्रतिष्ठित न कर लें, तब-तक इस दुरवस्थासे मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती।

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सुत दारा और लक्ष्मी पापीके भी होय।
संत समागम हरि-कथा तुलसी दुर्लभ दोय॥

मोक्षका अधिकारी

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च। अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥

(नारदपरि० उ० ४। ४५)

इन्द्रियोंको वशमें रखनेसे, राग-द्वेषका नाश करनेसे तथा किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनेसे मनुष्य मोक्षका अधिकारी होता है।

संतोंका व्यापक धर्म

(लेखक—श्रीत्रिलोकीनारायणजी दीक्षित, एम्० ए०, पी-एच्०डी०, डी०लिट०)

चिन्तन एवं अनुभूति, मानव-जीवन एवं समाजके दो पक्ष—दो स्तम्भ हैं। इनमेंसे एकका सम्बन्ध आध्यात्मिक उपलब्धियोंसे और द्वितीयका सम्बन्ध सामाजिक जीवनकी उपलब्धियोंसे है। संत-साहित्यका सम्बन्ध इन दोनोंसे है। तात्पर्य यह है कि वह चिन्तन-प्रधान भी है और अनुभूति-प्रधान भी। संत-साहित्यके महान् सागरमें चिन्तनका अगाध जल भरा हुआ है और उसमें अनुभूतिकी उत्ताल ऊर्मियाँ दृष्टिगत होती हैं। संतोंकी अभिव्यक्तिका आधार है उनकी अनुभूति। यह अनुभूति बहुमुखी है। कभी वह समाजकी अनुभूति है, कभी जीवनकी; कभी दार्शनिक जगत्की, कभी ब्रह्मानुभूतिकी। कबीरने बहुत ही स्पष्टतया कहा है कि 'तू कहता है कागद लेखी, मैं कहता हूँ आँखिन देखी।' अनुभूत तत्त्वोंपर इन्होंने बड़ा बल दिया है। जीवनको निकटसे देखकर उसके सामान्य तथा असामान्य तत्त्वोंकी ओर इन्होंने जनताका ध्यान आकर्षित किया है। वे मानव-जीवनके अत्यन्त सूक्ष्म पर्दालोक, द्रष्टा तथा समीक्षक थे। उनकी दृष्टिमें जीवनकी कितनी महत्ता थी, कितनी उपयोगिता थी, यह निम्नलिखित दो उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है—

१. कबीर कहा गरबियो, इस जीवन की आस।[१]
टेसू फूले चारि दिन खाँखर भये पलास॥

२. जग जीवन ऐसा सुपने जैसा जीवन सुपन समानं।[२]
साचुका हम गाँठ दीन्ही छोडिपण निधानं॥

३. सुन्दर यों ही देखते, औसर बीत्यो जाइ।[३]
अँजुरी माँही नीर ज्यों, किती बार ठहराइ॥

संतोंकी दृष्टिमें जीवन निस्सार है। यह क्षणभङ्गुर तथा नश्वर है। परमार्थ करता हुआ ब्रह्मके साथ तादात्म्य सम्प्राप्त कर लेना ही जीवनकी परम गति, परम उपलब्धि तथा श्रेष्ठत्व है। यही जीवन ऐसा समय है, जब मानव मुक्ति या आवागमनके बन्धनसे छुटकारा प्राप्त करनेकी चेष्टामें साधन-रत हो सकता है। अग्निपुराणमें भी कहा गया है कि मानव-जन्मके अभावमें जीव मुक्तिके लिये प्रयत्न नहीं कर सकता।[४] हमारे देशमें जीवन सेवा, कर्तव्य, परमार्थ तथा उत्सर्गका पर्याय रहा है। इसीलिये कबीरने कहा है—'मानुष सोई जानिये, जाहि बिबेक बिचार।'[५]

सुन्दरदासकी दृष्टिमें मानव-जन्म दुर्लभ है।[६] विनाश-रहित अप्रमेय नित्यरूप जीवात्माके समस्त शरीर नाशवान् हैं।[७] इस प्रकारके असार, क्षणभङ्गुर संसारको मानव सत्य मान बैठता है। वह भोगको जीवनका ध्येय, चरम लक्ष्य मान लेता है। मानवके लिये दोनों ही मार्ग उन्मुक्त हैं। चाहे वह संयमसे युक्त मार्गको ग्रहण कर ले, चाहे असंयम, उपभोग तथा लौकिक आनन्दोंकी कष्टदायक शृङ्खलामें अपनेको बाँधकर अपनेको प्रसन्नताकी स्थितिमें समझ ले। संयम या व्रत मानव-जीवनकी उच्छृङ्खल धाराको धर्म तथा नैतिकताके कूलोंमें निबद्ध करके उसे मर्यादित रूप प्रदान करते हैं। जीवनमें सौम्यता, सुष्ठुता तथा सुव्यवस्था प्रदान करनेके लिये संतोंने अनेक प्रकारके व्रतों या संयमोंको धारण करनेके उपदेश दिये हैं। ये व्रत जहाँ एक ओर धर्मके क्षेत्रमें मानवको मुक्ति तथा भुक्ति दिलानेमें सहायक हैं, वहीं दूसरी ओर सामाजिक जीवनमें इनकी बड़ी महत्ता है। इन समस्त व्रतोंसे संयुक्त मानव निश्चय ही सामाजिक महापुरुष है। वह दूसरोंके लिये न केवल आदर्श है, वरं वह अपने व्यक्तित्वके माध्यमसे ऐसे गुणोंको विकीर्ण करता है, जो स्वतः दूसरोंके जीवनका निर्माण करनेमें सहायक हो सकते हैं। संतोंने

१. कबीरग्रन्थावली, चितावणीके अंग पृ० १
२. कबीरग्रन्थावली, चितावणीके अंग पृ० ३
३. संतवाणीसंग्रह, भाग १ पृ० १११
४. विमुक्तिहेतुकान्या तु नरयोनिः कृतात्मताम्।
न मुञ्चन्ति हि संसारे विभ्रान्तमनसो गताः॥
जीवा मनुष्यतां मन्ये जन्मनामयुतैरपि।
तदेकं दुर्लभं प्राप्य मुक्तिद्वारं विचेतसः॥
५. संतवाणीसंग्रह, भाग १ पृ० ५२
६. बेर बेर नहिं पाइये सुन्दर मानुष देह। (संत० पृ० १११)
७. अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥
(गीता २। १८)

जिन 'सप्त-महाव्रतों' को आत्मसात् करनेका बारंबार उपदेश दिया है, वे हैं—

१. सत्य, २. अहिंसा, ३. ब्रह्मचर्य, ४. अस्तेय, ५. संतोष, ६. धृति, ७. दया।

अब हम इनमेंसे प्रत्येकपर पृथक्-पृथक् विचार करते हुए, संतोंके दृष्टिकोणका कुछ अध्ययन करेंगे। सर्वप्रथम सत्यको ही लीजिये। सत्य 'ईश्वर'का पर्याय है। 'सत्य' जीवनकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। जो कुछ जैसा देखा, सुना या किया जाय, उसे उसी रूपमें वाणीके द्वारा व्यक्त करना 'सत्य' है। सत्यसे श्रेष्ठ धर्म नहीं है, झूठके समान पातक नहीं; सत्यसे अधिक श्रेष्ठ कोई ज्ञान नहीं है। अतः सत्यका ही आचरण करना चाहिये।[८] सत्य परिणाममें सुखदायी होता है। 'चाणक्यनीति' में कहा गया है कि संसारकी समस्त भौतिक शक्तियाँ सत्यसे ही संचालित हैं। सत्यसे ही पृथ्वी स्थिर है, सत्यसे ही सूर्य तप रहा है, सत्यसे ही वायु बह रही है। सत्यमें ही सब स्थिर है।[९] सत्यसे बड़ा कोई धर्म नहीं है। धर्म, तप, योग, परब्रह्म, यज्ञ जितना भी सब कल्याण-स्वरूप है, वह सब सत्य ही है[१०]। मन, वाणी तथा कर्मकी एकता ही सत्य है।

हिंदीके संत कवियोंने सत्यके सम्बन्धमें जो कुछ कहा या लिखा है, वह परम्परागत विचारधारासे सम्बन्धित तथा प्रभावित होते हुए भी चिन्तन-विषयक अपनी अभिनवतासे सम्पन्न है। अपने समयकी विषमताकी ओर संकेत करते हुए कबीर कहते हैं कि बड़ी विचित्र तथा विषम स्थिति है। सत्यका कहीं सम्मान नहीं है, पर झूठका समादर सर्वत्र है। सत्यवादीपर कोई विश्वास नहीं करता और असत्यमें सर्वदा अनुरक्त प्राणीपर सभी विश्वास कर लेते हैं। दूध-गोरस दर-दर बिकता है, फिर भी कोई नहीं पूछता और मदिराका पान करनेके लिये लोग मदिरालय-तक दौड़ते हैं[११]। अतः सत्यका परिपालन तथा अङ्गीकार करना दुष्कर कार्य है। सत्यके समान तप नहीं, झूठके समान कोई पाप नहीं[१२]। कबीरके समान दादू भी 'सत्य' को ब्रह्मका रूप, रूप ही नहीं पर्याय मानते हैं। परंतु संत दादू भी अपने युगकी विषमतासे दुखी होकर कहते हैं कि झूठने सत्यका, दम्भने सत्त्वका, विषने अमृतका स्थान ग्रहण कर लिया है। जगत्, संसार ऐसा दीवाना है कि वह दुःखको सुख मान बैठा है, कितने दुःखकी बात है[१३]। सत्यको प्रकाशित, विज्ञापित या अभिव्यक्त करनेकी आवश्यकता नहीं है। सूर्यको दीपक दिखानेसे क्या लाभ होगा[१४]। लेकिन साँईको सत्य प्रिय है तथा झूठोंको भ्रम, दुई और द्वैत। किस पथपर, कहाँतक मानव चल सकेगा? यह विचारणीय समस्या है[१५]। संतकवि गरीबदासके मतसे सत्य ही ब्रह्म है, अतः समस्त जंजालका परित्याग करके सत्यका परिपालन करना चाहिये[१६]। सत्यवादी ही संत हैं, वे ही शूरमा हैं, वे ही जूझनेवाले अर्थात् मायासे पूर्णतया संघर्ष कर सकनेमें समर्थ प्राणी हैं[१७]।

---

८. न हि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
न हि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं समाचरेत्॥

९. सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

१०. सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

११. साचे कोइ न पतीजई, झूठे जग पतियाय।
गली गली गोरस फिरै, मदिरा बैठि बिकाय॥
संतवाणीसंग्रह, भाग १ पृ० ४९

१२. साच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे साच है, ताके हिरदे (गुरु) आप॥
संत० पृ० ४९

१३. साचा नाँव अलाहका, सोई सति करि जाणि।
निहचल करि ले बन्ूँगी, दादू सो परवाणि॥
संत० पृ० ९४

झूठा साँचा करि लिया, विष अमृत करि जाना।
दुख कौं सुख सब कोइ कहै, ऐसा जगत दिवाना॥
संत० पृ० ९४

१४. (क) जो तेरे घर साँच है तो कहि काठि जनाव।
अन्तरजामी जानि है अंतरतमका भाव॥
कबीर, संत० पृ० ४९

(ख) ऊपरि आलम सब करै, साधू जन घट माहि॥
दादू, संत० पृ० ९४

१५. दुई दरोग लोग कौं भावै, साई साँच पियारा।
कौण पंथ हम चल कहाँ धौं, साधौ करो बिचारा।
वही पृ० ९४

१६. संत-वाणी-संग्रह, भाग १, पृ० २०३, साखी ३

१७. संत-वाणी-संग्रह, भाग १, पृ० २०३, साखी १०

इन संतोंकी बानियोंमें सत्यके सम्बन्धमें जिस मतका प्रतिपादन हुआ है, वह धार्मिक जीवन तथा सामाजिक जीवनमें समान रूपसे उपयोगी, वाञ्छनीय तथा महत्त्वपूर्ण हैं। सत्यका व्रत सबसे बड़ा तप है। सत्यवादी अनेक कष्टोंका सामना करता है, विपत्तियोंको झेलता है। सत्यवादिता ही जीवनकी बड़ी शक्ति है। हमारे युगपुरुषोंने सदैव सत्यका समर्थन किया और अनेकानेक कष्टोंका अनुभव करते हुए भी वे सत्यके पथपर अग्रसर रहे हैं। सत्य दम्भ, अनृत, असङ्गत तथा लोकाचारका बड़ा भारी प्रबल शत्रु है। सत्यके उदित होनेपर असत्य स्वतः अस्त हो जाता है, अन्तर्हित हो जाता है। सामाजिकताकी दृष्टिसे इसका और भी अधिक मूल्य है। इसीलिये संतोंने अपने 'सप्त-महाव्रतों' में सत्यको श्रेष्ठ स्थान दिया है।

अहिंसा—संतोंका द्वितीय महाव्रत है। संतोंका अहिंसावाद बहुत अंशोंमें 'बौद्धदर्शन' से प्रभावित है और इस शताब्दीमें उसमें महात्मा गाँधीको 'अहिंसा-दर्शन' स्थापित करनेकी प्रेरणा दी। अहिंसा आचार-धर्मका विशिष्ट अङ्ग है। मनसा-वाचा-कर्मणा निरपराध प्राणीको कष्ट देना हिंसा है और इसके विपरीत कर्म अहिंसा है। 'महाभारत' में इसीको 'सतां धर्मः सनातनः' कहा गया है[१८]। तात्पर्य यह है कि मनसा-वाचा-कर्मणा किसीके प्रति द्रोह करना ही हिंसा है। 'महाभारत'में यह भी उल्लिखित है कि अहिंसामें रत पुरुष दीर्घायु, नीरोग तथा सदैव सुखी रहता है[१९]। भगवान् मनुने तो यहाँतक कहा है कि अहिंसा व्रतका परिपालक ही अनन्त सुखको सम्प्राप्त करता है[२०]। मनुजीके अनुसार अहिंसामें रत प्राणीको यह समझना चाहिये कि जैसा उसका सुख-दुःख है, वैसा ही अन्यका भी। प्राणीमात्र सुखसे सुखी तथा दुःखसे दुखी होते हैं। अतः ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये कि जिससे जीवोंको भयजन्य दुःख हो[२१]। 'चाणक्यनीति'में अहिंसा-रतको ही स्वयं सिद्ध कहा गया है[२२]। हिंसामें अनुरक्त प्राणी सदैव वध्य है—**'नाततायिवधे दोषः'** तथा **'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्'**[२३]।

अब संत कवियोंकी अहिंसा-भावनापर आइये। संतोंने अहिंसाविषयक अपने विचारोंको 'मांस-आहारको अङ्ग' 'दयाको अङ्ग' आदि शीर्षकोंके अन्तर्गत लिया है। कबीरने मांसाहार करनेवाले मानवको प्रत्यक्ष राक्षस माना है[२४]। मांस सभी एक समान है, क्या गायका क्या बकरीका, सभी समान हैं। ऐसे प्राणी, जो मांसाहारमें प्रवृत्त हैं, नरककी यातनाओं-का उपभोग करते हैं[२५]। दादूने कबीरकी बातको और प्रभावशाली ढंगसे व्यक्त करते हुए कहा है 'सब सूरति सुबहानकी मुल्ला मुग्ध न मारि[२६]।' मानव अपने मनको, विषयोंको तथा इन्द्रियोंको नहीं मारता है, वह दूसरे जीवोंकी हत्या करता है। ऐसे प्राणी ब्रह्मतक कभी नहीं पहुँच सकते हैं[२७]। संत मलूकदासकी अहिंसा-भावनाका प्रसार मानव तथा पशु-जगत्तक ही नहीं हुआ, वरं वे वनस्पति-जगत्को भी अपनी दया तथा अहिंसाभावनाके प्रसारका क्षेत्र मानते हैं। मलूकदासजीकी निम्नलिखित पङ्क्तियोंमें अहिंसा-भावना साकार हो उठी है। वे कहते हैं 'हरी डारि ना तोड़िये, लागे छूरा बान। दास मलूका यों कहै, अपना-सा जिव जान[२८]!!' मलूकदासके इन शब्दोंके अनन्तर संतोंकी

---

१८. अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥
(महाभारत, वनपर्व)

१९. अधृष्यः सर्वभूतानामायुष्मान्नीरुजः सुखी।
भवत्यभक्षयन्मांसं दयावान् प्राणिनामिह॥
(महाभारत, अनुशासनपर्व)

२०. यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते॥
यद् ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन॥
(मनुस्मृति ५। ४६-४७)
अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥
(मनुस्मृति ५। ५१)

२१. (क) प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि वै तथा।
आत्मौपम्येन मन्तव्यं बुद्धिमद्भिः कृतात्मभिः॥
(महाभारत, अनुशासनपर्व)।
(ख) सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते सर्वाणि दुःखस्य भृशं त्रसन्ते।
तेषां भयोत्पादनजातखेदः कुर्यान्न कर्माणि हि श्रद्दधानः॥

२२. यस्य चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषु।
तस्य ज्ञानेन मोक्षेण किं जटाभस्मलेपनैः॥
(चाणक्यनीति)

२३. मनुस्मृति अ० ८, श्लोक ३५० तथा ३५१

२४. संतवाणीसंग्रह, भाग १, पृ० ६१। १

२५. " " ६१। १। ३

२६. " " पृ० ९५। ३

२७. " " पृ० ९८। ४

२८. " " पृ० १०४। २

अहिंसा-भावनाके विषयमें कुछ भी कहना शेष नहीं रह गया। कविका भाव-जगत् या चिन्तन-शैली कितनी समृद्ध है। संत धरनीदासने धर्मार्थ हिंसा करनेवालोंपर बड़ा मधुर व्यंग्य करते हुए कहा है—

मांस अहारी जीयरा सो पुनि कथे गियान।
नागी है घूँघट करै, धरनी देखि लजान॥[२९]

संत मलूकदास तथा धरनीदास संतोंकी अहिंसाभावनाका प्रतिनिधित्व करनेके लिये पर्याप्त हैं। इन दोनोंने साधना, जीवन तथा अहिंसाके सम्बन्धमें उपर्युक्त शब्दोंमें बड़ी सरलताके साथ, बड़ी गम्भीरताके साथ अहिंसाके महत्त्व और अनिवार्यतापर अपने विचारोंको प्रकट कर दिया है। वह प्राणी धन्य है जो दूसरेके कष्टों तथा सुखोंको अपना समझता है, जो दूसरेकी विपत्तियोंमें सहायक होता है। वह महान् आत्मा पूजनीय है, जो वनस्पति-जगत्में भी उस ब्रह्मकी स्थिति देखता है जो सबका नियन्ता है। इन प्रकाश-स्तम्भोंके महान् तथा उच्च आदर्शोंके समक्ष समस्त ज्ञान नत-मस्तक हैं।

संतोंका तृतीय महाव्रत है—ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्यसे तात्पर्य है अष्टविध मैथुनसे बचनेकी विधि। ब्रह्मचर्यका सीधे तौरसे सम्बन्ध है—इन्द्रियनिग्रहसे। सच बात यह है कि अहिंसाका पालन ब्रह्मचर्यके बिना असम्भव है। ब्रह्मचर्यका पालन उसी प्रकार मनसा-वाचा-कर्मणा होना चाहिये, जैसे अहिंसा-पालनके हेतु हमें मन, वचन तथा कर्मकी समन्वित शक्तिकी आवश्यकता प्रतीत होती है। ब्रह्मचर्य मानसिक एवं शारीरिक शक्तिकी समृद्धि तथा सम्पन्नतामें सहायक होता है। ब्रह्मका अर्थ है—ईश्वर या ब्रह्मविद्या। ईश्वर या विद्याके हेतु जो आचरण किया जाता है उसका नाम है—ब्रह्मचर्य। अब यह शब्द वीर्यरक्षाके अर्थमें प्रयुक्त होता है। वीर्य ही शरीरका सबसे बड़ा ओज है। आयुर्वेदमें कहा गया है कि इस तेजके नष्ट हो जानेपर शरीर नष्ट हो जाता है[३०]। वेदमें उल्लिखित है कि ब्रह्मचर्य एवं तपके बलपर देवता लोग मृत्युको भी जीत लेते हैं—**'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत'**। योगसूत्रोंमें ऋषि पतञ्जलिने लिखा है कि **'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः'**। महाभारतमें वर्णित है कि

२९. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० ११६।

३०. ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम्॥

'ब्रह्मचर्यं परो धर्मः..........'। ब्रह्मचर्यके हेतु इन्द्रियनिग्रह परमावश्यक है। कठोपनिषद्में इन्द्रियनिग्रहका उपदेश बड़ी रोचक-शैलीसे सम्पादित हुआ है। कहा गया है कि शरीर एक रथ है, जीवात्मा रथी है, दसों इन्द्रियाँ रथका वहन करनेवाले घोड़े हैं, मन घोड़ोंकी बागडोर है, विवेक सारथि है[३१]। इन्द्रियोंका संयम करनेवालेको स्मरण रखना चाहिये कि कर्मेन्द्रियोंका संयम करके मनसे अहर्निश विषयोंमें अनुरक्त रहनेवाला पाखण्डी है। अतः ब्रह्मचर्यके लिये मनका संयम आवश्यक है[३२]।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मचर्यमें इन्द्रियनिग्रह तथा वीर्यरक्षा दोनों ही आवश्यक तत्त्व हैं। हिंदीके संत कवियोंने इसी दृष्टिसे ब्रह्मचर्यपर अपने उपदेश अङ्कित किये हैं। संतोंने भक्तिकी साधनाके लिये ब्रह्मचर्यको अनिवार्य माना है। जो कामी है, क्रोधमें रत है, वह भक्तिकी साधना क्या करेगा[३३]? कामके साथ नामकी साधना असम्भव है। कहीं सूर्य और रात्रिका उदय एक समय एवं एक स्थानपर एकत्र हो सकता है?[३४] ब्रह्मचर्यसे रहित पण्डित भी मूर्खके समान ही है[३५]। मन एक ही है। उसे जहाँ चाहे अनुरक्त कर लीजिये—चाहे काममें, चाहे भक्तिमें। वह दोनोंमें समानरूपसे नहीं अनुरक्त हो सकता[३६]। मनके संयमसे ही ब्रह्मचर्यकी सिद्धि होती है, तभी ब्रह्मकी प्राप्ति होती है[३७]। ब्रह्मचर्यसे विमुख प्राणीका तन-मन संतप्त रहता है। वह धर्म तथा शर्मसे भी दूर हो जाता है और विभ्रम-चित्त विचरण करता है[३८]। कामी व्यक्तिका शरीर ही नहीं

३१. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
(कठोपनिषद् १।३।३-४)

३२. कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ३।६)

३३. संतबानी संग्रह भाग १, पृ० ५३।१।

३४. संतबानी संग्रह भाग १, पृ० ५३।३।

३५. संतबानी संग्रह भाग १, पृ० ५३।४।

३६. संतबानी संग्रह भाग १, पृ० ५५।४।

३७. संतबानी संग्रह भाग १, पृ० ९६।१, १०।

३८. संतबानी संग्रह भाग १, पृ० १४९।१।

क्षीण होता, उसकी मति या बुद्धि भी विनष्ट हो जाती है। वह लोकमर्यादाके विरुद्ध आचरण करता हुआ, शीलसे रहित और अनीतिपूर्वक जीवनयापन करता है[३९]। ब्रह्मचर्यके लिये मनके संयमपर सभी संतोंने अत्यन्त आग्रह प्रकट किया है। मनकी जीतसे ही जीत है। मन एक बार विषयोंसे पराजित हो गया, तो फिर उसके पतनका कोई अन्त नहीं है।

संतोंके 'सप्तमहाव्रत'का चतुर्थ अङ्ग है—'अस्तेय' 'अस्तेय'से तात्पर्य है कि बिना दूसरेकी वस्तुका अपहरण किये हुए धर्मानुसार स्वजीविकाका अर्जन कर लेना। मनुजीने धर्मपूर्वक जीविका-अर्जनके दस साधन बताये हैं। ये इस प्रकार हैं—अध्ययन-अध्यापन, शिल्प, नौकरी, संस्थाकी सेवा, पशुपालन, व्यापार, कृषि, संतोष धारण करके जो मिले उसे स्वीकार करना, भिक्षार्जन, साहूकारा (व्याज-) प्रवृत्ति।[४०] ईशोपनिषद्में कथित है कि सम्पूर्ण स्थावर-जंगम ब्रह्मसे व्याप्त है। अतः उसीका भय मानना चाहिये, किसी दूसरेका धन अन्यायपूर्वक लेनेकी चेष्टा मत करो[४१]। महर्षि व्यासने कहा है कि जो धन धर्मपूर्वक अर्जित होता है, वही सच्चा धन है; अधर्मसे अर्जित धनको धिक्कार है। धन अस्थिर है, पर धर्म स्थिर है। अतः धनके लिये धर्म नहीं छोड़ना चाहिये[४२]। चाणक्य-नीतिमें उल्लिखित है कि अनीतिसे अर्जित धन शीघ्र क्षयको प्राप्त होता है[४३]। अस्तेय-व्रतानुरक्त प्राणी सदैव अपनी आवश्यकताओंको कम करनेमें अनुरक्त रहेगा। अनेक प्रकारकी बाह्य तथा आभ्यन्तरिक चोरियोंमें मानसिक चोरी सर्वाधम है। लालच अस्तेयका प्रबल शत्रु है। अस्तेय-व्रतके पालनकर्ता भविष्यमें धनी होनेकी कल्पना भी नहीं करते। अतः अस्तेय सामाजिक जीवनमें वरदान-स्वरूप तो है ही, धार्मिक जीवनमें भी उसकी बड़ी महत्ता है।

अब आइये देखें कि संत-साहित्यमें अस्तेयका कैसा स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। संतोंने अस्तेय-व्रतके प्रतिपादन-के हेतु संसारकी क्षणभङ्गुरता प्रदर्शित करते हुए लालच, सादा रहन-सहन, माया-तृष्णा, व्यर्थाशा, दुविधा और निस्सारिता व्यक्त की है, जिसके कारण मानव उद्विग्न फिरता रहता है।

हाड़ जरैं ज्यों लाकड़ी, केस जरैं ज्यों घास।
सब जग जलता देखि कर भया कबीर उदास[४४]॥

जैसे क्षणभङ्गुरताके आदर्शोंकी स्थापना करते हुए संतोंने यह भाव साकार करनेकी चेष्टा की है कि मानव जिस सुखके पीछे व्याकुल फिरता है वह सुख नहीं है, स्थायी नहीं है—

झूठे सुखको सुख कहैं, मानत हैं मन मोद[४५]।

और इस जीवनके लिये मानव भीषण योजनाएँ, छीना-झपटी तथा लूटमार करता फिरता है—

कबीर थोड़ा जीवना, माँडै बहुत मँडान[४६]।

अतः कबीरने स्पष्टतया कहा है कि अस्तेय-व्रतका परिपालन करना सबसे बड़ा सुख है। दूसरेको ठगना सुख नहीं है, सुख है अपनेको ठगाना; क्योंकि—

कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै, और ठगे दुख होय[४७]॥

इस संसारमें बहु प्रसार, बहु धनार्जन, बहु यश-लिप्सा ही दुःखका बड़ा कारण है[४८]। इस लोभी मनकी ऊर्मियाँ सागरकी ऊर्मियोंके सदृश अनन्त हैं। अतः मनके द्वारा दर्शित मार्गका अनुगमन करना श्रेयस्कर नहीं है[४९]। अस्तेयकी उपेक्षा करके प्रत्येक प्राणी संचयमें प्रवृत्त रहता है, वह सौ वर्षकी योजना बनाता है पर क्षणिक जीवनकी निस्सारताका

३९. संतबानी संग्रह भाग १, पृ० १५९। २।
४०. विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गौरक्ष्यं विपणिः कृषिः।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः॥(मनु०)
४१. ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
(ईशोपनिषद्)
४२. येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद्धनकाङ्क्षया॥
(महाभारत, शान्तिपर्व)
४३. अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥
(चाणक्यनीति)

४४. संतबानी संग्रह भाग १ पृ० ८। २
४५. ,, ... पृ० ९। ३
४६. ,, ... पृ० ९। १४
४७. ,, ... पृ० ११। ३०
४८. ,, ... पृ० ५५। ३
४९. ,, ... पृ० ५५। ६

उसे परिज्ञान कभी नहीं होता[५०]। दया, धर्म, सत्य तथा संतोषमें प्रवृत्त प्राणी अमर-सुखका उपभोग करता है। शेष जीवन क्षणिक है, उसके लिये अनावश्यक संघर्ष प्रिय नहीं है[५१]। संतोंने अनावश्यक संग्रहकी आलोचना करते हुए बारंबार संसारकी नश्वरताका भाव व्यक्त किया है। जो संसार इतना नश्वर है, जो जीवन इतना क्षणिक है, उसके लिये इतनी योजना तथा संकलनकी आवश्यकता ही नहीं है। जहाँ यह भाव प्रबल हो जाता है, वहाँ फिर अस्तेयका महत्त्व स्वतः प्रतिभासित हो जाता है।

संतोंकी सप्तमहाव्रत-शृङ्खलाकी पञ्चम कड़ी है—संतोष। मानवमात्रके जीवनके श्रेय एवं प्रेय 'संतोष'से कौन परिचित नहीं होगा? सूक्तिकारोंने कहा है कि—**'संतोष एव पुरुषस्य परं निधानम्'**[५२]। संतोषी मानवका मन सदा सुखमय बना रहता है[५३] और सत्य यह है, वही दरिद्र है जिसकी तृष्णाओंका स्वरूप अत्यन्त विशाल है, जिसका मन ही संतुष्ट है, वह कभी भी दरिद्र नहीं कहा जायगा[५४]। संतोषके सम्बन्धमें इस संक्षिप्त विवेचनके अनन्तर आइये अब संतोंकी संतोषविषयक विचारधाराका अध्ययन करें। हिंदीके संत कवियोंने संतोषको जीवनके लिये आवश्यक तथा वरदान माना है। संतोषके समक्ष गोधन, गजधन, वाजिधन, रत्नधन सब हीन है। उनका कोई महत्त्व नहीं है[५५]। शील, संतोष, विवेक आदि ब्रह्मप्राप्तिमें सहायक तत्त्व हैं। ये जीवनके अन्धकारसे अभिशप्त पक्षोंको जाज्वल्यमान करते हैं[५६]। संसारमें सज्जन या साधु वही है जो संतोषवृत्तिसे सम्पन्न है। जिसमें संतोषका अभाव है वह कभी भी निश्चल नहीं हो पाता[५७]। वही सच्चा शाहंशाह है, जिसके मनमें संतोष विद्यमान है।[५८] संतोंने संतोषको सामाजिक जीवनके लिये नितान्त आवश्यक माना है। वह व्यक्ति कभी सुखी रह ही नहीं सकता, जो संतोष-जैसी प्रवृत्तिसे अपरिचित है।

'धृति'—संतोंका षष्ठ महाव्रत है। 'धृति' से तात्पर्य है—'धैर्य'। यह धर्मका प्रथम लक्षण है। भगवान् श्रीकृष्णने 'गीता'में तीन प्रकारकी धृतिका उपदेश देते हुए उसके लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥[५९]

धैर्यसे विहीन प्राणी विघ्नोंसे विचलित हो जाते हैं। धैर्यशाली व्यक्तिका सबसे बल है—'धर्म'। भर्तृहरिने सत्य ही कहा है कि **'न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।'** धैर्यशाली प्राणीके लिये कर्तव्य प्रमुख होता है। वह सुख-दुःखको समान समझता है।[६०] महाभारतमें धैर्यशाली व्यक्तिको हिमालय पर्वतकी उपमा दी गयी है।[६१] जैसे सागर अपनी मर्यादाका परित्याग नहीं करता, वैसे ही धृतिसे विभूषित मानव कभी भी अपनी मर्यादाकी सीमाका परित्याग नहीं करता। वह सभी परिस्थितियोंमें समानचित्त रहता है।[६२]

धृति या धैर्य सामाजिक एवं धार्मिक जीवनमें समानरूपसे आवश्यक है। धैर्यके अभावमें सामाजिक जीवनमें मानव आलोचना तथा निन्दाका पात्र बनता है और धार्मिक जीवनमें वह असफलताके अतिरिक्त कुछ भी नहीं पाता है।

---

५०. संतबानी-संग्रह ... ... पृ० ५७। ८

५१. " ... ... पृ० ९८। ५

५२. सर्पाः पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति।
कंदैः फलैर्मुनिवराः क्षपयन्ति कालं
संतोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ॥

५३. अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।
सदा संतुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥
(श्रीमद्भागवत ११। ४। १३)

५४. स हि भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥

५५. संतबानी संग्रह भाग १ पृ० ५१। ३

५६. " " " पृ० १९१। १

५७. " " " पृ० ५१। १

५८. संतबानी-संग्रह, भाग १ पृ० ५१। २

५९. श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १८। ३३

६०. देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता २। १३–१५)

६१. न पण्डितः क्रुध्यति नाभिपद्यते
न चापि संसीदति न प्रहृष्यति।
न चापि कृच्छ्रव्यसनेषु शोचते
स्थितः प्रकृत्या हिमवानिवाचलः ॥
(महाभारत, शान्तिपर्व)

६२. यमर्थसिद्धिः परमा न हर्षयेत्तथैव काले व्यसनं न मोहयेत्।
सुखं च दुःखं च तथैव मध्यमं निषेवते यः स धुरंधरो नरः ॥
(महाभारत, शान्तिपर्व)

साधनात्मक जीवनमें धैर्यकी बड़ी अनिवार्यता है। इस मनोवैज्ञानिक सत्यको कितनी सरल भाषा, सहज शैली तथा सुबोध शैलीके द्वारा कबीरने व्यक्त कर दिया है। कबीरने सत्य ही कहा है—

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय॥[६३]

मानवको धैर्य नहीं छोड़ना चाहिये। चाहे लाख बार उसका विरोध हो, पर उसके लिये कर्तव्य-मार्गमें संलग्न रहना श्रेयस्कर है।[६४] धैर्यके बिना न ज्ञानकी उपलब्धि होती है, न भक्तिकी साधना सम्भावित है। समस्त योग, समस्त साधना धैर्यके अभावमें निस्सार है।[६५] संत दूलनदासने साररूपमें अपने विचारोंको प्रकट करते हुए कहा है—

दूलन धीरज खंभ कहँ, जिकिरि बड़ेरा लाइ।
सूरत डोरी पोढ़ि करि, पाँच पचीस भुलाइ॥[६६]

हठयोग या अष्टाङ्ग-योगकी साधनामें धैर्यकी बड़ी आवश्यकता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणाकी सीमाओंको अधिकारपूर्वक पार करता हुआ मानव या साधक ही समाधिकी अमर, अभीष्ट तथा अनन्त भूमिकामें पदार्पण करता है। इनमेंसे एककी उपेक्षा कर अधैर्यपूर्वक साधक यदि अन्य स्थितिकी साधनामें अनुरक्त हो जाय तो वह अपने पथसे अपनी साधनामें कभी सफल नहीं हो सकता। संत मलूकदासने सत्य ही कहा है—

धीरज हिरदै माँ धारौ संतौ।
धीरे धीरे सूरज उगवै, धीरे धीरे अस्तम पावै॥[६७]

यहाँपर संत-साहित्यसे 'धृति' के विषयमें केवल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं। संत-साहित्यमें पग-पगपर जीवनमें इस प्रवृत्तिको धारण करनेका उपदेश दिया गया है।

संतोंका सप्तम महाव्रत है—'दम'। मनको इन्द्रियोंके वशीभूत न होने देना ही 'दम' है। इन्द्रियोंका अधिनायक है 'मन'। वे मनका पूर्णतया अनुगमन करती हैं। मनका दमन न करनेसे इन्द्रियाँ विषयोंमें अनुरक्त रहती हैं। गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर दौड़ती हैं और इस परिस्थितिमें मन भी इन्द्रियोंका साथ देता है। इस प्रकार वह मानवकी बुद्धिको नाश कर देता है, जैसे हवा नौकाको पानीमें डुबो देती है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥[६८]

पर चञ्चल मन जिधर-जिधर जाय, उधर-उधरसे इसे खींचकर अपने वशमें करना चाहिये।[६९] जो सदैव मन तथा इन्द्रियोंको वशमें रखता है, शान्त रहता है वह दुःखका अनुभव नहीं करता।[७०] विषयोंकी इच्छा भोगसे शान्त नहीं होती, अपितु बढ़ती है, जैसे अग्निमें घी डालनेसे आग प्रज्वलित होती है। अतः विवेकपूर्वक मनका दमन करनेसे इन्द्रियाँ स्वतः शान्त हो जाती हैं।[७१] महाभारतमें कहा गया है कि मनका दमन करनेसे तेज बढ़ता है। मनोदमनका गुण मानवमें परम पवित्र तथा उत्तम है। मानव तेजस्वी होता है, पाप नष्ट होते हैं और मन ब्रह्माकार होता है।[७२] मन-दमसे सम्बन्धित इन उक्तियोंको पढ़ जानेके बाद अब संत-साहित्य-पर्यवलोकन कीजिये। संतोंकी साखियोंमें मनकी कटु आलोचना, भर्त्सना, मनके कुकृत्योंपर ग्लानि, पश्चात्ताप तथा उसे दमित करनेके लिये बारंबार निश्चयपूर्ण उक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। यह मन मानवका प्रबल शत्रु है। जो इसका दमन कर लेता है, वही प्रसन्न रहता है, वही सुखी रहता है। कबीरने बारंबार संकल्प किया है—

---

६३. संतबानी संग्रह, भाग १ पृ० ५१। १

६४. संतबानी संग्रह, भाग १ पृ० ५१। २

६५. संतबानी संग्रह, भाग १ पृ० १३७। १

६६. संतबानी संग्रह, भाग १ पृ० १३७। २

६७. शब्द-संग्रह ··· पद २०

६८. गीता अध्याय २। ६७

६९. यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(गीता, अध्याय ६। २६)

७०. दान्तः शमपरः शश्वत् परिक्लेशं न विन्दति।
न च तप्यति दान्तात्मा दृष्ट्वा परगतां श्रियम्॥
(महाभारत, वनपर्व)

७१. न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
(मनुस्मृति अ० २। ९४)

७२. दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दममुत्तमम्।
विपाप्मा वृद्धतेजास्तु पुरुषो विन्दते महत्॥
(महाभारत)

मनको मारूँ पटकि के, टूक टूक होइ जाय।
विषकी क्यारी बोइ के, लुनता क्यों पछिताय॥[७३]

क्योंकि—

जेती लहर समुद्र की तेती मनकी दौर।
सहज हीरा नीपजै, जो मन आवै ठौर॥[७४]

यह—

मन पंछी तब लगि उड़ै बिषय बासना माहिं।
प्रेम बाज की झपट में जब लगि आयौ नाहिं॥[७५]

अतः—

मन मनसा को मारि करि नन्हा करि के पीस।[७६]

यह मन अजेय है, यह बड़े-से-बड़े राक्षससे भी बड़ा है।[७७] बड़ी साधना करनेके बाद भी निश्चिन्त मत होओ कि मन मर गया। समस्त विदेहोंको खा जानेवाले मनपर क्या विश्वास।[७८] संतोंने कहा है कि मन सब शक्तियोंसे प्रबल है, पर यह दमन करने योग्य है और साधकोंने इसका दमन किया है।

'दम'—सामाजिक तथा धार्मिक जीवनके लिये अत्यन्तावश्यक है। सामाजिक जीवनमें मनके दमनसे मानव अनेक विपत्तियों, अनावश्यक संग्रह तथा कष्टोंसे बच जाता है और साधनात्मक जीवनमें इसकी महत्ता बढ़ती है। इसका उल्लेख संतोंके साहित्यमें बारंबार मिलता है।

ये हैं संतोंके 'सप्त-महाव्रत'। इन सबका एक दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये सब अन्योन्याश्रित हैं। इतना ही नहीं, साधनाके विशाल प्राङ्गणमें इन सबकी उपयोगिता है, सबकी महत्ता है। कोई शारीरिक साधनामें सहायक है तो कोई मानसिक साधनामें। सामाजिक जीवनमें ये सभी व्रत वरदान-स्वरूप हैं। सभी मानवताके विकास, समाजके अभ्युत्थान, सह-अस्तित्वके लिये उपयोगी तथा आदर्शोंके प्रसार एवं प्रचारमें तथा शक्ति प्रदान करनेमें सहायक होते हैं।

संतोंके इन सप्त-महाव्रतोंकी उपयोगिता कभी क्षीण नहीं होगी। मानवके लिये इनका मूल्य कभी कम नहीं पड़ेगा। सृष्टिकी सर्वोत्तम रचना होनेके बावजूद भी मानव सदासे अपूर्ण रहा है, रहेगा। उसे पूर्ण मनुष्यत्व, उसे मानवका सच्चा स्वरूप प्रदान करनेमें ये महाव्रत सहायक होंगे। इनके आधारपर विकसित मानव-जीवन समाजके लिये, युगके लिये कल्याणकारी होगा तथा मानव-जातिके लिये, जो आज प्रतिकार, प्रतिशोध, प्रतिहिंसाकी ज्वालामें प्रदग्ध है, महान् कल्याणकारी होगा।

संतोषसे परम सुख तथा उन्नति, असंतोषसे दुःख तथा पतन

सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत्सुखम्। कुतस्तत्कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः॥
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः। शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम्॥
कामस्यान्तं च क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात्। जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः॥
पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः। सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात् पतन्त्यधः॥

(भागवत ७। १५। १६, १७, २०, २१)

आत्मामें रमण करनेवाले इच्छारहित संतोषी पुरुषको जो सुख मिलता है, वह उस मनुष्यको कैसे मिल सकता है जो कामना और लोभसे धनके लिये हाय-हाय करता इधर-उधर दौड़ता-फिरता है। जैसे पैरोंमें जूता पहनकर चलनेवालेको कंकड़ और काँटोंमें कोई डर नहीं रहता, वैसे ही जिसके मनमें संतोष है, उसके लिये सदा सभी दिशाओंमें सुख-ही-सुख है, दुःख है ही नहीं। भूख-प्यास मिट जानेपर खाने-पीनेकी कामनाका अन्त हो जाता है, क्रोध भी उसका परिणाम सामने आ जानेपर शान्त हो जाता है, परंतु सारी पृथ्वीको सब दिशाओंके जीत लेने और भोग लेनेपर भी लोभका अन्त नहीं होता। अनेक विषयोंके ज्ञाता और अपने उपदेशसे दूसरोंके संदेह-शंकाओंको काटकर उनका समाधान कर देनेवाले, विद्वानोंकी सभाओंके अध्यक्ष बहुत-से बड़े-बड़े विद्वान् भी असंतोषके कारण नीचे गिर जाते हैं।

---

७३. संतबानी संग्रह भाग १ पृ० ५५। ३
७४. संतबानी संग्रह भाग १ पृ० ५५। ६
७५. " पृ० ५६। १२
७६. " " पृ० ५६। १४
७७. " पृ० १०४। १
७८. " " पृ० १०४। २

देशभक्ति-धर्म

[मातृभूमिका आह्वान]*

(लेखक—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)

आजकल 'राष्ट्र' शब्दका प्रयोग हमलोग 'जातीय-राज्य' (Nation - state) के अर्थमें कर रहे हैं। आज राष्ट्रीयताका भाव यूरोपकी जातियोंमें सबसे अधिक प्रबल है। वहाँपर यह 'धर्मसुधार'के पश्चात्की चार शताब्दियोंकी उपज है। जिन दिनों यूरोपके जनोंमें राष्ट्रीयता विकसित हुई, उस समय भारत साम्प्रदायिक वैमनस्यमें उलझ गया था, जिसके परिणामस्वरूप हम ज्ञान-विज्ञानमें विश्वकी उस समयकी उन्नतिशील जातियोंसे पिछड़ते जा रहे थे तथा राष्ट्रीयताका वैदिक संदेश हमें विस्मृत-सा होता जा रहा था, राष्ट्रीयताको बहुत कुछ तो हम पहले ही भूल चुके थे, जिसके फलस्वरूप ही हम विदेशी आक्रान्ताओंद्वारा पददलित हुए। जो अरब देशके लोग एक प्रकारसे दिग्विजयी हो चुके थे, जिन्होंने अनेक देशोंको जीतकर पृथ्वीपर अतुल साम्राज्य स्थापित किया, वे केवल दो देशोंसे पराजित कर बाहर निकाले गये—पश्चिममें फ्रांससे और पूर्वमें भारतसे। अरबके लोगोंने हज़रत मुहम्मद साहबकी मृत्युके बाद छः वर्षमें सीरियाको, दस वर्षमें फारसको, एक सालमें अफ्रीका और स्पेनको, अठारह वर्षमें काबुलको और आठ वर्षमें तुर्किस्तानको सम्पूर्ण रूपसे अपने अधिकारमें कर लिया था, किंतु वे भारतवर्षको जीतनेके लिये तीन सौ वर्षोंतक यत्न करके भी उसे हस्तगत नहीं कर सके। मुहम्मद बिन कासिमने सिन्धु देशपर अवश्य अधिकार कर लिया था, किंतु राजपूतोंने उसको हराकर बाहर निकाल दिया और उसके मरनेके कुछ दिनों बाद राजपूतोंने सिन्धु देशपर फिर अधिकार कर लिया। दिग्विजयी अरब भारतको जीत नहीं सके। इतिहासकार एलफिन्स्टन कहते हैं कि हिंदुओंका अपने धर्मके प्रति दृढ़ अनुराग ही उनके यों अजेय होनेका कारण था।

क्या है वह धर्म जिसके प्रति दृढ़ अनुरागके कारण हिंदू† पंद्रहवीं शताब्दीतक अपनी स्वाधीनताकी रक्षा करनेमें अजेय रहे ? हिंदुओंमें किस धर्मका ह्रास होनेसे अरब, तुर्क और पठान—इन तीनों जातियोंकी साढ़े पाँच सौ वर्षकी यत्न-परम्परासे भारतकी स्वाधीनता मिटी ?

इस विषयमें अठारहवीं शताब्दीके भारतके प्रसङ्गमें महायोगी श्रीअरविन्दने कहा है—"जहाँ धर्म है वहाँ जय है, किंतु धर्मके पीछे शक्ति चाहिये, नहीं तो, अधर्मका अभ्युत्थान होता है और धर्म-ग्लानिके स्थायी होनेकी आशंका उपस्थित हो जाती है। बिना कारणके कार्य नहीं होता। ...... विधाताका यह नियम है कि जो दक्ष और शक्तिमान् है, वही कुश्तीमें जीतता है और जो क्षिप्र गतिवाला तथा सहिष्णु है, वही दौड़में सबसे पहले उद्दिष्ट स्थानपर पहुँचता है। सच्चरित्र या पुण्यवान् होनेसे ही कोई दौड़ या कुश्तीमें नहीं जीतता। उपयुक्त शक्तिका होना भी आवश्यक है। इसी प्रकार जातीय भावका विकास होनेपर दुर्वृत्त और आसुरिक जाति भी साम्राज्यकी स्थापना करनेमें समर्थ होती है और जातीय भावके न होनेपर सच्चरित्र और गुणसम्पन्न जाति भी पराधीन हो जाती है और अन्तमें अपने चरित्र और गुणको खोकर अधोगतिको प्राप्त होती है।'...

भगवती श्रुतिने आदिकालसे ही हमें स्वातन्त्र्यप्रियता और स्वदेश-प्रेमकी शिक्षा दी है—

नमो मात्रे पृथिव्यै। (यजु० ९। २२)

---

* सृष्टिके आदिकालमें मनुष्यजातिके पूर्वज सप्तसिन्धुवासी ऋषियोंसे मनुष्यजातिका अभ्युदय और कल्याण करनेवाला जो सार्वभौम 'सनातन धर्म' हमें प्राप्त हुआ था, उसमें देशभक्ति-धर्म भी सम्मिलित था। इसकी ओर आधुनिक कालमें हमारा ध्यान डा० वासुदेवशरणजी तथा डा० मोतीचन्द्र प्रभृति विद्वानोंने विशेष रूपसे आकृष्ट किया है। इन दोनों मनीषियों तथा ऋषि बंकिमचन्द्र, महायोगी अरविन्द एवं अपने पिताजी (पं० किशोरीदासजी वाजपेयी) के साहित्यसे सहायता लेकर मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ।

† पंद्रहवीं शताब्दीतक 'हिंदू'का अर्थ 'भारतीय' समझा जाता था तथा भारतमें स्थायीरूपसे बस जानेवाले विदेशी भी अपने-आपको 'हिंदू' कहने लगते थे और यहाँकी जातिमें मिलकर एक हो जाते थे। —लेखक

मातृभूमिको प्रणाम है।

उप सर्प मातरं भूमिम्। (ऋ० १० । १८ । १०)

मातृभूमिकी सेवा कर।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। (अ० १२ । १ । १२)

मातृभूमि मेरी माता है और मैं इस धरतीका पुत्र हूँ।

बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये। (ऋ० ५ । ६६ । ६)

बहुतोंद्वारा पाने योग्य स्वराज्यके लिये हम सब यत्न करें।

समानी व आकूतिः। (ऋ० १० । १९१ । ४)

तुम्हारा निश्चय एक हो।

भगवान् श्रीरामने कहा है—**'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'** (रामायण)। माता और मातृभूमिकी गरिमा स्वर्गसे भी बढ़कर है। संसारमें कुछ ही जातियोंको यह सौभाग्य प्राप्त है कि जो उनकी मातृभूमि है, वही उनकी तीर्थभूमि है, जैसे अरबके मुसल्मान, इज्रायलके यहूदी, चीनके कन्फ्यूशियस मतानुयायी तथा भारतके हिंदू*। जिन जातियोंकी मातृभूमि और तीर्थभूमि भिन्न-भिन्न है, उनके सम्मुख किसी भी समय यह धर्मसंकट उपस्थित हो सकता है कि अमुक प्रसङ्ग-विशेषमें मातृभूमि और तीर्थभूमिमें किसकी गरिमा अधिक मानें। मनुकी निम्नलिखित व्यवस्थामें मातृभूमिको माताके समकक्ष तथा तीर्थभूमिको आचार्यके समकक्ष मानते हुए हम इस धर्मसंकटका शास्त्रीय निराकरण खोज सकते हैं—

उपाध्यायाद्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥

गौरवमें विद्यागुरुसे दसगुना दीक्षागुरु (धर्मगुरु), दीक्षागुरुसे शतगुना पिता तथा पितासे सहस्रगुना माता बढ़कर होती है।

महाभारतमें भीष्मपर्वके आरम्भमें भारत-वन्दना भावोंकी दृष्टिसे अत्यन्त उत्कृष्ट है। भुवनकोष अर्थात् भारतवर्षके भौगोलिक वर्णनकी यह काव्यमयी भूमिका है, जिसमें **'प्रियं भारत भारतम्'** दुहराकर कवि अपना स्वदेश-प्रेम प्रकट करता है। संजय धृतराष्ट्रको सम्बोधन करके कहते हैं—

'हे भारत! अब मैं भारतवर्षकी कीर्तिका बखान करूँगा। यह भारतवर्ष देवराज इन्द्रका प्यारा है। मनु वैवस्वतने इसे अपनाया है। आदिराज वैन्य पृथु, महात्मा इक्ष्वाकु, ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, नहुष, मुचुकुन्द, औशीनर शिबि, ऋषभ, ऐल, नृग, महात्मा कुशिक और गाधि, सोमक और दुर्द्धर्ष दिलीप—ऐसे अनेक बलशाली क्षत्रियोंने जिस भूमिको प्यार किया है और सब जन भी जिसको प्यार करते हैं, उस भारतका वर्णन मैं तुमसे करता हूँ।'

वैदिक ऋषिने कहा है—'हे पृथिवी! तुम हमारे पूर्वजोंकी भी माता हो। तुम्हारी गोदमें जन्म लेकर पूर्वजोंने अनेक विक्रमके कार्य किये हैं—**यस्यां पूर्वे जना विचक्रिरे।**'

डा० मोतीचन्द्र लिखते हैं—'भूमिकी वन्दना करते हुए कवि अपने पुरखोंकी उस अमर कीर्तिको भी नहीं भूलता, जिससे अनुप्राणित होकर पृथिवी माताका यश बढ़ा। सत्य ही है, पूर्वजोंके पराक्रमकी कथाओंसे ही इतिहासका निर्माण होता है और उन्हींसे उत्साहित होकर हम आगे बढ़ते हैं।'

पूज्य पं० किशोरीदासजी वाजपेयी लिखते हैं—'सबसे बड़ा और सुदृढ़ एकता-सूत्र है पुरखोंका एक होना। सभी प्रदेशोंके भारतीय अपनेको याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, राम, कृष्ण आदिके वंशज मानते हैं। एक पुरखे हैं, तब ऊपरी अनेकरूपता अलग कैसे करेगी? ··· जिस घरमें जिसका जन्म होता है, वह उसपर स्वामित्व रखता है और अपने कुलकी मर्यादाका ध्यान रखता है, अपने पुरखोंके संस्कार लेकर चलता है। परंतु ऐसा भी देखा जाता है कि किसी दूसरे घरमें पैदा हुए लड़केको लोग 'गोद' ले लेते हैं और वह इस नये घरमें आकर इसका मालिक बन जाता है। परंतु गोद आये हुए लड़केको इस नये घरको ही 'अपना' घर समझना होता है। इसी घरके पुरखोंको वह अपनाता है और इसीके आचार-विचार ग्रहण करता है। ··· इसी तरह भारतीय जातिमें शक, हूण आदि न जाने कितनी जनधाराएँ मिलीं और खप गयीं। आज कौन कहता है कि हमारे पुरखे शक या हूण थे? सब भारतीय रंगमें रँग गये। किसीको शकों या हूणोंका वंशज कह दो तो वह गाली समझता है।'

---

* पंद्रहवीं शताब्दीके बाद 'सनातन-धर्म'को 'हिंदू-धर्म' भी कहा जाने लगा और आजकल तो प्रायः 'हिंदू-धर्म' ही कहा जाता है। —लेखक

हम सब मातृभूमिकी संतान हैं और हमारे समस्त पूर्वज इसी मातृभूमिकी संतान थे। (इसी 'संतान-धर्म' के अनुयायी 'आनन्द-मठ' के अमर पात्र हैं।) श्रीअरविन्द लिखते हैं—'पूर्ण जातीयभावका देशभरमें प्रचार होनेसे इस नाना-भेद-संकुल देशमें भी एकताकी सम्भावना है।··· स्वदेश-प्रेमका आधार मातृपूजा है। जिस दिन बंकिमचन्द्रके **'वन्दे मातरम्'** गीतने बाह्येन्द्रियका अतिक्रमण करके प्राणपर आघात किया, उसी दिन हमारे हृदयमें स्वदेश-प्रेम जाग्रत् हुआ और मातृमूर्तिकी प्रतिष्ठा हुई। स्वदेश माता है, स्वदेश भगवान् है—यही वेदान्त शिक्षाके अन्तर्गत उच्च शिक्षा जातीय अभ्युत्थानका बीजस्वरूप है। जिस प्रकार जीव भगवान्का अंश है और जीवशक्ति भगवान्की शक्तिका अंश है, उसी प्रकार करोड़ों भारतवासियोंकी समष्टि सर्वव्यापी वासुदेवका अंश है। इन करोड़ों मनुष्योंकी आश्रयस्वरूपा, शक्तिरूपिणी, बहुभुजान्विता, बहुबलधारिणी भारतजननी भगवान्की एक शक्ति है। यही माता है, यही देवी है, यही जगज्जननी कालीका देहविशेष है।'

देशभक्तिकी इसी भावनाके जन-जनमें जाग्रत् होनेपर आदर्श राष्ट्रीय एकता (जातीय एकता) सम्भव है। भारतवर्षमें राष्ट्रीय अथवा जातीय एकताके निर्माणमें एक बड़ी बाधा इस कारण रही है कि धर्मके अन्यान्य तत्त्वोंके साथ देशभक्ति भी हमारे धर्ममें ओतप्रोत रही है, जिसके कारण हमारे अनेक अहिंदू देशबन्धु देशभक्तिके लक्षणोंको भी साम्प्रदायिकता मानते रहे हैं। उदाहरणके लिये असंख्य तीर्थों, पर्वतों और नदियोंके प्रति हमारी भक्ति है, जिसके धार्मिक पक्षके कारण उसका राष्ट्रीय पक्ष हमारी आँखोंसे ओझल रहा है। स्वर्गीय पं० जवाहरलालजी नेहरू-जैसे अत्यन्त धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय नेताने गङ्गाजीके विषयमें कहा था—'मेरे दिलमें गङ्गाके लिये हमेशासे एक मुहब्बत रही है। इसका मजहबसे कोई सम्बन्ध नहीं है, एक तरहकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि समझ लीजिये, भारतकी संस्कृति, उसके इतिहास और विकासकी न जाने कितनी बातोंके साथ गङ्गाका नाम जुड़ा हुआ है।' इसी प्रकार प्रत्येक भारतीयको अपने पूर्वजोंकी महान् सांस्कृतिक विरासतपर उसी प्रकारका गर्व होना चाहिये, जैसा पं० नेहरूने इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—'हिंदू-धर्मके जो ऊँचे सिद्धान्त हैं, मेरा विचार है कि उनका मुकाबला शायद कोई भी न कर सके। बहुत ऊँचे दर्जेके विचार हैं और हमें प्रेमसे उनकी रक्षा करनी है।'

जो कुछ भी भारतीय है, उसके प्रति प्रेम होना और राष्ट्रीय संस्कृतिका गर्व होना देशभक्तिका लक्षण है। प्रत्येक भारतीयको वैदिक वाङ्मयका, और कुछ नहीं तो, इसीलिये सम्मान करना चाहिये कि यह हमें अपने महान् पूर्वजोंसे प्राप्त सांस्कृतिक विरासत है। यथा मनुने कहा है कि जो वेदकी निन्दा करे वह नास्तिक है। आधुनिक भाषामें यों कहा जा सकता है कि जो वेदकी निन्दा करता है, वेद-स्मृति-पुराणका अपमान करता है वह देशभक्त नहीं है।

अपनी जातीय (राष्ट्रीय) संस्कृतिके प्रति पूर्ण सम्मानका भाव रखकर ही हम भारतमाताके उस अखण्ड स्वरूपका दर्शन कर सकते हैं, जिसकी वन्दना **'वन्दे मातरम्'** गीतमें की गयी है। जैसा कि महायोगी श्रीअरविन्दने कहा है—''जिस दिन हम मातृमूर्तिके अखण्ड स्वरूपका दर्शन करेंगे, उस दिन भारतकी एकता सुलभ हो जायगी।··· जहाँ एक देश है, एक माता है, वहाँ एक दिन एकता अवश्यम्भावी है और अनेक जातियाँ मिलकर एक बलवान् अजेय जातिमें अवश्य परिणत होंगी।··· एक ही माताके गर्भमें जन्म हुआ है, एक ही माताकी गोदमें हम सब निवास करते हैं और एक ही माताके पञ्चभूतमें हम सब मिल जाते हैं, आन्तरिक हजार झगड़े होते हुए भी माताके आह्वानपर मिलना होगा।'

श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

देशभक्तकी पहचान

देश मैं है, देश मैं हूँ, देश मैं हैं दो नहीं।
देशका ही स्वार्थ मेरा, है न अन्तर कुछ कहीं॥
देशका है लाभ मम, नुकसान मम नुकसान है।
देश-सेवककी यही बस, एक ही पहचान है॥

धर्म-परम्परा

(लेखक—वैद्य श्रीकन्हैयालालजी मेड़ा व्याकरणायुर्वेदाचार्य)

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
सुखं च न विना धर्मात्तस्माद् धर्मपरो भवेत् ॥

(वाग्भट)

धर्म—जो जगत्‌को धारण करे, उसको 'धर्म' कहते हैं—**'धरति विश्वमिति धर्मः ।'** यह शब्द व्याकरणकी दृष्टिसे **'धृञ् धारणे'** (भ्वा० उ० से०) धातुके आगे **'अर्तिस्तुसुहुसृधृ'** (१ । १४०)—इस उणादि सूत्रसे 'मन्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। स्मृति-ग्रन्थोंमें धर्मके लक्षण एवं उनके भेदोंका विशद वर्णन मिलता है। स्थूल दृष्टिसे धर्मके १ साधारणधर्म, २ विशिष्ट-धर्म, ३ आपद्धर्म—ये तीन भेद होते हैं। इन्हींमें यावन्मात्र धर्मोंका समावेश हो जाता है। ये तीनों धर्म मनुष्यमात्रके लिये कल्याणकारक होते हैं। इनका विधिवत् पालन करनेसे संसारके सभी प्राणी अपनी-अपनी उन्नति कर चुके हैं एवं कर रहे हैं तथा भविष्यमें कर भी सकते हैं। इस लेखमें धर्म-परम्परा विषयपर यथाबुद्धि प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जाता है—

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।

(म० भा० कर्णपर्व ६९ । ५९)

एष धर्मो महायोगो दानं भूतदया तथा ।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा ।
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम् ॥

(म० भा० अश्वमेधप० ९१ । ३३-३४)

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ॥

(मनु० २ । १२२)

जो शक्ति पञ्चमहाभूतोंमें क्रमशः—यथा पृथिवीमें व्यापक होकर पृथिवीत्वकी, जलमें स्थित होकर उसके जलत्वकी, तेजमें स्थित होकर तद्गत तेजस्त्व आदि तत्तद्गत धर्मोंकी रक्षा करनेमें प्रवृत्त रहती है, जिसके कारणसे सूर्य, चन्द्र तथा अनिल आदि अपने कार्योंमें संलग्न हैं, जो शक्ति जीवमात्रको निम्नस्तरसे उठाकर यथाक्रम उन्नति देती हुई परमोच्च श्रेणीपर पहुँचाकर महापुरुष बना देती है, उस शक्तिका नाम ही 'धर्म' है।

भारतीय धर्मकी परिधिमें मनुष्य-जीवनकी समस्त अवस्थाओंमें कर्तव्य-अकर्तव्यका पूर्ण युक्तियुक्त विवेचन मिलता है। साथही मरणानन्तर सद्गतिकी प्राप्ति कैसे हो, इसका भी पूर्ण वर्णन है। इसीलिये श्रीमद्भागवतमें अनेक स्थलोंमें मानवजीवनके लिये ऐसे उपदेश भी मिलते हैं—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । ९ । २९)

श्रीभगवान्‌ने श्रीउद्धवजीको यह उपदेश दिया है—'अनेक जन्मोंके अनन्तर मनुष्यदेहकी प्राप्ति होती है; क्योंकि अन्यान्य प्राणियोंके सदृश हिंसा-द्वेष आदि प्रवृत्तियोंके प्रबल होनेपर मृत्युके अनन्तर अन्य-अन्य योनियोंमें ही जन्म लेना पड़ता है। इसलिये नरदेह सुदुर्लभ है। इसी जन्ममें वास्तविक अर्थकी प्राप्तिकी चेष्टा हो सकती है, अतः यह **'अर्थद'** भी है। परंतु यह मनुष्य-शरीर क्षणभङ्गुर है, अतएव यह अनित्य है। ऐसी स्थितिमें क्षणमात्र भी विलम्ब न करके जबतक मृत्यु नहीं आ जाती; निःश्रेयसके लिये परम यत्नशील बनो।'

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

(श्रीमद्भा० ५ । १८ । १२)

जो भगवान्‌के अनन्यभक्त हैं, उनमें समस्त गुण होते हैं। जो भगवान्‌के भक्त नहीं हैं, उनमें महान् गुण कैसे आयेंगे? क्योंकि उनका इन्द्रियरूपी अश्वोंसे युक्त मनरूपी रथ सर्वदा अनित्य बहिर्जगत्‌में ही भोगोंको खोजता फिरता है। परम दुर्लभ मनुष्यजीवनके लिये भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य महाराज भी विवेकचूडामणिमें कहते हैं—

लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम् ।
यः स्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ॥

अर्थात् श्रुतियोंद्वारा जिससे ज्ञान प्राप्त होता है, ऐसे मनुष्य-जन्मको पाकर जो मूढ़धी अपनी आत्माकी मुक्तिके लिये यत्न नहीं करता, वह असद् वस्तुओंमें फँसकर निश्चय ही आत्मघाती है। मनुष्यको परलोकमें अपनी सहायताके लिये शनैः-शनैः धर्माचरण करना चाहिये। परलोकमें एकमात्र धर्म ही सहायक होता है—

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तदनुगच्छति॥

धार्मिक ग्रन्थोंने इस लोकसे परलोकको अधिक महत्त्वपूर्ण मान्यता दी है। इसको व्यासजीने भी कहा है—

तैस्तच्छरीरमुत्सृष्टं धर्म एकोऽनुगच्छति।
तस्माद्धर्मः सहायश्च सेवितव्यः सदा नृभिः॥
प्राणी धर्मसमायुक्तो गच्छेत्स्वर्गगतिं पराम्।
(अ० प० १११। १४-१५)

धर्मसङ्गम—भारतीय धर्म महानदीकी तरह नानाविध धर्मोंके संगमसे वैपुल्यरूप बन गया है। प्राचीनतम आर्यधर्मका स्पष्टस्वरूप ऋग्वेदमें मिलता है। उसके बाद आर्येतर धर्मोंके संगमसे पौराणिक धर्मकी उत्पत्ति हुई।

आर्येतर धर्म—आर्येतरोंके धर्मका प्रथम स्वरूप सिन्धु-सभ्यताके अवशेषोंसे परिचित होता है। इनमें शिवोपासक मूर्तिपूजा करते थे, मातृस्वरूपसे देवीपूजा। वैदिक धर्ममें मातृदेवीके समकक्ष अदिति तथा पृथ्वीकी पूजा होती थी। पौराणिक धर्ममें चण्डी, दुर्गा, भवानी मातृदेवीके रूपमें पूजनीय हैं।

छान्दोग्योपनिषद् (८।८।५) तथा महाभारत, आदिपर्व (१५७।७) एवं सभापर्व (६८।७२) में देवासुर-राक्षस-ब्राह्मणोंके विभिन्न धर्मोंका वर्णन हुआ है।

वैदिक युगमें—ऐतरेय ब्राह्मणानुसार (१।१।१) वैष्णवधर्मके देवताओंका विशद वर्णन है।

उपनिषद्-धर्म—उपनिषद्युगमें यज्ञके महत्त्वका अल्प वर्णन है। ब्रह्मज्ञानसे ही समस्त दुःखोंसे मुक्ति होती है। यह छान्दोग्योपनिषद् (३। ३६) एवं बृहदारण्यक (४। ३ १४) में वर्णित है।

महाभारतधर्म—महाभारतमें धर्मका कुछ अभिनव स्वरूप परिलक्षित होता है। यद्यपि महाभारतमें वैदिक यज्ञका समर्थन है, किंतु समाजके अभ्युदयके लिये कुछ विधानोंको यज्ञसे अधिक महत्त्व दिया गया है। यह 'धर्मेण विधृताः प्रजाः' (शान्तिपर्व १०९। ११) में स्पष्ट है।

नवीन प्रवृत्ति—

महाभारतमें पापोंके निवारणके लिये पुण्यका समर्थन किया गया है। यह पुण्य तप तथा यज्ञसे होता है। यज्ञका मन, वाणी तथा कर्मसे सम्बन्ध है (उद्योगपर्व ४३ अध्यायसे)। तीर्थयात्राका महत्त्व भी यज्ञसे अधिक है। साधारणतया यज्ञ करनेके लिये विपुल सामग्रीके संग्रहकी आवश्यकता होती है। दरिद्रोंके लिये यज्ञकी कल्पना नहीं है, अतः दरिद्रोंके लिये तीर्थयात्रा सुलभ होती है। भारतके समस्त भागोंमें तीर्थ हैं, इसलिये सभी वर्ण एवं आश्रमोंके लिये तीर्थयात्राका विधान है। धार्मिक दृष्टिसे भावकी निर्मलताकी विशेषता होती है—मन-वाणी तथा कर्मसे पापोंके अपाकरणको ही तप कहते हैं, इसलिये शरीर-शोषणका नाम तप नहीं है (वनपर्व १९९। ९५। ९७)।

देवप्रतिष्ठा—महाभारतमें देवता और मनुष्योंके सांनिध्यकी बात आती है। बृहस्पति देवता एवं सभी मनुष्योंके पुरोहित थे (अश्वमेधपर्व, अध्याय ५)। नारद स्वर्गलोक एवं मर्त्यलोकमें निर्बाधरूपसे भ्रमण करते थे। स्वर्ग हिमालयपर अवस्थित है। (आदिपर्व ११९। ८, वनपर्व १५९। २२, ११५–१९, शान्तिपर्व ३२८। ६) तथा माघकाव्यमें भी—

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।
वसन् ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः॥

यहाँ इन्द्रसंदेश कहनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णके समीप आकाशसे नारद मुनि आ रहे हैं।

यथा वाल्मीकि महर्षि—

प्रकृत्या हिमकोशाढ्यो दूरसूर्यश्च साम्प्रतम्।
यथार्थनामा सुव्यक्तं हिमवान् हिमवान् गिरिः॥
रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारारुणमण्डलः।
निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥

कैसा अलौकिक वर्णन है!

मानवधर्म—मनुप्रणीत मानवधर्म वर्णाश्रम-व्यवस्थानुकूल प्रतिबद्ध है तथा मनुने देशधर्म, कुलधर्म, पाखण्डधर्म एवं गणधर्म भी कहे हैं—

देशधर्माञ्जातिधर्मान् कुलधर्मांश्च शाश्वतान्।
पाखण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान् मनुः॥
(१। ११८)

मनुने सामाजिक सुश्लिष्टता (२ । १२२, १३८) एवं कौटुम्बिक सुश्लिष्टता (४ । १८०; १८१) बतलायी है ।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥
(२ । २२६)

तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ।
(२ । २२८)

त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ।
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥
(२ । २३४)

व्यावहारिक सौष्ठव—मनुने (४ । ९२, १५२, १७४, १८६, १९१, २१८, २५५) मानवसमाजके अभ्युत्थानके लिये अत्यन्त उपादेय विधानोंका वर्णन किया है ।

इन धर्मोंमें अनुष्ठान, भक्ति, व्रत, जप, दिव्य सत्ता पूजा, गोब्राह्मणपूजा, नदीसेवन, तीर्थ, दान, माला-धारण, पुराणकथा, देवप्रतिष्ठा, लक्ष्मी, दुर्गा, अधिष्ठातृ-देवता आदिके विशिष्ट वर्णनके साथ लोककल्याण-धर्मकी सुग्राह्यता, धर्मसे स्वास्थ्यसंवर्धन, धर्मके अलौकिक विधान, कर्मफल, वैष्णव-धर्म, शैवधर्म, माहेश्वर-योग, पाशुपत-सम्प्रदाय, गाणपत्यसम्प्रदाय, सौरसम्प्रदाय, आदि सभीपर पद्मपुराण, वायुपुराण, विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत, नारदपुराण, ऋग्वेद (१ । ११४, ९), अथर्ववेद (१५ । ५ । १-७), महाभारत (अनुशासनपर्व १४ अ० से), लिङ्गपुराण (३० अ०), ब्रह्मपुराण (२९ अ०), तैत्तिरीयोपनिषद् (३ । १ । १)—इन ग्रन्थोंमें बहुत सुन्दरतासे १–वैदिकधर्मका ऋग्वेदादि संहिता-ग्रन्थोंके साथ प्रवर्तन, २–वैदिक युगमें याज्ञिक धर्मका ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें विवेचन, ३–तदुत्तर आरण्यक एवं उपनिषद्-ग्रन्थोंमें धर्मका पारमार्थिक स्वरूप-व्याख्यान, ४–महाभारत तथा पुराण-उपपुराणोंमें वर्णाश्रमके व्यावहारिक स्वरूपका विस्तृत वर्णन हुआ है । संक्षेपसे धर्म-परम्पराका यह वर्णन है ।

निष्कर्ष—सांख्यकारिकामें श्रीईश्वरकृष्णने कहा है—

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥४४॥

अर्थात् धर्माचरण करनेसे स्वर्गादि ऊर्ध्वलोकोंकी तथा अधर्माचरणसे नरकादि लोकोंकी प्राप्ति होती है । इन धर्माचरणोंसे ज्ञानप्राप्ति होनेपर परम पुरुषार्थफल—मोक्ष मिलता है, उसके विपरीत अज्ञानसे बन्धन प्राप्त होता है । इसलिये अतिदुर्लभ मानवजीवन प्राप्तकर धर्माचरण करते हुए अन्तमें सद्गति-प्राप्तिके लिये ही सचेष्ट रहना चाहिये ।

विवेक-धर्म

[सत् ग्राह्य, असत् त्याज्य]

(लेखक—श्रीरानविशालजी शर्मा 'विशाल', साहित्यरत्न)

१—इन्सान—

इन्सान वह ! जो दर्दसे झुक-झुक बना ।
एक पत्ता भी झुका, 'दुनियाँ' बना ॥

२—हैवान—

हैवान वह ! जो आहपर, अंगार बन शैतान-जैसा ।
जी रहा हो, निर्बलोंका खून पी, शमशान-जैसा ॥

३—देव—

आत्म बलका मुक्त सोता, देव होता सुख सँजोता ।
साफ हाथोंसे सबोंके मैल धोता, पूज्य होता ॥

४—दैत्य—

फूलपर काँटे चुभा कर, आँखपर कंकर बिछाना ।
दैत्यकी यह ज़िंदगी है, ज़िंदगी नाहक मिटाना ॥

५—मूर्ख—

मूर्ख-मानव वह ! कि जो, दिनमें, अँधेरेमें रहे ।
कीचमें डूबा, डुबोता, काँखता, गाफिल रहे ॥

६—चतुर—

चेते और चिताये सबको, प्रहरी-परहित, लख-संताप ।
चित्त और चैतन्य-योगका चिन्तन ही चतुरोंका माप॥

७—दुर्जन—

हड्डियोंके सिंह बन ये, स्वान डरवाते सदा ।
सज्जनोंसे द्वेष करते, स्वयं मिटते सर्वदा ॥

८—सज्जन—

शील, सत्-आनन्द जिनमें, और डरता पाप है ।
शान्ति, समता और ममता सज्जनोंकी छाप है ॥

९—संसार—

गुण-कर्मोंका मेल परस्पर, अस्थिरताका ही बाजार।
नित्य परिस्थितियोंके नूतन संघर्षोंका यह संसार॥

१०—ईश्वर—

शाश्वत, सोऽहं, प्रति श्वासोंमें जिसका है साक्षित्व भरा।
'ईश्वर' जलमें बिजली जैसा, व्याप्त प्रकाशक हरा-भरा॥

११—सद्‌गुरु—

तिमिर-तोमके प्रात-पर्व, भय-भारोंके स्वतन्त्र-विश्राम।
प्राण-कोष, जग-मानवताके, प्रणतारतके प्रण, धन, धाम॥

१२—तीर्थ—

तप, त्यागोंके स्वास्थ्य-शान्तिका सुन्दरसंगम।
सबमें प्रभुका दर्शन, आदर्शोंका उद्गम॥

१३—मूर्ति—

जडमें भी है चेतन-पूजा, प्राण-त्राणकी सत्यकला।
मानव-गुणकी नम्रआरती जहाँ जागती प्रेम पिला॥

१४—सदाचारी—

सभ्य, सुसंस्कृत, भद्र, सद्गुणी
मानव तो जगके विश्राम।
किंतु अशिक्षित सद्-आचारी,
भी स्वदेशके हृदय-ललाम॥
लगन-शील वह सहता जाता
पर उपकारोंमें तरु-सा।
आस्तिकता, दृढ़, धैर्य-संयमी,
तप-त्यागी सुमेरु-जैसा॥

१५—भक्त—

अपना न समझे रंच भी, यह विश्व-वैभव 'प्रभू'का।
भोगता सब सौंप उनको शान्त सेवक प्रभूका॥

१६—कवि—

'कवि' प्रकृति, कालके मुखमें
घुल-मिल अमृत पीता है।
प्रभुका ही चिर-चिह्न स्वयं हो,
मरनेपर भी जीता है॥

१७—पत्नी—

पति-प्राणोंपर ही जीवनके सुख-सपनोंकी सत्-निष्ठा।
'भारतीय-संस्कृति' अभिनन्दित स्वामि-प्रतिष्ठाकी स्रष्टा॥

१८—राष्ट्र-शक्ति—

सैन्य, कोष, पटु-नीति, गुप्तचर, शौर्य, संगठन, धर्म, प्रचार।
अष्ट-शक्ति ये सुदृढ़ राष्ट्रके लोक-शान्ति, जयके आधार॥

१९—धर्म—

जिये-जिलाये, बढ़े-बढ़ाये आत्मीय देवत्व जहाँ।
विश्व-परिधिका केन्द्र प्रभू हो, भोग-तनाव समाप्त जहाँ॥

२०—आत्मा—

सत्-चित्-आनन्द, सिद्ध-साक्षित्व सबमें॥
कूटस्थ, अविकार, सम-ज्योति जगमें॥
आतम सभी देहसे भिन्न रहती,
सभी देहमें सूर्य-सा जगमगाती।
अन्तर्विरति, तीव्र-अभ्यास इसका,
कि हर फूल-पत्तेमें दर्शन कराती॥

२१—विवेक—

क्षीर-नीर-न्यायके प्रशस्तपथ पवित्र हों।
कि हंसवत् स्वभावके, 'स्वधर्म-ग्रह' स्वतन्त्र हों॥

२२—आत्म-शक्ति—

कायिक, आर्थिक, बौद्धिकसे भी,
बढ़कर होती आतम-शक्ति।
सिंह और मृग निर्भय जिसपर,
शान्त विचरते कर अनुरक्ति॥
यमकी युक्ति, शक्तिमें नाहक,
बर्बरता उससे बढ़ती।
प्रेम और सहयोग-शौर्य पा,
मानवता ऊपर उठती॥

२३—शान्ति—

शान्ति-अस्त्रसे शस्त्र-शक्तिकी मुट्ठी ढीली पड़ जाती है।
जीवनका रौरव मिटता है, धरतीकी गोदी भरती है॥

२४—आनन्द—

भय-भेदोंकी भूल, शूल-संकल्प न जिसमें।
पूर्ण साम्य, संतोष, शान्ति, मधु वर्धित जिसमें॥
सब जीवोंके निज-तोलनमें जो सर्वोपरि।
वह युग-पथके आनँद-रसका सत्सर्वोपरि॥

२५—नामयज्ञ—

रोग, शोक, ज्वाला, अभाव सब, लोक-यन्त्रणा, अहं अशान्ति।
होता मुक्त नाम-जप इनसे, पाता अक्षय सुखमय शान्ति॥

भारतीय इतिहास और धर्म

(लेखक—पद्मभूषण डा० श्रीसूर्यनारायणजी व्यास, डी० लिट्०)

भारतवर्षका इतिहास अत्यन्त पुरातन है। आर्यजन कहीं बाहरसे आये या इसी भूमिपर रहते थे, कब आये और कहाँसे आये—यह आज भी विद्वानोंके विवादका विषय बना हुआ है; किंतु इस विषयमें सभी एकमत हैं कि भारतका सबसे पुरातन साहित्य 'वेद' है। वेदोंको भारतीयजन 'धर्म-ग्रन्थ' नामसे ही अभिहित करते हैं, जहाँसे हमारे इतिवृत्तका 'आधार' आरम्भ होता है। उसके पश्चात् वैदिक वाङ्मयमें ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदोंका स्थान है, जिनमें हमारी संस्कृति एवं सभ्यताके उच्चस्तरीय दर्शन होते हैं। आगे हमें महर्षि वाल्मीकिप्रणीत रामायण और वेदव्यासरचित महा-भारतका क्रम प्राप्त होता है, जो धार्मिक होते हुए भी इति-वृत्तका महत्त्व लिये हुए हैं। उसी प्रकार समस्त बौद्ध-साहित्य और जैन-साहित्य भी इतिहासका आधारभूत वाङ्मय है। आधुनिक विद्वान् अठारह पुराणोंमेंसे अधिकांशकी रचना नवीं सदी बतलाते हैं। इसमें पर्याप्त मतभेदका अवसर है; तथापि जहाँ इतिहासकी कड़ियाँ विशृङ्खलित, विलुप्त-सी प्रतीत होती हैं, वहाँ ये ही उन टूटी कड़ियोंको जुड़ानेमें बहुत बड़े सहायक सिद्ध होते हैं। अवश्य ही पुराणोंको भी धार्मिक ग्रन्थोंके रूपमें ही स्वीकार किया जाता है। यदि वेदसे लेकर पुराणोंतकका हमारा साहित्य न हो तो हमारा इतिवृत्त कितना अधूरा रह जायगा। 'इतिहास' शब्द भी बहुत पूर्वकालसे हमारे बीच प्रथित चला आ रहा है; किंतु आज हम इतिहास-के जिस स्वरूपसे सुपरिचित होकर रूढ-भावना बनाये हुए हैं, वह बहुत पूर्वका नहीं है। इतिवृत्तका ही अपर नाम 'पुराण' रहा है; किंतु यह महान् देश धर्म एवं अध्यात्म-प्रधान रहा है, इसलिये यहाँका इतिवृत्त उनसे अलिप्त होकर कैसे निर्मित हो सकता था। इस देशकी जिन विभूतियोंने इतिहासका सृजन किया, वे ऋषि-महर्षि, राजा-महाराजा भी धार्मिक—आध्यात्मिक महापुरुष ही रहे हैं। भले ही उन्हें दुष्ट दस्युओं, राक्षसों, विद्रोहियोंसे संघर्ष करना पड़ा हो, पर वह भी धर्म-युद्ध ही रहा है। दाशराज युद्धसे लेकर महाभारत-समर तथा रावण-राम-युद्ध, आर्य-अनार्य-संघर्ष—ये सभी उसी श्रेणीमें आते हैं। इस प्रकार हमारा सारा इतिहास ही 'धर्म' से आवृत है। यदि भारतीय इतिहासमेंसे 'धर्म' को पृथक् कर दिया जाय तो शायद हमारा अधिकांश पूर्वेतिहास ही समाप्त हो जायगा। आज हमारे पूर्वेतिहास एवं मध्ययुगान्त इतिहास-के विशेषरूपसे आधार धार्मिक रूपक ही हैं। प्राचीनतम मन्दिरों, मूर्तियों, शिल्पोंने हमारे इतिहासको पुष्ट करनेमें बड़ी सहायता दी है। चण्ड अशोकसे लेकर देवानां प्रिय-अशोकका महत्त्व उनके धर्मलेखोंमें ही निहित है। शिला-लेखों और दानपत्रों (ताम्र-शासनों) में या तो मन्दिर, मूर्ति, मठ, चैत्य तथा विहारोंका विस्तारसे वर्णन है अथवा दान देनेकी परम्पराका ही उल्लेख है। ये सभी धर्मके अन्तर्गत ही आते हैं। श्रीराम और श्रीकृष्णको आधार बनाकर जो साहित्य निर्मित हुआ, वही हमारी संस्कृति एवं इतिहासका रूप बना है। यदि मन्दिर, मूर्ति, मठ, स्तूपों-विहारोंको इतिहाससे पृथक् कर दें तो हम अपना इतिहास किसे कह सकेंगे ?

यही स्थिति इतिहासविश्रुत विभूतियोंकी है, जो परम भागवत, परम माहेश्वर आदि नामोंसे हमारे पूर्वेतिहासोंके प्रमुख घटक बने हुए हैं। मुद्राओंमें भी नन्दी, शिव, विष्णु, स्वस्तिक, लक्ष्मी, त्रिशूल, मन्दिर अङ्कित हुए हैं और उनका कालगणनामें महत्त्व है। 'मोहन-जो-दरो' की खुदाईसे भी 'शिव'ने तथा काबुल, कंधार, जावा, सुमात्रा आदिमें बुद्ध-मूर्तियोंने, राम-शिव-गणपतिके विग्रहोंने प्रकट होकर हमारे राष्ट्र-विस्तार और संस्कृतिकी साक्षी दी है। शुङ्गकालके विदिशास्थित 'गरुड़-स्तम्भ'ने और राजदूत हेलियोडोरसको 'परम भागवत' अङ्कितकर इतिहासने धर्मके महत्त्वका प्रमाण प्रस्तुत किया है। आज अशोकका 'धर्मचक्र' ही हमारे धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रकी राष्ट्रमुद्राका महत्त्वपूर्ण स्थान लिये हुए है।

शंकर, रामानुज, मध्व आदि आचार्योंको ही श्रेय है, जिन्होंने द्रविड़-देशसे चलकर भाषाकी भित्तिको भेदकर समस्त भारतमें सांस्कृतिक, धार्मिक एकताकी स्थापना की थी और अपना आदर्श इतिहास बनाया था, जो आज भी हमारा पथ-प्रदर्शक बना हुआ है। बुद्ध और महावीर भी धार्मिक महा-पुरुष ही थे। यदि इन धार्मिक विभूतियोंको हमारे इतिहासमें स्थान न होता तो हमारा इतिहास कौन-सा बनता ? हमारे उत्खननोंमें सैकड़ों-हजारों वर्षके इतिवृत्तकी जो वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं, उनमें मन्दिर, मूर्तियाँ, मुद्राएँ, शिलाखण्ड,

विद्यापीठ, स्तूप, विहार, चैत्य, अश्वमेध-यज्ञकी साक्षी देनेवाले साधन—ये ही प्रमुख हैं और इन्हींको आधार बनाकर हमारा इतिहास-संशोधन समृद्ध बनता है; इतिहासमें धर्मकी उपेक्षा की जाय तो हमारा इतिहास क्या रह जायगा ?

भारतकी प्राचीनतम मूर्तियों, मन्दिरों, दानपत्रों और धार्मिक प्रतीकोंने हमारे पुरातन सांस्कृतिक-विकास, साहित्य, शिल्प-कला-प्रवणताका प्रमाण प्रस्तुत किया है और धार्मिक ग्रन्थोंने उनका समर्थन किया है ।

हमारा विश्वास है कि यदि इतिहासमेंसे धर्मकी उपेक्षा कर दी जाय तो इतिहास कोई वस्तु नहीं रह जायगा; हमारे राष्ट्रका इतिहास धार्मिक भावनासे ही ओतप्रोत है । धार्मिक पुरुष, साहित्य, स्थान, सामग्री ही इतिहासके आधार हैं । धर्मसे पृथक् इस देशका इतिहास नहीं-जैसा ही होगा । सम्पूर्ण साहित्य, इतिहास, कला, शिल्प-ज्ञान-विज्ञान धर्ममय हैं, चाहे वह आर्य हो, बौद्ध हो, जैन हो और उन सभीका समवेत रूप ही भारतीय इतिहास तथा संस्कृति है ।



धर्म-महिमा

(रचयिता—श्रीभवदेवजी झा, एम्० ए० (द्वय))

धर्म ही जग-जीवनका मर्म,
स्वर्ग-अपवर्ग-शर्म-सोपान ।

(१)

दिखाता सुगम मोक्षका मार्ग,
धर्म वह प्रथम साध्य पुरुषार्थ,
खोलता यही शान्तिका द्वार,
दृष्टिगत तब होता परमार्थ ।
यही वह परम तत्त्व विज्ञेय,
बिना जिसके जीवन निष्प्राण !

(२)

धर्म-धृतिके आत्मज सत्कर्म
पितृ-पालित-लालित निर्वार,
शक्ति संचयकर उपचय-शील,
पितृ-कुलका करते उद्धार !
अधिक जितने जो श्रद्धा-युक्त,
उन्हींका अधिकाधिक उत्थान !

(३)

धर्म ही सुधियोंका ध्रुव ध्येय,
जिसे धारणकर बुध अविराम
कार्य-रत रहते हैं आमरण,
अन्तमें पाते चिर विश्राम !
सतत सेवित स्वधर्म ही कभी
प्राप्त होता बनकर निर्वाण !

(४)

धर्म धरतीकी धन्या धुरी,
निखिल निर्भर जिसपर संसार !
घिसेगी यह जिस क्षण निश्शेष,
न सह पायेगी वह अघ-भार !
टूट जायेगी संस्कृति-धुरी
रुकेगा तत्क्षण जीवन-यान ।

(५)

अभ्युदय-निःश्रेयसके चक्र
बिखरकर रथसे होंगे भिन्न,
वक्र होकर सद्गुण-चक्रार,
चक्रसे होंगे तब उच्छिन्न !
हाथसे छूटेगी धृति-रश्मि,
गिरेंगे रथसे नर-गीर्वाण !

(६)

अतः हो धर्म-धुरी नित सुदृढ़,
सुरथ-सा हो जीवन गतिमान !
धर्म-साधन-साधन पा धन्य—
बने जो मनु-सुमान्य मतिमान !
चक्र घूमें, चूमें चिर लक्ष्य;
पूर्ण हो तूर्ण तरण-अभियान ।



अन्तर्मुखता ही धर्मकी कसौटी है

(लेखिका—साध्वी श्रीकनकप्रभाजी)

आज बौद्धिक-वर्ग प्रत्येक तथ्यको परखकर स्वीकार करता है। अन्यान्य चीजोंकी भाँति धर्म और अधर्म भी उसकी परखसे परे नहीं हैं। किंतु वह धर्मको परखता है औपचारिकरूपसे, जब कि उपचारके साथ उसका कोई लगाव नहीं है।

कहा जाता है कि आज युगकी हवा बदल गयी है, इसलिये मनुष्योंका नैतिक पतन हो रहा है, सच्चरित्रताके प्रति आस्था घट रही है और अप्रामाणिकताकी बाढ़ आ रही है। लेकिन युगकी हवा बदलनेवाले कौन हैं, इसपर भी क्या कभी चिन्तन किया जाता है?

प्रत्येक युगका इतिहास तत्कालीन समाज-रचनापर आधारित है और समाज-रचनाका आधार मनुष्यके विचार हैं। एक व्यक्तिके विचार दूसरे व्यक्तियोंमें संक्रान्त होते हैं और वातावरणमें एकरूपता ला देते हैं। इसे युगकी हवा कहें या मनुष्यके विचार?

आज हम जिस युगमें जी रहे हैं, वह विचार-शक्तिसे काफी सम्पन्न है; लेकिन आचार-पक्ष दरिद्र होता जा रहा है। धर्म और नैतिकताकी बातें सब करते हैं, पर उन्हें व्यवहार्य नहीं बनाया जाता। जबतक विचार और आचार-पक्ष संतुलित नहीं होंगे, जबतक धर्मके कलेवरकी पूजा होगी, तबतक कोई भी व्यक्ति सही अर्थमें धार्मिक बन ही नहीं सकता।

धर्म क्या है, यह समझना अत्यन्त आवश्यक है। ऋषि-महर्षियों और विद्वानोंने अपनी सूझ-बूझके अनुसार धर्मकी अनेक परिभाषाएँ दीं, उन सब परिभाषाओंमें सत्यांश है। हम सत्यको अखण्डरूपसे पानेके लिये असमर्थ हैं, इसलिये सत्यांशोंको आधार मानकर चलते हैं। भेद-दृष्टिसे देखें तो सब व्यक्तियोंका अपना अलग-अलग दर्शन और चिन्तन है। अभेदमें जायँ तो आगे जाकर चिन्तनकी परिणति एकरूपमें हो जाती है। अतः परिभाषा-भेदको लेकर उलझना नहीं चाहिये।

शास्त्रोंमें धर्मका स्वरूप बताते हुए कहा है—'विवेग धम्म माहिये'—विवेक ही धर्म है। विवेकका अर्थ है—पृथक्-करण। हेय और उपादेयको पृथक् करके हेयको छोड़ना और उपादेयको स्वीकार करना धर्म है। विवेकको आगे रखकर चलनेवाला किसी भी स्थितिमें स्खलित नहीं होता। किंतु विवेकको भूलकर किये गये अच्छे कामोंमें भी खतरेका भय रहता है।

धर्मके दो रूप हैं—उपासना और चरित्र। उपासना बाह्य क्रिया-काण्डोंपर निर्भर है तथा चरित्रका सम्बन्ध आन्तरिक विशुद्धिसे है। अन्तर्मुखी वृत्तियोंके बिना धर्म आत्मगत नहीं हो सकता। बाह्य तत्त्वोंमें धर्मकी कितनी ही खोज की जाय, उसका स्वरूप-ज्ञान नहीं होगा।

एक बच्चा अपनी प्रतिच्छायाके केश पकड़ने लगा। उसकी सारी चेष्टाएँ निष्फल हो गयीं तो वह रोने लगा। बच्चेकी माँ स्थितिका अध्ययन करके उसके पास आयी और लड़केको उसके अपने बाल पकड़ा दिये। स्व के बाल पकड़कर बच्चेने अपनी प्रतिच्छायाको देखा तो उसके बाल भी पकड़े हुए थे। बच्चा अपनी सफलतापर खुश हुआ।

इसी प्रकार वृत्तियोंमें जबतक धर्म नहीं उतरता, तब-तक क्रियाकाण्डोंके द्वारा धर्म करना बाहरी क्रियामात्र होती है, यद्यपि धर्मका उपासना-पक्ष भी निरर्थक नहीं है। चरित्रको बल देनेके लिये इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। फलकी सुरक्षाके लिये छिलकोंकी सुरक्षा भी करनी पड़ती है। यदि कोई छिलके उतारकर फेंक दे तो वह फल अधिक समयतक टिक नहीं सकता, वैसे ही उपासना-पक्षको सर्वथा गौण करके चरित्रका विकास भी नहीं किया जा सकता।

जिस व्यक्तिका चिन्तन आत्मपरक होता है, वह किसी भी स्थितिमें धर्मको भूल नहीं सकता। धर्मको भूलनेका अर्थ है अपने आपको भूलना। जो व्यक्ति स्वयंको भूल जाता है, उसके नीचेसे चरित्रकी आधारशिला खिसकने लगती है और एक दिन वह सर्वथा असहाय हो जाता है।

धर्मका मतलब इतना ही नहीं है कि सामयिक-पोषण करें, मन्दिरोंमें जायँ तथा पूजा करें; उस समय तो तल्लीन हो जायँ और उन सीमाओंसे मुक्त होते ही विश्वासघात, धोखेबाजी और अप्रामाणिकतामें जुट जायँ। वह धर्मका तथाकथित रूप है, जो दूसरोंके लिये घृणा और उपहासका कारण बनता है।

धर्मकी कसौटी है—अन्तर्मुखता। अन्तर्मुखी व्यक्ति उपासनाके लिये अलगसे समय न लगानेपर भी हर समय धर्मकी आराधना करता है। हर परिस्थितिमें वह विवश होकर नहीं, किंतु आत्म-धर्म मानकर सम रहता है, तितिक्षा, क्षमा और ऋजुताकी ओर अग्रसर होता है तथा घृणा, विद्वेष, ईर्ष्या और अहंसे दूर रहता है।

ये विशेषताएँ प्रत्येक व्यक्तिमें होती हैं; किंतु साधनाके अभावमें दुर्भावना, असहिष्णुता और वक्रता इनपर हावी हो जाती है। फलतः व्यक्ति बहिर्दर्शी बन जाता है। ध्यानसे सुषुप्त शक्तियाँ जाग्रत् हो जाती हैं और विश्रृङ्खल शक्तियाँ एकत्रित हो जाती हैं। फिर कोई भी बुराई उनपर छा नहीं सकती। अतएव वृत्तियोंको अन्तर्मुखी बनानेके लिये ध्यानका अभ्यास करना अपेक्षित है।

[प्रेषक—कमलेश चतुर्वेदी]

गुरु-धर्मके आदर्श

महर्षि ऋभु

महर्षि ऋभु ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं। स्वभावसे ही निवृत्तिपरायण तथा जन्मसे आत्मतत्त्वके ज्ञाता हैं। एक दिन विचरण करते हुए वे पुलस्त्य ऋषिके आश्रम पहुँच गये। वहाँ पुलस्त्यके वेदाध्ययनमें लगे पुत्र निदाघको इन्होंने उपदेश किया—'मनुष्य-जीवनका परम लाभ आत्मज्ञान प्राप्त करना है। वेदोंको कण्ठस्थ कर लेनेपर भी यदि आत्मज्ञान न हो तो वेदाध्ययन व्यर्थ है।'

निदाघ विद्वान् थे, विरक्त थे, शुद्धचित्त थे। उन्होंने महर्षि ऋभुकी शरण ग्रहण की। कुछ काल उन अवधूतके साथ उनकी सेवा करते हुए विचरण करते रहे। महर्षिने उनको कुछ काल साथ रखकर तत्त्वज्ञानका उपदेश किया, फिर उनके चित्तकी स्थिति समझकर विवाह करनेकी आज्ञा दी। निदाघ पिताके यहाँ लौट आये। उनका विवाह हुआ और वे गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए घर रहने लगे।

शिष्यको सत्पथपर बनाये रखना गुरुका कर्तव्य है। महर्षि ऋभु घूमते हुए एक दिन निदाघके घर पहुँचे। वे शिष्यकी स्थिति जानना तथा उसे ठीक पथपर लाना चाहते थे। निदाघने उन्हें पहचाना नहीं; किंतु अतिथि-सत्कार तो गृहस्थका कर्तव्य है, उसने भली प्रकार उनका सत्कार किया। भोजनके पश्चात् उसने पूछा—'भगवन्! आप कहाँसे पधारे? कहाँ रहते हैं? भोजन आपको स्वादिष्ट तो लगा?'

'मुझमें आना-जाना कहाँ है? मैं देश-कालसे अपरिच्छिन्न और उनमें व्यापक हूँ। रसना स्वादका और मन तृप्तिका अनुभव करते हैं। मैं इन्द्रिय अथवा मन नहीं हूँ।' ऋभुने शिष्यको समझाया। निदाघ गुरुका परिचय पाकर बहुत प्रसन्न हुए।

दूसरी बार महर्षि ऋभु आये तो राजाकी सवारी निकल रही थी। महर्षिने निदाघसे पूछा—'यह भीड़ कैसी है?'

निदाघ—'राजा कहीं यात्रापर जा रहे हैं।'

ऋभु—'इनमें राजा कौन है?'

निदाघ—'जो सबसे बड़े हाथीपर बैठे हैं, वे राजा हैं।'

ऋभु—'हाथी कौन और राजा कौन?'

निदाघ—'जो नीचे है, वह हाथी और जो उसपर चढ़ा है, वह राजा।'

ऋभु—'नीचे क्या और ऊपर क्या ?'

निदाघ चिढ़ गये। गुरुको वे पहचान सके नहीं थे। पागल-जैसे दीखते उस व्यक्तिके ऊपर वे चढ़ बैठे और बोले—'अब तुम नीचे और मैं तुम्हारे ऊपर।'

ऋभु—'यह तुम कौन और मैं कौन ?'

इस प्रश्नने निदाघको चौंका दिया। वे कूदकर चरणोंपर गिर पड़े। ऋभुने उन्हें उपदेश किया—'भोगकी अवस्था तुम पार कर चुके। तत्त्वज्ञानको जीवनमें व्यक्त होने दो। मायाके इस व्यवहार-क्षेत्रसे उपरति ही ब्राह्मणका धर्म है।'

निदाघने गृह त्यागकर संन्यास ग्रहण कर लिया। —सु०



हमारे पूर्वज और उनके धर्म

(रचयिता—श्रीगार्ग्यमुनि 'द्विजेन्द्र')

(१)

यह पुण्यभूमि प्रसिद्ध आर्यावर्त भारतवर्ष था।
उन पूर्वजोंके सद्‌गुणोंसे हो रहा उत्कर्ष था॥
जाना प्रथम मम पूर्वजोंने गूढ़ सृष्टि-महत्त्वको।
या ब्रह्म-विष्णु-महेशके अवतार-धारण-तत्त्वको॥

(२)

जो धर्म अपनाये हुए, संसारके आचार्य थे।
शुचि-कर्म-धर्म-धुरीण थे, आदर्श जिनके कार्य थे॥
उन पूर्वजोंकी कीर्तिका वर्णन अतीव अपार है।
सारे जगत्‌में है भरा, गुण गा रहा संसार है॥

(३)

आकाश, पृथ्वी-तल, सुतल-वितलादि या पातालके।
कोई रहस्य छिपे न थे पानी-पवन, पुनि कालके॥
बीते हुए, या वर्तमान, भविष्यके मर्मज्ञ थे।
सर्वज्ञ थे, धर्मज्ञ थे, करते सदा वे यज्ञ थे॥

(४)

सर्वस्व अपना दान दे, निज पीठतक अर्पण करें।
जो धर्म-रक्षा-हेतु सुर-मुनि-पितरका तर्पण करें॥
कैसे करें गुणगान हम, जो अद्वितीय, अपार हैं।
उन पूर्वजोंके सुयशका गौरव सदा सुखसार है॥

(५)

जो धर्म-हठ रखता सदा, उसकी न जगमें हार है।
क्या हरिश्चन्द्र-कथा 'द्विजेन्द्र' न जानता संसार है?
संसार सारा कार्य अपना त्याग दे तो त्याग दे।
रत्नेश मर्यादा, धरा निज धूलको परित्याग दे॥

(६)

शशि तप्त हों, रवि शीत हों, यदि त्यागकर निज धर्मको।
आकाश, अग्नि, पवन, सलिल भी छोड़ दें निज कर्मको॥
सूर्यादि मण्डल ध्वंस हों, प्रलयान्त हो जाये कहीं।
पर पूर्वजोंका कथन था—'हम धर्म छोड़ेंगे नहीं'॥

(७)

ग्रह-तिथि तथा तारे, सभी मिट जायँ अपने मानसे।
दिग्गज धरासे पृथक् हो हट जायँ अपने स्थानसे॥
अचलादि चल, चल हों अचल, ध्रुवता तजें ध्रुव भी अभी।
पर सत्य कहते हैं 'द्विजेन्द्र' न सत्य छोड़ेंगे कभी॥

(८)

जगमें जिन्होंने सत्य-हित अन्याय सारा सह लिया।
लक्ष्मी नहीं, सर्वस्व तज, निज धर्मका पालन किया॥
परमार्थ-हित जिनने कभी निज प्राण तक हैं दे दिये।
नृप बिक गये चण्डालके घर, सत्य-रक्षाके लिये॥

(९)

उन पूर्वजोंको देखिये, कैसे निभाते धर्म थे।
निज वर्ण-आश्रम-धर्म-हित करते सदा सत्कर्म थे॥
सुख-दुःख वे गिनते न थे, अति शोच करते थे नहीं।
'सद्धर्मकी होती विजय'—यह वचन कहते थे सही॥

(१०)

आश्रम प्रथम था 'ब्रह्मचर्य', द्वितीय था गार्हस्थ्य ज्यों।
था वानप्रस्थ तृतीय औ संन्यास-धर्म चतुर्थ त्यों॥
क्रमशः निभाते धर्म जो, करते सदा सत्कार्य थे।
निज देश, जाति, समाजके कल्याणकारी आर्य थे॥

शिष्यधर्मका आदर्श

(१)

कौत्स और आदर्श दाता रघु

'गुरुदक्षिणा देकर मुझे कृतार्थ होनेका अवसर दें आप !' आज ब्राह्मणकुमार कौत्सका समावर्तन-संस्कार सम्पन्न हुआ । विद्याध्ययन समाप्त हो गया । उसने गुरुदेवसे प्रार्थना की ।

'वत्स ! इतने समय तक आश्रममें रहकर तुमने जिस श्रद्धा, संयम एवं तत्परतासे मेरी सेवा की, मैं उससे संतुष्ट हूँ ।' गुरुदेवने वात्सल्य-स्निग्ध स्वरमें कहा । 'तुम्हारी सेवा ही मेरी दक्षिणा हो गयी ।'

'किंतु मेरा संतोष तो इससे नहीं होता । आप मुझसे कुछ गुरु-दक्षिणा माँग लें !' कौत्सने आग्रह किया । यह भारत ही था, जहाँका ऋषि वर्षोंतक शिष्यका पुत्रकी भाँति भरण-पोषण तथा शिक्षण करता रहा और उसकी सेवासे ही संतुष्ट था और यह भी भारत ही था जहाँ कंगाल, अकिंचन ब्राह्मणकुमार, जिसके समीप केवल कौपीनके वस्त्र थे और वह भी वल्कलके, गुरुसे मनमानी दक्षिणा माँगनेका आग्रह कर रहा था ।

'तुमने मुझसे चौदह विद्याएँ पढ़ी हैं । अतः चौदह कोटि स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणामें दो ।' कौत्सके बार-बार आग्रह करनेपर गुरुने झुँझलाकर कह दिया ।

'जो आज्ञा, भगवन् !' कौत्स प्रसन्न हो गया । धर्म-प्राण भारतमें ब्रह्मचारी ब्राह्मणकुमारके लिये कहाँ कुछ अप्राप्य था कि कौत्स चिन्ता करता । वह अयोध्याकी ओर चल पड़ा ।

अयोध्याकी राजसभामें पहुँचते ही महाराज रघुने कौत्सका सत्कार किया । उसके चरण धोये, उसकी पूजा की और हाथ जोड़कर सम्मुख खड़े हो गये—'आपके चरण-दर्शन करके आज रघु परिपूत हुआ । आपके पादोदक-प्रोक्षणसे यह राजसदन पवित्र हुआ । आश्रम निरुपद्रव तो है ? मेघ समयपर वर्षा करते हैं ? नीवार ठीक पकते हैं ? हिंस्र पशु आश्रमसीमाका अतिक्रम तो नहीं करते ? आप सबका तप अभिवर्धित हो रहा है ? आप कैसे पधारे ? आज्ञा करें, यह सेवक उसका पालन करके अपनेको धन्य मानेगा ।'

सम्राट् रघुका कुशल-प्रश्न केवल प्रश्न नहीं है, यह कौत्स जानता था । उसे पता था कि ऋषि-आश्रममें असुविधा उत्पन्न करके मेघाधीश, जलाधीश, धान्याधीश आदि कोई लोकपाल निश्शङ्क नहीं रह सकते । रघुके दिव्यास्त्र—लेकिन देवता स्वयं रघुकी कृपा एवं मैत्रीके आकाङ्क्षी रहते हैं । परंतु साथ ही कौत्स देख रहे थे कि सम्राट् सर्वथा निराभरण हैं । उनके शरीरपर साधारण वस्त्रमात्र है । साम्राज्ञीके शरीरपर केवल सौभाग्य-चिह्न हैं और अयोध्याके चक्रवर्तीने अतिथिके चरण मिट्टीके पात्रमें धोये हैं । स्पष्ट था कि सम्राट्ने यज्ञ करके सर्वस्वदान कर दिया है, इस समय उनके पास कुछ भी नहीं है ।

'राजन् ! आप-जैसे प्रतापी, प्रजावत्सल, धर्मात्मा, प्रजापालक जब जागरूक हैं, तब हम वनवासियोंके आश्रमोंकी ओर देखनेका भी साहस कोई विघ्न कैसे कर सकता है ।' कौत्सने कहा । 'आपका मङ्गल हो ! ऋषि-आश्रम सर्वथा निरुपद्रव है । मैं आया तो प्रयोजनसे ही था; किंतु सर्वस्वदान करके शुभ्र हुए शारदीय मेघसे तो चातक-जैसा कीट भी याचना नहीं करता ।'

'रघु आपके प्रयोजनको सुननेका भी अधिकारी नहीं रह गया !' सम्राट्के स्वरमें व्यथा एवं अनुरोध जैसे मूर्तिमान् हो गये ।

'गुरुदेवने मुझसे अध्ययन-समाप्तिपर चौदह कोटि स्वर्णमुद्राएँ गुरु-दक्षिणामें चाही हैं !' कौत्स-के स्वरमें न व्यथा थी न शैथिल्य । 'आर्यावर्तमें ब्राह्मणके लिये वे अलभ्य नहीं हैं ।'

'आपने मुझे गौरवान्वित किया यहाँ पधारकर !

अग्निदेवके समान सुपूजित होकर आप तीन दिन अग्निशालामें निवास करनेकी कृपा करें !' महाराजने अनुरोध किया। 'अयोध्यासे अतिथि निराश लौट गया, यह अपवाद रघुको नहीं लगना चाहिये।'

कौत्सने सम्राट्का अनुरोध स्वीकार कर लिया। उसी संध्याको महाराजने अपने मन्त्रीको आदेश दिया—'मेरा रथ शस्त्र-सज्ज कर दिया जाय। आज अतिथि अपूर्णकाम अयोध्यामें हैं। अतः रघु राजसदन नहीं जा सकेगा। मैं रथमें शयन करूँगा।'

'यज्ञमें पृथ्वीके समस्त नरेशोंने कर-दान किया है!' मन्त्रीने केवल सूचना दी। किसीसे दुबारा अनवसर कर लेनेका अन्याय सम्राट् नहीं करेंगे, इतना विश्वास मन्त्रीको था।

'लोकपाल कुबेर भले देवता हैं, किंतु उनकी पुरी अलका पृथ्वीपर है।' सम्राट्ने मन्त्रीका समाधान किया। 'जो पृथ्वीपर रहता है, उसे पृथ्वीके पालकको कर देना ही चाहिये। अलकाने आजतक अयोध्याको कर नहीं दिया है। आवश्यकता नहीं होती तो धनाधीशपर आक्रमणका संकल्प अयोध्याके रक्षकको नहीं करना था।'

'देव ! कोषागार स्वर्णमुद्राओंसे भरा हुआ है।' धनाधीश कुबेरपर सम्राट्को आक्रमण नहीं करना पड़ा। उन अलकाके अधीश्वरने अयोध्याके कोषागारमें रात्रिमें ही स्वर्ण-वर्षा की, यह सूचना महाराज रघुको प्रातः सूर्योदयसे पूर्व उनके कोषाध्यक्षने दे दी।

'भगवन् ! यह सम्पूर्ण स्वर्ण-राशि आपके निमित्त आयी है!' महाराज रघुने कौत्ससे प्रार्थना की। 'यह आपकी है। आप इसे स्वीकार करें। आपके निमित्त आया धन हमारे किसी प्रयोजनका नहीं है।'

'राजन् ! आप धर्मपालक हैं। ब्राह्मणपुत्र स्वर्णके लोभमें न पड़े, यही आपको अभीष्ट होना चाहिये ! ब्राह्मणका धन तो तप है।' कौत्सने कहा। 'गुरुदक्षिणाके लिये केवल चौदह कोटि स्वर्णमुद्रा—उससे एक भी अधिक मैं नहीं ले सकता।'

स्वर्णकी राशि सम्मुख और उसे स्वीकार करनेवाला कोई नहीं ! उसे ब्राह्मणकुमारने ठुकरा दिया और राजाने पहले ही ठोकर मार रक्खी थी। धन्य वह भूमि, धन्य वह काल, जहाँ जब अर्थ इस प्रकार ठुकराया जाता था।

कौत्सने गुरु-दक्षिणा देनेके लिये मुद्राएँ ले लीं। शेष ब्राह्मणोंमें वितरित कर दी गयीं।

—सु०

(२)

आरुणि

विद्या ग्रन्थोंके अध्ययनसे तो आती ही है; किंतु सच पूछिये तो उसका वास्तविक प्रकाश होता है गुरु-सेवा, तितिक्षा एवं संयमके पालन करनेसे। महर्षि आयोदधौम्य इस तथ्यसे अच्छी प्रकार अवगत थे। अतः वे अपने शिष्योंको सेवा, संयम तथा तितिक्षामें दक्ष बनानेपर विशेष ध्यान रखते थे।

वर्षा ऋतु थी और दिन लगभग समाप्त होनेवाला था। अचानक वेगसे वृष्टि प्रारम्भ हुई। महर्षिने अपने शिष्योंमेंसे आरुणिको कहा—'वत्स ! तुम जाकर खेतको देखो ! जल खेतकी मेड़ तोड़कर निकल न जाय !'

आरुणि खेतपर पहुँचा और घूमते हुए उसने पाया कि एक स्थानपर खेतकी मेड़ टूट गयी है और जल बहता जा रहा है। आसपासकी मिट्टी गीली थी। टूटी मेड़के स्थानपर आरुणि मिट्टी रखकर जबतक और मिट्टी उठाता, जलका वेग पहिली मिट्टीको बहा ले जाता था। जब बहुत श्रम करनेपर भी मेड़ बँध नहीं सकी, तब आरुणि स्वयं वहाँ लेट गया। उसके शरीरसे रुककर जलका प्रवाह बंद हो गया।

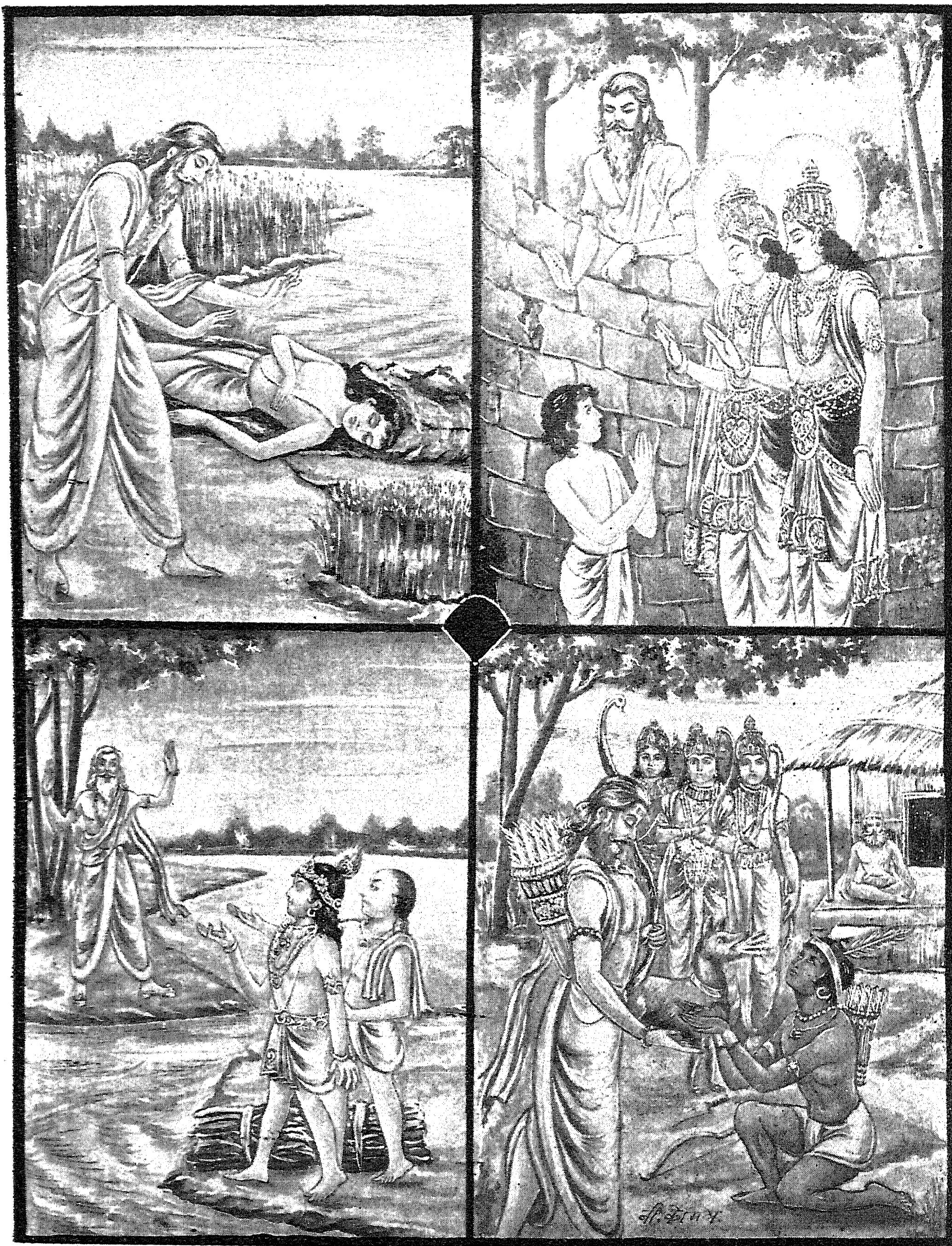
वर्षाकी ऋतु, पूरा शरीर पानीके भीतर। देह अकड़ गया। मस्तिष्क सूना हो गया। ऊपरसे जलके छोटे जीव देहको काटते थे। लेकिन आरुणि स्थिर पड़ा रहा। जैसे उसका देह उस मेड़का ही एक भाग हो।

'आरुणि कहाँ है ?' उधर आश्रममें संध्याकालीन

आदर्श शिष्य

आरुणि

उपमन्यु



श्रीकृष्ण-सुदामा

एकलव्य

हवनादिके पश्चात् जब शिष्योंने गुरुदेवके चरणोंमें प्रणाम किया, तब महर्षि आयोदधौम्यने आरुणिको उनमें न देखकर पूछा।

'भगवन्! आपने उसको खेतपर भेजा था। वह लौटा नहीं।' शिष्योंने बतलाया।

महर्षिके मुखपर चिन्ताकी रेखाएँ झलक उठीं। वर्षा हो रही थी। रात्रिका घोर अन्धकार फैल चुका था। अतः उस समय तो कुछ किया नहीं जा सकता था। किसी प्रकार रात्रि व्यतीत हुई। प्रातःकालीन प्रकाश होते ही शिष्योंके साथ महर्षि खेतपर पहुँचे और उन्होंने पुकारा—'आरुणि! तुम कहाँ हो?'

महर्षिका वह पञ्चालदेशीय शिष्य जलमें लेटे-लेटे ही बोला—'भगवन्! मैं यहाँ हूँ!' उसकी वाणीमें कम्प तथा शिथिलता थी।

'उठो, यहाँ आओ, वत्स!' महर्षिने पुकारा और पैरोंपर गिरते शिष्यको उठाकर हृदयसे लगा लिया। 'मेड़को भङ्ग करके उठनेसे तुम उद्दालक हुए। सम्पूर्ण श्रुतियाँ तुमपर स्वतः प्रकाशित हो जायँ!'

गुरु-सेवा एवं दृढ़ तितिक्षाने आरुणिको उसी दिन ऋषि उद्दालक बना दिया। —सु०

(३)

उपमन्यु

ब्रह्मचारी बालकोंके भोजनपर प्रतिबन्ध नहीं है। किसको कितनी बार आहार ग्रहण करना चाहिये, यह नियम बनाते समय शास्त्रकारने कहा—'यथेच्छं ब्रह्मचारिणाम्।' किंतु एक मर्यादा है—गुरुके आदेशसे और जो पदार्थ जितना वे दें, उतना ही वह भोजन करे।

प्राचीन कालमें राजा-रंक—सबके द्विजाति बालक ऋषिकुलमें जाकर रहते थे। घरसे उनका कोई सम्पर्क अध्ययनकालमें नहीं रहता था। सब समान ढंगसे रहते और समान आहारादि पाते थे। सबको भिक्षा लेने जाना पड़ता था। भिक्षान्न लाकर सब गुरुदेवके सम्मुख रख देते थे। गुरुदेव किसीकी भिक्षा-झोलीमेंसे कुछ निकाल लेते या कुछ अधिक उसमें रख देते। गुरुदेवके आदेशके पश्चात् ही छात्र भोजन करते थे!

महर्षि आयोदधौम्यने अपने उपमन्यु नामक शिष्यको गायें चरानेकी सेवा दे रक्खी थी। वह दूध दुह लिये जानेके पश्चात् प्रातःकाल ही गायोंको लेकर वनमें चल जाता था और सायंकाल लौटता था। भिक्षा माँगनेके लिये उसे सबके साथ जानेका अवसर नहीं था। गुरुदेवने उसे गो-चारणके लिये भेजते समय कुछ दिया नहीं।

'वत्स! तुम भोजन क्या करते हो?' कई दिन बीत गये, तब महर्षिने सायंकाल वनसे लौटकर प्रणाम करते उपमन्युसे पूछ लिया।

'भगवन्! भिक्षा करके लाता हूँ। उससे मेरा काम ठीक चल जाता है।' उपमन्युने सरलतासे कह दिया।

'भिक्षान्न मुझे निवेदित किये विना नहीं खाना चाहिये!' गुरुदेवने भोले शिष्यको समझाया।

'वत्स! तुम्हारा शरीर तो स्वस्थ है। बिना भोजनके ऐसा पुष्ट देह नहीं रह सकता और तुम जो भिक्षा लाते हो, वह मैं सब-की-सब रख लेता हूँ। तुम आजकल कैसे आहार पाते हो?' कई दिन बीतनेपर फिर महर्षि धौम्यने उपमन्युसे सायंकाल जब वह प्रणाम करने पहुँचा तब पूछा।

'देव! मैं दूसरी बार भिक्षा ले आता हूँ।' उपमन्युने बता दिया।

'यह तो बड़ा अन्याय है। इससे दूसरे भिक्षुकोंका स्वत्व मारा जाता है और गृहस्थोंपर अधिक भार पड़ता है। ऐसा मत किया करो!' उपमन्युने यह आज्ञा भी स्वीकार कर ली।

'तुम अब क्या भोजन करते हो?' कई दिनपर फिर गुरुदेवने पूछा।

'बछड़ोंके मुखसे जो झाग गिरता है, वह।' उपमन्युने बतलाया।

'बछड़े बहुत दयालु होते हैं। वे अधिक दूध

ग्रास बनाकर गिरा देते होंगे और स्वयं भूखे रह जाते होंगे।' यह मार्ग भी महर्षिने बंद कर दिया।

'उपमन्यु कहाँ गया? हमने उसका भोजन बंद कर दिया। वह रुष्ट होकर भाग तो नहीं गया?' सायंकाल शिष्यके न लौटनेपर गुरुको चिन्ता हुई। वे ढूँढ़ने निकले। पुकारनेपर पता लगा कि एक जलहीन कुएँमें उपमन्यु गिर गया है। क्षुधातुर होकर उसने आकके पत्ते खा लिये, इससे अंधा हो गया था।

'वत्स! अश्विनीकुमारोंकी स्तुति करो।' महर्षिने शिष्यको समझाया।

'तुम्हारे सब दाँत स्वर्णके हो जायँ! तुम्हारी नेत्रज्योति प्रकाशित हो!' स्तुतिसे प्रसन्न अश्विनीकुमार कूपमें प्रकट हुए और उन्होंने आशीर्वाद दिया।

'तुम्हें श्रुतिका साक्षात्कार हो! तुम्हारे ज्ञान-नेत्र प्रकाशित हों!' कूपसे निकलनेपर गुरुका आशीर्वाद उपमन्युको मिला। —सु०

(४)

एकलव्य

धर्म किसीकी सम्पत्ति नहीं। जो धारण करे, उसीका धर्म। उसीका कल्याण करेगा धर्म। महाभाग एकलव्य भीलकुमार थे। स्वभाव-शूर जाति है भील। वनका निरन्तर संघर्षशील जीवन तथा सहज तितिक्षा भीलका स्वरूप है। नगरसे दूर एकान्त काननमें रहनेके कारण वे जितने कठोर होते हैं, उतने ही श्रद्धालु भी।

उस समय द्रोणाचार्य अस्त्र-विद्याके आचार्यके रूपमें देशभरमें विख्यात थे। भीलकुमार एकलव्यने भी उनकी कीर्ति सुनी थी और सुप्रसिद्ध धनुर्धर बननेकी महत्त्वाकाङ्क्षा उसके मनमें थी। उसने सुना कि आचार्य द्रोण हस्तिनापुर रहने लगे हैं और वहाँ राजकुमारोंको अस्त्र-चालन सिखलाते हैं तो वह भी वनसे चल पड़ा।

'मुझे बहुत खेद है, बालक!' जब एकलव्यने भूमिमें पड़कर द्रोणाचार्यको प्रणाम करनेके पश्चात् अपने आनेका उद्देश्य बतलाया, तब आचार्य बोले। 'मैं राजकुमारोंका शिक्षक हूँ। राजकुमार अपने साथ तुम्हें बैठने नहीं दे सकते और न मैं इसे उचित मानता। मैं तुम्हें शिक्षा नहीं दे सकता।'

एकलव्य लौट गया। आचार्य द्रोण इस घटनाको भूल गये। समय बीतता गया। एक दिन कौरव-पाण्डव राजकुमार वनमें आखेटके लिये निकले। आचार्य द्रोण ले गये थे राजकुमारोंको, जिससे वास्तविक चल लक्ष्यपर आघात करनेका उन्हें अभ्यास हो। पाण्डवोंके साथका एक कुत्ता कुछ आगे वनमें चला गया और लौटा भागता-घबराया तो उसकी दशा देखकर सब राजकुमार चकित रह गये। उसका खुला मुख बाणोंसे भरा था, जैसे त्रोण भरा हो; किंतु कहीं एक बिन्दु रक्त नहीं। कुत्तेको कहीं खरोंचतक नहीं आयी थी।

'इतना कुशल धनुर्धर कौन है?' आचार्य द्रोणको भी आश्चर्य हुआ। कुत्तेके मुखमें लगातार बाण मारे गये होंगे, किंतु इस प्रकार कि वे मुखमें या जीभमें लगे नहीं। एक बाण मुखमें प्रवेश करके चर्मतक पहुँचे, इतने अल्पक्षणमें पूरे मुख भरने-जितने बाण मार दिये गये, जिससे बाणोंमें चर्म-विद्ध करनेकी गति नहीं रही। स्वभावतः उस अस्त्रज्ञको देखनेकी उत्सुकता सबको हुई!

'भद्र! तुमने किससे अस्त्रशिक्षा ली? तुम्हारा गुरु कौन है?' वनमें जानेपर एक सबल, स्वस्थ, पुष्टकाय कृष्णवर्ण भीलयुवक दीखा। उसने धनुष दूर डालकर द्रोणाचार्यके सम्मुख साष्टाङ्ग प्रणाम किया। आचार्यने उससे पूछा।

'यह जन श्रीचरणोंका ही शिष्य है!' वह भील-युवक एकलव्य था। उसने संकेत किया। सबने देखा कि मिट्टीकी बनी द्रोणाचार्यकी मूर्ति सिंहासन-पर विराजमान है। उस मूर्तिको गुरु मानकर एकलव्यने यह अभ्यास किया था।

'आचार्य! आपने तो मुझे पृथ्वीका श्रेष्ठतम धनुर्धर बनानेका वचन दिया है!' अर्जुनने धीरेसे खिन्न स्वरमें आचार्यसे कहा। 'इस हस्तलाघवको प्राप्त करनेकी आशा मुझे नहीं है।'

'भद्र ! तुम मेरे शिष्य हो तो घर आये गुरुको गुरुदक्षिणा नहीं दोगे ?' आचार्यने गम्भीर होकर एकलव्यसे कहा।

'आज्ञा करें, भगवन् !' एकलव्य सोत्साह बोला।

'मुझे तुम्हारे दाहिने हाथका अँगूठा चाहिये।' द्रोणाचार्यने कहकर मुख झुका लिया।

'जो आज्ञा'—जैसे कुछ हुआ ही नहीं। कितनी प्रबल इच्छा, कितना श्रम था अभ्यासका ! उत्कृष्ट धनुर्धर बननेकी कितनी लगन थी; किंतु तलवारसे अँगूठा काटकर अञ्जलिमें लेकर आचार्यके चरणोंपर चढ़ानेमें एक रेखा तो एकलव्यके भालपर आयी होती। एकलव्य भले धनुर्धर नहीं बना, अमर हो गया वह अपनी गुरुभक्तिसे उसी दिन। —सु०

(५)

श्रीकृष्ण-सुदामा

भगवान् श्रीकृष्णने दुराचारी कंसका वध करके माता-पिता श्रीदेवकी-वसुदेवको सान्त्वना दी। फिर अपने नाना उग्रसेनको यदुवंशियोंका राजा बनाया। तदनन्तर नन्दबाबा आदिको समझा-बुझाकर बड़े आदरके साथ नाना प्रकारकी भेंट देकर व्रजको लौटाया। इसके बाद वसुदेवजीने अपने पुरोहित गर्गाचार्यको बुलाकर श्रीकृष्ण-बलराम दोनों पुत्रोंका द्विजाति-समुचित यज्ञोपवीत-संस्कार कराया। फिर मनुष्यकी-सी लीला करनेवाले, जिनसे समस्त विद्याएँ निकली हैं और जो सर्वज्ञानस्वरूप जगदीश्वर हैं, वे श्रीकृष्ण गुरुकुलमें निवासपूर्वक विद्याध्ययनके लिये काश्यगोत्री सांदीपनि मुनिके पास उज्जैन गये और वहाँ उन्होंने चौसठ दिनोंमें ही चौसठ कलापूर्ण समस्त विद्याएँ सीख लीं।

गुरु तीन होते हैं— प्रथम गुरु जन्मदाता पिता, दूसरे उपनयन-संस्कार करके सत्कर्मोंकी शिक्षा देनेवाले विद्यागुरु और तीसरे ज्ञानोपदेशके द्वारा परमात्माको प्राप्त करानेवाले परम सद्गुरु। ये सद्गुरु वास्तवमें भगवत्स्वरूप ही हैं। सांदीपनिजी विद्यागुरु थे। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं; पर गुरुकी उत्तम सेवा कैसे करनी चाहिये, इसका आदर्श सबके सामने रखनेके लिये वे बड़ी भक्तिके साथ इष्टदेवके समान उनकी सेवा करने लगे। गुरु सांदीपनिजी उनकी शुद्धभावयुक्त सेवासे बहुत प्रसन्न रहते थे। ब्राह्मणकुमार सुदामाजी भी वहीं विद्याध्ययन करते थे। श्रीकृष्णके साथ उनकी मैत्री हो गयी थी।

एक दिनकी बात है—सांदीपनिजीकी पत्नीने श्रीकृष्ण और सुदामाको ईंधन लानेके लिये जंगलमें भेज दिया। वे घोर जंगलमें गये हुए थे और बिना ही ऋतुके भयङ्कर आँधी-बिजलीके साथ प्रलयके समान भयानक वर्षा होने लगी। रात हो गयी थी—चारों ओर अँधेरा छाया था। सर्वत्र पानी भरा था। कहाँ गड्ढा है, कहाँ किनारा—कुछ पता न चलता था। आँधीके झटकों और वर्षाकी घोर बौछारोंसे उनको बड़ा कष्ट हुआ। दिशाका ज्ञान न रहा। किसी तरह एक-दूसरेका हाथ पकड़े रात बितायी। इधर शिष्य-वत्सल गुरु सांदीपनि अत्यन्त चिन्तित होकर दोनोंको ढूँढ़ते हुए जंगलमें पहुँचे और उन्होंने आकर देखा कि दोनों शिष्य अत्यन्त आतुर हो रहे हैं। वे आकर कहने लगे—'पुत्रो ! तुम दोनोंने बड़ा ही कष्ट उठाया। सभी प्राणियोंको अपना शरीर सबसे अधिक प्रिय होता है; किंतु तुम दोनोंने अपने शरीरकी तनिक भी परवा नहीं की और हमारी सेवामें लगे रहे !' तदनन्तर गुरुजीने प्रसन्न होकर बड़े-बड़े आशीर्वाद और वरदान दिये।

अन्तमें गुरुदक्षिणाके रूपमें श्रीकृष्णने मरे हुए गुरुपुत्रको यमलोकसे लाकर गुरुको दिया। श्रीकृष्णलीलामें शिष्यका अनुपम आदर्श है।

(६)

छत्रपति शिवाजी

समर्थ स्वामी रामदास छत्रपति शिवाजीका बहुत ध्यान रखते थे। अतः उनके शिष्योंके मनमें संदेह हुआ कि श्रीसमर्थ शिवाजीको राजा होनेके कारण इतना महत्त्व देते हैं। शिष्योंका संदेह दूर करना श्रीसमर्थको आवश्यक लगा। वे उन सबके साथ यात्रापर निकले तो वनके मार्गमें एक

गुफामें लेटकर कहने लगे—'मुझे बहुत तीव्र उदरशूल है।'

छत्रपति शिवाजी भी उसी समय गुरुदेवके दर्शन करने निकले थे। आश्रमपर श्रीरामदास स्वामी नहीं मिले तो उनका पता लगाते वनकी ओर चले। वहाँ गुफामें पहुँचनेपर गुरुदेवको वेदनासे व्याकुल देखकर उन्होंने तत्काल चिकित्सक बुलानेकी व्यवस्था करनी चाही। श्रीसमर्थ बोले—'व्यर्थ उद्योग मत करो। यह रोग चिकित्सककी चिकित्सासे अच्छा होनेवाला नहीं है। इसकी एक ही औषध है; किंतु……।'

शिवाजी हाथ जोड़कर बोले—'आप औषध बतलाते-बतलाते रुक क्यों गये? बिना संकोचके बतायें। वह कितनी भी दुष्प्राप्य हो, उसे लाना तो है ही। आप पीड़ामें हों तो उसका उपचार किये बिना मुझे दूसरी कोई बात सूझेगी नहीं।'

श्रीरामदास स्वामीने शिथिल स्वरमें कहा—'इस शूलको सिंहनीका ताजा दूध दूर कर सकता है; किंतु वह तो दुष्प्राप्य ही नहीं, अप्राप्य है।'

'मैं प्रयत्न करता हूँ!' शिवाजी तत्काल प्रणाम करके गुफासे निकल गये। सुन रक्खा था कि सिंहनीका दूध स्वर्णपात्रमें ही ठहरता है; अतः पहले पात्र लिया लौटकर और तब वनमें सिंहकी गुफा ढूँढ़नेमें लग गये। इतना सब करनेमें संध्या हो गयी। अन्ततः गुफा मिली और उसमें दो सिंह-शावक परस्पर क्रीड़ा करते दीख गये। शावक हैं तो उनकी माता भी यहाँ आयेगी ही, यह सोचकर शिवाजी गुफामें उतर गये और चुपचाप एक ओर खड़े होकर प्रतीक्षा करने लगे।

सिंह, व्याघ्र आदि पशु सीधी और नीचे जाकर फिर पर्वतमें दूरतक जानेवाली गुफा पसंद करते हैं, जिससे कोई दूसरे हिंसक पशु उनकी अनुपस्थितिमें उनके बच्चोंपर चोट न कर सकें। सिंहनी आयी और गुफामें नीचे कूदकर घुसी तो उसके शावक उसके समीप दौड़ आये; किंतु मनुष्य-की गंध पाकर वह गुर्राने लगी। शिवाजी सामने आ गये और हाथ जोड़कर बोले—'माता! मुझे गुरुदेवके लिये तुम्हारा थोड़ा दूध चाहिये!'



यद्यपि जो सिंह या बाघ नरभक्षी नहीं है, वह मनुष्यपर चोट नहीं करता; तथापि बच्चोंके समीप होनेपर उनकी मादा बहुत भयंकर होती है। वह तुरंत चोट करती है। लेकिन मनुष्यके भाव सच्चे हों, सहानुभूतिपूर्ण हों तो उसका प्रभाव पशुओंपर भी पड़ता ही है। सिंहनीने गुर्राना बंद कर दिया। शिवाजी उसके समीप बैठकर उसे सहलाने लगे। उसने भी इन्हें सूँघा और चाटने लगी। अवसर देखकर उसका दूध दुहकर इन्होंने पात्र भर लिया। उस गुफामें ऊपर चढ़कर निकलनेमें श्रम बहुत हुआ, किंतु किसी प्रकार ऊपर आ ही गये।

'शिवबा! तुम सिंहनीका दूध भी ले ही आये।' श्रीसमर्थ शिष्योंके साथ उस गुफाके लगभग समीप पहुँच गये थे। चरणोंमें प्रणत छत्रपतिको उन्होंने दोनों हाथोंसे उठा लिया। —सु०

(७)

अम्बादास कल्याण

समर्थ स्वामी रामदास एक दिन यात्रामें निकले थे। साथमें कई शिष्य थे। मध्याह्नके समय एक

बड़े कूपके समीप एक सघन वृक्षकी छायामें आसन बिछाकर श्रीसमर्थ विश्राम करने लगे। अचानक उनके मनमें कुछ विचार आया। उन्होंने अपने शिष्योंमेंसे अम्बादासको समीप बुलाया। वृक्षकी एक शाखा कूपके ऊपर थी। उसकी ओर संकेत करके पूछा—'तुम उस शाखाको काट सकते हो ?'

'आपकी आज्ञा होनेपर अवश्य काट सकूँगा।' अम्बादासने हाथ जोड़कर कहा।

श्रीसमर्थ बोले—'तब करौत लेकर वृक्षपर चढ़ जाओ और उस शाखाको काट दो। उसके पत्ते पतझड़में गिरकर कूपका जल दूषित करते होंगे। शाखाको उसके मूलसे ही काटना है।'

सब शिष्य यह आज्ञा सुनकर कभी श्रीसमर्थका मुख देखते थे, कभी अम्बादासका और कभी उस शाखाकी ओर देखते थे। वह शाखा जिस मोटी शाखासे निकली थी, वह तो सीधी ऊपर गयी थी। वहाँ दूसरी कोई शाखा नहीं थी, जिसपर खड़े होकर कोई उस शाखाको काट सके। शाखाको मूलसे—फूटनेके स्थानसे काटनेका अर्थ था कि उसी शाखापर खड़े होकर उसे काटा जाय। पैर टिकानेको और कोई स्थान था ही नहीं। उसी शाखापर खड़े होकर उसे काटनेपर तो काटनेवाला शाखाके साथ कूपमें गिरेगा। उसके प्राण बचनेकी सम्भावना ही न थी।



अम्बादासने यह सब न देखा हो, ऐसी बात नहीं थी। लेकिन आज्ञा मिलते ही उन्होंने धोती कसकर बाँध ली और करौत लेकर वृक्षपर चढ़ गये। उस शाखापर ही खड़े होकर उन्होंने उसके फूटनेके स्थानपर करौत चलाना प्रारम्भ कर दिया।

'मूर्ख! इस प्रकार तो तू कूपमें गिरेगा।' समर्थने ऊपर देखकर अम्बादासको भयभीत करने—उनकी परीक्षा लेनेको कहा।

'आपकी कृपा मुझे संसार-सागरसे पार करनेमें समर्थ है।' अम्बादास बोले। 'यह कूप किस गणनामें है। मैं तो आपकी कृपाके आश्रयमें सदा सुरक्षित हूँ।'

'इतनी श्रद्धा है तो अपना कार्य करो!' श्रीसमर्थने आज्ञा दे दी।

शाखा आधीसे कुछ ही अधिक कट पायी थी कि टूटकर अम्बादासके साथ कुएँमें गिर गयी। शिष्य व्याकुल हो गये; किंतु श्रीसमर्थ शान्त बैठे रहे। उनमें जिसकी इतनी श्रद्धा है, उसका अमङ्गल सम्भव ही न था। अम्बादासको कूपमें अपने आराध्य श्रीरामचन्द्रजीका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ।

शिष्योंने प्रयत्न करके अम्बादासको कूपसे निकाला तो वे गुरुके चरणोंमें गिर पड़े—'आपने मेरा कल्याण कर दिया।'

'कल्याण तो तेरा तेरी श्रद्धाने किया। तू कल्याणरूप हो गया।' श्रीसमर्थने कहा। तबसे अम्बादासका नाम 'कल्याण' हो गया। —सु०

'धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्'

(लेखक—डा० जे० नरसिंह शास्त्री, विद्यालंकार, साहित्यरत्न, वेदान्तभूषण, आयुर्वेदशिरोमणि, रिसर्च स्कालर)

इस समय सभी भारतीयोंकी यह मान्यता है कि हम लोग सर्वथा नीचे गिर गये हैं। वे इसके भिन्न-भिन्न कारण बतलाते हैं। कुछका कथन है कि धर्मविहीन शासन ही भारतके पतनका वास्तविक हेतु है, दूसरे लोग सामाजिक व्यवस्थाकी गड़बड़ीको इस पतनका कारण मानते हैं, अन्य लोग आधुनिक शिक्षाको ही दोषी ठहराते हैं। गड्डलिका-प्रवाह-न्यायसे नवीन लोग अपने-अपने मान्यतानुसार इसकी औषध भी बतलाते हैं। पर प्राचीनमतानुयायी पहले इसके निदानका अपाकरण उचित समझते हैं, नवीन लोग यह नहीं करना चाहते। लेकिन बिना निदानके उनका यह प्रयास वाराणसी जानेकी इच्छावालोंका रामेश्वरकी ओर दौड़ने-जैसा है।

धार्मिकोंकी दृष्टिमें कल्याणका कारण एक मात्र 'धर्म' ही है। ऐसी ही प्राचीन मुनियोंकी भी मान्यता थी, जैसा कि वैशेषिकोंका सूत्र है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

श्रुति भी कहती है—

धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्।

हम यहाँ इसी मतको सिद्ध करनेका प्रयास करेंगे।

ऐसा देखा जाता है कि प्राणियोंमें वंशानुगत कुछ ऐसे संस्कारोंके बीज होते हैं, जिनसे वे अपने पितृ-पितामहोंके गुणोंको अल्पायासद्वारा ही प्राप्त कर लेते हैं। इसीको आनुवंशिक संस्कार कहा जाता है। पशु-पक्षियोंमें तो यह सर्वथा ही पूर्ण मात्रामें दृष्टिगोचर होता है। मनुष्योंमें भी जैसे वणिक्का लड़का वाणिज्य-कलामें शीघ्र सफलता तथा निपुणता प्राप्त करता है, वैसे सभी दूसरे कभी निपुण होते नहीं देखे जाते। कारण ढूँढ़नेपर वही आनुवंशिक संस्कार ही स्फुट होता है। पर इस समय लोग आनुवंशिक चेष्टा छोड़कर पर-धर्म-साधनमें प्रयत्नशील हो रहे हैं। ब्राह्मण भंगी-चर्मकारादिके कर्म तथा इतरलोग ब्राह्मणादिके कर्म अपनानेमें दृढ़ प्रयत्नशील हैं; पर यह आनुवंशिक-विरोधिनी चेष्टा सफल होती नहीं दीखती। अतः सभी शिल्पजीवियोंको विशुद्ध बुद्धिसे धर्मका ही आश्रय लेना चाहिये।

आज शिक्षा धर्मविरुद्ध है, उसे भी परिवर्तित करना होगा। इस समयका सामाजिक संस्कार तो संस्कार है ही नहीं, समाजवादी लोग सभी प्रकारसे धर्मको ही नष्ट करनेपर तुले हुए हैं और पाशवी वृत्तिको बढ़ानेवाले प्राकृताचारका ही समर्थन करते हैं। इनका आधार शास्त्र नहीं, तर्क होता है। पर तर्कद्वारा तो कोई भी एक मतका खण्डन करके नवीन मत स्थापित कर सकता है—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपद्यते ॥

(वाक्यदीप, ब्रह्मकाण्ड ३)

अतः शास्त्रविहित सनातन धर्म जबतक स्थापित नहीं होता, तबतक कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं होता। धर्म छोड़नेसे ही मद्यपानादि दोष बढ़े हैं। इसकी निवृत्तिके लिये सनातन-धर्म-ग्रहण परमावश्यक है; क्योंकि 'न सुरां पिबेत्' आदि इसकी विधि समुद्धृत है। इसी प्रकार 'न मूत्रं पथि कुर्वीत' इत्यादि विधियोंके पालनसे अनायास सर्वत्र सभी नगरोंमें शौचाचारादिका प्रचार होगा। फिर नगरपालिकाकी भी निष्फलता दृष्टिगोचर होगी।

इसी प्रकार 'प्राणायामके द्वारा सर्वरोगोंका नाश होता है'—यह शास्त्रवचन जानकर लोगोंके द्वारा प्राणायामसाधना करनेसे विदेशी दवा-दारूकी भी आवश्यकता न रह जायगी और सभी भारतवर्षीय नीरोगता प्राप्त करेंगे। इस तरह हमारे देशके धनकी भी रक्षा होगी। फिर तो 'धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्' प्रत्यक्ष दीख पड़ेगा। अतः सभीको यह समझकर कि जबतक धर्मका उत्थान न होगा, देशका भी अभ्युत्थान न होगा, धर्मोत्थानके लिये ही प्रयत्न आरम्भ करना चाहिये।

सभी देवतागण, भगवान् विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, दुर्गा, गणपति, हनुमान् आदि समस्त आस्तिकोंको धर्ममार्गमें चलनेकी प्रेरणा दें, अतएव उन्हें सहस्र-सहस्र प्रणाम करता हुआ मैं वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

धर्मो विवर्द्धतु—धर्मकी अभिवृद्धि हो।

यतो धर्मस्ततो जयः

(लेखक—श्रीगोपालराव जालनापुरकर महाराज)

(१)

'यतो धर्मस्ततो जयः' यह वाक्य वाणीसे उच्चारण करते समय अन्तरमें एक प्रकारका दिव्य प्रकाश फैल जाता है। धर्मके प्रति कितनी अटूट श्रद्धा इस वाक्यसे प्रकट होती है। कहते हैं—'जहाँ-जहाँ धर्म, वहाँ-वहाँ विजय'। इसपर विचार करनेसे पूर्व यह वचन मूलतः कहाँसे आविर्भूत हुआ और किस परिस्थितिमें हुआ, यह देखा जाय तो इसका वास्तविक मूल्य हमारे सामने उपस्थित हो सकता है।

ध्यान देनेकी बात है कि यह सर्वप्रसिद्ध वचन दुर्योधन प्रभृति सौ पुत्रोंकी पुत्रवती माता गान्धारीके मुखसे निकला है। गान्धारीकी सामर्थ्य सर्वविदित है। महाराज धृतराष्ट्रसे पाणिग्रहण करनेके साथ ही उसने देखा कि महाराज अंधे हैं, संसारके किसी पदार्थको देख नहीं पाते, तो हम भी क्यों देखें? बस, उसने भी अपनी आँखें बंद कर लीं। किंतु इससे उसकी आँखोंमें इतनी सामर्थ्य आ गयी कि जिस ओर एक बार देख दे, उसकी काया अमर हो जाय। ऐसी सामर्थ्यवती भारतीय नारीकी यह तड़पन थी कि मेरे बालक दुष्टबुद्धि हैं, अधर्माचरण करते हैं। फिर भी वह एक सिद्धान्तकी और धर्मके प्रति इतनी निष्ठावाली थी कि धर्मराजके आनेपर यही आशीर्वाद देती—'यतो धर्मस्ततो जयः।' और दुर्योधन भी आता तो भी यही कहती—'यतो धर्मस्ततो जयः।' इसका तात्पर्य यही था कि 'धर्मानुसार आचरण करनेपर ही तुमलोगोंका कल्याण होगा। तुम अधर्मसे चलते हो, इसमें तुमलोगोंका कल्याण नहीं।' कितनी महान् है धर्मके प्रति यह श्रद्धा, यह निष्ठा! ऐसी निष्ठा रहनेपर पराजय कैसे होगी? वहाँ विजय सुनिश्चित है।

गीता भी यही कहती है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

संजय सभी ऋषियोंका यह अपना सुविचारित निर्णय सुना रहे हैं। अर्जुन धर्मसम्मूढचेता बन गया था और कह रहा था कि 'इससे तो भिक्षा माँगना भला है।' मालूम पड़ता है, 'अतिपरिचयादवज्ञा'—मानवको अपना धर्म अतिपरिचय होनेसे अच्छा नहीं लगता और 'दूरके ढोल सुहावने'के अनुसार पर-धर्म अच्छा न होनेपर भी मधुर लगता है। मालूम पड़ता है, अर्जुनको इसीलिये भिक्षा माँगना अच्छा लगता होगा। वह क्षत्रिय था, क्या कभी भीख माँग सकता था? नहीं, पर मनमें एक बात घर कर गयी थी कि 'ये सामने खड़े लोग मेरे वैरी नहीं, अपितु, इष्ट और गुरुजन हैं और इन्हें मारनेसे मुझे पाप लगेगा। इससे अच्छा है कि मैं भी भीख माँगकर गुजारा करूँ।' निश्चय ही अर्जुन यह केवल घबराकर कह रहा है!

ठीक यही हाल आज है। हमारा राज्य निधार्मिक राज्य, 'सेक्युलर स्टेट' कहा जाता है। किंतु घरमें, व्यवहारमें, बोलनेमें धर्मभीरुता स्पष्ट दीख पड़ती है। इतना ही नहीं, किसीका लाड़ला बच्चा बीमार पड़ जाय तो तुरंत ये निधर्मी राज्यवादी ब्राह्मणको बुलाकर पूछते हैं कि 'क्या भगवान्‌के काममें कोई भूल तो नहीं हो गयी? यदि कुछ धर्मविरुद्ध आचरण हो गया हो तो उसके प्रतीकारार्थ जो कुछ करना हो, वह कीजिये। नारियल फोड़िये, पूजा-अभिषेक कीजिये, ब्राह्मण-भोजन करवाइये। पर किसी तरह मेरे लालको अच्छा कीजिये।' कहाँ चला जाता है, उस समय उनका वह निधर्मीपन! स्पष्ट है, धर्म-विरहित किये गये काम कभी टिकते ही नहीं।

वस्तुतः देखें तो भारत-जैसा सुसम्पन्न देश कोई नहीं है। आजकी अपनी सरकारने तो जगह-जगह नहरें और नलकूप बनाकर यह व्यवस्था कर दी है कि वर्षा न होनेपर खेतीके लिये पानीकी कठिनाई नहीं पड़ेगी। इतना होते हुए भी आज जनता खानेके लिये तरस रही है, मर रही है, भस्म हो उठी है, चिन्ताग्रस्त है। महँगी सीमा पार कर गयी है। सब लोग अपने ही हैं और नित्य नये सुधारके उपाय कर रहे हैं, फिर भी यह स्थिति क्यों है? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि हर एकने अपना-अपना धर्म त्याग दिया। धर्मानुसार व्यवहार न होनेसे मन महान् नहीं रह पाता। मन महान् नहीं

तो शान्ति नहीं और शान्ति नहीं तो वहाँ सुख भूलकर भी नहीं होता। प्रजाके आजके दुःखका कारण यही है कि हम भूलमें ही भूल कर रहे हैं। नींव बिगड़ जाय, कमजोर पड़ जाय तो आप ऊपर कितनी ही सुन्दर, कितनी ही मजबूत इमारत क्यों न खड़ी करें, थोड़ी-सी वर्षासे वह धराशायी हो जायगी। ठीक इसी तरह भारतीय राजनीतिका मूल, उसकी नींव धर्म है। 'यतो धर्मस्ततो जयः'—यह उसका चिरंतन बोध-वाक्य (मॉटो) है। आज उसी धर्मका सारी प्रजाद्वारा पददलन हो रहा है!

आजके नवयुवकोंके सामने 'धर्म' शब्दका उच्चारण कीजिये तो वे नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। बोलनेवालेके प्रति उन्हें अरुचि, उपेक्षा-सी होने लगती है। किंतु उन्हींसे पूछिये कि 'भाई, खाते क्यों हो? दूध क्यों पीते हो' तो चट यही उत्तर देंगे कि शरीरकी रक्षा करना धर्म है—'शरीररक्षितो धर्मः।' सोचनेकी बात है कि जैसे यह व्यष्टि-धर्म है, वैसे ही ईश्वरीय सृष्टिमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कुछ समष्टि-धर्म भी हैं। फिर उनका पालन क्यों नहीं करते? शरीरके विषयमें निधर्मिता नहीं, तब सृष्टि और उसके देवताके प्रीत्यर्थ धर्मका पालन क्यों न करें? इस अधकचरेपनका ही परिणाम है कि हम आज अपने कार्मोंमें सफलता नहीं पाते। अतः धर्मका पालन और अधर्मका निर्दलन हमारा परम कर्तव्य है।

आखिर अर्जुनको गीता-उपदेश करनेकी भगवान्‌को क्यों आवश्यकता हुई? कहना पड़ेगा कि अर्जुन अपना धर्म—क्षात्र-धर्म त्यागकर निधर्मी—अधर्मी होना चाहता था। सरकारने उन्हें गीता सुनाकर धर्ममार्गपर लौटाया। भगवान्‌का अवतार ही इसीलिये हुआ करता है। वे गीतामें कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

अर्थात् भगवान् युग-युगमें अधर्मकी ग्लानि मिटाकर धर्मसंस्थापनाके लिये ही अवतार लेते हैं।

कहा है—'तू धर्माची तू मूर्ति।' अर्थात् भगवान् धर्मके साकार विग्रह है। इस तरह धर्मकी ग्लानिका अर्थ भगवान्‌की ग्लानि हुआ। प्रश्न होगा कि क्या कभी भगवान्‌की भी ग्लानि होती है? नहीं, भगवान्‌की कोई ग्लानि नहीं होती। बात यह है कि धर्माचरण करनेवाले लोग 'धर्ममें क्या रक्खा है?' कहकर उसे त्याग देते हैं। धर्माचरण करनेवाले इने-गिने रह जाते हैं तो उसीको धर्मकी ग्लानि कह दिया जाता है। यह एक औपचारिक प्रयोग है। उस समय धर्मस्थापनाके लिये प्रभुका अवतार होता है। वैकुण्ठका राजा हमलोगोंके बीच आता है! इतना धर्मका महत्त्व है। तब हम उसे कैसे त्यागें?

किंतु आज ऐसे भी स्वार्थी लोग दिखायी पड़ते हैं, जो धर्मको अस्वीकार न करते हुए भी उसकी व्याख्या अपने मनोऽनुकूल गढ़ लेते हैं। वे मानते हैं कि सांसारिक प्रपञ्चमें जिससे किसी प्रकारका त्रास, परेशानी न हो, जो अपने कुकर्मोंपर परदा डाले, वही धर्म है। किंतु धर्म इतनी साधारण वस्तु नहीं। वह हाथमें लेकर किसी भौतिक वस्तुकी तरह दिखाया नहीं जा सकता और न बाजारमें ही बिकता है। मनोऽनुकूल हर तरहका आचरण कभी धर्म नहीं। महाभारतकार धर्मकी व्याख्या करते हैं—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति मे मतिः॥

अर्थात् धारण करनेसे ही धर्म कहा गया है—'ध्रियतेऽनेन इति धर्मः।' जो धारणशक्तिसम्पन्न है, जिसके कारण समाजमें उच्छृङ्खलता नहीं आती, वही धर्म है। और भी कहा है—

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

अर्थात् धर्म प्राणिमात्रकी उन्नति करता है। धर्मप्रवचन करनेसे मानवकी उन्नति होती है। वही सच्चा धर्म है। और भी कहा है—

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

अर्थात् अहिंसाका प्रचार यानी दूसरेको किसी प्रकारकी पीड़ा न पहुँचानेके लिये धर्मप्रवचन है। जो परपीड़ारहित है, वही धर्म है। जो बहुतोंको पीड़ा पहुँचाये, जबर्दस्ती जिसे मानना पड़े वह वास्तविक धर्म नहीं—कुधर्म है।

हम मङ्गलमय प्रभु पंढरीनाथसे प्रार्थना करते हैं कि भारतीय जनता धर्मका तत्त्व समझकर धर्माचरण करनेवाली हो और अपना इहलौकिक और पारलौकिक हित-साधन करे।

(२)

(लेखक—श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश', साहित्यरत्न)

शास्त्रवचन है—'यतो धर्मस्ततो जयः' अर्थात् स्पष्ट है कि जहाँ धर्म है, वहीं जय है। धर्म-शब्दका अर्थ है—जो धारण करे या जिसके द्वारा धारण किया जाय, अतः शास्त्रीय व्यवस्थानुसार आचरण करना ही धर्म है। अनादि-कालसे भारत एक सिद्ध तपोभूमि रहा है, जहाँ अनेक धर्मनिष्ठ ऋषि-मुनि, संत-महात्मा ही नहीं, धर्मात्मा राजा-महाराजातक हुए हैं। यही इस देशकी एक महानता है। पर अब इतना अन्तर कालक्रमके प्रभावसे अवश्य हुआ है कि आजके इस युगमें भौतिक सुखोंकी प्राप्ति ही जीवनका मुख्य उद्देश्य हो गया है। ऐसी बात पूर्वकालमें कभी नहीं थी। इसीसे आजके इस अशान्त वातावरणमें किसीको न सुख है न शान्ति। अमीर-गरीब सभी दुखी हैं—सच्ची सुख-शान्ति किसीको नहीं। यह विधिका कितना अनोखा विधान है! इसका एकमात्र कारण है धार्मिकताका ह्रास, जिसके कारण आजका मानव यथार्थतासे दूर होता जा रहा है। पहले हमारी इसी भारत-भूमिपर घी-दूधकी नदियाँ बहती थीं, जब कि आज शुद्ध दूध-घीका दर्शन ही कठिन है। इन्द्रादि देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये बराबर यज्ञ-हवनादि होते थे, जिससे आवश्यकतानुसार ठीक समयपर, ठीक ढंगसे वर्षा हुआ करती थी। कभी अकाल—दुर्भिक्षका नामोनिशान न था। कहीं सूखा, कहीं बूड़ा (बाढ़), भयंकर संक्रामक बीमारियाँ तथा अन्य दैवी प्रकोपों आदिकी कल्पना भी नहीं थी। लोगोंमें परस्पर सौहार्द तथा सर्वत्र सुख-शान्तिका साम्राज्य था। एक दूसरेके प्रति लोगोंमें आत्मीयता—स्नेह तथा अपनत्वकी भावना रहती थी। आजकी तरह वैमनस्य, अशान्ति, कलह, राग-द्वेष आदिका बोलबाला न था। अब तो घर-घरमें, कुटुम्ब-कुटुम्बमें अशान्ति, वैमनस्य, राग-द्वेष आदिका आधिपत्य हो चुका है। तब भला, औरोंसे तथा गैरोंसे आत्मीयता तथा सुहृदताकी आशा रखना व्यर्थ ही है। शास्त्रोंके वचनानुसार जब-जब धर्मकी हानि होती है, तब-तब इन्हीं आसुरी प्रवृत्तियोंका बोलबाला होता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने ठीक ही कहा है—

जब जब होइ धर्म कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
तब तब प्रभु धरि मनुज सरीरा। ... ...

जब महामुनि विश्वामित्रजीने देखा कि आसुरी सृष्टिके उत्पात तथा आतङ्कसे जनता-जनार्दन भयभीत एवं त्रस्त है तथा उन्हींके द्वारा यज्ञादि धर्म विध्वंस किये जा रहे हैं, तब उन दुष्टोंसे त्राण पाने एवं धर्म-रक्षार्थ वे महाराज दशरथजीके पास गये और इस कार्यके लिये भगवान् श्रीराम-लक्ष्मणजीको माँग लाये। उस समयके राजा भी प्रजावत्सल होते थे। दशरथजीकी छातीको धन्य है कि उन्होंने जरा भी ननु-नच न करके अपनी आँखोंके तारे एवं राजदुलारे तथा घोर तपस्याद्वारा प्राप्त अपने बुढ़ापेके सहारेको यज्ञादि धर्म-रक्षार्थ तथा जनता-जनार्दनके कल्याणार्थ एक तपस्वीकी याचनापर सौंप दिया। उन्हें जरा भी मोह-मायाने नहीं सताया। आजके जमानेमें ऐसे त्यागी और कर्तव्यपरायण लोग जल्दी तलाश करनेपर भी नहीं मिलेंगे। बादमें श्रीरामने अपनी असीम शूरवीरता तथा रणकुशलता दिखाकर किस प्रकार राक्षसजनोंका नाश करके देश, जनता तथा धर्मकी सेवा की, यह यहाँ बतानेकी आवश्यकता नहीं। कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस समय धर्मपर संकट आता था उस युगमें राजा-महाराजा भी उसकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंकी भी आहुति दे डालते थे। आज यह बात कहाँ!

धर्मनिष्ठा शाश्वत सुखकी प्राप्तिमें बड़ी सहायक होती है। उसके द्वारा चित्तकी तामसी एवं आसुरी वासनाएँ मिट जाती हैं और आध्यात्मिक मार्गकी ओर प्रेरणा मिलती है। यह अवश्य है कि केवल स्वार्थवश धर्म-पालन उतना प्रशंसनीय नहीं समझा जाता। यह ध्रुव सत्य है कि आनेवाले संकटोंके निवारणार्थ एवं दैवी विपत्तियों आदिसे बचनेके लिये धर्म पूरा-पूरा सहायक सिद्ध हुआ है। इसमें संदेहके लिये कोई गुंजायश नहीं। उदाहरण सामने हैं। अभी हालमें ही कुछ ही वर्षों पहले अष्टग्रही-योगके भयंकर रूपसे अनिष्टकारी होनेके कारण देशकी जनता कितनी सशङ्कित एवं भयभीत हो गयी थी। एक प्रकारसे लोगोंमें प्रायः भय एवं आतङ्कका वातावरण-सा छा गया था—और बात भी ऐसी ही थी। अतः उस परिस्थितिमें देशवासियोंको आध्यात्मिक जगत्की निरन्तर सेवा करनेवाले महानुभावों तथा दैवी जगत्में विश्वास रखनेवाले पुरुषोंने इसके अनिष्टकारी एवं भयंकर कुप्रभावसे बचनेके लिये यज्ञ, देवाराधन, जप, पूजा-पाठादि, हवन—सभी कुछ करने-करानेकी अपूर्व प्रेरणा दी, जिसके फलस्वरूप समस्त देशमें

सर्वत्र बहुत बड़े पैमानेपर बड़े-बड़े यज्ञ-देवाराधन आदि हुए। ऐसे बहुत कम स्थान बचे, जिनके प्रत्येक मुहल्ले, गली आदि-आदिमें बृहद् दैवी अनुष्ठानादिका—कम-से-कम भगवन्नाम-कीर्तनका आयोजन नहीं हुआ हो। बड़े-बड़े शहरोंमें तो प्रायः प्रत्येक घरमें ही कोई-न-कोई देवाराधनादि हुआ। हर जगह यज्ञ, देवाराधन, जप-पूजा-पाठादि तथा प्रार्थनाएँ देखकर ऐसा लगा कि मानो सत्ययुग आ गया हो। सारे देशमें धार्मिकताकी ऐसी लहर बही, जैसी इधर कभी नहीं देखी गयी थी। सारा देश धर्मपरायण होकर भगवदाराधनमें सचमुच लीन हो गया। जनता-जनार्दनकी यह पुकार व्यर्थ नहीं गयी और ईश्वरीय इच्छासे वह महान् संकट टल गया। सचमुच यह सब किये गये देवाराधनका ही परिणाम था; क्योंकि प्रार्थनाओं तथा देवाराधनादिसे बड़े-बड़े संकटोंसे रक्षा हो जाती है—यह शास्त्रोंका कथन है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमने अष्टग्रहीके समय देखा। उस समय महान् आश्चर्यकी बात तो यह देखनेमें आयी कि घोर-से-घोर नास्तिक लोगोंने भी अपनी रक्षाके लिये गुप्तरूपसे बहुत-से दैवी अनुष्ठानादि कराये। आजका भौतिकवादी एवं विज्ञानप्रधान युग भले ही इस तथ्यको स्वीकार न करे, पर यह तथ्य अपनी जगहपर बिल्कुल ध्रुव सत्य एवं अटल है।

आज हमारे कर्णधारोंने भारतको धर्म-निरपेक्ष भले ही घोषित किया हो, फिर भी यह देश धर्मकी महत्ताको सर्वथा भूलनेवाला नहीं—यह ध्रुव सत्य है। अतः आज भी जब कि देशपर विपत्तियोंके बादल छाये हुए हैं एवं युद्धाग्नि भी भीतर-ही-भीतर सुलग रही है तथा बाह्य आक्रमणोंका पूरा-पूरा खतरा बना ही हुआ है और देशकी आन्तरिक स्थिति भी महँगी आदिके कारण ठीक नहीं है, इस परिस्थितिमें इन संकट एवं विपत्तियोंके निवारणार्थ सभी देशवासियोंको भगवदाराधन एवं ईश्वर-प्रार्थना करनी ही चाहिये। हमारे नेतागण देशको धर्मनिरपेक्ष घोषित करनेके कारण इस ओर उदासीन भी हों तो भी सब देश-वासियों (प्रजाजनों) का यह कर्तव्य हो जाता है। शासक न करे तो प्रजा ही करे। अतः हम भारतवासियोंको भारत-विजयके लिये एवं उसकी स्वतन्त्रता, अखण्डता और उसकी रक्षाके लिये तथा विश्व-कल्याणार्थ एवं सर्वत्र शान्तिके लिये जगह-जगहपर देवाराधन, सामूहिक संकीर्तन, ईश्वर-प्रार्थना, शतचण्डी एवं सहस्रचण्डी याग, विविध विष्णु-रुद्र-यज्ञ, विष्णुसहस्रनाम, वाल्मीकि एवं तुलसीकृत रामायणके पाठ एवं महामृत्युञ्जय, गणपति एवं गायत्रीके कल्याण एवं मङ्गलप्रद अनुष्ठानादिके आयोजन व्यक्तिगत एवं समष्टिगत सर्वत्र होने चाहिये। इसीमें देश, राष्ट्र और समाजकी भलाई है; क्योंकि शास्त्रोंकी आज्ञा है—

धर्मेण हन्यते व्याधि-
र्धर्मेण हन्यते ग्रहः।

आशा है मेरे इस निवेदनपर श्रद्धालु लोग अवश्य ध्यान देंगे; क्योंकि देवाराधना कभी खाली नहीं जाती, जिसका प्रत्यक्ष फल एवं अनुभव अष्टग्रही योगके समय हो चुका है।

मुक्त कौन होता है ?

सर्वमित्रः सर्वसहः शमे रक्तो जितेन्द्रियः। व्यपेतभयमन्युश्च आत्मवान् मुच्यते नरः॥
आत्मवत् सर्वभूतेषु यश्चरेन्नियतः शुचिः। अमानी निरभीमानः सर्वतो मुक्त एव सः॥
जीवितं मरणं चोभे सुखदुःखे तथैव च। लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते॥

(महाभारत आश्व० १९। २-४)

जो सबका मित्र, सब कुछ सहनेवाला, मनोनिग्रहमें तत्पर, जितेन्द्रिय, भय और क्रोधसे रहित तथा आत्मवान् है, वह मनुष्य बन्धनसे मुक्त हो जाता है। जो नियमपरायण और पवित्र रहकर सब प्राणियोंके प्रति अपने-जैसा बर्ताव करता है, जिसके भीतर सम्मान पानेकी इच्छा नहीं है तथा जो अभिमानसे दूर रहता है, वह सर्वथा मुक्त ही है। जो जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्वोंको समभावसे देखता है, वह मुक्त हो जाता है।

धर्म और कामोपभोग

(लेखक—आचार्य पं० श्रीशिवकुमारजी शास्त्री, व्याकरणाचार्य, दर्शनालंकार)

आजके सम्पूर्ण विश्वकी संस्कृति परम कल्याणमयी 'भारतीय संस्कृति'का ही विस्तृत विकृत रूप है। उसकी विकृतरूपताका कारण उन देशोंकी 'अर्थ-काम-प्रधानता' ही है। भारतीय संस्कृतिसे जिन देशोंके सांस्कृतिक सम्बन्ध एवं परम्पराएँ जितनी दूर-दूरतर हो गयीं, उतना ही उनमें विकार प्रविष्ट हो गया। घिसे हुए पात्रके अन्य रूपकी भाँति उनमें भी परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। आचार-विचार, भाषा-परम्परा आदि सभी बातोंमें बाह्यरूपसे भिन्नताकी झलक मिलती है; किंतु सूक्ष्म निरीक्षण करनेपर भारतीय संस्कृतिके बीज वहाँ प्राप्त होते हैं। भारतीय संस्कृतिका विशाल रूप वस्तुतः ऐसा ही है। भारतीय शास्त्रोंने प्रवृत्ति-निवृत्तिभेदसे हमें दो मार्गोंका उपदेश दिया है। यद्यपि अवस्था-भेदसे दोनों ही मार्गोंमें शास्त्रविहित कार्योंमें प्रवृत्ति तथा निषिद्ध कार्योंसे निवृत्ति होती ही है तथापि यहाँ प्रवृत्ति-निवृत्ति-मार्गसे केवल यही भाव इष्ट नहीं है, अपितु प्रवृत्ति-मार्गसे सांसारिक कार्योंमें प्रवृत्ति तथा निवृत्तिमार्गसे सांसारिक कार्योंसे निवृत्ति और संसारबन्धनसे छुटकारा पानेके लिये अपनेको सच्चे रूपमें समझनेका प्रयास करना भी इष्ट है। प्रवृत्तिमार्ग-निवृत्तिमार्गके समन्वय तथा पालनकी सुव्यवस्था, शान्ति एवं प्रेमकी वृद्धिके लिये हमारे महर्षियोंने चार पुरुषार्थ बतलाये हैं, जिनके समझने तथा आचरण करनेसे दोनों ही मार्गोंकी सिद्धिके साथ मनुष्य-जीवन सफल हो जाता है। वे पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' के अनुसार धर्म सम्पूर्ण जगत्की स्थितिका कारण है। संसारकी इस स्थितिको मानकर ही हमारे यहाँ धर्म और दर्शनका साक्षात् सम्बन्ध हो जाता है। 'दर्शन' जहाँ स्व-स्वरूप-दर्शनद्वारा धर्मको पारलौकिक सिद्ध करता है, वहाँ धर्म दर्शनको लोकोपयोगी सिद्ध करता है। इनमें धर्म, अर्थ और काम प्रवृत्तिमार्गसे साक्षात् सम्बन्ध रखते हैं, जब कि निवृत्तिमार्ग मोक्षके लिये ही विशेष उपादेय है। चारों पुरुषार्थोंमें महर्षियोंने मोक्षको ही परम पुरुषार्थ माना है। 'अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्' कहकर महर्षि याज्ञवल्क्यने मोक्षको 'परम धर्म' कहा है। मानव-जीवनका सच्चा लक्ष्य शास्त्रोंकी दृष्टिसे वही है। रहे धर्म, अर्थ, काम—ये तीन पुरुषार्थ। वे भी शास्त्रानुसार चलनेसे मनुष्यको पशुतासे हटाने, यथेच्छ आहार-विहार आदिसे होनेवाले सर्वनाश एवं पतनसे बचानेके साथ कभी पूर्ण न होनेवाली दूषित वासनाओंको हटाकर इस लोककी सफलताके साथ पारलौकिक कल्याणके परम उपयोगी तो हैं ही, साथ ही वे परम पुरुषार्थ मोक्षके बाधक न बनकर साधक बन जाते हैं। मनमाने आचरणको अहितकर समझकर अपने यहाँ सामान्य धर्मके साथ विशेष धर्मोंके पालनपर अधिक बल दिया गया है। सत्य, दया, दान, मन-संयम, इन्द्रियोंका दमन, सहनशीलता, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, नम्रता, स्वाध्याय, संतोष, सेवा, समदृष्टि, विषय-भोगोंमें आसक्तिका अभाव, हित-मित-सत्य-भाषण, परिमित व्यवहार, भगवान्के पुण्य चरित्रोंका श्रवण, सत्पुरुषोंका सङ्ग, बुद्धिकी स्थिरता आदि सामान्य धर्म हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं दूसरोंके भी शास्त्रविहित तप, उपदेश, रक्षा, कृषि, व्यापार, सेवा आदि विशेष धर्म हैं। देखिये मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र, श्रीमद्भागवत (स्क० ७। ११)। प्राचीन समयमें जब जीवनके संचालनके लिये शास्त्रोंका स्वाध्याय नियत था, तब लोग उसीके अनुसार चलते भी थे। आज हमारी शिक्षा विदेशी शिक्षासे आक्रान्त है। लोगोंको अपने कर्तव्यका ज्ञान ही नहीं, तब उनका पालन तो बड़ी दूरकी बात है। पहले लोग अपने लिये विहित धर्मपालनसे स्वकल्याणके साथ दूसरोंके हितमें भी सहायक होते थे। परस्पर संघर्ष न होकर लोगोंमें प्रेम तथा शान्तिकी भावना थी। स्वधर्माचरण ही जीवनकी सच्ची कसौटीके रूपमें मान्य था। उच्छृङ्खलता, यथेष्ट आहार-विहार पतन और नाशके कारण हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीसे किसीकी वस्तु न लेना), ब्रह्मचर्य (इन्द्रियसंयम), अपरिग्रह (संग्रह न करना) के द्वारा सबको नियमितकर विशेष स्व-स्व-धर्मोंके द्वारा सम्पूर्ण समाजको सच्ची शान्ति, उन्नति तथा कल्याणका मार्ग बताया गया है। यह तो हुई 'धर्म'के विषयमें थोड़ी-सी जानकारी। अब 'अर्थ' और 'काम' को लीजिये। 'अर्थ्यन्ते ये ते अर्थाः'—चाही गयी वस्तुएँ धन आदि अर्थ हैं और

'कमनं कामः वा काम्यते यः स कामः'—शब्द, स्पर्श आदि विषय तथा उनका उपभोग यह सब काम है। अर्थ वस्तुएँ और काम उनकी इच्छा और उनका उपभोग है। अनन्त वस्तुओं, अनन्त इच्छाओं एवं उनके उपभोगकी कोई सीमा नहीं है। सब विषयोंकी पूर्ति हजारों जन्मोंमें भी सम्भव नहीं है। फिर उनसे तृप्ति तो सर्वथा असम्भव है। प्रज्वलित अग्नि घृत-धारासे क्या कभी शान्त हुई है? पृथिवीका सारा अन्न, सुवर्ण, पशु और स्त्री आदि वा अन्य भोग्य पदार्थ एक पुरुषकी भी तृप्तिके लिये पर्याप्त नहीं हैं। पुरुषार्थोंमें अर्थ और कामको आचार्योंने धर्म और मोक्षके मध्यमें रक्खा है। इसका भी यही अभिप्राय है कि वे अनियमित होकर धर्म और मोक्षके विरोधी न हों। **'धर्मार्थकामेभ्यो नमः' 'पूर्वः पूर्वो गरीयान्'** कहकर काम-शास्त्रकार महर्षि वात्स्यायनने धर्मानुकूल कामको ही प्रशंसनीय माना है। कामशास्त्रका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मयुक्त कामोपभोग ही उचित है। धर्माचरणपूर्वक धन प्राप्तकर स्त्री-ग्रहण करनेवाले उसके साथ देवपूजन-यजन करनेवाले पुरुष ही इस लोक-परलोकमें सुखी होते हैं।

ये धर्ममेव प्रथमं चरन्ति धर्मेण लब्ध्वा च धनानि काले।
दारानवाप्य क्रतुभिर्यजन्ते तेषामयं चैव परश्च लोकः॥

(महाभा० वन० १८३। ९१)

महाराज दिलीपका अर्थोपार्जन और कामोपभोग धर्मप्रधान ही था—**'अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः।'** (रघुवंश १। २५) फलके लिये लगाये गये वृक्षसे जिस प्रकार छाया और गन्ध स्वतः प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार धर्माचरणसे अर्थ-काम भी स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। **'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'** कहकर श्रीभगवान्ने गीतामें अपनेको धर्मानुकूल काम बतलाया है। **'न पूर्वाह्णमध्यन्दिनापराह्णानफलान् कुर्याद् यथाशक्ति-धर्मार्थकामेभ्यस्तेषु धर्मोत्तरः स्यात्'** कहकर महर्षि गौतमने सम्पूर्ण दिनको धर्म, अर्थ, कामसे रहित न करते हुए धर्म-पालनपर विशेष बल दिया है। धर्मविरुद्ध कामको श्रीभगवान्ने **'किमन्यत्कामहैतुकम्'**—यह संसार केवल भोगोंको भोगनेके लिये ही है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं; **'काममाश्रित्य दुष्पूरम्', 'कामोपभोगपरमाः', 'ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्'**—काम-क्रोधपरायण होते हुए पुरुष विषय-भोगोंकी पूर्तिके लिये अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थोंके संग्रहकी चेष्टा करते हैं (गीता १६), कहकर उसे आसुरी सम्पत्ति मानकर तथा

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

—कहकर धर्मविरुद्ध स्वच्छन्द कामको नरकका द्वार बतलाया है। यह मनुष्य किसकी प्रेरणासे पापाचरणमें प्रवृत्त होता है, अर्जुनके यह पूछनेपर श्रीभगवान्ने स्पष्ट बतलाया है कि "रजोगुणसे उत्पन्न यह काम ही पूर्ण न होनेपर क्रोध बन जाता है। यह काम अग्निके समान भोगोंसे कभी तृप्त न होनेवाला बड़ा पापी है। इसे वैरी जानो। धूमसे अग्निकी भाँति, मलसे दर्पणकी भाँति, झिल्लीसे गर्भकी भाँति कामसे ज्ञान ढका है। मन, बुद्धि, इन्द्रिय इस कामके वासस्थान हैं। इनके द्वारा काम 'ज्ञान' को ढककर जीवात्माको मोहित कर देता है। अर्जुन! तुम इन्द्रियोंको नियमितकर शास्त्रसंस्कृत बुद्धिके द्वारा मन-को वशमें करके ज्ञान-विज्ञानके नाशक इस दुर्जय पापी काम-रूपी शत्रुको नष्ट कर दो।"

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

(गीता ३। ३७—३९, ४१, ४३)

कामना, भय या लोभसे जीवनके लिये भी बुद्धिमान् पुरुषको स्वकर्तव्य—धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है, सुख-दुःख अनित्य हैं। जीव नित्य है और उसका हेतु अविद्या अनित्य है अर्थात् उसका ज्ञानके द्वारा विनाश होनेवाला है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

यदि कामोपभोगमें धर्मका नियन्त्रण न माना जाय तो धर्म अनावश्यक हो जाता है। साथ ही जीवनका लक्ष्य काम ही सिद्ध हो जाता है । यह कामोपभोग अथवा इन्द्रियतृप्ति फिर चाहे जैसे और जहाँसे की जाय, क्या इसपर कोई नियन्त्रण रह सकता है ? इस कामोपभोगके साधक धनादिके संग्रहमें भी अन्याय, अत्याचार, छल, परपीड़ा, चोरी आदि अधर्माचरणको भी पूर्ण स्वतन्त्रता मिल जाती है । फिर तो अर्थोपार्जन-कामोपभोग ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य बन जायगा । यह जीवनके विनाशका स्पष्ट रूप है। स्वच्छन्द कामोपभोगमें कर्तव्य-अकर्तव्य, गम्य-अगम्य, साधु-असाधुकी सारी मर्यादाएँ टूट जाती हैं । ऐसा होनेपर संसारकी क्या दशा होगी ? वेद-शास्त्र तो कामोपभोगके संयमपर बल देते हैं। मन, वाणी, शरीरकी शक्तियोंके विकासके लिये कामोपभोगका नियमित होना—अपने जीवनकी सफलताके साथ दूसरे जन्मके लिये, दूसरोंके लिये, मन-बुद्धिको दूषित संस्कारोंसे बचानेके लिये आध्यात्मिक उन्नतिके साथ अन्याय तथा होनेवाले परस्पर संघर्षको दूर करनेके लिये परम आवश्यक है। 'धर्मनियन्त्रित' कामोपभोगका आश्रय करनेके कारण ही स्वर्गमें कामोपभोगके लिये आयी परम सुन्दरी उर्वशीको अर्जुनने माता कहा था और धर्मविरुद्ध स्वच्छन्द कामोपभोगको अपनानेवाले शुम्भासुरको कामोपभोगके कारण ही भगवती दुर्गाकी क्रोधाग्निमें करोड़ों वीरोंके साथ अपना जीवन गँवाना पड़ा था। दुर्गासप्तशतीका पाठ करनेवाले विद्वान् इस कथाका मर्म समझें। इस प्रकार कामियोंकी दशा प्राचीन इतिहासमें ही नहीं, आज भी लोगोंसे छिपी नहीं है । **'ऋतौ भार्यामुपेयात्'** ऋतुकालमें अपनी धर्मपत्नीमें ही गमन करे। **'ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा'** इत्यादि कहकर धर्मशास्त्रोंने पुरुषको आसुरी सम्पत्तिसे बचाकर मनुष्यत्वसे देवत्व प्राप्त करनेकी सत्प्रेरणा दी है। उनका उपदेश है कि शास्त्रसंस्कृत बुद्धिसे विचारकर कार्य करो, पशुओंकी भाँति जीवन मत बिताओ। **'धिया परप्रेरणया यात मा पशवो यथा।'** कामीको क्या संसारकी सम्पूर्ण सम्पत्ति, सारी स्त्रियाँ इन्द्रिय-तृप्तिके लिये पर्याप्त हैं ? कामोपभोगसे कामनाओंकी शान्ति नहीं होती—**'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।'** यथेच्छ इन्द्रियोंका विहार बड़े-बड़े महापुरुषोंका भी पतन करा चुका है । थोड़ा-सा भी प्रमाद होनेपर जीवनके सर्वनाशकी सम्भावना है । विषयोंके मनमाने उपभोगसे आजतक क्या कोई तृप्त हुआ है ? भोग कभी समाप्त नहीं होते, उनके भोगनेवाले ही अनियमित जीवनके कारण असमयमें ही अपना सब गँवा देते हैं—**'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः'**। विषयोंमें स्वतः आकर्षण है, इसीसे उन्हें 'विषय' कहते हैं। **'विशेषेण सिन्वन्ति सिनन्ति बध्नन्तीति विषयाः'** क्योंकि वे बन्धनकारक हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन विषयोंमें जब एक-एक विषयसे हरिण, हाथी, पतंग, मछली और भ्रमरका विनाश सम्भव है, तब आँख, कान आदि पाँच इन्द्रियोंसे शब्द, स्पर्श आदि पाँच विषयोंका सेवन करनेवाले मनुष्यकी क्या गति होगी । यौवन, धन-सम्पत्ति, प्रभुत्व और अविवेक—इनमें प्रत्येक अनर्थकारक है, फिर चारों साथ मिल जायँ तो क्या कहना । ये विषय मन, बुद्धि, इन्द्रियोंका आश्रय लेकर मनुष्यको नीचे गिराते हैं। जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है । **'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।'** धर्मानुकूल काम ही कल्याणकर है । अपने यहाँ आचारशुद्धिपर अधिक बल देनेका भी यही मुख्य कारण है। दैवी सम्पत्ति तथा आसुरी सम्पत्तिके वर्णनसे भी हमें यही शिक्षा मिलती है। दैवी सम्पत्ति त्याग-प्रधान होनेसे प्रकाशमय है । **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'**—'त्यागपूर्वक भोग करो, किसीकी वस्तुकी इच्छा मत करो, यह धन किसका है ।' इसके विपरीत आसुरी सम्पत्ति भोगप्रधान होनेसे अज्ञानमय—अन्धकारमय है । **'असुषु प्राणप्रधानेषु इन्द्रियेषु रमन्त इति असुराः'** इन्द्रिय-भोगोंमें लिप्त रहनेवाले ही असुर हैं । इसीसे असुर 'शरीरात्मवादी' कहे जाते हैं। धर्मानुसारी कामके आश्रयसे ही संकरता, अशान्ति आदि दोषोंसे बचना सम्भव है। शास्त्रविहित धर्मके अनुसार कामका उपभोग कामस्वरूप श्रीभगवान्की ही पूजा है—**'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'** धर्म और कामके इस सम्बन्धको समझकर ही हम अपने जीवनको सफल बना सकते हैं ।



कामना और मानव-धर्म

(लेखक—डा० श्रीपरमानन्दजी)

कामना सृष्टिका बीजरूप है। यह प्राणकी सवारीपर चढ़ी विषयोंको ग्रहणकर विशाल शरीरवाली बनती जा रही है, जैसे वट-बीजसे वटवृक्ष विशाल बन जाता है।

हिरण्यगर्भ नामसे गर्भित बीज-कोषके केन्द्रमें सृष्टिका प्रकरण निरन्तर अबाध गतिसे चलता रहता है। जन्मदाता ब्रह्मा केन्द्रमें बैठा है। पालक विष्णु सोमरस पिला-पिलाकर इसका पोषण करता जाता है। महेश तीन रूप लेकर पोषण-पदार्थोंका आदान-प्रदानके रूपमें अग्नि-संस्कार करता रहता है।

यह जीव-कोष **'एकोऽहं बहु स्याम्'** की कामनासे असंख्य जीवकोषोंमें प्रकट हो समृद्ध होता रहता है। यही प्राणिमात्रका इतिहास है। इसी प्रकार लघुबीज विशालकाय प्राणी बनकर 'जात्यायुर्भोग' पूरा करता है।

मानव प्राणिविशेष है। यह मनन-क्रियाद्वारा अमृत-रस पीकर अमर होना चाहता है। इस पृथ्वी-लोकपर प्राणिमात्रको स्नेहकी डोरीमें बाँधकर एक विशिष्ट आनन्द प्रदान करना चाहता है। कामनाप्रेरित उद्विग्नताको शान्ति प्रदान करना चाहता है। धृति-क्षमादिका पाठ पढ़ाकर जीवनको एक नया मोड़ देता है।

जिसके धारण करनेसे सभी प्राणी सुखी हों, चिरजीवी हों तथा उन्नत हों, उसे 'धर्म' कहते हैं।

गठनसे सृजन और विघटनसे प्रलय होता है। मानव अखिल विश्वको एक सूत्रमें बाँधना चाहता है, प्रलयको रोकना चाहता है। वह सूत्र स्नेहका है।

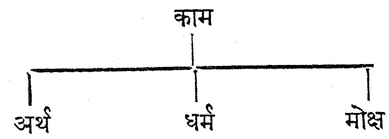
मनुने धर्मके दस लक्षण बताये हैं:—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

स्नेहकी तेजस्वी ज्योति इन्हीं साधनोंसे प्राप्त होती है। **'अहिंसा परमो धर्मः'**, 'दया धर्मका मूल है'—सृष्टिके अखिल मानवका इसमें विश्वास है। यह धर्मकी मूल भित्ति है। पतञ्जलि मुनिने भी यम-नियमोंका वर्णन करते हुए **अहिंसाको सर्वप्रथम रक्खा है।**

अमर ज्योतिका दीप इसी स्नेहसे जलता है। वर्तिकाकी शिखा बन जलती है, वही धर्म-सूत्र है। स्नेह स्वयं जल-जलकर वर्तिकाकी रक्षा करता है। स्नेहकी सहायतासे ही दीपक अमर-ज्योति-प्रकाश फैलाता है। ज्यों ही स्नेह घटा, वर्तिका तीव्र गतिसे जलकर नाशकी ओर बढ़ती है। दीपक ज्योतिष्मान् न होकर अङ्गार बन जाता है।

धर्म अमर-ज्योति प्रकाश है। चिरंतन जीवन देकर मानवमें मुसकान भरता है। अन्य प्राणियोंको स्निग्ध-ज्ञान-प्रकाशमें फूलने-फलने देता है। धर्मसे ही जीवन सुरक्षित और सम्यक् पोषित है। कामना-वृत्तिको सीमाबन्धमें रख, धर्म अखिल विश्वको बिखरनेसे बचाता है। धर्म शाश्वत सुख-शान्तिका दृढ़-स्तम्भ है। भवसागर पार करनेके लिये सुदृढ़ पोत है। जीवनके पग-पगपर सहायक मित्र है।



भारतीय वाङ्मयमें पुरुषार्थ-चतुष्टयका वर्णन है। आरम्भमें कहा गया है कि 'काम' सृष्टिका बीज है, अतएव जीवनको इससे छुटकारा नहीं; पर इसे सीमाबद्ध रखना—नियन्त्रणमें रखना उचित है। माना कि कामनाओंकी पूर्ति भी आनन्दप्रद है, पर अनन्त कामनाओंको संतृप्त करना असम्भव भी तो है।

अतएव त्यागवृत्तिसे उपभोग करना शास्त्रसम्मत है। सर्वथा कामनाओंका त्याग तो मोक्षकी अवस्थामें होता है।

'कामतृप्ति' और 'कामका सर्वथा त्याग'—इन दोनोंके बीचमें पड़ी रेखापर 'धर्म-मणि-दीप' ज्योतिष्मान् है।

श्रीमद्भागवत—प्रथम स्कन्ध, द्वितीय अध्याय ९ और १० श्लोकमें 'धर्मार्थ-काम-मोक्ष'की मर्यादा दिखलाते हुए **लिखा है कि धर्मका चरम लक्ष्य मोक्षकी प्राप्ति है।**

अत्यधिक अर्थ-प्राप्तिमें लगे रहना धर्म नहीं है। अर्थका अन्तिम लक्ष्य धर्म है। अत्यधिक भोग-विलासकी तृप्तिमें लगना उसका फल नहीं। भोग-विलासका फल इन्द्रियोंको तृप्त करना नहीं है। उसका प्रयोजन है केवल 'जीवन-निर्वाह'। जीवनका फल तत्त्वजिज्ञासा है। बहुत कर्म करके स्वर्गादि प्राप्त करना उसका फल नहीं है।



सत्य-धर्म

(लेखक—पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र का० व्या० सा० स्मृ० तीर्थ)

साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाके हिरदै साँच है, ताके हिरदै आप॥

धर्म-शब्द बहुत व्यापक है। इसका प्रयोग अनेक अर्थोंमें होता है। मनुष्यके कर्त्तव्यमात्रको धर्म कहते हैं। सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये धर्मका लक्षण लिखते हुए मनुजीने उसके दस विभाग किये हैं—

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस तरहके धर्म सर्व-साधारण मनुष्यके कर्त्तव्यरूपमें निर्दिष्ट हुए हैं। इन दस धर्मोंमें एकका भी दृढ़ विश्वासके साथ पालन किया जाय तो ऐहिक और पारलौकिक दोनों तरहके सुख प्राप्त हो सकते हैं।

इन दस धर्मोंमें सत्य-धर्मकी महिमा शास्त्रोंमें विशेषरूपसे पायी जाती है। अतः सत्य-धर्म सर्वश्रेष्ठ धर्म माना गया है। सत्य भगवान्‌का नाम है। महर्षि वेदव्यासने भागवतके आरम्भमें ही लिखा है—**'सत्यं परं धीमहि'** अर्थात् मैं सत्यस्वरूप परमात्माका ध्यान करता हूँ। विष्णु-सहस्रनामके ३६वें श्लोकमें 'सत्य' ईश्वरका नाम लिखा है—

गुरुर्गुरुतमो धाम सत्यः सत्यपराक्रमः।

वेदव्यासजीने देवताओंद्वारा की गयी स्तुतिमें लिखा है—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपद्ये॥

(श्रीमद्भागवत १०।२।२६)

अर्थात् सत्यस्वरूप ईश्वरकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ। जिसका व्रत—नियम सत्य है, जो परम सत्य है, तीनों काल (भूत, भविष्य, वर्तमान) में सत्य है और जिससे दृश्यमान जगत्‌का प्रादुर्भाव है एवं जो उसमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित है तथा जो उसका भी परमार्थस्वरूप है और ऋत एवं सत्यका प्रवर्तक है, ऐसे सत्यात्मक ब्रह्मकी शरणमें मैं जाता हूँ।'

तात्पर्य यह है कि सत्य ईश्वरका स्वरूप है। अतः सत्य-धर्मका पालन करना चाहिये।

तैत्तिरीयोपनिषद्‌की ब्रह्मानन्दवल्लीमें लिखा है—**'ब्रह्मविदाप्नोति परम्।'** ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मको प्राप्त करता है। उस ब्रह्मका स्वरूप क्या है, इस बातको बतलाते हुए ब्रह्मका लक्षण लिखते हैं—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥

यह श्रुति है। श्रुति यह बतलाती है कि ब्रह्म सत्य अर्थात् नित्य है और अविनाशी है, इसकी सत्ताका अभाव कभी नहीं होता। दूसरे, यह ज्ञानस्वरूप है तथा अनन्त है जो इसे बुद्धिरूप परम आकाशमें स्थित देखता है, वह विपश्चित् अर्थात् सर्वज्ञ ब्रह्मरूपसे एक साथ ही सब भोगोंको भोगता है।

उसी सत्यात्मक ब्रह्मका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेसे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि होती है। महर्षि व्यासजीने श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि वही सत्यात्मक पूर्ण-ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण हैं। यथा—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

(श्रीमद्भागवत १०।१४।३२)

महर्षि व्यासजी कहते हैं कि नन्द गोप और व्रज-वासियोंका भाग्य धन्य है, धन्य है, जिनके मित्र सनातन पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। अतः श्रीकृष्णके नामका जप, कीर्तन, ध्यान और उनके वचनको सुनना, अर्थात् उनकी आज्ञाके अनुसार चलकर इस धरातलपर अपने जीवनको सफल बनाना चाहिये।

धर्मका अर्थ है—धारण करनेवाला। अर्थात् धर्मके

बलसे ही सृष्टि चल रही है। धर्मकी उत्पत्ति आचारसे होती है। विष्णुसहस्रनामके माहात्म्यमें लिखा है—

आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः।
ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि पञ्च च॥

आचार दो तरहके होते हैं, सदाचार और दुराचार। गीतामें भगवान्‌ने इन्हीं दोनोंको दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदाके नामसे कहा है।

दैवी सम्पदासे मुक्ति और आसुरी सम्पदासे बन्धन होता है। दैवी सम्पदावाले मनुष्य आस्तिक होते हैं—ईश्वर और परलोकमें विश्वास करते हैं और उनकी आत्मा सत्त्व-गुण-सम्पन्न रहती है। वे अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार शास्त्रविहित कर्म करते हैं। उनको स्वार्थवश किसी प्राणीको कष्ट देना पाप जान पड़ता है। वे समझते हैं कि पापका फल दुःख होता है और अपने कर्मोंका फल मनुष्यको अवश्य भोगना पड़ता है। अतः वे दुष्कर्ममें प्रवृत्त नहीं होते।

भगवान्‌ने गीता (१६। १९) में कहा है—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

इसका तात्पर्य यह है कि दुष्कर्ममें प्रवृत्त मनुष्य न केवल इसी जन्मको, बल्कि अपने भविष्य जीवनको भी सदाके लिये दुःखके गर्तमें गिरा देता है।

दैवी सम्पदावाला मनुष्य धर्माचरण करनेसे क्रमशः उन्नतिके पथपर अग्रसर होता है। अर्जुनने इसीलिये भगवान्‌से पूछा था कि 'अपनी मुक्तिके लिये साधनमें प्रवृत्त सदाचारी मनुष्य, सिद्धि प्राप्त होनेके पहले ही, यदि मृत्युका ग्रास बन जाता है तो क्या उसका पूर्वजन्मका साधन नष्ट हो जाता है? यदि नष्ट हो जाता है, तब तो साधकको सिद्धि प्राप्त करना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव हो जायगा। इस मेरे अन्तःकरणमें उद्भूत संदेहको आप ही (श्रीकृष्ण ही) दूर कर सकते हैं। दूसरा कोई इसका यथार्थ उत्तर दे नहीं सकता; क्योंकि दूसरा कोई आपकी तरह सर्वज्ञ नहीं है।'

भगवान्‌ने इसका उत्तर देते हुए कहा है—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥
(गीता ६। ४०)

अर्थात् आत्माके कल्याणकी इच्छासे साधन करनेवालेका विनाश कभी नहीं होता। सत्कर्मके प्रभावसे उसका पुनर्जन्म वैसे ही समाजमें, वैसे ही परिवारमें होता है, जहाँ उसको पुनः वैसे ही सत्सङ्ग और भगवद्भक्ति करनेका अवसर प्राप्त होता है और इस तरह कल्याणके पथमें अग्रसर होता हुआ वह एक-न-एक दिन अपना कल्याण कर ही लेता है। वह कभी भी संसारके बन्धनमें नहीं रहता। भगवान्‌ने कहा है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥
(गीता ६। ४३)

अर्थात् पूर्वजन्मका किया हुआ साधन उत्तर देहमें संस्काररूपसे रहता है और अवसर मिलनेपर वह संस्कार पुनः उसको आकृष्टकर साधनमें लगा देता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सदाचारसे मनुष्य एक दिन आत्मकल्याण अवश्य प्राप्त करता है।

कठोपनिषद्‌में जब नचिकेताको यमने स्वर्ग देनेको कहा, तब उसने स्वर्ग लेना अस्वीकार किया। इससे प्रसन्न होकर यमने उससे कहा—

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥
(कठोपनिषद् १। २। ११)

इसका अर्थ है कि 'मुझ यमराजने तुम्हें स्वर्ग देनेका प्रलोभन दिया, जो स्वर्ग सब भोगोंसे परिपूर्ण और चिरस्थायी है, जो बड़े-बड़े यज्ञादि पुण्यकर्म करनेसे प्राप्त होता है, जो दुःखोंसे बिल्कुल अछूता है। इस तरहका सुख-सम्पन्न जानकर भी तुमने अपनी धीरतासे उसका परित्याग कर दिया। इसलिये तुम बहुत बुद्धिमान् हो।' यद्यपि स्वर्गका लक्षण है—

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदम्॥

अर्थात् जो दुःखसे मिला हुआ नहीं है, न तो वहाँ, भविष्यमें दुःख आनेकी सम्भावना है और मनोवाञ्छित वस्तुकी जहाँ प्राप्ति है, ऐसे स्थानका नाम स्वर्ग है। वेदोंमें स्वर्गप्राप्तिके लिये अनेक यज्ञादि सकाम कर्मोंका विधान है, बहुत धनव्यय तथा परिश्रम-साध्य है। वह नचिकेताको यम अनायास दे रहे थे। परंतु '**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**'— इस गीतोक्तिके अनुसार वह क्षयी है, विनाशी है—ऐसा समझकर बुद्धिमान् मनुष्य स्वर्गकी कामना नहीं करते।

इसीलिये गीतामें लिखा है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

वेदोंमें जितने सकाम कर्मोंकी प्रशंसा की है, वे सब त्रिगुणात्मक हैं। अतः हे अर्जुन! तुम त्रिगुणसे रहित हो जाओ; क्योंकि त्रिगुणात्मक जितने कर्म हैं, वे सब-के-सब विनाशी हैं। एकमात्र सत्यात्मक ब्रह्मकी उपासना ही सत्यधर्म है। इससे पुनरावृत्ति नहीं होती, क्योंकि श्रुति कहती है—**'न स पुनरावर्तते।'**

अतः यमने नचिकेताको बुद्धिमान् कहा। बुद्धिमान् अर्थात् विनाशी वस्तुकी अपेक्षा अविनाशी सत्य वस्तु—मुक्तिको चाहनेवाला। अतः सत्य-धर्म भगवान् श्रीकृष्ण या श्रीराम आदिकी भक्ति करना है। इससे मनुष्यको पुनः इस दुःखालय और विनाशी संसारमें आना नहीं होता। इसलिये सत्यका आश्रय लेना ही शान्ति-प्राप्तिका एकमात्र उपाय है।

सुतरां मनुष्यको सत्य-धर्मका ही पालन करना चाहिये।

इसीलिये कहा है—**'न हि सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्'** सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है और झूठसे बढ़कर पाप नहीं है।

परम धर्मका परमार्थ

(लेखक—पण्डित श्रीसूरजचन्द सत्यप्रेमी [डाँगीजी])

चलें, धर्मका अर्थ पहले समझ लें। फिर परम धर्मका परम अर्थ ध्यानमें आयेगा। तात्पर्य यह है कि धर्मके अर्थका ज्ञान करके परम धर्मके परमार्थका ध्यान करना चाहिये। तत्त्वानुसंधानका प्रारम्भ यहींसे होता है।

जिसने हम सबको धारण कर रक्खा है, जो हम सबके लिये धारण करने योग्य है और जो स्वयं धारण-स्वरूप है—वही धर्म है। माननेवालोंका 'मत', बोलनेवालोंका 'वाद' और धारनेवालोंका 'धर्म' होता है।

सबसे पहले हम 'आत्मा' हैं, इसलिये आत्मधर्म ही परम धर्म है। पर-धर्म भयंकर है और स्व-धर्ममें मृत्यु भी परम सुन्दर है। जो मृत्युके विषयमें भी सदैव निर्भय है, वही परम धर्मात्मा है। स्व-धर्मका पालन करता हुआ वह परम धर्मात्मा मृत्युको भी श्रेय मानता है। उसे महाकाल-चक्र भी डरा नहीं सकता। कारण कि वह अम्बरीषके समान सर्वत्र प्रभुका हाथ देखता है। भक्तको कालचक्र इसीलिये सु-दर्शन लगता है—सुहावना दिखायी पड़ता है। दुर्वासा ही कालचक्रसे (ऋषि होनेपर भी) डरते हैं। भक्त अम्बरीष परम धर्मात्मा हैं (राजा होनेपर भी); वे इसीलिये निर्भय हैं कि वे परम धर्मके परम अर्थका पूर्ण साक्षात्कार कर चुके हैं।

हम सबके अन्तःकरणमें यह अभिलाषा व्यापक रूपसे काम कर रही है कि हम न मरें—अमर रहें। अग्निके निमित्तसे गरम कहलानेवाले पानीको हवामें छोड़नेसे जैसे वह अपने धर्मकी ओर प्रतिष्ठित नजर आता है, उसी प्रकार पर-निमित्तक धर्म-विरोधसे पापात्मा कहलानेवाले हम भी सत्सङ्गमें विहार करनेसे अपने परम धर्मके परम अर्थ (शान्ति) का साक्षात्कार कर सकते हैं। हमारा स्वभाव अमृतत्व है, इसलिये हम अमर रहना चाहते हैं। धुआँ बहुत बुरा लगता है, पर सुगन्धित बत्तीकी संगतिसे वह आदरणीय हो जाता है। हमारा जीवन भी धुएँके समान है; परंतु सत्सङ्गसे वह भी मधुर सुगन्धमय मालूम होता है। इसलिये सत्सङ्ग ही परमधर्म है।

संसार 'धूम'-'धाम' कहलाता है। इसमें 'धूम' (धुआँ) भी है और धाम (तेज) भी है। धुआँ उड़ जायगा—फूँक लगाते रहें—यही पुरुषार्थ है और 'धाम' प्रकट हो जायगा। वही परम धर्मका परमार्थ है। राजर्षिवर्य चतुरसिंहजी फर्माते हैं—

> जिन मन्दिरमें बसत हैं छबिमन्दिर घनश्याम।
> उनकी शोभा क्या कहूँ, धाम धाममें धाम॥

जितना 'धूम' हटा, उतना 'धाम' प्रकट हुआ। 'धाम' प्रकट हुआ कि वह राजयोगी हैं राजर्षि विश्वामित्र। वे राजयोगी भी जिनके हृदयमें रहते हैं—वे राजेश्वर—योगी हैं—भगवान् राम और वे राजेश्वर योगी भी जिन भगवान् शंकर या हनुमान्के हृदयमें रहते हैं, वे राजराजेश्वर योगी हैं—उन्हें ही राजर्षि चतुरसिंहजी फर्माते हैं। 'धाम' धाममें धाम—तेजमें तेज और फिर तेजमें तेज धन्य! धन्य!! धन्य!!!

राजयोगी इंजिनके समान शक्तिशाली हैं। राजेश्वरयोगी

डिब्बेके समान साथ लगे हुए हैं और श्रीराजराजेश्वरयोगी यात्रियोंके समान पहुँचनेवाले हैं। उन्हींको परम धर्मात्मा कहना चाहिये। राजयोगी धर्मात्मा हैं, राजेश्वरयोगी महात्मा हैं और राजराजेश्वरयोगी परमात्मा हैं। परमात्माके धर्मको ही परम धर्म कहते हैं। जब मनुष्य-धर्मका पालन मनु महाराजकी संतान ठीक-ठीक नहीं कर सकी, तब उन्होंने तप करके भगवान्‌को स्वयं मानव-वंशमें अवतार लेनेकी प्रार्थना की। तब परमात्माने परम धर्म मानवताका अखण्ड आदर्श उपस्थित करनेके लिये मानव-मर्यादाका अवतार इसीलिये धारण किया कि अब कदापि विवाद न रहे कि मानव-धर्म क्या हो। जब भगवान् स्वयं मानवरूप धारण करके बता रहे हैं कि मनुके पुत्रोंको ऐसे चलना चाहिये, तब फिर हम दूसरा कौन-सा आदर्श अपनायें। हमारे परम अनुकरणीय आदर्श तो परम पुरुष, परमात्मा, परम धर्मके पालक पुरुषोत्तम राम ही होंगे।

वाल्मीकिजीसे जब भगवान् मार्ग पूछते हैं, तब वाल्मीकिजी यही कहते हैं—'प्रभो! आप चलते हैं, वही मार्ग है। इमें कोई पूछेगा कि मानवताका रास्ता किधर है, तो हे राम! हम तुम्हारी तरफ इशारा करेंगे। जाओ, देखो, राम जा रहे हैं! जाओ; जिधर राम जा रहा है, वही रास्ता है।'

त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र पन्थाः॥

परमात्माको ठीक-ठीक प्राप्त करके ही मृत्युको जीता जा सकता है और यही परम पुरुषका परम धर्म है। परमात्मासे विभक्त हुआ—अलग हुआ तो मरा और भक्त हुआ, लग गया कि 'तरा'। 'राम' से उल्टा 'मरा', 'रात' से उल्टा 'तरा'—प्रकाश हुआ—अन्धकार मिटा। रामसे सीधा रहा तो संसार 'खेल' है। रामसे उल्टा रहा तो संसार 'जेल' है।

संसारको खेल मानकर परमात्माकी भक्ति करना ही परमात्माके परम धर्मका परमार्थ है।

परमार्थ है—'मोक्ष', उसका धर्म है 'शान्ति'। परम धर्म 'अहिंसा' है—'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।'

वही मोक्षप्रदायिनी है; परंतु परम धर्मका परम अर्थ—मोक्ष मिल गया तो भी परमपरमार्थ अभी शेष है। वह परम परमार्थ है—प्रेम।

सखा परम परमारथ एहू।
मन क्रम बचन राम पद नेहू॥

परम धर्मका परम अर्थ मोक्ष है, उसका भी रस परम परमार्थ (प्रेम) है। धर्म मूल है, अर्थ-काम पत्र-पुष्प हैं और मोक्ष फल है। वही परम धर्मका परमार्थ है और प्रेम रस है, जो परम परम अर्थ है—परम परम धर्म है।

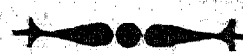
पोथा पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेमके पढ़ा सो पंडित होय॥

तृष्णा-त्याग-धर्म

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। सर्वं तन्नालमेकस्य तस्माद् विद्वाञ्छमं चरेत्॥
उत्पन्नस्य रुरोः शृङ्गं वर्धमानस्य वर्धते। प्रार्थना पुरुषस्येव तस्य मात्रा न विद्यते॥
कामं कामयमानस्य यदा कामः समृध्यते। अथैनमपरः कामस्तृष्णा विध्यति बाणवत्॥
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यमहत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

(महाभारत, अनुशासन० ९३। ४०, ४१, ४३, १४५)

इस पृथ्वीपर जितने धान, जौ, स्वर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब किसी एक पुरुषको मिल जायँ तो भी उसे संतोष न होगा; यह सोचकर विद्वान् पुरुष अपने मनकी तृष्णाको शान्त करे। जैसे उत्पन्न हुए मृगका सींग उसके बढ़नेके साथ-साथ बढ़ता रहता है, उसी प्रकार मनुष्यकी तृष्णा सदा बढ़ती ही रहती है। उसकी कोई सीमा नहीं। किसी वस्तुकी कामना करनेवाले मनुष्यकी एक इच्छा जब पूरी होती है, तब दूसरी नयी उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार तृष्णा तीरकी तरह मनुष्यके मनपर चोट करती ही रहती है। लोकमें जो काम-सुख है और परलोकमें जो महान् दिव्य सुख है—ये दोनों मिलकर तृष्णाक्षयजनित सुखकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हो सकते।



सर्वभूतहितैषिता-धर्मके आदर्श

(१)
राजा रन्तिदेव

महाराज संकृतिके पुत्र रन्तिदेवका राज्यकाल था। अचानक देशमें अनावृष्टिसे अकाल पड़ गया। रन्तिदेवने राज्यकोष, अन्नागार आदि सब क्षुधा-पीड़ितोंकी सेवामें व्यय कर दिया। अन्तमें अवस्था ऐसी आ गयी कि स्वयं रन्तिदेव तथा उनके परिवारके भोजनके लिये दो मुट्ठी अन्न राजसदनमें नहीं रह गया।

क्षत्रिय भिक्षा माँग नहीं सकता और माँगनेपर देता भी कौन? सब वैसे ही अन्नाभावसे पीड़ित थे। राजाने स्त्री-पुत्रको साथ लेकर चुपचाप राजसदन छोड़ दिया। जनहीन मार्गसे वे निकल पड़े। वनके कंद, मूल, पत्ते अथवा बिना माँगे कोई कुछ दे दे तो उससे उदर-ज्वाला शान्त करनी थी। लेकिन जब देशमें सब भूखों मर रहे हों, वनके कंद-मूल या पत्ते क्या बच पाते हैं? वृक्षोंकी छाल-तक तो छीलकर मनुष्य खा जाते हैं अकालके समय।

वनमें न कंद थे न फल। पत्तेतक नहीं थे। प्याससे सूखते कण्ठको सींचनेके लिये दो बूँद पानी मिलना कठिन हो गया और यह असह्य अवस्था एक-दो दिन नहीं, पूरे अड़तालीस दिन चलती रही। सुकुमार राजकुमार एवं महारानी, स्वयं रन्तिदेवके शरीरमें हिलने-चलनेकी शक्ति नहीं रही। अब तो ये तीनों भगवद्-विश्वासी प्राणी भगवान्का स्मरण करते हुए अन्तिम समयकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

भगवान्की लीला भी अद्भुत है। उनचासवाँ दिन आया और सूर्योदयके कुछ ही काल पश्चात् एक परिचित व्यक्ति-ने आकर रन्तिदेवको आदरपूर्वक खीर, मालपुए और जल निवेदित किया। अड़तालीस दिनसे भूखे प्राणियोंको इतना स्वादिष्ट भोजन मिल जाय तो उनके मनकी क्या दशा होगी, आप अनुमान कर सकते हैं। लेकिन रन्तिदेव सामान्य मनुष्य नहीं थे कि उनके चित्तकी स्थितिका अनुमान सामान्य मनुष्य कर सके।

जब जल दुर्लभ हो, स्नानका प्रश्न ही नहीं उठता था। मानसिक स्नान, मानसिक संध्या, तर्पण एवं पूजन ही सम्भव था और यह चलता था। आया आहार एवं जल भगवान्को अर्पित करनेके पश्चात् रन्तिदेवके मनमें आया—'जीवनमें आज प्रथम बार क्या अतिथिको भोजन कराये बिना स्वयं भोजन करना पड़ेगा?'

ठीक उसी समय सुनायी पड़ा—'राजन्! मैं बहुत क्षुधातुर हूँ।' एक ब्राह्मण अतिथि आ पहुँचे थे। रन्तिदेव-को लगा कि स्वयं भगवान् उनकी इच्छा पूर्ण करने आये हैं। बड़ी श्रद्धासे उन्हें भोजन कराया। तृप्त होकर, आशीर्वाद देकर वे ब्राह्मण विदा हुए।

ब्राह्मणके जानेपर अन्नका भाग स्त्री-पुत्रको देकर रन्ति-देव स्वयं भोजन करने जा ही रहे थे कि एक शूद्र अतिथि आ गया। उसे भी आदरपूर्वक भोजन कराया राजाने। लेकिन उसके पीठ फेरते ही कई कुत्तोंके साथ एक चण्डाल आ पहुँचा—'मैं और मेरे कुत्ते भूखसे मर रहे हैं।'

जो भी अन्न बचा था, सब बड़े सम्मानसे रन्तिदेवने उस चण्डाल तथा उसके कुत्तोंको खिला दिया। वे सब भी तृप्त होकर विदा हुए। लेकिन अब बचा था थोड़ा-सा जल और उसको पीकर ही प्राण-रक्षा सम्भव थी। राजा उसे पीने ही जा रहे थे कि एक श्वपचकी बड़ी कातर पुकार कानोंमें पड़ी—'मैं प्याससे मर रहा हूँ, मुझ अशुभ मनुष्यको कृपा करके दो चुल्लू जल दीजिये!'

महाराज रन्तिदेवके प्राण भी कण्ठगत ही थे; किंतु अपना कष्ट उनके ध्यानमें नहीं आया। उनके मुखसे निकला—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

(श्रीमद्भागवत ९। २१। १२)

'हे जगत्के स्वामी! हे परमेश्वर! मैं अपनी सद्गति, अष्टसिद्धि या मोक्ष नहीं चाहता। मुझे सब प्राणियोंके हृदयमें निवास करके उनके सब दुःख भोग लेनेकी सुविधा दो, जिससे सब प्राणी दुःखहीन हो जायँ!'

दैव! मुझे ही सब दुख दे दे, जगजन सारे सुख पायें।
जो कुछ उनके कलुष-भोग हों, इस जनके माथे आयें॥

श्वपच संकोचसे एवं पिपासाकी दुर्बलतासे दूर ही रह गया था। रन्तिदेव किसी प्रकार उठे। जलपात्र उठाया।

उसके समीप गये। बोले—'भाई! तुम भली प्रकार जल पीकर अपने प्राणोंकी तृप्ति करो!'

उनका हृदय एक ही बात दुहरा रहा था—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

'मुझे फिर राज्य प्राप्त हो जाय, यह मैं नहीं चाहता। देह छूटनेपर स्वर्ग जाऊँ अथवा जन्म-मरणसे छूट जाऊँ, यह भी मेरी इच्छा नहीं है। मैं दुःखसे संतप्त प्राणियोंका कष्ट दूर हो, केवल यही चाहता हूँ।'

क्षुत्तृट् श्रमो गात्रपरिश्रमश्च
दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तो-
र्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे॥

(श्रीमद्भागवत ९। २१। १३)

'सर्वव्यापी भगवान् नारायण! इस जीवनकी लालसासे व्याकुल प्राणीके रूपमें तुम्हीं मेरे सम्मुख हो। यह जल मैं तुम्हींको अर्पण कर रहा हूँ। जीनेकी इच्छासे व्याकुल इस प्राणीको जल देनेसे मेरी क्षुधा, अपनी पिपासा, मानसिक तथा शारीरिक श्रम, दीनता, खिन्नता, विषाद, मूर्च्छा आदि सब दुःख दूर हो गये।'

महाराज रन्तिदेवने चण्डालको सारा जल पिला दिया। उसकी तृषा मिट गयी और वह संतुष्ट होकर चला गया। उसके जाते ही रन्तिदेव लड़खड़ाकर गिरे; किंतु उन्हें किन्हीं कोमल करोंने सँभाल लिया। आश्चर्यसे नेत्र खोलकर उन्होंने देखा, हंसवाहन चतुर्मुख अरुणवर्ण सृष्टिकर्ता, गरुडासीन चतुर्भुज नवघनश्याम भगवान् श्रीहरि, कर्पूरगौर वृषभारूढ़ चन्द्रशेखर नीलकण्ठ भगवान् गङ्गाधर और महिषपर बैठे दण्डधर यमराज सम्मुख उपस्थित हैं।

'महाराज! आप अपने अतिथियोंको पहचाननेमें भूल नहीं करते!' मन्दस्मितपूर्वक श्रीनारायणने कहा। ब्राह्मण, शूद्र, कुत्तोंसे घिरे आखेटक तथा श्वपचमें भी जो उन नारायणका ही दर्शन करते थे, उनके यहाँ इन रूपोंमें वे सर्वव्यापक ही पधारे और फिर अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हो गये—इसमें रन्तिदेवको कहाँ चकित होना था।

महाराज रन्तिदेवके अथवा उनके परिवारके उद्धारकी **चर्चा करना व्यर्थ है। रन्तिदेवके जो अनुयायी सेवक** एवं प्रजावर्गके लोग थे, वे सब अपने नरेशके प्रभावसे परम योगी हो गये। —सु०

(२)

मनकोजी बोधला

मनकोजी बोधला पटवारी थे। उनके परिवारमें वे, उनकी पत्नी, पुत्र तथा पुत्रवधू—ये चार ही प्राणी थे। घरमें धन-धान्य तथा पशुधन पर्याप्त था। अचानक धामणगाँव जिलेमें अकाल पड़ा। लोग अन्नके अभावमें पत्ते तथा वृक्षोंकी छाल खानेपर विवश हुए। मनकोजीने अपना घर सदा ही अतिथियोंके लिये खुला रक्खा था। अकालके समय स्वभावतः अभ्यागत बढ़ गये। मनकोजीका अन्नभंडार समाप्त हो गया। पशु बेच दिये गये और अन्तमें पत्नी एवं पुत्रवधूके आभूषण भी बेचे गये। घरके बर्तन आदि उपकरणतक भूखे लोगोंको भोजन देनेमें बिक गये।

जब घरमें कुछ नहीं बचा, अतिथियोंने आना अपने-आप बंद कर दिया। किंतु अपने तथा परिवारके पेटको भरना आवश्यक था। मनकोजी कुल्हाड़ी लेकर जंगलमें गये। लकड़ी काटकर ले आये और उसे बाजारमें बेचा। लकड़ी बेचनेसे तीन पैसे मिले। एक पैसा मन्दिरमें चढ़ा आये। एक पैसेका आटा और एककी भगवत्सेवाकी सामग्री ले आये।

उस समय एक पैसेका पावभर आटा मिलता था। आटा कपड़ेमें बाँधकर घर पहुँचे; किंतु मनमें उत्सुकता थी—'कोई अतिथि आ जायँ आज तो सेवाका सौभाग्य मिले।'

अपनी क्षुधा स्मरण नहीं। परिवार उपवास कर रहा है—विचार नहीं; अतिथि-सेवाकी उत्सुकता मनमें है उस उदार पुरुषके। ऐसे धर्मात्माके अन्नका स्वाद लेने ब्राह्मणके वेशमें स्वयं नारायण पधारे। प्रसन्नतापूर्वक पटवारीने उन्हें पूरा आटा दे दिया। केवल नमक वे ब्राह्मणको और दे सके। ब्राह्मणने वहीं उपले सुलगाये। आटेकी बाटियाँ उसमें धरीं। इतनेमें ब्राह्मणी बनी लक्ष्मीजी आ गयीं—'मैं बहुत भूखी हूँ।'

दोनोंने बाटियाँ खायीं। तृप्त होकर प्रसाद लेनेको कहा पटवारीको। उस प्रसादका स्वाद देवताओंको भी दुर्लभ है, जो उस दिन पटवारीके पूरे परिवारको प्राप्त हुआ। —सु०

(३)

हागामुची

जापानमें समुद्रतटके समीप ही एक टीलेपर एक परिवार बसता था । उसके खेत भी टीलेपर ही थे । समुद्रके तटपर टीलेसे नीचे एक गाँव था । शीतकाल समाप्त हो गया था । वसंत ऋतुने चारों ओर अपना उल्लास बिखेर रक्खा था । खेतोंमें फसलोंकी सुनहली बालियाँ झूम रही थीं । ऐसे आनन्दपूर्ण समयमें उस गाँवमें एक मेला प्रतिवर्षके समान लगा ।

आस-पासकी बस्तियोंसे स्त्री-पुरुष, बालक-युवा रंग-बिरंगे कपड़े पहिने मेलेमें आये थे । खूब भीड़ थी । लोग खाने-पीने, वस्तुएँ खरीदने, गाने-बजाने तथा आनन्द मनानेमें मस्त थे । गाँवोंमें तो थोड़े-से वृद्ध घर तथा खेतोंकी रखवालीके लिये बच गये थे । अथवा बचे थे रोगी या शिशु ।

समुद्रतटके समीपके टीलेपर जो परिवार था, उसके सदस्योंमें भी कुछ सज-धजकर नीचे मेलेमें चले गये थे । कुछ ऊपर बैठे-बैठे मेलेका आनन्द ले रहे थे । उस परिवारका वृद्ध सदस्य हागामुची घरसे बाहर बैठा अपने पौत्रको खिला रहा था, साथ ही मेलेपर भी दृष्टि डाल लेता था ।

हागामुची अचानक चौंक गया । उसकी दृष्टि मेलेपर होती समुद्रपर पड़ी और पौत्रको गोदसे नीचे बैठाकर वह उठ खड़ा हुआ । समुद्रका जल अकस्मात् अस्वाभाविक रूपसे बहुत पीछे हट गया था । हागामुचीके मनमें प्रश्न उठा—'यह क्या हुआ ? समुद्र भाटेके समय इतना तो नहीं हटता । इस प्रकार जल एक साथ पीछे क्यों हटा ?'

समुद्रमें जहाँ पहिले जल था, वहाँ रेत दीख रही थी । हागामुचीको अपने बालकपनकी एक घटनाका स्मरण हुआ और वह काँप गया । तब वह बहुत छोटा था । उस समय भी एक दिन इसी प्रकार समुद्र पीछे हट गया था । रेत तब भी दीखी थी । उसके पीछे ही आकाश छूती लहरें उमड़ पड़ी थीं । समुद्र-तटके दूर तकके गाँव जलमग्न हो गये थे । मनुष्य और पशुओंका भारी विनाश हुआ था । हागामुचीकी दृष्टि दूर समुद्रपर गयी । उसे लगा कि बहुत दूर जलमें भारी उथल-पुथल मची है ।

आज समुद्र-तटपर मेला जुड़ा है । घड़ीभर ऐसे ही बीत जाय तो समुद्र इस पूरे समाजको निगल लेगा । हागामुचीने लोगोंको पुकारना प्रारम्भ किया; किंतु मेलेकी भीड़के शोर-गुलमें उसकी पुकार सुनायी किसे देती थी । एक ही उपाय था लोगोंकी प्राणरक्षाका कि सब लोग अविलम्ब टीलेपर चढ़ जायँ; किंतु यह कैसे हो ? एक विचार मनमें आया हागामुचीके । उसने चूल्हेसे जलती लकड़ी निकाली और अपने खेतोंमें आग लगाते दौड़ने लगा । खड़ी पकी फसल—वर्षभरके निर्वाहका आधार; किंतु मनुष्योंके प्राणोंका मूल्य कहीं अधिक था ।

'ओह !' हागामुची बीच-बीचमें समुद्रकी ओर देखता जाता था । दूर उसे क्षितिजको छूती लहरें बढ़ती दीखीं । उसे लगा कि खेतोंके जलनेपर मेलेके लोग ध्यान नहीं दे रहे हैं । राग-रंगमें डूबे लोगोंको जलते खेत आकर्षित नहीं कर सके थे । हागामुचीने बिना क्षणभर सोचे अपने घरमें आग लगा दी । कई ओरसे आग लगानेसे घर धू-धू करके जलने लगा ।

'यह क्या ? क्या करते हैं आप ?' घरके जो सदस्य टीलेपर थे, वे सब घरसे बाहर ही थे । उन्हें लगा कि बूढ़ा पागल हो गया है; किंतु लोग रोकें, इससे पूर्व तो घरसे ऊँची लपटें उठने लगी थीं । मेलेमें सुरक्षाके लिये आये दमकलोंके घंटे घनघनाने लगे । भीड़ने लपटें देखीं और लोग टीलेपर दौड़े । दूकान, सामान, सवारियाँ छोड़-कर लोग हागामुचीके घरकी अग्नि बुझाने टीलेपर चढ़े । इतनेमें तो जैसे प्रलयकाल आ गया । समुद्र एक साथ उमड़ पड़ा । आसपास मीलों तक लहरें हाहाकार करती दौड़ पड़ीं; किंतु टीलेपर मेलेके प्रायः सब मनुष्य पहुँच चुके थे और उनका जीवन सुरक्षित हो गया था । अपने सर्वस्वकी आहुति देकर हागामुचीने उन्हें बचा लिया था । हागामुचीकी मूर्ति बनाकर पीछे लोगोंने मन्दिरमें रक्खी ।

—सु०



राजधर्मके आदर्श

(१)

महाराज अश्वपति

एक बार अनेक ऋषि तथा ऋषिपुत्र एकत्र हुए। उनमें आत्मा तथा ब्रह्मके सम्बन्धमें विचार होने लगा; किंतु वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाते थे। इसलिये वे एकत्र होकर महर्षि उद्दालकके पास पहुँचे। लेकिन उन्होंने कहा—'इस वैश्वानर आत्माका ठीक-ठीक बोध तो महाराज अश्वपतिको ही है। हम सब उनके समीप चलें।'

इतने ऋषि एवं ऋषिपुत्र एक साथ पधारे, यह देखकर महाराज अश्वपतिको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने सबको अभिवादन किया और आसनपर बैठाया। महाराजने उनके चरण धोये; चन्दन, माला, पुष्प आदिसे उनका पूजन किया। इसके पश्चात् उनके भोजनके लिये नाना प्रकारके स्वादिष्ट सात्त्विक पदार्थ स्वर्णथालोंमें परसे तथा दक्षिणाके रूपमें स्वर्णराशि निवेदित की। लेकिन उन अभ्यागतोंने न तो भोजनका स्पर्श किया और न धन लेना स्वीकार किया।

राजा अश्वपतिको ऋषियोंके इस व्यवहारसे आश्चर्य नहीं हुआ। वे हाथ जोड़कर बोले—'मैं जानता हूँ कि शास्त्रमें राजाका अन्न अपवित्र बतलाया गया है और इसलिये अपवित्र बतलाया गया है कि राजा चोर, डाकू, अनाचारी आदिपर अर्थदण्ड करता है। वह पापियोंका धन उसके पास आता है। प्रजाके पापमें भी राजाको भाग मिलता है। लेकिन मेरे राज्यमें तो कोई चोर नहीं, कोई मद्यप नहीं; अनाचारी पुरुष ही नहीं तो अनाचारिणी स्त्रियाँ कहाँसे होंगी। ऐसी अवस्थामें आप सब मेरे यहाँ भोजन क्यों नहीं करते? मेरा अन्न तथा धन तो निर्दोष हैं।'

उन ऋषियोंने कहा—'राजन्! मनुष्य जहाँ जिस प्रयोजनसे जाता है, उसका वह प्रयोजन पूर्ण हो—यही उसका सत्कार है। हम सब आपके पास धनके लिये नहीं आये हैं। हम वैश्वानर-आत्माका ज्ञान प्राप्त करने आये हैं।'

'आज तो आप सब भोजन करके विश्राम करें। कल आपकी बातका विचार करूँगा।' राजा अश्वपतिने हँसकर बात टाल दी।

'राजाने हमारे प्रश्नका उत्तर क्यों नहीं दिया? उन्होंने कल भी उत्तर देनेका निश्चित आश्वासन भी नहीं दिया।' भोजन करके अग्निशालामें बैठे वे अतिथि परस्पर विचार करने लगे।

'हम सब अविधिपूर्वक प्रश्न करें तो उत्तर कैसे मिलेगा?' महर्षि उद्दालकने बतलाया। 'हम जिज्ञासु होकर आये और उच्चासनोंपर बैठकर पूजन स्वीकार करने लगे। ज्ञानकी प्राप्ति इस प्रकार नहीं हुआ करती। विद्या भी जलके समान अधःप्रवाहिनी है। जो नीचे बैठेगा, विनम्र होगा, ज्ञान उसकी ओर जायगा।'

दूसरे दिन उन लोगोंने हाथमें समिधा ली और विनम्र भावसे राजाके समीप गये। तब राजा अश्वपतिने उन्हें आत्मज्ञानका उपदेश किया। —सु०

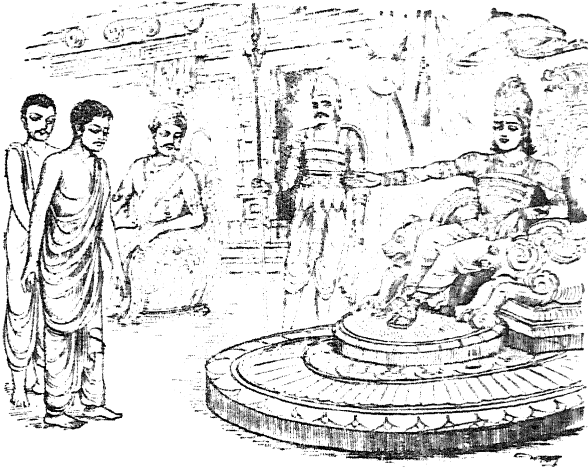
(२)

सम्राट् अशोक

प्रियदर्शी सम्राट् अशोकका जन्मदिन था। सभी प्रान्तोंके शासक क्षत्रप उपस्थित हुए थे। सम्राट्ने घोषणा की थी कि 'सर्वश्रेष्ठ प्रान्तीय शासकको इस वर्ष पुरस्कृत किया जायगा।'

राजसभामें जब सम्राट् सिंहासनपर आसीन हो गये, प्रान्तीय शासकोंने अपना कार्य-विवरण सुनाना प्रारम्भ किया। उत्तर-सीमान्तके शासकने तीनगुनी आय की थी। दक्षिणके शासकने राज्यकोषमें प्रतिवर्षकी अपेक्षा दुगना स्वर्ण अर्पित किया था। पूर्वीय प्रदेशके शासकने अपने प्रान्तके उपद्रवी तत्त्वोंको कुचल दिया था। एक अन्य प्रान्ताधिपने प्रजासे कर अधिक लिया था, सेवकोंका व्यय कम किया था तथा राजकीय आयके दूसरे कई स्रोत ढूँढ़ निकाले थे। ये सब अपनी शासनकुशलताका परिचय देकर सम्राट्से पुरस्कृत होनेकी आशा कर रहे थे।

सबसे अन्तमें मगधके प्रान्तीय शासक उठे। उन्होंने निवेदन किया—'मेरे प्रान्तने प्रतिवर्षकी अपेक्षा आधेसे कम ही धन राजकीय कोषमें दिया है; क्योंकि प्रजाका कर कम किया गया है और राजसेवकोंकी सुविधाएँ कुछ बढ़ायी गयी हैं। प्रान्तमें उपयुक्त स्थलोंपर कुएँ तथा धर्मशालाएँ बनवायी गयी हैं। रोगियोंके लिये चिकित्सालय तथा बालकोंकी शिक्षाके लिये पाठशालाएँ भी अनेक स्थानोंपर खोली गयी हैं।'



'इस वर्षका सर्वश्रेष्ठ शासक होनेका पुरस्कार मगधके प्रान्तीय प्रशासकका गौरव बढ़ायेगा।' सब विवरण सुनकर सम्राट्ने घोषणा की। उन्होंने आगे आदेश दिया—'सब प्रान्तीय प्रशासक उनसे प्रेरणा ग्रहण करें! अशोकको प्रजाका शोषण करके प्राप्त होनेवाली स्वर्णराशि नहीं चाहिये। प्रजाके शूरोंकी उचित बातें सुने बिना उनका दमन करनेकी मैं निन्दा करता हूँ। प्रजाको सुख-सुविधा दी जाय, यह मेरी इच्छा है।' —सु०

(३)

राजकुमार मूलराज

लगभग नौ शती पूर्वकी बात है। गुजरात उस समय भीमदेव-के शासनमें था। एक वर्ष अनावृष्टि हुई। खेतमें कुछ हो नहीं तो किसान कर कहाँसे दे? एक ग्रामके लोग कर नहीं दे सके। राजाके सिपाही उस गाँवमें गये और उनके घरोंमें जो कुछ मिला, सब उठा लाये। राजकुमार मूलराजने उन किसानोंका रुदन, उनकी दयनीय दशा देखी; किंतु वे बालक थे। कुछ करना उनके वशमें नहीं था।

उन दिनों राजकुमार घुड़सवारी सीख रहे थे। पिताने कहा था कि वे मन लगाकर सीखें तो पुरस्कार पायेंगे। राजकुमारने रात-दिन जुटकर अपनेको और अश्वोंको भी थका डाला, किंतु सप्ताहके भीतर घुड़सवारीकी परीक्षा देने पिताके सम्मुख उपस्थित हो गये। उनके उत्साह तथा निपुणतासे प्रसन्न होकर राजा भीमदेवने कहा—'तुम अपना पुरस्कार माँग लो।'

'गरीब कृषकोंके यहाँका जो सामान राजसेवक कर न देनेके कारण ले आये हैं, वह उन्हें लौटा दिया जाय!' मूलराजने पुरस्कार-में माँगा।



'मेरा पुत्र इतना प्रजावत्सल है!' भीमदेव बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'बेटा! तुम अपने लिये भी कुछ माँग लो!'

'मुझे बहुत प्रसन्नता होगी यदि आप घोषणा कर दें कि अब जहाँ अकाल पड़ेगा, वहाँके कृषकोंसे कर नहीं लिया जायगा।' मूलराजने यह माँगा और पुत्रको यह पुरस्कार देकर राजाको भी अपार हर्ष हुआ। —सु०

(४)

शासकधर्मके आदर्श महाराज चन्द्रापीड

महाराज चन्द्रापीडने एक देवमन्दिर बनवानेका संकल्प किया था। शिल्पी आमन्त्रित किये गये थे। शिल्पिवर्गके प्रधानने एक भूमि मन्दिरके लिये चुनी। लेकिन भूमिका

रेखाङ्कन रोक देना पड़ा। भूमि जितनी आवश्यक थी, उसके एक भागमें चमारका एक झोपड़ा था। राज्यके कर्म-चारी चमारको उस भूमिका बहुत अधिक मूल्य दे रहे थे; किंतु चमार कहता था—'मुझे किसी मूल्यपर भूमि बेचनी नहीं है।'

प्रजावत्सल महाराज चन्द्रापीडके राज्यमें राज्यकर्मचारी प्रजाके किसी सदस्यपर अत्याचार करनेका साहस नहीं कर सकते थे। उन्होंने महाराजसे परिस्थिति निवेदन की। महाराजने कहा—'बलपूर्वक किसीकी भूमि ली नहीं जा सकती। मन्दिर अन्यत्र बनाया जाय।'

प्रधान शिल्पीने इसमें बाधा दी—'उस भूमिपर मन्दिर बनानेका संकल्प किया जा चुका। राजधानीके आस-पासकी भूमि मैंने देख ली है। देवमन्दिरके उपयुक्त उतनी श्रेष्ठ भूमि दूसरी नहीं है।'

चमार राजसदन बुलाया गया। महाराजने उससे कहा—'भूमि मुझे अपने किसी उपयोगके लिये नहीं चाहिये। देव-मन्दिरके निर्माणमें बाधा डालना पाप है, यह तुम जानते ही हो। तुम दूसरी भूमि जहाँ चाहो, जितनी चाहो ले लो। तुम्हारे लिये उसमें भवन बनवा दिया जायगा, यदि तुम स्वीकार करो।'

चमार हाथ जोड़कर बोला—'महाराज! आपका यह पैतृक राजसदन है। किसीको किसी भी मूल्यपर इसे देना क्या आप स्वीकार करेंगे? मैं दरिद्र हूँ, नीच जातिका हूँ; किंतु मेरे पिता-पितामह उसी झोपड़ीमें रहे हैं। मेरे लिये वह भूमि माताके समान है। मैं उसे बेच नहीं सकता।'

नरेश उदास हो गये। चमार दो क्षण चुप रहकर स्वयं बोला—'महाराज! आपने मुझे धर्म-संकटमें डाल दिया है। देव-मन्दिर बननेमें मैं बाधा डालूँ तो पाप होगा और वह पाप मेरे पूर्वजोंको भी पीड़ा देगा। इसलिये एक उपाय है, यदि आप इस नीच जातिके चमारके यहाँ पधारकर माँगें तो मैं वह झोपड़ीकी भूमि देवमन्दिर बनानेके लिये आपको दान कर दूँगा। इससे मुझे और मेरे पूर्वजोंको पुण्य होगा।'



'महाराज चमारसे भूमि दान लेंगे?' राजसभाके सदस्योंको इस प्रस्तावपर ही क्रोध आया। एक दरिद्र अछूतको महाराजके ऐसे असम्मानका साहस क्यों करना चाहिये!

'तुम जाओ!' महाराजने चमारको बिना कुछ कहे विदा कर दिया। लेकिन दूसरे दिन काश्मीरके वे धर्मज्ञ नरेश चमारकी झोपड़ीपर भूमिदान माँगने पहुँच गये। चमारसे उन्होंने भूमि-दान स्वीकार किया। —सु०

श्रेष्ठ राजाका धर्म

निज सुखकी परवाह न करके करना सुखी प्रजाको नित्य।
फैलाना आचरण स्वयं कर—सदाचार, सेवा, तप, सत्य॥
ईश्वरमें रति बढ़े सतत, करना-करवाना ऐसे कर्म।
न्याय दयायुत सदा बरतना—यही श्रेष्ठ राजाका धर्म॥

न्याय-धर्मके आदर्श

(१)

काशी-नरेश

मनुष्य धन, अधिकार, युवावस्था तथा सौन्दर्यमेंसे एकको भी पाकर मतवाला हो जाता है; काशी-नरेशकी रानीको तो ये सब प्राप्त थे। ढलती अवस्थामें महाराजने यह विवाह किया था। अतः रानीको वे बहुत मानते थे। इस प्रेमने रानीको और भी गर्वान्ध बना दिया था।

महारानी शीतकालमें एक दिन दासियोंके साथ वरुणा-गङ्गा-संगमपर स्नान करने गयीं। उस समय वहाँ तटपर किसीको रहनेकी अनुमति नहीं थी। कुछ झोपड़ियाँ थीं वहाँ मछुओं तथा खेतवालोंकी। राजसेवकोंने उन लोगोंको भी वहाँसे हटा दिया था। माघके महीनेमें सूर्योदयसे पूर्व स्नान करके रानी शीतसे काँपने लगीं। पासमें उस समय वन था; किंतु वनसे लकड़ी लानेमें विलम्ब होता। पहले लकड़ी मँगाना ध्यानमें नहीं आया था। रानीने आज्ञा दी—'इनमेंसे एक झोपड़ीमें झटपट आग लगा दो।'

दासीने प्रार्थना की—'झोपड़े या तो साधुओंके होंगे अथवा गरीबोंके। इस जाड़ेमें झोपड़ा जल जानेपर वे बेचारे कहाँ जायँगे?'

राजमहलमें पली रानीको गरीबोंके कष्टका क्या पता? उन्हें तो इस समय अपने हाथ-पैर सेंकनेकी धुन थी। क्रोधपूर्वक बोलीं—'इसे मेरे सामनेसे दूर करो। बड़ी दयालु बनती है। झटपट झोपड़ा सुलगाओ। शीतसे मैं काँप रही हूँ।'

रानीकी आज्ञाका पालन हुआ। एक झोपड़ेमें आग लगायी गयी तो वायुके वेगसे दूसरोंमें अपने-आप लग गयी। सब झोपड़े जल गये। रानीने हाथ-पैर सेंके और वे पालकीमें बैठकर राजभवन पहुँचीं।

जिनके झोपड़े जले थे, वे लोग भी पहुँचे राजसभामें। उनकी बात सुनकर काशी-नरेश बहुत दुखी हुए। राजभवनमें जाकर उन्होंने रानीसे पूछा—'तुम्हें यह क्या सूझी? गरीब प्रजाके घर जलवाकर तुमने कितना अन्याय किया, इसका कुछ पता है?'

रानीको अपने रूपका गर्व था। वे तुनककर बोलीं—'आप उन घासके गंदे झोपड़ोंको घर कहते हैं? वे तो फूँक देने योग्य ही थे।'

महाराज गम्भीर होकर बोले—'रानी! न्याय सबके लिये समान है। तुम शीघ्र समझ जाओगी कि निर्धन कितने श्रम तथा कष्टसे एक झोपड़ा बना पाता है।'

'रानीके वस्त्राभूषण उतार लो! इन्हें एक फटा वस्त्र पहिनाकर राजसभामें ले आओ।' यह आज्ञा राजाने दासियोंको दी और रानीको बोलनेका अवकाश दिये बिना लौट गये।



दासियाँ विवश थीं। राजाज्ञा पालन न करनेका दण्ड मृत्यु हो सकती थी। फटे वस्त्र पहने भिखारिनीके समान रोती हुई रानी राजसभामें लायी गयीं। न्यायासनपर बैठे नरेशने आज्ञा की—'वे सब झोपड़े जो तुमने जलवा दिये हैं, जबतक भिक्षा माँगकर बनवा न दो, राजभवनमें नहीं आ सकोगी। स्वयं विपत्तिमें पड़े बिना दूसरोंकी विपत्ति मनुष्य समझ नहीं पाता।' —सु०

(२)

राव रतनसिंह

(लेखक—श्रीशिवकुमारजी गोयल)

उन दिनों बूँदीराज्यपर राव रतनसिंह हाड़ाका आधिपत्य था। राव रतनसिंह अत्यन्त धार्मिक, न्यायप्रिय एवं निर्भीक तथा वीर शासक थे। उनकी धर्मनिष्ठा एवं न्यायप्रियताकी दूर-दूरतक धाक थी।

एक दिन राव रतनसिंहके बीस-वर्षीय युवक पुत्र राजकुमार गोपीनाथने सड़कपर एक षोडशी युवतीको देखा तो देखता ही रह गया। ऐसी रूपसी थी वह।

राजकुमारने युवतीका पीछा किया और पता लगा लिया कि वह तरुणी एक ब्राह्मण युवककी नवविवाहिता पत्नी थी। दूसरे ही दिन राजकुमार उस ब्राह्मणके घर जा पहुँचा। कामान्ध राजकुमारने ब्राह्मण युवकको डरा-धमकाकर घरसे बाहर निकाल दिया और दरवाजेकी अंदरसे साँकल बंद कर ली। ब्राह्मण युवकने भी बाहरसे साँकल लगा दी और दौड़ा हुआ वह बूँदी-नरेश राव रतनसिंहके पास पहुँचा।

'मेरा सर्वस्व लुट गया अन्नदाता!'—ब्राह्मण युवकने रोते-चिल्लाते हुए बूँदी-नरेशसे कहा।

'क्यों, क्या आपत्ति आ गयी, ब्राह्मणदेवता!' राव रतनसिंहने विनम्रतापूर्वक पूछा।

'एक राजपूतने मेरी नवविवाहिता पत्नीके साथ बलात्कार किया है अन्नदाता!'—युवक कहते-कहते सुबकने लगा।

'क्या तेरे शरीरमें रक्त नहीं था, जो तूने यह भयंकर अत्याचार सहन किया? उस नराधम पापात्माका सिर उतार लेना चाहिये था'—राव रतनसिंहने क्रोधमें तमतमाकर कहा।

'किंतु उसकी हत्या करनेके अपराधमें मुझे दण्ड जो मिलता।'

'उस पापात्माका सिर उतारनेपर दण्ड नहीं, पुरस्कार दिया जाता। धर्मका हनन करनेवालेकी हत्या ही महान् पुण्य है।' रावने उत्तर दिया।

युवकने खेतसे गँड़ासा लिया और घर जा पहुँचा। दरवाजेकी साँकल खोलकर उसने दरवाजा खटखटाया। कामान्ध राजकुमार अपनी कामपिपासा शान्त करके बाहर निकला। ब्राह्मण युवकने तुरंत ही कामुक राजकुमारका सिर गँड़ासेसे अलग कर दिया।

समस्त बूँदीमें राजकुमारकी निर्मम हत्यासे आतङ्क छा गया। पुलिस थानेदारने तुरंत ब्राह्मण युवकको खूनसे सने गँड़ासे और खूनसे भीगे कपड़ोंसहित गिरफ्तार कर लिया।

युवकको हथकड़ी डालकर राजमहलमें पेश किया गया।

'मैंने राव साहबकी आज्ञासे ही राजकुमारकी हत्या की है'—ब्राह्मण युवकने बूँदी-नरेशकी ओर संकेत करते हुए थानेदारसे कहा।

'हाँ, मेरी आज्ञा लेकर ही इस वीर युवकने उस कामुक नरपिशाचका सिर उतारा है। राजाका यह धर्म है कि वह न्याय करते समय, अपने पुत्रके अपराधपर पर्दा न डालकर, उसे निष्पक्षतासे दण्ड दे'—रावने थानेदारको सम्बोधित करते हुए कहा।

ब्राह्मण युवककी हथकड़ियाँ खोल दी गयीं। बूँदी-नरेश राव रतनसिंहने अपनी धर्मनिष्ठा एवं न्यायकी रक्षाके लिये अपने कामुक तथा दुराचारी पुत्रकी हत्यापर आँसू नहीं बहाये, अपितु गौरव अनुभव किया।



गृहस्थ-धर्म-विचार

(लेखक—विद्याभूषण श्रीरामकृष्ण अनंत भट्ट काशीकर)

अथोच्यन्ते गृहस्थस्य धर्माणि च यथाविधि।
तदनुष्ठानतः सम्यक् पदवीं महतामियात् ॥

गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंमें श्रेष्ठ माना गया है। ब्रह्मचर्याश्रमके विधिपूर्वक पालन करनेके पश्चात् गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिये; क्योंकि उस समयतक मनुष्यकी बुद्धि परिपक्व हो जाती है और शरीर बलवान्, वीर्यवान् एवं आरोग्य-सम्पन्न होता है; मन शुद्ध और सत्कार्योंकी ओर प्रवृत्त होता है। जैसे प्राणिमात्र वायुका आश्रय लेते हैं, वैसे सब आश्रमोंके लोग गृहस्थाश्रमियोंसे ही आश्रय पाते हैं।

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठो गृहाश्रमी ॥

(मनु० ३। ७८)

अन्य तीनों आश्रमवालोंके पालन-पोषणका भार गृहस्थोंके कंधोंपर ही होता है। कमजोर कंधे इस भारको कैसे सँभाल सकते हैं। शास्त्र कहते हैं कि दुर्बलेन्द्रिय स्त्री-पुरुष इस आश्रमको धारण नहीं कर सकते। अतएव गृहस्थाश्रमको चलानेके लिये आवश्यक है कि स्त्री-पुरुष अपने शरीर और मनको खूब बलवान् तथा संयत बनायें; सांसारिक व्यवहारोंको उत्तम रीतिसे चलानेके लिये सामर्थ्य और विद्याबल प्राप्त करें। तभी शूरवीर और बुद्धिमान् संतान पैदा होगी एवं गृहस्थाश्रमका बोझ सँभालकर अन्य आश्रमोंकी सेवा की जा सकेगी। इस आश्रममें आकर मनुष्य सत्कर्म करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

स्त्री-पुरुषका जो वैवाहिक बन्धन है, उसीका नाम गृहस्थाश्रम है और उन दोनोंके एक होकर रहनेसे ही गृहस्थका काम सुचारु रूपसे संचालित होता रहता है।

गृहस्थाश्रममें स्त्री-पुरुषको कामवासनारहित प्रेम-भावसे संयतेन्द्रिय रहकर ज्ञानसहित संतानोत्पत्ति करनी चाहिये। वह गृह स्वर्गोपम है, जिसमें स्त्री-पुरुष एक-दूसरेसे प्रेमयुक्त व्यवहार करते हैं तथा दोनों ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार अपने कर्त्तव्यका पालन करते हैं। अन्यथा कामनासक्त होनेसे स्त्री-पुरुष-व्यवहारपर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता और इससे संतान जल्दी-जल्दी होने लगती है और वह बलहीन एवं रोगग्रस्त होती है। भारतमें जनसंख्या बड़ी तीव्रतासे बढ़ रही है और इसलिये परिवार-नियोजनका अशास्त्रीय प्रयत्न हो रहा है! एक बड़ी समस्या उपस्थित हो गयी है। स्त्री-पुरुष संयममें रहकर शुद्ध आचरण रक्खें तथा धार्मिक व्यवहार—ईश्वरभक्ति, धार्मिक पुस्तकोंके अध्ययन-पाठ, प्रवचन आदि करें तो मनोनिग्रह-धारणासे इस समस्याका उन्मूलन हो सकता है। एक संतानके बाद दूसरी संतानमें कम-से-कम पाँच वर्षका अन्तर होना आवश्यक है। इसके लिये गर्भ-निरोधके कृत्रिम साधनोंका उपयोग करना उचित नहीं है। संयम ही एक सर्वोत्कृष्ट उपाय है। संयम अव्यावहारिक नहीं है। हमारी वर्तमान रहन-सहनके कारण यह हमलोगोंको कठिन प्रतीत होने लगा है। संयम रखना शास्त्रके सर्वथा अनुकूल है और संयम मनपर ही निर्भर करता है। कृत्रिम साधनोंसे मन उच्छृङ्खल बनता है। मनकी उच्छृङ्खलतासे विषय-सेवनकी परिमिति नहीं रहती। अति स्त्री-प्रसङ्ग हर हालतमें हानिकारक सिद्ध होता है। यह तो निर्विवाद है कि स्त्री-पुरुषकी सारी शक्ति, तेज, ओज, आयु, बुद्धि—रज-वीर्यके आधारपर आश्रित है। शास्त्र कहते हैं—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके पश्चात् स्त्री-पुरुषको 'स्वधर्म'में रत रहते हुए एक-दूसरेका रक्षक बनकर रहना चाहिये, न कि इन्द्रियोंके क्षणिक सुखके वशीभूत होकर एक-दूसरेके भक्षक बन जायँ। अतएव हमें उचित है कि हम ज्ञानसहित अपनी शक्तिको पर्याप्तरूपमें संचित करें, अपनी आत्मा एवं उसके प्रकाशको बढ़ायें एवं पुरुषार्थके साथ प्राणिमात्रकी निःस्वार्थभावसे सेवा करते हुए अपने गार्हस्थ्य-जीवनको सुचारु रूपसे संचालित करते रहें। इसीमें मानवजीवनका कल्याण है।

× × ×

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्राश्च स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

इस श्लोकका अर्थ आजके समाज-स्वातन्त्र्यके युगमें लोग अपार्थ दृष्टिसे करते हैं। पर इसका अर्थ ऐसा करना चाहिये कि कन्याकी रक्षा पिता, युवतीकी पति और माताकी

पुत्र करता है। स्त्री स्वतन्त्र रहकर अपनी रक्षा नहीं कर सकती।

यह सत्य है कि स्त्री शक्तिरूपा है एवं शक्तिका स्रोत है। सारे संसारको शक्ति स्त्रीजातिसे ही मिलती है। पर उसकी शक्तिकी देख-रेख रखना कुमार्यवस्थातक पिताका कर्तव्य है। दिन-प्रतिदिन उत्तरोत्तर उसकी शक्तिका विकास होता रहे; इसका भार कुमार्यवस्थामें पितापर है।

इसके बाद युवावस्थामें उसकी शक्तिकी देख-रेख रखना पतिका काम है। गृहस्थ-धर्मको सुचारु रूपसे संचालित एवं धर्मयुक्त संतानोत्पत्ति करते हुए उसकी शक्तिकी देख-रेख करना यानी उसकी शक्ति कहीं भी कम न हो जाय, इस बातका ध्यान रखना पतिका कर्तव्य है।

गृहस्थाश्रम समाप्त करनेके बाद उसकी शक्तिकी देख-रेख रखना और सेवा करना पुत्रका कर्तव्य है। उसकी शक्तिका जितना संचय रहेगा, उतना ही उसकी आत्माका विकास होगा एवं आत्माका प्रकाश बढ़नेसे उनको मोक्षकी प्राप्ति होगी। कम-से-कम पुनर्जन्ममें यह संचित शक्ति उनके लिये सहायक तो होगी ही।

शास्त्रोंने पितासे सहस्रगुना अधिक माताका सम्मान करना बतलाया है—

सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

धार्मिक दृष्टिसे चतुर्थाश्रमी यति सर्ववन्द्य है। गृहस्थ पिता भी पुत्र संन्यासीका वन्दन करता है, परंतु उस संन्यासीके लिये भी धर्मानुसार मातृवन्दना विहित है—

सर्ववन्द्येन यतिना प्रसूर्वन्द्या प्रयत्नतः ॥

(स्क० पु० काशी० ११। ५०)

पुरुष सदासे ही नारीको मातारूपमें पूज्य एवं मार्गदर्शिका मानता रहा है। पत्नीरूपमें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय एवं हृदयेश्वरी बनाकर उसे अपना सर्वस्व समर्पण करके उसके रक्षण-पोषणके लिये, वस्त्राभरण जुटानेके लिये दिन-रात परिश्रम करता रहा है। इतना ही नहीं, नारीके संकेतपर ही पुरुष सब काम करता रहा है। प्रेमसे ही पुरुष स्त्रीको वशमें रख पाया है। प्रेमसे ही स्त्री भी पुरुषको अपने इशारेपर नचाती रही है। किन्हीं धार्मिक-आध्यात्मिक संस्कार-शून्य समाजके लोगोंमें स्त्रीको गलेमें रस्सी बाँधकर रखनेकी प्रथा हो सकती है, पर वह भारतमें कभी नहीं रही। स्त्रीका एक ही पुरुषके साथ सम्बन्ध शुद्ध धर्ममूलक ही है, धर्म-नियन्त्रित स्नेह एवं अर्थव्यवस्था उसका आनुषङ्गिक फल है। पशुओंकी अपेक्षा मनुष्योंकी मनुष्यता एवं विशेषता ही यह है कि मनुष्य प्रत्यक्ष-अनुमानसे अतिरिक्त आगम-प्रमाण भी मानता है और तदनुकूल वह धार्मिक होता है। पति-पत्नीके असाधारण सम्बन्धसे ही पत्नी, पुत्री, भगिनी, माता आदिकी असाधारण व्यवस्था होती है। तदनुकूल ही उत्तराधिकारकी व्यवस्था भी चलती है। इसीलिये आस्तिकोंका कहना है कि प्रत्यक्षानुमानाश्रित मति जहाँतक दौड़ती है, वहाँतक ही चलनेवाले 'वानर' आदि पशु होते हैं और प्रत्यक्षानुमानातिरिक्त आगमके अनुसार धार्मिक, आध्यात्मिक सामाजिक व्यवस्था करके चलनेवाले लोग ही 'नर' अर्थात् मानव होते हैं—

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः।
शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः ॥

(तन्त्रवार्तिक)

आजकलके जडवादी लोग धर्मको न मानकर कहते हैं कि 'पातिव्रत्यधर्म केवल व्यक्तिगत सम्पत्तिके आधारपर बना हुआ है। समाज तहस-नहस न हो जाय, इसीलिये एक ही पुरुषके साथ सम्बन्ध रखनेके लिये स्त्रीको समझा-बुझाकर राजी किया गया और तदनुसार ही धर्म, नीति, रिवाज गढ़े गये एवं स्त्रीकी स्वतन्त्रतामें धर्म और भगवान्‌के नाराज होनेका डर दिखलाया गया। इसके अतिरिक्त पातिव्रत्यका और कोई अर्थ नहीं है।'

जडवादी इससे अधिककी आशा भी क्या कर सकते हैं? जिनकी दृष्टिमें विश्वका कारण सर्वज्ञ ईश्वर ही नहीं जँचता, जो भूत-प्रेतकी कल्पनाको ही परिष्कृत रूपमें ईश्वर-कल्पना समझते हैं, जिनके मतानुसार धर्म-कल्पना भीरु मस्तिष्कका फितूर मात्र है, वे सीता, सावित्री आदिके परम गम्भीर पातिव्रत्य-धर्मको कैसे समझ सकते हैं? सीताका अग्नि दिव्य करके जीवित हो उठना, सावित्रीका यमराजसे अपने मृत पतिको पुनः प्राप्त कर लेना, शाण्डिलीका सूर्यनारायणके उदयपर प्रतिबन्ध लगा देना आदि जडवादी दृष्टिसे कोरी कल्पनाएँ मात्र ही हैं। आश्चर्य है कि परम सत्य आर्ष इतिहास तो नास्तिक जडवादियोंकी दृष्टिमें झूठे हैं, परंतु बंदरसे मनुष्य उत्पन्न होनेका निराधार विकासवादी इतिहास सत्य है। भारतमें अभी-अभी हालमें इन ५० वर्षोंके भीतर सैकड़ों सतियाँ हुई हैं। वे हँसती-हँसती चितापर अपने पतिके साथ

परलोक चली गयीं। उत्तरप्रदेश तथा राजस्थानमें तो कई सतियाँ विना अग्निके ही अपने शरीरसे दिव्याग्नि प्रकट करके सती हुई हैं। चित्तौरगढ़की पद्मिनी आदिके ऐतिहासिक सतीत्वसे कोई समझदार व्यक्ति आँख नहीं मूँद सकता। नास्तिक जडवादी सिवा अनर्गल प्रलापके इन वातोंका क्या उत्तर दे सकते हैं? स्पष्ट है कि जिन्हें धर्म, सभ्यता, संस्कृति और पातिव्रत्य मान्य हैं, ऐसे स्त्री-पुरुषोंके लिये आज-कलके प्रेमोत्तरविवाह (लव मैरेज) इत्यादि ये सुधार तथा जडवादियोंकी नास्तिकता धर्म एवं मानवताके शत्रु ही हैं।

स्त्री सर्वदा ही लज्जाशील होती है, वह कभी अभियोगिनी नहीं होती। पुरुष ही स्वैरी होकर स्त्रीको स्वैरिणी बनाता है। जहाँ पुरुष स्वैरी न होगा, वहाँ स्त्री भी स्वैरिणी नहीं हो सकती। स्त्री पुरुषकी हृदयेश्वरी है, प्राणेश्वरी है, आत्मा है, सब कुछ है। उसके हिस्से एवं अधिकारकी बात जडवादी नास्तिकोंके द्वारा ही उठायी गयी है, उठायी जाती है। स्त्रीको पुरुषके बराबर बनानेका प्रयत्न करना उसका अपमान करना है, उसको हजारगुना नीचे उतारना है। विवाह करके परिवार-पालन करनेके उदात्त कर्त्तव्यको झगड़ा या झंझट समझनेकी प्रवृत्ति जडवादी उच्छृङ्खल-पंथियोंकी ही प्रेरणा है। स्त्री और पुरुष—सभी यदि नौकर-नौकरानी बनेंगे, तो उनकी संतानें भी अवश्य ही नौकर-मनोवृत्तिकी ही बनेंगी। माताका दूध न पाकर, जननीका लाड-प्यार, लालन-पालन न पाकर, डिब्बोंके दूध पीनेवाले बच्चे निम्न श्रेणीके ही होंगे। माता-पिताका भी बच्चोंमें कोई प्रेम न होगा, बच्चोंका भी माँ-बापके प्रति कुछ आकर्षण-अनुराग न होगा। पति-पत्नीका भी परस्पर स्थायी प्रेम न होनेसे किसी भी सम्बन्धकी स्थिरता न होगी। सभी सम्बन्ध वासना-तृप्ति और पैसेके कारण होंगे। विवाह और तलाककी अबाध परम्परा चलती ही रहेगी। इसको आज-कलकी सुधारणा कहें या कुधारणा, यह नहीं समझमें आता!

हमलोगोंका सुख और कल्याण हमारे कर्मोंपर निर्भर है। हमारी भारतीय वैदिक संस्कृतिका उद्देश्य भी लोक-कल्याण और परोपकार ही है। अतएव धर्मतः गृहस्थाश्रमका मुख्य कर्त्तव्य है—

यत्कृत्वानृण्यमाप्नोति दैवात् पित्र्याच्च मानुषात्।

—देवऋण, पितृऋण तथा मनुष्यऋण—इन तीनों ही ऋणोंसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करना। ईश्वरसे हमलोगोंकी यही हार्दिक प्रार्थना है कि वे हमको सद्बुद्धि दें, जिससे हम अच्छे कामोंमें लगें; क्योंकि बिना सत्कर्मके हमारी कोई भी उन्नति नहीं हो सकती। भगवान् सन्मति दें।

भगवत्कृपाप्राप्त गृहस्थ

व्रत-उपवास-नियम-तप-तत्पर, दान शक्तिभर, वत्सल-भृत्य।
दया, विनय, परनारी-वर्जन, स्व-स्त्री-रति, सब सुंदर कृत्य॥
सदाचार-शुचि-शील-परायण, सरल, सत्यवादी, मतिमान।
मातृ-पितृ-सेवक श्रद्धायुत शुद्ध-धर्मरत गत-अभिमान॥
अर्थ न्यायसे अर्जन करता, रखता नित प्रभुमें विश्वास।
यथासाध्य सुख देता सबको, देता नहीं किसीको त्रास॥
आदर करता सब कुटुम्बका पालन, सबका करता मान।
उस गृहस्थपर कृपा-सुधा बरसाते संतत श्रीभगवान॥

भारतीय गृहस्थीमें धर्मपालन

(लेखक—आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री एम्० ए०, साहित्यरत्न)

भारतीय संस्कृति और सभ्यताका आधार यहाँका पवित्र और मंगलमय जीवन ही है। भारतीय आचार्योंने जीवन-संचालनके लिये उसे चार आश्रमोंमें विभाजित कर दिया था—(१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थाश्रम (३) वानप्रस्थ, (४) संन्यास। चार आश्रमोंमें सबसे श्रेष्ठ और उपयोगी आश्रम गृहस्थाश्रम ही माना जाता है। आश्रमोंके पालन-पोषणका भार गृहस्थों (दूसरे आश्रम) के ऊपर ही निर्भर रहता है। मनुजीने कहा है—जैसे समस्त जीव वायुका सहारा लेकर जीते हैं, उसी प्रकार समस्त आश्रमोंके लोग गृहस्थाश्रमके सहारे अपना जीवन चलाते हैं। आधुनिक युगमें जिस तरह किसान-वर्ग अन्न उत्पादन करके समस्त वर्गोंके जीवनको चला रहा है, उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्रमें भी गृहस्थ समस्त जीवोंका पालन-पोषण करता है। मनुने पुनः कहा है—तीनों आश्रमवाले गृहस्थोंके द्वारा नित्य ज्ञान और अन्न आदिसे प्रतिपालित होते हैं। एतदर्थ 'गृहस्थाश्रम' ही सबसे बड़ा आश्रम है।

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥
(मनु० ३। ७८)

मनुने गृहस्थोंके लिये अनेकों धर्मों एवं कर्मोंका विश्लेषण किया है। आधुनिक युगमें उन कर्मोंकी सूची देख एवं सुनकर कुछ लोग नाक-भौंह सिकोड़ सकते हैं। कर्तव्यका पालन कठोर हो सकता है। किंतु जो अपना कर्तव्य-पालन नहीं कर सकता; उसका जन्म भी व्यर्थ ही है। गृहस्थाश्रमकी जो रूप-रेखा पाश्चात्त्य देशोंमें है, उसपर यहाँ कुछ नहीं लिखा जा सकता। माता-पिता जीवित हैं, लड़का विवाह होते ही अपनी स्त्रीको लेकर पृथक् अपनी दुनिया बसा लेता है। यह प्रथा अब भारतमें भी जोरोंसे फैलती जा रही है। हमारे यहाँ तो नित्य वेदपाठसे ऋषियोंके, होमसे देवोंके, श्राद्धसे पितरोंके, अन्नसे मानवोंके और बलि-कर्मसे भूतोंके विधिपूर्वक पूजनका विधान है। क्या पाश्चात्त्य देशोंका अनुकरण करनेवालों, नयी सभ्यतामें बहनेवालों, माता-पिताको छोड़कर अपनी स्त्रीके साथ अलग संसार बसानेवालोंके लिये यह सम्भव है? कदापि नहीं। भारतके एक सुन्दर सुव्यवस्थित गृहस्थाश्रमकी रूपरेखा देखिये—

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे
साधोः सङ्गमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः॥

घरमें नित्य आनन्द-मङ्गल होता रहे, बच्चे सभी पढ़े-लिखे एवं सभ्य हों, स्त्री मीठी बोली बोलनेवाली हो, सच्चे मित्र हों, उत्तम कमाईसे आया हुआ धन हो और अपनी ही भार्यासे प्रेम हो, नौकर सब आज्ञापालक हों और प्रतिदिन भगवान् शंकर और अतिथियोंका पूजन तथा सत्कार होता हो तो ऐसा गृहस्थाश्रम स्वर्गके समान है। इसके विपरीत, जिस घरके बच्चे सदा रोते रहते हों, घरमें सर्वदा पानी भरा रहता हो, आँगनमें सर्वदा कीचड़ भरा रहता हो, खाटोंमें खटमल भरे हों और भोजन रूखा मिलता हो, घरमें धुआँ भरा रहता हो, स्त्री कर्कशा हो, घरका स्वामी सर्वदा क्रोधावेशमें रहता हो तथा जाड़ेमें ठंडे जलसे ही स्नान करना पड़ता हो, तो ऐसा गृहस्थाश्रम नरकके समान है। गृहस्थाश्रममें गृहस्थधर्मका तभी विधिवत् पालन हो सकता है, जब—

न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
शास्त्रवित्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते॥

'न्यायसे उपार्जित धन हो और सर्वदा तत्त्वज्ञानकी चर्चा होती हो तथा अतिथिदेवका सम्मान होता हो, शास्त्रकी चर्चा होती हो और घरके सब लोग सत्यवादी हों, तो ऐसे गृहस्थाश्रमके लोग मुक्ति प्राप्त करते हैं।'

एक कविने लिखा है—

जिस घरमें दधिमन्थनका शब्द न सुन पड़े और जिस गृहस्थके घरमें छोटे बच्चोंका अभाव हो और जिस गृहस्थके घरमें गुरुजनोंकी पूजा न होती हो, वह घर वनके समान है—

यत्र नास्ति दधिमन्थनघोषो
यत्र नो लघुशिशूनि कुलानि।
यत्र नास्ति गुरुगौरवपूजा
तानि किं बत गृहाणि वनानि॥

'जिस गृहस्थके घर ब्राह्मणोंके चरणोंके धोनेसे कीचड़ नहीं हुआ, अर्थात् जिस गृहस्थके घरमें निमन्त्रित ब्राह्मणोंको बुलाकर उनके पाँव नहीं धोये गये और जिस घरमें वेदों और शास्त्रोंका उच्चारण नहीं हुआ, जिस गृहस्थके घरमें स्वाहा (हवन), स्वधा (तर्पण) आदि पवित्र कार्य

न हुए, वह घर घर नहीं, श्मशान है ।' इसके समर्थनमें पुनः लिखा गया है कि 'वह गृहस्थका घर स्वर्गके तुल्य है, जिसमें ब्राह्मणोंके चरण-धोवनसे कीचड़ हो गया है, जिस गृहस्थके घरमें वेदों और शास्त्रोंका शब्द गूँजता रहता है और हवन तथा तर्पणसे स्वाहा और स्वधाके मन्त्र गूँजते रहते हैं ।' भारतीय गृहस्थाश्रमने पाश्चात्त्य गृहस्थाश्रममें सबसे बड़ा अन्तर यही है कि भारतीय गृहस्थाश्रममें धर्मकी प्रधानता रहती है । ईश्वरकी पूजा, अतिथिकी पूजाकी प्रधानतासे भारतीय गृहस्थ-आश्रमकी प्रधानता सर्वमान्य है । भारतीय गृहस्थ-आश्रममें १३ वस्तुओंकी प्रधानता और आवश्यकता मानी गयी है—१ मानवता, २ श्रेष्ठ वंशमें जन्म, ३ विभव, ४ दीर्घायु, ५ आरोग्य, ६ सच्चे मित्र, ७ सुन्दर पुत्र, ८ साध्वी स्त्री, ९ ईश्वरमें अगाध भक्ति, १० विद्वत्ता, ११ सुजनता, १२ इन्द्रियोंपर नियन्त्रण, १३ सत्पात्रको दान—ये तेरह वस्तुएँ जिस गृहस्थके पास हैं, वह सफल गृहस्थ है । समस्त धर्मावलम्बियोंके यहाँ गृहस्थाश्रम है । सबके नियम-अनुष्ठान भिन्न-भिन्न हैं । हिंदुओंके गृहस्थाश्रम-धर्मके पालनमें पाँच स्थानोंके पापोंसे मुक्त होनेके लिये पाँच प्रकारकी पूजाएँ होती हैं—१ चूल्हा, २ चक्की, ३ झाड़ू, ४ ओखली और ५ जलके घड़ोंसे हिंसाकी सम्भावना रहती है, अतः ऋषि, पितर, देव, भूत और अतिथियोंकी पूजा करके इनसे छुटकारा कराया जाता है । वास्तवमें यह कर्म गृहस्थाश्रमको स्वर्ग बनानेके लिये ही निर्धारित हुए और यही गृहस्थ-धर्म है । वेद-पाठद्वारा ऋषियोंकी, होमसे देवोंकी, श्राद्धसे पितरोंकी, अन्नसे अतिथियोंकी और बलिकर्मसे भूतोंकी विधिवत् पूजा करें । गृहस्थ अपने धर्मका पालन करके अन्तमें स्वर्गका अधिकारी बनता है । भारतीय संस्कृतिमें अतिथिकी पूजाका बहुत महत्त्व है । जिसके घरसे अतिथि विना सत्कार वापस चला जाता है, उसका सत्कर्म तुरंत नष्ट हो जाता है । यह है भारतीय संस्कृति-सभ्यताका प्रतीक भारतीय गृहस्थाश्रम-धर्म ।

धर्मो रक्षति रक्षितः

(रचयिता—पं० श्रीनन्दकिशोरजी झा)

'धर्म हत नरको करता निहत, सुरक्षित रक्षा करता वही ।'
सृष्टिके आदि कालमें सत्य बात यह मनुने है ध्रुव कही ॥
विदित गीतामें भी भगवान् कृष्णके प्रणमय हैं उद्गार—
'धर्मकी रक्षाके ही लिये सदा मैं लेता हूँ अवतार ।'
बनाकर वसु-भू (१८) विपुल पुराण, शक्तिभर करके प्रबल प्रयास ।
उठाकर अपने दोनों हाथ निरन्तर चिल्लाते वर व्यास ॥
'धर्मसे ही होता है पूर्ण अर्थ अथवा जगके सब काम ।
खेद है, तब भी जन-समुदाय न होता उसमें निरत निकाम ॥'
अशन, निद्रा, भय, मैथुन आदि सभी जीवोंके एक समान ।
नरोंमें है विशेषता यही—इन्हें है तारक धर्म-ज्ञान ॥
धर्मके बलपर ही संसार वस्तुतः टिका हुआ है नित्य ।
अतः संसृतिमें सज्जन सभी धर्ममय ही करते नित कृत्य ॥
आजकल आदिकालसे कहीं हुए हैं जो विशिष्ट वर व्यक्ति ।
निरन्तर रही धर्ममें स्वतः प्राणपणसे उनकी अनुरक्ति ॥
भूल भव-सुख-दुख-विभव सदैव उन्होंने किया धर्मका त्राण ।
नहीं कर सके विवश हैं जभी, तभी सुखसे त्यागे निज प्राण ॥
भरा है इसी विषयसे विशद सकल साहित्य, विश्व-इतिहास ।
अपढ़ भी समझ सकेंगे इसे तनिक भी करके बुद्धि-विकास ॥

वस्तुतः वही चातुरी सही, यतः हो उभय लोककी सिद्धि।
न कथमपि सन्मानवको काम्य विनश्वर जगकी सिर्फ समृद्धि॥
स्वर्ग भी हमें नहीं है इष्ट किसीका भी कर कुछ आघात।
अन्यके लेकर प्राण स्वसौख्य-साधना, कैसी कुत्सित बात॥
भले कैसा भी हो दुर्भिक्ष विनाशी, निकलें चाहे प्राण।
किंतु जीतेजी नित हम करें कीट-कुञ्जर प्राणीके त्राण॥
हमारे लिये ही न वे रहें, जगत्में हम भी रहें तदर्थ।
ब्रह्ममय जीव न यदि लख सकें, मनुज-जीवन तो यह है व्यर्थ॥
यही है आर्य-धर्म-वैशिष्ट्य, दूसरी जगह न जिसका नाम।
स्वहित परमार्थ, परार्थ सदैव सोचना सर्वश्रेष्ठ नर-काम॥

× × ×

राज्यसत्ता भी बनी कदापि धर्ममय जन-रक्षाके लिये।
नृपतियोंने भी पूर्ण प्रमाण यहाँ इसके सदैव हैं दिये॥
सुधी सम्पूर्णानन्द-समान आज भी बतलाते यह मर्म—
'न समुचित हितकर है यह कभी किसीके लिये त्यागना धर्म॥'
एक जन तज दे चाहे धर्म, दुःख भोगेगा उसका वही।
राज्यसत्ता यदि तजे स्वधर्म, कहाँकी, वह कैसी फिर रही?
देशके कोटि-कोटि सब व्यक्ति सहेंगे इससे दुख दुर्दान्त।
'धर्म हत करता सबका नाश'—यही सब शास्त्रोंका सिद्धान्त॥
रोम-साम्राज्य कहाँ वह गया! ज़ार भी स्वयं हुआ जल छार।
उग्र गजनवी और तैमूरलंगका हुआ शीघ्र संहार॥
वीर हिटलर भी हुआ विनष्ट! लगी क्या उसमें कुछ भी देर?
नहीं सह सकते कभी समर्थ स्वयं प्रभु जन-पीड़क-अंधेर॥
विजेताओंसे पीड़ित-दलित धर्मका करता आया त्राण।
स्वशासनमें वह भारतवर्ष 'धर्मनिरपेक्ष हुआ निष्प्राण!'
किसीके धर्मोंपर आघात कभी करना है नहीं अभीष्ट।
किंतु निज धर्मभावसे विरत स्वयं रहना है महा अनिष्ट॥
कहा था राष्ट्र-पिताने स्पष्ट—'हमारा तन हो सकता खण्ड।
किंतु कथमपि यह सम्भव नहीं कि भारतके होवें दो खण्ड॥'
धर्मके कारण ही हो गया अन्ततः वह प्रत्यक्ष विभक्त।
तदपि हम अहह! बने हैं आज 'धर्म-निरपेक्ष' स्वतन्त्र अशक्त॥
करोंमें जिनके शासन-सूत्र, सर्वथा वे सुयोग्य विद्वान्।
सर्वदा देकर समुचित ध्यान धर्ममय सोचें जन-कल्याण॥
धर्मके बिना न भ्रष्टाचार, घूस, चोरी हो सकती नष्ट।
तथा इनके रहते न समाज कभी सुधरेगा! है यह स्पष्ट॥

चारों वर्णोंके धर्म

(लेखक—ब्रह्मलीन परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीश्री १००८ श्रीस्वामी योगेश्वरानन्दजी सरस्वती

[प्रेषक—श्रीसूरजमलजी ईसरका]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चारों वर्णोंके लक्षणोंमें उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ—तीन-तीन विभाग हैं। यहाँ संक्षेपमें उनका दिग्दर्शन कराया जाता है।

ब्राह्मण-धर्म

ब्राह्मणोंमें उत्तम वे हैं, जो ब्रह्मर्षि, ब्रह्मवेत्ता हैं—जैसे याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ इत्यादि।

मध्यम वे हैं, जो सदाचारी हैं पर ब्रह्मज्ञानसे रहित हैं, केवल वेद-शास्त्रोंके पाण्डित्यसे सम्पन्न हैं।

कनिष्ठ वे हैं, जो अपने मुख्य विशेष कर्तव्यका त्याग करके केवल ब्राह्मणका बहिरङ्ग चिह्नमात्र धारणकर उदर-पोषणके लिये ही अहर्निश सेवा-परायण रहते हैं।

क्षत्रिय-धर्म

क्षत्रियवर्णमें उत्तम वे हैं, जो ईश्वरभावसे सम्पन्न होकर जगत्के कल्याणकारी सकल गुणोंसे युक्त, समर-कला-कौशलमें परिपूर्ण, अपनी प्रजाका परिपालन करनेमें परम दयालु और वेद-शास्त्रादिके वास्तविक रहस्यको सम्यक् जाननेवाले पूर्ण नीतिज्ञ हैं। भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे ही सद्गुणविशिष्ट सार्वभौम राजाको कहा है—

नराणां च नराधिपम् ।

क्षत्रियोंमें मध्यम वे हैं, जो उपर्युक्त गुणज्ञ सार्वभौमके आज्ञाधीन रहकर अपनी मर्यादाका यथोचित पालन करते हैं।

कनिष्ठ वे हैं, जो केवल नामधारी क्षत्रियमात्र हैं।

वैश्य-धर्म

वैश्योंमें उत्तम वे हैं, जो कृषि-गोरक्षा-वाणिज्य-धर्मोंका, केवल ईश्वरकी आज्ञा समझकर पालन करते हैं और फलकी कामना किञ्चिदपि नहीं रखते। अर्थात् जो ईश्वरार्पण-बुद्धिसे और अपने स्वधर्मका केवल कर्तव्यताकी निष्कामबुद्धिसे परिपालन करते हैं।

मध्यम वे हैं, जो धर्मध्वजीके अभिमानपूर्वक, पूर्वोक्त अपने वर्णधर्मका अपनी ख्याति और मानकी इच्छा रखकर पालन करते हैं। ये लौकिक-पारलौकिक उभय कामनासे संयुक्त हैं।

कनिष्ठ वे हैं, जो केवल द्रव्यके उपार्जनार्थ अपनी जाति-नीति, समस्त वर्णाश्रमके विशेष धर्मोंको त्यागकर झूठ और छल करके अन्यायपूर्वक निरन्तर द्रव्योपार्जनमें ही तत्पर रहते हैं।

शूद्र-धर्म

शूद्रोंमें उत्तम वे हैं, जो विदुरादिके सदृश शूद्र होकर आस्तिकतामें तत्पर रहकर, अपनेसे ऊँची जातिवालोंकी यथोचित मान-प्रतिष्ठा-सेवा करनेमें बराबर श्रद्धा, भक्ति और उत्साह रखते हैं।

मध्यम वे हैं, जो स्वार्थके लिये ही अपनेसे ऊँची श्रेणी-वालोंसे प्रयोजन रखते हैं।

कनिष्ठ वे हैं, जो मर्यादा-तिरस्कारपूर्वक अपने प्रतापके अभिमानसे नीतिमार्गका उल्लङ्घन करके स्वेच्छाचारी हो रहते हैं और अपने वर्णाश्रमधर्मसे सर्वदा सर्वथा विमुख—मन्मुखी रहते हैं।

चारों वर्णोंका समान महत्त्व

मुख, बाहु, जंघा, चरण अपने अपने स्थान। एक देहके अंग हैं, निज निज कार्य प्रधान ॥
क्षेत्र-कार्य सबके पृथक्, किंतु महत्त्व समान। सबकी आवश्यकता सदा, सबके कार्य महान् ॥
त्यों ही एक समाजके चार अंग सुख-खान। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुचि शूद्र धर्म-मतिमान ॥
ज्ञानार्जन कर विप्र नित वितरण करता ज्ञान। क्षत्रिय रक्षा-रत सतत शूरवीर बलवान ॥
वैश्य न्यायसे धन कमा, देता सबको दान। शूद्र नित्य श्रमदान कर, करता अति कल्याण ॥
एक समाज-शरीर-हित चारों हैं वरदान। प्रभुसे चारों ही बने, चारोंमें भगवान ॥

ब्राह्मणधर्म एवं उसके आदर्श

(लेखक—पं० श्रीश्रीधरजी द्विवेदी, व्याकरणाचार्य, साहित्यशास्त्री, 'विशारद')

सृष्टि-रचना-चतुर सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माने पुत्रोंको जन्म देकर ब्राह्मणधर्मका उपदेश दिया—'ब्राह्मणधर्मको अपने जीवनमें उतारकर आदर्श स्थापित करो, इस आदर्शको अपनाकर मानव सुखी होगा और प्राणिमात्रका कल्याण होगा।' भृगु और वशिष्ठने पिताके उस आदेशका पालन किया। ब्राह्मणधर्मकी स्थापना विश्वके कल्याणके लिये की गयी। वशिष्ठका जीवनवृत्त योगवाशिष्ठसे स्पष्ट हो जाता है। सूर्यवंशका आचार्यत्व ग्रहणकर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके जीवन-तक महर्षि वशिष्ठका योगदान संसारके लिये हितकारी रहा है और भविष्यके लिये अनुकरणीय है। महर्षि वशिष्ठके पुत्र शक्ति, शक्तिके पुत्र पराशर और पराशरके पुत्र महर्षि वेदव्यास हुए, जिन्होंने वेदका विभाजन किया और अष्टादश पुराण और अष्टादश उपपुराणोंकी रचना की। इन रचनाओंसे तृप्ति न पाकर श्रीमद्भागवतका प्रणयन भागवत-धर्मके लिये किया। भागवत-धर्मका आदर्श अपने पुत्र शुकदेवको बनाया। शुकदेव परम भागवत हुए। उसके बाद संतति-परम्परा समाप्त हो गयी। आज हम उन्हीं महर्षियोंसे ब्राह्मण-धर्मको समझनेका प्रयत्न करते हैं। वास्तवमें ब्राह्मण-धर्म ही मानव-धर्म है। ब्राह्मणधर्म इतना विशाल और व्यापक है कि उसकी कुक्षिमें सब धर्म अन्तर्भूत हो जाते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ब्राह्मणधर्मका लक्षण—

ब्राह्मणस्य निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदो ध्येयो गेयश्च।

—कहकर शान्त हो गये। तात्पर्य यह कि छः अङ्गों-सहित वेदका अध्ययन करके उसका ध्यान करनेपर अवशेष रह ही क्या जाता है? ध्यानगम्य विषयका विश्वके हितार्थ गायन करके लोकको प्रवृत्त करना ही ब्राह्मणधर्म है। इससे **'सर्वभूतहिते रताः'**की भावना स्वतः पुष्ट हो जाती है। इसीलिये ब्राह्मण **'सर्वं खलु इदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'**की भावनापर आरूढ़ हो जाता है, विश्वको ब्रह्ममय देखने लग जाता है। फिर राग-द्वेषकी भावना कहाँ रह जाती है? षड्विकार-शून्य वह स्वतः हो जाता है। **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'**—ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है। आत्म-तत्त्वनिष्ठ ब्राह्मण संसारके जीवमात्रसे स्नेह करता है, यहाँतक कि चर-अचरसे भी स्नेहिल हो जाता है।

स्मृतिकारोंने ब्राह्मणधर्मका लक्षण 'षट्कर्म' निरूपित किया है। यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान-प्रतिग्रह—वास्तवमें यह कर्मका निरूपण है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे ब्राह्मणकर्मका प्रतिपादन किया—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
(गीता १८। ४२)

आधुनिक समयमें ब्राह्मणधर्मका ह्रास दिनोंदिन होता जा रहा है। **'जात्या ब्राह्मणोऽसि'**—कभी यज्ञानुष्ठानके समय रोषवश कहा जाता था। आज कर्महीन ब्राह्मण अग्निरहित भस्म-से हो रहे हैं, अतः समाजमें स्थान-स्थानपर तिरस्कृत हो रहे हैं। आधुनिक समाजमें ब्राह्मणके लिये कोई नियत स्थान और कोई नियत वृत्ति नहीं रह गयी है।

ब्राह्मणका जीवन कितना पवित्र होना चाहिये और था! एक प्रसङ्गवश उद्धवने श्रीकृष्णसे प्रश्न किया कि 'आप जहाँ कहीं, जब कभी ब्राह्मणोंका पक्षपात क्यों करते रहते हैं?' सखा उद्धवके मुखसे ऐसा विचित्र प्रश्न सुनकर वे रो पड़े और बोले—'तुम मेरे सखा होकर ऐसा कहते हो यही मुझे कष्ट है। देखो, ब्राह्मणका सम्पूर्ण जीवन जन्मसे लेकर मृत्यु-पर्यन्त संसारके हितमें लगा रहता है। एक क्षण भी ऐसा नहीं होता जो निष्क्रिय, निष्प्रयोजन हो। ऐसे **'सर्वभूतहिते रत'** विप्रके सत्कार्यका यदि मैं वर्णन करूँ तो तुम उसे पक्षपात कहते हो? ब्राह्मण मेरा अङ्ग है। उसीसे मैं संसारका संरक्षण करनेमें समर्थ हूँ, अन्यथा संसारकी रक्षा असम्भव हो जाय।

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चैव प्रेत्यानन्तसुखाय च॥

ब्राह्मणका शरीर निम्न कार्योंके लिये नहीं बनाया गया है—किंतु जन्मसे लेकर षोडश-संस्कारद्वारा पवित्र होकर, विद्याका अध्ययन करके, सार-तत्त्वको तपके द्वारा तपाकर, संसारके मानवोंको तपःपूत ज्ञान देकर, अनन्त सुख प्राप्तकर परमात्मलीन होनेके लिये बना है। ऐसा पवित्र जीवन ब्राह्मणका होता था और होना चाहिये। शरशय्यापर पड़े हुए भीष्म-

पितामहने भी युधिष्ठिरसे सब धर्मोंकी व्याख्या करके सब नीतियोंका वर्णन करते हुए संसारकी रक्षाका भार ब्राह्मणोंके ऊपर ही छोड़ा है। आजके युगमें भी हमें पुनीत ब्राह्मणोंके आचरण आलोक प्रदर्शित करते हैं; जिनका अनुसरण करके हम आगे बढ़ सकते हैं। चन्द्रगुप्त-मौर्यकालमें परम त्यागी चाणक्यका जीवन आदर्श है। शिवाजीके समय समर्थ रामदास हुए, जिनकी कृपाने हिंदुत्वकी रक्षा हो सकी। 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' इस मन्त्रको जन-जनमें फूँकनेवाले लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक, महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयजी—इन पुनीत ब्राह्मणोंके कार्य आज भी अनुसरणीय और आचरणीय हैं।

आधुनिक समयमें ब्राह्मणधर्मका पालन तलवारकी धारपर चलना है। जब पग-पगपर नवशिक्षित समाजसे प्रताड़ित-उपेक्षित होकर ब्राह्मण अपने धर्मके आचरणपर बद्धपरिकर होकर चलेगा, तभी वह अग्निमें तपाये हुए स्वर्णके समान प्रदीप्त होकर आलोक प्रदान कर सकेगा। आज ब्राह्मणोंकी परीक्षाका समय है। बीसवीं शताब्दीमें जब विज्ञानके द्वारा आस्था एवं श्रद्धाको नष्टप्राय करके आणविक शस्त्रोंके द्वारा मानवताका विनाश किया जा रहा है, तब ब्राह्मणोंको अपने धर्मके आचरण-द्वारा जन-जनमें आस्था एवं श्रद्धाको पुनः प्रदीप्तकर विश्वको विनाशसे बचानेके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये।

ब्राह्मण-धर्मके आदर्श

(१)

महापण्डित कैयट

महाभाष्यके सुप्रसिद्ध तिलकके कर्ता, संस्कृतके उद्भट विद्वान् कैयटजी नगरसे दूर झोपड़ीमें निवास करते थे। घरमें सम्पत्तिके नामपर एक कमण्डलु तथा टूटी चटाई थी। वे ब्रह्मचारी या संन्यासी नहीं, गृहस्थ थे; किंतु प्राचीन युगके ऋषियोंके समान गृहस्थी, संध्या-पूजा, अध्ययन-अध्यापन तथा ग्रन्थ-लेखनसे उन्हें अवकाश नहीं था।

उनकी पत्नी वनसे मूँज काटकर ले आती, रस्सी बटती और उसे बेचकर जो कुछ मिलता, उससे घरका काम चलाती थीं। किसीसे कुछ भी दान न लेनेकी आज्ञा उन्हें उनके पतिदेवने दे रखी थी।

काशीसे कैयटजीकी प्रशंसा सुनकर कुछ विद्वान् कश्मीर आये। उन्होंने उनके दर्शन किये। कश्मीरनरेशसे मिलकर उन्होंने कैयटजीके निर्वाहकी व्यवस्थाके लिये कहा तो नरेश बोले—'मैं साहस नहीं कर पाता। आप सब आश्वासन दें कि वे रुष्ट होकर राज्यका त्याग नहीं करेंगे तो कुछ कर सकता हूँ।'

काशीके ब्राह्मणोंने आश्वासन दिया। राजाने पर्याप्त भूमिका दानपत्र कैयटजीके नाम लिखकर उन ब्राह्मणोंको ही दे दिया। स्वयं छिपकर पीछे गये। जिसकी आशङ्का थी, वही हुआ। दानपत्र देखते ही कैयटजीने उसके टुकड़े कर दिये। कमण्डलु उठाया, चटाई समेटकर बगलमें दबायी और पत्नीसे बोले—'यहाँका नरेश अब ब्राह्मणको धनके लोभमें डालना चाहता है! यह राज्य रहने योग्य नहीं। मेरी पुस्तकें उठा लो और चलो!'



काशीके ब्राह्मणोंने क्षमा माँगी। नरेश आकर चरणों-पर गिर पड़े। हाथ जोड़कर बोले—'राज्यमें रहनेवाले विद्वान्, तपस्वी, ब्राह्मण कष्ट न पावें—यह देखना राजाका

कर्तव्य है। मैं यही समझकर कुछ सेवा करना चाहता था।'

कैयटजीने चटाई-कमण्डलु रख दिया। राजासे बोले—'मेरी सबसे बड़ी सेवा यह है कि तुम फिर यहाँ मत आओ। कोई कर्मचारी यहाँ मत भेजो। धन या भूमिका प्रलोभन मत दो। मेरे अध्ययनमें विघ्न न पड़े—बस, इतना ध्यान रखो।'

—सु०

(२)

श्रीरामनाथ तर्क-सिद्धान्त

यह बात ईस्टइंडिया कम्पनीके शासनकालकी है। अध्ययन समाप्त करके श्रीरामनाथ तर्कसिद्धान्तने नवद्वीप नगरके बाहर कुटिया बना ली थी। पत्नीके साथ वे ऋषि-जीवन व्यतीत करते थे। उनके यहाँ अध्ययन करने छात्रोंका बड़ा समुदाय टिका ही रहता था। किसीसे कोई वृत्ति उन्होंने नहीं ली थी। एक दिन वे विद्यार्थियोंको पढ़ाने जा रहे थे तो पत्नीने कहा—'घरमें केवल मुट्ठीभर चावल है। भोजन क्या बनेगा ?'

पण्डितजी बिना उत्तर दिये चले गये। दोपहरको भोजन करने आये तो जो भोजन सामने आया, उसे देखकर पत्नीसे उन्होंने पूछा—'भद्रे ! यह स्वादिष्ट शाक किस वस्तुका है ?'

पत्नीने कहा—'मेरे प्रातः पूछनेपर आपकी दृष्टि इमलीके वृक्षकी ओर उठी थी। मैंने उसीके पत्तोंका शाक बनाया है।'

पण्डितजी निश्चिन्त होकर बोले—'इमलीके पत्तोंका इतना स्वादिष्ट शाक होता है तो हम दोनोंके लिये भोजनकी क्या चिन्ता रही ?'

कृष्णनगरके राजा शिवचन्द्र थे। उनकी रानीके पिता श्रीरामनाथ तर्कसिद्धान्तके पिताके यजमान रहे थे। शिव-चन्द्रजीको कम्पनीने जब राजाकी उपाधि दी, तर्कसिद्धान्तकी पत्नी उनके घर गयी थीं। रानीने पूछा उस अत्यन्त सरल ग्रामीण-जैसी स्त्रीको देखकर—'तुम किस प्रयोजनसे आयी हो ?'

ब्राह्मणीने कहा—'केवल अनुग्रह करनेके प्रयोजनसे। तुम्हें आशीर्वाद देने आयी हूँ।' आशीर्वाद देकर बिना कुछ लिये वे चली गयीं। रानीकी प्रेरणासे राजा शिवचन्द्र हाथीपर बैठकर तर्कसिद्धान्तजीके यहाँ गये। उन्होंने पूछा—'आपकी कोई समस्या हो, किसी विषयमें अनुपपत्ति हो तो मैं दूर करने आया हूँ।'

तर्कसिद्धान्तजी बोले—'मैंने चारु-चिन्तामणि ग्रन्थ अभी पूरा किया है। एक समस्या थी अवश्य, किंतु उसका समाधान लिख दिया गया। अब उसमें कोई अनुपपत्ति मुझे जान नहीं पड़ती। आपको कहीं कोई अनुपपत्ति मिली क्या ?'

राजाने कहा—'मैं तर्कशास्त्र नहीं, गृह-निर्वाहके विषयमें पूछ रहा हूँ।' पण्डितजी बोले—'गृहकी बात गृहिणी जाने।'

पण्डितजीकी अनुमतिसे राजा कुटियामें गये। वहाँ उन्होंने पूछा—'माताजी ! कोई अभाव हो तो पूर्तिकी आज्ञा करें!' उस निःस्पृह ब्राह्मणीका उत्तर था—'यहाँ तो कोई अभाव नहीं है। मेरा वस्त्र फटा नहीं, जलका मटका थोड़ा भी नहीं फूटा, चटाई भी ठीक है। फिर मेरे हाथमें ये चूड़ियाँ जबतक बनी हैं, तबतक मुझे अभाव कैसा ?'

राजा शिवचन्द्रने भूमिपर मस्तक रखकर प्रणाम किया। वहाँसे लौटते समय दूरतक वे पैदल आये। हाथीपर बैठनेका साहस उस कुटियाके दर्शन हों, वहाँतक नहीं हुआ। —सु०

ब्राह्मण-धर्म

सत्य वचन हितकर मधुर परिमित, नित स्वाध्याय।
विद्या विनय विवेक-युत शान्त-हृदय रत-न्याय॥
शम दम श्रद्धा त्याग शुचि निरत नित्य शुभ कर्म।
अध्ययनाऽध्यापन यजन-याजन ब्राह्मण-धर्म॥

क्षत्रिय-धर्म

(लेखक—पं० श्रीगौरीशङ्करजी भट्टाचार्य)

आजकल साधारण जनतामें प्राचीन भारतीय आचार्योंके विचारोंके विषयमें एक ऐसा भ्रम फैला हुआ है कि वे विचार सर्वथा परलोकपरक ही हैं—उनमें जप-तप-पूजा-पाठके अतिरिक्त दूसरे प्रकारकी सामग्रियोंका सर्वथा अभाव-सा है। इहलौकिक विषयोंके साथ उनका कोई विशेष सम्बन्ध है ही नहीं। कोई-कोई यह भी कहते हैं कि पूर्वाचार्योंके विचार मुख्यतः ब्राह्मणसर्वस्व ही हैं, ब्राह्मणेतर वर्णोंका कोई विशेष स्थान उनमें नहीं है। यह भी देखा जाता है कि प्राचीन भारतीय विचारपद्धतिके साथ जिसका जितना परिचय कम है, वही उतनी अधिक टीका-टिप्पणियाँ भी करता है। वस्तुतः उनकी तद्विषयक अज्ञता ही उन्हें वैसा करनेके लिये बाध्य करती है। यदि वे उन विचारोंसे साक्षात् परिचय प्राप्त करें, तो निश्चय ही उनकी जिह्वा आर्षविचारोंकी निन्दाके स्थानपर प्रशंसामें मुखर हो जायगी। वर्तमान लेखमें हम क्षत्रियोंके पूर्वाचार्यशिष्ट वर्णविहित कर्म और धर्मके विषयमें संक्षिप्त चर्चा करेंगे जो कि ब्राह्मणेतर वर्णमें ही आते हैं और जिनका कर्म या धर्म पूर्णतया इहलोकपरक ही है या यों कहिये कि सांसारिक हिताहितके साथ ही जो पूर्णतया सम्बन्ध रखता है।

पहले हमें देखना यह है कि आचार्योंने क्षात्रधर्मावलम्बियों-के लिये कौन-कौन-से वर्णविहित कर्म निर्दिष्ट किये हैं? गीताकारने कहा है—

> शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
> दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
> (१८। ४३)

'शौर्य, तेज, धृति, दाक्ष्य, युद्धसे अपलायन, दान और प्रभुता—ये सात क्षत्रियोंके स्वभावज कर्म हैं।'

गीताकारकी इस उक्तिमें ध्यान देनेका विषय यह है कि इन सात कर्मोंमेंसे शौर्य, तेज और युद्धसे अपलायन—ये तीन प्रायः एकार्थवाचक हैं; क्योंकि जिस पुरुषमें शौर्य होगा, उसमें तेजस्विता भी अवश्यमेव होगी और जिस पुरुषमें शौर्य और तेजस्विता दोनों वर्तमान हैं, वह कभी भी तुच्छ प्राणोंके भयसे युद्धविमुख क्यों होगा? अतः प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्रायः एकार्थवाचक तीन शब्दोंके प्रयोग करनेकी सार्थकता क्या है, जब कि एकमें ही तीनोंका अन्तर्भाव हो जा रहा है? इसका एकमात्र उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि वह प्राण, जिसको कि साधारण मानव अपना प्रियतम समझता है, क्षात्रधर्मावलम्बी स्वदेशके लिये, शत्रु-निपातके लिये, शरणागतकी रक्षाके लिये, अधर्मके नाश एवं धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये उसका तृणवत् उत्सर्ग कर दे। वस्तुतः क्षात्रधर्मावलम्बीका प्राण स्वार्थके लिये नहीं, प्रत्युत परार्थके लिये ही है। जरा, इस दृश्यकी कल्पना भी तो कीजिये कि कहाँ साधारण मानव शरीरसे यदि एक बूँद शोणित अनिच्छासे भी निकल जाय तो उसके लिये दस बूँद आँसू बहा देता है और कहाँ वह योद्धा जो अपने शरीरसे रुधिरकी निर्झरिणी बहाता हुआ भी हँसते-हँसते रणाग्निमें अपने प्राणोंकी आहुति चढ़ा देता है।

शतसाहस्रीसंहिता महाभारतमें हम धर्मराज युधिष्ठिरको प्रायः यह खेद प्रकट करते हुए पाते हैं कि क्षत्रियोंके लिये इससे बढ़कर और क्या दुर्भाग्य होगा कि प्राणियोंको उनके प्रियतम प्राणोंसे विश्लिष्ट करना ही उनका वर्णविहित कर्म या धर्म है। इसी दृष्टिकोणसे प्रेरित होकर उन्होंने कई बार राज्यका त्याग कर वानप्रस्थ-जीवन बितानेका संकल्प भी व्यक्त किया था। वस्तुतः आपात-दृष्टिकोणसे क्षात्रधर्मकी ऐसी वृत्तिकी सार्थकता समझमें नहीं आती। क्षात्रधर्मके विषयमें इस प्रकारकी संशयिकताका निराकरण करते हुए पितामह भीष्मजीने महाभारतके शान्तिपर्वमें कहा है—

> लोहितोदां केशतृणां गजशैलां ध्वजद्रुमाम्।
> महीं करोति युद्धेषु क्षत्रियो यः स धर्मवित्॥
> (५५। १८)

'जो क्षत्रिय युद्धके समय शोणितरूपी जलसे, निहत योद्धाओंके केशरूपी तृणसे, मृत गजरूपी पर्वतसे तथा भग्न रथोंके ध्वजारूपी वृक्षोंसे धरतीको परिव्याप्त कर देता है, वही यथार्थमें क्षात्रधर्मवित् या क्षात्रधर्मावलम्बी है।'

वर्तमान युगके जो जनगण प्राचीन भारतके आचार्योंको परलोकपरायण और ब्राह्मणसर्वस्वके विशेषणसे विशेषित करते हैं, वे जरा सोचें कि वे ही आचार्य पूर्वोक्त श्लोकमें ब्राह्मणोंके लिये नहीं, प्रत्युत क्षत्रियोंके लिये और परलोककी

नहीं, अपितु इहलोककी समरभूमिको ही शत्रु-शोणितसे रक्तवर्ण करनेके लिये अनुशासन कर रहे हैं। पूर्वोक्त श्लोकका भाव-गाम्भीर्य भी मनन करने योग्य है। कहाँ वर्तमान भारतके राजनीतिक नेतृवृन्द उच्च मञ्चोंसे उच्चतर स्वरमें 'शान्ति, शान्ति' कहकर चीत्कार कर रहे हैं और कहाँ प्राचीन भारतके 'ध्यान-धारणा-प्राणायाम-प्रत्याहार-परायण' आचार्य शत्रु-शोणितसे धरतीको सींचनेके लिये कम्बुकण्ठसे सिंहनाद कर रहे हैं। पता नहीं, इन इहलोकपरायण नेताओंकी दृष्टि परलोकपरायण नेताओंकी उन उक्तियोंके प्रति क्यों नहीं आकृष्ट होती, जिनमें इहलोकके कल्याण-साधनके लिये ही उन्होंने अपनी मनन-चिन्तन-शक्तिका निचोड़ रख दिया है।

महाभारतके वनपर्वके अन्तमें प्रश्नोत्तरीके रूपमें एक बहुत ही रोचक प्रसङ्ग आया है, जिसका नाम है—'यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद'। इसमें मानवजीवनके समस्याजटिल अनेकानेक प्रश्नोंके बहुत ही सुसम्बद्ध और मार्मिक उत्तर दिये गये हैं। इसी प्रसङ्गपर यक्षने युधिष्ठिरसे प्रश्न किया है कि 'क्षात्रधर्मावलम्बियोंमें देवभाव क्या है और मानुषभाव क्या है?' धर्मराज (यक्ष) के इस प्रश्नके उत्तरमें धर्मपुत्र युधिष्ठिरने कहा—**'इष्वस्त्रमेषां देवत्वम्'** और **'भयं वै मानुषो भावः'** अर्थात् क्षात्रधर्मावलम्बीके लिये अस्त्र-शस्त्र-विषयक प्रावीण्य ही देवभाव है और शत्रु या युद्धसे भय अर्थात् उनसे पराङ्मुख होना ही उनका मानुषभाव है।

महाराज युधिष्ठिरका प्रथम उत्तर—'अस्त्र-शस्त्रमें ही क्षात्रधर्मावलम्बीका देवत्व निहित है'—यथार्थतः मननका दावा करता है। जिस पवित्र देवभावका नाम सुनते ही हमलोग श्रद्धासे नतमस्तक हो जाते हैं, क्षात्रधर्मावलम्बीका वही देवभाव क्या तीर, धनुष, असि, गदा, चक्र आदिमें ही निहित है, जिनका काम केवल प्राणियोंको उनके प्रियतम प्राणोंसे वियुक्त करना ही है? आपातदृष्टिसे इस तथाकथित देवत्वमें पशुत्वकी ही गन्ध आती है। वस्तुतः इस तथाकथित देवत्वका रहस्य सम्भवतः यही है कि क्षात्रधर्मावलम्बीको चाहिये कि वह इन अस्त्र-शस्त्रोंका उपयोग अधर्मके विरुद्ध संग्राम कर धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये करे, अन्यायके विरुद्ध संग्राम कर न्यायकी प्रतिष्ठाके लिये करे—इसीमें शस्त्रास्त्रनिष्ठ देवत्वकी सार्थकता निहित है। उन शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग दुष्टोंका निग्रह कर शिष्टपर अनुग्रह करनेके लिये होना चाहिये। उन शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग पापियोंको पापसे निवृत्त करनेके लिये होना चाहिये—उन शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग अपराधियोंको उनकी अपराधप्रवृत्तिसे विमुख करनेके लिये होना चाहिये। उन शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग पृथ्वीको असुर-राक्षसरहित बनाकर उसके पाप-भार-हरणके लिये, न कि निरीह प्राणियोंके प्रियतम प्राणोंसे खेल करनेके लिये होना चाहिये। वस्तुतः देवत्वमें जो महत्त्वकी भावना सुप्त है, उसकी सार्थकता शस्त्रास्त्रोंके समुचित प्रयोगमें ही निहित है।

भारतीय लोकमानसपर जिन प्राचीन भारतीय ग्रन्थोंने व्यापकरूपसे प्रभाव डाला है, उनमें निश्चयतः श्रीगीताका नाम सर्वाग्रगण्य है। गीता अपने आदिकालसे ही भारतीय आर्यसंतानोंकी पथप्रदर्शिका बनी हुई है। इसका प्रवचन भी क्षात्रधर्मविमुख अर्जुनको क्षात्रधर्मोन्मुख करनेके लिये ही हुआ था। अतः क्षात्रधर्मका तत्त्व इसमें पर्याप्त मात्रामें विद्यमान है। हमें देखना यह है कि क्षात्रधर्मके सम्बन्धमें श्रीगीताका मतवाद क्या है? गीताके द्वितीय अध्यायमें निम्न वचन आया है—

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ (२।३१)
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ (२।३२)

'हे अर्जुन! क्षात्रधर्मावलम्बीके लिये धर्मयुद्धसे बढ़कर श्रेयस्कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है। धर्मतः और न्यायतः प्राप्य पैतृक राज्यांशके लिये यह जो धर्मयुद्ध तुम कर रहे हो, भाग्यवान् क्षात्रधर्मावलम्बीगण ही ऐसे युद्धका सुअवसर पाते हैं।'

इस वचनमें हम देखते हैं कि 'युद्ध'-शब्दके साथ 'धर्म' शब्दका भी प्रयोग किया गया है। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि धर्मयुद्ध है क्या? इसका संक्षिप्ततम उत्तर यही है कि 'अधर्मके विरुद्ध धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये जो युद्ध किया जाता है, उसीका नाम 'धर्मयुद्ध' है।' वस्तुतः युद्धका लक्ष्य केवल युद्ध करना या अशान्ति-सृष्टि करना नहीं है, पूर्वोक्त लक्ष्य ही उसका आदर्श है। दूसरी बात यह कही गयी कि क्षात्रधर्माबलम्बीके लिये युद्धसे बढ़कर श्रेयस्कर और कुछ भी नहीं है। यहाँ भी 'युद्ध' शब्दके साथ 'धर्म' शब्दका प्रयोग किया गया है। चूँकि 'धर्मयुद्ध' मानव-धर्मका ही एक अङ्ग है और धर्मतत्त्वसे बढ़कर मानवजातिका श्रेयस्कर अन्य कुछ भी नहीं हो सकता, अतः क्षात्रधर्मावलम्बीके लिये धर्मयुद्धसे भी बढ़कर श्रेयस्कर और क्या हो सकता है? वर्तमान भारतके जो महानुभाव युद्धाभावकी नीतिका

वज्रघोषसे प्रचार कर रहे हैं, उसके विषयमें कहना यह है कि जहाँतक युद्ध केवल युद्ध करनेके लिये ही किया जाता है, प्राणियोंके प्राणोंका वियोग करनेके लिये ही किया जाता है, अपने अवैध स्वार्थकी पूर्तिके लिये ही किया जाता है; वहाँतक तो युद्ध सर्वथा त्याज्य ही है। किंतु जो युद्ध अधर्म और अन्यायके विरुद्ध धर्म और न्यायकी प्रतिष्ठाके लिये किया जाता है, वह सर्वथा करणीय ही है। वहाँ शान्तिनीतिके तथाकथित उच्चादर्शकी आड़में रहना अशान्तिको ही बढ़ावा देना है और वह वास्तवमें अहिंसा नहीं, कायरता है।

जैसे क्षात्रधर्मावलम्बियोंको लक्ष्यकर आचार्योंने पुनः-पुनः यह कहा है कि वे अस्त्र-शस्त्रादिको ही अपने जीवनका सर्वस्व समझें, युद्धादिसे कदापि पराङ्मुख न हों, शौर्य-वीर्यको ही अपना भूषण समझें; ठीक इसके विपरीत जो क्षात्रधर्मावलम्बी युद्धपराङ्मुख या शौर्यविमुख हैं, उनकी निन्दा करनेमें—उन्हें हेय प्रतिपन्न करनेमें भी आचार्योंकी लेखनी चूकी नहीं। शुक्रनीतिकारने बड़े ही कटु-तीक्ष्ण शब्दोंसे क्षात्रधर्मविमुख क्षत्रियोंका तिरस्कार किया है—

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत्।
विसृजञ्श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन्॥
न गृहे मरणं शस्तं क्षत्रियाणां विना रणात्।
शस्त्रास्त्रैः सुविनिर्भिन्नः क्षत्रियो वधमर्हति॥
अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः॥

(४२ अ०)

'क्षत्रियके लिये यह एक बहुत बड़ा अधर्म ही है कि वह रोगशय्यापर लेटकर श्लेष्म-मूत्रादिका त्याग करता हुआ और करुण स्वरसे रोता हुआ प्राणोंका त्याग करे। सच कहा जाय तो युद्धभूमिके बिना घरपर पड़े-पड़े मरना क्षत्रियोंके लिये अपमानजनक है। क्षात्रधर्मावलम्बीको चाहिये कि वह समराङ्गणमें शत्रुवर्गके शस्त्रास्त्रोंसे छिन्न-भिन्न होता हुआ प्राणोंका उत्सर्ग करे। जो क्षात्रधर्मावलम्बी अक्षत-शरीर रहकर ही प्राणोंका त्याग करता है, शास्त्रकारगण कदापि उसकी प्रशंसा नहीं करते।'

सच कहा जाय तो क्षत्रियका जन्म ही समराङ्गणमें शौर्य-वीर्य-प्रदर्शनके लिये हुआ है। क्षत्रियके लिये धर्मके स्वार्थ, मातृभूमिके स्वार्थ, राष्ट्रके स्वार्थ, जातिके स्वार्थके सामने अपना शरीर तुच्छसे भी तुच्छ है। सोचनेकी बात यह है कि साधारण मानव जिस शरीरके सुखके लिये आजीवन क्या-क्या नहीं करता—न्याय-अन्याय, पाप-पुण्य—धर्म-अधर्ममें भी भेददृष्टिका त्याग कर शरीरको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करता है, आखिर उस शरीरकी अन्तिम परिणति क्या होती है? वह शरीर एक-न-एक दिन भस्मका ढेर बनकर रह जाता है। अर्थात् हमलोग दिन-प्रतिदिन जीवनकी अन्तिम परिणति एक भस्मस्तूपकी ओर आगे बढ़ रहे हैं। अतः जीवनका अन्तिम सत्य यदि भस्ममात्र हो, तो क्यों न हमलोग स्वार्थके स्थानपर परार्थके लिये—राष्ट्रहितके लिये स्व-स्व पाञ्चभौतिक शरीरका मूल्य देकर मृत्युकी गोदमें शरण लेकर यशःशरीरसे मृत्युञ्जय बन जायँ!

लेखकी समाप्तिके पूर्व यह कह देना हम अपना पवित्र कर्तव्य समझते हैं कि धर्मके लिये, देशके लिये, राष्ट्रके लिये, जातिके लिये, न्यायके लिये, मातृभूमिके लिये जो पुरुष अपने प्राणोंको अर्पण करता है, उससे बढ़कर महाप्राण और कोई नहीं है। महाप्राण क्षात्रधर्मावलम्बीगण प्राणोंकी बाजी लगाकर समराङ्गणमें मृत्युसे आलिङ्गनकर 'मृत्युञ्जय' बन जाते हैं—सम्भवतः कृतान्तके गौरवका अन्त इन्हीं क्षत्रियोंसे टकराकर हो जाता है। आज भारतवर्षकी वर्तमान संकटपूर्ण परिस्थितिमें देशके प्रत्येक नागरिकके लिये—विशेषकर नवयुवकोंके लिये—क्षात्रवृत्तिका अनुकरण करना अपरिहार्य हो गया है। हमारा चित्त न्यायके प्रति, धर्मके प्रति, सुहृद्वर्गके प्रति, असहायके प्रति, अरक्षितके प्रति, पीड़ितके प्रति कुसुमवत् कोमल होना चाहिये; परंतु इसके विपरीत अन्यायके प्रति, अधर्म आदिके प्रति वज्रसे भी कठोर, क्रूर और निर्मम होना चाहिये।

क्षत्रियधर्मके आदर्श

भीष्म पितामह

'सुयोधन ! युद्धमें भागते हुए, शस्त्रहीन, भयातुर, दूसरेसे युद्धमें लगे, प्राण-रक्षाकी प्रार्थना करनेवालेपर भीष्म आघात नहीं करेगा।' कौरवसेनाके प्रथम सेनापति भीष्म बनाये गये थे और उन्होंने युद्धके प्रारम्भसे पूर्व ही सूचित कर दिया—'स्त्री, बालक, नपुंसक, मूर्च्छित तथा गौके सम्मुख होनेपर मैं धनुष रख दिया करता हूँ। यह देवव्रतका व्रत है।'

संसार जानता था कि देवव्रतका व्रत टला नहीं करता। इसलिये दुर्योधनके पास चुपचाप सुन लेनेके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं था। इतना ही नहीं, दूसरे भी अनेक नियम थे भीष्मके, जैसे—'जो दिव्यास्त्र नहीं जानते, उनपर दिव्यास्त्रका प्रयोग नहीं किया जायगा।'

युद्धमें अर्जुनने पाञ्चालराजके पुत्र शिखण्डीको अपने रथके आगे कर दिया। शिखण्डी पहिले कन्या होकर उत्पन्न हुआ था, पीछे पुरुष बना था। अतः उसे देखते ही भीष्मने धनुष नीचा कर लिया। शिखण्डीको सामने करके अर्जुन बाण मारते रहे। पितामहका अङ्ग-अङ्ग उन बाणोंसे विद्ध हो गया; किंतु उन्होंने धनुष नहीं उठाया। अन्तमें वे रथसे गिर पड़े। उनका शरीर इस प्रकार बाणोंसे भरा था कि पूरा देह बाणोंपर ही अटका रह गया। यही भीष्मकी शर-शय्या थी।

युद्धका वह दशम दिन था। सायंकाल युद्ध बंद हुआ तो दुर्योधन शस्त्र-चिकित्सकको लेकर पितामहके समीप आया। भीष्मने पूछा—'यह क्यों आया है ?'

'आपकी चिकित्सा करने।' दुर्योधनने उत्साहपूर्वक कहा। 'आपका शरीर इनकी चिकित्सासे पुनः स्वस्थ हो जायगा।'

'इन्हें लौटा दो। धनुषसे छूटा या हाथसे गिरा बाण क्षत्रिय दुबारा उठाकर धनुषपर नहीं चढ़ाता।' पितामहने कहा। 'शरीर एक साधन है बाणके समान। क्षत्रिय स्वेच्छासे उसपर कोई शल्यक्रिया किसीको नहीं करने देगा। उसके देहका स्पर्श युद्धमें प्रतिपक्षीका शस्त्र ही कर सकता है।'

'मुझे तकिया दो !' शस्त्र-चिकित्सकको लौटाकर भीष्मने दुर्योधनसे कहा। बहुत कोमल रेशमका तकिया लेकर जब वह आया तो पितामहने उसे फिर झिड़क दिया—'तुम्हें बुद्धि कब आयेगी ? यह तकिया क्षत्रिय लगायेगा और इस शय्यापर ? अर्जुन कहाँ है ?'

अर्जुन बुलाये गये। आकर उन्होंने प्रणाम किया। पितामहने कहा—'बेटा ! तकिया चाहिये मुझे।'

भीष्म पितामहका सम्पूर्ण शरीर बाणोंपर पड़ा था। किंतु सिर लटक रहा था; क्योंकि युद्धमें अर्जुनने उन पूजनीयके मस्तकमें बाण नहीं मारे थे। अब धनञ्जयने धनुष चढ़ाया और तीन बाण इस प्रकार भीष्मके ललाटमें मारे कि वे सिरके दूसरी ओर निकलकर भूमिमें टिक गये। मस्तक उन बाणोंपर उठ गया।

'पानी !' स्वभावतः शरीरका रक्त निकलनेपर प्यास लगती है। दुर्योधन स्वर्णपात्र भर लाया; किंतु पितामहके नेत्र अर्जुनकी ओर उठे। शरशय्यापर पड़ा शूर क्षत्रिय-मुकुटमणि क्या खाटपर पड़े रोगीके समान जल पियेगा ? गाण्डीवधन्वाका धनुष उठा और बाणने भूमिको फोड़ दिया। पृथ्वीसे फूटती जलधारा सीधे मुखमें गिरी भीष्मके। उन वृद्धने आशीर्वाद दिया—'सफलकाम हो पुत्र ! तुम ठीक क्षत्रिय हो।'

क्षत्रिय ही तो क्षत्रियका उचित सत्कार कर सकता था।

—सु०

वैश्य-धर्म

[व्यापारमें ईमानदारी]

(लेखक—श्रीप्रह्लादरायजी व्यास)

भारतीय आर्यसंस्कृतिमें चातुर्वर्ण्य-विभागमें 'वैश्य' तृतीय वर्ण है। यह समाज-संस्थाके अर्थविभागका अध्यक्ष है। न्यायपूर्वक सबको सबकी आजीविका देते हुए व्यापार, कृषि और पशुपालन आदिके द्वारा अर्थका उपार्जन करना और उसे तीनों वर्णोंके भरण-पोषणमें ट्रस्टीकी भाँति यथाविधान व्यय करके अपने लिये पारिश्रमिकस्वरूप जीविका-निर्वाहोपयोगी अर्थ ग्रहण करना इसका धर्म है। '**कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।**' वैश्यवर्ण ही समाजका प्राण है—आत्मा है। वैश्य व्यापारीका बहीखातामें सारा हिसाब-किताब ठीक रहता है और क्रियादक्षता, व्यापारकुशलता, ईमानदारी तथा सत्यका पालन उसके व्यवहारका प्रधान स्वरूप होता है।

'**वाणिज्ये वसति लक्ष्मीः**' धनप्राप्ति व्यापारसे ही होती है। पाश्चात्त्य वाणिज्य-शास्त्रोंके अनुसार व्यापारीमें आठ गुण होने चाहिये। वे गुण इस प्रकार हैं, एनर्जी—कार्यक्षमता, एकानामी—मितव्ययिता, इन्टीग्रेटी—व्यापारिक एकता, सिस्टम—ढंग, सिम्पेथी—सहानुभूति एवं सहनशीलता, सिन्सीयरटी—विश्वासपात्रता, इम्पार्शियलिटी—निष्पक्षता और सेल्फ रिलाइन्स—आत्मविश्वास।

इन सिद्धान्तोंपर आधारित व्यापार इतना सुदृढ़ तथा लाभप्रद होता है, जिसे कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। उसमें कोई विघ्न नहीं डाल सकता और उसका अस्तित्व सदा बना रहेगा तथा उसकी सफलता अविरल गतिसे अपने लक्ष्यको प्राप्त करती जायगी। पाश्चात्त्य वाणिज्यपद्धतिमें कई प्रकारकी खाता-पद्धति है, जैसे जर्नल, लेजर, कैशबुक आदि, परंतु पाश्चात्त्य वाणिज्यपद्धति हमारी भारतीय खाता-पद्धतिके समक्ष अपूर्ण-सी लगती है। हमारे प्राचीन वाणिज्य-विज्ञानके अनुसार भारतीय वाणिज्य सात खातोंमें रक्खा जाता था। वे खाते इस प्रकार हैं—भू, भुव, स्व, मह, जन, तप, सत्य। 'भू' खातेको हम रोजनामचा कहते हैं, 'भुव'—छोटी बही कहलाती है, 'स्व'का अर्थ पक्की रोकड़ है, 'मह'का अर्थ खाता-बही है, 'तप'का अर्थ परिशोधन किया हुआ खाता यानी तलपट ट्रायल बैलन्स है। 'सत्य' खातेका अर्थ है चिट्ठा, जो लाभ-हानि अङ्कित करता है। प्राचीन भारतमें व्यापारी सत्य खाता रखकर सत्यतापूर्ण अपने लाभका दस प्रतिशत विना राज्यके माँगे राज्यमें जमा करा देता था; क्योंकि वह यह जानता था कि यह विश्व-ऋणानुबन्ध है। जिस प्रकार ये सात भारतीय खाता-पद्धति हैं, उसी प्रकार विश्वमें सप्त खण्ड हैं, जो भू, भुव, स्व, मह, जन, तप और सत्य-लोक कहलाते हैं। मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके अनुसार इन लोकोंमें पहुँचता है। यमराजका मुनीम चित्रगुप्त सबके खाते अपने पास रखता है; इसलिये हमारा व्यापार ईमानदारी और सत्यतापर आधारित रहा है। ईमानदारी ही सर्वश्रेष्ठ नीति है। विदेशी विद्वान् इमर्सनका कथन है कि 'यथार्थता और ईमानदारी दोनों सगी बहिनें हैं।' पोपका मत है कि 'ईमानदार मनुष्य ईश्वरकी सर्वोत्तम कृति है।' वस्तुतः ईमानदारी मोतीके सदृश निर्मल है जो मानवको सुशोभित करती है तथा बेईमानी व्यापारीको कलङ्कित करती है। हम दैनिक जीवनमें यह देखते भी हैं कि जो व्यापारी ईमानदारीसे व्यापार करता है, चीजोंके भाव ठीक रखता है और उसकी दूकानपर चाहे बच्चा जाय या बूढ़ा, सभीको समान कीमतपर सामान देता है, इससे उसकी बिक्री अधिक होती है और जो व्यापारी चीजोंके भाव ठीक नहीं रखता अथवा बाजारभावसे भी चीजें मँहगी बेचता है, उसका विश्वास ग्राहकोंके हृदयसे उठ जाता है और उस व्यापारीका व्यापार बंद हो जाता है। एक कहावत है कि 'ग्राहक भगवान् है'। वस्तुतः यह सत्य है। ग्राहकको भगवान् मानकर उसके हितकी इच्छाके साथ ईमानदारीसे व्यापार करनेके कारण तुलाधार इतना ऊँचा महात्मा बन गया कि अच्छे-अच्छे योगी उससे सत्सङ्ग करने आते थे और अपने शिष्योंको उस व्यापारीके पास ज्ञान प्राप्त करनेके लिये भेजते थे। ईमानदारीसे व्यापार करना ही तुलाधारके मोक्षका कारण बन गया। ईमानदारीके साथ व्यापार करने, ग्राहकके प्रति आदर-सहानुभूति एवं श्रद्धा रखनेको ही हमारे शास्त्रोंमें भक्ति-मिश्रित कर्मयोग-साधन कहा है।

हमारे विचार, व्यवहार और व्यापारमें ईमानदारी होना व्यक्तिगत गुण होनेके साथ ही राष्ट्रीय गुण भी है। श्री टी०

ब्राउनका कहना है कि 'सत्य व्यापार व्यापारीको समृद्धिशाली बनाता है। बेईमानी लालसा उत्पन्न करती है जो विषमताका संचय करती चलती है। इससे पूर्व कि धन आपको लोभी बनाये आप दानी बन जाइये।' श्री टी० ब्राउनका यह मत अत्यधिक सुन्दर है; क्योंकि हमारे देशमें व्यापारीको सेठ कहते हैं जो 'श्रेष्ठ' शब्दका अपभ्रंश है। जिसका अर्थ महाजन यानी उत्तम पुरुष है। महाजन लोग जैसा आचरण करते हैं, समाज भी उन्हींके पद-चिह्नोंपर चलता है। अतः यह आवश्यक है कि महाजनोंके द्वारा व्यापारमें ईमानदारी रखना देश एवं समाजके उत्थानहेतु परमावश्यक है। प्रकृतिके प्रतिकूल चलनेवालेको 'पशु' कहते हैं। देशमें संकटकालीन प्रकृतिके प्रतिकूल यदि महाजन व्यापारी चलेंगे तो क्या वे पुरुष कहलानेके अधिकारी हैं; क्योंकि देश, काल एवं समाजकी प्रकृतिके अनुकूल चलनेवाला पुरुष सही अर्थोंमें मनुष्य कहलाता है। उचित टैक्स न देना, नगरपालिकाकी चौकियोंकी चुंगी न देना, कीमतें बढ़ाना, भाव छिपाना, मिलावट करना—ये सब काम महाप्रकृतिके प्रतिकूल ही तो हैं, जिनसे सर्वशक्तिशाली भगवान् असंतुष्ट होते हैं। रेलमें बिना टिकट चलना भी हमारी व्यापारिक बेईमानी है। राजकीय कार्यालयोंका काम भी राजकीय व्यापार है। बाबूको इसीसे असिस्टेन्ट कहा जाता है। यदि बाबू राजकीय कार्यालयके समयमें काम ठीक नहीं करता अथवा गप्पें लड़ाता है तो यह भी राजकीय व्यापारमें ईमानदारी नहीं करता। जब कि हमारी संस्कृति है **'योगः कर्मसु कौशलम्'**। योगी वही है जो अपने कर्मका कुशलतासे पालन करता है। समाज अथवा व्यक्तिका कल्याण सत्याश्रित है। ईमानदारीसे व्यापार एवं काम करनेसे आत्म-अनुशासन, आत्म-नियन्त्रण तथा आत्मविश्वासकी जागृति होती है। सत्यपालनसे चित्तकी वृत्तियोंका, कलुषित भावनाओंका और असद्विचारोंका निरोध होता है। यही कारण है कि हमारे देशका महामन्त्र 'सत्यमेव जयते' है। राजस्थानीमें भी एक दोहा मिलता है—

> सत मत छोड़े सूरमाँ सत छोड़याँ पत जाय।
> सत की बाँधी लिच्छिमी फेर मिलैगी आय॥

सत्यका त्याग करनेपर लक्ष्मी नहीं आती और व्यक्तिका विश्वास समाजसे उठ जाता है। सत्य रहता है तो लक्ष्मी रहती है। एक उदाहरण है इसका। एक राजाने यह घोषणा की कि 'मेरे राजमें एक हाट लगायी जाय और उसमें यदि किसी व्यापारीका माल नहीं बिकेगा तो शामको मैं उसे खरीद लूँगा।' एक दिन एक व्यापारी एक शनैश्चरकी मूर्ति बना लाया। उसे किसीने नहीं खरीदा तो शामको राजाने उसे खरीद लिया। मन्त्रियोंने मना किया कि इसे आप न खरीदें; क्योंकि शनैश्चर जहाँ रहता है, वहाँ सब नष्ट हो जाता है। पर राजा नहीं माने। वे भोजन करके सो गये। रातको लक्ष्मी आयी और राजासे बोली—'राजन्! तेरे यहाँ शनैश्चर आ गया है, इसलिये मैं जा रही हूँ।' राजाने कहा कि 'आप जा सकती हैं।' फिर धर्म आया और राजासे बोला कि 'मैं जा रहा हूँ।' राजाने उसे भी जानेकी आज्ञा दे दी। अन्तमें सत्य आया और राजासे बोला—'तेरे यहाँ शनि आ गया है, इसलिये मैं यहाँ नहीं रह सकता, मैं भी जा रहा हूँ।' तब राजाने उठकर सत्यके पाँव पकड़ लिये और कहा कि 'मैंने वचनोंकी सत्यताको निभानेके लिये ही तो शनिको खरीदा, नहीं तो मेरी सत्यता चली जाती। अब आप ही चले जायँगे तो मेरा कौन है?' सत्यने जब सोचा कि 'राजा सचमुच सत्यपर है' तो वह नहीं गया। जब सत्य नहीं गया तब लक्ष्मी और धर्मको भी वापस आना पड़ा। अतः स्वयंसिद्ध है कि सत्यतामें ही लक्ष्मी निवास करती है।

संसारकी कोई वस्तु हमारे साथ नहीं चलेगी। सुख धन-संग्रहमें नहीं है, वह तो मानवके अंदर जो सत्य निहित है, उसके साथ संग करनेमें है। यही 'सत्सङ्ग' कहलाता है। हमारे सत्कर्म ही हमें मुक्ति प्रदान करते हैं तो फिर हम सत्यका त्याग किसके लिये करें! जब कि—

> माता पिता सुत भ्रात भार्या साथ कोइ न जायगा।
> उस पाक-कुंभी नरकमें कोई न हाथ बटायगा॥

इसलिये हमारे जीवनकी सफलता सत्यकी रक्षा तथा प्राप्तिमें ही है। प्रजातन्त्रमें देशकी रक्षाका दायित्व प्रत्येक नागरिकपर होता है। विशेषतः व्यापारीपर; क्योंकि सत्यतापूर्वक व्यापारसे उपार्जित धन ही राष्ट्रकी शक्ति है। धनका दुरुपयोग करना, जरूरतसे ज्यादा खर्च करना कठिनाइयाँ पैदा करता है। सत्यता तथा ईमानदारीसे व्यापार करो और उपार्जित धनको समाज-कल्याणके उत्तम-से-उत्तम कार्योंमें उदारतापूर्वक व्यय करो। इसीमें वैश्य-धर्मकी सार्थकता है।

वैश्य-धर्मके आदर्श

तुलाधार

'मेरे समान तपस्वी तथा ज्ञानी दूसरा कोई नहीं है।' योगी जाजलिके मनमें इस गर्वके उदयका कारण था। इच्छा करते ही समस्त भूगोल, खगोलका ज्ञान उन्हें प्रत्यक्षके समान हो रहा था। उन्होंने समुद्र-किनारे स्थिर खड़े होकर दीर्घकाल तक तप किया था। सर्दी, गरमी, वर्षा सहन करते, केवल वायु पीते। वे इस प्रकार स्थिर खड़े रहे थे कि पक्षियोंने उन्हें ठूँठ समझकर उनकी जटामें घोंसला बना लिया और अंडे दे दिये। उन अंडोंके फूटनेपर जो शावक निकले, वे वहीं पले, बढ़े और उड़ गये।

'जाजलि! तुम्हारा गर्व उचित नहीं है। ऐसा गर्व तो काशीमें रहनेवाले महात्मा तुलाधार भी नहीं कर सकते।' आकाशवाणीने जाजलिको सावधान किया।

'तो तुलाधार मुझसे अधिक बड़े ज्ञानी एवं तपस्वी हैं!' जाजलिके चित्तमें उन महात्माका दर्शन करनेकी इच्छा जाग्रत् हुई। वे समुद्र-तटसे चल पड़े।

'आइये! आपका स्वागत।' तुलाधार अपनी दूकानपर बैठे व्यापारमें लगे थे। योगी ब्राह्मण जाजलिको देखकर वे उठे, ब्राह्मणको प्रणाम किया, आसन देकर अतिथि-सत्कार किया। इसके बाद जाजलिने कितना तप किया और कैसे उन्हें गर्व हुआ, यह भी बतला दिया। अन्तमें बोले—'मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'

'आपको यह ज्ञान कैसे हुआ? आप क्या साधन करते हैं?' जाजलिने पूछा।

'मैंने केवल अपने वर्णाश्रमविहित धर्मका पालन किया है।' तुलाधार बोले—'अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करते हुए किसीका अहित न करना, सबमें भगवान्‌को देखना, मेरे पास ग्राहकके रूपमें स्वयं भगवान् पधारते हैं, यह समझकर उनकी सुविधाका पूरा ध्यान रखना, उनको ईमानदारीसे न्याय-पूर्वक उचित मूल्यपर उनकी उपयोगी वस्तु देना—यह मेरा नियम है। सबका हित चाहना, अपनी शक्तिके अनुसार दान करना तथा रोगी एवं दुखियोंकी सेवा-सहायता करना—यही मैं धर्म जानता हूँ।'

'सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌का स्वरूप है। मिट्टी और स्वर्णमें वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। इच्छा, द्वेष और भयका त्याग करके जो अपने कर्तव्यका पालन करता है, दूसरोंको भयभीत नहीं करता, कष्ट नहीं देता, वही ज्ञानका अधिकारी होता है।' तुलाधारने जाजलिके पूछनेपर बतलाया।

तुलाधारके उपदेशसे जाजलिका गर्व तथा अज्ञान नष्ट हो गया। वे अपने कर्तव्यके पालनमें लग गये। सु०—

आदर्श वैश्य

वैश्य जो न्याय-धर्म-सम्पन्न। प्रचुर उपजाता कृषिसे अन्न॥
पालता पशु उपजाता अर्थ। कभी करता न प्रमाद-अनर्थ॥
सदा करता विशुद्ध व्यापार। सत्यका करता नित सत्कार॥
न लेता परधन कभी अशुद्ध। बही-खाता रखता सब शुद्ध॥
छोड़ता कभी नहीं ईमान। विप्र-गो-हित करता नित दान॥
अर्थपर मान न निज अधिकार। बाँटता बनकर सदा उदार॥
छिपाकर नहीं लाभका अंश। राज्यको देता कर दशमांश॥
राज्य भी करता उसका मान। लूटता कभी न बन बेभान॥
चतुर श्रमशील कर्ममें दक्ष। लाभ करता पद अर्थाध्यक्ष॥
देव-आराधन प्रभुकी भक्ति। सदा करता जितनी है शक्ति॥

शूद्र-धर्म

(लेखक—गोस्वामी पं० अवधनारायणजी 'भारती')

आजकल शूद्र नाम लेने मात्रसे ही यह मान लिया जाता है कि यह वर्ण निकृष्ट है। पर यह वास्तवमें लोगोंकी महान् भूल है। जिन लोगोंने वेद-शास्त्रका अध्ययन नहीं किया है, वे ही ऐसा सोचा करते हैं और उन शूद्रजनोंसे घृणा करते हैं। यद्यपि ऐसा करना सर्वदा त्याज्य है।

हमारे शास्त्रोंमें शूद्रोंका धर्म सर्वोपरि बतलाया गया है; क्योंकि इनका परम धर्म ही सेवा-कार्य है और सेवा-कार्य ही भगवान्‌को प्रसन्न करनेका सर्वोत्तम साधन है। सेवासे प्रत्येक प्राणी इस संसार-बन्धनसे पार हो सकता है।

धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें विभिन्न कार्योंका भार विभिन्न लोगोंको दे दिया गया। उस समय एक कार्य बचा था आये हुए अतिथियोंका चरण पखारना। श्रीकृष्णने झटसे उठकर कहा—'यह कार्य मेरे लिये छोड़िये।' लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। परंतु इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं; क्योंकि सेवा करनेवाला शिष्य ही एक दिन गुरुके पदपर परिलक्षित होता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णोंके लिये भी सेवाका विधान है। भगवान् श्रीकृष्णने इसी उद्देश्यको लेकर गीताके १८ वें अध्यायके ४२-४३ तथा ४४ वें श्लोकोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रोंके लिये पृथक्-पृथक् स्वधर्म-रूप सेवा-कार्योंका प्रतिपादन किया है। पर शूद्र तो चतुर्वर्ण-प्रासादका मूलाधार पाया है। उसके विना यह इमारत खड़ी ही नहीं रह सकती।

आजकल प्रायः यह कहा जाता है कि 'ब्राह्मण सदैव ही शूद्रोंको नीचे गिरानेके प्रयत्नमें रहे, जिससे कि वे अपनी उन्नति न कर सकें।' पर ऐसा समझना सर्वथा भ्रम है; क्योंकि शास्त्रोंके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि स्वधर्म-पालन करना सबसे बढ़कर है। स्वधर्म-पालन करना ही उत्तम गतिका साधन है। यह साधन ब्राह्मणके तप आदि साधनोंकी अपेक्षा शूद्रोंके लिये सुगम है।

चारों युगोंमें मुनियोंने कलियुगको ही सर्वश्रेष्ठ माना है; क्योंकि इस युगमें भगवन्नाम-कीर्तन करनेमात्रसे ही संसार-सागरसे मुक्ति मिल जाती है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जो नर कर बिसवास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

एक बार कुछ मुनि—'किस समयमें थोड़ा-सा पुण्य महान् फल देता है और कौन उसका सुगमतासे सुखपूर्वक अनुष्ठान कर सकते हैं?' इस प्रश्नको लेकर श्रीव्यासजीके पास पहुँचे। व्यासजी उस समय गङ्गाजीमें स्नान कर रहे थे। व्यासजीने गङ्गाजीमें गोता लगाकर फिर कहा—'कलियुग श्रेष्ठ है। शूद्र तुम ही श्रेष्ठ हो, तुम ही धन्य हो। स्त्रियाँ ही साधु हैं, वे ही धन्य हैं।'

तदनन्तर व्यासजीने बाहर निकलकर नित्यकर्म किया। फिर मुनियोंका अभिवादन करके उनसे आनेका कारण पूछा। मुनियोंने कहा, 'हम एक प्रश्नको लेकर आये थे; परंतु पहले आप यह बतलाइये कि आपने जो कलियुगको, शूद्रको और स्त्रियोंको श्रेष्ठ, साधु और धन्य कहा—इसका क्या रहस्य है?'

व्यासजीने हँसते हुए कहा—जो धर्म सत्ययुग, त्रेता, द्वापरमें बहुत समयसे तथा तप, ध्यान, पूजनसे प्राप्त होता था, वह कलियुगमें श्रीकृष्णके नाम-कीर्तन मात्र थोड़ेसे प्रयत्नसे ही प्राप्त हो जाता है, इसलिये मैं कलियुगसे अति प्रसन्न हूँ। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको बड़े संयमसे रहकर परतन्त्रतापूर्वक साधन करनेपर जिन पुण्यलोकोंकी प्राप्ति होती है, वह सद्गति शूद्रको केवल सेवा करनेसे ही प्राप्त हो जाती है। इसलिये वह अन्य जातियोंकी अपेक्षा धन्यतर है और स्त्रियाँ केवल तन-मन-वचनसे पतिकी सेवा करके ही शुभ गतिको प्राप्त हो जाती हैं, इसलिये वे साधु हैं। मैंने इसी अभिप्रायसे कलियुग, शूद्र और स्त्रियोंको श्रेष्ठ तथा धन्य बतलाया है।

ऋषियोंने कहा—महामुने! हमें जो कुछ पूछना था, उसका यथार्थ उत्तर तो आपने हमारे इसी प्रश्नके उत्तरमें दे दिया है।

इस प्रकार महर्षि व्यासने शूद्रोंकी महिमा गायी है। अतः शूद्र भाइयोंसे सादर प्रार्थना है कि वे इस स्वर्ण-अवसरको प्राप्तकर विशेष लाभान्वित हों; क्योंकि स्वधर्म-पालन करनेवाले प्राणियोंके लिये मुक्तिका द्वार सर्वथा खुला है।

गृहलक्ष्मीर्गृहे गृहे !

(लेखक—श्रीश्रीरामनाथजी सुमन)

(१)

प्राचीन एवं अर्वाचीन—सभी विचारक इस विषयमें एकमत हैं कि स्त्रीसमाज सभ्यता एवं संस्कृतिका मेरुदण्ड है। हमारे देशकी कल्पनामें उसको कुछ और भी विशेषता प्राप्त हुई है। भोगके बीच त्याग, तपस्या, समर्पण एवं अर्चनाकी प्रतिष्ठाने उसे एक अद्भुत शक्ति एवं भव्यता प्रदान की है। उसे जगदम्बाका ही स्वरूप माना गया है। दुर्गा-सप्तशतीमें कहा गया है कि 'हे जगदम्बिके ! जगत्में जितनी भी स्त्रियाँ हैं—तेरा ही भेद हैं, तेरा ही अंश हैं।' लक्ष्मीके एक स्तोत्रमें कवि कहता है—'माँ लक्ष्मी ! तुम घर-घरमें गृहलक्ष्मी-रूपमें प्रतिष्ठित हो।'

यह ठीक है कि हमने बीचके युगमें शताब्दियोंतक स्त्रीके प्रति हीन भावना रक्खी और तदनुकूल आचरण किया है। उसका परिणाम भी भोगा है—हमारा सर्वाङ्गीण पतन हुआ है। परंतु हमारी विचारधारामें, हमारे धर्ममें, हमारे श्रेष्ठ साहित्यमें सदैव नारी पूज्या, आदरणीया और प्रेमास्पदा रही है। श्रुति-स्मृति-पुराण तथा गृह्यसूत्रोंमें—सर्वत्र हमें उसके प्रति विशेष स्नेह तथा आदरका व्यवहार करनेके आदेश मिलते हैं।

शतपथब्राह्मण (५ । २ । १ । १०) में स्त्रीको मनुष्यकी आत्माका अर्द्धांश बताया गया है—

अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते असर्वो हि तावद् भवति। अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति।

'महाभारत' कहता है—

स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः॥
अपूजिताश्च यत्रैताः सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।
तदा चैतत् कुलं नास्ति यदा शोचन्ति जामयः॥
जामीशप्तानि गेहानि निकृत्तानीव कृत्यया।
नैव भान्ति न वर्धन्ते श्रिया हीनानि पार्थिव॥

(अनु० ४६ । ५-६-७)

'जहाँ स्त्रियोंका आदर-सत्कार होता है, वहाँ देवता-लोग प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं तथा जहाँ इनका अनादर होता है, वहाँकी सारी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं। जब कुलकी बहू-बेटियाँ दुःख मिलनेके कारण शोकमग्न होती हैं, तब उस कुलका नाश हो जाता है। वे खिन्न होकर जिन घरोंको शाप दे देती हैं, वे कृत्याके द्वारा नष्ट हुएके समान उजाड़ हो जाते हैं। वे श्रीहीन गृह न तो शोभा पाते हैं और न उनकी वृद्धि ही होती है।'

फिर जोर देकर कहा गया है—

'स्त्रीप्रत्ययो हि वै धर्मः' (अनु० ४६ । १०)

स्त्री धर्मकी सिद्धिका मूल कारण है। स्पष्ट आदेश है—

श्रिय एताः स्त्रियो नाम सत्कार्या भूतिमिच्छता।
पालिता निगृहीता च श्रीः स्त्री भवति भारत॥

(अनु० ४६ । १५)

'भरतनन्दन ! स्त्रियाँ ही घरकी लक्ष्मी हैं। उन्नति चाहनेवाले पुरुषको उनका भलीभाँति सत्कार करना चाहिये। अपने वशमें रखकर उनका पालन करनेसे स्त्री (लक्ष्मी)-स्वरूप बन जाती है।'

किंतु भारतीय गृहधर्मके इस परिवेशके अतिरिक्त उसकी महती कल्पनाके पीछे एक और विशिष्टता है। कन्यासे लेकर मातातक सब जीवनके श्रेय-पथपर अग्रसर होती साधना-भूमियाँ हैं, देहमें जो प्राण है और वह प्राण-तत्त्व जिस आध्यात्मिक सत्यको लेकर ठहरा हुआ है, उसे धीरे-धीरे पानेकी साधना हैं। पुरुष इस साधनामें स्त्रीका केवल साथी नहीं है—वह और नारी दोनों मिलकर एक नवीन पूर्णताकी सृष्टि करते हैं। दोनों मिलकर एक हैं—एकात्मा हैं। दोनों अविभक्त और अविभाज्य हैं। यह साधना जन्म-जन्मान्तरोंकी साधना है। इसने जीवनके क्षितिजके उस पार बहुत दूरतक देखा है और दृश्यके पीछे जो अदृश्य है, मूर्तिके पीछे जो अमूर्त्त है, उसे देखने और पानेकी चेष्टा की है।

इसीलिये मैं मानता और कहता आया हूँ कि नारी ही हमारी संस्कृतिकी कुंजी है। जबतक वह अभिशप्त रहेगी, जबतक वह अपने धर्म और कर्तव्यको ठीक-ठीक ग्रहण नहीं करेगी, कोई वास्तविक प्रगति सम्भव न होगी। वही है हमारी आशा, वही है हमारा सम्बल, वही है

हमारी ज्योति । घर-घरमें उसी देवीकी, माताकी, समर्पणकी मूर्ति, त्यागकी देवी, प्रेमास्पदा, करुणामयी, हृदयसे जो जननी है—उसकी प्रतिष्ठा करनी होगी ।

कैसे होगी वह प्रतिष्ठा? होगी, जब कन्या सच्ची कन्या, नारी सच्ची नारी तथा माता सच्ची माता बनेगी, स्वरूपका दर्शन करेगी ।

(२)

कन्या

कन्या है नारी-जीवनका आदि । वह कली है, जिसमें समस्त भविष्य मुकुलित है । इस कलीको कल फूल बनना होगा । कली फूलका आदिरूप है; जो वह है, वही फूल होगा । जीवनमें उसीकी सुगन्ध फैलेगी । इसलिये उसीके निर्माणपर सब कुछ निर्भर है । गृहोंका भविष्य, परिवारोंका सुख, समाजकी शान्ति उसीकी मुट्ठीमें है ।

बहुत दिनोंसे कन्या समाजमें उपेक्षित रही है । पहिले उसकी उपेक्षाके कारण सामाजिक परम्पराएँ थीं, जहाँ उसे 'परायी' चीजके रूपमें ग्रहण किया जाता था । आज बाह्य दृष्टिसे तो उपेक्षा नहीं है—उनको सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, लड़कियाँ प्यार-दुलारके साथ पाली जाती हैं, शिक्षा भी दी जा रही है; जीवनके अनेक क्षेत्रोंमें वे प्रवेश कर रही हैं, कहीं उनके लिये विधि-निषेध नहीं है । सब मार्ग खुल गये हैं और मानस-क्षितिज विशद हो गया है ।

परंतु यह सब शिक्षा मुख्यतः ऐहिक है । इसलिये समाजने जहाँ ऐहिक सुख-सुविधाकी शक्ति उसे प्रदान की है और बाह्यतः उसे विकसित किया है, वहाँ अन्तरसे संकुचित किया है । उसमें अपने सुखकी वृत्ति अधिकाधिक बढ़ती गयी है; इसलिये एक भोगवादी, बाहरसे वृद्धिशीला परंतु प्राणके उत्सको सुखा देनेवाले परिवेशमें वह सिमट गयी है । आभासिक छाया-मात्र उसके लिये सत्य है; किंतु जिस बिन्दुपर प्राणका रस बने एवं निवेदित होनेसे बढ़ता है, अमृत एवं अविनश्वर होता है, वह बिन्दु दृष्टिसे लुप्त होता जा रहा है !

हमने बालकों-बालिकाओंकी शिक्षामें एकरूपताकी स्थापना करके गर्वका अनुभव किया, किंतु निसर्गजात सत्योंको हम भूल गये । पुरुष और स्त्रीकी मनोरचना, अन्तःप्रवृत्तियों और जीवनके निर्माणमें उनके योग तथा कार्यमें जो अन्तर है, उसीके अनुसार उनकी शिक्षा-दीक्षा, तैयारी और कार्य-विभाग होने चाहिये । बहुत-से कार्योंमें समानता होगी, कुछमें सहयोग होगा और कुछमें एकरूपता भी होगी; किंतु दोनोंकी प्रेरणाएँ अलग-अलग स्रोतोंसे उद्भूत होती हैं, इसका ध्यान न रखनेसे कठिनाइयाँ पैदा होती हैं । स्त्रीको पुरुष बनाना और पुरुषको स्त्री बनाना एक प्राकृतिक अभिक्रमको निरर्थक बना देनेकी चेष्टा है । इसमें शक्तिका अपव्यय है, विनियोग नहीं ।

इसलिये एक सीमातक ही लड़कियों-लड़कोंके पाठ्यक्रम एक होने चाहिये । सामान्य शिक्षणके बाद कन्याको इस प्रकारकी शिक्षा मिलनी चाहिये, जिससे उसकी प्रच्छन्न प्राकृतिक शक्तियोंका विकास हो; उससे जो आशा और अपेक्षा है, उसकी पूर्ति हो ।

व्यावहारिक जीवनमें पुरुष मुख्यतः जीविका तथा तत्सम्बन्धी कार्योंका एवं कुटुम्ब, परिवार, समाजके गठनका भार उठानेवाला होता है । स्त्री इस जीवनविग्रहमें प्राण-प्रतिष्ठा करती है । पुरुष जीवनका सैनिक है; नारी उसकी श्री है, सुषमा और सौन्दर्य है । पुरुष सभ्यता है तो नारी संस्कृति है; पुरुष मस्तिष्क है तो स्त्री हृदय है; पुरुष ज्ञान है तो स्त्री भक्तिकी निष्ठा है । फिर यह भी एक सामाजिक सत्य है कि कतिपय अपवादोंको छोड़ मुख्यतः नारी एक संयुक्त विवाहित जीवन व्यतीत करती है या करना चाहती है । सुखी, विवाहित एवं गृहजीवनकी प्रेरणा औसत नारीमें औसत पुरुषसे कहीं अधिक होती है । पुरुष बँधना नहीं चाहता; स्त्री बाँधती भी है और बँधती भी है । इसलिये स्वभावतः उसे ऐसी शिक्षाकी भी आवश्यकता है, जो उसके निवेदन और समर्पणकी वृत्तिको विकसित करे, सुसंस्कृत करे—उसे परिवारको खण्डित करनेवाली नहीं, जोड़नेवाली बनाये । वह मालाके मनकोंको पिरोनेवाले सूतके रूपमें हो ।

इसलिये कन्याको हमारी सभ्यता एवं संस्कृतिके मुख्य तत्त्वोंसे परिचित कराना आवश्यक है । उसे थोड़ेमें हमारे दर्शन, इतिहास तथा धर्म-मूलका ज्ञान दिया जाना चाहिये । उसे उन प्राचीन महादेवियोंके चरितसे परिचित होना चाहिये, जिन्होंने पातिव्रत्य-धर्मका विकास करके एक नूतन आदर्शकी अवतारणा की थी और अपनी साधनासे सामान्य मानवको मिट्टीसे उठाकर आकाशपर पहुँचा दिया था ।

उसे गृहको सुव्यवस्थित और सजाकर रखने, विविध गृह-कलाओं, संगीत तथा पाकविद्याका अच्छा ज्ञान होना

चाहिये । इस शिक्षाके बाद भी स्वभावकी रचना प्रमुख समस्या है । सम्पूर्ण ज्ञानके होते हुए भी स्वभावकी कटुता मानव-जीवन तथा गृहजीवनका नाश कर देती है । जो लड़की जिह्वाकी मिठासमें कटुताके दंशको पिघला सकती है और मुस्कानकी चाँदनी तीखेपनके अन्धकारपर फैला सकती है, वह जीवनमें अवश्य सफल होती है ।

कन्याका धर्म है कि वह अपने माता-पिता, गुरुजनोंका आज्ञा-पालन एवं सेवा करना सीखे, भाई-बहिनोंके प्रति प्रेम-स्नेहसे भरी हो । नौकर-नौकरानियोंसे, घरकी, पड़ोसकी समवयस्का लड़कियोंसे नम्रतायुक्त मधुर व्यवहार करे, सबसे मीठा बोले, किसीका अपमान-तिरस्कार न करे, नित्य प्रातः उठकर बड़ोंको प्रणाम करे, छोटोंको आशीर्वचन कहे, नित्यक्रियाओंसे निपटकर गृहदेवता या भगवान्‌का पूजन, अर्चन, ध्यानादि करे और फिर अपने अध्ययन तथा गृहके अन्य कामोंमें लग जाय ।

(३)

नारी-धर्म

यही कन्या कल बड़ी होकर विवाहित होगी, दाम्पत्य-बन्धनमें बँधेगी, गृहलक्ष्मी होगी । एक घरके क्या, पीढ़ियोंके संस्कार एवं सुख उसपर निर्भर करेंगे । ऋग्वेदमें ससुरालकी साम्राज्ञीके रूपमें उसकी कल्पना की गयी है—**'सम्राज्ञी श्वशुरे भव ।'** अथर्ववेद उसकी महिमाका गान करते हुए कहता है—

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य च ॥

(१४ । १ । ४३)

'जैसे नदियोंमें सिन्धु, वैसे ही उसके कथनका सम्मान होता था और उसकी आज्ञाका सभी पालन करते थे ।'

दाम्पत्यका आरम्भ ही जीवनव्यापी सहकर्मकी प्रतिज्ञाके बाद होता है । पारस्कर-गृह्यसूत्र (१ । ६ । ३) में विवाह-संस्कारके समय पति कहता है—

'सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि विवहावहै, सह रेतो दधावहै, प्रजां प्रजनयावहै, पुत्रान्विन्दावहै बहून्, ते सन्तु जरदष्टयः संप्रियौ, रोचिष्णू सुमनस्यमानौ पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम् ।'

अर्थात् 'मैं साम हूँ, तुम ऋक् हो; मैं आकाश हूँ, तुम पृथिवी हो; इसलिये आओ, हमलोग विवाह करें, साथ तेजको धारण करें, पुत्र उत्पन्न और प्राप्त करें; तुम बहुत वर्षोंतक जीती रहो; हमलोग प्रेमसे आनन्दपूर्वक सौ शरद् देखें, सौ शरद् जियें, सौ शरद् सुनें ।'

आज स्त्री-पुरुषका मानस विभक्त होता जा रहा है, जिससे शान्तिके स्वर्ग-स्वरूप गृह अभिराम हो रहे हैं; उनमें अमृत-हास्यकी जगह कराह और आह है । परंतु एक दिन 'आपस्तम्ब-धर्मसूत्र' (२ । ६ । १३ । १६-१७) ने घोषणा की थी—

जायापत्योर्न विभागो विद्यते ।

'स्त्री-पुरुषका विभाग नहीं हो सकता ।'

स्त्री-पुरुषका साहधर्म्य, साहचर्य—यहाँतक कि ऐकात्म्य-साधना भारतीय दाम्पत्यका आदर्श है । स्वर्ग एवं नरक स्त्रीकी अपनी सृष्टि है । कहा गया है—

आनुकूल्यं हि दम्पत्योस्त्रिवर्गोदयहेतवे ।
अनुकूलं कलत्रं चेत् त्रिदिवेन हि किं ततः ?
प्रतिकूलं कलत्रं चेत् नरकेया हि किं ततः ?
गृहाश्रयः सुखार्थाय पत्नीमूलं हि तत्सुखम् ॥

(प० पु० २२३ । ३६-३७)

'यदि स्त्री अनुकूल है तो स्वर्गप्राप्तिसे क्या लाभ है और यदि स्त्री प्रतिकूल अर्थात् स्वेच्छाचारिणी है तो नरक खोजनेकी आवश्यकता ही क्या ?'

जहाँतक नारी-धर्मके निरूपणकी बात है, हमारे धर्म-ग्रन्थ उससे परिपूर्ण हैं । परंतु महाभारतमें रुक्मिणी-लक्ष्मी-संवादमें तथा पुनः महेश्वर-पार्वती-संवादमें इसका सुन्दर विवेचन किया गया है । रुक्मिणीके पूछनेपर लक्ष्मीजी कहती हैं—

प्रकीर्णभाण्डामनवेक्ष्यकारिणीं
सदा च भर्तुः प्रतिकूलवादिनीम् ।
परस्य वेश्माभिरतामलज्जा-
मेवंविधां तां परिवर्जयामि ॥
पापामचोक्षामवलेहिनीं च
व्यपेतधैर्यां कलहप्रियां च ।
निद्राभिभूतां सततं शयाना-
मेवंविधां तां परिवर्जयामि ॥

सत्यासु नित्यं प्रियदर्शनासु
सौभाग्ययुक्तासु गुणान्वितासु ।
वसामि नारीषु पतिव्रतासु
कल्याणशीलासु विभूषितासु ॥
(महाभारत, अनुशासन० ११ । ११—१३)

अर्थात् जो घरके बर्तन सुव्यवस्थित न रख इधर-उधर बिखेरे रहती हैं, सोच-समझकर काम नहीं करतीं, सदा पतिके प्रतिकूल बोलती हैं, दूसरोंके घरोंमें घूमने-फिरनेमें आसक्त रहती हैं और लज्जा छोड़ देती हैं, उनका मैं त्याग कर देती हूँ। जो स्त्रियाँ निष्ठुरतापूर्वक पापाचारमें तत्पर रहती हैं, अपवित्र, चटोर, धैर्यहीन, कलहप्रिय और नींदमें बेसुध होकर सदा खाटपर पड़ी रहनेवाली होती हैं, ऐसी नारीसे मैं सदा दूर रहती हूँ। जो स्त्रियाँ सत्यवादिनी और अपनी सौम्य वेश-भूषाके कारण देखनेमें प्रिय होती हैं, जो सौभाग्यशालिनी, गुणवती, पतिव्रता एवं कल्याणमय आचार-विचारवाली होती हैं तथा जो सदा वस्त्राभूषणोंसे विभूषित रहती हैं, ऐसी स्त्रियोंमें मैं सदा निवास करती हूँ।'

इसी प्रकार महाभारत, दानधर्मपर्व, अध्याय १४६ में पार्वतीजी नारी-धर्मका विशद विवेचन करती हैं—

सुस्वभावा सुवचना सुवृत्ता सुखदर्शना ।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी ॥
सा भवेद् धर्मपरमा सा भवेद् धर्मभागिनी ।
देववत् सततं साध्वी या भर्तारं प्रपश्यति ॥
शुश्रूषां परिचारं च देववद् या करोति च ।
नान्यभावा ह्यविमनाः सुव्रता सुखदर्शना ॥
पुत्रवक्त्रमिवाभीक्ष्णं भर्तुर्वदनमीक्षते ।
या साध्वी नियताहारा सा भवेद् धर्मचारिणी ॥
श्रुत्वा दम्पतिधर्मं वै सहधर्मं कृतं शुभम् ।
या भवेद् धर्मपरमा नारी भर्तृसमव्रता ॥
देववत् सततं साध्वी भर्तारमनुपश्यति ।
दम्पत्योरेष वै धर्मः सहधर्मकृतः शुभः ॥
(३५—४०)

अर्थात् 'जिसके स्वभाव, बातचीत और आचरण उत्तम हों, जिसको देखनेसे पतिको सुख मिलता हो, जो अपने पतिके सिवा दूसरे किसी पुरुषमें मन नहीं लगाती हो और स्वामीके समक्ष सदा प्रसन्नमुखी रहती हो, वह स्त्री धर्माचरण करनेवाली मानी गयी है। जो साध्वी स्त्री अपने स्वामीको सदा देवतुल्य समझती है, वही धर्मपरायणा और वही धर्मके फलकी भागिनी होती है। जो पतिकी देवताके समान सेवा और परिचर्या करती है, पतिके सिवा दूसरे किसीसे हार्दिक प्रेम नहीं करती, कभी नाराज नहीं होती तथा उत्तम व्रतका पालन करती है; जिसका दर्शन पतिको सुखद जान पड़ता है; जो पुत्रके मुखकी भाँति स्वामीके मुखकी ओर सदा निहारती रहती है तथा जो साध्वी और नियमित आहारका सेवन करनेवाली है, वह धर्मचारिणी कही गयी है। पति और पत्नीको एक साथ रहकर धर्माचरण करना चाहिये। इस मङ्गलमय दाम्पत्य-धर्मको सुनकर जो स्त्री धर्मपरायण हो जाती है, वह पतिके समान धर्मका पालन करनेवाली (पतिव्रता) है। साध्वी स्त्री सदा अपने पतिको देवताके समान समझती है। पति और पत्नीका यह सहधर्म परम मङ्गलमय है।'

पार्वतीजी आगे और कहती हैं—

शुश्रूषां परिचारं च देवतुल्यं प्रकुर्वती ।
वश्या भावेन सुमनाः सुव्रता सुखदर्शना ।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी ॥
परुषाण्यपि चोक्ता या दृष्टा दुष्टेन चक्षुषा ।
सुप्रसन्नमुखी भर्तुर्या नारी सा पतिव्रता ॥
दरिद्रं व्याधितं दीनमध्वना परिकर्शितम् ।
पतिं पुत्रमिवोपास्ते सा नारी धर्मभागिनी ॥
या नारी प्रयता दक्षा या नारी पुत्रिणी भवेत् ।
पतिप्रिया पतिप्राणा सा नारी धर्मभागिनी ॥
शुश्रूषां परिचर्यां च करोत्यविमनाः सदा ।
सुप्रतीता विनीता च सा नारी धर्मभागिनी ॥
न कामेषु न भोगेषु नैश्वर्ये न सुखे तथा ।
स्पृहा यस्या यथा पत्यौ सा नारी धर्मभागिनी ॥
श्वश्रूश्वशुरयोः पादौ जोषयन्ती गुणान्विता ।
मातापितृपरा नित्यं या नारी सा तपोधना ॥
ब्राह्मणान् दुर्बलानाथान् दीनान्धकृपणांस्तथा ।
बिभर्त्यन्नेन या नारी सा पतिव्रतभागिनी ॥
(४१-४२, ४४—४७, ५१-५२)

अर्थात् जो अपने हृदयके अनुरागके कारण स्वामीके अधीन रहती है, अपना चित्त प्रसन्न रखती है, देवताके समान पतिकी सेवा और परिचर्या करती है, उत्तम व्रतका आश्रय लेती है और पतिके लिये सुखदायक सुन्दर वेश धारण किये रहती है, जिसका चित्त पतिके सिवा और किसी भी ओर नहीं जाता, पतिके समक्ष प्रसन्नवदन रहनेवाली वह स्त्री धर्मचारिणी मानी गयी है। जो स्वामीके कठोर

वचन कहने या दोषपूर्ण दृष्टिसे देखनेपर भी प्रसन्नतासे मुस्कराती रहती है, वही स्त्री पतिव्रता है। जो नारी अपने दरिद्र, रोगी, दीन अथवा रास्तेकी थकावटसे खिन्न हुए पतिकी पुत्रके समान सेवा करती है, वह धर्मफलकी भागिनी होती है।…जो स्त्री अपने हृदयको शुद्ध रखती, गृहकार्य करनेमें कुशल और पुत्रवती हो, पतिसे प्रेम करती और पतिको ही अपना प्राण समझती है, वही धर्मफल पानेकी अधिकारिणी होती है। जो सदा प्रसन्नचित्तसे पतिकी सेवा-शुश्रूषामें लगी रहती है, पतिके ऊपर पूर्ण विश्वास रखती और उसके साथ विनयपूर्ण व्यवहार करती है, वही नारी धर्मके श्रेष्ठ फलकी भागिनी होती है। जिसके हृदयमें पतिके लिये जैसी चाह होती है, वैसी कामभोग, ऐश्वर्य एवं सुखके लिये भी नहीं होती, वही स्त्री नारी-धर्मकी भागिनी होती है। जो उत्तम गुणोंसे युक्त होकर सदा सास-ससुरके चरणोंकी सेवामें संलग्न रहती है और माता-पिताके प्रति निष्ठा रखती है, वही तपस्विनी मानी गयी है। जो नारी ब्राह्मणों, दुर्बलों, अनाथों, दीनों, अन्धों और कृपणोंका अन्नद्वारा भरण-पोषण करती है, वह पातिव्रत-धर्मके पालनका फल पाती है।'

इस उमा-महेश्वर-संवादमें परमाद्या जगन्माताने स्त्री-धर्मकी जो विवेचना की है, उसके बाद कहनेको क्या रह जाता है? आज इस शिक्षाकी अवहेलना करनेके कारण ही लक्ष-लक्ष गृह निरानन्द, अभिशप्त और विखण्डित हो रहे हैं। उत्तम नारी घरका प्राण है। महाभारतमें कहा गया है—

पुत्रपौत्रवधूभृत्यैः संकीर्णमपि सर्वतः।
भार्याहीनगृहस्थस्य शून्यमेव गृहं भवेत्॥

अर्थात् घरमें पुत्र, पुत्रवधू, पौत्र तथा भृत्य भले ही हों; परंतु स्त्रीके बिना घर सूना मालूम पड़ता है।

फिर (महाभारत ३। ६१। २९) में कहते हैं—

न च भार्यासमं किंचिद् विद्यते भिषजो मतम्।
औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥

दुःखमें पड़े हुए पतिके लिये स्त्री सबसे बड़ी औषध है।

इन सब सूत्रोंमें नारीको पतिके प्रेम एवं सेवामें तन्मय होनेका जो आदेश है, उसका अर्थ यह नहीं कि हर हालतमें पति उससे अधिक गुणी होता ही है; न इसका अर्थ स्त्रीकी हीनता है। इसमें पति एक उच्च धर्म-साधनाका माध्यम तथा प्रतीक है। नारीने अपनी तपस्या, निष्ठा एवं सेवासे उसमें एक महनीय सुषमाकी सृष्टि की है। भारतीय दाम्पत्यका आध्यात्मिक लक्ष्य दो जीवोंके व्यक्तित्व-निमज्जनद्वारा एक अखण्ड आत्माका निर्माण है। उसका ऐहिक लक्ष्य धर्म, अर्थ, कामकी तुष्टि एवं संस्कारद्वारा आनन्दकी प्राप्ति है।

(४)

मातृत्व

मातृत्व नारी-धर्मकी परिणति है। मैंने ऊपर कहा है कि भारतीय समाज-गठनमें प्रत्येक इकाई भोगसे त्यागकी ओर प्रयाण करती है। नारीमें मातृत्व उसी उपक्रमकी पूर्ति है। नारीमें कामनाका नर्तन है, मातृत्व उस कामनाको समर्पणमें निःशेष कर देनेका आदर्श है। नारीमें ग्रहण है, मातामें त्याग है—अपने लिये नहीं, सम्पूर्णतः दूसरोंके लिये जीनेकी साधना है और फिर यह दूसरोंके लिये जीना ही अपने लिये जीना भी है।

मातृत्व एक अवस्था ही नहीं, एक भाव भी है। ज्यों-ज्यों नारी अपने अञ्चलकी छायातले अधिकाधिक प्राणियोंको जीवन तथा शक्ति देती है, त्यों-त्यों उसमें प्रच्छन्न मातृत्वका विकास होता है। वह नित्य मङ्गलमयी, नित्य अन्नपूर्णा है। वह सतत दानमयी है—रिक्ता होकर भी ऐश्वर्यसे पूर्ण, जिसकी करुणाका कोश कभी रिक्त नहीं होता।

यों भी उसपर नवीन जीवनकी रचना एवं संवर्द्धनका भार है। एक असमर्थ जीवनको अपनी छातीके दूध, अपनी निष्ठा, सेवासे जगद्द्वन्द्वोंके बीच शक्तिका स्फुलिङ्ग बनाकर उपस्थित कर देनेसे बड़ा और कौन धर्म है?

इसीलिये प्रत्येक गृह, प्रत्येक समाज और प्रत्येक जातिका भविष्य सुमाताओंपर निर्भर करता है। यदि माँ नहीं तो संतति कैसी? प्रेमसे उमँगी-उमँगी, अन्तर्निष्ठासे जगमग और सर्वस्व देकर प्राणीका निर्माण करनेकी अदम्य आकाङ्क्षासे उद्भासित माताएँ आज हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता हैं, हमारी निधि भी हैं और हमारी प्रेरणा भी।

आज गृहोंमें अनेकविध कर्तव्योंसे अनुप्रेरित कन्याओं, अनेकविध निवेदनोंसे परिपूर्ण स्त्रियों—गृहिणियों तथा सम्पूर्णतः समर्पित शक्तिरूपिणी माताओंकी आवश्यकता है। आज गृह-गृहमें गृहलक्ष्मियोंका आवाहन है; आज गृह-गृहमें मातृत्वका स्वर गूँजनेकी आवश्यकता है। आओ माँ! अनेक रूपोंमें आओ, प्राणरस बनकर आओ, मार्ग बनकर आओ, आदर्श और प्रेरणा बनकर आओ।

सतीधर्म

(लेखिका—रानी श्रीसज्जनकुमारीजी शिवरती)

जैसे पुरुषसे रहित प्रकृतिका कोई अस्तित्व ही नहीं है, इसी प्रकार धर्मपत्नी भी पतिकी छायामात्र है । माता दुर्गाकी स्तुतिमें प्रार्थना है—

पत्नीं मनोरमां देहि मनोवृत्तानुसारिणीम् ।
तारिणीं दुर्गसंसारसागरस्य कुलोद्भवाम् ॥

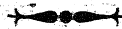
जिस घरमें पति-पत्नी एकचित्त हैं, वहाँ सभी सम्पदाएँ नित्य रमण करती हैं । इसी हेतु हमारी संस्कृतिमें वाइफ, बीवी आदि न होकर 'पत्नी'शब्दके पूर्व 'धर्म' शब्द जुड़ा रहता है; उसे धर्मपत्नी कहते हैं । धर्म साथ लग जानेसे पत्नी वासनापूर्तिका साधन न होकर 'तारिणी दुर्गसंसारसागरस्य' के नाते परलोकमें भी साथ नहीं छोड़ती । वह त्याग तथा विशुद्ध प्रेमकी पराकाष्ठा है ।

भारतमें चूड़ाला, मैत्रेयी, मदालसा, तारा, दुर्गावती आदि-जैसी अगणित ज्ञानी, ध्यानी, भक्त नारियाँ तथा वीराङ्गनाएँ हो गयी हैं, जिन्होंने विपथगामी स्वामियोंको सत्यका मार्ग दिखलाया था तथा अपने पवित्र नारी-जीवनको सार्थक किया था ।

आर्यरमणियोंने पतिसे पृथक् अपने शरीर आदिके सुख-स्वार्थकी बात कभी नहीं सोची । उनका सर्वस्व सदा अखण्डरूपसे पतिमें समर्पित रहा । ऐसे भी उदाहरण हैं कि सप्तपदीके सात पद भी पूर्ण नहीं हो पाये थे कि गौ-मुक्तिके हेतु श्रीपाबूजी विवाह-संस्कार अधूरा छोड़कर युद्धके लिये निकल पड़ते हैं तथा वहीं खेत रह जाते हैं और पत्नी पीछेसे उनकी अनुगामिनी होती है । सगाई हुई कन्याएँ भी भावी पतिके युद्धमें मरण प्राप्त होनेपर उनके साथ सती हो जाती हैं । चित्तौड़में तीन विशाल साके हुए गढ़लक्ष्मण, विक्रमादित्य तथा उदयसिंहके समयमें । जब क्षत्रिय वीरोंने देखा कि लाखों यवन-सेना दुर्गको चतुर्दिक् घेरे खड़ी हैं, रसद-प्राप्तिका कोई मार्ग नहीं बचा है, तब वे मुट्ठीभर शूर केसरिया वस्त्र पहिन (केसरिया वस्त्र परम हर्षके अवसरका द्योतक है) बड़े आनन्द तथा उल्लासके साथ शत्रुसेनामें कूद पड़े और सहस्रोंकी संख्यामें हिंदू-रमणियाँ गीत गाती हुई जलती चितामें प्रवेश कर गयीं । उनके मनमें जरा भी दुःख नहीं था, विरह भी नहीं; क्योंकि विरह तो तब हो जब पतिसे बिछुड़े । यहाँ तो तनके साथ तन, मनके साथ मन और पतिलोक-प्राप्तिका सत्य संकल्प है । सती अनुसूयाके वचन हैं—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा । काय बचन मन पति पद प्रेमा ॥
उत्तम के अस बस मन माहीं । सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥
बिनु श्रम नारि परमगति लहई । पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई ॥

अनुसूया कहती हैं—'बिनु श्रम परमगति' थोड़े अक्षरोंमें कितना रहस्य भरा है । भाव यह है कि पुरुषमें तो कर्तृत्वका अभिमान होता है; उसे मिटानेके लिये उसे अनेकों जप-तप, व्रत-उपवास, तीर्थ-दान-पुण्य आदि कठिन परिश्रम करने पड़ते हैं, तब कहीं सद्गति मिलती है । परंतु स्त्रियोंको तो कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता; उन्हें तो केवल ईश्वर-स्वरूप पतिके प्रति आत्मसमर्पण, सर्वस्व निछावर कर देना है । जो कुछ भी खाये-पिये, पहने—शृङ्गार करे, संतान-पालन करे—सब कार्य केवल पतिके सुखके लिये करे । पुरुषको तो ईश्वरके साक्षात्कारके पूर्व आस्था बनानी पड़ती है और हम स्त्रियोंके भगवान् तो प्रारम्भसे ही साक्षात् दिन-रात अपने अरसपरस रहते हैं, उनके अस्तित्वमें संदेहके लिये रंचभर भी स्थान नहीं है । न तन सुखाना, न कुछ खोना; यहाँ तो केवल मिलन-ही-मिलन है । विरहमें भी मिलनकी अनुभूति है । बस, उनकी हो जाओ । इसीकी तो भगवान् भी भक्तोंसे अपेक्षा करते हैं । स्वामीकी सेवामें श्रम कहाँ, वहाँ तो नित्य नव उल्लास है—नित्य नव उत्साह है ! नारीके लिये परम गतिकी प्राप्तिका श्रमरहित साधन कैसा अमोघ है ! वह शुभ दिन कब होगा, जब कोड बिलसे लाभ उठानेकी भावना छोड़ मेरी बहिनें अपने स्वरूपको समझेंगी !



युग-धर्मके अनुसार नारी-धर्म

(लेखक—श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, एल्-एल० बी०, एल्० टी०)

समाजरूपी शरीर

समाजरूपी शरीरका गठन स्त्री और पुरुष दोनोंको लेकर हुआ है और समाजरूपी विराट् शरीरके लिये हाथ-पैर बनकर उत्तम संतानको उत्पन्न करना उनका अपना लक्ष्य रहा है। परमेश्वरने स्त्री और पुरुषकी सृष्टि दो स्वतन्त्र प्राणियोंके रूपमें की, जिनका महत्त्व एक समान है; किंतु सृष्टिका चक्र चलानेके लिये दोनोंका सामञ्जस्य अनिवार्य है। जीव-शास्त्रके अनुसार नर और नारी सम्पूर्ण-रूपसे कभी पृथक् नहीं रह सकते; क्योंकि इनके पृथक् रहनेका तात्पर्य रचना-क्रममें सामञ्जस्यका अभाव है और इस अभावसे सृष्टिका अस्तित्व भी तो सम्भव नहीं।

नारीके दो रूप

आजकी नारी दो रूपोंमें देखी जा सकती है—(१) पारिवारिक जीवनकी अधिष्ठात्रीके रूपमें वह अपनी ही सीमाओंमें संयम और संतोषको अपनाकर उत्कर्षकी कामना करती है तथा (२) सुधार और जागरणकी संदेशवाहिकाके रूपमें वह परिवारसे विरक्त रहकर उस कृत्रिमताकी आराधना करती है, जो नारी-जीवनके लिये वस्तुतः अभिशाप है। हम यह तो स्वीकार करेंगे ही कि नारीने जीवनकी आहुति देकर भी अपने नारीत्व और सामाजिक मर्यादाकी रक्षा की है। यह सत्य है कि पिछले सब नियमोंने पुरुषको अनेक प्रकारकी छूट देते हुए नारीको जकड़ दिया है; किंतु आज भी पुरुषके हृदयमें नारीके प्रति कोमलताका एक भाव है, नियम-पालनमें उसकी क्षमताके लिये अपनेसे भी अधिक श्रद्धा है। कुछ अनुशासन स्मृतियोंद्वारा भले ही लादा गया हो, परंतु भारतीय संस्कृतिका मूल मन्त्र है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

दाम्पत्य-प्रेमकी सफलता

दम्पतिका प्रेम, जो पहलेसे ही इतना कोमल रहा है कि तनिक झटका लग जानेपर ऐसा टूट जाता है, जिसके जुड़नेकी सम्भावना नहीं रहती, आज कुछ विरले ही भाग्यवानोंको अपने सम्पूर्ण रूपमें प्राप्त होता है। बात भी यह है कि आजके भयंकर झंझावातमें गृहस्थीकी परिस्थितियों-का सामना कर सकना प्रत्येकका काम नहीं रहा। गृहस्थीमें ऐसी स्थिति आ ही जाती है, जिससे दाम्पत्य-प्रेमकी शृङ्खलामें व्यवधान उपस्थित हो जाता है। जीवनकी जटिलताके साथ ऐसे व्यवधानके अवसर भी बहुत हो गये और इसलिये पति-पत्नीका उत्तरदायित्व भी विशेष हो गया है। दाम्पत्य-जीवनकी सफलता तो परस्पर विचारोंमें सामञ्जस्य स्थापित करनेकी चेष्टा और उसमें असफल रहनेपर भी एक-दूसरेको निबाह लेनेकी सुबुद्धिमें है। मानव और उसकी परिस्थितियों-को उनके यथार्थ रूपमें समझकर तदनुसार आचरणका व्यावहारिक ज्ञान जीवनके सभी क्षेत्रोंमें उपयोगी है—फिर गार्हस्थ्य-धर्मके सुखमय सफल निर्वाहके लिये तो उसका महत्त्व असंदिग्ध है। जब विवाहका उद्देश्य पारस्परिक सहयोगद्वारा स्त्री-पुरुषकी निजी कमजोरियोंको दूर करना है, तब वे एक दूसरेकी कमजोरियोंको समझते हुए उनसे निर्वाह करने तथा प्रेम, धैर्य, शान्ति और कौशलद्वारा उनका निवारण करनेकी ओर क्यों न अग्रसर हों?

स्त्री और पुरुष दोनोंके लिये कुछ सच्चे सुखका यह प्रश्न है। अतः दोनोंका ही सम्मिलित प्रयत्न इधर कुछ कर सकता है, परंतु उग्रता अपनानेवाले पुरुषकी अपेक्षा धीरताके विशेष निकट नारीसे हमें विशेष आशाएँ हैं। भारतीय नारी, जिसका विकास परिवारमें होता है, थोड़ी चतुराईसे ही अपने परिवारका विश्वास जीतनेमें समर्थ होगी।

प्रेम और विवाह

प्रेम और विवाह—दो ऐसी वस्तुएँ हैं, जो अपने ऊपर आप एक कठोर शासन और सब प्रकारके स्वार्थका आप ही बिल्कुल त्याग चाहती हैं; किंतु कुछ भोली लड़कियाँ उस व्यक्तिसे, जो उनपर विजय पानेका बड़ा

सौभाग्य प्राप्त कर सका है, अपनी बहुत अधिक पूजाकी आशा रखती हैं और उनकी यह मूर्खता उनके जीवनको दुःखदायी और निराशापूर्ण बना देती है। संसार कैसा हो, इसकी चिन्ता बहुत कुछ अपने बड़े-बूढ़ोंके ऊपर छोड़कर उन्हें चाहिये कि वे यह समझें कि संसार क्या है।

आजकी पढ़ी-लिखी स्त्रीकी अधिकतर यह धारणा होती है कि विवाहके उपरान्त उसे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भुलाकर अपने तन और मनका उपयोग भी पतिके इच्छानुसार करना पड़ेगा। कुछ प्रगतिशील नारियाँ स्त्री-जातिमें स्वभावतः पाये जानेवाले 'मातृत्व'के प्रबल भावका विरोध करती हुई प्रकृति और परमात्मासे भी लड़नेको तैयार हो जाती हैं। कुछ तो माता बननेमें अपने यौवन और सौन्दर्यका ह्रास समझती हैं और कुछकी यह धारणा होती है कि किसीकी माता बनकर वे असमयमें ही अपनी सुख-शान्ति खो बैठेंगी।

नौकरीके लिये दौड़

इस मनोवृत्तिको अपनानेवाली अधिकांश स्त्रियाँ स्वच्छन्द रहकर स्वयं अपनी जीविका उपार्जित करना श्रेयस्कर समझती हैं और चाहती हैं कि वे अपने स्वास्थ्य और सौन्दर्यको चिरस्थायी बनाये रक्खें। यों देखनेमें किसी दूसरेके हाथ अपनी स्वतन्त्रता बेचना उन्हें इष्ट नहीं; पर उनकी यह कामना सदैव रहती है कि वे दूसरोंपर शासन करनेमें समर्थ हों। किंतु संयमकी शक्तिके बिना यह सब एक भ्रमजाल ही सिद्ध होता है। विलासिताके वर्तमान वातावरणमें स्वभावसे दुर्बल वह नारी, जो आजीवन अविवाहित रहनेका संकल्प करती है, जीवनमें सब समय, सब स्थितियोंमें आचरणकी पक्की नहीं रहती, अथवा रहने नहीं पाती।

धर्मविहित उत्तरदायित्व

ज्यों-ज्यों स्त्रियाँ नौकरीकी ओर दौड़ रही हैं, भारतीय सामाजिक जीवनमें उच्छृङ्खलता विशेष दिखायी दे रही है। सभी नारियाँ बचा न पैदा करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर लें, तो संसारकी स्थिति कल्पनातीत होगी। यथार्थमें स्त्रियाँ समाजका अपेक्षाकृत दुर्बल अङ्ग हैं—वे नितान्त स्वतन्त्र होकर सुरक्षित नहीं रह सकतीं। स्त्रीमें यदि कोमलता है, तो पुरुष कठोरता-का प्रतीक है। स्त्री और पुरुषका एक द्वन्द्व है और ऐसा कि दोनोंके साथ रहनेपर ही एक दूसरेकी शोभा है। पति-पत्नी एक दूसरेके पूरक हैं, दोनोंके मिलनेपर एक सम्पूर्ण मङ्गलमय सौन्दर्यका विकास होता है। दोनोंका शरीर परस्पर सुख-प्राप्तिके हेतु है और यह सुख-प्राप्ति कुछ विशिष्ट नियमोंमें बँधकर विशेष आनन्ददायक होती है। अतएव युवक और युवतियों-का जीवन तभी सफल होगा, जब वे 'विवाह'का उद्देश्य केवल 'मनोविनोद' न समझकर उसके साथके धर्मविहित उत्तरदायित्वके समुचित निर्वाहके लिये प्रसन्नतापूर्वक अपनी गर्दन झुकायेंगे। स्वेच्छासे ग्रहण किये हुए उत्तरदायित्वके सम्यक् निर्वाहसे जो आत्मतुष्टि सम्भव है, वह अन्यत्र कहाँ?

ब्रह्मचर्य ही जीवन है

'ब्रह्मचर्य ही जीवन है' का सिद्धान्त उगते हुए बालक-बालिकाओंमें बहुत गहरी नींव देकर प्रतिष्ठित करना सामयिक कर्तव्यका आह्वान है। यह एक अकाट्य उक्ति है कि ब्रह्मचारी-का जन्म गृहस्थोंके ही घरमें हुआ करता है। जिस समाजका जीवन जितना उन्नत और पवित्र है, उसमें ब्रह्मचारीके सुन्दर निर्माणकी भी उतनी ही सम्भावना है। कुमार्गकी ओर ले जानेवाले कुरुचिपूर्ण साहित्य और अश्लील दृश्योंपर केवल कहने भरका नियन्त्रण न रखकर धार्मिक अथवा नैतिक ग्रन्थोंके पाठ तथा तदनुकूल आचरणको प्रोत्साहन देना समाजका प्रमुख कर्तव्य है।

सौन्दर्य-प्रतियोगिताएँ

स्त्री-जातिके स्वास्थ्य और सौन्दर्यकी रक्षाके नामपर भी एक समस्या आ खड़ी हुई है। आश्चर्य तो यह है कि वह पुरुषवर्ग, जो अपना ही स्वास्थ्य ठीक नहीं रख पाता, इस ओर विशेष उत्साह रखता हुआ दिखायी देता है। स्त्री-जातिका सुन्दर और सुदृढ़ होना सभ्यताका परमावश्यक अङ्ग है। स्थितिके अनुसार सुन्दरताका आदर्श बदलता रहता है; किंतु उसका मुख्य रूप एक है और वह है मनुष्य-जातिको आकर्षित करनेकी शक्ति। इसी पुरातन रूपको ध्यानमें रखते हुए आधुनिक युगमें संसारके उन्नत देशोंकी स्त्रियाँ व्यायाम और शृङ्गारद्वारा शरीरके सुगठनके लिये अधिक परिश्रम कर रही हैं। किंतु शृङ्गारकी व्रीडहता तथा सौन्दर्यका अवाञ्छित प्रदर्शन बहुत अंशोंमें इसे स्त्री-पुरुषोंकी विलासिताकी दौड़के रूपमें ही प्रकट करता है और आजकी सभ्य कहलानेवाली दुनिया स्त्री-सौन्दर्य-प्रदर्शनकी होड़में लगी है, जो पतनकी निश्चित सूचना है!

सतीत्व एक उच्च आदर्श

भारतका गौरव तो भारत बने रहनेमें ही है। सतीत्वके

अपने उच्च आदर्शको ध्यानमें रखते हुए नियम और संयमके बन्धनमें बँधे रहकर स्वास्थ्य और सौन्दर्यका चिन्तन करना ही भारतीय महिलाओंके लिये अभीष्ट है। इस प्रकारके शारीरिक व्यायाम और आवश्यक श्रृङ्गारके द्वारा शरीरके स्वाभाविक सौन्दर्यकी रक्षा और वृद्धि करते हुए पत्नियाँ पतियोंपर अपना अच्छा अधिकार रक्खेंगी, जिससे जीवनयात्रा अधिक सुखमयी होगी।

निष्कर्ष

जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें संयमशीलता और नियमबद्धता, सरलता और पवित्रता, कर्मशीलता और चेतनताको उनके योग्य महत्त्व देनेसे ही देशकी संतान आरोग्य एवं उन्नति प्राप्त करेगी। तभी मातृत्व और पितृत्वका पूर्ण विकास देखनेको मिलेगा। अपने शरीरके प्रति कर्तव्यका निर्वाह अपने देश और समाजके प्रति कर्तव्य-पालन है।

× × ×

नारी एक जटिल पहेली है और धर्म बहुत व्यापक। साथ ही युगकी विचारधाराएँ अनेक और अटपटी हैं। तथापि प्राचीन और नवीन संस्कारोंके समुचित सम्मिश्रणसे युग-धर्मके अनुसार नारी-धर्मका किञ्चित् आभास देना ही इस लेखका विषय है।

भारतीय नर-नारीका सुखमय गृहस्थ

भारतीय नर-नारी दोनोंका घरमें समान अधिकार।
एक दूसरेके पूरक बन करते विपुल शक्ति-संचार॥
जैसे दो पहिये गाड़ीके चला रहे गाड़ी अनिवार।
त्यों दोनों मिल सदा चलाते ये गृहस्थका कारोबार॥
रहते पहिये सक्रिय दोनों जब गाड़ीके दोनों ओर।
चलती तभी सुचारु रूपसे गाड़ी सतत लक्ष्यकी ओर॥
अगर जोड़ दें कोई दोनों पहिये कभी एक ही ओर।
चलना रुक जायेगा, गाड़ी पड़ी रहेगी उस ही ठौर॥
वैसे ही नारी सँभालती-करती घरका सारा काम।
पुरुष देखता है बाहरका, अर्थार्जनका कार्य तमाम॥
नारी है, घरकी सम्राज्ञी पुरुष बाहरी कार्याधीश।
सेवक-सखा परस्पर दोनों, दोनों ही दोनोंके ईश॥
है घर एक, तथापि सदा है कर्मक्षेत्र दोनोंके भिन्न।
हों यदि कर्म विभिन्न न, तो बस, हो जायेगा घर उच्छिन्न॥
खूब निखरता यों दोनोंके मिलनेसे गृहस्थका रूप।
प्रीति परस्पर बढ़ती, बढ़ता पल-पल सुख-सौभाग्य अनूप॥
दोनों दोनोंको सुख देते, रहते स्व-सुख-कामना-हीन।
स्वार्थ न होनेसे दोनोंका चित्त न होता कभी मलीन॥
दोनों दोनोंका ही आदर करते, करते सद्-व्यवहार।
प्रेरित करते दोनों प्रभुकी ओर परस्पर बारंबार॥

× × × ×

जहाँ त्याग है, वहीं प्रेम है; प्रेम स्वयं ही है सुखधाम।
त्याग-प्रेम-सुखमय भारत-नर-नारीका गृहस्थ अभिराम॥



नारीधर्म और उसके आदर्श

(लेखक—श्रीमोहनलालजी चौबे, बी० ए०, बी० एड०, साहित्यरत्न)

सृष्टिका आदिस्रोत है नारी । नारी सृष्टि-सृजनमें पुरुषकी पूरक है । आदिपुरुष एवं महाशक्ति विश्व-उत्पादनके स्रोत हैं । इन्हींसे संसारका आरम्भ हुआ । सृष्टि-सृजनमें यदि पुरुषका अंश बीजरूपमें रहा तो नारी-उर्वरा श्यामला भूके रूपमें रही है । सृजन एवं वृद्धि नारीके प्रभूत गुण हैं । सम्भवतः नारीके इसी गुणसे वह जननी कहलाकर विश्ववन्द्य हुई । भारतीय इतिहासके पृष्ठ नारी-महिमाकी स्वर्णिम प्रशस्तिसे अङ्कित हैं । हमारा शास्त्र कहता है, 'जहाँ नारीकी पूजा—सम्मान होता है, वहाँ देवता रमण करते हैं ।'

देव-सम्मानित यह नारी-रत्न विधिकी अनुपम कृति है । नारी गृहका रत्न है । इसीलिये उसकी तुलना साक्षात् लक्ष्मीसे की गयी है और उसे 'गृहलक्ष्मी' संज्ञासे विभूषित किया गया है । लक्ष्मीजी धनकी देवी हैं । सदाचरण करनेवाली यह विदुषी अपने आदर्श आचारोंसे विद्यादेवी सरस्वतीको भी प्रसन्न कर लेती है । अतः गृह शान्ति-सदन बन जाता है । जहाँ सुमति है, वहीं सम्पत्ति है । जहाँ कुमति है, वहीं विपत्ति । यथा—

जहाँ सुमति तहँ संपति नाना ।
जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥

वीणावादिनीकी अनुकूलतासे लक्ष्मी भी 'सुमति' ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उस परिवारमें आ विराजती है, जहाँ उसे 'कलह'की जगह 'शान्ति' मिलती है । अतः ऐसे गृहमें सद्गृहिणीके प्रभावसे सरस्वती और लक्ष्मी—दोनों निवास करती हैं । यही गुणवती 'गृहलक्ष्मी' नामसे पुकारी जाती है ।

नारीका दूसरा रूप 'गृहिणी' है । गृहकार्यको पति-सुखार्थ चतुरतापूर्वक संचालन करना ही गृहिणीत्व है । गृहकार्यको उचित रूपमें चला ले जानेवाली सफल नारी ही सद्गृहिणी है ।

नारीका महत्त्वपूर्ण स्वरूप 'जननी' है । नारीका यह रूप अत्यन्त आदणीय, व्यापक एवं महान् है । जननकी महत् क्रियाके कारण ही वह जननी कहलायी । ममता इसका प्राण है । सृजनकी यह शक्ति 'मातृ', 'माता' या 'माँ'-नामोंसे सम्बोधित है । ममत्व नारीका कोमल भूषण है ।

नारीका द्वितीय महत्त्वपूर्ण रूप 'पत्नी' है । अपने स्वामीकी अनुगामिनी, गृहस्थीके उत्तरदायित्वको बँटानेवाली यह नारी अर्द्धाङ्गिनी कहलाती है । अपनी सेवासे पतिके आधे अङ्गपर अधिकार कर लेनेवाली ही अर्द्धाङ्गिनी है । पत्नीरूपमें नारी विलास-क्रीडा-सहचरी न रहकर विशुद्ध प्रेम-की प्रतीक है । पति ही उसका सर्वस्व है । ऐसी पति-परायणा नारी ही 'पतिव्रता' कहलाती है । मधुर भावमें यही 'कान्ता' है । नारीका यह विशुद्ध रूप ही उसका नारीत्व है ।

भगिनी नारी-रूपकी तृतीय धारा है । भाईके साथ सहोदरा (सह+उदर=एक ही कोखसे जन्म लेनेवाली) होनेके कारण स्नेह नारीका महत् गुण है । भाईके प्रति स्नेहकी सरिता बहानेवाली नारी ही है । कन्या इसकी शैशवावस्था है एवं तरुणी इसकी परिपक्व, प्रौढ़ा मध्य एवं वृद्धा अन्त अवस्था है । कौटुम्बिक दृष्टिसे और भी उपभेद किये जा सकते हैं, किंतु वे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं । विभिन्न दृष्टियोंसे नारीके भेदोपभेदोंकी किंचित् चर्चाके पश्चात् अब नारीके धर्म एवं उसके आदर्शोंकी चर्चा कर ली जाय ।

नारीका सर्व-प्रचलित रूप पत्नी है । अतः सर्वप्रथम इसीपर विचार करें । भारतीय इतिहास पातिव्रत्यकी पुनीत धर्मध्वजा धारण करनेवाली नारियोंकी प्रशस्तिसे परिपूर्ण है । सीता, अनसूया एवं सावित्री ऐसी ही देवियाँ हैं, जिन्होंने अपने नारी-धर्मके कारण अमर ख्याति प्राप्त की ।

पातिव्रत्य-धर्म पत्नीरूपमें स्थित नारीका प्राण—आत्मा है । अतः नारीका सबसे बड़ा धर्म पातिव्रत्य ही है । इसके पालन एवं निर्वहनके पश्चात् ही वह अपना आदर्श विश्वमें उपस्थित कर सकती है ।

पातिव्रत्य-धर्म क्या है और जगत्‌में पतिव्रताएँ कितनी प्रकारकी होती हैं—इसका वर्णन स्वयं अनसूयाजीसे सुनिये, जो उन्होंने भगवती सीताजीके माध्यमसे संसारकी नारियोंको उपदेश देनेके हेतु सुनाया—

जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं ।
बेद पुरान संत सब कहहीं ॥

कौन-से हैं ये चार प्रकार—

(१) उत्तम के अस बस मन माहीं ।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥

(२) मध्यम पर पति देखइ कैसें।
भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥
(३) धर्म बिचारि समुझि कुल रहई।
सो निकृष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥
(४) बिनु अवसर भय तें रह जोई।
जानेहु अधम नारि जग सोई॥

उत्तम, मध्यम, निकृष्ट एवं अधम—ये चार प्रकारकी नारियाँ बतायी गयी हैं। उत्तम स्वप्नमें भी परपुरुषकी कल्पना नहीं करती। मध्यम, अपने पतिके अतिरिक्त अन्य सभी पुरुषोंको—बड़ोंको पितातुल्य, सम-वयस्कोंको भाई-तुल्य एवं छोटोंको पुत्र-तुल्य—देखती है। निकृष्ट प्रकारकी पतिव्रता धर्मका विचार करके ही कुल-मर्यादा नहीं तोड़ती। अधम प्रकारकी स्त्री तो भयवशात् ही अपने धर्मपर चलती है। सीता, अनसूया एवं सावित्री प्रथम कोटिकी पतिव्रताएँ हैं, जिन्होंने अपने प्रबल सतीत्वके कारण जगत्में ख्याति प्राप्त की। सावित्रीने अपने मृतपति सत्यवान्‌को अपने पाति-व्रत्य-धर्मके प्रतापसे ही पुनर्जीवित कर वापस पाया। यह है नारीधर्मकी महत्ता, जिसके सामने यमराज भी झुक गये। महासती अनसूयाके प्रतापके कारण ही शिव, ब्रह्मा एवं विष्णु शिशुरूपमें परिणत हो गये और वे अपने धर्मकी रक्षा करते हुए उन्हें दुग्धपान करा सकीं तथा पार्वती, लक्ष्मी एवं ब्रह्माणीके समक्ष अपनी परीक्षा दे सकीं। अतः नारी-धर्मकी परीक्षा कम कठोर नहीं। धर्मसे कभी न डिगनेवाली नारी ही सच्ची पतिव्रता है।

नारीका उत्तम आदर्श रखनेवाली 'सीता' हैं, जिन्होंने अपने पतिके साथ चौदह वर्षतक घोर संकट सहनेके बाद भी कभी आहतक न की। उनका परम सुख उसीमें था, जिसमें पतिका सुख हो। अतः नारीका धर्म पतिका अनुगमन करना है। यह है हमारा सनातन धर्म और हमारे पूज्य नारीरत्नोंकी गौरवमयी गाथा, जिसने विश्वकी समस्त नारियोंको प्रकाश दिया।

इन महान् नारी-आदर्शोंकी संक्षिप्त व्याख्याके पश्चात् नारीधर्मकी मीमांसा कर लेना युक्तिसंगत होगा। मानसके कतिपय स्थल नारीधर्मके आख्यानोंसे परिपूर्ण हैं। अतः मानससे उदाहरण लेना श्रेयस्कर होगा।

नारीका परम धर्म क्या है ?

नारी जन्म-जात अपवित्र मानी गयी है। इतना ही नहीं, कुछ महापुरुषोंने तो नारीको नरकका द्वारतक बताया है। पर यह एक संन्यासीके लिये उचित हो सकता है, साधारण सांसारिकके लिये यह अत्युक्ति होगी। धार्मिक ग्रन्थोंमें भी नारीको अपावन अवश्य माना गया है—

नारि सुभाउ सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥

—ये आठ अवगुण नारीमें जन्मजात हैं। तो कब होगी यह अपावन नारी पवित्र ? जब कि वह पतिकी सेवा करनेका सुकृत करे—

सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥

पति कैसा भी हो, नारीके लिये सेव्य है—

बृद्ध रोग बस जड़ धन हीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥

नारीका सर्वतोमुखी धर्म तो केवल एक ही है—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥

सास और ससुरके प्रति वधूका धर्म

एहि ते अधिक धरमु नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा॥

सास-ससुरकी चरणसेवा करना—वधूरूपमें नारीका यही श्रेष्ठ धर्म है। सास-ससुरके प्रति वधूका आदरभाव होना चाहिये। देखिये सीताजीके पवित्र विनयपूर्ण भाव—

सास ससुर सन मोरि हुति बिनय करबि परि पायँ।
मोर सोच जनि करिअ कछु मैं बन सुखी सुभायँ॥

गुरुजनोंके सामने पतिसे सीधे बात न करनेकी मर्यादा सीताके चरित्रमें देखिये—श्रीराम पत्नीको जहाँ सास-ससुरकी सेवा करनेकी सीख देते हैं, वहाँ सीता इसे स्वीकार तो करती हैं, किंतु पतिसेवा करना इससे भी बड़ा धर्म मानती हैं। मातृ-तुल्य सास कौसल्याजी सामने विराजित हैं। अतः मर्यादा निबाहना आवश्यक है। इसलिये पतिकी सीखका उत्तर पतिको न देकर किन मीठे शब्दोंमें अपनी सास श्रीकौसल्या-जीको देती हैं—

लागि सासु पग कह कर जोरी। छमबि देबि बड़ि अबिनय मोरी॥

बोलनेके पहले भी साससे क्षमा माँगना और उनके पैर पड़ना, पतिसे प्रत्यक्षमें बात न करना—कितनी मर्यादा है सीताके चरित्रमें। यही तो भारतीय नारीधर्मका आदर्श है।

धर्म-संकटके समय गुरुजनोंसे बात करना भी पड़े तो पहले क्षमा माँग लेना उचित होता है। देखिये, सुमंतसे वार्ता करते समय सीता क्या कहती हैं—

तुम्ह पितु ससुर सरिस हितकारी। उतरु देउँ फिरि अनुचित भारी॥
आरति बस सन्मुख भइउँ, बिलगु न मानब तात।

अतः स्पष्ट हुआ कि संकटकालीन स्थितिमें गुरुजनोंसे क्षमा माँगकर (किंतु पर्दा करते हुए) वधू बात कर सकती है। संकटकालीन स्थितिमें परपुरुषसे बात करनेका मर्यादित ढंग सीता-रावण-प्रसङ्गमें देखिये।

रावण बार-बार आग्रह करता है सीतासे अपनी ओर देखनेका; किंतु नारीधर्मकी मर्यादाकी प्रतिमूर्ति सीता किस ढंगसे बात करती हैं देखिये—

तृन धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही॥

पतिके प्रति नारीका धर्म

स्त्रीके लिये तो पति ही सब कुछ है। कुटुम्बी लोग प्रिय हैं, किंतु पत्नीका नाता इनसे पतिके नातेको लेकर ही है। यथा—

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥
सास ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥

पतिका सुख ही नारीका सुख है। बिना पतिके सुख कहाँ?—

प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥

बिना पतिके नारी ऐसी है, जैसे बिना पानीके नदी और बिना प्राणकी देह—

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥

कठिन विपत्तिके समय ही नारीके धर्मकी परीक्षा होती है—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परखिअहिं चारी॥

कितनी नारियाँ हैं देखी जगत्‌में, जो पतिके सुखमें सुख और दुःखमें दुःखकी अनुभूति करती हैं!

सासरूपमें वधूके प्रति नारीका धर्म

कौसल्याजीका अपनी पुत्रवधूके प्रति अपने धर्मका पालन और प्रेम-भावना देखिये—

मैं पुनि पुत्र बधू प्रिय पाई। रूप रासि गुन सील सुहाई॥
नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखिउँ प्रान जानकिहि लाई॥

जहाँ पुत्रवधूका धर्म सास-ससुरकी सेवा करना है, वहाँ सासका धर्म भी यह हो जाता है कि वह वधूको अपनी बेटीसे बढ़कर समझे। आज हम देखते हैं कि सास-बहूका मनमुटाव गृह-युद्धका कारण होता है। बहू माँसे पुत्र छीन लेती है और सम्पूर्ण कुटुम्बको पृथक् कर देती है तो दूसरी ओर सास बहूको भाँति-भाँतिकी यातनाएँ दे उसे संत्रस्त करती रहती है। क्या ही अच्छा हो कि सास और बहुएँ कौसल्या और सीतासे परस्परके बर्तावकी शिक्षा लें।

नारीका व्यक्तित्व जितना महान् है, उतना ही उसका धर्म भी महान् है। नारी-धर्म पालन करनेवाली नारी ही अपने जीवनमें निखार ला सकती है। पतिके प्रति श्रद्धा, स्वजनोंके प्रति प्रेम, पुत्रके प्रति स्नेह, अतिथिके प्रति विनम्रता और सत्कार, मित्रों और पड़ोसियोंके प्रति सद्व्यवहार—ये सभी नारी-धर्मके अन्तर्गत आते हैं। इनसे विमुख नारी नारी नहीं हो सकती। आज पश्चिमकी हवाने भारतीय नारी-धर्मपर जो आघात किया है, उससे भारतीय नारी-संस्कृतिको कम आघात नहीं लगा है; किंतु भारतीय नारीकी ये धर्म-परम्पराएँ इतनी गहन और महान् हैं कि इनकी नींव अभी नहीं हिल पायी है। नारी पुरुषसे प्रतिस्पर्धा करनेवाली नहीं वरं उसकी सहचरी है, यह कम-से-कम भारतीय नारियोंको नहीं भूलना चाहिये। धर्म नारीका प्राण है। इसके बिना नारीका नारीत्व शून्य है।

(२)

(लेखक—साहित्यवाचस्पति पं० श्रीमथुरानाथजी शर्मा श्रोत्रिय)

आये दिन सभ्य संसारमें ऐसी शङ्काएँ प्रायः उठती रहती हैं कि नर और नारी जब एक ही सृष्टिकर्त्ता जगदीश्वरकी संतान हैं, एक ही आत्मा दोनोंके अभ्यन्तर व्याप्त है, फिर दोनोंके अधिकार तथा धर्म पृथक्-पृथक् हों—ऐसा क्यों? इसी शङ्कापर कुछ विचार यहाँ किया जाता है।

अवश्य ही स्त्री और पुरुष दोनोंमें एक ही आत्मा विद्यमान है, किंतु दोनोंकी प्रकृति सर्वथा भिन्न-भिन्न है। जिस तरह स्थूल जगत्‌में भी मातृशक्तिके आधिक्यसे कन्या उत्पन्न होती है और पितृशक्ति अधिक होनेपर पुत्र पैदा होता है, ठीक उसी तरह आदिसृष्टिमें भी जब प्रकृति-पुरुषके

संयोगसे जगत्की उत्पत्ति हुई, तब एक प्रकृतिकी शक्तिको अधिक लेकर नारी-धारा चली और दूसरी पुरुष किंवा परमात्माकी शक्तिको अधिक लेकर पुरुष-धारा चली। जो जीव नारी-धारामें आया वह चौरासी लाख योनियोंतक नारी-जीव बनता-बनता अन्तमें मनुष्य-योनिमें आकर स्त्री ही बना और जो जीव पुरुषधारामें आया, वह चौरासी लक्ष योनितक पुरुष जीव बनता-बनता अन्तमें मनुष्य-योनिमें आकर पुरुष ही बन गया। प्रायः ऐसा ही नियम है। इसका शाप, वरदान या अन्य विशेष कारणवश अपवाद भी होता है। उभय (स्त्री-पुरुष) शक्तियोंकी समानता होनेसे सृष्टि नहीं चल सकती; क्योंकि विषमता ही सृष्टिका कारण है और समता लयका कारण है। यही कारण है कि स्थूल जगत्में भी पितृशक्ति तथा मातृशक्ति अर्थात् रजोवीर्य-शक्तिके बराबर-बराबर होनेसे प्रायः नपुंसक संतान उत्पन्न होती है, जिससे आगेकी सृष्टि नहीं चलती। अतः प्रमाणित हुआ कि स्त्री और पुरुष दोनोंमें आत्मा एक होनेपर भी प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है और इसी कारणसे दोनोंके अवयवोंमें और धर्म तथा अधिकारमें विभिन्नता है। पुरुषमें पुरुष-शक्तिकी प्रधानता और नारीमें प्रकृति-शक्तिकी प्रधानता होती है। यथा देवीभागवतमें—

सर्वाः प्रकृतिसम्भूता उत्तमाधममध्यमाः।
कलांशांशसमुद्भूताः प्रतिविश्वेषु योषितः॥

उत्तम, मध्यम, अधम—सभी प्रकारकी स्त्रियाँ प्रकृतिके अंशसे ही उत्पन्न होती हैं। प्रत्येक विश्वमें सभी स्त्रियाँ उन्हींके कलांशसे बनी हैं। अतः सृष्टिके स्वभावानुसार ही पुरुषमें परमपुरुष-शक्तिका प्राधान्य और नारीमें प्रकृति-शक्तिका प्राधान्य होता है। जब प्रकृति अलग-अलग है, तब धर्म और अधिकार भी अलग-अलग अवश्य ही होगा; क्योंकि प्रकृतिके अनुकूल ही धर्म तथा अधिकार होते हैं। यही कारण है कि आर्यशास्त्रमें नारीका धर्म तथा अधिकार पुरुषके धर्म और अधिकारसे विभिन्न प्रकारका बताया गया है।

मानव-जीवनका लक्ष्य वास्तवमें भगवत्प्राप्ति या मुक्ति है। वह मुक्ति परमात्मामें लवलीन हुए बिना नहीं मिलती। इस कारण मुक्तिके लिये स्त्री-पुरुष दोनोंको ही साधनाके द्वारा परमात्मामें लय होना आवश्यक है। पुरुषमें तो परम पुरुष परमात्माकी शक्ति अधिक है ही, अतः मुक्ति-लाभार्थ उसका इतना ही कर्तव्य होता है कि वह फँसानेवाली माया या प्रकृतिको छोड़कर अपने भीतर जो परमात्माकी अधिक सत्ता है, उसे पहचान ले कि—'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ; किंतु स्त्रीके भीतर तो ऐसा नहीं है। उसमें फँसानेवाली माया या प्रकृतिकी सत्ता अधिक है, बल्कि स्त्री उसकी अंशरूपिणी है। इसलिये वह अपनी सत्ताको कहाँ छोड़ेगी? वह अपनी सत्ताको छोड़ नहीं सकती, किंतु पुरुषकी सत्तामें डुबा सकती है। इस कारण अपनी स्त्री-सत्ताको पुरुष-सत्ता या पति-सत्तामें डुबो देना ही स्त्रीका धर्म है और इसीको पातिव्रत्य-धर्म कहते हैं। जो स्त्री अपनी सत्ताको मैत्रेयी, गार्गी आदिकी तरह एक बार ही परम पति परमात्मामें लय कर सकती है, वह 'ब्रह्मवादिनी' कहलाती है। ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ रजस्वला नहीं होतीं; फलतः उनमें कामविकार नहीं होता। अन्यान्य स्त्रियाँ अपने पतिको ही भगवान्का रूप समझकर उन्हींमें सीता, सावित्री आदिकी तरह अपने मन-प्राणको तल्लीन कर देती हैं और वही उनके लिये स्वाभाविक तथा सहज सरल साधन है। इसी कारण आर्यशास्त्रमें पातिव्रत्य-धर्मका इतना गौरव तथा स्त्रीजातिके मोक्षके लिये इसे एकमात्र धर्म बताया गया है। यथा मनुसंहितामें—

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥
(५।१५५)

अर्थात् स्त्रियोंके लिये अलग न यज्ञ है, न व्रत है, न उपवास है—केवल पतिसेवाके द्वारा ही उनको उत्तम गति उपलब्ध होती है। यही धर्मशास्त्रवर्णित पातिव्रत्य या सती-धर्मका रहस्य है। सतीधर्मके इस रहस्यको संसारकी सब जातियोंने पूर्णरूपेण नहीं समझा है। जिस जातिकी आध्यात्मिक स्थितिका उन्नयन जितना अधिक हो पाता है, वह जाति इस रहस्यको उतना ही अधिक समझ पाती है। आर्यजातिके महर्षियोंने इस जातिका लक्ष्य आत्मानन्दकी प्राप्ति तथा मोक्ष-सिद्धि ही रक्खा था। इस कारण आर्यजातिके धर्मसिद्धान्तानुसार स्थूल-इन्द्रियोंका विषय-भोग जीवनका चरम उद्देश्य नहीं है, किंतु विषय-तृष्णाको दूर करके परमात्माके आनन्दमें लीन होना ही चरमोद्देश्य है। अतः त्यागमय सती-धर्मका गौरव भी यहाँ पराकाष्ठापर पहुँचा हुआ है।

आर्यनारी अपने शरीरको पतिदेवताके पूजा-अर्चनकी सामग्री समझती है और जिस प्रकार भक्तलोग देवताकी

पूजन-सामग्रीको देवताकी प्रसन्नताके लिये सजाकर रखते हैं, उसी प्रकार केवल पतिदेवताकी प्रसन्नताके लिये ही सती स्त्री वस्त्रालंकार धारण करती है। उनका जीवनधारण तथा सभी कुछ अपने लिये नहीं, किंतु ऊँटके कुङ्कुम-वहनकी तरह पतिदेवताके लिये ही है। अतः जिस प्रकार देवमूर्तिके विसर्जन हो जानेपर सामग्रीकी आवश्यकता नहीं रहती, ठीक उसी प्रकार पतिदेवताके स्थूल शरीरका अवसान हो जानेपर सती स्त्री भी उनके साथ सहमृता होती है; यही सर्वोच्च सती-धर्म है और इसका फल भी शास्त्रमें लिखा है। यथा पराशरसंहितामें—

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि रोमाणि मानवे।
तावत् कालं वसेत् स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति ॥

अर्थात् जो स्त्री पतिके साथ सहमरणमें जाती है, उसका जितने (साढ़े तीन करोड़) रोयें मनुष्य-शरीरमें हैं, उतने दिनोंतक स्वर्गवास होता है। हारीतसंहितामें आया है—'पति कैसा भी हो, सती स्त्री उसके साथ सहमृता होकर अपने सतीत्व-बलसे उसको पवित्र करके पतिलोक ले जा सकती है।' यही सब प्राचीन सहमरण-धर्मका अपूर्व वर्णन है, जो कालप्रभावसे लुप्तप्राय-सा हो रहा है; फिर भी आज इस घोर कलिकालमें भी ऐसी महासतियाँ हैं, जो पचासों पुलिस-कान्स्टेबिलों, पुलिस इन्सपेक्टर एवं लाखों दर्शकोंकी उपस्थितिमें अपने मृत पतिके शवको गोदमें लेकर चितारूढ़ होती हैं तथा गीताके पाँच-सात श्लोक बाँचनेके बाद ही चिताको फूँक देती हैं और चिता धायँ-धायँ कर लहक उठती है और स्वशरीरसे प्रकट इस योगानलमें ही सतियाँ अपना भौतिक शरीर दग्ध कर सती हो जाती हैं। सती-चमत्कारकी इस घटनाको घटे मात्र सैंतीस-अड़तीस ही वर्ष हुए हैं। उक्त सतीका नाम 'सम्पत्ति देवी' था, जो पटना जिलान्तर्गत वेढ़ना ग्रामवासी पाण्डेय केशव शर्मा श्रोत्रिय ब्राह्मणकी कन्या एवं सरथा ग्रामवासी श्रीसिद्धेश्वरजी पाण्डेयकी धर्मपत्नी थी। बाढ़ उमानाथ महादेवके मन्दिरके निकट ही थोड़ी दूर उत्तर गङ्गाके पावन तटपर सतीका मन्दिर (श्रीमदनलाल केजडीवालद्वारा निर्मित) दर्शनीय है।

अब इसी उन्नत लक्ष्यके तारतम्यानुसार संसारके नर-नारियोंकी अधोलिखित स्थिति बतायी जा सकती है। यथा—

(१) सबसे उत्तम पुरुष वह है जिसने प्रवृत्तिमार्गको लिया ही नहीं, किंतु नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनकर सीधे निवृत्ति-मार्गके अवलम्बनसे परमात्मातक पहुँच गया।

(२) दूसरी कोटि वह है, जिसमें पुरुष विवाह तो करे, किंतु एकाध संतान उत्पन्नकर निवृत्तिसेवी होकर साधनाद्वारा मोक्ष-लाभ करे।

(३) तीसरी कोटि वह है, जिसमें एक स्त्रीके मर जानेपर पुरुष पुनः विवाह न करे और निवृत्तिसेवी होकर मोक्षप्राप्तिमें मन लगाये।

(४) चौथी कोटि वह है, जिसमें केवल वंशरक्षा या अग्निहोत्रके विचारसे एक स्त्री-वियोग होनेपर द्वितीय विवाह हो। यहाँतक आर्यधर्मकी कोटि है।

(५) इसके बाद पञ्चम कोटि वह है, जिसमें एक स्त्रीके मर जानेपर केवल विषय-लालसासे द्वितीय विवाह हो।

(६) और अति अधम षष्ठ कोटि वह है जिसमें केवल काम-भोगार्थ कई स्त्रियोंका संग्रह हो। ये दोनों ही निन्दनीय अनार्य भाव हैं।

इसी प्रकार नारीजातिके लिये भी निम्नलिखित छः कोटियाँ समझी जायँ। यथा—

(१) असाधारण कोटि—जिसमें ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ अन्तर्भुक्त होती हैं; उनके विवाह न करनेपर भी कोई क्षति नहीं है।

(२) पतिव्रता कोटि—जिसमें पतिके साथ स्त्री सह-मरणमें जाय।

(३) पतिव्रता कोटि—जिसमें स्त्री सहमृता न होकर नित्य ब्रह्मचर्यमें स्थित रहे और परलोकगत पतिके आत्माकी उपासना करे या उसी आत्माको परमात्मामें विलीन समझकर परमात्माकी आराधना करे। पतिके दिवंगत होनेपर सती स्त्री पुष्प, कन्द-मूल या फल खाकर जीवन धारण करे, किंतु कभी भी अपने पतिके सिवा अन्य पुरुषका ध्यान-तक न करे। आर्यनारीकी कोटि यहाँतक है; क्योंकि इसमें जीवन-मरणमें एक ही पति लक्ष्य है; उसी पतिको भगवान् समझकर जबतक वे जीवित रहें, तबतक गृहस्थ-रूपसे उनकी साकार मूर्तिकी पूजा और उनके स्थूलशरीरके मृत होनेपर संन्यासिनी रूपसे उनके निराकार आत्माकी पूजा या भगवान्‌के किसी भी दिव्य सगुणरूपकी पूजा और उसी पूजाके द्वारा नित्यानन्दमय, भगवत्प्राप्ति या

मोक्ष-लाभ लक्ष्य है। इसी लक्ष्यपर विचार करके भगवान् मनुने कहा है—

न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः।

अर्थात् वैदिक विवाह-विधिमें विधवाका पुनर्विवाह कहीं नहीं पाया जाता।

(४) इसके पश्चात् चौथी कोटि वह है, जिसमें प्रथम पतिके मृत होनेपर द्वितीय पतिका ग्रहण; हो। यह आर्य कोटि नहीं है; क्योंकि इसमें स्थूल इन्द्रियोंका भोग लक्ष्य है, आत्मा लक्ष्य नहीं है। यह रीति आर्यजातिके अतिरिक्त पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें तथा हिंदुओंमें भी कहीं-कहीं शूद्रोंमें प्रचलित है।

(५) इसके उपरान्त पञ्चम कोटि वह है, जिसमें जीवित पतिको भी त्याग (Divorce) करके द्वितीय, तृतीय अनेक पति ग्रहण किये जायँ। यह रीति सर्वथा निन्दनीय तथा अनार्य-भावापन्न है। अनेक पाश्चात्त्य जातियोंमें यह रीति प्रचलित है, जिससे उनमें दाम्पत्य-प्रेमका सर्वथा अभाव तथा गृहमें अशान्ति देखी जाती है और हमारे दुर्भाग्यसे भारतमें भी इस पापका प्रसार हो रहा है!

(६) षष्ठ कोटि अतिशय अधम है, जिसमें दस-बीस दिनोंके लिये एक पुरुषके साथ कन्ट्रैक्ट हो और उसके बाद उसे छोड़कर दूसरे-तीसरेके साथ कन्ट्रैक्ट हो आदि। पारस्य देशमें कहीं-कहीं इस प्रकारकी अति घृणित रीति देखनेमें आती है।

इन सब विचारोंद्वारा यही प्रमाणित हुआ कि आर्य रीति ही सबसे उत्तम कोटिकी है और अन्यान्य जातियोंकी रीति अपनी-अपनी स्थितियोंके अनुसार अनार्य-भाव-प्रधान तथा स्थूल इन्द्रियोंके भोगमात्रको लक्ष्य करके निर्दिष्ट हुई है।

अब इस प्रकारके उच्चभावकी रक्षा कैसे हो सकती है, यही विचार्य विषय है। नारी-जीवनको प्रधानतः तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—यथा कन्या, गृहिणी और विधवा। **'कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः'**—अत्यन्त यत्नके साथ कन्याका पालन तथा शिक्षण होना चाहिये, किंतु उनकी शिक्षा उन्हें पुरुष बनानेवाली नहीं होनी चाहिये; क्योंकि जिसके भीतर जो मौलिक सत्ता है, उसीको प्रकट तथा पुष्ट करना शिक्षाका लक्ष्य है। स्त्रीजातिकी मौलिक सत्ता तीन हैं—वह अच्छी माता, सद्गृहिणी तथा आदर्श सती है। अतः इन तीनों भावोंको पुष्ट करनेके लिये ही उनको शिक्षा देनी चाहिये। यदि बी० ए०, एम० ए०, आचार्य पास करनेपर भी स्त्रीजाति इन तीन भावोंको खो बैठे तो उनकी शिक्षा किसी कामकी नहीं कहलायेगी। अतः बहुत सोच-विचारकर कन्याओंको शिक्षा देनी चाहिये। उनके चित्तमें जो परम्परागत स्वाभाविक आस्तिकता तथा भक्तिका भाव है, शिक्षाके द्वारा उसे पुष्ट करना चाहिये। आर्यवीर तथा आर्य सतियोंके चरित्र रामायण, महाभारत तथा अन्यान्य इतिहासोंसे संग्रह करके उनको पढ़ाने चाहिये। संस्कृत-शिक्षा, मातृभाषा-शिक्षा, साहित्य-शिक्षा, गीतादि धर्म-ग्रन्थोंकी शिक्षा उनको अवश्य देनी चाहिये। साधारण रूपसे चिकित्सा तथा पदार्थ-विद्याकी शिक्षा देनी चाहिये, जिससे बाल-बच्चोंकी सामान्य बीमारीमें भी डाक्टर न बुलाना पड़े। उनको शिल्प-शिक्षा तथा रसोई बनानेकी शिक्षा विशेष रूपसे देनी चाहिये, जिससे वे सच्ची माता बन सकें और उनका अवकाशका समय बच्चोंके लिये वस्त्रादि बनानेके कार्यमें अच्छी तरहसे कटे। अन्नपूर्णा जगत्को अन्नदान करती हैं—इस कारण उनकी अंशरूपिणी स्त्री जातिको भी भोजन बनाने तथा भोजन खिलानेमें गौरवका भान रहना चाहिये। यही सच्चा मातृधर्म है।

इस प्रकार कन्यावस्थामें शिक्षा होनेके उपरान्त विवाहके योग्य अवस्था आनेपर योग्य पात्रको कन्याका दान होना चाहिये। आजकल युवतीविवाह होने लगा है, जो सर्वथा हानि तथा पतनका कारण है। अतः बारह वर्षकी अवस्थातक कन्यादान हो ही जाना चाहिये। पुरुषसे स्त्रीमें भोगशक्ति अधिक होनेके कारण साधारणतः शास्त्रमें यही आज्ञा पायी जाती है कि कन्यासे वरकी उम्र तिगुनी हो—**'वर्षैरेकगुणां भार्यामुद्वहेत्त्रिगुणः स्वयम्।'** किंतु सुश्रुतके सिद्धान्तानुसार १६ वर्षकी स्त्री और २५ वर्षका पुरुष—इतना अन्तर तो अवश्य ही रहना चाहिये। अन्यथा गर्भस्थ संतानको क्षति होती है। इस कारण कम-से-कम १२ वें वर्षमें विवाह होकर दो-तीन वर्षतक सात्त्विक पति-प्रेमकी शिक्षा तथा संयमके बाद सोलहवें वर्षमें गर्भाधानकी आज्ञा आर्यशास्त्रमें दी गयी है। विवाहोपरान्त नारीका गृहिणी-जीवन प्रारम्भ होता है, इनमें पति ही पत्नीके लिये साक्षात् भगवान् हैं और समस्त गृहसेवा उनकी ही सेवा है। उसी सेवामें शरीर, मन, प्राण समर्पण करना सती स्त्रीका जगत्-पवित्रकर पातिव्रत्य-धर्म है, जिसके विषयमें भगवान् श्रीरामने आदर्श सती सीता माताको लक्ष्य करके कहा है—

कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी धर्मेषु पत्नी क्षमया धरित्री ।
स्नेहेषु माता शयनेषु रम्भा रङ्गे सखी लक्ष्मण सा प्रिया मे ॥

अर्थात् हे लक्ष्मण ! सीता सती परामर्श देनेमें मन्त्रीके समान, कार्य करनेमें दासी-सदृशी, धर्मकार्यमें अर्द्धाङ्गिनी और पृथ्वीके तुल्य सहनशीला, माताके समान स्नेहशीला, सहवास-में दिव्य स्त्री और कौतुकके समय सखीके सदृश आचरणशीला हैं। यह सब सती स्त्रीकी दिव्य गुणावली है।

नारी-जीवनकी तीसरी दशा वैधव्य है। यदि भाग्य-चक्रसे किसी स्त्रीको यह दशा देखनी पड़े तो संन्यासिनीकी तरह ब्रह्मचर्य, संयम आदि निवृत्ति भावके साथ उसे बिताना ही सर्वोत्तम तथा परम धर्म है। वैधव्य क्यों होता है, इस विषयमें स्कन्दपुराणमें अरुन्धती-आख्यानमें निम्नलिखित प्रमाण मिलता है। यथा—

यः स्वनारीं परित्यज्य निर्दोषां कुलसम्भवाम् ।
परदाररतो वा स्यादन्यां वा कुरुते स्त्रियम् ॥
सोऽन्यजन्मनि देवेशि ! स्त्री भूत्वा विधवा भवेत् ।
या नारी तु पतिं त्यक्त्वा मनोवाक्कायकर्मभिः ॥
रहः करोति वै जारं गत्वा वा पुरुषान्तरम् ।
तेन कर्मविपाकेन सा नारी विधवा भवेत् ॥

पार्वतीसे शंकर कहते हैं—हे देवेश्वरी ! जो पुरुष अपनी निर्दोषा कुलीन पत्नीको छोड़कर परस्त्रीमें आसक्त या अन्य स्त्री ग्रहण करता है, वह दूसरे जन्ममें स्त्री-योनि पाकर विधवा हो जाता है। इसी प्रकार जो स्त्री अपने पतिको छोड़कर अन्य पुरुषमें रत हो जाती है, उसको भी जन्मान्तरमें वैधव्यकी प्राप्ति होती है। अतः वैधव्य जब स्त्री या पुरुष दोनोंको ही किसी प्राक्तन दोषके कारण होता है, तब तपस्याके द्वारा उस दोषका नाश करना ही धर्म होगा। विधवाके कृत्य ब्रह्मचारी तथा संन्यासीके तुल्य होते हैं और इसी कारण पवित्र विधवा स्त्री गृहस्थोंकी पूज्या भी होनी चाहिये। आजकल विधवाएँ जो बिगड़ती देखी जा रही हैं, इसके अनेक कारणोंमेंसे उनके प्रति घर-वालोंका अनुचित बर्ताव भी एक प्रधान कारण है। इसीका बुरा परिणाम है कि हजारों विधवाएँ विधर्मियोंके कराल ग्रासमें गिरती जा रही हैं। यदि प्रवृत्तिसे निवृत्तिका गौरव अधिक है और भोगी गृहस्थोंसे त्यागी संन्यासियोंका गौरव अधिक है तो सधवाओंसे विधवाओंका गौरव निवृत्तिकी दृष्टिसे अवश्य अधिक होनी चाहिये।

पति-धर्म

समझकर पत्नीको अर्धाङ्ग। धर्ममें रखता संतत सङ्ग ॥
दीन, दासी, गुलाम-सी जान। न करता कभी भूल अपमान ॥
निरन्तर सुहृद मित्र निज मान। सदा करता विशुद्ध सम्मान ॥
'पूर्ण करती त्रुटियोंको नित्य। मिटाती दुविधा सभी अनित्य ॥
हरण करती दुश्चिन्ता क्लान्ति। चित्तको देती सुखकर शान्ति' ॥
देख यों—पत्नी सद्गुण-रूप। हृदयका देता प्रेम अनूप ॥
उसे गृह-रानी कर स्वीकार। समझ उसका समान अधिकार ॥
सलाह-सम्मति ले सदा ललाम। चलाता घर-बाहरका काम ॥
मधुर वाणी सुमधुर व्यवहार। सदा करता आदर-सत्कार ॥
शुद्ध: सुख पहुँचाता अविराम। यही पति-धर्म अमल अभिराम ॥

नारी-धर्म

(लेखिका—बहन श्रीशशिबाला 'बिहारी' 'विशारद')

अबतक नारी-धर्मपर हमारे विद्वानों तथा तत्त्वके मर्मज्ञ पण्डितोंद्वारा बहुत कुछ कहा तथा लिखा जा चुका है। पर ज्ञान असीम है। उसकी कोई सीमा नहीं, कुछ बन्धन नहीं। अपने गहन अनुभवके द्वारा सभी अपना स्वतन्त्र विचार प्रकट करते हैं।

इस सृष्टिमें नारीका एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। नारीके बिना नर अनाथ है, संरक्षणरहित है। नारी नरकी प्राणदायिनी एवं प्रेरणादायिनी है। पर नारी तभी ऐसी है जब कि वह आदर्श जननी और गृहिणी—पत्नीके पवित्र रूपमें हो। आज इस परिवर्तनशील परिस्थितिमें नारी अपने कर्तव्यको भूलती जा रही है। पाश्चात्य-सभ्यताका अन्धानुकरण करती हुई वह क्षुद्रहृदया, दुर्बलचित्ता होकर केवल विलास-वासनासे आक्रान्त होने जा रही है। सच कहा जाय तो वह स्वतन्त्र होने जाकर प्रमादवश पुरुषके परतन्त्र होने जा रही है! अतः उसे सावधान होकर अपने धर्मपर आरूढ़ रहना चाहिये। मातृत्व और पत्नीत्व ही उसका असली धर्म है। प्रत्येक नारी यदि चाहे और प्रयत्न करे तो माता सीता, सती अनसूया एवं यमविजयिनी सावित्री आदि बन सकती है। केवल बी० ए०, एम्० ए०की डिग्री धारण करनेसे ही कुछ नहीं होगा। इसके लिये सच्ची भारतीय संस्कृति—आदर्श 'पातिव्रत्य-धर्म'के पावन पथसे आगे बढ़ना होगा। पतिके रूपमें भगवान्‌का दर्शन करनेवाली नारी ही पतिव्रता कही जा सकती है। पतिके नाते पतिके पूज्य माता-पिता, भाई, बहन और जितने भी सगे-सम्बन्धी हैं, सभीको यथायोग्य आदर, ममता, स्नेह तथा प्रेम देना चाहिये।

ब्रह्मवैवर्तपुराणके श्रीकृष्णजन्मखण्डमें पातिव्रत्य-धर्मके विषयमें अलौकिक वर्णन आया है। पतिव्रता स्त्री अपने पतिके प्रति भक्ति-भाव रख नित्य उनकी आज्ञा ले भोजन करे। सती स्त्री अपने पतिको नारायणका रूप समझती है। वह सौन्दर्यशाली पतिके मुखकी ओर न देख चरणोंमें दृष्टि झुकाये रखती है। जो आहार पतिको प्रिय होता है वही उसे भी मान्य होता है। सती नारी अपने पति एवं अपने पूर्वजोंकी एक हजार पीढ़ियोंतकका उद्धार कर देती है। पृथ्वीपर जितने भी तीर्थ हैं, सभी सतीके चरणोंमें निवास करते हैं। पतिव्रताको नमस्कार करनेसे मनुष्य अनेकों पापोंसे मुक्त हो जाता है। पतिव्रता सौ जन्मोंतक पुण्य-संग्रहवाले पुण्यवानोंके घर जन्म लेती है और पतिव्रताके जन्मसे उसके माता-पिता पावन तथा मुक्त हो जाते हैं।

शिवपुराणकी वायवीयसंहितामें यहाँतक वर्णन आया है कि 'जो स्त्री पतिकी सेवा छोड़कर व्रत तथा उपवासमें तत्पर होती है वह नरकगामिनी होती है।'

पाश्चात्य-सभ्यतामें पली नारी आज अपने इस गौरवपूर्ण पातिव्रत्यके आदर्शको भूलती जा रही है! इसीसे पतिव्रत-धर्मका स्थान आज विधवा-विवाह, अवैध अपवित्र सम्बन्ध तथा तलाक और भरण-पोषणके मुकदमे ले रहे हैं। कितने महान् परितापका विषय है कि जिस नारीको गृहलक्ष्मीकी उपाधिसे विभूषित किया जाता है, वही आज हजारों पुरुषोंके बीच खुले न्यायालयोंमें न्यायाधीशके समक्ष तलाकका आवेदनपत्र उपस्थापित करती है!

आजके सभ्य समझे जानेवाले घरोंकी लड़कियोंका बनाव-शृङ्गार और पोशाक देखकर भारतीय आत्मा रो उठती है। परिस्थितिको देखकर राज्यपालको आदेश देना पड़ता है कि 'कॉलेज तथा विश्वविद्यालयोंमें पढ़ने जानेवाली छात्राएँ तंग कुरती, ऊँची एड़ीकी जूती तथा वक्षःस्थलका प्रदर्शन करानेवाली पोशाक न पहनें।' पश्चिमी सभ्यताने हमारी आँखोंपर काली पट्टी डाल दी है। उनकी अच्छी चीजोंकी नकल हम नहीं करते—गुणोंको ग्रहण नहीं करते; परंतु पर-पुरुषोंके सङ्ग भ्रमण, स्वच्छन्द विचरण, खेलकूद-प्रतियोगितामें भाग लेना, सिनेमा, नाचने-गाने तथा सहभोज आदिको ही विकास समझने लगे हैं।

मैं अपनी भारतीय बहनोंसे प्रार्थना करती हूँ कि 'देवियो! आप समय रहते चेत जायँ। गृहलक्ष्मीके आदर्शको कभी न भूलें।' आजकी पढ़ी-लिखी लड़की फैशनके चक्करमें पड़कर अपना क्षेत्र बाहर चुनती हैं। उन्हें विधानसभा तथा टेलीफोन गर्लका काम करना अधिक पसंद है। घरमें रहना कतई पसंद नहीं। पर यह वास्तवमें पतनकी भूमिका है। पवित्र नारीका क्षेत्र घर है, बाहर नहीं। भ्रमणशील नारियोंके जीवनमें अधिक-से-अधिक खतरा है। शास्त्र कहते हैं—

भ्रमन् सम्पूज्यते राजा भ्रमन् सम्पूज्यते धनी ।
भ्रमन् सम्पूज्यते विद्वान् स्त्री भ्रमन्ती विनश्यति ॥

आज देशपर घोर संकट है, दिनों-दिन हम गरीब होते जा रहे हैं—विदेशोंसे बड़ी रकमका ऋण हमें लेना पड़ता है। इस आर्थिक संकटकी घड़ीमें नारियाँ घरोंकी आवश्यकताएँ कम करनेमें अपूर्व योगदान कर सकती हैं।

महाभारत शान्तिपर्वके आपद्धर्मपर्वमें पतिव्रताकी प्रशंसा-विषयक चर्चा आयी है—

नास्ति भार्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्यासमा गतिः ।
नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे ॥

अन्तमें लिखना है कि मातृत्व नारीका विशुद्ध रूप है—जगदम्बा प्राणिमात्रके लिये सभी नारियोंके हृदयमें करुणा तथा ईश्वरभक्ति प्रदान करें। आदर्श माता कौसल्या, जननी मदालसा, सती सावित्री, सती सीता, मीराँबाई, महारानी लक्ष्मीबाई आदि विभूतियाँ विश्वप्रेम और विश्वबन्धुत्वकी शिक्षा देनेमें हमारी सच्ची पथ-प्रदर्शिका हैं। सबको जगन्माता सद्‌बुद्धि प्रदान करें।



सपत्नी-धर्म

[माता कौसल्या और माता सुमित्राकी महत्ता]

भक्तराज श्रीहनुमान्‌जी द्रोणाचल पर्वतको उठाये आकाश-मार्गसे अयोध्याके ऊपरसे उड़े जा रहे थे। श्रीभरतजीने राक्षस समझकर बाण मार दिया और वे 'राम' कहते हुए गिर पड़े। वायुदेवताने अयोध्याकी रक्षाके लिये पर्वतको ऊपर ही रोक लिया। हनुमान्‌जी जमीनपर आ गये। भरतजी उनके मुखसे 'राम' नाम सुनकर चकित तथा दुखी हो गये। फिर भरतजीने हनुमान्‌जीके समीप जाकर उनको हृदयसे लगा लिया। हनुमान्‌जीने सब समाचार सुनाये। लक्ष्मणजीकी मूर्छा सुनकर भरतजी बहुत दुखी हुए। स्वामी रामजीकी आज्ञा अयोध्यामें ही रहनेकी है और उधर स्वामी युद्धमें फँसे हैं। भरतजी बड़े ही असमञ्जसमें पड़ गये। उनका चेहरा बड़ा उदास हो गया। यद्यपि वे जानते हैं कि भगवान् श्रीरामजी सर्वथा अजेय हैं।

माता कौसल्याजी, सुमित्राजी और शत्रुघ्न वहीं आये हुए थे। लक्ष्मणकी मूर्छाकी बात सुनकर कौसल्या माता अत्यन्त दुखी हो गयीं। हाय-हाय पुकार उठीं। सुमित्राजी-को पुत्रकी इस दशापर तो दुःख हुआ, पर साथ ही स्वामी रामके कामके लिये लक्ष्मणका यह बलिदान हो रहा है, यह स्मरण होते ही वे सुखी हो गयीं और कहने लगीं—

धन्य सुपुत्र पिता-पन राख्यौ, धनि सुबधू कुल-लाज ।
सेवक धन्य अंत अवसर जो आवै प्रभुके काज ॥
पुनि धरि धीर कह्यौ, धनि लछिमन, रामकाज जो आवै ।
'सूर' जियै तो जग जस पावै, मरि सुरलोक सिधावै ॥

सुपुत्र श्रीराम धन्य हैं, जिन्होंने पिताके प्रणकी—सत्यकी रक्षा की। उत्तम पुत्रवधू जानकी धन्य हैं जिन्होंने कुलकी लाज रक्खी। सेवक भी वही धन्य है जो प्राण छोड़ते-छोड़ते प्रभुके ही काम आया। फिर धीरज धरकर बोलीं—लक्ष्मण धन्य है, जो श्रीरामके काम आया। यदि वह जीवित रहा तो संसारमें अक्षय यश प्राप्त करेगा और मर गया तो देवलोकमें जायगा।' तदनन्तर वे शत्रुघ्नजीकी ओर मुख करके बोलीं—'बेटा! तुम अब हनुमान्‌के साथ जाओ।' इतना सुनते ही शत्रुघ्नजी हाथ जोड़कर खड़े हो गये, उनका शरीर आनन्दसे पुलकित हो गया। ऐसे प्रसन्न हुए मानो दैवयोगसे उनके पूरे-पूरे दाँव पड़ गये हैं। माता सुमित्रा तथा छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजीकी इस त्यागमयी प्रसन्नताको देखकर हनुमान्‌जी और भरतजी अपनी अयोग्यतापर अत्यन्त ग्लानिग्रस्त हो गये। तब माताने उनको समझाकर सावधान किया।

तात! जाहु कपि सँग, रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं ॥
अंब-अनुज-गति लखि पवनज भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं ॥

तदनन्तर माता सुमित्रा देवी कौसल्याजीसे कहने लगीं—

धनि जननी, जो सुभटहि जाव ।
भीर परैं रिपु कौ दल दलि-मलि, कौतुक करि दिखरावै ॥
कौसिल्या सौं कहति सुमित्रा, जनि स्वामिनि! दुख पावै ।
लछिमन जनि हौं भई सपूती, राम-काज जो आवै ॥

जीवै तो सुख बिलसै जगमें कीरति लोकनि गावै।
मरै तो मंडल भेदि भानु कौ, सुरपुर जाइ बसावै॥
लोह गहैं लालच करि जिय कौ, औरौ सुभट लजावै।
'सूरदास' प्रभु जीति सत्रु कौं, कुसल-छेम घर आवै॥

'स्वामिनीजी! आप अपने मनमें दुःख न करें। जननी तो वही धन्य है जो ऐसे शूर-वीरको जन्म देती है, जो युद्ध आ पड़नेपर शत्रुके दलको रौंद-कुचलकर खेल-सा करके दिखला दें। लक्ष्मण यदि रामके काम आ जाय तो मैं तो उसको जन्म देकर सुपूती हो गयी—मेरी कोख सफल हो गयी। वह जीवित रहा तो संसारमें रहकर सुख विलसेगा और लोकोंमें उसकी कीर्ति गायी जायगी। मर गया तो सूर्य-मण्डलका भेदन करके दिव्य लोकमें निवास करेगा। जो शस्त्र उठाकर भी प्राणोंका लोभ करते हैं, वे कायर तो दूसरे शूर-वीरोंको भी लजाते हैं। मैं तो यह चाहती हूँ कि श्रीरघुनाथ शत्रुको जीतकर कुशल-क्षेमके साथ घर लौट आवें।'

सुमित्राजीकी बात सुनकर माता कौसल्याजी हनुमान्‌जीसे कहने लगीं—

सुनौ कपि! कौसिल्या की बात।
इहिं पुर जनि आवहिं मम वत्सल, बिनु लछिमनु लघु भ्रात॥
छाँड़यौ राज-काज, माता-हित, तुव चरननि चित लाइ।
ताहि बिमुख जीवन धिक रघुपति, कहियौ कपि समुझाइ॥
लछिमन सहित कुसल बैदेही, आनि राज पुर कीजै।
नातरु सूर सुमित्रा-सुतपर वारि अपनपौ दीजै॥

'हनुमान्! तुम कौसल्याकी बात सुनो! श्रीरामसे मेरा यह संदेश कह देना 'मेरे प्यारे बेटा! मेरे पुत्र हो तो छोटे भाई लक्ष्मणको साथ लिये बिना इस अयोध्या नगरमें लौटकर न आना। हनुमान्! तुम यह समझाकर कह देना कि रघुनाथ! जिसने तुम्हारे चरणोंमें चित्त लगाकर राजकार्य (राज्यवैभव), माता और सारे हितैषी बन्धुओंको छोड़ दिया, उससे विमुख (उससे रहित) जीवनको धिक्कार है। अतएव या तो लक्ष्मण और जानकीके साथ कुशलपूर्वक लौटकर अयोध्यापुरीमें राज्य करो, नहीं तो, सुमित्राकुमार लक्ष्मणपर अपनेको न्यौछावर कर दो।'

माता कौसल्याजी फिर बोलीं—

बिनती कहियो जाइ पवनसुत तुम रघुपतिके आगें।
या पुर जनि आवहु बिनु लछिमन, जननी लाजनि लागें॥

'पवनकुमार! तुम जाकर श्रीरघुनाथके सम्मुख मेरी यह विनती सुना देना कि माँकी लाज बचानेके लिये ही बिना लक्ष्मणके तुम मत आना।'



कौसल्याकी यह बात सुनकर सुमित्राजी हनुमान्‌जीको समझाकर बोलीं—

मारुत सुतहि संदेश सुमित्रा ऐसें कहि समुझावै।
सेवक जूझि परै रन भीतर ठाकुर तउ घर आवै॥
जब तें तुम गवने कानन कौं भरत भोग सब छाँड़े।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु दुखसमूह उर गाड़े॥

'हनुमान्! मेरा यह संदेश श्रीरामसे कह देना—सेवक रणमें युद्ध करता हुआ अपने प्राण दे दे, तब भी स्वामी तो घर लौटकर आता ही है। अतएव तुम्हारे आनेमें कोई अनुचित बात नहीं है। इधर भरतको भी देखना है। जबसे तुम वनको गये हो तबसे भरतने सब भोगोंका त्याग कर रक्खा है। रघुनाथ! तुम्हारे दर्शनके अभावमें उसने अपने हृदयमें दुःखोंके समूहको बसा लिया है। अतएव भरतके लिये भी तुम्हें अवश्य लौट आना चाहिये।'

श्रीहनुमान्‌जी तो माता कौसल्या, माता सुमित्रा, भैया भरत और शत्रुघ्नके भावोंको देख-देखकर मुग्ध हो रहे हैं। पर स्वामीका कार्य करना है, रात बीत रही है, इसलिये उन्होंने भरतजीसे आज्ञा माँगी और कहा कि 'अब और देर हो गयी और कहीं रात बीत गयी तो बड़ा अनर्थ हो जायगा।' तब भरतजीने हनुमान्‌को विदा किया।

माताओंमें त्यागकी होड़ लगी है और भ्रातृप्रेम तो आदर्श है ही। धन्य!

माताके धर्मकी आदर्शभूता—पतिव्रता मदालसा

गन्धर्वराज विश्वावसुकी कन्या मदालसाका विवाह राजा शत्रुजित्‌के राजकुमार ऋतध्वजसे हुआ था। राजकुमारने देवताओंके दिये अश्वपर आरूढ़ होकर ऋषि-मुनियोंको पीड़ा देनेवाले राक्षस पातालकेतुका वध किया था और उस राक्षसका पीछा करते हुए ही वे पाताल पहुँचे थे। उसी राक्षसद्वारा हरण की गयी गन्धर्वकन्या मदालसासे पातालमें उनका साक्षात्कार हुआ था। गन्धर्वोंके पुरोहित तुम्बुरुने दोनोंका विवाह सम्पन्न कराया था।

पातालकेतु मारा गया; किंतु उसका छोटा भाई तालकेतु मुनिका वेश बनाकर यमुनातटपर आश्रममें रहने लगा। अपने बड़े भाईकी मृत्युका बदला लेनेकी घातमें वह था। अतः उसने छलसे राजकुमारकी मृत्युका मिथ्या समाचार भिजवाकर मदालसाको मरवा दिया। राजकुमार पत्नीके वियोगसे दुखी रहने लगे। उन्होंने किसी भी दूसरी कन्यासे विवाह करना अस्वीकार कर दिया।

नागराज अश्वतरके दो पुत्र मनुष्यरूपमें यदा-कदा पृथ्वीपर आया करते थे। राजकुमार ऋतध्वजसे उनकी मित्रता हो गयी थी। अपने मित्रके दुःखसे उन दोनोंको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने प्रयत्न करके सरस्वतीके वरदानसे संगीतमें निपुणता प्राप्त की और कैलास जाकर अपने गानसे शंकरजीको प्रसन्न कर लिया और शंकरजीसे मदालसाके पुनः जन्म लेने तथा पूर्वस्मृति रहनेका वरदान प्राप्त किया। इस वरदानके फलस्वरूप मदालसा उनके मध्यम फणसे प्रकट हुई।

नागराजके कुमार राजकुमार ऋतध्वजको स्नान करने गोमतीमें ले गये और वहाँसे लेकर पाताल गये। वहाँ पहले-जैसे रूपमें ही मदालसाको राजकुमारने देखा। नागराजसे उसके पुनर्जन्मका वृत्त जानकर उन्होंने वहीं फिर उससे विवाह किया। फिर, नागराजकी अनुमति लेकर वे दोनों वहाँसे पृथ्वीपर आये।

राजा शत्रुजित्‌के परलोकवासी होनेपर ऋतध्वज सिंहासनासीन हुए। समयपर उनके प्रथम पुत्र हुआ तो राजाने उसका नाम विक्रान्त रक्खा। भगवान् शिवके वरदानसे मदालसा योगविद्याकी ज्ञाता होकर जन्मी थीं। पुत्रका नामकरण देखकर वे हँसकर रह गयीं। उनके दो पुत्र और हुए। राजाने उनके नाम सुबाहु तथा शत्रुमर्दन रक्खे थे। उस समय भी रानी मदालसा हँसी थीं।

नारीकी सफलता मातृत्वमें है; किंतु उसकी सार्थकता पुरुषको मुक्त करनेमें है। अपने बच्चोंको रानी मदालसा लोरी देते हुए गाती थीं—



शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि
संसारमायापरिवर्जितोऽसि ।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम् ॥

'पुत्र ! तुम शुद्ध हो ! ज्ञानस्वरूप हो ! निर्मल हो ! संसारकी मायासे सर्वथा रहित हो । संसार स्वप्नवत् है, अतः मोहनिद्राका त्याग करो !'

रानीके चौथा पुत्र हुआ । उसके नामकरणका समय आया तो राजाने कहा—'मैं नाम रखता हूँ तो तुम हँसती हो । इसका नाम तुम्हीं रक्खो ।' रानीने चौथे पुत्रका नाम 'अलर्क' रख दिया । रानीने तीनों पुत्रोंको ब्रह्मज्ञानका उपदेश बचपनसे किया था । वे युवक होते ही वीतराग, गृहत्यागी हो गये थे । राजाने प्रार्थना की—'देवि ! अब इस पुत्रको भी ब्रह्मज्ञानका उपदेश करके कुलका उच्छेद मत करो । इसे तो प्रवृत्ति-मार्गमें लगाओ ।'

चौथा पुत्र युवा हुआ । उसे रानीने धर्म, अर्थ, कामकी शिक्षा दी थी । उसे गद्दीपर बैठाकर दम्पति तपस्या करने वनमें चले गये । जाते समय रानी मदालसा पुत्रको एक अँगूठी देकर आदेश दे गयीं—'जब विपत्ति आवे तो इसे खोल लेना । इसमें उपदेश-पत्र है । उस समय उसके अनुसार कार्य करना ।'

गङ्गा-यमुनाके संगमपर यमुनापार अलर्कने अपनी राजधानी बनायी । वह स्थान अब अरैल कहा जाता है । कुछ समय बीता । अलर्कके भाइयोंने देखा कि छोटा भाई तो संसारकी आसक्तिमें ही उलझा है तो उसे सत्पथपर लानेके लिये सुबाहुने काशिराजकी सहायतासे आक्रमण कर दिया ।

अब शत्रुसेनासे राजधानी घिर गयी तो इस संकटकालमें अलर्कने माताकी दी हुई अँगूठी खोली । उसमें उपदेशपत्र निकला—'आसक्ति-त्याग ही पुरुषका धर्म है । कामनाएँ नरकका द्वार हैं । वीर वह है जो कामनाओंको जीत लेता है । अपने आत्मस्वरूपको जाननेकी इच्छा करो ! पुरुषके जीवनका यही परम साफल्य है ।'

'आप राज्य ले लीजिये । मुझे अब इसकी आवश्यकता नहीं है ।' माताका उपदेश पढ़कर अकेले, शस्त्रहीन अलर्क बड़े भाई सुबाहुके समीप जाकर उनके चरणोंमें गिर पड़े ।

'मुझे राज्यका क्या करना है !' सुबाहुने कहा । 'लेकिन तुम अब इस मोहको छोड़ो । पुत्रको सिंहासन देकर अपने उद्धारके प्रयत्नमें लगो ।'

अलर्कने पुत्रको गद्दी दे दी । वे स्वयं भगवान् दत्तात्रेयकी शरण गये । इस प्रकार रानी मदालसाने पतिव्रत-धर्म-निर्वाहके साथ माताके श्रेष्ठ कर्तव्यका पालन किया और अपने सभी पुत्रोंको परमार्थकी प्राप्ति करायी । —सु०

प्रथम सती महारानी अर्चि

पृथ्वीके प्रथम राजा, जिनके प्रजारञ्जनके कारण 'राजा'की उपाधिने जन्म लिया, महाराज पृथु पृथ्वीका दीर्घकाल-तक शासन करके भोगोंसे विरक्त हो गये । पुत्रको सिंहासन देकर तपस्या करने वनमें चले गये । बहुत दिनोंतक उग्र तप किया उन्होंने । प्रारब्ध पूरा हुआ । शरीरकी समाप्तिका समय आया । पृथुने आसन सँभाला, प्राण-निरोध किया और शरीर छोड़ दिया ।

सप्तद्वीपवती सम्पूर्ण पृथ्वीके प्रथम सम्राट्की महाराज्ञी अर्चि अपने पतिके साथ वनमें आयी थीं । पति तपस्या करते थे और वे करती थीं पतिकी सेवा तथा अर्चना । उस दिन पद-वन्दन करने गयीं तो पतिका शरीर शीतल मिला । बड़ा शोक हुआ । वनमें एकाकिनी नारी—सम्राज्ञी और उसके पतिके देहकी उत्तरक्रिया सम्पन्न करनेमें कोई सहायक नहीं !

महारानी अर्चिका चित्त शीघ्र शान्त हो गया । धैर्यपूर्वक उन्होंने वनसे काष्ठ चुना और चिता बनायी । पतिदेहको स्नान कराके चितापर रक्खा । स्वयं सरितामें स्नान करके उन्होंने पतिको जलाञ्जलि दी और तब स्वयं चितापर जाकर बैठ गयी । उनके स्मरण करते ही अग्निदेव चितामें प्रकट हो गये ।

पतिदेहके साथ सती होनेवाली प्रथम नारी थी विश्वमें महारानी अर्चि । उनका शरीर आहुति बना तो आकाशसे चितापर अनवरत पुष्पवर्षा होती रही । —सु०

नारी-धर्मकी आदर्शभूता सतियाँ

(१)
भगवती सती

पतिके देहके साथ चितारोहण करनेवाली नारीको सती जिनके नामके कारण कहा जाने लगा, उन दक्षकन्या भगवती सतीका पतिके सम्मानकी रक्षाके लिये देहत्याग अद्भुत तेजस्विता तथा उनके पतिप्राणा होनेका ज्वलन्त प्रमाण है ।

एक बार ब्रह्माजीकी सभामें सभी देवता उपस्थित थे । प्रजापति दक्ष सबसे पीछे वहाँ आये । उनको देखकर सब देवता उनके सम्मानमें उठ खड़े हुए । ब्रह्माजीके उठनेका प्रश्न ही नहीं था । वे दक्षके पिता ही थे । भगवान् शंकर ध्यानस्थ थे, अतः नहीं उठे । दक्षने अपनी पुत्री सतीका विवाह शिवसे किया था । अपना जामाता ही अपने सम्मानमें आसनसे नहीं उठा, इसमें दक्षको अपना अपमान लगा । उन्होंने शंकरजीको बहुत बुरा-भला कहा । क्रोधमें शाप दे डाला । अपने स्वामीको शाप मिलनेसे चिढ़कर नन्दीश्वरने दक्ष तथा ब्राह्मणोंको शाप दिया । प्रत्युत्तरमें महर्षि भृगुने शिवानुयायियोंको शाप दे डाला । बात इस सीमातक बढ़ गयी, यह देखकर खिन्नचित्त शंकरजी उठकर अपने गणोंके साथ वहाँसे चले गये ।

समय बीता; किंतु दक्षके मनका क्रोध नहीं गया । उन्होंने चित्तमें शिवसे द्वेष ही कर लिया । ब्रह्माजीने जब दक्षको प्रजापतियोंका अग्रणी बनाया, तब दक्षने एक महायज्ञ प्रारम्भ किया । यज्ञ जान-बूझकर शंकरजीको तिरस्कृत करनेके लिये ही किया गया था । अतः यज्ञमें दक्षने अपनी पुत्री सती या जामाता शिवको निमन्त्रित नहीं किया ।

'गगन-मार्गसे झुंड-के-झुंड विमानोंपर पतियोंके साथ ये देवाङ्गनाएँ कहाँ जा रही हैं ?' सतीने श्रेणीबद्ध विमानावलि जाते देखकर पूछा । 'तुम्हारे पिताके महायज्ञमें !' भगवान् शिवने सहज भावसे बता दिया । 'मेरे पिताके यहाँ महायज्ञ है ? तो मैं उसे देखने जाऊँगी । आप मुझे ले चलिये !' सती उत्सुक हो उठीं । 'क्या हुआ जो निमन्त्रण नहीं आया । पिता कार्याधिक्यमें भूल गये होंगे । माता-पिताके घर जानेके लिये निमन्त्रणकी क्या आवश्यकता है !'

भगवान् शंकरने बहुत समझाया; किंतु सती रुकना नहीं चाहती थीं । वे अकेली ही चल पड़ीं । शंकरजीने उनके साथ अपने गण भेज दिये । पिताके घर पहुँचनेपर माताने पुत्रीका स्वागत किया । बहिनें भी मिलीं; लेकिन दक्षने बात ही नहीं की । दूसरे लोग भी मुख फेरे रहे । सती यज्ञशालामें गयीं तो यह दिखायी पड़ा कि दूसरे देवताओंके लिये आसन हैं, यज्ञमें उनका भाग है; किंतु भगवान् शिवका यज्ञमें कहीं भाग नहीं । उन्हें यज्ञसे बहिष्कृत कर दिया गया है ।

'मैं ऐसे शिवद्रोही पितासे उत्पन्न इस देहको धारण नहीं करूँगी ।' क्रोधमें उद्दीप्त सतीने दक्षको तथा सभासदोंको धिक्कारा और फिर देह-त्यागका निश्चय करके यज्ञ-मण्डपमें ही उत्तर दिशामें आसन लगाकर बैठ गयीं । भगवान् शिवका ध्यान करते हुए योगाग्निसे उन्होंने शरीरको भस्म कर दिया । विश्वमें यह आत्माहुति नारीकी प्रथम घटना है ।

क्रुद्ध शिवगणोंके उत्पातको एक बार महर्षि भृगुने मन्त्रबलसे रोका; किंतु सतीके देह-त्यागका समाचार पाकर शंकरजीने वीरभद्रको प्रकट करके भेजा । वीरभद्रने यज्ञ नष्ट कर दिया । दक्ष मारे गये । देवताओंको चोट आयी । भगवती सतीने फिर हिमालय-कन्या होकर जन्म लिया और तप करके उन्होंने पुनः पतिरूपमें शंकरजीको प्राप्त किया । —सु०

(२)
भगवती उमा

नगाधिराज हिमालयकी कन्या और उनका वह उग्र तप भगवान् आशुतोषकी प्राप्तिके लिये, जिसकी कल्पना उस युगमें भी तपस्वी कठिनाईसे ही कर सकते थे ।

संबत सहस मूल फल खाए । सागु खाइ सत बरष गवाँए ॥
कछु दिन भोजनु बारि बतासा । किए कठिन कछु दिन उपबासा ॥
बेल पाती महि परइ सुखाई । तीनि सहस संबत सोइ खाई ॥
पुनि परिहरे सुखानेउ परना । उमहि नामु तब भयउ अपरना ॥

तपस्या कभी असफल नहीं हुआ करती । उसे सफल तो होना ही था; किंतु उसके पूर्व तपस्वीकी निष्ठा परीक्षाकी कसौटीपर कसी जाती है । उमा भी इसका अपवाद

नहीं रहीं । यह परीक्षा तो निष्ठाको उज्ज्वल एवं प्रख्यात करनेवाली होती है ।

भगवान् शंकर प्रसन्न हुए । उन्होंने सप्तर्षियोंका स्मरण करके उन्हें आदेश दिया—

पारबती पहिं जाइ तुम्ह प्रेम परीच्छा लेहु ।
गिरिहिं प्रेरि पठयहु भवन दूरि करेहु संदेहु ॥

केवल परीक्षा ही नहीं लेना है । तपःफल प्राप्त होगा ही, इस सम्बन्धका पक्का आश्वासन देने भेजा जा रहा है ।

सप्तर्षि आये और उन्होंने उलटी-सीधी बातें सुनायीं—'गिरिराजकुमारी ! तुम कहाँ नारदके बहकावेमें पड़ गयी ! नारद स्वयं घर-द्वाररहित दर-दर भटकनेवाले हैं । उन्हें सबको अपने-जैसा बनाना अच्छा लगता है । अरे, शिव तो भिक्षुक हैं । नंगे, विभूति लगाये, सर्प लपेटे, भूत-प्रेतोंके साथ रहनेवाले, विरूपाक्ष हैं । उनके साथ विवाह करके तुम्हें क्या सुख मिलना है ? चलो, जो हुआ, हो गया । तुमने व्यर्थ यह तप किये । लक्ष्मी-कान्त, वैकुण्ठाधिपति, त्रिभुवनमनोहर श्रीनारायणसे हम तुम्हारा विवाह करा देंगे ।'

व्यर्थ था सप्तर्षियोंका यह प्रयास एवं प्रलोभन । पार्वती-जीने बड़ी दृढ़तासे स्पष्ट कह दिया—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम ।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम ॥

अब मैं जन्मु संभु हित हारा । को गुन दूषन करै बिचारा ॥
जनम कोटि लगि रगर हमारी । बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी ॥

सप्तर्षियोंकी बातका खण्डन नहीं, विवाद नहीं; किंतु अपनी निष्ठापर अचल सुस्थिरता । यही स्थिरता, यही निष्ठा थी, जिसने उमाको भगवान् शंकरके आधे अङ्गमें स्थान दिया । वे चन्द्रमौलीश्वर अर्धनारीश्वर बने पार्वतीको अङ्गमें निवास देकर ।

भगवती पार्वती सतियोंकी परम आदर्श एवं परमाराध्या हैं । उनका स्मरण, उनका अर्चन नारीको सतीत्वमें स्थिर रहनेकी शक्ति देता है । —सु०

(३)

सती अनसूया

स्वायम्भुवमनुकी दौहित्री, भगवान् ब्रह्माकी पौत्री, प्रजापति कर्दमकी पुत्री तथा सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक भगवान् विष्णुके अवतार सिद्धेश्वर कपिलकी बड़ी बहिन अनसूयाजी महर्षि अत्रिकी पत्नी हैं ।

अनसूयाके पातिव्रत्यकी महिमा अपार है । दीर्घकालीन अकाल पड़ा था चित्रकूटके उस प्रदेशमें, जहाँ महर्षि अत्रिने आश्रम बनाया था । महर्षि दीर्घकालसे समाधिमें स्थित थे और अनसूया उनकी सेवामें । महर्षिकी समाधि टूटी । उन्होंने पत्नीसे कहा—'देवि ! जल ले आओ !'

अनसूयाजीको अब ध्यान आया कि स्वयं उन्हें अपने लिये आहार तथा जलकी आवश्यकता सूझी ही नहीं इतने दिनोंतक । पतिदेवके समीपका स्थान स्वच्छ कर देना, उनकी गार्हपत्य अग्निको प्रज्वलित रखना और उनका ध्यान करना, इसके अतिरिक्त अपने शरीरका तो स्मरण ही उन्हें नहीं आया । उन्होंने कमण्डलु उठाया और वे गुफासे बाहर निकलीं ।

वनके वृक्षोंमें पत्तेतक नहीं थे । भूमिपर तृणका नाम नहीं था । वनमें केवल सूखे ठूँठ खड़े थे और कोई पशु-पक्षी तो क्या क्षुद्र कीट भी दृष्टि नही पड़ता था । द्वादश-वर्षीय अवर्षणने आर्द्रताका चिह्नतक मिटा दिया था । जल कहाँ ऐसे समय । लेकिन पतिने जल माँगा है तो पतिव्रता क्या यह उत्तर दे कि जल कहीं है ही नहीं ? पृथ्वीमें अन्न हो, जल हो तो सामान्य प्राणीका पोषण हो; किंतु जो धर्मपर स्थिर है, उसका पोषण करनेका दायित्व धर्मपर है । उसे प्रकृतिकी अवस्था कहाँ आबद्ध करती है ?

'भगवती 'त्रिलोचनमौलिमण्डिनी, विष्णुपादोद्भवा जाह्नवी ! मैं तुम्हारा आवाहन करती हूँ । सुरसरि ! अनसूया तुम्हें पुकारती है । पधारो माँ ! इस बच्चीको अपने आराध्यकी अर्चाके लिये जल दो !' देवी अनसूयाने क्षण-भरको नेत्र बंद किये । उन्होंने नेत्र खोलकर देखा कि वे जहाँ खड़ी हैं, वहाँ उनके पादतलके समीपसे और आसपास-से शत-सहस्र धाराओंमें निर्मल गङ्गाजलकी धारा फूट निकली है । आजतक चित्रकूटके अत्रि-आश्रममें दूरतक शत-शत धाराओंमें झर रहा है वह सुरसरिका जल जो एकत्र मिलकर मन्दाकिनीका प्रवाह बनता है ।

'देवि ! इस प्रकार शुष्क कानन और उसमें तुम्हें जल कहाँ मिला ?' अनसूयाजीने लाकर जल दिया । महर्षि

अत्रिने आचमन किया। लेकिन जब वे गुफासे बाहर आये, अपने चारों ओरकी अवस्था देखकर चकित रह गये। पत्नी-से उन्होंने जलका उद्गम जानना चाहा।

'आपके श्रीचरण ही इस जलका उद्‌गमस्थान है।' अनसूयाजीने मस्तक झुका लिया। नारीके लिये तो पति नारायणकी प्रत्यक्ष मूर्ति ही है। 'इन चरणोंके प्रभावको देखते त्रिभुवनमें कुछ अलभ्य, अकल्पनीय तो नहीं है।'

× × ×

देवलोकतक ही नहीं—कैलास, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठतक देवी अनसूयाकी यशोगाथा गूँजी। उमा, रमा, ब्रह्माणीको भी ईर्ष्या हुई उनके पातिव्रत्यकी प्रशंसा सुनकर। पत्नियोंके आग्रहसे शिव, विष्णु तथा ब्रह्माजी विवश हुए अनसूयाकी धर्म-परीक्षा लेनेको। प्रस्थान तो तीनोंने पृथक्-पृथक् किया था; किंतु संयोग ऐसा था कि तीनों चित्रकूट पहुँचनेसे पूर्व मार्गमें ही साथ हो गये। तीनोंने छद्मवेश बनाये।

महर्षि अत्रि वनमें फल-समिधादि लेने गये थे। तीन तेजस्वी अतिथि साथ ही उनके आश्रमपर पहुँचे। तीनोंने कहा—'हम बहुत भूखे हैं।'

अनसूयाजीने उनकी अभ्यर्थना की। उन्हें आसन दिया, जल दिया। लेकिन अतिथियोंने एक अद्भुत बात कही—'जबतक आप निरावरण होकर आहार नहीं देंगी, हमारे उपयोगमें वह नहीं आयेगा।'

'अच्छा!' अनसूया गम्भीर हो गयीं। स्त्री अपने पतिके सम्मुख निरावरण होती है अथवा शिशुके सम्मुख, जो उसके उदरसे ही उत्पन्न हुआ। अन्य पुरुषके सम्मुख सती निरावरण कैसे होगी? नेत्र बंद हुए क्षणभरको उन सती-शिरोमणिके। उनके सतीत्वके सम्मुख तो त्रिदेवोंकी माया भी आवरण नहीं बन सकती थी। तथ्य क्या है, उन्हें तत्काल पता लग गया। उनके अधरोंपर मन्द स्मित आ गया।

'तुम तीनों नवजात शिशु बन जाओ!' अनसूयाने हाथमें जल लिया और छिड़क दिया तीनोंके ऊपर। त्रिदेव नन्हें शिशु बने किलकने लगे। अब माता उन्हें कैसे रखती है, कैसे दूध पिलाती है, इसका प्रश्न ही कहाँ रह गया। 'ऐसे खायेंगे और ऐसे नहीं' यह अब कहनेवाला वहाँ कौन रहा।

महर्षि आये और पत्नीने उन्हें तीन पुत्र पानेका मङ्गल समाचार दिया। अत्रि-आश्रम तीन बालकोंकी क्रीडासे मुखरित हो गया; किंतु कैलास, वैकुण्ठ, ब्रह्मलोकमें लम्बी प्रतीक्षा असह्य हो उठी। जब प्रतीक्षा सहन नहीं हुई, तीनों देवियाँ एकत्र हुईं। तीनोंकी विपत्ति-कथा एक ही। अतः तीनोंको अत्रि-आश्रम आना ही था।

'हम आपकी पुत्रवधुएँ हैं। हमारे अपराध क्षमा करें!' तीनोंने देवी अनसूयाके चरणोंपर मस्तक रक्खे। 'अब हमारे स्वामी हमें प्राप्त हों, ऐसा अनुग्रह करें।'

अनसूयाजीने त्रिदेवोंको उनका वास्तविक रूप दे दिया; किंतु तीनोंको ही माता अनसूयाके वात्सल्यका स्वाद लग गया था। वे उसे छोड़नेको तत्पर नहीं थे। अतएव अपने एक-एक अंशसे वे महर्षि अत्रिके पुत्र बने। भगवान् विष्णुके अंशसे दत्त, शंकरजीके अंशसे दुर्वासा तथा ब्रह्माके अंशसे चन्द्रमा।

× × ×

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम जब चित्रकूटसे दक्षिण जाने लगे तो महर्षि अत्रिसे विदा लेने उनके आश्रम गये। उस समय अनसूयाजीने श्रीजनकनन्दिनीको पातिव्रत्य-धर्मका उपदेश किया। प्रत्येक नारीके मनन करने योग्य है वह उपदेश।

मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी॥
अमित दानि भर्ता बयदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥
धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपदकाल परिखिअहिं चारी॥
बृद्ध रोगबस जड़ धन हीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥
एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥
पति बंचक परपति रति करई। रौरव नरक कलप सत परई॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाँड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥

सहज अपावन नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहिं प्रिय॥

—सु०











पञ्च-पतिव्रताशिरोमणि

(४)

सती सावित्री

मद्रदेश-नरेश अश्वपतिने भगवती सावित्रीकी आराधना करके एक कन्या प्राप्त की थी और उसका नाम उन्होंने सावित्री ही रक्खा था। उनकी यह कन्या बचपनसे सुशीला, विनयपरायणा तथा धर्ममें निष्ठा रखनेवाली थी। राजाओंका काम जनसामान्यके अनुसार सब व्यवहार करनेसे नहीं चलता। मद्रनरेशकी परम सुन्दरी, धर्मज्ञा कन्याका स्वयंवर हो तो पता नहीं कौन उसका हरण कर ले जाय। राजाको अपनी पुत्रीके आचरण तथा बुद्धिपर विश्वास था। उन्होंने उसे मन्त्रीके साथ पर्यटन करने भेज दिया। वह कुछ देशों तथा उनके राजकुमारोंको देख ले और जिसे वरण करे, उससे उसका विवाह कर दिया जाय।

कुछ दिनों यात्रा करके कन्या लौटी। उस समय देवर्षि नारद महाराज अश्वपतिके समीप पधारे थे। पिताके आदेश-से देवर्षिके सम्मुख ही सावित्रीको बतलाना पड़ा कि उसने किसे वरण करनेका निर्णय किया है। धर्मनिष्ठा रखनेवाली उस कन्याको कोई राज्य-वैभव लुभा नहीं सका था। उसके हृदयने शाल्वदेशके नरेश द्युमत्सेनके पुत्र सत्यवान्‌को चुना था। द्युमत्सेनका राज्य शत्रुने छीन लिया था। वे वनमें रहते थे पत्नी तथा पुत्रके साथ और अंधे हो चुके थे। सत्यवान् ही उनका अवलम्ब था। वनमें निर्धनताका जीवन व्यतीत करना, श्रम करना, किंतु शीलवान्, धर्मात्मा, पितृभक्त पति प्राप्त करना—यह निर्णय किया था मद्रनरेशकी सर्वसद्गुणवती पुत्रीने।

सहसा देवर्षि नारदका मुख खिन्न हो गया। वे बोले—'राजन्! इसमें संदेह नहीं कि सत्यवान् रूप, शील तथा सद्गुणोंमें अद्वितीय है; किंतु उसकी आयुका तो एक ही वर्ष शेष है।'

'वे दीर्घायु हों या अल्पायु, गुणवान् हों या निर्गुण, मैंने हृदयसे उनका वरण कर लिया। अब दूसरे पुरुषको मैं स्वीकार नहीं करूँगी। दूसरे पुरुषकी चर्चा करना तथा सुनना भी मैं नहीं चाहूँगी।' राजकन्याने बड़े दृढ़स्वरमें कह दिया। उसने पिता अथवा अन्य किसीको कुछ कहनेका अवसर ही नहीं दिया।

'यह बुद्धिमती और धर्मज्ञ है। इसकी इच्छा पूर्ण कीजिये!' देवर्षिने भी अनुमति दे दी और विदा हो गये।

महाराज अश्वपति अपनी कन्या तथा विवाह-सामग्री आदिके साथ तपोवन पहुँचे। सत्यवान्‌के पिताने उनका सत्कार किया। उनकी अनुमतिसे वनमें ही सावित्रीका सत्यवान्‌से विवाह हुआ। सावित्रीने पिताके आग्रह करनेपर भी आभूषण, मूल्यवान् वस्त्रादि नहीं लिये। उसने कह दिया—'वनमें इस सबका मेरे लिये कोई उपयोग नहीं है।'

कन्याको पतिगृह छोड़कर राजा अश्वपति लौट आये। अपनी सेवासे सावित्रीने सास-श्वशुर तथा पतिको संतुष्ट कर लिया। लेकिन उसका हृदय देवर्षिकी बातका स्मरण करके सदा व्यथित रहता था। जब देवर्षिद्वारा बताया समय आया, उसने तीन रात्रि निराहार व्रत किया। चौथे दिन प्रातः-स्नानादि करके उसने सास-श्वशुर तथा ब्राह्मणोंकी वन्दना करके उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। यह वही दिन था, जब सत्यवान्‌की आयु पूर्ण हो गयी थी। इस दिन जब सत्यवान् वनमें समिधा लेने जाने लगा, तब आग्रह करके, सास-श्वशुरसे आज्ञा लेकर सावित्री भी साथ गयी।

वनमें थोड़ी लकड़ियाँ एकत्र करनेके पश्चात् सत्यवान्‌के मस्तकमें पीड़ा होने लगी। वह पत्नीकी गोदमें सिर रखकर लेट गया। अचानक सावित्रीको लाल वस्त्र पहने कृष्णवर्ण तेजोमय पुरुष अपने समीप दीखे। सावित्रीने उन्हें मस्तक झुकाया तो वे बोले—'मैं यम हूँ। सत्यवान्‌को लेने आया हूँ। इनकी आयु पूरी हो गयी।'

'देव! सुना है कि जीवोंको लेने आपके सेवक आया करते हैं?' सावित्रीने पूछा।

'तुमने ठीक सुना है, किंतु सत्यवान् पुण्यात्मा है।' यमने बतलाया। 'और तुम्हारे-जैसी पतिव्रता समीप बैठी है। इसलिये मेरे सेवक यहाँ नहीं आ सकते। मुझे स्वयं आना पड़ा है।'

'मेरी गति प्रकृति नहीं अवरुद्ध कर सकती।' जब यमने सत्यवान्‌का जीव निकाल लिया और चलने लगे, तब सावित्रीने पतिदेहका सिर गोदसे नीचे रख दिया और उठ खड़ी हुई—'जहाँ मेरे पति जायँगे, मैं उनके साथ जाऊँगी।'

पत्नीको पतिका अनुगमन करना चाहिये, यह बात धर्मसंगत थी। सती नारीकी गति सूक्ष्म दिव्यलोकोंतक भी अनवरुद्ध है और इच्छा करनेपर वह सशरीर यमलोक जा सकती है, यह भी यमराज जानते थे। जहाँ ऋषिपुत्र नचिकेता जा सकता है—वहाँ सती नहीं जा सकेगी,

धर्मराजको ऐसा भ्रम नहीं हो सकता था। अतः उन्होंने कहा—'मनुष्यके धर्मपालनकी सीमा मर्त्यलोक है। तुमने अपने धर्मका सम्यक् निर्वाह किया है। इससे मैं प्रसन्न हूँ। सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर कोई भी वरदान माँग लो!'

'मेरे श्वशुरकी नेत्रज्योति प्राप्त हो!' सावित्रीने माँगा।

'एवमस्तु!' यमने कहा। 'अब तुम लौटो!'

'आप लोकपाल हैं, वैष्णवाचार्य हैं। आपके दर्शन एवं सङ्गका लाभ मुझे कहाँ प्राप्त होगा। मैं आपका साथ छोड़कर अभी नहीं लौटूँगी!' सावित्रीने उत्तर दिया।

'अच्छा, सत्यवान्‌के जीवनके अतिरिक्त कोई और वरदान माँग लो!' यमने फिर कहा।

'मेरे श्वशुर अपना खोया राज्य प्राप्त करें!' सावित्रीने वर माँगा।

'ऐसा ही होगा! अब तो तुम लौटो!' यमने पीछा छुड़ाना चाहा।

'सत्पुरुषोंके साथ सात पद चलनेसे मैत्री हो जाती है। मैंने आपके दर्शन तथा सत्सङ्गका लाभ पाया है। धर्मका तत्त्व अत्यन्त गूढ़ है और आप उस धर्मके ज्ञाता-निर्णायक हैं!' सावित्री बोली।

'तुम सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर एक वरदान और ले लो!' यमराजने देखा कि कहीं धर्मचर्चा छिड़ गयी तो यमलोक पहुँचकर भी उसके समाप्त होनेकी आशा नहीं। दूसरे धर्म एवं सत्सङ्ग-चर्चा स्वयं उन्हें प्रिय होनेसे आकृष्ट कर रही थी। अतः उससे शीघ्र छूट सकें, तभी कर्तव्यपालन सम्भव था।

'मेरे निःसंतान पिताको उनके औरस सौ पुत्र हों!' सावित्रीने भी वरदान माँगनेमें कोई संकोच नहीं किया।

'देवि! अब तुम लौटो!' यमराजने कहा।

'जीवन क्षणभङ्गुर है। धर्म ही मनुष्यकी वास्तविक सम्पत्ति है। धर्मका भी परम तात्पर्य भगवत्प्राप्ति है और भगवत्प्राप्तिका पथ सत्पुरुषोंके सङ्गसे प्रशस्त होता है। मेरा परम सौभाग्य कि आज मुझे आप महाभागवतके साथका लाभ हुआ!' सावित्रीने बड़ी नम्रतासे कहा।

'भद्रे! तुम कोई और वरदान माँगो!' यमराज इस बार कोई प्रतिबन्ध लगाना भी भूल गये।

'सत्यवान्‌से मुझे सौ पुत्र प्राप्त हों!' सावित्रीने माँगा।

'तथास्तु!' यमराज बोले। 'अब लौटो!'

'लौटती हूँ, भगवन्!' सावित्रीने हाथ जोड़े। 'किंतु मेरे पतिके प्राण लौटा दीजिये, जिससे आपका वरदान मिथ्या न हो!'

'धर्म नित्य विजयी है, देवि! जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म निश्चय मुझसे भी उसकी रक्षा कर लेता है। सत्यवान् जीवित हों! तुम सफलकाम हो!' यमराजने सत्यवान्‌का जीव उसके देहमें लौटा दिया।

सत्यवान् उठ बैठा। सावित्री पतिके साथ आश्रम लौटी। सत्यवान्‌के पिताको दृष्टि मिल चुकी थी। उसी समय उनके राज्यके प्रमुखजन उन्हें लेने आये थे। शत्रु-नरेशको प्रजाने विद्रोह करके मार दिया था और अपने धर्मात्मा राजाको लेने वे आये थे। सावित्रीके साथ सत्यवान्-को लेकर राजा द्युमत्सेन उसी दिन राजधानी पहुँच गये!

—सु०

(५)

भगवती श्रीजानकीजी

सती सिरोमनि सिय गुन गाथा।

महासती श्रीअनसूयाजीने सतीधर्मका उपदेश करनेके उपरान्त श्रीजानकीजीसे कहा—

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहि परम प्रिय राम कहेउँ कथा संसार हित॥

महाराज जनककी इन अयोनिजा कन्या भूमिसुताका स्मरण ही सतियोंको अपने सतीत्व-धर्मपर स्थिर रहनेकी शक्ति देता है। इनके सतीत्वकी चर्चा भला, कोई क्या करेगा। श्रीरामको वन जाना था। माता कौसल्यासे विदा माँगने वे आये। श्रीजानकीको समाचार मिला और वे सासके सदन गयीं। उन्हें कुछ कहना नहीं पड़ा। उनके तो मनमें निश्चय था—

चलन चहत बन जीवन नाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि करतब कछु जात न जाना॥

माता कौसल्याने ही श्रीरामसे अनुरोध किया कि वे जनककुमारीको अयोध्या रहनेके लिये समझायें। श्रीरामने अपनी ओरसे वनके कष्टोंका भय दिखलाया। अयोध्या रहना धर्मसंगत है, यह भी बताया।

आपन मोर नीक जौं चहहू। बचन हमार मानि गृह रहहू॥
आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई॥
एहि तें अधिक धरम नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा॥

श्रीरामके भय-दर्शन एवं उपदेश-आदेशके उत्तरमें अत्यन्त व्याकुलतापूर्वक जनकनन्दिनीने निवेदन किया—

प्राननाथ करुनायतन सुंदर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु तें ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥

कहाँ राजसदनकी स्नेहपालिता राजकन्या और कहाँ वनका बीहड़ पथ, वल्कल-वस्त्र, कंद-मूल-आहार, साथरी-शयन तथा पर्णकुटी! किंतु श्रीजानकीको यह कष्ट कभी प्रतीत ही नहीं हुआ।

यह ठीक है कि रावण छाया-सीताका ही हरण कर सका था, जनककुमारीने तो श्रीरामकी आज्ञासे पावकमें गुप्त निवास स्वीकार किया था; किंतु छाया-सीता भी तो अन्ततः सीताकी ही छाया थीं। सुरासुरजयी रावण—'लोकप जाके बंदी खाना' और उसे तिरस्कृत करके कह देना—

सुनु रावन खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा॥

—यह ओजस्विता उन आदिशक्ति निखिलेश्वरीकी छायामें ही सम्भव थी। लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये भले मर्यादा-पुरुषोत्तमने अग्नि-परीक्षा आवश्यक मानी, किंतु जगन्माता तो नित्य मङ्गलमयी परम शुद्धा हैं। —सु०

(६)

सती दमयन्ती

विदर्भनरेश राजा भीष्मककी कन्या दमयन्ती विवाह-योग्य हुई तो उसके सौन्दर्यकी प्रशंसा इतनी फैल चुकी थी कि इन्द्र-जैसे लोकपाल भी उससे विवाह करनेको उत्सुक थे। लेकिन एक हंसके द्वारा निषधनरेश नलका वर्णन सुनकर दमयन्तीने अपना हृदय उन्हें अर्पित कर दिया था। राजा नल भी दमयन्तीके रूप-गुणको सुनकर उससे विवाह करनेको उत्सुक थे।

दमयन्तीका स्वयंवर करना था। इन्द्र, यम, वरुण और अग्नि—ये लोकपाल भी आ रहे थे स्वयंवरमें। इन देवताओंने नलको ही अपना दूत बनाकर दमयन्तीके पास भेजा। देवताओंद्वारा प्रदत्त अन्तर्धान-विद्याके प्रभावसे नल अन्तःपुरमें पहुँचे और दमयन्तीसे बोले—'लोकपालोंके सम्मुख मनुष्य कैसे तुम्हारी रक्षा कर सकता है। तुम इन लोकपालोंमेंसे ही किसीका वरण करो!'

दमयन्ती रोने लगी। उसने कहा—'मैंने आपको पति मान लिया है। दूसरेको मैं स्वीकार नहीं कर सकती। मैं अपने धर्मपर सच्ची हूँ तो देवता मुझे आशीर्वाद ही देंगे।'

नल लौट आये। स्वयंवर-सभामें नलके समीप उनके ही रूपमें चारों लोकपाल भी आ बैठे। वरमाला लेकर दमयन्ती आयी तो पाँच नल देखकर चकित रह गयी; किंतु उसने देवताओंसे मन-ही-मन प्रार्थना की। सतीसे छल करनेका साहस देवताओंमें नहीं था। दमयन्तीने देख लिया कि केवल एक नलको पसीना आया है। वे ही आसनका स्पर्श करके बैठे हैं। उन्हींकी मालाके पुष्प कुम्हलाये हैं। अतः उनके कण्ठमें उसने वरमाला डाल दी।

दमयन्तीने मनोनीत पतिके लिये लोकपालोंका भी तिरस्कार कर दिया था। इससे लोकपाल प्रसन्न हुए; क्योंकि देवता धर्मके सहायक होते हैं। अग्निने आशीर्वाद दिया—'नल! तुम्हारे स्मरण करते ही मैं प्रकट हो जाऊँगा।'

इन्द्रने प्रत्यक्ष यज्ञभाग लेना स्वीकार किया। वरुणने इच्छा करते ही जल प्रकट होनेका और यमने नलके हाथसे सुस्वादु भोजन बननेका आशीर्वाद दिया। देवता चले गये। नल पत्नीके साथ राजधानी आये, अनेक वर्षोंतक उन्होंने राजसुख भोगा; लेकिन नलको जुआ खेलनेका व्यसन था। अपने छोटे भाई पुष्करके साथ जुआ खेलते हुए वे सारा राज्य हार गये। दमयन्तीने अपने पुत्र तथा पुत्रीको अपने पिताके घर भेज दिया और स्वयं पतिके साथ राजभवनसे निकल पड़ी।

'जो नलको शरण देगा, उसे प्राणदण्ड मिलेगा।' यह घोषणा पुष्करने राज्यमें करा दी। जो कलतक नरेश थे, वे नल परम सुकुमारी रानीके साथ अशरण भटकने

लगे। उन्होंने दमयन्तीको बहुत समझाया कि वह अपने पिताके घर जाकर विपत्तिके दिन काट दे; किंतु उस पतिव्रताने संकटमें पतिका साथ छोड़ना स्वीकार नहीं किया।

तीन दिन बीत गये दम्पतिको वनमें भटकते, कोई आहार नहीं मिला। चौथे दिन कुछ सुनहले पंखवाले पक्षी दीखे। नलने उन्हें पकड़नेके लिये अपनी धोती फेंकी तो वे पक्षी धोती ही लेकर उड़ गये। नल नंगे हो गये। दमयन्तीकी देहपर भी एक ही साड़ी थी। भूखे-प्यासे दोनों थककर सो गये। नलकी निद्रा टूटी। उन्होंने सोचा—'मेरे तो दुर्भाग्यके दिन हैं। मेरे कारण यह राजकुमारी कष्ट पा रही है। मैं चला जाऊँ तो यह थक-हारकर पिताके घर चली ही जायगी।'

नंगे कहीं जाना सम्भव नहीं था। सोती हुई दमयन्तीकी आधी साड़ी नलने फाड़कर कमरमें लपेट ली और उसे सोती ही छोड़कर चले गये। दमयन्ती जागी तो पतिको न देखकर क्रन्दन करती हुई उन्हें वनमें ढूँढ़ने लगी। पतिवियोगमें पागल बनी दमयन्तीने देखा ही नहीं कि वह कब अजगरके पास पहुँच गयी। अजगरने उसे पकड़ा और निगलना प्रारम्भ कर दिया।

कोई व्याध वनमें आखेट करने आया था। उसने दमयन्तीकी चीत्कार सुनी तो दौड़ा आया। अजगरको उसने मार दिया; लेकिन दमयन्तीके सौन्दर्यको देखकर वह काममोहित हो गया। उसने बलात्कारका प्रयत्न किया तो उस सतीके क्रोधपूर्ण नेत्र पड़ते ही व्याधके शरीरसे अग्नि प्रकट हुई और वह भस्म हो गया!

वनसे भटकती दमयन्ती राजा सुबाहुकी राजधानी चेदि-नगर पहुँची। उसे दीन-दशामें मार्गपर जाते राजमाताने झरोखेसे देखा और अपने पास बुलवा लिया। सतीत्वकी रक्षाका आश्वासन मिलनेपर दमयन्ती उनके समीप रह गयी। थोड़े समयमें परिचय हुआ तो पता लगा कि दमयन्ती राजमाताकी सगी बहिनकी पुत्री है और उसने अनजानमें ही अपनी मौसीके यहाँ ही शरण-ग्रहण की है। यह परिचय हो जानेपर राजमाताने प्रबन्ध करके दमयन्तीको उसके पिताके घर भेज दिया।

दमयन्तीको त्यागकर नल वनमें चले गये थे। इस यात्रामें उन्हें दावाग्निसे घिरा कर्कोटक नाग मिला। नलने उसकी प्राण-रक्षा की। अतः दोनोंमें मैत्री हो गयी। कर्कोटकने नलका रूप परिवर्तित कर दिया। यह व्यवस्था भी कर दी कि इच्छा होनेपर वे अपना रूप ग्रहण कर सकें। नागकी सम्मतिसे नलने अपना नाम बाहुक रख लिया। वे वहाँसे अयोध्या पहुँचे और वहाँके राजा ऋतुपर्णके द्वारा अश्वशालाके अध्यक्ष-पदपर नियुक्त होकर रहने लगे।

पिताके यहाँ पहुँचकर दमयन्तीने नलके अन्वेषणमें चारों ओर चर भेजे। उनमें एक चर अयोध्या भी पहुँचा। वह चतुर ब्राह्मण था। उसने बाहुकको देखा। बाहुकके व्यवहारसे उसे संदेह हुआ। उसका विवरण पाकर दमयन्तीने अयोध्याके राजा ऋतुपर्णके पास संदेश भिजवाया—'मैं पुनः स्वयंवर करूँगी। कलतक आप आ जायँ।'

ऋतुपर्ण चिन्तामें पड़े। एक दिनमें अयोध्यासे विदर्भ भला, कैसे पहुँचा जा सकता है। लेकिन बाहुकने राजाको निश्चिन्त कर दिया। उसने रथ सजाया। बाहुकका रथ वायुवेगसे उड़ा जा रहा था। मार्गमें पूछनेपर बाहुकने ऋतुपर्णको रथ हाँकनेकी यह कला सिखलायी। बदलेमें ऋतुपर्णने भी उसे द्यूतमें विजय पानेकी विद्या बता दी।

बाहुकका रथ एक ही दिनमें अयोध्यासे विदर्भ पहुँच गया। वहाँ दूसरा कोई राजा नहीं आया था और न स्वयंवरका कोई आयोजन था। दमयन्तीको तो यह जानना था कि बाहुक नल ही हैं या नहीं।

पुत्र और पुत्री दमयन्तीने दासीके साथ भेजे। बाहुक उन बालकोंको हृदयसे लगाकर रोने लगा। भोजन बनाते समय व्यवस्था कर दी गयी थी कि बाहुकको न जल आसपास मिले, न अग्नि। बाहुकने चूल्हेमें फूँक मारी और अग्निदेव प्रकट हो गये। जलपात्र उसने देखा तो वह ऊपरतक भर गया। उसका भोजन कौशलसे दमयन्तीने मँगाया और खाकर देखा। यमराजके वरदानसे नलके द्वारा बनाये भोजनमें जो स्वाद होता था, वह कोई कैसे छिपा लेता। पूरी परीक्षा करके दमयन्ती नलके पास आयी। अन्ततः नलको अपनी वास्तविकता स्वीकार करनी पड़ी। उन्होंने अपना असली रूप धारण कर लिया।

विदर्भसे विदा होकर राजा नल निषध पहुँचे। उन्होंने पुष्करको जुआ खेलनेकी चुनौती दी और जुएमें खोया राज्य जुएमें ही जीत लिया। अपने उदार स्वभावके कारण उन्होंने राज्य पाकर छोटे भाई पुष्करको निर्वासित नहीं किया।

—सु०

विलक्षण पत्नी-धर्म

भामती देवी

संयम, संतोष तथा शास्त्रनिष्ठा ही ब्राह्मणका धर्म है। इस ब्राह्मणत्वके मूर्तिमान् सजीव स्वरूप थे श्रीवाचस्पति मिश्र। वे विद्याध्ययन करके लौटे तो माता-पिताने विवाह कर दिया। एकान्तमें झोपड़ी मिल गयी रहनेको और वे अपने अध्ययन-चिन्तन तथा शास्त्र-प्रणयनमें लग गये।

शरीरके धर्म सबके साथ लगे हैं। शौच-स्नान, भोजन-निद्राके अतिरिक्त ब्राह्मणके साथ संध्या-वन्दन, हवन-तर्पणके कर्म भी लगे रहते हैं। त्रिकाल स्नान, समयपर संध्या, पूजन, पितृ-तर्पणमें प्रमाद नहीं होता था; किंतु जिसे भोजनका ही स्मरण न हो कि मुखमें कैसा ग्रास जा रहा है, उसे दूसरे कर्मोंकी ओर ध्यान देनेका समय कहाँ था। शरीर जैसे यन्त्रके समान समयपर अभ्यासवश सब काम करता था; किंतु श्रीवाचस्पति मिश्रका मन तो निरन्तर शास्त्रके गम्भीर चिन्तनमें लीन रहता था।

एक रात्रिकी घटना है पण्डितजी बार-बार नेत्र बंद करके कुछ सोचते हैं और फिर लिखने लगते हैं। आस-पास ग्रन्थोंकी ढेरी बिखरी पड़ी है। कभी-कभी कोई ग्रन्थ उलटकर कुछ देखते हैं। अचानक दीपक बुझ गया। पण्डितजीके



कार्यमें बाधा पड़ी, ध्यान भङ्ग हुआ। इतनेमें उनकी पत्नीने आकर दीपक जला दिया और वहाँसे जाने लगीं। पण्डितजीने पूछा—'देवी! आप कौन हैं?'

पत्नीने सिर झुका लिया। बड़े नम्र शब्दोंमें बोलीं—'मैं आपकी सेविका हूँ।'

'मेरी सेविका! मेरी सेवामें तुम्हें किसने नियुक्त किया!' पण्डितजीकी समझमें बात आयी नहीं थी।

पत्नीने बतलाया—'धर्मके अतिरिक्त पत्नीको पतिकी सेवामें दूसरा कौन नियुक्त कर सकता है।'

'तुम मेरी पत्नी हो!' पण्डितजी अब भी पूर्णतया मनको इस ओर नहीं ला सके थे। 'हमारा विवाह कब हुआ था! मुझे तो कुछ स्मरण नहीं है।'

'उस घटनाको तो पचास वर्ष हो चुके।' पत्नीने कहा। 'विवाहमण्डपमें भी आपने एक हाथमें मेरा हाथ पकड़ा तो दूसरे हाथमें पुस्तकके पन्ने थे आपके। आपका ध्यान उस शास्त्र-चिन्तनसे पृथक् न हो, यह मैंने प्रयत्न किया। आज मेरी असावधानीसे दीपक बुझा और आपके कार्यमें बाधा पड़ी। मुझे क्षमा करें।'

पचास वर्ष एक झोपड़ीमें एक साथ रहनेपर भी जिसका ध्यान ही नहीं गया कि उसके स्नान, भोजन, अध्ययनकी समस्त सेवा कौन करता है, कौन उसके लिये सब सुविधाएँ सब समय प्रस्तुत करता रहता है, वह शास्त्र-चिन्तामें लगा ब्राह्मण श्रेष्ठ है अथवा पूरे पचास वर्ष निरन्तर पतिकी सेवामें लगी, उसके लिये जल-अन्नसे लेकर दीपक जलानेतककी छोटी-बड़ी सम्पूर्ण सुविधा क्षण-क्षणकी देख-रेख करनेवाली तपस्विनी पतिव्रता श्रेष्ठ है! इसका निर्णय तो धर्मराजसे ही सम्भव है।

'मैं तुम्हारा नाम अमर कर दूँगा।' पण्डितजीने अपने ग्रन्थके नामके स्थानपर लिखा 'भामती'। 'तुम्हें और क्या चाहिये!'

शास्त्रनिष्ठ संयमी ब्राह्मण ऐसा क्या है, जो देनेमें समर्थ नहीं; किंतु पतिव्रता पत्नीको पति-सेवाके अतिरिक्त कुछ चाहिये ही कहाँ।

वेदान्तदर्शनका अपूर्व भाष्य 'भामती' आज भी इस धर्मप्राण विप्र-दम्पतिकी उज्ज्वल यशोगाथा है। —सु०

पत्नी-धर्मकी आदर्शभूता श्रीमती वासुकी

तमिळके प्राचीन प्रसिद्ध कवि संत तिरुवल्लुवरकी पत्नी श्रीमती वासुकी आदर्श पतिपरायणा नारी थीं। एक बार वे कुएँसे जल निकाल रही थीं। उसी समय पतिने पुकारा उन्हें किसी कामसे। आधे कुएँतक घड़ा आया था। उसे वहीं छोड़कर दौड़ीं—'आयी स्वामी !'

पतिव्रताने जहाँ छोड़ा था, घड़ा बीच कुएँमें वहीं लटक रहा था!

देशके कुछ भागोंमें गरीबोंमें यह रीति है कि शामको चावल पकाकर भातको पानीमें डुबाकर रख देते हैं और सबेरे नमक मिलाकर उसे खाकर काम करने चले जाते हैं। बड़े सबेरे कामपर जाना आवश्यक होता है। जो पत्नी दिनभर साथ काम करे और लौटकर भोजन बनाये, उसे सबेरे बर्तन-चौका स्वच्छ करके फिर खेतपर जाना होता है। इसलिये सबेरे बासी भात खानेकी यह प्रथा श्रमिकोंमें वहाँ चल पड़ी है, जहाँ मुख्य भोजन भात है।

उस समय तमिळनाडमें भी यह प्रथा थी। पता नहीं, अब वहाँ बासी भात खानेकी यह प्रथा है या नहीं। लेकिन मध्यप्रदेशके छत्तीसगढ़के जिलोंमें तथा उत्कल एवं बिहारके बहुत-से भागोंमें अब भी है। ऐसा ही पानीमें भीगा बासी भात खाने सबेरे बैठे थे तिरुवल्लुवरजी। उन्होंने अचानक पत्नीसे कहा—'भोजन बहुत गरम है, पंखा करो !'

संतकवि तो अपनी धुनमें थे। इन्होंने मन-ही-मन आराध्यको भोजन अर्पित करना चाहा और भूल ही गये कि भोजन बासी तथा जलमें डूबा है। उनके मनमें तो ताजा उत्तम भोजन था जो वे आराध्यको अर्पित करने बैठे थे।

'अच्छा, स्वामी !' सती नारीने पंखा उठाया और झलने लगीं। पतिने कोई भूल की है, उनकी आज्ञा सदोष है—यह सोचना उन्होंने सीखा ही न था। —सु०

कुछ सती देवियाँ

(१)

सती कुमारी सूर्य-परमाल

बात है सन् ७१८ ई०की। बगदादके खलीफा वलीदने अपने युवक सेनापति मुहम्मद बिन कासिमको आर्य-धरापर आक्रमण करनेकी आज्ञा दी। मुहम्मद बिन कासिम अपनी वाहिनीके साथ देवल (सिंध) पर टूट पड़ा।

उस समय सिंधका शासन महाराज दाहरके हाथमें था। युवराज जयशाहने यवन-सेनाका डटकर सामना किया, किंतु भाग्य विपरीत था। आर्यसेनाएँ पराजित हुईं और उसके बंदरगाहपर चाँद-तारेके निशानवाला हरा झंडा फहराने लगा।

अपनी पराजयका समाचार सुनते ही महाराज दाहर तड़प उठे। अपनी सेनाके साथ वे स्वयं युद्धभूमिमें उतर पड़े और यवन सेनाओंको गाजर-मूलीकी भाँति काटने लगे। वे रणाङ्गणमें जिधर मुड़ते, यवन-दल समाप्त हो जाता। आर्य-सेनाएँ भी बड़ी वीरतासे शत्रुको समाप्त कर रही थीं, किंतु महाराज दाहर यवनोंसे घिर गये। सैकड़ों शत्रुओंको अपनी तलवारके घाट उतारकर उन्होंने वीरगति प्राप्त की। कायर यवनोंने महाराज दाहरके निष्प्राण शरीरसे उनका मस्तक काट लिया, खलीफाके सम्मुख अपनी वीरता-प्रदर्शनके लिये।

महाराज दाहरकी वीर-पत्नीने यह समाचार सुना तो वे क्रोधसे दाँत पीसने लगीं। स्त्रियोंकी सेनाके साथ वे स्वयं शत्रुसे जूझ गयीं। कितने ही यवनोंका संहार करके वे मृत्युकी गोदमें सो गयीं।

इस प्रकार युद्ध समाप्त हुआ।

विजयोन्मत्त यवन महाराज दाहरका राज-भवन लूटने लगे। इस लूटमें सेनापति मुहम्मद बिन कासिमने तीन प्रमुख वस्तुएँ प्राप्त कीं—महाराज दाहरका सिर, उनकी दो परम रूपवती बेटियाँ—सूर्य और परमाल तथा दाहरका छत्र।

सेनापतिने लूटका सारा समाचार खलीफा वलीदके पास बगदाद भेज दिया और स्वयं भारतपर विजय प्राप्त करनेकी युक्ति सोचने लगा।

× × ×

'या खुदा !' महाराज दाहरके कटे सिरको देखकर खलीफा सहम गया। उसके मुँहसे आश्चर्यभरा वाक्य निकल गया—'हिंदुस्तानी काफिर इतने डरावने होते हैं! जल्दी हटाओ इसे यहाँसे।'

कटा सिर हटा दिया गया और सूर्य और परमाल महाराजकी दो बेटियाँ सम्मुख उपस्थित की गयीं।

उनका रूप और लावण्य! खलीफा हैरान था। 'ये

लड़कियाँ हैं कि बहिश्तकी हूरें ।' शैतान जाग्रत् हुआ । आज्ञानुसार सैनिक वहाँसे हट गये ।

'मैं तुम्हें अपनी बेगम बनाना चाहता हूँ ।' खलीफा आगे बढ़ा । वह भारतीय देवियोंके सतीत्व और धर्मपर प्राण देनेकी बात सुन चुका था । उसे आशा थी कि ये लड़कियाँ कुपित होंगी ।

किंतु उसकी आशाके विपरीत वे रोने लगीं ।

खलीफा आगे बढ़ा तो पीछे हटती हुई सूर्यदेवीने कहा 'नहीं जहाँपनाह ! मुझे न छूएँ ।'

'क्यों ?' कुछ भी न समझकर खलीफाने पूछा । 'क्या बात है ?'

'मैं छूने योग्य नहीं रही ।' रोते-रोते सूर्यदेवीने उत्तर दिया । 'यह शरीर आपके अधम सेनापति मुहम्मद बिन कासिमने अपवित्र कर दिया है ।'

खलीफा ठक् रह गया । क्रोधसे उसकी आँखें लाल हो गयीं । उसने अपने चुने सैनिकोंको आज्ञा दी—'मुहम्मद बिन कासिमको जिंदा ही सूखी खालमें सीकर हिंदुस्तानसे लाकर मेरे हुजूरमें हाजिर करो ।'

सैनिकोंने प्रस्थान किया और वे भारतवर्ष पहुँचे । मुहम्मद बिन कासिम चिल्लाने लगा, अपनेको निर्दोष बताने लगा और प्रार्थना करने लगा कि वह जहाँपनाहके सामने अपनेको बेगुनाह साबित कर देगा, उसे मौका दिया जाय । पर हुक्म तो हुक्म था । सैनिकोंको उसकी तामील करनी थी ।

रोता, गिड़गिड़ाता जिंदा मुहम्मद बिन कासिम सूखी खालमें ठूँसकर अच्छी तरह बंद करके सी दिया गया । उसे सैनिक बगदाद ले चले ।

सूखी खालमें मुहम्मद बिन कासिमका बंद मृत शरीर खलीफाके सामने पेश किया गया । खलीफाने गुस्सेमें बड़बड़ाते हुए उसे दो लात कसकर जमाया और उसे दूर ले जानेका हुक्म दिया ।

पर उसने अपने विश्वासी और साहसी वीर सेनापति (मुहम्मद बिन कासिम) का अन्तिम संदेश सुना तो वह अवाक् रह गया । उसे अपने कानोंपर विश्वास नहीं हो रहा था । क्या यह सम्भव है ? कुछ निश्चय नहीं कर पा रहा था ।

महाराज दाहरकी धर्मप्राण पुत्री सूर्यदेवी और परमाल सामने खड़ी थीं ।

'जो होना था हो गया'—वलीदने कुछ चिन्तित स्वरमें कहा । 'पर तुम सच-सच बतला दो—मुहम्मद बिन कासिमके मामलेमें तुमने जो कुछ कहा था, वह सच था या नहीं ?'

'बिल्कुल झूठ !' सूर्यदेवीने दाँत पीसकर कहा, 'हिंदू कन्याको अपवित्र करनेकी सामर्थ्य तुम्हारे सेनापतिमें कहाँ । अपने माता-पिता तथा सैनिकोंकी मृत्युका बदला लेनेके लिये मेरे पास अन्य कोई मार्ग ही नहीं बच गया था ।'

खलीफाकी आँखें जैसे फट-सी गयीं । उसे चक्कर आने लगे । महाराज दाहरकी उन दोनों बेटियोंको कठोरतम दण्ड देनेके लिये उसने सिर उठाया तो देखा दोनों बेटियोंकी निर्जीव देह धरतीपर लुढ़क गयी हैं । अपनी विषबुझी कटार दोनोंने एक दूसरेके वक्षमें घुसा दिया था ।

खलीफा हैरान देखता रह गया । —शि० दु०

(२)

सती पद्मिनी

'मैं पद्मिनीको नहीं चाहता'—अलाउद्दीनने चित्तौड़ दुर्गके शासक भीमसिंह (रत्नसिंह) को संदेश भेजा । 'आप उसे एक बार सिर्फ दिखला दें, मैं दिल्ली लौट जाऊँगा ।'

चित्तौड़पर घेरा डाले अलाउद्दीन थक गया था । उसके सैनिक भूखों मरने लगे थे, किंतु चित्तौड़पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा । अपनी लज्जा छिपानेके लिये अलाउद्दीनने उपर्युक्त संदेश भिजवाया ।

'चित्तौड़-विनाशमें मैं निमित्त नहीं बनना चाहती'—क्रोधसे काँपते अपने पतिको अत्यन्त विनीत शब्दोंमें सती पद्मिनीने समझाया । 'आपत्तिके समय राजपूत-नारी अपना कर्तव्य जानती है; पर विपत्ति सरलतासे टल जाय तो अच्छा है । दर्पणमें मेरी छाया देखकर वह नृशंस लौट जाय तो कल्याणकर है ।'

'दर्पणमें छायामात्र !'—अलाउद्दीन इतनेपर राजी हो गया । चित्तौड़-दुर्गमें उसका स्वागत हुआ । दूरसे दर्पणमें उसने पद्मिनीका मुँह देखा तो उन्मत्त-सा हो गया । बड़ी कठिनतासे वह संयमित हो सका ।

दुर्ग-द्वारके बाहर भीमसिंह उसे पहुँचाने आये और कुटिल अलाउद्दीनने उन्हें गिरफ्तार कर लिया ।

चित्तौड़-दुर्गमें क्रूर यवनके प्रति अत्यधिक घृणा और अशान्ति व्याप्त हो गयी ।

× × ×

'मेवाड़का सूर्य अस्त न हो जाय'—बहुत सोच-विचारकर

पद्मिनीने अलाउद्दीनके पास पत्र भेजा । 'इस कारण मैं स्वयं आपकी सेवामें उपस्थित होना चाहती हूँ । मेरी एक शर्त है । मैं राजरानीकी भाँति आऊँगी । मेरे साथ मेरी लगभग सात सौ दासियाँ रहेंगी, जिनमें कुछ दिल्ली चलेंगी और कुछ वापस लौट आयेंगी ।

'सर्वप्रथम मैं अपने स्वामीके एक बार दर्शन करना चाहूँगी । वहाँ कोई पहरा नहीं होना चाहिये ।'

'मुझे सब मंजूर है ।' अलाउद्दीन खुशीसे उछल पड़ा । उसने रानीके स्वागतकी तैयारी की ।

× × ×

'ऐं !' अलाउद्दीन चीख पड़ा ।

'जान बचाइये ।' एक मुस्लिम सैनिकने कहा । 'पद्मिनी भीमसिंहको छुड़ाकर ले भागी । सात सौ पालकियोंमें सहेलियाँ और दासियाँ नहीं, सात सौ लड़ाकू सिपाही बैठे थे । हर पालकीमें चार-चार छः-छः कहार भी फौजी राजपूत ही थे । गोरा और बादल बिजलीकी तरह टूट पड़े हैं ।'

अलाउद्दीन कैम्पके पीछे भागा । मुस्लिम फौजें असावधान थीं । अतएव अत्यधिक मुसल्मान मारे गये । गोराने अपूर्व शौर्यका प्रदर्शन करके वीर-गति प्राप्त की ।

अलाउद्दीन पराजित हुआ और भीमसिंह (रत्नसिंह) सकुशल दुर्गमें लौट गये ।

× × ×

पुच्छविमर्दित फणिधरकी भाँति अलाउद्दीनने पुनः तैयारी की और चित्तौड़पर आक्रमण कर बैठा । अबकी बार उसके साथ असंख्य सैनिक थे ।

भीमसिंहने भयानक युद्ध किया और अनेक शत्रुओंका नाश करके अलाउद्दीनसे युद्ध करते पीछेसे मार डाले गये । चित्तौड़के वीर राजपूतोंने मुसल्मानोंके छक्के छुड़ा दिये, किंतु उनकी संख्या मुसल्मानोंके सम्मुख अल्प थी, अतएव सबने वीरगति प्राप्त की ।

इधर भयानक युद्ध चल रहा था । उधर दुर्गमें विशाल चिता तैयार थी ।

'बहनो, हमें अपने बहुमूल्य धर्मकी रक्षा करनी है,' पद्मिनीने राजपूतनियोंसे कहा । 'अधम यवन दुर्गमें आकर भी हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते ।'

और वह प्रज्वलित अग्निमें कूद पड़ी । उसके पीछे कितनी भारतीय ललनाओंने सतीत्व-रक्षार्थ अपने कोमल शरीरकी आहुति दे दी, कहना शक्य नहीं ।

× × ×

और सचमुच चित्तौड़-दुर्गके महासमरमें अलाउद्दीनको मिली—राख, सुकुमार सतियोंके सुन्दर शरीरकी राख !

—शि० दु०

(३)

सती तारा

अलाउद्दीनकी दृष्टिमें हिंदू राज्य काँटेकी तरह करकते थे । वह अवसर देखकर धीरे-धीरे एक-एक हिंदू राज्यपर अधिकार करता जाता था, फिर राजस्थानका बदनौर ही कैसे बचता ? एक दिन मुसल्मानोंकी सेना बदनौरपर टूट पड़ी और दुर्गपर चन्द्रतारक-खचित हरित ध्वज फहराने लगा ।

बदनौरके यशस्वी शासक सूरसेन निर्वासितोंका-सा जीवन व्यतीत करने लगे । उनकी एक छोटी कन्या थी । नाम था तारा । वह सूरसेनके आँखोंका तारा ही थी । सूरसेन उसे प्राणसे भी अधिक प्यार करते थे । ताराके लालन-पालनमें ही वे विगत दिनोंकी स्मृतियाँ भुला देना चाहते थे । धीरे-धीरे तारा पंद्रहकी हो गयी । उसे पिताकी विपत्तिका पता चल गया था । उसने पितासे बड़े श्रम और लगनसे युद्धकी शिक्षा प्राप्त की । उसके सौन्दर्य एवं गुणोंकी चर्चा दूरतक फैल गयी थी ।

अनेक राजपूत युवक तारासे विवाहकी कामनासे आते, पर तारा अपना सुस्पष्ट निश्चय सबको बता देती—'मेरे पिताका राज्य वापिस दिलानेवाला ही युवक राजपूत मेरा पाणिग्रहण कर सकता है ।'

शर्त बड़ी कठिन थी । अलाउद्दीनके टिड्डीदलके सम्मुख डटना साधारण बात नहीं थी । अधिकांश युवक उदास-निराश वापस लौट जाते ।

जयपाल नामक एक युवक राजपूतने ताराके लिये बदनौर-उद्धारकी प्रतिज्ञा की और सूरसेनके पास रहने लगा । एक दिन एकान्तमें ताराको पाकर उसने कुचेष्टा की ही थी कि ताराने उसका सिर धड़से पृथक् कर दिया ।

फिर चित्तौड़का निर्वासित राजकुमार पृथ्वीराज आया । उसने अपनी वीरताका बड़ा बखान किया । ताराने उससे कहा—'वीरताके गुणगान सुनते मेरे कान पक गये हैं । मैं तो बदनौरके शासकके रूपमें पिताजीको प्रतिष्ठित देखना चाहती हूँ ।'

पृथ्वीराजने दृढ़ प्रतिज्ञा की—'निश्चय ही मैं आपके पिताका राज्य वापिस दिलाऊँगा ।'

अवसर देखकर पृथ्वीराजने सूरसेनके चरणोंका स्पर्श करके आशिष प्राप्त की और पाँच सौ चुने हुए वीर सैनिकोंको लेकर बदनौरकी ओर चल पड़ा । उसके हर्षकी सीमा नहीं थी, जब उसने देखा कि सैनिकके वेषमें स्वयं तारा उसके साथ घोड़ेपर चल रही थी । उसकी लंबी तलवार बगलमें लटक रही थी ।

× × ×

उस दिन मोहर्रम मनाया जा रहा था । ताजियोंके जनाजाके साथ मुसल्मान 'हा हुसेन, हा हुसेन' कहते अपनी छाती पीटते रोते-चिल्लाते आगे बढ़ रहे थे । दुर्गके ऊपर बैठा अफगान लाइलाहा जनाजेका उठना देख रहा था ।

पृथ्वीराजने अपना पैना तीर कसकर छोड़ा । वह लाइलाहाके वक्षमें धँस गया । लाइलाहा वहीं लुढ़क गया । मुसल्मानोंमें खलबली मच गयी । पृथ्वीराज और तारा अपने सैनिकोंसे मिलने पीछे भागे । मुसल्मानोंने पीछा किया । युद्ध छिड़ गया । यवनोंको अस्त्र उठानेके पूर्व ही समाप्त कर दिया गया । जो जहाँ था, वहीं मौतकी गोदमें सो गया ।

ताराने भी अपनी तीक्ष्ण तलवारसे अनेक यवनोंका संहार किया ।

बदनौरका दुर्ग पुनः सूरसेनके हाथमें आ गया और अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार ताराने पृथ्वीराजके साथ विवाह कर लिया ।

—शि० दु०

कुछ आदर्श हिंदू-नारियाँ

(१)

सती चंचलकुमारी

'तू बड़ी शैतान मालूम होती है, बुढ़िया !' रूपनगरकी रूपवती और चञ्चल राजकुमारी चंचलने कुछ रोषसे कहा । 'तू या तो मुसल्मान बादशाहोंकी तस्वीरें दिखाती है या मानसिंह, जयसिंह और जगतसिंह आदि उनके नौकरोंकी । मैं तुमसे बार-बार हिंदू नरेशोंके चित्र दिखानेके लिये कह रही हूँ ।'

'यह देखिये, राजकुमारी' बुढ़ियाने कहा । 'आप नाराज क्यों होती हैं ?' और उसने प्रतापसिंह, करनसिंह और राजसिंहके चित्र दिखाये ।

'और' ? अबकी चंचल प्रसन्न हो गयी थी ।

'दिल्लीके बादशाह, आलमगीरकी तस्वीर है यह ।' फिर औरंगजेबका चित्र सामने रखकर बुढ़ियाने कहा । 'इसकी सिजदा करो, राजकुमारी !'

'सिजदा !' राजकुमारीने दाँत पीस लिये ।

'सुनो ।' अनेक दासियोंको बुलाकर हँसती हुई कुमारी चंचलने कहा । 'इस नरकके देवताकी सिजदा करो ।'

और सबने उस चित्रपर जूतियाँ बरसायीं । चित्रके चीथड़े हो गये ।

बुढ़ियाने चित्रके चीथड़े उठा लिये और चुपचाप चली गयी ।

वह दिल्ली पहुँची और सारी घटना उसने नमक-मिर्चके साथ औरंगजेबको सुना दी ।

औरंगजेब आग-बबूला हो गया ।

उसने सेनापतिको तुरंत आज्ञा दी—'अभी रूपनगरके लिये फौज कूच करे और राजकुमारी चंचलका डोला यहाँ आ जाय ।'

'ऐसा ही होगा ।' सेनापतिने उत्तर दिया और औरंगजेबकी सशस्त्र सेना रूपनगरके लिये चल पड़ी ।

× × × ×

'आप अपनी लड़कीका डोला तैयार रक्खें'—सेनापतिने रूपनगरके राजा, कुमारी चंचलके पिता, विक्रम सोलंकीको पत्र लिख भेजा । 'हम आ रहे हैं । अगर ऐसा नहीं हुआ तो रूपनगर खूनमें नहायेगा और कुमारी तो हमारे साथ आयेगी ही ।'

विक्रम काँप गया । 'दिल्लीश्वरकी अपार शक्तिके सम्मुख मैं क्या कर सकूँगा ? फिर क्यों न कुमारीको भेज दूँ ! कितने ही राजपूतोंकी कन्याएँ तो मुसल्मानोंसे ब्याही जा चुकी हैं ।' और अपना यही मन्तव्य उसने अन्तःपुरमें चंचलको सुना दिया ।

'रक्तमें स्नान रूपनगर कर ले ।'—चंचलने उत्तर दिया । 'इसमें कोई हानि नहीं; पर आपकी पुत्री मुसल्मानकी बेगम बने, यह महापाप है । कैसे सहेंगे इसे आप ?'

'किंतु तेरी रक्षाकी शक्ति मुझमें नहीं ।' विक्रमने कहा । 'मैं तुमसे स्पष्ट बता देता हूँ । औरंगजेबकी विशाल सेनाके सामने हम मुट्ठीभर राजपूत कर ही क्या सकते हैं ?'

'शक्ति आपमें नहीं, सर्वशक्ति-सम्पन्न जगदीश्वरमें है, पिताजी!' अत्यन्त दुखी होकर चंचलने कहा। 'वे निश्चय ही मेरी रक्षा करेंगे और इतना तो आप जानते ही हैं कि अग्नि, विष और विषाक्त कटार तो हम क्षत्राणियोंकी सदाकी साथिन हैं। हमारे धर्मकी रक्षा वे कर ही लेती हैं। मैं पुनः बल देकर कहती हूँ, आप मेरी चिन्ता न करें।'

विक्रम उदास, मुँह लटकाये बाहर चला गया और राजकुमारी चिन्तित, उदास, रोने लगी।

'करुणामय स्वामी! मेरे धर्मकी रक्षा करना।' चंचलने प्रार्थना की और अचानक उसकी दृष्टि ऊपर उठी तो देखा राजसिंहका चित्र था। 'राजसिंह—महाराणा प्रतापके वंशधर, चित्तौड़के रक्षक।' राजकुमारी चित्रकी ओर टकटकी बाँधे देरतक, बहुत देरतक देखती रही।

'करुणामय भगवन्!' उसने पुनः प्रभुको स्मरण किया और पत्रमें सारी बातें विस्तारसे लिखकर राणाके पास पत्र भेज दिया। उसे रुक्मिणीके द्वारा श्रीकृष्णको पत्र लिखनेकी बात स्मरण आ गयी थी।

कुछ ही दिनोंमें उत्तर भी आ गया।

'पत्र मिला।' राजसिंहने स्वयं लिखा था। 'आप निश्चिन्त रहें।'

'प्रभो!' राजकुमारीने पुनः दयामय प्रभुका स्मरण किया।

अब वह प्रसन्न थी।

× × × ×

'यह रहा राजकुमारीका डोला!'—मुगल सेनापति आश्चर्य-चकित था। रक्तकी एक बूँद भी बहे बिना डोला आ जायगा, इसकी कल्पना भी नहीं थी। मुगल सेनापति प्रसन्नतापूर्वक लौट पड़ा।

सेनाएँ अरावली पर्वतके बीचवाले तंग मार्गसे जा रही थीं और राजकुमारी चंचल रह-रहकर पर्दा हटाकर बड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा कर रही थी। उसे राणा राजसिंहने आश्वासन जो दे दिया था।

अचानक विशाल शिला-खण्डोंकी वृष्टि होने लगी सैनिकोंपर।

'या खुदा!' सैनिक आगे भागे, किंतु मार्ग अवरुद्ध था। पीछे भागे, पर उधरसे निकलनेका कोई पथ नहीं। मुगल सेना जैसे चूहेदानीमें फँस गयी थी। उधर शिला-खण्डोंकी वर्षा होती जा रही थी।

कुछ ही क्षणोंमें हजारों मुसल्मान मौतकी गोदमें सो गये। कुछ ही इधर-उधरसे प्राण बचाकर भाग सके होंगे।

महाराणा चंचलके पास पहुँचे।

'अब आप अपने पिताके पास सुरक्षित पहुँचा दी जायँगी।' राजसिंहने बड़ी शालीनतासे राजकुमारीसे निवेदन किया। 'मुगल सेनाएँ सो गयीं, बची-खुची भाग गयीं। अब कोई बाधा नहीं।'

'मेरे पिता तो मुझे औरंगजेबके यहाँ भेज चुके हैं।' चंचल बोली। 'अब मैं फिर उनके पास कैसे जा सकती हूँ?'

'तो फिर क्या किया जाय?' राणाने पूछा।

'मैं तो इन्हीं श्रीचरणोंकी आस……।' राजकुमारीका मुँह लज्जासे लाल हो गया। वह आगे नहीं बोल सकी।

'धन्य भाग्य मेरे।' राजसिंहने मुदित मनसे कहा।

'मेवाड़की महारानीकी जय!' राजपूतोंने उच्च घोषसे आकाशमण्डलको गुँजा दिया। —शि० दु०

(२)

सती लाजवंती

'ओफ!' अकबर भी जैसे अधीर-सा हो गया। ढूहसे बन गये भव्य प्रासाद, जली अस्थियाँ एवं मांसके लोथड़ोंको देखकर उसने कहा। 'राज्यकी सीमा बढ़ानेके लालचमें कितने बेगुनाहोंका खून करना पड़ता है। हरी-भरी दुनिया-को वीरान कर देना पड़ता है। या खुदा!'

'तुम कौन?' अपनी क्रूरतापर पश्चात्ताप करते हुए अकबरने दृष्टि उठायी और पीछे बँधे हाथवाले तेजस्वी सैनिकको देखकर प्रश्न किया।

'मैं पुरुष नहीं, स्त्री हूँ'—सैनिकने उत्तर दिया। 'डूँगरपुर मेरा घर है। मेरा पति पहले ही युद्धके लिये आ गया था। मैं भी जौहर-व्रतमें सम्मिलित होना चाहती थी, पर यहाँ तो मेरे आनेके पहले ही सब समाप्त हो गया। अब अपने पति-की लाश ढूँढती हूँ, पर तुम्हारे सिपाहियोंने मुझे जबर्दस्ती कैद कर लिया।'

'तुम्हारे सिपाहियोंने!……सब मुझे 'जहाँपनाह' और न जाने क्या-क्या कहते हैं। लेकिन यह राजपूत कन्या! सचमुच यह जाति बड़ी निडर होती है।'

'तुम्हारी शादी कब हुई थी ?' अकबरने पूछा ।

'अभी तो सगाई हुई है।' सैनिक वेषमें लड़कीने कहा।

'तब तुम दूसरी शादी क्यों नहीं कर लेती ?' अकबरने सहानुभूतिके साथ कहा । 'अभी तो तुम्हारी सारी जिंदगी पड़ी है । क्यों बरबाद करती हो ?'

'गाली मत दो, अकबर !' लड़कीकी आँखें भर आयीं। 'सुनती हूँ, तुम बहुत बड़े बादशाह हो। भगवान्‌ने तुम्हें शक्ति-सामर्थ्य इसलिये नहीं दी कि तुम किसी सती नारीका अपमान करो।'

'नहीं, बेटी, नहीं।' अकबरने कुछ सहमकर कहा। 'बिल्कुल नहीं । मेरी यह बिल्कुल मंशा नहीं थी । इन ढेर-सी पड़ी लाशोंमें तुम्हारे पतिकी लाश मिल जाय तो ढूँढ़ लो, ले जाओ । मुझे कोई ऐतराज नहीं ।'

लड़कीका नाम लाजवंती था । उसने पतिका शव ढूँढ़ लिया । कुछ लकड़ियाँ लायी । चिता बनी । उसपर पतिका शव सुला दिया, पाँच बार परिक्रमा की और पुनः प्रणाम करके स्वयं चितापर बैठ गयी । पतिका मस्तक गोदमें लेकर चक-मकसे आग पैदा की । क्षणभरमें ही धू-धूकर चिता जल उठी । लाजवंतीकी कोमल काया उसके पतिके शवके साथ अग्निकी लाल लपटोंमें समाप्त हो गयी, राखकी ढेर बन गयी ।

अकबर और उसके सैनिक राजपूत-कन्याका साहस और त्याग देखकर चकित थे । सतीके सहज पति-प्रेमकी प्रशंसाके अतिरिक्त वे और क्या कहते ? —शि० दु०

(३)

पतिव्रता मयणल्लदेवी

चन्द्रपुरके राजा कादम्बराज जयकेशीकी पुत्री थी मयणल्लदेवी । वह शरीरसे कुछ मोटी और कुरूपा थी; लेकिन उसका हृदय गुजरातनरेश भीमदेवके पुत्र कर्णको वरण कर चुका था। पिताके देहावसानके पश्चात् कर्ण सिंहासनासीन हुए। वे अपनी माता उदयमतीके परम भक्त थे । वे अत्यन्त रूपवान् तथा वीर थे।

'मैं दूसरेका वरण नहीं करूँगी ।' राजकुमारीने विवाह-की चर्चा चलनेपर स्पष्ट कह दिया । लेकिन चालुक्यनरेश इस समय 'भारत-सम्राट्' होनेके लिये स्पर्धा कर रहे थे। दक्षिण भारतसे उनका मैत्रीसम्बन्ध नहीं था । ऐसी अवस्थामें यदि कन्याके विवाहका प्रस्ताव वे अस्वीकार करें, युद्ध अनिवार्य था । चन्द्रपुरनरेश जयकेशी युद्धसे डरते नहीं थे; किंतु युद्ध करके मानी कर्णको विवाह करनेके लिये प्रस्तुत करना कठिन था ।

'वे मेरे आराध्य हैं । युद्ध करके उन्हें विवश किया जाय, यह मैं सहन नहीं करूँगी ।' राजकुमारीने युद्धकी चर्चा ही उठने नहीं दी । 'मुझे जानेकी आज्ञा दीजिये । वे मुझे स्वीकार करें तो और अस्वीकार करें तो, मेरी गति तो उनके चरणोंमें ही है ।'

पुत्रीका हठ राजा जयकेशीको स्वीकार करना पड़ा । उन्होंने एक चित्रकारको आगे भेजा । चित्रकारने राजसभामें जाकर कर्णको काम्बोजराजकी कन्याका चित्र दिखलाकर निवेदन किया—'मेरे महाराजने आपकी भेंटमें हाथी भेजा है ।'

हाथी देखने सभासदोंके साथ राजा कर्ण बाहर निकले । हाथीपर राजकुमारी मयणल्ल स्वयं बैठी थीं । लेकिन कर्णने उनसे विवाह करना अस्वीकार कर दिया । राजकुमारी उनका निर्णय सुनकर हाथीसे उतरीं । उन्होंने कहा—'आर्य-कन्या एक बार ही पतिका वरण करती है । इस देहका उपयोग कुछ नहीं, यदि आप इसे स्वीकार नहीं करते ।'

राजकुमारीके आदेशपर उनके साथ आये लोगोंने वहीं चिता बनायी । राजकुमारीने कर्णको प्रणाम किया और चितामें चढ़ने चलीं । उसी समय राजमाता उदयमती पधारीं । उन्होंने पुत्रको डाँटा—'तेरे जीवित रहते तुझे वरण करनेवाली साध्वी चितारोहण करेगी ! तुझे देहका आकार ही दीखता है, हृदयका शुद्ध सौन्दर्य नहीं दीखता ! चितामें ही चढ़ना हो तो मेरी पुत्रवधू नहीं चढ़ेगी, मैं चढ़ूँगी ।'



अब राजा कर्णका हृदय द्रवित हुआ। उन्होंने माताके चरणोंमें सिर रखकर क्षमा माँगी। मयणल्लका पाणिग्रहण किया उन्होंने। यही रानी मयणल्लदेवी सिद्धराज जयसिंह-की जन्मदात्री हुई। उनकी शिक्षा तथा देख-रेखने ही सिद्धराजको इतना निपुण तथा समर्थ बनाया।

चालुक्यवंशके इतिहासमें आदर्श पतिव्रता तथा आदर्श माताके रूपमें मयणल्लदेवीका नाम अमर है। —सु०

(४)

साध्वी कान्तिमती

शाकल नगरीमें श्रीवत्स गोत्रमें उत्पन्न ब्राह्मण था वह। उसके पास अपार सम्पत्ति थी और अत्यन्त सुन्दरी, गुणवती पत्नी मिली थी; किंतु कुसङ्गमें पड़कर वह वेश्याके मोह-जालमें फँस गया था। उस वेश्याको उसने घरमें ही टिका लिया था।

पतिकी आज्ञासे साध्वी पत्नी कान्तिमती उस वेश्याके भी पैर धोती थी। रात्रिमें पति जब वेश्याके साथ शयन करता तो वह उन दोनोंके पैरोंके पास सो रहती। अत्यन्त श्रद्धापूर्वक वह उन दोनोंकी सेवा करती थी।

वह ब्राह्मण नियम-संयम छोड़ ही चुका था। मनमाने आहार-विहारका फल यह हुआ कि रोगोंने उसके शरीरको अपना घर बना लिया। वमन-विरेचन हुआ, संग्रहणी हुई और फिर भगंदर हो गया। वेश्याने उसका धन अपने घर पहुँचा दिया था। अब उसे छोड़कर चली गयी। सम्बन्धियोंने उससे पहिले ही सम्पर्क त्याग दिया था। अब केवल पत्नी इस कष्टमें उसकी सहायक रह गयी। वह अपने शरीरके विश्रामकी चिन्ता त्यागकर रात-दिन उसकी सेवामें लगी रहती थी।

'मैंने तुम्हें बड़ा कष्ट दिया, तुम्हारा अपमान कराया। अब इसी पापका फल भोग रहा हूँ। मुझे क्षमा करो।' एक दिन उस पुरुषके मनमें पश्चात्ताप जागा तो वह यों बोला।

'आप मेरे आराध्यदेव हैं। मुझे अपराधिनी मत बनाइये। मैं तो आपकी तुच्छ दासी हूँ। आपकी सेवा



करके मुझे अवर्णनीय आनन्द प्राप्त होता है।' यह कहकर कान्तिमतीने उसके पैरोंपर मस्तक रख दिया। पतिकी मङ्गल-कामनासे वह कई प्रकारके व्रत रखती थी। देवताओंकी आराधना करती थी। पतिका कष्ट घटानेके लिये जो कर सकती थी, करती थी। घरमें कोई अतिथि-महात्मा आ जाते तो उनका सत्कार करती। उनका चरणोदक पतिके ऊपर छिड़कती।

सहसा एक दिन उस ब्राह्मणको संनिपात हो गया। बेचारी ब्राह्मणी वैद्यके पास भागी गयी और वहाँसे ओषधि ले आयी। तबतक ब्राह्मणके दाँत बैठ गये थे। बलपूर्वक दाँतोंको खोलकर वह मुखमें औषध डालनेका प्रयत्न करने लगी। रोगीने संनिपातके आवेशमें दाँत दबाये स्त्रीकी एक अँगुली कटकर उसके मुखमें रह गयी। उसके प्राण छूट गये।

कान्तिमतीने स्नान किया। नवीन वस्त्र पहिना। अपना शृङ्गार किया। केशोंको खुला छोड़ दिया। सिन्दूरसे माँग भरी। पतिके शरीरके साथ श्मशान गयी और उस देहके साथ उसने चितारोहण किया।

नारीके लिये पति साक्षात् पुरुषोत्तम है। पतिव्रता नारी पतिकी आराधना उसे एक व्यक्ति, एक जीव मानकर नहीं करती। जैसे उपासकके लिये मन्दिरकी मूर्ति धातु, काष्ठ, पाषाणादि नहीं है, वैसे ही नारीके लिये पति व्यक्ति नहीं है। वह तो साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप है। इसलिये पतिभक्ति करके नारी उस पुरुषके साथ स्वर्ग-नरक नहीं

जाती। यद्यपि वह ब्राह्मण वेश्याका चिन्तन करते मरनेके कारण तथा पत्नीकी अँगुली मुखमें रह जानेसे दूसरे जन्ममें व्याध हुआ, किंतु साध्वी कान्तिमती तो वैकुण्ठ चली गयी।

—सु०

(५)
सती बासंती

'मुझे इसी समय झाँसी ले चलिये।' करारीकी बासंतीने अपने श्वशुर प्रसादीको बुलाकर कहा।

'यह कैसे सम्भव है, बहू!' प्रसादीने प्रसूति-गृहमें पड़ी बहूको प्रेमसे समझाया। 'अभी तो कुल पाँच दिन हुए हैं। तुम बाहर कैसे निकल सकती हो और यदि जाना ही था तो किशोर (बासंतीका पति) अभी कुछ ही घड़ी पूर्व गया है; उसके साथ क्यों नहीं चली गयी?

'अब मुझे अपने परिवार तथा प्राणोंकी आवश्यकता नहीं'—बासंतीने बल देकर कहा। 'आप मेरी बातका विश्वास कीजिये। उन्हें काले नागने डँस लिया है। वे बच नहीं सकते। तभीतक उनके प्राण बचे रहेंगे, जबतक मैं उनके पास नहीं पहुँच पाती। आप तनिक भी देर करेंगे तो मेरी अभिलाषा अधूरी रह जायगी।······और यह बच्चा! जीजी पाल लेंगी इसे। इसे कुछ नहीं होगा। यह स्वस्थ रहेगा।

'वफातीका ताँगा झाँसीके लिये तैयार हो रहा है। आप जाकर देखिये, जल्दी कीजिये। इतनेपर तो आपको मेरी बातोंका विश्वास हो जाना चाहिये।'

प्रसादी घबराये-से बाहर दौड़े। उन्होंने देखा सचमुच वफाती ताँगा कसकर झाँसीके लिये तैयार है। प्रसादी उसे अपने द्वारपर ले आये। तबतक बासंतीने जल्दी-जल्दी कुछ वस्त्र-आभूषण पहन लिये थे।

करारी और झाँसीकी दूरी लगभग छः मील है। पौन घंटेमें ताँगा पहुँच गया। 'बड़े अस्पतालमें ले चलो' शहरमें पहुँचते ही बासंतीने कहा। ताँगा अस्पताल पहुँचा।

बासंती ताँगेसे कूदकर सर्वथा परिचितकी भाँति अस्पतालके उस कक्षमें पहुँच गयी, जहाँ डाक्टर और कम्पाउंडर निराश होकर अपने यन्त्र सँभाल रहे थे। डाक्टर आश्चर्यचकित हो गया, जब बासंतीके पहुँचते ही दो घंटेसे बेहोश किशोरने आँखें खोल दीं और हाथ उठाकर मायेसे लगा लिया।

'कुछ चिन्ता नहीं!' बासंतीने बड़ी शान्तिसे कहा। 'चलिये, मैं भी तैयार होकर आयी हूँ।'

डाक्टरके संकेतसे बासंती पकड़कर एक कमरेमें बंद कर दी गयी। 'मेरे निश्चयसे तुम मुझे डिगा नहीं सकते!' कहती हुई बासंती कमरेमें चली गयी थी।

किशोरने आँखें बंद कर लीं—सदाके लिये। उसके पिता चिल्लाने लगे।

× × ×

'क्यों श्रम कर रहे हो?' मार्गमें पिण्डदानके लिये शव उतारा गया तो हर प्रयत्न करनेपर भी उठ नहीं रहा था। समीपस्थ मन्दिरके स्वामी श्रीयुगलानन्दने आकर कहा। 'इसकी सती पत्नी बासंतीका शव आये बिना यह नहीं उठ सकेगा। उसका शव ले आओ तो यह तुरंत उठ जायगा।'

कुछ आदमी लौटे। देखा बासंतीका शरीर निर्जीव था। उसके प्राण अपने प्राणपतिके पास पहुँच गये थे।

उक्त दम्पतिकी अन्त्येष्टिमें सहस्रों स्त्री-पुरुष (कौतूहलवश भी) सम्मिलित हुए और जय-जयकार एवं पुष्पोंकी वर्षा की। —शि० दु०

(६)
सती ब्राह्मणपत्नीका प्रभाव

संवत् १९५६ विक्रमाब्दमें मारवाड़में भयानक दुर्भिक्ष पड़ा। अन्नके अभावसे लोग तड़प-तड़पकर प्राण-त्याग करने लगे। मारवाड़के डीडवाना नगरका एक ब्राह्मण अपनी नववधूको छोड़कर चल बसा। बेचारी दुखी पत्नी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके घरोंसे भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करने लगी। भिक्षान्नके लिये उसने अपना गाँव छोड़ दिया। इस तरह वह सुजानगढ़के एक गाँवके ठाकुरके रावलेमें गयी और अपना सारा दुःखद वृत्तान्त सुना दिया। भगवान्की दयासे ठाकुरने उसे अपने श्रीराधाकृष्ण भगवान्के मन्दिरकी पुजारिन नियत कर दिया। ब्राह्मणी बड़ी ही सात्त्विक प्रकृतिकी देवी थी, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक श्रीभगवान्की सेवा-पूजा एवं कथा-कीर्तनमें अपना दिन व्यतीत करने लगी।

एक बार ठाकुरकी उसकी पत्नीसे कुछ कहा-सुनी हो गयी। ठाकुरकी पत्नीके मनमें पवित्र पुजारिनके प्रति कुछ संदेह उत्पन्न हो गया। उसने पुजारिनको निकलवानेका षड्यन्त्र रचना शुरू किया। उसने अपने पीहरसे एक रानाको बुलवाया।

'यह ढेढ़नी है।' रानाने श्रीठाकुरजीका प्रसाद आगे हटाकर ठाकुरसे कहा। 'मैं इसका स्पर्श किया हुआ प्रसाद नहीं स्वीकार कर सकता। इसे मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ।'

बेचारा ठाकुर किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा हो गया। रानाने फिर बल देकर कहा—'मेरी बातका विश्वास न हो तो आप आगमें दहकते लोहेके दो गोले मँगवा दें। मैं उन्हें उठा लूँगा और मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा।'

आगमें तपे दो गोले मँगाये गये। गाँवके अधिकांश स्त्री-पुरुष एकत्र होकर देख रहे थे। राना अग्नि-स्तम्भन-विद्या जाननेके कारण तपे गोलोंको हाथोंमें लेकर घुमाता और उछाल रहा था। ठाकुर दुखी और चिन्तित था तथा ब्राह्मणी मन-ही-मन रो रही थी, बेचारी व्यर्थ ही अन्त्यजा सिद्ध हो रही थी।

'महाराज! कहिये, ये गोले कहाँ डालूँ?' रानाने ठाकुरसे पूछा। 'डाल सूर्यभगवान्के सिरपर!' दुखी और चिढ़ी ब्राह्मणीने दाँत पीसते हुए कहा। रानाने गोले जमीनपर फेंक दिये।

आश्चर्यकी बात हुई। गोले अचानक आकाशकी ओर उठे और एक गोला ऊपरसे सीधे रानाके सिरपर गिरकर फट गया। रानाकी तत्काल मृत्यु हो गयी।

अब सब लोग घबराये। ठाकुरने पुजारिनके चरण पकड़ लिये—'माँ! तुम सती हो, रक्षा करो।'

'प्रभो! ये मेरे अन्नदाता हैं।' सती ब्राह्मणीने दोनों हाथ जोड़कर श्रीसूर्यभगवान्से प्रार्थना की। 'सरल और निर्दोष हैं। इनकी रक्षा कीजिये।'

दूसरा गोला नीचे नहीं आया। सभी दर्शक सतीका चमत्कार देखकर दंग रह गये। ठकुराइन सती ब्राह्मण पुजारिनके चरणोंमें गिर पड़ी और क्षमा माँगने लगी।

—शि० दु०

(७)
सती रामरखीका प्राणोत्सर्ग

(लेखक—श्रीशिवकुमारजी गोयल, पत्रकार)

सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी देवतास्वरूप भाई परमानन्दके भाई क्रान्तिकारी बालमुकुन्दको 'दिल्ली षड्यन्त्र केस' के मामलेमें फाँसीका दण्ड सुनाया गया। उनपर लार्ड हार्डिंगकी सवारीपर बम फेंकने तथा अंग्रेजी-शासनका तख्ता पलटनेका षड्यन्त्र रचनेका आरोप लगाया गया था।

भाई बालमुकुन्द दिल्ली जेलकी कोठरीमें बंद थे। उनकी पत्नी श्रीमती रामरखी कट्टर धर्मपरायणा एवं पतिव्रता नारी थीं। वे एक दिन अपने पतिसे मिलने जेल गयीं तो उन्होंने भाई बालमुकुन्दजीसे प्रश्न किया—'आपको खाना कैसा मिलता है?'

'मिट्टी-मिली दो रोटी एवं दालका पानी'—भाईजीने उत्तर दिया।

'आप सोते कहाँ हैं?'—रामरखीने दूसरा प्रश्न किया।

'कोठरीके अंदर केवल दो कम्बलोंमें'—उत्तर मिला।

रामरखी गम्भीर होकर घर लौट आयीं और उन्होंने उसी दिनसे मिट्टी-मिली दो रोटियाँ खानी प्रारम्भ कर दीं और भीषण सर्दीमें केवल दो कम्बलोंमें सोना प्रारम्भ कर दिया।

घरवालोंने समझाया तो रामरखीने उत्तर दिया—'मेरे पतिदेव तो मिट्टी-मिली रोटी खायें और मैं अच्छा भोजन करूँ, यह भला कैसे सम्भव है! पत्नीका यह धर्म है कि वह पतिके दुःखमें दुखी रहे, सुखमें सुखी।'

रामरखीका शरीर कुछ ही दिनोंमें सूख गया। वह अपने इष्टदेव भगवान्से प्रार्थना करने लगी—'या तो मेरे पतिदेव रिहा हो जायँ, अन्यथा मैं भी उन्हींके साथ-साथ परलोक सिधार जाऊँ।'

भाई परमानन्दजीने बालमुकुन्दको फाँसीसे बचानेका भारी प्रयास किया, पैरवी की; किंतु फाँसीकी सजा टल न सकी।

५ अक्टूबर सन् १९१५ भाई बालमुकुन्दको फाँसी देनेके लिये नियत हुआ। ५ अक्टूबरको प्रातः रामरखीने शृङ्गार किया, भगवद्भजन किया और एक चबूतरेपर बैठ गयीं। वे प्रसन्नचित्त पति-नामका स्मरण कर रही थीं।

उधर जेलकी फाँसीकी कोठरीमें भाई बालमुकुन्दने देशकी स्वाधीनताके लिये मृत्युका आलिङ्गन किया, इधर ठीक उसी समय श्रीमती रामरखी अपने प्राणप्रिय पतिके वियोगमें परलोक सिधार गयीं।

पति-पत्नी दोनोंके शवोंकी एक साथ अन्त्येष्टि-क्रिया की गयी।

श्रीमती रामरखी इस युगकी महान् पतिव्रता सतियोंमें अग्रणी थीं। देशके स्वाधीनता-संग्रामके महान् यज्ञमें जब इस महान् पतिव्रताकी आहुति पड़ी, तब उस आहुतिने अंग्रेजी साम्राज्यवादको भस्मीभूत ही कर डाला।

अद्भुत सतीत्व

जापानका रूससे युद्ध चल रहा था। रूसी सेनाकी एक टुकड़ीने सामन्तराज सातोमीके दुर्गपर घेरा डाल दिया था। पर्वतपर बना सुदृढ़ दुर्ग था और चारों ओर गहरी खाई थी; किंतु लंबे घेरेके कारण दुर्गमें भोजन समाप्त होता जा रहा था। एक दिन दुर्गपतिने घोषणा की—'शत्रुसेनाके सेनापतिका सिर लानेवालेके साथ मैं अपनी पुत्रीका विवाह कर दूँगा।'

शीतकाल आ गया था। एक दिन शामसे हिमपात प्रारम्भ हो गया। उस दिन सामन्तराजका कुत्ता सुबूसा नहीं मिला दुर्गमें तो वे चिन्तित हो उठे। वह शिकारी जातिका ऊँचा, बलवान् कुत्ता बड़ा स्वामिभक्त था। रात्रिमें बाहर रहनेपर हिमपातसे उसके मरनेका भय था; लेकिन कुत्ता रात्रिमें मिला नहीं।

रात्रिमें भारी हिमपात हुआ। शत्रुकी बड़ी तोपें हिमपातसे हिलनेकी स्थितिमें नहीं रह गयीं। उसपर आक्रमणका यह अच्छा अवसर था। प्रातःकाल दुर्गके सब सैनिक एकत्र हुए। सामन्तराज आक्रमणकी योजना बनाने जा रहे थे। उसी समय उनका कुत्ता सुबूसा दुर्गमें पहुँचा। उसके मुखमें रक्त-सना शत्रु सेनापतिका सिर था। सुबूसा शामको निकला था और शिविर निरीक्षण करने रात्रिमें निकले रूसी सेनानायकको मारनेमें सफल हो गया था।

'छिः!' युद्ध समाप्त हो गया था, शत्रु हारकर लौट चुका था; किंतु अपने कुत्तेको देखते ही सातोमीका हृदय घृणासे भर जाता था। भारतीय राजपूतोंके समान जापानके सामुरायी वंशके लोग भी अपने वचनके पक्के होते हैं। कितना अभागा दिन था वह, जब सामन्तराजने शत्रु-सेनापतिका सिर लानेवालेको बेटी ब्याहनेकी घोषणा की थी। कुत्तेको अब सबसे तिरस्कार मिलता था; वह जिसके समीप जाता था, वही उसे मार बैठता। उसको भोजन देना बंद कर दिया गया। स्वामिभक्त पशु समझ नहीं पाता था कि किस अपराधके कारण उसे यह तिरस्कार मिल रहा है।

सामन्तराज सातोमीकी एकमात्र संतान उनकी पुत्री थी। वह जितनी रूपवती थी, उतनी ही गुणवती तथा ईश्वरभक्ता थी। वह सोचने लगी—'माता-पितासे मुझे यह शरीर मिला है। सामुरायी सामन्त अपनी बात झूठी कर नहीं सकते। पिताने मुझे देनेकी जो प्रतिज्ञा की, उसके अनुसार सुबूसा मेरा स्वामी है। मेरे मोहके कारण पिता उसका तिरस्कार करते हैं। मैं उसे तिरस्कृत, भूखा देखूँ, यह तो धर्म नहीं है।'

अन्तमें वह धर्मज्ञा एक रात्रिको कुत्तेके साथ चुपचाप दुर्गसे निकल गयी। उसने घोर वनमें एक गुफाको अपना निवास बनाया। वनके कंद तथा फल चुन लाती थी अपना पेट भरनेको। शिकारी कुत्ता सुबूसा अपने लिये आखेट कर लेता था। वह सामन्तकुमारी तपस्विनी बन गयी। एक ही प्रार्थना प्रभुसे वह बार-बार करती—'प्रभो! इस स्वामिभक्त जीवको अपने चरणोंमें स्वीकार करो।'



सामन्तराज सातोमीने बहुत खोज करायी, किंतु उन्हें उनकी पुत्रीका पता नहीं लगा। एक दिन उनका एक सैनिक वनमें आखेटको गया। गुफाके सामने उसने सुबूसाको खड़े देखा। अपने स्वामीके कुत्तेको पहिचानकर उसने बंदूक सीधी की—'इस अभागे कुत्तेके कारण ही सामन्तराज दुखी हुए। उनकी पुत्री खोयी गयी।'

बंदूककी गोली छूटी। कुत्ता तो गिरा ही, एक कोमल कण्ठका चीत्कार भी सुन पड़ा। कुत्तेकी आड़में उससे सटकर बैठी सामन्तकुमारीको भी गोलीने बींध डाला था। कुत्तेके साथ ही उनका निष्प्राण देह पड़ा था। —सु०

पतिप्राणा देवियाँ

(१)

पतिप्राणा विप्रपत्नी

महाराज शर्याति दिग्विजयसे लौट रहे थे। उनके साथ उनके राजपुरोहित मधुच्छन्दा थे। महर्षि विश्वामित्रके पुत्र संयमी, तपस्वी, विद्वान् राजपुरोहित अकारण ही इधर उदास रहने लगे थे। राजाने नम्रतापूर्वक उनकी खिन्नताका कारण जानना चाहा तो वे बोले—'मैंने पत्नीको जो घर लौटनेका समय दिया था, अब उस समय मेरा घर पहुँचना सम्भव नहीं है। इससे मेरी स्त्रीको बहुत क्लेश होगा। उसके दुःखको सोचकर ही मेरा चित्त खिन्न है।'

राजाके लिये यह बात हँसी आनेकी थी। वे बोले—'आप तपस्वी हैं, संयमी हैं; आपको तो अपने मनपर अधिकार होना चाहिये। मेरी रानी स्वविष्ठा भी परम पतिव्रता हैं। उनके चित्तका आश्रय मैं ही हूँ। उन्हें भी मैंने लौटनेका समय वही दिया था, जो आपने अपनी पत्नीको दिया है। मैं तो खिन्न नहीं हूँ। साधारण मनुष्यके समान आप स्त्रीकी चिन्ता करें, यह योग्य नहीं है।'

राजाकी इस बातसे मधुच्छन्दा न लज्जित हुए और न उन्हें क्रोध आया। वे बोले—'राजन्! आपकी बात सामान्य दृष्टिसे उचित है; किंतु चाहिये यह कि पति-पत्नी दोनों एक दूसरेसे प्रेम करें तथा एक दूसरेके कष्टका ध्यान रखें। गृहस्थके लिये यह भूषण है, दूषण नहीं। मेरी पत्नीके प्राण मुझमें ही रहते हैं। मेरे बिना वह क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकती। इसलिये उसकी चिन्ता मुझे खिन्न करती है।'

पुरोहितको प्रसन्न करनेके लिये राजाने सेनाको प्रस्थानकी आज्ञा तो दे दी, किंतु मधुच्छन्दाकी बातोंसे उन्हें अपने उन पुरोहितमें स्त्री-आसक्ति जान पड़ी। उन्होंने परीक्षा लेनेका निश्चय करके एक दूत तीव्रगामी अश्वसे आगे भेज दिया। दूत राजसदन पहुँचा। पतिवियुक्ता महारानी तथा राजपुरोहितकी पत्नी एकत्र बैठी थीं। राजाके आदेशके अनुसार दूतने समाचार दिया—'महाराज शत्रु-विजय करके लौट रहे थे। रात्रिमें एक राक्षसने उनका तथा राजपुरोहितका भक्षण कर लिया। सेना बहुत दुखी है। मुझे उचित आदेश दें!'

'राक्षसने राजपुरोहितका भक्षण कर लिया!' यह सुनते ही राजपुरोहितकी पत्नी भूमिपर गिरीं और उन्होंने प्राण त्याग दिये।

'यह कैसे सम्भव है?' कुछ क्षण स्तब्ध रहकर महारानीने सोचा। सिर उठाया तो वह दूत जा चुका था। कोई परिहास है यह, वे समझ गयीं।

ब्राह्मण-पत्नीकी मृत्यु देखकर दूत भागा था। उसने जाकर राजाको समाचार दिया। नरेश व्याकुल हो उठे—'मैं महापापी हूँ। कुतूहलवश मैंने ब्रह्महत्या कर दी।'

'उस सतीके पवित्र देहकी रक्षा की जाय!' महाराजने फिर दूत दौड़ाया। राजपुरोहितको सेनाके साथ राजधानी भेजा। 'मुझे कुछ विलम्ब होगा' यह कहकर वे रुक गये। स्वयं गौतमीके तटपर पहुँचे, चिता बनायी और देवता, ब्राह्मण, पितर आदिका पूजन-तर्पण करके चितामें बैठ गये। प्रज्वलित अग्निमें बैठे राजाने संकल्प किया—'मैंने निष्काम भावसे दान, यज्ञ तथा प्रजापालन किया हो तो अग्निदेव मेरी आयुसे विप्रपत्नीको जीवित कर दें!'



नरेशका देह भस्म हो गया; किंतु उसी समय विप्रपत्नी जी उठीं। राजपुरोहितको मार्गमें ही ये दोनों समाचार मिले। वे धर्मसंकटमें पड़ गये—'मेरे लिये जिसने प्राण

त्याग दिया था, उस पत्नीके समीप जाना चाहिये अथवा जिसने मेरी पत्नीको जीवित करनेके लिये अपनी आहुति दे दी, उसका अनुकरण करना चाहिये !'

मधुच्छन्दा तपस्वी थे। तपकी अमित शक्ति उनके पास थी। उन्होंने वहीं सूर्यके रथका स्तम्भन करके भगवान् सूर्यकी स्तुति की और भगवान् भास्करसे राजाको जीवित करनेका वरदान माँगा। सूर्यनारायणके वरदानसे राजा शर्याति जीवित हो गये। वे चिता-भस्मसे उठ खड़े हुए। महाराजके साथ ही मधुच्छन्दाने राजधानीमें प्रवेश किया।

—सु०

(२)
पतिप्राणा रानी पिङ्गला

'पतिकी मृत्युके पश्चात् जो जीवित रहे, वह सती नहीं कहला सकती। सती वह नारी है, जो पतिकी मृत्युका समाचार पाते ही देह त्याग दे। पतिदेहके साथ चिता-रोहण करनेवाली नारीको केवल वीर-स्त्री कहा जा सकता है।' रानी पिङ्गलाने यह बात अनवसर कह दी। चन्द्रवंश-में उत्पन्न परमारवंशके अन्तिम राजा हून आखेटसे लौटे थे। उस समय वे उत्साहमें थे। उन्होंने वनमें सर्प काटनेसे मृत व्याधके शवके साथ उसकी स्त्रीको चितापर बैठकर जलते देखा था। व्याध-जैसे छोटे कुलमें ऐसी पतिव्रता देखकर उन्हें आश्चर्यके साथ श्रद्धा हुई थी। ऐसे समय पतिका उत्साह-भङ्ग करना उचित नहीं था।

'ऐसी सती तो रानी पिङ्गला ही होंगी।' उत्साह भङ्ग होनेसे चिढ़कर राजाने कहा। रानी चौंक गयीं। वे समझ गयीं कि उनसे भूल हुई है। अब उनकी परीक्षा अवश्य ली जायगी; लेकिन अब तो भूल हो चुकी थी। अपने धर्म-गुरु दत्तात्रेयजीके राजभवनमें पधारनेपर रानीने अपनी कठिनाई बतायी।

दत्तात्रेयजीने एक बीज देकर कहा—'इसे आँगनमें बो दो। छोटा पौधा बन जायगा। जब महाराजके जीवनके विषयमें शङ्का हो तो उस पौधेसे पूछना। यदि राजा जीवित हुए तो उससे जलके बिन्दु टपकेंगे। जीवित न हुए तो उसके पत्ते सूखकर उसी समय झड़ जायँगे।'

रानीने बीज बोया। वह उगा, बढ़ा और हरा-भरा हो गया। राजाके राज्यमें दस्यु बढ़ गये थे। वे उनका दमन करने गये। उनका दमन करके लौटते समय रानीके सतीत्वकी परीक्षाका विचार मनमें आया। उन्होंने एक दूतको अपना मुकुट देकर भेजा। दूतने राजधानीके द्वारपरसे ही रोना-पीटना प्रारम्भ किया। उसने समाचार दिया—'दस्युओंने राजाको मार डाला।'

दूतके राजसदन पहुँचनेसे पहले ही रानीके पास सखियोंने दूतके रोते हुए आनेका समाचार पहुँचा दिया था। रानीने स्नान करके वृक्षसे पूछा। वृक्षसे जलके बिन्दु टपके। रानी निश्चिन्त हो गयी थीं कि महाराज सकुशल हैं। दूतने समाचार दिया तो उन्होंने सोचा—'महाराजने मेरी परीक्षाके लिये दूत भेजा है। उनकी इच्छा है कि मैं देह-त्याग करूँ। पतिकी इच्छाका पालन ही स्त्रीका धर्म है। परलोकमें तो वे मुझे प्राप्त होंगे ही।'

पतिको सकुशल जानकर भी रानी पिङ्गलाने देहत्याग-का निश्चय किया। वे योगिनी थीं। दूतके द्वारा लाये मुकुट-को गोदमें लेकर वे आसन लगाकर बैठ गयीं। उन्होंने नेत्र बंद किये, प्राणोंका संयम किया और शरीर छोड़ दिया।

'यह संवाद मिथ्या है।' दूतने कहा; किंतु तबतक रानीका शरीर निष्प्राण हो चुका था। उधर नरेशको दूत भेजनेके पश्चात् लगा कि कहीं रानी सचमुच देहत्याग न कर दें। वे बहुत शीघ्रतासे चले। लेकिन जब नगरके समीप पहुँचे, उस समय श्मशानमें रानी पिङ्गलाका शरीर चिताकी लपटोंमें जल रहा था।

राजाने वस्त्र-आभूषण उतार फेंके। पैदल श्मशान पहुँचे। लोग तो चिता जलाकर लौट चुके थे। अकेले विक्षिप्त राजा वहाँ रोते हुए घूमने लगे। उन्हें इस अवस्थामें सिद्धश्रेष्ठ गोरखनाथजीने देखा। महापुरुषको दया आ गयी। उन्होंने समझानेका बहुत प्रयत्न किया, किंतु राजाका शोक दूर नहीं होता था।

'इनमेंसे अपनी पिङ्गला पहचान ले।' गोरखनाथजीने एक चुटकी भस्म चितापर फेंक दी। चितासे नारियोंकी एक भीड़ उठ खड़ी हुई। सब रूप-रंगमें पिङ्गलाके ही समान थीं। राजा पहचाननेमें असमर्थ रहे। संतके ताली बजाने-पर अकेली पिङ्गला रानी रह गयीं। शेष सब अदृश्य हो गयीं।



'मेरा मोह दूर हो गया। अब मुझे अपने चरणोंका आश्रय दें।' राजाको संतकी कृपासे वैराग्य हो गया। वह दीखनेवाली पिङ्गला तो माया थी, अदृश्य हो गयी। —सु०

(३)

पतिप्राणा जयदेव-पत्नी

पद्मावती भक्तवर श्रीजयदेवजीकी अर्धाङ्गिनी थीं। राजभवनमें उनका बड़ा सम्मान था। वे प्रायः रानीके पास जातीं और उसे भगवान्‌की मधुर लीला-कथा सुनाया करतीं। रानी उनकी बातें बड़े आदर और प्रेमसे सुनती तथा उनका भी सम्मान करती।

'शरीरान्त हो जानेपर पतिके साथ चितापर भस्म हो जानेवाली स्त्री उच्चकोटिकी सती नहीं होती।' पद्मावती रानीसे कह रही थीं। 'उच्चकोटिकी सती तो पतिके देहान्तके संवादसे ही प्राण छोड़ देती है।'

रानी चुपचाप सुनती रही; पर सच बात तो यह थी कि उसे पद्मावतीकी यह बात अच्छी नहीं लगी। उसने अवसर देखकर पद्मावतीकी परीक्षा करनेका मन-ही-मन निश्चय कर लिया।

एक दिन नरेश आखेटपर गये। उनके साथ जयदेवजी भी थे। धीरे-धीरे संध्या हो रही थी।

'पण्डितजीको सिंह खा गया'—नेत्रोंमें आँसू भरकर, उदास मुँह बनाकर रानीने पद्मावतीके पास जाकर कहा।

'श्रीकृष्ण! श्रीकृष्ण!!' पद्मावती धड़ामसे गिर पड़ीं और तुरंत उनके प्राणपखेरू उड़ गये।

रानी घबरा गयी। उसकी बुद्धि काम नहीं कर रही थी। वह फूट-फूटकर रोने लगी। उसे कल्पना भी नहीं थी कि ऐसा हो जायगा। सतीकी महिमा उसने सुनी थी, किंतु इस कोटिका सतीत्व वह सोच भी नहीं सकती थी।

नरेशके साथ जयदेवजी लौटे। बड़े ही दुःखसे उन्हें यह संवाद सुनाया जा सका। रानी दुखी तो थी ही, किंतु लज्जा एवं ग्लानिसे भी वह मरी जा रही थी।

भक्त जयदेवजी पत्नीके शरीरान्तसे दुखी नहीं थे। रानीकी मनःस्थितिकी कल्पना करके उन्हें दुःख हो रहा था।

रानी-माँको मेरा संदेश दे दो। संदेशवाहकसे भक्तराजने मधुर वाणीमें कहलवाया—'मेरी मृत्युके संवादसे पद्मावती चली गयी है तो मेरा जीवन सुरक्षित रहनेके समाचारसे उसे वापस भी आना होगा।'

भक्तराजने परमेश्वरसे प्रार्थना की एवं पद्मावतीके शवके संनिकट बैठकर भगवान्‌के मधुर मङ्गलमय नामका कीर्तन करने लगे। धीरे-धीरे पद्मावतीके नेत्र खुले और मुसकराती हुई उठकर उन्होंने पतिके चरणोंपर सिर रख दिया। —शि० दु०

पतिप्राणा सतियोंकी जय

आत्मसमर्पण आत्मविसर्जन कर पतिमें पति-हित निर्भय।
'पति-सुख ही है नित्य परम सुख', रखती सदा यही निश्चय॥
तन-मनसे पति-सेवन करती, सदा मनाती पतिकी जय।
वन्दनीय सौभाग्यवती उन पतिप्राणा सतियोंकी जय॥

नारीधर्मकी आदर्श—सिरिमा

श्रीलङ्कामें 'सिरिमा' बहुत आदरणीय नाम माना जाता है। यह 'श्रीमा' का सिंहली भाषामें हुआ रूपान्तर है। 'सिरिमा' नामकी इस कुमारीका जन्म श्रीलङ्काके अनुराधपुरमें हुआ था। बचपनसे ही बौद्धधर्ममें उसकी पक्की निष्ठा थी। तथागतके चरणोंमें उसकी भक्ति दूसरोंको भी प्रेरणा देती थी।

धार्मिक शिक्षाके साथ माता-पिताने अपनी सुशीला, सुन्दरी बालिकाको नृत्य, संगीत, वाद्य आदिकी भी शिक्षा दी। संगीतके साथ काव्योंका भी उसने अध्ययन किया था। सुमङ्गल नामके एक सुन्दर सम्पन्न व्यापारी युवकसे उसका विवाह हुआ।

सुमङ्गल व्यापारी था। समुद्र-पारके देशोंमें जाकर वह अपनी वस्तुएँ बेचता और विनिमयमें वहाँकी वस्तुएँ ले आता था। एक ऐसी ही लंबी यात्रापर वह गया था। इस यात्रामें उसे बहुत लाभ हुआ। उसके लौटनेका समाचार पाकर 'सिरिमा' बहुत हर्षित हुई। तिके स्वागतके लिये उसने अपने भवनको सजाया।

देशका प्रतिष्ठित व्यापारी बहुत लाभ करके लौट रहा ा। सिंहल (उस समय श्रीलङ्काका यही नाम था) से भी छोटा द्वीप है। वहाँके प्रतिष्ठित लोग समुद्रतटपर सुमङ्गलका स्वागत करने गये। उन लोगोंमें नगरकी सबसे सुन्दर गणिका भी थी। सुमङ्गलने उस गणिकाको देखा तो उसका चित्त उसपर आसक्त हो गया।

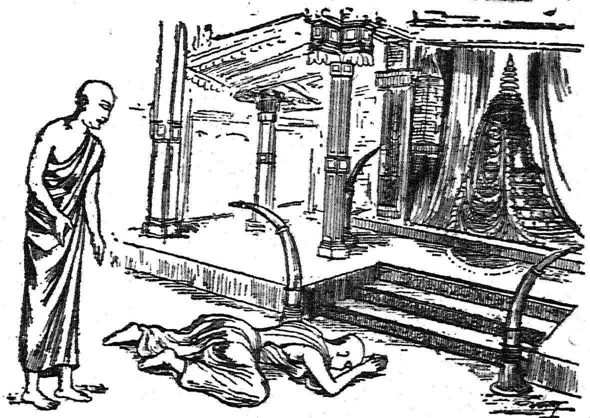
'सिरिमा'ने पतिका स्वागत किया। लेकिन उसने लक्षित कर लिया कि पतिके मुखपर उल्लास नहीं है। बंदरगाहपर ही पतिकी दृष्टि कहाँ ठहरती है, यह वह देख चुकी थी। एकान्तमें मिलनेपर उसने पूछा—'आप उस गणिकाके लिये ही उदास हैं?'

सुमङ्गल बोला—'तुम जब मेरी पीड़ा जानती हो तो पूछती क्यों हो?'

उसी समय गणिकाका संदेश लेकर दूती आयी। गणिका इतने सम्पन्न सुन्दर युवकको, भला, अपनी ओर आकर्षित होते देख तटस्थ क्यों रहती? लेकिन सिरिमाने दूतीसे कहा—'तुम क्यों आयी हो, जानती हूँ। अपनी स्वामिनीसे कहना कि इस कुलका पुरुष उनके कोठेपर जाकर अपने वंशको कलङ्कित नहीं करेगा। उन्हें यदि अपना व्यवसाय छोड़कर इस घरकी वधू बनना स्वीकार हो तो कल आ जायँ। मैं उनके लिये अपना स्थान छोड़नेको तैयार हूँ।'

गणिकाको तो जैसे वरदान मिला। उसे ऐसा सम्पन्न घर तथा पति कहाँ मिलना था। वह दूसरे ही दिन आ गयी। सिरिमाने उसे मन्दिरमें ले जाकर अपने पतिसे उसका विवाह करा दिया और स्वयं वहीं दीक्षा लेकर भिक्षुणी बन गयी। वह मठमें रहने लगी। कुछ काल बीत गया। एक दिन एक भिक्षु रक्तसे भीगा मठ लौटा। पूछनेपर पता लगा कि 'एक गृहस्थकी पत्नीने उसे चाँदीका पात्र खींचकर तब मारा, जब वह उसके यहाँ भिक्षा लेने गया।'

सुमङ्गलकी नयी पत्नी (भूतपूर्व गणिका) मन्दारमाला ही है वह, यह बात भिक्षुके द्वारा मिले विवरणसे सिरिमा समझ गयी। उसने मन्दारमालासे मिलनेका निश्चय किया। मिलकर उसने पूछा—'एक निरपराध साधुपर तुमने प्रहार क्यों किया?'



मन्दारमाला रो पड़ी—'मैं कहाँ अपने आपमें हूँ। सुमङ्गलने तुम्हें त्यागकर मुझे अपनाया और अब कल वह दूसरा विवाह करने जा रहा है।'

'प्रभु! सुमङ्गलको सद्बुद्धि दो। उसके प्रति मेरा कुछ कर्तव्य है, उसे पूरा कर दो प्रभु!' सिरिमा सीधे मन्दिर गयी। वह फूट-फूटकर रो रही थी। वह कबतक वहाँ पड़ी रही, उसे पता नहीं। लेकिन उस रात सुमङ्गलने जो स्वप्न देखा, उसका यह प्रभाव हुआ कि प्रातः उसने अपनी सब सम्पत्ति दान कर दी। वह भिक्षु बनने मन्दिर आ गया।

—सु०

धर्मके सूर्य—श्रीकृष्णकृपा-प्राप्त भीष्मपितामह

भीष्मपितामहके शरशय्यापर गिरनेके बाद एक दिन भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरसे भीष्मकी प्रशंसा करते हुए कहा—'युधिष्ठिर ! आप गङ्गानन्दन भीष्मके पास चलकर उनके चरणोंमें प्रणाम कीजिये और धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके सम्बन्धमें तथा सम्पूर्ण अन्यान्य धर्मोंसहित राजधर्मोंके सम्बन्धमें उनसे पूछिये। कौरव-वंशके धुरंधर भीष्मरूपी सूर्य जब अस्त हो जायँगे, उस समय सब प्रकारके ज्ञानोंका प्रकाश नष्ट हो जायगा; इसीलिये मैं आपको वहाँ चलनेके लिये कह रहा हूँ—'

तस्मिन्नस्तमिते भीष्मे कौरवाणां धुरंधरे।
ज्ञानान्यस्तं गमिष्यन्ति तस्मात् त्वां चोदयाम्यहम्॥

(महाभारत शान्ति० ४६। २३)

भगवान् श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिरको साथ लेकर गये। भीष्मसे धर्मोपदेशके लिये कहा। उत्तरमें भीष्मजी श्रीकृष्णका स्तवन करते हुए बोले—'हे लोकनाथ महाबाहो ! शिव, नारायण, अच्युत, श्रीकृष्ण ! आपका वचन सुनकर मैं आनन्दसमुद्रमें निमग्न हो गया हूँ पर मेरा शरीर सर्वथा शिथिल हो रहा है, बोलनेकी जरा भी शक्ति नहीं रह गयी है। फिर आपके सामने मेरा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षके सम्बन्धमें कुछ कहना वैसा ही है, जैसा देवराज इन्द्रके सामने देवलोकका वर्णन करना। आपके सामने प्रवचन करनेमें बृहस्पति भी समर्थ नहीं हैं। श्रीकृष्ण ! आप जगत्के कर्ता और सनातन पुरुष हैं। आपके रहते मेरे-जैसा कोई भी मनुष्य कैसे उपदेश कर सकता है ? क्या गुरुके सामने शिष्य उपदेश देनेका अधिकारी है ?'

कथं त्वयि स्थिते कृष्णे शाश्वते लोककर्तरि।
प्रब्रूयान्मद्विधः कश्चिद् गुरौ शिष्य इव स्थिते॥

(महाभारत शान्ति० ५२। १३)

तदनन्तर भगवान्के कृपापूर्ण वरदानसे भीष्मपितामहके शरीरकी जलन, मनका मोह, थकावट, विकलता, ग्लानि और रोग आदि सब तत्काल दूर हो गये। वे अपनेको उपदेश करनेमें भी समर्थ देखने लगे। फिर भी उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'माधव ! मैं आपकी कृपासे समर्थ हो गया हूँ, तो भी यह जानना चाहता हूँ कि आप स्वयं ही पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको उपदेश क्यों नहीं देते ? इस विषयमें आप क्या कहना चाहते हैं—यह शीघ्र बताइये।'

स्वयं किमर्थं तु भवाञ्छ्रेयो न प्राह पाण्डवम्।
किं ते विवक्षितं चात्र तदाशु वद माधव॥

(महाभारत शान्ति० ५४। २४)

भगवान् श्रीकृष्णने उत्तरमें कहा—'तुम मुझको ही यश तथा श्रेयका मूल समझो। संसारके सदसत् सब पदार्थ मुझसे ही उत्पन्न हैं। चन्द्रमा शीतल किरणोंसे सम्पन्न है—यह बात कहनेपर जगत्में किसको आश्चर्य होगा; (क्योंकि वह तो शीतल किरणयुक्त है ही) इसी प्रकार सम्पूर्ण यशसे सम्पन्न मुझ परमेश्वरके द्वारा कोई उत्तम उपदेश प्राप्त हो तो उसे सुनकर कौन आश्चर्य करेगा ? भीष्म ! मुझे जगत्में तुम्हारे महान् यशकी प्रतिष्ठा करनी है। इसीसे मैंने अपनी विशाल बुद्धि तुमको समर्पित की है। हे पृथ्वीपाल ! जबतक यह अचला पृथ्वी स्थिर रहेगी, तबतक सम्पूर्ण जगत्में तुम्हारी अक्षय कीर्ति विख्यात रहेगी। भीष्म ! तुम पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके प्रश्न करनेपर उत्तरमें जो कुछ कहोगे, वह वेदके सिद्धान्तकी भाँति भूतलपर मान्य होगा। जो मनुष्य तुम्हारे उपदेशको प्रमाण मानकर उसे अपने जीवनमें उतारेगा, वह मृत्युके बाद सब प्रकारके पुण्योंका फल प्राप्त करेगा। भीष्म ! इसीलिये मैंने तुमको दिव्य बुद्धि प्रदान की है कि जिस किसी प्रकारसे भी तुम्हारे महान् यशका इस भूतलपर विस्तार हो।'

यशसः श्रेयसश्चैव मूलं मां विद्धि कौरव।
मत्तः सर्वेऽभिनिर्वृत्ता भावाः सदसदात्मकाः॥
शीतांशुश्चन्द्र इत्युक्ते लोके को विस्मयिष्यति।
तथैव यशसा पूर्णे मयि को विस्मयिष्यति॥
आधेयं तु मया भूयो यशस्तव महाद्युते।
ततो मे विपुला बुद्धिस्त्वयि भीष्म समर्पिता॥
यावद्धि पृथिवीपाल पृथ्वीयं स्थास्यति ध्रुवा।
तावत् तवाक्षया कीर्तिर्लोकाननुचरिष्यति॥
यच्च त्वं वक्ष्यसे भीष्म पाण्डवायानुपृच्छते।
वेदप्रवाद इव ते स्थास्यते वसुधातले॥
यश्चैतेन प्रमाणेन योक्ष्यत्यात्मानमात्मना।
स फलं सर्वपुण्यानां प्रेत्य चानुभविष्यति॥
एतस्मात् कारणाद् भीष्म मतिर्दिव्या मया हि ते।
दत्ता यशो विप्रथयेत् कथं भूयस्तवेति ह॥

(महाभारत शान्ति० ५४। २५—३१)

भीष्मपितामहने आज्ञा स्वीकार की और धर्मोपदेश दिया, जो महाभारतके शान्तिपर्व और अनुशासनपर्वमें उल्लिखित है।



धर्मके सूर्य श्रीभीष्मपितामहके समीप श्रीकृष्ण-युधिष्ठिर

आदर्श मित्र-धर्मका निरूपण

(लेखक—कविभूषण 'जगदीश' साहित्यरत्न)

मानव एक सामाजिक जीव है। वह समाजसे कदापि विलग रहना पसंद नहीं करता। जीवनमें उसे थोड़े-बहुत साथियोंकी, कुछ-न-कुछ मित्रोंकी आवश्यकता अवश्य प्रतीत होती है। मनुष्य ही क्यों, पशु-पक्षी भी विना साथीके अलग नहीं रहते। पशु प्रायः टोलियोंमें रहते हैं। विहंग-गण भी झुंड बनाकर विचरते हैं एवं इतस्ततः उड़ते-फिरते हैं। वास्तवमें मित्रगणसे जीवनमें स्फूर्ति और मधुर मिठास आ जाता है। कपट और विनाशके चंगुलसे मित्र ही छुड़ाता है और सुन्दर मन्त्रणा देकर कर्तव्य-मार्गपर अग्रसर करता है। इसीलिये कहा गया है कि 'दो हृदयोंका दूध और पानीकी तरह मिलकर एक हो जाना ही सच्ची मित्रता है।' श्रीपतिरामका कथन है—

मित्रका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ होता है—दुःखोंसे बचानेवाला (प्रमीते त्रायते)। दुःखोंसे त्राण पानेके लिये तथा एकान्त जीवनमें किसीको समीप पानेके लिये मित्र बनाना परमावश्यक है। जब सच्चा मित्र मिल जाता है, तब चित्तको बड़ा आनन्द उपलब्ध होता है। यह बात निश्चय है कि सन्मित्रसे बढ़कर संसारमें कोई वस्तु नहीं है। जिनके मन धर्मानुकूल आपसमें मिले हुए हैं, वे एक दूसरेको बहुत सुख देते हैं, दुःख-सुखमें सहानुभूति प्रकट करते हैं और सद्विचारोंमें एक दूसरेके साथी और सहायक होते हैं। उनमें दिन-दुगुना तथा रात-चौगुना प्रेम बढ़ता रहता है। मैत्रीमें अगर प्रेम न हो तो वह जड मैत्री ही कहलायगी। अतएव प्रीतिके लिये कविवर रहीम कहते हैं—

'रहिमन' प्रीति सराहिए, मिले होत रँग दून।
ज्यों जरदी हरदी तजै, तजै सफेदी चून॥

मित्रके कर्तव्य बड़े महत्त्वपूर्ण होते हैं। जब हम दुःखोंमें डूबे हुए हों, हमारे लिये संसार अन्धकारसे आच्छादित हो, जिधर दृष्टि डालें, सूना-ही-सूना दिखायी देता हो, उस समय सच्चा मित्र ही हमारी तन-मन-धनसे सहायता करता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मित्रकी परीक्षा विपत्तिके समय ही होती है। गोस्वामीजीने कहा है—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपत काल परिखिअहिं चारी॥

विपत्तिमें मित्रसे ही कार्य सधता है। युद्धमें मित्र ही काम आते हैं। रघुकुल-तिलक श्रीरामचन्द्रजीने मित्र सुग्रीवकी सहायतासे महाशौर्यशाली लङ्केश्वर रावणका संहार करके पुनः सीताको प्राप्त किया। विश्वासपात्र मित्रसे हमें अनुदिन अपेक्षा रहती है कि वह हमें बुराइयोंसे पग-पगपर बचाता रहेगा। कुमार्गकी ओर जानेसे रोकेगा। हमारे गुणोंको प्रकट करेगा तथा अवगुणोंको छिपायेगा। सुमित्र-कुमित्रके लक्षण रामचरितमानसमें अभिव्यक्त हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
जिन्ह कें असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटइ अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
आगें कह मृदु बचन बनाई। पाछें अनहित मन कुटिलाई॥
जा कर चित अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहिं भलाई॥

हमारे ग्रन्थोंमें अनेकानेक सच्चे मित्रोंके दृष्टान्त भरे पड़े हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी अर्जुनके प्रति मित्रता आदर्श मानी जाती है। उनकी और सुदामाकी मित्रतासे कौन अपरिचित होगा। सहस्रों वत्सर व्यतीत होनेपर भी वह आदर्श मित्रता अद्यावधि सजीव है और उसका गुण-गान आजतक सब गाते रहते हैं। कहाँ ऐश्वर्यशाली श्रीकृष्ण और कहाँ दाने-दानेको तरसनेवाला दीन द्विज सुदामा! आकाश-पातालका अन्तर था। पर करुणा-वरुणालय श्रीहरिने अपनी महानताका अभिमान न करके किस प्रकार प्रेमसे आपत्तिग्रस्त विप्र सुदामाकी दशासे दयार्द्र होकर उसकी सहायता की! श्रीकृष्णने अपने मैत्री-भावको जिस सचाई और निष्ठाके साथ निभाया, वह सच्चे मित्र-धर्मका अप्रतिम उदाहरण है। कविवर नरोत्तमदासकी दृष्टिमें दीन-बन्धु श्रीकृष्ण सुदामाकी दीन दशापर किस प्रकार अनवरत आँसू बहाते हैं—

ऐसे बिहाल बिवाइन सों, पग कंटक जाल गड़े पुनि जोये।
हाय! महादुख पाये सखा, तुम आये इतै न कितै दिन खोये!
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करि कै करुनानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयौ नहिं, नैनन के जल सों पग धोये॥

सच्चे मित्रोंमें ही सच्चे अपनत्वका अनुभव होता है। वेदोंमें भव्य विश्वकी कल्पना एवं विश्व-मैत्रीकी भावना वर्णित है। वे कहते हैं—'**सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।**' (सारी दिशाएँ मेरी मित्र बन जायें) तथा '**मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।**' (हम एक दूसरेको मित्रताकी दृष्टिसे अवलोकें।) मित्रताको मजबूत बनानेके लिये हमें अपने अन्तःस्तलमें उत्सर्गकी भावनाको स्थान देना होगा। स्वार्थको आमूल-चूल हटाना होगा। आजके जमानेमें मित्र बनाना कोई सहज कार्य नहीं है। विश्वके विशाल वक्षः-स्थलपर आपको अनेक तरहके लोग मिलेंगे। आप उनके चक्करमें पड़कर मित्रता कर बैठेंगे। पर वे आपको स्वार्थी, लोलुपी प्रतीत होंगे; क्योंकि जबतक आपके पास पैसा होगा, वे आपकी छाया नहीं छोड़ेंगे। ऐसोंके लिये गिरिधर कविरायने क्या ही अच्छा कहा है—

साईं सब संसारमें मतलबका व्यवहार।
जब लग पैसा गाँठमें, तब लग ताको यार॥
तब लग ताको यार, यार सँग-ही-सँग डोलै।
पैसा रहा न पास यार मुखसों नहिं बोलै॥
कह गिरधर कविराय, जगत यहि लेखा भाई।
करत बेगरजी प्रीति, यार बिरला कोई साईं॥

मित्रका धर्म है कि वह कर्मक्षेत्रमें स्वयं भी श्रेष्ठ कर्म करे और अपने मित्रको भी श्रेष्ठ कर्मकी ओर प्रेरित करे। जीवन-संग्राममें स्वयं भी विजयश्री प्राप्त करे और अपने प्रेमीकी भी विजयवैजयन्ती फहराये।

यह निर्विवाद सत्य है कि मनुष्यका चरित्र उसके मित्रवर्गसे ही ज्ञात होता है। इसलिये सच्चरित्र व्यक्तियोंसे ही मित्रता करनी चाहिये।

मित्र-धर्मके विलक्षण आदर्श

(१)

भगवान् श्रीकृष्ण

अर्जुनके साथ श्रीकृष्णकी मैत्री इतनी प्रसिद्ध थी कि स्वयं दुर्योधनने पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञका वैभव वर्णन करते हुए अपने पिता धृतराष्ट्रसे कहा—

आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनंजयः॥
यद् ब्रूयादर्जुनः कृष्णं सर्वं कुर्यादसंशयम्।
कृष्णो धनंजयस्यार्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत्॥
तथैव पार्थः कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत्।

(महाभारत, सभापर्व ५२। ३१-३३)

'श्रीकृष्ण अर्जुनके आत्मा हैं और अर्जुन श्रीकृष्णके आत्मा हैं। अर्जुन श्रीकृष्णको जो कुछ भी करनेके लिये कहते हैं, श्रीकृष्ण निस्संदेहरूपसे वह सब करते हैं।' श्रीकृष्ण अर्जुनके लिये दिव्य धामका त्याग कर सकते हैं और अर्जुन भी श्रीकृष्णके लिये प्राणोंतकका त्याग कर सकते हैं।'

श्रीकृष्णका अर्जुनके प्रति सहज ही सख्य-प्रेम था। खाण्डववन-दाहके पश्चात् जब इन्द्रने स्वर्गसे आकर अर्जुनको वर माँगनेको कहा और उन्हें इन्द्रने बहुत-से शस्त्रास्त्र दिये, तब श्रीकृष्णने भी उनसे यह वर माँगा कि 'अर्जुनके साथ मेरा प्रेम निरन्तर बढ़ता रहे' और इन्द्रने बुद्धिमान् (मित्रधर्ममें प्रवीण) श्रीकृष्णको यह वर दिया।

वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम्।
ददौ सुरपतिश्चैव वरं कृष्णाय धीमते॥

(महाभारत, आदिपर्व २३३। १३)

मित्र अर्जुनके लिये किसी भी छोटे-बड़े कामसे श्रीकृष्णने कभी इन्कार नहीं किया। पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञमें, जहाँ सब बड़े-बूढ़ोंके सामने एकमात्र उन्हींको अग्रपूजाके योग्य समझा जाता है और उनकी अग्रपूजा होती है, वहीं उसी राजसूय-यज्ञमें वे समागत अतिथियोंके पैर धोनेका काम स्वयं करते हैं और अर्जुनके सम्मानके लिये अन्यान्य राजाओंकी भाँति युधिष्ठिरको चौदह हजार बढ़िया हाथी भेंट-स्वरूप देते हैं।

वासुदेवोऽपि वार्ष्णेयो मानं कुर्वन् किरीटिनः॥
अददद् गजमुख्यानां सहस्राणि चतुर्दश।

(महाभारत, सभा० ५२। ३०-३१)

संजय पाण्डवोंके यहाँसे लौटकर धृतराष्ट्रसे वहाँका समाचार सुनाते हुए अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णके विलक्षण प्रेमका वर्णन करते हैं। वे कहते हैं—"मैं उन दोनोंसे बात करनेके लिये अत्यन्त विनीत भावसे अन्तःपुरमें गया था। वहाँ जाकर मैंने देखा एक रत्नजटित महामूल्यवान् स्वर्णा-सनपर श्रीकृष्ण और अर्जुन विराजमान हैं। **श्रीकृष्णके चरण अर्जुनकी गोदमें हैं और अर्जुनके दोनों पैर देवी द्रौपदी**

और सत्यभामाकी गोदमें हैं। वहाँ श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए और अर्जुनको अपने समान बतलाते हुए कहा—

"देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व और नागोंमें मुझे कोई ऐसा वीर दिखायी नहीं देता, जो पाण्डुनन्दन अर्जुनका सामना कर सके। बल, पराक्रम, तेज, शीघ्रकारिता, हाथोंकी फुर्ती, विषादहीनता और धैर्य—ये सभी सद्गुण अर्जुनके सिवा किसी भी दूसरे पुरुषमें 'एक साथ' नहीं हैं।"

देवासुरमनुष्येषु यक्षगन्धर्वभोगिषु।
न तं पश्याम्यहं युद्धे पाण्डवं योऽभ्ययाद् रणे॥
बलं वीर्यं च तेजश्च शीघ्रता लघुहस्तता।
अविषादश्च धैर्यं च पार्थान्नान्यत्र विद्यते॥

(महाभारत, उद्योग० ५९। २६,२९)

महाभारत-युद्धमें बड़े कौशलसे दुर्योधनको सेना दे दी और स्वयं सारथि बनकर मित्र अर्जुनका रथ हाँकनेका काम किया और उन्हें विपत्तियोंसे बचाते रहे।

इन्द्रकी दी हुई शक्तिका घटोत्कचपर प्रयोग करके जब कर्णने घटोत्कचको मार दिया, तब श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न हो गये और उन्होंने सात्यकिसे जो कुछ कहा, उससे पता लगता है कि अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णका कितना आदर्श प्रेम था।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'सात्यकि! इन्द्रकी दी हुई शक्तिका केवल एक ही बार प्रयोग हो सकता था। कर्ण उस शक्तिसे केवल अर्जुनको ही मारना चाहता था। इसलिये जब-जब कर्णका सामना होता, तब-तब मैं कर्णको मोहित कर रखता, जिससे उसे शक्तिका स्मरण ही नहीं होता। पर उस शक्तिके कारण मैं कर्णको अर्जुनका काल समझता और मुझे रातों नींद नहीं आती थी एवं कभी मेरे मनमें हर्ष नहीं होता था। मैं अपने पिता-माताकी, तुमलोगोंकी, भाइयोंकी और अपने प्राणोंकी रक्षा भी उतनी आवश्यक नहीं समझता, जितना रणमें अर्जुनकी रक्षा करना आवश्यक समझता हूँ। सात्यकि! तीनों लोकोंके राज्यकी अपेक्षा भी यदि कोई वस्तु अधिक दुर्लभ हो तो मैं अर्जुनको छोड़कर उसको भी नहीं चाहता। आज मुझे इसी बातकी प्रसन्नता है कि मेरे अर्जुन मौतके मुँहसे छूट गये।'

और भी अनेकों प्रसङ्ग ऐसे हैं, जिनसे श्रीकृष्णका अर्जुनके प्रति विलक्षण प्रेम सिद्ध होता है।

(२)

मित्र-धर्मके आदर्श महारथी कर्ण

श्रीकृष्ण पाण्डवोंके शान्ति-दूत बनकर हस्तिनापुर आये थे। उन्होंने कहा था कि पाण्डव पाँच गाँव पाकर संतुष्ट हो जायँगे। लेकिन दुर्योधन तो युद्धके बिना सुईकी नोक-जितनी भूमि भी देनेको उद्यत नहीं था। श्रीकृष्णका प्रयास विफल हुआ। युद्ध निश्चित हो गया।

लौटते समय पहुँचाने आये लोगोंको विदा करके श्रीकृष्ण-ने कर्णको अपने रथपर बैठा लिया। कर्णका खाली रथ सारथि पीछे ला रहा था। श्रीकृष्ण बोले—'वसुषेण! तुम वीर, धर्मात्मा और विचारवान् हो। मैं एक गुप्त बात तुम्हें बतला रहा हूँ। तुम अधिरथ सूतके पुत्र नहीं हो। दूसरे पाण्डवोंके समान तुम भी देवपुत्र हो। भगवान् सूर्य तुम्हारे पिता और देवी कुन्ती माता हैं। तुम पाण्डव हो।'

कर्णने मस्तक झुका रक्खा था। श्रीकृष्ण कहते गये—'तुम युधिष्ठिरके बड़े भाई हो। अन्यायी दुर्योधनका साथ छोड़ दो, मेरे साथ चलो। कल ही तुम्हारा राज्याभिषेक हो। युधिष्ठिर तुम्हारे युवराज होंगे। पाण्डव तुम्हारे पीछे चलेंगे। मैं स्वयं तुम्हें अभिवादन करूँगा। तुम्हारे साथ पाण्डव छः भाई खड़े हों तो त्रिभुवनमें उनका सामना करनेका साहस किसमें है?'

अब कर्णने सिर उठाया और बड़ी गम्भीरतासे कहा—'वासुदेव! मुझे पता है कि मैं सूर्यपुत्र हूँ और देवी कुन्ती मेरी माता हैं। धर्मतः मैं पाण्डव हूँ। लेकिन दुर्योधनने उस समय मुझे अपनाया, उस समय मुझे सम्मान दिया, जब सब मेरा तिरस्कार कर रहे थे। मेरे भरोसे ही उसने युद्ध-का आयोजन किया है। मैं उसके साथ विश्वासघात नहीं करूँगा। आप मुझे उसके पक्षसे युद्ध करनेकी आज्ञा दें। होगा तो वही जो आप चाहते हैं; किंतु क्षत्रिय वीर युद्धमें वीर-गति प्राप्त करे, खाटपर पड़ा-पड़ा न मरे, यह मेरी इच्छा है।'

'जब तुम मेरा प्रस्ताव नहीं मानते तो युद्ध अनिवार्य है।' श्रीकृष्णने रथ रोक दिया।

उस रथसे उतरते समय कर्णने कहा—'वासुदेव! मेरी एक प्रार्थना है। मैं कुन्ती-पुत्र हूँ, यह बात आप गुप्त रक्खें। युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं। उन्हें पता लग गया कि मैं उनका बड़ा भाई हूँ तो वे मेरे पक्षमें राज्य-स्वत्व त्याग देंगे और मैं दुर्योधनको राजा मान लूँगा। मैं दुर्योधनका कृतज्ञ हूँ, अतः युद्ध उसके पक्षमें करूँगा; किंतु चाहता यही हूँ कि

न्यायकी विजय हो। धर्मात्मा पाण्डव अपना राज्य प्राप्त करें। आप जहाँ हैं, विजय तो वहाँ होती ही है।'

श्रीकृष्णने कर्णका अनुरोध स्वीकार किया। कर्ण अपने रथसे लौट गये।

× × ×

युद्धकी तिथि निश्चित हो गयी। श्रीकृष्ण लौट गये। देवी कुन्तीको विदुरजीसे सब समाचार मिलता ही था। उनके मनमें बड़ी व्याकुलता हुई। उन्होंने कर्णको समझानेका निश्चय किया।

कर्ण गङ्गास्नान करके संध्या कर रहे थे। देवी कुन्तीको वहाँ पहुँचकर थोड़ी प्रतीक्षा करनी पड़ी। संध्या समाप्त करके कर्णने मुख घुमाया। पाण्डवजननीको देखते ही हाथ जोड़कर बोले—'देवि! यह अधिरथका पुत्र कर्ण आपको प्रणाम करता है।'

'वत्स! मेरे सामने तुम अपनेको सूतपुत्र मत कहो। मैं यही कहने आयी हूँ कि मैं तुम्हारी माता हूँ और जगत्के साक्षी ये भगवान् आदित्य तुम्हारे पिता हैं।' बड़े संकोचसे व्यथाभरे स्वरमें कुन्ती देवीने कहा। 'मैं तुम्हारी माता तुम महादानीसे यह भिक्षा माँगने आयी हूँ कि अपने सगे भाइयोंसे युद्ध करनेका हठ छोड़ दो।'

कर्ण गम्भीर हो गये—'आप मेरी माता हैं, यह मुझे पता है। लेकिन दुर्योधन मेरा उस समयका मित्र है, जब कोई मुझे पूछनेवाला नहीं था। मैं उस मित्रको आपत्तिके समय नहीं छोड़ सकता। युद्ध तो मैं उसीके पक्षमें करूँगा।'

'मैं निराश लौटूँ!' बहुत व्यथाभरे स्वरमें पूछा गया।

अत्यन्त खिन्न स्वरमें कर्णने कहा—'मैं कर्तव्यसे विवश हूँ। इतनेपर भी वचन देता हूँ कि अर्जुनके अतिरिक्त किसी पाण्डवको सम्मुख पाकर भी मैं उसपर घातक प्रहार नहीं करूँगा। आपके पाँच पुत्र कायम रहेंगे।'

कुन्तीदेवी कर्णको आशीर्वाद देकर लौट गयीं।

× × ×

पितामह भीष्म सदा कर्णका तिरस्कार करते थे। वे उसे 'अर्धरथी' तब बता रहे थे, जब युद्धके प्रारम्भमें महारथी-अतिरथी आदि वीरोंका दुर्योधनको परिचय दे रहे थे। इस अपमानसे चिढ़कर कर्णने प्रतिज्ञा कर ली—'जबतक पितामह कौरव-सेनाके सेनापति हैं, मैं शस्त्र नहीं उठाऊँगा।'

दस दिनोंके युद्धमें कर्ण तटस्थ दर्शक रहे। दसवें दिन पितामह युद्धभूमिमें गिरे। अर्जुनके बाणोंने उन्हें शरशय्या दे दी। उस समय स्वजनवर्गके प्रायः सभी उनके समीप आये। भीड़ समाप्त होनेपर पितामहके पास एकान्तमें कर्ण आये और उन्होंने प्रणाम किया।

पितामहने स्नेहपूर्वक कर्णको समीप बुलाया और कहा—'पुत्र! मैं जानता था कि तुम अद्भुत वीर तथा श्रेष्ठ महारथी हो, किंतु तुम्हें हतोत्साह करनेके लिये मैं सदा तुम्हारा तिरस्कार करता रहा। तुम युद्धमें उत्साह न दिखलाते तो दुर्योधन युद्धका हठ छोड़ देता। वह तुम्हारे बलपर ही कूदता है। तुम मेरी बातोंका बुरा मत मानना।'

इसके पश्चात् भीष्मपितामहने भी कर्णको बतलाया कि वह सूत अधिरथका पुत्र नहीं है। वह कुन्तीपुत्र है। वे बोले—'सूर्यनन्दन! तुम पाण्डवोंमें बड़े हो। दुरात्मा दुर्योधनका साथ छोड़कर तुम्हें अपने धर्मात्मा भाइयोंका पालन करना चाहिये।'

कर्णने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—'पितामह! जिस कर्तव्यसे विवश होकर आपको दुर्योधनकी ओरसे युद्ध करना पड़ा, वही कर्तव्य मुझे भी विवश कर रहा है। दुर्योधन मेरा मित्र है। उसने मेरे साथ सदा सम्मानका व्यवहार किया है। आज वह युद्धमें उलझा है। अपनेपर उपकार करनेवाले मित्रका साथ मैं ऐसे समय किसी भी कारणसे कैसे छोड़ सकता हूँ। आप तो मुझे यह आशीर्वाद दें कि कौरव-पक्षमें युद्ध करते हुए मैं वीरगति प्राप्त करूँ।'

पितामहने आशीर्वाद दिया—'तुम्हारी कामना पूर्ण हो!'

—सु०

(३)

राजधर्माका विलक्षण मित्र-धर्म

[घोर कृतघ्नपर अहैतुकी प्रीति]

गौतम अति कृतघ्न पापी था, द्विजशरीरमें असुर कठोर।
शरणद, धनद राजधर्माकी जिसने की हत्या अति घोर॥
विरूपाक्ष थे मित्र राजधर्माके राक्षस-अधिपति एक।
पकड़ मँगाया गौतमको रख मित्र-धर्मकी सच्ची टेक॥
किया भयंकर पाप दुष्टने कर विश्वास सरलका भङ्ग।
कटवाये शस्त्रोंसे उस पापी गौतमके सारे अङ्ग॥
नरभक्षी असुरोंने, दस्युगणोंने भी न किया स्वीकार।
महापातकी उस कृतघ्नके मांस-ग्रहणको किसी प्रकार॥

आदर्श मित्र

श्रीकृष्ण-कर्ण

कुन्ती-कर्ण



विरूपाक्षने किया मित्रका दाह, रचे सब शास्त्रविधान।
जली चितापर सुरभि-सुमुखसे झरे फेन-कण सुधा-समान ॥
जीवित हुए राजधर्मा, उड़ गये तुरंत मित्रके पास।
विरूपाक्षने हृदय लगाया, भर मनमें अतिशय उल्लास ॥
सुनते ही, दोनों मित्रोंसे मिलनेको आये सुरराज।
इन्द्र, पक्षिपति, राक्षसेश—तीनों सुखपूर्वक रहे विराज ॥
सुरपतिसे बोले विहंगपति, कर प्रणाम, "हे सुर-सम्राट !
गौतमको जीवित कर मेरे मनका दूर करें विभ्राट ॥
गौतम मेरा मित्र, उसे मैं कभी नहीं सकता 'पर' मान।
सुधावृष्टि कर देव ! धर्ममय उसे दीजिये जीवन-दान" ॥
विरूपाक्ष-सुरपतिने होकर चकित कहा—"हे पक्षी मित्र !
ऐसे नीच कृतघ्न जन्तुको मित्र मानना बड़ा विचित्र ॥
छोड़ो इस अद्भुत आग्रहको, मानो मित्र ! हमारी बात।
पचने दो उस महापातकीको, नरकोंमें ही दिन-रात ॥
मानी नहीं बात धर्मात्मा बकने, उनका आग्रह मान।
सुधा-वृष्टिसे उसे जिलाया, हर्षित हुए इन्द्र धीमान ॥
गौतम जीकर आत्मग्लानिसे हुआ शुद्ध, कर पश्चात्ताप।
हुआ धर्मजीवन फिर उसका सत्य मित्रके पुण्य-प्रताप ॥

गौतम नामक एक ब्राह्मण व्याधोंकी संगतिमें रहकर हिंसक सर्वभक्षी व्याध-सा बन गया था। उसे दैवयोगसे एक बार 'राजधर्मा' नामक बगुलोंके धर्मात्मा राजासे मिलनेका सौभाग्य प्राप्त हो गया। उसने ब्राह्मणको आश्रय दिया और दुखी समझकर स्वयं राजधर्माने उसका मित्र बनकर कहा कि 'तुम मेरे मित्र हो; बताओ, मैं तुम्हारा क्या काम करूँ ?' गौतमने कहा—'मैं धनके लिये आया हूँ। मुझे धन मिले, ऐसा कोई उपाय बतलाइये।' राजधर्माने उसको अपने एक बड़े धनी मित्र राक्षसराज विरूपाक्षके पास धन देनेके लिये पत्र लिखकर भेज दिया।

गौतम विरूपाक्षके पास पहुँचा। विरूपाक्ष बड़ा बुद्धिमान् था। उसने गौतमको अच्छा आदमी तो नहीं समझा, पर राजधर्मा मित्रका आग्रह समझकर उसे पर्याप्त धन देकर लौटा दिया। इन दोनोंके तीसरे मित्र थे देवराज इन्द्र। तीनों मित्र प्रायः प्रतिदिन ही मिलते थे।

गौतम लौटकर राजधर्माके पास आया। राजधर्माने उसे परम मित्र मानकर अपने पास आदरपूर्वक रक्खा। उसको अपरिमित स्नेह-दान दिया। परंतु गौतम अत्यन्त कुटिल, राक्षसी स्वभावका दुष्ट मनुष्य था। उसने सोचा—रास्तेमें खानेको कुछ है नहीं; चलो, राजधर्माको ही मारकर ले चलें। वह नृशंस कृतघ्न सोते राजधर्माको मारकर उसके मृतशरीरको लेकर चलता बना।

इधर जब दो-तीन दिनोंसे राजधर्मा नहीं आये, तब विरूपाक्षको संदेह हुआ कि वह ब्राह्मण बड़ा क्रूर दीखता था, कहीं उसीने मेरे मित्रको न मार दिया हो। विरूपाक्षने अपने पुत्रको पता लगाने भेजा। उसने स्वच्छन्द जाते हुए गौतमको पकड़ा। राजधर्माका लहूलुहान शरीर मिल गया। गौतमको पकड़कर विरूपाक्षके पास लाया गया। विरूपाक्षने राक्षसमना दुष्ट गौतमके शरीरको बोटी-बोटी करके कटवा दिया। उस कृतघ्नका मांस नरभक्षी लोगोंने भी लेना स्वीकार नहीं किया !

तदनन्तर विरूपाक्षने विधि-विधानके साथ मित्र राजधर्माका दाह-संस्कार किया। इसी बीच स्वर्ग-सुरभिने मुखके फेनके रूपमें मित्रवत्सल राजधर्माकी चितापर सुधा-वर्षा की। राजधर्मा जीवित हो गये। विरूपाक्षकी प्रसन्नताका पार नहीं। उन्होंने मित्रको गले लगा लिया। तदनन्तर इन्द्र सब बात सुनकर वहाँ आ गये। तीनों मित्र प्रफुल्लित हृदयसे मिले। राजधर्मा बड़े उदास थे। प्रसन्नताके स्थानपर उनके मुखपर विषाद देखकर देवराज इन्द्र और विरूपाक्षने इसका कारण पूछा। राजधर्माने कहा कि 'गौतम चाहे जैसा रहा हो, वह मेरा बड़ा प्रिय मित्र था। उसकी मृत्युसे मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। आपलोग मुझे सुखी करना चाहते हैं तो देवराज इन्द्र अमृत-वर्षा करके उसे जिला दें।' देवराज इन्द्र तथा राक्षसराज विरूपाक्षने राजधर्माको समझाकर कहा कि 'इस प्रकारके कृतघ्नका तो विनाश ही समुचित है। वरं उसे अब दीर्घकालतक मित्र-द्रोह तथा कृतघ्नताके पापका फल भोगनेके लिये नरकमें रहना चाहिये।' राजधर्माने बड़े विनयके साथ कहा—'देवराज ! आप उसके जीवनको धर्मयुक्त बनाकर उसे जीवन-दान दीजिये। मैं उसके पापके प्रायश्चित्त-रूपमें पुण्य-दान करता हूँ।' इन्द्रने केवल मित्रकी बात मानकर उसे जिला ही नहीं दिया, अपितु धर्मसम्पन्न जीवनके लिये आशीर्वाद भी दिया। इन्द्र तथा विरूपाक्षपर राजधर्माके इस आदर्श मैत्री-धर्मका बड़ा प्रभाव पड़ा।

गौतम जीवित हो गया। अब तो उसे केवल शरीरसे ही नहीं, मनसे भी श्रेष्ठ जीवन प्राप्त हो गया। राजधर्माने चरणोंमें पड़ते हुए गौतमको उठाकर हृदयसे लगा लिया।

'मित्र-धर्मकी जय !'

(४)
मैत्री-धर्मका आदर्श हंसश्रेष्ठ सुमुख

हिष्मक राष्ट्रमें एक उत्तम सरोवर था। उसमें अनेक जलपक्षी विहार करते थे। हंसोंने उड़ते समय कमलोंसे भरे उस सरोवरको देखा। अपने राजाके पास जाकर उन्होंने सरोवरकी प्रशंसा की और आग्रहपूर्वक उसे वहाँ ले आये। वहाँ सरोवरके पास एक व्याधने अपना जाल फैला रक्खा था। हंसोंका राजा वहाँ उतरा तो जालमें फँस गया। दूसरे हंस सरोवरपर जलमें उतरे थे।

धैर्यशाली हंसराज जालमें पड़कर भी शान्त रहा। वह नहीं चाहता था कि उसके चिल्लानेसे घबराकर दूसरे हंस भूखे ही भाग जायँ। संध्याके समय जब लौटनेकी बारी आयी, तब उसने अपनी स्थिति बतलायी। वहाँ विपत्ति है, यह जानकर सब हंस वहाँसे उड़ गये; किंतु सुमुख नामक हंसराजका मन्त्री वहीं रह गया।

हंसराजने कहा—'यहाँ रहकर तुम भी प्राण दो, इससे कोई लाभ नहीं। अतः तुम्हें चले जाना चाहिये।'

सुमुख बोला—'मैं यहाँसे भाग भी जाऊँ तो अमर तो रहूँगा नहीं। आपके साथ मैं सुखमें रहा, दुःखमें आपका साथ छोड़कर जाना मेरा धर्म नहीं है।'

सबेरे व्याध आया। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि एक स्वतन्त्र हंस भी जालके पास बैठा है और उसे देखकर उड़ता नहीं। उसने पूछा—'तुम क्यों बैठे हो? तुम्हें चोट लगी है क्या?'

सुमुख बोला—'व्याध! मुझे चोट नहीं लगी है। मैं यहाँ अपने राजाके पास बैठा हूँ। तुम इनको छोड़ दो और बदलेमें मुझे पकड़ लो। मुझे तुम बेच दो या तुम्हारी इच्छा हो तो मारकर खा लो।'

व्याधका हृदय द्रवित हो गया। उसने दोनों हंसोंको छोड़ दिया। बोला—'तुम्हारे-जैसा मित्र जिसे मिला है, उसे मारनेका पाप मैं नहीं करूँगा।' —सु०

(५)
मैत्री-धर्मके आदर्श डेमन और पीथियस

सिसलीके सिराक्यूज नगरके राजा डियोनिसियसने एक सामान्य अपराधमें डेमन नामक युवकको प्राणदण्डकी आज्ञा दी। डेमनने प्रार्थना की—'एक वर्षका अवकाश मुझे दें। ग्रीस जाकर अपने परिवार तथा सम्पत्तिका प्रबन्ध कर आऊँ।'

राजाने कहा—'कोई तुम्हारी जमानत ले, तुम्हारे न लौटनेपर फाँसीपर चढ़नेको उद्यत हो, तो तुम्हें छोड़ा जा सकता है।'

'मैं जमानत लेता हूँ।' डेमनका मित्र पीथियस आगे आया। उसे नजरबंद किया गया। डेमन स्वदेश चला गया। दिन बीतते गये, वर्ष पूरा होनेको आया; किंतु डेमन नहीं लौटा। लोग कहते थे—'डेमन अब क्यों प्राण देने आयेगा? पीथियस मूर्ख है।'

पीथियसको विश्वास था कि डेमन अवश्य लौटेगा। वह सोचता था कि—'कहीं समुद्रमें तूफान आ जाय, डेमनका जहाज मार्गमें भटक जाय और डेमन समयपर न आये तो अच्छा। उसके प्राण बच जायँ और मेरे चले जायँ तो क्या ही उत्तम हो।'

डेमन समयपर नहीं पहुँच सका। वह चला तो समयपर था, किंतु उसका जहाज समुद्री तूफानमें फँस गया था। किनारे पहुँचा तो जो भी सवारी मिली, उससे दौड़ा। कई दिनोंका भूखा, दौड़नेसे पैरोंमें छाले पड़े, बिखरे केश डेमन भागता पहुँचा तो उसके मित्र पीथियसको प्राणदण्डकी आज्ञा हो चुकी थी, वह वध-स्थलपर पहुँच चुका था; किंतु दूरसे पुकारकर डेमनने अपने आनेकी सूचना देकर वधिकोंको रोक लिया।

राजाको इन दोनों मित्रोंकी मैत्रीका समाचार मिला तो इनकी मैत्रीसे प्रभावित होकर उसने डेमनको क्षमा कर दिया और स्वयं दोनोंका मित्र बन गया। —सु०

(६)
मैत्री-धर्मके आदर्श—रोजर और एण्टोनिओ

एक समय था जब यूरोप तथा मध्य एशियाके बर्बर लोग दूसरे दूरस्थ देशोंकी बस्तियोंपर आक्रमण करके उन्हें बंदी बना लेते थे और खुले बाजारोंमें पशुओंकी भाँति बेच देते थे। रोजर तथा एण्टोनिओ इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानोंसे बंदी बनाकर बेचे गये थे। वे एक स्वामीके द्वारा खरीदे गये गुलाम थे। साथ रहनेके कारण उनमें मित्रता हो गयी।

दोनोंको समुद्रके किनारे पर्वतपर मार्ग बनानेके काममें लगाया गया था। एण्टोनिओ समुद्र देखता तो लंबी श्वास छोड़ता। इस सागरके पार उसका देश, घर, स्त्री और पुत्र थे। उनका स्मरण करके उसका चित्त व्याकुल हो जाया करता था। एक दिन समुद्रमें एक जहाज दीख पड़ा। एण्टोनिओको इस गुलामीके पशु-जीवनसे उद्धारकी आशा दीखी। यदि वह तैरकर जहाजतक पहुँच जाय तो दासत्वसे छुटकारा हो।

रोजर तैरना नहीं जानता था। अपने मित्रको दासताकी यन्त्रणामें छोड़कर एण्टोनिओको अकेले निकल जाना स्वीकार नहीं था। रोजरने बहुत कहा कि वह अकेला चला जाय; किंतु एण्टोनिओने रोजरको बलपूर्वक पर्वतसे समुद्रमें गिरा दिया और स्वयं भी कूद पड़ा। उसने रोजरको डूबनेसे बचाया और उसे अपनी कमर पकड़ाकर तैरने लगा।

गुलामोंकी देखरेख करनेवालोंने इन दोनोंको समुद्रमें कूदते देख लिया था। उन लोगोंने एक नौका ली और इनका पीछा किया। यह देखकर रोजरने कहा—'मित्र! हम दोनों पकड़े जायँ, इससे अच्छा है कि तुम मुझे छोड़कर अकेले तैरकर जहाजपर चढ़ जाओ। नावके लोग मुझे पकड़ेंगे, डूबनेसे बचायेंगे, तबतक तुम निकल जाओगे। मुझे लेकर चलोगे तो इस मन्द गतिके कारण वे हम दोनोंको पकड़ लेंगे।'

रोजरने यह कहकर एण्टोनिओकी कमर छोड़ दी। तैरना न आनेके कारण वह जलमें डूब गया। एण्टोनिओने मित्रको डूबा देखा तो उसने भी डुबकी लगायी। पीछा करनेवाली नौका दोनोंको जलपर न देखकर रुक गयी।

जिस जहाजको देखकर ये लोग जलमें कूदे थे, उसका कप्तान प्रारम्भसे ही इन दोनोंको देख रहा था। जहाज लंगर डाले खड़ा था। दोनोंको डूबते देखकर उसने एक छोटी नौकापर कुछ खलासी इनकी सहायताको भेजे। वह नौका इनको ढूँढ़कर निराश होकर लौटनेवाली ही थी कि एण्टोनिओ जलसे ऊपर आया। उसने एक हाथसे रोजरको पकड़ रक्खा था और वह जहाजकी ओर तैर रहा था। नौका-वालोंने दोनोंको ऊपर उठा लिया। वे जहाजपर पहुँचाये गये।

नौकापर पहुँचते ही एण्टोनिओ मूर्छित हो गया। उसे बहुत श्रम करना पड़ा था। रोजर पहलेसे मूर्छित था; किंतु वमन हुआ, पेटसे समुद्रका पानी निकला तो वह होशमें आ गया। अपने अचेतन मित्रके शरीरका आलिङ्गन करके वह फूट-फूटकर रोने लगा—'तुमने मुझे बचानेके लिये प्राण दे दिये। मैं तुम्हारे बिना जीकर क्या करूँगा।'

एण्टोनिओमें जीवनके चिह्न नहीं दीखते थे। रोजर मित्रके शोकमें लगभग पागल हो गया था। उसे पकड़ न लिया जाता तो वह समुद्रमें कूद पड़ता। वह बार-बार समुद्रमें कूदनेकी चेष्टा कर रहा था। इतनेमें एण्टोनिओने दीर्घ श्वास लिया। रोजर आनन्दसे नाचने लगा।

उस जहाजने दोनोंको ले जाकर माल्टा उतारा। वहाँसे वे अपने-अपने घर गये। —सु०

पुत्रधर्म और उसके आदर्श

(लेखक—आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

'पुत्र' शब्द कितना प्रिय और मधुर है, इसे एक पिता ही अनुभव करता होगा। बिना पुत्रवाला मनुष्य 'पुत्ररत्न'-की प्राप्तिके लिये कितना लालायित हो जाता है, इसे एक पुत्रहीन ही अनुभव करता है। हमारे भारतकी संस्कृति और सभ्यतामें 'पुत्र'को 'नरकसे बचानेवाला' माना गया है। पुत्रका वास्तविक महत्त्व इसीलिये है कि 'पुत्र' माता-पिताके ऋणसे उद्धार पानेके लिये अपने कर्तव्यको पूरा करेगा और श्राद्धद्वारा पितरोंको तृप्त करेगा। हवनादिक कर्म करके देवोंको संतुष्ट करेगा और वेद-पाठसे ऋषियोंको प्रसन्न करेगा। 'पुत्र'के ऊपर मातृ-ऋण, पितृ-ऋण और गुरु-ऋण तथा ऋषि-ऋण भी रहता है। इन्हीं ऋणोंसे उद्धार पानेके लिये पुत्रको कर्मयोगी बनना पड़ता है और इसीलिये 'पुत्र'-रत्न महान् रत्नोंमें सर्वश्रेष्ठ रत्न है। पुत्रके शरीरका स्पर्श चन्दनसे भी शीतल है। पुत्र स्नेहका केन्द्र है—लाड़-प्यारका मुख्य स्थान है। भारतीय आचार्योंने 'पुत्र'की बहुत सुन्दर व्याख्याएँ उपस्थित की हैं। महर्षि वशिष्ठजीने 'पुत्र'की पवित्र व्याख्या करते हुए लिखा है—'जिस पुत्रका मन सर्वदा पुण्यमें लगा हो, जो सर्वदा सत्यके पालनमें तत्पर हो, जो बुद्धिमान्, ज्ञानी, तपोनिष्ठ, श्रेष्ठ वक्ता, कुशल, धीर, वेदाभ्यासी, सम्पूर्ण शास्त्रोंका ज्ञाता, देव-ब्राह्मणोंका उपासक, अनुष्ठानकर्ता, ध्यानी, त्यागी, प्रियवादी, भगवान्का भक्त, शान्त, जितेन्द्रिय, जापक, पितृभक्त, स्वजनप्रेमी, कुलभूषण और विद्वान् हो तो ऐसा 'पुत्र' ही यथार्थ पुत्र-सुखको देनेवाला होता है। अन्य भाँतिके पुत्र तो सम्बन्ध जोड़कर केवल शोक-संतापदायक होते हैं। (पद्मपुराण, भूमिखण्ड १७। २०—२५)

विद्वान् एक ही पुत्र भी श्रेष्ठ है, बहुतसे गुणहीन पुत्रोंसे क्या लाभ? सुपुत्र एक ही सारे वंशको तार देता है, दूसरे तो संतापकारक ही होते हैं।

एकपुत्रो वरं विद्वान् बहुभिर्निर्गुणैस्तु किम्।
एकस्तारयते वंशमन्ये संतापकारकाः॥
(पद्मपु० भू० ११ । ३९)

एक ही पुत्र यदि गुणवान् हो तो अन्य सैकड़ों पुत्रोंसे कोई लाभ नहीं; क्योंकि एक चन्द्रमा आकाशके अन्धकारको दूर कर देता है और असंख्य तारे कुछ भी प्रकाश नहीं देते। एक ही पुत्र उत्पन्न करके सिंहिनी विना भयके घनघोर जंगलमें सोती है, किंतु गर्दभी दस पुत्रोंको भी जन्म देकर केवल बोझा ढोती है। एक कविने लिखा है—'उस गौसे क्या लाभ जो न तो दूध दे रही हो और न तो गर्भिणी हो। और उस पुत्रसे क्या लाभ जो न तो धार्मिक ही हुआ और न विद्वान् ही।'

हमारी भारतीय संस्कृतिमें मानवमें 'धर्म'की भावनाको प्रधान गुण माना गया है। आज नये संसारके कुप्रभावमें युवक-समाज बहता जा रहा है और अपने धर्म तथा संस्कृति और समाजसे दूर भागता जा रहा है। ऐसे लोगोंसे धर्मकी धुरी वहन नहीं की जा सकती। जब धर्म नहीं तो कुछ नहीं। एक कविने कहा है—'जिसने पुण्य किया, जिसने तीर्थाटन किया, जिस मानवने कठिन तपस्या की है, उसीका पुत्र धार्मिक होगा, विद्वान् होगा, धनवान् होगा और वंशमें रहेगा।' यहाँपर 'पुत्रकी प्राप्ति'के लिये पिताके कर्मोंका बल भी उत्तरदायी बतलाया गया। यह तो सत्य है कि पिताके कर्मोंका फल 'पुत्र' है। इस तथ्यको माननेपर भी यह मानना पड़ेगा कि 'पुत्र-धर्म' एक पृथक् तथ्य है और 'पिता-धर्म' एक पवित्र सत्य है। 'एक सुन्दर और सुगन्धित वृक्ष अपने पुष्पोंकी मीठी और मधुर सुगन्धसे वन्यप्रदेशको सुगन्धित कर देता है, उसी प्रकार एक पुत्र प्रह्लाद और ध्रुवकी भाँति वंशको प्रकाशित कर देता है।' पिताके पापकर्मोंका फल पुत्रपर ऐसे स्थलोंपर नहीं प्रभाव दिखाता। एक ही पुत्र अपनी प्रज्ञा, अपने प्रभाव, बल तथा धनसे अपने वंशकी गाड़ी खींचता है और उसी पुत्रसे उसकी माता 'जननी' कहानेकी 'अधिकारिणी' होती है। ऐसे पुत्रोंमें महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरू आदि थे।

आजके युगमें सुपुत्रोंका अभाव है, कुपुत्रोंकी बहुलता है। फलस्वरूप उनकी उद्दण्डता, उच्छृङ्खलता, अनुशासनहीनता, चोरी, स्वार्थपरता और अशिष्टतासे माता-पिता, गुरु, अध्यापक—सभी परीशान हैं। ये दुर्गुण बालकोंमें घरसे ही प्रारम्भ हो रहे हैं और विद्यालयमें उनका विस्तार हो जाता है। इस कुप्रभावसे राष्ट्र भी प्रभावित है। एक लेखकने लिखा है—'एक सूखे वृक्षमें आग लगनेपर वह आग दावाग्नि बनकर वनको समाप्त कर देती है जैसे एक कुपुत्र सम्पूर्ण वंशको नष्ट कर देता है।'

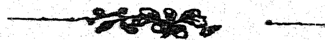
एकेन शुष्कवृक्षेण दह्यमानेन वह्निना।
दह्यते तद्वनं सर्वं कुपुत्रेण कुलं यथा॥

पुत्रका 'धर्म'-पालन पुत्रको सत्पथपर चलानेमें सहायक ही नहीं, अपितु राष्ट्रके लिये भी कल्याणकारक माना गया है। यहाँ यह स्मरण रखनेकी बात है कि 'पुत्र-धर्म'को निभाना कठिन है और सरल भी। भगवान् राम, भीष्म तथा ययातिने जिस पुत्र-धर्मको निभाया, उसे आजके पुत्र तो नहीं निभा सकते; किंतु कोई पिता भी अपने सुपुत्रको वनमें भेजनेका प्रस्ताव नहीं करेगा और न कोई पिता अपने पुत्रके मार्गमें काँटा बनना चाहेगा, कोई पिता अपने पुत्रसे आयुकी याचना भी नहीं करेगा। हाँ, कुछ कुपिता भी होते हैं। उस युगमें हिरण्यकशिपु-जैसे पिता थे। आज भी हो सकते हैं। यहाँपर प्रश्न केवल 'पुत्र-धर्म-पालन'का ही है। यदि पुत्र अपने कर्तव्यका पालन नहीं कर सकता तो उसका जन्म व्यर्थ है।

तुलसीदासजी कहते हैं—

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बियानी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥

'जगत्‌में वही युवती पुत्रवती है, जिसका पुत्र भगवान्‌का भक्त होता है। नहीं तो, जो रामविमुख पुत्र उत्पन्न करके उससे अपना हित समझती है, उसका तो बाँझ ही रहना भला था। वह तो व्यर्थ ही ब्यायी (पशु उत्पन्न किया)।



पुत्र-धर्मके आदर्श

(१)

विष्णुशर्मा

'बेटा ! समस्त रोगों तथा जरा-मृत्युका नाशक अमृत चाहिये मुझे । उसे पीकर मैं अपने देहको अजर-अमर बना लेना चाहता हूँ ।' शिवशर्माने अपने पुत्रसे कहा ।

'जो आज्ञा !' पिता साक्षात् नारायण हैं—यह जिसका दृढ़ निश्चय है, वह पिताकी आज्ञाके विषयमें विचार क्यों करने लगा और स्वधर्मनिष्ठ, तपस्वी ब्राह्मणकुमारके लिये त्रिलोकीमें ऐसा क्या है, जो वह साध्य न बना सके । पिताकी आज्ञा स्वीकार करके विष्णुशर्मा स्वर्गको चल पड़े ।

तपोबलसे सशरीर आते उन विप्रकुमारको देवराजने देखा । उन्होंने अप्सराओंमें श्रेष्ठ मेनकाको भेजा कि वह इस ब्राह्मण युवकको अपनी ओर आकृष्ट करे । सम्पूर्ण श्रृङ्गारसे सजी-धजी मेनका नन्दन-वनमें मार्गके समीप झूलेपर बैठकर मधुरस्वरसे गाती हुई झूला झूलने लगी । उसका संगीत अपने माधुर्य तथा भावमें आह्वान ही था ।

'मनोहारी युवक ! इतनी त्वरामें कहाँ जा रहे हो ? स्वर्ग पहुँचनेकी इतनी शीघ्रता क्यों है तुम्हें ? स्वर्गका सौन्दर्य तो यहाँ तुम्हारे स्वागतको बैठा है । मैं मन्मथके शराघातसे व्याकुल तुम्हारी शरण आयी हूँ । मुझे स्वीकार करके मेरी प्राण-रक्षा करो ।' जब पाससे जाते हुए विष्णुशर्माने मेनकाकी ओर आँख उठाकर देखा भी नहीं, तब वह अप्सरा झूलेसे कूद पड़ी और स्वयं बोली। उसकी वाणीके साथ उसके अङ्ग-अङ्गकी चेष्टा उन्मादक थी ।

'सुन्दरी ! तुम्हारे मनकी बात मुझसे अज्ञात नहीं है ।' विष्णुशर्माने हँसकर मेनकाको हतप्रभ करते हुए कहा । 'तुमने महर्षि विश्वामित्रके तपका नाश किया था, किंतु अपने पिताकी भक्तिके प्रतापसे मैं तुम्हारे वशमें नहीं आनेका । तुम और किसीको ढूँढ़ो ! मैं पिताजीके कार्यसे जा रहा हूँ । उसमें बाधा बनोगी तो जानती ही हो कि ब्राह्मणका क्रोध कितना दारुण होता है ।'

बेचारी मेनका—उसमें कहाँ शक्ति थी कि इस चुनौतीके बाद ठहरनेका साहस करे । उसका सौन्दर्य तो केवल प्रमत्तको आकृष्ट कर सकता था । विष्णुशर्मा इन्द्रके समीप पहुँचे और उन्होंने माँगा—'मेरे पिताजी अमृत पीना चाहते हैं । अमृत-कलश मुझे देनेकी कृपा कीजिये ।'

इस प्रकार दे देनेके लिये तो देवताओंने असुरोंसे मेल करके इतने कष्टसे समुद्र-मन्थन करके अमृत नहीं निकाला था । अतः देवराज इन्द्र नाना प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित करने लगे । किंतु शक्तिशाली पुरुषोंका स्वभाव होता है बाधा देखकर उद्दीप्त होना । बाधा पाकर निराश तो कापुरुष होते हैं । विष्णुशर्माने सोचा—'यह इन्द्र मेरी आज्ञा नहीं मानता ! ब्राह्मणकी आज्ञा जब जगन्नियन्ता श्रीहरि नहीं टालते, तब यह मेरी अवमानना करता है ! मैं इसे अभी स्वर्गसे नीचे फेंक दूँगा । मेरे तपका क्षुद्रांश पाकर कोई जीव इन्द्रत्वको सँभाल ही लेगा यहाँ ।'

देवता संकल्पद्रष्टा हैं । विष्णुशर्माके संकल्पने इन्द्रको भयभीत कर दिया । वे अमृतकलश लेकर तत्काल उपस्थित हो गये । उनसे अमृत लेकर विप्रकुमार पृथ्वीपर लौटे ।



देह नश्वर है। तपस्वी, वीतराग ब्राह्मणको देहासक्ति नहीं हो सकती थी। शिवशर्माको अमृत पीना नहीं था। उनको तो पुत्रकी परीक्षा लेनी थी। अमृत लेकर आये पुत्रको उन्होंने भगवद्धाम प्राप्त करनेका आशीर्वाद दिया।

—सु०

(२)

पितृभक्त सोमशर्मा

शिवशर्माके सभी पुत्र पिताके परम भक्त थे। उनके चार पुत्र तो पितृभक्तिके प्रतापसे भगवद्धाम जा चुके थे। सबसे छोटे पुत्र सोमशर्माको उन्होंने अमृतघट देकर उसे सुरक्षित रखनेको कहा और स्वयं पत्नीके साथ तीर्थयात्राको निकल गये। दस वर्षके पश्चात् जब लौटे तो तपोबलसे पत्नीके साथ कुष्ठ-रोगीका रूप धारण कर रक्खा था। सर्वाङ्ग गल रहा था। उन घावोंसे पीब जा रहा था।

सोमशर्माने माता-पिताको देखा तो वे उनके चरणोंमें गिर पड़े। माता-पिताके दुःखसे वे बहुत दुखी हुए। दोनोंके घाव धोये, उनपर पट्टी बाँधी और उन्हें कोमल बिछौनेपर सुलाया। बड़े परिश्रमसे वे माता-पिताकी सेवामें लग गये। दोनोंके घाव नित्य धोते, पट्टी बाँधते। उनके कफ, मल-मूत्र स्वच्छ करते। स्नान कराते, भोजन कराते अपने हाथसे उनके मुखमें ग्रास देकर; क्योंकि वे दोनों हाथमें घाव होनेसे स्वयं तो भोजन कर नहीं सकते थे।

माता-पिताकी इच्छा होनेपर अपने कंधोंपर उठाकर उन्हें आसपासके तीर्थ-मन्दिरोंमें ले जाते। अपना नित्यकर्म, स्नान, तर्पण, देवपूजन भी नियमपूर्वक करना था। माता-पिताके लिये भोजन भी बनाना था। किंतु सोमशर्माके किसी मार्गमें, किसी सेवामें कोई त्रुटि नहीं होती थी। उनमें आलस्य कभी आया नहीं।

रोगने शिवशर्माको चिड़चिड़ा कर दिया था। जैसे रोग उनकी इच्छासे आया था, जान-बूझकर वे चिड़चिड़े भी बन गये थे। अपनी सेवामें रात-दिन कठोर श्रम करते हुए लगे पुत्र सोमशर्माको वे प्रायः झिड़कते रहते थे। बड़े कठोर वचन कहते थे। उनका तिरस्कार करते थे। डंडा अथवा जो कुछ हाथ लग जाय, उसीसे सोमशर्माको मार बैठते थे।

नम्रताकी मूर्ति पितृभक्त सोमशर्माने पिताके डाँटने, मारने, तिरस्कार करनेका कभी बुरा नहीं माना। पिताका उत्तर तो वे क्या देते, मनमें भी रुष्ट अथवा खिन्न नहीं हुए। पिता-माताकी सेवामें तनिक भी शिथिलता उन्होंने आने नहीं दी।

'अरे वह अमृत तो ले आ!' दीर्घकालतक पुत्रकी परीक्षा लेनेके पश्चात् शिवशर्मा संतुष्ट हो गये थे; किंतु पुत्रकी तपःशक्ति तथा आस्था उन्हें और देखनी थी। अपनी शक्तिसे उन्होंने अमृतको अदृश्य कर दिया था।

सोमशर्माको अमृतका स्मरण न हो, ऐसी बात नहीं थी। वे जानते थे कि अमृत सर्वरोगहारी है। लेकिन पिताने ही उसे सुरक्षित रखनेको दिया था। माता-पिता उस दैवी पदार्थका उपयोग उचित नहीं मानते तो उनसे अधिक योग्यता दिखलाकर अमृतकी चर्चा करना उन्हें अशिष्टता लगा था। इसलिये वे चुपचाप सेवामें संलग्न थे। पिताने माँगा तो अमृतघट उन्होंने उठाया; किंतु वह तो खाली पड़ा था।

'यदि मुझमें सत्य तथा गुरु-शुश्रूषारूप धर्म है, यदि मैंने निश्छलभावसे तप किया है, यदि मन तथा इन्द्रियोंके संयमसे मैं कभी विचलित नहीं हुआ होऊँ, तो यह घट अमृतसे पूर्ण हो जाय।' सोमशर्माने संकल्प किया। घटके अमृतका क्या हुआ, इस ऊहापोहमें उन्होंने समय नष्ट नहीं किया। घट अमृतपूर्ण हो गया।

'वत्स! मैं प्रसन्न हुआ तुम्हारी सेवा और तपसे।' अमृत-कलश लेकर जब सोमशर्मा माता-पिताके पास पहुँचे तो वे दोनों कोढ़ी-रूप त्यागकर स्वस्थ बैठे थे। पुत्रको साथ लेकर दोनों उसी दिन विष्णुलोक चले गये।

—सु०

(३)

पितृसेवी सुकर्मा

'ब्राह्मण! मूर्ख हो तुम। तुम समझते हो कि जगत्में तुमसे बड़ा कोई नहीं है? निर्विशेष तत्त्वका तो तुम्हें ज्ञान है ही नहीं। कान खोलकर सुनो! इस समय संसारमें कुण्डलके पुत्र सुकर्माके समान कोई ज्ञानी नहीं है। यद्यपि उन्होंने तप नहीं किया, दान नहीं दिया, ध्यान-हवनादि कर्म भी नहीं किये और तीर्थयात्रा करने भी नहीं गये, इतनेपर भी वे समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता हैं। बालक होनेपर भी उन्हें जो ज्ञान प्राप्त है, वह तुम्हें अबतक दुर्लभ है।' महातापस पिप्पलके सम्मुख अचानक एक सारस पक्षी आ बैठा था और वही उनसे ये बातें कह रहा था।

तीन सहस्र वर्षतक पिप्पलने कठोर तप किया था। उस समय उनके देहको दीमकोंने अपना घर बनाकर मिट्टीसे ढक दिया था। फिर भी, उस मिट्टीके ढेरसे अग्निकी लपटोंके समान पिप्पलके शरीरका तेज प्रकट हो रहा था। इस तपसे प्रसन्न होकर देवताओंने वरदान दिया था—'सारा जगत् तुम्हारे वशमें हो जायगा।' इस वरदानसे पिप्पल विद्याधर हो गये थे। जिस व्यक्तिका मनसे चिन्तन करते थे, वही उनके वशमें हो जाता था। इस सिद्धिके कारण उन्हें गर्व हो गया। वे अपनेको संसारमें सर्वश्रेष्ठ मानने लगे। अहंकारने भगवत्प्राप्तिका मार्ग अवरुद्ध कर दिया। तपस्वी ब्राह्मणकी इस अवस्थापर ब्रह्माजीको दया आ गयी। वे सारसका रूप रखकर पिप्पलको सावधान करने आये थे।



सारसकी बातें सुनकर पिप्पल शीघ्र कुरुक्षेत्रकी ओर चल पड़े। वहाँ विप्रश्रेष्ठ कुण्डलके आश्रमपर पहुँचकर उन्होंने सुकर्माको अपने माता-पिताकी सेवामें लगे देखा। गृहपर आये अतिथिका सुकर्माने स्वागत-सत्कार किया। इसके पश्चात् सुकर्माने ही बतला दिया कि सारसके वचन सुनकर पिप्पल उसके पास आये हैं।

'आपकी आयु कम है। आपने कोई तप किया हो, ऐसा भी नहीं लगता। इतनेपर भी आपका ज्ञान अपार है। इसका कारण क्या है?' सुकर्माने जब साक्षात् देवताओंको बुलाकर दिखा दिया और निर्विशेष तत्त्वका सम्यक् वर्णन किया तो पिप्पलने पूछा।

'मैं तप या यज्ञ नहीं करता। दान, तीर्थाटन अथवा कोई अन्य धर्म मैं नहीं जानता। माता-पिता ही मेरे इष्ट देवता हैं और मैं उनकी सेवाको ही अपना परम धर्म मानता हूँ।' सुकर्माने बतलाया। 'आलस्य छोड़कर रात-दिन मैं माता-पिताकी सेवामें लगा रहता हूँ। जबतक माता-पिता जीवित हैं और उनकी सेवाका अलभ्य लाभ प्राप्त है, तबतक मुझे दूसरा तप, तीर्थयात्रा एवं अन्य पुण्यकर्मोंके करनेका क्या प्रयोजन है? तप, यज्ञ, अनुष्ठान, दानादिसे जो फल मिलता है, वह सब मैंने माता-पिताकी सेवासे प्राप्त कर लिया है।'

'पुत्रके लिये माता-पितासे बड़ा कोई तीर्थ नहीं।' अन्तमें सुकर्माने बतलाया। 'माता-पिता इस लोकमें तथा परलोकमें भी साक्षात् नारायणके समान हैं। जो माता-पिताका आदर नहीं करता, उसके सब शुभ कर्म व्यर्थ हो जाते हैं।'

दूसरे अनेक उपाख्यान सुकर्माने पिप्पलको सुनाये। पिप्पलका गर्व सुकर्माके उपदेशको सुनकर दूर हो गया। वे उसको प्रणाम करके वहाँसे चले गये। —सु०

(४)

पुत्र-धर्मके आदर्श पुण्डरीक

'धर्मस्य प्रभुरच्युतः'

भगवान् धर्मके लक्ष्य हैं। धर्मके परम प्राप्य और रक्षक हैं। किंतु धर्ममें दृढ़ निष्ठा हो तो वह भगवान्को भी अपने समीप आनेको विवश कर देता है। ऐसे धर्मात्मा थे पुरातनकालमें पण्ढरपुर (महाराष्ट्र) के महाभाग पुण्डरीक। उन्होंने अपने माता-पिताको ही साक्षात् धर्म माना-जाना था।

जैसे कोई अत्यन्त श्रद्धालु भक्त अपने आराध्यकी उपा-

सना करता है, पुण्डरीक वैसे ही माता-पिताकी सेवा करते थे। स्वच्छ वस्त्र, स्वच्छ आस्तरण पड़े पलंगपर माता-पिता विराजमान हैं। उनको तनिक उठनेकी भी आवश्यकता हो तो पुण्डरीक उनकी चरण-पादुका उनके चरणोंके समीप कर देते हैं। कभी व्यजन करते हैं; कभी चमर। कभी चरण दबाते हैं और कभी दूसरी कोई सेवामें लगे हैं। माता-पिताकी सेवाके अतिरिक्त पुण्डरीकके लिये संसारमें जैसे दूसरा कोई कार्य है ही नहीं। माता-पिता ही उनके देवता, उनकी निधि और उनके परम सुख।

इस अविचल श्रद्धा, एकान्त-निष्ठा और तन्मयताने भगवान्‌को भी मुग्ध कर दिया। श्रीकृष्णचन्द्र रुक्मिणीजीके साथ अपने दिव्य धामसे पुण्डरीकको दर्शन देने पधारे। अनन्त सौन्दर्य-सिन्धु, उज्ज्वल स्निग्ध शत-शत ज्योत्स्ना—धवल श्रीअङ्ग-कान्ति, असीम सौरभ प्रभुके अङ्ग एवं वनमालाका; किंतु पुण्डरीकको इस सबका भी पता नहीं लगा। उनके पिता शयन कर रहे थे और वे पिताकी चरण-सेवामें तन्मय थे। उन्हें तो अपने देहकी भी सुधि नहीं थी।

'पुण्डरीक!' प्रभुने बड़े स्नेहसे पुकारा। 'हम तुम्हारा आतिथ्य ग्रहण करने आये हैं।'

'आप दोनों कुछ समय इसपर विराजें।' पुण्डरीकने गर्दन घुमाकर पीछे देखा और पास पड़ी दो ईंटें फेंक दीं एक हाथसे आसनके रूपमें—'कृपा करके चुपचाप कुछ देर प्रतीक्षा करें। पिताजी शयन कर रहे हैं। इनकी निद्रामें व्याघात नहीं होना चाहिये। ये उठ जायँगे, तब मैं आपका सत्कार करूँगा।'

पुण्डरीक फिर पिताके चरण दबानेमें तन्मय हो गये। उन्हें ध्यान ही नहीं रहा कि त्रिभुवनके स्वामी उनके पीछे खड़े प्रतीक्षा कर रहे हैं।

'देव!' रुक्मिणीजीने देखा श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर। उनके आराध्यकी कोई ऐसी उपेक्षा भी कर सकता है, यह तो उन्होंने स्वप्नमें भी सोचा नहीं था।

'हुँ!' श्रीकृष्णने संकेत कर दिया कि 'चुपचाप खड़ी रहो। बोलोगी तो डाँट पड़ेगी और पिताकी निद्रामें व्याघात दीखेगा तो वह महाभाग खदेड़ देगा हम दोनोंको यहाँसे। उस धर्मनिष्ठ, पितृसेवकको न कुछ दे सकते हम, न डरा सकते। वह तो हमारा भी सम्मान-भाजन ही है।'

कमरपर दोनों हाथ धरे, ईंटोंपर खड़े रुक्मिणी-श्रीकृष्ण प्रतीक्षा करते रहे। पिताके जगनेपर पुण्डरीक उठे भी तो उन्होंने कह दिया—'आप दोनों ऐसे ही खड़े रहें।'

पण्ढरपुरमें श्रीविग्रहरूपमें दोनों वैसे ही खड़े हैं। पुण्डरीक तो उसी दिन माता-पिताके साथ भगवद्धाम चले गये थे।

—सु०

(५)

पुत्र-धर्मके आदर्श श्रवणकुमार

श्रवणकुमार वैश्य-पुत्र थे। अपने माता-पिताकी अकेली संतान थे। माता-पिताको ही वे अपना आराध्य मानते थे। श्रवणके माता-पिता दोनों अन्धे थे और वृद्ध हो चुके थे। उन दोनोंकी सेवाका प्रत्येक कार्य बड़े उत्साह, तत्परता और नम्रतासे श्रवणकुमार करते थे। वृद्धावस्थाका ठिकाना क्या कि शरीर कब गिर जाय। अतः उस वृद्ध दम्पतिके मनमें तीर्थयात्राकी इच्छा हुई। श्रवणकुमारने काँवर बनायी और उसमें माता-पिताको बैठाकर तीर्थयात्रा कराने चल पड़े।

कंधेपर माता-पिताको उठाये चलना। उन दोनोंको स्नान, भोजन आदि कराना। जल पीनेसे लेकर जो भी छोटी-बड़ी शारीरिक आवश्यकताएँ उन वृद्धोंकी हों, उन्हें श्रवणकुमारको ही पूरा कराना था। अन्धे होनेके कारण वे दोनों तो सर्वथा पुत्रपर निर्भर थे।

ब्राह्मण निर्धन हो तो भिक्षा माँगकर खा ले। लेकिन दूसरे वर्णके लिये तो भिक्षाटनकी विधि है नहीं। तीर्थयात्रामें निर्धन यात्रीको बिना माँगे कोई दे तो उसीसे उसको जीविका चलानी पड़ती है। मार्गमें सर्वत्र ग्राम या नगर तो पड़ते नहीं। कभी बिना माँगे भोजन मिल जाता था और न मिले तो वनसे कन्द, फल, पत्ते आदिको ढूँढ़कर लाना, उनको धोकर या भूनकर भोजनके योग्य बनाकर माता-पिताको भोजन कराना—श्रवणकुमारका दैनिक कार्य था। माता-पिता तृप्त हो जायँ तब जो बचता था, उसका वे भोजन करते थे और रात्रिमें दोनोंकी चरण-सेवा करके, दोनोंके सो जानेपर सोते थे। प्रातः दोनोंके जागनेसे पहले उठ जाते थे।

यात्री प्रायः कुछ रात्रि रहते यात्रा प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे धूप तेज होनेसे पहले वे अधिक मार्ग पार कर लें। उस दिन श्रवणकुमार भी रात्रिके पिछले प्रहरमें यात्रा कर रहे थे। वनमें उनके माता-पिताको प्यास लगी। वे काँवरको सुरक्षित स्थानपर रखकर जल लेने गये।



पितृभक्त भीष्मकी विलक्षण प्रतिज्ञा

उस रात्रिमें महाराज दशरथ आखेट करने निकले थे । श्रवणकुमारने जब सरयूके जलमें कमण्डलु डुबाया तो उसका शब्द सुनकर राजाको लगा कि कोई जंगली हाथी जल पी रहा है । उन्होंने शब्दके लक्ष्यपर बाण छोड़ दिया । वह बाण श्रवणकुमारकी छातीमें लगा । वे चीत्कार करके गिर पड़े । युद्धके अतिरिक्त हाथीका वध शास्त्र-वर्जित है । हाथी समझकर भी राजाको बाण नहीं छोड़ना था । यह जो धर्ममें प्रमाद हुआ, उसीसे धर्मात्मा राजाके हाथसे अनजानमें यह अनर्थ हो गया ।

चीत्कार सुनकर महाराज दशरथ वहाँ पहुँचे और वहाँका दृश्य देखकर व्याकुल हो गये । श्रवणकुमारने समझाया—'मैं ब्राह्मण नहीं, वैश्य हूँ । आपको ब्रह्महत्या नहीं लगेगी । लेकिन मेरे माता-पिता प्यासे हैं । उन्हें जल पिला दीजिये और यह बाण मेरी छातीसे निकालिये !'

बाण निकालते ही श्रवणकुमारके प्राण निकल गये । महाराज दशरथ जल लेकर उनके माता-पिताके पास पहुँचे तो उन दम्पतिके आग्रहपर बोलना पड़ा । उन्हें यह दुःसंवाद देना पड़ा । उन दोनोंने पुत्रके पास पहुँचानेको कहा । वहाँ चिता भी काष्ठ चुनकर महाराजने बनायी । पुत्रके देहके साथ वे दोनों अन्धे वृद्ध चितामें बैठ गये । अन्तिम समय उन्होंने राजाको शाप दिया—'हमारे समान तुम भी पुत्र-वियोगमें ही मरोगे !'

पितृभक्तिका प्रताप—महाराज दशरथने देखा कि श्रवण-कुमार दिव्य देह धारण कर भगवद्धाम जा रहे हैं । उनके माता-पिता भी उनके साथ ही गये । —सु०

(६)

पितृभक्त देवव्रत भीष्म

महाराज शान्तनुके एक ही पुत्र थे देवव्रत और वे भी सामान्य मानवीकी संतान नहीं थे । भगवती गङ्गाके पुत्र थे वे । देवी गङ्गाने महाराज शान्तनुसे विवाह ही इस शर्तपर किया था कि महाराज उनके किसी कार्यमें बाधा नहीं देंगे । जो पुत्र उत्पन्न होता, उसे वे भागीरथीके प्रवाहमें विसर्जित कर देतीं । सात पुत्र उन्होंने प्रवाहमें डाल दिये थे । आठवेंके समय महाराजने उन्हें रोका । इस प्रकार गङ्गा-जैसी पत्नीका त्याग करके शान्तनुको देवव्रत मिले थे । देवताओंने अस्त्र-शिक्षा दी थी उन्हें ।

अचानक महाराज उदास रहने लगे । उनका शरीर दिनोंदिन क्षीण होने लगा । मुख क्लान्त हो गया । देवव्रतको पिताकी यह अवस्था असह्य हो गयी । बड़ी कठिनाईसे मन्त्रियोंके द्वारा उन्हें रोगके कारणका पता लगा । महाराज शान्तनुने कहीं दाशराजकी कन्या योजनगन्धा (मत्स्यगन्धा) सत्यवतीको देख लिया था और उसपर वे मुग्ध हो गये थे । उसकी चिन्ता उन्हें क्षीण बना रही थी और दाशराज था कि हस्तिनापुरके सम्राट्को अपनी कन्या केवल तब दे सकता था, जब उसका दौहित्र सिंहासनका अधिकारी माना जाय । भला, देवव्रत-जैसे देवतात्मा पुत्रको उसके अधिकार वञ्चित करनेकी बात महाराज कैसे सोच सकते थे ।

देवव्रतने कारण जाना और कहा—'बस, इतनी-सी बात ! इसके लिये पिताजी इतना कष्ट पा रहे हैं !'

उन्होंने रथ सजाया और कैवर्तपल्ली पहुँचे । केवट दाश-राजकी झोपड़ीके द्वारपर रुका उनका रथ । उन्होंने दाशराजसे कहा—'आपकी कन्याका पुत्र सिंहासनासीन होगा । मैं अपने स्वत्वका त्याग करता हूँ । आप अपनी पुत्रीको विदा करें । ये महाभागा राजसदन पहुँचकर मुझे मातृ-चरण-वन्दनाका पुण्य प्रदान करें ।'

'राजकुमार ! आप धन्य हैं !' दाशराजने कहा । 'आपका त्याग महान् है । अन्यथा आप-जैसा धनुर्धर प्रतिपक्षमें हो तो देवता भी कैसे सुरक्षित रह सकते हैं । आप वचन न देते तो महाराज मेरी पुत्रीसे हुई संतानको राज्य देनेका वचन देते भी तो वह निष्फल था । लेकिन आपने भले अपना स्वत्व त्याग दिया, आपकी संतान तो उसे नहीं त्याग देगी । आपके पुत्र क्या मेरे दौहित्रको निष्कण्टक राज्य करने देंगे ?'

देवव्रत गम्भीर हो गये । बात उचित थी । वे युवा थे । वे विवाह करें तो उनके पुत्र इस नवीन माताके पुत्रोंसे आयुमें बहुत छोटे कदाचित् ही होंगे । वे अपना स्वत्व छोड़ ही देंगे—यह कोई कैसे कह सकता है । दो क्षण सोचकर बाहु उठाकर उन्होंने प्रतिज्ञा की—'मेरे कोई संतान नहीं होगी ! मैं आजन्म ब्रह्मचारी रहूँगा !'

'भीष्म ! भीष्म प्रतिज्ञा !' देववाणी गूँजी और कुमार-के ऊपर गगनसे सुमन-वर्षा हुई । उसी समयसे देवव्रतका नाम भीष्म पड़ गया । सत्यवतीको साथ लेकर जब वे राजसदन पहुँचे—साश्रुनयन, गद्गदकण्ठ पिताने आशीर्वाद दिया—'वत्स ! मृत्यु भी तुम्हारा अभिभव नहीं कर सकेगी । तुम इच्छा नहीं करोगे, तबतक तुम्हारा शरीर नहीं छूटेगा ।' —सु०

(७)
आदर्श पुत्र सनातन

केवल ग्यारह वर्षका बालक था सनातन। उड़ीसाके एक निर्धन दम्पतिके दो बच्चे थे। उसमें सनातन ग्यारहका था और दूसरा उससे छः वर्ष छोटा था। अचानक देशमें अकाल पड़ गया और अकाल निर्धनोंको ही मारता है। जिनके पास धन है, संग्रह है, वे भी अकालके समय अपना व्यय कम कर देते हैं। मजदूरके घरमें वैसे ही कुछ नहीं रहता, अकालके समय बहुत-से चलते काम बड़े लोग व्यय घटानेको बंद कर देते हैं। अतः 'दुहरी मार, दरिद्रपर' अन्न महँगा हो जाता है और काम मिलना प्रायः बंद हो जाता है।

सूर्योदयके पूर्व ही सनातनका पिता घरसे निकल पड़ता था। सूर्यास्ततक कहीं कुछ भी काम मिल जाय और उससे दो मुट्ठी अन्न प्राप्त हो जाय तो वह दिन भाग्यशाली समझा जाता था। लेकिन प्रत्येक दिन तो भाग्यशाली दिन किसीके जीवनका नहीं होता, फिर निर्धनके जीवन-दिन और वे भी भयानक अकालके समयमें। कई दिनोंतक लगातार कुछ काम नहीं मिला। काम नहीं मिला तो अन्न कहाँसे आता। घरमें जो टूटे-फूटे बर्तन आदि थे, पेटकी ज्वालामें आहुति देनेको पहले बिक चुके थे। उधार कुसमयमें निर्धनको कौन देने चला था। कोई उपाय नहीं था। सनातनके पिताने एक दिन रात्रिमें चुपचाप घर त्याग दिया। कोई नहीं जानता कि वे कहाँ गये। अपने नेत्रोंके सामने अपनी संतानको भूखसे तड़पते न देख सकनेके कारण वे कहीं चले गये।

पिता गये और उस असहाय परिवारको यदा-कदा दो मुट्ठी अन्न मिलनेकी आशा भी गयी। उपवास—कितने दिन केवल जल पीकर कोई जीवित रह सकता है ? नारी खाटपर पड़ गयी। चार वर्षका नन्हा बालक मरणासन्न हो गया। कङ्कालप्राय ग्यारह वर्षका बालक सनातन अन्तमें पिताकी लाठीका सहारा लेकर निकला। अनेक दिनके उपवासके कारण उसे बार-बार चक्कर आ रहे थे। बार-बार मूर्छित होकर वह गिरा पड़ता था; किंतु उसे चलना चाहिये—चलता गया वह।

'मैया ! थोड़ा-सा भात !' किसी वृद्धा नारीको मरणासन्न बालक सनातनकी इस याचनापर दया आ गयी। उसने थोड़ा भात दे दिया उसे।

सर्पिणी अपने बच्चे खा लेती है, यह अयश मिला है उसे; किंतु अकालमें भूखसे व्याकुल मनुष्य अपने बच्चे बेच डालता है। माता अपने मरते बच्चेके हाथसे छीनकर अन्न खा लेती है। ये दृश्य कितने भी दारुण हों, मानवताको हृदयपर पत्थर धरकर देखने पड़े हैं और बार-बार, स्थान-स्थानपर देखने पड़े हैं; किंतु मानवमें ही देवोपम—नहीं, देवदुर्लभ आत्माएँ भी अवतीर्ण होती हैं। ग्यारह वर्षका नन्हा बालक, अनेक दिनके उपवाससे बार-बार मूर्छित होता, गिरता और हाथमें भोजन; किंतु मुखमें एक दाना नहीं डाला उसने।

छोटा भाई चीखता दौड़ता आया तो उसके मुखमें एक ग्रास अन्न दे दिया सनातनने और फिर उसकी चीखकी भी उपेक्षा करके खाटपर क्षुधासे अशक्त अर्धमूर्छिता माताके पास बढ़ गया—'माँ ! भात लाया हूँ।'

'बेटा ! कल्याण हो तेरा।' उस नारीका आशीर्वाद। किसी तपस्वी, ऋषि, देवता, लोकपालका आशीर्वाद उस माताके आशीर्वादकी समता करनेमें समर्थ हो सकता था ?

—सु०

(८)
मातृभक्तिके आदर्श बालक रामसिंह

अमरसिंहकी रानी पागल-सी हो उठी।

'शाहजहाँके भरे दरबारमें अपमान करनेपर उसके वीर पति अमरसिंहने बादशाहके साले सलावतखाँका सिर उतार लिया था। बादशाह भयसे भीतर भाग गया था और अमरसिंह घोड़ेसहित दुर्गके प्राचीरसे कूदकर निकल आये थे। रानीका चाटुकार भाई अर्जुन गौड़ अमरसिंहको उलटा-सीधा सिखाकर महलमें ले गया और पीछेसे अमरसिंहको मार डाला।

शाहजहाँने अमरसिंहकी नंगी लाश बुर्जपर डलवा दी। चील-कौवे उसपर बैठने लगे।

इस समाचारसे रानीकी बुद्धि काम नहीं कर रही थी। उसके भेजे सभी सैनिक मार डाले गये। वे शवके समीप भी नहीं पहुँच सके।

'जिसकी लाश चील-कौवे खा रहे हैं'—शाहजहाँका यह कथन भी रानीने सुना था—'पर उसके खानदानमें एक भी ऐसा नहीं, जो उसकी लाश ले जाय ?'

रानी बेचैन थी। अपने कहलानेवाले सभी लोगोंके सामने वह रो आयी, आँचल पसारा; पर किसीने ध्यान नहीं दिया। रानी अधीर हो उठी।

'बाँदी मेरी तलवार ला'—रानीने कहा। 'और मेरे साथ चल। मैं स्वयं महारावलकी लाश शाहजहाँके किलेसे निकाल-कर ले आऊँगी।'

रानीने सैनिकका वेश बनाया, तलवार ली और अन्तःपुरकी सभी नारियोंने तलवार, भाले और बर्छे सँभाले।

'चाची, ठहरो।' दौड़ते हुए आकर रामसिंहने कहा। 'मेरे जीवित रहते तुम्हें महलसे बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं। पूज्य चाचाके निष्प्राण शरीरकी रक्षा एवं उनकी अन्त्येष्टि मेरा परम पावन धर्म है। प्राण दे दूँगा मैं इसके लिये।'

'बेटा, जा!' रोते-रोते रानीने आशिष् दी। 'महिष-विमर्दिनी दुर्गा तुम्हारी सहायता करें।'

'रो मत, चाची।' घोड़ेको एड़ लगाते हुए रामसिंहने कहा। 'चाचाजीके शवके साथ मैं अभी लौटता हूँ।'

रामसिंह अमरसिंहके बड़े भाई जसवन्तसिंहका एकमात्र पुत्र अभी केवल पंद्रह वर्षका था, पर था अपने पिता एवं चाचाकी ही भाँति वीर और पराक्रमी।

वह दौड़ पड़ा शाहजहाँके दुर्गकी ओर।

दुर्गका द्वार खुला था और तीरकी भाँति एक युवक अश्वारोही उसे पार करते भीतर चला गया। द्वाररक्षक उसे पहचान भी न सके।

बुर्जके निकट सैकड़ों मुस्लिम सैनिक तैयार थे। युद्ध छिड़ गया। मुँहमें लगाम पकड़े पंद्रह वर्षके वीर बच्चेने जिधर दोनों हाथ उठाये उधर ही शत्रु लोटते दीखते। अन्ततः वह बुर्जपर चढ़ गया।

पूज्य चाचाजीका शव उठाया, उतरा और घोड़ेपर बैठा। पुनः वही युद्ध। पर उस तेजस्वी बालकका अनेक सैनिक मिलकर भी कुछ अनिष्ट नहीं कर सके। वे ताकते रहे और रामसिंह दुर्गके बाहर निकल गया।

महलमें चिता पहलेसे तैयार थी।

'बेटा! तूने मेरी सम्मान-प्रतिष्ठा एवं धर्मकी रक्षा की है, चरणोंपर गिरे रामसिंहको उठाकर अत्यन्त स्नेहसे उसके शीशपर हाथ फेरती हुई रानीने आशिष् दी। 'वैसे ही भगवान् तेरी सदा रक्षा करें।'



और रानी पतिके शवके साथ चितामें प्रविष्ट हो गयी।

रामसिंह नेत्रोंमें आँसू भरे चुपचाप देखता रहा। वह क्या बोलता, वाणी जो अवरुद्ध हो गयी थी। —शि० दु०

धर्मशील सुपुत्र

पुत्र सुपुत्र वही जो करता नित्य पिता-माताका मान।
तन-मन-धनसे सेवा करता, सहज सदा करता सुख-दान॥
भगवद्भक्त, जितेन्द्रिय, त्यागी, कुशल, शान्त, सज्जन, धीमान्।
जाति-कुटुम्ब-स्वजन-जन-सेवक, ऋत-मित-हित-वादी, विद्वान्॥
धर्मशील, तपनिष्ठ, मनस्वी, मितव्ययी, दाता, धृतिमान्।
पुत्र वही होता कुल-तारक, फैलाता कुल-कीर्ति महान्॥

कवि और लेखकका धर्म

(१)

(लेखक—आचार्य श्रीविश्वनाथजी पाठक)

'निरङ्कुशाः कवयः' का आभाणक प्रायः सुननेमें आता है और 'लीक छाँड़ि तीनों चलैं सायर सिंह सपूत' की उक्ति भी बहुत प्रचलित हो गयी है। अतः प्रश्न उठता है कि क्या कवि सचमुच उच्छृङ्खल होते हैं? उनकी कोई मर्यादा नहीं होती? यदि ऐसी बात है, तब तो कविका महत्त्व एक आवारासे अधिक नहीं। परंतु प्राचीन ग्रन्थोंमें कविकी महिमाका मुक्तकण्ठसे गान किया गया है। अमरकोषके अनुसार कवि सर्वज्ञ होता है। वेदोंमें परमेश्वरके लिये कवि शब्दका प्रयोग मिलता है—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।

श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजीको 'आदिकवि' की उपाधिसे विभूषित किया गया है—

तेने ब्रह्महृदा च आदिकवये।

अग्निपुराणमें कवित्वको मानवका दुर्लभ गुण बतलाया गया है—

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।

आचार्य आनन्दवर्धनने कविकी तुलना प्रजापतिसे की है; क्योंकि वह अपने इच्छानुसार सम्पूर्ण विश्वको परिवर्तित कर सकता है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते॥

इससे प्रतीत होता है, कवि कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है। वह अलौकिक प्रतिभासम्पन्न पुरुष है। वह समाजका नेतृत्व करता है। उसकी लेखनीसे निकले हुए अक्षर ज्योतिस्फुलिंग बनकर मोह-निशामें भ्रान्त प्राणियोंको मार्ग-दिशाका संकेत देते हैं। उसकी कल्पना-शक्तिसे अमृतका वह अक्षय उत्स फूटता है जो दुःख-दाव-दग्ध हृदयोंको अनन्त कालतक शीतल सुधा-रससे सींचता रहता है। वह अपने प्रातिभ नेत्रोंसे तीनों कालोंका साक्षात्कार कर जिन मान्यताओं और आदर्शोंकी सृष्टि कर देता है, समाज युग-युगतक उसका अनुवर्तन करनेमें गौरवान्वित होता है। प्राचीन आर्योंकी सभ्यता और संस्कृतिके प्रचारक कवि ही थे। समाजमें जो कुछ तप, त्याग, अहिंसा, दया, दाक्षिण्य, धर्म, नीति एवं बलिदानकी भावना है, उसकी नींव कवियों और लेखकोंने ही डाली है।

वाल्मीकि और व्यास-जैसे कवियोंने ही हमें ऊँचे आदर्श और उज्ज्वल परम्पराएँ प्रदान की हैं। अतएव कवियोंको उच्छृङ्खल समझना भूल है। विश्वका सम्पूर्ण हालाहल पीकर भी जो अपने काव्यामृतसे समाजको अमरत्व प्रदान करता है, वही वास्तविक कवि है। कवि या साहित्यकार होना असिधारा-व्रतका पालन करना है। इस व्रतमें जिसकी निष्ठा नहीं, उसे लेखनी रख देनी चाहिये।

आजका साहित्यकार कहानी लिखता है वासनाको उद्दीप्त करनेके लिये; उपन्यास लिखता है सन्मार्गपर चलनेवाले भोले-भाले नवयुवकोंको गुमराह करनेके लिये; गीत लिखता है समाजमें विरह-वेदना जगानेके लिये। ऐसा लगता है जैसे इसके अतिरिक्त वह कुछ जानता ही नहीं। जिस देशके महान् मर्यादावादी कवि गोस्वामी तुलसीदासजीने कभी घोषणा की थी—

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

आज उसी देशके कवि और लेखक विनाशकारी साहित्यकी सर्जनामें ही अपनी प्रतिभाकी सार्थकता समझने लगे हैं!

साहित्य धर्मतक पहुँचनेका सरल सोपान है और धर्म है ऐहिक एवं आमुष्मिक सुखोंका निष्पादक। जब साहित्य धर्मकी उपेक्षा कर मनमाने मार्गपर चलने लगता है, तो उसमें लोकमङ्गलकी भावना नहीं रह जाती। ऐसा साहित्य देशको पतनकी ओर ले जाता है। अतएव साहित्यपर धर्मका नियन्त्रण रहना अनिवार्य है। धर्म-नियन्त्रित साहित्य ही समाजकी बुराइयों और कुरीतियोंको दूर कर सकता है। साहित्यकार जबतक धर्मके प्रति आस्थावान् नहीं होगा, तबतक उसकी वाणी देश और जातिका अभ्युत्थान करनेमें असमर्थ रहेगी।

गद्य और पद्य साहित्यके दो रूप हैं। विद्वानोंने दोनोंको 'काव्य' कहा है। काव्यकी उपयोगिता जीवनके सभी क्षेत्रोंमें है। त्रिकालदर्शी ऋषियोंने धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षकी शिक्षा देनेके निमित्त काव्यकी रचना की थी। वेदव्यासने महाभारतमें स्पष्ट कहा है—

धर्मे अर्थे च कामे च मोक्षे च पुरुषर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥

अलंकार-शास्त्रके आचार्योंने काव्यको धर्मादिसाधनोपाय कहा है । वक्रोक्तिजीवितकारने काव्य-प्रयोजनका निरूपण करते समय लिखा है—

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः ।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥

अर्थात् काव्य अभिजातवर्गको धर्मादिकी शिक्षा देनेका सुकुमार साधन है । वक्रोक्तिजीवितकार काव्यके आह्लादकत्वमात्रसे संतुष्ट नहीं । वे इसी कारिकाकी वृत्तिमें आगे लिखते हैं—तथा 'सत्यपि तदाह्लादकत्वे काव्यबन्धस्य क्रीडनकादिप्रख्यता प्राप्नोतीत्याह—धर्मादिसाधनोपायः ।' यदि काव्यमें सरसताका रहना ही अनिवार्य मान लें तो उसमें और बालकोंके खिलौनोंमें कोई अन्तर ही नहीं रह जायगा । अतएव उसे धर्मादिसाधनोपाय कहा गया है । खिलौने बालकोंका मनोविनोद अवश्य करते हैं; परंतु प्रौढ व्यक्तियोंके जीवनमें उनका क्या उपयोग हो सकता है ? क्या तत्त्वदर्शी कवियोंकी सारगर्भित वाणीका मूल्य बालकोंके क्रीड़ा-कन्दुकसे अधिक नहीं ? क्या संत कवि तुलसीदासका रामचरितमानस बच्चोंका खिलौना है ? रसालमंजरीमें छिपकर गानेवाली कोयलकी कूक मनोरंजनके लिये हो सकती है; परंतु विवेकशील कवियोंके व्यापार केवल सहृदयोंके रंजनके लिये नहीं होते । प्रत्येक लेखक या कविका यह धर्म है कि वह ऐसा साहित्य रचे जो अधार्मिकोंको धर्म, कामियोंको त्याग, दुष्टोंको दण्ड, सज्जनोंको संयम, नपुंसकोंको धृष्टता, शूरोंको उत्साह, मूर्खोंको ज्ञान, विद्वानोंको वैदुष्य, शोकार्त और दुखी हृदयोंको विश्रान्ति देनेमें सक्षम हो । तभी उसकी कला सार्थक होगी, तभी उसकी साधना पूर्ण होगी ।

शील-सौन्दर्यसे मण्डित काव्य ही सत्काव्य है । जिस काव्यसे कोई शिक्षा नहीं मिलती, कोई दर्शन, कोई सत्प्रेरणा, कोई आदर्श नहीं मिलता वह वाग्जालमात्र है । काव्यमीमांसामें राजशेखरने काव्यको हितोपदेश देनेमें धर्मशास्त्रके समकक्ष माना है—

गद्यपद्यमयत्वात् कविधर्मत्वाद्धितोपदेशकत्वात् तद्धि शास्त्राण्यनुधावति ।

रामायण पढ़नेपर रामकी पितृभक्ति, सीताका सतीत्व, लक्ष्मणका भ्रातृप्रेम और भरतका त्याग हमारे हृदयोंको वशीभूत कर लेता है । उनके शील-सौन्दर्यपर हम इतना मुग्ध हो जाते हैं कि उसीके अनुकरणमें अपने जीवनका साफल्य समझने लगते हैं ।

कवि और लेखकोंका काम समाजको परिष्कृत एवं सुरुचिसम्पन्न बनाना है । कृतयुग और कलियुग उन्हीं लेखनीके परिणाम हैं । अतएव साहित्यकारको बहुत सोच-समझकर लेखनी उठानी चाहिये । एक-एक शब्द विवेक-निकषपर कसकर लिखना चाहिये । उन्हें सोचना चाहिये कि उनका जीवन राष्ट्रकी सेवामें अर्पित है । उन्हें देशमें नयी स्फूर्ति, नयी चेतना, नया उत्साह और नयी आशाका संदेश देना है । उन्हें सत्य, अहिंसा, तप, त्याग, विशुद्ध प्रेम, सेवा एवं बलिदानकी भावना जन-जनके हृदयतक पहुँचानी है । उन्हें समाजमें शिवाजी और प्रताप-जैसे देशभक्त, श्रीकृष्ण, बुद्ध और महावीर-जैसे महापुरुष, सीता और अनसूया-जैसी देवियाँ एवं ध्रुव और प्रह्लाद-जैसे दृढ़व्रती बालकोंको जन्म देना है ।

इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि कल्पित आदर्शको ही अपना ध्येय बना लेनेमें आजके साहित्यकारका चरम साफल्य है । आदर्श तभी ग्राह्य हो सकता है, जब वह यथार्थकी ठोस भित्तिपर आधारित हो । परंतु नग्न यथार्थका बीभत्स प्रदर्शन कम भयावह नहीं । हमारा शरीर यदि नंगा कर दिया जाय तो क्या उसकी शोभा होगी ? सर्वगुणसम्पन्न साहित्य वही हो सकता है जो सत्य, शिव और सुन्दर हो । इनमें किसी एक गुणका विपर्यय होनेपर साहित्य विकलाङ्ग हो जाता है । असत्य साहित्यपर किसीकी निष्ठा नहीं होती, शिवत्व न रहनेपर वह समाजका अभ्युदय नहीं कर सकता और सौन्दर्यके अभावमें वह नीरस हो जाता है । **यथार्थके भीतर छिपे शिवत्वको ढूँढ निकालनेमें ही साहित्यकारका सबसे बड़ा कृतित्व है, सबसे बड़ी साधना है । यथार्थके क्षार-समुद्रके मन्थनसे जो अमूल्य अमृत निकलता है, उसीकी संज्ञा साहित्य है ।** उस साहित्यामृतका पान करनेवाला अजर और अमर हो जाता है । यथार्थके नामपर दौःशील्य एवं भ्रष्टाचारको प्रेरणा देनेवाले साहित्यकार देशद्रोही हैं । उनकी रचनाओंका बहिष्कार होना चाहिये ।

आज हमारे साहित्यपर विदेशी प्रभाव बढ़ता जा रहा है । हमारे नवयुवक विदेशी आचार-विचार और सभ्यता-संस्कृतिपर लट्टू होकर अपनी प्राचीन संस्कृति और

साहित्यको हेय दृष्टिसे देखने लगे हैं। आज भारतीय राष्ट्रके भावी कर्णधार विदेशी ढंगसे बोलने, विदेशी ढंगसे उठने, विदेशी ढंगसे बैठने एवं विदेशी ढंगसे सोचनेमें गौरवका अनुभव करने लगे हैं। इसी देशमें रहकर इसी देशकी भाषा बोलना और इसी देशकी सांस्कृतिक वेश-भूषा धारण करना मूर्खताका प्रतीक समझा जाने लगा है। सूर, तुलसी और मीराँकी वाणीपर एक विदेशी भाषा बुरी तरह छायी हुई है। हमारी सारी मान्यताएँ, सारी मर्यादाएँ, सारे आदर्श धराशायी होने लगे हैं। गौतम, कपिल और कणादकी पुण्य-भूमिपर मार्क्स और डारविनकी दुन्दुभि बजने लगी है। ऐसे संकटके समयमें हमारे कवियों और लेखकोंका कर्तव्य है कि वे भारतीयताकी रक्षाका दृढ़ संकल्प करें। परंतु खेद है, आज जब राष्ट्र-चेतनाको उद्‌बुद्ध करनेवाले प्रौढ़ साहित्यकी अत्यधिक आवश्यकता आ गयी है, हमारा साहित्यकार, हमारी संस्कृतिका जागरूक प्रहरी नये प्रयोगोंमें दिमाग खपा रहा है!

आजके साहित्यकारको जागरूक होना है और समझना है कि वह वाल्मीकि और व्यासका उत्तराधिकारी है। उसे राष्ट्रमें नये प्राण फूँकने हैं। उसे कटिबद्ध होना है पुनीत भारतीय संस्कृतिकी रक्षाके लिये, उसे खड़ा होना है राष्ट्रभाषाके त्राणके लिये और उसे संकल्प करना है बुझते हुए राष्ट्रीय स्वाभिमानको अक्षुण्ण रखनेके लिये। यदि वह ऐसा नहीं करता तो साहित्यकारके धर्मसे च्युत हो गया। वाल्मीकि, व्यास, शंकराचार्य और तुलसी भी साहित्यकार थे। उन्होंने भारतीय संस्कृतिको वह मोहक रूप दिया, जिसके सम्मुख विदेशी भी नतमस्तक हो जाते हैं। उसी पवित्र देशमें उत्पन्न होनेवाले भारतीय साहित्यकारको विदेशियोंकी जूँठन खाना शोभा नहीं देता!

(२)

(लेखक—श्री एन० कनकराज ऐयर)

कवि जन्मजात होता है, निर्मित नहीं। कविका निर्माण करनेके लिये कोई पाठशाला नहीं बनी है। कोई विश्व-विद्यालय अपनी शिक्षासे किसी कविके निर्माण करनेका दम नहीं भर सकता। वाल्मीकि विपिनवासी कवि थे। व्यास भी वन्य-प्रकृतिकी गोदीमें पले कवि थे। कालिदास, भास, भवभूति आदि कवियोंको राजमहलोंमें पहुँचनेका अवसर प्राप्त था, परंतु वास्तवमें उनके मनका तार जुड़ा था प्रकृति-से, जो वस्तुतः महलोंसे दूर बसती है।

तामिळ भूमिमें अनेक ऐसे कवि हुए हैं जो अत्यन्त दरिद्र तथा घर-बारविहीन थे, परंतु उनकी ज्ञानपिपासाकी तीव्रतामें कोई संदेह नहीं कर सकता और प्रकृतिके प्रति उनका प्रेम सच्चा था। छन्दःशास्त्र तथा अलंकारके थोड़ेसे नियमोंको जानकर ही कोई कवि नहीं बन सकता। किसी देश या कालके महान् कवियोंके विचार लगभग एक-से ही होते हैं। चाहे कवि रोम, इथाका, पेरिस अथवा लंदनमें जन्मा हो, वह अपनी भाषामें एकसे ही ऊँचे विचारों और आदर्शोंको अभिव्यक्त करता है।

कविका धर्म कोई साधारण वस्तु नहीं है। राजाका धर्म, मन्त्रीका धर्म और सेनानायकका धर्म भी एक सच्चे कविके धर्मकी तुलनामें बहुत ही हल्का पड़ सकता है। प्रत्येक तुक्कड़ कवि नहीं होता। सभी तुकबंदियाँ कविता नहीं होतीं। विश्वमें अबतक दूसरे वाल्मीकि अथवा व्यास-का जन्म नहीं हुआ है। कविके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह मोटे-मोटे काव्य-ग्रन्थोंका रचयिता हो। यह आवश्यक नहीं है कि वह इलियड अथवा ओडिसी-जैसे महा-काव्योंका ही सृजन करे। 'एलेजी रिटेन इन ए कण्ट्री चर्च-यार्ड' (Elegy written in a Country Churchyard) दस हजार पंक्तियोंका कोई महाकाव्य नहीं है, किंतु यह एक परमोत्कृष्ट काव्य है और इस नाते 'ग्रे' एक महाकवि था।

अपने अन्तस्तम भावोंको व्यक्त करनेके लिये कविको ललित एवं प्रभावोत्पादक शब्दोंका चयन करना पड़ता है। गम्भीर भावोंको उसे प्रसाद-गुणयुक्त शब्दोंके द्वारा प्रकट करना पड़ता है। ऊँचे विचार भी अत्यन्त सरल शब्दोंसे व्यक्त किये जा सकते हैं। कविकी प्रतिभाका यही तो चमत्कार है। आधुनिक आलोचक कहते हैं, 'कविका कर्तव्य है अपने श्रोताओंको आनन्द देना।' क्या किसी निष्प्राण नाटकका विदूषक अपने श्रोताओंको कविसे अधिक आनन्द नहीं देता? इस आदर्शको पकड़नेवाला कवि अपने आदर्शकी ओरसे आँखें मूँद लेता है!

कवि अपने विचारोंको स्वतन्त्ररूपसे तथा दृढ़ताके साथ समाजके सामने रखता है। वह अपने आदर्शपर अटल रहता है। गहन अध्ययन तथा गहनतर विचारधारावाले कविके लिये यह सम्भव नहीं है कि वह जनसाधारणका मनोरञ्जन कर ही सके? सामान्य पाठक और आलोचक उनको न रुचनेवाली किसी भी वस्तुको प्रोत्साहन नहीं देंगे, किंतु कवि तो अपने

संदेशके बलपर युग-युगतक जीवित रहता है। जीवनके उद्देश्यकी पूर्तिके लिये वह प्रशंसा और निन्दा दोनोंको समान भावसे सहन करता है। उसका जीवन बहुत कुछ एक दार्शनिकका जीवन होता है। प्रकृतिके साथ सच्ची एकात्मता प्राप्त करनेपर ही वह संकोचहीनता एवं उन्मुक्तताका अनुभव करता है। वह एक अत्यन्त साधारण घटनापर भी अपने जीवन-आदर्शके आलोकमें विचार करता है और कविता सुन्दर स्रोतस्विनीके समान बह चलती है।

यदि सौभाग्यसे धन्यात्मा वाल्मीकिके समान उसके सामने एक बड़ा चित्रपट हुआ तो अपने नाटकके सभी पात्रोंको वह उस विशाल चित्रमें अपने-अपने स्थानपर गौरवके साथ बैठा देता है। वाल्मीकिके काव्यमें घृणाकी पात्री रानी कैकेयीके लिये भी उसके लड़केके सामने ही श्रीरामके मुखसे प्रशंसाके ही शब्द निकले। उस महाकाव्यमें भरत और उनके अनुज शत्रुघ्नका बहुत थोड़ा चरित्र होनेपर भी कविने उसको अपने उचित स्थानपर बैठाकर अधिकार-भरे हाथोंसे उनका चरित्र चित्रण किया है। गुह और शबरी भी अपने सुन्दर उद्गारोंद्वारा महाकविके संदेशको अभिव्यक्त करते हैं।

कविका धर्म है संसारको उस रूपमें देखना, जिस रूपमें उसे दिखायी देना चाहिये। वानर और ऋषभ जातियोंको महिमान्वित करके उनके द्वारा भी सत्यकी महान् कथा कहनेवाले उस कविके धर्मको संसारके सम्मुख रक्खा गया है। कविकी शैलीकी सरलता, उसके भावोंकी उच्चता और जहाँ-जहाँ आवश्यक प्रतीत हो, वहाँ-वहाँ उसके काव्यमें धर्मके पास उसकी सीधी पहुँच—उसको वस्तुतः भगवान्का संदेशवाहक बना देती है।

वह अपने धर्मका सर्वोत्कृष्ट रूपसे तभी पालन करता है जब अपनेको भूलकर अपनी विशाल रचनामें अपने पात्रोंसे यथोचित व्यवहार करवाता है और संसारके लिये केवल शब्दोंमें ही नहीं, वरं क्रियाओं तथा जीवनमें भी संदेश छोड़ जाता है। सभी युगोंके महाकवि अपने महान् संदेशको अपनी रचनाके द्वारा इसी रूपमें छोड़ गये हैं। कविका वास्तविक जीवन उसकी रचनाओंमें ही प्रस्फुटित होता है। उसका पाञ्चभौतिक शरीर सहस्रों वर्ष पूर्व ही विदा हो चुका हो, परंतु उसकी रचना युग-युगतक उसके धर्मका प्रचार करती रहेगी।

पुराणों और महान् इतिहासोंकी कथाएँ ज्ञानकी खान हैं। प्राचीन कालके महान् मनस्वी इन कथाओंके धार्मिक पक्षकी ही व्याख्या सदा करते आये हैं। पक्षियों और पशुओंको भी किसी संदेशका वाहक बनाया गया है। कवि बड़ी कुशलतासे अपनी बुद्धिको प्रत्येक पात्रमें भरकर उसके द्वारा, चाहे वह स्त्री-पुरुष या पशु-पक्षी कोई भी हो, अपने अन्तस्तम भावोंको व्यक्त कराता है।

श्रीभगवद्गीता एक महान् काव्यकृति है। उपनिषद् भी अपने विचारों और अभिव्यञ्जनामें काव्यमय हैं। गीताके लेखक व्यास माने जाते हैं, परंतु वह है—श्रीकृष्णद्वारा उद्घोषित संदेश। विचारोंको विशद-रूपसे व्यक्त करनेके लिये यत्र-तत्र उपमाओं और रूपकोंका प्रयोग हुआ है। यहाँ कविने उच्च दार्शनिक एवं धार्मिक सत्योंको अत्यन्त सरल भाषामें अभिव्यक्त किया है। वह अपने कवि-धर्मको सदा अपनी दृष्टिके सामने रखता है। वह आत्मगोपनकी चेष्टा करते हुए भी प्रत्येक परिस्थितिका समुचित वर्णन करनेसे नहीं भागता।

उपनिषदोंमें भी मानव-कल्याणके लिये तपस्या एवं ब्रह्मचर्यके सच्चे पात्रोंकी सहायतासे उच्चतम विचारों और मानव महत्त्वाकाङ्क्षाओंको सरलतम भाषामें अभिव्यक्त किया गया है। इनका लेखक चाहे जो भी हो, उसने अपने काम-को बड़ी निर्मलतासे निभाया है। और साथ ही उनमें व्यक्त सत्यके साथ अपनेको नहीं जोड़कर आत्म-प्रचारसे पूरी तरहसे बचाया है। भूत, वर्तमान और भविष्यके बड़े-से-बड़े कवि-का सर्वश्रेष्ठ धर्म है—'आत्मप्रचारके प्रति उपेक्षा।'

(३)

(लेखिका—शिक्षा-विभाग-अग्रणी साध्विश्री मंजुलाजी)

साहित्य युगका प्रतिबिम्ब ही नहीं, युगका निर्माता भी है। जिस युग और देशका साहित्य जितना मौलिक और परिष्कृत होगा, वह युग और देश उतना ही चमकेगा। यद्यपि महापुरुषोंका जीवन भी युग और देशको चमकाता है, किंतु दिव्य-जीवन न तो उतना व्यापक ही होता है और न उतना स्थायी भी, जितना कि साहित्य होता है। दूसरे, साधकका समग्र दृष्टिकोण व्यक्तिगत होता है, जब कि साहित्यकार अपने 'स्व'को विश्वात्मामें परिणत करके चलता है।

मैं बहुत बार सोचती हूँ कि उपदेशकों, व्याख्याताओं और प्रवचनकारोंको अपना मूड बदल लेना चाहिये और

उन्हें साहित्य-सेवामें लग जाना चाहिये; क्योंकि साहित्यमें जो त्रैकालिक प्रभाव छोड़नेकी सामर्थ्य है, वह प्रवचनमें नहीं। प्रवचनका प्रभाव वर्तमानतक ही सीमित है। वर्तमानमें चाहे प्रवचनका प्रभाव कभी-कभी बड़ी तीव्रतासे और किसी-किसीपर बड़े चामत्कारिक ढंगसे होता है; परंतु उसके पहले और पीछे प्रवचनका कोई अस्तित्व नहीं।

कहीं-कहीं दृश्य और श्राव्य घटनाओंका प्रभाव क्षणिकत्वका अतिक्रमण कर देता है, फिर भी उनमें वह व्यापकता तो नहीं ही होती, जो साहित्यमें होती है। वर्तमान युग सबसे अधिक प्रभावशाली सिनेमा, थियेटर आदि दृश्य घटनाओंको मानता है, परंतु ये केवल वर्तमानको ही प्रभावित करते हैं। अतीत और अनागत इनसे भी सर्वथा अस्पृष्ट ही रह जाते हैं। एक साहित्य ही ऐसी विद्या है जो चाहे-अनचाहे अपने मार्मिक स्पर्शसे किसीको भी और कभी भी अछूता नहीं रहने देती। अतः सम्प्रेषणका सर्वोत्कृष्ट और सरल उपाय साहित्य है। इसीलिये साहित्यकार संसारकी समग्र हस्तियोंमें शीर्षस्थानीय हैं; लेकिन जो जितना अधिक शक्तिशाली होता है, वह उतना ही जिम्मेदार भी होता है। युगको या संसारको बनाने और बिगाड़नेकी सबसे बड़ी जिम्मेदारी आज साहित्यकारपर है। साहित्यकार चाहे तो प्रलय मचा दे और चाहे तो निष्क्रियता ला दे। चाहे तो जड़को प्राणवान् कर दे और चाहे तो हँसतेको रुला दे। यदि साहित्यकार अपनी जिम्मेदारीका यथार्थ अंकन करने लगे और निभाने लगे तो निश्चित ही धर्म-गुरुओं और समाज-सुधारकोंका काम बहुत हल्का हो जाय।

कवि, लेखक या वक्ता होना एक बात है और उसके आदर्शको निभाना दूसरी बात। जो स्वार्थसे प्रेरित होकर जन-मनोरञ्जनके लिये या किसी भी ऐहिक उद्देश्यको सामने रखकर साहित्यकी रचना करता है, वह साहित्यकार, लेखक या कवि नहीं—एक प्रकारका सौदागर है। बहुत-से लेखक इसी कोटिके होते हैं जो या तो शासकको खुश करने या फिर जनताका मन बहलानेके लिये कुछ भी हिताहित सोचे बिना जैसा-तैसा लिख डालते हैं। जहाँ औरोंको खुश रखनेके भाव ही प्रबल होते हैं, वहाँ यथार्थता सर्वथा आवृत हो जाती है। वे ही बातें लिखी जाती हैं जो पढ़नेवालों या सुननेवालोंको प्रिय लगें। ऐसा करनेवालोंकी स्वतन्त्र प्रतिभा कभी स्फुरित नहीं होती और वे सत्यके साथ आँख-मिचौनी करते हैं; साथ ही समाजका बहुत बड़ा अहित भी। चाहे वे एक बार लोगोंकी करतल-ध्वनिसे अपने मनको राजी कर लें, किंतु उनका साहित्य फुलझड़ीकी भाँति क्षणिक चमत्कार दिखाकर सदाके लिये विलीन हो जाता है। ऐसे तात्कालिक साहित्यसे स्वयंको सर्वथा वञ्चित रखना चाहिये। शाश्वत-साहित्य चाहे त्वरतासे प्रभावित नहीं भी करता है, लेकिन गम्भीर एवं दीर्घ मननके बाद उससे जो प्रभावोत्पादकता आती है, वह अमिट होती है। कई बार गम्भीर तथ्य व्यक्त करनेवालोंकी समाज उपेक्षा भी करता है। कभी-कभी उन्हें उलझनों और विरोधोंसे भी गुजरना पड़ता है; परंतु फिर भी कवियों और साहित्यकारोंको अपना परम कर्त्तव्य मानकर शाश्वत सत्योंको ही अपनी रचनाके लिये चुनना चाहिये।

एक शृंगारिक, अश्लील एवं छिछला काव्य चाहे कविकी प्रतिष्ठाको चरम सीमापर ले जाय, किंतु उससे कवि कर्त्तव्यच्युत होता है; क्योंकि वह अपने काव्यके माध्यमसे समाजमें अवाञ्छनीय तत्त्वोंको फैला रहा है। समाजकी अवहेलना पाकर भी यदि कोई साहसिक साहित्यकार अपनी रचनाओंमें उन नैतिक मूल्यों, उन आध्यात्मिक तथ्यों तथा जीवन-विकासके तत्त्वोंको उल्लिखित करता है, जिनसे गिरा हुआ जन-जनका जीवनस्तर ऊँचा उठ सके तो वह अवश्य ही, आज नहीं तो कल, पूजास्पद बनेगा। अपने कर्तव्य-भारसे मुक्त होनेके साथ ही वह संसारमें सदाके लिये अमर हो जायगा।

वाल्मीकि, व्यास, तुलसी और सूरको आज इतिहासोंमें नहीं पढ़ना पड़ता, किंतु शताब्दियोंके बाद भी आज वे जन-जनके मुँह बोल रहे हैं; क्योंकि उन्होंने धर्मका निर्वहन किया था।

आजके कवि, लेखक एवं साहित्यकारको अपनी जिम्मेदारीका सचाईके साथ निर्वहन करना चाहिये, ताकि आगे आनेवाला युग उनसे दिशा-दर्शन प्राप्त कर सके।

(४)

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

लेखकका धर्म है कि अपनी लेखन-कलाको—साहित्य-सृजन-सामर्थ्यको अनुपयोग, व्यर्थ उपयोग एवं दुरुपयोगसे बचाकर सदैव सर्वत्र उसका आवश्यकतानुसार सदुपयोग करें।

लेखकके रूपमें लेखकको जो क्षमता प्राप्त है, उसका अनुपयोग उसपर जंग चढ़ा देता है; फलतः उसकी धार

खुंडी हो जाती है, तेज फीका पड़ जाता है। लिखें कुछ नहीं, केवल लेखक होनेका दम भरें, गर्व करें—स्पष्ट ही यह अधार्मिकता है।

व्यर्थ उपयोगकी व्यर्थता दीपक लेकर दिखानेकी वस्तु नहीं। चाहे जब अंट-शंट, अनाप-शनाप, जो जीमें आया, टेढ़ा-सीधा लिख मारा। भला, यह भी कोई बात हुई। इस तरह धर्मका पालन तो होनेसे रहा; 'महामति बौड़मदास'की उपाधिसे भूषित होकर लोगोंकी 'हाहा-हीही' एवं व्यंग्य-बाणोंका शिकार अवश्य हुआ जा सकता है।

दुरुपयोग तो और भी भयावह है। नितान्त धर्म-विरुद्ध तो यह है ही, साथ ही यह हमें क्षमताके स्वत्वसे भी वञ्चित कर दे सकता है। जो क्षमता मिली है, वह दुरुपयोगके लिये नहीं, दुरुपयोगसे तो वह दिन-प्रति-दिन छीजती चली जाती है और एक दिन हमें कोरा 'बाबाजी' बनाकर छोड़ देती है।

तो धर्मका पालन हो सकता है—क्षमताको अनुपयोग, व्यर्थ उपयोग एवं दुरुपयोगसे बचाकर उसका सदुपयोग करनेसे।

अब प्रश्न होता है कि सदुपयोग क्या है।

दुरुपयोग-सदुपयोगकी धुँधली-धुँधली तसबीर तो सबके मानस-चक्षुओंके समक्ष घूमती रहती है। तनिक स्पष्ट झाँकी करें। सीधे सरल शब्दोंमें कहें तो कह सकते हैं कि जो लिखा जाना चाहिये, वह न लिखना और जो न लिखा जाना चाहिये, उसे लिखना दुरुपयोग है। ऐसे ही जो न लिखा जाना चाहिये, उसे न लिखना और जो लिखा जाना चाहिये, उसे ही लिखना सदुपयोग। यों भी कह सकते हैं कि असत् साहित्यका सृजन दुरुपयोग है और सत्-साहित्यका सृजन सदुपयोग।

लेकिन सत् क्या? असत् क्या?

लेखक जब जिस क्षण सत्योन्मुख हुआ, सरस प्रेममयताका पाथेय लिये, सुख-दुःखकी पगडंडियोंपर समभावसे पग धरता, डग भरता, सत्यका साक्षात्कार करता है, सत्यरूप होता है, तब उसी क्षणको शब्दोंमें (भले ही न पकड़ा-सा ही हो) पकड़कर उसकी झलक-झाँकीसे जन-जनको रसमय करना एवं उनके मस्तिष्कोंको कुरेदते हुए, हृदयोंको छूते हुए एवं हाथोंमें कर्मण्यता लाते हुए उन्हें सत्योन्मुख करना, सत्यका साक्षात्कार करनेके लिये, सत्यरूप होनेके लिये प्रेरित करना, सहारा देना उसके लेखनका उद्देश्य होता है। जो इस उद्देश्यके अनुकूल लिखा जाता है, वह सब सत्-साहित्य होता है; शेष सब असत्।

सत् साहित्य और पैसेका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। लिखनेपर पैसा मिल जाय, वह और बात है। पेट सबके लगा हुआ है, उसे ग्रहण कर लेनेमें भी दोष नहीं है। किंतु लिखते हुए पैसा ध्यानमें आ गया तो साहित्य सत्-साहित्य नहीं रहेगा। ध्येय—वास्तविक ध्येय सहज आँखसे ओझल हो जायगा और हम कहीं-के-कहीं जा पड़ेंगे। ऐसा न होता तो रुचि बिगाड़नेवाले सस्ते मनोरञ्जक साहित्यकी साहित्य-जगत्में इतनी भरमार न होती।

यशोभावना भी कुछ ऐसा ही खेल खिलाती है। सत्-साहित्य लिखनेपर यश मिल जाय, अच्छी बात है; पर मिल ही जाय—यह आवश्यक नहीं। अपयश भी मिल सकता है। यश-अपयशकी भावनासे मुक्त रहकर ही सत्-साहित्यका सृजन किया जा सकता है; अन्यथा सत्-साहित्यका सृजन तो दूर, यशोलिप्सा अन्य नामी लेखकोंकी रचनाओंमें काट-छाँट, कमी-बेशी करके किसी प्रकार उन्हें अपनी बनानेके चक्करमें फँसा, हमें चोर-दस्युतक बनाकर हमारी दुर्गति कर सकती है!

लिखनेमें रस आता है, केवल इस लिये लिखना भी खतरेसे खाली नहीं। रस जिसमें आना चाहिये, सदा उसीमें आये—यह तो जरूरी नहीं। और ऐसी अवस्थामें जो लिखा जाय, वह सत्-साहित्य ही हो—इसकी क्या गारंटी!

संक्षेपमें कह सकते हैं कि जो साहित्य सीमित 'अहं' की तृप्तिके लिये, उसे उसकी सीमिततामें ही फुलाने-फैलानेके लिये लिखा जाता है, वह सत्-साहित्य नहीं होता। सत्-साहित्य तो निश्चितरूपसे वह होता है, जिसे सीमित अहंकी संकीर्णता छू भी नहीं गयी होती, जो सबके लिये होता है, सबके हितार्थ होता है, सबके जीवनमें समृद्धि, यशस्विता एवं रस लाता है। यहाँ यह स्मरण रहे कि लेखक इस प्रकार स्वयं वञ्चित नहीं रह जाता। सबमें वह भी तो सम्मिलित होता है। इस प्रकार तो सबकी निर्विरोधताके कारण उसकी स्वयंकी प्राप्ति उल्टे और भी सुरक्षित रहती है।

ऐसा साहित्य—सत्-साहित्य निर्गुण होता है। निर्गुणसे आशय गुण-विहीनतासे न होकर गुण-सामञ्जस्यसे है। उसमें सब गुण होते हैं; पर उसका कोई गुण किसी अन्य गुणपर आघात नहीं करता, उसपर छाता नहीं, उसे हतप्रभ नहीं करता। सब गुणोंसे पूरा होते हुए गुणोंसे निर्लिप्त वह, प्रेममें डूबता-डुबाता-सा, सेवापथपर चलता-चलाता-सा, सत्यकी ओर ही लिये चलता है और एक दिन सत्य-साक्षात्कार कराकर—कहना चाहिये कि सत्यरूप करके ही रहता है—विना भेदभाव सब किसीको। धन्य है ऐसा साहित्य और उसका सृजक साहित्यकार!

तो निष्कर्ष यह निकला कि 'अहंता'से दूर रहकर, सर्वमयतामें रमते हुए व्यर्थके तथा असत् साहित्यके सृजनसे बचकर निरालस्य भावसे सदैव आवश्यकतानुसार सत्-साहित्यका सृजन ही लेखकका धर्म है, जिसका उसे प्राणपणसे पालन करना चाहिये। इसीमें कल्याण है, कवि-जीवन-सार्थकता है।

आदर्श निर्भीक कवि—श्रीपति

(लेखक—श्रीशिवकुमारजी गोयल)

बादशाह अकबरके राज-दरबारमें प्रायः कविसम्मेलनों एवं कवि-दरबारोंका आयोजन होता रहता था। देशभरके प्रसिद्ध कवि और शायर जहाँ अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करके भारी पुरस्कार प्राप्त करते थे, वहाँ दरबारी कवियोंका भी बादशाहकी ओरसे सम्मान किया जाता था।

कवि अपना धर्म और कर्तव्य भुलाकर, बादशाह अकबरकी प्रशंसामें नयी-नयी कविताएँ बनाते, चाटुकारिता करते एवं 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' की ध्वनिसे राजदरबार गूँज उठता। कवि क्या, भाटों तथा चाटुकारोंसे दरबार भरा रहता था।

अकबरके दरबारमें जहाँ चाटुकार कवियोंका बाहुल्य था, वहाँ व्रजका एक तपस्वी ब्राह्मण कवि श्रीपति भगवान् श्रीराम-कृष्णके गुणगानमें कविताएँ सुनाकर अपने कविधर्म-पर अटल था। श्रीपतिने भगवान्‌के अतिरिक्त कभी किसीकी प्रशंसामें एक शब्द भी मुखसे न निकाला था।

बादशाहकी प्रशंसाके पुल बाँधनेवाले मुसल्मान कवियोंमें असंतोष फैल गया कि 'जब यह बादशाहकी प्रशंसामें तो एक शब्द भी नहीं कहता और हिंदू देवी-देवताओंकी स्तुति करता है, फिर इसे दरबारसे सम्मान और पुरस्कार क्यों दिया जाता है?'

अन्य कवियोंने कवि श्रीपतिको दरबारसे हटवानेका षड्यन्त्र रचा। एक समस्या रक्खी गयी—

'करो सब आस अकब्बर की'

सबने कहा—देखें, अब श्रीपति कैसे अपने मुखसे बादशाह-सलामतकी प्रशंसामें कविता न बनायेंगे? अब कैसे अपने देवी-देवताओंकी प्रशंसाके पुल बाँधेंगे?

दरबारके सभी कवि समस्या-पूर्तिकी तैयारियोंमें लग गये। अकबरकी प्रशंसामें तुकबंदी करने लगे। किंतु कवि श्रीपति तो एक निर्भीक एवं धर्मात्मा कवि थे। ईश्वरके अतिरिक्त अन्य किसीसे भयभीत होना अथवा किसीकी चापलूसी करके प्रसन्न करना वे जानते ही न थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि कविका धर्म सरस्वतीकी उपासना करना है, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीराम-श्रीकृष्णके गुणगान करके वाणीको सार्थक बनाना है। अतः कवि श्रीपतिने भी समस्यापूर्ति की।

निश्चित दिन अकबरका दरबार लगा। दरबार दर्शकों एवं कवियोंसे खचाखच भरा हुआ था। दरबारमें जहाँ अनेक कवि बैठे हुए थे, वहाँ कविवर श्रीपति भी माथेपर लंबा तिलक लगाये, तनीदार कुरता पहिने, गलेमें तुलसीकी माला पहने हुए विराजमान थे।

अनेक कवियोंने 'करो सब आस अकब्बर की' समस्यापर, गुणगान और चापलूसीकी कविताएँ सुनानी प्रारम्भ कीं। दरबार वाह! वाह!! की ध्वनिसे गूँज उठा। जब बारी आयी कवि श्रीपतिकी, तब दरबारमें सन्नाटा छा गया। कविगण श्रीपतिको पथसे गिरता देखनेके लिये उत्सुक हो उठे। 'आज देखेंगे इसका कवि-धर्म'—फुसफुसाहट प्रारम्भ हो गयी।

कवि श्रीपतिने सरस्वती-वन्दनाके पश्चात् प्रारम्भ किया—

एकहि छाँड़ि कै दूजौ भजै, सो जरै रसना अस लब्बर की।
अबकी दुनियाँ गुनियाँ जो बनी, वह बाँधति फेंट अँडब्बर की॥

कवि श्रीपति आसरो रामहिं को, हम फैंट गही बड़ जब्बर की।
जिनको हरि में है प्रीति नहीं, सो करो सब आस अकब्बर की॥

निर्भीक कवि श्रीपतिके मुखसे उक्त शब्द सुनते ही दरबारमें सन्नाटा छा गया। बादशाह अकबर भी कवि श्रीपतिके कवि-धर्मकी दृढ़ता एवं निर्भीकताको देखकर दंग रह गया। दरबारके सभी चाटुकार कवि एक-एक करके दरबारसे खिसक गये।

कविका सर्वोपरि धर्म देश, धर्म और ईश्वरके गुणगान करना है, सरस्वतीकी आराधना करना है; किसी व्यक्ति-विशेषके गुणगान करना तो माँ सरस्वतीका तिरस्कार ही है।

धर्मकी बलिवेदीपर

[एक बिल्कुल सच्ची रोमाञ्चकारी गाथा]

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

घटना सन् १९४७ की है।

भारतमाताके अङ्ग-भङ्ग, खण्ड-खण्ड होकर पाकिस्तान बननेकी घोषणा होते ही समस्त पंजाब, सिंध, बंगालमें मुस्लिम गुंडोंने हिंदुओंको मारना-काटना तथा ग्रामोंको आगकी लपटोंमें भस्मीभूत करना प्रारम्भ कर दिया था। हिंदुओंको या तो तलवारके बलपर हिंदू-धर्म छोड़कर मुसल्मान बननेको बाध्य किया जा रहा था, अन्यथा उन्हें मार-काटकर भगाया जा रहा था।

पंजाबके ग्राम टहलराममें भी मुसल्मानोंने हिंदुओंको आतङ्कित करना प्रारम्भ कर दिया। गुंडोंकी एक सशस्त्र भीड़ने हिंदुओंके घरोंको घेर लिया तथा हिंदुओंके सम्मुख प्रस्ताव रक्खा कि—'या तो सामूहिक रूपसे कलमा पढ़कर मुसल्मान हो जाओ अन्यथा सभीको मौतके घाट उतार दिया जायगा'। बेचारे बेबस हिंदुओंने सोचा कि जबतक हिंदू मिलिट्री न आये इतने समयतक कलमा पढ़नेका बहाना करके जान बचायी जाय। उन्होंने मुसल्मानोंके कहनेसे कलमा पढ़ लिया, किंतु मनमें राम-रामका जप करने लगे।

'ये काफ़िर हमें धोखा दे रहे हैं। हिंदू सेना आते ही जान बचाकर भाग जायँगे। इन्हें गोमांस खिलाकर इनका धर्म भ्रष्ट किया जाय और जो गोमांस न खाय, उसे मौतके घाट उतार दिया जाय।'—एक शरारती मुसल्मानने धर्मान्ध मुसल्मानोंकी भीड़को सम्बोधित करते हुए कहा।

'ठीक है, इन्हें गोमांस खिलाकर इनकी परीक्षा की जाय।' मुसल्मानोंकी भीड़ने समर्थन किया।

मुसल्मानोंने गाँव टहलरामके प्रतिष्ठित व्यक्ति तथा हिंदुओंके नेता पं० बिहारीलालजीसे कहा कि—'आप सभी लोग गोमांस खाकर यह सिद्ध करें कि आप हृदयसे हिंदू-धर्म छोड़कर मुसल्मान हो गये हैं। जो गोमांस नहीं खायेगा, उसे हम काफिर समझकर मौतके घाट उतार डालेंगे।'

पं० बिहारीलालजीने मुस्लिम गुंडोंके मुखसे गोमांस खानेकी बात सुनी तो उनका हृदय हाहाकार कर उठा! उन्होंने मनमें विचार किया कि धर्मकी रक्षाके लिये प्राणोत्सर्ग करने, सर्वस्व समर्पित करनेका समय आ गया है। उनकी आँखोंके सम्मुख धर्मवीर हकीकतराय तथा गुरु गोबिंदसिंहके पुत्रोंद्वारा धर्मकी रक्षाके लिये प्राणोत्सर्ग करनेकी झाँकी उपस्थित हो गयी। वीर बंदा वैरागीद्वारा धर्मकी रक्षाके लिये अपने शरीरका मांस गरम-गरम चिमटोंसे नुचवाये जानेका दृश्य सामने आ गया।

पं० बिहारीलालजीने विचार किया कि इन गो-हत्यारे, धर्म-हत्यारे म्लेच्छोंके अपवित्र हाथोंसे मरनेकी अपेक्षा स्वयं प्राण देना अधिक अच्छा है। हमारे प्राण रहते ये म्लेच्छ हमारी बहिन-बेटियोंको उड़ाकर न ले जायँ और उनके पवित्र शरीरको इन पापात्माओंका स्पर्श भी न हो सके, ऐसी युक्ति निकालनी चाहिये।

पं० बिहारीलालजीने मुसल्मानोंसे कहा कि 'हमें चार घंटेका समय दो, जिससे सभीको समझाकर तैयार किया जा सके।' मुसल्मान तैयार हो गये।

पं० बिहारीलालजीने घर जाकर अपने समस्त परिवार-वालोंको एकत्रित किया। घरके एक कमरेमें पत्नी, बहिन, बेटियाँ, बालक, बूढ़े—सभीको एकत्रित करके बताया कि 'मुसल्मान नराधम गोमांस खिलाकर हमारा प्राणप्रिय धर्म भ्रष्ट करना चाहते हैं। अब एक ओर गो-मांस खाकर धर्म भ्रष्ट करना है, दूसरी ओर धर्मकी रक्षाके लिये प्राणोत्सर्ग करना है। सभी मिलकर निश्चय करो कि दोनोंमेंसे कौन-सा मार्ग अपनाना है।'

सभी स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्धोंने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया—'गो-मांस खाकर, धर्म-भ्रष्ट होकर परलोक बिगाड़नेकी अपेक्षा धर्मकी बलिवेदीपर प्राण देने अच्छे हैं। हम सभी मृत्युका आलिङ्गन करनेके लिये तैयार हैं।'

पं० बिहारीलालजीने महिलाओंको आदेश दिया—'तुरंत नाना प्रकारके सुस्वादु भोजन बनाओ और भगवान्‌को भोग लगाकर खूब छककर खाओ, अन्तिम बार खाओ। और फिर सुन्दर वस्त्राभूषण पहनकर धर्मकी रक्षाके लिये मृत्युसे खेलनेके लिये मैदानमें डट जाओ।'

तुरंत तरह-तरहके सुस्वादु भोजन बनाये जाने लगे। भोजन बननेपर ठाकुरजीका भोग लगाकर सबने डटकर भोजन किया तथा अच्छेसे वस्त्र पहिने। सजकर एवं वस्त्राभूषण धारण करके सभी एक लाइनमें बराबर-बराबर खड़े हो गये। सभीमें अपूर्व उत्साह व्याप्त था। पं० बिहारीलालजीका समस्त परिवार गो-रक्षार्थ, धर्म-रक्षार्थ प्राणोंपर खेलकर सीधे गोलोक-धाम जानेके लिये, शीघ्रातिशीघ्र मृत्युका आलिङ्गन करनेके लिये व्याकुल हो रहा था।

सभीको एक लाइनमें खड़ा करके पं० बिहारीलालजीने कहा—'आज हमें हिंदूसे मुसल्मान बनाने और अपनी पूज्या गो-माताका मांस खानेको बाध्य किया जा रहा है। हमें धमकी दी गयी है कि यदि हम गोमांस खाकर मुसल्मान न बनेंगे तो सभीको मौतके घाट उतार दिया जायगा। हम सभी अपने प्राणप्रिय सनातन-धर्मकी रक्षाके लिये गो-माताकी रक्षाके लिये हँसते-हँसते बलिदान होना चाहते हैं।'

सबने श्रीभगवत्स्मरण किया और पं० बिहारीलालजीने अपनी बंदूक उठाकर धाँय! धाँय!! करके अपनी धर्म-पत्नी, पुत्रियों, बन्धु-बान्धवों तथा अन्य सभीको गोलीसे उड़ा दिया। किसीके मुखसे उफ्‌तक न निकली—हँसते हुए, मुस्कराते हुए गो-रक्षार्थ, धर्म-रक्षार्थ बलिदान हो गये। घर लाशोंके ढेरसे भर गया।

अब पं० बिहारीलाल एवं उनके भाई दो व्यक्ति ही जीवित थे। दोनोंमें आपसमें संघर्ष हुआ कि 'पहले आप मुझे गोली मारें; दूसरेने कहा नहीं', 'पहले आप मुझे गोलीका निशाना बनायें।' अन्तमें दोनोंने अपने-अपने हाथोंमें बंदूक थामकर आमने-सामने खड़े होकर एक-दूसरेपर गोली दाग दी। पूरा परिवार ही धर्मकी रक्षाके लिये बलिदान हो गया!

ग्रामके अन्य हिंदुओंने जब पं० बिहारीलालजीके परिवारके इस महान् बलिदानको देखा तो उनका भी खून खौल उठा। वे भी धर्मपर प्राण देनेको मचल उठे। मुसल्मान शरारतियोंके आनेसे पूर्व ही हिंदुओंने जलकर, कुओंमें कूदकर एवं मकानकी छतसे छलाँग लगाकर प्राण दे दिये, किंतु गोमांसका स्पर्शतक न किया।

मुसल्मानोंकी भीड़ने जब कुछ समय पश्चात् पुनः ग्राम टहलराममें प्रवेश किया, तब उन्होंने ग्रामकी गली-गलीमें हिंदू वीरोंकी लाशें पड़ी देखीं। पं० बिहारीलालके मकानमें घुसनेपर लाशोंका ढेर देखकर तो गुंडे दाँतों तले अँगुली दबा उठे।

सदाचार-धर्म

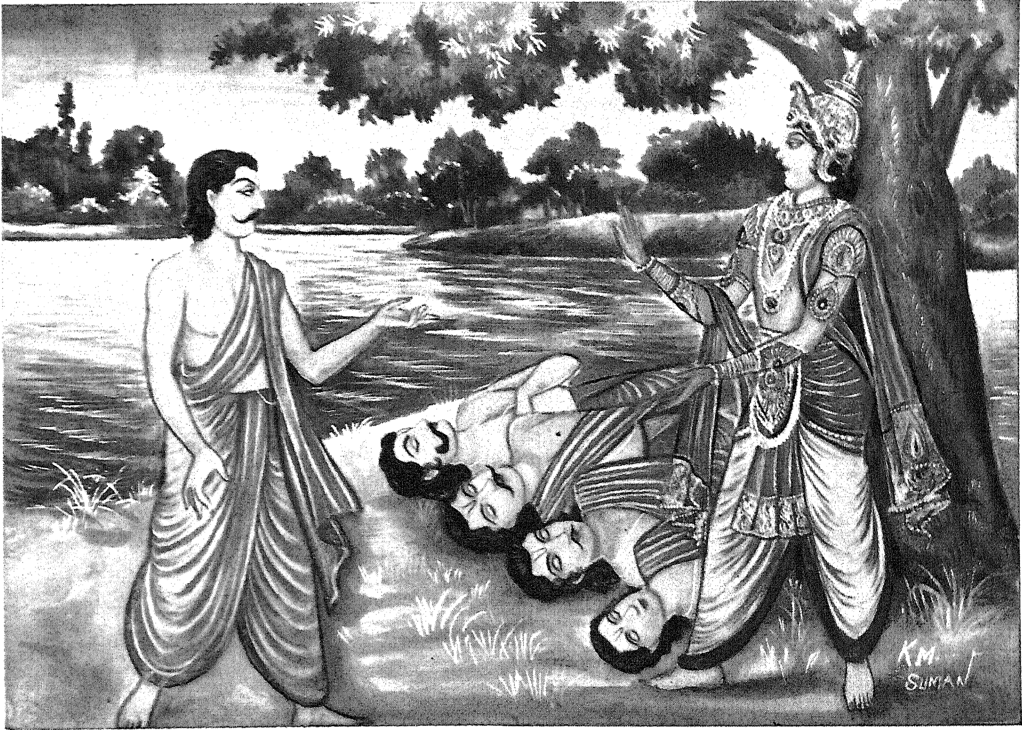
आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्। आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च॥
दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत्। त्रसन्ति यस्माद् भूतानि तथा परिभवन्ति च॥
तस्मात् कुर्यादिहाचारं यदीच्छेद् भूतिमात्मनः। अपि पापशरीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम्॥
आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणाः। साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम्॥

(महाभारत अनुशासन० १०४। ६—९)

सदाचारसे ही मनुष्यको आयु प्राप्त होती है, सदाचारसे ही वह सम्पत्ति पाता है तथा सदाचारसे ही इहलोक और परलोकमें भी कीर्तिकी प्राप्ति होती है। दुराचारी मनुष्य, जिससे सब प्राणी डरते हैं और तिरस्कृत होते हैं, इस संसारमें ही आयु नहीं पाता। अतः यदि मनुष्य अपना कल्याण चाहता है तो उसे इस जगत्‌में सदाचारका पालन करना चाहिये। पापयोनि मनुष्य भी यदि सदाचारका पालन करे तो वह उसके तन-मनके बुरे संस्कारोंको दबा देता है। सदाचार ही धर्मका लक्षण है। सच्चरित्रता ही श्रेष्ठ पुरुषोंकी पहचान है। श्रेष्ठ पुरुष जैसा बर्ताव करते हैं, वह सदाचारका स्वरूप अथवा लक्षण है।



भ्रातृधर्म—श्रीराम और भरत



भ्रातधर्म—धर्मराज युधिष्ठिर और यक्ष संवाद

भ्रातृ-धर्मके आदर्श

(१)

त्यागमूर्ति श्रीभरतजी

आगें होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसन देई ॥

—यह महाराज दशरथका प्रभाव कहा गया है। अयोध्याके चक्रवर्ती सम्राट्का वह सिंहासन भरतके लिये सुलभ था। श्रीराम वनमें चले गये, महाराज दशरथने उनके वियोगमें देहको त्याग दिया। अयोध्या सूनी हो गयी। जब राज्यपरिषद् एकत्र हुई, तब किसीको इसके अतिरिक्त कोई मार्ग ही नहीं सूझता था कि भरत शासनाधीश बनें। सत्यप्रतिज्ञ श्रीराम चौदह वर्षसे पूर्व वनसे लौट नहीं सकते और न लक्ष्मण या जनकनन्दिनीके लौटनेकी सम्भावना है। अयोध्याका सिंहासन रिक्त तो रहना नहीं चाहिये। मन्त्रियोंने, प्रजाके प्रमुख लोगोंने, गुरु वशिष्ठने तथा माता कौसल्यातकने आग्रह किया कि भरतको सिंहासन स्वीकार कर लेना चाहिये। कम-से-कम चौदह वर्ष तो अवश्य वे राज्य करें।

सौंपेहु राजु राम के आएँ। सेवा करेहु सनेह सुहाएँ ॥

लेकिन भरतजीका उत्तर बहुत स्पष्ट है—

हित हमार सियपति सेवकाईं। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाईं ॥
सोक समाजु राजु केहि लेखें। लखन राम सिय बिनु पद देखें ॥

जिस राज्यकी स्पृहा सुरपतिको भी हो, वह ठुकराया फिर रहा था। भरत वनको चले और चले भी नंगे पैर, पैदल। उनसे जब रथपर बैठनेको कहा गया, तब वे बोले—

राम पयादेहि पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए ॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धर्मु कठोरा ॥

'श्रीराम पैदल गये इस पथमें और मेरे लिये रथ, हाथी, घोड़े? अरे! मुझे तो सिरके बल चलकर जाना चाहिये; क्योंकि मैं उनका सेवक हूँ।'

श्रीरामको लौटना नहीं था, वे लौटनेके लिये तो वन गये नहीं थे; किंतु भरतको संतुष्ट करके ही उन्होंने लौटाया। श्रीरामका व्रत रहा तो भरतका प्रेम भी सम्पूर्ण सम्मानित हुआ। भरत लौटे श्रीरामकी चरण-पादुका लेकर। राज्यका कार्य वे करेंगे तो केवल प्रतिनिधिके रूपमें और वह भी राजभवनमें रहकर नहीं। अग्रज वनमें पर्णकुटीमें रहता है तो अनुजने भी नन्दिग्राममें पर्णकुटी बनायी और—

महि खनि कुस साथरी सँवारी।·····

राम लखन सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तन कसहीं॥

श्रीराम कंद-मूल-फलका आहार करते होंगे; किंतु भरतने तो चौदह वर्ष गोमूत्र-यावक-व्रत किया। अर्थात् यव गायको खिलाया। वह गोबरमें निकला तो धोकर, स्वच्छ करके गोमूत्रमें पकाया गया और दिन-रातमें एक बार उसका आहार किया गया। यह तप भी कोई क्लेश मानकर नहीं किया गया।

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू ॥

यह अवस्था भरतकी रही। 'भायप भगति भरत आचरनू।' परम पावन है इस 'भायप भगति'का स्मरण भी···।

—सु०

(२)

धर्मराज युधिष्ठिर

वनवासका समय व्यतीत करते हुए पाण्डव द्वैतवनमें पहुँचे थे। एक दिन उन्हें बहुत प्यास लगी। युधिष्ठिरने वृक्षपर चढ़कर देखा। दूर एक स्थानपर हरियाली और जलपक्षी दिखायी पड़े। वहाँ जलका अनुमान करके उन्होंने नकुलको जल लाने भेजा। वहाँ स्वच्छ जलसे पूर्ण सरोवर था। लेकिन नकुल सरोवरके तटपर पहुँचे ही थे कि उन्हें सुनायी पड़ा—'इस सरोवरपर मेरा अधिकार है। इसका जल पीनेका साहस मत करो। मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर तब जल पीना।'

एक यक्ष बगुलेके रूपमें वृक्षपर बैठा यह बात कह रहा था। नकुल बहुत प्यासे थे। उन्होंने यक्षकी बातपर ध्यान नहीं दिया। किंतु सरोवरका जल मुखसे लगाते ही वे निष्प्राण होकर गिर पड़े।

बहुत देर हो गयी; नकुल नहीं लौटे तो युधिष्ठिरने सहदेवको भेजा। उनके साथ भी नकुल-जैसी ही घटना हुई। इसी क्रमसे अर्जुन तथा भीम गये और उन दोनोंकी भी नकुल-जैसी ही दशा हुई।

जल लाने गये कोई भाई भी जब लौटे नहीं, तब बहुत थके होनेपर भी युधिष्ठिर स्वयं वहाँ गये। वहाँ अपने भाइयोंको मृत देखकर वे बहुत व्याकुल हुए। शोक चाहे जितना हो, प्यासमे व्याकुल प्राणोंको तृप्त तो करना ही था। वे जल पीने बढ़े तो यक्षकी वही बात उन्हें भी सुनायी पड़ी।

युधिष्ठिर खड़े हो गये। उन्होंने कहा—'सरोवरके जलपर तुम्हारा यदि अधिकार है तो ठीक है; दूसरेके स्वत्वकी वस्तु मैं लेना नहीं चाहता। तुम प्रश्न करो, अपनी बुद्धिके अनुसार मैं उत्तर देनेका प्रयत्न करूँगा।'

यक्ष प्रश्न करता गया। युधिष्ठिरने उसके प्रश्नोंका उचित उत्तर दिया। अन्तमें वह बोला—'तुमने मेरे प्रश्नोंका ठीक-ठीक उत्तर दिया है; अतः तुम जल पी सकते हो और अपने भाइयोंमेंसे जिस एकको चाहो, वह जीवित हो जायगा।'

'आप मेरे छोटे भाई नकुलको जीवित कर दें।' युधिष्ठिरने कहा। बड़े आश्चर्यभरे स्वरमें यक्ष युधिष्ठिरकी बात सुनकर बोला—'तुम कहीं विवेक तो नहीं खो बैठे हो! राज्यहीन होकर तुम वनमें भटक रहे हो। यहाँ अनेक विपत्तियाँ हैं। अन्तमें प्रबल शत्रुओंसे तुम्हें युद्ध करना है। नकुल तुम्हारी क्या सहायता करेगा? वनमें जो सहायक हो सके और शत्रुओंका मान-मर्दन कर सके, ऐसे महापराक्रमी भाई भीमसेन अथवा दिव्यास्त्रोंके पारंगत अर्जुनको छोड़कर नकुलको क्यों जीवित करना चाहते हो?'

युधिष्ठिर बोले—'यक्ष! वनवासका दुःख या राज्य तो प्रारब्धसे मिलता है। मैं भोगकी चिन्ता करके धर्मका त्याग क्यों करूँ? जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म स्वयं उसकी रक्षा कर लेता है। मेरे दो माताएँ हैं। उनमें कुन्तीका पुत्र मैं जीवित हूँ। मैं चाहता हूँ कि मेरी दूसरी माता माद्रीका वंश नष्ट न हो, उनका भी एक पुत्र जीवित रहे। अतः तुम नकुलको जीवनदान देकर उनको पुत्रवती बनाओ।'

'वत्स! तुम अर्थ और कामके विषयमें भी धर्मनिष्ठ हो, अतः तुम्हारे चारों भाई जीवित हों।' यक्ष साक्षात् धर्मके रूपमें प्रकट होकर बोला। 'मैं तो तुम्हारा पिता धर्म हूँ। तुम्हारी धर्मनिष्ठाकी परीक्षा लेने आया था।'

युधिष्ठिरके चारों भाई ऐसे उठ बैठे, जैसे निद्रासे जागे हों।

—सु०

पुरोहित-धर्मके आदर्श

महाराणा प्रताप अपने छोटे भाई शक्तसिंहके साथ आखेटको निकले थे। विजयादशमीका पर्व था और इस दिन आखेट करना राजपूत शुभ मानते थे। संयोगवश दोनों भाइयोंकी दृष्टि एक साथ एक मृगपर पड़ी। दोनोंने बाण चलाया। मृग तो मर गया; किंतु दोनों भाइयोंमें विवाद छिड़ गया कि मृग किसके बाणसे मरा। दोनों उसे अपना आखेट बतलाने लगे। बात बढ़ती गयी और इतनी बढ़ी कि दोनोंने तलवार खींच ली।



राजपुरोहित साथ आये थे। उन्होंने दोनोंको समझानेका प्रयत्न किया। लेकिन राणाप्रताप छोटे भाईके स्नेहको क्रोधमें भूल गये थे और क्रोधके आवेशमें शक्तसिंह बड़े भाईको श्रद्धा-सम्मान देनेको प्रस्तुत नहीं थे। राजपुरोहितकी शपथका भी उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

'मैंने इस भूमिमें जन्म लिया और राजकुलके अन्नसे पला। यजमानकी विपत्तिसे रक्षा करना पुरोहितका मुख्य धर्म है। मैं नहीं देख सकता कि मेरे यजमान परस्पर कट मरें।' राजपुरोहित दोनोंके मध्यमें कटार लेकर खड़े हो गये—'आज जब विधर्मी इस मातृभूमिको रौंदनेका अवसर देख रहे हैं, रक्षाका जिनपर दायित्व है,

उनके सिर क्रोधका पिशाच चढ़ गया। इसे यदि रक्त पीकर ही शान्त होना है तो वह मुझ ब्राह्मणका रक्तपान करे।'

ब्राह्मणने कटार अपनी छातीमें मार ली। उनका शरीर भूमिपर गिर पड़ा। दोनों भाइयोंने मस्तक झुका लिया। —सु०

धर्म और मल्लविद्या

(लेखक—डॉ० श्रीनीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी)

भारतीय विचार-परम्पराके अनुसार मानव-जीवनकी सार्थकता पुरुषार्थ-चतुष्टयकी सिद्धिमें मानी गयी है। ये चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं। इनकी श्रृङ्खला इस प्रकार बनी है कि प्रथम पुरुषार्थके द्वारा दूसरेकी तथा प्रथम और द्वितीयके द्वारा तीसरेकी सिद्धि मानी गयी है। मोक्षकी सिद्धि धर्मानुमोदित अर्थ तथा धर्मार्थसे सम्पादित कामके द्वारा सम्भव है। इसलिये सर्वप्रथम धर्मकी सिद्धि अत्यावश्यक है। इस पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये जितने भी आवश्यक साधन या अङ्ग हैं, उनमें मानवके शरीरको आद्य साधन माना गया है—**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।** अतएव उसे सुदृढ़ एवं कार्यक्षम रखना धर्मसाधनका श्रीगणेश है। हमारा यह शरीर एकादश इन्द्रियोंसे युक्त है—पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन। मन एवं ज्ञानेन्द्रियोंके संवर्धनके लिये अन्यान्य शास्त्रोंका निर्माण हुआ, पर कर्मेन्द्रियोंके विकास एवं वर्धनके लिये व्यायाम-शास्त्र बना। भारतीय पद्धतिके अनुसार कोई भी विद्या शास्त्रका रूप तभी लेती है, जब वह श्रुति-स्मृति एवं सदाचारके अनुरूप हो। व्यायाम-शास्त्र भी इसके लिये अपवाद नहीं है। उसकी भी विशिष्ट धर्म-परम्पराएँ एवं मान्यताएँ हैं। साधारण मान्यताओंके अतिरिक्त व्यायाम-शास्त्रके विशिष्ट अङ्गोंकी—यथा मल्लविद्या, मृगया, जलक्रीड़ा, अश्वविद्या, गजविद्या, शस्त्रविद्या आदिकी भी अपनी स्वतन्त्र मान्यताएँ एवं धर्म हैं। भारतीय ग्रन्थोंमें इनका विवेचन किसी एक स्थानपर तो नहीं, परंतु प्रसङ्गानुसार विभिन्न स्थानोंपर अङ्कित है, जिनका संकलन उपयोगी होगा। प्रस्तुत लेखमें हम केवल मल्ल-विद्याकी धार्मिक मान्यताओंका विचार करेंगे।

आचार्य और देवता

प्रथम व्यायाम-शास्त्रके, जिसका एक प्रधान अङ्ग मल्लविद्या है—देवता और आचार्योंका विचार करें। यह विद्या कई आचार्योंद्वारा पल्लवित हुई, जिनमें अगस्त्य, वशिष्ठ, विश्वामित्र, जाम्बवान्, द्रोण, कृप, परशुराम आदिकी गणना मुख्यतासे की जाती है। असुरोंमें इस विद्याके मुख्य आचार्य शुक्र थे। मल्लपुराणके अनुसार मल्लविद्याका उपदेश सर्वप्रथम ब्रह्माने नारदको किया था (मल्लपुराण १। ४)। इस शास्त्रके प्रमुख देवताओंमें सूर्य और हनुमान् तो हैं ही, इनके अतिरिक्त इस सम्बन्धमें अन्य देवताओंके भी उल्लेख मिलते हैं। कूर्मपुराणके अनुसार व्यायामविद्याके देवता वायु हैं (कूर्म० उत्तरा० २०–२३)। यहाँ बतलाया गया है कि वायुको प्रसन्न करनेसे बलकी प्राप्ति होती है। कदाचित् परवर्ती कालमें वायुपुत्र हनुमान् और व्यायामका स्थिर सम्बन्ध इसीलिये स्थापित हुआ। वायुका बलसे सम्बन्ध आयुर्वेदसे भी अनुमोदित है। पहलवानोंके एक आराध्यदेव यक्ष पूर्णभद्र भी थे। चम्पा नगरीमें नट, बाजीगर, विदूषक आदि लोग वहाँके मन्दिरमें इस यक्षका पूजन पुष्प, धूप-दीप आदिसे किया करते थे (आनन्द कुमारस्वामी, यक्ष, भाग १, पृ० २०)। दक्षिणकी मान्यताके अनुसार मल्लोंके प्रथम पूजनीय भगवान् श्रीकृष्ण थे। महाराज सोमेश्वर चालुक्यके द्वारा निर्मित 'मानसोल्लास' नामक ग्रन्थके 'मल्लविनोद' नामक प्रकरणमें बतलाया गया है कि रङ्गभूमि या अखाड़ेमें आग्नेय दिशाकी ओर श्रीकृष्णमण्डप बनाया जाय (मानसोल्लास, अध्याय ५ विंशति ४, ९७०)। पहलवान भी अक्षत और दूर्वाङ्कुरोंको हाथमें लेकर प्रवेश करते ही प्रथम श्रीकृष्णको नमस्कार करते थे (वही ९८२)। इस तथ्यका विस्तृत उल्लेख मल्लपुराण नामक ग्रन्थमें भी मिलता है। यह एक प्राचीन ग्रन्थ है, जो अभी हालमें ही प्रकाशित हुआ है। इसके अनुसार देवालय ग्राम (वर्तमान देलमाल, गुजरातमें मोढेराके निकट) में मथुरासे द्वारकाकी ओर जानेवाले श्रीकृष्णद्वारा सोमेश्वर नामक ब्राह्मणको यह पुराण सुनाया गया था। इस ग्रन्थमें मल्लोंके आराध्य 'सर्वकामप्रद' श्रीकृष्णका जो रूप बतलाया गया है, उस ध्यानमें बायीं ओर हरि, दाहिनी ओर शिव, नाभिमें ब्रह्मा तथा हाथोंमें

माताओंका निवास कहा गया है (मल्ल० ६-३५)। इन्हें 'नारायण' नामसे भी पुकारा गया है (वही १४-५६)। मल्लविद्यासे श्रीकृष्णका सम्बन्ध कुछ प्राचीन मूर्तियोंसे भी सिद्ध होता है। मथुराकी कुषाणकालीन कलामें भारश्रम (weight-lifting) के कुछ ऐसे साधन मिले हैं, जिनपर श्रीकृष्णकी लीलाएँ यथा केशिवध अङ्कित हैं (नी०पु० जोशी, मथुराकी मूर्तिकला, फलक ६४, पुरातत्व-संग्रहालय मथुराकी मूर्तिसंख्या ५८.४४७४)।

श्रीकृष्णके अतिरिक्त सुदर्शन (मल्ल० ६-३२), हलधर तथा वासुकि (वही ६-३७), वसुंधरा (वही ६-४२) भी मल्लोंके लिये सदा वन्दनीय थे। मल्लोंकी कुलदेवीका नाम लिम्बजा बतलाया गया है—**मल्लानां लिम्बजा शक्तिः**। मल्लपुराणके अनुसार लिम्बजा योगमायाका स्वरूप है। श्रीकृष्णने सोमेश्वरको एक लिम्ब-नीमके वृक्षपर इस सिंहवाहिनी चतुर्भुजा देवीके दर्शन कराये थे (मल्ल० १८-३३—३६)। इसका स्मरण, पूजन आदि विजय देनेवाला माना गया है।

इस प्रकार आचार्य तथा देवताओंकी उपस्थितिमें मल्लविद्याका धार्मिक स्वरूप निखरने लगता है। इस शास्त्रका अध्ययन प्रारम्भ करनेके लिये भी धार्मिक बन्धन हैं। बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदानके अनुसार चिकित्सा, यात्रा, दान, अध्ययन, शिल्प एवं व्यायामके लिये पञ्चमी तिथि श्रेष्ठ मानी गयी है (दिव्या० ३३, शार्दूलकर्णावदान, पृ० ४२१)। आज भी नागपञ्चमीके दिन मल्लोंके उत्सव होते रहते हैं। अन्य शास्त्रोंके समान इस शास्त्रके अनध्याय या छुट्टियोंकी तिथियाँ भी निश्चित हैं। मल्लपुराणके अनुसार अष्टमी, चतुर्दशी, दर्श (अमावस्या), क्षयातिथि, सूतक, महाष्टमी, प्रेतपक्ष या कन्यागत, अक्षयनवमी एवं चन्द्र और सूर्यके ग्रहण—मल्लशास्त्रके लिये अनध्यायकी तिथियाँ हैं (मल्ल० ९-२९-३०)।

मल्लोंके धर्म और आचार—

मल्लोंके धर्मका जितना सुन्दर विवेचन महाभारतके खिलपर्व 'हरिवंश' में मिलता है, उतना कदाचित् अन्यत्र सुलभ नहीं है। विवेचनकर्ता हैं श्रीकृष्ण तथा सभामें उपस्थित वृद्ध यादव। ये मल्लधर्म निम्नाङ्कित हैं (हरिवंश गीताप्रेस सं० विष्णु०, ३०। १२—३०):—

(१) रङ्गस्थलमें भुजाओंके अतिरिक्त किसी अन्य शस्त्र या अस्त्रका प्रयोग नहीं होना चाहिये।

(२) दोनों पहलवानोंका जोड़ निश्चित करनेके लिये तथा नियुद्धके नियमोंका पालन करानेके लिये 'मध्यस्थ' अथवा 'प्राश्निक' होने चाहिये। इन अधिकारियोंको मल्ल-पुराणमें 'मतिकार' कहा गया है।

(मल्ल० ६। ४९। ५२)

(३) दोनों पहलवानोंका क्रिया और बलमें समान होना आवश्यक है।

(४) जो पहलवान लड़ते समय जिस मार्ग या दाँव-पेंचका अनुसरण करता था, उसका प्रतिस्पर्धी भी उसी मार्गको अपनाता था।

(५) एक समय एक पहलवानके साथ एकाधिक मल्ल नहीं भिड़ सकते थे।

(६) विद्वान् प्रबन्धकोंके लिये यह आवश्यक था कि वे योद्धाओंके लिये जल तथा करीष या गोबरका चूर्ण प्रस्तुत कर सदैव उनका सत्कार करें।

(७) प्रतिद्वन्द्वीको गिरा देनेके उपरान्त जेता मल्लको उसके साथ और कुछ भी करना अनुचित था।

(८) प्रत्येक पहलवानका कर्तव्य था कि वह बाहुयुद्ध-के नियमोंका उल्लङ्घन करके अपनी परम्पराको कलङ्कित न करे।

(९) मल्लोंके निर्मित आचारके अनुसार गोबरके चूर्णको उबटनके समान शरीरमें मलना, जलका उपयोग तथा गेरूके रंगका लेपन करना रङ्गस्थलके धर्म थे।

(१०) संयम, स्थिरता, शौर्य, व्यायाम, सत्क्रिया तथा बल—रङ्गसिद्धिके छः साधन हैं।

(११) नियुद्ध या कुश्तीमें मल्लका प्राणहरण करना मल्लमार्गको कलङ्कित करना है। युद्धमार्गमें शत्रुको विदीर्ण कर देना सिद्धिका द्योतक है, परंतु बाहुयुद्धमें प्रतिमल्लको गिरा देनेमें ही सिद्धि है।

यद्यपि यह सिद्धान्त अर्थतः मान्य रहा होगा और मल्ल-पुराण भी उसका इसी रूपमें उद्घोष करता है (मल्ल० १५। २२-२३), तथापि अन्यान्य उदाहरणोंसे स्पष्ट होता है कि उक्त नियम कदाचित् सर्वमान्य नहीं रहा। श्रीकृष्णने स्वयं ही इसका सकारण उल्लङ्घन किया था। कंसकी सभामें दिये हुए अपने भाषणमें उन्होंने उन कारणोंको भी स्पष्ट किया है। ऐसे ही एक युद्धमें भीमने विराट नगरीमें प्रसिद्ध

मल्ल जीमूतको मार डाला था। भीमने कुश्तीमें ही जरासंधके प्राण लिये थे। बादमें भी यही परम्परा चलती रही।

(१२) शस्त्रयुद्ध प्राणान्तिकी यात्रा है, उसमें धराशायी होनेवालेको स्वर्ग मिलता है; परंतु मल्लमार्ग बल और दाँवपेंचके कौशलका मार्ग है। इसमें न तो मरनेवालेको स्वर्ग है और न मारनेवालेको यश।

मल्लोंके उपर्युक्त धर्मोंके अतिरिक्त कुछ अन्य आचारोंकी चर्चा महाभारतमें भीम-जरासंध-युद्धके अवसरपर मिलती है। जैसे—

(१) नियुद्ध-कर्म या कुश्तीके प्रारम्भमें सर्वप्रथम बलिकर्मादि माङ्गलिक आचार किये जाते थे। भीम-जरासंधवाले प्रकरणमें ये आचार क्रमशः श्रीकृष्ण और जरासंधके पुरोहितद्वारा सम्पन्न किये गये थे (महाभारत सभा० २३। ५। ९)।

(२) बाहुयुद्धके प्रारम्भमें दोनों मल्ल एक दूसरेसे हाथ मिलाते और पैर छूते थे (महाभारत, सभा० २३। ११)।

मल्लपुराणमें भी स्थान-स्थानपर मल्लोंके विविध आचारोंकी चर्चा है, जिनमें मुख्य निम्नाङ्कित हैं—

(१) दैनिक व्यायाम प्रारम्भ करनेके पूर्व भूमि—व्यायामभूमिको वन्दन करना आवश्यक है (मल्ल० ६। २५)। इसे 'भूमिवन्दन' कहते थे।

(२) व्यायामके समय बाल, वृद्ध, अंधा, बहरा, छिन्नाङ्ग, क्रोधी, रोगी, पिशुन या उन्मत्त, अनृत या असत्यवादी, पाखण्डी, मत्त, बकझक करनेवाला, धूर्त, आर्त, कोढ़ी, छली, चोर, चाण्डाल, मायिक या जादूगर तथा स्त्रियाँ—इनसे प्रत्येक पहलवान अपनेको बचाये। साथ ही वह उस समय उच्चहास्य, खाँसी, छींक, आपसी विवाद, रोना तथा किसी दूरवालेको पुकारना—इनसे भी बचा रहे (मल्ल० ६। २६-२७)।

(३) खाँसी तथा दमेका रोगी, भूखा या तुरंत ही भोजन किया हुआ, दु ल, असमर्थ, व्यग्रचित्त, चिन्तातुर, अजीर्णसे पीड़ित, मदपीड़ित या मतवाला, सिरका रोगी, भ्रान्त आदि प्रकारके लोगोंको मल्ल-कर्म नहीं करना चाहिये (मल्ल० ८। २५-२६)।

इस प्रकार मल्लोंके भोजन, स्त्री-समागम, भैषज्य आदिके विषय भी मल्लपुराणमें चर्चित हैं; पर यहाँ हम उन्हें विस्तारभयसे छोड़ देते हैं।

धर्म और मल्लविद्याका विचार करते समय मल्लोंकी सामाजिक स्थितिका भी विचार करना होगा। बलोपासनाके लिये मल्लविद्याका अभ्यास तथा जीविकोपार्जनके लिये उसका उपयोग दो भिन्न वस्तुएँ मानी जाती थीं। बलोपासनाके लिये मल्लविद्याका अध्ययन सभी लोग कर सकते थे और करते थे। भगवान् श्रीकृष्ण, दीक्षाकल्याणके पूर्व भगवान् ऋषभनाथ, तीर्थंकर महावीरके पिता महाराज सिद्धार्थ, सौराष्ट्रके शासक कुमारपाल, विजयनगरके पराक्रमी शासक कृष्णदेवराय, महाराष्ट्रके कई पेशवा राजा मल्लविद्याके मान्य ज्ञाता थे (नी० पु० जोशी, भारतके कुछ प्रमुख महापुरुषोंकी व्यायामसाधना, त्रिपथगा, फरवरी १९६० पृ० १२९-१३२)। जीविकोपार्जनके लिये मल्लविद्याका प्रश्रय लेनेवालोंकी बात दूसरी थी। मल्लपुराणके अनुसार ब्राह्मणोंकी ही एक शाखाने यह कार्य अपनाया था, जो बादमें पतित उद्घोषित कर दी गयी (साँडेसरा, ज्येष्ठीमल्ल ज्ञाती अने मल्लपुराण, पृ० २)। स्कन्दपुराणकी यही मान्यता है (स्कन्द० ३, ब्रह्माण्ड ३९, २८७) कि ये ब्राह्मण कलियुगमें शूद्रोंके अन्तर्गत माने जायँगे। धर्मशास्त्रियोंने भी इसे स्वीकार किया है। मल्लोंकी एक स्वतन्त्र जाति ही मानी गयी है, जो सदैव नट, जल्ल, बाजीगर आदिके साथ ही शूद्रोंमें गिनायी गयी है (मनु० १०-२२, काणे पा० वा०, History of Dharmashastra, खण्ड १, पृ० ८२, ९०)। कभी-कभी मल्लोंकी नियुक्ति अपराधियोंको शारीरिक दण्ड देनेके लिये की जाती थी (जैन महापुराण, ४६, २९३), जो उनके निम्नस्तरीय होनेकी ओर संकेत करती है।

इस प्रकार मल्लोंका सामाजिक स्तर निम्न होनेका परिणाम यह निकला कि शनैः-शनैः मल्लविद्या भी कहीं-कहीं हेय दृष्टिसे देखी जाने लगी। परंतु उपर्युक्त विवेचनसे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि इस विद्याकी उपादेयताको देखकर प्राचीन कालसे ही उसे धार्मिक बन्धनोंसे एक सुसंस्कृत शास्त्रका स्वरूप दिया गया। यही नहीं, उस विद्यासे सम्बन्धित एक छोटे-से पुराणकी भी रचना हुई।

धर्म और खान-पान

(लेखक—श्रीरामचन्द्रजी उपाध्याय 'आर्य मुसाफिर')

धर्म और खान-पान—इस विषयपर विचार करनेसे पूर्व हमें यह जानना आवश्यक है कि 'धर्म' शब्दका क्या अर्थ है। यदि इसे हम जान लें तो धर्म हमें क्या खाना, कैसा खाना अथवा किस प्रकारका खानपान करना चाहिये—इन सब प्रश्नोंका यथार्थ ज्ञान कराता है। अस्तु,

धृञ् धारणपोषणयोः—इस धातुसे मन् प्रत्यय करके 'धर्म' शब्द बनता है, जिसका अर्थ महर्षि पाणिनिने उणादि-कोषमें **'ध्रियते सुखप्राप्तये सेव्यते स धर्मः'**—अर्थात् जो सुखकी प्राप्तिके लिये धारण किया जाय या जिसका मानवके पोषणके अर्थ सेवन किया जाय, वह धर्म है।

व्याकरणशास्त्रके महान् आचार्य महर्षि पाणिनिजीकी इस कसौटीसे हमें इस बातको समझने-सोचनेके लिये बड़ी सरलता और सहायता मिल गयी है कि संसारमें जो कर्म मनुष्य करे, उसमें सबसे पहले यह विचार कर ले कि जिन कर्मोंको मैं कर रहा हूँ, उनसे वस्तुतः वर्तमानमें मुझे क्या सुख प्राप्त हो रहा है और भविष्यमें क्या होगा।

अपनी आत्मामें उस आत्म-तत्त्व प्रभुका साक्षात्कार करते हुए ऋषि कहते हैं—**'वेदविहितकर्मजन्यो धर्मः, निषिद्धस्तु अधर्मः'** अर्थात् वेदोंमें जिन कर्मोंका विधान है, वे सब धर्म हैं और निषिद्ध कर्म सब अधर्म हैं।

अब पाठक विचार कर सकते हैं कि जो खान-पान धर्मानुकूल है, वह यथार्थ है और जो इसके विपरीत है, वह सब निषिद्ध है। समाजशास्त्रके आदिप्रणेता महर्षि मनुने कहा है —

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥
(मनु० २। १२)

अर्थात् धर्मके ये चार लक्षण हैं, जिनसे हम धर्माधर्मको पहिचान सकते हैं। प्रथम मानव-कृत कर्म वेदके अनुकूल हों; दूसरे, स्मृति आदि धर्म-ग्रन्थोंसे प्रतिपादित हों; तीसरे, महापुरुषोंके आचार व्यवहारके अनुकूल हों और चौथे हमारी आत्माके अनुकूल भी हों। यही सच्चा धर्म है। अस्तु,

इन चारों कसौटियोंपर कसनेसे पता चलता है कि आजके युगमें शिक्षित कहे जानेवाले मनुष्यसमुदायने जो मद्य, मांस, मछली, अंडा आदि निकृष्ट पदार्थोंको अपने भोजनमें सम्मिलित कर लिया है, वह सर्वथा हेय है। किसी-का भी मांस हिंसा बिना किये प्राप्त नहीं हो सकता और किसी भी प्राणीको कष्ट देकर उसके प्राणोंका उसके शरीरसे वियोग करके जो उदर-पोषण करना है, वह सर्वथा जघन्य कृत्य है, महान् अधर्म एवं भयानक पाप है, जिसका कोई भी प्रायश्चित्त नहीं है।

फारसी भाषाके तत्त्वज्ञानीने कितना सुन्दर कहा है—

हरके खुदराम पसन्द, दीगरामपसन्दी।

अर्थात् ओ इन्सान! जो बात तू अपने लिये पसंद नहीं करता, वह दूसरोंके वास्ते भी पसंद मत कर। तात्पर्य यह कि जब मनुष्य नहीं चाहता कि मेरे कोई काँटा लगे तब उसे भी उचित है कि वह भी किसीके चाकू न मारे। यह है मनुष्यका मनुष्योचित धर्म।

हम मनुष्यके भोजनको दो भागोंमें बाँट सकते हैं—एक धर्मशास्त्रोक्त, दूसरा आयुर्वेद-शास्त्रोक्त।

धर्मशास्त्र और धर्माचार्य मनुष्यको मनुष्यत्वसे ऊपर उठाकर उसे देवता बनाकर परम पदपर पहुँचाना चाहते हैं। अतः उनकी आज्ञा है कि जो भोजन छल, कपट, धोखा, चोरी, विश्वासघात आदि दुष्कर्मोंद्वारा उपार्जित धनसे प्राप्त हो, वह सर्वथा अभक्ष्य है; उसे कदापि नहीं खाना चाहिये। क्योंकि इस प्रकारके भोजनसे उसकी आत्मशक्ति दूषित तथा मन, चित्त, बुद्धि अत्यन्त मलिन होते हैं, जिससे निश्चित घोर पतन होता है। भारतका धार्मिक इतिहास इस प्रकारके उदाहरणोंसे भरा पड़ा है। साथ ही मल-मूत्र-विष्ठादिके संसर्गसे उत्पन्न पदार्थ भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और सद्-वृत्तियुक्त शूद्र भी न खाये। देखिये, मनु० अ० ५ श्लोक ५— **अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च**। इसी प्रकार **'वर्जयेन्मधु मांसं च'** (मनु० अ० २ श्लोक १७७)।

मनुस्मृतिके उपर्युक्त द्वितीय अध्याय तथा याज्ञवल्क्य-स्मृतिके आचाराध्यायका इस विषयके प्रेमियोंको विशेष रूपसे अध्ययन करना चाहिये। मनुष्य अपनी शारीरिक, आत्मिक, बौद्धिक एवं मानसिक उन्नतिके हेतु क्या आहार-विहार करे, इसका विशद वर्णन उपर्युक्त ग्रन्थोंमें किया गया है। खेद है कि पश्चिमी सभ्यताकी चमक-दमक-

में आज हम ऋषियोंकी संस्थापित कल्याणमयी शाश्वत मर्यादाओंको भूल गये हैं और भूलते जा रहे हैं। इसीके फलस्वरूप उत्तरोत्तर दुःखकी वृद्धि और सुखका क्षय होता जा रहा है।

अब आप थोड़ा आयुर्वैदिक दृष्टिसे विचार कीजिये। आयुर्वेदका सैद्धान्तिक पक्ष है कि शरीरको हृष्ट-पुष्ट बनानेके लिये उत्तम, स्वच्छ, पवित्र और ताजा भोजन, ताजे फल आदि खाये जायँ। साथ ही उसका निषेधाधिकार यह है कि—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।

(शार्ङ्गधर ४। २१)

अर्थात् जिन पदार्थोंके सेवनसे बुद्धि, विचार-शक्ति, मनन-शक्तिका विनाश हो, उन्हें मदकारी पदार्थ जानकर कदापि सेवन नहीं करना चाहिये।

इससे सहज ही यह स्पष्ट हो जाता है कि शराब, भाँग, चरस, गाँजा आदि तथा सड़े-गले बासी पदार्थ स्वास्थ्यके लिये अहितकर हैं। उनका सेवन सर्वथा वर्जित है।

धर्मग्रन्थ आज्ञा देते हैं कि उत्तम ताजा स्वच्छ भोजन भी यदि अनुचित उपायोंसे प्राप्त किया गया है तो वह अखाद्य है; क्योंकि उससे जो रसादि बनेंगे वे मनको, बुद्धिको दूषित संस्कार तथा दूषित विचारसे युक्त कर देंगे।

प्राचीन इतिहास बताता है कि हमारे ऋषि भोजनपर बड़ी गहरी दृष्टि रखते थे। छान्दोग्य-उपनिषद्में महर्षि उद्दालक महाराज अश्वपतिके अतिथि होकर उनके यहाँ भोजनसे इन्कार करते हैं।

अभिप्राय यह है कि राज्यमें चोर, जुआरी, व्यभिचारी—सब तरहके लोग रहते हैं और राजाके यहाँ सभीसे कर आदिके रूपमें पैसे आते हैं। अतएव राज्यान्न निकृष्ट कोटिका भोजन है और बुद्धिको बिगाड़नेवाला है। इसपर राजा अश्वपतिने जब विश्वास दिलाते हुए यह कहा—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

अर्थात् मेरे समस्त राज्यमें न तो चोर हैं न जुआरी, न शराबी, न अनाहिताग्नि, न अविद्वान् और न कोई दुराचारी ही है; फिर कुलटा स्त्री तो आती ही कहाँसे।' और जब ऋषिको इस बातपर पूरा विश्वास हो गया, तभी उन्होंने भोजन ग्रहण किया।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १७। ८-९)

बहुत कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, गरम, तीखे, रूखे और जलन पैदा करनेवाले तथा परिणाममें दुःख, चिन्ता और रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार राजस मनुष्यको प्रिय होते हैं। अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और जूठा तथा अपवित्र भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।

आजकल सर्वथा निषिद्ध मांस, अंडे आदिका प्रचार तो बढ़ ही रहा है। साथ ही उपर्युक्त दोषोंवाले,—जिनसे दुःख, चिन्ता तथा रोग उत्पन्न होते तथा बढ़ते हैं और मन-बुद्धिके तमसाच्छन्न होनेपर पतन होता है,—आहारका प्रचार भी बहुत हो रहा है। प्याज, लहसुन, बिस्कुट, पावरोटी तथा हर किसीका जूँठन खाना तो स्वभाव-सा हो चला है। ये सब अधर्ममय आहार हैं। इनका त्याग अत्यावश्यक है।

लेखका कलेवर बढ़नेके भयसे मैं अब यहाँ ही विश्राम देते हुए 'कल्याण'के पाठकोंका ध्यान बलपूर्वक आकर्षित करता हूँ कि आजके युगमें जब कि दैहिक, दैविक और भौतिक तापोंसे मनुष्य-समाज अत्यन्त दुःखी है, आवश्यकता है कि हम धर्मानुकूल आचरण करके अपने खान-पानको शुद्ध बनायें और सच्चे अर्थोंमें भगवान्के अमृतपुत्र बननेका यत्न करें। तभी हम उक्त त्रितापोंसे बच सकते हैं और इस नरकतुल्य धराधामको स्वर्गधाम बनाकर देवभूमि उद्घोषित कर सकते हैं। ओम् शम्।

शुद्ध आहार

मिला हुआ हो न्यायोपार्जित धनसे जो विशुद्ध आहार।
हिंसारहित, पवित्र, शुद्ध तन-मनसे हो निर्मित अविकार॥
सादा, सात्विक, युक्त, स्वास्थ्यकर हो, जिससे, न बढ़े व्ययभार।
प्रभुको अर्पित भोजन, करता उदय हृदयमें शुद्ध विचार॥

पतिधर्म

(लेखक—श्रीमहेन्द्रप्रतापजी पाठक)

धर्म हमें शुद्ध एवं पवित्र जीवन बितानेका मार्ग बतलाता है। धार्मिक भावना हमें सुख-शान्ति तथा आनन्दमय जीवन प्राप्त कराती है। धर्मका आधार है—'ईश्वरपर विश्वास।' सबमें ईश्वर है। अतः सबकी सेवा तथा सबसे प्रेम करना चाहिये। पतिधर्म भी एक आवश्यक धर्म है। पतिकी परिभाषा क्या है? मनुष्य पति कब बनता है? ब्रह्मचर्याश्रमके बाद गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करना अर्थात् शास्त्रीय विवाहमें किसी एक कन्याका पाणिग्रहण करना उस लड़कीका पति बनना है। माँगमें लाल सिन्दूर भरते ही मनुष्य उसके जीवनकी लालीकी रक्षाका जिम्मेवार बनकर पतिका पद ग्रहण करता है। जब कर्तव्य धर्मभावनासे प्रेरित होकर हमारे मनमें बसता है, तब हम अपने ऊपर नैतिक एवं आत्मिक उत्तरदायित्वका अनुभव करने लगते हैं।

पति-पत्नीका धर्म

भारतीय संस्कृति अध्यात्मपर आधारित है। इसी कारण हम परिणाममें जीवनका सच्चा सुख प्राप्त कर पाते हैं। जहाँ त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंने पत्नीके लिये पातिव्रत्यधर्मका आदेश दिया है, वहाँ पतिके लिये पत्नीव्रतका बड़ा महत्त्व बताया है। स्त्री-पुरुषमें लिङ्ग-भेदके साथ ही शारीरिक एवं मानसिक विभिन्नताएँ भी हैं। सब बातोंमें दोनोंकी समानता नहीं की जा सकती। स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर ही पूर्ण बनते हैं। स्त्री आज व्यर्थ ही समानाधिकारका दावा करती है। स्त्रीका कर्तव्य-क्षेत्र घर-परिवार है एवं पुरुषका बाहरी दुनियामें है।

पतिके कर्तव्य

पर दोनों वास्तवमें हैं एक ही स्वरूपके दो पूरक तत्त्व। पति-पत्नी दोनों धर्ममय जीवन बिताते हुए एक दूसरेके लिये त्याग करके हित करते हैं और एक दूसरेको भगवत्प्राप्तिके मार्गपर अग्रसर होनेमें सहयोग—सहायता देते हैं। यही धर्म है।

पतिके लिये सबसे बड़ा कर्तव्य है—बचपनसे विवाहतक पूर्णरूपसे यौन-पवित्रतासे रहना। हर आदमी चाहता है कि मेरी पत्नी शुद्ध एवं पवित्र चरित्रकी हो; तब स्वयं उसका कर्तव्य है कि वह भी उसे एक सच्चरित्र पतिके रूपमें मिले। क्या कोई आदमी ऐसी लड़कीसे विवाह करना चाहेगा, जिसकी पवित्रता नष्ट हो चुकी है? नहीं, कभी नहीं। इसका अर्थ हुआ कि आप उसकी चारित्रिक शुद्धता ऊँची चाहते हैं। तो फिर आपसे भी वह आशा रखती है कि आप भी परम पवित्र-चरित्र, सुप्रसन्न, स्वस्थ एवं कुशलतासे जीवन चलानेमें सक्षम हों। यौन-दुर्बलता रहते विवाह करनेसे पति-पत्नीका धर्म बिगड़ता है। विवाह पवित्र, स्वस्थ एवं प्रसन्न स्थितिमें ही होना चाहिये।

पत्नी विवाह होते ही आपके प्रति आत्मसमर्पण कर देती है अपने जीवनका। वह आपकी प्रियतमा हृदयेश्वरी बनती है। आपके बच्चोंकी ममतामयी माँ बनती है। आपकी और आपके परिवारकी सेविका तो होती ही है, साथ-साथ आपकी सच्ची जीवन-सङ्गिनी भी बनती है। वह अपने स्नेहपूर्ण माता-पिता तथा परिवारका परित्याग करके आपके प्रत्येक सुख-दुःखमें यथार्थरूपसे हिस्सा बँटाने आती है। इसलिये पत्नीकी सुरक्षा, उसे सुख तथा भरपूर प्रेम देनेकी जिम्मेवारी आपपर है। अपने माता-पिता एवं परिवारके अन्य सदस्योंसे उसे स्नेह दिलानेमें आप बड़े सहायक बन सकते हैं। यदि पत्नीमें कोई दुर्गुण है तो उसे कड़ाई, आघात या आलोचनात्मक ढंगसे न सुधारकर प्रेमसे पहले उसकी प्रशंसा करके; तदनन्तर सच्चा अवगुण विनम्र तथा सहानुभूतिकी भाषामें बतलाकर सुधारा जा सकता है। इसीके साथ आपको चाहिये कि आप उसे अच्छे विचारोंके वातावरणमें रक्खें तथा स्वस्थ एवं प्रसन्न बनायें।

पत्नीकी उचित आवश्यकताओंका ख्याल रखना, यथा-साध्य उनकी पूर्ति करना एवं उसकी रुचिका आदर करना सीखिये। उसके मनोभावोंको उठाइये, अपने कार्योंमें उसका हाथ लीजिये ताकि उसके अंदर अपनेको हीन माननेकी भावना न रह जाय। उसके माता-पिता, भाई-बहिन एवं अन्य सम्बन्धियोंसे मधुर सम्बन्ध बनाये रखिये। अपनी प्रेमपूर्ण आत्मीयताके रससे उसके हृदयको सराबोर किये रहिये। यों करनेपर आप दोनोंका विशुद्ध प्रेम तथा आत्मिक सुख बढ़ता रहेगा। आपका दाम्पत्यजीवन सुख-शान्तिमय हो जायगा। आप अपने सदाचार तथा सद्व्यवहारसे अपनी छोटी-सी दुनियाको स्वर्ग बना लेंगे। परिवारमें आत्मीयताका अभ्यास जीवन-क्षेत्रमें भी बड़ी कुशलता देता है।

कभी भी पत्नीके चरित्रपर संदेह मत कीजिये। उसके पिछले जीवनको भूलकर अब नये ढंगसे जीवन चलाइये। थोड़ी समझदारीसे आप काम लेंगे तो प्रतिदिनके लड़ाई-झगड़े,

अनबनसे बचकर आप दोनों बड़ी शान्तिके साथ खुशी-खुशी दाम्पत्य-जीवन चला सकते हैं। आप स्वयं संयमी तथा अच्छे स्वभावके बनकर पत्नीको भी अपनी चालपर ढाल लीजिये। अभीतक तो वह पितृगृहमें रही, आपसे अनभिज्ञ थी। उसका वातावरण दूसरा था। अब उसे अपने आदर-प्रेम तथा शुद्ध व्यवहारके द्वारा अपने संस्कारोंमें मिलाकर बदल लीजिये।

उसे कोई रोग या कष्ट हो तो सहानुभूतिपूर्ण सान्त्वना दीजिये। बीमारीकी स्थितिमें उसके असमर्थ होनेपर उससे काम तो कराइये ही नहीं; उसकी यथायोग्य सेवा कीजिये—स्नेहके साथ, अहंकारसे नहीं। आपकी सान्त्वनासे उसका आधा रोग-कष्ट दूर हो जायगा। उसे रोगमुक्त कराइये, प्रसन्न रखिये, चिन्ता-उलझनोंसे बचाकर प्यार दीजिये, ताकि वह आपके साथ अपने जीवनको सुखी एवं सुरक्षित समझे। सोचिये—अब आप पति बन गये हैं, पत्नी भी आपके साथ है; इसलिये आपकी अकेलेकी नहीं चलेगी, वरं दोनोंकी चलेगी। आप प्रेमसूत्रमें बँधे हैं। हर कामको मन मिलाकर कीजिये। आप गृहस्थ-जीवनमें आये हैं तो गृहस्थका ब्रह्मचर्य अपनाइये। न अनावश्यक संयमिततासे स्त्रीके मनोभावोंको कुचलिये, न पत्नीको मानसिक वृत्तिका शिकार ही बनाइये और न अनर्गल वासनाको प्रोत्साहन दीजिये। आध्यात्मिक जीवनके लिये ब्रह्मचर्य जरूरी है, परंतु गृहस्थजीवनमें परस्परकी स्वीकृतिसे सीमित यौन-व्यवहार भी आवश्यक है। पत्नीको आपके कामोंसे अपनत्व एवं हार्दिक सहानुभूति दिखायी दे, ऐसा ध्यान रखिये।

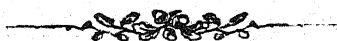
संत गृहस्थ कहते हैं कि जिस घरमें पति-पत्नी एकमन होकर रहते हैं, वहाँ स्वर्गसे भी अधिक आनन्द बना रहता है। यह असार संसार भी पति-पत्नीके हार्दिक ऐक्यसे मधुर लगता है।

कबीरदासजीने अपने एक शिष्यसे कहा था कि 'साधु बनो तो अत्यन्त विनम्र और क्रोधरहित बनो। यदि गृहस्थ बनना है तो मुझ-जैसा बनो। मैं यदि पत्नीसे दिनमें दीपक जलानेके लिये कहता हूँ तो वह बिना कुछ पूछे तुरंत जला देती है।' इतनी छाप पड़ जाय पत्नीके मनपर आपके प्रति विश्वासकी कि उसमें कभी आपसे दूर होनेकी कल्पना ही न आये।

सुशील, धार्मिक भावना रखनेवाली, पति-सेवा करनेवाली, गृहमें शान्ति बनाये रखनेवाली स्त्रीके प्रति आदरसे सिर झुकता है। स्त्री कितना सहती है आपके लिये। क्या आप उसके लिये उससे अधिक नहीं करेंगे? दुष्ट, शराबी-जुआरी एवं व्यभिचारी पतिसे पत्नी परीशान रहती है। एवं उसमें आत्महत्याकी भावना जन्म ले लेती है। आप भी पति हैं। अतः इन दुर्गुणोंसे सदा बचिये।

आप पति हैं—पत्नीकी सुन्दरता, उसका रूप-लावण्य आपको मनमोहक लगता है। पर याद रक्खें—स्त्रीका बाह्य रूप-सौन्दर्य एवं शिक्षा उतनी मूल्यवान् तथा कामकी वस्तु नहीं है, जितना उसका हृदय-सौन्दर्य है। विवाह होनेके बाद आपको अपनी पत्नी संसारकी सबसे सुन्दर, योग्य एवं अच्छी पत्नी लगनी चाहिये। आपके मधुर व्यवहारसे बिगड़ी तथा खराब स्वभावकी स्त्री भी ठीक हो सकती है। यदि उसके व्यवहारमें कटुता होगी तो आपके व्यवहारसे उसका मन बदलकर वह सीधी एवं सुशील बन जायगी। पत्नीके प्रति शिकायत रखना, अपनेको कोसना कि मुझे कैसी पत्नी मिली है—यह बहुत गलत है। जैसी है, बहुत अच्छी है। उसीको आप स्वयं बहुत अच्छे बनकर और अच्छी बनाइये। अच्छी खेतीमें तो सभी अन्न उत्पन्नकर पेट भर लेते हैं, परंतु बंजड़ भूमिको सुधारकर उसमें अन्न उत्पन्न करना ही प्रशंसाकी बात है। त्याग, प्रेम, सहृदयता, आत्मीयता एवं उच्च तथा आध्यात्मिक विचारोंकी सहायतासे आप उसे कोयलेसे हीरा बना सकते हैं। आप अपने मनको अपनी पत्नीके प्यारसे तृप्त एवं संतुष्ट रखिये।

परंतु इसका अभिप्राय यह नहीं कि आप पत्नीके प्यारमें अपने परम लक्ष्यको भी भूल जायँ। याद रखिये—पहले आप मनुष्य हैं और पति बादमें। अतः सबमें ईश्वरत्वका ध्यान रखकर सबकी निःस्वार्थभावसे सेवा करनेकी भावना रखिये—चाहे वे माता-पिता हों, पत्नी हो, बच्चे हों या अन्य कोई भी संसारी। सदा सत्सङ्ग, भजन, जप, कीर्तनादिमें पत्नीके सहित भाग लेकर निरन्तर उस परम ज्योतिर्मय परमात्मामें अपनी खण्ड ज्योति आत्माको मिला देनेका प्रयत्न करते रहिये। ईश्वरपर अनन्य विश्वास रक्खेंगे तो इस लोकमें तो सुख भोगेंगे ही, परमात्माकी प्राप्तिरूप परम लाभके भागी हो सकेंगे।



गुरुधर्म और आदर्श

(लेखक—श्रीरेवानन्दजी गौड़ एम्० ए०, व्या० सा० आचार्य, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ आदि)

समय था जब गुरु वास्तवमें गुरु था—गौरवशाली, ब्रह्मज्ञानी, विद्वान् तथा समाजका संचालक था। वह अधिकारहीन सर्वाधिकारी होकर स्वराज्यमें विचरण करता और अमृत-पान करके जीवित रहता था। भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका वह उद्गम माना जाता था। उसके जीवनका लक्ष्य था—

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चैव प्रेत्यानन्तसुखाय च॥

प्राचीन कालमें ऐसे गुरुओंके आश्रम जंगलमें होते थे। गुरुकुलोंके वातावरण सात्त्विक और मानवताके केन्द्र होते थे, जिससे प्रभावित होकर हिंसक जीव-जन्तु भी हिंसात्मक वृत्तिको त्याग सौहार्दसे विचरण करते। लोकनायक तुलसीको परखिये—

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥

गुरुदेवकी सच्ची अहिंसाकी प्रतिष्ठाका उल्लेख दर्शनकार पतञ्जलि महर्षिने किया है—**'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।'** चक्रवर्ती राजा-महाराजातक आचार्योंकी आज्ञा पालनेमें जीवनकी सार्थकता समझते थे। गुरुकी इसी गरिमाके कारण तो गुरुको इन शब्दोंमें नमस्कार किया जाता है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

'शिष्यादिच्छेत् पराजयम्।' जीवनमें कोई पराजय नहीं चाहता; गुरु ही एक ऐसा व्यक्ति है, जो अपने ही शिष्यसे अपनी पराजय चाहता है। शिष्यकी उन्नति और वृद्धि देखकर आचार्य फूला नहीं समाता। अपने शिष्यके व्यक्तित्वमें वह अपनी आत्माके दर्शन करता है। वह भेदभावके धरातलसे ऊपर उठकर ज्ञानामृतकी वर्षा करता है। गुरुकी महिमा अपार है। उसके अनुग्रहसे मानव सहज ही वह गति प्राप्त कर लेता है, जो कोटि जन्म पानेपर भी जीवको दुर्लभ है।

गुरु कुम्भकारके समान है, जो घड़ेके नीचे हाथ देकर उसे थपकी मारता है, उसके दोष दूर करता है। गुरु भी शिष्यके अन्तर्हृदयमें प्रविष्ट होकर, उसकी आत्माको सहारा देकर, बाहरसे कठोर वचनोंसे ताड़ना देकर उसे सर्वथा निर्दोष बना देता है। नीतिकार भर्तृहरिने कहा है—**'गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्।'** गुरुके कटु और तीक्ष्ण वाग्बाणोंसे तिरस्कृत होनेपर ही मानवका महत्त्व बढ़ता है। गुरुका स्थान मनुष्योंमें ही नहीं, देवोंमें भी विशिष्ट है—

शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।

ईश्वरके रुष्ट हो जानेपर गुरु सँभाल (रक्षा) कर सकता है; परंतु यदि कहीं गुरु अप्रसन्न हो जाय तो ईश्वर-तक सहायक नहीं बन सकते। संतोंने गुरुकी महिमामें लिखा है—

गुरु गोबिंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरुदेवकी, जिन गोबिंद दियो मिलाय॥

बंदौं गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥
अमिअ मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू॥

प्राचीन कालमें गुरु धनका नहीं, सम्मानका इच्छुक था। वह अपने आदर्श और सिद्धान्तोंका रक्षक था। आज तो उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वर्तमानमें गुरु बदला, शिष्य बदला, शिक्षा और संस्कृति बदली। गुरु-शिष्य-परम्पराका इतिहास बड़ी तीव्र गतिके साथ बदलता जा रहा है। गुरु-शिष्य, आचार्य-अन्तेवासी, उपाध्याय-छात्र, अध्यापक-विद्यार्थी, शिक्षक-परीक्षार्थी, प्रोफेसर-स्कालर, टीचर-स्टूडेंट आदि अनन्त रूप होते चले जा रहे हैं। आगे पता नहीं, यह परिवर्तन कहाँतक चलेगा। आजकी परम्परा बड़ी विकृत हो चली है—

लोभी गुरू लालची चेला, दोनों नरक में ठेलमठेला॥

आजकी स्थिति बड़ी भयावह और विषम है। गुरु-शिष्यमें सौदेबाजी पनपने लगी। अनुशासनका नामतक न रहा। शिक्षा और शिक्षकपर अधिकारियों और श्रीमानोंका नियन्त्रण है। शिक्षासंस्थान शिक्षाशास्त्रियोंके हाथोंमें नहीं, शिक्षासे सम्बन्ध न रखनेवाले व्यवसायी लोग उनके मालिक बन रहे हैं। जिस समाजमें शिक्षक, कवि और कलाकार व्यापारियोंके,

धनियोंके उपजीवी होंगे, शिक्षकपर अधिकारियोंका आधिपत्य होगा, आचार्य, ब्राह्मण निर्भय न होंगे, उस समाजमें शिक्षक अपने प्राचीन आदर्शोंको अक्षुण्ण कैसे रख सकेगा ?

आजके युगमें शिक्षक संत्रस्त है। उसका उदात्त मस्तिष्क कुण्ठित है। वह इस अर्थप्रधान युगमें अपनेको अभावग्रस्त पाता है। मेरे विचारमें समाजका स्तर सदा एक समान नहीं रहता। जब कोई कहता है—प्राचीन कालका गुरु कहाँ गया, तब वह आत्मनिरीक्षण क्यों नहीं करता ? वह यह क्यों नहीं कहता कि अशोक, चन्द्र, विक्रम, भोज-जैसे शासकोंको कौन ले गया, चाणक्य-जैसे महामन्त्रीका त्याग-तपोमय जीवन क्यों आजके मन्त्रियोंमें नहीं रहा ?

जब समाजका प्रत्येक वर्ग पहले-जैसा नहीं रहा, तब गुरु ही पहले-जैसा रहे—यह कैसे सम्भव है ? फिर भी गुरु अपने प्राचीन आदर्शोंको समेटे है। उसे अपने आदर्शोंकी रक्षाकी चिन्ता है। पर शासन और समाजपर इसका बड़ा उत्तरदायित्व है। जब उसकी अर्थ-व्यवस्थाका दायित्व शासनपर होगा, उसे समाजमें प्रतिष्ठा प्राप्त होगी, वह चिन्ता-रहित होगा और उसका उर्वर मस्तिष्क अप्रतिहत गतिसे सक्रिय होगा, तब गुरु-आदर्शोंकी रक्षा सम्भव होगी।

शिक्षककी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह अपने मस्तिष्ककी अतुल ज्ञानराशिको अपने शिष्यवर्गमें वितरित करता रहता है। इसी त्याग (अध्यापन) में वह अपने जीवनकी सार्थकता समझता है। गुरुके जीवनमें दान है, आदान नहीं। **'परोपदेशे पाण्डित्यम्'** अध्यापकमें न होना चाहिये। उसके जीवनपर तो अनेक जीवोंकी गहरी दृष्टि है। **'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।'** इस सिद्धान्तके अनुसार अध्यापकको बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है। उसकी आत्मामें विश्वास, जीवनमें संयम और वाणीमें सत्य और ओज होना चाहिये। यदि अध्यापकके जीवनमें यत्किंचित् भी शैथिल्य आने लगेगा तो वह अकेला ही पतित नहीं होगा, अपि तु समाजका एक बहुत बड़ा भाग पथभ्रष्ट हो जायगा। राष्ट्रनिर्माणका जितना दायित्व शिक्षकपर है, उतना अन्य किसीपर न है, न होगा।

शिक्षकपर ही निर्भर है कि वह समाजको किस साँचेमें ढाले—अबोध बालकोंके निरीह जीवनको किस रंगमें रँग दे। शिक्षकके पास विद्यार्थी गीली मिट्टीके समान आता है। कुम्हारकी भाँति गुरु जैसा चाहे, उसका बर्तन बना दे। उस समय उसके हाथमें अपार शक्ति है। वह अपनी स्वतन्त्र सृष्टिका निर्माण कर सकता है। उसके ही हाथोंमें व्यास-शुक, शिवाजी-प्रताप, गाँधी-नेहरू-जैसे व्यक्तियोंका निर्माण है। गुरुके मस्तिष्कके ही तो आविष्कार हैं—तिलक, गोखले, राजेन्द्र, राधाकृष्णन्-जैसे देशरत्न। यदि किसी अध्यापकने ऐसे उत्तरदायित्वपूर्ण पदपर आसीन होकर भी अपनेको न समझा, मनमानी की और कक्षामें बालकोंसे माँगकर सिगरेट-बीड़ी पी ली, बच्चोंके सामने चाट खा लिया, सिनेमा देख लिया तो समाजमें अनाचार-भ्रष्टाचारका बोलबाला क्यों न होगा ? अतः शिक्षकको हर समय जागरूक रहनेकी आवश्यकता है।

आजका शिक्षक यदि अपने धर्म और आदर्शको भूलकर स्वेच्छाचारिताका दास बना रहेगा, विलासिताके पङ्कमें फँसा रहेगा, आचरणकी अपेक्षा अर्थको प्रधान मानेगा तो उसे यह सुनना ही पड़ेगा—

'मैं फीस देता हूँ तो पढ़ता हूँ। अध्यापक हमारा क्रीत दास है, तभी तो घरपर प्रतिदिन आकर हमें पढ़ाता है। यदि मैं नहीं पढ़ता तो अपना ही समय और पैसा खोता हूँ, इसमें अध्यापककी क्या हानि है ? मैं काम करूँ या न करूँ, अध्यापक कौन होता है मुझे डाँटने-डपटनेवाला—मारनेवाला अध्यापक कानूनी अपराधी है। रही परीक्षा पास करनेकी बात, उसके लिये आज अनेकों साधन हैं। गैसपेपर लेकर, नकल करके, रिश्वत देकर, गुंडागर्दी मचाकर, 'मास्टर साहब ! छेड़ मत देना हमें नकल करतेको, जानसे हाथ धोना पड़ेगा। देखा है यह चाकू, पिस्तौल ?' कितना बड़ा चैलेंज है गुरुके प्रति आजके शिष्यका। प्राचीन कालका आदर्श था—

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥
गुरुणा चैव निर्बन्धो न कर्तव्यः कदाचन।
अनुमान्यः प्रसाद्यश्च गुरुः क्रुद्धो युधिष्ठिर॥

'युधिष्ठिर ! गुरुकी बुराई अथवा निन्दा जहाँ होती हो, वहाँ दोनों कान मूँद लेने चाहिये अथवा वहाँसे कहीं अन्यत्र चले जाना चाहिये। गुरुके साथ कभी हठ नहीं करना चाहिये और गुरु यदि क्रुद्ध हो जायँ तो उनसे पूछकर कोई काम करना चाहिये एवं अनुनय-विनयसे उन्हें प्रसन्न कर लेना चाहिये।'

धर्म

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम', साहित्याचार्य)

(१)

धर्म नर-नारायणका रूप, धर्म है संतत सत्त्वप्रधान,
धर्मके विना मनुज पशुतुल्य, धर्म मानवताकी पहचान।
धर्म दैवी सम्पत्ति, अधर्म हत दानवताका है रूप,
धर्मके पाण्डुपुत्र दृष्टान्त, अधर्मी दुर्योधन-सा भूप॥

(२)

धर्म जगतीका धारक तत्त्व, धर्म ही है सबका आधार,
धर्म ही सार, धर्मके बिना नहीं टिक सकता है संसार।
सिंह यदि खो दे अपना शौर्य, शृगालोंसे भी हो अति दीन,
करें सब जंगम ही पद-दलित, भुजंगम जो होवे विषहीन॥

(३)

स्वप्नमें भी पूजित होगा न, तपनमें तापन-कर्म न जो,
राख बन जाये, रहे न साख, दहनमें दाहक धर्म न जो।
चन्द्र तज दे आह्लादक धर्म, उसे चितये क्या कभी चकोर?
जलद जो दे न सके जलदान, बने क्या चातकका चितचोर?॥

(४)

धर्म जीवन है, इससे कौन भला हो सकता है निरपेक्ष,
अतः संसृतिके सारे राष्ट्र धर्मके प्रति संतत सापेक्ष।
भूप शिबि, रन्तिदेव, हरिचंद, राम, दशरथ, पुरु आदि नरेश,
पाण्डुसुत प्रभृति जनोंने सहे धर्मपालन हित कितने क्लेश॥

(५)

धर्मसे ही भूतलका राज्य वैजवनने भोगा चिरकाल,
धर्मकी अवहेलासे गिरे रसातल बीच नहुष तत्काल।
शिवा-राणाने कर संघर्ष धर्मका रक्खा गौरव-मान,
हकीकतराय वीर-सिरमौर धर्मके हेतु हुए बलिदान॥

(६)

धन्य गोविन्दसिंह गुरुदेव, धर्मरत जिनके पुत्र महान्,
समुद दीवारोंमें चुन गये, धर्मके लिये दे दिये प्रान।
यहाँ जनतन्त्र या कि नृपतन्त्र—रहे शासनका कोई रूप,
राष्ट्रपति निर्वाचित हो या कि परम्परया आगत हो भूप॥

(७)

प्रजा-रक्षण सबका ही धर्म, शान्ति-संस्थापन सबका कर्म,
सभीको इष्ट—जगत्में बना रहे अस्तेय आदि सद्धर्म।
दस्युओं-दुष्टोंका कर दमन अमन कायम रखना सर्वत्र,
धर्मका, सत्पुरुषोंका त्राण—यही ईप्सित है अत्र-परत्र॥

(८)

धर्म ही तो हैं विविध विधान, चला करता जिनसे सौराज्य,
न जगमें कहीं धर्मनिरपेक्ष कभी हो सकता कोई राज्य।
सती सावित्रीने तत्काल धर्मबलसे जीता यमराज,
धर्मने ही बनकर परिधान, बचायी द्रुपदसुताकी लाज॥

(९)

धर्म ही माता-पिता सुबन्धु, धर्म ही है सब जगका मीत,
धर्म है जहाँ, वहाँ श्रीकृष्ण, कृष्ण हैं जहाँ, वहीं है जीत।
धर्ममें तत्पर हों सब लोग, धर्मकी शक्ति अनन्त अपार,
धर्मकी दृढ़ नौकासे शीघ्र किया जाता भवसागर पार॥

धर्म और प्रेम

(लेखक—श्रीनन्ददुलालजी ब्रह्मचारी 'भक्ति-वैभव')

मानव शिशु दस मास, दस दिन माताके गर्भमें अशेष दुःख-भोग करके इस पृथ्वीके वक्षःस्थलपर आविर्भूत होता है। शिशुके जन्म लेनेपर माताके स्तनसे दुग्ध क्षरित होने लगता है। अपने सुख-स्वातन्त्र्यको भूलकर, आहार-निद्रा त्यागकर माता संतानके पालनमें रत हो जाती है। माताकी अशेष कृपाके बलसे शिशु धीरे-धीरे बढ़ने लगता है और उसके साथ-साथ इस संसारके साथ वह परिचय प्राप्त करने लगता है। वह इशारा समझने लगता है, माताके नाना प्रकारके अङ्ग-संचालनसे, सिर हिलानेसे वह हँसने लगता है। जन्मके साथ माता वसुमती उसके सारे प्रयोजनीय उपकरणोंकी व्यवस्था करती है—खेलका स्थान, भोजनकी वस्तु, जलवायु आदिकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये प्रकृति सहायकके रूपमें नियुक्त होती है।

उसके कुछ बड़े होनेपर पाठशालाकी पढ़ाई शुरू होती है। वहाँ अध्यापक नियुक्त होते हैं, पिता संरक्षक होते हैं। वह पाठशालासे स्कूलमें और स्कूलसे कालेजमें जाता है, विद्यालयके साथ-साथ संसारसे उसका परिचय भी बढ़ता जाता है। सांसारिक विद्योपार्जनके मूलमें रहती है प्रतिष्ठाकी आशा और अर्थोपार्जनकी स्पृहा, जिसके द्वारा वह सुख-शान्तिकी आशा करता है। भावी सुखकी आशासे वह कर्मपथकी ओर बढ़ता है। भोगासक्त इन्द्रियोंका इन्धन जुटानेके लिये वह जी-जानसे परिश्रम करता है। आजकलका विज्ञानका युग उसने अपने हाथों गढ़ा है, कितना सुखका सम्भार उसके पास है! कलकत्तेके समान यान्त्रिक वाहनोंसे भरा शहर, वैद्युतिक आलोकमालासे बिजलीके समान दीप्तिमान् रातकी शोभा, अपने सोफापर बैठे-बैठे टेलीफोनसे परस्पर बातचीत, रेडियोसे अप्रत्याशित वार्त्तावहन तथा निकट भविष्यमें टेलिविजनसे प्राप्त होनेवाले गायक-गायिकाकी राग-रागिनीके प्रच्छेदपटसे नेत्रोंका आनन्दवर्द्धन! जलमें, स्थलमें, आकाशपथमें—सर्वत्र आज मानव अभियान कर रहा है। आधुनिक सभ्यताके मूलमें है—सिनेमाकी मन-मोहिनी चित्रकला। इसी कारण आज भगवान्के अथवा किसी महान् पुरुषके चित्रके स्थानमें सिनेमा-नटियोंके चित्र घरकी शोभा बढ़ा रहे हैं। आधुनिक सभ्यताके नामपर भोगवादने अमेरिकाके Bikini dress और इंगलैंडके Shock frock dress को हमारे भारतवर्षकी देवीस्वरूपिणी मातृजातिकी सभ्यतामें ला दिया है।

क्या मनुष्यजन्मकी अन्तिम प्राप्य वस्तु यही है? क्या यही चरम सुख है या और कुछ भी है? हम यदि एक बार कौपीनधारी सर्वत्यागी ऋषियोंकी ओर देखें और उनके आदर्शको उपाख्यान कहकर उड़ा न दें तो इस तत्त्वको जनश्रुति और रैक्व मुनिके उपाख्यानसे जान सकते हैं। एक बार राजा जनश्रुति एक सहस्र गायें, एक सुवर्णहार, एक रथ और अपनी कन्याको लेकर रैक्व मुनिके पास गये और बोले—'आप ये सारी वस्तुएँ ग्रहण करें, मेरी इस कन्याको भार्याके रूपमें स्वीकार करें और इस ग्रामको अपने आश्रमके

रूपमें ग्रहणकर मुझको कृतार्थ करें।' परंतु रैक्व मुनिने अस्वीकार करते हुए कहा—'रे शोकार्त्त शूद्र!' देखिये, वे किस धनके धनी थे। जगत्में आशा करें किस लिये? पशुका जन्म हो या पक्षीका जन्म हो, सभी जन्मोंमें तो आहार, विहार, मैथुन और निद्राका भोग किया जाता है। तब फिर मनुष्य-जन्मकी विशेषता कहाँ रहती है?

धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।

'जब मनुष्य अनुभव करता है कि वह पशु-प्रकृतिसे उच्च स्तरकी कोटिका प्राणी है, तब उसे जागतिक सफलता या भौतिक विज्ञानकी विजयसे मनस्तुष्टि नहीं होती। धर्म हमको पाप और द्वेषसे युद्ध करनेमें मदद करता है, नैतिक शक्ति प्रदान करता है तथा जगत्की रक्षा करनेके प्रयत्नमें उत्साह प्रदान करता है। यह मानवकी वास्तविक योग्यता और गौरवके अनुसंधान तथा उसके ऊर्ध्वलोकके साथ सम्बन्धपर आधारित है।'

वेदकी परिभाषामें अङ्गिरः-स्मृति कहती है कि जो कार्य-कलाप आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें सहायक नहीं होता, वह केवल बालककी क्रिया-चपलता मात्र है। मनु कहते हैं—'अनासक्त, विगतस्पृह पण्डित जो आत्मोन्नतिके लिये याजन करते हैं, वही धर्म है।' और भी कहते हैं कि (१) 'वेदके अनुशासनका पालन, (२) स्मृतिके अनुशासनका पालन, (३) महापुरुषोंके द्वारा प्रवर्तित धाराका अनुमोदन, तथा (४) जो कर्म मानसिक शान्ति प्रदान करते हैं, उनमें प्रवृत्त होना'—यही धर्म है। इस प्रकार शास्त्रकारगण कोई यज्ञको, कोई योगको, कोई तर्कको, कोई पुण्यको, कोई वैराग्यको, कोई तपस्याको, कोई धर्मयुद्धको, कोई ईश्वरोपासनाको, कोई गुरुकी उपासनाको, कोई प्रायश्चित्तको और कोई दानको धर्मका पर्याय मानते हैं। समयानुसार तत्त्वज्ञान (Philosophy) ने इस कार्यमें हस्तक्षेप किया तो जान पड़ा कि ये सब उपाय मूलतः तीन तत्त्वोंके अर्थात् कर्म, ज्ञान और भक्तिके नामान्तर हैं।

श्रीभगवान्ने अपने प्रिय शिष्य अर्जुनको लक्ष्य करके जगत्के निस्तारका एक उपाय, सर्ववेदसारार्थ उपोद्घातके रूपमें गीताके प्रारम्भमें बतलाया है—**'योगस्थः कुरु कर्माणि।'** (गीता २।४८) फिर आगे वे कहते हैं—**"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।"** (गीता ३।४) कोई बिना कर्म किये रह नहीं सकता। परंतु नैष्कर्म्य-प्राप्तिके लिये यथाथ कर्म होना चाहिये, नहीं तो वह बन्धनकारक होगा। **'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'** (गीता ३।९) अनधिकारी व्यक्तिके लिये कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। जब कर्मत्यागके द्वारा शरीरयात्राका भी निर्वाह नहीं होता, तब कर्मत्याग कहाँतक सम्भव हो सकता है? अतएव काम्य-कर्मका त्याग करके (**कर्मणा बध्यते जन्तुः—इति स्मृतिः**) सकाम होते हुए भी भगवत्-उपासना करे। जो कर्मके अवान्तर फलस्वरूप अन्य वस्तुकी कामना करते हैं, वे कर्मसङ्गी हैं। अज्ञ और कर्मसङ्गी पुरुषको तत्त्वज्ञानका तात्पर्य बतलाओ तो वह श्रद्धापूर्वक उसके लिये आग्रह प्रकट नहीं करेगा। अतएव ऐसे लोग अपनी-अपनी राजसिक और तामसिक प्रकृतिके द्वारा प्रेरित होकर उन छोटे-छोटे नियमोंका पालन करते हुए तदनुरूप सब देवताओंकी उपासना करें (गीता ७।२०)। भगवान्के इन अधिकारानुरूप साधनोंकी बात पढ़कर और अर्जुनकी वास्तविक स्थिति न समझकर स्थूलदर्शी साधकोंने यही सिद्धान्त स्थिर कर लिया कि 'वर्णाश्रम-विहित कर्म नित्य हैं, अतएव सारी गीता श्रवण करनेके बाद अर्जुनने युद्धरूपी क्षत्रियधर्मको ही अङ्गीकार किया। अतएव वर्णाश्रम-धर्म-विहित कर्मका आश्रय ही गीताका तात्पर्य है।' पर सूक्ष्म-दर्शी साधक इस प्रकारके सिद्धान्तसे संतुष्ट नहीं होते, वे ब्रह्मज्ञान अथवा पराशक्तिके आश्रयको ही तात्पर्यरूपमें स्थिर करते हैं। साधनकालमें जबतक हृदयमें काम विराजमान रहता है, तबतक वर्णाश्रमादि धर्मकी अपेक्षा रहती है। इसी कारण श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान् कहते हैं—

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
(११।२०।९)

'जबतक कर्मफलभोगसे विरक्ति नहीं होती अथवा भक्तिमार्गमें मेरी (भगवान्की) कथामें श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती, तभीतक सब कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये।'

ज्ञानी पुरुष ज्ञानका उदय होनेपर सांसारिक वस्तुके अनित्यत्वको जानकर साम्यभावकी प्राप्तिसे ब्रह्ममें अवस्थित होकर लाभालाभसे अविचलित—स्थिरबुद्धि बनता है और योगीपुरुष अष्टाङ्गयोगके द्वारा इन्द्रिय-निरोध करके परमात्म-स्वरूप, सर्वभूत-अन्तर्यामी पुरुषको प्राप्त करता है। ज्ञानी और योगी आत्मा और परमात्माके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष प्राप्त करते हैं। निष्काम कर्मयोगी परमात्मरूपी पुरुषके उद्देश्यसे ही यज्ञ करते हैं। भागवतमें कहा है—

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥
(११ । २० । ७)

'जिनको कर्म और कर्मफलसे निर्वेद उत्पन्न हो गया है, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं और जिनकी फलभोगकी वासना दूर नहीं हुई है, वे कामी लोग कर्मयोगके अधिकारी हैं ।' कलियुग-पावनावतार श्रीचैतन्य महाप्रभुके इस प्रश्नपर कि—

'भुक्तिमुक्ति वाञ्छे जेइ काहाँ दोहार गति ?'

श्रीरामानन्दजी कहते हैं—

स्थावर देह देवदेह जैछे अवस्थिति ।
अरसज्ञ काक चूसे ज्ञान निम्बफले ।
रसज्ञ कोकिल खाय प्रेमाम्रमुकुले ॥
अभागिया ज्ञानी आस्वादये शुष्क ज्ञान ।
कृष्णप्रेमामृत पान करे भाग्यवान ॥
(चैतन्य-चरितामृत म० ८ । २५६ । ५८)

श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

भक्तिस्तु भगवद्भक्तसङ्गेन परिजायते ।
'ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव ।
गुरु कृष्ण प्रसादे पाय भक्तिलता बीज ॥'
भव भटकत कोउ भाग्यवान जन पावत दुर्लभ चीज ।
गुरु-भगवत् प्रसाद तें अतुलित भक्तिलताके बीज ॥

पूर्वजन्मोंकी भक्त्युन्मुखी सुकृतिके फलस्वरूप भाग्यवान् जीव गुरु और श्रीकृष्णके प्रसादसे भक्तिलताका बीज अर्थात् श्रद्धा प्राप्त करके साधकरूपी माली बनकर उस बीजको हृदय-क्षेत्रमें वपन करता है और निरन्तर भगवत्कथा-श्रवण-कीर्तनरूपी जल-सेचनमें लगा रहता है । यह भक्तिलताका बीज अङ्कुरित होकर भक्तिलता-स्वरूपमें बढ़ते-बढ़ते इस मायिक ब्रह्माण्डका भेद करके, विरजा और ब्रह्मलोकका अतिक्रम करके परव्योमके ऊपर गोलोक-वृन्दावनमें श्रीकृष्ण-चरणरूपी कल्पवृक्षके आश्रयमें प्रेमफल प्रदान करता है ।

प्रेमफल पाकि पड़े माली आस्वादय ।
सुखे प्रेमफल रस करे आस्वादन ॥

यह प्रेम-भक्ति प्राप्त होती है कैसे ?

'शुद्ध भक्ति हैते हय प्रेमा उत्पन्न ।'
शुद्ध भक्तिसे ही होती है प्रेमाभक्ति सरस उत्पन्न ।

ब्रह्माण्डकी किसी वस्तुके प्रति भक्ति प्रयुक्त नहीं हो सकती । ब्रह्माण्डको पार करके विरजा नदी है, वहाँ गुणत्रय साम्यावस्थामें लक्षित होते हैं; वह प्राकृत मलको धो डालने-वाली स्रोतस्विनी है, उसके पार करनेपर ही ज्ञानीलोगोंका आदर्श ब्रह्मलोक आता है । विरजामें जैसे भक्तिलताके आश्रय-के उपयुक्त कोई वृक्ष नहीं है, ब्रह्मलोकमें भी उसी प्रकार भक्तिलताके लिये सेव्य वृक्षका अभाव है । परव्योममें श्रीनारायणकी पूजामें शान्त, दास्य और सख्यार्द्धमात्र रस हैं और गोलोक-वृन्दावनमें श्रीकृष्णकी सेवामें इनके अतिरिक्त विश्रम्भ, सख्य, वात्सल्य और मधुर रस पूर्णमात्रामें विकसित हैं । यहाँपर भक्तिलता सर्वतोभावेन आश्रय प्राप्त करके प्रेम-फल प्रदान करती है ।

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥
(श्रीमद्भागवत १ । १ । ३)

'हे भगवत्-प्रीतिरसज्ञ अप्राकृतिक रसविशेष-साधना-चतुर भक्तवृन्द ! श्रीशुकके मुखसे निःसृत होकर स्वेच्छासे पृथ्वीपर अखण्डरूपमें अवतीर्ण, परमानन्द-रसमय त्वक्-अस्थि आदि कठिन हेयांशसे रहित, तरल, पानयोग्य इस श्रीमद्भागवत-नामक वेदकल्पतरुके पक्वफलका आपलोग मुक्तावस्थामें भी निरन्तर पान करते रहें ।'

व्यतीत्य भावनावर्त्म यश्चमत्कारभारभूः ।
हृदि सत्त्वोज्ज्वले बाढं स्वदते स रसो मतः ॥

भावनापथके परे अलौकिक चमत्कारकी पराकाष्ठाका आधारस्वरूप जो स्थायी भाव शुद्ध सत्त्वसे उज्ज्वल हृदयमें निश्चितरूपमें आस्वादित होता है, वही 'रस' कहलाता है । श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णको 'उत्तमश्लोक' कहा गया है । श्लोकका प्रतिपाद्य विषय है वस्तुके माध्यमसे रूपके प्रकाशमें रसकी संयोजना । 'रस' शब्दसे छः मुख्य और सात गौण रसोंकी आलोचना प्राकृत काव्यमें देखनेमें आती है और वैष्णवोंके काव्यमें इन समस्त रसोंका पूर्ण परिचय भगवत्ताको केन्द्रित करके हुआ है । इन रसोंका आस्वादन मुक्तिके परे भक्तिके आश्रयमें होता है—

मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ।

इसी कारण वैष्णव काव्यका उद्भव होता है वैकुण्ठसे—

वैकुण्ठाज्जनितो वरा मधुपुरी तत्रापि गोवर्द्धनो
राधाकुण्डमिहापि गोकुलपतेः प्रेमामृताप्लावनात् ।
कुर्यादस्य विराजतो गिरितटे सेवां विवेकी न कः ॥

वैकुण्ठसे उत्पन्न भक्तिका बीज-वपन हुआ मधुपुरी (मथुरा) में। उसने अङ्कुरित होकर रासोत्सवमें श्रेष्ठता प्राप्त की। वृन्दावनमें गोवर्द्धन-शैलपर वह श्रेष्ठतर हुआ तथा राधाकुण्डमें श्रेष्ठतमताको प्राप्त हो गया, यही उत्तमश्लोककी उत्तमता है।

भक्तिमें स्वार्थ या लाभका विचार ही नहीं होता। भक्ति केवल अपने प्रभुकी सेवा-आराधनाके लिये अपने-आपको उत्सर्ग करनेकी चेष्टामें लगी रहती है।

आत्मेन्द्रिय प्रीतिवाञ्छा तारे बलि काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीतिवाञ्छा धरे प्रेम नाम॥

कलियुग धर्म हय कृष्ण नाम संकीर्तन।
नाम संकीर्तने उपजय प्रेम धन॥
केवल जे रागमार्गे भजे कृष्ण अनुरागे,
तारे कृष्ण-माधुर्य सुलभ।
कृष्णरूपामृत सिन्धु, ताँहार तरङ्ग बिन्दु,
एक बिन्दु जगत डुबाय॥

अर्थात् अपनी इन्द्रियोंकी प्रीतिकी इच्छाको 'काम' कहते हैं और श्रीकृष्णकी इन्द्रियोंकी तृप्तिकी कामनाका प्रेम नाम है। कलियुगका धर्म श्रीकृष्ण-नाम-संकीर्तन है, नाम-संकीर्तनसे प्रेमधन प्राप्त होता है। जो केवल रागमार्गसे अनुरागपूर्वक श्रीकृष्णका भजन करता है, उसको श्रीकृष्णका माधुर्य-रस सुलभ होता है। श्रीकृष्ण-रूप-सुधाके समुद्रकी तरङ्गोंका एक बिन्दु सारे जगत्को डुबो देता है।

अनन्य शरणागति-धर्म

(लेखक—स्वामीजी श्रीरँगीलीशरणदेवाचार्यजी, साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ, मीमांसा-शास्त्री)

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात् ।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहा-
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात् ॥
(श्रीनिम्बार्काचार्यकृत वेदान्तकामधेनु)

आनन्दकंद गोविन्द मुकुन्द श्रीकृष्ण प्रभुके उदार पदारविन्दके अतिरिक्त कोई अन्य गति नहीं है। वस्तुतः साधकोंके लिये शाश्वत सुख-शान्तिका सुन्दर सदन और कोई दूसरा उपाय ही नहीं है।

शरणागति-धर्ममें ज्ञानप्रभृति सर्व-साधनोंके अभिमानको छोड़कर आत्मा-आत्मीय सर्व-सम्बन्धको प्रभुके उदार पदारविन्दमें समर्पण करना होता है। वहाँपर किसी अपनी योग्यता तथा कला-कौशलका प्रदर्शन करना या मनमें रखना शरणागति-धर्मके सर्वथा विरुद्ध है। वहाँ तो साध्य-साधन सर्व-सम्बन्धको प्रभुसे जोड़ना है; क्योंकि—

'तन्निष्ठस्य मोक्षव्यपदेशात्।' 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च।'
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(वाल्मीकिरामायण)

विपन्नापन्न प्रपन्नपर प्रभु प्रसन्न होकर अभयदान देते हैं!

शरणागति-धर्मका निरूपण वेदके संहिताभागमें देखिये। श्रीनिम्बार्काचार्यकथित वचनोंमें प्रमाण—

त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन् मानुषाणाम्।
(ऋग्वेद ६।१।५)

'इस असार संसार-सागरसे पार करनेवाले प्रभो! मनुष्योंके सच्चे माता-पिता तथा रक्षक तुम ही हो।'

और हम तुम्हारे हैं तथा तुम हमारे हो। **'त्वमस्माकं तवास्म्यहम्।'**

हम तुम्हारे सेवक एवं शरणागत हैं और तुम हमारे स्वामी तथा शरण्य हो।

श्रुति कहती है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
(श्वेताश्वतर० ६।१८)

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो विद्यां तस्मै गोपयति स्म कृष्णः।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुः शरणं व्रजेत्॥
(गोपालपूर्वतापिनी० ६)

अर्थात् जो भगवान् श्रीकृष्ण विधाताके भी विधाता हैं और सर्वप्रथम जिन प्रभुने अपने दिव्य ज्ञान वेदोंका ब्रह्माको उपदेश दिया, जो आत्मा, मन एवं बुद्धि तथा सकलेन्द्रियोंके प्रकाशक हैं, उन जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण श्रीकृष्ण प्रभुकी मैं शरण प्राप्त करता हूँ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी शरणागतिका ही प्रधानतया निरूपण किया गया है।

श्रीनिम्बार्कभगवान्के मतसे गीताका उपक्रम शरणागतिसे और आवृत्ति शरणागतिकी और पर्यवसान शरणागतिमें है। यथा—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।
(उपक्रम)

× × ×

निवासः शरणं सुहृत्। तमेव शरणं गच्छ। मामेव ये प्रपद्यन्ते।
(आवृत्ति)

× × ×

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
(उपसंहार)

यही शास्त्रीय पद्धति है। 'शरण'का अर्थ रक्षक तथा आश्रय होता है। ('शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः)। शरणागति षड्विधा होती है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।
(नारदपाञ्चरात्र)

अनुकूल आचरण करना, प्रतिकूलता-निषेध, प्रभु श्रीकृष्ण हमारे रक्षक हैं—ऐसा विश्वास एवं रक्षाके लिये प्रार्थना करना, आत्मनिवेदन और दैन्य। यथा—

श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर।
संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो॥

इसमें आत्मनिवेदन अङ्गी है एवं अन्य पाँच अङ्ग हैं। यह 'वेदान्तरत्नमञ्जूषा'का प्रमाण है। भगवान्‌की शरणमें किसी भी भावसे आये, वे उसका परम कल्याण करते हैं। कृपाकृपण पूतना अपने उरोजोंमें हलाहल विष लगाकर भगवान्‌को मारनेकी भावनासे आयी। दीनदयालु प्रभुने उसको भी जननीकी उत्तम गति दी। इस दयालुतापर श्रीउद्धवजीका हृदय गद्गद हो उठा—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥
(श्रीमद्भागवत ३। २। २३)

धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिये लौकिक-पारलौकिक भोगत्याग, उपरति, तितिक्षा, मुमुक्षुता आदि बड़े विकट संकट-साध्य साधनोंकी आवश्यकता पड़ती है; किंतु शरणागतिमें तो दीनभावसे, आँसू भरकर आश्रय लेनेसे ही प्रभुकी कृपा प्राप्त हो जाती है। प्रभुकी कृपा प्राणीके ऊपर कैसे एवं कब उतरती है, अनन्य प्रेम-शरणागति-धर्मका निरूपण करते हुए महावाणीकार कहते हैं—

बिधि-निषेध आदिक जिते, कर्म-धर्म तजि तास।
प्रभुके आश्रय आवई, सो कहिये निज दास॥
जो कोउ प्रभुके आश्रय आवै। सो अन्याश्रय सब छिटकावै॥
बिधि-निषेध के जे-जे धर्म। तिनि कों त्यागि गहै निष्कम॥
झूठ, क्रोध, निंदा तजि देहीं। बिन प्रसाद मुख और न लेहीं॥
सब जीवनि पर करुना राखैं। कबहुँ कठोर बचन नहिं भाखैं॥
मन माधुर रस माहिं समोवैं। घरी-पहर-पल बृथा न खोवैं॥
सतगुरु के मारग पगु धारैं। हरि सतगुरु बिच भेद न पारैं॥
ए द्वादस लच्छन अवगाहैं। जे जन परा परम पद चाहैं॥
(सिद्धान्त-सुख)

शरणागत श्रीभट्टजी कहते हैं—

मदन गोपाल सरन तेरि आयौ।
चरन कमल की सेवा दीजै, चेरौ करि राखौ घर जायौ॥
धनि-धनि मात-पिता, सुत-बंधू, धनि जननी, जिन गोद खिलायौ।
धनि-धनि चरन चलत तीरथ कौं, धनि गुरु, जिन हरि-नाम सुनायौ॥
जे नर बिमुख भए गोबिंद सौं, जनम अनेक महादुख पायौ।
श्रीभटकौं प्रभु दियौ अभय पद, जम डरप्यौ, जब दास कहायौ॥

अनन्य शरणागति-धर्मका पालन करनेवाली सौभाग्यवती श्रीमती सती-शिरोमणि तत्सुखवती व्रज-युवतियोंको देखकर समस्त-रसामृत-मधुर-मूर्ति श्रीकृष्ण ऋणी होकर उऋण होनेकी प्रार्थना करते हैं—'न पारयेऽहं' कहकर अपनेको असमर्थ बताकर वे कहते हैं—

तब बोले ब्रजराज कुँवर, हौं रिनी तुम्हारौ।
अपने मन तें दूरि करौ किन दोस हमारौ॥
कोटि कल्प लगि तुम प्रति प्रति उपकार करौं जौ।
हे मन-हरनी तरुनी उरिनी नाहिं तबौं तौ॥

गोपियोंसे यों कहकर, फिर किशोरी ठकुरानी श्रीराधारानीजीका सम्मान करते हुए रसिकशिरोमणि सुन्दर श्याम श्रीप्रभु बोले—

सकल बिस्व अप-बस करि मो माया सोहति है।
प्रेममयी तुम्हरी माया सो मोहि मोहति है॥
तुम जो करी, सो कोउ न करै, सुनु नवल किसोरी।
लोक-बेद की सुदृढ़ सृंखला तृन सम तोरी॥

सकल-कला-कलाप-कुशल किशोरी श्रीस्वामिनिजू बड़े संकोचके साथ विपुल पुलकवती होकर बोलीं—

प्यारे! तुम्हें सुनाऊँ कैसे अपने मनकी सहित विवेक।
अन्योंके अनेक, पर मेरे तो तुम ही हो, प्रियतम! एक॥
सरल सुगम सुंदर सुखदाई। साधन सरनागती सुहाई॥

योऽशेषशेषं करुणागुणेशं
मनोज्ञवेषं सकलेष्टदेशम्।
व्रजेद् व्रजेशं शरणं परेशं
स क्लेशलेशं न समेति शेषम्॥

एक परमात्माको देखना ही वास्तविक धर्म है

(लेखिका—ब्रह्मस्वरूपा संन्यासिनी)

समस्त चराचर जगत्में एक आत्मा, परमात्मा या एक भगवान्को देखनेवाला धर्म ही वास्तविक धर्म है। वस्तुतः एक आत्मा या भगवान्के अतिरिक्त नाम-रूपकी सत्ता ही कहाँ है ? बस, देखना सीख लीजिये। नाम-रूपको सत्ता देकर आप उसको कभी नहीं देख पायँगे, जिसको देखना आपका परम धर्म है। आप पुत्रको देख रहे हैं, पत्नीको देख रहे हैं, मनुष्य तथा पशुको देख रहे हैं, परंतु उन सबमें अनुस्यूत आत्माको नहीं देखते। इसीसे पागलकी भाँति ठोकरें खाते इधर-उधर भटकते फिर रहे हैं !

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरकी पोशाक उतार दीजिये; जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थाओंको त्याग दीजिये; फिर चराचर जगत्में सर्वत्र सदा परमात्माके—भगवान्के दर्शन होने लगेंगे। यही आपका सच्चा धर्म है। आप निःसङ्ग हैं, इन शरीरों तथा अवस्थाओंके साथ आपका वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है। आप नित्य हैं—न कर्ता हैं, न भोक्ता हैं, न जन्म लेनेवाले हैं, न मरनेवाले। ये सब तो जड हैं, आप चेतन हैं। सभी चेतन हैं। एक चेतन परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं ! आपकी आँखोंपर नाम-रूपका पर्दा पड़ा है। इसी कारण रस्सीमें साँप दिखायी दे रहा है !

सत्-शास्त्रोंका चश्मा लगाकर देखिये। सर्वत्र एक परमात्मा ही दिखायी देंगे। चराचर जगत्-रूपमें एक परमात्मा ही भरे हैं। उन्हींको देखिये, वही आपका स्वरूप है और यह स्वरूप-दर्शन ही धर्म है। सारे साधनोंका यही एकमात्र फल है।

धर्म

(लेखक—श्री बी० आर० जोह्यर एम्० ए०, एफ० आर० ई० एस्० महोदय)

यह आश्चर्यका विषय है कि जहाँ अभिमानके पुतले हम आधुनिक लोग साधुजीवनकी खोजमें ठोकरें खाते, गिरते-पड़ते और भटकते फिर रहे हैं, वहाँ सहस्रों वर्ष पूर्व हमारे पूर्वजोंने अन्तर्दृष्टि, अन्तःप्रेरणा तथा वैज्ञानिक साँचेमें ढली तीक्ष्ण बुद्धिके द्वारा व्यक्तिगत रूपमें, समाजके एक अङ्गके रूपमें एवं भगवान्की सार्वभौम सृष्टिके अन्तर्गत एक बिन्दुके रूपमें मानव-सम्बन्धी सत्य तत्त्वोंको जान लिया था। उन्होंने यह भी पता लगा लिया था कि जीवनका क्या अर्थ है, जीवनका क्या मूल्य है और इसका सर्वोत्तम उपयोग क्या हो सकता है।

शताब्दियोंके भीतर अथवा जिनका हमको पता नहीं है, ऐसे स्वर्णयुगोंके भीतर एकत्रित किया हुआ उनका पुञ्जीभूत ज्ञान हमलोगोंके पास वेदों, उपनिषदों, वेदाङ्गों, शास्त्रों एवं पुराणोंके रूपमें उतरा है, जो मध्याह्न-सूर्यके समान आँखोंमें चकाचौंध उत्पन्न कर रहा है तथा जो शाह सुलेमानके खजानोंसे भी अधिक मूल्यवान् है। यह वह बौद्धिक निधि है, जिसको न तो रोम, न यूनान, न मिस्र, न ईथोपिया, न चीन, न जापान, न पेरू, न मेक्सिको या किसी भी राष्ट्रके प्राचीन जन अपने वंशधरोंके लिये छोड़ गये हैं।

इस निधिके क्षेत्रमें संसारभरमें हमारा देश अतुलनीय है। यदि कोई चाउ-एन-लाई या इकेडा, सुकर्णो, नसीर या हेलसिलासी, लार्ड रसेल अथवा कोसीजिन जॉनसन या कैस्ट्रोसे पूछे—'धर्म क्या है ?' तो विचारमग्न होकर अपने चिबुकको खुजलाते हुए वे कहेंगे—'धर्म है अंधा आज्ञापालन, पाशविक देशभक्ति एवं घोर परतन्त्रता।'

किंतु इस प्रश्नका उत्तर दसों हजार वर्ष पहले वेदोंमें ज्वलन्त अक्षरों एवं गरजती हुई वाणीमें दिया गया था, जिसकी ओरसे आजकलके हम क्षुद्र मानव कान बंद कर लेना चाहते हैं। उन्होंने कहा था—

> धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा
> लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
> धर्मेण पापमपनुदति।
> धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
> तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति॥

'धर्म ही विश्वका आधार है। सारी प्रजा धर्मानुयायीके चरण चूमेगी। धर्मसे पापका उदय नहीं होता। धर्ममें सभी लोग प्रतिष्ठित हैं। इसीलिये धर्मको सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।'

उन लोगोंने उसी धर्मको उधेड़कर उसका विश्लेषण किया और समाजके विभिन्न वर्गोंके व्यक्तियोंके लिये उसके आचरणका पथ-निर्देश किया। नाम गिनायें तो कुछ धर्म ये हैं—राजधर्म, आर्यधर्म, स्त्रीधर्म, कुलधर्म, यतिधर्म, आपद्धर्म इत्यादि।

सरस्वतीके भारतीय उपासकोंमें सर्वाधिक आदर-प्राप्त कालिदासके द्वारा राजधर्मके निम्नलिखित वर्णनकी विशदता अनुकरणीय है—

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्॥
त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

(रघुवंश १।५—८)

'वे रघुवंशी राजालोग जन्मसे ही पवित्र होते थे, वे किसी कामको उठाते थे तो उसे पूरा करके ही छोड़ते थे। उनका राज्य समुद्रके इस पारसे उस पारतक फैला हुआ था और पृथ्वीसे सीधे स्वर्गतक उनके रथ आया-जाया करते थे। वे शास्त्रानुसार यज्ञ करते थे, वे याचकको अभिलषित दान देते थे, वे अपराधियोंको अपराधके अनुसार दण्ड देते थे और वे अवसर देखकर काम करते थे। वे त्याग करनेके लिये धन जुटाते थे, सत्यकी रक्षाके लिये बहुत कम बोलते थे, अपना यश बढ़ानेके लिये ही दूसरे देशको जीतते थे और वे भोग-विलासके लिये नहीं, बल्कि संतान उत्पन्न करनेके लिये विवाह करते थे। वे बाल्यकालमें पढ़ते थे, तरुणाईमें संसारके भोगोंको भोगते थे, बुढ़ापेमें मुनियोंके समान जंगलोंमें रहकर तपस्या करते थे और अन्तमें योगके द्वारा शरीरका परित्याग करते थे।'

क्या कोई और देश राजधर्मका ऐसा विधान प्रस्तुत कर सकता है?

उपनिषदोंमें स्नातक विद्यार्थीका धर्म बताया गया है। गुरु उसको आदेश देते हैं—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि॥

(तैत्तिरीय० शीक्षा० अनु० ११)

'सत्य बोल। धर्मका आचरण कर। स्वाध्यायसे प्रमाद न कर। सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। धर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। कुशल (कर्तव्य) कर्मसे प्रमाद नही करना चाहिये। ऐश्वर्य देनेवाले माङ्गलिक कर्मोंसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। तू माताको देवता (भगवान्) मान, पिताको देवता मान, आचार्यको देवता मान, अतिथिको देवता मान। जो अनिन्द्य कर्म हों, उन्हींका सेवन कर। अन्य साधु पुरुषोंके शुभ आचरणोंका अनुकरण कर। किसी कार्यके औचित्यमें संदेह होनेपर वैसी परिस्थितिमें आदरणीय गुरुजन क्या करेंगे, इसको जानकर वैसा ही कर।'

प्राचीन कालमें स्नातकोंके लिये धर्मका यही विधान था। आज स्नातकोंके लिये असंख्य 'दीक्षान्त-भाषण' होते हैं, किंतु उनमें किसी उपयोगी उपदेशको घासकी ढेरीमें सूईके समान खोजना पड़ता है।

धार्मिक उपदेशोंकी खान विशाल महाभारत ग्रन्थमें एक रोचक कथा है, जिसमें नाना प्रकारके धर्मोंका निरूपण किया गया है। कौशिक नामधारी एक तपस्वी ब्राह्मण एक दिन दोपहरके समय एक छायादार वृक्षके नीचे खड़ा था। अचानक एक पक्षीकी बीट उसके सिरपर गिरी। इस गंदगीसे क्रुद्ध होकर उसने रोषभरी दृष्टिसे ऊपर देखा और बगुला निष्प्राण होकर उसके चरणोंपर गिर पड़ा। इस दृश्यसे हतप्रभ होकर उसके मनमें अनुताप जगा और उसने बगुलेकी आत्माके लिये प्रार्थना की। पीछे वह मुनियोंकी बस्तीमें गया, जहाँसे वह नित्य भिक्षा माँग लाया करता था। एक घरके बाहर खड़े होकर आवाज लगायी,—'देवि! भिक्षा दो।

गृहिणीने भीतरसे उत्तर दिया—'महाराज ! ठहरिये !' किंतु दूसरे ही क्षण उसके पतिने उसको पुकारा और उनकी सेवामें उसको कुछ समय लग गया। तत्पश्चात् वह किंचित् भोजन लेकर ब्राह्मणके पास शीघ्रतासे गयी। उसने क्रोधको रोककर उसकी ओर देखते हुए पूछा—'तुमने मुझे क्यों ठहरनेके लिये कहा और फिर इतनी देर क्यों की ? तुम्हें मालूम नहीं कि अपमानित ब्राह्मण भयानक शत्रु है ?' गृहिणीने उत्तर दिया—'महाराज ! मैं जानती हूँ। मैं यह भी जानती हूँ कि आपके क्रोधने वनमें अभागे बगुलेकी जान ले ली। किंतु उसी प्रकार मुझे मृत्युके घाट नहीं उतारा जा सकता। मैं एक सती और धर्मनिरता स्त्री हूँ। आपको ठहरनेके लिये कहनेके बाद मुझे अचानक पतिकी सेवामें जाना पड़ा। पत्नीके लिये पति-सेवाके अतिरिक्त और सब कर्तव्य गौण हैं। इसीलिये मुझसे देर हुई। कृपा करके मुझे क्षमा कीजिये और अपने क्रोधका दमन कीजिये। महाशय ! क्रोध मनुष्योंका शरीरनिहित शत्रु है। ऋषियोंने कहा है—

'जो काम-क्रोधसे मुक्त हो चुका है, वही सच्चा ब्राह्मण है। जो सत्यवादी है, गुरुको आनन्द देनेवाला है, जो मार खानेपर उलटकर मारता नहीं, वही सच्चा ब्राह्मण है। जो जितेन्द्रिय है, धर्मपरायण है, स्वाध्यायनिरत, तन-मनसे पवित्र तथा काम-क्रोधसे रहित है, वही सच्चा ब्राह्मण है। जो अध्ययन एवं अध्यापन करता है, जो यज्ञोंको करता एवं करवाता है और यथाशक्ति दान देता है, वही सच्चा ब्राह्मण है। *

'मान्यवर ! मुझको संदेह नहीं है कि आप धर्म जानते हैं; किंतु धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म और जटिल है। यदि आप इसको ठीकसे जानना चाहते हैं तो मिथिलामें धर्मव्याधके पास जाइये और उनसे ठीकसे समझिये। मेरी बकवासको क्षमा कीजिये और विश्वास करिये कि मेरा अभिप्राय आपको रुष्ट करनेका नहीं था।'

कौशिक एक क्षणतक तो स्तम्भित होकर उस अद्भुत स्त्रीके सामने खड़ा रहा, फिर बोलने लायक स्थितिमें आकर उसने निश्छल मनसे उसको धन्यवाद दिया और अपनी राह ली।

तत्पश्चात् धर्मव्याधके प्रति उत्सुकता लिये हुए वह मिथिला पहुँचा और मांस-बाजारमें एक कसाईकी दूकानपर उनको मांस बेचते हुए पाया। हिचकिचाते हुए वह थोड़ी दूरपर खड़ा हो गया। उसे देखकर धर्मव्याध शीघ्रतासे उसके पास गये और अभिवादन करनेके पश्चात् बोले—'स्वागत है, मान्यवर ! मैं जानता हूँ, आप भक्तिमती महिलाके आदेशसे पधारे हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि उन्होंने क्यों आपको मेरे पास भेजा है। कहिये, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?'

दूरसे बात जाननेकी इस दूसरी घटनापर ब्राह्मण चकित रह गया और धर्मव्याधके साथ उनके घर गया। वहाँ उसे आदरसहित आसन दिया गया। आरम्भमें ही ब्राह्मणसे यह पूछे बिना नहीं रहा गया—'मैं इस बातका मेल नहीं बैठा पा रहा हूँ कि आपके समान आध्यात्मिक उपलब्धिवाला व्यक्ति ऐसा गर्हित व्यापार करे।' धर्मव्याधने उत्तर दिया, 'महाशय ! मैं धर्मपूर्वक अपने व्यापारका पालन करता हूँ। मैं किसी प्राणधारीकी हत्या नहीं करता। मैं मांस लेकर उसे ईमानदारीके साथ बेच देता हूँ। मैं अधिक दाम नहीं लेता। मैं सत्य बोलता हूँ, किसीको धोखा नहीं देता, किसीको मारता नहीं और न देनेसे अरुचि रखता हूँ। मेरे माता-पिता, जिन्होंने मुझे जन्म दिया और बड़ा बनाया, वृद्ध हो चुके हैं; मैं कर्तव्य-परायणताके साथ उनकी सेवा करता हूँ। जो कुछ मैं कमाता हूँ, उसे भगवान् और मनुष्योंकी सेवामें लगा देता हूँ ! अपने ऊपर केवल शेषांश ही व्यय करता हूँ। मैं मांस नहीं खाता। मैं दिनमें उपवास रखकर केवल रात्रिमें एक बार भोजन करता हूँ। कोई व्यापार तभी गर्हित है, यदि वह किसीको नीचे गिरा दे। यदि धर्मपरायण व्यक्ति धर्मपूर्वक कोई व्यापार करता है तो व्यापारकी वस्तुसे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। यही कारण है कि अपने पूर्वजोंके मांस बेचनेके व्यापारको मैंने भी अपना रक्खा है।'

---

* क्रोधः शत्रुः शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम।
यः क्रोधमोहौ त्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥
यो वदेदिह सत्यानि गुरुं संतोषयेत च।
हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥
जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः।
कामक्रोधौ वशे यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥
योऽध्यापयेदधीयीत यजेद् वा याजयेत वा।
दद्याद् वापि यथाशक्ति तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥
(महाभारत वन० २०६। ३२–३४, ३६)

धर्मव्याधके प्रभावपूर्ण विवेचनसे मुग्ध होकर कौशिकने उन्हें धन्यवाद दिया और धर्मके गूढ़ तत्त्वोंसे अवगत करानेके लिये उनसे प्रार्थना की। कई अध्यायोंमें समानेवाला धर्मव्याधका धर्मके ऊपर प्रवचन सुकरात, ईसामसीह अथवा बुद्धके मुँहसे भी सुना जा सकता है; किंतु धर्मव्याधके ये उपदेश हैं उनसे सहस्रों वर्ष पूर्ववर्ती।

महाभारतके बहुमूल्य आनुशासनिक पर्वमें शय्यापर पड़े हुए भीष्मसे युधिष्ठिर पूछते हैं—

को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः।
किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात्॥
(१४९।३)

'पूज्यवर! आपकी दृष्टिमें सब धर्मोंमें कौन-सा धर्म सर्वश्रेष्ठ है?' और भीष्म उत्तर देते हैं—

एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा॥
(१४९।८)

'सबके स्रष्टा, सबके पालक और सबको क्रोडीकृत करनेवाले भगवान् पुण्डरीकाक्षका एकान्त निष्ठापूर्वक निरन्तर स्तवन करनेको ही मैं सबसे बड़ा धर्म मानता हूँ।' और ज्ञानके सागर महर्षि व्यासके अनुसार—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥

'सभी आगम-ग्रन्थ आचारको प्रथम स्थान प्रदान करते हैं। आचार ही धर्मका आधार है और धर्मके स्वामी हैं अविनाशी भगवान्।'

गुरु स्नातक शिष्यको आदेश देता है—'सत्यं वद।' (सच बोलो।) किंतु सत्य क्या है? इसपर एक ज्ञान-सम्पन्न ऋषि कहते हैं—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

'सत्य एवं प्रिय वचन बोलना चाहिये। अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिये। प्रिय किंतु असत्य भी नहीं बोलना चाहिये। यही सनातन धर्म है।'

इसका अर्थ हुआ—अप्रिय सत्यवादन भी अधर्म है।

भगवान् वासुदेवने कहा है—

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

'करोड़ों ग्रन्थोंमें जो कहा गया है, उसको मैं आधे श्लोकमें बता रहा हूँ। परोपकार ही पुण्य है और परपीडनका ही नाम है पाप।'

धर्मके विभिन्न विविध स्वरूप हैं और उनमें कुछ परस्परविरोधी भी हैं। वस्तुतः सात रंगोंसे बनी होनेपर भी श्वेत दीखनेवाली सूर्यकी रश्मिकी भाँति धर्मकी गति भी बड़ी गहन और जटिल है। भगवान्के द्वारा नियुक्त वेदोंद्वारा उद्घोषित इस देशके अनेक मार्क्स और रूसोसे भिन्न ज्ञान-सम्पन्न विचारकोंने युग-युगमें धर्मको संगठित और व्यवस्थित करनेकी चेष्टा की है। उनके नाम हैं—मनु, पराशर, याज्ञवल्क्य, अङ्गिरा, बोधायन, आपस्तम्ब, नारद, आश्वलायन इत्यादि। सहस्राब्दोंतक इनके धर्मशास्त्रोंकी व्याख्या की गयी एवं उनका संकलन-सम्पादन हुआ।

यदि इस देशकी अधिकांश जनता धर्मप्राण न होती तो अराजकता फैल गयी होती और हमलोग अफ्रीकाकी किसी जंगली जातिसे अच्छे नहीं होते; किंतु इस देशके लोगोंकी अन्तश्चेतनामें अब भी धर्म सो रहा है। वह यहाँकी धरती और आकाशका अङ्ग बन गया है। यह उस वृक्षके समान है, जो वसन्तमें खिलता और पतझड़में मुरझा जाता है। प्रायः इसकी शाखाओंको अनाचारी तोड़ डालते हैं और इसकी जड़को कीड़े खा जाते हैं। पुनरुज्जीवित करनेके लिये इस वृक्षको भी सँभालकी आवश्यकता पड़ती है।

इसीलिये भगवान्ने गीता (४।७)में कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् प्रकट होता हूँ।'

जब हमको पता चलता है कि आजके पहले ही नौ अवतार हो चुके हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मका ह्रास हमारे ही सामने पहली बार नहीं हो रहा है। इसका उतार-चढ़ाव भूतकालमें भी हो चुका है और अब वर्तमानमें यह फिर शायद उतारपर है; परंतु पूर्वकी भाँति अब भी इसकी चिनगारी धर्मप्राण, दृढ़, क्रियाशील व्यक्तियोंकी अस्थि, हृदय और मानसमें छिपी है, जो उस पावन पावकको पुनः प्रज्वलित करनेसे चूकेगी नहीं।

चालीस करोड़ नर-नारियोंमेंसे प्रत्येक धर्मकी मूर्ति

नहीं बन सकता। परंतु उनमेंसे कुछ आदमी तो ऐसे होने चाहिये, जो राष्ट्रके हृदयस्थानीय हों, जो धर्मकी धाराको इसकी रक्तवाहिनियोंमें भेजते रहें, जिससे विकृतियोंके उपरान्त भी राष्ट्र जीवित रहे।

कहीं हम मूर्खतासे यह न मान लें कि कुछ स्वार्थ-साधक, अहंमन्य अर्द्ध-शिक्षित अल्पज्ञ व्यक्तियोंसे बनी हुई बालकी खाल निकालनेवाली धारासभाके द्वारा लोगोंके ऊपर विधानके रूपमें जो कुछ लादा जाता है, वही धर्म है। हमारे ऋषि अधिक समझते थे। वे धर्मको मनुष्योंके कल्याणके लिये भगवान्‌का बनाया हुआ मानते थे। समझदारीका थोड़ा भी दावा करनेवाला व्यक्ति इसे अस्वीकार नहीं कर सकता।

किसी निर्मल रात्रिको सिर उठाकर ऊपर देखनेपर हम करोड़ों मील दूरसे सहस्रों नक्षत्रोंको झिलमिलाते हुए पायेंगे। हमारे विश्वासप्राप्त वैज्ञानिकगण कहते हैं कि सभी नक्षत्र सूर्य हैं। हमारे अपने सूर्यसे अनेकगुना बड़े हैं। वे वहाँपर करोड़ों वर्षोंसे निराधार, निश्चिन्त, निष्कम्प अक्षय बने खड़े हैं। मेजपर रक्खी हुई संगमरमरकी गोलियोंकी भाँति उनमें व्यवस्था-विहीन लुढ़क-पुढ़क क्यों नहीं मचती? कौन दैवी शक्ति ऐन्द्रजालिक या जादूगर उनको अपने-अपने स्थानपर रोके हुए है? क्या सारी मानव-जाति एक साथ लगकर उनको तिनके भर भी हटा सकती है? कभी नहीं।

फिर यदि हम कहें कि सुविस्तृत अनवगाह्य, अचिन्त्य और विशाल नक्षत्रलोकको भगवान्‌का बनाया धर्म थामे हुए है तो क्या इसे 'अन्धविश्वास' कहा जायगा? नहीं। वैदिक ऋषियोंने यही बात सहस्रों वर्ष पूर्व इन शब्दोंमें कही थी—**'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'** (अखिल ब्रह्माण्ड धर्मपर अवस्थित है।)

घरके निकट पृथ्वीरूपी बड़ी गेंदको देखें। क्या पृथ्वी और जलका यह एक निष्क्रिय दलदल भर है? वैज्ञानिक इसे सूर्यकी परिक्रमा करनेवाला एक पिण्ड बताते हैं। सवा नौ करोड़ मील दूर बसनेवाला वह अद्भुत सूर्य, लट्टू नचानेवाले पाठशालाके विद्यार्थीकी भाँति, पृथ्वीको घंटेमें हजार मिलकी चालसे नचा रहा है और सालभरमें एक चक्कर कटाता हुआ इसे अपनी ओर एक वृत्तमें चक्कर कटा रहा है, जिसका व्यास साढ़े अठारह करोड़ मील है। करोड़ों-करोड़ों वर्षसे यह खेल चल रहा है और भगवान् ही जानें कबतक चलता रहेगा। वह लड़का सदा खेलता ही रहता है। कभी पढ़ता नहीं। बड़ा दुष्ट लड़का होना चाहिये सूर्यको।

किस लौह-रज्जुसे पृथ्वी और सूर्य बँधे हुए हैं? क्यों नहीं पृथ्वी भुवन-मण्डलके गर्तमें गिरकर विलीन हो जाती? यदि सूर्य इसे खींच रहा है तो सवा नौ करोड़ मील दूरपर ही यह क्यों ठहर गयी? क्यों नहीं, यह सूर्यकी ओर दौड़कर उसमें लय हो जाती?

क्योंकि सूर्य और पृथ्वी दोनों भगवान्‌के बनाये धर्मका अनुसरण कर रहे हैं। भगीरथ-प्रयत्नके बाद अन्तरिक्ष-पोत या अन्तरिक्ष-यात्रीको ऊपर भेजकर आज हमारे वैज्ञानिक फूले नहीं समा रहे हैं। भगवान्‌के द्वारा निर्मित और चालित सुविस्तृत, असीम, अचिन्त्य, अनवगाह्य ब्रह्माण्डरूपी विस्मयकारी एवं अवर्णनीय अद्भुत वस्तुकी तुलनामें यह सब कुछ कितना तुच्छ और बालोचित है!

इस विशाल ब्रह्माण्डको भगवान् कैसे चलाते हैं? उत्तर है—'धर्मके द्वारा।'

यह हमारे पूर्वजोंके लिये गौरवकी बात है कि उनके पास वह ज्ञान, वह प्रकाश, वह कल्पना थी, जिससे उन्होंने ब्रह्माण्डकी विशालताको जाना, स्रष्टाकी महिमाको पहचाना और उन्हें अपनी अजस्र श्रद्धा-भक्ति समर्पित की।

उन्होंने समझा कि जब एक नगरका निर्माण करनेमें, एक इस्पातका कारखाना खड़ा करनेमें, जलविद्युत्‌की योजना बनानेमें परिपक्व मस्तिष्कोंकी सावधान विवेचना और प्रयत्नकी आवश्यकता पड़ती है, तब किसी निष्णात मस्तिष्क, सबसे बड़े निष्णात मस्तिष्कने इस सुविशाल ब्रह्माण्डको रचा होगा, जिसमें भीमकाय नक्षत्र हैं, तारागण हैं, ग्रह हैं, उपग्रह हैं और सब अपने पथको बिना इधर-उधर हिले आज्ञामें रत दृढ़ताके साथ पकड़े हुए हैं।

इस प्रकार यदि भगवान्‌का धर्म ब्रह्माण्डको बाँधे रखकर उसको नियन्त्रणमें रखता है तो स्वाभाविक बात है कि भगवान्‌का बनाया हुआ मनुष्योंके लिये भी कोई धर्म होगा। हमारे महर्षियोंने उस धर्मका दर्शन करनेकी चेष्टा की है और अपने साथी मानवोंके लिये धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रोंमें उसकी व्याख्या करनेका प्रयास किया है और जनतामें उसका प्रचार करनेके लिये सुन्दर संगीतमय एवं नीतिमय पुराणोंकी रचना की है।

शक्तिधारी किसी दल अथवा संघके द्वारा अंधाधुंध

रूपसे स्वार्थमें भरकर या निरङ्कुशरूपसे लादे हुए विधानका हम विरोध कर सकते और छल-बलसे उसके परिणामोंसे भी बच जा सकते हैं; किंतु यदि हम भगवान्के धर्मका विरोध करेंगे तो हम हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण, हिडिम्ब, बक, कंस बनेंगे और उनकी ही गति भोगेंगे।

सबको छोड़कर केवल हमारे ही राष्ट्रने सत्यको समझा है और पीछे आनेवाली पीढ़ियोंके लिये उसकी इतनी सुन्दर प्रभावोत्पादक, विशद एवं परिश्रमपूर्ण व्याख्या की है। प्रत्येक पीढ़ीको उस ज्ञानको एक पवित्र धरोहरके रूपमें ग्रहण करना चाहिये और आगामी पीढ़ीके स्वीकारोत्सुक हाथोंमें रख देना चाहिये; किंतु मूर्खतासे लादी हुई विदेशी शिक्षा यदि किसी पीढ़ीमें उचित विनय और विश्वासके साथ उसे ग्रहण करनेकी क्रियाके प्रति अरुचि पैदा कर देती है तो वह पीढ़ी नष्ट हो जायगी तथा मार्क्स, लेनिन एवं उनके-जैसे व्यक्ति उस विनाशको और जल्दी बुला लेंगे।

उन्हींके विषयमें उपनिषदोंमें कहा है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
(कठ० १।२।५)

'वे अविद्याके भीतर रहनेवाले, किंतु अपने आप बड़े बुद्धिमान् बने हुए और अपनेको पण्डित माननेवाले मूढ़ पुरुष, अंधेसे ही ले जाये जाते हुए अंधेके समान अनेकों कुटिल गतियोंकी इच्छा करते हुए भटकते रहते हैं।'

और गीता (१६।२१-२२) में भगवान्की वाणी कहती है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले हैं अर्थात् उसे अधोगतिमें ले जानेवाले हैं; इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये। हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है। इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मुझ भगवान्को प्राप्त होता है।'

अधर्मरूप आधुनिक धर्मसे सर्वनाश

(लेखक—स्वामीजी श्रीजयरामदेवजी महाराज)

आज मनुष्य भौतिक विकासके चमचमाते हुए रंगीन रंगमञ्चोंमें प्रवेश करके स्वयं ऐक्टर बनकर आनन्द भोगना चाहता है। किंतु परिणामका विचार न करके वह विमूढ़ हो रहा है, अतः अन्तमें उसे अन्धकार एवं घोर पतन प्राप्त होता है। जब प्रबल ठोकरें लगती हैं, तब बुद्धि ठिकाने आती है। केवल बाह्य रूप-रंग सुन्दर देखकर मिठाई खा लेना ही बुद्धिमानी नहीं है—उसकी परीक्षा करके उसके परिणामपर विचार करना ही चातुर्य है। यदि उस मिठाईमें विष मिला हुआ हो तो परिणाम क्या होगा? रूप सुन्दर नेत्रोंको सुख देगा, खानेसे तृप्ति होगी; किंतु अन्तमें उस विषका जब प्रभाव होगा, तब वह प्राणान्त कर डालेगा। इसीलिये आजके रहन-सहन एवं कर्तव्योंपर विचार करनेकी आवश्यकता है।

सहशिक्षाके दुष्परिणाम

प्राचीन समयमें भारतवर्ष मर्यादा-पालनपर जोर देता रहा। स्त्रियाँ अपने पतिको छोड़कर दूसरेको देखना या उससे बातचीत करना भी पसंद नहीं करती थीं। लड़कियोंको पूर्ण नियन्त्रणमें रक्खा जाता था। स्त्रियोंको स्वच्छन्दता देनेसे वे बहक जाती हैं—'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी।' कुसङ्गसे मन निश्चय ही बिगड़ने लगता है—आगके पास घीको रक्खोगे तो वह पिघलेगा ही।

कुछ दिनोंसे लड़कियाँ और लड़के साथ पढ़ाये जाने लगे। जवान लड़कियाँ स्वच्छन्द होकर उनसे बातें करने लगीं। कितने ही मास्टर ऐसे होते हैं, जो लड़कियोंसे हास्य-विनोद करते हैं। कितने ट्यूशन-मास्टर लड़कियोंके साथ दुराचार करते पकड़े गये हैं। उधर जवान लड़के भी अंग्रेजी शिक्षा प्राप्तकर निरङ्कुश हो 'धर्म-अधर्म कुछ नहीं' ऐसे कहते हुए आचरणभ्रष्ट होनेमें ही अपनी समस्त उन्नति मान बैठते हैं। आसक्त होकर कन्याएँ भी दिन-रात असत्-चिन्तनमें घरवालोंको वैरी बना लेती हैं।

इस दुराचारके परिणाम-स्वरूप ऐसी सैकड़ों घटनाएँ जहाँ-तहाँ हो रही हैं, जिनके वर्णनसे हृदय काँप उठता है। लोग सत्य और धर्मको त्याग रहे हैं। उसके बदले दुष्कर्मोंको खर

रहे हैं, जिनका परिणाम भयंकर दण्डके रूपमें भोगना पड़ता है। अभी हालमें ही एक सज्जनको लकवा हो गया। भयंकर कष्ट पा रहे थे। जवानीमें ही तड़प-तड़पकर मरे थे। मैंने उनसे पूछा था कि 'आप तो बहुत सच्चे व्यक्ति हैं, आपको इतना कष्ट कैसे मिल रहा है?' उन्होंने बताया—'मैं कालेजमें जब पढ़ता था तो एक कालेजमें आनेवाली लड़कीसे मेरा प्रेम हो गया। उसके गर्भ रह गया—जब बच्चा हुआ तो उसने मुझे बुलाया कि मेरी इज्जत बचाओ तो मैंने ही अपने हाथोंसे बच्चेको मारकर उसे जमीनमें गाड़ दिया था। अब वह उसी पापका फल है कि मुझे जीते ही नरक भोगना पड़ रहा है।' घोर कष्ट पाकर वे मरे। इस प्रकार कितने ही नित्य हत्या-काण्ड हो रहे हैं। मनुष्य छिपाकर पाप कर लेता है, परंतु सर्वदर्शी परमात्मा उसका भी दण्ड समयपर किसी-न-किसी रूपमें अवश्य देता है।

इसलिये भारतवर्षकी यदि वास्तविक उन्नति चाहते हैं तो लड़की-लड़कोंको ब्रह्मचर्यकी शिक्षा देना आवश्यक है। बचपनसे ही ब्रह्मचर्य नष्ट होनेके कारण लड़की-लड़के निस्तेज हो जाते हैं। भविष्यमें भीम-अर्जुन-से बलवान् कैसे हो सकेंगे? शिक्षा ही बालकोंको बनाने और बिगाड़नेवाली होती है। प्राचीन समयमें तपस्वी ऋषियोंके आश्रमोंमें जाकर पचीस वर्षतक पूर्ण ब्रह्मचर्य धारणकर बालक शिक्षा ग्रहण करते थे। वे जब घर आते थे, तब पूर्ण ज्ञानी, बलवान्, समस्त गृहकार्योंमें दक्ष होकर संसारमें सुयश प्राप्त करते थे।

जिसमें ब्रह्मचर्यका बल नहीं है, वह न संसारके कार्य सुचारुरूपसे चला सकता है न परलोकके लिये साधनामें सफल हो सकता है। इसलिये ब्रह्मचर्यकी रक्षाके उपाय करना सबके लिये आवश्यक है। गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तक—'ब्रह्मचर्य' अवश्य पढ़नी चाहिये। प्रत्येक बालकको ऐसी पुस्तकें पढ़ानी चाहिये।

सिनेमा

इसी प्रकार सिनेमा, जो मनोरञ्जनका प्रधान साधन माना जाता है और जिसका विस्तार अरण्यकी अग्निके समान अत्यन्त तीव्रतासे हो रहा है, सार्वत्रिक चरित्र भ्रष्ट करनेका एक प्रधान साधन है। सिनेमा मानो आकर्षक मीठे विषकी वह प्रबल धारा है, जिसमें पड़कर सारा समाज विष-जर्जर हो चरित्र-विनाश-सागरकी ओर तेजीसे बहा जा रहा है। बड़े संतापकी बात तो यह है कि पण्डित-मूर्ख, धनी-निर्धन, मालिक-मजदूर, सरकारी-बेसरकारी, आबालवृद्ध-वनिता सभी इसकी अनिवार्य दासतामें फँसकर हर्षके साथ अपना पतन कर रहे हैं! कुएँ भाँग पड़ी।

सिनेमा बिल्कुल नहीं देखना चाहिये। कुछ शिक्षाप्रद सिनेमा देखनेकी इच्छासे लोग जाते हैं; परंतु प्रत्येक फिल्ममें कुछ-न-कुछ कामोत्तेजक सामग्री रहती है। नृत्य, हास-विलास न हो तो मनचले लोग पसंद ही नहीं करते। इसीसे धार्मिक चित्रोंमें भी ऐसी चीजें दिखा देते हैं कि जिससे मन खराब हो जाता है।

साहित्य

गंदे उपन्यास, कहानियाँ आदि आधुनिक साहित्य ऐसा निकल रहा है कि जिसे पढ़कर सदाचारी व्यक्ति भी विषयलोलुप बन जाता है। भारत-सरकारको ऐसे साहित्यके प्रकाशनपर रोक लगानी चाहिये।

आधुनिक रहन-सहन तथा खान-पान

आजके पढ़े-लिखे कहलानेवाले बहुत-से लोग माताको माता तथा पिताको पिता कहनेमें भी लज्जित होते हैं। नमस्कार करना तो असभ्यता समझते हैं। यहाँतक कि पिताको बेवकूफ तक कहते सुना गया है। हमारे एक मित्रने अपने लड़केको सहस्र-सहस्र रुपये खर्च करके पढ़ाया और विलायत भेजा। विलायतसे वह एक लेडी ले आया। उससे शादी भी कर ली। जब बम्बई आया तब वहाँ आते ही उसको उच्चकोटिकी डिग्री मिलनेके कारण नौकरी भी मिल गयी। फिर वह पितासे मिलने कभी अपनी जन्मभूमिमें गया ही नहीं। पिता स्वयं बम्बई उसके पास मिलने गये तो पिताका निरादर किया। पिता दुखी होकर लौट आये। फिर पिताने पत्र लिखा तो कई महीने बाद उन्होंने पत्रका उत्तर स्वयं न देकर क्लर्कसे लिखवा दिया कि 'साहबको पत्र लिखनेका अवकाश नहीं है।' यह है आजकलकी सभ्यता! माता-पिता रो-पीटकर बैठ रहे। भगवान् श्रीराम क्या करते थे, जरा उनका आदर्श धर्म देखिये—

प्रातकाल उठि करि रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥

पिता आदि गुरुजनोंको नित्य प्रणाम करनेसे—आज्ञा-पालन करनेसे पुत्रकी आयु, विद्या, बल और कीर्ति बढ़ती है। भगवान् राम पिताके वचनपर राज्य त्यागकर चौदह वर्षके

लिये वनको चले गये। उस आदर्शको त्यागकर आजका नवयुवक अपने पैरोंमें अपने-आप कुल्हाड़ी मार रहा है। रहन-सहनकी बात बहुत ही बिगड़ चुकी है। खड़े-खड़े पेशाब करनेमें लोग सभ्यता समझने लगे। यह बहुत खराब आदत है। पेशाबके छींटे उछलकर पाजामे या धोतीपर पड़ते हैं। इस तरह खड़े होकर पेशाब करनेवाले सब अशुद्ध होते हैं; उनके पास बैठना, उनको छूना दोषरूप है। एक दिन बाजारमें एक सज्जन दीवालके सहारे खड़े पेशाब कर रहे थे, वे सिगरेट भी पीते जाते थे। उनका ध्यान दूसरी ओर था। दीवालसे लगकर उछलकर उनका पेशाब उनके पाजामेपर पड़ रहा था। पाजामा भीग गया। फिर वे आकर सामने वाचनालयमें बैठकर अखबार पढ़ने लगे। जाड़ेके दिन थे। पाजामा कुछ ठंडा लगा तो उन्होंने दोनों हाथोंसे वहींपर पाजामा निचोड़ा। यों पेशाब निचोड़कर फिर उन्हीं हाथोंसे वे अखबार पढ़ने लगे। पश्चात् आकर बिना हाथ धोये ही नमकीन-चाट खाने लगे। इस प्रकारकी अशुद्धि आज प्रगतिके या सभ्यताके नामपर धर्म बन रही है और शुद्धताको ढोंग बताया जाता है। अतः 'कल्याण' पढ़नेवाले सभी बन्धुओंसे मेरा निवेदन है कि वे आजसे इस दूषित आदत-को त्यागकर दूसरोंको भी इस कार्यसे मना करें और बैठकर सावधानीसे ऐसे पेशाब करें कि ऊपर छींटे न पड़ने पायें। अपवित्र रहनेसे मन ईश्वर-चिन्तनमें न लगकर तमोगुणी बन जाता है।

ऐसे ही दूसरोंका जूठा खानेसे, अशुद्ध तामसी चीजें खानेसे मनमें आसुर-भाव उत्पन्न होता है। लोग जरा-जरा-सी बातपर क्रोधित होकर लड़ने लग जाते हैं, गाली देते हैं, मारपीट करते हैं, मुकदमे चलाते हैं। इसका कारण, एक प्रधान कारण अशुद्धतासे रहना और अशुद्ध भोजन करना है। बिना भगवान्‌को भोग लगाये, पशुकी तरह जो मिला सो खा लिया! इससे बुद्धिका विनाश होता है। प्राचीन कहावत है—

जैसा अन्न वैसा मन। जैसा संग वैसा रंग॥

होटलोंमें चाय पीना, भोजन करना महान् दोषरूप है। वहाँ बर्तन ठीकसे धोये नहीं जाते। एक होटलमें लिखा था—'शुद्ध वैष्णव भोजनालय'; किंतु परीक्षाके लिये उसमें हमारे एक मित्र गये और उन्होंने कहा—'हम लहसुन-प्याज खाते हैं।' तो होटलवालेने कहा—'वह भी तैयार है, दो तरहका साग हम बनाते हैं।' मित्रने पूछा—'क्या मांस वगैरह-का भी प्रबन्ध हो सकता है?' होटलवालेने कहा—'भीतरके कक्षमें वह सब तैयार है, आप चले जाइये।' भीतर भी मेज, कुर्सियाँ पड़ी थीं, लोग अण्डे-मछली-मांस सब खा रहे थे। यह दशा है आज होटलोंकी। उनको पैसेसे मतलब है—, धर्म-अधर्मसे क्या लेना-देना? इसलिये शुद्ध भोजनके अभावसे बुद्धि मलिन रहती है। इसीसे काम-क्रोध विशेषरूपसे उत्पन्न होते हैं। अतः होटलोंमें कभी नहीं खाना चाहिये। अपने घर शुद्धतासे बनाकर तुलसी डालकर भगवान्‌को समर्पित करके तब खाना उचित है। ऐसा भोजन करनेसे मन शान्त रहता है, बुद्धि निर्मल रहती है और ईश्वर-चिन्तनमें स्थिरता आती है। इस प्रकार अनेकों बातें रहन-सहनमें बिगड़ी हुई हैं। अनेकों अपराध करके लोग अधर्म कमा रहे हैं। पापोंको ही धर्म समझ रहे हैं। सुख चाहते हैं, पर करते हैं अधर्म—'सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता।' यह बुद्धि विपरीत होनेका ही फल है। लोग अपनी विपरीत बुद्धिको ठीक समझ रहे हैं—धर्मको ढोंग समझते हैं, यही आसुर भाव है, जिसका फल चिन्ता, दुःख, अशान्ति और नरक है!

अतएव इस अधर्ममय आधुनिक धर्मका परिणाम निश्चय ही सर्वनाश होगा। संसारमें धर्मसे ही मनुष्य-जन्म मिला है। यदि अब अधर्मका बीज बोयेंगे तो दुःख-ही-दुःख आगे मिलेगा। मनुष्य-जन्म तो हो ही नहीं सकता। पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भी निकृष्ट योनि मिलेगी और नाना प्रकारके कष्ट पाने होंगे। भगवान्‌ने कहा है, 'आसुरी प्रकृतिवाले मूर्खोंको जन्म-जन्ममें आसुरी योनिकी प्राप्ति होती है। तदनन्तर उन्हें नरक भोगना पड़ता है। भगवत्प्राप्ति तो होती ही नहीं।' (गीता १६। २०)।

इसलिये अपने प्राचीन महापुरुषोंके बताये सनातन-धर्मके मार्गपर चलना ही सर्वश्रेष्ठ है। इस छोटे-से लेखमें क्या-क्या लिखा जाय—यह दिग्दर्शनमात्र है। इसीसे सब रहस्य समझ लें। अपने समस्त आचरण सुधार लें। पवित्र, सत्त्वगुणी जीवन सुखमय होता है। धर्मवान् पुरुषोंको सर्वत्र सुख-ही-सुख मिलता है।

तिमि सुख संपति बिनहिं बुलाएँ। धर्मसील पहिं जाहिं सुभाएँ॥

विश्वास-धर्म—भगवान्‌का प्रत्येक विधान मङ्गलमय

भगवान् सब प्राणियोंके सहज सुहृद् हैं, सर्वज्ञानस्वरूप हैं और सर्वशक्तिमान् हैं। अतएव उनके दयापूर्ण नियन्त्रणमें जीवोंके लिये फलरूपमें जो कुछ विधान किया जाता है, सब उनके कल्याणके लिये होता है; क्योंकि भगवान् सुहृद् हैं, वे अहित कर नहीं सकते, सब उचित होता है; क्योंकि ज्ञानस्वरूप भगवान् जानते हैं कि कौन-से कार्यसे इसका वास्तविक कल्याण होगा। और सब पूरा होता है; क्योंकि सर्वशक्तिमान् भगवान् सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। अतएव विश्वासी भक्त प्रत्येक परिस्थितिमें, प्रत्येक परिणाममें मङ्गलमय भगवान्‌का कल्याण-विधान समझकर प्रसन्न रहता है, उनकी अपार अहैतुकी कृपाका—उनके अनन्त सौहार्दका अनुभव करता और परम प्रसन्न रहता है, उसे प्रत्यक्ष मङ्गल दिखायी देता है। वह अनुकूल फलमें ही नहीं, प्रतिकूल-से-प्रतिकूलमें भी भगवान्‌की कृपा देखकर निर्विकार रहता और एकान्त आनन्दका अनुभव करता है। प्रत्येक अपमान, तिरस्कार, निन्दा, धननाश, प्रिय-से-प्रिय वस्तुके विनाश तथा अभाव, रोग, मृत्यु—सभीमें समानरूपसे प्रसन्न रहता है। किसी भी स्थितिमें उसका विश्वास जरा भी नहीं हिलता।



भक्त नरसीजीके एकमात्र पुत्र था। बड़ा प्रिय था। भगवान्‌के मङ्गल विधानसे उसकी मृत्यु हो गयी। नरसीजी-को दखायी दिया—मेरे मनमें पुत्रमोह था। मैं इस मोहमें भगवान्‌को कभी-कभी भूल जाता था। यह एक बाधा थी भजनमें। भगवान्‌ने कृपा करके इस बाधाको दूर करके मेरा बड़ा मङ्गल किया। उन्होंने भगवन्नाम-कीर्तन करते हुए गाया—

भलुँ थयुँ रें भाँगी जंजाळ। सुखेथी भजशुं श्रीगोपाळ ॥

बहुत अच्छा हुआ, जंजाल टूट गया! अब सुखसे निर्बाध श्रीगोपालका भजन करूँगा।

प्रभुका प्रत्येक विधान मङ्गलमय

जगमें जो कुछ भी है मिलता—कीर्ति-अकीर्ति, मान-अपमान।
धन-दारिद्र्य, शुभाशुभ, प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, लाभ-नुकसान ॥
जन्म-मृत्यु, आरोग्य-रोग, सब ही निश्चित हितपूर्ण विधान।
रचते मङ्गलहेतु ज्ञानमय सुहृद-शिरोमणि श्रीभगवान् ॥
विश्वासी अति भक्त नित्य संतुष्ट बना रहता यह जान।
हर स्थितिमें पाता वह मङ्गलमय प्रभुका संस्पर्श महान ॥
हर्ष-विषादरहित वह रहता सदा परम आनन्द-निमग्न।
चित्त-बुद्धि सब रहते उसके नित्य सतत प्रभुमें संलग्न ॥
प्रभुका अतिशय प्रिय वह होता, परम दिव्य समता-सम्पन्न।
होता उसके उरमें प्रभुका नित्य नवीन प्रेम उत्पन्न ॥
एकमात्र प्रभुमें होती उसकी अनन्य ममता एकान्त।
हो जाता दुर्लभ फिर उसका परम भागवत जीवन शान्त ॥

परहित-धर्म

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

तामसी प्रकृतिका महान् बलशाली रावण जगज्जननी सीताका अपहरण करके लिये जा रहा था। वयोवृद्ध पक्षिराज जटायुने सीताका करुण विलाप सुना और वे दुर्वृत्त रावणके हाथसे उन्हें छुड़ानेके लिये रावणसे भिड़ गये। पक्षिराजने रावणको रणमें बहुत छकाया और जबतक उनके जीवनकी आहुति न लग गयी, तबतक लड़ते रहे। अन्तमें रावणने जटायुके दोनों पक्ष काटकर उन्हें मरणासन्न बनाकर गिरा दिया और वह सीताजीको ले गया। कुछ समय बाद भगवान् श्रीराम लक्ष्मणके साथ सीताजीको खोजते हुए वहाँ पहुँचे। जटायुको अपने लिये प्राण न्योछावर किये देखकर भगवान् श्रीराम गद्गद हो गये और स्नेहाश्रु बहाते हुए उन्होंने जटायुके मस्तकपर अपना हाथ रखकर उसकी सारी पीड़ा हर ली। फिर गोदमें उठाकर अपनी जटासे उसकी धूल झाड़ने लगे।

दीन मलीन अधीन ह्वै अंग बिहंग पर्यो छिति छिन्न दुखारी।
राघव दीन दयालु कृपालु को देखि दुखी करुना भइ भारी॥
गीध को गोद में राखि कृपानिधि नैन-सरोजन में भरि बारी।
बारहिं बार सुधारत पंख जटायु की धूरि जटान सों झारी॥

गृध्रराज कृतार्थ हो गये। वे गृध्र-देह त्यागकर तथा चतुर्भुज नीलसुन्दर दिव्यरूप प्राप्त करके भगवान्का स्तवन करने लगे—

गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा॥
स्याम गात बिसाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी॥



स्तवन करनेके पश्चात् अविरल भक्तिका वर प्राप्त करके जटायु वैकुण्ठधामको पधार गये—

अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥

पर-हितकारीके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं

पर-दुखको निज-दुःख समझकर, कर प्रयत्न करते परिहार।
निज सुख देकर सुखी बनाते सहज मान-मद, रहित-उदार॥
पर-हितको निज स्वार्थ मान, वे परहित करते निज-हित त्याग।
अतुलनीय सुख अनुभव करते पुरुष इसीमें वे बड़भाग॥
पर-रक्षणमें कर देते वे अपने जीवनका बलिदान।
मनमें इसे समझते वे सज्जन अपना सौभाग्य महान॥
नहीं मानते वे फिर इसको किसी तरह भी पर-उपकार।
रविके सहज प्रकाश-दान सम होता यह उनका व्यवहार॥
विनय-विनम्र-हृदय वे नर-वर नहीं जनाते कुछ अहसान।
उनपर सदा स्वयं बरसाते अपनी कृपा-सुधा भगवान॥
उनके लिये न रह जाता फिर दुर्लभ कुछ भी कहीं पदार्थ।
बन जाते वे आप सहज ही पावन परम रूप परमार्थ॥

सर्वत्रभगवद्दर्शन-धर्म

पुरानी बात है। कान्तिपुरमें चोल नामक चक्रवर्ती नरेश राज्य करते थे। उनके राज्यमें कोई पापी, रोगी और दुखी नहीं था। राजा निरन्तर मुक्तहस्तसे दान-पुण्य तथा यज्ञ किया करते थे। अपार धन-सम्पत्ति थी। वे बड़े प्रेमसे भगवान्‌के श्रीविग्रहका राजोपचारसे पूजन किया करते थे। पर उनके मनमें कुछ गर्व था। वे ऐसा समझने लगे थे कि मैं प्रचुर धनके द्वारा दान-पूजन करके भगवान्‌को जितना अधिक प्रसन्न कर सकता हूँ, उतना दूसरा कोई नहीं कर सकता। वे इस बातको धन-मदमें भूल गये थे कि भगवान् धनसे नहीं, भावपूर्ण मनसे प्रसन्न होते हैं।

उसी कान्तिपुरमें विष्णुदास नामक एक धनहीन दीन ब्राह्मण भी रहते थे। वे बड़े विद्वान् तथा भगवान्‌के भक्त थे। उनका विश्वास था कि श्रद्धा-भक्तिसे समर्पित पत्र-पुष्पादि छोटी-से-छोटी वस्तुको भी भगवान् बड़े चावसे ग्रहण करते हैं। समुद्रके तटपर बने मन्दिरमें राजा चोल और ब्राह्मण विष्णुदास दोनों भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा करने जाया करते। एक दिन राजा चोल बहुमूल्य मोतियों, रत्नों तथा सुन्दर-सुन्दर स्वर्ण-पुष्पोंसे भगवान्‌की पूजा कर दण्डवत्-प्रणाम करके मन्दिरमें बैठे थे। इतनेमें भक्त विष्णुदास एक हाथमें जलका लोटा और दूसरेमें तुलसी तथा पुष्पोंसे भरी छोटी-सी डलिया लिये वहाँ पहुँचे। विष्णुदासने न राजाकी ओर देखा न राजाके द्वारा की हुई पूजनकी बहुमूल्य सामग्रीको। वे भावमें मतवाले-से आये और सीधे भगवान्‌के पास जाकर उनकी पूजा करने लगे। विष्णुसूक्तका पाठ करके भगवान्‌को भक्तिके साथ स्नान कराया। स्नानके जलसे राजाके द्वारा चढ़ाये हुए सारे वस्त्राभूषण भींग गये। तदनन्तर उन्होंने फूल-पत्तोंसे भगवान्‌की पूजा की। यह सब देखकर राजाको दुःख हुआ। राजाने कहा—'कँगले ब्राह्मण! मालूम होता है तुममें तनिक भी बुद्धि नहीं है। मैंने मणि-मुक्ताओं तथा सोनेके फूलोंसे भगवान्‌का कितना सुन्दर श्रृङ्गार किया था। तुमने सब क्यों बिगाड़ दिया? यह भी कोई भगवान्‌की पूजा है?'

ब्राह्मणने कहा—'राजन्! मैंने तुम्हारी पूजाकी सामग्रीको देखा ही नहीं, मेरी समझसे भगवान्‌की पूजा स्वर्ण-पुष्प और मणिमुक्ताओंसे ही होती हो, ऐसी बात नहीं है। जिसके पास जो कुछ हो, उसीसे वह भक्तिभावपूर्ण हृदयसे भगवान्‌का पूजन-अर्चन करे। भगवान्‌की तुष्टिके लिये भावकी आवश्यकता है, न कि धन-दौलतकी। भगवान् यदि धनसे ही प्रसन्न होते तो गरीब बेचारे कैसे पूजा कर सकते। अतः तुम धनका गर्व छोड़ दो और अपनी स्थितिके अनुसार वस्तुओंसे भगवान्‌की भावसे पूजा-अर्चना किया करो। दूसरे लोग अपनी स्थितिके अनुसार पूजा करें, इसमें तुम्हें प्रसन्न होना चाहिये।'

पर राजाको तो अभी धनका मद था। उन्होंने पुनः ब्राह्मणका तिरस्कार करते हुए कहा—'तेरी दरिद्रतासे भगवान् प्रसन्न होते हैं या मेरी धन-सम्पत्तिके अर्पणसे? अब देखूँगा कि हम दोनोंमें किसको पहले भगवान्‌के दर्शन होते है। मैं भी साधन करता हूँ, तू भी कर।' ब्राह्मणने राजाकी दर्पोक्तिसे न डरकर उनका चैलेंज स्वीकार किया।

राजाने महलमें जाकर मुद्गल मुनिको बुलाया और उनके आचार्यत्वमें एक बहुत बड़े विष्णुयज्ञका आरम्भ कर दिया। बहुत बड़ी संख्यामें ब्राह्मण विद्वान् बुलाये गये तथा राजा सगर्व मुक्तहस्तसे धनका सदुपयोग करने लगे। गरीब विष्णुदासके पास धन तो था ही नहीं। उन्होंने व्रतोंका आचरण, तुलसीवन-सेवन, भगवान्‌के द्वादशाक्षर (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**) मन्त्रका सभक्ति जप, नित्य भक्तिपूर्वक भगवान्‌का पूजन करना आरम्भ किया। इसीके साथ उन्होंने खाते-पीते, सोते-जागते, जाते-आते—सब समय भगवन्नामका प्रेमपूर्वक स्मरण करते हुए सर्वत्र समानभावसे भगवान्‌के दर्शनका अभ्यास किया। ब्राह्मणके कोई भी बाह्य आडम्बर नहीं था। यों राजा और ब्राह्मण दोनों ही इन्द्रियोंको वश करके अपनी-अपनी रुचिके अनुसार साधन करने लगे। बहुत काल बीत गया।

ब्राह्मण विष्णुदास प्रातःकाल नित्यकर्म करनेके बाद रोटी बनाकर रख देते और मध्याह्नमें एक बार खा लेते। दिन-रात साधनामें लगे रहते। एक दिन रोटी बनाकर रक्खी थी, पर रोटी गायब हो गयी। ब्राह्मण भूखे तो थे, पर दुबारा रोटी बनानेमें साधनका समय व्यय करना अनुचित समझकर वे भूखे रह गये। दूसरे दिन रोटी बनाकर रक्खी और जब भगवान्‌को भोग लगाने गये तो देखा रोटी नहीं है। इस प्रकार रोटियोंके चोरी होते सात दिन बीत गये। ब्राह्मण भूखसे विकल थे। सोचने लगे, रोटी कौन चुराता है—देखना होगा। अतः आठवें दिन वे रोटी बनाकर एक तरफ छिपकर खड़े हो गये।

उन्होंने देखा कि एक चण्डाल रोटी चुरा रहा है। वह चण्डाल भूखसे व्याकुल था, उसके मुखपर दीनता छायी थी और शरीर चमड़ीसे ढका केवल हड्डियोंका ढाँचा था। चण्डालकी यह दयनीय दशा देखकर ब्राह्मणके हृदयमें दया उमड़ आयी, उसी समय सर्वरूपमें सर्वत्र भगवान्को देखनेवाले विष्णुदासने चण्डालको भगवान् मानकर कहा—'ठहरो-ठहरो, रूखा अन्न कैसे खाओगे ? मैं घी देता हूँ, इससे रोटी चुपड़कर खाओ।' चण्डाल डरकर भागा। ब्राह्मण घीका पात्र लिये 'ठहरो, घी ले लो'—पुकारते हुए पीछे-पीछे दौड़े। कुछ दूर जानेपर भूखा-थका चण्डाल मूर्छित होकर गिर पड़ा। ब्राह्मणश्रेष्ठ विष्णुदास कृपावश उसको कपड़ेसे हवा करने लगे। इसी बीच विष्णुदासने देखा—'चण्डालके शरीरमेंसे साक्षात् शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये स्वयं चतुर्भुज भगवान् नारायण प्रकट हो गये हैं। विष्णुदास आनन्दमें बेसुध हुए उस मधुर मनोहर छवि-सुधाका नेत्रोंके द्वारा पान करने लगे।



तदनन्तर इन्द्रादि देवता तथा ऋषि आ गये। भगवान् विष्णुने अपने परम सात्त्विक भक्त विष्णुदासको प्रेममें आलिङ्गनकर अपने साथ विमानमें बैठाया। विमान आकाश-पथसे चोल राजाके यज्ञस्थलके ऊपरसे निकला। यज्ञदीक्षित चोलराजने देखा—दरिद्र ब्राह्मण केवल भावपूर्ण भक्तिके प्रतापसे उनके यज्ञकी पूर्णाहुतिके पहले ही भगवान्का प्रत्यक्ष दर्शन करके उनके साथ वैकुण्ठ जा रहा है। चोलराजका सारा धन-दर्प चूर्ण हो गया। सारा गर्व गल गया। राजाके मनमें धनसे सम्पन्न होनेवाले कर्मकी जो एक विशेष महत्ता थी, वह नष्ट हो गयी। यही एक प्रतिबन्धक था, वह दूर हो गया। यज्ञकी पूर्णाहुति हो रही थी। चोलराजके पुत्र नहीं था, अतः उन्होंने भानजेको राज्याधिकार दे दिया और यज्ञकुण्डके समीप खड़े होकर—'हे भगवन्! मुझे मन, वाणी, शरीर और कर्मद्वारा होनेवाली अविचल भक्ति प्रदान कीजिये'—कहते हुए वे यज्ञकुण्डमें कूद पड़े। राजा भगवान्के भक्त थे ही, उनकी धन-सम्पत्ति भी भगवान्की सेवामें ही लगी थी, विष्णुयज्ञका फल भी होना था। एक धन-गर्वकी बाधा थी, वह दूर हो गयी। अतः उनके यज्ञकुण्डमें कूदते ही भक्तवत्सल भगवान् नारायण यज्ञाग्निसे आविर्भूत हो गये। राजाको हृदयसे लगाकर विमानपर बैठाया और अपने साथ वैकुण्ठधामको ले गये।

सर्वत्र भगवद्दर्शन

जो नित सबमें देखता, चिन्मय श्रीभगवान्।
होता कभी न वह परे, हरि-दृगसे विद्वान्॥
ले जाते हरि स्वयं आ, उसको निज परधाम।
देते नित्य स्वरूप निज, चिदानन्द अभिराम॥

धर्मपर स्वामी विवेकानन्दके कुछ विचार

(संकलनकर्ता—श्रीमुन्नालालजी मालवीय 'भरत' एम्० काम०)

'संसारका प्रत्येक धर्म गङ्गा और युफ्रेटिस नदियोंके मध्यवर्ती भूखण्डपर उत्पन्न हुआ है। एक भी प्रधान धर्म यूरोप या अमेरिकामें पैदा नहीं हुआ। एक भी नहीं। प्रत्येक धर्म ही एशिया-सम्भूत है और वह भी केवल उसी अंशके बीच। ये सब धर्म अब भी जीवित हैं और कितने ही मनुष्योंके लिये उपकारजनक हैं।'

× × × ×

'हिंदू-जातिने अपना धर्म अपौरुषेय वेदोंसे प्राप्त किया है। वेदान्तमें दिये हुए धर्मके सिद्धान्त अपरिवर्तनीय हैं; क्योंकि वे उन शाश्वत सिद्धान्तोंपर आधारित हैं जो कि मनुष्य और प्रकृतिमें हैं। वे कभी भी परिवर्तित नहीं हो सकते। आत्माके और मोक्षप्राप्ति आदिके विचार कभी भी नहीं बदल सकते।'

'भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरोंपर विश्वासके समान हिंदू-धर्म नहीं है वरं हिंदू-धर्म तो प्रत्यक्ष अनुभूति या साक्षात्कारका धर्म है। हिंदू-धर्ममें एकजातीय भाव देखनेको मिलेगा। वह है आध्यात्मिकता। अन्य किसी धर्ममें एवं संसारके और किसी धर्म-ग्रन्थमें ईश्वरकी संज्ञा निर्देश करनेमें इतना अधिक बल दिया गया हो, ऐसा देखनेको नहीं मिलता।'

× × × ×

'धर्म अनुभूतिकी वस्तु है। मुखकी बात, मतवाद अथवा युक्तिमूलक कल्पना नहीं है—चाहे वह कितनी ही सुन्दर हो। आत्माकी ब्रह्मस्वरूपताको जान लेना, तद्रूप हो जाना—उसका साक्षात्कार करना—यही धर्म है। धर्म केवल सुनने या मान लेनेकी चीज नहीं है, समस्त मन-प्राण विश्वासके साथ एक हो जाय—यही धर्म है।'

'धर्मका अर्थ है आत्मानुभूति, परंतु केवल कोरी बहस, खोखला विश्वास, अँधेरेमें टटोलबाजी तथा तोतेके समान शब्दोंको दुहराना और ऐसा करनेमें धर्म समझना एवं धार्मिक सत्यसे कोई राजनीतिक विष ढूँढ़ निकालना—यह सब धर्म बिल्कुल नहीं है।'

× × × ×

'प्रत्येक धर्मके तीन भाग होते हैं। पहला दार्शनिक भाग—इसमें धर्मका सारा विषय अर्थात् मूलतत्त्व, उद्देश्य और लाभके उपाय निहित हैं। दूसरा पौराणिक भाग—यह स्थूल उदाहरणोंके द्वारा दार्शनिक भागको स्पष्ट करता है। इसमें मनुष्यों एवं अति-प्राकृतिक पुरुषोंके जीवनके उपाख्यान आदि लिखे हैं। इसमें सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्व मनुष्यों या अति-प्राकृतिक पुरुषोंके जीवनके उदाहरणोंद्वारा समझाये गये हैं। तीसरा आनुष्ठानिक भाग—यह धर्मका स्थूल भाग है। इसमें पूजा-पद्धति, आचार, अनुष्ठान, शारीरिक विविध अङ्ग-विन्यास, पुष्प, धूप, धूनी प्रभृति नाना प्रकारकी इन्द्रियग्राह्य वस्तुएँ हैं। इन सबको मिलाकर आनुष्ठानिक धर्मका संगठन होता है। सारे विख्यात धर्मोंके ये तीन विभाग हैं।'

× × × ×

'ईश्वर पृथ्वीके सभी धर्मोंमें विद्यमान है। वह अनन्त-कालसे वर्तमान है और अनन्तकालतक रहेगा। भगवान्‌ने कहा है—**'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।'** मैं इस जगत्‌में मणियोंके भीतर सूत्रकी भाँति वर्तमान हूँ—प्रत्येक मणिको एक विशेष धर्म, मत या सम्प्रदाय कहा जा सकता है। पृथक्-पृथक् मणियाँ एक-एक धर्म हैं और प्रभु ही सूत्र-रूपसे उन सबमें वर्तमान हैं।'

× × × ×

'निःस्वार्थता ही धर्मकी कसौटी है। जो जितना अधिक निःस्वार्थी है वह उतना ही अधिक आध्यात्मिक और शिवके समीप है।'

'जहाँ यथार्थ धर्म वहीं आत्मबलिदान। अपने लिये कुछ मत चाहो, दूसरोंके लिये ही सब कुछ करो—यही है ईश्वरमें तुम्हारे जीवनकी स्थिति, गति तथा प्रगति।'

'क्या वास्तवमें धर्मका कोई उपयोग है? हाँ, वह मनुष्यको अमर बना देता है। उसने मनुष्योंके निकट उसके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित किया है और वह मनुष्योंको ईश्वर बनायेगा। यह है धर्मकी उपयोगिता। मानव-समाजसे धर्म पृथक् कर लो तो क्या रह जायगा। कुछ नहीं केवल पशुओंका समूह।'

'संसारमें जितने धर्म हैं, वे परस्परविरोधी या प्रतिरोधी नहीं हैं। वे केवल एक ही चिरन्तन शाश्वत धर्मके भिन्न-भिन्न भावमात्र हैं। यही एक सनातन धर्म चिरकालसे समस्त विश्वका आधाररूप रहा है।'

क्षमा-प्रार्थना

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है कि मैं (भगवान्) अविनाशी ब्रह्म, अमृत, शाश्वत (सनातन) धर्म और ऐकान्तिक सुखकी प्रतिष्ठा हूँ*। अभिप्राय यह कि अव्यय ब्रह्म, अमृत, सनातन-धर्म और ऐकान्तिक सुख—भगवान्‌के ही नाम हैं। एक ही अर्थके पर्यायवाची हैं। जैसे भगवान् नित्य, अनादि, अनन्त, सनातन, सत्य हैं, वैसे ही शाश्वत धर्म भी नित्य, अनादि, अनन्त, सनातन, सत्य है। यह भगवत्स्वरूप धर्म ही सनातन धर्म है। यह आत्म-धर्म है। यह अतीतकालमें भी था, वर्तमानमें भी है तथा भविष्यमें भी रहेगा। यह किसी व्यक्ति-विशेषके द्वारा निर्मित-प्रचारित नहीं है। यही धर्म जगत्‌की प्रतिष्ठा है—'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।' यही सबको धारण करता है और इसीके द्वारा सब धारण किया जाता है। यह सनातन धर्म ही सबका जीवन है। विभिन्न क्षेत्रोंमें विभिन्न रूपोंमें प्रकट होकर यही सबको जीवन-दान देता है। सूर्यमें प्रकाश और ताप, अग्निमें दाहिका शक्ति, चन्द्रमामें शीतलता, अमृतमें अमर करनेकी शक्ति, पृथ्वीमें क्षमा, सिंहमें शौर्य, मानवमें मानवता, सतीमें सतीत्व, माता-पितामें वात्सल्यभाव, पुत्रमें मातृ-पितृ-भक्ति, पत्नीमें पतिपरायणता, राजामें शासन और पालन-शक्ति, ब्राह्मणमें ब्रह्मत्व, क्षत्रियमें क्षत्रियत्व, वैश्यमें वैश्यत्व, शूद्रमें शूद्रत्व, ब्रह्मचारीमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थमें गृहस्थीका पालन-पोषण, वानप्रस्थमें त्यागका साधन, संन्यासीमें सर्वत्याग—यों प्रत्येक वस्तु, पदार्थ, प्राणी, परिस्थिति, सबके विभिन्न धर्मोंके रूपमें यही एक शाश्वत-सनातन धर्म प्रकट है। धर्म-निरपेक्ष संसारमें कोई रह ही नहीं सकता; क्योंकि धर्म ही सबका जीवन है। संसारमें जितने सम्प्रदाय या मत हैं, वे कोई भी वस्तुतः स्वतन्त्र धर्म नहीं हैं। यदि वे सर्वभूतहितके विरुद्ध नहीं हैं तो वे सभी इस एक ही सनातन धर्मकी ही शाखा-प्रशाखाएँ हैं। सम्प्रदाय या मत बुरी चीज नहीं हैं, वे सभी देश-कालानुसार निर्मित धर्म-साधन-पद्धतियाँ हैं, जिनमें भेद अनिवार्य है और आवश्यक भी है। पर उन सभीमें एक चीज आवश्यक है कि उनके द्वारा किसी भी प्राणीका परिणाममें अहित नहीं होना चाहिये। पिता और पुत्रके तथा माता और पत्नीके धर्म अलग-अलग होंगे, पर वे एक दूसरेका हित करने तथा परस्पर सुख पहुँचानेवाले ही होंगे। इसी प्रकार देश-कालानुसार विभिन्न सम्प्रदायों और मतोंमें भेद रहेगा, पर मूलतः वे एक ही आत्मधर्मसे निःसृत और परिणाममें वे सभी सबका हितसाधन करने-वाले होने चाहिये। तभी वे धर्मसम्मत हैं। नहीं तो वे आसुर-सम्प्रदाय हैं, जिनमें चिन्ता, दुःख, अशान्ति, पाप और नरक सदा साथ रहते हैं और इन्हींका प्रचार-प्रसार होता है। वास्तवमें 'धर्म' वह है, जिससे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका हित होता हो और 'अधर्म' वह है, जिससे परिणाम-में अपना तथा दूसरोंका अहित होता हो। यही पुण्य और पापकी भी सार्वभौम परिभाषा है।

यही सनातन धर्म है—जो सनातन नित्य है तथा सनातन नित्य तत्त्वकी प्राप्ति करानेवाला है; भगवत्स्वरूप है तथा भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाला है। अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंका अमोघ साधन है। इसीलिये इसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, मनःसंयम, क्षमा, शौच आदिकी प्रधानता है। यही आत्म-कल्याणकारी तथा सर्वभूतहितमय सनातन धर्म है। यही हिंदू-धर्म है। यही सार्वभौम-धर्म विश्व-धर्म या आत्म-धर्म है। इसका पालन करनेवालोंकी संख्या जिस युगमें अधिक होती है, वही 'सत्य'युग है। मनुष्यको चाहिये कि वह इस धर्मका सेवन करता रहे और अपनेको सदा ही 'सत्य'युगमें रक्खे। ऐसा 'सत्ययुगी' मानव ही विश्वमें अपने उदाहरणसे सत्य सनातन-धर्मका प्रचार कर सकता है। ऐसा करना ही वास्तविक मानव-

* ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
(गीता १४ । २७)

सेवा है, सर्वभूत-सेवा है, भगवत्सेवा है। इसीसे जगत्में सुख-शान्तिका उदय और विस्तार होगा।

इस धर्मकी ओरसे अनेक विभिन्न कारणोंसे आज लोगोंकी रुचि हट रही है। इसीका परिणाम है—विश्वकी वर्तमान दुर्गति। जिसमें सर्वत्र ही काम, क्रोध, लोभ, मद, गर्व, अभिमान, द्वेष, ईर्ष्या, हिंसा, परोत्कर्षपीड़ा, दलबंदियाँ, अधर्मयुद्ध आदि सभी अधर्मके विभिन्न स्वरूपोंका ताण्डव नृत्य हो रहा है। ऐसे ही चलता रहा तो पता नहीं कि पतन कितना गहरा होगा। इस प्रकारकी धर्मग्लानिसे रक्षा हो, धर्मकी ओर लोगोंकी रुचि बढ़े—इसी उद्देश्यसे 'कल्याण'के इस 'धर्माङ्क'का प्रकाशन किया जा रहा है।

इस 'धर्माङ्क'के लिये पहले लेख माँगे गये थे। विद्वान् लेखकोंकी आत्मीयता तथा कृपाके लिये हमलोग बड़े कृतज्ञ हैं कि बार-बार लेख न भेजनेकी प्रार्थना करनेपर भी वे प्रेमवश लेख भेजते ही रहे। एक-एक विषयपर दर्जनों लेख आ गये और सब इतने लेख आ गये कि तीन विशेषाङ्कोंमें भी सब नहीं छप सकते। यहाँ सम्पादकीय विभागमें भी विभिन्न आवश्यक विषयोंपर लेख लिखे-लिखाये गये थे। पर स्थानाभावसे आये हुए तथा यहाँ लिखे-लिखाये हुए लेखोंमेंसे ढेर-के-ढेर अप्रकाशित रह गये। उनमेंसे बहुत-से तो ऐसे हैं, जो सुलिखित तथा विचारपूर्ण होनेके साथ ही आदरणीय विद्वानोंके द्वारा लिखे होनेपर भी उन विषयोंपर इसी धर्माङ्कमें पर्याप्त सामग्री प्रकाशित हो जानेके कारण उन लेखोंको बाध्य होकर वापस लौटाना पड़ेगा। बहुत-से लेख स्थान-संकोच एवं विषयकी पुनरावृत्ति बचानेके लिये आकारमें बहुत घटाकर छापे गये हैं। तथापि पुनरावृत्ति तो हुई ही है। बहुत-से लेख कम्पोज हो जानेपर भी इन्हीं कारणोंसे छापे नहीं जा सके हैं। इस प्रकार सम्मान्य लेखकोंके प्रति इस बार हमलोगोंसे बड़े अपराध हुए हैं और इसके लिये हम उनसे विनीत क्षमा-प्रार्थना करते हैं। हमारी परिस्थिति समझकर वे कृपापूर्वक हमें क्षमा करेंगे। परिश्रम करके लेख लिखे गये और भेजे गये। समय और श्रम दोनों ही लगाये गये—फिर भी वे छप नहीं सके। इससे बहुत-से लेखक महोदयोंको दुःख और क्षोभ होना स्वाभाविक है, पर हम निरुपाय हैं और विवश हैं। क्षमा-प्रार्थनाके सिवा अन्य कुछ भी करनेमें असमर्थ हैं।

इस धर्माङ्कमें जहाँ कई एक-से ही विषयोंपर अधिक सामग्री आ गयी है, वहाँ धर्मसम्बन्धी कई आवश्यक विषयोंपर चर्चा भी नहीं हो पायी है। इसके लिये हमें खेद है। पाठक महोदय कृपापूर्वक प्रकाशित सामग्रीसे ही लाभ उठायेंगे—यह विनीत प्रार्थना है।

छपाईमें भी कई जगह अक्षम्य भूलें रह गयी हैं। इसके लिये हमें दुःख है। वस्तुतः इसमें जो कुछ अच्छापन है, सब लेखकोंकी कृपाका प्रसाद है और जो त्रुटियाँ हैं, वे सब हमारी हैं। इसके लिये भी हम सभीसे क्षमा चाहते हैं।

इस अङ्कके सम्पादनमें सम्पादकीय विभागके सदस्योंके अतिरिक्त हमें जिन-जिन महानुभावोंसे सहायता मिली है, उनके भी हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। खास करके सम्मान्य श्रीरामनाथजी सुमनने बड़ी सहायता की है। ठाकुर श्रीसुदर्शन-सिंहजीने भी बड़ा काम किया है, पर वे तो एक प्रकारसे हमारे सम्पादकीय विभागके ही सदस्य हैं।

इस अङ्कमें विश्वके विभिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों-पर लेख प्रायः नहीं छापे गये हैं। इसका कारण यह है कि एक तो कहीं-कहीं कोई आलोचना कटु हो सकती है, दूसरे इस 'धर्माङ्क'का विषय था—सर्वव्यापक सनातन धर्मपर विचार करना, सम्प्रदायों और मतोंपर नहीं। इसके लिये भी पाठक कृपया क्षमा करेंगे।

निवेदक { हनुमानप्रसाद पोद्दार }
क्षमाप्रार्थी { चिम्मनलाल गोस्वामी } सम्पादक

श्रीहरिः

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है ।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें । लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है । अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते । **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं ।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ७ रुपये ५० नये पैसे और भारत-वर्षसे बाहरके लिये १० रुपये (१५ शिलिंग) नियत है । **आजीवन ग्राहक-शुल्क १००) है । विदेशका १२५) रुपये या १० पौंड है ।**

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं । वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं; किंतु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे । 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते ।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी रूपमें प्रकाशित नहीं किये जाते ।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है । यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये । वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये । डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है ।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये । **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये ।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये । पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जाने-की अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी ।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा । विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होगा । फिर दिसम्बरतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करेंगे ।

(८) ४५ नये पैसे एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है । ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ४५ नये पैसे बाद दिये जा सकते हैं ।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण'की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है ।

(१०) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये । पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये ।

(११) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है । एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देना चाहिये ।

(१२) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये । वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं ।

(१३) प्रेस-विभाग तथा कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये । 'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते । प्रेससे १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती ।

(१४) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते ।

(१५) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें), पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये ।

(१६) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **व्यवस्थापक 'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **सम्पादक 'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)** के नामसे भेजने चाहिये ।

(१७) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कम नहीं लिया जाता ।

व्यवस्थापक—**'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

धर्मके ग्यारह परम तत्त्व

१. समस्त जगत्के सभी प्राणियोंमें एक ही आत्मा है या सब एक ही भगवान्के स्वरूप हैं—शरीर हैं, यह समझकर सबका सम्मान करो; सबको सुख पहुँचाओ और सबका हित करो।

२. किसी भी प्राणीका न कभी बुरा चाहो, न कभी बुरा करो—अहिंसा परमधर्म है।

३. मन-वाणीसे सदा सत्यका व्यवहार करो, सत्य भाषण करो, हितकर भाषण करो।

४. इन्द्रियोंको अनर्गल भोगोंमें न जाने दो, उन्हें भगवान्की सेवामें लगाओ।

५. मनके द्वारा सच्चिन्तन करो—भगवान्का चिन्तन करो।

६. किसीकी भी वस्तुपर कभी न मन चलाओ, न चुराओ, न ठगकर लो, न किसीको धोखा दो। अस्तेय परम धर्म है।

७. तुम्हारे पास जो कुछ है, सब भगवान्का है, यह समझकर उसको यथायोग्य भगवान्की सेवामें लगाते रहो।

८. अनावश्यक संग्रह-परिग्रह मत करो, आवश्यकता कम-से-कम रक्खो।

९. अपना बुरा करनेवालोंका भी भला करो।

१०. मन-वाणी-शरीरसे सदा पवित्र रहो।

११. भगवान्का सदा-सर्वदा स्मरण करो। अपनेको बिना शर्त भगवान्के समर्पण कर दो।

ये धर्मके परम तत्त्व हैं।